ш २·९

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

उत्तरार्ध

भ्वादिगण

(भवतोषिणी नामक हिंदी व्याख्या सहित)

लेखक

पंडित शिवनारायण शास्त्री

किरोड़ीमल महाविद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

© शिवनारायण शास्त्री

प्रथम संस्करण, 1989
प्रतियाँ 2200

संयोजक मंडल

प्रोफेसर के० जी० मुकर्जी
अध्यक्ष, सलाहकार समिति

डॉ० जगदीश चन्द्र मूना
संयोजक

श्री लज्जाराम सिंहल
डॉ० कृष्णदत्त शर्मा
सहसंयोजक

यह पुस्तक मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की गई है

मूल्य 100 रुपए

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, ई०ए०/6, मॉडल टाउन, दिल्ली-110009 द्वारा प्रकाशित और आर० आर० प्रिंटर्स, एक्स-1/3ए, गली नं० 2, ब्रह्मपुरी, दिल्ली-110053 द्वारा मुद्रित

समर्पणम्

पं० श्रीनिवास शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

जन्म—खरक कलां, कार्तिक, 1971 वि०

कैलासवास—भिवानी, ज्येष्ठ अमावस्या, 2034 वि०

गुरुमाद्यं समस्तेषु शास्त्रेष्वङ्गुलि-धारकम् ।
नमामि पितरं भक्त्या श्रीनिवासं तपो-विदम् ॥

पितृ-रूपस्य शम्भोर्हि पादयोरर्प्यते प्रियः ।
ग्रन्थः पौत्रोऽयमस्त्वस्य प्रीतये स्वर्गिणो भृशम् ॥

वक्तव्य

निदेशालय की विभिन्न शैक्षिक योजनाओं में से एक मानक पाठ्यपुस्तक निर्माण योजना है जिसके अंतर्गत निदेशालय छात्रों एवं अध्यापकों के लिए उच्च कोटि की सामग्री प्रकाशित करके हिंदी माध्यम से अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है। अब तक प्रकाशित पुस्तकों में से अधिकांश सामाजिक विज्ञानों से संबंधित हैं और दिल्ली विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों द्वारा पाठ्यक्रमों में संस्तुत हैं। निदेशालय का यह भी प्रयत्न रहा है कि जिन विषयों पर आम प्रकाशक पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं होते और जिनकी आवश्यकता महसूस की जाती है उन विषयों पर भी मानक पुस्तकें तैयार कराए और उन्हें प्रकाशित करे।

प्रस्तुत पुस्तक निदेशालय द्वारा प्रकाशित संस्कृत विषय की पहली पुस्तक है जिसको श्री शिवनारायण जी शास्त्री ने विगत दो दशक के अथक प्रयत्न से तैयार करके निदेशालय को प्रकाशनार्थ सौंपा था। इस पुस्तक में वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी के भ्वादिगण के मूल पाठ को नूतन पद्धति से व्यवस्थित तो किया ही गया है, उसका हिंदी में अनुवाद भी दिया गया है। इसके अतिरिक्त, सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस गण की प्रक्रिया से तथा धातुपाठ के इस अंश से संबद्ध सभी शास्त्रीय पक्षों पर ऊहापोहपूर्ण नूतन व्याख्या सप्रमाण प्रस्तुत करके हिंदी भाषा के शास्त्रीय साहित्य की श्रीवृद्धि की है। निदेशालय इससे पूर्व विभिन्न विषयों पर अनेक मौलिक पुस्तकें तैयार कराकर प्रकाशित कर चुका है, जिनका पाठक-जगत में स्वागत हुआ है। हमें आशा है कि हमारी अन्य पुस्तकों की तरह यह पुस्तक भी लोकप्रिय होगी और संस्कृत साहित्य की व्याकरण संबंधी विधा की पिछले कई वर्षों से चली आ रही कमी की पूर्ति करेगी।

मैं प्रोफेसर अरविन्द कुमार का आभारी हूँ जिन्होंने पांडुलिपि को आद्योपांत पढ़कर कुछ उपयोगी सुझाव दिए जिससे पुस्तक की सामग्री में सुधार आया। संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर बी० एम० चतुर्वेदी के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की पांडुलिपि का निरीक्षण कर इसके प्रकाशन की स्वीकृति दी और निदेशालय के पुस्तक-निर्माण कार्यक्रम में सहयोग दिया।

जगदीश चन्द्र मूना
निदेशक
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

मङ्गलम्

दाक्षीं देवीं धरां वन्दे धराया अपि वोत्तमाम् ।
यद्गर्भजातरत्नस्य प्रभाभिर्भासितं जगत् ॥

सर्वो लोकोऽधमर्णोऽस्ति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
विवाचो यत्कृतिं लब्ध्वा वाक्ष्वेधन्ते भविष्णवः ॥

फणिभाषितभाष्याब्धेर्भट्टोजिः सारविन्मनः ।
मोमुदीति विदां लब्ध्वा यद्ग्रन्थचन्द्रकौमुदीम् ॥
'कौमुदी यदि कण्ठस्था, वृथा भाष्ये परिश्रमः ।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था, वृथा भाष्ये परिश्रमः ॥'
अन्वर्थेयं स्तुतिर्यस्य मुखशोभा विदामिह ।
भट्टोजिदीक्षितः सोऽयं नमोवाकैर्मयाऽर्च्यते ॥

वाक्षु मे वैभवं स्वल्पमर्थेष्वल्पतरं ततः ।
गुरुपादाब्जकिञ्जल्कलीढमात्रस्य मे फलम् ॥
वाग्देव्या यत् कनिष्ठाया स्पर्शेनोद्घाटितं मुखम् ।
वक्ति किंचिद् विभिन्नेषु शास्त्रेषु बुधतोषकृत् ॥
शुक्लवर्णा स्तुतिर्गङ्गा, कालिन्दी खण्डनं परम् ।
स्वो भावो मानसोल्लासा गूढरूपा सरस्वती ॥
इति प्रयागो नित्यं मे स्नानायाहर्निशं स्थितः ।
अहो धन्योऽस्मि संगत्या संगमे विदुषामहम् ॥

गुरुमाद्यं समस्तेषु शास्त्रेष्वङ्गुलिधारकम् ।
नमामि पितरं भक्त्या श्रीनिवासं विदां वरम् ॥

सत्यभूषणयोगीति गुरुं वन्देऽमलं बुधम् ।
निरुक्ते देशिनीं यस्य लब्ध्वाऽध्वानं श्रुतावगाम् ॥

वसन्तरामवित्पुत्रो मणिशङ्करशङ्करः ।
उपाध्यायो ममाभूत् स बड़ोदावासदेशिकः ॥
यत्कृपापोतमारुह्य शास्त्राब्धिर्दुस्तरो मया ।
अञ्जसा तीर्ण एषोऽस्ति प्रमाणं भवतोषिणी ॥

भवानीभवपादाब्जद्वन्द्वद्वन्द्वे समर्पिता ।
सिद्धान्तकौमुदीभ्वादिव्याख्या स्ताद् भव-तोषिणी ॥

प्राक्कथन

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा, नदस्य नादे परि पातु मे मनः।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो, भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति॥[1]

भव-तोषिणी का इतिहास : 'भव-तोषिणी' के लेखन-प्रकाशन का इतिहास कुछ अधिक ही लम्बा है : 1959 ई० के अक्टूबर से लेकर 1989 ई० के जुलाई तक। इस विस्तार पर कुछ कहने की इच्छा का संवरण नहीं कर पाना स्वाभाविक है।

1959 ई० के जुलाई मास में हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली, में एम्० ए० (संस्कृत) में अध्ययनार्थ आने पर उत्तरार्ध के अपने व्याकरणाध्येता अग्रज बन्धुओं को कठिनाई में देख कर सिद्धान्त-कौमुदी के उत्तरार्ध की छात्रोपयोगी टीका हिन्दी में लिखने का विचार उदित हुआ। अक्तूबर मास के अवकाश के बाद हंसराज महाविद्यालय के छात्रावास में इसे प्रारम्भ किया। साधारण-सी रूपरेखा थी—कौमुदी का सम्यक् अनुच्छेदों में विभाजित मूल पाठ, उसका अनुवाद, अनुवृत्ति दिखा कर वृत्तिनिर्माण, कठिन पंक्तियों की सरल व्याख्या तथा रूपसिद्धि। एम्० ए० के अध्ययनकाल में यह व्याख्याक्रम चलता रहा।

1960 के पूर्वार्ध में अग्रजकल्प सतीर्थ्य, मित्र अब डॉ० बलदेवराज शर्मा, रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, के घर, F-9 मोतीनगर, में निवासकाल प्रातः-स्मरणीय माताजी श्रीमती दौलती देवी, पिताजी पं० श्रीठाकरदास, प्रिय बलदेवराज

---

1. ऋग्वेद 10.11.2 : **अप्या** जल के समान प्रवाहशील, व्यापक और शान्ति-दायक, **योषणा** प्रीति-कारक, अच्छी लगने वाली, **गन्धर्वीः** अर्थ-प्रकाशरूपी किरणों को धारण करने वाली वाणी **रपत्** बोले (हम ऐसी वाणी का प्रयोग करें)। **नदस्य** स्तोता (वाणी के प्रयोक्ता) के **नादे** शब्द-प्रयोग पर **मे** मेरे **मनः** मन की (मन में स्थित भाव की अभिव्यक्ति) **परि** समीचीन रूप से करके **पातु** रक्षा करे। **अदितिः** खण्डित न होने वाली, नित्य (यह वाणी) **नः** हम प्रयोक्ताओं को **इष्टस्य** अभीष्ट (अर्थ के प्रकाशन) के **मध्ये** मध्य में **नि** भली-भाँती **धातु** स्थापित करे। **प्रथमः** आदिम, **ज्येष्ठः** ज्ञान से वृद्ध, **भ्राता** अर्थ-प्रकाश के द्वारा भरण करने वाला उत्तम वृद्ध **नः** हम वाक् के प्रयोक्ताओं के लिए **वि** विशेष, प्रामाणिक, रूप से **वोचति** बोलता है, वाक् का प्रयोग करता है। हम यह वाक् उसी उत्तम वृद्ध से सीखते हैं।

और भाई शिवलाल तथा बहिनों श्रीमती शान्तिदेवी, कुमारी कान्ता और पुष्पा के सहज सौहार्द और स्नेह के वातावरण की शीतल छाँह के कारण एक आजीवन अविस्मरणीय साधनाकाल रहा। मैं इसके लिये प्रिय मित्र डॉ० बलदेवराज शर्मा का हृदय से आभारी हूँ। टीकालेखन का कार्य इस दौरान सुचारु रूप से चलता रहा।

1961 के 11 अगस्त को गुरुवर पं० साधुराम जी की प्रेरणा से आर्य कन्या-महाविद्यालय, कारेली बाग, बड़ोदा (गुजरात), में संस्कृत प्राध्यापक के रूप में मेरी प्रथम नियुक्ति हुई। वहाँ आदरणीय डॉ० अरुणोदय न० जानी, रीडर, संस्कृत विभाग, म० स० विश्वविद्यालय, के घर पर सिद्धान्त-कौमुदी की **वैदिकी प्रक्रिया** के रात्रिकालीन अध्ययनक्रम में पं० मणिशङ्कर व० उपाध्याय की शिष्यता प्राप्त हुई। मेरी विशेष प्रार्थना पर उन्होंने अपने घर पर प्रातःकाल काशिका पढ़ाना स्वीकार करके हम दोनों को परम उपकृत किया।[1] बस यहीं से मेरी सिद्धान्त-कौमुदी की टीका में भी गम्भीरता आनी प्रारम्भ हुई। पूरे शैक्षणिक सत्र भर काशिका का अध्ययन शिवसूत्रों से आगे नहीं बढ़ पाया। परन्तु मेरी टीका निरन्तर प्रशस्त और शास्त्र की गहराइयों में पैठती चली गई।

1962 में 1 अगस्त को गुरुवर डॉ० नरेन्द्रनाथ चौधुरी, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, के आशीर्वाद से मैं किरोड़ी मल महाविद्यालय, दिल्ली, में पं० साधुरामजी की सेवानिवृत्ति से रिक्त स्थान पर सहायक संस्कृत प्राध्यापक के पद पर आ गया। जीविका में शोधोपाधि (Ph. D.) के महत्त्व से अभिज्ञ गुरुवर डॉ० चौधुरी ने मुझे वेद विषय में अपने निर्देशन में पंजीकृत भी कर लिया। पर मैं अपने प्रारब्ध टीका-लेखन को पूरा करने का मोहसंवरण नहीं कर सका। विश्वविद्यालय की विशाल ग्रन्थराशि के उपयोग ने मुझे टीका को पुनः नवीन रूप में लिखने को प्रवृत्त किया। अन्य व्यस्तताओं में रुचि के अभाव से तथा प्रिय धर्मपत्नी तारादेवी कोकिला (जन्म 1 अगस्त 1942, कैलासवास 17 नवम्बर 1984) के अनवरत सहयोग से भ्वादिगण की यह टीका 4 दिसम्बर 1964 ई० को सम्पूर्ण हुई।

लेखन के अनन्तर एक बार संशोधन प्रारम्भ किया, तो वह 20 अप्रैल 1965 को समाप्त हो गया। और यह ग्रन्थ प्रकाशनार्थ तैयार हो गया। गुरु गम्भीर शास्त्र, अपनी अल्प वयस् तथा तदनुरूप अल्प ज्ञान को देखते हुए 'न जाने यह कार्य उपयोगी भी होगा कि नहीं ?', इस प्रकार अपने ऊपर अविश्वास के कारण प्रकाशन के अनंतर विद्वानों की प्रतिक्रिया प्राप्त होने तक ग्रन्थ के शेष भाग पर कलम उठाने का मन नहीं

---

1. 1967 के ग्रीष्म में माननीय उपाध्यायजी से वैयाकरणभूषणसार के तिङर्थनिर्णय की आद्य दो कारिकाओं तथा योगसूत्र के व्यासभाष्य और भोजवृत्ति के कुछ अंश पर उपदेश पाने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।

बन पाया। दूसरा कारण यह भी रहा कि यदि प्रकाशित नहीं होता है, तो कीटभक्षणार्थ लिखने का भी क्या लाभ? प्रयत्न करने पर भी कोई भी स्वनामधन्य प्रकाशक नवीन लेखक के इतने विशाल ग्रन्थ पर धन-व्यय के लिये सन्नद्ध नहीं हुआ। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने इस पर व्यय के 60% की सहायता देना भी स्वीकृत किया। पर शेष राशि की व्यवस्था के अभाव में ग्रन्थ प्रकाशन की अपेक्षा में ही रहा।

20 मार्च 1972 को वाराणसी में डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, अध्यक्ष, प्राचीन व्याकरण विभाग, श्री सं० संस्कृतविश्वविद्यालय, से ग्रन्थ के बारे में चर्चा चलने पर उन्होंने इसका अवलोकन स्वीकार किया। उन्होंने भूरि परिश्रम से सम्पूर्ण टीका का आद्यन्त अवलोकन करके अपने विचार भी ग्रन्थ के हाशिये पर लाल स्याही से स्थान-स्थान पर अंकित किये। त्रिपाठी जी के इन विचारों को मैंने यथास्थान यथावत् रखा है। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने ही इसका नाम **भव-तोषिणी** रखा। मैं त्रिपाठी जी की इन दोनों कृपाओं का अत्यन्त आभारी हूँ :

शिष्यः श्रीरघुनाथस्य वाक्यपदीय-टीकितुः।
सगुरुर्मेऽग्रजो भूयः काश्यां विद्वत्सु वन्दितः॥
रामप्रसादो विद्वर्यस् त्रिपाठी व्याकृतौ परः।
नमस्यो मयका यन्मां ग्रन्थं दृष्ट्वोदसीषहत्॥

2 अगस्त 1974 को उनसे ग्रन्थ प्राप्त करने के बाद एक बार नवीन उत्साह और आत्मविश्वास से पुनः संशोधन प्रारम्भ किया। स्थान-स्थान पर नूतन सामग्री का समावेश भी किया। 1 अगस्त 1975 को ग्रन्थ एक बार फिर परिष्कृत रूप में प्रकाशनार्थ तैयार हो गया। 1969 से 1974 की अवधि में निरुक्त-मीमांसादि 7 ग्रंथों के प्रकाशन तथा विद्वानों द्वारा उनको यथोचित रूप में सहेजे जाने पर भी भवतोषिणी का अरुणोदय अभी आशा-प्रतीक्षा के भँवर में था।

31 अगस्त 1977 को भव-तोषिणी एक और संकट में फँस गई—एक प्रकाशक के यहाँ गई तो थी प्रकाश की सुनहली किरण पाने, किन्तु वहाँ उसे मिल गया एक लम्बे अन्तराल का स्याद्वादीय कारावास—प्रकाशक न प्रकाशित करे, और न ग्रन्थ को लौटाए ही। प्रति मात्र एक।

भगवती भवगेहिनी की अहैतुकी कृपा से सितम्बर 1986 में उसकी इस कारा-गार से न केवल मुक्ति हुई, अपितु संस्कृत के एक उदयमान प्रकाशक इसके लिये इधर सन्नद्ध भी हुए और दूसरी तरफ परम मित्र डॉ० सत्यदेव चौधरी की चर्चाओं के फलस्वरूप हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) के तत्कालीन संयुक्त निदेशक तथा अब हिन्दी विभाग में रीडर डॉ० कृष्णदत्त शर्मा की रुचि इस ग्रन्थ में हुई। उनकी प्रेरणा से हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय के निदेशक डॉ० जगदीशचंद्र मूना ने इसे 31.8.1987 को विचारार्थ स्वीकृत किया। 31.5.88

को अपेक्षित कार्यवाही यथाविधि पूरी होने पर ग्रन्थ आर० आर० प्रिंटर्स के संचालक श्री रमेश कुमार चौधरी को मुद्रणार्थ दे दिया गया। जुलाई 1988 के मध्य मुद्रण कार्य प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार सितम्बर 1959 से प्रारब्ध यह यात्रांश अब लक्ष्य के निकट है।

आभार—इस गुरु गम्भीर कार्य को पार उतार कर ऋषि ऋण को चुकाने में मैं अपने समस्त गुरुजनों का तो कृतज्ञ हूँ ही, समय-समय पर उपस्थित शास्त्रीय कठिनाईयों को दूर करने में सहायता के निमित्त पूज्य, गुरुकल्प, महामहोपाध्याय पं० परमेश्वरानन्द जी (अब स्वर्गत) का अत्यन्त ही आभारी हूँ। समय-समय पर ग्रन्थ के कुछ अंशों की प्रतिलिपि करने के कष्टसाध्य कार्य के लिये मैं (1) काशी में अध्ययन काल के साथी अपने प्रिय मित्र पं० रामप्रसाद कौशिक, अब वरिष्ठ संस्कृत अध्यापक, केन्द्रीय विद्यालय, क्र० 1, झाँसी छावनी, का, (2) प्रिय शिष्य श्री अशोक कुमार, अब वरिष्ठ हिन्दी अधिकारी, दी ओरियंटल इंश्योरेंस कं० लि०, दिल्ली, का, (3-4) संस्कृत विद्यापीठ, (1965-66 ई० में शक्तिनगर, दिल्ली में स्थित) के वेद और व्याकरण के मेधावी छात्रों श्री उपेन्द्र और सुरेन्द्र का अत्यन्त आभारी हूँ।

ग्रंथ को प्रकाशनार्थ स्वीकृत करने के निमित्त निदेशालय के निदेशक डॉ० जगदीश चंद्र मूना तथा डॉ० कृष्णदत्त शर्मा का और समय-समय पर परामर्श के लिये सद्य उपलब्ध प्रो० डॉ० सत्यदेव चौधरी तथा प्रो० डॉ० भोलानाथ तिवारी का हृदय से अभारी हूँ।

ग्रन्थ को यथासम्भव शुद्ध रूप में मुद्रित करने के लिये मैं इसके मुद्रक आर० आर० प्रिंटर्स, ब्रह्मपुरी, दिल्ली, के संचालक श्री रमेश कुमार चौधरी, रत्नेश कुमार चौधरी और इनके पिता पण्डित श्री लक्ष्मीकान्त चौधरी का बहुत कृतज्ञ हूँ।

सबसे अधिक कृतज्ञ तो हूँ इस ग्रन्थ के लेखन, प्रकाशन में सर्वतोधिक हेतु, अहेतुक कृपा की निधान, भगवती त्रिगुणा परमेश्वरी का—

यत्कृपा-लेश-मात्रेण मादृशोऽपि गिरां रसम्।
आस्वाद्यास्वादयत्यन्यान् विबुधाचार्य-सम्मतम्॥
यत्कृपा-लेश-मात्रेण वृत्तिर्मे ब्राह्मणी शुभा।
शास्त्राध्ययन-लेखाद्ये हित्वा प्रेयो-गतिं पराम्॥
वन्दे तां परमाराध्यां सर्वदा हृदि संस्थिताम्।
शुभाशुभ-क्रिया-हेतुं पराम्बां भवतोषिणीम्॥
जलौघे पतितं पत्रं न प्रोथति गतागते।
न स्वतन्त्रः क्रियास्वस्मीत्यल्पता सर्वतो-मुखी॥
अपूर्णस्यास्त्यपूर्णा मे टीका, पूर्णा यदीच्छति।
पूर्णा स्यादन्यथा लेखा इयत्या तुष्यतां बुधाः॥

ई-4/25, माडल टाउन, दिल्ली-110009 शिवनारायण शास्त्री
दूरभाष : 712-7661

पूर्व-पीठिका

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ।।[1] ऋ० 4.58.3

1. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी के उत्तरार्ध का प्रतिपाद्य : इस प्रकरण में आचार्य भट्टोजिदीक्षित का प्रतिपाद्य अष्टाध्यायी में धातु से विहित प्रत्ययों की प्रक्रिया देना है। अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय में धातु से तिङ् और कृत् प्रत्ययों का विधान किया गया है। तिङ् प्रत्यय मुख्यतः 3.1.1-90, 3.3.131-176 और 3.4.69-117 में दिये हैं

---

1. पस्पशा भाष्य : महान् (पूजनीय), देव (अमर, अनश्वर, अद्भुत) शब्द मरण-धर्मा मनुष्यों में आविष्ट (व्याप्त होकर स्थित) है। यह शब्द-देव अर्थों की वर्षा करने के कारण वृषभ-सदृश है। नाम (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया-विशेषण), आख्यात (क्रिया-शब्द), उपसर्ग तथा निपात, ये चार इस शब्द-वृषभ के चार सींग (सब से ऊपर आभासमान, प्रयोग में लाए जाने वाले तत्त्व) हैं। भूत, भविष्य और वर्त्तमान, ये तीन इस के तीन पाँव (आधार) हैं। नित्य (स्फोट) और कार्य (अनित्य, वैकृत, व्यावहारिक ध्वनि) दो प्रकार के शब्द इस शब्द-वृषभ (वाक्) के दो सिर (अमूर्त और मूर्त रूप) हैं। (नाम शब्दों की परस्पर तथा क्रिया के साथ सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली) सात विभक्तियाँ इस शब्द-वृषभ के सात हाथ हैं। यह शब्द-वृषभ उरस् (हृदय), कण्ठ तथा सिर (मूर्धा, तथा इनसे उपलक्षित उच्चारण स्थानों) में (बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्नों से करण के द्वारा) तीन प्रकार (स्थान, प्रयत्न और करण) से बँधा हुआ है।† इस प्रकार का यह शब्द-वृषभ देव निरन्तर बोलता (अर्थप्रकाशन करता) रहता है।

†तीन प्रकार से बँधने की एक अन्य व्याख्या भी सम्भव है : उरस् (हृदय) में पश्यन्ती, कण्ठ (कण्ठादि उच्चारण स्थानों) में वैखरी एवं मूर्धा (बुद्धि) में मध्यमा वाक् के रूप में बद्ध शब्द। तद् यथा—

स्थानेषु विधृते वायौ कृत-वर्ण-परिग्रहा ।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राण-वृत्ति-निबन्धना ।।
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रम-रूपातिपातिनी ।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ।।
अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृत-क्रमा ।
स्वरूप-ज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ।। वा०प० 1.143 पर पाठभेद
मूलाधारान् प्रथममुदितो यस्तु तारः पराख्यः ।
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो, बुद्धियुङ्मध्यमाऽऽख्यः ।। अलंकारकौस्तुभ

तथा शेष भाग में कृत् प्रत्यय। भाषा में प्रयुक्त सुबन्त (नाम), तिङन्त (आख्यात) पदों में सुबन्त मूलतः धातुओं से कृत् प्रत्ययों से बनते हैं और तिङन्त पद तिङ् प्रत्ययों से। इन द्विविध पदों का समुदाय वाक्य ही भाषा का मुख्य रूप प्रस्तुत करता है। वाक्य में मुख्यता तिङन्त (आख्यात) की होती है।[1] इस लिए धातु से विहित प्रत्ययों में मुख्यता तिङों की है। धातु-पाठों की व्याख्याओं में धातु के तिङन्त रूप इसीलिए पहले दिए जाते हैं, फिर कृदन्त रूप। दीक्षितजी ने उत्तरार्ध में पहले तिङ् प्रत्ययों की प्रक्रिया दस गणों तथा ण्यन्तादि लकारार्थ प्रक्रियान्त प्रकरणों में दी है, फिर कृदन्त प्रत्ययों की प्रक्रिया पूर्वकृदन्त, उणादि तथा उत्तर कृदन्त नामक प्रकरणों में दी है।

2. 'धातु' क्या है : पाणिनि ने **'धातु'** संज्ञा दो प्रकार के शब्दों की की है : (क) भूवादि शब्द तथा (ख) 'सन्' आदि 12 प्रत्ययों[2] से निष्पन्न शब्द।[3] ये सन् आदि प्रत्यय (अ) भूवादि शब्दों से तथा (आ) सामान्य और विशेष के रूप में कथित सुबन्त शब्दों से मुख्यतया 3.1.5-30 सूत्रों में स्वार्थे या अर्थ-विशेष में विहित हैं।

3. 'भूवादि' धातु-पाठ है : **'भूवादयः'** से **'भू'** आदि शब्दों का गण अभिप्रेत है। इसी **'भूवादि'** गण को सामान्यतः **'धातु-पाठ'** कहा जाता है। क्योंकि इस में पठित **'भू'** आदि शब्दों की 'धातु' संज्ञा पाणिनि ने बताई है।

4. धातुओं के दस गण : इन उभयविध धातु शब्दों से कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते शप् प्रत्यय (3.1.68 से) विहित है। इस प्रत्यय के (क) दो विकार और (ख) छह अपवाद प्रत्यय पाणिनिप्रोक्त क्रम से ये हैं : (क) 1 √**अद्** आदि धातुओं से शप् का लुक् (2.4.72), 2 √**हु** (जिसका श्तिबन्त रूप 'जुहोति' होता है) आदि से शप् का श्लु, ये दो विकार शप् के होते हैं; (ख) 1 √**दिव्** आदि के पश्चात् शप् का अपवाद श्यन् (3.1.69), 2 √**सु** आदि से श्नु (73), 3 √**तुद्** आदि से श (77), 4 √**रुध्** आदि से श्नम् (78), 5 √**तन्** आदि से उ (79) तथा 6 √**क्री** आदि के पश्चात् श्ना (81) होते हैं।

इस प्रकार धातु-संज्ञा प्राप्त **भूवादि** शब्दों के उपर्युक्त 8 अवान्तर भेद तथा एक पारिशेष्य नियम से शप् वाला गण, कुल 9 गण पाणिनि ने बताए हैं। ये शप् और उसके छह अपवाद प्रत्यय धातु के स्वरूप में कुछ विकार कर देते हैं, अतः 'विकरण' कहलाते हैं।

---

1. वार्तिक 2.1.1.10, 11 : **आख्यातं साध्य-कारक-विशेषणं वाक्यम्। एक-तिङ्।**
2. **सन्[1]-क्यच्[2] काम्यच्[3]-क्यङ्[4]-क्यषो[5]ऽथाचारक्विब्[6] णिज्-[7]यङौ[8] तथा।**
   [9-10]यगायेयङ्[11] णिङ्[12] चेति द्वादशामी सनादयः॥
3. अष्टा० 1.3.1 : **भूवादयो धातवः।** 3.1.32 : **सनाद्यन्ता धातवः।**

'भूवादयो धातवः' के अन्तर्गत इन 9 गणों के अतिरिक्त एक धातु-गण और है, जिसमें धातु के अपने अर्थ (स्वार्थ) में ही नित्य या विकल्प से णिच् प्रत्यय (3.1.25 से) किया है। इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्द **सनाद्यन्ता धातवः** (3.1.32) से धातु संज्ञा प्राप्त करते हैं। इन णिजन्त या णिच्रहित धातुओं से साधारण प्रत्यय शप् होता है। अतः यह गण यों तो प्रथम गण के अन्तर्गत होने के योग्य है, किन्तु प्रथम गण में शुद्ध धातुता और इसमें प्रत्ययान्त होने से प्राप्त धातुता का एक बहुत विशिष्ट अन्तर है, जिसके कारण इसे पृथक् गण मानना आवश्यक हो जाता है। स्वार्थे विहित प्रत्ययों से निष्पन्न धातुओं में सर्वाधिक विस्तार इसी गण की धातुओं का है। विस्तार की दृष्टि से यह गण भ्वादि के बाद आता है।

इस तरह सूत्रकार के अनुसार दस गण धातुओं के होते हैं। इनमें से प्रथम गण को इसके प्रथम शब्द के कारण **भूवादि गण** नाम दिया गया है और **भूवादयो धातवः** सूत्र के अन्तर्गत पठित आठ अवान्तर गण अपनी-अपनी प्रथम धातु के आधार पर **अदादि** आदि संज्ञाओं से अभिहित किये गये हैं। दशम गण भी प्रथम धातु के ही आधार पर **चुरादि गण** नाम से अभिहित हुआ है।

5. धातु-पाठ की संज्ञाएँ : भूवादयो धातवः (1.3.1) के अन्तर्गत भूवादि गण-पाठ के इस अंश को पाणिनीय सम्प्रदाय में सामान्यतया **गण-पाठ** और विशेषतया **धातु-पाठ** संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। **गण-पाठ** के **धातु-पाठ** से रहित अंश को **प्रातिपदिक-पाठ** भी कहा जाता है। इन पाठों में प्रत्ययों की, अथवा शब्दों की प्रकृतियों का सङ्ग्रह किया होने से इन्हें **प्रकृति-पाठ** भी कहा जाता है। सूत्रपाठ से पृथक् उसका उपयोगी अंश होने से ये सब **खिल** तो कहे जाते ही रहे हैं।[1]

6. धातुपाठ पाणिनि-प्रोक्त है : पाणिनीय व्याकरण के खिलपाठों में अन्यतम के रूप में उपलब्ध धातु-पाठ का न केवल गण-क्रम ही सूत्र-पाठ के उपर्युक्त क्रम के अनुकूल है, अपितु सूत्रोक्त अन्तर्गणों की धातुओं का क्रम, कई जगह प्रोक्त अर्थकथन, अनुबन्धविधान आदि भी उसके पूरी तरह अनुकूल हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य

---

1. महाभाष्य 1-1.1. : **वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे।** काशिका 1.3.2 : **उपदेशः शास्त्र वाक्यानि** (i) **सूत्र-पाठः,** (ii) **खिल-पाठश्च।** न्यास : **खिल-पाठो धातु-पाठः। चकारात् प्रातिपदिक-पाठश्च।** पदमञ्जरी : **खिल-पाठो** (i) **धातु-पाठः,** (ii) **प्रातिपदिक-पाठो** (iii) **वाक्य-पाठश्च।** न्यास 1.3.22 : **न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गण-पाठः।** न्यास 4.1.106, 7.4.3 तथा 75 भी देखें। महाभाष्य 1.3.1 : **अस्ति च पाठो बाह्यश्च सूत्रात्।** प्रक्रिया-कौमुदी : **प्रकृतिः सा जयत्याद्या यया धात्वादि-रूपया।**

जिनेन्द्रबुद्धि का गण-कार को पाणिनि से इतर बताना[1] उचित नहीं प्रतीत होता। यह दूसरी बात है कि सूत्र-पाठ के समान धातु-पाठ, या समूचा गण-पाठ, भी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त रूप-विधान का सुतराम् ऋणी है : धातुओं का क्रम, अनुबन्धों का प्रयोग आदि पाणिनि की नवीन कल्पना नहीं, अपितु पूर्वाचार्यों से गृहीत हैं।[2] उदाहरणार्थ **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (3.1.28) सूत्र में धृत धातुओं का क्रम, अनुबन्ध, प्रत्यय एवं 'इ' से धातु-निर्देश सब एक बहुवचन को छोड़कर भागुरि के कथन से ज्यों के त्यों मिलते हैं। वचन भेद भी सहेतुक है : भागुरि का कथन श्लोकबद्ध है; अतः उसमें बहुवचन से छन्दोभङ्ग होता है; जबकि पाणिनि का सूत्र गद्य है; अतः अक्षर-सङ्ख्याचिन्तन से निर्मुक्त होने के कारण उसमें बहुवचन दे दिया है। इसी प्रकार **गुप्-तिज्-किद्भ्यः सन्** (3.1.5) की धातुओं का क्रम धातु-पाठ में भी समान ही है, तो भागुरि की कारिका में भी वही है।[3] काशकृत्स्न, आपिशलि आदि के अनुबन्धों की पाणिनि के अनुबन्धविधान से समानता भी इसी कारण है।

---

1. न्यास 4.1.106 : **अपाणिनीयत्वाद् गणस्य**। 7.4.3 : **प्रतिपादितं हि पूर्वं** (4.1.106 सूत्रे) **गण-कारः पाणिनिर्न भवतीति। तथा च अन्यो हि गण-कारोऽन्यश्च सूत्र-कारः**। 75 : **यद्यत्र** ('णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इति सूत्रे) **'त्रि'-ग्रहणं क्रियते, निजादीनामन्ते वृत्करणं किमर्थम्? एतद् गण-कारः प्रष्टव्यो, न सूत्र-कारः। 'अन्यो हि गण-कारोऽन्यश्च सूत्र-कारः' इत्युक्तं प्राक्** (7.4.3 सूत्रे)।

2. पूर्वाचार्यों के प्रभाव के कारण पाणिनीय धातु-पाठ में सेटों में अनिट् और अनिटों में सेट् यत्र-तत्र हैं। क्षीरतरङ्गिणी 1.149 देखें :

   पाठ-मध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित्।
   अनुदात्तोऽप्युदात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः॥

3. यु० मी०, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 27, पर शब्दशक्ति-प्रकाशिका, पृष्ठ 447 (चौ० सं०), में उद्धृत भागुरिवचन :

   'गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनेराद्यः, कमेस्तु णिङ्।
   ऋतेरियङ्† चतुर्लेषु नित्यं स्वार्थे परत्र वा॥' इति भागुरिस्मृतेः।
   'गुपो बधेश्च निन्दायां क्षमायां‡ तथा तिजः।
   प्रतीकाराद्यर्थकाच्च कितः स्वार्थे सनो विधिः॥' इति भागुरिस्मृतेः।

   †सं० व्या० इ० में 'ङ्' प्रूफदोष लगता है : (i) पाणिनीय तन्त्र में इसके समानान्तर **'ऋतेरीयङ्'** (3.1.29) में कण्ठ्य पंचम स्पर्श है; (ii) परवर्ती 'च' से सन्धि में 'ङ्' को 'ट्' अवश्य होता है। ‡यथोद्धृत पाठ में एक अक्षर अनवधान से छूट गया लगता है। स्यात् **'च'** रहा हो।

7. धातु-पाठ में धातु-संकलन की शैली : पाणिनि के धातु-पाठ में धातुओं का समाम्नान रूपसिद्धि की समानता को अनुबन्धों के द्वारा नियन्त्रित करते हुए अन्त्य वर्ण के अनुक्रम से धातु को देकर उसका अर्थकथन करके धातु-सूत्रों में किया गया है।

पाणिनि ने अपने धातु-पाठ में धातुओं का संकलन धातु और अर्थ का प्रदर्शन करने वाले सूत्रों में किया है। ये 'धातु-सूत्र' कहलाते हैं। इन सूत्रों में रूपसिद्धि की समानताओं को धातुओं के प्रायेण पश्चात्, यत्र-तत्र पूर्व भी, अनुबन्धों के रूप में देकर अन्त्यवर्णानुक्रम से धातुओं का संकलन किया है। इस प्रकार की समानता वाली धातुओं से युक्त धातु-सूत्रों को एक वर्ग के रूप में दिया है। यह वर्ग एक धातु-सूत्र का भी है, तो अनेक धातु-सूत्रों का भी। उदाहरणार्थ **भू सत्तायाम्** (वर्ग 1) और **धावु गति-शुद्ध्योः** (16), **वस निवासे** (35) एकेक धातु-सूत्र के वर्ग हैं, तो **वद व्यक्तायां वाचि,** (37.1), **टुओश्वि गति-वृद्ध्योः** (2) दो धातु-सूत्रों का वर्ग है। अनेक धातु-सूत्रों वाले वर्ग अधिक हैं। इन वर्गों को धातु-पाठ में सेट्ता अनिट्ता और परस्मैपद, आत्मनेपद, उभयपद तथा अन्य कई रूपसिद्धि की विशेषताओं को अनुबन्धवर्णों से बताते हुए प्रदर्शित किया है।[1]

इन अनुबन्धों को निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(1) परस्मैपद, आत्मनेपद तथा उभयपद के सूचक अनुबंध :

(क) स्वरांत धातुओं से (i) आत्मनेपद की सूचना के लिए धातु के अंत में 'ङ्' वर्ण को और (ii) उभयपद के लिए 'ञ्' वर्ण को अनुबन्ध के रूप में दिया है। यथा (i) ष्मिङ्, (ii) श्रिञ्। (iii) अनुबन्धरहित स्वरांत धातु परस्मैपदी हैं। यथा भू, जि।

(ख) हलन्त धातुओं के साथ धातु के अन्त्यवर्ण के पश्चात् क्रमशः उदात्त, अनुदात्त और स्वरित अचों का अनुबन्ध के रूप में प्रयोग किया गया है। धातु-पाठ में इन धातुओं के पश्चात् **'उदात्तेतः परस्मैभाषाः'**, **'अनुदात्तेत आत्मनेभाषाः'** और **'स्वरितेत उभयतोभाषाः'** कहा गया है। भाषा से उदात्तादि स्वरों के उच्छेद के कारण साक्षात् स्वरनिर्देश तो लिपि या उच्चारण में रह नहीं गया। अतः इस प्रकार के निर्देश आवश्यक हो गए। दीक्षितजी ने कहीं **उदात्तेतः** आदि निर्देशों का प्रयोग किया है, तो कहीं **परस्मैपदिनः** आदि निर्देशों का : **कत्थन्ताः षट्त्रिंशदनुदात्तेतः** (पृ० 16!),

---

1. इस ग्रन्थ में (i) धातु-वर्ग की क्रम-संख्या का उल्लेख मूल में धातु-वर्ग के प्रारम्भ में किया है। (i) धातु-वर्ग में आगत धातु-सूत्रों को उनके अन्त में संख्या से प्रदर्शित किया है। (iii) धातु-सूत्रगत धातुओं का प्रसंख्यान धातु के पूर्व संख्या से किया है।

अथाष्टात्रिंशत् तवर्गीयान्ताः परस्मैपदिनः (पृष्ठ 241) इत्यादि ।

(2) उपर्युक्त (1.ख) अनुबन्धों में उपर्युक्त प्रयोजन के साथ-साथ रूप-विधान की दृष्टि से कुछ विशेष की विवक्षा से विशेष अनुबन्ध अचों का प्रयोग किया गया है : आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, इर् । इन अनुबन्धों के साथ-साथ धातु के पूर्व उ, ओ, ञि, टु एवं डु का प्रयोग भी प्रयोजनविशेष से किया गया है। एकाध धातुओं में तो धातु के पूर्व दो अनुबन्धों का प्रयोग उपलब्ध है। यथा 7.53 **टु ओ स्फूर्जा** ।

(3) धातु के मुख्य स्वर को उदात्त कर के वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों में धातु की सेट्ता और अनुदात्त करके अनिट्ता सूचित की है। आदि काल में इस स्वर-विधान का प्रयोग उच्चारण और लिपि में होता होगा। स्वर के उच्छेद के बाद तो मुख्यतः **उदात्ताः, उदात्तेतः** आदि निर्देश धातु-पाठ में किए जाने लगे। सेट्-अनिट् का विवेक कारिकाओं से हो जाने के कारण दीक्षितजी ने इन निर्देशों की तो उपेक्षा की ही है, धातु-पाठ में सेट्ता या अनिट्ता के कारण पृथक् उपलब्ध धातुवर्गों को भी पद की समानता होने पर मिलाकर आत्मनेपदी या परस्मैपदी का एक वर्ग ही बना दिया है।[1] ऐसा करके दीक्षितजी ने पूर्वाचार्यों के धातुपाठों में पाणिनि द्वारा किए गए एक महत्त्वपूर्ण प्रतिसंस्कार की उपेक्षा कर दी। पाणिनि के उपर्युक्त प्रतिसंस्कार के कारण जहाँ धातु की सेट्ता और अनिट्ता का ज्ञान उस धातु के प्रकरण से ही हो जाता था, वहीं दीक्षितजी की इस उपेक्षा के कारण अनिट् कारिकाओं का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया।

8. **'भूवादिगण' का अपर नाम 'भ्वादिगण' है :** पाणिनिप्रोक्त धातुगणार्थक 'भूवादि' के 'व्' अंश की नानाविध व्याख्याएँ आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य (1.3.1) में की हैं। सूत्र-पाठ में प्रयुक्त 'भूवादि' शब्द में उनके अभीष्ट रहते भी 'भूवादि' धातु-पाठ के प्रथम गण को भी आदि में √भू होने से प्राचीन काल में 'भू+आदि' की सन्धि में वकारागम करके 'भूवादि' कहा जाता था, तो बाद में इसे यण्सन्धि से 'भ्वादि' कहा जाने लगा। भट्टोजि दीक्षित ने भी इसे 'भ्वादि' कहा है।[2]

9. **भ्वादिगण का विश्लेषण :** पाणिनि ने **'भूवादयो धातवः'** (1.3.1) पर भूवादि से जिस गण का प्रणयन किया था, उसकी अक्षरानुपूर्वी आज यथावत् रूप में उपलब्ध नहीं है। अष्टाध्यायी के आन्तरिक साक्ष्यों से उसके स्वरूप के बारे में निम्न तथ्य उपलब्ध हैं :

---

1. आगे पृष्ठ xxi तथा '11. भ्वादिगण के धातु-वर्गों का विवेचन' (पृष्ठ xxvi) में 25, 26, 28, 30, 31, 32 वर्गों का विवेचन देखें।
2. भाषावृत्ति 6.1.77 : **इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडि-गालवयोः**। तथा आगे पृष्ठ 739 : **यजादयो वृत्ताः। भ्वादिस्त्वाकृतिगणः। ···इति भ्वादयः।**

(क) पाणिनि का धातु-पाठ उच्चारण और लिपि दोनों तरह से सस्वर था। पाणिनि ने धातु के (क) पद (आत्मनेपद आदि) तथा (ख) सेट्ता की पहचान के लिए उदात्त आदि तीन स्वरों का प्रयोग किया है।[1]

(ख) अष्टाध्यायी में बहुत से स्थलों में अर्थविशेषवाली धातुओं से विशेष विधान किए हैं।[2] अतः अर्थकथन भी पाणिनि के धातु-पाठ में निश्चय ही रहा होगा।[3]

(ग) धातु के कहीं-कहीं आदि में, अधिकतर अन्त में, अनुबन्धों का प्रयोग भी अष्टाध्यायी से प्रमाणित होता है।[4]

(घ) धातु-वर्गों का क्रम भी बहुत करके अन्त्य वर्णानुक्रम वाला वही रहा होगा, जो आज उपलब्ध धातु-पाठों की व्याख्याओं में मिलता है।

पाणिनिप्रोक्त धातु-पाठ में अन्तर मोटे तौर पर निम्न प्रकार से आया है—

(क) धातुओं में स्वर-पाठ का उच्छेद भाषा से स्वर के उच्छेद के साथ-साथ होता गया। अनुनासिक पाठ के लिए प्रचलित व्यवस्था **प्रतिज्ञाऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः** के समान स्वर का विधान भी धातु-पाठ में कण्ठतः कर दिया गया : भू

---

1. (क) **अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्** (1.3.12), **स्वरित-ञितः कर्त्रभिप्राये क्रिया-फले** (72), **शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** (78)। (ख) **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (7.2.10)। अनुदात्तेत्, स्वरितेत् तथा अनुदात्त से शेष धातु पारिशेष्य नियम से उदात्तेत् और उदात्त हैं।

2. **तपोऽनुतापे च** (3.1.65), **तनूकरणे तक्षः** (76), **चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच्** (3.2.148), **मति-बुद्धि-पूजाऽर्थेभ्यश्च** (188), **छन्दसि गत्यर्थेभ्यः** (3.3.129), **इच्छाऽर्थेषु लिङ्-लोटौ** (157), **इच्छाऽर्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने** (160), **शक-धृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन्** (3.4.65), **पर्याप्ति-वचनेष्वलमर्थेषु** (66), **गत्यर्थाकर्मक०** (72)।

3. अर्थनिर्देश को कई आचार्य अपाणिनीय मानते हैं, तो कई पाणिनीय। इस पर विस्तरेण विचारार्थ पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 51 देखें। भट्टोजिदीक्षित ने अर्थनिर्देश को अपाणिनीय ही माना है : **अर्थ-निर्देशस्याधुनिकत्वात्** (आगे पृष्ठ 709)। शब्दकौस्तुभ (1.2.20, 1.3.1) भी देखें।

4. **आदिर्ञि-टु-डवः** (1.3.5), **इरितो वा** (3.157), **षिद्-भिदादिभ्योऽङ्** (3.3.104), **इवितो नुम् धातोः** (7.1.58), **ह्म्यन्त-क्षण···श्व्येदिताम्** (7.2.5), **श्वीदितो निष्ठायाम्** (14), **आदितश्च** (16), **ओदितश्च** (8.2.45) इत्यादि।

सत्तायाम् उदात्तः, एवादय उदात्ता अनुदात्तेतः इत्यादि। कालान्तर में और भी स्पष्टता से पद का प्रदर्शन कर दिया गया लगता है : **भू सत्तायाम् उदात्तः परस्मैभाषः** इत्यादि। सङ्क्षेपप्रिय आचार्य ने **शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** (1.3.78) आदि के रहते पदनिर्देश किया होगा, यह विश्सनीय नहीं लगता।

(ख) अर्थ में परिवर्तन आने के साथ अर्थकथन में भी परिवर्तन अवश्य आया होगा। बहुत सी जगह अर्थकथनों में वह तीक्ष्णता नहीं है, जो पाणिनि जैसे आचार्य से अपेक्षित है।[1]

(ग) बहुत सी वे धातु धातु-पाठ में बाद में जुड़ी होंगीं, जो (i) उच्चारण की प्राकृत प्रवृत्ति के फलस्वरूप भाषा में विकसित होकर संस्कृत में भी स्वीकृत हो गई होंगी। इस प्रवृत्ति में स्वरभक्ति, य् का ज्, व् का व्, व् का व्, र् का ल्, ऊष्म वर्णों में देशभेद से विपर्यय, ऋ का इ, उ, इर्, उर् आदि के रूप में विकास आदि उल्लेखनीय हैं। (ii) संस्कृत धातुओं के अंग (विकरणविशिष्ट भाग) प्राकृतों में स्वतन्त्र धातु के रूप में जब बहुप्रयुक्त हो गए, तो संस्कृतभाषियों के किसी वर्ग में भी वे प्रचलित हो गए। उन्हें भी धातु-पाठ में नवीन धातु के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उदाहरणतः √ग्रह् (क्र्यादि) के 'गृह्ण्' अंग से विकसित √घिण्ण्, √घुण्ण् आदि धातु ली जा सकती हैं। (iii) इसी प्रकार √फुल्ल् आदि धातु भी मूलतः संस्कृत धातु नहीं हैं। ये प्राकृत से संस्कृत भाषा में स्वीकृत हुई हैं। (iv) इसके अतिरिक्त बहुत सी धातु ऐसी भी हैं, जो भाषा में प्रचलित नामपदों की सिद्धि के लिए कल्पित की गई हैं। यथा √अन्त्, √गण्ड् आदि। ऐसी धातुओं को प्राचीन आचार्यों ने **नैते तिङ्विषयाः स्मृताः** कहा है।[2]

आज उपलब्ध या प्रचलित धातु-पाठ का स्वरूप बहुत करके सायणाचार्य की माधवीय धातु-वृत्ति पर आधारित है। दीक्षित जी ने उसके स्वरूप में यत्र-तत्र संक्षेप करके अपने धातु-पाठ का स्वरूप निर्धारित किया है।

10. धातु-पाठ के धातुपाठीय[3] और दीक्षितीय वर्गीकरण की तुलना : धातु-

---

1. अर्थनिर्देश बहुत-सी जगह निर्भ्रान्त क्रिया को बतलाने में समर्थ नहीं है। अकर्मकता/सकर्मकता का ज्ञान अर्थनिर्देश से नहीं हो पाता। इत्यादि।
2. इन सब को धातु-सूची में चिह्नित किया गया है।
3. (1) श्रीधर शास्त्री पाठक और सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, भाण्डारकर, 1935, पाणिनीय सूत्रपाठस्य तत्परिशिष्टानां च शब्दकोशाः, में प्रकाशित धातु-पाठ, (2) सि० शंकरराम शास्त्री, मैलापूर्, मद्रास, 1937, अष्टाध्यायीसूत्र-पाठः में धृत धातु-पाठ, (3) श्री वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर द्वारा सम्पादित

पाठ में (क) सेट्ता, अनिट्ता तथा (ख) आत्मनेपदिता आदि के आधार पर अन्त्य-वर्णानुक्रम से 45 धातुवर्गों का गठन भ्वादि गण में उपलब्ध होता है। दीक्षित जी ने (क) सेट्ता, अनिट्ता को धातुवर्गों के गठन का आधार न बना कर केवल (ख) पद को ही आधार बनाया है। दीक्षितजी के ऐसा करने से पाणिनि की एक अद्वितीय विशेषता की उपेक्षा हो गई : पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के धातु-पाठों में सेट्-अनिट् धातुओं के साङ्कर्य को दूर करके अपने धातु-पाठ में उदात्तता और अनुदात्तता के निर्देश से सुन्दर व्यवस्था लागू की थी।[1] इस व्यवस्था के अपवाद भ्वादिगण में मात्र 6 धातु हैं : (क. 1) उदात्तों के मध्य अनुदात्त—7.54[2] √क्षि, (2) 10.1 √तिज्, (3) 15.54 √जि, (4) 18.63 √घस् (5) 26.6 √रुह्; (ख) अनुदात्तों में उदात्त—34.4 √सच्।[3]

दीक्षितीय धातु-वर्ग-व्यवस्था में 24वें धातु-वर्ग तक तो धातु-पाठीय व्यवस्था से समानता है। किंतु धातु-पाठ के (क) 25-26, (ख) 27-28, (ग) 30-31, (घ) 33-34, (ङ) 36-37, (च) 38-40 तथा (छ) 41-42 वें वर्गों को दीक्षितजी ने मिला कर क्रमशः (क) 25 (ख) 26, (ग) 28, (घ) 30, (ङ) 32, (च) 33 तथा (छ) 34वें वर्ग के रूप में गठित किया है। 36वें धातु-वर्ग का स्पष्टतया पृथक वर्गीकरण 'ञ्' अनुबन्ध से स्वतः हो जाता है। सम्भवतः इसीलिए दीक्षितजी ने इस धातु-वर्ग का निर्देश अलग से नहीं किया है।

11. भ्वादिगण के धातु-वर्गों का विवेचन : 1. धातु-पाठ का प्रारम्भ सर्वोपादान, सत्स्वरूप ब्रह्म का स्मरण करने की दृष्टि से सत्तार्थक, उदात्त दीर्घस्वरांत, मुखद्वार ओष्ठ से उच्चरित, परस्मैपदी √भू के प्रथम वर्ग से मंगलार्थ किया है। √भू छह भावविकारों में जन्म और अस्तित्व का अभिज्ञान करती है। सत्तार्थकथन जन्म (उत्पत्ति) का भी उपलक्षक है—जन्म के विना जागतिक पदार्थों की सत्ता सम्भव नहीं है।

सिद्धान्तकौमुदी के निर्णयसागर-सं० (1938 ई०) के अन्त में प्रकाशित धातु-पाठ मूल धातु-पाठ के रूप में अभिप्रेत हैं। सिद्धान्तकौमुदी में धृत पाठ दीक्षितीय पाठ के रूप में अभीष्ट है।

1. क्षीरतरंगिणी 1.149 पर धृत श्लोक तथा युधिष्ठिर मीमांसकजी की टि० 4 देखें।
2. ये सङ्ख्याएँ भवतोषिणी के संस्करण में प्रयुक्त धातु-वर्ग तथा धातु-संख्या की सूचक हैं।
3. शेष गणों में इस व्यवस्था के अपवाद भी केवल छह धातु हैं : (क) उदात्तों में अनुदात्त—(1) √क्षिप्, (2) तप्; (ख) अनुदात्तों में उदात्त—(1) डीङ्, (2) वृञ्, (3) विच्छ् (4) √विन्द्।

2-3. जन्म और सत्ता के अनन्तर ग्रन्थ की वृद्धि की कामना से मंगलार्थ ही परिणाम भावविकार की उपलक्षक वृद्धि का अभिधान करने वाली ओष्ठानन्तरवर्ती दन्त्य महाप्राण घोष व्यञ्जनांत तथा आदि में वृद्धि वर्ण वाली आत्मनेपदी, √एध् दे कर दन्त्यर्णान्त धातु द्वितीय धातु-वर्ग में दी हैं।

धातु-पाठ में हलन्त धातु स्वरांतों से कहीं अधिक हैं। अतः आचार्य भट्टोजि ने हलन्त धातुओं का समाम्नान पहले (2-27 वर्गों में) किया है। 28-31 में स्वरांत धातु देकर 32-35 में हलन्त और 36वें वर्ग में स्वरांत धातु देकर अन्त में 37वें वर्ग में हलन्त धातु दी हैं। धातु-पाठ के आदि में स्वरांत √भू तो विशिष्ट मंगल अभीष्ट होने से दी है। द्वितीय वर्ग की प्रथम धातु तवर्गान्त आत्मनेपदी है। अतः उस में तवर्गान्त आत्मनेपदी धातु दे कर अगले धातु-वर्ग में तवर्गान्त परस्मैपदी धातु दी हैं।

2-11. इन दस वर्गों में कण्ठ्यादि वर्णक्रम से अन्त में नासिक्येतर स्पर्श वर्णों वाली धातु पहले आत्मनेपदी और फिर परस्मैपदी के क्रम से दी हैं। इनमें 7.54 √क्षि धातु अन्त्यवर्णक्रम और अनिट् के रूप में तथा 10.1 √तिप् अनिट् के रूप में अपने वर्ग की शेष धातुओं से भिन्न हैं। शेष धातु यथाक्रम और सेट् हैं।

12-13. दो धातुवर्गों में नासिक्य स्पर्शान्त धातु (12वें में) आत्मनेपदी, (13वें में) परस्मैपदी के क्रम से दी हैं।

14-15 धातु-वर्गों में अन्तस्थान्त धातु आत्मनेपदी और परस्मैपदी के क्रम से दी हैं। 15.54 जि (स्वरान्त और अनिट्) को अन्तस्थान्तों में देने का हेतु स्पष्ट नहीं है। इसे 29 वें वर्ग में 45 वीं धातु के रूप में उचित स्थान पर दिया गया है।[1]

16 वें वर्ग में एक √धाव् उभयपदी सम्भवतः अन्तस्थान्तों की निकटता के कारण दी है। इसका उचित स्थान 26.21 √व्यय् के बाद है।

17-18 धातु-वर्गों में ऊष्मान्त धातु आत्मनेपदी और परस्मैपदी के क्रम से दी हैं। 17वें वर्ग की अन्तिम √घुंष् को इसी वर्ग में 11 √वर्ष् के बाद देना उचित होता। 18 वें वर्ग में पठित 64-66 √जर्ज्, √चर्च् और √झर्झ् का स्थान 7वें वर्ग में रेफोपध धातुओं में उचित है, तो 18.72 √शव् की या तो आवश्यकता ही नहीं है, यदि है भी, तो 15.55 √जीव् के आसपास उचित है। इसके अतिरिक्त, 65 √घस् (अनिट्) का यहाँ उदात्तों में समाम्नान भी उचित नहीं है।

यहाँ तक सरल समान प्रक्रिया वाली धातु देने के बाद अगले 19 वें वर्ग से

---

1. क्षी० त० 1.374, पृष्ठ 83 : **लक्ष्येऽनिट्कोऽयम्। जेता। अत एव कौशिकोऽमुं नाध्येष्ट। 'जि ज्रि अभिभवे' इत्यनेनैव सिद्धत्वात्।** स्वामी जी ने अकर्मकत्वार्थ 15 वें वर्ग में उपादान की आवश्यकता जो बताई है, वह तो **जि उत्कर्षाभिभवयोः** अर्थकथन से ही सिद्ध हो जाती। अतः यह युक्ति उचित नहीं है।

लेकर 24.5 तक विशिष्ट प्रक्रिया वाली धातु आत्मनेपदी और परस्मैपदी के क्रम से दी गई हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :

19 वें धातु-वर्ग में लकारविशेष में विशेष प्रक्रिया वाली हलन्त सेट् आत्मनेपदी धातु दी हैं। इनके इस विशिष्ट स्वरूप का आधार (1) **द्युद्भ्यो लुङि** (1.3.91) और (2) **वृद्भ्यः स्य-सनोः** (92) तथा **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** (7.2.59) में पठित (1) द्युतादि और (2) वृतादि अन्तर्गण हैं।

20 वें धातु-वर्ग में रूपविशेष (आकारान्त संज्ञा और णिच् में ह्रस्व तथा चिण् एवं णमुल् में वा दीर्घ की) सिद्धि के लिए आवश्यक 13 आत्मनेपदी सेट् धातु दो अनुबन्धों (मित् और णित्) का अतिदेश करके दी हैं। इनमें से 4 धातु अन्यत्र पठितों का मित्त्व, षित्त्व, अर्थविशेष या पदविशेष के लिए अनुवाद हैं। 9 धातु नूतन भी हैं। इन की प्रक्रिया **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (3.3.104) एवं **मितां ह्रस्वः** (6.4.92) तथा **चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्**(93) में बताई है।

21 वें धातु-वर्ग में भी णिच् में ह्रस्व तथा चिण् एवं णमुल् में वा दीर्घ के लिए 48 अनूदित और 25 नूतन, कुल 73, परस्मैपदी धातु मित्त्व का अतिदेश करने को दी हैं। इनमें से 8 धातु उपसर्गाभाव में वा मित् हैं तथा 6 के पूर्वतः प्राप्त मित्त्व का स्थितिविशेष में निषेध किया गया है।

20-21 वें धातु-वर्गों में पठित बहुत-सी धातु भ्वादि में अन्यत्र तथा अन्य गणों में पठित हैं। अतः इन का उचित स्थान तो प्रक्रियाविशेष मात्र दर्शाना अभिप्रेत होने से धातु-पाठ के अन्त में था। यहाँ तो सम्भवतः भ्वादि में भी नूतन धातुओं के समाम्नान के लिए आवश्यक होने से रूपविशेष की प्रक्रिया प्रकरण के 19 वें वर्ग में प्रारब्ध हो जाने से दिया है।

धातु-पाठ तथा सिद्धांतकौमुदी के सभी संस्करणों में अनूदित धातुओं को स्वतंत्र धातु मान कर गण की धातु-संख्या में जोड़ा गया है। इसे अनुचित समझ कर भवतोषिणी में अनूदित धातुओं को उस धातु-वर्ग में तो उस वर्ग की धातुओं की संख्या के ज्ञान के लिए जोड़ कर दिया गया है, किंतु गण की धातुओं के योग में केवल नूतन धातु जोड़ी गई हैं।

21वें धातु-वर्ग का अन्त कुछ लोगों के मत में √फण् के बाद होता है, तो कुछ के मत में √फण् से पूर्व। अतः 22वें धातु-वर्ग के प्रारंभ पर मतभेद है। दीक्षित जी ने सायण का अनुसरण करके प्रथम पक्ष लिया है। अष्टाध्यायी में √फण् से सात धातुओं वाला एक अन्तर्गण लिट् में विकल्प से एत्वाभ्यासलोप के लिए दिया है। इस अन्तर्गण में √फण् के बाद की एक धातु उभयपदी है तथा उसके बाद तीन धातु आत्मनेपदी हैं। धातु-पाठ की शैली को देखते हुए इन एक स्वरितेत् तथा तीन अनुदात्तेत् धातुओं का पृथक्-पृथक् (22-23) धातु-वर्ग मानना उचित है।

24 वें धातु-वर्ग में प्रकीर्ण और प्रत्ययविशेष में अभीष्ट हलंत परस्मैपदी धातु दी हैं। इनमें से प्रथम दो √स्यम्, √स्वन् पिछले वर्गों से चल रहे फणादि गण के अंतर्गत हैं। उनके पश्चात् प्रक्रियाविशेष में अनूदित तीन धातुओं को दिया गया है। इन्हें यहाँ देख कर कुछ लोग **घटादि गण** (वर्ग 21) की सीमा यहाँ तक मान कर √**ष्टम** के पश्चात् **वुत्** मानते हैं। इन 5 धातुओं के बाद इस धातु-वर्ग में **ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः** (31.140) में प्रोक्त ज्वलादि गण की 30 में से 21 धातु पद तथा सेट्ता की समानता सेवर्ग के शेष भाग में दी गई हैं।

25-26 धातु-वर्गों में दीक्षित जी ने ज्वलादिगण की शेष 9 धातु दी हैं। इन्हें धातु-पाठ में 4 धातु-वर्गों में दिया गया है। धातु-पाठ में आत्मनेपदी सेट् √सह् और आत्मनेपदी अनिट् √रम् को 25 वें वर्ग में दिया है। परस्मैपदी (क) 3 अनिटों और (ख) चार में से 3 सेटों और 1 अनिट् के 2 वर्गों को 26 वें वर्ग के रूप में दिया गया है। 3 उदात्तों के मध्य पठित अनुदात्त √रुह् को अनिट् परस्मैपदी √क्रुश् के साथ देने से धातु-पाठ में यह साङ्कर्य आसानी से हटाया जा सकता था।

इसके अतिरिक्त, ज्वलादि गण की धातुओं में क्रम-गत औचित्य की दृष्टि से बहुत विसंगति है। इसे दूर करने को नया क्रम भवतोषिणी में (पृष्ठ 603 पर) सुझाया गया है।

27 वें धातु-वर्ग में सामान्य प्रक्रिया वाली हलन्त उभयपदी धातु हैं। इनका भी क्रम बहुत उचित नहीं लगता। भवतोषिणी (पृष्ठ 612) में उचित क्रम सुझाया है।

28 वें वर्ग में दीक्षित जी ने धातु-पाठ में सेट् और अनिट् के क्रम से दो वर्गों में पठित स्वरांत उभयपदी धातुओं को एक अजंत उभयपदी वर्ग के रूप में दिया है।

29 वें धातु-वर्ग में स्वरांत अनिट् परस्मैपदी धातु अन्त में ए, ऐ, आ, ऋ, उ, इ वर्णों के क्रम से दी गई हैं।

30 वें वर्ग में दीक्षित जी ने धातु-पाठ में (क) अनिट् और (ख) सेट् आत्मनेपदी स्वरांत धातुओं के 2 वर्गों को एक आत्मनेपदी स्वरांत धातु-वर्ग के रूप में प्रस्तुत किया है।

31 वाँ वर्ग धातु-पाठ में एक स्वरांत परस्मैपदी सेट् √तृ का है। दीक्षित जी ने इसका वर्ग के रूप में उल्लेख नहीं किया है। पर सामान्य नीति का अनुसरण करने से यह धातु 31 वें धातु-वर्ग के रूप में समझनी चाहिए।

32वाँ धातु-वर्ग दीक्षितजी ने आठ आत्मनेपदी धातुओं का दिया है। धातु-पाठ में यह दो वर्गों में विभाजित है। प्रथम वर्ग का निर्देश **गुपादयश्चत्वार उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषाः** के रूप में किया है। ये धातु प्रक्रिया की दृष्टि से विशिष्ट प्रकार की हैं : **गुप् तिज्-किद्भ्यः सन्** (3.1.5) और **मान्-बध-दान्-शान्भ्यो दीर्घश्**

चाभ्यासस्य (6) से कुछ लोगों के मत में स्वार्थे नित्य सन्नन्त हैं, तो कुछ के मत में अर्थ-विशेष में[1] सन्नन्त हैं, अन्यत्र सन्नहित हैं। अतः प्रक्रिया की विशेषता के कारण इनका पृथक् वर्ग उचित है।

धातु-पाठ में दूसरे वर्ग का निर्देश उदात्त (सेट्) अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी) धातुओं के रूप में किया गया है। किंतु अनुदात्त के रूप में परिगणित धातुओं में उपलब्ध होने से इन धातुओं की उदात्तता (सेट्ता) शास्त्रसम्मत नहीं है। अतः धातु-पाठ का यह निर्देश उचित नहीं है। पिछले गुपादि वर्ग की धातु अनिटों में तो परिगणित नहीं हैं। अतः उदात्त हैं। परंतु इनका प्रयोग सन् के अभाव में न मानने वाले भाष्यकार आदि अधिक मान्य आचार्यों की दृष्टि से इन्हें उदात्त बताना निष्फल है। अतः इनका निर्देश √कित् धातु पर उपलब्ध निर्देश के समान केवल पद का सूचक होना चाहिए। **पर्जन्यवल्लक्षणस्य प्रवृत्तिः** (प०) से भले इन्हें उदात्त कहा जाए।

33वें धातु-वर्ग में दीक्षित जी ने धातु-पाठ के तीन (38-40) वर्गों को मिला कर दिया है। धातु-पाठ में **ञिष्विदा**, क्षीरस्वामी, सायण आदि के उचिततर मत में **ञिक्ष्विदा**, सेट् परस्मैपदी का एक पृथक् 38वाँ वर्ग है। इसे क्षी०त० तथा मा०धा०वृ० में भी पृथक् वर्ग के रूप में दिया है। धातु-पाठ में इसके बाद √स्कन्द् से √मिह् तक अनिट् परस्मैपदी धातुओं का एक 39वाँ वर्ग है।[2] फिर √कित् परस्मैपदी का 40वाँ वर्ग है। धातु-पाठ में इसकी सेट्ता/अनिट्ता बताई नहीं है।[3] पर अनिट् कारिकाओं में किसी भी तकारांत धातु का परिगणन न होने से इसकी उदात्तता सिद्ध होती है। अतः क्षीरस्वामी का इसे अनिट् बताना[4] उचित नहीं है। धातु-पाठ तथा मा०धा०वृ० में या तो इसकी उदात्तता अनुदात्तता को भाष्यादि के मत में निष्फल होने से नहीं दिया है, या यह प्रमाद से छूट गई है।[5] **पर्जन्यवल्लक्षणस्य प्रवृत्तिः** (प०) से दिया जाना आवश्यक है। √गुप् आदि शेष 6 धातुओं के प्रसंग में इसका निर्देश धातु-पाठ में किया भी गया है। क्षीरस्वामी ने √कित् को स्कन्दादि धातु-वर्ग में सम्मिलित कर के दिया है। दीक्षितजी ने इस अंश में उन्हीं का अनुकरण किया है।

---

1. इन विशिष्ट अर्थों का संकेत मुनित्रय ने नहीं किया है। आचार्य भागुरि के एक श्लोक में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। इस स्थल की भवतोषिणी, पृष्ठ 681 देखें।
2. मा०धा०वृ० में इस वर्ग को √मिह् तक बताया है।
3. मा०धा०वृ० में भी नहीं बताई है।
4. क्षी०त० 1.707 : **स्कन्दिर् शोषणे। इतः कित-पर्यन्ताः पञ्चदशानिटः परस्मैपदिनश्च।**···721 : **अनुदात्ता उदात्तेतः।**
5. मा०धा०वृ० में इन सातों धातुओं में उदात्तता आदि का निर्देश सम्भवतः इसी कारण नहीं है। किन्तु धातु-पाठ में अनिर्देश का हेतु प्रमाद ही लगता है।

34वें वर्ग में भी दीक्षित जी ने पद की समानता के कारण √दान् और √शान् (दोनों नित्य सन्नन्त) के धातु-पाठीय पृथक् वर्ग को अगली **डुपचष्** आदि √वह्-पर्यंत हलन्त उभयपदी धातुओं के वर्ग में मिला कर दिया है।[1] धातु-पाठ में √दान् और शान् को उदात्त (सेट्) बताया है। नित्यसन्नन्ततावादियों के मत में यह निष्प्रयोजन है। अतः √कित् के समान केवल पद का निर्देश होना चाहिए। अनुदात्त √पचादियों में उदात्त √सच् का पाठ उचित नहीं है। इसे 27वें √हिक्कादि वर्ग में दिया जाना उचित है।[2]

35वें वर्ग में केवल √वस् अनिट् परस्मैपदी धातु दी है। इसका उचित स्थान 37वें वर्ग से पूर्व है।

36वें वर्ग का पृथक् निर्देश दीक्षितजी ने नहीं किया है। किंतु स्वरूपतः पृथक् (ञित् तथा स्वरांत) होने के कारण इसकी पृथग्वर्गता निगदव्याख्यात है। धातु-पाठ में इसका पृथक् उपदेश किया गया है।

37वें वर्ग में एक हलन्त और एक स्वरांत सेट् परस्मैपदी धातु दी गई हैं। क्षी०त० में दोनों धातुओं के मध्य में वर्ग-निर्देश किया गया है। मा०धा०वृ० में दूसरी धातु के बाद किया गया है। दीक्षितजी ने प्रथम धातु के पूर्व ही वर्ग-निर्देश किया है। इन्हें यहाँ 34.9 √यजादि गण के लिए दिया गया है।

12. दीक्षितजी की व्याख्या शैली : दीक्षितजी की व्याख्या-शैली से उनके द्वारा व्याख्यात धातु-पाठ के भ्वादिगण में कुल कितनी धातु हैं, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने 2-8 वर्गों तथा 10, 12, 13, 20, 25, 32वें धातु-वर्गों में धातु-संख्या का निर्देश किया है।[3] शेष में नहीं। उन्होंने धातु-पाठीय धातुओं की व्याख्या के अतिरिक्त 5 दर्जन से अधिक एकीय धातुओं का उल्लेख भी किया है।[4] इन्हें कभी[5]

---

1. इसका आधार क्षीरस्वामी द्वारा √दान् से √वह् पर्यन्त धातुओं को अनिट् उभयपदी बताना लगता है।
2. धातु-पाठों में **षच समवाये** का पाठ नहीं रहा है। विवरण टीका में देखें।
3. यह क्रमशः इस प्रकार है : (वर्ग 2) 36, (3) 38, (4) 42, (5) 50, (6) 21, (7) 72, (8) 36, (10) 34, (12) 10, (13) 30, (20) 13, (25) 2, (32) 8। कुछ धातु-वर्ग छोटे हैं। उनकी संख्या का निर्धारण सुकर है। पर बड़े वर्गों में यह दुष्कर है।
4. ग्रन्थ के अन्त में धातुओं की वर्णानुक्रम सूची में इन धातुओं को चिह्नित किया है।
5. तृतीय वर्ग में धातुसंख्या 38 बताई है। यह 4 √श्च्युत् के बाद यकाररहितत्वेन प्रोक्त (√श्चुत्) को मिलाने से पूरी होती है। यह क्षीरस्वामी के अनुसार कौशिक के मत में है। किंतु चतुर्थ धातु-वर्ग में एकीय √ध्राघृ को √श्चुत् के समान नूतन

नूतन धातु माना है, तो कभी नहीं। इसके अतिरिक्त, अर्थान्तर में उक्त[1] धातुओं को कहीं तो नूतन धातु के रूप में लिया है, कहीं नहीं।[2] अर्थभेद से पुनः पठित धातु को पृथक् धातु मानने की शैली धातु-पाठ की है। किंतु यह तब तो उचित है, जब अर्थ-भेद के अतिरिक्त रूप-भेद भी होता हो। नहीं तो एक ही धातु-सूत्र में अनेक अर्थों में पठित धातुओं को जितने अर्थ, उतनी धातु मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अर्थभेदेन धातुभेद मानने पर **'अनेकार्था धातवः'** (अर्थनिर्देश उपलक्षण मात्र है) इत्यादि मान्यताएँ व्यर्थ ठहरती हैं। अतः वस्तुतः समूचे धातु-पाठ का इस दृष्टि से प्रति-संस्कार आवश्यक है।

सूत्रों की व्याख्या में दीक्षित जी ने गागर में सागर भरने वाली शैली का आश्रय लिया है। यह काशिका की अपेक्षा संक्षिप्त है, और रूपावतार, प्रक्रिया-कौमुदी, प्रक्रिया-सर्वस्व तथा भाषा-वृत्ति आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक एवं सारग्राही है। सूत्र-व्याख्या में महाभाष्य, प्रदीप और काशिका तथा उसकी टीकाओं न्यास और पदमंजरी में प्रस्तुत नाना पक्षों में से अन्यतर युक्ति-युक्त पक्ष का आश्रय लिया गया है। इसमें उन्होंने प्रायेण सायण की माधवीय धातु-वृत्ति में अपनाए पक्ष को ही अपनी व्याख्या का आधार बनाया है। **'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्-लोपे** (पृष्ठ 380-399) की व्याख्या उपलक्षणार्थ प्रस्तुत की जा सकती है। बहुत से स्थलों में प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों से मतभेद भी उनकी सूत्रव्याख्या में उपलब्ध होता है। संक्षेप को प्रमुखता अभीष्ट होने से उन्होंने इसमें अपने समर्थन में कोई युक्ति अथवा स्पष्टीकरण नहीं दिया है। यह कार्य उन्होंने अपने टीकाकारों अथवा ग्रन्थ के अध्यापकों पर छोड़ दिया है।[3]

13. भवतोषिणी की शैली : भवतोषिणी में (1) दीक्षितजी द्वारा एकीय के

धातु मानते हैं, तो इस वर्ग की प्रोक्त धातु संख्या सही नहीं रह पाएगी। पंचम वर्ग में एकीय धातुओं को मिलाने से वर्गोक्त संख्या पूरी होती है।

1. ये धातु निम्नलिखित हैं : लघि, मघि, द्राघृ, षच, लबि, चर, पृषु।
2. चौथे वर्ग में 34 √मङ्घ् और 40 √द्राघ् अर्थभेद से पुनः पठित हैं। किंतु इनकी गणना नूतन धातुओं के रूप में नहीं की है, अन्यथा सङ्ख्या दीक्षित-प्रोक्त 42 न रह कर 45 हो जाती है। किंतु धातु वर्ग में प्रोक्त 72 सङ्ख्या अर्थ-भेदेन पुनरुक्त √गज् को जोड़े बिना पूरी नहीं होती।
3. विभिन्न पक्षों की प्रस्तुति के अतिरिक्त उनकी तुलनात्मक विवेचना करके दीक्षित जी के मत की समीक्षा करने का प्रयास भव-तोषिणी में यथासंभव भरपूर मात्रा में किया गया है। उदाहरणार्थ **हलादिः शेषः** (पृष्ठ 61-67) की व्याख्या ली जा सकती है।

रूप में प्रोक्त धातुओं के मूल स्रोत देने का प्रयास तो यथासम्भव किया ही गया है, उनसे अतिरिक्त शताधिक एकीय धातु भी उनके स्रोत के साथ दी गई हैं। (2) प्रत्येक धातु-वर्ग के प्रारम्भ या अन्त में प्रकृत धातु-वर्ग का विश्लेषण उस धातु-वर्ग की धातु-संख्या, अर्थभेद तथा पाठभेद से धातुभेद, धातुओं के क्रम में औचित्य, धातुओं में प्रयुक्त अनुबन्धों के प्रयोजन आदि पर विचार किया गया है। (3) धातु-वर्ग के अन्त में पूर्वागत तथा उस वर्ग में आगत धातुओं की संख्या **धातु-योग** के अन्तर्गत बताई है। (4) धातु-वर्ग के स्वरूप को विस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने की दृष्टि से धातुवर्गागत अन्तिम वर्ण, अनुबन्ध या प्रक्रिया को आधार बनाकर समान प्रकार की धातुओं को पृथक् खण्डों में 'क.', 'ख.' आदि भेदक चिह्न देकर दिया है। समूचे भ्वादिगण को इस दृष्टि से 103 खण्डों में बाँटा गया है।

सिद्धान्तकौमुदी के (1) मूल पाठ को विराम चिह्नों से तथा भेद्यबाहुल्य होने पर भेदक संख्या का प्रदर्शन अंकों, क, ख, अ, आ, i, ii आदि चिह्नों से करके स्पष्ट रूप से देने का प्रयास किया है। (2) सूत्रों के पूर्व कौमुदीक्रम से सूत्र-सङ्ख्या का निर्देश करके उनके बाद कोष्ठक में अष्टाध्यायी की स्थलसङ्ख्या देकर डैश (—) के बाद दीक्षित जी की वृत्ति तथा अन्य भाग दिया है। (3) कोष्ठक में '(वा०)' देकर वार्तिकों को तथा (प०) रखकर परिभाषाओं को दिया है। (4) मूल पाठ को मोटे काले अक्षरों में देकर उसके बाद कौमुदी का अनुवाद सरल हिन्दी में दिया है। (5) अनुवाद के अनन्तर पूरी रेखा देकर मूल पाठ की व्याख्या ही है। (6) व्याख्या में धृत, उद्धृत सूत्र, वार्तिक, आदि संस्कृत के पाठ को काले टाइप में दिया है। पाद-टिप्पणियों में भी उद्धरणों को काले टाइप में दिया है। (7) सन्दर्भ-सङ्केत यथा-सम्भव पूर्ण मात्रा में दिये गए हैं। उल्लिखित ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करणों का प्रयोग किया गया है। आवश्यकता होने पर संस्करणविशेष का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

व्याख्या भाग में अध्येता को तह तक पहुँचाने का यथा सम्भव प्रयत्न किया गया है। इसके लिए (1) सूत्रव्याख्या में सूत्र में अनुवृत्त पदों को उनके मूल स्थान समेत उद्धृत करके अनुवृत्त पदों को विभक्ति-वचन के निर्देश के साथ दे कर अनुवृत्त तथा सूत्रगत पदों में अन्वयार्थ अपेक्षित परिभाषा आदि का प्रयोग करके सूत्रार्थ (वृत्ति) का निर्माण सरल विधि से किया हैं। (2) सूत्र की व्याख्या के विषय में मतभेद होने पर धुर वार्तिककार से प्रारम्भ करके दीक्षितजी के टीकाकारों तथा पर्याप्त अर्वाचीन काल के वैयाकरणों के मतों को सप्रमाण प्रस्तुत करके उनका तुलनात्मक अध्ययन तो किया ही है, दीक्षितजी द्वारा आश्रित पक्ष की हेयोपोदेयता भी बताई है। (3) व्याकरण शास्त्र से सम्बद्ध दार्शनिक, व्याख्यात्मक तथा रूपसिद्धि आदि की दृष्टि से आवश्यक

महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को सप्रमाण तुलनात्मक पद्धति से दिया है। (4) पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि की भी उपेक्षा नहीं की गई है।

धातुओं की व्याख्या में (1) उनका अर्थ तथा स्वरूप निर्धारित करने के लिए वेद, निरुक्त आदि वेदांगों, पुराण, धर्मशास्त्र, काव्यों आदि का प्रचुर उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त, (2) आज की भाषाओं में उपलब्ध उनका अर्थ और स्वरूप भी प्रदर्शित किया गया है।

शब्द-साधन लक्ष्य का पूरा करने के लिए (1) धातुओं के रूप विस्तार से या संक्षेप से दे कर (2) महत्त्वपूर्ण शब्दों की सिद्धियाँ भी पर्याप्त मात्रा में दी गई हैं।

ग्रन्थ में अभीष्ट स्थल पर सरलता से पहुँचने के लिए (क) ग्रन्थ के आदि में विस्तृत **विषयानुक्रमणी** दी है। (ख) ग्रन्थ के अन्त में (1) भवतोषिणी में धृत, उद्धृत और चर्चित सन्दर्भ-ग्रन्थों अथवा आचार्यों की सूची, (2) सूत्रों, (3) वार्तिकों और इष्टियों, (4) सिद्धांतकौमुदीधृत श्लोकों, (5) धातुओं एवम् (6) उनके अर्थों की सूचियाँ पृष्ठ-निर्देश के साथ दी हैं। (5) धातु-सूची में धातु-पाठीय धातुओं के अतिरिक्त (i) दीक्षितोक्त एकीय तथा (ii) भवतोषिण्युक्त एकीय धातु, (iii) आख्यात के रूप में अप्रयुक्त, केवल नाम-पदों में उपलब्ध धातु, (iv) नाम-पदों से कल्पित धातु और (v) प्राकृत पद्धति से विकसित किंतु संस्कृत में स्वीकृत धातु पृथक्-पृथक् चिह्नों से सूचित करके दी हैं। इन सूचियों के बाद (7) आधुनिक भाषाओं में तत्सम और तद्भव धातुओं की सूची दी है।

इतने गहन विषय तथा विशाल आकार वाले ग्रन्थ का शुद्ध मुद्रण बहुत दुष्कर कार्य है। यथासम्भव प्रयास के पश्चात् भी अशुद्धि सेना ने ग्रन्थ को आक्रान्त कर ही लिया है। कुछ अक्षरों की आकारगत समानता से, मात्राओं के टूटने से जो सहज अनुमेय अशुद्धियाँ हो गई हैं, उन्हें तो कृपालु विद्वान् पाठक स्वयं ठीक कर ही लेंगे। किंतु मतिभ्रम करने वाली जो अशुद्धियाँ मेरे प्रमाद के कारण आ गई हैं, पहले पृष्ठ संख्या फिर शीर्ष (Folio) से प्रारब्ध पंक्तिसंख्या देकर उनका शुद्ध रूप ग्रंथ के पश्चात् एवं ग्रन्थ के मुख्य भाग के पूर्व अंत में **शुद्धि-पत्र** के रूप में दिया गया है।

14. त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थना : इतने प्रयास के बाद भी जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उनके लिए मैं विनम्र भाव से क्षमाप्रार्थना करता हूँ। मनुष्य है ही त्रुटिबहुल : **सर्वो हि पुरुषा आर्तः** (मै० सं० 2.4.1)।

इन स्थूल त्रुटियों से अधिक महत्त्वपूर्ण वे त्रुटियाँ हैं, जो शास्त्र की अति गहनता, बुद्धि की अल्पता तथा आलस्य और प्रमाद नामक दो स्वभावगत दुर्बलताओं के कारण शास्त्र का सम्यक्, निर्भ्रान्त तथा तलस्पर्शी ज्ञान न होने से भवतोषिणी में स्थान-स्थान पर आ गई होंगी। इन्हें एक शंकालु, सन्दिग्ध, अल्पज्ञानी की त्रुटियाँ

समझ कर विद्वान् लोग खण्डन, त्रुटिप्रदर्शन, समाधान आदि के द्वारा समीचीन करने की मेरे ऊपर कृपा तथा शास्त्र की सेवा करेंगे। अपनी असमर्थता के बावजूद मैं चलता रहा हूँ, रुका नहीं—**अन्तं वा एष गतो यो निरुद्धः** (मै०सं० 2.2.9)। मेरे लिए यही सन्तोष की बात है। अपने सन्दिग्ध ज्ञान को भी आधार बना कर इसीलिए चलता रहा, क्यों कि सन्देह से मनुष्य का कल्याण ही होता है—**एतदेव विचिकित्सायै जन्म, यत् प्रजापतिर्व्यचिकित्सत्। स विचिकित्सन् श्रेयस्यध्रियत, यः प्र चाजायत; अत्स्यतश् चाग्नेर्मृत्योरात्मानमत्रायत। स यो हैवमेतद् विचिकित्सायै जन्म वेद, यद्ध किं च विचिकित्सति, श्रेयसि हैव ध्रियते** (श०ब्रा० 2.2.4.9)।

भारद्वाजसगोत्रोऽहं ब्राह्मणो वेदमार्गगः।
शिवनारायणः शास्त्री श्रमणः शास्त्रसेवने ॥ 1 ॥

सन्तति वाङ्मयीमाद्यां चिराद् गर्भेऽथ सम्भृताम्।
गन्तुमीहे प्रकाश्याद्य पुत्रिणामथ सद्गतिम् ॥ 2 ॥

गत्वाऽन्तं मानुषे लोके कीर्तौ पुत्रेऽमरो नरः।
ब्राह्मणी शाश्वती कीर्तिर्भूयादाचन्द्रभास्करम् ॥ 3 ॥

पितृ-रूपस्य शम्भोर्हि पादयोरर्प्यते प्रियः।
ग्रन्थः पौत्रोऽयमस्त्वस्य प्रीतये स्वर्गिणो विदः ॥ 4 ॥

ई-4/25, माडल टाउन, दिल्ली-110009. **शिवनारायण शास्त्री**
वरूथिनी (वैशाख कृष्ण) एकादशी, 2046 वि०।

विषयानुक्रमणी

समर्पण v

वक्तव्य vii

मङ्गलम् viii

प्राक्कथन ix

पूर्व-पीठिका—1. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी के उत्तरार्ध का प्रतिपाद्य xiii, 2. 'धातु' क्या है xiv, 3. 'भूवादि' धातु-पाठ है xiv, 4. धातुओं के दस गण, xiv, 5. धातु-पाठ की संज्ञाएँ xv, 6. धातु-पाठ पाणिनि-प्रोक्त है xv, 7. धातु-पाठ में धातु-संकलन की शैली xvii, 8. 'भूवादि गण' का अपर नाम 'भ्वादि गण' है xviii, 9. भ्वादिगण का विश्लेषण xviii, 10. धातु-पाठ के धातुपाठीय और दीक्षितीय वर्गीकरण की तुलना xx, 11. भ्वादिगण के धातु-वर्गों का विवेचन xxi, 12. दीक्षित जी की व्याख्याशैली xxvi, 13. भवतोषिणी की शैली xxvii, 14. त्रुटियों के लिए क्षमा-प्रार्थना xxix ;

वैयाकरणसिद्धांतकौमुदी : भवतोषिणी

1.[1] **ग्रन्थ के मध्य में मंगलाचरण**—मंगलाचरण का महत्त्व 3, मंगलाचरण की व्याख्या 4, 'विजयतेतराम्' पर शङ्का-समाधान;

2. **उत्तरार्ध का विषय-निर्देश**—5,

3. **दस लकार**—'लकार' संज्ञा का तात्पर्य 6, 'लकार' शब्द के इतिहास के बारे में मतभेद 6, 'ट्' और 'ङ्' अनुबंधों का प्रयोजन, लेट् वेद में ही प्रयुक्त है, तीसरे अध्याय के प्रत्ययों में लकार ही सर्वप्रथम क्यों ? लकारों का क्रम 7, लकारों के दो भेद, अन्य व्याकरणों में लकारों के पर्याय 8;

4. **प्रथम लकार : वर्तमान में लट्**—'वर्तमाने लट्' 9, 'लट्' में अनुबंध, पद-विभाग, 'अव्यय' शब्द पर विचार (टि० 3) 10, 'धातु' : (1) व्युत्पत्ति, (2) इतिहास, धातु का स्वरूप 11, पाश्चात्त्यों का मत 12, क्रिया के तीन भेद, क्रिया का स्वरूप, 'भाव' शब्द के अर्थ पर मतभेद 13, क्रिया आश्रय के माध्यम से ही व्यक्त होती है

---

1. ये संख्याएँ सि०कौ० के मूलपाठ के खण्डों की सूचक हैं, जो मूलग्रंथ में खण्ड के अंत में दी गई हैं।

14, दोनों आश्रय लकार से व्यक्त किये जाते हैं, धातु से नहीं, प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ की द्योत्यता/वाच्यता का विचार 15, प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का समन्वय 16, 'वर्तमान' का अर्थ 17, वर्तमान के भेद, अंग्रेजी पद्धति के साथ तुलना 18;

5. **लकारों के अर्थ**—सन्दर्भ 18, 'लः कर्मणि च०'—सूत्रार्थ 19, आश्रय कारक के भेद से क्रियाओं के दो भेद 20, सकर्मकता, अकर्मकता की विभिन्न व्याख्याएँ सकर्मकता और अकर्मकता में परस्पर परिवर्तन 22, दोनों सूत्रों का निष्कर्ष 23, इस सूत्र की उपयोगिता पर विचार;

6. **लकार के आदेश प्रत्यय**—'तिप् तस् झि सिप् थस् थ मिब् वस् मस् ताताम् झ थासाथान्ध्वमिड् वहि महिङ्' 24—'इट्' आगम नहीं है, महिङ् का ङित्त्व गुण-निषेधादि-प्रयोजनक नहीं है, 'तिप्सस्झि' सूत्र में सन्धि 25, 'तिप्तस्झि···महिङ्' एक-पद है या अनेक पद ?, परस्मैपद और आत्मनेपद संज्ञाएँ प्राचीन हैं 26, भारतीय भाषाओं में परस्मैपद आत्मनेपद, लैटिन में आत्मनेपद का व्यत्यय (टि० 3) 27;

7. **आत्मनेपद तथा परस्मैपद प्रत्ययों की प्रकृतियाँ**—'अनुदात्त-ङित०' 29, अनुवर्तन, 'धातोः' और 'लस्य' की प्राप्ति पर विचार (टि० 1), प्रकृत सूत्रों का तात्पर्य—नियम 30, आत्मनेपद से फल की कर्तृगामिता पर विचार, इस कल्पना का आधार 31, तीनों सूत्रों का निष्कर्ष 32;

8. **तिङों का पुरुष और वचनों में विभाजन**—'तिङस्त्रीणि०' सूत्र के पदों का अन्वय 32, 'त्रीणि-त्रीणि' में नपुंसकता 33, 'प्रथम' आदि संज्ञाओं पर विचार 34, 'प्रथम' आदि विभक्ति हैं 35;

9. **प्रथम आदि का प्रयोग कब होता है**—सन्दर्भ 35, सुप् विभक्ति और तिङ् विभक्ति में अन्तर, 'भवत्' किस पुरुष के अन्तर्गत है ? 37;

10. **प्रथम धातुवर्ग : 1 √भू की प्रक्रिया**—धातु-पाठ और गण के आदि में √भू के पाठ का प्रयोजन 38, धातु-वर्गों में धातुओं के सङ्ख्यान की तकनीक (टि० 1), 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' 39, 'सार्वधातुक' शब्द पर विचार 40, डॉ०पं० श्री राम प्रसाद त्रिपाठी की असहमति (टि० 2);

11. **√भू+लट् की शेष प्रक्रिया**—'भवति', 'भवतः' की सिद्धियाँ 41; 'भवति' की स्वरसिद्धि (टि० 1), 'भवन्ति' की सिद्धि 42, स्वरसिद्धि (टि० 1, 4), 'अतो दीर्घो यञि'—43, 'दीर्घ' शब्द का अर्थ और इतिहास, 'भवामि' की सिद्धि; 'तस्' आदि की उदात्तता का कारण (टि० 1) 45;

12. **'प्रहासे च मन्योपपदे०' के उदाहरण**—प्रघट्ट के अनुवाद के विषय में डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी की टिप्पणी (टि० 1) 44; परिहास के लिए युष्मद् ही क्यों ? 45, 'प्रहासे' कहने का अभिप्राय 46,

13 **द्वितीय लकार : परोक्ष भूत अर्थ में लिट्**—'परोक्षे लिट्' 46, भूत के भेद, 'परोक्ष' आदि का अन्वय 48, 'परोक्ष' के अर्थ पर मतभेद 49, उत्तम पुरुष में लिट् में अर्थ-भेद, 'परोक्ष' का इतिहास 50; 'परस्मैपदानां णलतु०'—णल् तिप् का सर्वादेश कैसे ? 51, 'थ' आदेश की प्रक्रिया, 'भुवो वुग् लुङ्-लिटोः' में 'लुङ्-लिटोः' की विभक्ति पर विचार 52, वुक् गुण-वृद्धि का बाधक है, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' 53—बालमनोरमासम्मत अन्वय पर विचार 54, 'अजादेः' पर विचार, 'धातोः' कहने की आवश्यकता 56, 'अनभ्यासस्य' की आवश्यकता पर विचार 57, धातु प्रायः एकाच् हैं 59, एकाच् को द्वित्व का तात्पर्य, 'पूर्वोऽभ्यासः' 59, 'अभ्यास' का अर्थ और इतिहास 60, 'हलादिः शेषः' 61, व्याख्या पर मतभेद, कैयट और काशिकाकार की समीक्षा 65, भाष्यकार की व्याख्याओं में आदेय कौन-सी है ? 66, दीक्षितजी ने किस पक्ष का आश्रय लिया है ? 67, 'ह्रस्वः' : कैयट की व्याख्या, कैयट की समीक्षा, 'ह्रस्व' का अर्थ तथा इतिहास 68, 'भवतेरः' : 'भवतेः' के शप् पर मत-भेद 69, 'कु-होश्चुः' और 'अभ्यासे चर्च' में बलाबल 72; 'असिद्धवदत्राभात्' 72 : अधिकारों की द्विविधता 73, 'आभात् शास्त्र' किस की कर्तव्यता में असिद्ध हैं ?, इस असिद्धवद्भाव के दो प्रयोजन हैं 74, 'वसि' की सार्थकता 75, 'अत्र' के ग्रहण का प्रयोजन 77, 'वुग्युटावुवङ्-यणोः०' (वा०) 78, प्रकृत वार्तिक की आवश्यकता पर विचार; 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' 79 : 'आर्धधातुकस्य' की आवश्यकता पर विचार 80. काशिकादि का मत 81, 'इट्' की आवश्यकता 82, सिद्धियाँ;

14. **तृतीय लकार : अनद्यतन भविष्यत् में लुट्**—भविष्यत् काल के चार भेद 84, अनद्यतन में लुट् भी 86, 'स्य-तासी लृ-लुटोः' 87 : 'लृ' का अर्थ, 'तासि' में इकार की सार्थकता, लादेश और स्य, तास का क्रम 89; 'शवादि' का अभिप्राय, 'आर्धधातुकशेषः' 89 : 'धातोः' के अनुवर्तन की आवश्यकता 90, 'लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः' 93 : छह तिङों को तीन आदेश कैसे ?, 'डा' अनेकाल्त्वेन सर्वादेश है 95, 'पुगन्त-लघूपधस्य च' 96 : 'पुगन्तस्य' का प्रयोजन 97, व्याख्या-भेद, 'दीधीवेवीटाम्' 100 : 'दीधीवेवीटाम्' का विग्रह, 'इट्' से ग्राह्य, सूत्र की आवश्यकता पर विचार, 'तासस्त्योर्लोपः', 'रि च' 102 : दो सूत्र नहीं एक ही होना चाहिए; सिद्धियाँ 103;

15. **चतुर्थ लकार : सामान्य भविष्य में लृट्**—'लृट् शेषे च' 103 : सूत्र की आवश्यकता 104, सिद्धियाँ 106, लृट् के उदाहरण 107;

पञ्चम लकार : प्रकारार्थ में लेट्—108, लेट् का प्रयोगक्षेत्र, मुख्य सूत्र, रूपसिद्धि 109, सिप्पक्ष में रूप 110, शप्पक्ष में रूप;

16. **षष्ठ लकार : प्रकारार्थ में लोट्**—'आशिषि लिङ-लोटौ' 111 : सूत्र के पदन्यास पर विचार, जिनेन्द्रबुद्धिकृत शंका-समाधान 112; 'एरुः' 113, 'हि' और 'नि' के इकार को उकार नहीं होता, ह्रस्व इ को ह्रस्व उ; 'तु-ह्वोस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्'

—'तु' से 'अन्तु' का ग्रहण नहीं होता 114, अनुबंध-विचार, सर्वादेशत्व पर विचार, ङित्त्व के प्रयोजन, 'विप्रतिषेध' का अर्थ 116, अन्योन्याश्रय दोष तथा उसका प्रतिविधान 118, काशिका में उपर्युक्त शास्त्रार्थकथनपरक श्लोक, श्लोकों की प्राचीनता (टि० 2) 119, 'लोटो लङ्वत्' (3.4.85) आदि सूत्रों के स्थानपरिवर्तन का नव्यों का मत, 'लोटो लङ्वत्' : लङ् के तिङों को विहित आदेश 120, लोट् के तिङों को कौन-कौन हो सकते हैं ? 121, 'नित्यं ङितः' 123—'सः' के अन्वय पर मतभेद, 'सेर्ह्यपिच्च' 124—'हि' पर विचार, 'हि' को अपित् करने का प्रयोजन, 'अतो हेः' 125 : 'अतः', 'हेः' पदों का प्रयोजन, 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते' (प०) पर विचार 126, 'आडुत्तमस्य पिच्च' 127—पित्त्व आगम का धर्म है, या उत्तम प्रत्यय का ? √भू+लोट् की सिद्धियाँ 128;

17. सप्तम लकार : अनद्यतन भूत में लङ्—अनद्यतने लङ् 129 : भाष्य में स्वीकृत वार्तिक 130, 'लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः'—धातु को अट् का आगम कब होता है ? इस पर दो मत, लघुशब्देन्दुशेखर में शंका-समाधान 131, 'उदात्तः' कहने का प्रयोजन 132, 'इतश्च' 133—'परस्मैपदेषु' की विभक्ति पर विचार; √भू+लङ् की प्रक्रिया;

18. अष्टम लकार : क. विधि आदि अर्थों में लिङ्—'विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ्' 134—'विधि' आदि का अर्थ 135, ये सब प्रवर्तना के ही सूक्ष्म रूप हैं, यह सूत्र कदाचिद् व्याकरणान्तर से गृहीत है 136, लिङ् और णिच् से प्रकाशित प्रवर्तनाओं में अन्तर 136, भर्तृहरि ने इसे भिन्न रूप से कहा है 137, 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च'—द्विविध अन्वय, 'उदात्तः' का प्रयोजन 138, यासुट् को ङित् करने का प्रयोजन, 'सुट् ति-थोः' 140—'ति' पर विचार, 'ति-थोः' की विभक्ति पर विचार, सीयुट्, यासुट् और ति-थोः के 'उ' तथा 'इ' पर विचार (टि० 1-2), 'सुटा यासुण्न बाध्यते' का अभिप्राय (टि० 1) 141; 'लिङः स लोपोऽनन्त्यस्य'—'स' लुप्त-षष्ठीक है; 'सार्वधातुके' की विभक्ति, 'अतो येयः' 142 : सूत्र का पाठ : (1) भाष्यकार को उपलब्ध पाठ की व्याख्या के दो विकल्प 143, (2) प्रदीपोक्त पाठ तथा उसकी द्विविध व्याख्या 144, काशिका के पदच्छेद पर विचार (टि० 3) (3) काशिका द्वारा मतान्तरीयत्वेन प्रोक्त पाठ तथा उसमें दोष 145, भाष्योद्धृत पाठ ही निरापद और पूर्ण है, सूत्रार्थ, 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति का प्रयोजन 146, 'उस्यपदान्तात्' 147—'अतो येयः' द्वारा इसे बाधित किये जाने पर विचार, विधिलिङ् की प्रक्रिया 148;

19. अष्टम लकार : ख. आशिष् अर्थ में लिङ्—'लिङाशिषि' 149—'एव' की अनुवृत्ति आवश्यक है, 'क्विङति च' 150—'क्विङति' की सप्तमी पर विचार, 'च' के अर्थ पर विचार 151, 'क्विङति' में गकार-प्रश्लेष, सिद्धियाँ 152;

20. नवम लकार : सामान्य भूत में लुङ्—'माङि लुङ्' 152—'माऽस्तु' आदि प्रयोगों पर विचार, 'विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय' की व्याख्या 153, 'अस्ति-सिचोऽपृक्ते' 155—'सिचस्' की सन्धि पर विचार, 'अस्ति-सिचस्' की प्राचीनसम्मत व्याख्या 156, इस पर आपत्ति; सिद्धियाँ 158;

21. दशम लकार : हेतु-हेतुमद्भावादि प्रकारार्थ में लृङ्—'लिङ्-निमित्ते लृङ् क्रियाऽतिपत्तौ' 159—लिङ् का निमित्त, 'हेतु-हेतुमद्भाव' का अर्थ, रूपसिद्धि 160;

22. उपसर्ग के योग में विशेष प्रक्रिया—'आनि लोट्' 160—'लोट्' पर विप्रतिपत्ति 161, 'दुरः षत्व-णत्वयोरुपसर्गत्व-प्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा०)—प्राचीनाचार्योद्धृत कुछ आचार्यों के मत का खण्डन, 'शेषे विभाषाऽकः-खादावषान्त उपदेशे' 162—'उपदेशे' का प्रयोजन,

23. सन्धि कहाँ होती है, कहाँ नहीं—सन्दर्भ 162,

24. धातुओं का धातु-पाठोक्त अर्थ उपलक्षण मात्र है—उपसर्ग का कार्य 163, धात्वर्थनिर्देश निदर्शन मात्र है 164;

25. धातु-वर्ग 2 : 1 √एध् लट्—'टित आत्मनेपदानां टेरे' 164 : 'आत्मनेपद' से तङ् मात्र के ग्रहण में त्रिपाठी जी की युक्तियां (टि० 1) 165 2.1 √एध् का विवरण, सिद्धियाँ 166;

26. 2.1 √एध्+लिट्, प्रथम की प्रक्रिया—इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' 167 : 'आम्' के 'म्' की इत्संज्ञा नहीं होती, आम् के प्रयोग का इतिहास (टि० 1), 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' 168—पुराने वाङ्मय में अनुप्रयुक्त धातुओं का अनुपात, 'लिटि' पर विचार 169, वाङ्मय में अन्य लकारों में अनुप्रयोग, अनुप्रयोग अव्यवहित ही होगा, किंतु वस्तुस्थिति यह है 170, 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' 171 : अनुप्रयुज्यमान धातु कौन-सी तथा कितनी हैं ? सूत्रार्थ 172, 'अन्य-पदार्थ' की व्याख्या (टि० 1), 'लिटस्त-झयोरेशिरेच्' 173 : एकार देने का प्रयोजन 174 'द्विर्वचनेऽचि' 175 : अनुवृत्ति पर दो मत, दोनों पक्षों में 'द्विर्वचने' की द्विविध व्याख्या, 'रूपातिदेश' (टि० 1), दीक्षित जी ने भाष्योक्त पक्ष का आश्रय लिया है 176, 'द्विर्वचने' की दो तरह से व्याख्या का प्रयोजन, 'अचि' का प्रयोजन, 'अच आदेशः' का प्रयोजन; 'उरत्'—'प्रत्यये' पर विचार 177, 'कु-होश्चुः'—चु आदेश का आधार वाह्य प्रयत्न; सिद्धियाँ 178; आमन्त शब्द के पदत्व पर विचार—शास्त्रीय पक्ष 179, सन्धि, स्वर और इतिहास के अनुसार यह स्वतन्त्र पद है;

27. 2 1 √एध्+लिट्, मध्यम और उत्तम पुरुष—'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' 180—'एकाचः' की सार्थकता 181, यङ्लुक में पाँच कार्यों का निषेध 182, उपर्युक्त नियम पाणिनिसम्मत है 183, एकदेशानुमति से ज्ञापन शास्त्रीय है 184, उपदेश में एकाच् धातुओं के आदेशज अनेकाचत्व में इट् का निषेध नहीं होता 185 व्याघ्रभूति

आदि सम्मत व्याख्या 186, यह व्याख्या उचित नहीं है 187; 'इणः षीध्वँल्लुङ्-लिटां धोऽङ्गात्' 188 : 'अङ्गात्' के अर्थ पर विचार; सिद्धियाँ 190; 'पररूपापवादः' कथन पर विचार 191, डॉ० त्रिपाठी का मत;

28. 2 1 √एष्+लुट्, लृट् की प्रक्रिया—'धि च' 191 : वासुदेव दीक्षित की भ्रान्ति 192, लुट् की सिद्धियाँ, लृट् की सिद्धियाँ 193;

29. 2.1 √एष्+लोट् की प्रक्रिया—सिद्धियाँ 194;

30. √एष्+लङ् की प्रक्रिया—सिद्धियाँ 195;

31. 2 1 √एष्+विधि और आशीर्लिङ् की प्रक्रिया—विधि-लिङ् की सिद्धियाँ 196; आशीर्लिङ् की सिद्धियाँ 197;

32. 2.1 √एष्+लुङ् तथा लृङ् की प्रक्रिया—लुङ् की सिद्धियाँ 198, 'इणः षीध्वं०' में 'इण्' से अभिप्रेत अर्थ पर मतभेद; लृङ् की सिद्धियाँ 200;

33. अनुदात्त (अनिट्) धातुओं का सङ्ग्रह—अनिट् कारिकाएँ 201, अनिट्-कारिका (1) : अजन्त धातुओं में कारिकोक्त धातु उदात्त हैं, शेष अनुदात्त 203, व्याघ्रभूति की कारिकाएँ (टि० 1), √रु पर विचार (टि० 2), √ऊर्णु के ग्रहण पर विचार 204; अनिट्कारिका (2) : क-चवर्गांत अनिट् धातुएँ 205, परिगणन की पद्धति; अनिट्-कारिका (3-4) 208 : तवर्गांत 28 धातुएँ अनुदात्त अत-एव अनिट् हैं, कारिका का विश्लेषण; अनिट् कारिका (4-5) 209 : पवर्गांत 20 धातु अनुदात्त अत-एव अनिट् हैं; अनिट्-कारिका (5-6) 211 : ऊष्मान्त 31 धातु अनुदात्त और अत-एव अनिट् हैं, सानुस्वार (दंशि) पाठ उचित नहीं है (टि० 1); व्याघ्रभूति की हलन्तों की अनिट् कारिकाएँ 212, 'न-मन्तेषु' का पाठ-भेद (टि० 3);

34. 2-6 कारिकाओं का स्पष्टीकरण—अनिट्कारिका (7-9) : प्रौढमनोरमोक्त धातुसंख्याश्लोक 213, उसमें अपनाई पद्धति पर विचार 214; अनिट्-कारिका (10,11) : मत-भेद से अनिट् धातुएँ 216;

35. 2 2 √स्पर्ध से 6 नाध् तक की प्रक्रिया—2.2 √स्पर्ध सकर्मक है 217; लिट् में प्रक्रिया 218, √स्पर्ध के दो रूप 220, अन्य धातुएँ;

36. द्वितीय धातु-वर्ग : 7 √दध् से 16 √दद् की प्रक्रिया—7 √दध्, 222, 'अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' : 'आदेश' का तात्पर्य 224, 'अतः' का प्रयोजन 225, सिद्धियाँ, 9 √श्विन्द् : वासुदेव दीक्षित के अकर्मकता पक्ष का खण्डन 226, 12 √मन्द् : अर्थविचार 227, 16 √दद् : अर्थविचार 228, 'न शस-दद०' : 'भावितस्य' का अर्थ 229, सिद्धियाँ तथा रूप;

37. द्वितीय धातु-वर्ग—17 √स्वद् से 24 √सूद् की प्रक्रिया—18 √स्वर्द् : 'अयम्' का अन्वय 230, 'धात्वादेः षः सः'—'धातु' और 'आदि' का प्रयोजन 231, 19 √उर्द्, 'उपधायां च' की द्विविध व्याख्या 232, 'उपधायां' की सप्तमी पर विचार

233, अष्टाध्यायी में 'उपधा' का अर्थ (टि० 1), प्रकृत सूत्र की आवश्यकता, √उर्द् आदि की प्रक्रिया तथा रूप 234, 24√सूद् : अर्थ-विचार 235, षोपदेश-कारिका : षोपदेश-विचार, पतंजलि के अनुसार षोपदेश धातुओं का लक्षण 236, कारिका में 'सादयः' का पाठभेद 238, 'एकाचः' पर विचार 239,

38. एधादि द्वितीय धातु-वर्ग की शेष 12 धातु—द्वितीय धातु-वर्ग का विश्लेषण 241;

39. तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी : क : 1-10 धातुएँ—तृतीय धातु-वर्ग का विश्लेषण 241, 'सिज्लोप एकादेशे०'—'सिच्' पर विचार 243, 'वद-व्रज-हलन्तस्याचः'—'अन्तस्य' का प्रयोजन 244, 'आतीत्' आदि की सिद्धि 245, अन्य धातु, 245-247, 4 √श्चुत्, मतान्तरीय धातु 247, दो √मन्थ्, में से नकारान् 6 √मन्थ् (अदित्) प्राचीन है, 10 √मन्थ् (इदित्) पाणिनीय नहीं है (टि० 1) 248;

40. तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी : ख : 3.11 षिध गत्याम्—11 √सिध् : पाठ पर विचार 249, 'उपसर्गात् सुनोति ··स्वञ्जाम्'—शित्प् से निर्देश पर विचार 250, शप् से निर्देश का फल, 'सदिरप्रतेः' (8.3.66) और 'स्तन्भेः' (8 3.66) को पृथक् सूत्र बनाने पर विचार 251, 'परि-नि-विभ्यः सेव-सित···स्तु-स्वञ्जाम् 252 : √स्तु और √स्वञ्ज् का प्रयोजन 253, 'स्थाऽऽदिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' : प्रकृत सूत्र का प्रयोजन 254, 'अभ्यासस्य' नियम के लिये हैं 255, इस नियम का फल;

41. तृतीय धातु वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी : ग : 3.12 षिधू—'स्वरति-सूति ···धूञ्दितो वा' 257 : 'वा' के ग्रहण का प्रयोजन, सिद्धियाँ 258;

42. तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी : घ : 13-15 धातु—14 √खद् 259, 'अतो हलादेर्लघोः' 260—'लघोः' छोड़ा जा सकता है, सिद्धियाँ; 15 √बद् 261 : मैत्रेय ने √बन्द् किंतु रूप 'बेदतुः' आदि बताये हैं, डॉ० त्रिपाठी द्वारा समाधान का प्रयास (टि० 1);

43. तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी धातु : ङ : 3 16 18 √गद्-√नद्—18 √णद् 263 : णोपदेश धातु, 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' 264 : 'असमासे', 'अपि' का प्रयोजन 265;

44. तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी धातु : च : 3.19-24 √अर्द्-√खर्द्—19 √अर्द्: अर्थ पर विचार 265, सिद्धियाँ 266;

45. तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी धातु : छ : 3.25-38 √अन्त्-शुन्ध्—25 √अन्त् आदि 5 धातुओं के तिङन्त प्रयोग पर मतभेद 267, 'आदिर्ञि-टु-डवः' 268, ञि, टु, डु के क्रम पर विचार (टि० 1) 269, 36 √क्लन्द् 35√क्रन्द्

से विकसित है, 37 √क्लिन्द के पुन: कथन का प्रयोजन 270, 38 √शुन्ध् चौरादिक को भ्वादि में देने का प्रयोजन, धातु-योग;

46. चतुर्थ धातु-वर्ग : 42 कवर्गीयांत आत्मनेपदी धातु—चतुर्थ धातु-वर्ग का विश्लेषण, 270, " 'एच इग्घ्रस्वादेश' इति ह्रस्व:" पंक्ति पर विचार 272, 16 √कक्, 'काक' की व्युत्पत्ति (टि० 1) 273, 'ऋदुपधेभ्यो लिट: कित्त्वं गुणात् पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा०) पर शंका-समाधान 274, 'ककि-वकि···लघि गत्यर्था:' (धा० सू० 4.14) दण्डक की धातु-संख्या पर विचार 275, √प्वष्क् की वर्तनी (टि० 1), 'सुब्धातु-ष्ठिवु०' (वा०) की आवश्यकता पर विचार 276, 'अंत्र तृतीयो दन्त्यादिरित्येके' के 'अत्र' पर वासुदेव दीक्षित की भ्रान्ति का निराकरण 277, 40 √द्राघ् के यहाँ ग्रहण और अर्थ पर विचार 298, मतान्तरीय √ध्राघ् पर विचार, धातु-योग 279;

47. पंचम धातु-वर्ग : 50 कवर्गीयांत परस्मैपदी धातु—पंचम वर्ग का विश्लेषण 279, 3 √तङ्क् की अनार्षता 280, 11 √शाख् यास्क के अनन्तर संस्कृत में आई है 280, 14 √उङ्ख् अनार्ष है 282, 'न्यूङ्ख्' का अर्थ (टि० 1), 'उवोख' की सिद्धि में शङ्का-समाधान 283, 'ऊखतु:' की सिद्धि में शङ्का-समाधान 284, वासुदेव दीक्षित का मत 285; धातु-योग 286;

48. षष्ठ धातु-वर्ग : 21 चवर्गीयांत आत्मनेपदी धातु—षष्ठ धातु-वर्ग का विश्लेषण 286, 10 √मच्, 11 √मुच् के अर्थ पर विचार 288, 15 √ऋज् का अर्थ 289, 'आनृजे' की सिद्धि 290, 20 √भ्राज् अनार्ष है 291, 21√ईज् का अर्थ 292; धातु-योग;

49. सप्तम धातु वर्ग : क. चकारान्त परस्मैपदी सेट् 22 धातु—सप्तम धातु-वर्ग का विश्लेषण 292, 'शूद्र' की व्युत्पत्ति 293, 3 √कुञ्च् और 4 √क्रुञ्च् का पाठ 295, 'जृ-स्तन्भु···ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च' में √ग्लुच् √ग्लुञ्च् में से अन्यतर की व्यर्थता पर विचार 297, 20 √षस्ज् प्रयोग में उभयपदी है 298;

50. सप्तम धातु-वर्ग : ख. छकारान्त परस्मैपदी सेट् 12 धातु—कुछ साधारण ज्ञातव्य बातें 299, 'उपधायां च' की अनित्यता तथा क्षी० त० के पाठ पर विचार (टि० 1), 22 √म्लेच्छ् का अर्थ 300, 27 √आञ्छ् : 'अ+आञ्छ्+अ' स्थिति में नुट् की प्राप्ति पर दो मत, 34 √उञ्छ् के वैदिक प्रयोग 303;

51. सप्तम धातु-वर्ग : ग. जकारान्त परस्मैपदी सेट् धातु—तृतीय खण्ड की 9 धातुओं के लुङ् में वृद्धि का विश्लेषण 303, रेफ-शिरस्क धातुओं के दो रूप 304, 48 √अज्, 'अजेर्व्यघञपो:'—'वलादावार्धधातुके वेष्यते' पर विचार, √अज्+लिट् की सिद्धियाँ, शङ्का-समाधान 306, 'कृ-सृ-भृ-वृ०'— णिनषेध की द्वि-विधता 307, √कृ,

√सृ, √भू से द्वि-विध इण्निषेध की प्राप्ति में डॉ० त्रिपाठी का विचार (टि० 1). एक ध्यातव्य बात 309, डॉ० त्रिपाठी का मत, 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्'—पद-कृत्य 310, 'तास्वत्' पर विचार, 'उपदेशेऽत्वतः'—पदकृत्य 311, 'ऋतो भारद्वाजस्य' का विशेष अभिप्राय 312, प्रकरण का सार 313, सिद्धियाँ 314, 53 √दुओस्फूर्जा में दीर्घ उकारोपदेश का फल 317, अनुबंधविचार; 55 √क्षीज् के यहाँ पाठ पर विचार 319, 56-59 √लज्-√लाञ्ज् के क्रम और अर्थ-निर्देश पर मत-भेद, 60 √जज्, 61 √जञ्ज् के अर्थ पर मतभेद 320, 'तुज हिंसायाम्' ॥ 40 ॥ 'तुजि पालने' ॥ 41 ॥ धातु-सूत्रों के स्वरूप पर विचार; धातु-योग 321,

52. टवर्गीयांत धातु : क. अष्टम वर्ग : आत्मनेपदी 36 धातु—सन्दर्भ 321, अष्टम धातु-वर्ग का विश्लेषण, 1 √अट्ट् : धातु के स्वरूप पर विचार 322, वर्णभेद का फल सायण और दीक्षित जी के मत में प्रक्रिया-भेद 323, 9 √वण्ठ् का अर्थ 324, मतान्तरीय धातु तथा उनका अर्थ 325, 22 √मुण्ड् का अर्थ, 33 √वाड् की वर्तनी पर मतभेद 326, प्राकृत प्रवृत्ति से विकसित धातुओं के पाठ की तकनीक पर विचार; धातु-योग;

53. टवर्गीयांत धातु : ख. नवम धातु-वर्ग : परस्मैपदी 72 धातुओं में अ. टकारान्त 31 धातु—सन्दर्भ 327, मतान्तरीय धातुएँ, 'ह्मयन्त-क्षण-श्वस०' का पाठभेद 328, ण्यन्त में वृद्धि-निषेध का उदाहरण 329, 'लड़का' की व्युत्पत्ति पर विचार 330, 10 √शट् के 'रुजा' अर्थ पर विचार, 16 √जट्, 17 √झट् के अर्थ पर विचार 331, 21 √णट् की णोपदेशता पर मतभेद 332, पदमंजरी में प्रमादपाठ (टि० 2), 25 √लुट् के बाद की धातु मतान्तर में डान्त हैं 333, 'इट किट कटी गतौ ॥ 24 ॥' धातु-सूत्र के योगविभाग पर तीन पक्ष 334, रूपभेद तथा उनकी प्रक्रिया 335;

54. नवम धातु-वर्ग : परस्मैपदी आ. ठ-डान्त 41 धातु—नवम वर्ग का विश्लेषण 336, √रट् की परिभाषण में ही आवृत्ति पर आपत्ति (टि० 1), मतान्तरीय धातु 338, 46 √हठ् का अर्थ 339, मतान्तरीय धातु, 52 शुठ् के अर्थ और पाठ पर मतभेद 340, 56 √रुण्ठ्, 54, 57 लुण्ठ् के पाठ पर मतभेद, 58 √चुड्, 59 √अड्, 60 √कड् की वर्तनी पर मतभेद 341, 62 √तुड् की वर्तनी 342, 63 √हुड्, 68 √लोड् के क्रम और पाठ पर मतभेद; धातु-योग 343;

55. पवर्गीयांत धातु : क. दशम धातु-वर्ग : 34 आत्मनेपदी धातु—सन्दर्भ 343, दशम धातु-वर्ग का विश्लेषण, मतान्तरीय धातु 346, '7 केपृ 8 गेपृ 5 ग्लेपृ च ॥ 5 ॥' के 'च' के तात्पर्य पर मतभेद 346, '9 मेपृ 10 रेपृ 11 लेपृ गतौ ॥ 6 ॥' के स्वरूप पर मतभेद तथा मतान्तरीय धातुएँ 347, 19 √क्षीब् के अनुबंध पर मतभेद 349 20 √शीम्, 21 √चीम् का एक धातु-सूत्र में पाठ उचित है, 22 √रेम् वैदिक

परस्मैपदी √रिम् से विकसित है, मतान्तरीय धातुएँ 350, काशिका का पाठशोध (टि० 1), 25 √स्तम्भ् द्विविध है 351, 25 √स्तम्भ्, 26 √स्कम्भ् से विकसित शब्द, वर्तनी पर मतभेद, 27 √जभ्, 28 √जृम्भ् के स्वरूप पर मतभेद 352, काशिका में √जभ् का पाठ अनिश्चित है (टि० 1), 32 √श्रम्भ् की वर्तनी और अर्थ पर मतभेद 353, हमारा विचार 354, 34 √स्तुभ् का अर्थ; धातु-योग;

56. ख. एकादश धातु-वर्ग : परस्मैपदी अ. 1-2 धातु—सन्दर्भ 355, एकादश धातु-वर्ग में धातु-संख्या पर मतभेद (टि० 1), 'सनाद्यन्ता धातवः'—सन् आदि प्रत्यय; 'गोपायति' की सिद्धि 356, 'कास्यनेकाज्ग्रहणं कर्तव्यम्' (वा०) की व्याख्या 357, डॉ० त्रिपाठी का मत तथा उसका खण्डन 358, 'अतो लोपः' की व्याख्या, सिद्धियाँ 359, √गुप्+थल् में इड्विकल्प पर मतभेद 360;

57. एकादश धातु-वर्ग : पवर्गीयांत परस्मैपदी शेष धातु—सन्दर्भ 362, नवें धातु-सूत्र की धातु संख्या 363, प्र+√तुम्प् की प्रक्रिया 364, दसवें धातु-सूत्र की धातुओं की संख्या 365, मतान्तरीय धातु, 36 √सृभ्, 37 √सृन्भ् का पाठभेद 366, मतान्तरीय 'षिम्भु' के पाठ पर मतभेद, 38 √शुभ् : अर्थ और पाठ पर मतभेद 367, धातु-योग;

58. क. धातु-वर्ग 12 : अ. आत्मनेपदी 1-9 धातुएँ—सन्दर्भ 367, 1 √घिण्, 3 √घृण् तथा √2घुण्, √ग्रह् के 'गृह्ण' अंग से विकसित हैं 368, 7 √पन् का अर्थ 369 'गुपू धूप···पणि-पनिभ्य आयः' से स्तुति अर्थ में ही √पण्, √पन् से आय, भट्टि की भ्रान्ति, जयमङ्गला में पाठान्तर की व्याख्या (टि० 1), कन्नड टीका की भ्रान्ति का निराकरण (टि० 2), 7 √पन् से आत्मनेपद के विषय में दो पक्ष 370, √पणाय से आत्मनेपद का मत, √पणाय और √पनाय से आत्मनेपद उचित नहीं है 371, 9 √क्षम् का अर्थ 372, सिद्धियाँ;

59. धातु-वर्ग 12 : आ. आकारांत आत्मनेपदी धातु 10 √कम्—सन्दर्भ 373, 'कमेर्णिङ्' 374 : चन्नवीर कवि की भ्रान्ति, लिट् की सिद्धि, 'ण्यल्लोपावियङ्-यण्-गुण०' (वा०) पर शंका-समाधान 376, 'पूर्व-विप्रतिषेध' तथा 'पर-विप्रतिषेध' की व्याख्या 377, वार्तिक के उदाहरण 378, 'सन्वल्लघुनि चङ्-परेऽनग्लोपे'—दो प्रकार से व्याख्या 380, दोनों पक्षों का इष्ट समान अन्वय, 'चङ्-परे' में बहुव्रीहि पर टिप्पणी (टि० 1), अन्य-पदार्थ 'णौ' है (टि० 1) 381, 'अनग्लोपे' का सम्बन्ध 'णौ' से है (टि० 2), दोनों पक्षों में अन्वय पर मत-भेद 382, अभ्यास और लघु के बीच में व्यवधान पर विचार (टि० 2), इतिहासक्रम से व्याख्या-विकास 383, कैयट और हरदत्त का पौर्वापर्य (टि० 1) 389, दीक्षितजी का योगदान 390, 'सन्यतः' में 'अत्' का प्रयोजन (टि० 1), सिद्धियाँ 391, 'कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः' (वा०), वेद-वेदांग वाङ्मय में शुद्ध

√कम् का प्रयोग अधिक है (टि० 1), सिद्धि 392, कारिकाओं की व्याख्या—कारिका (क 1-2) : (क) 'कार्यकालं संज्ञा-परिभाषम्' 393, कार्य-काल पक्ष का फलितार्थ 394, कार्य-काल पक्ष की कमजोरियाँ 395, कारिकाएँ (ख 3-5) : (ख) 'यथोद्देशं संज्ञा-परिभाषम्' 396, यथोद्देश पक्ष का फलितार्थ 397, 'सन्वल्लघुनि०' की दोनों व्याख्याएँ यथोद्देश-पक्षानुसारी हैं 398, निष्कर्ष 400; धातु-योग;

60. त्रयोदश वर्ग : पञ्चमवर्णान्त परस्मैपदी धातु—सन्दर्भ 400, 1 √अण् आदि के आख्यात रूप प्रयुक्त नहीं होते 401, 4 √भण् गुजराती में √पठ् के अर्थ में है, मतान्तरीय √धण् तथा √धन् 402, 11 √ओण् : क्षीरस्वामी के मत में ओण् के ऋदित्त्व का प्रयोजन 403, 15 √पैण् का पाठ-भेद, क्षीरस्वामिसम्मत धातु 404, 17 √कन् का अर्थ 405, 'कान्त' की दो व्युत्पत्तियाँ (टि० 4), 20 √वन् पर विचार 406, 'ये विभाषा' के 'ये' पर मत-भेद 407, काशिका के उदाहरणों की चर्चा (टि० 3), 28 √जम् का अर्थ तथा पाठ 409, 'ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति'—प्रकृत सूत्र के स्वरूप पर मतभेद 410 'क्रमः परस्मैपदेषु' से दीर्घ पर विचार 412, 'स्नु-क्रमोरनात्मेपद-निमित्ते'—प्रकृत सूत्र नियमार्थ है 413 : धातु-योग 414;

61. चतुर्दश वर्ग : क. अन्तस्थान्त 34 आत्मनेपदी धातु—सन्दर्भ 414, 'विभाषेटः' में अनुवृत्ति पर मतभेद 415, दोनों व्याख्याओं में अन्तर 416, 'उपसर्गस्यायतौ' के पदों के अन्वय पर मतभेद 416, समीक्षा 417, सिद्धियाँ, 'उदयति' पर विचार 418, 'पयते' (ऋ० 1.164.28) पर विचार 419, 16 √तय् की मतान्तर से पुनरुक्ति, 8 √दय् के अर्थ 420, 'रय=प्रवाह', 'निरय=नरक' की व्युत्पति पर विचार 421, 14 √स्फायी तथा 5 √प्यायी के ईदित्त्व पर विचार 422, 'दीप-जन-बुध०' में 'कर्तरि' की अनुवृत्ति पर विचार 423, सूत्र-पठित धातु-क्रम धातु-पाठीय क्रम से भिन्न है 424, 'चिणो लुक्' में 'त' की उपस्थिति पर विचार (टि० 1), √प्याय्+लुङ् की सिद्धि 425, 18 √वल पर विचार 426, 27 √देव् का अर्थ 427, 'षेवृगेवृ०' (धा० सू० 17) के पाठभेद 428, √प्लव् उचित नहीं है 429; धातु-योग;

62. पञ्चदश धातु-वर्ग : अ. य-ल-रेफान्त परस्मैपदी 52 धातु—सन्दर्भ 429, 2 √सूर्क्ष्य् दन्त्यादि पाठ उचित नहीं है 430, 6 √शुच्य् का पाठभेद 431, 8 √अल् मतांतर में स्वरितेत् तथा आदित् है 432, 'अतो ल्रान्तस्य' : 'ल्र+अन्त' पर विचार 433, √अल् से व्युत्पन्न शब्द 435, 9 √फल दो हैं, 'मील श्मील स्मील०' (धातुसूत्र 8) का पाठभेद, 'नील' का अर्थ 436, पीलुमान्=फीलवान् (टि० 1), 'शैली' पर विचार 437, 22 √मूल् यास्क के समय नहीं थी 438, 25 √फुल्ल् पाणिनीय नहीं है, √फुल्ल् का परवर्ती विकास 439, 27 √तिल् की यहाँ आवश्यकता नहीं है, 28 √वेल् आदि पर विचार 440, 34 √पेलृ आदि पर विचार, 'सेंलु' की वर्तनि 441,

40 √सल्, √सृ से विकसित है 442, 41 √दल् अकर्मक है, 44 √खोल्, 45 √खोर् की वर्तनि तथा क्रम पर मतभेद 443, 52 √चर् का अर्थ 444, 'पटच्चर' पर टिप्पणी (टि० 2); धातु-योग;

63. पञ्चदश धातु-वर्ग : आ. वकारांत परस्मैपदी धातु—सन्दर्भ 445, 53 √ष्ठिव् की वर्तनि, 'ष्ठीवन' का समाधान 446, 54 √जि की सेट्ता उचित नहीं है (टि० 1), √जि का यहाँ पाठ सन्दिग्ध है 447, 'सन्लिटोर्जे:' में सप्तमी पर विचार 448, 'जे:' से इष्ट धातु 449, सिद्धियाँ; मतान्तरीय धातु 450, 70 √पर्व् प्राचीन नहीं है, 81 √पिन्व् आदि का अर्थ 451, 85 √दिन्व् आदि पर मतभेद, 'धिन्विकृण्व्योर च' में 'च' पर मतभेद 452, 'अ' अंतादेश और 'उ' विकरण का क्रम 453, 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम् म्वो:'—पद-कृत्य तथा 'लोप:' के ग्रहण के प्रयोजन 454, सिद्धि तथा रूप 455, 'उतश्च प्रत्ययादसंयोग-पूर्वात्'—पद-कृत्य, सिद्धियाँ तथा रूप 456, 90 √घन्व् पर मतभेद 457, 91 √कृण्व् का अर्थ, 'अयं स्वादौ च' पर विचार 458, 'कृञ् हिंसायाम्' (स्वा०) पर विचार, वाकर्नागल् की कल्पना उचित है 459, सिद्धि तथा रूप; मोनियर विलियम्स् धृत 'कृण्वति' चिन्त्य है (टि० 4), 93 √अव् के अर्थ 460; धातु-योग;

64. षोडश धातु-वर्ग : वकारांत उभयपदी 1 धातु—सन्दर्भ 460, 1 √धाव् के अर्थ तथा वर्तनि पर विचार 461, वैदिक वाङ्मय में √धाव् के प्रयोग (टि० 2), निष्ठा में अनिट् धातुओं के प्रदर्शन की पाणिनि की प्रविधियाँ 462, √कृत् आदि के ईदित्त्व का प्रयोजन 463; धातु-योग;

65. सप्तदश धातु-वर्ग : ऊष्मांत आत्मनेपदी—सन्दर्भ 463, 5 √भिक्ष् का अर्थ 464, √क्लेश् के अर्थ पर मतभेद, इसका उचित स्थान यह नहीं है, 'दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयन०' (धातुसूत्र 7) का छेद 465, 1 √धुक्ष् आदि धातु किसी अन्य से विकसित लगती हैं, 19 √रेष् आदि का अर्थ-भेद 467, 28 आशंस् के पाठ पर विचार 468, क्षी० त० का पाठ गड़बड़ है 469, 30 √ग्लस्, 29 √ग्रस् से विकसित है, 33 √मंह् का अर्थ 470, 34 √अंह् यास्कोत्तर है, 35 √गर्ह् से 36 √गल्ह् विकसित है, वस्तुत: ऐसी धातुओं को पृथक् नहीं मानना चाहिए, 39 √वर्ह्, 40 √वल्ह् के आदिवर्ण पर मतभेद 471, 45 √द्राह् का अर्थ, मतान्तरीय धातु, 46 √काश् का पाठभेद 472, यहाँ पाठ उचित नहीं है, 48 √गाह् की सिद्धियाँ, 49 √गृह् : पाठभेद 473, सिद्धियाँ 474, 'वसस्याचि' में 'आत्मनेपदे' का अपकर्षण 475, 50 √ग्लह् पर विचार 476, 51 √घुंष् का अर्थ 477, प्रकृत धातु के स्वरूप पर मतभेद, चांद्र पाठ पर विचार (टि० 1); धातु-योग;

66. अष्टादश धातु-वर्ग : अ. 57 ऊष्मांत परस्मैपदी धातु—सन्दर्भ 478,

1 √घुषिर् का अर्थ, रूप तथा सिद्धियाँ 479, 3 √तक्ष् का अर्थान्तर 482, 6 √रक्ष् का अर्थ तथा विकास 483, 8 √त्रक्ष्, 9 √ष्ट्रक्ष् का पाठ, 10 √नक्ष् प्राचीन है, मतान्तरीय धातु 484, 14 षूर्क्ष की वर्तनी पर विचार (टि० 1), अर्थविचार 485, 27 √शूष् की वर्तनी 486, 33 √कष् आदि दण्डक की धातुओं पर विचार 487, 'तीष-सह-लुभ०' में √इष् तथा √सह् से ग्राह्य धातुओं पर विचार 488, √रुष्, √रिष् से ग्राह्य धातु 490, मतान्तरीय √निष् 492, : 50 √श्लिष् 'अयमपि सेट्' 494, 53 √पृष् आदि का अर्थ तथा मतान्तरीय धातु 495, 57 √हृष् का अर्थ; धातु-योग 496;

67. अष्टादश धातु-वर्ग : आ. ऊष्मांत परस्मैपदी शेष 30 धातु—63 √घस् अदित् है, लृदित् नहीं 497, 'अयं न सार्वत्रिकः', √घस् के प्रयोग का क्षेत्र 499, 'पुषादि-द्युता०' में √पुष् से ग्राह्य धातु 501, 'अघसत्' की सिद्धि 503, 64 √जर्ज् आदि के यहाँ पाठ पर विचार, मतान्तरीय धातु 504, मतान्तरीय √कश् पर विचार 505, 74 √शस् पर चारुदेवजी का मत (टि०) 506, 75 √शंस् का अर्थ, 79 √रंह् के प्रयोग तथा विकास 507, धातु-योग 508;

68. उन्नीसवाँ वर्ग : अ. लुङ् में वा पर स्मैपदी आत्मनेपदी धातु—सन्दर्भ 508, 19वें वर्ग का विश्लेषण 509, वर्गीकरण की कमियाँ, √ज्युत् √द्युत् से विकसित है 511, 'मिदेर्गुण': को यहाँ देने का अभिप्राय 512, 4 √स्विद् : धातु-सूत्र का स्वरूप 513, मतान्तरीय धातु (टि० 2) 514, 12 √नभ् का अर्थ 515, सायण की समीक्षा (टि० 3), 16 √भ्रंस् का पाठभेद 516, 17 √स्रम्भ् का पाठ 517; धातु-योग;

69. उन्नीसवाँ वर्ग : आ. स्य, सन् लुङ् में वा परस्मैपदी आत्मनेपदी धातु—'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' में अनुवृत्त 'परस्मैपदेषु' पर विचार 518, 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (7.2.59) तथा 'तासि च क्लृपः' (C0) एक ही सूत्र क्यों नहीं ? 519, 'चतुर्भ्यः' पर विचार 520, 'वृतिवत्' का पाठभेद (टि० 1), 521, हिंदी √सड़् 20 √शृध् से विकसित है, पर्युदास' का अर्थ 523; धातु-योग 524;

70. वर्ग 19 : इ. लुट्, लृट्, लुङ्, लृङ्, सन् में वा परस्मैपदी आत्मनेपदी धातु—'कृपो रो लः'—क्षीरस्वामिसम्मत पाठ (टि० 1) 524, व्याख्या में सैद्धान्तिक मतभेद : (1) पूर्वपक्ष, (2) उत्तर पक्ष 526, भगवान् भाष्यकार का मत 529, भट्टोजि दीक्षित का मत 530, भट्टोजि दीक्षित के मत की समीक्षा 532, (1) वामन का मत 533, (2) रामचन्द्र का मत 534 सिद्धियाँ, 'लुटि च क्लृपः'—'क्लृपः' तथा 'च' पर विचार 535, 'कर्तरि' का प्रयोजन 536, 'तासि च क्लृपः' में 'च' तथा 'तासि' में सप्तमी का प्रयोजन 538, सिद्धियाँ 539, वृत्, धातु-योग;

71. धातु-वर्ग 20 : (1) णिच् में ह्रस्व, (2) चिण् णमुल् में वा दीर्घ और

(3) आकारांत संज्ञा बनाने वाली आत्मनेपदी धातुएँ—सन्दर्भ 539, घटादिगण में अनूदित धातुओं की धातुओं के महायोग में गणना उचित नहीं है 540, 1 √घट् का अर्थ 541, √घट् चौरादियों का अनुवाद नहीं है, क्षीरस्वामी का मत 542, 2 √व्यथ् का अर्थ 543, 'विव्यथे' में 'व्यथो लिटि' और 'हलादिः शेषः' की प्रवृत्ति का क्रम, 'हलादि-शेषापवादः' का अभिप्राय, अन्यों का मन्तव्य 544, मतान्तरीय √पृथ् अपाणिनीय है, 3 √प्रथ् का अर्थ 545, 'प्रथे. क्विबन्०' (उ०सू०) का पाठभेद (टि० 1), 'पृथ्वीका' की व्युत्पत्ति पर मतभेद (टि० 2), 5 √म्रद् का √मृद् पाठ उचित नहीं है 546, क्षी०त० के पाठ पर विचार, 6 √स्खद् के अर्थ पर मतभेद 547, 10 √कन्द् आदि के अर्थ और पाठ पर मतभेद 548; धातु-योग 549;

72. इक्कीसवाँ वर्ग : क. (1) णिच् में ह्रस्व तथा (2) चिण् और णमुल् में वा दीर्घ वाली परस्मैपदी धातु—सन्दर्भ 549, √ज्वल्, 1 √ज्वर् से विकसित है, दोनों में अर्थ का अन्तर, 'गडी' पर विचार 550, 3 √हेड् में 'मितां ह्रस्व.' और 'चिण्ण-मुलोर्दीर्घो०' की प्रवृत्ति पर विचार 551, √नट् का अर्थ 552, नोपदेश पाठ प्रामादिक है 553, √नट् से विकसित धातु 554, 8 √चक् पर विभिन्न मत 554, 16 √कग् का अर्थ विचार 556, 'आगस्' की व्युत्पत्ति, 22 √शण् पर मतभेद 557, 23 √श्रण् पर विचार, 25 √श्लथ् का पाठभेद (टि० 1), 'क्राथ' में वृद्धि, 26 √क्रथ् का पाठ 558, 'जासि-निप्रहण-नाट-क्राथ०' सूत्र से षष्ठी पर विचार 559, 'जासि०' सूत्र से ग्राह्य √क्राथ्, धातु-सूत्र के पाठ पर विचार, 29 √वन् का पाठ 560, √वन् से ग्राह्य धातु;

73. वर्ग 21 : ख. अर्थ-विशेष में मित्त्वार्थ अनूदित पाँच अजंत धातु—सन्दर्भ 561, 34 √दृ की स्थिति पर मतभेद 562, मौत्रादिक धातु स्वतन्त्र है, 35 √नृ : यहाँ तथा क्र्यादि गण में पाठ के दो परिणाम 563, 36 √श्रा से ग्राह्य धातु 564, 'निशामन' का अर्थ 565, 'ज्ञीप्स्यमान' तथा 'ज्ञपयितुम्' पर विचार;

74. वर्ग : 21 ग. अर्थ-विशेष में मित्त्वार्थ अनूदित हलन्त धातु—सन्दर्भ 566, 'जिह्वोन्मथन' के व्याख्याभेद 568, 42 √ध्वन् का अर्थ 569, क्षीरस्वामी का मत, भोजीय सूत्र का सायणीय पाठ (टि० 3), भोजसूत्र पर सायण का खण्डन (टि० 1) 570, 43 √स्वन् मितों में सर्वसम्मत नहीं है 571;

75. वर्ग 21 : घ. मिद्विधान का शेष—सन्दर्भ 571, अमन्त 23 धातु 572, 'जनी-जॄष्०' धातु-सूत्र के पाठ में भेद 573;

76. वर्ग 21 : विकल्प से मित्संज्ञा वाली आठ धातु—सन्दर्भ 573, 'ज्वल-ह्वल-ह्मल-नमाम्०' आदि की षष्ठी पर विचार 574, उपसर्ग के योग में नित्य मित्त्व के कुछ अपवाद 575,

77. वर्ग 21 : च. निषिद्ध मित्त्व वाली धातु—सन्दर्भ 576, 'शमो दर्शने' का

पाठ भेद, 'नि-शामि' का अर्थ 577, दीक्षित जी ने काशिका के अनुकरण में इन सूत्रों को मित्त्व-निषेधक माना है 578, 'परिवेषण' का अर्थ 579, 'भोजनतो०' गलत पाठ है, 'नियमयन्' की भट्टोजि दीक्षित की प्रक्रिया पर डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी की टिप्पणी (टि० 1) 580, क्षीरस्वामी ने इन सूत्रों को मिद्विधायक माना है;

78. वर्ग 21 : छ. अन्य कार्य के लिए व्युत्क्रम से पठित एक मित् धातु—सन्दर्भ 581, घटादि गण की सीमा पर मतभेद 582, धातु-योग 584; सन्दर्भ;

79. धातु-वर्ग 22 : फणादि-गण-गत प्रकीर्ण धातु—√राज् आदि के अर्थ पर विचार 585, √भ्राज् के ऋदित्त्व पर विचार 587, क्षी०त० के एक स्थल पर विचार (टि० 1), 6.20 √भ्राज् अनार्ष है—क्षीरस्वामी 588, 23.1 √भ्राज् का द्विविध पाठ 589; धातु-योग 590; सन्दर्भ;

80. वर्ग 24 : प्रकीर्ण तथा प्रत्यय-विशेष में अभीष्ट धातु—फणादि गण समाप्त 592, 'वृत्' पर मतभेद, 8 √जल् का अर्थ 594, 11 √स्थल् का पाठ, 18 √शल् आदि धातु-सूत्र का पाठ 596, 20 √पत् का अर्थ (टि० 1), 24 √वम् का पाठ 598, 'उद्गिरण' पर विचार, एत्त्वाभ्यासलोपविकल्प पर विचार 599; धातु-योग 601;

81. धातु-वर्ग 25 : ज्वलादिगणान्तर्गत दो आत्मनेपदी धातुएँ—पच्चीसवें वर्ग के गठन पर विचार 601; धातु-योग 603;

82. धातु-वर्ग 26 : ज्वलादि गण का शेष—सन्दर्भ 603, 'पा-घ्रा-ध्मा०' से ग्राह्य धातु 605, सूत्रोक्त धातु-क्रम की धातु-पाठीय क्रम से तुलना (टि० 1), 'पिब' आदि आदेश हलन्त हैं 606, 'सदेः परस्य लिटि'—पाठभेद (टि० 1) 607, 'शातन' पर डॉ० त्रिपाठी की टिप्पणी (टि० 2), 2 √शद् गति में भी है 608, दैव तथा पुरुष-कार को पाठ (टि० 1) 609, 75 √बुध के अर्थ पर विचार 610, यह सेट् है, 'वृत्' पर विचार 611;

83. धातु-वर्ग 27 : हलन्त उभयपदी सेट् धातु—सन्दर्भ 612, 'चते चदे याचने' धातु-सूत्र का पाठ 614, मतान्तरीय धातु 615, 16 √बुन्द् का अर्थ 617, √वेन् स्वतन्त्र धातु है, 17 √वेण् का अर्थ (टि० 2), 19 √चीव् की कल्पना 'चीवर' से हुई है (टि० 1) 618, 21 √व्यय् का अर्थ 619, मतान्तरीय धातु 620, मतान्तरीय √पश् 621, मतान्तरीय √भक्ष, √प्लक्ष् उचित नहीं हैं 623, 'ऊदुपधाया गोहः' में 'गोहः' के दो प्रयोजन, भाष्य के मत में यह अनावश्यक है 624, 37 √गुह् की सिद्धियाँ 625, √गुह्+णिच्+लुङ्' में मतभेद 627; धातु-योग;

84. धातु-वर्ग 28 : स्वरान्त उभयपदी धातु—सन्दर्भ 627, 'रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु' में रिङ् पर विचार 629, भ्वादि में 'कृञ् करणे' 632, अपना मत 633,

भौवादिक √कृ के रूप 634; धातु-योग;

85. धातु-वर्ग 29 : अजन्त परस्मैपदी धातुएँ : क. एकारांत 1 धातु—सन्दर्भ 635, 'अतो लोप इटि च' में 'अचि', आर्धधातुके' का सम्बन्ध 637;

86. धातु-वर्ग 29 : ख. परस्मैपदी ऐकारांत 22 धातु--2 √ग्लै, 3 √म्लै के अर्थ पर विचार 641, 'निद्रा', 'तन्द्रा' की व्युत्पत्ति 642, 'धी' की व्युत्पत्ति, 9 ष्टयं को सत्व पर विचार 643, 21 √खै का अर्थ 644, 'विभाषा घ्रा-धेट्०' में 'सा' से ग्राह्य धातु तथा उसका फलितार्थ 645, 18 √श्रै के व्याकरणचन्द्रोदयोक्त अर्थ का खण्डन 646, 21 √स्तै का अर्थ, 22 √स्नै का अर्थ 647, दैव के पाठ पर विचार (टि० 5),

87. धातु-वर्ग 29 : ग. आकारान्त परस्मैपदी 6 धातु—पिब, जिघ्र, धम आदि स्वतंत्र धातु रही हैं 649, 27 √स्था की तद्भव धातु 650;

88. धातु-वर्ग 29 : ऋकारान्त परस्मैपदी 9 धातु—'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' तथा 'अचो ञ्णिति' की बाध्य-बाधकता 651, 'गुणोऽर्ति-संयोगाद्योः' में 'अर्ति' प्रयोग में पाणिनि की चतुराई 653, 'श्र्युकः किति' में गकारप्रश्लेष 654, 33 √दृ का यहाँ पाठ 655, 'इडत्त्यर्ति-व्ययतीनाम्' में 'इट्' का प्रयोजन 657, 37 √घृ का यहाँ पाठ प्राचीन नहीं है 658;

89. धातु-वर्ग 29 : ङ. उकारान्त 6 तथा इकारान्त 2 परस्मैपदी धातु—39 √स्नु का यहाँ पाठ 660, मा०धा०वृ० के पाठपर विचार (टि० 3), √शु का यहाँ औचित्य 663, 'स्तु-सु-धूञ्भ्यः०' में √सु से अभीष्ट धातु पर मतभेद 664, 41 √श्रु के भौवादिकत्व पर विचार 665, यङ्लुक की लौकिक में साधुता पर विचार 667, 46 √ज्रि का पाठ 668, धातु-योग;

90. धातु-वर्ग 30 : स्वरान्त आत्मनेपदी 21 धातु—सन्दर्भ 669, 1 √स्मि का परस्मैपद में प्रयोग (टि० 3), 3 √गा का यहाँ पाठ 671, 'गाङ्-कुटादिभ्यो०' में √गाङ् से भौवादिक का ग्रहण नहीं होता (टि० 1), एकीय धातु 672, 12 √रु का अर्थ, 'मा' से ग्राह्य धातु 673, 'दिगि' आदेश के कारण द्वित्वनिषेध इष्ट है 674, 'स्था-घ्वोरिच्च' में 'आत्मनेपदेषु' की अनुवृत्ति नहीं होती 675, सिच् की कित्संज्ञा का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है 676, धातु-योग 677;

91. धातु-वर्ग 31 : स्वरान्त परस्मैपदी सेट् धातु—√तृ 677, धातु-योग 679;

92. धातु-वर्ग 32 : आठ आत्मनेपदी : क. स्वार्थे सन्नन्त 4 धातुएँ—सन्दर्भ 679, 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' तथा 'मान्बध०' में ग्राह्य धातु 680, 'आभ्यासस्य' पदच्छेद, 'सन्' में अकारका प्रयोजन 681, √गुप् आदि से सन् अर्थविशेष में इष्ट है, 'गुपेर्निन्दा-याम्' आदि इष्टियाँ हैं, वार्तिक नहीं 982, यहाँ कुछ वक्तव्य है;

93. धातु-वर्ग 32 : ख. आत्मनेपदी, अनिट् 4 धातुएँ—√लभ् तथा √लम्भ्

स्वतन्त्र धातु थीं 686, √लभ् परस्मैपद में भी उपलब्ध है 'श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनां लिटः कित्त्वम्' इष्टि है 688, इष्टि में 'वा' पद काशिका के उत्तर भाग के लेखक से चला है, इस कित्त्व को व्याकरणान्तर का विधान बताना परम्परा के विपरीत है 689, क्षीरस्वामी का 'इडपीष्टः—अस्वञ्जिष्ठाः।' कथन चिन्त्य है 690, धातु-योग;

94. धातु वर्ग 33 : परस्मैपदी अनिट् धातुएँ : क. दकारान्त 2 धातु— '1 ञिष्विदा' पाठ प्रामाणिक नहीं है, 'ञिक्ष्विदा' आचार्यसम्मत है, 'ञिक्ष्विडा' यहाँ पाठके योग्य है 691, 2 √स्कन्द् का अर्थ 691, 'वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्' में 'अनिष्ठायाम्' का तात्पर्य 692, 'परेश्च' को अलग सूत्र बनाने का तात्पर्य 693, 'परिष्कृण्णः' में णत्व की प्राप्ति पर शंका-समाधान;

95. धातु-वर्ग 33 : परस्मैपदी अनिट् धातुएँ : ख. पवर्गीयांत 6 धातु— 3 √यभ् का अर्थनिर्देश 694, आख्यातचन्द्रिका का पाठशोध (टि० 1); दैव 145 का पाठ-शोध (टि० 3) 693, √जभ् √यभ् से विकसित है 696, शर् वर्ण से पूर्ववर्ती चय् वर्ण का वर्गों के द्वितीय वर्ण के रूप में उच्चारण वैदिक काल में ही हो गया था (टि० 3), √नम् का अर्थ तथा अनुबन्ध 697, 5 √गम्, 6 √सृप् का अर्थ तथा √सृप् का विकास, 'इषु-गमि०' सूत्र के पाठ पर दो मत, दीक्षितजी ने वामन का अनुकरण किया है 699, 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' में 'परस्मैपदेषु' के तात्पर्य पर शंका-समाधान 700, 'परस्मैपदेषु' की सप्तमी पर शंका-समाधान 702;

96. धातु-वर्ग 33 : परस्मैपदी अनिट् धातु : ग. जकारांत दो धातु— 33.9 √त्यज्, 10 सञ्ज् 706;

97. धातु-वर्ग 33 : परस्मैपदी अनिट् धातु : घ. ऊष्मान्त 5 धातु—33.11 √दृश् तथा √पश्य् दो स्वतन्त्र प्रकृतियाँ थीं 707, 'दशन' का फलितार्थ 708, मा० धा० वृ० में 'दंश दंशने' प्रमाद-पाठ है 709, त०बो० में दिया 'अदाङ्ष्टाम्' रूप उचित नहीं है (टि० 4), 13 √कृष् का अर्थ 710, 'स्पृश-मृश-कृष-तृप्-दृपां०' वार्तिक में √तृप और √दृप् से ग्राह्य धातु, न्यासकार के मत में वार्तिक आवश्यक नहीं है 711, 14 √दह् का अर्थ 712, 'अधाक्षीत्' पर बा०म० की प्रक्रिया उचित नहीं है (टि० 1);

98. धातु-वर्ग 33 : ङ. स्वार्थे सन् वाली तकारान्त परस्मैपदी 1 धातु— 33.16 √कित् के आत्मनेपदित्व पर विचार 713, धातु-योग 714;

99. धातु-वर्ग 34 : हलंत उभयपदी 11 धातुएँ—सन्दर्भ 714, 'भ्वादि-गणोक्त 1 √दान्, 2 √शान् आदि चुरादि में पुनरुक्त हैं' पर विचार 715, 3 √पच्

का अर्थनिर्देश 'श्रपणे' होना चाहिए, यह पकाने और पचाने में है 716, 'डुपचँष्' (सानुनासिक) पाठ, 4 √सच् के पाठ पर मत-भेद, 7 √शप् का अर्थ तथा पद 718, 8 √त्विष् का क्षीरस्वाम्युक्त पाठ प्रमादमूलक हैं 719, 'लिटयभ्यासस्योभयेषाम्' में 'उभयेषाम्' पर शंका-समाधान, √व्रश्च् को सम्प्रसारण के फल के विषय में वार्तिक-कार और भाष्य-कार में मत-भेद 720, 'वचि-स्वपि-यजादीनां' का विग्रह 721; 10 √वप् का अर्थ 723, 11 √वह्—'अवाक्षीत्' में ढत्व से पहले वृद्धि अपेक्षित है 724; 'अवोढाम्' में वृद्धि पर डॉ० त्रिपाठी (टि० 1) 725; धातु-योग;

100. धातु-वर्ग 35 : सम्प्रसारण वाली अनिट् परमैपदी 1 धातु—सन्दर्भ 725, 'शासि-वसि-घसीनां च' मे ग्राह्य धातु 726; काशिका 8.3.60 में मुद्रित 'अक्षन्न-मीमदन्त' पाठ उचित नहीं है (टि० 1), न्यासकार की व्याख्या 727, न्यास में भौवा-दिक √घस् का ग्रहण उचित नहीं है 728; धातु-योग 729;

101. धातु-वर्ग 36 : स्वरांत उभयपदी 3 धातुएँ—1 √वे का अर्थ-निर्देश 729, 'ग्रहि-ज्या-वयि०' में 'वयि' निरर्थक है 730, 2 √व्ये का अर्थ तथा 'व्यय' की व्युत्पत्ति 732; 3 √ह्वे : अर्थ-पाठ उचित नहीं है 734, 'अभ्यस्तस्य च' में 'अभ्यस्त-स्य' की व्याख्या, 'लिपि-सिचि-ह्वश्च' में 'च' कदाचित् 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' के अनुकर्षणार्थ दिया है; धातु-योग;

102. धातु-वर्ग 37 : सम्प्रसारण वाली परस्मैपदी 2 धातु—सन्दर्भ 736, 'अच्छ' का अर्थ 737, 'विभाषा श्वेः' व्यवस्थित-विभाषा है, 'श्वयतेर्लिटयभ्यास-लक्षण-प्रतिषेधः' अनुवादवाक्य है; भ्वादिगण आकृति-गण है 739; धातु-योग 740;

103. भ्वादि-गण की आकृति-गणता का दूसरा उदाहरण—सन्दर्भ 740, सौत्र धातु √ऋत् का स्वरूप, √ऋत् का अर्थ 741, 'ईयङ्' के ङकार और अकार पर विचार 741; काशिका में उपलब्ध 'ऋतेश्छङिति सिद्धे···न भवन्तीति।' पाठ का तात्पर्य 742, इस पाठ की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है 743; 'इति भ्वादयः' पुष्पिका के स्थान पर विचार; कण्ड्वादि गण का भ्वादि में ग्रहण; धातु-योग 744;

व्याख्याकार का निवेदन 744;

1. सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची 745, 2. सूत्र-सूची 756, 3. वार्तिकेष्टि-सूची 759, 4. श्लोक-सूची, 5. धातु-सूची 760, 6. धातु-प्रशंसा 766, 7. धात्वर्थ-सूची 767, 8. तत्सम और तद्भव धातुओं की सूची 771, शुद्धि-पत्र 773.

भवतु भवानीपदयुगभासो हृदयगुहायां मम भवहान्यै।
नहि मम पुण्ये नहि मम पापे भवतु कदाचिन्मतिरयि नित्ये ॥

'भवतोषिणी'-सहिता

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

उत्तरार्धम्

भ्वादिगणः

श्रौत्राहन्तीचणैर्गुण्यैर्महर्षिभिरहर्दिवम् ।
तोष्टूय्यमानोऽप्यगुणो विभुर्विजयतेतराम् ॥ 1 ॥

ग्रंथ के मध्य में मंगलाचरण

मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद के स्वाध्याय से तथा श्रौत-सूत्रों में प्रतिपादित कर्म के अनुष्ठान से प्राप्त योग्यता के कारण प्रसिद्ध, श्रेष्ठ गुणों से युक्त तथा अतींद्रिय ज्ञान का साक्षात्कार करने वाले महापुरुष प्रतिदिन बार-बार जिसकी प्रशंसा करते रहते हैं, पर जो फिर भी गुणों से रहित ही है, वह सर्वत्र विभिन्न पदार्थों की सत्ता के रूप में स्थित परमेश्वर सब वस्तुओं से बहुत उत्कृष्ट है ॥ 1 ॥

अथ भवतोषिणी

मंगलाचरण का महत्त्व : भारतीय संस्कृति में संस्कारों को बहुत महत्त्व दिया जाता है। विनय हमारी संस्कृति का प्रधान अंग है। यह भारतीय सुसंस्कृत मानस का एक प्राणभूत संस्कार है। कर्तृत्व का अभिमान छोड़ कर कर्म करना हमारा दार्शनिक विचार ही नहीं है, अपितु व्यवहार में भी इसका सनातन प्रयोग होता आया है। 'कोई भी महत् कार्य करने में हम तो निमित्त मात्र हैं, करणमात्र हैं, इससे अधिक नहीं,' यह सोचकर कर्म की सफलता के अहंकार से स्वयं को बचाने के लिए, 'सब कर्म परमेश्वर की प्रेरणा तथा कृपा से होते हैं,' यह दर्शाने को और आने वाली पीढ़ियों एवं शिष्यपरंपरा में भी उसी विनय का आधान करने के लिए, अर्थात् छात्रों के अहंकार-रहित व्यक्तित्व के निर्माण के लिए, हमारे पूर्वजों ने मंगलाचरण की परंपरा डाली।[1] आचार्य पतंजलि ने इसी दृष्टि से स्थान-स्थान पर मंगलाचरण की प्रशंसा की है।[2]

---

1. मंगलाचरण पर विस्तरेण विचारार्थ लेखक का ग्रंथ तर्कसंग्रह-तारोदय, पृष्ठ 6.
2. म० भा० 1.3.1, पृ० 174; तु० 1.1.1, पृष्ठ 132 : मङ्गलादीनि, मङ्गल-मध्यानि, मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते; वीर-पुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च। अध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युः ···।

वैयाकरणसिद्धांतकौमुदी के प्रणेता आचार्य श्रीभट्टोजिदीक्षित ने भी इसी उज्ज्वल परंपरा के शिष्य तथा अध्यापक होने के नाते प्रस्तुत ग्रंथ के मध्य में मंगलवाक्य का प्रणयन इस श्लोक में किया है।

मंगलाचरण की व्याख्या : प्रशंसा (स्तुति) गुणों के कारण गुणी की होती है। यदि किसी की प्रशंसा होती है, तो वह 'अगुण' नहीं हो सकता। **साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च**[1] आदि श्रुति-वाक्यों में ब्रह्म को असंदिग्ध रूप से 'निर्गुण' बताया गया है। पर साथ ही माया के गुणों के कारण वह व्यवहार में सगुण भी प्रतीत होता ही है। अतः यहाँ विरोधाभास अलंकार है। इस श्लोक से यह भी सूचित होता है कि दीक्षित जी अद्वैत-वेदांती हैं।

विजयतेतराम् रूप वि+जयते (√जि) से **तिङश्च** (अष्टा० 5.3.56)[2] और **द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुनौ** (57) से तरप्, तथा **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (5.4.11) से 'आम्' प्रत्यय होने पर बनता है।

'विजयतेतराम्' पर आपत्ति : इस प्रयोग पर कुछ लोगों का कहना है कि 'वि+जयते' समुदाय के बाद तरप् नहीं हो सकता, क्योंकि यह (1) न तो प्रातिपदिक है : तिङंतोत्तरपद वाला समास छंदस् (मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद) में ही होता है,[3] और (2) न यह (समुदाय) तिङंत पद ही है। तिङंत 'जयते' पद को अपने आत्मनेपद को बनाए रखने के लिए सदा 'वि' उपसर्ग की आकांक्षा रहती है।[4] अतः साकांक्ष 'जयते' से तरप् सामर्थ्य न होने से प्राप्त नहीं है। 'जयति' से तरप् करके फिर 'वि' के योग में आत्मनेपद करना भी नहीं बनता, क्योंकि परस्मेपद अंतरंग है।

समाधान : वैयाकरणों के अनुसार उपसर्ग द्योतक हैं; इनका अपना कोई वाच्य अर्थ नहीं है।[5] अतः अर्थ की दृष्टि से धातु को उपसर्ग की आकांक्षा नहीं है, क्योंकि उपसर्ग की अपेक्षा क्रिया-पद प्रधान है। आत्मनेपद के निमित्त 'वि' की जितनी अपेक्षा है, वह क्रिया-पद के प्राधान्य में बाधक नहीं है। तरप् का उद्देश्य

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.11.
2. ये अंक क्रमशः अध्याय, पाद और सूत्र की संख्या के बोधक हैं। आगे अष्टाध्यायी के सूत्रों का उल्लेख ग्रंथ-निर्देश के बिना मात्र अंकों से किया गया है।
3. 2.1.4 पर म० भा० प्रदीप, उद्योत, शब्द-कौस्तुभ एवं ल० श० शे० पृष्ठ 421.
4. 1.3.19 : **वि-पराभ्यां जेः।**
5. उपसर्गों की वाचकता-द्योतकता पर विचारार्थ लेखक की पुस्तक निरुक्तमीमांसा, पृष्ठ 166-178 देखें।

पूर्वार्धे कथितास्तूर्य-पञ्चमाध्याय-गोचराः ।
प्रत्यया अथ कथ्यन्ते तृतीयाध्याय-गोचराः ॥ 2 ॥
तत्रादौ दश लकाराः प्रदर्श्यन्ते—(1) लट्, (2) लिट्, (3) लुट्,

उत्तरार्ध का विषय-निर्देश

(इस ग्रंथ के) पहले आधे भाग में (अष्टाध्यायी के) चौथे और पाँचवे अध्यायों में प्रतिपादित प्रत्यय कहे जा चुके हैं। अब (उत्तरार्ध में अष्टाध्यायी के) तीसरे अध्याय में प्रतिपादित प्रत्यय कहे जा रहे हैं[1] ॥ 2 ॥

(तीसरे अध्याय के प्रत्ययों में सबसे पहले दस लकार दिए गए हैं)

उन (तीसरे अध्याय के प्रत्ययों) में सब से पहले दस लकार दिखाए जाते हैं—(1) लट्, (2) लिट्, (3) लुट्, (4) लृट्, (5) लेट्, (6) लोट्, (7) लङ्,

---

'जयते' (तिङंत) मात्र है, समुदाय नहीं[2] ॥ 1 ॥

'लकार' संज्ञा का तात्पर्य : उपर्युक्त प्रत्ययों में ट् और ङ् वर्ण **हलन्त्यम्** (1.3.3) से और अनुनासिक अ, इ, उ इत्यादि अच् (स्वर) **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (1.3.2) से इत् संज्ञा प्राप्त करके **तस्य लोपः** (1.3.9) से लुप्त हो जाते हैं। अतः इनका प्रयोग के योग्य रूप 'ल्' वर्ण बचता है। इस प्रकार 'ल्' वर्णमात्र के रूप में होने से परवर्ती आचार्यों ने इन्हें 'लकार' कहा है।[3] पाणिनि ने केवल 'ल्' (हल्मात्र) का, अथवा उच्चारणार्थक 'अ' से युक्त 'ल' का, प्रयोग ही किया है, 'लकार' शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

'ल्' या 'ल' शब्द से लट् आदि दसों प्रत्यय समझे जाते हैं, जो अलग-अलग सूत्रों से अलग-अलग अर्थों में विहित हैं। 'ल्' के रूप में समान होने पर भी लट् आदियों में से जिस किसी प्रत्यय का बचा हुआ 'ल्' वर्ण होगा, उसी लट् आदि का अर्थ ही उस 'ल्' का अर्थ होगा।

---

1. यह प्रायिक वचन है। प्रसंग आने पर पूर्वार्ध में तृतीय अध्याय के प्रत्यय प्रतिपादित हुए हैं। तद्यथा—**स्पृशोऽनुदके क्विन्** (3.2.58)। उत्तरार्ध में भी पंचम अध्याय के प्रत्यय दिए गए हैं। तद्यथा—**णचः स्त्रियामञ्** (5.4.14) आदि।
2. चन्द्रकला, तत्त्व-बोधिनी तथा बाल-मनोरमा।
3. 'ल्' वर्ण में उच्चारणार्थक 'अ' जोड़ कर 'ल् वर्ण' अर्थ में 'ल' शब्द से 'कार' प्रत्यय **वर्णात्कारः** (3.3.108 सूत्र पर वा० 3) से होता है। व्युत्पत्ति-निमित्त की दृष्टि से 'ल् वर्ण' अर्थ में होते हुए भी प्रवृत्ति-निमित्त (रूढि) से 'ल्' वर्णमात्र के रूप वाले 'ल्' प्रत्यय का बोध होता है।

(4) लृट्, (5) लेट्, (6) लोट्, (7) लङ्, (8) लिङ्, (9) लुङ्, (10) लृङ् ।
एषु पञ्चमो लकारश्छन्दो-मात्र-गोचरः ॥ 3 ॥

(8) लिङ्, (9) लुङ्, (10) लृङ् । इनमें से पाँचवाँ (लेट्) लकार केवल मंत्रब्राह्मणात्मक वेद में प्रयुक्त होता है ॥ 3 ॥

'लकार' शब्द के इतिहास के बारे में मत-भेद : श्री क्षितीशचंद्र चट्टोपाध्याय का कहना है कि कातंत्र व्याकरण के **काले** (3.1.10) अधिकारसूत्र के 'काल' शब्द के 'ल' वर्ण का अनुकरण करके पाणिनि ने अपनी 'ल्' वर्ण वाली 'लट्' आदि संज्ञाएँ निर्मित की हैं ।[1] किंतु यह कल्पना निम्न दो हेतुओं से मान्य नहीं प्रतीत होती : (क) इसमें कोई प्रमाण नहीं है; (ख) व्याकरणशास्त्रेतिहासविदों के मत में कातंत्र व्याकरण पाणिनि से अर्वाचीन है, प्राचीन नहीं ।

'ट्' और 'ङ्' अनुबंधों का प्रयोजन : (1) लट् से (6) लोट् तक छह प्रत्यय टित् हैं तथा (7) लङ् से (10) लृङ् तक चार प्रत्यय ङित् । **टित आत्मनेपदानां टेरे** (3 4.79) आदि सूत्रों में 'टित्' शब्द से (1) लट् से (6) लोट् तक के छह प्रत्यय और **नित्यं ङितः** (3.4.99) आदि सूत्रों में 'ङित्' शब्द से (7) लङ् से (10) लृङ् तक के चार प्रत्यय लिये जाते हैं ।

लेट् (Subjunctive Mood) वेद में ही प्रयुक्त है : इन दस प्रत्ययों में पाँचवाँ लेट् प्रत्यय **छन्दसि**··· (3.4.6), **लिङर्थे लेट्** (7) से वेद में ही विहित है । वैदिक वाङ्मय में भी इसका प्रयोग कालक्रम से ह्रास की ओर मिलता है । लौकिक संस्कृत के काल तक तो इसका प्रयोग बोलचाल और साहित्य की भाषा से बिल्कुल ही उड़ गया था । पछाँही ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन और जर्मन आदि अर्वाचीन भाषाओं में इसका प्रयोग (Subjunctive Mood के रूप में) उपलब्ध है । दीक्षितजी ने सिद्धान्त-कौमुदी में वैदिक प्रयोगों को अलग से 'वैदिकी प्रक्रिया' तथा 'स्वर-प्रक्रिया' नामक प्रकरणों में दिया है । अतः उत्तरार्द्ध के लकार-प्रकरण (दशगणी एवं ण्यंतादि प्रक्रियाओं) में लेट् की प्रक्रिया नहीं दिखाई जाएगी, यह उनका आशय है ।

तीसरे अध्याय के प्रत्ययों में लकार ही सर्वप्रथम क्यों ? अष्टाध्यायी के तीसरे अध्याय में (क) कृत्य (3.1.95), (ख) कृत् (3.4.67) तथा (ग) तिङ् (3.4.78), ये तीन प्रकार के प्रत्यय प्रतिपादित हैं । इनमें सब से महत्त्व के प्रत्यय (ग) तिङ् ही हैं : (अ) प्रक्रिया-विस्तार तिङों का ही अधिक होता है; तिङ् प्रत्यय लट् आदि के ही आदेश होते हैं; (आ) कृत् एवं कृत्य प्रत्ययों को समझने के लिए भी लकारों को

---

1. टेक्नीकल टर्म्स एण्ड टेक्नीक ऑफ संस्कृत ग्रामर, भाग 1, पृष्ठ 3.

समझना आवश्यक है। अतः दीक्षितजी ने सब से पहले लकारों का ही प्रदर्शन किया है।

लकारों का क्रम : श्री क्षितीशचंद्र चट्टोपाध्याय ने **अइउण्** और **ऋलृक्** प्रत्याहारसूत्रों में प्रयुक्त अचों के क्रम से लट्, लिट् आदि प्रचलित क्रम को ही पाणिनीय क्रम बतलाया है।[1] किंतु यह कथन प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता : (अ) अष्टाध्यायी में लकार अच्क्रम से इकट्ठे नहीं दिए गए हैं, अपितु एक वैज्ञानिक और सुनियोजित अर्थ के क्रम से भिन्न-भिन्न स्थलों पर दिए हैं : (क) भूत काल में लुङ् (3.2.110), लङ् (111) और लिट् (115); (ख) वर्तमान काल में लट् (123); (ग) भविष्यत्काल में लृट् (3.3.13) और लुट् (15) प्रकारार्थों (moods) में लृङ् (139), लिङ् (161), लोट् (162) तथा लेट् (3.4.7)। (आ) **छन्दसि लुङ्-लङ्-लिटः** (3.4.6) तथा **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** (6.4.71) में भी पाणिनि ने यही क्रम दिया है। अतः पाणिन्याश्रित क्रम यही है, न कि अक्षरानुक्रमणी वाला। हर बात साभिप्राय कहने वाले आचार्य वर्ण-क्रम की अपेक्षा अर्थ-क्रम को ही महत्त्व दिया करते हैं। लट्, लिट् आदि स्वर-क्रम का सर्वप्रथम प्रयोग **काशिका** में उपलब्ध होता है।[2] उसके बाद सरल होने से इसे प्रायेण अपना लिया गया प्रतीत होता है। प्रक्रियाकौमुदी-कार ने मनमानी की है : उन्होंने परिगणन तो अच्क्रम (लट्, लिट् आदि) से किया है, पर प्रक्रिया में (1) लट्, लिङ्, लोट्, लङ्; (2) लुङ्; (3) लिट्; (4) लुट्; (5) आशीर्लिङ्; (6) लृट् और लृङ् क्रम अपनाया है। इसमें हेतु इन लकारों के छह वर्गों में प्रक्रिया की कुछ वर्गगत समानता ही हो सकती है। अन्य वैयाकरणों ने भी पाणिनीय क्रम को अपने-अपने ढंग से तोड़ा है।

लकारों के दो भेद—(क) कालवाची तथा (ख) प्रकारवाची : चट्टोपाध्याय जी ने एक बात और कही है कि उपलब्ध संस्कृत व्याकरणों में काल-वाची (tense suffixes) और प्रकारवाची (modal suffixes) प्रत्ययों की कोई भेदक रेखा नहीं है। अष्टाध्यायी से प्राचीन व्याकरणों में प्रकारवाची प्रत्ययों का कोई नाम अवश्य रहा होगा और लकारों को (क) कालवाची तथा (ख) प्रकारवाची वर्गों में अवश्य बाँटा गया होगा।

---

1. टे० ट० एण्ड् टे०, भाग 1, पृष्ठ 8-9.
2. काशिका 3.4.77 : **दश लकारा अनुबन्ध-विशिष्टा विहिता (क) अर्थ-विशेषे, (ख) काल-विशेषे च। तेषां विशेषकराननुबन्धानुत्सृज्य यत्सामान्यं, तद् गृह्यते। षट् टितश्चत्वारो ङितः। अक्षर-समाम्नायवदानुपूर्व्या कथ्यन्ते—'लट्' लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्' इति।**

ऊपर प्रदर्शित पाणिनीय क्रम में, पाश्चात्त्य वैयाकरणों की पद्धति से यदि कहें तो (अ) लुङ् से लुट् तक कालवाची (tense suffixes) प्रतिपादित हैं, और (आ) लृङ् से लेट् तक प्रकारवाची (modal suffixes)। इनमें भी (क) लुङ् से लिट् तक क्रमशः सामान्य, अनद्यतन और परोक्ष भूतकाल अर्थ में, फिर (ख) वर्तमान काल में और इसके बाद (ग) सामान्य एवम् अनद्यतन भविष्य में कालवाची प्रत्यय आए हैं। प्रकाराभिधायी प्रत्ययों में पहले हेतु-हेतुमद्भावार्थक (conditional) तथा फिर विध्याद्यर्थक प्रत्यय दिए हैं। विध्याद्यर्थकों में लिङ् आदि तीन प्रत्यय आते हैं। प्रत्येक के अर्थ-भेद को सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। साहित्य में प्रयोग के आधार पर उसे समझा जा सकता है। लिङ् का अर्थ विध्यादि के अतिरिक्त आशीः भी होता है। पर इस अर्थ में इसके रूप विध्याद्यर्थक से सर्वथा भिन्न चलते हैं। अतः इसे 11वाँ लकार ही समझा जा सकता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि पाणिनीय क्रम में tense suffixes और modal suffixes पृथक्-पृथक् प्रतिपादित हैं। tense और mood जैसी संज्ञाओं की आवश्यकता पाणिनि को नहीं पड़ी होगी। उन्होंने प्रत्येक tense और प्रत्येक mood के लिए ही अलग-अलग संज्ञा का प्रयोग किया है। प्राचीन अन्य व्याकरणों में भी लगभग इसी प्रकार विभाजन उपलब्ध है; अतः कालार्थक (tenses) तथा प्रकारार्थक (moods) प्रत्ययों के पृथक्-पृथक् वर्ग रहे होंगे, यह नहीं कहा जा सकता।

अन्य व्याकरणों में लकारों के पर्याय : ऐसा लगता है कि किसी प्राचीन व्याकरण में लकारों को 'विभक्ति' माना जाता था तथा इन लट् आदि को 'प्रथमा', द्वितीया', 'तृतीया' आदि संज्ञाओं से व्यवहृत किया जाता था। पाणिनीय तंत्र में 'विभक्ति' से सुप् (प्रातिपदिक से लगने वाले) और तिङ् (धातु से लगने वाले, किंतु नाम-करणों से भिन्न) प्रत्यय अभिप्रेत हैं, लट् आदि नहीं। 'प्रथम', मध्यम', उत्तम', ये तीन विभक्तियाँ हैं, तथा तिप्, तस् आदि उनके वचन हैं। 'प्रथम' आदि विशेषण शब्दों के विशेष्य के रूप में 'पुरुष' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग निरुक्त (7.2) में उपलब्ध होता है।

कातंत्र व्याकरण में लकारों के लिए दो प्रकार की संज्ञाएँ प्रयुक्त हैं : (क) कालों के लिए (1) वर्तमाना (पाणिनीय तंत्र में लट्), (2) परोक्षा (पा० लिट्), (3) अद्यतनी (पा० लुङ्), (4) ह्यस्तनी (पा० लङ्०), (5) श्वस्तनी (पा० लुट्), (6) भविष्यन्ती (पा० लृट्); (ख) प्रकारार्थकों के लिए (1) पंचमी (पा० लोट्), (2) सप्तमी (पा० विधिलिङ्), (3) आशीः (पा० आशीर्लिङ्) और (4) क्रियातिपत्ति (पा० लृङ्)। क्रम भी बड़ा विचित्र है : (1) वर्तमाना, (2) सप्तमी, (3) पंचमी, (4) ह्यस्तनी, (5) अद्यतनी, (6) परोक्षा, (7) श्वस्तनी, (8) आशीः, (9) भविष्यन्ती, (10) क्रियातिपत्ति।

2151[1] वर्तमाने लट् (3.2.123)—वर्तमान-क्रिया-वृत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। अटावितौ ॥ 4 ॥

प्रथम लकार : वर्तमान में लट्

2151 वर्तमान (काल) में होने वाली क्रिया को कहने वाली धातु से लट् हो। अ और ट् इत् हैं ॥ 4 ॥

इन संज्ञाओं में स्त्री-लिंग का क्या प्रयोजन है, यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः ये सब 'विभक्ति' ही कहलाती रही हों ॥ 3 ॥

सूत्रार्थ : यह सूत्र **प्रत्ययः** (3.1.1), **परश्च** (2), **धातोः** (91) के अधिकार में है।[2] वर्तमाने (7.1)[3], धातोः (5.1), परः (1.1), लट् (1.1), प्रत्ययः (1.1)= वर्तमान काल अर्थ में धातु के पश्चात् लट् प्रत्यय (होता है)।

लट् में अनुबंध : प्रक्रिया में लट् के अनुनासिक अ की इत्संज्ञा **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (1.3.2) से तथा अन्त्य हल् ट् की **हलन्त्यम्** (1.3.3) से होती है। उसके परिणामस्वरूप **तस्य लोपः** (1.3.9) से उन दोनों का लोप हो जाता है। **ल-श-क्वतद्धिते** (8) से प्रत्ययादि 'ल्' की इत् संज्ञा (1) प्रयोजनाभावात् नहीं होती : धातु से विहित प्रत्ययों के ल् वर्ण की इत्संज्ञा का फल **लिति** (6.1.193) से प्रत्यय के पूर्व विद्यमान अच् को उदात्त करना होता है। यहाँ यह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि लकार के लित्त्व से उदात्तता करने पर लिट् के आदेश णल् को लित् करना व्यर्थ हो जाएगा—लिट् के लित्त्व के स्थानिवद्भाव से ही लित्त्वनिमित्तक स्वर-कार्य हो जाता;[4] (2) लट् आदियों के ल् वर्ण की इत्संज्ञा सूत्रकार को इष्ट भी नहीं है, अन्यथा **लः परस्मैपदम्** (1.4.99), **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** (3.4.69) तथा **लस्य** (77) आदि सूत्रों में ल् वर्ण का उच्चारण ही कैसे होता ? इन सूत्रों में लकारोच्चारण से ज्ञापित होता है कि लट् आदियों के आदिम लकार की इत्संज्ञा नहीं होती।

पदविभाग : आचार्य यास्क के कथन से ज्ञात होता है कि प्राचीन व्याकरण-निकाय में पद चार प्रकार के माने जाते थे—(1) नाम, (2) आख्यात, उपसर्ग और

---

1. सर्वत्र सूत्र के पूर्व दी संख्या सिद्धान्तकौमुदी में उस सूत्र के क्रमांक की सूचक है।
2. उदात्तादि स्वर अज्धर्म हैं; अतः **आद्युदात्तश्च** (3.1.3) और **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (4) का अधिकार लकार के विषय में लागू नहीं होता।
3. शब्दों के बाद लिखित अंक इनकी विभक्ति और वचन के सूचक हैं। इसी प्रकार आगे भी समझें।
4. म० भा० 3.4.77 : **इत्कार्याभावादेवेत्सञ्ज्ञा न भविष्यति। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति 'न लादेशेषु लित्कृतं भवति।' इति, यदयं णलं लितं करोति।**

(4) निपात ।[1] पाणिनि ने दो ही प्रकार के माने हैं—(1) सुबन्त, (2) तिङन्त ।[2] प्राचीन वैयाकरणों के (1) नाम, (3) उपसर्ग और (4) निपात पाणिनीय तंत्र में सुबंत ही हैं : सुबंत दो प्रकार के होते हैं—(1) रूपावतार वाले सविभक्तिक, अर्थात् दृष्ट-व्यय, (2) रूपावतार-रहित लुप्त-विभक्तिक, अर्थात् अव्यय[3] । अव्यय शब्दों—प्र आदि उपसर्गों और स्वर् आदि निपात शब्दों के सुपों का लोप **अव्ययादाप्सुपः** (2.4.82) से करने के कारण ये सुबंत पद अव्यय हैं। प्राचीन आख्यात को पाणिनीय सम्प्रदाय में तिङंत कहते हैं। तिङ् प्रत्यय धातु के पश्चात् जुड़ते हैं। अतः आख्यात अँग्रेज़ी के Finite Verb का पर्याय है। तिङ् प्रत्यय जिनके पश्चात् विहित हैं, वे धातु दो प्रकार के हैं : (1) दश गणों में पठित मूलतः क्रिया-वाची शब्द तथा (2) नाम पदों से सन् आदि प्रत्यय लग कर निष्पन्न क्रिया-वाची शब्द (नाम-धातु) ।[4]

'धातु' : (1) **व्युत्पत्ति**—यह शब्द √धा (**डुधाञ् धारण-पोषणयोः**, जुहोत्यादि) से **सि-तनि-गमि-मसि-सचि-अवि-धा-कृशिभ्यस्तुन्** (उ० 69) से तुन् प्रत्यय से निष्पन्न है।

(2) **इतिहास** : भारतीय ज्ञान की प्रत्येक शाखा में धारक और पोषक तत्त्व को 'धातु' कहा जाता है : दार्शनिकों ने पृथ्वी आदि पंच-तत्त्वों को जहाँ सत्तावान् होने से 'भूत' या 'महा-भूत' कहा है, वहीं जगत् का आधार होने के कारण उन्हें 'धातु' भी कहा है। आयुर्वेद में देह के धारक तथा पोषक वात, पित्त और कफ को 'त्रि-धातु' कहा जाता है और रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र को 'सप्त-धातु'। छांदोग्य उपनिषद् (6.6) में भुक्त अन्न का उदर में जो स्थूलतम भाग पुरीष (मल) है, उसे भी 'धातु' कहा गया है। शरीर की सब क्रियाओं का आधार पांचों ज्ञानेंद्रिय भी 'धातु' कहाती हैं, तो पृथिवी आदि के गुण तथा इंद्रियों के विषय गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द भी 'धातु' कहाते हैं। अधिक टिकाऊ और धारण के

---

1. निरुक्त 1.1 और 13.9। विशेषार्थ नि० मी०, अध्याय 11.
2. द्र० अष्टा० 1.4.14 : **सुप्तिङन्तं पदम्** ।
3. निरुक्त (1.8 तथा 5.23) में 'दृष्ट-व्यय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे उसके विलोम 'अदृष्ट-व्यय' अथवा 'अव्यय' शब्द की कल्पना यास्क के समय में रही होगी, यह संभावना की जा सकती है। विशेषार्थ द्र० निरुक्त-मीमांसा, 'व्याकरण और काव्य-शास्त्र को यास्क की देन' नामक 28वाँ अध्याय, पृष्ठ 426। 'अव्यय' शब्द की व्याख्या व्याकरण के अतिरिक्त गोपथ ब्राह्मण में यों मिलती है :

   सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु।
   वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति, तदव्ययम् ।। 1.1.26.

4. अष्टा० (1) 1.3.1 : **भूवादयो धातवः**; (2) 3.1.32 : **सनाद्यन्ता धातवः** ।

अन्य कामों में उपयोगी होने से लोह भी 'धातु' कहाते हैं। शब्द का अनुशासन करने वाले व्याकरण में भी शब्दों की आधार-भूत इकाई 'धातु' ही कहलाती है।[1]

'धातु' शब्द 'शब्द-योनि' अर्थ में संहिताओं में उपलब्ध नहीं है। ब्राह्मण ग्रंथों में पर्याप्त अर्वाचीन के रूप में अभिमत गोपथ में यह इसी अर्थ में आया है। उससे प्राचीन वाङ्मय में यह निरुक्त और बृहद्देवता में प्रचुर मात्रा में आया है। निरुक्त में तो इसका निर्वचन भी दिया है।[2]

धातु का स्वरूप : वैयाकरण शाकटायन और नैरुक्तों के मत में सभी नाम शब्द (प्रातिपदिक) धातुज हैं। सारे नाम शब्द न सही, अधिकांश नाम शब्द धातुज होते हैं, इस पर तो किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।[3] पाणिनि के अनुसार दस गणों में पठित √भू आदि शब्द तथा √वा की तरह के गति-जैसे, अर्थात् क्रिया, अर्थ के बोधक शब्द धातु कहलाते हैं।[4] धातु-शब्दों से वर्तमान, भूत, भविष्यत् आदि काल तथा विधि आदि प्रकार अर्थों में लट् आदि प्रत्यय करने से सत्त्व-भूत (मूर्त) सत्ता और गति आदि अर्थ प्रतीत नहीं हो सकते, क्योंकि उनका वर्तमान आदि से अन्वय नहीं हो सकता। अतः सत्ता और गति आदि शब्द चालू स्थिति—पदार्थ की पूर्वापरीभूत अवस्था—बताते हैं, यह स्पष्ट है। अर्थात् इन शब्दों का अर्थ सत्त्व न होकर भाव है। भाव ही क्रिया कहलाता है : पूर्वापरीभूत सत्ता ही क्रिया है।[5] सत्ता

---

1. शलेष्मादि-रस-रक्तादि-महाभूतानि तद्गुणाः।
   इन्द्रियाण्यश्मविकृतिः शब्द-योनिश्च धातवः॥ अमर-कोष
   प्रकृतिः सा जयत्याद्या यया धात्वादिरूपया।
   व्यज्यन्ते शब्द-रूपाणि पर-प्रत्यय-सन्निधेः॥ प्र० कौ०
2. गो० ब्रा० 1.1.24 : ओंकारं पृच्छामः—को धातुः ? किं प्रातिपदिकम् ?
   नि० 1.20 : धातुर्दधातेः।
3. निरुक्त 1.12 : तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो, नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। विशेषार्थ निरुक्त-मीमांसा, 13वाँ अध्याय, पृष्ठ 138-148 तथा वैदिक वाङ्मय में भाषा-चिन्तन, पृष्ठ 21.
4. अष्टा० 1.3.1. : भू-वादयो धातवः तथा इस पर म० भा०, पृ० 169 : गतमित्याह। कथम् ? अयमादि-शब्दोऽस्त्येव व्यवस्थायां वर्तते।
5. स्व-व्यापार-विशिष्टानां सत्ता वा कर्तृ-कर्मणाम्।
   क्रिया व्यापार-भेदेषु सत्ता वा समवायिनी॥ वा० प० 3.8.23
   अन्ते वाऽऽत्मनि या सत्ता, सा क्रिया कैश्चिदिष्यते।
   भाव एव हि धात्वर्थ इत्यविच्छिन्न आगमः॥ 24

दो रूपों में प्रकट होती है : (1) सामान्य—पूर्वापरीभूत सामान्य सत्ता को हम 'भाव', 'भावना' आदि शब्दों से कह सकते हैं, (2) विशेष—पूर्वापरीभूत विशेष सत्ता को 'गति', 'क्रिया', 'उत्पादना' आदि शब्दों से कहा जा सकता है। अतः 'धातु' शब्द से पाणिनि का यह आशय प्रकट होता है कि सामान्य और विशिष्ट व्यापार अर्थ का वाचक शब्द धातु होता है।[1]

पाश्चात्यों का मत : पाश्चात्य पंडितों ने भी क्रिया-शब्द की ठीक इसी प्रकार की व्याख्या की है : A verb is a word that makes a statement. It expresses 'being' and 'doing', and you cannot say any thing about any thing or any body without using a verb[2] इसी को अन्यत्र और स्पष्ट करके यों कहा गया है : Verb : a word which affirms or predicates some thing; the part of speech expressing 'action', or 'mode of being'.[3] इन व्याख्याओं में 'being', 'mode of being' भाव के पर्याय हैं, 'doing', 'action' क्रिया के और 'any thing' or 'any body' कर्म एवं कर्ता के लिए प्रयुक्त कहे जा सकते हैं।

क्रिया के तीन भेद : आटो यस्पर्सन ने पूर्वापरीभूत सत्ता के तीन भेद किए हैं : (1) **क्रिया** (activity), जैसे जाना, खाना, बोलना, लड़ना इत्यादि; (2) **अवस्था** (state), जैसे जीना, रहना (live), दुःख पाना (suffer) इत्यादि; (3) **भाव** (process), जैसे होना (become), बढ़ना, सूखना आदि।[4]

क्रिया का स्वरूप : क्रिया का तात्पर्य एक ऐसी साध्य अवस्था है, जिसमें प्रारंभ से ले कर फल-निष्पत्ति तक की स्थिति क्रमशः आती है।[5] 'क्रियावाची शब्द (धातु) उसे कहते हैं, जिसका अर्थ किसी पकना, जाना, होना, उठना, बैठना जैसे भाव की उस के प्रारंभ (उपक्रम) से लेकर फल सिद्ध होने (अपवर्ग) तक की पूर्वापरीभूत (एक के बाद एक) अवस्था होती है।[6] सूक्ष्म रूप से क्रिया के दो अंश हैं : (1) पूर्वा-

---

1. म० भा० 1.3.1 : **क्रिया-वचनो धातुः ··· । भाव-वचनो धातुः ।**
2. Guy Pocock, Grammar in a New Setting.
3. वेब्स्टर, New International Dictionary.
4. Essentials of English Grammar.
5. **यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।**
   आश्रित-क्रम-रूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते ।। वा० प० 3.8.1.
6. निरुक्त 1.1 : **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति, पचतीति ।** विशेषार्थ निरुक्त-मीमांसा, 12वाँ अध्याय देखें।

परीभाव, अर्थात् साध्यावस्था का क्रम। यह 'व्यापार', 'भावना', 'क्रिया', 'साध्यावस्था', 'साध्य भाव' कहलाता है। (2) निष्पत्ति, अर्थात् साध्य अवस्था का सिद्ध अवस्था के रूप में अवसान। इसे 'फल', 'प्रयोजन', 'अर्थ' कहते हैं।[1] (1) भोजन के प्रसंग में तृप्ति और गमन के प्रसंग में पहुँचना आदि अवस्था की सिद्धि के लिए क्रमशः होने वाले अनेक गौण भावों का अविच्छिन्न समूह 'व्यापार' कहलाता है, जैसे किसी पदार्थ का पकाव एक अवस्था है। अनपके पदार्थ के पकाव को सिद्ध करने के लिए—उस पदार्थ को पकाने के लिए—आग जलाना, पानी चढ़ाना, पदार्थ को पानी में डालना, पानी का गरम होना, उबलना, पदार्थ के अवयवों में ताप का पहुँचना इत्यादि अनेक गौण—पकने वाले पदार्थ की पकना क्रिया की सिद्धि से साक्षात् या परोक्ष रूप से संबद्ध—क्रियाओं का अविच्छिन्न समूह अपेक्षित होता है। यही 'पकाना' नामक 'व्यापार' कहलाता है।[2] (2) जिसकी सिद्धि के लिए किसी सिद्ध या असिद्ध को कर्मवान् साध्य के रूप में उपस्थित किया जाता है—उपर्युक्त व्यापार किया जाता है, वह अवस्था 'फल' कहलाती है। अर्थात् जिस पकाव (पदार्थ के अवयवों के एक अपेक्षित मात्रा में शिथिलीकरण) के निमित्त यह सब टंटा किया जाता है, वह 'फल' कहलाता है।[3] यह भी ध्यान रहे कि व्यापार और फल ये दोनों सह-भाव से ही धातु का अर्थ हैं, काल-भेद से नहीं।[4]

'भाव' शब्द के अर्थ पर मतभेद : ऊपर 'भाव' शब्द 'व्यापार' (action in process) अर्थ में दिया गया है। आचार्य दुर्ग ने इसे 'फल' अर्थ में माना है। उन्होंने क्रिया अर्थात् व्यापार को फलांश के प्रति गौण कहा है।[5] इसके विपरीत व्याकरण-

---

1. वैयाकरण-भूषण-सार, पृष्ठ 265 : फल-व्यापारयोर्धातुः—फलं विक्लित्यादिः। व्यापारस्तु भावनाऽभिधा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया।
2. गुण-भूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
   बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ वा० प० 3.8.4.
3. यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभ्यन्ते पचादयः।
   तत्प्रधानं फलं तेषां, न लाभादि प्रयोजनम् ॥ वा० प० 3.12.18.
4. वै० भू० सा० का०, पृष्ठ 268 : 'फलव्यापारयोः' इति मूलमपि तदुभयसमुदाये शक्तिरित्येतावन्मात्रतात्पर्यकम्, न तु पृथक्शक्तितात्पर्यकम्।
5. निरुक्त 1.1 पर दुर्ग-टीका : नाम-पद-वाच्यार्थाश्रय-क्रिया-व्यङ्ग्यो भावः पाक-राग-त्यागाख्यः। ···तदवसाने योऽभिनिष्पद्यते भावः···। भाव-सिद्ध्यर्थमात्मलाभमनुभूय कारकेषु तण्डुलादौ पाकाख्यं भावमभिनिष्पाद्यावसित-प्रयोजनक-पद एव तिरोभवति। यस्य च यदर्थं आत्म-लाभः, तद् गुणभूतः भवति। भावसिद्ध्यर्थश्च क्रियाया आत्मलाभः। तस्माद् गुण-भूतेति गम्यते।

निकाय में व्यापार को प्रधान और फल को गौण माना जाता है।[1]

क्रिया आश्रय के माध्यम से ही व्यक्त होती है : क्रिया स्वतः अमूर्त है। उसे बिना किसी आश्रय के प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है।[2] आश्रय दो प्रकार के होते हैं : (1) जगत् के समस्त पदार्थों को तीन सर्वनामों से कहा जाता है—(क) युष्मद्, (ख) अस्मद् तथा (ग) इदम्। क्रिया इनके अभिधेय जागतिक पदार्थों में आश्रित होकर उन पदार्थों की मूर्तता से ही स्वयं को मूर्त करती है। इन पदार्थों का क्रिया के साथ कर्ता, कर्म, करण आदि में से अन्यतम संबंध होता है तथा यह उनमें इन संबंधों से ही आश्रित होती है।[3] इसीलिए इन्हें क्रिया का 'कारकाश्रय' कहा जा सकता है। कर्तृ आदि छह कारकों में भी आख्यात की दृष्टि से कर्ता तथा कर्म, ये दो, ही प्रमुख हैं। (2) जागतिक पदार्थों का भी एक आश्रय है : काल।[4] यावन्मात्र भावों, पदार्थों तथा व्यवहारों का वह साधारण आश्रय है। वस्तु-दृष्ट्या वह अविच्छिन्न, अमेय, अनादि, अनंत तथा नित्य है; परंतु व्यवहार-निष्पत्ति के लिए व्यवहार-योग्य पदार्थ की सत्ता की अपेक्षा से उसके तीन अवयवों—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—की कल्पना की जाती है। नित्य काल में आश्रित पदार्थ अनित्य हैं, भूत आदि शब्दों से परिच्छिन्न हैं। क्रिया के आश्रय पदार्थों का भी आश्रय होने से काल क्रिया का भी आश्रय है। हाँ, पदार्थ साक्षात् आश्रय हैं, तो काल पारंपरिक रूप से है, अर्थात् क्रिया काल में आश्रित पदार्थों में आश्रित होकर, काल में आश्रित है, इतना भेद अवश्य है। इस दूसरे आश्रय को 'कालाश्रय' कहा जा सकता है।

दोनों आश्रय लकार से व्यक्त किए जाते हैं, धातु से नहीं : धातु का वाच्य अर्थ 'फल' और 'व्यापार' होते हैं, यह अभी-अभी कहा गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के आश्रय धातु का वाच्यार्थ नहीं हैं। इनके अभिधान के लिए, आख्यात शब्द में इन दोनों के समावेश के लिए, सूत्रकार ने लट् आदि प्रत्यय बताए हैं : (1) कारकाश्रय लट् आदि दसों प्रत्ययों का अर्थ है। (2) लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लङ् और लृङ् इन छह

---

1. वै० भू०, कारिका 2 : फले प्रधानं व्यापारः—फले=विक्लित्त्यादौ प्रधानं=विशेष्यः। विक्लित्तिर्व्यापारे विशेषणमित्यर्थः। तदर्थोऽपि प्राधान्याद् व्यापार एव गृह्यते।
2. म० भा० 1.3.1 : क्रिया हि नामेयमत्यन्तापर-दृष्टाऽनुमान-गम्याऽशक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्।
3. दुर्ग-टीका 1.1 : अमूर्ता हि क्रिया निरुपाख्या। सा हि कारकैरभिव्यज्यमाना कारकशरीरे सती शक्यते निर्देष्टुम्।
4. न्या० सि० मु०, का० 45 : जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।

का अर्थ कालाश्रय भी है। लेट्, लोट्, लिङ् (विध्यर्थक तथा आशीरर्थक, दोनों) और लृङ् का अर्थ कारकाश्रय तो है ही, काल की अपेक्षा न करने वाला प्रकार (mood, mode of expression) अर्थ भी है। इनका अर्थ काल नहीं है।

क्रिया के अभिधान में कारकाश्रय अपरिवर्तित रहते हैं, जबकि काल तथा प्रकार बदल जाते हैं। अतः काल तथा प्रकार अर्थों का भेद बताने के लिये पहले **लुङ्** (3.2.110) आदि सूत्रों से 'काल' अर्थ में **लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियाऽतिपत्तौ** (3.3.139) आदि सूत्रों से 'प्रकार' अर्थ में प्रत्यय किए हैं। फिर सभी कारकाश्रयों को एक **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** (3.4.69) से कहा है।

सारांश—धातु का अभिधेयार्थ फलव्यापारोभयात्मक क्रिया है। कारक तथा काल उसके आश्रय हैं, अतः क्रिया से पृथक् हैं। अपने आश्रय के बिना क्रिया की कोई सत्ता नहीं हैं। अतः क्रिया तथा क्रिया के आश्रयों में अविनाभाव संबंध है। इसी को वैयाकरणों ने **न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः**—इन शब्दों में कहा है। काल, कारक तथा प्रकार लट् आदि प्रत्ययों का अर्थ हैं।

प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ की द्योत्यता/वाच्यता का विचार : इन दोनों भिन्नार्थक भागों में—प्रकृति तथा प्रत्यय में—समन्वय कैसे हो ? एक शब्द में एक साथ दो अभिधा व्यापार नहीं हो सकते। तब किस अंश को गौण कहा जाए और किसे प्रधान ? दूसरे शब्दों में प्रश्न यह है कि काल/प्रकार तथा कारक अर्थ लट् आदि प्रत्ययों का द्योत्यार्थ है या वाच्यार्थ ? आकर-ग्रंथों में दोनों ही पक्ष मिलते हैं[1] :

द्योत्य पक्ष : अविच्छिन्न व्यापारसंतान ही क्रिया कहलाता है। 'एक घंटा बीत गया' इत्यादि वाक्यों में काल का बोध भी भावसंतान से ही होता है। अर्थात् काल तथा क्रिया, दोनों, व्यापारसंतान ही हैं। अंतर यह है कि क्रिया किसी मूर्त पदार्थ में आश्रित चेष्टासंतान का नाम है, जबकि काल उस मूर्त पदार्थ का भी आश्रय है। अतः काल को क्रिया से अलग नहीं किया जा सकता। अतः क्रिया-संतान रूप काल लट् आदि प्रत्ययों का द्योत्य अर्थ है।

वाच्य पक्ष : धातु का वाच्यार्थ क्रिया है। क्रिया का आश्रय काल है। समान्यतया आश्रित तथा आश्रय ये दोनों एकरूप नहीं हो सकते। क्रिया का सीधा आश्रय कर्ता और कर्म होते हैं। क्रिया तथा कर्ता/कर्म में अविनाभाव संबंध है। कर्तृ/कर्म तथा काल में अविनाभाव-संबंध है। जिस प्रकार क्रिया कर्ता/कर्म से पृथक् नहीं हो सकती, पर वह केवल कर्तृ/कर्मरूप भी नहीं है, उसी प्रकार क्रिया कर्त्रादि के आश्रय

---

1. इस पर विशेष के लिए देखिए म० भा०, 1.3.1, 3.2.123, वै० भू०, लकारार्थ-प्रकरण; त० बो०, विध्यादिसूत्र; ल० म०; बृ० श० शे०, विध्यादिसूत्र।

काल से भी पृथक् नहीं हो सकती, पर कालरूप भी नहीं हो सकती। अतः काल भी क्रिया रूप नहीं बन सकता। वस्तुतः तो काल क्रिया का पारंपरिक (indirect) आश्रय है। अतः यदि काल को धातु का वाच्यार्थ मानेंगे, तो कर्ता/कर्म को भी धातु का वाच्यार्थ ही मानना होगा। तब कर्ता/कर्म को भी लट् आदि का द्योत्यार्थ तथा धातु का वाच्यार्थ ही मानना होगा। तब उत्तरवर्ती **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** सूत्र से विरोध आता है। इस सूत्र में कर्ता/कर्म/भाव को लकारों का वाच्यार्थ बतलाया गया है। **वर्तमाने लट्** आदि लकारविधायक सूत्रों में सप्तमी भी काल की वाच्यता को ही सिद्ध करती है।[1]

विमर्श : काल तथा कारक एक ही लकार के मुख्यार्थ हों, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि (क) काल तथा कारकों के लट् आदियों का ही वाच्यार्थ न होने पर **लः कर्मणि०** सूत्र, या **वर्तमाने लट्** आदि सूत्र व्यर्थ होते हैं। अतः **आनर्थक्य-प्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्** न्याय से दोनों ही लट् आदि का वाच्यार्थ हो सकते हैं। कहा भी है—**अस्ति च सम्भवो यदुभयं स्यात्।** (ख) इन दोनों में परस्पर विरोध भी नहीं है।

निष्कर्ष : इन दोनों पक्षों में वाच्यता पक्ष ही ज्यायान् प्रतीत होता है। फलतः वर्तमान आदि काल, विधि आदि प्रकार तथा कर्तृ/कर्म/कारक ये सब लट् आदियों के वाच्यार्थ हैं, द्योत्यार्थ नहीं।

प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का समन्वय : अब एक प्रश्न और उठता है कि प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय-रूप आख्यात पद—तिङन्त शब्द—में प्रकृति का अर्थ प्रधान है, कि प्रत्यय का ? अर्थात् व्यापार प्रधान है, या काल, कारक आदि ? आचार्य यास्क के अनुसार व्यापार की ही प्रधानता होती है।[2] भगवद्दुर्गाचार्य के अपरीय मत के अनुसार भी आख्यातपद में प्रकृति का, अर्थात् धातु का, अर्थ (व्यापार) प्रधान होता है तथा प्रत्ययार्थ गौण।[3] वैयाकरण-निकाय में प्रकृति-प्रत्यय-समुदायात्मक शब्द में प्रत्ययार्थ को ही औत्सर्गिक रूप से प्रधान माना जाता है।[4] किंतु आख्यात में प्रत्ययार्थ को गौण एवं

---

1. The Student's Guide to Sanskrit Composition, अनुच्छेद 91.
2. निरुक्त 1.1 : **भावप्रधानमाख्यातम्।**
3. निरुक्त 1.1 पर दुर्ग-वृत्ति : **अपरे पुनर्भाव-प्रधानमाख्यातमिति प्रकृत्यर्थ-प्रधानमिति मन्यन्ते। प्रकृत्यर्थविशेषणं हि प्रत्ययार्थादय इति।—आख्यायन्ते स्त्रीपुन्नपुंसकानि क्रियागुण-भावेन वर्तमानान्यनेन, क्रिया च तेषामुपरि प्राधान्येन वर्तमानेत्याख्यातम्।**
4. दुर्गवृत्ति 1.1 : **प्रकृतिप्रत्ययार्थौ सहार्थं ब्रूतः। तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्।**

धात्वर्थ को प्रधान माना जाता है।[1] प्रत्ययार्थ प्रकृति के अर्थ व्यापार के विशेषण हैं, इनमें भी कालाश्रय तथा विध्यादि प्रकारार्थ व्यापार का विशेषण है, कर्तृ एवं कर्म रूप कारक व्यापार तथा फल के विशेषण होते हैं। कर्तृ-कर्मगत संख्या—एकवचनादि—कर्तृ-कर्म की विशेषण है।[2]

'वर्तमान' का अर्थ : पाणिनीय व्याकरण 'अकालक' अर्थात् कालाधिकार से रहित माना जाता है।[3] इसमें कातंत्र के **'काले'** अधिकारसूत्र की तरह कोई कालाधिकारक सूत्र नहीं है। क्रिया की वर्तमानता, भूतता या भविष्यत्ता की प्रतीति काल के बिना असम्भव है। अतः पाणिनि के **भूते** (3.2.84), **वर्तमाने** (123), **भविष्यति** (3.3.3) आदि का अर्थ तत्तत् काल ही समझना चाहिए।

'वर्तमान' का अर्थ होता है 'बरतता हुआ', यानी 'गुजरता हुआ'। जब किसी क्रिया से इसका अन्वय होगा, तब शाब्दबोध होगा बरतती हुई क्रिया। इसमें क्रिया का प्रारंभ हो चुका है, पर समाप्ति नहीं हुई है, यह स्पष्ट ही है। अतः 'वर्तमान' शब्द का समुच्चितार्थ **प्रारब्धापरिसमाप्त-क्रियोपलक्षितः कालो वर्तमानः** (प्रारंभ हो चुकी किंतु समाप्त नहीं हुई क्रिया से उपलक्षित समय वर्तमान) होता है।[4]

वर्तमान के भेद : सूक्ष्मता की दृष्टि से वर्तमान के चार भेद होते हैं[5] : **(क) प्रारब्धोपरत**—'स मद्य पिबति' (वह शराब पीता/पिया करता है)। इस प्रसंग में आचार्य हेमचंद्र गणी ने 'संप्रति जीवघातं न करोति' (अब जीवहत्या नहीं करता) यह निषेध-वाक्य दिया है। यहाँ क्रिया भूत-भविष्यद्वर्तिनी नहीं है, यह तो स्पष्ट है, किंतु उपराम को 'न' इस उपराम (निषेध) के वाचक शब्द से साक्षात् कहा गया है, क्रियापद से उपराम का बोध नहीं होता। उपर्युक्त 'स मद्यं पिबति।' वाक्य में प्रारंभ तथा उपराम दोनों साक्षात् क्रियापद से ही साथ-साथ कहे जाते हैं। अर्थात् क्रिया भूत-

---

1. प०ल०म०, पृष्ठ 42 : **'आख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणमित्यस्य निराकरणमित्यवशिष्यते।'** इत्यादि ग्रंथ तथा बृ० श० शे०, विध्यादिसूत्र।
2. वै० भू०, पृष्ठ 21 : **तिङर्थस्तु विशेषणम्** (का० 2)। **तिङर्थाः कर्तृकर्मसंख्याकालाः। तत्रापि कर्तृ-कर्मणी व्यापारफलयोर्विशेषणे, संख्या त्वनयोः। कालस्तु व्यापार एव। तथैवानुभवात्।**
3. टे० ट० टे०।
4. प्र० कौ०। मा० धा० बृ० : **नेह विद्यमानत्वं वर्तमानत्वम्। किन्तर्हि ? प्रारब्धापरिसमाप्तत्वम्।**
5. **प्रवृत्तोपरतश्चैव, वृत्ताविरत एव च।**
   नित्य-प्रकृतः, सामीप्ये वर्तमानश्चतुर्विधः॥ है० म०, पृष्ठ 477.

2152 लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य (3.4.69)—लकाराः (1)

लकारों के अर्थ

2152 लकार (1) सकर्मकों से (क) कर्म अर्थ में और (ख) कर्ता अर्थ में

भविष्यद्वर्तिनी भी नहीं है तथा पीने की क्रिया इस समय चालू है, यह अगले (ख) भेद का बोध भी नहीं होता। **(ख) प्रारब्धानुपरत**—'कुमाराः क्रीडन्ति' (बच्चे खेल रहे हैं)। प्रारब्धापरिसमाप्तत्व प्रधान रूप से इसी भेद में स्पष्ट है। **(ग) नित्य प्रारब्ध** — 'नद्यो वहन्ति' (नदियाँ बहती हैं), 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' (एक देव वृक्ष की तरह स्तब्ध खड़ा है)। **(घ) आतिदेशिक वर्तमान**—(1) **भूत-समीपवर्ती वर्तमान**— 'रमेश, कदाऽऽगतोऽसि (रमेश, कब आए हो) ? 'अयमागच्छामि' (यह आ ही रहा हूँ, अभी-अभी आया हूँ)। (2) **भविष्यत्समीपवर्ती वर्तमान**—'कदा गमिष्यसि' (कब जाओगे) ? 'एष गच्छामि' (ये जा ही रहा हूँ)।

अँग्रेज़ी पद्धति के साथ तुलना : पाश्चात्त्य रीति के अनुसार लट् साधारण वर्तमान (simple present) तथा जारी वर्तमान (present continuous) के लिए आ सकता है। पूर्ण वर्तमान (present perfect) तथा पूर्ण जारी वर्तमान (present perfect continuous) के लिए लङ् और लुङ् का प्रयोग करना चाहिए। वस्तुतः तो संस्कृत में काल के अवांतर भेदों को प्रकरणादि की सहायता से ही समझा जा सकता है, क्योंकि काल के अवांतर भेदों के होते हुए भी अँग्रेज़ी आदि की तरह रूप पृथक् नही बनते।

बहुत से लोग जारी काल (continuous) का अर्थ स्पष्ट करने के लिए क्रियापद के साथ शतृ/शानच् प्रत्यय वाले शब्द का प्रयोग विधेय के रूप में किया करते हैं : वह खा रहा है/था—स खादन् अस्ति/आसीत्। परंतु **लटः शतृ-शानचावप्रथमा-समानाधिकरणे** (3.2.124) के पर्युदास-वाक्य (**अप्रथमा-समानाधिकरणे**) से विरोध के कारण ऐसे प्रयोग शास्त्र-संमत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में तथा अँग्रेज़ी के used to के प्रयोग के स्थलों में संस्कृत में स्म के साथ लट् का प्रयोग उचित है : स खादति स्म[1] (वह खाया करता) ॥ 4 ॥

संदर्भ : पिछले **वर्तमाने लट्** (3.2.123) सूत्र से बताया गया है कि लट् वर्तमान अर्थ में होता है। अर्थात् भाव-प्रधान प्रकृति में अन्य कोई क्रिया का अंगभूत तत्त्व नहीं होता। क्रिया के अंग हैं : काल एवं कारक (कर्त्ता और कर्म)। ये सब प्रकृति-

---

1. विशेषार्थ द्र० पं श्रीचारुदेव शास्त्री, अनुवाद-कला, पृष्ठ 27.

सकर्मकेभ्यः (क) कर्मणि, (ख) कर्तरि च स्युः ; (2) अकर्मकेभ्यो (क) भावे, (ख) कर्तरि च ॥ 5 ॥

हों; (2) अकर्मकों से (क) भाव अर्थ में और कर्ता अर्थ में हों ॥ 5 ॥

प्रतिपाद्य न होकर प्रत्यय-प्रतिपाद्य हैं। इन सब में भी काल सब का आधार होने से **वर्तमाने लट्** से बतला दिया है। लट् आदि में ल् प्रत्यय काल का द्योतक या वाचक माना जाता है। जब कर्तृ, कर्म और भाव किन का अर्थ होते हैं, क्रिया-पद में इनका क्या स्थान है, यह प्रस्तुत सूत्र से बताते हैं।

सूत्रार्थ : यहाँ **धातोः** (3.1.91) का अधिकार हैं। 'लः' पद लट्, लिट् आदि प्रत्ययों के शेष-भूत 'ल्' शब्द का प्रथमा-बहुवचनांत रूप है।[1] अतः लः का अर्थ है लट् आदि दसों प्रत्यय। सूत्रगत दो चकारों से 'कर्मणि' तथा 'भावे' पदों के समकक्ष 'कर्तरि' पद का अनुकर्षण **कर्तरि कृत्** (3.4.67) सूत्र से होता है। कर्म अर्थ में प्रत्यय केवल सकर्मक धातु से ही संभव हैं। अतः 'कर्मणि' कहने से ही 'धातोः' का विशेषण 'सकर्मकात्' पद स्वतः अर्थतः उपस्थित हो जाता है। आगे 'अकर्मकेभ्यः' में बहुवचन होने से अनुवर्तमान 'धातोः' तथा अर्थतः उपस्थित 'सकर्मकात्' पद बहुवचनांत में

---

1. दीक्षितजी ने का० तथा प्र० कौ० के आधार पर बहुवचन माना प्रतीत होता है। वस्तुतः एकवचन ही उचित है : (क) **लस्य** (3.4.77), **लः परस्मैपदम्** (1.4.99) आदि में सूत्रकार ने एकवचनांत पद ही दिया है। (ख) भगवान् भाष्यकार ने भी एकवचनांत ही माना है—**ल एतेषु साधनेषु यथा स्यात्।...एतावांश्च लकारो, यदुत परस्मैपदमात्मनेपदं च। स चायमेवं विहितः।...सकर्मकाणां भावे लो मा भूदिति।** (ग) आचार्य कैयट ने इस सूत्र पर तो सर्वत्र एकवचनांत ही माना है, परंतु **विधिनिमन्त्रणा०** (3.3.161) पर **विध्यादिभिर्विरोधाभावात् 'लः कर्मणि चेत्यत्र' बहुवचन-निर्देशात्** कहा है। (घ) नागोजि भट्ट के मत में भी प्र० ए० व० ही है। ल० श० शे०, पृष्ठ 422 तथा उद्योत, 3.3.161, 3.4.69.

'लः' की विभक्ति के बारे में कैयट ने दो मत दिये हैं—**'केचिल्ल इति प्रथमां व्याचक्षते, अपरे षष्ठीम्—'लस्य य आदेश'** इति। इन में प्रथमापरक मत ही सर्वाचार्य-संमत तथा न्याय्य प्रतीत होता है। क्योंकि षष्ठ्यंत मानने पर षष्ठी का अन्वय समीपस्थ सूत्र **'कर्तरि कृत्'** (67) के 'कृत्' पद से होता। तब ल् के आदेशभूत कृत् अर्थात् शतृ, शानच्, कानच् और क्वसु के विषय में ही यह सूत्र लागू होता।

परिणत हो जाते हैं : **लः** (लडादयः प्रत्ययाः) **सकर्मकेभ्यः धातुभ्यः कर्मणि कर्तरि च** (स्युः), **अकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च** (स्युः) =लट् आदि प्रत्यय सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता अर्थ में तथा अकर्मक धातुओं से भाव एवं कर्ता अर्थ में हों।

आश्रय कारक के भेद से क्रियाओं के दो भेद : पहले कहा गया है कि फल और व्यापार के वाचक शब्द को धातु कहते हैं। फल और व्यापार दोनों ही किसी आश्रय के बिना नहीं टिक सकते। जैसे—पकाना क्रिया में पकाने का फल विक्लेदन (गलाव) तथा उसका साधक व्यापार (वह कार्य जिससे गलाव की स्थिति निष्पन्न होती है) किसी पदार्थ की अपेक्षा करते हैं : पकने को, गलने को, यदि कोई पदार्थ होगा ही नहीं, तो पकना क्रिया सम्भव ही नहीं होगी; इसी प्रकार व्यापार को भी किसी पदार्थ की अपेक्षा होती है। फल का आश्रय इस शास्त्र में 'कर्म' एवं व्यापार का आश्रय 'कर्ता' कहलाता है।[1] जाने (√गम्) का फल है 'पहुँचना' तथा व्यापार है 'चलना'। 'जाना' क्रिया की सिद्धि के लिए पहुँचने को कोई ग्रामादि पदार्थ, एवं चलने वाला कोई पुरुष अपेक्षित होता है। अतः क्रिया-पद अपने आश्रय कारक के भेद से दो प्रकार का होता है :

(1) **सकर्मक**—कुछ क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें अपने फल के आश्रय के लिए किसी बाह्य आश्रय की अपेक्षा होती है, उसके बिना वाक्य साकांक्ष (अधूरा) है और पूरी तरह अर्थ-बोध नहीं करा पाता। ऐसी क्रियाएँ कर्म-सापेक्ष होने से, प्रयोग में कर्म सहित ही प्रयुक्त होने से, सकर्मक कहलातीं हैं।

(2) **अकर्मक**—कुछ क्रियाओं को पृथक् से फलाश्रय की अपेक्षा नहीं होती। उनके फल तथा व्यापार, दोनों, एक आश्रय में ही आश्रित होते हैं। जैसे—'पकना' क्रिया में पकने का फल विक्लेदन एवम् उसके अनुकूल व्यापार व्यधिकरण (अलग-अलग पदार्थों में स्थित) नहीं हो सकते। इस प्रकार की क्रियाएँ कर्म की अपेक्षा न रखने के कारण अकर्मक कहलातीं हैं। इसके विपरीत 'पकाना' क्रिया में क्रिया का फल विक्लेदन पदार्थ-निष्ठ है, एवं व्यापार पक्तृनिष्ठ। अतः कर्म-सापेक्ष होने के कारण यह क्रिया सकर्मक है।

सकर्मकता, अकर्मकता की विभिन्न व्याख्याएं : (अ) जिन क्रियाओं में कर्मगत एवं कर्तृगत दो व्यापार होते हैं, उनके वाचक धातु सकर्मक कहलाते हैं। जैसे—'पकाना' क्रिया में 'गलना' व्यापार कर्म-गत है एवं चूल्हे पर चढ़ाना आदि पचनानुकूल व्यापार कर्तृ-गत। अतः 'पकाना' (√पच्) क्रिया सकर्मक है। जिन क्रियाओं का व्यापार केवल कर्तृस्थ होता है, वे धातु अकर्मक होती हैं। जैसे—

---

1. वै० भू० सा०, तिङर्थनिर्णय, पृष्ठ 14 : **फलाश्रयः कर्म, व्यापाराश्रयः कर्ता।**

'पकना' में व्यापार पकने वाले पदार्थ में ही स्थित होता है। इसी प्रकार 'सोना', 'होना' आदि में।[1]

(आ) भट्ट शेषांकधर के मत को उद्धृत करते हुए आचार्य क्षीरस्वामी ने कहा है कि धातु का अर्थ दो प्रकार का होता है—भाव और क्रिया।[2] स्पंदन (हिलना-डुलना) वाले साधन (करण) से सिद्ध होने वाली साध्यावस्था 'क्रिया' होती है एवं स्पंदनरहित साधन से सिद्ध होने वाली साध्यावस्था 'भाव' होती है। भावार्थक धातु अकर्मक और क्रियार्थक धातु सकर्मक होती है।[3]

(इ) कर्म दो प्रकार का होता है—बहिरंग और अंतरंग। बाह्य कर्मों की अपेक्षा जिन धातुओं को है, वे सकर्मक होती हैं, तथा अंतरग कर्म की अपेक्षा रखने वाली धातु अकर्मक। अंतरंग कर्म (क्रियाविशेषण) सकर्मक तथा अकर्मक दोनों ही प्रकार की धातुओं में अपेक्षित हो सकता है।[4] जैसे—शोभनं गच्छति (अच्छी तरह जाता है), घटः शोभनं भवति (घड़ा अच्छी तरह बन रहा है)।

(ई) सकर्मकाकर्मकत्व के विवेक के लिए एक कारिका भी प्रसिद्ध है—

वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणं लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणम्।
शयन-क्रीडा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातु-गणं तमकर्मकमाहुः॥[5]

—(1) बढ़ना, (2) ह्रास होना, (3) डरना, (4) जीना, (5) मरना, (6) लजाना, (7) होना, (8) बैठना, टिकना, (9) जागना, (10) सोना, (11) खेलना, (12) भाना, (13) दमकना, (14) चमकना अर्थों वाली धातुओं के समूह को अकर्मक कहते हैं। अर्थात् इनसे भिन्न प्रकार के अर्थ वाली धातु सकर्मक होती हैं।

---

1. प्र० प्र०, उत्तरार्ध : **अथवा ये कर्म-कर्तृगतं व्यापार-द्वयमाचक्षते, ते सकर्मकाः। यथा—पचत्यादयः। यथा—ओदनादि-गतं विक्लेदादि, कर्तृ-गतमधिश्रयणादि। ये तु कर्तृ-गतमेव, तेऽकर्मकाः। यथा—'आस्ते', 'शेते' इत्यादयः।**
2. क्षी० त०, पृष्ठ 7; कातंत्र 3.19 : **क्रिया-भावो धातुः।** और म० भा० 1.3.1 : **क्रिया-वचनो धातुः। ···भाव-वचनो धातुः।**
3. क्षी० त० पृष्ठ 7 : **अपरिस्पन्दमान-साधन-साध्यो भावः। सपरिस्पन्दमान-साधन-साध्या क्रिया। अतो भावार्थो धातुरकर्मकः। क्रियाऽर्थो धातुः सकर्मकः।**
4. क्षी० त०, पृष्ठ 6 : **क्रिया हि सर्व-धातूनामन्तरङ्गं कर्म।** इस पर श्री यु० मी० की पा० टि० 6.
5. कुछ लोग इस कारिका को **लज्जा-सत्ता०** से प्रारब्ध मानते हैं। परंतु (1) मंगलार्थक 'वृद्धि' शब्द आदि में होने से तथा (2) आकरग्रंथों में इसी प्रकार का पाठ उपलब्ध होने से **'वृद्धि-क्षय०'** आदि में दिया है।

सकर्मकता और अकर्मकता में परस्पर परिवर्तन : निम्नोक्त परिस्थितियों में (1) सकर्मक धातु भी अकर्मक धातु हो जाती हैं, तथा (2) अकर्मक भी सकर्मक हो जाती हैं :

(1-क) उपदिष्ट (धातु-पाठोक्त) अर्थ से भिन्न कर्म-निरपेक्ष अर्थ में प्रयुक्त होने से। जैसे—√वह् (भ्वा०) धातु-पाठोक्त 'प्रापण' अर्थात् ढोना, पहुँचाना अर्थ में सकर्मक है, परंतु 'नदी वहति' आदि वाक्यों में 'बहना' अर्थ में अकर्मक हो जाती है। (ख) धात्वर्थ में कर्म का अंतर्भाव होने से। जैसे √जीव्, √नृत् धातुओं के अर्थ-निर्देश—क्रमशः प्राण-धारण और गात्र-विक्षेप—में ही 'प्राण' और 'गात्र' कर्मों का समाहार हो गया है। अतः सामान्यतः सकर्मक-सी प्रतीत होने पर भी ये धातु अकर्मक ही हैं। (ग) कर्म के प्रसिद्ध होने के कारण। जैसे—√वृष् 'सेचन' अर्थ में उपदिष्ट है। सेचन के लिए कोई कर्म अपेक्षित होता है, अतः यह सकर्मक है। परन्तु 'देवो वर्षति' जैसे स्थलों में 'जल' कर्म को कहना प्रसिद्ध होने के कारण आवश्यक नहीं है। अतः यहाँ यह अकर्मक है। किंतु 'पार्थः शरान् वर्षति' (अर्जुन बाण बरसा रहा है) या 'कृषाणः खलेऽन्नं वर्षति' (किसान खलिहान में अनाज बरसाता है) आदि स्थलों में यह सकर्मक ही रहेगी। (घ) कर्म की अविवक्षा से, जैसे—√गम् को गंतव्य अपेक्षित होने से यह सकर्मक है। परंतु वक्ता यदि उसे नहीं कहना चाहता, तो यह अकर्मक ही रहती है।[1]

(2) इसी प्रकार कभी-कभी अकर्मक धातु भी सकर्मक हो जाती है। जैसे—**भू सत्तायाम्** (1·1) उपदेश में अर्थतः अकर्मक है, पर उपसर्गवलात् 'अनु-भवति', 'परा-भवति', 'परि-भवति' आदि स्थलों में अर्थांतर में प्रयुक्त होने से सकर्मक हो जाती है।[2]

सारांश—क्रिया-वाचक शब्द दो प्रकार के हैं : (क) कर्मसापेक्ष, अर्थात् सकर्मक तथा (ख) कर्मनिरपेक्ष अर्थात् अकर्मक। क्रिया को कर्म के अतिरिक्त एक पदार्थ कर्ता की भी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त भी एक स्थिति होती है, जब व्यापार को न तो कर्म-गतत्वेन कहना अपेक्षित होता है और न कर्तृ-गत्वेन ही।

---

1. **धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।**
   प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥ वा० प० 3.7.87.
   मुग्धबोध के टीकाकार राम तर्कवागीश के अनुसार यह श्लोक भागुरि-प्रोक्त है। युधिष्ठिर मीमांसक, क्षीतरङ्गिणी, पृष्ठ 5, पा० टि० 4.
2. **उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।**
   प्रहाराहार-संहार-परिहार-विहारवत्॥

यह स्थिति तब होती है, जब क्रिया में सब प्रकार के विशेषणों —कर्तृ/कर्म से रहित विशुद्ध भाव—व्यापार—की ही प्रधानता होती है। ये सब अर्थ किस प्रकार प्रकट किए जाएँ, इसके लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र बनाया है।

दोनों सूत्रों का निष्कर्ष : लट् आदि प्रत्ययों का अर्थ न केवल काल होता है, अपितु कारक (कर्म, कर्ता) तथा भाव भी होता है। कर्म, कर्ता और भाव अर्थ में लट् आदि का विधान करने का आशय यह है कि धातु के अर्थ में व्यापार मुख्य रूप से तत्तद्गतत्वेन प्रतीत होगा : कर्म में यदि प्रत्यय हुआ है, तो वाक्य में क्रियापद की विभक्ति एवं वचन कर्मपद के तुल्य होंगे; यदि कर्ता में हुआ है, तो कर्तृपद के तुल्य होंगे, और यदि भाव में हुआ है, तब (1) लिंग और संख्या वाले द्रव्य से भाव का नितांत भेद होने के कारण तथा (2) व्यवहारनिष्पत्ति के लिए विभक्ति वचनों के अपरिहार्य होने के कारण औत्सर्गिक विभक्ति-वचन (अर्थात् प्रथम पुरुष और एक-वचन) ही होंगे।

इस सूत्र की उपयोगिता पर विचार : तत्त्व-बोधिनी में ज्ञानेन्द्र सरस्वती का कथन है—

(क) **पूर्वपक्ष—भावकर्मणोः** (1.3.13) से भाव और कर्म में आत्मनेपद का और **शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** (1.3.78) से कर्ता में परस्मैपद का विधान करने से ही सिद्ध हो जाता है कि लट् आदि प्रत्यय भाव, कर्म और कर्ता में होते हैं। तब यह सूत्र अनावश्यक है। **उत्तरपक्ष**—यदि यह सूत्र न हो, तो सकर्मक धातुओं से भी घञ् आदि प्रत्ययों की तरह भाव में लकार होने लगेंगे और 'घटं क्रियते देवदत्तेन' इत्यादि अनिष्ट प्रयोग होने लगेंगे। अतः प्रस्तुत सूत्र आवश्यक है।

(ख) **पू० प०**—'भाव में अकर्मक धातुओं से ही लडादि हों', नियम करने को **'अकर्मकेभ्यो भावे लः'** सूत्र बना दिया जाए। **उ० प०**—यह उचित नहीं है, क्योंकि (1) इससे 'अकर्मकों से भाव में ही ल् हों', यह विपरीत नियम भी निकल सकता है; (2) कर्ता में लकारबाध नहीं होगा, इसमें भी क्या प्रमाण ?

(ग) **पू० प०**—नियम को जाने दें, **'भावे चाकर्मकेभ्यः'** सूत्र रहे। **उ० प०**—इस पर भी हमें आपत्ति है। क्योंकि इससे तो और भी बड़ा नियम बनेगा कि भाव के समान कर्ता में भी अकर्मकों से ही ल् हो। तब सकर्मकों से कर्ता में भी ल् नहीं प्राप्त होंगे।

(घ) **पू० प०**—**'लश्च भावे चाकर्मकेभ्यः'** सूत्र बना कर दो चकारों से पृथक्-पृथक् 'कर्तरि' का अनुकर्षण करके 'ल् प्रत्यय सकर्मकों से कर्ता में तथा अकर्मकों से भाव एवं कर्ता में हो', यह अर्थ करके भाव-प्रधान अकर्मकों से यदि भाव में प्रत्यय होगा, तो सकर्मकों से कर्म में स्वतः ही प्राप्त होगा। **उ० प०**—उपर्युक्त प्रकार से सूत्र

2153 लस्य (3.4.77)—अधिकारोऽयम् । 2154 तिप्-तस्-झि-सिप्-

लकार के आदेश प्रत्यय

2153 ल् के स्थान में—यह अधिकार है । 2154 तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्,

---

बनने पर अगले **'तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः'** में 'तयोरेव' से 'भावे' तथा 'कर्तरि' का ही ग्रहण होगा । जबकि अपेक्षित है 'भावे' और 'कर्मणि' का ग्रहण । अतः उत्तरसूत्र की दृष्टि से **'लः कर्मणि च, भावे चाकर्मकेभ्यः'** यह विन्यास ही निर्दोष है ॥ 5 ॥

2153 **लस्य**, 2155 **लः**—यहाँ 'लस्य' में 'अ' उच्चारणार्थक है, किन्तु **लः कर्मणि च०** और **लः परस्मैपदम्** में 'अ' से रहित 'ल्' ही प्रयुक्त है ।

धातोः का अधिकार होने के कारण 'धातु के पश्चात् तथा धातु से विहित ल् के स्थान में' अर्थ होता है । फलतः अन्य शब्दों का व्यावर्तन हो जाता है ।

2154 **तिप्-तस्-झि०**—धातु से विहित ल् के स्थान में तिप् आदि अठारह प्रत्यय होते हैं । किसी के स्थान में होने से ये 'आदेश' कहलाते हैं । दसों ल् प्रत्ययों के कर्तृ/कर्म/भाव अर्थ तो सबके समान ही होते हैं, किंतु वर्तमान आदि काल तथा विध्यादि प्रकार अर्थ प्रत्येक के भिन्न-भिन्न होते हैं । अतः जिस प्रकार के ल् के स्थान में तिङ् होंगे, उनका अर्थ उसी (स्थानी ल् की) तरह का होगा । **तिप्-तस्-झि०** सूत्र में दो प्रत्याहार बनते हैं : (1) तिङ्—तिप् से लेकर महिङ् तक अठारहों प्रत्यय तिङ् प्रत्याहार में आते हैं और (2) तङ्—त से महिङ् तक नौ प्रत्यय तङ् प्रत्याहार में आते हैं ।

'इट्' आगम नहीं है : इट् आदेश में ट् अंत्य हल् होने से (**हलन्त्यम्** से), टित् प्रत्यय **आद्यन्तौ टकितौ** (1.1.46) से स्थानी का आद्यवयव आगम बनता है । किंतु इट् ऐसा नहीं है : (1) तिबादि सत्रह आदेशों के साहचर्य से यह आदेश ही रहेगा, आगम नहीं । (2) सूत्रकार ने **इटोऽत्** (3.4.106) में टकार-समेत ही दिया भी है ।[1]

महिङ् का ङित्त्व गुण-निषेधादि-प्रयोजनक नहीं है : ङ् की इत्संज्ञा का प्रयोजन **क्ङिति च** (1.1.5) आदि से गुण-वृद्धि-निषेध आदि है । किंतु यहाँ महिङ् का ङ् तिङ् और तङ् प्रत्याहारों के द्वारा चरितार्थ होता है । अतः यह समुदायानुबंध है, अवयवानुबंध नहीं । इस लिए इस के निमित्त गुण-वृद्धि का निषेध और संप्रसारण कार्य नहीं होंगे ।

---

1. विशेष के लिए तत्त्वबोधिनी ।

थस्-थ-मिब्-वस्-मस्-ताताञ्-झ-थासाथान्-ध्वमिड्-वहि-महिङ् (3.4.78)—एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः। 2155 लः परस्मैदम् (1.4.99)—लादेशाः परस्मै-

थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्—ये अठारह ल् के स्थान में हों। 2155 ल् के स्थान पर होने वाले 'परस्मैपद' संज्ञा वाले हों।

'तिप्तस्झि०' सूत्र में संधि : इस सूत्र में सूत्रकार ने 'मिब्वस्'[1], 'ताताञ्झ', 'आथान्ध्वम्', 'इड्वहि' में तो संधि की है, किंतु 'तस्झि', 'थासाथा०' में नहीं की। इसका हेतु प्रत्ययों को अपने स्वरूप से दिखलाना ही हो सकता है। अन्यथा **तस्झि** के स्थान पर **तोझि** करने पर प्रत्यय 'तस्' है, या 'तो' है, इस संदेह को व्याख्या करके दूर करना पड़ता, जिससे ज्ञानादि-गौरव होता।

'तिप्तस्झि० महिङ्' एक-पद है या अनेक-पद ? : वासुदेवदीक्षित ने इस सूत्र को समाहार-द्वंद्व, एकवचनांत माना है। परंतु नागोजि भट्ट के मत में यहाँ सब पद अविभक्तिक ही प्रयुक्त हुए हैं।[2] यदि यह समस्त एक-पद होता, तो यहाँ समास में अवश्यंभावी[3] संधिकार्य **तस्झि** और **थासाथाम्** में भी किया गया होता। एक ही सूत्र में कहीं संधि और कहीं संधि का अभाव शब्द-स्वरूप निर्देशक अविभक्तिक प्रयोग में उचित है; **तस्** और **झि** के निर्देश में यदि संधि **(तोझि)** कर देते, तो यह शब्द 'तस्' है, या 'तो', यह संदेह होता, जिसके निवारण के लिए व्याख्यान का आश्रय लेना पड़ता। जहाँ संधि की है, वहाँ इस प्रकार का कोई संदेह नहीं उपस्थित होता। इसके अलावा इस प्रकार के अविभक्तिक प्रयोग अष्टाध्यायी में प्रचुर मात्रा में हैं[4] तथा एक व्यवहार-भाषा (जीवित-भाषा) में स्वाभाविक भी हैं।

2155 लः परस्मैपदम्—यहाँ 'लः' पद षष्ठ्येकवचनांत है। यहाँ षष्ठी का कोई विशेषण उपस्थित नहीं है; अतः यह स्थाने-योगा षष्ठी है। इसलिए 'लः' का अर्थ है 'ल् के स्थान में'। लकार चूँकि **धातोः** (3.1.91) के अधिकार में विहित हैं,

---

1. ल० श० शे०, पृष्ठ 423, पर भैरवमिश्र के **'मिबित्यत्र जश्त्वं नेत्यपि बोध्यम्'**। कथन से विदित होता है कि उनकी गुरु-परंपरा में **'मिप्वस्** (जश्त्व-संधिरहित) पाठ ही था; संधि-युक्त नहीं।
2. ल० श० शे०, पृष्ठ 423 : (1) **सौत्रत्वात्**, (2) **निर्विभक्तिकानुकरणत्वाद् वा 'थासाथान्', 'तस्झि' इत्यादौ रुत्वं न।**
3. **संहितैक-पदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः।**
   नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥
4. डॉ० रामेश्वर दत्त शर्मा, पाणिनेरपाणिनीयाः प्रयोगाः, निबन्धसंग्रह, मार्च 1979, भाषाविभाग, हरियाणा।

पदसञ्ज्ञाः स्युः । 2156 तङानावात्मनेपदम् (1.4.100)—तङ् प्रत्याहारः= 2156 'तङ्' प्रत्याहार है—'त' आदि नौ (प्रत्ययों) का समुदाय, और शानच् तथा

इसलिए 'लः' कहने से ही 'धातोः' पद अर्थतः स्वयं उपस्थित हो जाएगा। अतः सूत्रार्थ है : **धातोर्लः स्थाने परस्मैपदम्** (धातु के पश्चात् तथा धातु से विहित ल् के स्थान में परस्मैपद होता है)। ल् के स्थान में **तिप्तस्झि०** सूत्र से तिङ् होते हैं, अतः 'तिङ् प्रत्यय परस्मैपद कहलाते हैं', यह इस सूत्र का निष्कृष्ट अर्थ है।

यह उत्सर्ग-सूत्र है। आगे इसका अपवाद दिया है :

2156 **तङानावात्मनेपदम्**—यहाँ पिछले सूत्र से 'लः' की अनुवृत्ति आती हैं, जिससे यहाँ भी **धातोः** पद अर्थतः आ जाता है : **धातोर्लः तङ्, आनौ आत्मनेपदम्** (धातु से विहित तङ् और दो आन आत्मनेपद कहलाते हैं)। 'तङ् प्रत्ययाहार में त से लेकर महिङ् तक के नौ प्रत्यय आते हैं', यह पीछे बताया जा चुका है। ल् के स्थान में तिङों के **लटः शतृ-शानचावः** (3.2.124) से शतृ और शानच् तथा **लिटः कानज्वा, क्वसुश्च** (3.2.106-7) से कानच् और क्वसु भी आदिष्ट हैं। इनमें से शतृ और क्वसु तो ऊपर बताए औत्सर्गिक नियम से परस्मैपद कहलाते हैं, शानच् और कानच् अनुबंध-लोप होने पर 'आन' रूप में बच रहते हैं। नौ तङ् तथा इन दोनों आन, कुल ग्यारह, प्रत्ययों की औत्सर्गिक परस्मैपद संज्ञा को बाँध कर आत्मनेपद संज्ञा प्रकृत सूत्र से होती हैं। 'तङानौ' में तङ् प्रथमा, ए० व०, का और आनौ प्रथमा, द्वि० व०, का रूप है। पारिशेष्यात् परस्मैपद संज्ञा तिप् से लेकर मस् तक के नौ और शतृ तथा क्वसु, इन ग्यारह प्रत्ययों की होती है।

परस्मैपद और आत्मनेपद संज्ञाएँ प्राचीन हैं : व्याकरण शास्त्र का ही महत्त्व-पूर्ण प्रयोजन लाघव है, पर संज्ञाएँ तो बनाई ही लाघव के लिए जाती हैं। संज्ञाओं का लाघव पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस हद तक मिलता है कि प्राचीन काल में जहाँ संज्ञाएँ अन्वर्थक रखीं जातीं थीं और इस कारण उनमें लाघव बहुत नहीं रह पाता था, वहाँ पाणिनि ने स्वैच्छिक किंतु अत्यधिक संक्षिप्त टि, घु, भ आदि संज्ञाएँ निर्मित कीं। कुछ अन्वर्थक प्राचीन बृहत् संज्ञाओं को उन्होंने उनकी अत्यधिक प्रसिद्धि के कारण अपने ग्रंथ में अवश्य रख लिया था। 'परस्मैपद' और 'आत्मनेपद इसी प्रकार की संज्ञाएँ प्रतीत होती हैं।

भारोपीय भाषाओं में परस्मैपद और आत्मनेपद : तिङों का परस्मैपद, आत्मने-पद में भेद केवल संस्कृत में ही नहीं है, अपितु अन्य प्राचीन भारोपीय भाषाओं में भी उपलब्ध होता है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने इन्हें क्रमशः active और middle नाम दिया है। इन संज्ञाओं की अपेक्षा संस्कृत संज्ञाएँ अधिक सार्थक एवं स्पष्ट हैं। कातंत्र व्याकरण के टीकाकार सुषेण के अनुसार संस्कृत संज्ञाओं का शब्दार्थ होता है : 'दूसरे

तादिनवकं, शानच्-कानचौ चैतत्संज्ञानि[1] स्युः । पूर्व-संज्ञाऽपवादः ॥ 6 ॥

कानच् इस (आत्मनेपद) संज्ञा वाले हों । (यह संज्ञा) पिछली संज्ञा (परस्मैपद) की बाधक (है) ॥ 6 ॥

के लिए पद' और 'अपने लिए पद' ।[2] अकेले प्रत्यय को पद कभी नहीं कहा गया है । सुबंत और तिङंत शब्द ही पद कहे जाते रहे हैं । अतः संभवतः पदशब्दांत ये संज्ञाएँ तिसंत (तिप् में मस् तक) और तङंत शब्दों के लिए प्रयुक्त होतीं रही हों, फिर प्रत्ययों में रूढ हो गई हों । तिङंत शब्द में क्रिया प्रधान होती है, यह कहा जा चुका है । जब क्रिया कर्ता से अन्य के लिए होती है, तब परस्मैपद और जब स्वयं कर्ता के लिए ही, तब आत्मनेपद होना चाहिए । प्राचीन भारोपीय भाषाओं में प्रयोग में यह अर्थभेद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है : खेलना, पाना, व्याप्त करना, स्वामी होना, मरना, उड़ना आदि कुछ क्रियाएँ ऐसी होतीं हैं, जो अपने लिए ही होती हैं । फलतः उनकी वाचक √रम्, √लभ्, √अश्, √ईश्, √मृ, √डी आदि धातुओं में आत्मनेपद ही होता है, परस्मैपद नहीं । यह उचित भी है । करना, यजन, सवन, बेंचना, चुनना आदि क्रियाएँ अपने और दूसरे के लिए भी हो सकतीं हैं । अतः ये उभय-पदी हैं । गीता में तो केवल परस्मैपदित्वेन उपदिष्ट √हन् को भी अर्थ के बल पर आत्मनेपद में प्रयुक्त किया गया है : **असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि** (16.18)—अपर शत्रुओं को मैं (अपने लिए) मारूँगा अर्थात् 'उनके मारने से प्राप्त श्री का उपभोग स्वयं करूँगा', यह वक्ता का तात्पर्य है ।

लैटिन भाषा के व्याकरणों में कुछ धातु Deponent Verbs कहलातीं हैं । इनमें कर्तृ-वाच्य में नित्य आत्मनेपद प्रत्यय लगते हैं[3], जैसे—Utor (संस्कृत उद्यते ?, मैं

---

1. यह पाठ मोतीलाल बनारसीदास-संस्करण के अनुसार है । निर्णय-सागरादि संस्करणों में '**तङ् प्रत्याहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः ।**' पाठ है । बा० म० में **तादि-नवकं** को **तदाह** कह कर दीक्षितोक्ति के रूप में उद्धृत किया गया है तथा नपुंसक-घटित **एतत्संज्ञकानि** को भी उद्धृत करके उस की उसी प्रकार व्याख्या की है । अतः यथाधृत पाठ प्रामाणिक है ।

2. **परस्मै पद्यते यस्मात्तत्परस्मैपदं स्मृतम् ।**
   आत्मने पद्यते यस्मात्तदेवात्रात्मनेपदम् ॥ का० व्या 3.1.79.

3. सामान्यतया लैटिन में आत्मनेपद कर्म-वाच्य में ही होता है, पर कुछ धातुओं में कर्तृ-वाच्य में भी उपलब्ध होता है । इन कतिपय धातुओं से कर्म-वाच्य का लोप हो गया है तथा ये कर्तृ-वाच्य में आत्मनेपद समेत ही प्रयुक्त होने लगीं, यह

अपने लिए उपयोग करता हूँ), Fruor (सं० प्रीये, मैं अपने लिए प्रसन्न होता हूँ), Proficisor (सं० प्रपद्ये, मैं स्वयम् आगे बढ़ता हूँ)। इनके अतिरिक्त Morior (सं० म्रिये, मरता हूँ), Queror (शिकायत करता हूँ), Patior (सं० विपद्ये, दुःखी होता हूँ), Potior (सं० पत्ये[1], पति होता हूँ), Miror (आश्चर्य करता हूँ) इत्यादि क्रिया-पदों में भी कर्तृ-वाच्य में ही नित्य आत्मनेपद होता है।

ग्रीक भाषा के प्राचीन ग्रंथों में तो ये दोनों पद मिलते हैं, परवर्ती काल में भी क्रिया की स्वार्थता और परार्थता को स्पष्ट रूप से सूचित किया जाता रहा है।[2] अवेस्ता में भी आत्मनेपद और परस्मैपद का अंतर न केवल बहुत स्पष्ट है, अपितु अवेस्ता के छंदो-बद्ध भाग में, अर्थात् गाथा और यश्त भागों में, तो इसे बहुत सावधानी से निवाहा गया है।[3]

संस्कृत की ही तरह सभी प्राचीन भारोपीय भाषाओं में भाव और कर्म-वाच्य में नित्य आत्मनेपद ही होता है।[4]

तङ् प्रत्ययों को **आद्युदात्तश्च** (3.1.3) से उदात्तवान् करने का प्रयोजन भी उनकी आत्म-परकता पर बल देना ही प्रतीत होता है ॥ 6 ॥

गलती से समझकर इन्हें deponent (जिनका कुछ छूट गया है) नाम दिया गया है। जेम्स मरे, ए न्यू इंग्लिश डिक्स्नरी तथा जॉर्ज एम० लेन, ए लैटिन ग्रामर, अनुच्छेद 725, 798 और पृष्ठ 1486.

1. वैदिक साहित्य में आत्मनेपदी √पत् इस अर्थ में बहुधा प्रयुक्त है। उपलक्षणार्थ—**स हि विश्वानि पार्थिवाँ एको वसूनि पत्यते** (ऋ० 6.45.20)। यह (पत्यते) निघण्टु (2.21.2) में ऐश्वर्यार्थक आख्यातों में संकलित भी है। नि० पाँ० अ०, पृष्ठ 341.

2. Pharr, होमरिक ग्रीक, अनुच्छेद 1067-8.

3. I.J.S. Taraporewala, Parasmaipada and Ātmanepada, Jha Commemoration Volume, p. 411.

4. पुराणेतिहास-साहित्य के कुछ प्रयोगों में भाव और कर्म अर्थों में भी आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद उपलब्ध होता है : **मत्तो जातानि भूतानि, मया धार्यन्त्यहर्निशम्** (महाभारत, अनु० पर्व 13.143); **युध्यमानस्य समरे योधा वध्यन्ति सर्वशः** (कर्ण पर्व 3.8)। इस प्रकार के प्रयोग निरंकुश प्रयोग ही हैं। प्राचीन काल में भाव तथा कर्म वाच्यों में भी परस्मैपद होता था, यह इनसे सिद्ध नहीं होता।

2157 अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम् (1.3.12)—अनुदात्तेत, उपदेशे यो

आत्मनेपद तथा परस्मैपद प्रत्ययों की प्रकृतियाँ

2157 इत्संज्ञक अनुदात्त वाले, तथा उपदेश में अंत में इत्संज्ञक ङकार वाले,

---

संदर्भ : आत्मनेपद और परस्मैपद संज्ञा बतलाने के बाद अब कौन पद किस प्रकार की धातु से किस अर्थ में होता है, यह अगले तीन सूत्रों में बताया गया है।

2157 **अनुदात्त-ङित०** (1.3.12)—अनुदात्त (अच्) और ङ् जिसके इत्संज्ञा वाले हैं, उसके पश्चात् आत्मनेपद होता है : **अनुदात्तश्च ङ् चेत्यनुदात्त-ङौ** (इतरेतर द्वंद्व), **तावितौ यस्य, सोऽनुदात्त-ङित्** (बहु०), **तस्मादात्मनेपदम्**।

अनुवर्तन : (क) 'आत्मनेपद' उन कुछ प्रत्ययों की संज्ञा है, जो धातु के पश्चात् (**धातोः**) विहित ल् के स्थान में (**लस्य**) आते हैं। अतः ये दोनों पद यहाँ अर्थतः उपलब्ध हैं।[1] (ख) 'अनुदात्तेतः' और 'ङितः' शब्द **धातोः** का विशेषण है। अतः इनमें **येन विधिस्तदन्तस्य** (1.1.72) से 'अन्त' शब्द प्राप्त है। √भू+यङ् से निष्पन्न √बोभूय आदि धातुओं में आत्मनेपद-विधान के लिए 'अन्त' शब्द जोड़ना आवश्यक है।[2] (ग) इत्संज्ञा औपदेशिक (**उपदेशे** 1.2.3) अच् और हल् की ही होती है, अतः 'इत्' कहने से 'उपदेशे' भी अर्थतः प्राप्त है। (घ) इत्संज्ञक अनुदात्त उपदेश के अतिरिक्त प्राप्त ही नहीं है, अतः उससे 'उपदेशे' का अन्वय व्यर्थ है। ङित्त्व औपदेशिक भी होता है, जैसे **शीङ् स्वप्ने** (अदादि०) और आतिदेशिक (ङिद्वद्भाव से प्राप्त) भी, जैसे √कुट् से विहित सन् **गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्** (1.2.1) से ङिद्वत् है। अतः ङित् के प्रसंग में 'उपदेशे' की अर्थतः प्राप्ति व्यभिचरित हो जाती है। फलतः उसकी अनुवृत्ति साक्षात् **उपदेशेऽजनु०** (1.3.2) से मंडूक-प्लुत्या होगी। (घ) 'उपदेशे' का अन्वय 'ङितः से

---

1. बा० म० में **भूवादयो धातवः** (1.3.1) से मंडूक-प्लुत्या 'धातवः' की अनुवृत्ति करके उसे पंचम्येक-वचन में विपरिणत करके यहाँ 'धातोः' की उपस्थिति बताई है। त० बो० में इसे अर्थतः प्राप्त भी बताया है। 'धातोः' की प्राप्ति सरलतया अर्थतः होते मंडूक-प्लुति और विभक्ति-विपरिणाम—दो गौरवों—का आश्रय उचित नहीं प्रतीत होता। 'लस्य' को दोनों ने अर्थतः प्राप्त ही बताया है। किंतु इसकी उपस्थिति से कोई प्रयोजन सिद्ध होता नहीं दीखता। अतः भट्टोजिदीक्षित जी ने इसे स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थ ही दिया हो सकता है। अथवा अर्थतः प्राप्त 'लस्य' के साथ 'धातोः' का कथन दीक्षित जी के मत में उसकी अर्थतः प्राप्ति को ही कदाचित् सूचित करता है।
2. काशिका में यहाँ तदंत-विधि नहीं की गई है।

ङित्, तदन्ताच्च धातोर्लस्य स्थाने आत्मनेपदं स्यात्। 2158 स्वरित-ञितः कर्त्रभिप्राये क्रिया-फले (1.3.72)—स्वरितेतो, ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्

धातु से विहित 'ल्' वर्ण के स्थान में आत्मनेपद हो। 2158 स्वरितेत् और ञित् धातु से आत्मनेपद तब हो, जब उस धातु के द्वारा उक्त क्रिया का फल उसके कर्ता को प्राप्त

होगा, ताकि √कुट्+सन्=√चुकुटिष से आत्मनेपद न हो सके, क्योंकि यह धातु अंत में औपदेशिक ङित्त्व वाली नही है। (ङ) आत्मनेपद के स्थायी लकार भाव/कर्तृ/कर्म में विहित हैं। भाव और कर्म में **भाव-कर्मणोः** (1.3.13) विशेष सूत्र से आत्मनेपद के विधान से सिद्ध होता है कि अन्य सूत्रों से आत्मनेपद का विधान पारिशेष्यात् कर्तृ-वाच्य में ही किया गया है। अतः यहाँ 'कर्तरि' भी अर्थतः प्राप्त है। किंतु दीक्षितजी ने स्पष्ट होने के कारण इसे वृत्ति में नहीं दिया है, यह प्रतीत होता है।

अन्वित अर्थ : (1) अनुदात्तेतः, (2) उपदेशे ङिदंताच्च धातोः कर्तरि लस्य आत्मने-पदम्—(1) अनुदात्त अच् की इत्संज्ञा वाले तथा (2) उपदेश में इत्संज्ञक ङ् जिसके अंत में है, उस धातु से कर्त्रर्थ में विहित ल् के स्थान में आत्मनेपद हो।

प्रस्तुत सूत्रों का तात्पर्य—नियम : धातु से लकार, ल् के स्थान में तिङ्—आत्मनेपद, परस्मैपद—प्रत्यय विहित करने पर भी पुनः इससे कहने का तात्पर्य 'ये प्रत्यय इन्ही धातुओं से होते हैं, अन्यों से नहीं, यह नियम ये सूत्र बनाते हैं', यह बताना है।[1]

2158 **स्वरितञितः** का विग्रह **अनुदात्तङितः** की तरह ही होता है। सूत्रकार ने धातु से ञित् प्रत्यय का विधान कहीं नहीं किया है। अतः तदंतविधि की आवश्यकता नहीं है। **कर्तारमभिप्रैति=गच्छति इति कर्त्रभिप्रायम्**—क्रिया का फल यदि कर्ता को ही प्राप्त होता है, उसी के अभिप्राय (निमित्त) से है, तभी प्रस्तुत सूत्र से आत्मनेपद होगा।[2] यह कहने से आचार्य का आशय यह है कि स्वरितेत् तथा ञित् वे धातु हैं, जिनका फल कर्ता को भी मिल सकता है, तो कर्ता से भिन्न किसी और को भी।

आत्मनेपद से फल की कर्तृ-गामिता पर विचार : यह नियम वैदिक साहित्य में तो यत्किंचित् रूप में प्रयुक्त मिलता है तथा आचार्य पाणिनिके समय तक भी

---

1. का० 1.3.12 : **अविशेषेण धातोरात्मनेपदं परस्मैपदं च विधास्यते। तत्रायं नियमः क्रियते।**
2. शबरस्वामी : **स्वरितञितो ह्यात्मनेपद उच्चारिते 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'ति कर्तृगामि-फलत्वं प्रतीयते। परस्मैपदे तु 'यजन्ति याजका' इति पर-गामि-फलत्वम्॥**

संभवतः व्यवहार में रहा हो; पर मध्यकाल से लेकर अब तो यह परंपरा नहीं है। इसके अतिरिक्त धातुपाठ के उपलब्ध अर्थ-निर्देश को देखते हुए भी इसे प्रयोग में लाना बड़ा कठिन है : स्वरितेत् और ञित् धातु के ही अर्थ में आने वाली उदात्तेत् या अनुदात्तेत् और ङिदंत धातुओं का फल उभय-गामी क्यों नहीं हो सकता ? यह प्रश्न बना ही रहता है। परवर्ती वैयाकरणों ने तो प्रयोग की इस विशेषता को बिल्कुल उड़ा ही दिया है।[1]

बहुत प्राचीन समय में आत्मनेपद और परस्मैपद प्रत्यय वक्ता की इच्छा पर ही निर्भर करते रहे होंगे, किसी भी धातु से ये दोनों लगाये जा सकते होंगे। उनमें क्रिया-फल की आत्म-गामिता या पर-गामिता भी संभवतः अपेक्षित न होती हो। फिर कालांतर में भाषा में इस बोझिल एवं दुहरे प्रत्ययों के अनावश्यक विस्तार को—रूप-बाहुल्य को—देखकर चालू भाषा से इन दुहरे प्रत्ययों में से अन्यतमों को उड़ाना असंभव या दुष्कर होने से नौ प्रत्ययों को क्रिया-फल की परगामिता का अभिधायक मान कर और वर्तमान में एकारांत तथा उदात्त नौ प्रत्ययों को आत्म-गामिता का अभिधायक मानकर वैयाकरणों ने व्यर्थ के प्रत्यय-बाहुल्य को सार्थक बनाने का प्रयत्न किया हो। परंतु, सरलताभिलाषी लोकरुचि ने उन्हें पुनः विक्रम के वेताल की तरह उसी प्राचीन स्थिति में पहुँचा दिया हो सकता है।

इस कल्पना का आधार : संहिताओं तथा ब्राह्मणों की भाषा में दोनों पद यथेष्ट रूप तथा मात्रा में व्यत्यय से प्राप्त होते हैं। उसके अनंतर के रामायण, महाभारत तथा पुराणों में भी लौकिक संस्कृत में वैयाकरणों द्वारा नित्य आत्मनेपदी तथा परस्मैपदी के रूप में उपदिष्ट √वृत्, √भाष्, √ईक्ष्, √ईह्, √त्रै आदि अनेक धातुओं में आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद और √जीव्, √दृश् (पश्य), √हस्, √श्रु, √सद्, √गै, √गम् आदि अनेक धातुओं में परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद प्रचुर मात्रा में मिलता है। इन ग्रंथों में चाहे जितना भी प्रक्षेप हुआ हो, या चाहे

---

1. का० प० 6·10 पर गोपीनाथ द्वारा तथा मु० बो० 920 पर दुर्गादास द्वारा उद्धृत कारिकाएँ—

इह लौकिक-वाक्येषु व्यभिचारोऽतिपुष्कलः।
वेदवाक्येषु यद्यस्ति नियमः ? केन वार्यते॥
विशेषः पाणिनेरिष्टः, सामान्यं सर्ववर्मणः।
सामान्यमनुगृह्णाति तत्राचार्यपरम्परा॥

मृत पिता के लिए वृषोत्सर्ग करते समय पुत्र के संकल्पवाक्य में **'करिष्ये'** का प्रयोग चांद्रों के अनुसार शास्त्र-सिद्ध है।

कर्तृ-गामिनि क्रिया-फले। 2159 शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् (1.3.78)—आत्मनेपद-निमित्त-हीनाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् ॥ 7 ॥

2160 तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथम-मध्यमोत्तमाः (1.4.101)—तिङ् होता हो। 2159 आत्मनेपद के निमित्त से रहित धातु से कर्तृ-वाच्य में परस्मैपद हो ॥ 7 ॥

तिङों का पुरुष और वचनों में विभाजन

2160 तिङ् के दोनों पदों के तीन त्रिक (तीन-तीन प्रत्ययों के समूह) क्रमशः

जितने बाद तक ये अपने अंतिम रूप में आए हों, परंतु इतना निश्चित ही है कि जन-साधारण के काव्य होने के कारण इनमें प्राचीन भाषा का रूपावशेष अधिक सुरक्षित रहा होगा। प्राचीन परपरा में इस प्रकार के प्रयोगों को 'आर्ष' कहने का अभिप्राय भी यही प्रतीत होता है। वस्तुतः इस विषय पर अभी अनुसंधान अपेक्षित है।

2159 **शेषात् कर्तरि०** (1.3.78)—'शेष' का अर्थ है : जो कहा जा चुका उससे बाकी। अष्टाध्यायी में अब तक आत्मनेपद की निमित्त-भूत धातु बताई गई हैं। अतः 'शेष' का तात्पर्य है : आत्मनेपद के निमित्त से रहित धातु। इस प्रकार की धातु हैं उदात्तेत् धातु, तथा परगामी क्रियाफल वाली स्वरितेत् और ञित् धातु। आत्मनेपद के विधान में 'कर्तरि' पद अर्थतः प्राप्त था। पर यहाँ नहीं प्राप्त है। अतः कंठतः दिया है।

तीनों सूत्रों का निष्कर्ष : (1) अनुदात्तेत् और उपदेश में ङिदंत धातुओं से, (2) क्रिया-फल यदि कर्तृ-गामी ही रहे तो स्वरितेत्, एवं ञित् धातुओं से, कर्तृ-वाच्य में आत्मनेपद होता है। शेष (3) उदात्तेत् और (४) पर-गामी क्रिया-फल वाली स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से कर्तृ-वाच्य में परस्मैपद होगा।

भाव-वाच्य और कर्म-वाच्य के लिए पृथक् सूत्र **भाव-कर्मणोः** (1.3.13) है। इसकी व्याख्या यथा-स्थान की जाएगी ॥ 7 ॥

2160 **तिङस्त्रीणि त्रीणि०** (1.4.101)—**सूत्र के पदों का अन्वय :** तिङ् अठारह हैं। उनके तीन-तीन के छह वर्ग होंगे। इन छह की प्रथम आदि तीन संज्ञाएँ सूत्रकार ने की हैं। इनके अन्वय पर आचार्यों के तीन मत हैं :

(क) **आचार्य पतंजलि :** प्रथमश्च, मध्यमश्च, उत्तमश्च इति प्रथम-मध्यमोत्तमाः। प्रथम-मध्योत्तमाश्च प्रथम-मध्योत्तमाश्च इति प्रथम-मध्यमोत्तमाः (एक शेषः)।[1] इस

---

1. म० भा० में पहले एक-शेष निम्न प्रकार से दिया है : **प्रथमश्च प्रथमश्चेति प्रथमौ,** इसी प्रकार मध्यमौ, उत्तमौ, फिर **प्रथमौ च, मध्यमौ च उत्तमौ च इति प्रथम-मध्यमोत्तमाः।** इन दोनों विग्रहों में ऊपर टीका में बताया विग्रह उचित है।

तरह संज्ञा और संज्ञी समसंख्यक हो जाते हैं। छह त्रिकों में से पहले तीन (परस्मैपद) त्रिकों की प्रथम आदि तीन संज्ञाएँ, फिर दूसरे आत्मनेपद के त्रिक की प्रथम आदि संज्ञाएँ होतीं हैं।

(ख) **जिनेंद्रबुद्धि :** त्रीणि-त्रीणि तिङः (1.3) प्रथम-मध्यमोत्तमाः—तीन-तीन जो तिङ् हैं, वे प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा वाले हैं।

इस पक्ष में दोष : (अ) छह संज्ञियों की तीन संज्ञाएँ क्रमशः नहीं हो सकतीं, क्योंकि यहाँ संज्ञा और संज्ञी की सङ्ख्या में वैषम्य है। (आ) एक की अनेक संज्ञाएँ रखना तो व्यर्थ है। अतः दो-दो त्रिकों की एक-एक संज्ञा प्राप्त होती है। अर्थात् 'तिप्, तस् झि, सिप्, थस्, थ्'—ये प्रथम, 'मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ'—ये मध्यम और 'थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्,' ये उत्तम कहलाने पर अव्यवस्था ही होगी। अतः तीन-तीन तिङ् प्रथम आदि कहाते हैं, यह कहना उचित नहीं है।

उत्तर : यहाँ **लः परस्मैपदम्** (1.4.99) और **तङानावात्मनेपदम्** (100) की अनुवृत्ति आती है। इसके फलस्वरूप छह त्रिकों की दो राशियाँ हो जाती हैं - तीन परस्मैपद में, तीन आत्मनेपद में। परस्मैपद के जो तीन-तीन तिङ् हैं, वे 'प्रथम' आदि और आत्मनेपद के जो तीन-तीन तिङ् हैं, वे 'प्रथम' आदि कहलाते हैं।

उत्तर अपर्याप्त है : पर इस व्याख्या में भी एक बार पठित **प्रथम-मध्यमोत्तमाः** पद का दो भिन्न राशियों से अन्वय कैसे होगा ? यह प्रश्न रहता ही है। इसके समाधान के लिए भाष्यकारोक्त (क) एक-शेष मानना पड़ेगा।

(ग) **आचार्य रामचंद्र** और तदनुसारी श्री दीक्षित जी की व्याख्या इनसे भिन्न है : उनके मत में 'तिङः' 6.1 है एवम् परस्मैपदम् और आत्मनेपदम् पद अनुवृत्त होकर षष्ठ्यंत हो जाते हैं। तब न्यास की व्याख्या की तरह परस्मैपद और आत्मनेपद के त्रिक की (प्रत्येक की) क्रमशः 'प्रथम' आदि संज्ञाएँ होतीं हैं।

इन व्याख्याओं में भगवान् भाष्यकार की व्याख्या ही सारवान्, सरल और संक्षिप्त लगती है। यद्यपि (ग) व्याख्या में आपत्ति कोई नहीं है, पर अनुवृत्ति और षष्ठ्यंत में परिवर्तन का गौरव तो है ही,[1] फल जबकि कोई विशेष सिद्ध नहीं होता।

'त्रीणि-त्रीणि' में नपुंसकता : 'त्रीणि-त्रीणि' में नपुंसकलिंग इन त्रिकों के अंतर्गत प्रत्ययों की अग्रिम सूत्र से की जाने वाली (किंतु आचार्य की बुद्धि में पूर्वतः ही स्थित) 'वचन' संज्ञा के अनुरोध से ही है।

---

1. श्री भैरवमिश्र का भी यही मत है। च० क० (ल० श० शे०, पृ० 427) देखें।

उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः । 2161 तान्येक-वचन-द्विवचन-बहु-वचनान्येकशः (1.4.102)—लब्ध-प्रथमादि-संज्ञानि तिङस्त्रीणि-त्रीणि वचनानि प्रत्येकम् एकवचनादि-संज्ञानि स्युः ।। 8 ।।

'प्रथम', 'मध्यम' और 'उत्तम' संज्ञाओं वाले हों । 2161 प्रथम आदि संज्ञा पाए हुए तिङ् के तीन-तीन वचन एकेक करके 'एकवचन' आदि संज्ञाओं वाले हों ।। 8 ।।

'प्रथम' आदि संज्ञाओं पर विचार : इन्हीं 'प्रथम' आदि की प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों के अनुसार 'प्रथम पुरुष', मध्यम पुरुष' और 'उत्तम पुरुष' संज्ञाएँ हैं ।[1] पाश्चात्त्य पद्धति में इन्हें क्रमशः 'थर्ड पर्सन' (तृतीय पुरुष), 'सेकण्ड पर्सन' (द्वितीय पुरुष) और 'फर्ष्ट पर्सन' (प्रथम पुरुष) शब्दों से कहा गया है एवं 'फर्ष्ट पर्सन' अर्थात् 'उत्तम पुरुष' की गणना पहले आती है । संस्कृत वैयाकरणों में देवनंदी ने इसी क्रम को अपनाया है । उनके यहाँ पाणिनि के तिङ्० प्रत्याहार की तरह मिङ् (मिप् से लेकर आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, बहुवचन झङ् तक) प्रत्याहार है ।[2] वैसे अपने अहंकार को ही संसार का केन्द्र मानने वाली आसुर (पाश्चात्त्य) सभ्यता में तो यह ठीक हो सकता है, किंतु विनय-प्रधान भारतीय संस्कृति में स्वयं तथा अपने संमुख उपस्थित स्वीय पुरुष की अपेक्षा अन्य पुरुष को प्रथमता देना ही उचित है । आत्मा से उत्तम चूँकि कोई अन्य पदार्थ नहीं है, अतः आत्मा के पर्याय 'अस्मत्' शब्द की क्रिया के कर्ता को 'उत्तम पुरुष' कहना अविनय का सूचक नहीं है ।[3]

2161 **तान्येक-वचन०** (1.4.102)—अब अगले सूत्र से प्रथम आदि के तीनों प्रत्ययों की संख्यावाचक संज्ञाएँ बतलाते हैं । पिछले सूत्र में तिङों के तीन-तीन प्रत्ययों की 'प्रथम' आदि संज्ञाएँ बताईं । प्रस्तुत सूत्र के 'तानि' का अभिप्राय प्रथममध्यमोत्तम-संज्ञक त्रिकों से है; 'एकशः' में 'एक-एक करके' (यानि 'प्रत्येक की') इस वीप्सा अर्थ में तद्धित शस् प्रत्यय है । अतः सूत्रका समुच्चित अर्थ यों है : प्रथम, मध्यम, उत्तम संज्ञा वाले वे तीन-तीन तिङ्, या तिङ् प्रत्याहार के तीन-तीन प्रत्यय, क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन कहलाते हैं ।

---

1. **प्रथम-पुरुषैश्चाख्यातस्य** (नि० 7.2) । आदि वाक्यों में इन संज्ञा-पदों का प्रयोग उपलब्ध होता है । लगता है पाणिनि ने 'प्रथम' आदि के विशेष्य 'पुरुष' शब्द को संक्षेपार्थ छोड़ दिया है । प्रथम आदि की पुंल्लिगता भी इसी बात की सूचक प्रतीत होती है ।
2. क्षि० च० चट्टोपाध्याय, टे० ट०, भाग 1, पृष्ठ 1.
3. निरुक्त-मीमांसा, पृ० 423, भी देखिये ।

प्रथम आदि 'विभक्ति' हैं : प्रथम आदियों की 'विभक्ति' संज्ञा भी **विभक्तिश्च** (1.4.104) से होती है। वस्तुतः 'प्रथम पुरुष' आदि संज्ञाओं की अपेक्षा 'प्रथमा विभक्ति' आदि संज्ञाएँ पाणिनीय तंत्र में वांछित प्रतीत होती हैं। इनकी 'विभक्ति' संज्ञा का प्रयोजन तिङों के अंतिम सकार तथा मकार की **हलन्त्यम्** (1.3.3) से प्राप्त इत्संज्ञा का **न विभक्तौ तुस्माः** (1.3.4) से निषेध करना है, जबकि 'पुरुष' संज्ञा का पाणिनीय तंत्र में कोई प्रयोजन एवं संभवतः अत एव श्रवण भी नहीं है। 'विभक्ति' (विशेष्य) के अनुकूल स्त्रीलिंग ('प्रथमा' आदि) संज्ञाओं का प्रयोग क्यों नहीं किया ? यह प्रश्न अनुत्तरित ही है। कहीं प्रथमा (सुप् विभक्ति) से भेद के लिए ही ऐसा न किया हो ?

इन दोनों सूत्रों का निष्कर्ष यह है :—

परस्मैपद				आत्मनेपद		
वचन			विभक्तियां	वचन		
एकव०	द्विव०	बहुव०		एकव०	द्विव०	बहुव०
तिप्	तस्	झि	प्रथम	त	आताम्	झ
सिप्	थस्	थ	मध्यम	थास्	आथाम्	ध्वम्
मिप्	वस्	मस्	उत्तम	इट्	वहि	महिङ् ॥ 8 ॥

संदर्भ : अब चार सूत्रों से 'प्रथम' आदि के तिङों का प्रयोग कैसे करना चाहिए, यह बताते हैं। मध्यम का विषय बड़ा होने से पहले उसी को लिया है :

'मध्यम' आदि के अभिधेय तिङ् प्रत्यय धातु से परे होते हैं, अतः 'धातोः' पद यहाँ भी उपस्थित होता है। धातु से तिङ् कर्तृकारक एवं कर्मकारक अर्थ में होते हैं, यह कहा जा चुका है। यदि प्रत्यय इन कारकों के अर्थ में होते हैं, तो इन कारकों के सुबंत शब्दों में प्रथमा विभक्ति होगी, द्वितीया और तृतीया नहीं। कर्त्रर्थक तिङन्त धातु के कर्ता शब्द में प्रथमा विभक्ति होगी, **कर्तृ-करणयोस्तृतीया** (2.3.18) से तृतीया नहीं। इसी प्रकार कर्मार्थक तिङंत धातु के कर्म में प्रथमा होगी, **कर्मणि द्वितीया** (2.3.2) से द्वितीया नहीं, यह कारक प्रकरण में **अनभिहिते** (2.3.1) से कहा गया है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि कर्तृवाच्य में धातु के कर्तृ-वाचक सुबंत शब्द से प्रथमा विभक्ति और कर्म-वाच्य में कर्मवाचक सुबंत शब्द से प्रथमा विभक्ति होगी।

सुप् विभक्ति और तिङ् विभक्ति में अंतर : सुप् विभक्तियों की प्रथमा आदि संज्ञाएँ 21 सुप् प्रत्ययों के 7 त्रिकों को लेकर हैं। तिङों की तिङ् के स्थानी लकार के वाच्यार्थ कर्ता और कर्म को लेकर : विश्व में तीन प्रकार के कर्ता और कर्म मिलते हैं—'मैं', 'तू' और 'वह'—ये तीन प्रकार के कर्ता और 'मुझे', 'तुझे' और 'उसे' ये तीन प्रकार के ही कर्म। यहाँ 'मैं' आदि शब्द निदर्शनार्थ लिए हैं; वस्तुतः अस्मद्वाच्य,

2162 युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः (1.4.105)—तिङ्-वाच्यकारक-वाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽपि मध्यमः स्यात्। 2163 प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च (1.4.106)—मन्य-धातुरुपपदं यस्य धातोस्तस्मिन्प्रकृतिभूते सति मध्यमः स्यात् परिहासे गम्यमाने, मन्यतेस्तूत्तमः

प्रथम आदि का प्रयोग कब होता है

2162 तिङ् के द्वारा प्रकटित कारक को ही कहने वाला युष्मद् शब्द प्रयुक्त हो, या न हो, (दोनों स्थितियों में धातु के बाद) मध्यम होवे। 2163 **'मन ज्ञाने'** धातु जिसका उपपद है, ऐसी धातु प्रधान होने पर हँसी-ठट्ठा अर्थ में मध्यम होवे, √मन् धातु से

युष्मद्वाच्च और इदंवाच्य—ये तीन प्रकार के पदार्थ जगत् में हैं। यही कभी किसी कारक के रूप में आते हैं, तो कभी किसी के।

2162 **युष्मद्युपपदे०** (1.4.105)—इस सूत्र के पदों का अन्वय **'समानाधिकरणे युष्मदि उपपदे, स्थानिन्यपि मध्यमः'** होता है। समानमधिकरणम् अर्थो यस्य (बहु०) 'समान अर्थ वाला' अर्थ है, क्योंकि अधिकरणता की विवक्षा वाच्यता-संबंध से की गई है। सूत्र में श्रुत 'मध्यम' के साथ ही समानाधिकरणता ली गई है, अन्य पदार्थ 'युष्मद्' शब्द है। इसलिये 'मध्यम' नामक तिङ् का वाच्य जो कर्तृ-कर्मान्यतर कारक, उसका वाचक जो युष्मद् शब्द, वह समीप में उच्चरित हो, या न हो—केवल अर्थतः विवक्षित हो, तो धातु से परे मध्यम होवे। शब्दों का परस्पर अन्वय कारक और वचन से होता है। अतः जब धातुस्थ तिङ् के अभिधेय कारक और वचन से अन्वय वाला युष्मद् शब्द क्रिया के साथ साक्षात् स्थित हो, अथवा अर्थतः विवक्षित हो, तब 'मध्यम' होता है।

क्रिया-पद में यदि तिङ् कर्त्रर्थक है, तो कर्तृ-वाचक प्रातिपदिक में भी कर्त्रर्थक विभक्ति ही होनी चाहिए। यदि कर्मार्थक है, तो संबद्ध सुबंत में कर्मार्थक विभक्ति ही होनी चाहिए। सुप् और तिङ् प्रत्ययों में वचन की भी समानता होनी चाहिए। यदि तिङ् कर्तरि एकवचन है, तो कर्त्रर्थक प्रातिपदिक में प्रथमा, एकवचन अपेक्षित है। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन के बारे में समझें। यदि तिङ् कर्मार्थक, ए०व० है, तो कर्मवाचक प्रातिपदिक में भी प्रथमा, एकवचन होगा। यदि द्विवचन है, तो द्विवचन होगा, बहुवचन है, तो बहुवचन होगा। जैसे—तिप्/त, सिप्/थास्, मिप्/इट के योग में **सु**; तस/आताम्, थस्/आथाम्, वस्/वहि के योग में **औ**, झि/झ, थ/ध्वम्, मस्/महिङ् के योग में **जस्**।

यदि क्रिया-पद का कर्ता/कर्म युष्मद्वाच्य है, तो क्रिया-पद में 'मध्यम' होगा।

2163 प्रहासे च मन्योपदे (1.4.106)—मध्यम विभक्ति परिहास में भी होती

स्यात्, स चैकार्थस्य वाचकः स्यात् । 2164 अस्मद्युत्तमः (1.4.107)—तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः स्यात् । 2165 शेषे प्रथमः (1.4.108)—मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् ॥ 9 ॥

तो उत्तम होवे और वह (उत्तम) एक अर्थ (वचन) का वाचक होवे । 2164 अस्मद् के वैसा होने पर उत्तम होवे । 2165 मध्यम और उत्तम जहाँ न होते हों, वहाँ प्रथम होवे ॥ 9 ॥

है : संस्कृत जब व्यवहार-भाषा थी, तब किसी हम-जोलिए, या परिहास के योग्य युष्मद्वाच्य जन से परिहास की विवक्षा में समानाधिकरण युष्मद् शब्द साक्षात् प्रयुक्त हो, या अध्याहृत हो, तब श्यन्विकरण वाली √मन् का प्रयोग करते हुए प्रधान धातु से मध्यम विभक्ति और √मन् से उत्तम, एक वचन, का प्रयोग किया जाता था ।

2164 अस्मद्युत्तमः—यदि क्रियापद का कर्त्ता/कर्म अस्मद्वाच्य है, तो 'उत्तम' होगा ।

2165 शेषे प्रथमः (1.4.108)—इन सबसे बचे कारक शब्दों के प्रयोग में प्रथम त्रिक होना चाहिए । यदि क्रिया-पद का कर्ता/कर्म इदं-वाच्य है, या क्रिया भाव में है, तो प्रथम त्रिक होता है । भाव-वाच्य में भाव की अभिव्यक्ति के लिए क्रिया को कोई सुबंत शब्द तो अपेक्षित होता ही नहीं है, अतः भावार्थक क्रिया-पद में औत्सर्गिक विभक्ति, वचन—प्रथम, एकवचन—ही होंगे ।

तीनों सूत्रों का सार यह है :

इदम्	तिप्/त	इमे	तस्/आताम्	इमानि	झि/झ
त्वम्	सिप्/थास्	युवाम्	थस्/आथाम्	यूयम्	थ/ध्वम्
अहम्	मिप्/इट्	आवाम्	वस्/वहि	वयम्	मस्/महिङ् ।[1]

'भवत्' किस पुरुष के अंतर्गत है ? हिंदी में 'भवत्' शब्द 'युष्मद् के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है; अंतर इतना ही है कि 'भवत्' शब्द 'युष्मद्' (तू/तुम) से अधिक आदरार्थक है; किन्तु संस्कृत में 'युष्मद्' शब्द संबोध्य (संमुख उपस्थित) के लिए आता है, तो 'भवत्' न केवल संबोध्यासंबोध्योभय-साधारण है,[2] अपितु असंबोध्यता को ही

---

1. परस्मैपद प्रत्यय कर्तृ-वाच्य में ही होंगे, पर आत्मनेपद प्रत्यय तीनों वाच्यों में हो सकते हैं ।

2. श०कौ० : अ-लिङ्गः सम्बोधनैक-विषयश्च युष्मदर्थः । स-लिङ्गः सम्बोध्यासम्बोध्य-साधारणश्च भवदर्थः । ल०श०शे० : स-लिङ्गस्य चेतनाचेतन-साधारणस्य भवदर्थत्वाद्, युष्मदश्चालिङ्ग-चेतनैक-विषयत्वाद् भवच्छब्द-योगे न मध्यमः ।

1.1 भू सत्तायाम् ॥ 1 ॥[1] कर्तृ-विवक्षायां 'भू+ति' इति स्थिते—

प्रथम धातु वर्गः 1 √भू की प्रक्रिया

√भू होना अर्थ में है। कर्ता की विवक्षा में 'भू+ति' स्थिति में—2166 तिङ्

अधिक प्रकट करता है। अतः यह मध्यम की अपेक्षा प्रथम के अधिक निकट है; इस लिए इसके योग में प्रथम ही होता है।[2] सूत्रकार ने सूत्रों में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' को देकर 'भवत्' को **शेषे प्रथमः** के अंतर्गत कर दिया है ॥ 9 ॥

'भू सत्तायाम्' पाणिनीय तथा उस से प्रभावित व्याकरणों के धातुपाठों का पहला धातु-सूत्र है। धातुपाठ में अविभक्तिक शब्द धातु हैं तथा सप्तम्यन्त शब्द अर्थ-निर्देश-परक हैं। भू, वा आदि शब्दों की 'धातु' संज्ञा **भूवादयो धातवः** (1.3.1) से होती है।

धातुपाठ और गण के आदि में √भू के पाठ का प्रयोजन : मांगलिक आचार्य[3]

---

1. पाणिनि ने धातुओं का परिगणन धातुओं की आत्मनेपदिता, परस्मैपदिता, सेट्ता, अनिट्ता, अन्त्य वर्ण आदि के आधार पर वर्ग बनाकर किया है। एक वर्ग में एक या एक से अधिक धातुसूत्र हैं। एक धातुसूत्र में एक या एक से अधिक धातु संकलित हैं। प्रकृत ग्रंथ में धातुवर्ग का निर्देश धातुवर्ग के आदि में, धातुसंख्या का निर्देश धातु के पूर्व, और धातुसूत्र का निर्देश धातुसूत्र के पश्चात् किया गया है। धातुवर्गों के गठन का विशेष विवेचन भूमिका में देखें।
2. वा० प० (3.10.1.2) में प्रत्यक्चैतन्याधिष्ठान कर्तृ-कर्म के सामानाधिकरण्य में मध्यम, प्रयोक्त्रहंकारास्पद चेतन के सामानधिकरण्य में उत्तम और चेतनाचेतन के सामानाधिकरण्य में प्रथम बतलाया है :
   ***प्रत्यक्त्वापर-†भावश्चेत्युपाधी कर्तृ-कर्मणोः।**
   तयोः श्रुति-विशेषेण द्योतकौ मध्यमोत्तमौ ॥
   सदसद्वाऽपि चैतन्यमेताभ्यामवगम्यते।
   चैतन्य-भागे प्रथमः पुरुषो न तु वर्तते ॥
   ल०श०शे०, टि० : ***प्रयोक्तुरहंकारानास्पद-चेतनत्वम्। †तदहंकारास्पदचेतनत्वम्।**
3. द्र० मा० धा० वृ०, पृष्ठ 3 : **माङ्गलिकत्वमपि प्रसङ्गात् सत्ताऽऽख्यस्य पर-ब्रह्मणः स्मरणेन।** कैयट ने 'भू' शब्द से महाव्याहृति 'भूः' का स्मरण मानकर माङ्गलिक माना है : **'भू-शब्द उच्चार्यमाणे महा-व्याहृति-स्मरणं मङ्गलं भवति।** (प्रदीप 1.3.1)। परन्तु क्रियावाची √भू से महाव्याहृतिवाची 'भू' नितांत भिन्न है। अतः प्रथम के उच्चारण से द्वितीय का स्मरण अनुपपन्न है।

2166 तिङ् शित् सार्वधातुकम् (3.4.113)—तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता (प्रत्यय) तथा 'धातोः' के अधिकार में कहे इत्संज्ञक शकार वाले प्रत्यय सार्वधातुक संज्ञा

ने ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द लक्षणों में सत् लक्षण के वाचक √भू धातु को मंगलार्थ दिया है।

√भू धातु **धातोः** (6.1.162) से अंतोदात्त है, उदात्तेत् नहीं।[1] अतः यह सेट् एवं कर्तृ-वाच्य में परस्मै-पदी है। सत्ता का अर्थ अस्तित्व, स्वयं को स्वयम् से धारण करना, उत्पन्न हुए पदार्थ का अपने आपको धारण करने का व्यापार होता है।[2] सत्तानुकूल व्यापार केवल कर्त्राश्रित ही रहता है, अतः यह अकर्मक है।

'सत्ता' आदि अर्थ-प्रदर्शन वस्तुतः निदर्शनमात्र है। धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं।[3] √भू के भी अनेक अर्थ प्रसंगानुसार हो जाते हैं।[4] अर्थ के अनुसार यह सकर्मक भी हो जाता है।

√भू शब्द से 'भवति' शब्दरूप की सिद्धि दिखाने के लिए मूल में **कर्तृ-विवक्षायाम्** इत्यादि लिखा है। मैं सूत्रार्थ करने के बाद प्रक्रिया दिखाऊंगा।

2166 **तिङ् शित्०** (3 4.113)—यह सूत्र **धातोः** (3.1.91) के अधिकार में है। तिङ् तो विहित ही धातु से हैं, किंतु शित् धातु से इतर से भी विहित हैं। अतः **धातोः** का अन्वय **शितः** से ही होगा : **तिङ्, धातोः शित् सार्वधातुकम्**—तिङ् तथा धातु से विहित शित् प्रत्यय सार्वधातक-संज्ञक हों।

---

1. धर्मकीर्ति, रूपावतार, पृष्ठ 5, में उद्धृत श्लोक—
   एकाजूर्णुअदन्तानां दीधीवेव्योश्च जीर्यतेः।
   जागर्तेश्च दरिद्रातेर्नानुनासः प्रयुज्यते॥
   तथा क्षी० त०, पृष्ठ 5 एवं तत्रस्थ टिप्पणी 1.
2. वा० प० : **आत्मानमात्मना बिभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते।**
   तथा निरुक्त 1.2.: **अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्।**
3. **क्रिया-वाचित्वमाख्यातुमेकोऽत्रार्थः प्रदर्शितः।**
   प्रयोगतोऽनुगन्तव्या, अनेकार्था हि धातवः॥ सौनागों की कारिका
   निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्च त्रयोऽप्यमी।
   अनेकार्थाः स्मृताः सद्भिः, पाठस्तेषां निदर्शनम्॥ का०कृ०धा०पा०, कन्नड टीका, पृष्ठ 3.
4. **यु० मी०, काशकत्स्न-धातुव्याख्यानम्, पृष्ठ 3.**

एतत्संज्ञाः स्युः । 2167 कर्तरि शप् (3.1.68)—कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् । श-पावितौ ॥ 10 ॥

वाले हों । 2167 कर्तृ-वाचक सार्वधातुक बाद में होने पर धातु के पश्चात् शप् हो । शकार तथा पकार इत्संज्ञक हैं ॥ 10 ॥

'सार्वधातुक' शब्द पर विचार : 'सार्वधातुक' एक प्राचीन अन्वर्थक संज्ञा है। प्राचीन काल में विकरण को धातु का अंश ही समझा जाता था । जिनके लगने पर धातु सर्व—समूची, विकरणसमेत, अक्षत— रहती थी, अपने इस गुण के कारण वे प्रत्यय 'सार्वधातुक' कहलाते थे । पर जो प्रत्यय विकरणरहित प्रकृति के बाद जोड़े जाते थे, वे विकरण-रूपी आधे अंश से रहित आधे-परधे धातु से विहित होने के कारण 'आर्धधातुक' कहलाते थे ।[1] पाणिनीय तंत्र में विकरणों की भी 'सार्वधातुक' संज्ञा होती है, अतः इस शास्त्र में यह संज्ञा अन्वर्थक नहीं है । हाँ, सार्वधातुक प्रत्यय धातु के सब विशुद्ध रूपों में लगते हैं, जबकि आर्धधातुक केवल आधे रूपों में ही ।[2] पाणिनि से पूर्व आचार्य आपिशलि ने सम्भवतः इसके विशेष्यः 'विभक्ति' के स्त्री-लिंग के अनुसार इसे 'सार्वधातुका' के रूप में प्रयुक्त किया था ।[3] पाणिनि के नपुंसक-लिंग की कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती । यदि तिङ्-शित्-पदाक्षिप्त 'प्रत्ययः' का विशेषण बनाकर पुंल्लिग में देते, तो कदाचित् अच्छा होता ।

2167 **कर्तरि शप्** (3.1.68)—**सार्वधातुके यक्** (3.1.67), **धातोरेकाचो०** (22) : **कर्तरि सार्वधातुके धातोः शप्** । 'सार्व-धातुके' पर-सप्तम्यन्त है—कर्तृ अर्थ में हुआ सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय बाद में होने पर पूर्व-वर्ती धातु के पश्चात् शप् होता है । शप् के श् की इत्संज्ञा **ल-श-क्वतद्धिते** (1.3.8) से, प् की **हलन्त्यम्** (3) से होती है, तथा **तस्य लोपः** (9) से इनका लोप हो जाता है । शेष रहता है **अ** । शित् होने से इसकी सार्व-धातुक-संज्ञा । यह पित् होने से **अनुदात्तौ सुप्-पितौ** (3.1.4) से **अ** अनुदात्त हो जाता है ॥ 10 ॥

---

1. टेक्निकल० ट०, भाग 1, पृष्ठ 44.
2. डॉ० प० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी, वाराणसी : परंतु ण्वुल्, तृच् इत्यादि प्रत्ययों की प्रवृत्ति सभी धातुओं से होती है । अतः यह नियम भी अपाणिनीय ही है ।
3. काशिका 7.3.95 : **आपिशलाः 'तु-रु-स्तु-शम्यमः सार्वधातुकासुच्छन्दसि' इति पठन्ति** । इस पर न्या०, प० म० देखें ।

2168 सार्व-धातुकार्ध-धातुकयोः (7.3.84)—अनयोरिगन्तस्याङ्गस्य √भू+लट् की शेष प्रक्रिया

2168 सार्व-धातुक और आर्ध-धातुक-संज्ञक प्रत्यय बाद में होने पर (पूर्व-वर्ती)

2168 **सार्व-धातुकार्धधातुकयोः** (7.3.84)—**अङ्गस्य** (6.4.1), **मिदेर्गुणः** (7.3.82), **इको गुण-वृद्धी** : 'सार्वधातुकार्ध-धातुयोः (7.2) इकः (6.1) अंगस्य (6.1) गुणः (1.1)। यहाँ **येन विधिस्तदन्तस्य** (1.1.72) से 'अङ्गस्य' के विशेषण 'इकः' में तदंतविधि होती है। **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (1.1.66), **अलोऽन्त्यस्य**(1.1.52), **स्थानेऽन्तरतमः** (1.1.50) परिभाषाएँ भी यथा-स्थान उपस्थित होतीं हैं : **सार्वधातुकार्धधातुकयोः परयोः (पूर्वस्य) इगन्तस्य अङ्गस्य (अन्त्यस्य अलः स्थाने अन्तरतमः) गुणः**—सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते (इनसे पूर्ववर्ती) इक् (अंतवाले) अंग के (अंतिम अल् के स्थान में सदृशतम) गुण होता है।

'भवति' की सिद्धि : सबसे पहले **भूवादयो धातवः** (1.3.1) से सत्तार्थक 'भू' शब्द की धातु संज्ञा। कर्ता अर्थ में वर्तमान काल की विवक्षा में **वर्तमाने लट्** से लट् (ल्) : भू+ल्। युष्मदस्मद्भिन्न किसी एक पदार्थ कर्ता के स्थानी के रूप में विवक्षित होने से ल् को **तिप्तस्०** आदि से प्रथमविभक्ति का एकवचन तिप् (ति) आदेश। **तिङ्शित्सार्व०** से ति की सार्वधातुक संज्ञा : भू+ति। कर्त्रर्थक सार्वधातुक ति परे होने से **कर्तरि शप्** से धातु के बाद शप् (अ) : भू+अति। अ की शित्त्वात् सार्वधातुक-संज्ञा। **यस्मात्प्रत्ययविधिस्०** (1.3.13) से 'भू' की 'अंग' संज्ञा। इगन्त 'भू' अंग के अन्त्य अल् (ऊ) को उच्चारण-स्थान तथा आभ्यंतर प्रयत्न से सदृशतम (ओ) गुण : भो+अति। **एचोऽयवायावः** (6.1.78) से ओ को अव् आदेश : भू+अव्+अति। **अज्झीनं परेण संयोज्यम्** (परिभाषा) से परस्पर मिलाव[1] : भवति।

'भवतः' की सिद्धि : दो कर्ताओं के स्थानी होने पर ल् को तस् आदेश, शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। भव+तस्। **हलन्त्यम्** (1.3.3) से प्राप्त स् की इत्संज्ञा का **न विभक्तौ तुस्माः** (1.3.4) से निषेध। **सुप्तिङन्तं पदम्,** (1.4.14) से पद संज्ञा होने पर **स-सजुषो रुः** (8.2.66) से स् को रु (र्) आदेश : भवतर्। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (8.3.15) से

---

1. √भू **धातोः** (6.1.162) से अंतोदात्त है, शप्, तिप् पित्त्वाद् अनुदात्त। अतः संहिता में भू+अ+ति स्थिति में **उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** (8.4.56) से अनुदात्त अ को स्वरित। **स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्** (1.2.69) से अनुदात्त ति को एकश्रुति हो जाती है। अतः 'भवति' यह पदस्वर होगा। यहाँ और आगे भी उदात्त अक्षर को काले टाइप में दिया है।

गुणः स्यात् । अवादेशः—भवति, भवतः । 2169 झोऽन्तः (7.1.3)—प्रत्ययावयवस्य झस्यान्तादेशः स्यात् । अतो गुणे (6.1.97)—भवन्ति । भवसि,

इ-उ-ऋ-लृ-वर्णांत अंग को गुण हो । अव् आदेश—भवति, भवतः । 2169 प्रत्यय के अंश झकार को 'अंत' आदेश हो । **'अतो गुणे'** (से पररूप होता है)—भवन्ति ।

रेफ को विसर्ग[1] : भवतः ।

2169 **झोऽन्तः (7.1.3)—आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम्** में 'प्रत्यय' शब्द का अविभक्तिक (लुप्तषष्ठीक) निर्देश[2] होने से अवयव-षष्ठ्यंत 'प्रत्ययस्य' के रूप में झः (6.1) का विशेषण होता है । दीक्षितजी ने **झस्य** में 'अ' उच्चारणार्थ दिया है । अन्त में अनुनासिकता इत्संज्ञा की बोधक है । अंत आदेश का स्वरूप 'अन्त्' है । 'अन्ति' प्रत्यय-स्वर से आद्युदात्त (अन्ति) है ।[3]

अन्वितार्थ : प्रत्यय (प्रत्ययस्य अवयवस्य) झः (स्थाने) अन्त् (आदेशः)—प्रत्यय (के अवयव-स्वरूप) झ् के स्थान में 'अन्त्' आदेश होता है ।

'भवन्ति' की सिद्धि : भू से लट् भवति की तरह । बहु-वचनान्त कर्ता के स्थानी होने पर भू से प्रथम का बहु-वचन झि प्रत्यय : भू+झि । शप् आदि भवति के समान । **झोऽन्तः** से झ को 'अन्त्' आदेश : भव+अन्ति । **अतो गुणे** (6.1.9.7) से अ+अन्ति के अकारों को पररूप एकादेश : भवन्ति ।[4]

युष्मद् के स्थानित्व में भू के रूप : त्वम् के योग में सिप् होने पर **भवसि**, युवाम् के योग में थस् से **भवथः**, यूयम् के स्थानित्व में थ होने पर **भवथ** ।

---

1. संहिता में धातुस्वर से प्रत्ययस्वर बलवान् होने से तथा **अनुदात्तम्पदमेकवर्जम्** (6.1.158) से भकारान्तर्गत अ अनुदात्त हो जाता है । विकरण अनुदात्त है ही । **उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः** (1.2 40) से यह अनुदात्ततर हो जाता है । तस् **आद्युदात्तश्च** से उदात्त है । भवतः ।
2. म० भा० 7.1.2 पर **'झादेशे धात्वन्त-प्रतिषेधः'** के विचार में **'असमास-निर्देशात्-सिद्धम्** ।' भाष्यवार्तिक पर **अविभक्तिको निर्देशः प्रत्यय+आदीनामिति** ।
3. का० : **अस्मिन्नप्यन्तादेशे कृते प्रत्ययाद्युदात्तत्वं भवति । तथा च झचश्चित्करणमर्थवद् भवति ॥**
4. 'भव+अन्ति' समुदाय में 'अन्ति के आद्युदात्त होने के कारण शेष अंश अनुदात्त हो जाता है : भव+अन्ति । पररूप एकादेश **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (8.2.5) से उदात्त होता है : भवन्ति ।

भवथः, भवथ । 2170 अतो दीर्घो यञि (7.3.101)—अदन्तस्याङ्गस्य दीर्घः स्याद् यञादौ सार्वधातुके परे । भवामि, भवावः, भवामः ।

स भवति, तौ भवतः, ते भवन्ति; त्वं भवसि, युवां भवथः, यूयं भवथः; अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः ॥ 11 ॥

भवसि, भवथः, भवथ । 2170 अंत में ह्रस्व अ वाले अंग को दीर्घ हो जाए, जब आदि में यञ् प्रत्याहार के वर्ण वाला सार्वधातुक बाद में होवे । भवामि, भवावः, भवामः ।

वह होता है, वे (दो) होते हैं, वे होते हैं; तू होता है, तुम (दो) होते हो, तुम होते हो; मैं होता हूँ, हम (दो) होते हैं, हम होते हैं ॥ 11 ॥

2170 **अतो दीर्घो यञि** (7.3.101)—**अङ्गस्य** (6.4.1) का अधिकार और **तु-रु-स्तु-शम्यमः सार्वधातुके** (95) की अनुवृत्ति है : **अतः अङ्गस्य** (6.1) **दीर्घः** (1.2) **यञि** (7.2) । 'अङ्गस्य' के विशेषण 'अतः' में तदंत-विधि : अदन्तस्य । यञ् प्रत्याहार के सप्तम्यंत रूप यञि में **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे**[1] (प० 34) से तदादि-विधि—यञादौ ।

अन्वितार्थ : यञादौ सार्वधातुके (परस्मिन् पूर्वस्य) अदन्तस्य अङ्गस्य (अवयवस्य अन्त्यस्य स्थाने) दीर्घः—यञ् प्रत्याहार के अंतर्गत किसी वर्ण से प्रारंभ होने वाला सार्वधातुक-सञ्ज्ञक प्रत्यय बाद में होने पर उससे पूर्ववर्ती ह्रस्व-अकारांत अंग के अवयव अंतिम स्वर-वर्ण के स्थान में (उस का) दीर्घ हो ।

'दीर्घ शब्द का अर्थ और इतिहास : कोष के अनुसार 'दीर्घ' का अर्थ 'आयत' है । यह शब्द वृद्धि अर्थ वाली √द्राघ् से निष्पन्न माना जाता है ।[2] शौनक ने √द्राघ् का इस अर्थ में प्रयोग किया भी है ।[3] दीर्घ स्वर (अच्) अर्थ में इसका प्रयोग प्रातिशाख्यों तथा व्याकरण के अलावा कल्प-सूत्रों में भी हुआ है ।[4]

'भवामि' की सिद्धि : अहम् (अस्मद्, प्रथमा, एक वचन) के स्थानित्व में √भू

---

1. जो बाद में होने पर (पूर्व-वर्ती को) कार्य होवे, वह यदि अच् (वर्ण) है, तो वह वर्ण पर का आदिम अवयव होना चाहिये । अर्थात् वर्णार्थक शब्द यदि सप्तमी-निर्दिष्ट है, तो उस वर्णवाचक शब्द में 'आदौ' शब्द जुड़ेगा । जैसे यञि=यञादौ ।
2. निरुक्त 2.16 : **दीर्घं द्राघतेः । दुर्गं : वृद्ध्यर्थस्य; वृद्धं हि तद् भवति ।**
3. **उकारश्चेति-करणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन ।** ऋक्प्रा० 1.75.
4. शा० श्रौ० सू० (1.2.17; 10.5.28); का० श्रौ० सू० तथा गो० गृ० सू० (2.8.15) ।

"एहि, मन्य 'ओदनं भोक्ष्यस' इति; भुक्तः सोऽतिथिभिः। एतम्, एत वा, मन्य 'ओदनं भोक्ष्येथे, भोक्ष्यध्व' इत्यादि। 'भोक्ष्यावहे, भोक्ष्यामहे', 'मन्यसे, मन्येथे, मन्यध्वे' " इत्यादिरर्थः।

2163 'प्रहासे च मन्योपपदे०' के उदाहरण

"आ, सोचता हूँ, तू भात खायेगा; पर वह तो अतिथियों ने खा डाला। तुम दो आओ, (तुम लोग) आओ, मैं सोचता हूँ कि तुम दोनों भात खाओगे, तुम सब भात खाओगे",[1] इत्यादि। 'खाऊंगा, हम दो खायेंगे, हम लोग खायेंगे', 'तू सोचता है, तुम दो, तुम सब सोचते हो।' इत्यादि अर्थ है।

से उत्तम त्रिक का एक-वचन मिप् (मि) : भू+मि। शप (अ); **सार्वधातुकार्ध०** से गुण, अवादेश; भव+मि। **यस्मात्प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** सूत्र के 'तदादि' शब्द में 'आदि' शब्द विकरण-समेत शब्द की 'अङ्ग' संज्ञा के लिए दिया है,[2] अतः √भू के पश्चात् विहित मिप् प्रत्यय के रहते विकरण-सहित (भव) की 'अंग' संज्ञा होने के कारण ह्रस्व अकारांत 'भव' अंग के अंतिम अल् 'अ' को दीर्घ 'आ' : भवामि। इसी प्रकार द्वित्व (आवाम्) के स्थानित्व में, अथवा उसकी विवक्षा में, भवावः तथा बहुत्व के योग

---

1. डॉ० प० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी जी ने इस प्रघट्ट के अनुवाद के विषय में यह टिप्पणी की है : 'आओ, तुम सोचते हो कि भात खाऊँगा; वह तो अतिथियों ने खा लिया। तुम दोनों आओ, तुम दोनों सोचते हो कि हम दोनों भात खायेंगे। तुम सब आओ, तुम सब सोचते हो कि हम सब भात खायेंगे'। इत्यादि अर्थ करना चाहिए, क्योंकि 'मन्यसे' के अर्थ में 'मन्ये' का तथा 'भोक्ष्ये' के अर्थ में 'भोक्ष्यसे' का प्रयोग किया गया है। कारण यह है कि हंसी-ठट्ठे में प्रमाद से वाणी का विपर्यय स्वाभाविक है।

   मैं इससे सहमत नहीं हूँ : (1) अनुवाद में मूल प्रयोग का स्वरूप अक्षुण्ण रहना चाहिए, (2) 'भोक्ष्यसे' आदि 'भोक्ष्ये' आदि के और 'मन्ये' आदि 'मन्यसे' आदि के अर्थ में हैं, यह दीक्षितजी ने स्पष्टतया कहा है। त्रिपाठीजी के अर्थ में वह अंश अनावश्यक हो जायेगा, (3) परिहास अर्थ तो मध्यम के विचित्र प्रयोग से सूचित होता है, (4) उपर्युक्त विचित्र-कथन से रहित अर्थ करने पर इस परिहास-कथन और भूतार्थ-कथन में क्या अंतर होगा ?

2. वै० सि० कौ०, अजंत पुं०, : **'भवामि', 'भविष्यामि' इत्यादौ विकरणविशिष्टस्य 'अङ्ग'-संज्ञार्थं 'तदादि'-ग्रहणम्।**

'युष्मद्युपपद' इत्याद्यनुवर्तते । तेनेह न—एतु, भवान्मन्यते 'ओदनं भोक्ष्य' इति; भुक्तः सोऽतिथिभिः । 'प्रहासे' किम् ? यथार्थ-कथने मा भूत्—एहि, मन्यसे 'ओदनं भोक्ष्य' इति; भुक्तः सोऽतिथिभिः ॥ 12 ॥

'युष्मद् शब्द पास रहते' इत्यादि की अनुवृत्ति होती है । इससे निम्न स्थल में नहीं होगा : आप पधारें, आप सोचते हैं कि भात खाऊँगा, पर वह तो मेहमानों ने खा लिया है । 'परिहास में' क्यों ? जिससे कि वस्तु-स्थिति बताने में न हो : आ, तू सोचता है, भात खाऊँगा; पर वह तो अतिथियों ने खा डाला ॥ 12 ॥

में भवामः ।[1]

'स भवति' आदि वाक्य समानाधिकरण कर्ता की उपपदता के उदाहरण हैं ॥ 11 ॥

एहि, मन्ये० आदि वाक्य **2163 प्रहासे च०** सूत्र के उदाहरण हैं । विलम्ब से आए किसी से मज़ाक करने वाले का यह आशय है कि तुम आए हो, सो ठीक है, आओ; पर चलकर आने से तुम्हें भूख लगी होगी और सोचते होंगे कि खाने पर डटूंगा । तुम्हारी आँतें भूख से अवश्य कुलबुला रही होंगी । पर खाना तो मेहमानों ने साफ कर दिया है ।

अब हँसी-मज़ाक का रूप देने में इसी का रूप कुछ बदल जाता है : वक्ता परिहास का रंग ज़रा गहरा करने के लिए परिहास-पात्र से थोड़ी सहानुभूति जताता है, उसका जो सोचना है, उसे अपना बताता है और कहता है कि तुम थके-माँदे, भूखे-प्यासे आए हो । मैं मानता हूँ कि तुम्हारी इच्छा भोजन की है । पर वह तो सारा मेहमान चट कर गए ।

परिहास-पात्र दो या बहुत हों, तो प्रधान धातु में मध्यम द्विवचन या बहुवचन होता है तथा √मन् में उत्तम द्विवचन या बहुवचन ।

परिहास के लिए युष्मद् ही क्यों ? हँसी-ठट्ठा एक तो आमने-सामने ही, अर्थात् जब परिहास-पात्र के लिए 'युष्मद्' का प्रयोग किया जा सके, तभी, होता है, पीठ

---

1. भवति, भवतः भवन्ति; भवसि, भवथः भवथ; भवामि, भवावः भवामः । धातु-स्वर से विकरण-स्वर तथा उससे भी विभक्ति स्वर बलवान् होता है । अतः यहाँ तस् आदि उदात्त हैं । तिङंत से तरप् करने पर आम् का स्वर सब से बलवान् होता है : भवतितराम् । का० 6.1.158 देखें । यह उचित भी है, क्योंकि तराम् उत्कर्षबोधक है, तथा उदात्त स्वर भी उत्कर्ष को द्योतित करता है । **तीव्रार्थतर-मुदात्तम् । अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्** (नि० 4.25) ।

2171 परोक्षे लिट् (3.2.115) भूतानद्यतन-परोक्षार्थ-वृत्तेर्धातोर्लिट्

द्वितीय लकार : परोक्ष भूत अर्थ में लिट्

2171 आज से रहित तथा इन्द्रियातीत बीते काल के अर्थ में व्यवहृत धातु से

पीछे नहीं। अतः परिहास-वाक्य की जिस क्रिया को ले कर परिहास किया जाए, उस प्रधान क्रिया का कर्त्ता 'युष्मद्' ही होना चाहिए। 'एतद्', 'इदम्', 'तद्', आदि अन्य-पुरुषवाचकों के वाच्य पुरुष तो परोक्ष होते हैं, अतः उनसे परिहास हो ही कैसे सकता है ? 'भवत्' का अभिधेय भी 'एतद्' आदि के अभिधेय की तरह प्रायः परोक्ष ही होता है। अतः उसके साथ भी परिहास उचित नहीं है। हिंदी में 'आप' शब्द से जितना आदर प्रकट किया जाता है, उससे कहीं अधिक आदर संस्कृत के 'भवत्' से प्रकट जाता है। हिंदी में हम 'तू' 'तुम' का प्रयोग अपने से हीन या समान के लिए करते किया हैं। पर संस्कृत में तो अत्यन्त आदरणीय के लिए भी 'त्वम्' (तू) का ही प्रयोग शिष्ट-सम्मत एवं साहित्यानुमोदित है। 'भवत्' का प्रयोग गुरु या राजा जैसे अनितर-साधारणतया—पिता से भी अधिक—आदरणीय कोटि के व्यक्ति के लिए होता है। उनसे परिहास अत्यन्त धृष्टता और अविनय होता है। स्त्रियों के लिए 'युष्मद्' के अतिरिक्त 'भवती' का प्रचुर प्रयोग होता है। यह हमारी संस्कृति में स्त्रियों की निरतिशय आदरणीयता का द्योतक है। उन से भी 'भवती' का प्रयोग करते हुए परिहास करना अनुचित है। अतः सूत्रकार ने **युष्मद्युपपदे०** आदि सूत्र की यहाँ अनुवृत्ति ली है। फलतः 'भवत्' शब्द के योग में यथार्थ कथन अधिक संभव होता है। वाक्य में भी √मन्य में भवत्समानाधिकरण 'तिङ्' और प्रधान-क्रिया में 'उत्तम' का ही प्रयोग होगा।

'प्रहासे' कहने का अभिप्राय : युष्मदभिधेय को भी यदि तथ्य कहना ही वक्ता को इष्ट है, तो √मन्य में युष्मत्समानाधिकरण और प्रधान क्रिया में अस्मत्समानाधिकरण तिङ् होगा ॥ 12 ॥

2171 **परोक्षे लिट्** (3.2.115)—भूते (84) अनद्यतने लङ् (111) धातोः (3.1.91) : अनद्यतने, परोक्षे भूते धातोः लिट् (अनद्यतन तथा परोक्ष भूत काल अर्थ में धातु से लिट् हो)।

भूत के भेद : भूत पाँच प्रकार का बतलाया है[1]—(क) अद्यतन, (ख) अनद्यतन, (ग) व्यामिश्र, (घ) सामान्य तथा (ङ) भविष्यद्विषयक आशंसा के अर्थ में आति-

---

1. मा० धा० वृ० पृष्ठ 5 में **भूतः पंचविधस्तत्र भविष्यच्च चतुर्विधः** इत्यादि श्लोक की व्याख्या देखें।

देशिक भूतवत् ।[1] पहले चार भेद मुख्य भूत के भेद हैं; पाँचवाँ गौण भूत है।

(क) अद्यतन भूत—'अद्य' का अर्थ है आज का दिन। भारतीय परंपरा में रात के चौथे पहर में मनुष्य उठ कर अपनी आह्निक क्रियाओं में लग जाता है। अतः ब्राह्म मुहूर्त से लेकर सारा दिन तथा उसके बाद की रात के तीन पहर 'अद्य' कहलाते हैं।[2]

निरुक्त के अनुसार 'अद्य' शब्द 'इदम्+द्यो' से व्युत्पन्न है। 'द्यो' प्रकाशमान काल का वाचक है।[3] प्रकाशमान काल (उषःकाल अथवा सूर्योदय) से दूसरे प्रकाशमान काल के पूर्व तक का काल 'यह दिवस' अर्थात् 'अद्य' है। ज्योतिष में सूर्योदय से लेकर पुनः उदय तक का काल 'आज' (अद्य) कहलाता है। अद्य का= अद्यतन।[4]

(ख) अनद्यतन भूत—अद्यतन जिसमें विद्यमान नहीं है, वह अनद्यतन। यह दो प्रकार का है—परोक्ष और अपरोक्ष। परोक्ष की व्युत्पत्ति है : **अक्ष्णः परम्**।[5] **अश्नुते अनेन आत्मा विषयान्** अर्थ में 'अक्षि' शब्द इन्द्रियार्थक हैं : केवल नेत्रपरक नहीं।[6]

---

1. अष्टा० 3.3.132 : **आशंसायां भूतवच्च**।
2. कैयट 3.2.111 : **रात्रेश्चतुर्थे यामे प्रबुद्धो यदा वाक्यं प्रयुङ्क्ते 'अमुत्रावात्सम्' इति, तदा तत्रातिक्रान्तरात्रिप्रहरत्रयवसनम् 'अनद्यतनम्'।..... एकस्या रात्रेश्चतुर्थो यामो दिवसश्च सर्वो, द्वितीयायाश्च रात्रेः प्रथमोऽद्यतन इत्याहुः**। यहाँ 'प्रथमः' का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता। अन्यथा दूसरी रात के प्रथम प्रहर के बाद के दो (दूसरे-तीसरे) प्रहर क्या कहलायेंगे ? क्योंकि दूसरा 'अद्य' तो आने वाले चौथे याम से ही प्रारंभ होगा।
3. निरुक्त 1.6 : **अद्यास्मिन् द्यवि। द्युरित्यह्नो नामधेयम्, द्योतत इति सतः**। 'दिन' से 'दिन-रात' दोनों का बोध होता है : **'अहः' शब्दोऽप्यहोरात्रवचनः** (शाबरभाष्य 8.1.17)।
4. अष्टा० 4.3.23 : **सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु-ट्युलौ तुट् च**।
5. म० भा० 3.2.115। अन्य व्याख्याओं के लिए भाष्यस्थ श्लोकवार्तिक :
   परोभावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम्।
   उत्त्वं वादेः परादक्ष्णः सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात्॥
   श्री शिवदत्त दाधिमथजी की टिप्पणि भी देखें।
6. कैयट 3.2.115 : **'वृत्ति-*द्वारेण विषय-व्यापनात् सर्वमिन्द्रियं वृत्ति-विषयेऽक्षि-शब्दो वक्तीत्यर्थः**। *गुरुकुल झज्जर सं० में 'वृत्ति' के स्थान पर 'व्युत्पत्ति'

अतः 'परोक्ष' का अर्थ है 'इन्द्रियातीत'। परोक्ष अनद्यतन भूत अर्थ में लिट् तथा परोक्ष से भिन्न अनद्यतन भूत में लङ् किया है।

(ग) व्यामिश्र भूत—व्यामिश्र का अभिप्राय है उपर्युक्त क-ख के मेल-जोल से बना काल। जैसे हमने आज और कल खाया था : **अद्य च ह्यश्चाभुक्ष्महि**। पाणिनि ने इस अर्थ में कोई प्रत्यय नहीं किया है।

(घ) सामान्य भूत—केवल बीतापन (भूतत्व) ही जहाँ अभिप्रेत होता है, और कोई विशेषता नहीं, उसे 'सामान्य भूत' कहते हैं। प्रमुख रूप से इसी अर्थ में क्रियाओं का प्रयोग अधिक होता है। इस अर्थ में भगवान् सूत्रकार ने लुङ् का प्रयोग किया है।

(ङ) आशंसार्थ में भूतवत् : यदि ऐसा हुआ, तो हम ऐसा करेंगे। यह लृङ् के ठीक उल्टा है : लृङ् में दो क्रियाओं में से पूर्व क्रिया अगली क्रिया का हेतु होती है तथा दोनों क्रियाओं का सिद्ध न होना (अनिष्पत्ति) भी अभिप्रेत होता है; परंतु इस आतिदेशिक भूत में पूर्वक्रिया की आशा प्रकट की जाती है, एवं यह उत्तर-क्रिया का हेतु नहीं होती। जैसे—लृङ् : यदि वर्षा अभविष्यन्, सुभिक्षमभविष्यत्।—यदि बारिस हो जाती, तो फसलें अच्छी हो जातीं (न बारिस हुई, न फसलें अच्छी हुईं)। भूतवत् 'गुरुश्चेदागमद्, वयमध्यगीष्महि।' अर्थात् गुरुजी आयें, तो हम पढ़ें।

भगवान् सूत्रकार ने अनद्यतन परोक्ष भूत में लिट् का, अनद्यतन भूत में लङ् का, सामान्य तथा आतिदेशिक भूत में लुङ् का विशेषरूप से विधान किया है। व्यामिश्र का विशेष प्रयोग भी नहीं मिलता तथा सूत्रकार ने प्रत्यय-विधान भी नहीं किया है। अतः इस अर्थ में सामान्य की तरह लुङ् ही समझना चाहिए।

'परोक्ष' आदि का अन्वय : पाणिनीय अष्टक में धातु से प्रत्यय-विधान के प्रकरण में 'काले' का अधिकार नहीं है, यह कहा जा चुका है। 'भूत' शब्द का अर्थ होता है : जिसकी सत्ता थी। (अर्थात् जो अब नहीं है), जो हो चुका, बीत चुका। अतः 'परोक्षे' को यदि 'भूते' का विशेषण भी बना दें, तब भी 'भूते' का क्या विशेष्य है ? यह प्रश्न बना ही रहता है। 'भूते' आदि शब्द धातुओं से प्रत्यय-विधान के प्रसंग में आये हैं। अतः 'भूते' का विशेष्य 'धातु' ही होगा। धातु का अर्थ व्यापार, क्रिया, भाव स्वभावतः ही परोक्ष होता है। अतः 'परोक्षे भूते' का अन्वय क्रिया से सम्भव नहीं है। क्रिया हो रही है, या हो चुकी है, यह भाग अल्पमात्र भी यदि किसी तरह

पाठ है। इसका तात्पर्य है : '√अश्+सि=अक्षि' व्युत्पत्ति के द्वारा 'अक्षि' शब्द √अश् (व्याप्ति) के कारण विषयों को प्राप्त करने से सभी इन्द्रियों का वाचक है, केवल चक्षु का नहीं। 'वृत्ति' पाठ विषय-व्यापन की प्रक्रिया बताता है। हमारे विचार में यही उचित है।

होता है, तो क्रिया के आश्रय को, अर्थात् कर्ता/कर्म को देख कर ही। भाववाच्य में भी कर्ता को देख कर ही क्रिया का भान होता है। 'गाड़ी चल रही है', यह बोध गाड़ी के अवयव चक्कों के घूमने एवम् उसके कारण शनैः-शनैः एक अवांतर भाव को प्रकट करते-करते उसको एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर सरकते, दूर की वस्तुओं को निकट आते और फिर पीछे छूट जाते देखने से होता है। अतः वर्तमान, परोक्ष भूत, भविष्यत् शब्दों का अन्वय प्रकृति (धातु) से लगने वाले कर्तृ/कर्म/भाववाचक लट्, लिट्, आदि प्रत्ययों के कर्त्रादि अर्थों से होना चाहिए। ये कर्त्रादि अर्थ **पञ्चकं धात्वर्थः** मत में धातु के अर्थ हैं। इसीलिए मूल में **भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोः** कहा है।

'परोक्ष' के अर्थ पर मतभेद : 100 वर्ष पूर्व की, 1000 वर्ष पूर्व की, किसी दीवार या आड़ आदि के व्यवधान में हुई, दो दिन पहले की, तीन दिन पहले की घटना परोक्ष होती है, इत्यादि कई मत हैं।[1] आचार्य कैयट का कहना है कि जो क्रिया (कर्ता) के इन्द्रिय के अविषय (अगोचर) साधन (करण) से सिद्ध होने वाली तथा अनद्यतन-भूत-कालिक है, उसके वाचक धातु से लिट् होता है।[2]

आमतौर पर जिस क्रिया का साक्षात्कार कर सके, ऐसा कोई भी मौजूद न हो, ऐसे दूर भूत काल में लिट् माना जाता है। पर यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऐसा मानने पर सूत्र में 'अनद्यतने' विशेषण व्यर्थ हो जायेगा। परोक्ष का उपर्युक्त अर्थ करने पर अद्यतन परोक्ष तो सम्भव ही नहीं होगा, क्योंकि उस क्रिया का कोई-न-कोई साक्षात्कार कर सके, अर्थात् उस क्रिया के समय मौजूद हो सके, ऐसे तो अनंत लोग अद्यतन भूत में मिलेंगे। अतः आचार्य कैयट का निर्णय ही समीचीन प्रतीत होता है।

उत्तम पुरुष में लिट् में अर्थ-भेद : स्वयं को अपनी क्रिया की परोक्षता अचेतन अवस्था में, अर्थात् सोते, नशे, पागलपन अथवा अन्यमनस्कता आदि में ही सम्भव है। अतः अपने लिए, अर्थात् उत्तमविभक्ति के साथ, परोक्षभूतार्थवाचक लिट् का प्रयोग उपर्युक्त स्थितियों में ही होगा।[3] परंतु, **इति शुश्रुम धीराणां ये न स्तद्विचचक्षिरे** (ई०

---

1. म० भा०, 3.2.115 : **कथंजातीयकं पुनः परोक्षं नाम ? केचित्तावदाहुर्वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति। अपर आहुर्वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति। अपर आहुः कुड्यकटान्तरितं परोक्षमिति। अपर आहुर्द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति।**
2. प्र० 3.2.115 : **इन्द्रियागोचर-साधन-साधितानद्यतन-क्रिया-वाचिनस्तु धातोर्लिट् प्रत्यय इति निर्णयः। तथा ह्यः पपाचेत्याद्यपि भवति।**
3. त० बो० : **स्व-व्यापारस्यापि वर्तमानता-दशायां व्यासङ्गादिना स्वयमप्रतिसन्धाने ततः कार्येणानुमितौ भवत्येव—'बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाहम्' इतिवत्।**

स्यात्। लस्य तिबादयः। 2172 लिट् च (3.4.115)—लिडादेशस्तिङ्-र्धधातुक-संज्ञ एव स्यान्न तु सार्वधातुक-संज्ञः। शबादयो न। 2173 परस्मैप-लिट् हो। ल् के स्थान में तिप् आदि। 2172 लिट् का आदेश तिङ् 'आर्धधातुक' संज्ञा वाला ही हो, न कि 'सार्वधातुक' संज्ञा वाला। शप् आदि नहीं होते। 2173 लिट् के स्थान में हुए तिप् आदि (नौ) परस्मैपद को णल् आदि (अतुस्, उस्; थल्, अथुस्,

---

उ० 10) इत्यादि वाक्यों में वैदिक वाङ्मय में तथा **न्यायार्जिता रूप्य-खुराः सवत्सा दुकूल-मालाऽऽभरणा ददावहम्** (श्रीमद्भा० 10.64.13) इत्यादि लौकिक वाङ्मय में, इसके अपवाद भी बहुत मिलते हैं।

'परोक्ष' का इतिहास : अथर्ववेद के एक प्रातिशाख्य चतुरध्यायिका (4.84) में, कातंत्र व्याकरण, कात्यायन के वार्तिकों, म० भा० (**ज्ञापकान्न परोक्षायाम्** 1.2.18 पर भा० वा०) में लिट् के स्थान पर 'परोक्षा' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। पाणिनि से पूर्व इसका प्रचलित अन्वर्थक संज्ञापद निस्सन्देह 'परोक्षा' ही था। लिट् तो प्रत्यय है।

2172 **लिट् च** (3.4.115)—**लङः शाकटायनस्यैव** (111), **आर्धधातुकं शेषः** (114) : **लिट् च आर्धधातुकमेव**—और लिट् आर्धधातुक ही होता है। लिट् (ल्) का स्वतंत्र कोई उपयोग नहीं होता, अतः लिट् के आदेश तिङों की यह आर्धधातुक संज्ञा की है। कुछ आचार्य यहाँ लिट् को लुप्त-स्थान-षष्ठ्यन्त (जहाँ 'लिट् के आदेश' इस अर्थ वाली षष्ठी का लोप हो गया है) मानते हैं।[1] मेरे विचार में लिट् यहाँ प्रथमांत और साभिप्राय ही है। तिङ, शित् की सार्वधातुकसंज्ञा और तिङ्, शित् से इतर की आर्धधातुक संज्ञा इससे पूर्व सूत्रकार ने की है। अब लिट्, इसी प्रकार **'लिङा-शिषि** (116) में लिङ्, को प्रथमांत देकर तिबादि होने से पूर्व ही—लिट्, लिङ् अवस्था में ही—इन सूत्रों से आर्धधातुक संज्ञा की है। इसके फलस्वरूप मंडूक-प्लुति से 'एव' की अनुवृत्ति आवश्यक नहीं है। तिबादि आदेश रूप को प्राप्त होने पर उनकी सार्वधातुक संज्ञा प्रथमांत 'लिट्', लिङ्' के विशेष पाठ के बल पर नहीं होगी।

लिट् के आर्धधातुक होने से सार्वधातुक परे रहते प्राप्त होने वाले शप् आदि प्रत्यय लिट् में प्राप्त नहीं होते।

2173 **परस्मै०** (3.4.82)—**लिटस्तझयोरेशिरेच्** (81)। **लिटः परस्मैपदानां णल्, अतुस्, उस्; थल्, अथुस्, अ; णल् वे, माः।** परस्मैपद प्रत्यय तथा णल् आदि दोनों

---

1. वा० म० तथा ल० श० शे०, भाग 2, पृष्ठ 434 : **षष्ठ्याः सौत्रो लुक्। तदाह 'लिडादेश' इति।**

नौ-नौ हैं, अतः **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (1.3.10) परिभाषासूत्र लागू होता है। 'लिटः' तथा 'परस्मैपदानां' दोनों में स्थाने-योगा षष्ठी है। अतः लिट् के स्थान में हुए परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों के स्थान में णल्, अतुस् आदि प्रत्यय आदेश के रूप में क्रमशः आते हैं। अर्थात् तिप् को णल्, तस् को अतुस्, झि को उस्; सिप् को थल्, थस् को अथुस्, थ को अ; मिप् को णल्, वस् को व और मस् को म आदेश होता है।

णल् के ण् की **चु-टू** (1.3.7) से इत्संज्ञा होती है, इसके फलस्वरूप धातु में णित् परे रहते होने वाले वृद्धि[1] आदि कार्य हो सकेंगे। णल् तथा थल् का 'ल्' भी **हलन्त्यम्** (1.3.3) से इत्संज्ञक है।[2] स् की इत्सज्ञा का निषेध **न विभक्तौ तु-स्माः** (1.3.4) से हो जाता है।

णल् तिप् का सर्वादेश कैसे ? : चु-टू (1.3.7) प्रत्ययसंज्ञक णल् के ण् की इत्संज्ञा करता है और प्रत्ययसंज्ञा तिबादियों के स्थान में णल् आदि आदेश हो चुकने पर ही होती है। अतः आदेश से पूर्व णकारादि की इत्संज्ञा न होने से णल् प्रत्यय उपदेश में अनेकाल् है। फलतः समूचे तिप् आदियों के स्थान में णल् होता है। आचार्य नागोजीभट्ट का कहना है कि **नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्** (प० 6) परिभाषा से निषेध होने से सर्वादेश का उपर्युक्त प्रकार ठीक नहीं है, अपितु ण्+अल् इस प्रकार प्रश्लेष होने से णल् प्रत्यय अनेकाल् है। और यह सर्वादेश होता है।[3] आचार्य विट्ठल का कहना है कि जब तक ण् की इत्संज्ञा नहीं होती, तब तक ण् अनुबन्ध नहीं कहला सकता, अतः उपर्युक्त परिभाषा यहाँ प्राप्त ही नहीं होती।[4] किंतु यह कोई दृढ़ तर्क नहीं प्रतीत होता : यहाँ अनुबंध से तात्पर्य भावी अनुबंध है। अन्यथा यह परिभाषा ही नहीं टिक सकेगी। ण् भावी अनुबंध है ही। तिप्, मिप् का आदेश ण+अल् होगा। अनुबंध लोप होने पर अ+अल् को प्राप्त सवर्ण-दीर्घ को बाध कर आर्ष पररूप **अतो गुणे** (6.1.97) से होगा। अतः नागेश की शंका तथा समाधान ठीक ही हैं। सम्भवतः इसीलिए आगे विट्ठलाचार्य ने **अथवा** से दूसरे अकार का प्रश्लेष मान कर सर्वादेश बताया है।[5]

'थ' आदेश की प्रक्रिया : 'थ' के यथासंख्य 'अ' में पतंजलि ने एक 'अ' का

---

1. द्र० 7.2.115 : **अचो ञ्णिति**, 116 : **अत उपधायाः** आदि।
2. लित् करने का प्रयोजन प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् को **लिति** (6.1.193) से उदात्त करना है।
3. ल० श० शे०, पृष्ठ 434 तथा म० भा० 1.1.55 : **अनेकाल्शित्सर्वस्य**।
4. प्र० प्र०, पृष्ठ 38.
5. प्र० प्र०, पृष्ठ 38 : **अथवा अकारो द्वितीयोऽत्र प्रश्लिष्टः। तेन सर्वादेशः।**

दानां णलतुसुस्थलथुस्णल्वमाः (3.4.82)—लिटस्तिबादीनां परस्मैपदानां णलादयो नव स्युः। 'भू+अ' इति स्थिते—2174 भुवो वुग्लुङ्लिटोः (6.4.88)— अ; णल्, व और म) आदेश होवें। 'भू+अ' इस स्थिति में—2174 √भू को वुक् यह आगम हो लुङ् तथा लिट् संबंधी अच् बाद में होने पर। नित्य होने के कारण वुक् गुण

प्रलेश्ष बता कर इसे भी अनेकाल् सिद्ध किया है।[1] आचार्य विट्ठल ने सरल और तत्र-सिद्ध प्रक्रिया अपनाई है कि यहाँ **तस्मादित्युत्तरस्य** (1.1.67) और **आदेः परस्य** (54) परिभाषाओं से धातु से परवर्ती 'थ' प्रत्यय के आदिम 'थ्' को 'अ' आदेश करके 'अ+अ' स्थिति में **अतो गुणे** (6.1.97) से पररूप होता है।[2] पतंजलि ने प्रश्लेष की क्लिष्ट कल्पना का आश्रय सम्भवतः इस आशय से लिया है कि जब अन्य सभी आदेश अनेकाल् ही हैं, तब एक 'अ' ही इससे वंचित क्यों रहे !

2174 **भुवो वुग्०** (6.4.88)—**अचि श्नु-धातु०** (77) : भुवो वुक् लुङ्-लिटोरचि—लुङ् और लिट् का अच् परे रहते √भू को वुक् हो।

'लुङ्-लिटोः' की विभक्ति पर विचार : आपाततः प्रकरणापतित अन्य सूत्रों को देखते हुए 'लुङ्-लिटोः' पद सप्तम्यन्त लगता है। काशिका में भी सप्तम्यन्त ही माना है। परन्तु षष्ठ्यन्त अधिक उचित है : सप्तम्यन्त मानने पर लुङ् लिट् का अच् परे रहने पर यह भाव नहीं आता और (1) लुङ्, (2) लिट् तथा (3) अच् ये तीनों परस्परनिरपेक्षरूप से परनिमित्त हैं, यह भ्रम होता है। यदि 'भुवः' को पंचम्यंत मान कर **तस्मादित्युत्तस्य** (1.1.67) से '√भू से परे स्थित लुङ् और लिट् के अच् को वुक हो,' इस प्रकार अर्थ करें, तो वुक् आगम अच् को प्राप्त होने से **आद्यन्तौ टकितौ** (1.1 46) से अच् के बाद होगा। या फिर कित् आदेश करने की अपेक्षा टित् (वुट्) आदेश किया जाए। पर कित्त्व 'अभूवन्', 'अभूवम्' में गुणनिषेध के लिए आवश्यक है। अतः दीक्षितजी ने इसे षष्ठ्यंत माना है।[3] फलतः √भू के अंत में वुक् (व्) लगेगा।

'वुक्' गुण-वृद्धि का बाधक है : वुक् आगम √भू (धातु) से किया गया है। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** (प० 38) से गुण या वृद्धि करने पर √भू-धातुत्व के अव्याहत रहने से प्रस्तुत सूत्र की दृष्टि से उसमें कोई अंतर नहीं आयेगा। अतः गुण और वृद्धि

---

1. म० मा० : **प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम् अ+अ इति। सोऽसौ अनेकाल्।**
2. प्र० प्र० : **बभूवेति—थकारस्याकारादेशः। 'धातो'रित्यधिकारात् 'तस्मादित्युत्तरस्य', 'आदेः परस्ये'ति थकारस्यादेशे द्वयोरकारयो'रतो गुणे' पररूपम्।**
3. न्यासकार ने भी 'भुवः' को षष्ठ्यंत ही माना है : **ओरित्यनुवृत्तेरुवर्णान्तस्य वुका भवितव्यम्।**

भुवो वुगागमः स्याल्लुङ्-लिटोरचि । नित्यत्वाद् वुग्गुण-वृद्धी बाधते । 2175 एकाचो द्वे प्रथमस्य (6.1.1), 2176 अजादेर्द्वितीयस्य (6.1.2)—इत्यधिकृत्य 2177 लिटि धातोरनभ्यासस्य (6.1.8)—लिटि परेऽनभ्यास-धात्ववयवस्यैकाचः

और वृद्धि को रोक देता है । 2175 प्रथम एक अच् वाले को दो । 2176 आदि अच् से परे स्थित दूसरे को । यह अधिकार करके । 2177 लिट् परे होने पर अभ्यासरहित धातु के अवयव प्रथम एक अच् वाले (समुदाय) को दो होते हैं । आदि के रूप में

हों, या न हों, वुक् तो प्राप्त होगा ही । इधर, वुक् करने पर इंगत अंग के न रहने पर गुण, वृद्धि प्राप्त नहीं होते । अतः **कृताकृतप्रसंगि नित्यम्** (प० 43) से वुक् नित्य है और अनित्य गुण/वृद्धिका बाधक है ।

2175-77 **लिटि धातो०** (6.1.8)—लिटि अनभ्यासस्य धातोः प्रथमस्य एकाचः द्वे; अजादेर्द्वितीयस्य । 'लिटि' परसप्तम्यंत है । 'अनभ्यासस्य' बहुव्रीहि है तथा 'धातोः' का विशेषण है । 'धातोः' में अवयवावयवि-भाव-संबंध में षष्ठी है । यह पद 'एकाचः' का विशेषण है । 'एकाचः' में बहुव्रीहि है और 'एक अच् वाले समुदाय का', यह इसका अर्थ है । यह 'प्रथमस्य' का विशेषण है । 'द्वे' से सूत्रकार तथा भाष्यकार दोनों का आशय 'द्विः प्रयोग', अर्थात् दो बार उच्चारण, करना है[1] और 'उच्चारणे' यह विशेष्य उनकी बुद्धि में है । फलतः 'एकाचः' में ल्युडंत 'उच्चारण' शब्द के योग में **कर्तृ-कर्मणोः कृति** (2.3.65) से षष्ठी, अथवा शेष संबंध में षष्ठी, है ।[2] 'अजादेः' पंचम्यन्त कर्मधारय है । **'अच्चासौ आदिः'** विग्रह में यद्यपि 'आदि' शब्द विशेषण है, अतः इसका पूर्वनिपात, होना चाहिए । परंतु (1) आर्ष प्रयोग होने से, या (2) राजदन्तादि आकृति-गण में मानने से, या (3) पूर्वनिपात प्रकरण के अनित्य होने से 'अच्' का पूर्वनिपात किया गया है, 'आदि' का नहीं ।[3] परिनिष्ठत अर्थ निम्न प्रकार से होता है—

लिटि (परे) अनभ्यासस्य धातोः (अवयवस्य) एकाचः प्रथमस्य (समुदायस्य) द्वे (उच्चारणे भवतः), अजादेर्द्वितीयस्य—लिट् परे रहते अभ्यासरहित धातु के (अवयवरूप)

---

1. इस विषय पर विशेष के लिए म० भा० तथा न्या० देखिये ।
2. किंतु **उपपद-विभक्तेः कारक-विभक्तिर्गरीयसी** (प० 103) नियम से प्रथम पक्ष ही ग्राह्य है—डा० प० रामप्रसाद त्रिपाठी ।
3. च० क०, पृष्ठ 437 । इस प्रसंग में श्रीभैरवमिश्र ने **अच आदेः** (पञ्चम्यंत शब्दों) का भी समास बतलाया है—**स च कर्मधारयः 'परिनिष्ठित-विभक्त्या समास' इति पक्षे पञ्चम्यन्तयोर्बोध्यः** । इस प्रकार विचित्र रीति अपनाने से क्या प्रयोजन-विशेष सिद्ध होता है, यह स्पष्ट नहीं है ।

एक अच् वाले पहले (समुदाय) का दो बार उच्चारण होता है; आदिम अच् से परे स्थित (एक अच् वाले) दूसरे (समुदाय) का (दो बार उच्चारण) होता है।

बाल-मनोरमा-सम्मत अन्वय पर विचार : बा० म० में 'एकाचः' तथा 'प्रथमस्य' को 'धातोः' पद से बोध्य अवयवार्थ (धात्ववयव) का विशेषण बतलाया है। उनके अनुसार अर्थ होता है—**लिटि (परे) अभ्यास-भिन्नस्यैकाच्कस्य प्रथमस्य धात्ववयवस्य द्वे उच्चारणे स्तः** (एक अच् वाले प्रथम धात्ववयव को द्वित्व होता है)। यह निम्न-लिखित हेतुओं से ठीक नहीं है :

(क) षष्ठ्यंत शब्द अवयवावयविभाव-संबध का वाचक होता है, और संबंधी (अवयव) का विशेषण हुआ करता है। जैसे—'रामस्य हस्तः' वाक्य में राम अवयवी है एवं हस्त अवयव है। इन दोनों के इस अवयवावयविभाव-संबंध को राम के साथ लगी षष्ठी ('स्य' प्रत्यय) बतलाती है। 'रामस्य' शब्द 'हस्तः' का व्यधिकरण विशेषण है। परन्तु प्रकृत में बा० म० कार ने 'प्रथमस्य' को 'धातोः' का विशेषण तो बताया है, पर 'धातोः' को किसी का विशेषण न बना कर विभक्ति-बोध्य अवयवार्थ को ही विशेषण बनाया है। यह अपने ही कंधों पर चढ़ने की तरह असम्भव है। (ख) काशिकाकार ने उचितरूप से 'धातोः' को 'एकाचः' का विशेषण बताया है—**तत्र धातोरवयवस्यानभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे भवतः** (6.1.1 तथा 6.1.8 पर काशिका)। (ग) न्यासकार ने भी बालमनोरमोक्त की तरह के 'एकाचः' तथा 'धातोः' के सामाधिकरण्य का खंडन करके लिखा है : **नैषैकाच इति समानाधिकरणा षष्ठी—'धातोरेकाच' इति, अपि त्ववयव-योगा—'धातोर्योऽवयव एकाच् (तस्य)' इति दर्शयितुमाह—'धातोरवयवस्य' इति।** (घ) कौमुदीकार ने भी इसी प्रकार अन्वय किया है। अतः बा० म० का अन्वय आचार्यपरम्परा के विरुद्ध होने से भी त्याज्य है।

'अजादेः' पर विचार : काशिका में 'अजादेः' की व्याख्या **अच् आदिर्यस्य धातोस्तदवयवस्य** करके अन्त में **"अत्र केचिदजादेरिति कर्मधारयात्पञ्चमीमिच्छन्ति—अच्चासावादिश्चेत्यजादिः। अजादेरुत्तरस्यैकाचो द्वे भवत इति। तेषां 'द्वितीयस्य' इति विस्पष्टार्थं द्रष्टव्यम्।"** लिखा है। उनका अभिप्राय यह है कि यदि कर्मधारय मानते हैं, तो 'अजादेः' की पंचमी का **तस्मादित्युत्तरस्य** (1.1.67) परिभाषा से स्वतः ही 'आदिम अच् से उत्तरवर्ती को, अर्थात् द्वितीय को, द्वित्व हो', यह अर्थ आ जाता है, तो 'द्वितीयस्य' पद अनावश्यक है, स्पष्टता के लिए दिया हो सकता है। अतः सूत्रकार के पदप्रयोग के ढंग से काशिकाकार को यहाँ बहुव्रीहि ही उचित प्रतीत हुआ है।

वा० दी० तथा ज्ञा० स० का इस पर कहना है कि 'आजादेः' में बहुव्रीहि मानने से **इन्द्रमात्मन इच्छति=इन्द्रीयति, इन्द्रीयितुमिच्छति=इन्दिद्रीयिषति** आदि उदाहरणों में दकार को द्वित्व का निषेध हो जाएगा। अतः कर्मधारय ही ठीक है।

इनके तर्क का आधार **न न्द्राः संयोगादयः** (6.1.3) में 'अजादेः' की अनुवृत्ति जाना है। जबकि काशिकाकार ने अनुवृत्ति नहीं की है। भगवान् भाष्यकार ने कर्मधारय ही माना है और 'द्वितीयस्य' को अनावश्यक ही बताया है।[1] इससे परोक्ष रूप से सिद्ध होता है कि वे **न न्द्राः०** में 'अजादेः' की अनुवृत्ति नहीं मानते। पर इसी सूत्र पर उन्होंने **अजादेर्द्वितीयस्य** से 'प्रथम एकाच् (अच्) को प्राप्त द्वित्व का निषेध द्योतित होने से प्रथम एकाच् समुदाय के व्यंजन को निषेध नहीं होता'[2] वार्तिक के हेतु के रूप में **न्द्रादिप्रतिषेधाच्च** वार्तिक दिया है। इससे सिद्ध होता है कि उनके मत में अजादि से परवर्ती संयोगादि न, द, र को **'अजादेर्द्वितीयस्य'** से प्राप्त द्वित्व का निषेध होता है। यह निषेध **न न्द्राः०** सूत्र में 'अजादेः' की अनुवृत्ति किये बिना नहीं हो सकता। इसके अधिकारसूत्र का अधिकार अग्रिम एक सूत्र में तो एकांशेन ही हो, और शेष उत्तरवर्ती सूत्रों में सर्वांशेन, इसमें कोई तुक भी नहीं है। अतः **न न्द्राः** में 'अजादेः' का अधिकार मानना ही उचित है : और 'अजादेः' में कर्मधारय ही ठीक है।

आचार्य कैयट ने दोनों पक्ष दिखला कर लिखा है कि दोनों समासों में कर्मधारय, इसमें अपने ही पदों के अर्थ के प्रधान होने से, मानना उचित है।[3] उनका आशय यह है कि[4] यद्यपि सूत्रकार को कर्मधारय समास उतना प्रिय नहीं प्रतीत होता, नहीं तो वे **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (1.2.42) सूत्र में ही **समानाधिकरण-तत्पुरुषः कर्मधारयः** इस प्रकार कर्मधारय करते, तथापि 'अजादेः' में बहुव्रीहि की अपेक्षा कर्मधारय ही उचित है, क्योंकि (1) कर्मधारय उत्तरपदार्थ-प्रधान होने से[5] स्वपदार्थ-प्रधान है, तो बहुव्रीहि अन्य-पदार्थ-प्रधान है; प्रस्तुत अधिकारसूत्र में कोई अन्य पदार्थ, जिससे बहुव्रीहि का अन्वय हो, नहीं है, अतः अनुक्त अन्य पदार्थ की कल्पना और उससे 'अजादेः' का अन्वय करने की अपेक्षा स्वोत्तर-पदार्थ-प्रधान कर्मधारय ही उचित है; (2) कर्म-धारय बहुव्रीहि की अपेक्षा अल्पापेक्षी होने से अंतरंग भी है। अतः

---

1. म०भा० 6.1.2 पर भाष्यवार्तिक 1 (**द्वितीयस्येत्यवचनम्; अजादेरिति कर्मधारयात् पञ्चमी**) तथा इसका भाष्य।
2. म० भा०, भाष्य-वर्तिक 5 : **तत्र पूर्वस्याचो निवृत्तौ व्यंजनानिवृत्तिरशासनात् पूर्वस्य।**
3. प्र० : **तत्र (1) व्याख्यानात्, (2) स्वपदार्थ-प्रधानत्वाद्, (3) अन्तरङ्गत्वाद् वा कर्मधारय एवाश्रयितव्य इति भावः।**
4. उ० : **'तत्पुरुषः समानाधिकरण' इत्यादौ कर्मधारय-योग्य-पदानां समासाभावस्य सूत्रकार-शैली-सिद्धत्वेऽपीह व्याख्यानात्कर्मधारय इति भावः। समास-द्वय-सम्भवे न्याय्योऽप्ययमित्याह—"अन्तरङ्गत्वाद्वा" इति। तद्बीजं स्वपदार्थ-प्रधानत्वम्।**
5. ल० सि० कौ० केवलसमास प्रकरण : **प्रायेणोत्तर-पदार्थ-प्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः।**

'अजादेः' पद में कर्मधारय ही उचित है, बहुव्रीहि नहीं।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि **अजादेर्द्वितीयस्य** (6.1.2) सूत्र **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (6.1.1) का अपवाद है। अतः जिस धातु के आदि में अच् है, वहाँ **लिटि धातोरनभ्यासस्य** के प्रथम वाक्य से प्रथम एकाच् को प्राप्त द्वित्व का निषेध उसी सूत्र के द्वितीय वाक्य से होकर उस आदिम अच् से परे स्थित दूसरे एकाच् समुदाय को द्वित्व होगा।[1]

'धातोः' कहने की आवश्यकता : यद्यपि यहाँ 'लिटि' के ग्रहण से ही 'धातोः' पद अर्थतः उपस्थित हो सकता है, क्योंकि लिट् होता ही धातु से है, पर वह 'धातोः' पंचम्यंत होता और उसे 'अनभ्यासस्य' के अनुकूल षष्ठ्यंत बनाना पड़ता। इस झंझट से बचने के लिए यहाँ कंठतः 'धातोः' पद दिया है। यह यदि न दिया होता, तो अन्वय होता : **धातोः लिटि अनभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे; अजादेर्द्वितीयस्य** (धातु से परे लिट् होने पर प्रथम एकाच् को द्वित्व हो)। इस अन्वय में दो आपत्तियाँ हैं :

(क) **वसूनि यानि शृण्विरे** (ऋ० सं० 1.15.8), **इम इन्द्राय सुन्विरे** (ऋ० सं० 7.32.4) में 'शृण्विरे' और 'सुन्विरे' प्रयोग **श्रु श्रवणे** तथा **षुञ् अभिषवे** (स्वा०) से लिट्, आत्मनेपद, प्रथम, बहुवचन के हैं। यहाँ झ (इरे) की **छन्दस्युभयथा** (3.4.117) से सार्वधातुक संज्ञा होने से √श्रु को **श्रुवः श्रृ च** (3.1.74) से 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय एवं √सु से **स्वादिभ्यः श्नुः** (3.1.73) से 'श्नु' होता है। विकरणसमेत 'शृणु' तथा 'सुनु' की धातुसंज्ञा न होने से सविकरण 'शृणु' तथा 'सुनु' के अवयव प्रथम एकाच् 'शृ' तथा 'सु' को द्वित्व प्राप्त ही नहीं है,[2] अतः ये रूप ठीक हैं। यदि 'धातोः' न दें, तो इन प्रथम एकाचों के 'लिट्-परक' आदि शेष लक्षण ठीक घट जाने से द्वित्व हो कर 'शिश्रृण्विरे', 'सुषुण्विरे' अनिष्ट रूप प्राप्त होते हैं।

---

1. द्वितीय एकाच् को किया द्वित्व प्रथम एकाच् के न्याय-प्राप्त द्वित्व का बाधक कैसे होगा ? इस विषय पर विशेष के लिए **अजादेर्द्वितीयस्य** (6.1.2) पर म० भा० तथा न्या० देखें। यहाँ विस्तर-भयात् नहीं दिया है।
2. न्यास में यह प्रसग विचारणीय है : **'धातु'-ग्रहणादिह** (1) **विकरणस्य द्विर्वचनं न भवति।** (2) **यस्तत्र धातुस्तस्य विकरणेन व्यवहितत्वान्न भवतीत्येके।** यहाँ प्रथम वाक्य में आपत्ति यह है कि इन दोनों उदाहरणों के विकरण को द्वित्व तो कथमपि प्राप्य नहीं है : प्रथम एकाच् 'श्रु' तथा 'सु' हैं, न कि विकरण; द्वितीय एकाच् होने से भी द्वित्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह आदिम अच् से परे नहीं है। अतः 'एके' का पक्ष ही ठीक है। उद्योत में ठीक ही कहा है : **अत्र विकरणान्त-समुदायो लिट्-परो, न धातुरिति तदीय-प्रथमैकाचो न द्वित्वमिति भावः।**

(ख) लिट्-परक प्रथम एकाच् केवल √पच्, √पठ् आदि एकाक्षर धातुओं में ही संभव होने से √जागृ आदि अनेकाक्षर धातुओं में प्रथम एकाच् और लिट् में धातु के दूसरे एकाच् का नित्य व्यवधान होने से इन धातुओं में इस सूत्र से द्वित्व प्राप्त नहीं होता। जबकि 'धातोः' जोड़ देने पर √जागृ आदि में धातुत्व के अव्याहत होने से द्वित्व में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि ऐसा करने पर लिट् से पूर्ववर्ती होना धातु को आवश्यक है, प्रथम एकाच् को नहीं।

प्रकृत सूत्र में 'धातोः' दे देने से इन दोनों आपत्तियों का निवारण हो जाता है।

'अनभ्यासस्य' की आवश्यकता पर विचार : भाष्यकार ने यहाँ 'धातोः' का औत्सर्गिक समर्थन करके 'अनभ्यासस्य' का खंडन करते हुए 'धातोः' का खंडन किया है। उनका कहना है कि **'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्'** (ऋ० सं० 1.79.2) जैसे वैदिक यङ्लुगंत उदाहरणों के लिए 'अनभ्यासस्य' पद आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ **यङोऽचि च** (2.4.74) से यङ् का लुक् होने पर **कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि** (ऋ 3.1.35) में 'अ-मन्त्रे' पर्युदास के कारण आम् प्राप्त नहीं है। तब √नोनू अभ्यासवान् होने से पुनः इस सूत्र से द्वित्व नहीं होगा। परंतु **आदित्यान्याचिषामहे** (ऋ० सं० 8.67.1) इत्यादि प्रयोगों में —जहाँ **सन्यङोः** (6.1.9) से अनभ्यास धातु को द्वित्व न्यायतः प्राप्त है, परंतु होता नहीं है—द्वित्वाभाव करने के लिए प्रस्तुत सूत्र में **छन्दसि वा** अंश और जोड़ना चाहिए। तब फिर 'अनभ्यासस्य' और उसके साथ-साथ 'धातोः' पदों की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इन दोनों पदों में प्रयोजनरूप लक्ष्य सभी छांदस ही हैं। फलतः उनमें **छन्दसि वा** कहने से ही दोनों पदों का कार्य चल जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रपाठ **लिटि, छन्दसि वा** होना चाहिए।

भाष्यकाकार के उपर्युक्त मत का आशय यह निकलता है कि छंदस् में तो इस प्रकार समाधान हो गया, और लोक में ऐसे प्रयोग बनते नहीं, अर्थात् यङंत से सन् में, सन्नंत से णिच् में चङ् वाले ऐसे प्रयोग साधु नही हैं।[1] इसका हेतु लोक में अप्रयोग ही हो सकता है। शास्त्र-दृष्ट्या तो ऐसे प्रयोग साधु ही हैं। भागवृत्ति में इस स्थिति में द्वित्व को उचित माना भी है। आचार्य कैयट ने यही तर्क लेकर कहा है कि जुगुप्सिषते (√गुप्+स्वार्थसन्नन्त>√जुगुप्स से इच्छार्थक सन्>√जुगुप्सिष), लोलूयिषते (√लू+यङ्>लोलूय+इच्छार्थक सन्) आदि में प्रथम (स्वार्थिक) सन् और यङ् के

---

1. ल० श० शे० : **यङ्ङन्तात्सनि, सन्निन्ताण्णिचि, चङि वा लोके प्रयोगा अनभिधानादसाधव एवेति तदाशयः।** उद्योत में यह मत 'अपरीय' के रूप में दिया गया है : **'अभ्यासप्रति०' इति—भाष्य-वार्तिक-स्वारस्याल्लोक एषां प्रयोगाणामसाधुत्वं कल्पयितुं युक्तमित्यपरे :**

निमित्त से **सन्यङोः** (6.1.9) की पुनः प्रवृत्ति **लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिः** (प० 121) से रुकने के कारण यहाँ आगे के **सन्यङोः** (9) में अनुवृत्ति जाने के लिए तो चाहे न करें, पर सन्नंत से, या यङंत से णिच् करके चङ् होने पर **चङि** (6.1.11) से प्राप्त द्वित्व का निवारण करने के लिए **चङि** में 'अनभ्यासस्य' की अनुवृत्ति के लिए यहाँ यह पद लेना ही पड़ेगा। अतः भाष्यकार का उपर्युक्त मत चिंत्य है।[1]

कैयट के उपर्युक्त व्याख्यान पर इतना कहना होगा कि √जुगुप्स तथा √जुगुप्सिष, √लोलूय एवं √लोलूयिष की पृथक्-पृथक् धातु संज्ञा होने से जब प्रकृति ही भिन्न-भिन्न हैं, तब लक्ष्य एक कैसे हुआ ? और **लक्ष्ये लक्षणस्य०** परिभाषा यहाँ कैसे प्राप्त होगी ? अतः **सन्यङोः** (9) के लिए भी 'अनभ्यासस्य' पद दिया जाना आवश्यक है।

सन्यङोः (9) तथा **चङि** (11) के लिए आवश्यक होने पर 'अनभ्यासस्य' को इन सूत्रों के साथ न दे कर इस सूत्र में देने का कारण यह है कि आचार्य ने अष्टक को संहिता (दंडक) में लिखा था, पृथक्-पृथक् सूत्र के रूप में नहीं। कालांतर में जब संहिता का छेदन करके दंडक-पाठ को पृथक्-पृथक् सूत्र के रूप में व्यवस्थित किया गया, तब दो प्रकार के दोष सूत्र पाठ में आ गये :

(क) संहिता पाठ में ही उच्चारण-सुविधा के लिए यदि कोई वर्णागम प्राचीन काल में हो गया था, तो संधिच्छेद के समय भी उस वर्णागम को आँख मूँद कर मान लिया गया। जैसे उपलब्ध **गोतो णित्** (7.1.90) सूत्र में गकार निष्प्रयोजन है, यह प्रायः सभी मानते हैं। तो यह आया कहाँ से ? इसका एक उत्तर बहुत संभव है : आचार्य का संहिता-पाठ **पुंसो**[2]**सुङ्गोतोणित्** रहा हो; पर कालांतर में उच्चारण-सुविधा के लिए गकार-वर्णागम से यही संहिता-पाठ **पुंसोसुङ्गोतोणित्** हो गया हो, और[3]

---

1. म० भा० 6.1.8, भा० वा० 2 'अभ्यास-प्रतिषेधानर्थक्यं चच्छन्दसि वा वचनात्।' पर प्र० : जुगुप्सिषते', 'लोलूयिषते' इत्यादौ सकृत्प्रवृत्त्या लक्षणस्य चरितार्थत्वात् पुनः-प्रवृत्त्यभावादुत्तरार्थोऽप्यभ्यास-प्रतिषेधो न कर्तव्यः। 'चङि' (6.1.11) इत्येतदर्थस्तु कर्तव्यः—यदा सन्यङन्ताण्णिचि कृते चङ् भवति 'अजुगुप्सत्', 'अलोलूयत' इति, तदा द्विर्वचनं मा भूत्। इति चिन्त्यमेतत्।
2. यहाँ अवग्रह-चिह्न (ऽ) जानकर नहीं दिया है, क्योंकि प्राचीन काल में यह पद-पाठ में ही प्रयुक्त होता था।
3. डॉ० अ० न० जानी, Journal of M. S. University, Baroda, Baroda, Vol. XII, No. 1, April 1963, में पृष्ठ 71 पर उनका लेख : An Emendation of a Sūtra of Pāṇini.

परस्य तु द्वितीयस्य। 'भूव्+भूव्+अ' इति स्थिते—2178 पूर्वोऽभ्यासः (6.1.4)
स्थित अच् से परे तो दूसरे (समुदाय) को 'भूव्+भूव्+अ' इस स्थिति में—2178 यहाँ

संहिता के छेदन के समय **छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति** परंपरा को ध्यान में रखकर **पुंसोसुङ्, गोतो णित्** यह पृथक् पाठ किया गया हो।

(ख) संहिता में दो सूत्रों के बीच में आनेवाला पद दोनों में से किसी भी एक के साथ ले लिया गया। जैसे 7.2.62-63 में **अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यमुपदेशेत्वतः** संहितापाठ में 'उपदेशे' पद पर-वर्ती सूत्र में लिया गया, हालाँकि इसका अन्वय (अपकर्षण) पूर्ववर्ती **अचस्तास्वत्०** में भी उपयोगी होने से करना पड़ता है।[1] इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में **लिटि धातोरनभ्यासस्यसन्यङोः** संहिता-पाठ में मध्यवर्ती 'अनभ्यासस्य' पद भी पहले सूत्र में ले लिया गया हो, यह संभव है।

आचार्य जिनेंद्रबुद्धि ने **छन्दसि वा** का खंडन एक और ही प्रकार से किया है : वैयाकरण-निकाय में **व्यत्ययो बहुलम्** (3.1.85) पर **छन्दसि सर्वे विधयो विकल्पन्ते** सिद्धान्त प्रसिद्ध है, तो इस सूत्र में **छन्दसि वा** कहना पिष्ट-पेषण होने से अनावश्यक है।

धातु प्रायः एकाच् हैं : धातुपाठ में धातु प्रायः एकाच् हैं। चुरादिपठित **कथ वाक्य-प्रबन्धे** आदि अदंत धातु, एवम् √उध्रस् (क्र्या० तथा चु०), √ऊर्णु (अदा०), √ओलण्ड् (चु०), √कुटुम्ब् (चु०), √कुमार (चु०), √गवेष (चु०), √चकास् (अ०), √जागृ (अ०), दरिद्रा (अ०), √दीधी (अ०), √निवास् (चु०), √ पल्पूल् (चु०, पाठांतर : क्षीर-स्वामी—√पल्यूल्, दोर्ग—√वल्यूल्), √वावृत् (दि०), √वेवी (अ०) एवं √समाज् (चु०) धातु अनेकाच् हैं।

एकाच् को द्वित्व का तात्पर्य : सूत्रस्थ 'एकाच्' पद में बहुव्रीहि से 'समुदाय' रूप अर्थ उपलब्ध होने से अवयवी एकाच् समुदाय को द्विर्वचन कर देने पर अवयवों का द्विर्वचन तो सुतराम् स्वतः ही सिद्ध है, अतः अकेले एक अच् मात्र को को द्वित्व प्राप्त नहीं होगा, किंतु एक अच् के साथ के हल् को भी द्वित्व होगा। यद्यपि एकाच् धातुओं में 'प्रथम' शब्द चरितार्थ नहीं होता, क्योंकि 'प्रथम' सापेक्ष शब्द है; तब भी व्यपदेशिवद्भाव से एकाच् धातुओं का एकमात्र अच् वाला समुदाय भी प्रथम् एकाच् ही माना जायेगा। अतः एकाच् धातुओं में द्विर्वचन करने में कोई आपत्ति नहीं है।

2178 **पूर्वोऽभ्यासः** (6.1.4)—**पूर्वः अभ्यासः** (पहला अभ्यास होता है)।

---

1. म० भा० 7.2.63 : **योग-विभागः करिष्यते—'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यमुपदेशे', ततः 'अ त्वतः'='अत्वतश्चोपदेशे' इति।** तथा ल० श० शे० पृष्ट 497 : **'उपदेशेऽजन्त' इति—'उपदेशे' इत्युत्तर-सूत्रस्थम्। तथा च सूत्रविभागादिहैव क्रियते।**

'पहला' शब्द सापेक्ष है : (1) दिशा की अपेक्षा पहला, या (2) अवयव के रूप में पहला, इस प्रकार यह (1) दिगपेक्षया पर और (2) अवयवापेक्षया पर इन दो पदार्थों की अपेक्षा करता है। यहाँ प्रकरण **एकाचो द्वे प्रथमस्य** के द्वित्व का है। इसमें अवयव-परक प्रथम एकाच् को द्वित्व किया है। अतः दिगपेक्षया परत्व या पूर्वत्व यहाँ सूत्रकार को अभिप्रेत नहीं है, यह प्रकरणानुरोध से स्पष्ट है।[1] अब प्रश्न है : किसका पहला ? 'पूर्व' और 'अपर' दोनों सापेक्ष शब्द हैं : दोनों को स्वयं की सिद्धि के लिए स्वयं से भिन्न एक और पदार्थ की आवश्यकता रहती है। प्रस्तुत सूत्र में दूसरा पदार्थ साक्षात् कहा नहीं है। अतः प्रकरण का आश्रय लेना होगा।[2] प्रकरण में भी 'पूर्वः' से सीधे अन्वित होने योग्य कोई शब्द नहीं है। प्रथमा द्विवचनांत 'द्वे' पद प्रकरण में प्राप्त है। 'पूर्व' शब्द को इसकी अपेक्षा भी है। अतः यहाँ यह पद अर्थतः उपस्थित होगा। पूर्व अवयव को बताने के लिए इसका अवयवषष्ठ्यंत (द्वयोः) के रूप में विपरिणाम होगा[3] : **द्वयोः पूर्वोऽभ्यासः** (दो का पहला अभ्यास होता है)।

एक को दो का विधान अष्टाध्यायी में छठे अध्याय में **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (6.1.1) से और आठवें में **सर्वस्य द्वे** (8.1.1) से हुआ है। प्राकरणिक और अप्राकरणिक में से प्राकरणिक का ग्रहण न्याय्य है।[4] अतः यहाँ मूल में 'इस प्रकरण में जो दो किये हैं, उनमें पहला अभ्यास होता है', कह कर इस प्रकरण के, अर्थात् षाष्ठ द्वित्व (से सम्पन्न समुदाय के, अथवा षाष्ठ-द्विरुच्चारणकर्मीभूत समुदाय[5]) के, पूर्वावयव की अभ्यास संज्ञा की है।

अभ्यास का अर्थ और इतिहास : 'अभ्यास' शब्द 'समास की तरह अन्वर्थक संज्ञा है। 'अभि+√अस्' का प्रयोग 'बार-बार' अर्थ में होता है। **अभ्यासानुपपत्तौ ज्योतिष्टोमः पूरणः** (का० श्रौ० सू० 24.7.18), **अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते। यथाऽहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति** (नि० 10.42), तथा **मिथ्योपपदात्-कृञोऽभ्यासे** (अष्टा०

---

1. कैयट : अवध्यवधिमत्सम्बन्धे दिग्योग-लक्षणा पञ्चमी भवति। यथा—'ग्रामात्पूर्वं' इति। इह त्ववयवावयवि-सम्बन्धो विवक्षितः।
2. म० भा० : कस्य पूर्वोऽभ्याससंज्ञो ? 'द्वे' इति च वर्तते।
3. म० भा० : अर्थाद्विभक्ति-विपरिणामो भविष्यति—पुरस्तात्प्रथमानिर्दिष्टं सदर्थात्-षष्ठी-निर्दिष्टं भविष्यति। कैयट : 'पूर्वविभक्तित्यागेन सामर्थ्याद्विभक्त्यन्तरस्योह' इत्यर्थः।
4. का० : तत्र प्रत्यासत्तेरस्मिन्प्रकरणे ये द्वे विहिते, तयोः।
5. कोष्ठस्थ शब्दावली डा० रामप्रसाद त्रिपाठीजी ने जोड़ने की कृपा की है।

—अत्र ये द्वे विहिते, तयोः पूर्वोऽभ्यास-संज्ञः स्यात् । 2179 हलादिः शेषः (7.4.60)—अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यतेऽन्ये हलो लुप्यन्ते । इति व-लोपः । जो दो किये गये हैं, उनमें पहला 'अभ्यास' संज्ञा वाला होता है । 2179 अभ्यास का आदिम हल् बचा रहता है, अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं । इससे व् का लोप (हो

1.3.71) में 'अभ्यास' का यही अर्थ है ।[1] पुनः-पुनः-करण-रूप इस प्रारंभिक अर्थ के अनंतर निरुक्त में इस शब्द का प्रयोग व्याकरण-तंत्र-प्रसिद्ध 'धातु का द्वित्व' अर्थ में हुआ है ।[2]

आचार्य पाणिनि का इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग (1) संक्षेप, (2) पूर्वाचार्य-परंपरा और (3) व्युत्पत्ति की दृष्टि से बहुत उचित है : आचार्य देवनन्दी ने (4.3.11 में) इसके स्थान में **च** का, शाकटायन ने **पूर्वस्यास्वेऽचि यु-व्योः** (4.1.76) में **पूर्व** का, चन्द्रगोमी ने **द्वित्वे-पूर्वस्यासमे** (5.3.84) में **द्वित्वे-पूर्व** का प्रयोग किया है; पर इनमें से कोई भी संज्ञा 'अभ्यास' की टक्कर की नहीं है ।

2179 हलादिः शेषः (7.4.60)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (58) : अभ्यासस्य हलादिः शेषः ।

व्याख्या पर मत-भेद : इस सूत्र की व्याख्या के विषय में आचार्यों के दो पक्ष हैं : (1) पतंजलि, कैयट और नागेश का, (2) आचार्य वामन, जिनेन्द्रबुद्धि तथा ज्ञानेन्द्र सरस्वती का । इस पक्ष के आचार्यों ने पतंजलि के पूर्वपक्ष के कैयट-कृत समाधान को ही अपना सिद्धान्त-पक्ष बनाया है, अतः तथा प्राचीनता के कारण भी पहले भाष्यकार का पक्ष देना ही उचित है—

भाष्यकार के समय गुरुपरंपरा में सूत्रपाठ **हलादिः शेषः** ही था । 'शेष' शब्द 'शिष्यते इति शेषः' अर्थ में कर्मवाच्य में √शिष्+घञ् से निष्पन्न है (बा० म०) । इसका कर्म 'हलादिः' शब्द है । अतः 'अभ्यास का हलादि शेष (बचा रहता) है,' यह सामान्य अर्थ होता है । 'हलादि' शब्द की व्याख्या तीन तरह से हो सकती है—

(अ) **षष्ठी तत्पुरुष :** 'हलामादिः=हलादिः' । इस पक्ष में दोष यह है कि √अक्ष्, √अट् आदि जो धातु अजादि हैं, उन में, हल् शेष रहेगा ।[3] जैसे 'अक्ष्+

---

1. का० 1.3.71 : **अभ्यासः=पुनः-पुनः करणम्, आवृत्तिः ।**
2. नि० 2.2 : **कक्षः—ख्यातेर्वाऽनर्थकोऽभ्यासः** (दुर्ग—ककारः) । 2.3 : **चकद्राति—'कद्राति' इति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः ।** व्याकरणशास्त्र की निरुक्त में प्रयुक्त प्राचीन शब्दावली के लिए मेरी निरुक्त-मीमांसा, पृष्ठ 420-427 देखें ।
3. म० भा० 7.4.60, भा० वा० 1 : **'षष्ठी-समास' इति चेत् ? अजादिषु शेष-प्रसंगः ।**

अक्ष्+अ' के दो हलों 'क्', 'ष' में पहला हल् शेष रहेगा। फलतः रूप 'अचक्ष' बनेगा। 'अट्+अट्+अ' में **आद्यन्तवदेकस्मिन्** (1.1.21) से आदिवद्भाव के कारण अभ्यास के हल् में आदिम हल् 'ट्' भी शेष रहना चाहिए।[1] अतः यहाँ भी 'अटट' रूप प्राप्त होता है।

(आ) कर्मधारय : 'हल्चासा आदिर्हलादिः' (अभ्यास का अव्यव जो आदिम हल्, वह शेष रहे)। इसका तात्पर्यार्थ होता है—आदि से भिन्न हलों का लोप होता है। इस पक्ष में आदि-भिन्न हल् के लोप का निमित्त हुआ आदिम् हल् का रहना।[2] फलतः 'शेष' का अर्थ हुआ 'आदि-भिन्न हल् का बच रहना', अर्थात् अन्य हलों का लोप। क्योंकि आदि हल् 'शेष' तभी कहलाएगा, जब अन्य हलों का लोप हो चुकेगा। इसके परिणामस्वरूप जहाँ कहीं अभ्यास में आदि हल् बचने को होगा, अर्थात् कई हल् होंगे, वहीं आदिम-भिन्न हल् का लोप होगा; अजादि धातुओं में नहीं। 'बच रहना' 'शेष' शब्द का अभिधेयार्थ होने से प्रधान है तथा 'अन्य हलों का लोप' तात्पर्यार्थ होने से गौण है। तो गौण आदि-भिन्न हल् का लोप कैसे होगा ?[3]

(इ) दो स्वतंत्र पद हैं : काशिका, कौमुदी आदि में यही पक्ष माना गया है।[4]

'हलादिः' पद के उपर्युक्त प्रकार से समस्त होने का खण्डन करके पतंजलि ने प्रकृत स्थल को अष्टाध्यायी-पाठ के ही आधार पर तीन प्रकार से लगाया है :

(क) **अत्र लोपोऽभ्यासस्य** (58) की अनुवृत्ति करके **ह्रस्वः** (59), **हलादिः शेषः** (60) सूत्र यथा-न्यास ही पढ़े जायें। इन तीन सूत्रों में 'लोपः' 'ह्रस्वः', 'शेषः', ये तीन पद विधेय हैं। 'लोपः' का अन्वय केवल 'ह्रस्वः' सूत्र में होगा। 'शेषः' का तात्पर्यार्थ

---

1. प्र० : षष्ठी-समासेऽप्याटतुराटुरित्यत्र टकारस्यादिवद्भावे न शेष-प्रसंगः। स च प्रागुक्त एव।
2. म० भा०, भा० वा० 2 : 'कर्मधारय' इति चेत् ? आदिशेष-निमित्तत्वाल्लोपस्य तदभावे लोप-वचनम्।
3. प्र० : 'शेषः'-शब्दोऽन्य-निवृत्ति-युक्तमवस्थानमाहेति यत्रैवाभ्यासे 'पपाच' इत्यादावादेर्हलोऽवस्थानं, तत्रैवान्यस्य निवृत्तिः स्यान्नान्यत्र। अवस्थानं हि शब्दार्थत्वात् प्रधानम्। न च प्रधानाभावे आनुषंगिक-कार्य-प्रवृत्तिः। 'आनक्ष' इत्यत्रापि अकार-षकारयोरस्यामवस्थायां निवृत्त्यप्रसंगः।
4. काशिका : अभ्यासस्य हलादिः शिष्यतेऽनादिर्लुप्यते। पदमञ्जरी : 'हलादिः' इत्यसमासः। समासे तु

कर्म-धारय-पक्षे स्यादादि-शब्दस्य पूर्वता।
षष्ठीसमासे त्वानक्षेत्यादौ शेषः प्रसज्यते॥

चूँकि लोप ही होता है, अतः यदि उसमें (**हलादिः शेषः** में) भी 'लोपः' की अनुवृत्ति पिष्ट-पेषण, अर्थात् तात्पर्यार्थ का ही अनुवाद (पुनः कथन), होने से व्यर्थ है। अतः सूत्रों का अन्वय यों होगा : **अभ्यासस्य ह्रस्वः लोपः। हलादिः शेषः।**[1] अर्थात् अभ्यास को[2] ह्रस्व हो (तथा अज्भिन्न का, अर्थात् हल् का) लोप हो। आदिम हल् शेष रहे। **ह्रस्वः** (7.4.59) से अज्मात्र—दीर्घ हो, या ह्रस्व—को ह्रस्व होगा। ह्रस्व को ह्रस्व का प्रयोजन ह्रस्वविधान करने पर प्राप्त लोप का निवारण है।[3] ह्रस्व करने पर यदि लोप मानें, तो ह्रस्व करना ही व्यर्थ होगा। अतः एक ही उदाहरण में ह्रस्व अच् को होगा और लोप हल् का होगा।[4]

इससे एक बात और भी निकलती है—'अभ्यासस्य' पद के षष्ठी-निर्दिष्ट होने से **अलोऽन्त्यस्य** (1.1.52) से ह्रस्व तथा लोप अंतिम अल् को होने चाहिएँ, फलतः ह्रस्व केवल √या, √पा, आदि अजंत धातुओं में ही संभव होगा और 'अनक्ष' आदि में अन्य हल् 'ष्' का ही होगा। अतः '**अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा लक्ष्य-विरुद्ध होने से नहीं लगती', यह सिद्ध होता है।[5] **ह्रस्वः** (59) से अच् को ह्रस्व करने पर 'पपाच' आदि में आदिम हल् को भी, अर्थात् प्, च् दोनों को ही, लोप प्राप्त होने पर उत्तर सूत्र **हलादिः शेषः** (60) से पकार-लोप का निषेध हो जायेगा।[6] इस पक्ष में 'हलादिः' असमस्त है।

(ख) सूत्र-संहितापाठ का छेद निम्न प्रकार से किया जाए: **अत्र लोपोऽभ्यासस्य** (58), **ह्रस्वः** (59), **अहल्** (60), **आदिः शेषः** (61)।[7] अर्थात् **ह्रस्वः** (59) से तो केवल ह्रस्व ही किया जाए, और 'अहल्' (अविद्यमानो हल् यत्र सः) से अन्वय के

---

1. म० भा० : इदं प्रकृतम् 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (58) इति; ततो वक्ष्यामि 'ह्रस्वः' (59)···। 'अभ्यासस्य लोपः' इत्यनुवर्तते, तत्र ह्रस्व-भाविनां ह्रस्वो, लोप-भाविनां लोपो भविष्यति; ततो 'हलादिः शेषः' चेति।
2. अचश्च (1.2.28) परिभाषा से ह्रस्व अभ्यास के अच् के स्थान में ही होगा।
3. प्र० : ह्रस्वो विधीयमानो···ह्रस्वस्य च लोप-बाधनार्थं विज्ञायते।
4. प्र० : अजन्तस्याभ्यासस्य ह्रस्वः—हल्विषय एवादिशेष-निरपेक्षी लोपोऽवतिष्ठते।
5. प्र० : एतदेव ('हलादिः शेष' इति सूत्रमेव) ज्ञापकं 'लोप-विधावलोऽन्त्य-परिभाषा नोपतिष्ठत' इत्यानक्षेत्यादावनन्त्यस्यापि हलो लोपो भवतीति न कश्चिद्दोषः।
6. प्र० : तत आदेरपि हलो लोपे प्राप्ते तद्बाधनार्थं 'हलादिः शेष' इति सूत्रितम्।
7. म० भा० : अथवैवं वक्ष्यामि—ह्रस्वोऽहल् : 'ह्रस्वो भवत्यभ्यासस्य' इति; ततोऽहल्—अहल् च भवत्यभ्यासः; तत 'आदिः शेषो भवत्यभ्यासस्य' इति।

लिए 'अभ्यासस्य' प्रथमांत में परिवर्तित होगा—**अभ्यासः अहल्** (अभ्यास हलूहित हो[1], अर्थात् अभ्यास के हलों का लोप हो)। यह उत्सर्गसूत्र है। इस पर अपवाद-सूत्र है—**आदिः शेषः** (61)। यहाँ 'आदिः' शब्द से प्रकरण-पतित तथा प्राप्त-लोप हल् का ही ग्रहण होगा : **अहल् अभ्यासः, आदिः (हल्) शेषः** (अभ्यास हलूहित हो, आदिम (हल्) बचा रहे)। इस व्याख्यान में कोई इस पक्ष में 'अहल्' भले बहुव्रीहि हो, किंतु यह और 'आदिः' आपस में असमस्त हैं। क्लिष्ट कल्पना भी नहीं है और लक्ष्य भी ठीक सिद्ध हो जाते हैं।[2]

(ग) संहिताच्छेद निम्न रीति किया जाए : **अत्र लोपोऽभ्यासस्य** (58), **ह्रस्वः** (59), **हल्** (60), **आदिः शेषः** (61)। 'लोपः' का अन्वय सामर्थ्य के कारण केवल **हल्** (60) से होगा।[3] (अ) 'लोपः' पद भावार्थ-घञंत है तथा 'हल्' पद 'लोपः' के योग में लुप्त-षष्ठीक प्रयोग है : **अभ्यासस्य ह्रस्वः** (59), **अभ्यासस्य हल् (=हलः) लोपः** (60), **अभ्यासस्य आदिः शेषः** (61)—अर्थात् अभ्यास को ह्रस्व हो, अभ्यास के हल् (का) लोप हो, अभ्यास का आदिम (वर्ण, प्रकरण से हल्) शेष रहे; (आ) 'लोपः' शब्द 'लुप्यते इति लोपः' अर्थ में कर्म अर्थ में घञ् से बना है ;[4] इस पक्ष में 'हल् लोपः' अन्वय ठीक है—**अभ्यासस्य हल् लोपः**—अर्थात् अभ्यास का हल् लुप्त होता है; शेष (अ) की तरह ही है। इस पक्ष में 'हलादिः' असमस्त पद हैं।

आचार्य कैयट ने भाष्य के उपर्युक्त मतों की व्याख्या करने के साथ-साथ कर्मधारय पक्ष (पृष्ठ 62 पर आ) पर भाष्यकार की आपत्ति का निम्नलिखित समाधान भी किया है : पाणिनीय तंत्र में संकेत-ग्रह (1) जाति तथा (2) व्यक्ति दोनों में माना जाता है।[5] प्रकृत स्थल में अनुवर्तमान 'अभ्यास' शब्द को भी यदि 'अभ्यास-जाति'-

---

1. प्र० : **'अहल् च' इत्यविद्यमान-हल्कोऽभ्यासो भवतीत्यर्थः।**
2. म० भा० 6.1.2, वा० 10, पृष्ठ 301, पर उद्योत में इसी पक्ष को ठीक बताया है।
3. म० भा० : **अथवा योग-विभागः करिष्यते—ह्रस्वादेशो भवत्यभ्यासस्य, ततो हल्—हल् च लुप्यतेऽभ्यासस्य। तत आदिः शेषः—आदिः, शेषश्च भवत्यभ्यासस्य।**
4. पद-मञ्जरी : **भाष्ये परिहारान्तरम्—'हल्' इत्येको योगः, अत्र 'लोपः' इति वर्तते। स च कर्म-साधनः; यथा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इत्यत्र अभ्यासस्य हल् लुप्यते; तत 'आदिः शेषः'।**
5. (1) 1.2.58 : **जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्।** (2) 1.4.21-22 : **बहुषु बहुवचनम्, द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने।**

परक मान लिया जाए, तो अभ्यास-जाति में आदिम हल् के विद्यमान रहने से आदिम हल् से रहित किसी अभ्यास व्यक्ति (किसी ख़ास अभ्यास) में विद्यमान आदिम-भिन्न हल् का भी लोप हो सकेगा। क्योंकि उस अभ्यासव्यक्ति में चाहे आदिम हल् न हो, पर इससे सभी अभ्यास तो आदि-हल्रहित नहीं हो जायेंगे। अतः अभ्यासत्वेन आदि हल् से युक्त तथा रहित अभ्यास में कोई अंतर न होने से कर्मधारय में कोई दोष नहीं है।[1]

(2) **काशिकाकार :** काशिका-कार ने कैयटका अनुसरण करते हुए कर्मधारय को ही उचित माना है[2] तथापि भाष्यकार के कर्मधारय-खण्डन की व्याख्या के प्रसंग में आचार्य कैयट ने जो यह कहा था कि 'शेष' शब्द के 'आदिम-भिन्न हल्लोप से युक्त आदिम हल् का बचना' अर्थ में 'बच रहना' शब्दार्थ होने से यद्यपि प्रधान है, एवं 'लोप' गौण, तो प्रधान रहित अट् आदि, अजादि धातुओं में गौण आदि-भिन्न हल्लोप कैसे लगेगा ?[3] इसे **'अपरे तु ब्रुवते'** कथन से सङ्केत करके इसके उत्तर में काशिकाकार का कहना है : बच रहना' शब्दार्थ होने से तो यद्यपि प्रधान हैं, पर इस सूत्र में विधेय तो 'लोप' ही है; क्योंकि 'आदिम हल् शेष है', यह कहना उपपन्न ही तब होगा, जब आदिमभिन्न हल् का लोप किया जायेगा; अतः वास्तव में तो इससे अनादि हल् के लोप का ही विधान किया जाता है,[4] इसलिये विधेय 'लोप' प्रधान है, एवं 'शेष' गौण[5]; तब फिर प्रधानभूत 'लोप' को 'शेष' की अपेक्षा क्यों होगी ?[6] अपितु 'शेष' ही लोपापेक्षी है; अतः आदिम हल् के न रहने पर भी 'आट' आदि में टकार का लोप प्रकृत सूत्र में कर्मधारय मानने से ही हो सकेगा।

कैयट और काशिकाकार की समीक्षा : आचार्य कैयट तथा काशिकाकार के आकृतिपक्षपरक समाधान पर वक्तव्य यह है कि आकृतिपक्ष का आश्रय एक क्लिष्ट

---

1. प्र० : तत्र यद्याकृति-पक्ष आश्रीयते, तदाऽभ्यासाकृतौ वर्तमानो हलादिः सर्वस्याम-भ्यास-व्यक्तावनादेर्हलो निवृत्तिं करोतीति दोषाभावः। 6.1.2, वा० 10, पृष्ठ 301 : हलादिः शेषे तु जाति-पक्षः। व्यक्ति-पक्षेऽपि वा प्रतिविधास्यते 'अहल्' अभ्यासो भवति, तत 'आदिः शेष' इति।
2. काशिका : आदि-शेष-निमित्तोऽयमनादेर्लोपो विधीयते। तत्राभ्यास-जातेराश्रयणात् क्वचिदपि वर्तमानो हलादिरनादेः सर्वत्र निवृत्तिं करोति।
3. पीछे पृष्ठ 62, पाद-टिप्पणी 3.
4. का० : तत्रायमर्थोऽस्य जायते—'अभ्यासस्यानादेर्हलो निवृत्तिर्भवती'ति। न्यास : तत्र=निवृत्तौ विधेयत्वात्प्रधानभूतायाम्।
5. वही : तदवस्थानमुक्तितो यद्यपि प्रधानम्। निवृत्तिरेव तु विधेयत्वात् प्रधानम्।
6. वही : 'सा (निवृत्तिः) किमित्यादेरविधेयां सतीमनिवृत्तिमपेक्षिष्यत ?' इति।

कल्पना है और भगवान् भाष्यकार की समृद्ध समाधानपरंपरा के आगे यह नहीं टिक सकता। गौण-प्रधानभाव की काशिकाप्रोक्त घर-प्रटक तो भगवान् सूत्रकार की प्रवृत्ति के विरुद्ध भी प्रतीत होती है : यदि सूत्रकार को लोप को ही प्रधानता देनी होती, तो वे बड़ी सरलता से **हलोऽनादेः** सूत्र बना कर **अत्र लोपोऽभ्यासस्य** से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करके अनादि हल् का लोप भी कर सकते थे और आदिम हल् को पारिशेष्यात् 'शेष' भी रख सकते थे। इसमें एक मात्रा का लाघव भी होता। अतः सूत्र के प्रस्तुत पदन्यास को देखते हुए भगवान् भाष्यकार की व्याख्याएँ ही सूत्रकार के अनुकूल, स्पष्ट एवं पूर्णतया निर्दोष प्रतीत होती हैं।

भाष्यकार की व्याख्याओं में आदेय कौन-सी है ? भाष्यकार की उपर्युक्त तीन व्याख्याओं में सर्वाधिक स्पष्ट, सरल और निर्दोष कौन-सी है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह विचार है :

(क) यह व्याख्या तंत्रतः तो शुद्ध है, पर 'लोपः' का अन्वय **'ह्रस्वः'** (59) से ही होगा, यह शिष्यबुद्धि के लिए ज़रा क्लिष्ट है। इसके अतिरिक्त अनावश्यक होते हुए भी ह्रस्व करना आदि कल्पनाएँ भी इसमें करनी पड़ती हैं।

(ख) इस व्याख्या में केवल 'अभ्यासस्य' को प्रथमांत बनाना पड़ता है। यह भी तंत्र-शुद्ध है।

(ग) इस व्याख्या में (1) 'लोपः' का अन्वय सामर्थ्य से केवल 'हल्' से है, तथा (2) 'हल्' लुप्तषष्ठीक है, इस प्रकार दो कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त 'अभ्यासस्य ह्रस्वः' तथा 'अभ्यासस्य आदिः शेषः' इतना कहने से ही अभ्यास का आदिम हल् शिष्ट रहने से काम चल जायेगा। ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् अच् का लोप नहीं हो सकेगा। अतः इस व्याख्या में 'हल्' सूत्र निरर्थक है। भाष्यकार ने यह पक्ष किस दृष्टि से दिया है, यह स्पष्ट नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि तीनों व्याख्याओं में (ख) व्याख्या ही अधिक स्पष्ट, सरल एवं निर्दोष प्रतीत होती है। आचार्य नागेश ने भी काशिका के जाति-पक्षाश्रयण के अलावा इसे ही दिखाया है। उन्होंने ल०श०शे०[1] में अन्वय थोड़ा-

---

1. उद्योत (6.1.2, वा० 1०, पृष्ठ 301) में दी व्याख्या अधिक भाष्यानुकूल और उचित है :, **'ह्रस्वोहलादिः शेष' इति संहितापाठे 'अहल्' इति विभज्यते। तत्र 'अभ्यासस्य' षष्ठ्यन्तं प्रकृतमपि सामर्थ्यात् प्रथमया परिणम्यते। तेन अभ्यासस्थस्य सर्वस्य हलो निवृत्तिः क्रियते। 'आदिः शेषः' इत्यनेन तु 'यत्रादौ हलः सम्भवस्तत्र सोऽभ्यनुज्ञायत' इति भावः। लक्ष्यानुसारि-पूर्वोक्त-व्याख्यानापेक्षयेदमेव युक्तम्।**

2180 ह्रस्वः (7.4.59)—अभ्यासस्याचो ह्रस्वः स्यात्।

गया)। 2180 अभ्यास के अच् को ह्रस्व हो।

सा भिन्न प्रकार से किया है—**अभ्यासस्य अहल्=हलभावो भवति; यश्चादिः, स तत्र शिष्यते।** यहाँ इन्होंने 'अभ्यासस्य' को प्रथमांत भी नहीं किया है और 'अहल् का अर्थ 'हल् का न होना' किया है। 'अहल्' का यह अर्थ होता है, कि नहीं, यह तो वैयाकरण जानें[1], म० भा० तथा प्र० को तो 'अहल्' में बहुव्रीहि ही इष्ट है।[2]

दीक्षितजी ने किस पक्ष का आश्रय लिया है ? : सिद्धांत-कौमुदीकार को काशिका का मत इष्ट प्रतीत होता है, यह (क) **आदिः हल् शिष्यते,** इस प्रथमासामानाधिकरण्य से और (ख) **अन्ये हलो लुप्यन्ते** इस नियम के आश्रय से प्रतीत होता है। न्यास में कहा भी है : **सिद्ध एव ह्यादेरवस्थाने 'हलादिः शेष' इतीदं विधीयमानं नियमार्थं विज्ञायते—आदेरेव हलोऽवस्थानं भवति, न त्वनादेः।**

2180 **ह्रस्वः (7.4.59)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य।** 'ह्रस्व' शब्द से 'अचः' पद **अचश्च** (1.2.28) परिभाषा से आता है। 'अभ्यासस्य' अवयव-षष्ठ्यन्त है : **अभ्यासस्य (अवयवस्य) अचः ह्रस्वो (भवति)**—अभ्यास के (अवयव-रूप) अच् को ह्रस्व होता है।

कैयट की व्याख्याः आचार्य कैयट ने परिभाषा-बलात् प्राप्त 'अचः' पद को 'अभ्यासस्य' का विशेषण मान कर 'अचः' में तदंत-विधि करके **अलोऽन्त्यस्य** (1.1.52) परिभाषा से **अजन्तस्याभ्यासस्य अन्त्यस्य अलः ह्रस्वः** (अच् अंत वाले अभ्यास के अंतिम अल् को ह्रस्व हो) अर्थ किया है। सामर्थ्य से ह्रस्व अभ्यास के अच् को ही होगा, अल् को नही।[3]

कैयट की समीक्षा : इस व्याख्या में दोष यह आता है कि **छो छेदने** (दि० 1146) से लिट्, प्रथम, ए० व०, में **आत औ णलः** (7.1.34), से णल् को औ : 'छा+छा +औ' स्थिति में **छे च** (6.1.73) से 'तुक्' आगम होने पर **यदागमाः०** (प० 12) से

---

1. नञ्-तत्पुरुष से अथवा अव्ययीभाव से यह अर्थ भी वैयाकरण-कुल में प्रसिद्ध ही है। —डा० पं० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी।
2. म० भा० : **ततोऽहल्=अहल् च भवत्यभ्यासः।** प्रदीप : **अहल्चेति—'अविद्यमान-हल्कोऽभ्यासो भवती'त्यर्थः।**
3. प्र० 7.4.60 : **'ह्रस्व'-श्रुत्याऽच्परिभाषोपस्थानादजन्तस्याभ्यासस्य ह्रस्वो विधीयमानोऽलोऽन्त्यस्येति वचनादच एव दीर्घस्य ह्रस्वस्य च लोप-बाधनार्थो विज्ञायते···।**

2181 भवतेरः (7.4.73)—भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्याल्लिटि ।

2181 भू धातु के अभ्यास के उकार को अ हो लिट् परे रहते ।

अभ्यास के हलंत होने के कारण यहाँ ह्रस्व प्राप्त नहीं होगा । फलतः **चाच्छौ** यह अनिष्ट रूप बनेगा, तथा √भी, √या आदि अजंत धातुओं में ही ह्रस्व हो सकेगा, √काश्, कास्, √कूज √क्रीड् आदि में नहीं । अतः **'अभ्यासस्य'** में व्यधिकरण-षष्ठी—अवयव-षष्ठी—मानना अधिक उचित है ।[1]

'ह्रस्व' का अर्थ तथा इतिहास : 'कम होना', 'क्षीण होना' 'छोटा होना' अर्थ में[2] प्रचुर प्रयुक्त, परंतु धातु-पाठ में शब्दार्थ में[3] पठित 'ह्रस' धातु से **उणादयो बहुलम्** (3.3.1) से, या **ह्रस्वं लघुः** (1.4.10) सूत्रनिर्देश से 'व' प्रत्यय करने पर[4] 'ह्रस्व' शब्द बनता है । इसका अर्थ 'छोटा', 'ओछा', 'क्षीण', 'बौना', 'कम' होता है । इसका सर्व-प्रथम प्रयोग ऐ० आ० (3.1.5) में **इति ह स्माह ह्रस्वो माण्डूकेयः** में उपलब्ध होता है । श्रौतसूत्रों में 'लघु' के अर्थ में और प्रातिशाख्यों में 'लघु स्वर' के अर्थ में प्रयोग मिलता है ।[5] नि०, ऋक्प्रा० तथा नाट्य-शास्त्र में 'निर्+√ह्रस्' का इस अर्थ में प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है ।[6]

2181 **भवतेरः** (7.4.73)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (58), व्यथो लिटि (68) : **भवतेः अभ्यासस्य अः लिटि** । यहाँ **'अभ्यासस्य'** की षष्ठी के कारण **अलोऽन्यस्य** (1.1.52) तथा **षष्ठी स्थाने-योगा** (49) परिभाषाएँ भी आती है । **भवतेः** भू से धातु-निर्देशक श्तिप् से बने 'भवति' का षष्ठी, ए० व० का रूप है । **भवतेरभ्यासस्य**

---

1. **ह्रस्वः** (7.4.59) पर ल० श० शे० और **हलादिः शेषः** (7.4.60) पर उद्योत ।
2. नि० **ह्रस्वो ह्रसते :** (3.15) पर दुर्गः **ह्रसितो हि भवति स महतः सकाशात्** ।
3. **तुस ह्रस ह्लस रस शब्दे** (भ्वा०, 18.59) ।
4. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 125 **ह्रस्वो बाहुलकात्, ह्रस्वं लघुः** (1.4.1०) **इति निर्देशाद्वा व-प्रत्ययः** ।
5. तै० प्रा० 1.31 : **ऋकार-लृकारौ ह्रस्वौ'**; वा० प्रा० 1.57 : **अमात्र-स्वरो ह्रस्वः**; चतुरध्यायिका 1.59 : **एक-मात्रो ह्रस्वः**; ऋक्तन्त्र 1.3 : **ह्रस्वाद्दीर्घो, दीर्घाद्-ह्रस्वः**; ऋक्प्रा० 1.17 : **ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ताः स्वराणाम्** ।
6. नि० 2.17 : **निर्ह्रसितोपसर्ग—आहन्तीति**; 6.11. ऋक्प्रा० 4.90 : **स्पर्शान्तस्था-प्रत्ययौ निह्रसेते**; ना० शा० 14.22-23 : **य इमे स्वराश्चतुर्दश, तत्र वै दश समानाः । पूर्वो ह्रस्वस्तेषां, परश्च दीर्घो विधातव्यः** ।

(अन्त्यस्यालः स्थाने) अः (इति आदेशः भवति) लिटि (परे सति)—भू धातु के अभ्यास (के अंतिम वर्ण) को 'अ' (आदेश होता है) उसके पश्चात् लिट् होने पर।

भू के अभ्यास का अंन्त्य अल 'ऊ' ही है। वृत्ति में 'उकारस्य' देकर दीक्षितजी ने **अलोऽन्त्यस्य** का उपयोग तात्पर्यतः किया है।

धातु को श्तिप् से निर्दिष्ट करने के कारण यह सूत्र यङ् लुक् में नहीं लगेगा।

'भवतेः' में 'भू' अनुकरण-परक शब्द है। अतः धातुत्वेन अभिमत यावन्मात्र 'भू' शब्द का यहाँ ग्रहण होगा। फलतः **अस्तेर्भूः** (2.4.52) से अस् को विहित आदेशज 'भू' चौरादिक **भू प्राप्तावात्मनेपदी च** और **कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि** (3.1.40) से अनुप्रयुक्त 'भू' में भी यह सूत्र लगेगा। आदेशज 'भू' के विकरण का कहीं भी लुक् न होने के कारण **लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्** (प० 91) यहाँ लागू नहीं होती। श्तिप् के शित्व के निमित्त हुए शप् का लुक् भी यहाँ नहीं होता। क्योंकि यहाँ अकेली आदादिक (आदेशज) भू ही इष्ट नहीं है, अपितु धातुत्वेन अभिमत सभी भू शब्दों का अनुकरण इष्ट है, यदि शप् का लुक् करके **भूतेरः** सूत्र बने, तो यहाँ सीधे ही 'केवल आदादिकका ग्रहण है', यह प्रतीति होगी।

अकेले अभ्यास का कोई अर्थ नहीं है। अतः यहाँ **अलोऽन्त्यस्य** का **नानर्थकेलोन्त्यविधिः०** (प० 105) से निषेध नहीं समझना चाहिए : क्योंकि **अनभ्यासविकारे** पर्युदास वाक्य से निषेध का निषेध हो जाने से यह परिभाषा यहाँ प्राप्त ही नहीं है (—ल० श० शे०)।

'भवतेः' के शप् पर मत-भेद : आचार्य क्षीरस्वामी और रामचन्द्र का कहना है कि कर्त्रर्थक 'भवतेः' शब्द के प्रयोग के कारण यह सूत्र भाव-कर्म-वाच्य में नहीं लगता; केवल कर्तृवाच्य में ही लगेगा। इस पर प्रसादकार का कहना है कि भवतेः में श्तिप् तथा शप् कर्त्रर्थक है।[1]

दीक्षितजी (प्रौढमनोरमा) के अनुसार यह उचित नहीं है। क्योंकि श्तिप् केवल धातु के स्वरूप-निर्देश के लिए ही प्रयुक्त होता है, कर्त्रर्थ में नहीं। यहाँ शप् भी कर्त्रर्थक नहीं कहा जा सकता। यद्यपि शप् कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते ही होता है, और इसी लिए शप् के निमित्त श्तिप् को कर्त्रर्थक होना चाहिए। पर यह तंत्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि अष्टाध्यायी में प्रयुक्त सभी श्तिबंत शब्दों में सारे विकरण अनर्थक हैं।

---

1. प्र० कौ०: **भवतेरिति कर्तृनिर्देशाद् भावकर्मणोर्नात्त्वम्।** प्र० प्र० : **कर्त्रर्थयोः श्तिप्शपोर्निर्देशादित्यर्थः।** क्षी० त०, पृष्ठ 9 : **भावकर्मणोरत्त्वं नेत्याहुः। बुभूवे त्वया, अनुबुभूवे सुखम्।**

किसी कर्तृ, कर्म, या भावरूप अर्थविशेष में नहीं हुए हैं। ये केवल श्तिप् के शित्त्व के निमित्त से होते हैं। ऐसा यदि न माना जाए, तो **उपसर्गात्सुनोति-सुवति** (8.3.65) इत्यादि सभी सूत्र केवल कर्तृवाच्य में ही लगने चाहिएँ, भाव, कर्म वाच्यों में नहीं। अतः क्षीरस्वामी और रामचन्द्र का उपर्युक्त व्याख्यान सिद्धांत-विरुद्ध है। अन्य आचार्यों की भी इस विषय में सहमति है।[1]

इस पर कुछ लोगों का कहना है कि दीक्षितजी का 'श्तिप् को शित् करने से ही शप् होता है', यह कह कहना उचित नहीं है। क्योंकि यह शित्त्व पिवतिः, ग्लायतिः आदि प्रयोगों में √पा को 'पिव' आदेश करने में **आदेच उपदेशेऽशिति** (6.1.45) से प्राप्त आत्त्व के निषेध में चरितार्थ हो ही जाता है। अतः **उपसर्गात्सुनोति०** (8.3 65), **ध्यायतेः सम्प्रसारणं च** (3.2.178 पर वा० 4) इत्यादि प्रयोगों से लक्षित होता है कि सूत्रकार तथा वार्तिककार को कर्तृवाचक सार्वधातुक परे न रहते भी शवादि विकरण श्तिबंत शब्दों में इष्ट हैं। इतना ही नहीं, भावकर्मवाची सार्वधातुक के न होते हुए भी **विभाषा लीयतेः** (6.1.51) आदि में यक् भी किया है।[2] अतः श्तिबंत शब्दों में विकरणों के प्रयोग में कर्त्रादि अर्थों का कोई भी नियम नहीं है।

मुग्धबोधकार ने दोनों पक्षों का मन रखते हुए 'भावकर्म' में 'विकल्प से अकार होगा' कहा है।[3] पर यह उचित नहीं है। उपर्युक्त प्रकार से पाणिनीय शास्त्र के विरुद्ध होने के साथ-साथ यह लक्ष्यों के भी विरुद्ध है : लिट् में उकारवान् रूप यङ्लुक् को छोड़कर कहीं भी प्रयुक्त नहीं मिलता।

श्रीश्रीशचंद्र वसु तथा युधिष्ठिर मीमांसक ने भ्रम से रामचद्र के मत को काशिका का मत मानकर काशिका से **'अनुबुभूवे कम्बलो देवदत्तेन'** उदाहरण दिया है तथा 'इस पर परवर्ती वैयाकरण सहमत नहीं हैं', यह कह कर खण्डन किया है।[4]

---

1. का० : **'भवते'रिति धातु-निर्देशादिहापि भवति—अनुबभूवे कम्बलः। देवदत्तेन बभूवे।** न्या० : **'अनुबभूवे' इति कर्मण्यात्मनेपदम्।** मा० धा० वृ०, पृष्ठ 16 तथा त० बो० और उसमें उद्धृत **तस्यातपत्रं बिभराम्बभूवे, विभावरीभिर्बिभराम्बभूविरे** प्रयोग भी देखें।
2. **इक्श्तपौ धातुनिर्देशे** (3.3.108 पर वा० 2) पर त० बो०।
3. मु० बो : **भुवोऽङ्ग्धबोध ढ्यां, ढ्यभावे तु वा।**
4. इनकी अष्टाध्यायी की अंग्रेजी टीका, खंड 2, पृष्ठ 1480 और सि० कौ० (अंग्रेजी टीका), खंड 2, पृष्ठ 12. यु० मी, क्षी० त०, पृष्ठ 9, पा० टि० : **क्षीरस्वामी त्वत्र काशिकाकारमतमाश्रितवान्।**

2182 अभ्यासे चर्च (8.4.54)—अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च । झशां जशः, खयां चरः । तत्रापि 'प्रकृति-जशां प्रकृति-जशः, प्रकृति-चराम्प्रकृति-चर'

2182 अभ्यास में (स्थित) झलों को चर् और जश् हों । झलों को जश्, खयों को चर् । उनमें भी 'स्वाभाविक जशो को स्वाभाविक जश्, स्वाभाविक चरों को

परंतु काशिका में **भवतेरिति धातु-निर्देशादिहापि भवति—अनुबभूवे कम्बलो देवदत्तेन** ('भवतेः' में धातु के अर्थ का निर्देश है, यानी कर्त्रर्थ का नहीं; अतः यह अकार इन उदाहरणों में भी होता है—**अनुबभूवे कम्बलः देवदत्तेन**) पाठ ही मिलता है । न्यास में **'अनुबभूवे' इति—कर्मण्यात्मनेपदम्** व्याख्या की गई है ।[1]

2182 **अभ्यासे चर्च** (8.4.54)—'च' से **झलां जश् झशि** (53) सूत्र से 'जश्' का अनुकर्षण होता है । चकारानुकृष्ट होने से जश् उत्तरसूत्रों में नहीं जायेगा : **अभ्यासे झलां (स्थाने) चर्, जश् च**—अभ्यास में झलों के स्थान में चर् और जश् हो ।

झल् कुल 24 हैं । इनमें से तीन (श्, ष्, स्) का **शर्पूर्वाः खयः** (7.4.61) से लोप आगे बताया जायेगा और ह् को **कुहोश्चुः** (7.4.62) से झ् आदेश होगा । फलतः इस सूत्र में 20 झल् बाकी रहे । झल् प्रत्याहार में भी (1) झश् तथा (2) खय् ये दो प्रत्याहार आते हैं । बाह्य प्रयत्न (संवार, नाद और घोष) की समता के कारण **स्थानेऽन्तरतमः** (1.1.50) से झश् के स्थान में जश् होगा तथा विवार, श्वास और अघोष की समता से खय् को चर् होगा । झश् प्रत्याहार में जश् और खय् में चर् प्रत्याहार आता है । स्वभावतः (धातु में उपदेश के समय ही) जो जश् हैं, उन्हें कहीं चर् और स्वभावतः चरों को कहीं जश् आदेश न समझ लिया जाए,[2] इसके लिए भाष्यकार का मंतव्य है कि **स्थानेऽन्तरतमः** (1.1.50) तथा **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** (प० 120) से स्वाभाविक जश् को भी जश् ही तथा स्वाभाविक चर् को चर् ही आदेश होंगे ।[3]

---

1. चौखम्बा-सं०, 1952 ई०, में इसके बाद 'बभूवे' भी मिलता है, जो स्वामी द्वारिकादासजी के सं० में नहीं है । यह 'बभूवे' भाववाच्य में अभीष्ट है । परन्तु न्यास में केवल कर्मवाच्य की व्याख्या की गई है । अतः यहाँ 'बभूवे' प्रक्षिप्त लगता है ।
2. न्यास : **प्रकृति-चरां प्रकृति-चरो भवन्तीति जश्त्व-बाधनार्थम् । प्रकृतिजशां प्रकृति-जशो भवन्तीति चर्बाधनार्थम् ।**
3. म० भा० : **प्रकृति-चरां प्रकृति-चरो भवन्ति, प्रकृति-जशां प्रकृति-जशो भवन्ति ।**

इति विवेक, आन्तरतम्यात् । 2183 असिद्धवदत्राभात् (6.4.22)—इत ऊर्ध्व-
स्वाभाविक चर् सदृशतम के नियम के कारण होते हैं, यह भेद है। 2183 इस (6.4.22)

संवार, नाद, घोष परंतु अल्पप्राण झश् (ग्, ज्, ड्, द्, ब्) को क्रमशः वैसा ही जश् होगा। किंतु संवार, नाद, घोष परंतु महाप्राण झश् (घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्) को संवार, नाद, घोष परंतु अल्पप्राण जश् (क्रमशः ग्, ज्, ड्, द्, ब्) होगा। विवार, श्वास, अघोष एवम् अल्पप्राण खय् (चर्, अर्थात् क्, च्, ट्, त्, प्) को क्रमशः वैसा ही खय् (अर्थात् क्, च्, ट्, त्, प् ही) होगा। विवार, श्वास, अघोष एवं महाप्राण खय् अर्थात् खर्=ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्) को क्रमशः विवार, श्वास, अघोष किंतु अल्पप्राण चर् (अर्थात् क्, च्, ट्, त्, प्) होगा :

झश् के स्थान में	जश्।	खय् के स्थान में	चर्।
ग्, घ्,	ग्।	क्, ख्,	क्।
ज्, झ्	ज्।	च्, छ्।	च्।
ड्, ढ्,	ड्।	ट्, ठ्,	ट्।
द्, ध्,	द्।	त्, थ्	त्।
ब्, भ्,	ब्।	प्, फ्,	प्।

कुहोश्चुः और अभ्यासे चर्च में बलाबल : अभ्यास के झल् प्रत्याहारांतर्गत कवर्ग को **कुहोश्चुः** (7.4.62) से चवर्ग आदेश का विधान हैं। ऐसे स्थलों में यद्यपि **अभ्यासे चर्च** (8.4.54) **कुहोश्चुः** (7.4.62) की अपेक्षा पर होने के कारण वलवान् दिखता है, पर वस्तुतः (क) निरवकाश होने से, तथा (ख) **पूर्वत्रासिद्धम्** (8.2.1) से **कुहोश्चुः** (7.4.62) के प्रति **अभ्यासे चर्च** (8.4.54) के असिद्ध होने से **कुहोश्चुः** (7.4.62) ही बलीयान् ठहरता है। अतः कवर्गादि √कट्, √खिद्, √गद्, √घृ आदि धातुओं में पहले **कुहोश्चुः** (7.4.62) से चवर्ग (क्रमशः च्, छ्, ज्, झ्) आदेश होगा, फिर **पर्जन्य-वल्लक्षणप्रवृत्तिः** (प० 120) से **अभ्यासे चर्च** से च् तथा छ् को चकार ही होगा और शेष ज्, झ् को ज्। श्रीश्रीशचंद्र वसु ने **अभ्यासे चर्च** (8.4.54) से सीधे ही क् को च् तथा ख् को छ् आदेश वतलाया है।[1] यह शास्त्रविरुद्ध है।

2183 **असिद्धवदत्राभात्** (6.4.22)—असिद्धवत् अत्र आ भात्। 'सिद्ध' शब्द के

---

1. सि० कौ०, खंड 2, पृ० 13 : ख is replaced by क् which is changed to च्. क् is replaced by not क् but by च्. अष्टाध्यायी की टाका (खंड 2, पृष्ठ 1675) में उन्होंने ठीक रास्ता पकड़ा है।

मापादपरिसमाप्तेराभीयम्। समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं स्यात्। इति के बाद समाप्त होने तक का प्रकरण 'आभीय' (कहलाता) है। समान आश्रय (निमित्त) वाला (आभीय कार्य) जब करना हो, तब वह (पूर्व-कृत आभीय) असिद्ध हो। इससे

पर्याय हैं : परिनिष्पन्न, प्रवृत्त, कृत। **न सिद्धम्=असिद्धम्,** अर्थात् अप्रवृत्त। **असिद्धेन तुल्यं वर्तते**[1] **यत् तदसिद्धवत्,** अर्थात् जो असिद्ध की तरह होता है। **अत्र**-यहाँ, इनमें। **आ भात्** 'भ' तक—'भ' तक यहाँ असिद्ध की तरह होता है। 'भ' शब्द **यचि भम्** (1.4.18) से विहित एक संज्ञा है और इसी अध्याय के इसी पाद में **भस्य** (129) सूत्र पादांतगामी अधिकार वाला है। प्रकृत सूत्र में 'भ' शब्द से इसी **भस्य** का परामर्श होता है। **आ** अभिविधि अर्थ में है। अर्थात् जहाँ तक **भस्य** का अधिकार जाता है, वहीं तक असिद्धवत् है। इससे स्पष्ट होता है कि यह भी अधिकारसूत्र ही है।

अधिकारों की द्वि-विधता : शास्त्र में अधिकार दो तरह से होता है—(क) शास्त्र का, अर्थात् सूत्र का, अधिकार और (ख) कार्य का अधिकार। (क) वा० दी० के मत में यह कार्याधिकार है। यानी **भस्य** के अधिकार तक जो-जो कार्य विहित हैं, वे सब असिद्धवत् हो जाते हैं।[2] पर (ख) न्यास और तत्त्व-बोधिनी के मत में यह शास्त्राधिकार है : **आ भात्** पद से अवधि के रूप में सूत्रकार ने **भस्य** (6.4.129) शास्त्र (सूत्र) को लिया है, कार्य को नहीं। अतः यहाँ भी शास्त्र (सूत्र) का अधिकार ही सूत्रकार को इष्ट लगता है।[3] अतः **भस्य** के अधिकार की समाप्ति तक आने वाले सब सूत्र इस सूत्र से असिद्ध हो जाते हैं।

'आभात् शास्त्र' किसकी कर्तव्यता में असिद्ध हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है **अत्र** पद भगवान् भाष्यकार ने इसके दो अर्थ बताये हैं : (क) विषयप्रतिनिर्देश, अर्थात् **अत्र= एतस्मिन् आभाच्छास्त्रे (कर्तव्ये) आभात् शास्त्रमसिद्धवद् भवति**—इस (**भस्य** के अधिकार के अंतर्गत पढ़े सूत्र की कर्तव्यता) में आभीय सूत्र असिद्धवत् होता है। यहाँ वैषयिक अधिकरणार्थक सप्तमी के अर्थ वाले त्रल्-प्रत्ययांत **अत्र** पद से इस सूत्र का विषय बतलाया है। (ख) समाननिमित्तत्व। अर्थात् **अत्र=एतस्मिन् निमित्ते**—इस निमित्त में; **सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति** नियम के अनुसार 'इसी निमित्त में'। 'इस' शब्द से

---

1. अष्टा० 5.1.115 : **तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः।**
2. **ततश्च 'इनाम्नलोप' इत्यारभ्यापादपरिसमाप्तेर्विहितं यदाभीयं कार्यं, तदसिद्धवद् भवति।**
3. न्यास : **शास्त्रस्य सिद्धत्वेनोपादानाच्च शास्त्रस्यासिद्धवद्भावो युक्तः। अन्यथा हि कार्यमेव किंचिदवधित्वेनोपादीयेत॥**

निकटस्थ **आभात्** पद लिया जाएगा। अर्थात् 'आभात्' प्रकरण के एक सूत्र ने जिस निमित्त को मानकर कार्य किया है, उसी निमित्त में प्राप्त दूसरा 'आभात्' प्रकरण का सूत्र असिद्धवत् होता है। इस अर्थ में विषयप्रतिनिर्देश 'आभात्' का अर्थ है—**ननु चान्यदत्रग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तम्। किमुक्तम्? 'अत्र'-ग्रहणं विषयार्थमिति। अधिकारादप्येतत् सिद्धम्** (म० भा०)। यहाँ 'अपि' शब्द का संकेत इस तथ्य की ओर लगता है कि न तो अकेले 'अत्र' शब्द से, और न 'आभात्' शब्द से ही विषयनिर्देश तथा समाननिमित्तता का प्रतिपादन बनता है, अतः दोनों पद मिल कर ही दोनों प्रयोजन सिद्ध करते हैं। दूसरे पक्ष में 'अत्र' निमित्त-सप्तम्यर्थक है। 'निमित्त की समानता में' यह 'अत्र' का अर्थ है। किसके निमित्त से समानता? इस जिज्ञासा का उत्तर है अधिकारार्थक 'आभात्' पद। अर्थात् 'आभात्' सूत्र के समान निमित्त वाले की कर्तव्यता में। इसके बाद 'अत्र' का विषयनिर्देशरूप अर्थ 'निमित्त वाले' के साथ अन्वित हो जाता है। अर्थात् 'आभात्' सूत्र के समान निमित्त वाले इस (आभात्) की (ही) कर्तव्यता में। समानता चूँकि परापेक्षी होती है, अतः जिस निमित्त को मान कर पहला आभीय सूत्र लगा है, उसी निमित्त को मानकर यदि कोई दूसरा आभीय सूत्र प्राप्त होता है, तो पहला आभीय सूत्र असिद्धवत् होता है।[1] यदि प्रवृत्त तथा प्राप्त आभीय सूत्रों के निमित्त (आश्रय) भिन्न हैं, तो पहला आभीय असिद्धवत् नहीं होगा। अतः मूल में 'समान निमित्त वाला आभीय जब करना हो' लिखा है।

यह शास्त्राधिकार है। शास्त्र अर्थात् सूत्र अपने स्थान में स्थित रह कर ही अपने आगे के सूत्रों में जाता है। अतः यह सूत्र इस अधिकार की पूर्व अवधि है। अर्थात् इस सूत्र से अगले **श्नान्नलोपः** (23) से लेकर पाद समाप्त होने—**ऋत्व्य-वास्त्व्य-वास्त्व-माध्वी-हिरण्ययानिच्छन्दसि** (175) —तक प्रत्येक सूत्र उपस्थित होगा। इसी दृष्टि से मूल में 'इस सूत्र के बाद पाद समाप्त होने तक आभीय है' लिखा है।

इस असिद्धवद्भाव के दो प्रयोजन हैं : (क) स्थानी के निमित्त से प्राप्त सूत्र अपने से पूर्व के सूत्र के असिद्धवत् होने के कारण लग सकें। जैसे—एधि, शाधि। 'एधि' में '√अस्+हि' (लोट् म०, ए० व०)। **इनसोरल्लोपः** (6.4.111) से 'अ' का लोप—स्+हि। **हु-झल्भ्यो हेर्धिः** (6.4.101) की अपेक्षा **ध्वसोरेद्धावभ्यास-लोपश्च** (6.4.119) के पर तथा नित्य (**कृताकृत-प्रसङ्गि नित्यम्**, प० 43) होने से 'हि' को 'धि' आदेश हो, इससे पूर्व ही इस सूत्र से 'स्' को 'ए' आदेश हो जाता है : ए+हि।

---

1. वालमनोरमा : **'अत्रे'त्यनेन निमित्त-सप्तम्यन्तेन तु 'असिद्धीभवतः कार्यस्य यन्निमित्तं, तन्निमित्तके कार्ये कर्तव्ये सती'त्यर्थ-लाभात् 'समानाश्रये कार्ये कर्तव्ये सती'ति लभ्यते।**

अब धातु के झलंत न रहने के कारण 'हि' को 'धि' आदेश नहीं प्राप्त होता। तब **असिद्धवदत्राभात्** से एत्त्वविधायक सूत्र के असिद्धवत् कर दिए जाने के कारण 'ए' आदेश भी 'धि'-विधायक सूत्र की दृष्टि में असिद्ध ही हो गया। अतः 'ए' के स्थानी 'स्' झल् को निमित्त मानकर 'धि' आदेश होता है—ए+धि=एधि। इसी प्रकार 'शाधि' में भी **शा हौ** (6.4.35) के नित्य होने से 'हि' को 'धि' होने से पूर्व √शास् को 'शा' आदेश होता है। आगे की प्रक्रिया पूर्ववत् है।

(ख) आदेश के निमित्त से प्राप्त सूत्र आदेश-विधायक सूत्र के असिद्ध होने से न लग सकें। जैसे—**आगहि**—'आ+√गम्+हि,' शप् (अ) का **बहुलं छन्दसि** (2.4.76) से लुक्—आ+गम्+हि। **अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिक-लोपो झलि क्ङिति** (6.4.37) से 'म्' का लोप—आ+ग+हि। 'जहि' में √हन्+हि। **हन्तेर्जः** (6.4.36) से 'हन्' को 'ज' आदेश : ज+हि। अब दोनों लक्ष्यों में क्रमशः 'म्' के लोप तथा 'ज' आदेश के कारण अंग के अदंत होने से **अतो हेः** (6.4.105) से 'हि' का लोप प्राप्त होने पर **अनुदात्तोपदेश०** तथा **हन्तेर्जः** के **असिद्धवदत्राभात्** से असिद्धवत् होने से 'हि' का लोप नहीं होता।

'वति' की सार्थकता—(क) 'वति' निष्प्रयोजन है : यद्यपि जिस प्रकार **पूर्वत्रासिद्धम्** (6.4.1) तथा **षत्व-तुकोरसिद्धः** (6.1.86) इत्यादि में 'असिद्ध' शब्द का अर्थ अगतिक-गति-न्याय से 'असिद्धवत्' हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी **'असिद्धमत्राभात्'** कहने से भी यही प्राप्त हो जाता, तब भी यहाँ 'वति' प्रत्यय स्पष्टता के लिए लगाया है।[1]

(ख) 'वति' सप्रयोजन है : आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि तथा कुछ अन्य आचार्य 'वति' को साभिप्राय प्रयुक्त मानते हैं। उनका आशय यह है कि सूत्रकार ने असिद्ध न कह कर 'असिद्ध जैसा होता है' कहा, इससे यह ध्वनि निकलती है कि कहिं-कहीं समानाश्रय कार्य भी सिद्ध ही रहते हैं।[2] जैसे—'देभतुः' में √दन्भ्+अतुस्, **श्रन्थि-ग्रन्थि-दन्भि-स्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा** (1.2.6 पर वा०) से अतुस् के कित् होने से **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (6.4.24) से नकार का लोप होने पर द्वित्व तथा अभ्यास-

---

1. प्र० : **क्वचित्तु प्रतिपत्ति-लाघवाय भेदोपक्रमे वतिना निर्देशः क्रियते—ब्रह्मदत्तवदयमिति। इहापि असिद्धवदत्राभादिति।**
2. न्यास : **इह 'वति'-ग्रहणं न कर्तव्यम्।—तत् क्रियते 'क्वचित् स्वाश्रयमपि यथा स्यादि'त्येवमर्थम्।** प्रदीप : **अन्ये त्वाहुः—स्वाश्रयमपि यथा स्यादित्येवमर्थं वत्करणम्। तेन 'देभतुः' इत्यत्र स्वाश्रयैक-हल्मध्य-गतत्वाश्रयावेत्त्वाभ्यास-लोपौ भवत इति।**

कार्य : दभ्+दभ्+अतुस् । अब दूसरे 'दभ्' के दकार में स्थित अकार एक-एक हल्—द् और भ्—के बीच में आ जाता है, अतः, और **'अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि'** (6.4.120) से उसे 'ए' आदेश, और अभ्यास का लोप हो जाता है : देभ्+अतुस्=देभतुः । यदि यहाँ नकारलोप असिद्धवत् हो जाए, तो एकहल्मध्यता के अभाव में एत्त्वाभ्यासलोप-विधायक सूत्र प्राप्त ही नहीं होगा । फलतः अनिष्ट रूप बनेगा ।

आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि ने इसका एक और लाभ भी बताया है[1] : एत्त्वाभ्यासलोप की कर्तव्यता में जैसे नलोप असिद्धवत् नहीं होता, वैसे ही उवङ् तथा यण् की प्राप्ति में वुक् तथा युट् भी असिद्ध नहीं होंगे और **वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ** (आगे पृष्ठ 78 पर मूल में दिया 6.4.22 पर वा०) आवश्यक नहीं होगा ।

असिद्धवद्भाव की इस क्वाचित्कता के बारे में अन्य आचार्यों को निम्नलिखित आपत्तियाँ हैं :[2] (क) सिद्धता तथा असिद्धता परस्पर विरोधी भाव हैं । केवल 'वति' प्रत्यय से 'असिद्ध' का अर्थ 'कहीं-कहीं सिद्ध' किस प्रमाण से होगा ? (ख) स्वनिमित्तक कार्य की कर्तव्यता में सिद्धता, तथा स्थानिनिमित्तक कार्य में असिद्धता—यह विषय-विभाग भी किस नियम के आधार पर होगा ?

'देभतुः' जैसे स्थलों में क्या समाधान होगा ? इस प्रश्न पर कैयट और नागेश भट्ट का कहना है कि **श्नसोरल्लोपः** (6.4.111) में 'अत्' में तपर-करण से सिद्ध होता है कि यह असिद्धवद्भाव अनित्य है । क्योंकि 'अस्+ताम्' (लङ्, प्र० द्वि० व०) में **आडजादीनाम्** (6.4.72) की अपेक्षा **श्नसोरल्लोपः** (6.4.111) के पर होने से 'अत्' का लोप होने पर 'स्+ताम्' स्थिति में इस सूत्र से लोप का असिद्धवद्भाव करके **पुनःप्रसंगविज्ञानात् सिद्धम्** (प० 40) से आट् होने पर **श्नसोरल्लोपः** (6.4.111) से प्राप्त उसके लोप का निवारण करने के लिए उस सूत्र में 'अत्' पाठ है । अब यह आट् भी असिद्धवत् है, तो यहाँ आट् के लोप की प्राप्ति ही नहीं थी, तब तपरकरण व्यर्थ हो कर यह ज्ञापन करता है कि कहीं-कहीं यह असिद्धवद्भाव अनित्य होता है । अतः 'देभतु' में न का लोप सिद्ध ही है ।[3]

भगवान् भाष्यकार ने भी **'दम्भ एत्त्वमलक्षणम्'—असिद्धत्वान्नलोपस्य दम्भ**

---

1. न्यास : **'वुग्युडित्येतौ यथाक्रममुवङि यणि च कर्तव्ये सिद्धे भवत' इत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः···।**
2. प० : **एतदपरे न मृष्यन्ति—(क) सिद्धत्वासिद्धत्वयोर्विरोधात् कथं वतिनाऽसिद्धत्वस्य प्रापणम् ? (ख) कथं वा सिद्धत्वासिद्धत्वयोर्विषयविभागो लभ्यते ?**
3. प्र०, उ० और ल० श० शे० ।

एत्त्वं न सिध्यति' पर **'इनसोरत्वे तकारेण ज्ञायते त्वेत्त्वशासनम् । अनित्योऽयं विधिरिति'** (6 4.120, श्लोकवार्तिक २, पृष्ठ, 769) लिख कर यही समाधान दिया है । **वुग्युटावुवङ्यणोः** (6.4.22 पर वा० 14) वार्तिक भी उन्होंने स्वीकार किया ही है। अतः उपर्युक्त आपत्तियों तथा भाष्य से विरोध होने के कारण उपर्युक्त न्यासीय मत स्वीकार्य नहीं है ।

'अत्र' के ग्रहण का प्रयोजनः 'पपुषः', 'चिच्युषः', 'लुलुवुषः' आदि क्वसु-प्रत्ययांत (द्वितीया-बहुवचनांत आदि) शब्द-रूपों में √पा, √चि, तथा √लू (क्र्यादिक) से **लिटि धातोरनभ्यासस्य** (6.1.8) से धातु को द्विर्वचन होने पर **वसोः सम्प्रसारणम्** (6.4.131) से क्वसु के 'व्' को सम्प्रसारण होता है : पपा+उषः, चिचि+उषः, लुलू+उषः । अब यहाँ आभीय प्रकरण के ही **आतो लोप इटि च** (6.4.64), **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** (82) तथा **अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ** (77) से क्रमशः (उदाहरणभेद से) आकार-लोप, यण् तथा उवङ् आदेश प्राप्त होते हैं । आलोप आदि क्वसु के निमित्त से तथा सम्प्रसारण विभक्ति के निमित्त से होते हैं । इस प्रकार (क) क्वसु और (ख) क्वस्वन्त शब्द की विभक्ति इन दो भिन्न निमित्तों के कारण इस सूत्र से सम्प्रसारण का असिद्ध-वद्भाव नहीं होता । अन्यथा असिद्धवद्भाव होने पर तो ये तीनों कार्य यहाँ प्राप्त ही नहीं होते, और ये शब्द इस (शुद्ध) रूप में नहीं मिलते ।

" 'पपुषः' रूप 'पपा+उषः' स्थिति में **उस्यपदान्तात्** (6.1.96) से पररूप होकर बन सकता है", यह कहना भी उचित नहीं है । क्योंकि (१) इस सूत्र में **लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्** (प० 114) से प्रतिपदोक्त 'उस्' का ही ग्रहण होता है, न कि लाक्षणिक (संप्रसारण-जन्य) 'वस्'='उस्' का; (ख) √चि, √लू आदि इकारोकारांत धातुओं में आपत्ति तदवस्थ ही रहती है ।

(पूर्वपक्ष) 'अत्र' निष्प्रयोजन है : यदि कहें कि विभक्ति से पूर्ववर्ती वस्वंत प्रकृति के आश्रय से होने वाले आकारलोप आदि के अन्तरंग होने से तथा प्रत्ययरूप विभक्ति के आश्रय से होने वाले संप्रसारण के बहिरंग होने से[1] **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** (प० 51) से संप्रसारण असिद्ध हो जाता है; फलतः इसे असिद्धवत् करने के लिए प्रकृत सूत्र में 'अत्र' पद देना व्यर्थ ही है ।

उत्तर : उपर्युक्त परिभाषा आभीय **वाह ऊठ्** (6.4.132) सूत्र पर ज्ञापित होने से[2] स्वयम् आभीय है । आभीय आ-लोपादि की कर्तव्यता में (इस परिभाषा तथा

---

1. न्यास : **प्रकृत्याश्रयमन्तरङ्गं, प्रत्ययाश्रयं च बहिरङ्गम् ।**
2. म० भा० : **'वाह ऊड्'-वचनानर्थक्यं, सम्प्रसारणेन कृतत्वात्···गुणः प्रत्ययलक्षणत्वाद् ··एज्ग्रहणा वृद्धिः । एवं तर्हि सिद्धे सति यद् वाह ऊठं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'भवत्येषा परिभाषा—असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गलक्षण' इति ।**

वुकोऽसिद्धत्वादुवङि प्राप्ते (वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ)। बभूवतुः, वुक् के असिद्ध होने के कारण उवङ् प्राप्त होने पर (वुक् और युट् को उवङ् और

आ-लोपादि का एक संप्रसारण ही निमित्त है, अतः) यह परिभाषा असिद्धवत् है। फलतः यह संप्रसारण को असिद्ध नहीं कर सकती। इस लिये प्रकृत सूत्र में 'अत्र' पद आवश्यक है।

'आ-भात्' क्यों ? 'आ भात्' को सूत्र में देने से 'रागः' (<√रञ्ज्, भाव या करण में घञ्) तथा 'अभाजि' (<√भन्ज्, भाव या कर्म में लुङ्, प्र० ए० व०) में क्रमशः **घञि च भाव-करणयोः** (27) और **भञ्जेश्च चिणि** (33) इन आभीय सूत्रों से हुआ न-लोप आभीयेतर **अत उपधायाः** (7.2.116) से वृद्धि की प्राप्ति में असिद्धवत् नहीं होता।

वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ (वा०)—उवङ् (77) तथा यण् (82) की कर्तव्यता में पूर्वनिष्पन्न वुक् (88) तथा युट् (63) सिद्ध कहने चाहिएँ।

प्रकृत वार्तिक की आवश्यकता पर विचार : 'वुक्' √भू से तथा 'युट्' √दीङ् (दि० 1134) से विहित है। 'भू+अ' स्थिति में उवङ् (77) और वुक् (88) ये दोनों प्राप्त होते हैं। वुक् जहाँ उवङ् से पर है, तो लुङ् और लिट् के अच् की अपेक्षा करने वाले वुक् से केवल अच् की अपेक्षा करने वाला उवङ् अन्तरंग है[1]; अतः वुक् से उवङ् बलवान् है। परन्तु ऐसा करने पर वुक् निरवकाश हो जाता है और अपवाद बन जाता है। फलतः वुक् उवङ् को बाध कर प्रवृत्त होता है। यदि यह कहें कि पहले उवङ् करने पर तथा प्रकृत सूत्र से उसे असिद्धवत् करने पर वुक् सावकाश हो सकता है; अतः अपवादत्व हेतु नहीं बनता। इसका उत्तर यह है कि **येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते, स तस्य बाधको भवति** (प० 58) से भी उवङ् के नाप्राप्त (प्राप्त होने पर भी किया जाने वाला) वुक् आगम उवङ् का बाधक होता है अतः पहले उवङ् हो ही नहीं सकता। फलतः वुक् के सावकाशत्व की चर्चा व्यर्थ है। इस लिये असिद्धवद्भाव के निवारण के लिए प्रस्तुत वार्तिक में उवङ् की प्राप्ति में वुक् को सिद्ध बतलाना आवश्यक है।

यदि यह कहें कि वुक के असिद्ध होने से उवङ् को होने दो, और 'बभुव्+अ' स्थिति में **उपाधायां च** (8.2.78) से दीर्घ (बभूव्+अ) करके **लोपो व्योर्वलिः** (6.1.66) से उवङ् के वकार का लोप करने पर 'बभूव्+अ=बभूव' आदि रूप बन सकते हैं, तब प्रकृत वार्तिक अनावश्यक है (—उद्योत), तो इसका उत्तर यह है कि

---

1. **अल्पापेक्ष्यन्तरङ्गम्। बह्वपेक्षि बहिरङ्गम्** (प०)।

बभूवुः । 2184 आर्धधातुकस्येड्वलादेः (7.2.35)—वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात् । बभूविथ, बभूवथुः, वभूव; बभूव, बभूविव बभूविम ।। 13 ।।

यण् के विषय में सिद्ध कहना चाहिए) । बभूव, वभूवतुः, वभूवुः । 2184 वल् आदि वाले आर्धधातुक को इट् का आगम होता है । वभूविथ, वभूवथुः, बभूव; वभूव, वभूविव, बभूविव ।। 13 ।।

लोपो व्योर्वलि को केवल वल् की अपेक्षा है, जबकि वुक्-सूत्र को लिट् के अच् की । अतः बहिरंग वुक् अन्तरंग वकारलोप की कर्तव्यता में **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** (प० 41) से असिद्ध है । पर-निमित्तभूत वुक् के असिद्ध होने से वकारलोप नहीं हो सकता । तब प्रस्तुत वार्तिक की शरण लेनी ही पड़ेगी ।

इसी प्रकार युट् (63) से यण् (82) पर है तथा अल्पापेक्षी होने से अन्तरंग भी है । परन्तु वुक् की ही तरह निरवकाश होने से युट् अपवाद है । अतः युट् होने पर प्रकृत सूत्र के लगने के बाद प्राप्त यण् का निवारण करने के लिए युट् को सिद्ध करना आवश्यक है ।

आचार्य पतञ्जलि और कैयट के मत में तो युट् को सिद्ध करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता[2] : युड्वचन-सामर्थ्य से ही यण् की पहले और बाद में भी प्राप्ति नहीं होगी । परन्तु यह तर्क (क) वुक् के विषय में भी लागू होता है; तब इन दोनों को आभीय-प्रकरण में देने से क्या लाभ ? (ख) पहले चाहे यण् को युट् बाध ही ले, परन्तु बाद में आभीय-प्रकरण में पाठ के सामर्थ्य से असिद्धवद्भाव के अनिवार्य होने के कारण यण् प्राप्त होगा ही । अतः प्रकृत वार्तिक सर्वथा आवश्यक है ।।

2184 **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (7.2.35)—आर्धधातुकस्य 6.1, इट् 1.1, वलादेः 6.2—वल् (प्रत्याहारः) आदिर्यस्य, स वलादिः (बहुव्रीहि), तस्य (वल् प्रत्याहार, अर्थात् य् को छोड़ कर शेष सभी व्यंजन, जिसका आदि है, उसे) ।

---

1. क्योंकि यण् को केवल पर अच् की अपेक्षा है और युट् को ङित्त्वविशिष्ट अच् की ।
2. म० भा०, पृष्ठ 7०1 : **युटश्चापि न वक्तव्यम् । युड्वचन-सामर्थ्यान्न भविष्यति । अस्त्यन्यद् युड्वचने प्रयोजनम् । किम् ? द्वयोर्यकारयोः श्रवणं यथा स्यात् । न व्यञ्जन-परस्यानेकस्यैकस्य वा यकारस्य श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति ।** तथा इस पर प्र० : **श्रुति-भेद-पक्षेऽपि 'यणो मय' इति द्विर्वचनविधानाद् 'हलो यमां यमि लोप' इति पक्षे लोप-विधानात् पक्षे यकारद्वयं भवत्येवेति नार्थो युटा, इति तद्विधान-सामर्थ्याद् यण् न भवति ।।**

वलादेरार्धधातुकस्य इट्—वल् आदि वाले आर्धधातुक (-संज्ञक प्रत्यय) को इट् होता है। ट् इत् है। फलतः यह 'इ' प्रत्यय आर्धधातुक प्रत्यय का आद्यवयव आगम होता है। अतः समुच्चित अर्थ यह होता है—यकार को छोड़ कर बाकी व्यंजनों में से कोई भी व्यञ्जन जिसके आदि में है, उस आर्धधातुक प्रत्यय के आदि में 'इ' (ह्रस्व)[1] का आगम होता है।

'आर्ध-धातुकस्य' की आवश्यकता पर विचार : इस सूत्र में 'आर्धधातुकस्य' के ग्रहण के विषय में मतभेद है : (क) इस सूत्र के भाष्य के अनुसार यहाँ यह व्यर्थ है; (ख) भगवान् भाष्यकार ने ही **'स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु०** (6.4.62) के भाष्य में इसे सार्थक बताया है। का०, न्या०, नागेश और भैरवमिश्र ने सार्थकता-पक्ष माना है।

(क) **'आर्धधातुकस्य' व्यर्थ है :**—सातवें अध्याय तक **अङ्गस्य** (6.4.1) का अधिकार है, सो यहाँ भी है। 'आर्धधातुकस्य' को यदि यहाँ रक्खें, तो भी **वलादेः अर्धधातुकस्य अङ्गस्य इट्**—वलादि आर्धधातुक के (अर्थात् उस वाले) अङ्ग को इट् होता है, यह अर्थ होने से इट् प्रत्यय अट्, आट् की तरह अंग के आदि में होगा। यदि यह पद न रक्खें, तो **अङ्गस्य वलादेरिट्**—अङ्ग के वलादि (सामर्थ्यसे प्रत्यय) को इट् होता है। अङ्ग से परस्थ वलादि प्रत्यय अङ्ग का निमित्त ही हो सकता है। अतः 'अङ्ग संज्ञा का निमित्त जो वलादि, उसे इट् होता हैं', यह अर्थ निष्पन्न होने पर कोई आपत्ति नहीं रहती, अतः 'आर्धधातुकस्य' पद यहाँ व्यर्थ है।

शंका (1) : यदि यह कहें कि 'आस्+ते', शे+ते, 'जुगुप्स+ते' इत्यादि में अंगसंज्ञानिमित्तभूत वलादि प्रत्यय 'त' (ते) को प्राप्त इट् का परिहार करने के लिए यह पद यहाँ देना ही चाहिए (क्योंकि 'त' सर्वाधातुक है)। **उत्तर :** यदि इस सूत्र में यह पद न दिया जाए, तो √रुद्, √स्वप्, √श्वस्, √अन् और √जक्ष् में सार्वधातुक प्रत्यय को इस सूत्र से इट् प्राप्त होने पर भी **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (7.2.76) से किया इट् **प्राप्ते सति यो विधिः, स नियमार्थः** (न्याय) से नियम करता है कि सार्वधातु क को यदि इट् हो, त केवल √रुद् आदि पाँच में ही हो। फलतः रुदादिभिन्न √आस्, √शी और √जुगुप्स में इट् प्राप्त ही नहीं होगा।

शंका (2) : उपर्युक्त स्थिति में 'रुदादियों से यदि इट् हो, तो सार्वधातुक को ही हो', यह विपरीत नियम भी तो बन सकता है। **उत्तर :** ऐसा मानने पर √रुद् से परे स्थित सन् और क्त्वा को भी इट् नहीं होगा। तब, प्रकृति से कित् क्त्वा को **न क्त्वा सेट्** (18)से कित्त्व का निषेध क्त्वा के अनिट् होने से प्राप्त ही नहीं होता।

---

1. प्रत्यय का अंग होने से 'इ' प्रत्यय है, अतः **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (1.1.69) में **अप्रत्ययः** से पर्युदास के कारण सवर्ण (दीर्घ आदि) का ग्रहण नहीं होता।

सन् **हलन्ताच्च** (10) से कित् है ही। ऐसी स्थिति में **रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च** (8) से सन् और क्त्वा को कित् करने से यह सिद्ध होता है कि √रुद् से परे स्थित सार्वधातुक-भिन्न सन् और क्त्वा को इट् होता ही है। फलतः क्त्वा को **न क्त्वा सेट्** (18) से प्राप्त औत्सर्गिक कित्त्व-निषेध के उपपन्न होने पर तथा **हलन्ताच्च** (10) के प्राप्त ही न होने पर **रुद-विद-मुष०** (8) अपवादसूत्र से कित्त्व-विधान सार्थक होता है। अतः उपर्युक्त विपरीत-नियम की शंका अनुपपन्न है।

'उपर्युक्त नियम मानने पर भी 'वृक्षत्वम्' आदि में इट् प्राप्त होगा', यह कहना भी अनुचित है। क्योंकि यहाँ **ऋत इद्धातोः** (7.1.100) की अनुवृत्ति के कारण तथा 'वृक्ष' आदि के धातु न होने से इट् की प्राप्ति ही नहीं है। सूत्र में **धातोः** का अन्वय यों होगा—**अङ्गस्य धातोः वलादेः इट्** (अर्थात् अंग संज्ञा के निमित्त (तथा) धातु से विहित वलादि प्रत्यय को इट् होता है)। फलतः यद्यपि √लू, √पू आदि क्विबंत शब्द अपने रूप और अर्थ को अविकलता के कारण धातुत्व को नहीं छोड़ते,[1] अर्थात् धातु ही रहते हैं, तब भी 'लूभ्याम्', 'पूभ्याम्' में 'भ्याम्' प्रत्यय 'धातु से परे' (यह कह कर) विहित न हो कर 'प्रातिपादिक से परे'—**ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (4.1.1)—कह कर विहित है; अतः यहाँ भी इट् नही प्राप्त होता (—न्यास)।

(ख) आचार्य नागेश ने (बृ० श० शे० में) और ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने (त० बो० में) 'धातोः का भाव 'धातु से परे' मान कर 'प्रजुगुप्सते' तथा 'लूभ्याम्' में प्राप्त इट् के निवारण के लिए 'आर्धधातुकस्य' की आवश्यकता बतलाई है। परन्तु यह 'लूभ्याम्', 'पूभ्याम्' पर म० भा० के **ननु धातोरेवायं विहितः ? न चायं 'धातोः' इत्येवं विहितः** पाठ के विरुद्ध है। वस्तुतः इस प्रसंग में भैरवमिश्र ने ठीक ही कहा है : **प्रकृत-ग्रन्थे 'जुगुप्सत' इत्यत्रेड्-व्यावृत्ति-प्रदर्शनन्तु यथाश्रुताभिप्रायेणेति दिक्** (—चन्द्र-कला)।

ऋत इद्धातोः (7.1.100) में 'धातोः' पद यद्यपि अर्थ-पदार्थक और षष्ठ्यंत है, किन्तु यहाँ शब्दाधिकार पक्ष को मान कर स्वरूप-पदार्थक हो जाता है। अत-एव 'धातुरूपी शब्द का वलादि' इत्यादि अर्थ होता है। प्रत्यय 'धातुरूपी शब्द का (संबंधी)' धातु से (परे) विहित होने से ही होता है। अतः यहाँ 'धातोः वलादेः' का अर्थ " 'धातु से हो', इस प्रकार कह कर विहित वलादिको" होता है। अतः **ऋत इद्धातोः** (7.1.100) सूत्रस्थ षष्ठ्यंत 'धातोः' का पंचमी-लभ्य 'विहित' विशेषण अर्थ कैसे हो सकता है ? यह शंका भी नहीं रहती। ऐसी स्थिति में केवल अनुवृत्ति से काम चल जाने पर तथा आठ मात्राओं का लाघव होने पर 'आर्धधातुकस्य' पद व्यर्थ ही है।

काशिकादि का मत : इस पर काशिका, न्यास तथा पदमंजरी का कहना है

---

1. प्रदीप : **क्विबन्ता धातुत्वं न जहति, रूपार्थावैकल्यात्**। इस पर उद्योत देखें।

कि छोटे से एक पद को हटाने लिए (1) उपर्युक्त नियम-स्वीकार, (2) उसमें भी विपरीत नियम की शंका का समाधान, (3) अर्थ-पदार्थक 'धातु' शब्द का स्वरूप-पदार्थकत्व-प्रतिपादन, (4) षष्ठी से पंचमी का काम लेना आदि अनेक कल्पनाएँ कोमल-मति छात्र के लिए क्लिष्ट हैं। अतः स्पष्टता के लिए इस पद को प्रकृत सूत्र में रखना ही चाहिए।

श्री भैरवमिश्र का कहना है कि यद्यपि यहाँ इस पद का कोई फल नहीं है, परंतु अन्यत्र है। क्योंकि म० भा० में **स्य-सिच्-सीयुट्०** (6.4.62) पर कहा गया है कि इस सूत्र से अंग को विधीयमान इट् कहीं अंग का आद्यवयव न बन जाये, इसके लिए **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** का योग-विभाग करना उचित होगा—**आर्धधातुकस्येट्। वलादेः**—इट् आगम आर्धधातुक को (ही) होता है। (उसमें भी) वलादि को।[1]

'इट्' की आवश्यकता : इस विषय में निम्न पक्ष उपलब्ध हैं :

(क) इट् व्यर्थ है—जिस प्रकार **समर्थानां प्रथमाद्वा** (4.1.82) के तीन अधिकृत पदों में से **प्राग्दिशो विभक्तिः** (5.3.1) के बाद केवल 'वा' का ही अधिकार शेष रहता है, शेष पद निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार **एव-योग-निर्दिष्टानामेकदेशोऽप्यनुवर्तते** (प० 99) से **नेड् वशि कृति** (7.2.8) के 'न इट्' पदों में से अकेला 'इट्' ही इस सूत्र में आ सकता है।[2] अतः पतञ्जलि के अनुसार यहाँ यह पद भी व्यर्थ है।[3]

(ख) इट् सार्थक है : (अ) किंतु **दीधीवेवी टाम्** (1.1.6) पर भाष्य में **नेड्वशि-कृति** से अनुवृत्ति करके 'इट् इट्' (इट् ही इट् होवे, अर्थात् इट् को गुणादि विकार न हों) यह नियम बनाने को प्रकृत सूत्र में इट् पद स्वीकृत किया है। उ० में इस पक्ष को एकदेशी का मत बताया है (आ) इसके विपरीत का०, न्या०, तथा प्र० प्र० निषेध-सम्बद्ध इट् (**नेड्वशि०**) को निवृत्त करके विधि-सम्बद्ध (प्रकृत-सूत्रस्थ) इट् का ग्रहण उचित मानते हैं। (इ) त० बो० में स्पष्ट-प्रतिपत्ति के लिए माना है।

'बभूव' की सिद्धि : 'भू' धातु से कर्त्रर्थ में **परोक्षे लिट्** से लिट्[4] : भू+ल्। प्रथम ए० व० की विवक्षा में ल् के स्थान में **तिप्तस्झि०** से तिप् : भू+ति।

---

1. चन्द्रकला, पृष्ठ 443, महाभाष्य 6.4.62.
2. त० बो० तथा ल० श० शे०, पृष्ठ 442.
3. म० भा० 7.2.8 : **इदमस्ति 'नेड्वशि कृती'ति। ततो वक्ष्यामि 'आर्धधातुकस्य वलादेः' इति। इडित्यनुवर्तते। नेति निवृत्तम्।**
4. यहाँ सर्वत्र निगद-व्याख्यात होने से इत्कार्य नहीं दिखाया है। यथास्थान यथा-शास्त्र समझ लेना चाहिए।

2185 अनद्यतने लुट् (3.3.15)—भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् स्यात्।

तृतीय लकार : अनद्यतन भविष्यत् में लुट्

2185 अद्यतन-रहित भविष्यत् अर्थ में वर्तमान धातु से परे लुट् हो।

तिङ्शित्सार्व० को बाध कर **लिट् च** से ति की आर्धधातुक संज्ञा, फलतः शप् नहीं। **परस्मैपदानां णलतु०** से 'ति' को 'णल्'आदेश : भू+अ। परंतु **अचो ञ्णिति** से प्राप्त वृद्धि को नित्य **भुवो वुग्०** से बाधकर वुक् : भूव+अ। **लिटि धातोरनभ्यासस्य** से 'भूव्' को द्वित्व। **पूर्वोऽभ्यासः** से प्रथम 'भूव्' की अभ्यास संज्ञा : भूव्+भूव् अ। **हलादिः शेषः** से अभ्यास का आदि हल् (भ्) शेष (और व् का लोप) : भू+भूव्+अ। **ह्रस्वः** से अभ्यास के अच् (ऊ) को ह्रस्व (उ)[1] आदेश। भू+भूव्+अ। **अभ्यासे चर्च** से 'भ्' को 'ब्'। वुक् के निमित्त 'अ' को ही निमित्त मान कर **अचि श्नु०** से 'भूव्' के 'ऊ' को उवङ् की प्राप्ति में **असिद्धवद०** से प्राप्त वुक्सूत्र के असिद्धवद्भाव का **वुग्युटावुवङ्यणोः** से निषेध। ब+भूव्+अ। स्वर-रहित व्यंजन 'व्' का पर-वर्ती 'अ' से योग : बभूव।

'बभूवतुः की सिद्धिः 'भू+अतुस्' स्थिति में **असंयोगाल्लिट् कित्** से अपित् 'अतुस्' की कित्संज्ञा। **सार्वधातुकार्ध०** से प्राप्त परगुण का **क्ङिति च** से निषेध। शेष कार्य यहाँ तथा अन्य रूपों में भी 'बभूव' की तरह जानें। बभूवतुः। बभूवुः।

'बभूविथ' की सिद्धि : भू+सिप्। सिप्, को 'थल्' आदेश होने पर **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से 'थल्' को 'इट्' का आगम। भू+इथ। **सार्वधातु०** से प्राप्त गुण को बाध कर वुक् : भूव+इथ। शेष द्वित्वादि पूर्ववत्। बभूव्+इथ=बभूविथ।

बभूव (उ० पु०) की सिद्धि : भू से मिप् को आदेश 'णल्' : भू+णल्। **णलुत्तमो वा** से उसकी विकल्प से णित्संज्ञा; वृद्धि को बाध कर वुक् आदि शेषकार्य 'बभूव' की तरह। णित्त्वाभाव पक्ष में (वृद्धि के स्थान पर) गुण को बाध कर वुक्। शेष पूर्ववत्।

बभूविव, बभूविम—व, म में कित्संज्ञा होने पर 'इट्' का **श्युकः किति** से निषेध होने पर **कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-श्रु-स्रुवो लिटि** के वक्ष्यमाण नियम से इट्।

शेष प्रत्ययों में प्रक्रिया 'बभूवतुः' की तरह होती है। बभूव, बभूवतुः, बभूवुः; बभूविथ, बभूवथुः, बभूव; बभूव, बभूविव, बभूविम ॥ 13 ॥

2185 **अनद्यतने** 7.1; **लुट्** 1.1 **प्रत्ययः परश्च** (3.1.1-2), **धातोः** (3.1 91),

---

1. यहाँ 'अ' आदेश 'उ' को हो या 'ऊ' को, फल में कोई भेद नहीं है। अतः निष्प्रयोजन होते हुए भी ह्रस्व **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** (प० 127) से होगा ही।

भविष्यति गम्यादयः[1] (3.3.3)—अनद्यतने भविष्यति धातोः परः लुट् प्रत्ययः (अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में धातु से परे लुट् प्रत्यय होता है)।

भविष्यत्काल के चार भेद : यह काल चार प्रकार का होता है—(1) अद्यतन, (2) अनद्यतन, (3) व्यामिश्र और (4) सामान्य।[2] (1) अद्यतन भविष्यत् वर्तमान क्षण के बाद से लेकर रात्री के अन्त[3] तक का काल होता है। (2) अनद्यतन का अर्थ है—अविद्यमानोऽद्यतनो यत्र, सः[4] (अर्थात्, अद्यतन से रहित काल)। (3) व्यामिश्र काल अद्यतन और अनद्यतन के मिश्रण से बनता है। जैसे—आज-कल। (4) सामान्य भविष्यत् का अर्थ वह काल है, जिसमें आज, कल, अभी, या निकट भविष्यत् इत्यादि सीमाएँ विवक्षित नहीं होती। आजकल लोग सामान्य भविष्यत् का ही प्रयोग करते हैं।

अद्यतन भविष्यत् व्यामिश्र तथा सामान्य इन दोनों में रहता है। अतः व्यामिश्र में लुट् नहीं होगा। शेष भविष्यत् कालों में लृट् ही होगा। जैसे—कब जाएँगे ? आज-कल में जाएँगे। यहाँ प्रश्न वाक्य में 'कब' से आज, कल आदि विशेष अविवक्षित हैं, अतः लृट् होगा। उत्तर-वाक्य में आज और कल ये दो काल मिले जुले हैं, हैं, अतः यहाँ भी लृट् ही होगा : कदा यास्यथ ? अद्यश्वो यास्यामः (कब जाओगे ? आजकल में जाएँगे)।

अद्यतन से रहित कल, परसों, तरसों, नरसों इत्यादि भविष्यत् काल में लुट् ही होगा। यहाँ कल, परसों आदि विशेषवाचक शब्दों से परिच्छिन्न होने के कारण सामान्यता तो रहती नहीं, अतः ये सब अनद्यतन भविष्यत् हैं : श्वो गन्तास्मि, पर-श्वो गन्तास्मि इत्यादि।

'अनद्यतन' शब्द 'न अद्यतनः' विग्रह में नञ् तत्पु० से भी सिद्ध हो सकता है। पर सदोष होने से यहाँ यह समास नहीं माना है। क्योंकि यदि नञ् को (1) पर्युदासार्थक मानें, तो 'अद्यतन से भिन्न' अर्थ होता है। व्यामिश्र चूँकि अद्यतन से भिन्न है, अतः उसमें भी लुट् ही प्राप्त होगा, जब कि व्यवहार से लृट् ही उचित है। (2) यदि प्रसज्य-प्रतिषेधार्थक मानें, तो 'अद्यतन में लुट् नहीं होता', यह अर्थ होता है। फलतः सामान्य भविष्यत्, अद्यतन और व्यामिश्र, सब में लुट् तथा लृट् दोनों

---

1. **आद्युदात्तश्च** (3.1.3) का भी अधिकार है। वह स्वर-कथन यहाँ इष्ट न होने से नहीं दिया है। इसी प्रकार आगे भी समझें।
2. मा० धा० वृ, पृष्ठ 611.
3. 'अद्यतन' की व्याख्या लिट् के प्रसङ्ग में पृष्ठ 47 पर की जा चुकी है।
4. म० भा० तथा प्र० 3.2.111.

प्राप्त होते। लुट् और लृट् में अन्तर इतना ही रहता, कि लुट् अद्यतन में नहीं होता, लृट् हो जाता। इसके अतिरिक्त, इस पक्ष में असमर्थ-समास भी मानना पड़ेगा। अतः तत्पुरुष उचित नहीं है। तब, शेष बहुव्रीहि ही रहता है, और वही इष्ट है।[1]

संस्कृत जब व्यवहार-भाषा थी, उस समय परिदेवन=अनुशोचन (किसी की सोच करना) अर्थ में सामान्य भविष्यत् में भी लुट् का ही प्रयोग होता था। जैसे—**इयं नु कदा गन्ता ? यैवं पादौ निदधाति**[2] (यह, जो इस तरह लरजते, काँपते कदम रख रही है, कब चल पाएगी[3] ? **अयन्तु कदाऽध्येता ? य एवमनभियुक्तः** (यह जो इतना आलसी, प्रमादी, असावधान है, कब पढ़ पायेगा ?)। यहाँ तात्पर्य यह है कि वक्ता टेढ़े-मेढ़े, काँपते कदम रख कर चलने का प्रयास करने वाली बच्ची को देख कर 'अभी इसके अच्छी तरह चल पाने में बहुत देर है', अर्थात् आज तो चल नहीं निकलेगी, कल (कुछ दूर के भविष्य में) शायद चल जाए' इस व्यंग्यार्थ को मन में रख कर उपर्युक्त वाक्य बोलता है। अतः यहाँ अनद्यतन में होने वाले लुट् का प्रयोग करता है।

पाणिनि ने इसके लिए कोई नियम नहीं दिया है। अतः अष्टाध्यायी के अनुसार तो यहाँ लृट् ही होना चाहिए। कात्यायन ने **परिदेवने श्वस्तनी भविष्यन्त्यर्थे** वार्तिक दिया है।[4] 'श्वस्तनी' और 'भविष्यन्ती' पूर्वाचार्यों द्वारा क्रमशः लुट् और लृट् के लिए प्रयुक्त अन्वर्थक संज्ञाएँ हैं।[5]

आचार्य कैयट का यह भी कहना है कि लक्ष्यों के अनुसार अद्यतनार्थ के गौण होने पर भी लुट् हो सकता है।[6] वैसे, (1) यह सब कालगत विशेषताओं को दृष्टि में न रख कर यथेच्छ प्रयोग करने की लोक की स्वाभाविक प्रवृत्ति के आगे वैयाकरणों

---

1. प्र० 3.2.111। विशेष के लिए इसी सूत्र पर न्यास तथा पदमञ्जरी देखें।
2. म० भा० 3.2.15। यहाँ पहले उदाहरण में 'इयं' (स्त्री०) देने का आशय 'गन्ता' शब्द के तृन्नन्त होने के संभावित भ्रम का निवारण करना है। फिर प्रसंग से 'अध्येता' में लुट् ही है, यह बोध तो स्वाभाविक ही है।
3. अथवा—यह जो इस तरह (धीरे-धीरे) इस तरह कदम रख रही है, कब तक पहुंच पाएगी ? √गम् का कोई कर्म न दिया होने से 'पहुँचना' अर्थ उतना उचित नहीं प्रतीत होता। 'एवं' की व्याख्या 'विलम्बितम्' करने से प्रतीत होता है कि कैयट और हरदत्त को यही अर्थ अभीष्ट है।
4. म० भा० 3.3.15, भा० वा० 1.
5. पीछे पृष्ठ 8 तथा प्र० : **'भविष्यन्ती'-शब्देन पूर्वाचार्य-संज्ञा लृङ्च्यते**। तथा उ० : **'श्वस्तनीति लुटः' संज्ञा**।
6. प्र० **प्रयोग-दर्शनवशाच्च गौणेऽप्यनद्यतने प्रत्ययो भवति**।

का पराजय-स्वीकार ही है। (2) प्रयोगविशेष का यह विकासक्रम संस्कृत के क्रमिक ह्रास पर भी प्रकाश डालता है : संस्कृत धीमे-धीमे व्याकरण के कड़े नियमों से मुक्ति पाने के लिए कसमकस कर रही थी, और प्राकृतों के प्रभाव में आ रही थी।

अनद्यतन में लृट् भी : याज्ञिकों के **श्व आधास्यमानो ब्रह्मौदनं पचति** (तै० ब्रा० 1.1.9.8) इत्यादि प्रयोगों में लृट के स्थान में प्रयुक्त होते वाला सत्संज्ञक प्रत्यय (शतृ, शानच्) अनद्यतन भविष्यत् में प्रचलित है। क्या पाणिनि के अनुसार ये प्रयोग शास्त्र-सम्मत हैं ? अनद्यतन भविष्यत् में लृट् किसी भी सूत्र से विहित नहीं है। कोई वार्तिक भी उपलब्ध नहीं है। लुट् को सत् प्रत्यय होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इस पर भाष्यकार का कहना है कि इस सूत्र का योग-विभाग कर देने से ये प्रयोग शुद्ध हो सकते हैं। जैसे :—**लृटः सद्वा** (14), **अनद्यतने** (15)—अनद्यतन में लृट् के स्थान में सत् हो। **लुट्** (16)—अनद्यतन में लुट् हो।

अनद्यतन में साक्षात् विहित न होने पर भी उपर्युक्त प्रयोगों में सद्विधान से ही सिद्ध होता है कि अनद्यतन में लृट् सूत्रकार को इष्ट है। नहीं तो 'सूत्र-वार्तिक-कारों की दृष्टि से इस प्रकार के प्रयोग छूट गये', यह मानना पड़ेगा। पर समाधान के होते यह मान्य नहीं है।

अनद्यतन भविष्यत् में यह लृट् किस स्थिति में होता है ? इसपर दो मत हैं[1]—(क) इस ज्ञापन से केवल सत्प्रत्यय करने के लिए ही अनद्यतन भविष्यत् में लृट् होना चाहिए, तिङों के लिए नहीं। फलतः, उपर्युक्त प्रकार के प्रयोग तो ठीक हैं, परंतु **श्वोऽग्नीनाधास्ये, श्वस्सोमेन यक्ष्ये,** प्रयोग करना उचित नहीं है। सद्विधान से ज्ञापित लृट् सत् से भिन्न विषय में हो, यह उचित नहीं है।[2]

(ख) इस ज्ञापन से 'अनद्यतन में लृट् भी होता है', यही ज्ञापित होता है। अतः उस लृट् को बिना किसी भेदभाव के सत् तथा तिङ् आदेश दोनों हो सकते हैं।

निष्कर्ष : (क) अद्यतन, व्यामिश्र और सामान्य भविष्यत् में लुट् नहीं होता। (ख) परिदेवन में सामान्य भविष्यत् में भी होता है। (ग) अद्यतन के गौण होने पर भी हो सकता है। (घ) अनद्यतन में लृट् के आदेश सत्प्रत्यय हो सकते हैं। (ङ) कुछ

---

1. उ० : (क) **एतच्च ज्ञापकं सद्विषय-लृट एवेति तिङ्विषय-लृटोऽनद्यतनेऽसाधुत्वमेवेति केचित्। (ख) सामान्यत एव ज्ञापकमित्यन्ये।**
2. **तद्धैके दृष्ट्वोपवसन्ति 'श्वो नोदेता' इति** (श० ब्रा० 1.6.4.14) में तिङ् के प्रसंग में लुट् एवं **श्व एव ततस्तत् कुर्याद्, यद् वदिष्यन्वा करिष्यन्वा स्यात्** (श० ब्रा० 2.4.1.14) में सत्प्रत्यय के प्रसंग में लिङ् का प्रयोग इस पक्ष को पुष्ट करते हैं।

2186 स्यतासी लृलुटोः (3.1.33)—'लृ' इति लृङ्-लृटोग्रर्हणम् । धातोः 'स्य-
2186 'लृ' से 'लृङ्' और 'लृट्' लिए जाते हैं : धातु से परे 'स्य' तथा 'तासि' ये दो

आचार्यों के अनुसार अनद्यतन में लृट् (और उस) के आदेश तिङ् भी हो सकते हैं।

2186 स्य-तासी लृ-लुटो : (3.133)—धातोरेकाचो हलादेः क्रिया-समभिहारे यङ् (22), प्रत्ययः (1), परश्च (2)। स्यश्च तासिश्चेति स्य-तासी। 'प्रत्ययः' तथा 'परः' भी अपने विशेष्य (स्य-तासी) के अनुसार प्रथमा-द्विवचनांत में ही परिणत होते हैं : धातोः परौ 1.2. स्य-तासी 1.2, प्रत्ययौ 1.2, लृ-लुटोः 7.2 (धातु से परे स्य तथा तासि प्रत्यय होते हैं, लृ और लुट् परे रहते)।

'लृ' का अर्थ : लुट् के साहचर्य के कारण 'लृ' शब्द से इस रूप वाला धातु से विहित प्रत्यय लिया जाता है। धातु से कोई 'लृ' प्रत्यय विहित नहीं है; हाँ, 'लृ' जिनका एकदेश है, ऐसे दो प्रत्यय लृट् और लृङ् उपदिष्ट हैं। विशेषाधायक 'ट्' तथा 'ङ्' अनुबन्धों का लोप करके सूत्रकार ने 'लृ' शब्द से इस रूप वाले उन दोनो का ही यहाँ समाहार किया है, अन्य लकारों का व्यावर्तन करने के लिए 'ऋ' समेत पाठ दिया है। **लृकारश्च लृकारश्चेति लृौ। तौ च लुट् चेति लृ-लुटः, तेषु 'लृ-लुट्षु'**, इस प्रकार दोनों 'लृ' शब्दो को पृथक्-पृथक् न देकर सूत्रकार ने 'लृ' इस रूप की एकता तथा ट-ङ-रहित का पाठ देने के कारण सामान्य में एकवचन से ही लृ से दोनों लृट् तथा लृङ् का ग्रहण किया है। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (1.3.10) से लृ रूप प्रत्यय परे रहते स्य, और लुट् परे रहते 'तासि' प्रत्यय होगा।[1]

'तासि' में इकार की सार्थकता : (क) आचार्य जयादित्य के अनुसार 'तासि' में इकार सानुनासिक (तासिँ) है;[2] सायणाचार्य के अनुसार कुछ आचार्य तास् के स् की इत्संज्ञा के निषेध के लिए सानुनासिक ही मानते हैं।[3] और (ख) वामन के मत में

---

1. का०, न्या० और प्र० कौ०। **यथा-सङ्ख्यम्०** सूत्र की प्रवृत्ति भी वस्तुतः जाति-पक्ष के आश्रयण से संख्या-साम्य ले कर माननी चाहिए : लृत्ववान् प्रत्यय परे रहते स्यत्ववान् तथा लुट्त्ववान् परे रहते तास्त्ववान् हो। अन्यथा व्यक्ति-पक्ष में 'लृ' शब्द से दो का ग्रहण होने के कारण संख्या-साम्य नहीं होने से **यथा-संख्य०** सूत्र कैसे लगेगा ?—डॉ० प० श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी।
2. का० : **'इदित्करणमनुनासिक-लोप-प्रतिषेधार्थम्—मन्ता, संगन्ता।** तथा इसपर न्या० : **इदं हि जयादित्यवचनम्।**
3. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 11 : **अत्र केचित्तासेरिकारमुच्चारणार्थमाहुः। पर-मते त्वनुनासिकं स-लोप-प्रतिषेधार्थम्।**

केवल उच्चारणार्थक, अर्थात् निरनुनासिक है।[1] उपर्युक्त आचार्यों का आशय निम्न प्रकार से है—

(क) जयादित्य—√मन्+तास्+आ, सम्+√गम्+तास्+आ[2] स्थितियों में **टेः** (6.4.144) से तास् की टि(आस्) का लोप : मन्+त्+आ, सम्+गम्+त्+आ। अब 'आ' प्रत्यय के प्रति तकारान्त अङ्ग—मन्त्, संगन्त् -- की उपधा (न्) का **अनिदितां हल उपधायाः** (6.4.24) से लोप प्राप्त होता है। तासि को इदित् करने से अंग अनिदित् नहीं रहता। अतः यह सूत्र प्राप्त ही नहीं होता। इस लिए 'तासि' पाठ सप्रयोजन है।

शंका : आभीय उपधा-लोप की कर्तव्यता में आभीय टिलोप-सूत्र **असिद्धवदत्राभात्** (6.4.22) से असिद्ध हो जाता है। फलतः नकार उपधा नहीं रहता और उपधा-लोप प्राप्त ही नहीं होता। **उत्तर :** असिद्धवद्भाव अनित्य तथा भाष्यकार के द्वारा खंडित होने से यहाँ लागू नहीं होता। अतः तासि (सानुनासिक) आवश्यक है (—न्यास तथा शब्दकौस्तुभ)।

अन्य आचार्य—इनका आशय संभवतः यह है कि यदि इकार को उच्चारणार्थ मानें, तो अंत्य स् की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा प्राप्त होगी। तास् चूँकि विभक्ति नहीं है, अतः **न विभक्तौ तु-स्माः** (1.3.4) से निषेध भी नहीं प्राप्त होता। अतः इदंत (तासि) उपदेश करने पर इत्संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती।

(ख) वामन—ये **असिद्धवदत्राभात्** को नित्य मानते हैं।[3] अतः उपधा-लोप प्राप्त ही नहीं है; अतः इदित्करण की आवश्यकता नहीं है।

श्रीनागोजी भट्ट तथा भैरवमिश्र ने वामन का पक्ष ही माना है।[4] **असिद्धवद-**

---

1. का० 7.1.58 : **'तासि-सिचोरिदित्कार्यं' 'नास्ती'त्युच्चारणार्थो निरनुनासिक इकारः पठ्यते।** न्या० 3.1.33 : **'वामन-वृत्तौ तु तासिसिचोरिकार उच्चारणार्थो, नानुबन्धः पठ्यते।**
2. हरदत्त के मत में काशिका के **'मन्ता सङ्गन्ता'** प्रयोग में 'सङ्गन्ता' पद उदाहरण नहीं, अपितु 'सङ्गत' अर्थ में 'मन्ता' का विशेषण है। अन्य न्यासकार आदि आचार्य इसे भी उदाहरण ही मानते हैं। 7.1.58 में जयादित्य ने केवल 'मन्ता' उदाहरण ही दिया है। अतः 'मन्ता' उदाहरण असंदिग्ध है और 'सङ्गन्ता' संदिग्ध है। हरदत्त ने 'संहन्ता' पाठ-भेद भी दिया है।
3. न्या० : **वामनेन त्वसिद्धत्वमिहास्त्येवेति मन्यमानेनोच्चारणार्थतोक्ता। नहि टिलोपस्यासिद्धत्वे सत्यनुनासिक-लोपः प्राप्नोति।**
4. वृ० श० शे०, पृष्ठ 1606, च० क०, पृ० 443.

तासी' एतौ प्रत्ययौ स्तो लृ-लुटोः परतः। शबाद्यपवादः। 2187 आर्धधातुकं शेषः (3.4.114)—तिङ्-शिद्भ्योऽन्यो, 'धातोः' इति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः

प्रत्यय होते हैं 'लृ' और 'लुट्' परे रहते। शप् आदि का बाध होता है। 2187 तिङों और शितों से भिन्न, 'धातु से परे' यह कह कर विहित प्रत्यय इस (आर्धधातुक) संज्ञा

त्राभात् (6.4.22) सर्वत्र ही अनित्य नहीं है, यह उस सूत्र पर म० भा० से स्पष्ट होता है। यदि ऐसा होता, तो **वुग्युटावुवङ्** इत्यादि वार्तिक स्वीकार करने की अपेक्षा 'असिद्धवत्त्व-विधायक सूत्र अनित्य हैं', यह कहना ही पर्याप्त होता।

लादेश और स्य, तास् का क्रम : स्य और तास् विकरण हैं, धातु से लकार करने पर ये तथा लादेश तिङ् युगपत् प्राप्त होते हैं। लादेश विकरणों से पर हैं और 'धातु से परे (**धातोः**)' कह कर विहित होने से विकरणों से पूर्व भी हो सकते हैं, तथा पश्चात् भी; इस लिए अतः लादेश **कताकृत-प्रसङ्गि नित्यम्**—(प० 43) से नित्य भी हैं। विकरणों को बाध कर पहले लादेश होंगे, फिर स्य तथा शप्, श्यन् आदि विकरण अपनी-अपनी प्राप्ति के अनुसार प्राप्त होंगे। शप् आदि पर-निमित्त के रूप में कर्त्रर्थक सार्वधातुक की अपेक्षा रखते हैं, और स्य तथा तास् लकार मात्र की। अतः अल्पापेक्षी स्य, तास् अंतरंग हैं, एवं बह्वपेक्षी शप् आदि बहिरंग हैं।[1] इस लिए स्य, तास् शप् आदि को बाध कर प्रवृत्त होते हैं। स्य आदि करने के पश्चात् शप् आदि की प्राप्ति ही नहीं है; क्योंकि धातु से परस्थ तास् आदि आर्धधातुक हैं, सार्वधातुक नहीं, जिसकी कि शप् आदि को पर-निमित्तत्वेन अपेक्षा है।[2]

शबादि का अभिप्राय : मूल के शबादि में 'आदि' शब्द से शप् के समान-धर्मा श्नु, श्यन्, श, श्नम्, श्ना लिए जाते हैं।

2187 **आर्धधातुकं शेषः** (3.4.114)—यहाँ 'आर्धधातुक' संज्ञा, है तथा 'शेषः' संज्ञी। इससे पूर्व **तिङ् शित् सार्वधातुकम्** (113) है। तिङ् प्रत्यय तृतीय अध्याय में विहित हैं। उनके साहचर्य शित् भी वहीं कहे हुए लिए जाएँगे, 'शेष' शब्द से भी 'तिङ् से और शित् से भिन्न तृतीय अध्याय में विहित प्रत्यय' लिए जाते हैं : **शेषः (प्रत्ययः) आर्धधातुकम्** (शेष=तिङ् से और शित् से भिन्न तृतीयाध्यायानुक्रांत प्रत्यय, आर्ध-

---

1. डॉ० त्रिपाठी : वस्तुतः ऐसा अंतरंग-बहिरंग-भाव प्रामाणिक न होने से **येन नाप्राप्त०** न्याय से स्य, तास् इत्यादि विकरण शबादि के अपवाद होते हैं। इसी लिए श्रीदीक्षितजी ने लिखा है—**शबाद्यपवादः**।
2. इस बारे में विशेषार्थ 3.1.33 प्रदीप, उद्योत तथा पदमञ्जरी देखें।

धातुक होता है) ।[1]

'धातोः' के अनुवर्तन की आवश्यकता : तृतीय अध्याय में प्रत्यय (1) धातुओं से तथा (2) सुबंत नाम प्रकृतियों से विहित हैं :

(1) धातुओं से प्रत्यय तीन तरह से विहित हैं : (क) 'धातोः' इस प्रकार कह कर धातु का सामान्य निर्देश करके धातुक्रम से । जैसे—**धातोः कर्मणः समान-कर्तृ-कादिच्छायां वा** (3.1.7), **धातोरेकाचो हलादेः क्रिया-समभिहारे यङ्** (22), **धातोः** (91), **शमि धातोः संज्ञायाम्** (3.2.14) । (ख) सूत्र में धातु-विशेष का निर्देश साक्षात् करके । जैसे—**लुप-सद-चर-जप-जभ-दह-दश-गृभ्यो भाव-गर्हायाम्** (3.1.24) । (ग) धातु से संभव शब्दों का निपातन करके—'अमुक शब्द सिद्ध हो' इस प्रकार कह कर । जैसे—**वह्यं करणम्** (3.1.102) ।

(2) इसी प्रकार नाम-पदों से भी प्रत्यय दो प्रकार से किए हैं : (क) 'सुपः' इस प्रकार सामान्य-निर्देश-पूर्वक । जैसे—**सुप आत्मनः क्यच्** (3.1.8) से **कर्तुः क्यङ् स-लोपश्च** (11) तक, और **तत्करोति तदाचष्टे** (चुरादि-गणस्य गण-सूत्र) से । (ख) सूत्र में शब्द-विशेष को साक्षात् देकर । जैसे—**भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः** (12) से लेकर **मुण्ड-मिश्र-श्लक्ष्ण-लवण-व्रत-वस्त्र-हल-कल-कृत-तूस्तेभ्यो णिच्** (21) तक ।

अब प्रश्न यह आता है कि इस अध्याय में विहित तिङ्, शित् से भिन्न सभी प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा होगी, या किन्हीं खास-खास प्रत्ययों की ? सभी की यदि करें, तो 'जुगुप्सते', 'पुत्रकाम्यति' आदि में सन् तथा काम्यच् आर्धधातुक होंगे और इनके वलादि होने से इट् प्राप्त होगा । परन्तु लक्ष्यों में यह इष्ट नहीं है । अतः 'धातु से' इस प्रकार विहित प्रत्ययों की ही आर्धधातुकसंज्ञा करने के लिए सूत्र में 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी चाहिए । परन्तु 'धातु से विहित शेष प्रत्यय आर्धधातुक हों', यह इष्टार्थ तो तब भी नहीं बनता । क्योंकि 'धातोः शेषः आर्धधातुकम्' ('धातु से परे स्थित शेष आर्धधातुक होता है') अर्थ प्राप्त होता है । फलतः धातु से परे स्थित प्रत्ययों में तो सन्, काम्यच् आदि आते हैं । इससे बचने के लिए एक दूसरे 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी । एक 'धातोः' से धातु-भिन्न सुप् प्रकृतियों का निवारण होगा, और दूसरे से विहित प्रत्यय, इस प्रकार प्रत्यय की विशेषता बतायी जायेगी :[2] **धातोः धातोः शेषः आर्धधातुकम्**—धातु से (हो, इस प्रकार विहित) धातु से परे स्थित शेष

---

1. म० भा० : **अनुक्रान्तापेक्षं 'शेष'-ग्रहणम्** । इस पर प्र० : **ये प्रत्ययास्तिङ्-शिद्वर्जिताः, ते 'आर्धधातुक'-संज्ञा भवन्ति, न त्वनुक्रंस्यमाना इत्यर्थः** ।
2. न्यास : **तत्रैकेन धातुना धातु-प्रत्ययो निवर्तते, अपरेण धातु-प्रत्ययो विशिष्यते, 'धातोः' इत्येवं यो विहित इति** ।

प्रत्यय आर्धधातुक होता है।

अब यह प्रश्न आता है कि ये 'धातोः' पद आयेंगे कहाँ से ? भगवान् सूत्रकार ने तीसरे अध्याय में कुल चार बार 'धातोः' दिया है, यह पहले बतलाया जा चुका है। उन्होंने **धातोरेकाचो०** (3.1.22) और **धातोः** (91) में स्वरित 'धातोः' पद अनुवृत्ति के लिए दिया था, यह बात ग्रंथ के अंतस्साक्ष्य से और आचार्य-परंपरा की मान्यता से भी सिद्ध होती है। **धातोः कर्मणः०** (3.1.7) में 'धातोः' अनुवृत्ति के लिए (अर्थात् स्वरित) नहीं है, यह भी इसी प्रकार सिद्ध है। **शमि धातोः** (3.2.14) में 'धातोः' का प्रयोजन सम्+√कृ से 'हेतु' आदि अर्थों में 'ट' प्रत्यय का निवारण करना है।[1] अतः यहाँ **धातोरे-काचो०** (22) और **धातोः** (91) का अधिकार है।

भगवान् भाष्यकार ने **धातोः** (91) का खंडन किया है। कैयट के अनुसार उनका आशय यह है कि **शमि धातोः संज्ञायाम्** (3.2.14) से अनुवृत्ति से दूसरा 'धातोः' पद आ सकता है, अतः **धातोः** (91) से अनुवृत्ति आवश्यक नहीं है।[2]

का० तथा न्या० में इसे (91 को) स्वीकार करने के लिए जो तर्क दिए हैं, वे तर्काभास से अधिक नहीं हैं, और भाष्यकार ने उन्हें पूर्वपक्ष में दिया भी है। संक्षेप में उनका विवरण यों है :—

(1) 'कृत्' तथा 'उपपद' संज्ञाओं के लिए **धातोः** (91) सूत्र आवश्यक है। क्योंकि यदि **धातोरेकाचो०** (22) का ही यहाँ भी अधिकार माना जाए, तो स्य तथा तास् भी कृत् कहलायेंगे और कृदंत होने से भविता, भविष्यति आदि में स्यान्त तथा तासन्त शब्दरूपों की प्रातिपादिक संज्ञा भी प्राप्त होगी और फिर उनसे सुप् भी होने चाहिएँ। इसी प्रकार **तत्रोपपदं सप्तमी-स्थम्** (92) से **च्लि लुङि** (43) में सप्तमीस्थ लुङ् की उपपद संज्ञा प्राप्त होगी और अर्थ 'लुङ् उपपद रहते च्लि हो', होगा। इसी प्रकार **स्य-तासी लृ-लुटोः** में भी लृ तथा लुट् की उपपद संज्ञा प्राप्त होगी। इस सूत्र (91) को स्वीकार करने पर इससे आगे के सूत्रों द्वारा विहित अतिङ् प्रत्यय ही कृत् और उपपद कहलायेंगे। फलतः स्य, तास् की कृत्संज्ञा और लृट्, लुट्, लुङ्, लृङ् की उपपद संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती।

(2) **धातोः** (91) से आगे विहित प्रत्ययों में ही 'वा-सरूपविधि' लागू हो, यह भी एक प्रयोजन है। क्योंकि यदि **धातोरेकाचो०** (22) के अधिकार में विहित प्रत्ययों

---

1. महाभाष्य : 3.2.14 : **शमि संज्ञायां 'धातु'-ग्रहणं कृञो हेत्वादिषु ट-प्रतिषेधार्थम्।**
2. प्रदीप 3.1.91 : **'शमि धातोः' इत्यतो द्वितीय-'धातु'-ग्रहणानुवर्तनाद्वा।** उद्योत : **नन्वेकेन 'धातु'-ग्रहणेन कथमेषोऽर्थो लभ्येत ? अत आह—'शमि धातोः' इति।**

में भी यह लागू होगी, तो **च्लेः सिच्** (3.1.44) को **शल इगुपधादनिटः क्सः** (45) विकल्प से बाधेगा, न कि नित्य। अतः **धातोः** (91) आवश्यक है।

इस पूर्वपक्ष पर भाष्यकार का कहना है कि **कृदतिङ्** (93) और **तत्रोपपदं सप्तमी-स्थम्** (92) को अधिकार सूत्र बनाने से अधिकार के स्थान से आगे ही प्रवृत्त होने के कारण पूर्ववर्ती स्य आदि की कृत् संज्ञा और लुङ् आदि की उपपद संज्ञा नहीं प्राप्त होती। इसी प्रकार **वा सरूपोऽस्त्रियाम्** (94) भी अधिकार ही है। अतः **धातोः** (91) अनावश्यक है।[1]

इस पर न्यासकार का (पृष्ठ 483-484 पर) कहना है कि ये कृत् तथा उपपद अधिकार सिंहावलोकन-न्याय से पूर्ववर्ती स्य तथा लुङ् आदि पर भी लागू हो सकते हैं।

इस पर वक्तव्य यह है कि यदि सिंहावलोकनन्याय से अधिकार-सूत्र की प्रवृत्ति उसके अधिकारक्षेत्र के बाहर (पूर्व) भी आप संभव मानते हैं, तो **धातोः** (91) यह अधिकार नाम लेकर परिगणित धातुओं के क्षेत्र में उनमें भी धातुत्व के अव्याहत होने के कारण प्रवृत्त होगा क्या? (1) यदि हाँ, तो **धातोः** (91) से पूर्वस्थ प्रत्ययों की कृदुपपदसंज्ञाएं तथा 'वा-सरूपविधि' सुतराम् स्वतः ही प्राप्त होगी। तब **धातोः** (91) व्यर्थ ही होगा। (2) यदि नहीं, तो भी **धातोः** व्यर्थ ही है।

इसके अतिरिक्त इस न्याय पर न्यास में ही परस्पर-विरोध उपलब्ध होता है— **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (92) में का० अदि में 'तत्र' को अधिकार-परामर्शक माना है: **तत्र=तस्मिन्धात्वधिकारे**। किंतु न्यास का मत है कि यहाँ 'तत्र' शब्द निमित्त-सप्तम्यंत है, एवं सप्तमी-स्थ जब प्रत्यय का निमित्त होगा, तब उपपद संज्ञा होगी। उपपद-संज्ञा-सूत्र को अधिकार-सूत्र कर देने से यहाँ **धातोः** (91) की अपेक्षा नहीं है। यहाँ न्यास में पूर्वापर-विरोध यह है कि **धातोः** (91) पर तो उन्होंने **धातोः** को अधिकार-सूत्र बताया है, तथा उपपदाधिकार का खंडन सिंहावलोकन-न्याय का आश्रय ले कर किया है और अगले उपपद-संज्ञा-सूत्र में न केवल **धातोः** का अधिकार नहीं माना, बल्कि उपपद-सूत्र की अधिकारकता के कारण उसे अनावश्यक बतलाया है और सिंहावलोकित-न्याय का सिंहावलोकन करना स्वयं ही भूल गये!

---

1. महाभाष्य 3.1.91, भाष्यवर्तिक 7, पृष्ठ 184, पर: **कृदुपपद-संज्ञे तावन्न प्रयोजयतः, अधिकारादप्येते सिद्धे**। तथा इस पर उद्योत: **'कृदतिङ्'** (3.1.93), **'तत्रोपपदं सप्तमी-स्थम्'** (3.1.92) **इत्यनयोरधिकारत्वादित्यर्थः**। ··पृष्ठ 185: **'वाऽसरूप०'** (94) **इत्यप्यधिकार एवेत्येतदभावे क्सादिभिः सिचः समावेशः स्यात्, इति न शङ्क्यम्**।

स्यात् । इट् । 2188 लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः (2.4.85)—'डा', 'रौ', 'रस्' वाला हो । इट् । 2188 लुट् के प्रथम के स्थान में 'डा', 'रौ', 'रस्' ये क्रमशः हो। ङित्

इस प्रकार म० भा०, प्र०, तथा उ० के साक्ष्य से **'धातोः'** (91) व्यर्थ ही सिद्ध होता है। किंतु का०, न्या० प्र० कौ०, वा० दी० और ज्ञा० स० ने इसे स्वीकृत ही माना है। भट्टोजीदीक्षित जी ने श० कौ० में दोनों पक्षों का अनुवाद मात्र किया है। अपना कोई मत नहीं दिया। किन्तु सि० कौ० में कृदंत प्रकरण के आरम्भ में **धातोः** (91)—**आ-तृतीयाध्याय-समाप्तेरधिकारोऽयम्** लिखा है। वा० दी० ने इसपर 'यह भाष्य में स्पष्ट है' लिखा है।

वस्तुतः यहाँ **धातोः** (91) आवश्यक ही है। भाष्यकार के अनुसार ही **शमि धातोः संज्ञायाम्** (3.2.14) में 'धातोः' का प्रयोजन हेत्वादि में √कृ से ट प्रत्यय का निषेध है, यह पीछे (पृ० 91, टि० 1 में) कहा जा चुका है। किंतु इस प्रकार के विज्ञापन तभी सम्भव हैं, जब 'धातोः' की और कोई सार्थकता न हो। सार्थक पद अपने पद में चरितार्थ हो कर उपरत हो जाता है। तब इसका अन्य कोई प्रयोजन भी हो सकता है, यह जिज्ञासा उसी प्रकार नहीं उठती, जिस प्रकार मुख्यार्थ के सम्यक् उपपन्न होने पर लक्षणा का प्रसंग ही नहीं उठता। अतः **शमि धातोः०** में 'धातोः' को अनुवृत्त्यर्थ मानना उचित नहीं है। फलतः आर्धधातुक संज्ञा के लिए ही **धातोरेकाचो०** (22) के अतिरिक्त **धातोः** (91) भी अपेक्षित है। और इसलिए सूक्ष्मदृष्टि भगवान् सूत्रकार ने यह सूत्र यहाँ दिया भी है।

2188 लुटः—प्रथमस्य डा-रौ-रसः (2.4.85) 'प्रथम' शब्द से **तिङस्त्रीणि०** (1.4.101) से 'प्रथम' संज्ञा किए गए तिप्, तस्, झि और त, आताम्, झ प्रत्यय लिए जाते हैं। वे चूँकि **लस्य** के अन्तर्गत होने से 'ल्' के स्थान में होते हैं, अतः यहाँ 'लुटः' में स्थानेयोगा षष्ठी है। 'प्रथमस्य' भी स्थान-षष्ठ्यंत ही है : लुट् के आदेश प्रथम के स्थान में डा, रौ और रस् हों।

छह तिङों को तीन आदेश कैसे ? लुट् के आदेश प्रथम आत्मनेपद-परस्मैपद तथा एक, द्वि, बहुवचन के भेद से छह प्रकार का है, तो डा, रौ, रस् तीन ही। प्रथम के तीन-तीन प्रत्यय क्रमशः ए० व०, द्वि० व०, ब० व० संज्ञक हैं, तो उनसे डा, रौ, रस् भी क्रमशः एकार्थक, द्व्यर्थक एवं बह्वर्थक हैं। यह बात व्याख्यान से और लक्ष्य-प्रमाण से सिद्ध है। तब अर्थकृत सादृश्य (आंतरतम्य) से एकार्थक प्रथम को एकार्थक 'डा', द्व्यर्थक को द्व्यर्थक 'रौ' एव बह्वर्थक 'रस्' हों, यह कहा जा सकता है।[1]

---

1. म० भा० : **स्थानेऽन्तरतमेन व्यवस्था भविष्यति। कुत आन्तर्यम् ? अर्थतः—एकार्थस्यैकार्थो, द्व्यर्थस्य द्व्यर्थो, बह्वर्थस्य बह्वर्थः।**

यदि कहें कि लक्षणैक-चक्षुष्क वैयाकरण की दृष्टि में, अथवा व्याकरण से भाषा पढ़ने वाले की दृष्टि में, प्रथम की एक-द्वि-बह्वर्थकता तो शास्त्र से उपलब्ध है, किंतु डा, रौ, रस् की एकाद्यर्थता किस प्रकार बतायेंगे ? इसका उत्तर यह है कि डाश्च, रौश्च, रश्चेति डा-रौ-रस: (इतरेतरद्वंद्व) । डारौरसश्च, डारौरसश्चेति डा-रौ-रस:—**स-रूपाणमेक-शेष एक-विभक्तौ** (1.2.64) से एक-शेष । फलत. आदेश भी छह ही हैं । अत: **यथासङ्ख्यमनुदेश:०'** से ही तिप्/त को डा, तस्/आताम् को रौ और झि/झ को रस् होंगे ।[1]

आत्मनेपद के प्रथम में **टित आत्मनेपदानां टेरे** (3.4.79) से टि को एत्त्व तथा प्रस्तुत सूत्र से डा आदि प्राप्त होते हैं । एत्त्व एधते, ऐधिष्यते आदि में चरितार्थ होने से एवं 'डा' आदि परस्मैपद में चरितार्थ होने से सावकाश हैं । अत: दोनों सूत्रों के तुल्यबल होने के कारण पर एत्त्व पहले होगा। फिर **पुन:-प्रसङ्ग-विज्ञानात् सिद्धम्** (प० 4०) से ते, आते, झे को क्रमश: डा, रौ, रस् होंगे ।[2] **लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्ति:** (प० 121) से निषेध हाने से पुन: एत्त्व नहीं होगा ।[3]

अथवा **लिटस्त-झयोरेशिरेच्** (3.4.81) और **थास: से** (3.4.80) से 'अश्', 'इरच्' और 'स' आदेश करने पर भी इनकी टि को एत्त्व होने पर क्रमश: 'एश्', 'इरेच्' और 'से' रूप प्राप्त हो सकते थे । ऐसा न करने से यह व्यक्त होता है कि सूत्र-कार तिङों के आदेशों की टि को एत्त्व करना उचित नहीं मानते । ऐसी स्थिति में एत्त्व केवल पर है, जब कि 'डा' आदि कृताकृत-प्रसंगी होने से नित्य हैं । अत: पर टि के एत्त्व को बाध कर नित्य 'डा' आदि आदेश होंगे ।[4]

इस प्रसंग में न्यासकार का यह कहना है कि 'डा' आदि को केवल स्थानी—लुट् के आदेश प्रथम—की अपेक्षा है, एत्त्व को तृतीयाध्याय-पर्यन्त **धातो:** (91) का अधिकार होने से धातु एवं स्थानी दो की । अल्पापेक्षी होने से 'डा' आदि अन्तरंग और

---

1. म० भा० : **अथवा आदेशा अपि षडेव निर्दिश्यन्ते । कथम् ? एकशेष-निर्देशोऽयम् ।** उ० : **प्रकृते तु कृत-द्वन्द्वानामेकशेषो न्याय्य इति बोध्यम् ।**

2. म० भा० : **उभयोरनित्ययो: परत्वादेत्त्वम् । रत्वे कृते पुन:-प्रसङ्ग-विज्ञानाड्डा-रौ-रसो भविष्यन्ति ।**

3. उ० : **पुनरेत्त्वं न, 'लक्ष्ये लक्षणस्ये'ति न्यायादिति भाव: ।**

4. शं०कौ० : **यद्वा तिङ आदेशेषु टेरेत्त्वं न भवति, एशिरेचोस्थासस्सेश्चैकारोच्चारणा-ज्ज्ञापकात् ।** न्या० : **'थास: स' इति ज्ञापकं 'तिङादेशस्य टेरेत्त्वं न भवती'ति ।**

बह्वपेक्षी होने से एत्त्व बहिरंग है। अतः एत्त्व को बाध कर 'डा' आदि होंगे। फिर **थासः से** (3.4.80) आदि के ज्ञापन से पुनः एत्त्व न ही होगा।

न्यास का यह स्थल दुर्बल है, क्योंकि (क) यथा-कथंचित् अन्तरंगता मानी जा सकती है। परन्तु अन्तरंग के द्वारा पर के बाधित होने पर पुनः पर की प्राप्ति **लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते** (प० 121) के बलसे न्याय्य नहीं है। (ख) यदि सूत्रकार को 'डा' आदि की टि को एत्त्व करना होता, तो डा, रौ, रस् इस विशिष्ट रूप में न दे कर 'ड-र-राः' अथवा 'डा-रा-राः' इस रूप में भी दे सकते थे। ऐसा न करके विशिष्ट रूप में देने से तो यही सिद्ध होता है कि इनकी टि को एत्त्व नहीं होना चाहिए। (ग) विज्ञापन से प्रतिफलित 'डा' आदि की नित्यता से ही जब समाधान सम्भव है, तब अन्तरंगता की अतिरिक्त कल्पना से कोई प्रयोजनविशेष नहीं सिद्ध होता।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है : (क) ति, तस्, झि को क्रमशः डा, रौ, रस् होते हैं। (ख) ते, आते, अन्ते को क्रमशः डा, रौ, रस् होते हैं; अथवा (ग) 'तिङादेशों की टि को एत्व नहीं होता', इस ज्ञापन से त, आताम्, झ को डा, रौ, रस् होते हैं।

'डा' अनेकाल्त्वेन सर्वादेश है : 'रौ' और 'रस्' अनेकाल् होने से समूचे स्थानियों के स्थान में होंगे। 'रस्' झि/झ विभक्ति का आदेश होने से स्थानिवद्भाव से स्वयं भी विभक्ति ही है, अतः इसके 'स्' की इत्संज्ञा नही होती। लक्ष्यानुरोध से 'डा' भी सर्वादेश ही होना चाहिए। उसके लिए प्रत्यय या तो शित् (डाश्) हो, या अनेकाल् हो, इस पर तीन मत हैं :—

(क) सर्वादेश अनावश्यक है। **अलोऽन्त्यस्य** (1.1.52) से प्रत्ययों (ति, त) के अंत्य अलों (इ, अ अथवा ए) को 'डा' करने पर भवितास्+त्+आ स्थिति में **टेः** से 'आस्त्' (टि) का लोपः भवित्+आ=भविता। डित् करने का एकमात्र प्रयोजन समूची अष्टाध्यायी में भसंज्ञक टि का लोप बताया है। धातुप्रकरण में भ-संज्ञा नहीं होती। तब प्रत्यय को डित् व्यर्थ किया हो, यह तो सम्भव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि भसंज्ञा तथा ति/त के आद्यवयव 'त्' अंत वाले (भवितास्+त्) शब्द रूप की भ और अङ्ग संज्ञा न होने पर भी यहाँ टि का लोप होगा।[1]

प्रश्न : प्रत्ययावयव अन्त्य (इ, अ अथवा ए) को आदेश होने से प्रत्यय तो 'त्डा'

---

1. म० भा० 2.4.85, भा० वा० 6-7, पृष्ठ 907-8 : **सिद्धमलोऽन्त्यविकारात्। डिति टेर्लोपाल्लोपोऽभत्वान्न प्राप्नोति। डित्करणसामार्थ्याद् भविष्यति।** इसपर प्र० : **तत एवानङ्गस्यापीति बोध्यम्। नह्यन्त्यस्य डादेशे कृते स-तकारमङ्गम्, प्रत्यये परतोऽङ्ग-संज्ञाविधानात्।**

एते क्रमात् स्युः। डित्त्व-सामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। 2189 पुगन्त-लघूपधस्य होने से भ-संज्ञा-रहित की भी टि का लोप होता है। 2189 पुक् अन्त वाले, और लघु

हुआ, न कि 'डा', अतः यह तिङ् नहीं कहला सकता, फलतः **सुप्तिङन्तं पदम्** (1.4.14) से 'भविता' की पद-संज्ञा भी नहीं होगी। **उत्तर : एकदेशविकृतमनन्यवत्** (प० 38) से तिङ्त्व व्याहत नहीं होता। जैसे **झोऽन्तः** (7.1.3) से प्रत्ययावयव 'झ्' को 'अन्त' आदेश होने पर भी प्रत्ययता तो अव्याहत ही रहती है।[1]

(ख) 'डा+आ=डा' इस प्रकार प्रश्लिष्ट मान कर अनेकाल्त्वात् सर्वादेश कर सकते हैं। आदेश 'डा आ' होगा, फिर दीर्घ एकादेश होकर 'डा' बन जायेगा।[2]

(ग) आदेश करने से पूर्व उपदेश में 'प्रत्यय' संज्ञा न होने से **'चुटू'** (1.3.7) से 'ड्' की इत्संज्ञा नहीं हो सकती। अतः 'डा' रूप में भी 'ड् आ' के रूप में अनेकाल् होने से सर्वादेश संभव है। फिर प्रत्यय संज्ञा होने पर 'ड्' की इत्संज्ञा हो सकती है।[3]

इस पर विप्रतिपत्ति यह है कि **अनेकाल्शित्०** (1.1.55) सूत्रस्थ भाष्य से ध्वनित होता है कि अनुबंधसंज्ञा के योग्य अल् के होने से आदेश अनेकाल् नहीं हो सकता। अतः अनुबंधसंज्ञा के योग्य ड् से डा को अनेकाल् नहीं माना जा सकता। इस लिए इस प्रकार का सर्वादेश अनुपपन्न है।[4]

इस समूचे विवरण का निष्कर्ष यों है : (क) तस्/आताम् और झि/झ को क्रमशः रौ और रस् सर्वादेश होते हैं। (ख) ति/त को **अलोन्त्यस्य** से अन्तादेश और डित्त्वसामर्थ्य से भ तथा अङ्गसंज्ञा के अभाव में भी ति का लोप होता है। अथवा— (ग) डा+आ= इस प्रकार प्रश्लेष से अनेकाल् होने से सर्वादेश डा+आ, दीर्घ होने पर डा होता है।

2189 **पुगन्त-लघूपधस्य च** (7.3.86)—पुगन्तलघूपधस्य च अङ्गस्य (इकः) 6.1,

---

1. म० भा०, भा० वा० 9 : **यदा तर्ह्ययमन्त्यस्य स्थाने भवति, तदा तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं न प्राप्नोति।** भा० वा० 10 : **तिङ्ग्रहणमेकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्।** प्र० : **एकदेशविकृतमिति पचतु, पचन्त्वित्यादौ यथा।**
2. म०भा० : **अथवा प्रश्लिष्ट-निर्देशोऽयम्—डा+आ=डा, सः 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'ति सर्वादेशो भविष्यति।** प्र० : **सर्वादेशे च तस्मिन्कृते एकादेशः प्रवर्तते।** उ० : **कृतैकादेश-निर्देश-सामर्थ्यादादेशकाले एकादेशस्य नैव प्रवृत्तिरित्यर्थः।**
3. म० भा० में **'अनित्त्वाद्वा'** यह एकदेशी की उक्ति और तत्रस्थ प्र० एवम् उ०। न्या०, वा० म०, प्र० प्र०।
4. श०कौ० और उ०। **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (1.1.55) पर म० भा० एवम् उ० भी।

च (7.3.76)—पुगन्तस्य, लघूपधस्य चाङ्गस्येको गुणः स्यात्सार्वधातुकार्धधातु- उपधा वाले अंग के इक् को गुण हो सार्वधातुक तथा आर्धधातुक परे रहते। जिससे

मिदेर्गुणः 1.1 (7.3.82), सार्वधातुकार्धधातुकयोः 7.2 (84)।

पुक् **'अर्ति-ह्री-ब्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुङ् णौ'**, (7.3.36) से विहित एक आगम है। **पुक् अन्तो यस्य, तत् पुगन्तम्। लघ्वी उपधा यस्य, तल्लघूपधम्। पुगन्तं च लघूपधं चेति पुगन्तलघूपधम्** (समाहार० द्वन्द्व), **तस्य**। यह शब्द अवयव-षष्ठ्यन्त 'अङ्गस्य' का विशेषण है : **पुगन्त-लघूपधस्य अङ्गस्य**। अंग का अवयव **इको गुण-वृद्धी** (1.1.3) से प्राप्त 'इकः' पद है। 'इकः' में स्थाने-योगा षष्ठी है। **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** में सप्तमी-निर्देश से यहाँ **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (1.1.66) परिभाषा से 'पूर्वस्य' आता है, जो 'इकः' से अन्वित होता है : **पुगन्त-लघूपधस्य अङ्गस्य (अवयवस्य) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (परयोः पूर्वस्य इकः स्थाने) गुणः (भवति)**—पुक् प्रत्ययांत तथा लघु-उपधा वाले अंग के अवयव, तथा सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय से पूर्ववर्ती इक् के स्थान में गुण होता है।

'पुगन्तस्य' का प्रयोजन : अंतिम अल् से पहला वर्ण 'उपधा' कहलाता है—**अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा** (1.1.65)। अतः सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय और गुण के स्थानी इक् में एक अल् (हल्) का व्यवधान अनिवार्य है; इसलिये **तस्मिन्निति०** परिभाषा-सूत्र से प्राप्त 'अव्यवहितस्य पूर्वस्य'[1] अर्थ यहाँ लागू नहीं होगा। किंतु उपधा संज्ञा के लिए आवश्यक 'एक हल् से व्यवहित पूर्ववर्ती इक् को' यह सूत्र का आशय है। इसी प्रकार पुगंत अङ्ग का इक् भी एक हल्—पुक्—से व्यवहित ही लेना होगा। अतः यह गुण **येन नाव्यवधानं, तेन व्यवहितेऽपि** (प०, अर्थात् जिसके व्यवधान का अभाव होता ही न हो, उसके व्यवधान में भी कार्य हो) से उस अनिवार्य एक हल् के व्यवधान में ही होगा, न कि अनेक हलों के। फलतः 'भिनत्ति' में 'भिनद् ति' स्थिति में 'भिनद्' अङ्ग के इक् एवं सार्वधातुक 'ति' में अनेक वर्णों के व्यवधान के कारण गुण प्राप्त ही नहीं है। 'पुगंतस्य' का ग्रहण अलघूपध अङ्ग के इक् को गुण करने के लिये है।

व्याख्या-भेद : 'पुगन्त' में और 'लघूपध' में पूर्वोक्त प्रकार से बहुव्रीहि करने पर अन्य-पदार्थ अङ्ग का जो कोई इक् हो, उसी को गुण प्राप्त होगा। फलतः 'भिनत्ति' में भी गुण होना चाहिए। अतः यह व्याख्यान उचित नहीं है और निम्न

---

1. सि० कौ०, परिभाषाप्रकरण : **सप्तमी-निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।**

कयोः । येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि, वचन-प्रामाण्यात् । तेन 'भिनत्तो'-
व्यवधान का (कर्मा) अभाव न हो, उससे व्यवधान होने पर भी (कार्य हो जाता है),

---

प्रकार से व्याख्यान करना चाहिए, यह कुछ लोगों का कहना है[1]—

अङ्गस्य (अवयवस्य) पुगन्त-लघूपधस्य च (इकः) गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः । पुकि अन्तः पुगन्तः—सप्तमी (2.1.40) योगविभाग से तत्पु० । लघ्वी चासावुपधा लघूपधा (कर्मधा०) । पुगन्तश्च लघूपधश्चेति पुगन्तलघूपधम् (समाहारद्वन्द्व), तस्य, पुगन्त-लघूपधस्य । इसका सम्बन्ध 'इकः' से है । (1) अङ्गसम्बन्धी पुक् परे रहते जो अंतिम इक् है, उसे और (2) अंगसंबंधी लघु उपधा रूप इक् को गुण होता है सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर ।

इस व्याख्या के अनुसार 'भिनत्ति', 'हिनस्ति' आदि में गुण प्राप्त नहीं होता । क्योंकि यहाँ इक् अंग का अवयव तो है, किंतु वह लघु उपधा के रूप में नहीं है ।

इसपर वक्तव्य यह है कि इस पक्ष में भी सप्तमी-निर्देश से 'अव्यवहितस्य पूर्वस्य' तो आयेगा ही और उसका अन्वय उपर्युक्त प्रकार से 'एक-हल्व्यवहितस्य पूर्वस्य' ही करना होगा । फलतः पहली व्याख्या में भी 'भिनत्ति' आदि में प्रस्तुत सूत्र नहीं प्राप्त होता, यह कहा जा चुका है । तब दोष न इस व्याख्या में ही है, और न पूर्वोक्त में । अतः एक ही सूत्र की अनेक प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—यही कहना उचित है, न कि दोषदर्शन ।

इस सूत्र पर भगवान् भाष्यकार ने एक अन्य शङ्का उठाई है :—'भिद्+तृच्' इत्यादि में अंग के अंतिम हल् द् तथा तृच् के आदिम हल् त् के संयोग से पूर्ववर्ती उपधा 'इ' **संयोगे गुरु** (1.4.11) से गुरु हो जाती है, लघु नहीं रहती । तब ऐसे प्रसंगों में गुण कैसे होगा ।

इसका उत्तर उन्होंने ही यह दिया है[2] : गुण-विधान सार्वधातुक तथा आर्धधातुक के विधान की अपेक्षा करता है । लघूपधस्य अङ्गस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोः परयोः (इकः) गुणः भवति । अर्थात् लघूपध अंग के सार्वधा०/आर्धधा० प्रत्यय परे रहते

---

1. म० भा० 1.1.3 और प्र० कौ० तथा प्र० प्र०, उत्तरार्ध, पृष्ठ 46.
2. म० भा० : **संयोगे 'गुरु'-संज्ञायां गुणो भेत्तुर्न सिद्ध्यति । विध्यपेक्षं लघोश्चासौ । प्र : विध्यपेक्षमिति—'गुण-विधानमि'ति शेषः । 'लघूपधाद्ये विहिते सार्वधातुकार्धधातुके, तयोरङ्गस्य गुण' इत्यर्थः । ननु पञ्चम्यभावात्कथं विधानं भविष्यति ? उच्यते—षष्ठी-पक्षेऽपि लघूपधस्य ये सार्वधातुकार्धधातुके । के च तस्य ? तस्माद् ये विधीयेते । इत्युपपद्यते विधानविशेषणम् ।**

त्यादावनेक-व्यवहितस्येको न गुणः । भवित्+आ । अत्रेको गुणे प्राप्ते— (गुण को) कहने के प्रमाण से। फलतः 'भिनत्ति' इत्यादि में अनेकों के व्यवधान से

इक् को गुण हो। सार्व० आर्ध० प्रत्यय लघूपध अंग से परे विहित होने से ही 'लघूपध अंग के' होंगे। अन्य कोई संबंध नहीं बनता। अतः सार्वधातुक/आर्ध० प्रत्यय के विधान-काल में जो लघु उपधावाला अंग है, उसके सार्व० आर्ध० से एक हल् से व्यवहित पूर्ववर्ती इक् को गुणविधान किया होने से यहाँ गुण में कोई बाधा नहीं है।

परंतु यह उत्तर सदोष है : इस प्रकार अर्थ करने पर **अल्लोपोऽनः** (6.4.134) का अर्थ होगा 'अन्नंत के अजादि प्रत्यय परे रहते लोप हो'। इससे यदि अन्नंत से विहित प्रत्यय ही लिया जायेगा, तो यह सूत्र केवल 'राजन्+आ=राज्ञा' आदि स्वभावतः नकारांत शब्दों में ही लगेगा, न कि 'अस्थ्ना', 'दध्ना' इत्यादि में।[1]

इसपर उन्होंने दूसरा समाधान दिया है :—गृध्नु, धृष्णु, क्षिप्णु आदि शब्दों में सूत्रकार ने **त्रसि-गृधि-धृषि-क्षिपेः क्नुः** (3.2.140) से 'क्नु' किया है। यह प्रत्यय **ल-श-क्वतद्धिते** (1.3.4) से कित् है। कित्त्व का प्रयोजन **क्ङिति च** (1.1.5) से गुण-वृद्धि-प्रतिषेध होता है। इससे सिद्ध होता है कि अंग के अंतावयव तथा प्रत्यय के आद्यवयव हलों के संयोग से अग की उपधा का लघुत्व व्याहत नहीं होता।

इसी प्रकार **इको झल्** (1.2.9), **हलन्ताच्च** (10) से 'इक्' जिसके समीप है, ऐसे हल् से परे झलादि सन् कित् किया गया है। जैसे—विभित्सति। यहां भी यदि अंग की उपधा का लघुत्व सूत्रकार के मत में व्याहत होता, तो यहाँ गुण के प्राप्त ही न होने पर कित्त्व का क्या प्रयोजन ?[2] अतः यहाँ (भेत्ता) में गुण उचित ही है।

सूत्रकार के उपर्युक्त मन्तव्य का रहस्य यह प्रतीत होता है[3] : प्रकृत सूत्र में

---

1. म० भा० : **अनङ्लोपशिदीर्घत्वे विध्यपेक्षे न सिध्यतः। प्र० : 'अल्लोपोऽन' इत्यत्र षष्ठी-निर्देशेऽन्नन्ताद्विहिते प्रत्यये लोपो विधीयमानो 'राज्ञा' इत्यादावेव स्यान्नास्थ्ना दध्नेत्यादौ।**
2. म० भा० : **क्नु-सनोर्यत्कृतं कित्त्वं, ज्ञापकं स्याल्लघोर्गुणे।**
3. म० भा० में निम्न-लिखित श्लोक-वार्तिकों का विवरण देखें—

संयोगे गुरुसंज्ञायां गुणो भेत्तुर्न सिद्ध्यति।
विध्यपेक्षम्, लघोश्चासौ; कथं कुण्डिर्न दुष्यति ॥ 1 ॥
धातोर्नुमः, कथं रञ्जेः ? स्यन्दिश्रन्थ्योर्निपातनात्।
अनङ्लोपशिदीर्घत्वे विध्यपेक्षे न सिद्ध्यतः ॥ 2 ॥
अभ्यस्तस्य यदाहाचि; लङर्थं तत्कृतं भवेत्।
क्नु-सनोर्यत्कृतं कित्त्वं, ज्ञापकं स्याल्लघोर्गुणे ॥ 3 ॥

2190 दीधी-वेवीटाम् (1.1.6)—दीधी-वेव्योरिटश्च गुण-वृद्धी न स्तः।

युक्त इक् को गुण नहीं होता। भवित्+आ। यहाँ इक् को गुण प्राप्त होने पर—2190

'लघूपधस्य' पद 'अंगस्य' का विशेषण है। अर्थात् समूचे शब्द की उपधा-नहीं, अपितु अंग की उपधा। 'अंग' संज्ञा है 'तृच्' आदि प्रत्ययों से पूर्ववर्ती भिद् शब्दांश की। इस शब्दांश की उपधा निस्सन्देह लघु है। यदि परवर्ती प्रत्ययांश को भी यहां लिया जाये, तो सबसे पहले उपधात्व ही खंडित हो जायेगा, लघुत्व का अवकाश ही नहीं। अतः लघुत्व-व्याघात की शंका ही अनुपपन्न है।

2190 **दीधीवेवीटाम्** (1.1.6)—इको गुण-वृद्धी (3), न धातु-लोप आर्धधातु के (4) : दीधीवेवीटाम् इको गुण-वृद्धी न (दीधीवेवीटों के इक् को गुण एवं वृद्धि नहीं होते)।

'दीधी-वेवीटाम्' का विग्रह : यह दो तरह से हो सकता है: (क) 1 दीश्च, 2 धीश्च, 3 वेश्च, 4 वीश्च, 5 इट्चेति—दी-धी-वे-वीटः (इतरेतरयोग द्वंद्व), तेषाम्। (ख) 1 दीधीश्च, 2 वेवीश्च, 3 इट् चेति दीधी-वेवीटः (इ० द्व०), तेषाम्।

यहाँ कौन सा विग्रह इष्ट है? इसपर जिनेन्द्रबुद्धि का कहना है कि यदि **दीङ् क्षये** (दि०), **धीङ् अनादरे** (दि०), **वेञ् तन्तु-सन्ताने** (भ्वा०) तथा **वी गति-प्रजन-कान्त्यसन-खादनेषु** (अ०) को लेना सूत्रकार को इष्ट होता, तो सन्देह-रहित प्रकार से, अर्थात् जिससे **दीधीङ् दीप्ति-देवनयोः** (अ०), और **वेवीङ् वेतिना तुल्ये** (अ०) के ग्रहण की शंका ही न होती, इस प्रकार, **वी-वे-धी-दीटाम्** के रूप में देते। अतः **दीधीङ्** तथा **वेवीङ्** ही सूत्रकार को इष्ट लगती हैं तथा द्वितीय विग्रह न्याय्य है।

'इट्' से ग्राह्य : साहचर्य-नियम (प० 112) से धातुओं के साथ **इट-किट-कटी गतौ** (भ्वा०) दंडक में पठित 'इट्' को ही लिया जाना चाहिए। पर ऐसी स्थिति में 'इट्' के अल्पाच् होने से उपर्युक्त द्वन्द्व में 'इट्' को पहले देना चाहिए था। ऐसा न करके सम्भवतः सूत्रकार यह सूचित करना चाहते हों कि पूर्व निपात के व्यत्यास के अतिरिक्त यहाँ एक और भी व्यत्यास है—'इट्' धातु नहीं, अपितु आगम प्रत्यय अभिप्रेत है।

अन्वितार्थ : √दीधी, √वेवी तथा इट् (आगम) के इक् को गुण और वृद्धि नहीं होते।

सूत्र की आवश्यकता पर विचार : (क) √दीधी, √वेवीको गुण-निषेध अनावश्यक है—भगवान् भाष्यकार ने इस सूत्र को अनावश्यक बताया है : **दीधीङ्** तथा **वेवीङ्**

दोनों छन्दोमात्र-गोचर हैं। छन्दस् (वेद) में दोनों के गुणवान् रूप मिलते हैं— **होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्** (ऋ० सं० 10.98.7), **उद् द्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासोऽदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः** (ऋ० सं० 7.33.5) **नि वेवेति पलितो दूत आ** (ऋ० सं० 3.55.7) और **नि वेवेति श्रेणिभी रथानाम्** (ऋ० सं० 4.38.6) में व्यत्यय से परस्मैपद वाले गुण-युक्त रूप हैं। बिना गुण के रूप भी यद्यपि मिलते हैं, किंतु सगुण रूपों के उपलब्ध होते गुणनिषेध उपपन्न नही है।

(ख) 'इट्' के विषय में भी गुणनिषेध अनावश्यक है : नेड् वशि कृति (7.2.8) से 'इट्' की अनुवृत्ति होते भी **'आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (7.2.35) में 'इट्' शब्द अनुवर्तमान 'इट्' के विशेषणार्थ है। फलतः 'इट् इट्'—'इट् ही इट्' होता है। अर्थात् **अङ्गस्य** (6.4.1) के अंतर्गत होने वाले गुणादि कार्य इट् को नहीं होंगे। प्रत्यय का रूप जैसा उपदिष्ट है, वैसा ही रहे, यह सूत्रकार का आशय है, यह कहा जा सकता है। अतः 'इट्' को जब गुण प्राप्त ही नहीं है, तब उसका निषेध व्यर्थ है।

उत्तर : (क) √दीधी, √वेवी को गुणनिषेध आवश्यक है—'वेवेति' रूप **वी गति-प्रजन-कान्त्यसन-खादनेषु** (अ०) का यङ्लुक् में हो सकता है। √वेवी के स्पष्ट गुण वाले उदाहरण वेद में नहीं मिलते। तब, √वेवी के गुण-रहित रूपों में उत्सर्गतः प्राप्त गुण का निषेध करना आवश्यक है। √दीधी के भी इक्के-दुक्के गुण वाले रूपों में तो यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ व्यत्यय से—अर्थात् **सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पन्ते** (प०36) से गुणनिषेध नहीं हुआ। पर अधिक मात्रा में प्राप्त गुण-रहित रूपों में गुण-निषेध करना आवश्यक ही है।

(ख) 'इट्' को भी गुण-निषेध आवश्यक है : (1) इट् की व्यर्थता बतलाने वाला भाष्य-ग्रंथ एकदेशी की उक्ति है,[1] क्योंकि **नेड्वशि कृति** (7.2.8) पर भाष्य में **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** (7.2.35) में इट् के ग्रहण का खंडन स्पष्ट रूप से किया गया है। अतः भाष्य में पूर्वापर-विरोध है। (2) अङ्गाधिकार में उपर्युक्त नियम किया हुआ होने से यह नियम अङ्गाधिकारीय विकारों पर यदि लागू होगा, तो **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (7.2.37) से प्राप्त दीर्घ का भी निषेध होना चाहिए। यदि कहें कि निरवकाश होने से दीर्घ अपवाद है, अतः उसपर यह नियम नहीं लागू होगा, तो इसपर यह उत्तर है कि यह नियम केवल **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** (7.2.35) से विहित इट् के विषय में ही है। **'स्य-सिच्-सीयुट्-तासिष्वज्झन०** (6.4.62) से चिण्वद्भाव-

---

1. उ० 7.2.8 : **अत्रत्य-भाष्य-विरोधाद् 'दीधी-वेवीटामि'ति-सूत्रस्थ-भाष्यमेकदेश्युक्तिः। अत्रेड्-ग्रहणं कृत्वा गुरुतर-यत्नमाश्रित्य···।**

भविता। 2191 तासस्त्योर्लोपः (7.4.50)—तासेरस्तेश्च लोपः स्यात् सादौ प्रत्यये परे। 2192 रि च (7.4.51)—रादौ प्रत्यये प्राग्वत्। भवितारौ, भवितारः; भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ; भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः ॥ 14 ॥

दीर्घी और वेवी को तथा इट् को गुण एवं वृद्धि नहीं होवें। भविता। 2191 तासि तथा अस् का लोप हो सकारादि प्रत्यय परे होने पर। 2192 रेफादि प्रत्यय परे होने पर पहले की तरह। भवितारौ, भवितारः; भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ; भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः ॥ 14 ॥

सन्नियोग-शिष्ट इट् में—'चायिता' आदि में—लागू नहीं होगा। अतः उस इट् को प्राप्त गुण का निषेध करने के लिए यहाँ इट् का ग्रहण आवश्यक है। निर्विशेष ट् का ग्रहण करने से यह सूत्र (1) चिण्वत्सन्नियोगशिष्ट इट् तथा (2) वलादि-लक्षणक इट्, दोनों पर समान रूप से लागू होगा। तब नियमकरण व्यर्थ है। अतः इडागममात्र को प्राप्त गुण का निषेध करने के लिए सूत्र में 'इट्' पद देना उचित है।

इस प्रकार यह सारा सूत्र सार्थक है, निरर्थक नहीं।

2191 **तासस्त्योर्लोपः** (7.4.50)—सः स्यार्धधातुके (49), अङ्गस्य (6.4.1) : तासस्त्योः 6.2, अङ्गयोः 6.2, सः 6.1, लोपः 1.1, सि 7.1। यहाँ 'सि' में **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से तदादिविधि होती है : सादौ (प्रत्यये)। तास् और अस् के अंगों के सकार का लोप होता है सकारादि प्रत्यय बाद में होने पर।

यहाँ दीक्षितजी ने 'अङ्गस्य' को निगद-व्याख्यात होने से नहीं दिखाया लगता है; किंतु 'सादौ' के विशेष्य 'प्रत्यये' से तथा तदादिविधि से समझ लेना चाहिए। दीक्षितजी तथा उनके अनुयायी सभी आचार्यों ने 'तासस्त्योः' में षष्ठी-निर्देश के कारण **अलोऽन्त्यस्य** (1.1.52) से 'अन्त्य अल् (स्) का' अर्थतः ग्रहण होने से 'सः' की अनुवृत्ति नहीं की है। का०, मा० धा० वृ० तथा प्र० कौ० में 'सः' की भी अनुवृत्ति की है।

2192 **रि च** (7.4.51)—यहाँ 'च' से 'तासस्त्योर्लोपः' का समुच्चय होता है, 'रि' से 'सि' की निवृत्ति हो जाती है : तासस्त्योरङ्गयोः सः लोपो रादौ (प्रत्यये)—तास् और अस् के अङ्ग के स् का लोप होता है रेफादि प्रत्यय बाद में स्थित होने पर।

दो सूत्र नहीं, एक ही होना चाहिये : वास्तव में सूत्रपाठ में ये दोनों सूत्र एक ही—**तासस्त्योर्लोपो रि च** - होने चाहिएँ। एक ही योग में 'रि' के साथ 'सि' का समुच्चय करने के लिए 'च' पद सूत्रकार ने दिया है, यह मानना न्याय्य है : पृथक् सूत्र मानने पर 'सि' की निवृत्ति तो 'रि' पर-निमित्त के आने से स्वतः ही हो जायेगी और

2193 लृट् शेषे च (3.3.13)—भविष्यदर्थाद् धातोर्लृट् स्यात्क्रियार्थायां

चतुर्थ लकार : सामान्य भविष्य में लृट्

2193 भविष्यत् अर्थ वाले धातु से लृट् हो, वह क्रिया दूसरी क्रिया के निमित्त

'च' से 'तासस्त्योर्लोपः' का ही सनुच्चय करना होगा। पृथक्-पृथक् सूत्र करने पर **चकारानुवृत्तं न सर्वत्र** (प० 79) से **ह एति** (52) में इन पदों की अनुवृत्ति का निषेध हो जायेगा, जो कि शास्त्र में अभीष्ट नहीं है। अतः समुच्चित अर्थ इस प्रकार समझें : **तासस्त्योरङ्गयोः सः लोपः रि (सि) च**—तास् और अस् के अङ्ग के स् का लोप होता है, पूर्वोक्त (सकारादि) के अतिरिक्त रेफादि प्रत्यय परे रहते।

'भविता' की सिद्धि : √भू से अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में कर्त्रर्थक क्रिया की विवक्षा में **अनद्यतने लुट्** से लुट् : भू+ल्। **तिप्तस्झि०** से प्रथम एक वचन की विवक्षा में ल् को तिप् आदेश : भू+ति। **तिङ् शित्०** से ति की सार्वधातुक संज्ञा। शप् को बाध कर **स्यतासी लृ-लुटोः** से तास्। **आर्धधातुकं शेषः** से उसकी आर्धधातुक संज्ञा : भू+तास्+ति। **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से तास् के आदि में इट् का आगम : भू+इतास्+ति। **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से भू के ऊ को गुण (ओ), उसे अव् आदेश : भव्+इतास्+ति। **लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः** से ति को डा (आ) : भवितास्+आ। भ और अंग संज्ञा न होते हुए भी आदेश को डित् करने से टि (आस्) का **टेः** से लोप : भवित्+आ। **पुगन्त-लघूपधस्य च** से 'इ' को प्राप्त गुण का **दीधीवेवीटाम्** से निषेध : भवित्+आ=भविता।

'भवितारौ की सिद्धि' : भव्+इ+तास्+तस् तक की प्रक्रिया पूर्ववत्। **लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः** से तस् को सर्वादेश रौ : भवितास्+रौ। 'रि च' से तास् के स् का लोप : भवितारौ। इसी प्रकार **भवितारः**।

'भवितासि की सिद्धि : भवितास्+सि तक की प्रक्रिया पूर्ववत्। **तासस्त्योर्लोपः** से तास् के स् का लोप : भविता+सि=भवितासि।

थस्, थ; मिप्, वस्, मस् में इसी प्रकार क्रमशः भवितास्थः, भवितास्थ; भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः रूप होते हैं ॥ 14 ॥

2193 **लृट् शेषे च** (3.3.13)—धातोः (3.1.91), भविष्यति गम्यादयः (3.3.3) : भविष्यति धातोः शेषे च लृट् (भविष्यत् में धातु से परे शेष में भी लृट् होता है)। इससे पूर्व लृट् का किसी भी अर्थ में विधान नहीं हुआ है। 'शेष' का अर्थ है : जो पहले कहा जा चुका, उससे बाकी। इससे पूर्व 'भविष्यति' के अधिकार में किसी क्रिया के लिए अभिप्रेत अन्य क्रिया उपपद रहते तुमुन् तथा ण्वुल् प्रत्यय किये गये हैं। अतः 'शेषः' का अर्थ है : (1) शुद्ध भविष्यत् (अद्यतन, व्यामिश्र और सामान्य) में, और

क्रियायामसत्यां, सत्यां च। स्यः, इट्—भविष्यति, भविष्यतः भविष्यन्ति; भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ; भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः ॥ 15 ॥

न हो, या हो। स्य, इट्—भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति; भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ; भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः ॥ 15 ॥

---

(2) क्रिया के लिए अभिप्रेत अन्य क्रिया उपपद न रहते धातु से लृट् होता है। 'च' देने से उपर्युक्त स्थलों में भी लृट् होता है, यह ध्वनित होता है। अतः अर्थ यों होता है : भविष्यत् में होने वाली क्रिया को प्रकट करने वाली धातु से परे क्रियार्थक क्रिया उपपद रहते तथा न रहते भी लृट् होता है।

जब क्रियार्थक क्रिया उपपद होगी, तब यह सूत्र **तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्** (1०) का **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** (3.1.94) से वा बाधक है। अतः 'भोजन करने जाता है' के संस्कृत अनुवाद में 'भोक्तुं व्रजति' तथा 'भोक्ष्ये इति व्रजति', ये दोनों प्रत्यय किये जा सकते हैं। 'खाने के लिए गया' इत्यादि वाक्यों में 'गया' इस दूसरी क्रिया की प्रवृत्ति के समय 'खाना' क्रिया भविष्यत्कालिक थी, इसलिए यहाँ भी 'भोक्तुम्/भोक्ष्ये इति अगच्छत्' वाक्य में तुमुन् तथा लृट् दोनों होंगे।

सूत्र की आवश्यकता : इस सूत्र पर पदमञ्जरीकार हरदत्त का कहना है कि **तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियाऽर्थायाम्** (3.3.10) सूत्र में **क्रियायां क्रियार्थायाम्** पद अधिकृत (स्वरित) नहीं हैं; **भाव-वचनाश्च** (11) तथा **अण्कर्मणि च** (12) में 'च' से इनका अनुकर्षण होता है। अतः यहां केवल 'लृट्' इतना ही पर्याप्त है। 'शेषे च' अनावश्यक है। इसपर आपत्ति यह है कि 'शेषे च' का प्रत्याख्यान कर देने पर क्रियार्थक क्रिया उपपद रहते लृट् को बाध कर तुमुन् और ण्वुल् होंगे : **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** नियम यहां **क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति** (प० 69) से निषिद्ध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में 'शेषे', 'च' ये दोनों पद अत्यन्त आवश्यक हैं।[1]

प्रक्रियाकौमुदी (उत्तरार्ध, पृष्ठ 43) में **'भविष्यतीति व्रजति'** क्रियार्थोपपद का उदाहरण दिया है। यहाँ आचार्य रामचन्द्र का हार्द तो यह प्रतीत होता है कि भू धातु के प्रकरण में (क) शुद्ध भविष्यत् तथा (ख) क्रियार्थक क्रिया उपपद रहते—दोनों उदाहरण—भू के ही दिये जायें। परन्तु उपर्युक्त उदाहरण से कोई प्रयोजनविशेष नहीं सिद्ध होता। उलटे, एक अस्पष्टता आती है। क्रियार्थक क्रिया उपपद रहते तुमुन् से लृट् बाधित नहीं होता, यह सिद्ध करने में प्रस्तुत उदाहरण की कोई उपयोगिता नहीं है। यहां 'भविष्यति' इस कर्तृवाच्य में तुमुन् (भाव में विहित होने से) प्राप्त ही

---

1. त० बो०, बृ० श० शे० और म० भा०।

नहीं है। अतः इस उदाहरण में लृट् करने के लिए **'शेषे च'** की अपेक्षा ही नहीं है।[1] सम्भवतः इसीलिए प्रसादकार ने इस प्रसंग में **'शेषे'-ग्रहणं चिन्त्य-प्रयोजनम्** लिखा है।

वार्तिककार ने **'लृटि 'शेष'-वचनं क्रियायां प्रतिपद-विध्यर्थम्, अविशेषेण विधाने लृटो भावः प्रतिषिद्धत्वात्।'** वार्तिक लिख कर **'शेषे च'** का मण्डन ही किया है। भगवान् भाष्यकार ने भी 'शेषे' को आवश्यक माना है। परवर्ती आचार्यों में काशिका, न्यास, माधवीयधातुवृत्तिकार आदि सभी वैयाकरणों की इसपर एकमति है। अतः त्रिमुनि के और अन्य प्रमाणभूत आचार्यों के विरोध के कारण हरदत्त और विट्ठल का मत चिन्त्य है।

नागोजीभट्ट का मत है कि यहाँ 'च' अपाणिनीय है और वार्तिककार द्वारा प्रक्षिप्त है।[2] उपलब्ध भाष्यग्रंथ में चकारसमेत पाठ ही मिलता है। **'शेष-वचनं क्रियायां प्रतिपद-विध्यर्थम्।'** वार्तिक पर भाष्य में **'लृट् शेषे च, करिष्यति, हरिष्यतीति। क्व च? क्रियायामुपपदे क्रियार्थायाम् इति।'** लिखा है। इस पर प्रदीप की टिप्पणी है कि चकारसहित 'शेषे' ग्रहण से 'क्रिया उपपद रहते भी लृट् सिद्ध होता है', यह वार्तिककार का आशय है।[3] इस पर उद्योत का निष्कर्ष यह है कि सूत्रपाठ 'च' से युक्त करना चाहिए, यह भाष्यकार का आशय है, तथा यह 'च' से युक्त पाठ वार्तिककार का किया हुआ है, यह प्रदीप से सूचित होता है।[4]

परंतु वार्तिककार और भाष्यकार का यह आशय नहीं प्रतीत होता : वार्तिककार द्वारा अनुमोदित 'शेषे' पद यदि पाणिनीय हो सकता है, तो उन्हीं के द्वारा 'शेषे' के साथ पठित 'च' पाणिनीय नहीं है, यह तो अर्ध-जरतीय न्याय ही प्रतीत होता है। प्रदीप से भी केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वार्तिककार के मत में सूत्र में 'शेषे च' पद हैं। यह वार्तिककार का प्रक्षेप है, या पाणिनीय ही, इसपर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला है।

---

1. त० बो० तथा वृ० श० शे०।
2. ल० शं० शे० : **'लृट् शेषे' इति 'च' रहितः पाणिनेः पाठ इति भाष्य-स्वरसः।** तथा च० क०। उ० : **इदानीं योग-विभागाश्रयणेन चकारं प्रत्याख्यातुमाह—'स तर्हीं'-ति (प्रदीप पर) चकारं वार्तिककृदुक्तम्।**
3. प्र० : **'च-शब्द-सहिताच्छेष-ग्रहणात् क्रियायामुपपदे लट् सिद्ध्यती'ति वार्तिककारस्याशयः।**
4. उ० : **'एवं तर्हीं'ति—च-घटितः पाठः कर्तव्य इति भावः। 'वार्तिककारस्ये'ति—तेन 'वार्तिककृत्कृतोऽयं च-शब्द-घटितो न्यास' इति सूचितम्।**

भगवान् भाष्यकार ने 'च' को सूत्र में अनेपक्षित बताया है। उनकी युक्ति यह है कि 'लृट्। शेषे।' इस प्रकार योग-विभाग कर देने से 'च' की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि योगविभाग का अर्थ होगा—**लृट्। क्रियायां क्रियार्थायाम्** (क्रियार्थक क्रिया उपपद रहते लृट् हो)।[1] **शेषे**—शेष में (प्रकरण से लृट्) होवे। अर्थात् एक compound वाक्य को तोड़ कर दो co-ordinate clauses बना देने से 'च' अनावश्यक हो जाता है।

परन्तु योगविभाग की उपर्युक्त पद्धति में भी खेँचतान ही है : **तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् भाव-वचनाश्चाण्कर्मणि च लृट् शेषे च** संहिता-पाठ में 'शेषे' का सीधा अन्वय लृट् से ही होना वाक्य-स्वारस्य की दृष्टि से उचित है। फलतः केवल शुद्ध भविष्यत् में ही प्रस्तुत सूत्र प्राप्त होगा, क्रियार्थक क्रिया उपपद रहते नहीं, **सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति** न्याय से लृट् क्रियार्थक क्रिया उपपद रहने से शेष में, अर्थात् उसके अभाव में, ही होगा, शेष-भिन्न में नहीं। अतः यहाँ 'च' नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। भगवान् भाष्यकार के योगविभाग में भी 'च' की अपेक्षा रहती ही है, यह उन्हीं के कथन से स्पष्ट है।[2] यहाँ, अर्थतः ही सही, 'च' को लेना ही पड़ा है। ये सब पापड़ वेलने से—(1) योगविभाग करने तथा (2) 'च' को अर्थतः लेने से—तथा तब भी दुर्बोध ही रहने से तो 'च' का प्रत्याख्यान नहीं करना ही अच्छा है। भगवान् सूत्रकार, वार्तिककार और परवर्ती आचार्य भी इस विषय पर एकमत हैं।

न्यास के ढाका वाले संस्करण में (पृष्ठ 683-684 पर) **लृट्छेषे च** पाठ है।

भविष्यति की सिद्धि : भविष्यत् काल में **भू** से **लृट् शेषे च** से लृट् : भू+ल्। ल् को तिप् : भू+ति। उसकी सार्वधातुक संज्ञा। शप् को बाध कर **स्य-तासी लृ-लुटोः** से स्य : भू+स्य+ति। **आर्धधातुकं शेषः** से उसकी आर्धधातुक संज्ञा। **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से स्य के आदि में इट् का आगम : भू+इस्य+ति। **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से 'ऊ' को गुण (ओ), **एचोऽयवायावः** से ओ को अव्। भव्+इस्य+ति। **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष् : भविष्यति।

---

1. म० भा० : स तर्हि चकारः कर्तव्यः ? न कर्तव्यः। कथम् ? इह लृड् भवतीतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यच्छेषग्रहणं करोति, तस्यैतत्प्रयोजनं योगाङ्गं यथा विज्ञायेत। सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते—'लृट्=लृड् भवति क्रियायामुपपदे क्रियार्थायामिति। ततः 'शेषे'=शेषे च लृड् भवतीति॥

2 सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते—'लृट'=लृड् भवति क्रियायामुपपदे क्रियार्थायामिति। ततः 'शेषे'=शेषे च लृड् भवतीति।

'भविष्य+झि'—**झोऽन्तः** से झ् को अन्त : भविष्य+अन्ति; **अतो गुणे** से 'ष्य' और 'अन्ति' के अकारों को पररूप (अ) एकादेश : भविष्यन्ति ।

भविष्य+मि/वस्/मस्—**अतो दीर्घो यञि** से ष्य के अ को दीर्घ (आ) : भविष्यामि, भविष्यावस्, भविष्यामस् । वस् मस् के स् को रुत्व और उसे विसर्ग : भविष्यावः, भविष्यामः ।

'भविष्यतः, भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ इत्यादि की प्रक्रिया इसी प्रकार समझें ।

लृट् के उदाहरण : ये सब शुद्ध भविष्यत् (अद्यतन, अद्यतनानद्यतनव्यामिश्र और सामान्य) के उदाहरण हैं । क्रियार्थ-क्रियोपपदता का उदाहरण है—**कुथां ग्रहीष्यामीति तिष्ठामि, न तु संगीतकं श्रोतुम्** (दरी लेनी है, इसलिए बैठा हूँ, संगीत सुनने नहीं) । यहां 'ग्रहण' तथा 'श्रवण' क्रियाओं का निमित्त 'ठहरना' क्रिया उपपद है । अर्थात् ठहरने वाले ने ठहरने के लिए ठहरना क्रिया नहीं की है, अपि तु लेना (√ग्रह्) और सुनना (√श्रु) क्रिया के लिए । अतः क्रियार्थक 'स्थीयते' क्रिया उपपद रहते √ग्रह् तथा √श्रु में लृट् होता है । पक्ष में **तुमुन्ण्वुलौ०** से तुमुन् तथा ण्वुल् भी हो सकते हैं : **कुथां ग्रहीतुं/ग्राहकेण स्थीयते, न तु संगीतकं श्रोतुं/श्रावकेण स्थीयते** । इसी प्रकार **कुथां ग्रहीष्यामि/ग्रहीतुं/ग्राहकः इति तिष्ठामि, न तु संगीतकं श्रोष्यामि/श्रोतुं/श्रावकः इति** । अन्तर केवल प्रधान क्रिया (उपपदक्रिया) में वाच्यपरिवर्तन का है ।

लेट् क्रम प्राप्त है : अनुबन्धों (अ, इ, उ, ऋ,[1] ए, ओ) के क्रम से लकारों का क्रम (लट्, लिट्, लुट्, लृट् इत्यादि) लेने में लृट् के पश्चात् लेट् प्रत्यय आता है । मूल में इसपर प्रकाश 'वैदिकी-प्रक्रिया' प्रकरण में डाला है । परंतु अलग-थलग पड़ने से प्रत्येक धातु के लेट् में क्या रूप बनते हैं, यह समग्र कौमुदी कण्ठस्थ करने वालों को भी प्रायः उपस्थित नहीं होता । वेद में लेट् पदे-पदे आता है । अतः कौमुदी पढ़ने वालों को वेदार्थावगम में क्लेश होता है और वेदाध्ययन में सुविधा के लिए प्रणीत व्याकरण उलटे बाधा डालता है । कौमुदीक्रम के आलोचक विद्वान् कौमुदी-पद्धति में यह दोष बताया करते हैं ।[2]

वैयाकरणों की एक सामान्य परिभाषा है : **छन्दसि दृष्टानुविधयः** । अर्थात्

---

1. यह क्रम शिवसूत्रों के वर्णानुक्रम के अनुसार है, ऐसी मान्यता है । सम्भवतः सूत्रकार ने लृ को यहां अनुबन्ध रूप में असन्देहार्थ नहीं दिया । 'ल्+लृ' का उच्चारण कष्ट-साध्य जो है । अतः ऋ के बाद 'ए' का क्रम आता है, यह कहा है ।
2. पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, संस्कृत-पठन-पाठनकी अनुभूत सरलतम विधि, पृष्ठ 5.

लौकिक व्याकरण में लक्ष्य को लक्षण के अनुसार चलना पड़ सकता है, किंतु वेद में तो जो प्रयोग जिस रूप में उपलब्ध हैं, उन्हीं के अनुकूल चलना पड़ता है। मैक्डानल्-प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने इसी दृष्टि से अपने व्याकरणग्रंथ लिखे हैं। आचार्य पाणिनि ने इससे भी बड़ा कार्य किया है—लौकिक तथा वैदिक दोनों ही भाषाओं का दृष्टानुविधान किया है, तथा उस समय उपलब्ध सारे बृहत् वाङ्मय को तथा लोक-व्यवहार को छान कर किया है। लौकिक भाषा की अपेक्षा वैदिक भाषा का अनुशासन उन्होंने कम व्यापक किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेट् का भी बहुत चलता-सा विवरण किया है। अतः उन सूत्रों के अनुसार √भू के जो लक्ष्य सम्भव हैं, उपलक्षणार्थ वे सब देने का प्रयत्न कर रहा हूँ। लेट् से सम्बद्ध विस्तृत पर्यालोचन वैदिक प्रक्रिया में करूँगा। यहाँ तो साधारण अर्थ-निर्देश-मात्र करता हूँ।

पञ्चम लकार : प्रकारार्थ में लेट्

छन्दसि लुङ्-लङ्-लिटः 3.5.6, **लिङर्थे लेट्** (7), **उपसंवादाशङ्कयोश्च** (8), **प्रत्ययः** (3.1.1), **परश्च** (2), **धातोः** (91)—छन्दसि (विषये) लिङर्थे उपसंवादाशङ्कयोश्च लेट् प्रत्ययः धातोः परः (भवति)—मन्त्रब्राह्मणात्मक छन्दस् (वेद) में धातु से लिङ् के अर्थ में और उपसंव्वाद (शर्त बदना) तथा आशंका अर्थ में लेट् प्रत्यय (धातु से) परे हो।

लेट् का प्रयोग-क्षेत्र : ऋग्वेद संहिता और अथर्ववेदसंहिता में लेट् का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। ब्राह्मणों में इनकी अपेक्षा कम मिलता है। संहिताओं में विधिलिङ् विरलतया प्रयुक्त हुआ है, पर ब्राह्मणग्रंथों में प्रचुरतया। वहाँ तो लेट् के स्थान में मानों विधिलिङ् ही प्रयुक्त हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है। लौकिक संस्कृत में लेट् का व्यवहार बिल्कुल ही नहीं होता।[1]

सिब्बहुलं लेटि (3.1.34), **धातोः** (22)—धातोः 5.1 सिप् 1.1 बहुलम् लेटि 7.1 (धातु से सिप् लेट में बहुल होता है)। सिप् विकरण है। इसमें इकार उच्चारणार्थक एवं प् पित्त्वार्थ है। **सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः** (वा०)—सिप् बहुल णित् कहना चाहिए। णित् करने से **अचो ञ्णिति** (7.2.115) से वृद्धि होगी। इष्ट प्रयोगों के अनुसार सूत्र का कहीं लगना, कहीं न लगना, कहीं विकल्प से लगना इत्यादि अनेक अर्थ 'बहुलम्' के होते हैं।[2] बहुल कार्य जहाँ नहीं होते, वहाँ अन्य कार्य यथा-शास्त्र होते हैं। फलतः णित्त्वाभावपक्ष में गुण आदि अन्य कार्य होंगे।

---

1. मैक्डानल् (आ० अ०), A Vedic Grammar for Students, अनुच्छेद 122a.
2. **क्वचित्प्रवृत्तिः, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा, क्वचिदन्यदेव।**
   विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

लेटोऽडाटौ (3.4.94), **आडुत्तमस्य पिच्च** (92)—लेटः 6.1 पितौ 1.2 अडाटौ 1.2 (लेट् को पित्, अट् और आट् आगम होते हैं)। **आगमा अनुदात्ताः** (प०) से ये दोनों अनुदात्त हैं।

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (3.4 97), **वैतोऽन्यत्र** (96) **लेटोऽडाटौ** (94), : लेटः 6.1 परस्मैपदेषु 7.3 इतः 6.1 वा लोपः 1.1—लेट् के आदेश परस्मैपद प्रत्ययों में स्थित इत् (ह्रस्व इकार) का विकल्प से लोप होता है।

स उत्तमस्य (98) —**लेटः** (94), **वा**··· (96), **लोपः**··· (97) : लेटः उत्तमस्य सः (=सस्य) वा लोपः (लेट के उत्तमवर्ग के सकार का लोप विकल्प से होता है)।

उपर्युक्त सूत्रों का निष्कर्ष यह है : (क) लेट् लिङ् के (अ) विधि आदि तथा आशीर्वाद अर्थों में, (आ) पणबन्ध अर्थ में एवम् (इ) आशंका अर्थ में होता है। लेट् का प्रयोग केवल वैदिक भाषा तक ही सीमित है। (ख) लक्ष्यों में यदि सकार इष्ट है, तो सिप् कर देना चाहिए, अन्यथा नहीं। सिप् के अभावपक्ष में शप् आदि विकरण और उनमें होने वाले कार्य यथा-योग्य कर दें। प्रयोग के अनुसार सिप् को वृद्धि यदि है, तो णित् और गुण यदि है, तो अणित् कर देना चाहिए। (ग) विकरण के अतिरिक्त तिङों को अ/आ का आगम प्रयोग के अनुसार कर देना चाहिए। (घ) ति, झि, सि, मि के इकार का और वस्, मस् के सकार का वा लोप होगा।

रूप-सिद्धि : √भू से **लिङर्थे लेट्** या **उपसंवादाशङ्कयोश्च** से लेट् : भू+ल्। ल् को तिप् आदेश : भू+ति। उसकी सार्वधातुक संज्ञा। शप् को बाधकर **सिब्बहुलं लेटि** से वा सिप् : भू+सिप्+ति। **सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः** (वा०) से स् की वा णित्संज्ञा तथा **आर्धधातुकम् शेषः** से आर्धधातुक संज्ञा, **अचोञ्णिति** से ऊ को वृद्धि (औ) : भौ+स्+ति। **आर्धधातुकस्येड्०** से स् के आदि में इट् का आगमः भौ+इस्+ति। औ को अट् : भौ+इस्+अति। आव् आदेश : भाव्+इस्+ति। स् को षत्व तथा **लेटोऽडाटौ** से ति के आदि में अट् : भाविष्+अ+अति। **इतश्च लोपः०** से ति के इ का लोप : भाविष्+अत्=भाविषत्। इलोप न होने पर भाविषति। आट् होने पर भाविषात्, भाविषाति। णित्त्वाभाव पक्ष में भू+इ+ष्+अ+त्। **सार्वधातुकार्ध०** से गुण : भो+इषत् : अव् आदेश : भविषत्। इसी प्रकार भविषति, भविषात्। भविषाति।

सिप् न करने पर शप्। भू+अ+ति। गुण, अवादेश : भव्+अ+ति। अट्, वा इकारलोप : भव्+अ+अ+त्, **अतो गुणे** से अट् और शप् के अ को पर-रूप एकादेश : भवत्, भवति। आट्-पक्ष में भव्+अ+आ+त्। सवर्णदीर्घ। भवात्, भवाति।

'झि' में सर्वत्र इकार का वा लोप। **संयोगान्तस्य लोपः** से भविषन्त् इत्यादि के त् का लोप। सिप् में भी वा इकारलोप। स् को रुत्व, विसर्ग। मिप् में भी वा

इकार लोप। **अतो दीर्घो यञि** से मिप्, वस्, मस् में अदन्त अङ्ग को (अट् पक्ष में) दीर्घ। वस्, मस् में स् का वा लोप। शेष प्रक्रिया यथा-योग्य पूर्ववत् (तिप् की तरह) समझें।

सिप्पक्ष में रूप

		एकव०		द्विव०		बहुव०	
		अट्	आट्	अट्	आट्	अट्	आट्
प्रथम	णित्त्व	भाविषत्	भाविषात्	भाविषतः	भाविषातः	भाविषन्	भाविषान्
		भाविषति	भाविषाति			भाविषन्ति	भाविषान्ति
	अणित्त्व	भविषत्	भविषात्	भविषतः	भविषातः	भविषन्	भविषान्
		भविषति	भविषाति			भविषन्ति	भविषान्ति
मध्यम	णित्त्व	भाविषः	भाविषाः	भाविषथः	भाविषाथः	भाविषाथ	भाविषाथ
		भाविषसि	भाविषासि				
	अणित्त्व	भविषः	भविषाः	भविषथः	भविषाथः	भविषथ	भविषाथ
		भविषसि	भविषासि				
उत्तम	णित्त्व	भाविषाम्		भाविषाव		भाविषाम	
		भाविषामि		भाविषावः		भाविषामः	
	अणित्त्व	भविषाम्		भविषाव		भविषामः	
		भविषामि		भविषावः		भविषामः।	

शप्पक्ष में रूप

प्रथम		भवत्	भवात्			भवन्	भवान्
		भवति	भवाति	भवतः	भवातः	भवन्ति	भवान्त
मध्यम		भवः	भवाः				
		भवसि	भवासि	भवथः	भवाथः	भवथ	भवाथ
उत्तम		भवाम्		भवाव		भवाम	
		भवामि		भवावः		भवामः	

इस प्रकार √भू के लेट् में तिप्, झि, सिप् में प्रत्येक में 12 रूप; तस्, थस्, थ, मिप्, वस् और मस् में प्रत्येक में 6 रूप, कुल मिलाकर 72 रूप होते हैं ॥ 15 ॥

2194 लोट् च (3.3.162)—विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट् स्यात्।
2195 आशिषि लिङ्लोटौ (3.3.173)।

षष्ठ लकार : प्रकारार्थ में लोट्

2194 'विधि' आदि अर्थों में धातु के पश्चात् लोट् हो। 2195 'आशिष्' अर्थ में लिङ् और लोट् हों।

2194 **लोट् च** (3.3.162)—धातोः (3.1.91), प्रत्ययः (1), परश्च (2), अष्टाध्यायी में प्रकृत सूत्र से पिछले, तथा सिद्धान्तकौमुदी में पठिष्यमाण **विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु** (3.3.161) का अनुकर्षण 'च' से होता है : विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु 7.3 धातोः 5.1 परः 1.1 लोट् 1.1 प्रत्ययः 1.1 च (भवति)—विधि[1] आदि अर्थों में धातु से परे लोट् प्रत्यय भी होता है।

2195 **आशिषि लिङ्-लोटौ**—धातोः 5.1 प्रत्ययौ परौ 1.2 : 'आशिष' अर्थ में धातु से परे लिङ् तथा लोट् प्रत्यय होते हैं। अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा 'आशिष्' कहाती है, यह इच्छा चाहे इच्छा करने वाले से सम्बद्ध हो, या किसी अन्य से।

सूत्र के पद-न्यास पर विचार : लिङ् तथा लोट् विध्यादि एवम् आशिष् अर्थों में किये हैं, और इसके लिए सूत्रकार ने तीन सूत्र (1) **'विधिनिमन्त्रणा०'**, (2) **'लोट् च'** और (3) **'आशिषि लिङ्-लोटौ'** बनाए हैं। यदि पहले सूत्र में ही **'विधि···प्रार्थनाशीष्षु लिङ्-लोटौ'** इस प्रकार कुछ पद जोड़ कर आशिष् अर्थ का और लोट् का समाहार कर देते, तो दो सूत्रों की वचत हो सकती थी। इस पर उत्तर यह है कि **'लोट् च'** यह पृथक् निर्देश उत्तरसूत्र **प्रैषातिसर्ग-प्राप्तकालेषु कृत्याश्च** (163) में केवल लोट् की ही अनुवृत्ति जाये, लिङ् की नहीं, इसके लिए आवश्यक है (—**लोट् च** पर काशिका तथा न्यास)।

सूत्र के उपर्युक्त प्रकार से पदन्यास के विषय में आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि तथा नागेशभट्ट का कहना है कि ऐसा करने पर **स्मे लोट्** से परत्वात् लिङ् को लोट् बाध लेगा। जबकि पृथक् सूत्र करने पर **आशिषि०** सूत्र **स्मे लोट्** का परत्वाद् बाधक है। **स्मे लोट्** में **प्रैषातिसर्ग-प्राप्तकालेषु कृत्याश्च** (163) तथा **लिङ् चोर्ध्वमौहूतिके** (164) की अनुवृत्ति होने से आशिष् में **स्मे लोट्** प्राप्ति ही नहीं होता, यह कहना नहीं बनता। क्योंकि प्रैषादिकों की ही यहाँ अनुवृत्ति होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। विध्यादियों की भी अनुवृत्ति होना सम्भव है। यदि कहें कि यहाँ विध्यादियों की

---

1. 'विधि' आदि शब्दों की व्याख्या आगे लिङ् की प्रक्रिया में देखें।

अनुवृत्ति नहीं होती, इसमें **अधीष्टे च** (166) सूत्र ही प्रमाण है। अन्यथा विध्याद्यन्तर्गत 'अधीष्टे' की अनुवृत्ति पूर्वतः सिद्ध होने पर पुनर्विधान व्यर्थ ही होता। फलतः प्रैषादि की ही अनुवृत्ति होती है, यह भी इससे प्रमाणित हो जाता है। अतः **स्मे लोट्** तथा आशीर्ग्रहण का विषय अलग होने से 'आशिष्' में **स्मे लोट्** प्राप्त ही नहीं होता। इसपर उत्तर यह है कि प्रैषादि और आशीः अर्थ इन दोनों के विवक्षित होने पर **स्मे लोट्** को बाधकर लिङ् तथा लोट् करने के लिये प्रस्तुत सूत्र आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, इन दोनों की विवक्षा में कृत्य प्रत्ययों को बाधने के लिए भी यह आवश्यक है (वृ० श० शे०, पृष्ठ 1608)। न केवल इतना ही, **क्तिच्-क्तौ च संज्ञायाम्** (174) में अनुवृत्ति आने के लिए भी यहाँ आशिषि' का पृथक् निर्देश आवश्यक है (—न्यास)।

आशिषि लिङ्-लोटौ पर आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि ने एक अन्य शङ्का उठा कर उसका समाधान भी किया है :

1. **शंका**—प्रकृत सूत्र में 'लङ्' पद अनावश्यक है, क्योंकि **आशिषि लोट् च** इतना ही रहने पर भी 'च' से पूर्वसूत्र **शकि लिङ् च** से 'लिङ्' का अनुकर्षण हो सकता है। **उत्तर**—पूर्वसूत्र में **कृत्याश्च** (171) का अनुकर्षण भी होता है, तो यहाँ भी लिङ् के साथ **कृत्याः** का अनुकर्षण भी प्राप्त होता है। तब तो अनिष्ट कृत्य प्रत्यय भी प्राप्त होंगे।

शङ्का—पिछले सूत्र में 'च' से किया हुआ कृत्यों का अनुकर्षण **चकारानुकृष्टं न सर्वत्र** (प० 79) से **आशिषि** सूत्र में नहीं आ सकता। तब तो 'च' से लिङ् का ही अनुकर्षण होगा। **उत्तर**—यदि इस प्रकार **चकारानुकृष्टं न सर्वत्र** (प० 79) से **कृत्याः** की निवृत्ति होगी, तो लिङ् की निवृत्ति भी हो सकती है। अतः व्याख्यान के बल पर 'लिङ्' को देना ही उचित है।

उपर्युक्त समाधानों पर निम्नलिखित आपत्तियाँ हो सकती हैं :

प्रथम शङ्का के समाधान में आचार्य नागेशभट्ट का बल प्रैषातिसर्ग तथा आशीरर्थ की युगपद्विवक्षा में लोट् तथा कृत्य प्रत्ययों को बाधना **आशिषि लिङ्-लोटौ** सूत्र के पृथक् पाठ का फल है। इसपर आपत्ति यह है कि **और्ध्वमौहूर्तिक** प्रैष, अतिसर्ग तथा प्राप्तकाल की विवक्षा में 'आशीः' अर्थ की विवक्षा सम्भव भी है, या नहीं, यह देखना चाहिए। प्रैष, अर्थात् प्रेरणा, से 'आशीः' अर्थ सर्वथा भिन्न प्रकार का है। युगपद्विवक्षा में या तो दोनों में कुछ समानता होनी चाहिये, या अन्यतर अर्थ गौण हो। 'प्रैष' तथा 'आशीः' जैसे अर्थ तुल्यबल के साथ वाक्य में किस प्रकार प्रयुक्त होंगे, यह समझ में नहीं आता। भट्टजी इसपर **न ह्यत्र युगपद् विवक्षेत्यत्र मानमस्ति** (यहाँ युगपद् विवक्षा नहीं होती, इसमें कोई प्रमाण नहीं है) इतना कहकर मौन हैं।

2196 एरुः (3.4.86)—लोट इकारस्य उः स्यात्। भवतु। 2197 तु-ह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् (7.1.35)—आशिषि तु-ह्योस्तातङ् वा में लिङ् और लोट् होंवें। 2196 लोट् के इकार को उकार होवे। भवतु। 2197 आशिष् में 'तु' और 'हि' को 'तातङ्' विकल्प से होवे। अनेक अल्वाला होने से समूचे

इसमें तो भाषा का मुहावरा ही प्रमाण है—इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है। अस्तु, नागेश का उत्तर प्रश्न का उचित समाधान नहीं कर पा रहा है, यह स्पष्ट है।

न्यासकार के अनुसार उत्तरसूत्र के लिए यहाँ 'आशिषि' अपेक्षित है, यह उचित है, पर 'लिङ्' फिर भी अनपेक्षित ही है। **कृत्याः** की निवृत्ति **चकारानुकृष्टं०** परिभाषा के बल पर हो जाती है। किन्तु उसी तरह 'लिङ्' भी निवृत्त हो सकता है, यह कैसे कहा जा सकता है? लिङ् तो पूर्वसूत्र **शकि लिङ् च** (172) में साक्षात् स्थित है, चकारानुकृष्ट नहीं है। उस पर तो यह परिभाषा लागू ही नहीं होती। अतः न्यासकार के तर्क को मानते हुए भी प्रकृत सूत्र का पदन्यास **आशिषि लोट् च** ही होना चाहिए।

इस पर भी एक आपत्ति है: उपर्युक्त सूत्र का कार्य **विध्यादि०** सूत्र में 'आशीः' पद देने और यहाँ पृथक् सूत्र बनाने की अपेक्षा **आशिषि क्तिच्क्तौ च सञ्ज्ञायाम्** इस प्रकार अगले सूत्र में जोड़ देने से चल सकता है। कोई आपत्ति भी नहीं उठती, लाघव भी रहता है।

2196 एः उः (3.4.86)—धातोः (3.1.91), लोटः (3.4.85) : धातोः 5.1 (उत्तरस्य) लोटः 6.1 (सम्बन्धिनः) एः 6.1 (एकारस्य स्थाने) उः 1.1 (उकारादेशः भवति)—धातु के पश्चात् विहित लोट् के इकार के स्थान में उकार आदेश होता है।

'हि' और नि' के इकार को उकार नहीं होता : लोट् के आदेशभूत प्रत्ययों में इकार ति, अन्ति, हि तथा नि में है। इनमें से केवल 'ति' तथा 'अन्ति' के इकार को उकार प्रकृत सूत्र से होगा। सिप् के आदेश 'हि' में और 'मि' के आदेश 'नि' में स्थित इकार को उकार करना सूत्रकार को यदि इष्ट होता, तो वे इन आदेश-विधायक सूत्रों से ही 'हु' और 'नु' के रूप में उकारवान् आदेश कर देते। पहले इकारवान् 'हि' तथा 'नि' आदेश, फिर उनके 'इ' को 'उ' आदेश, इस प्रकार प्रक्रियागौरव अनावश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि 'हि' तथा 'नि' का इकारवान् पाठ इकार को रखने के लिए ही है।

ह्रस्व इ को ह्रस्व उ : लोट् के 'ति' तथा 'अन्ति' आदेशों में इकार ह्रस्व है। सूत्र में तपरकरण-रहित 'उः' पाठ है, अतः यद्यपि सभी सवर्णों का ग्रहण प्राप्त है, तथापि **स्थानेऽन्तरतमः** (1.1.50) से ह्रस्व इकार को ह्रस्व उकार ही आदेश होगा।

2197 तु-ह्योः 6.2 **तातङ्** 1.1 **आशिषि** 7.1 **अन्यतरस्याम्** (7.1.35)—आशिषि

स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । यद्यपि 'ङिच्चे'-त्ययमपवादस्तथाऽप्यनन्यार्थ-ङित्त्वेष्वनङ्ङादिषु चरितार्थं इति गुण-वृद्धि-प्रतिषेधसम्प्रसारणाद्यर्थतया स्थानी को आदेश होता है। यद्यपि 'ङिच्च' (सूत्र) अपवाद है, तब भी और प्रयोजन से रहित ङित्त्व वाले अनङ् आदियों में सफल हो जाता है। इसलिए गुण और वृद्धि के निषेध का एवं सम्प्रसारण आदि का निमित्त होने से सम्भव प्रयोजन वाले ङकार से

(अर्थे) तु-ह्योः (स्थाने) तातङ् (आदेशः) अन्यतरस्याम् (भवति)—आशिष् अर्थ में विहित 'तु' तथा 'हि' को तातङ् (तात्) विकल्प से होता है।

'तु' से 'अन्तु' का ग्रहण नहीं होता : 'तु' तथा 'हि' लोट् के प्रथम तथा मध्यम के एक वचन ही लिए जाते हैं। यद्यपि 'अन्तु' में भी अंशतः 'तु' है, पर उसके अनर्थक होने के कारण **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य** (प० 15) से उसका ग्रहण यहाँ नहीं होगा।

अनुबन्ध-विचार : तातङ् में 'अ' उच्चारण-सौविध्य के लिए तथा ङ् गुणवृद्धि का निषेध इत्यादि अनेक कार्य करने के लिए इत् हैं। पित् होने से अनुदात्त 'तु' को अनुदात्त 'तात्' और आतिदेशिक पित्त्व के कारण उदात्त बने हुए 'हि' को उदात्त 'तात्' **स्थानेऽन्तरतमः** से होता है।

पित् 'तु' के आदेश 'तात्' को **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (1.1.56) से स्थानिवद्-भाव से पित्त्व प्राप्त होता है, पर सूत्र में प्रत्यक्षतः ङ् को इत् के रूप में देने से तथा **ङिच्च पित्त भवति**[1] इस भाष्यवचन से नहीं होगा। 'ब्रूताद् भवान्' में **ब्रुव ईट्** (7.3.93) से ईट् नहीं होगा : ब्रवीतु, किंतु ब्रूतात्। 'हि' में आतिदेशिक अपित्त्व-विधान से स्वतः ही पित्त्व का निषेध हो जाता है; अतः वहाँ भी ईट् नहीं होगा : ब्रूहि।

सर्वादेशत्व पर विचार : 'तात्' अनेक अलों वाला है, अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (1.1.55) से सर्वादेश और 'ङित्' होने से **ङिच्च** (1.1.53) से अन्तादेश प्राप्त होता है। ङित् आदेश सभी अनेकाल् हैं। यदि **अनेकाल्शित्०** सूत्र परवर्ती होने के कारण **ङिच्च** से बलवान् रहे, तो **ङिच्च** निरवकाश हो जाता है, और प्रकृत सूत्र में ङित् का पाठ व्यर्थ हो जाता है। फलतः **निरवकाशो विधिरपवादः** (प०) से **ङिच्च** सूत्र सर्वादेशसूत्र का अपवाद हो जाता है। अतः 'तु' तथा 'हि' के अन्तिम वर्ण उकार और इकार के स्थान में तात् आदेश होना चाहिए, आपाततः यही प्रतीत होता है। पर वस्तुस्थिति इससे भिन्न है।

ङित्त्व के प्रयोजन : अष्टाध्यायी में प्रत्यय को ङित् करने के दो प्रयोजन हैं :—

---

1. म० भा० 1.1.83 तथा तत्रस्थ प्र० : **ङिद् भवन् पित्त भवतीति तातङः स्थानिवद्-भाव-प्राप्तं पित्त्वं निषिध्यते।**

सम्भवत्प्रयोजन-ङकारे तातङि मन्थरं प्रवृत्तः परेण बाध्यते, इहोत्सर्गापवादयो- युक्त तातङ् पर शिथिलता से प्राप्त होता है, (परन्तु) पर के द्वारा बाध लिया जाता है, क्योंकि इस विषय में उत्सर्ग तथा अपवाद दोनों का बल समान है। भवतात्।

(क) अन्तादेश, तथा (ख) गुणवृद्धि-निषेधाः। (क) **अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णामनङ्ङुदात्तः** (7.1.75) तथा **आनङ् ऋतो द्वन्द्वे** (6.3.25) में ङित् का एकमात्र प्रयोजन अन्तादेश है; (ख) अन्य औपदेशिक तथा आतिदेशिक—यासुट्, सार्वधातुकमपित् (1.2.4)—ङित्त्वों के प्रयोजन **क्ङिति च** (1.1.5) से गुण और वृद्धि का निषेध, **ग्रहि-ज्या०** (6.1.16) से सम्प्रसारण, **अत उत्सार्वधातुके** (6.4.110) से उत्त्व, **श्नसोरल्लोपः** (111) से अत् का लोप, **इद्दरिद्रस्य** (114) से इत् आदेश इत्यादि अनेक होते हैं।

प्रश्न : प्रयोजनान्तर (अन्तादेश से भिन्न प्रयोजन) वाले ङित्त्वों में **ङिच्च** की क्या गति हो ? इस प्रकार के औपदेशिक ङित्त्वों में यदि अन्तादेश कर देते हैं, तो स्थानी ङिद्भिन्न पूर्वावयव से व्यवहित हो जाता है। फलतः गुणनिषेधादि कार्य नहीं हो सकते।[1] यदि सर्वादेश करें, तो **ङिच्च** की उपर्युक्त अपवादता का क्या प्रतिविधान होगा ?[2]

उत्तर : ङिच्च सूत्र ङित् अनेकाल् आदेशों में ङित्त्व के निरवकाश होने से ही तो अपवाद होता है। पर जहाँ ङित्त्व के अन्य स्थल अवकाश हों, वहाँ (औपदेशिक और आतिदेशिक ङित्त्वों में) यह अपवाद कैसे रहेगा ? वहाँ तो दोनों ही सूत्र तुल्य-बल ठहरते हैं। ऐसी स्थिति में **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (1.4.2) से **ङिच्च** (1.1.53) की अपेक्षा **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (55) पर होने के कारण अन्तादेश को सर्वादेश बाध लेता है।[3] इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अनन्य-प्रयोजनक ङित्त्वों (अनङ् आदि) में तो **ङिच्च** सूत्र **अनेकाल्शित् सर्वस्य** को बाध लेगा, पर अन्य-प्रयोजनक (औपदेशिक तथा आतिदेशिक) ङित्त्वों में यह पर (सर्वादेश) सूत्र द्वारा बाध लिया जाएगा। फलतः 'तात्' समूचे 'तु' और 'हि' के स्थान में होगा।

---

1. उद्योत 1.1.53 : **अन्त्यादेशत्वे तु तत्सम्पादनेनैवावयवे ङित्त्वस्य चारितार्थ्येन समुदायोपकारकत्वे मानाभावात् प्रत्ययस्य ङित्त्वाभावेन न गुणादि-प्रतिषेध-प्राप्तिरित्यर्थः।**
2. प्र० : **सति सर्वादेशत्वे ङित्करणं गुण-वृद्धि-प्रतिषेधार्थं स्यात्। तदेव तु सर्वादेशत्वमलभ्यं ङित्त्वादन्त्यस्यैव प्रसङ्गादिति भावः।**
3. म० भा० : **तातङि ङित्करणस्य सावकाशत्वाद्विप्रतिषेधात्सर्वादेशः। प्र० : ङित्त्वस्यान्यार्थत्वसम्भवे सति दौर्बल्यात्सन्दिग्धोपस्थानोऽयं योग इत्यपवादत्वमेवात्र विषयेऽस्य नास्ति।**

श्री नागोजि भट्ट का मत यहाँ थोड़ा-सा भिन्न है : **ङिच्च** अपूर्वविधायक (विधि-सूत्र) नहीं है, अपितु सिद्ध पदार्थ का अनुवाद करने वाला परिभाषा-सूत्र है। आनङ्, अनङ् इत्यादि में अनेकाल्त्व का फल तो सर्वादेश इष्ट है। अनन्य-प्रयोजन (आनङ् आदि के) ङित्त्व का प्रयोजन उसी में कुछ काँट-छाँट करना हो सकता है। फलतः ऐसे प्रत्ययों में ङित्त्व करने मात्र से 'सर्वादेश से विलक्षण अन्य कुछ यहाँ होगा', यह पदार्थ सिद्ध ही है। **ङिच्च** तो उस सर्वादेश से विलक्षण कार्य का अन्तादेश शब्द से अनुवादमात्र करता है।[1] इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि जिस आदेश में सर्वादेश करने से ङित्त्व व्यर्थ होता हो, वहाँ तो **ङिच्च** सूत्र **अनेकाल्शित्सर्वस्य** का निरवकाशत्वेन अपवाद होगा, किंतु जहाँ सर्वादेश करने पर भी ङित् करना सार्थक ही रहे, वहाँ **ङिच्च** की प्राप्ति ही नहीं होगी।[2] यहाँ 'तात्' को सर्वादेश करने पर ङित्त्व गुण-वृद्धि-निषेध आदि में सार्थक हो जाता है। अतः यहाँ अन्तादेश प्राप्त नहीं होता।[3]

'विप्रतिषेध' का अर्थ : उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार **ङिच्च** की जब प्रस्तुत स्थल में प्राप्ति ही नहीं है, तब विप्रतिषेध अर्थात् तुल्यबलविरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् भाष्यकार ने **ङिच्च** पर भाष्य-गत समाधान-वार्तिक में 'विप्रतिषेध' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने इस शब्द की व्याख्या नहीं की है। कैयट के अनुसार, इसका अर्थ 'तुल्य-बल-विरोध' ही है।[4] श्रीदीक्षितजी ने इस सूत्र (**विप्रतिषेधे परं कार्यम्**) की वृत्ति में यही अर्थ किया है तथा यहाँ भी यही माना है। भट्टजी के अनुसार प्रतिषेध-परक, यानी परिभाषात्वविरोध-परक, है।[5]

---

1. उद्योत 1.1.53 : नेदमपूर्वविधायकम्, किन्तु तत्र-तत्र ङित्करण-सामर्थ्य-सिद्धानेकाल्त्वेतद्बाधानुवादकम्। अनुवाद-फलं तु ङित्त्व-सामर्थ्यादर्थान्तर-कल्पना-निवृत्तिः।
2. वहीं : एवं च यत्र सर्वादेशे ङित्त्वस्य वैयर्थ्यम्, तत्र तद्बाधः। यत्र तु न, तत्र तु न तद्बाध इति भावः।
3. वहीं : एवं च प्रकृते नास्य प्रवृत्तिः। प्रवृत्तौ हि शास्त्रस्यापूर्व-विधायकताऽऽपत्त्या गौरवापत्तिः।
4. प्र० 1.1.53 : 'विप्रतिषेधादि'ति—नन्वयमपवादः, 'अनेकाल् शित्' इत्युत्सर्गः, उत्सर्गापवादयोश्चायुक्तो विप्रतिषेधः ? नैतदस्ति। ङित्त्वस्यान्यार्थत्व-सम्भवे सति दौर्बल्यात्सन्दिग्धोपस्थानोऽयं योग, इत्यपवादत्वमेवात्र विषयेऽस्य नास्ति।
5. 1.1.53 पर उ० : 'विप्रतिषेधादि'ति—परिभाषात्व-विरोधादित्यर्थः। यदि साव-काश-ङित्त्वेऽपि प्रवृत्तिः स्यात्, सदाऽनुवादत्वासम्भवेन परिभाषा-प्रकरण-विरोध इति भावः। इस पर भार्गवशास्त्री की टिप्पणी : 'भाष्ये विप्रतिषेधादि'त्युक्तं, तन्न 'विप्रतिषेध-शास्त्र'-परं, किन्तु 'विप्रतिषेध'-शब्दो 'विरोध'-वाचीति भावः।

यदि तुल्यबलविरोधपरक माना जाये, तो (क) ङित्त्व को सावकाश कहना असंगत ही होगा। क्योंकि तुल्यबलविरोध में सूत्र का सावकाश होना ही हेतु होता है, जबकि प्रस्तुत स्थल में ङित्त्व को सावकाश कहा जा रहा है। यह सूत्र सर्वादेश जहाँ प्राप्त न होता हो, वहाँ कहीं भी चरितार्थ नहीं होता। अतः अन्य (ङित्त्व) की सावकाशता से अन्य (**ङिच्च** सूत्र) की अपवादता व्याहत हो, यह तो उचित नहीं है। (ख) जहाँ भी भाष्यकार ने तुल्यबलविरोधार्थक वार्तिक की व्याख्या की है, वहाँ उनकी शैली पूर्वशास्त्र तथा परशास्त्र, दोनों, को सावकाश दिखाने की है। किंतु यहाँ ऐसा नहीं किया है।[1]

इस पर वक्तव्य यह है कि यदि **ङिच्च** को परिभाषा-सूत्र मान भी लिया जाए, तो प्रश्न यह है कि इसके परिभाषात्व में निमित्त (1) प्रत्ययस्थ ङित्त्व ही है, या (2) अन्य कुछ ? (1) यदि प्रथम बात है, तो (अ) वह सावकाश होने से निमित्त है, या (आ) अन्यथा ? जैसा कि भट्टजी के उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट होता है, आनङ् आदि के निरवकाश होने से ही सर्वादेश की बाधकता सिद्ध बताई है। तब, ऐसी स्थिति में परिभाषात्व आदि सब प्रक्रिया-गौरव ही है। अन्ततः भट्टजी को **निरवकाशो विधिरपवादः** (प०) से वैसे अनङ् आदि के ङित्त्व की अपवादता पर आना पड़ेगा। इस स्थिति में तातङ् आदि में तुल्यबलविरोध अनिवार्य हो जाता है।

इस परिभाषात्वरूप मूल के खण्डित होते ही तदाश्रित दोनों हेतु (क) और (ख) भी स्वतः खण्डित हो जाते हैं। तथापि उनका पृथक् से उत्तर भी हो सकता है :

(क) यदि तुल्यबलविरोध-पक्ष में ङित्त्व की सावकाशता बताना असंगत होगा, तो परिभाषात्वपक्ष में ही संगत कैसे होगा ? फलतः, यह यदि दोष है, तो भट्टजी के पक्ष में भी है। सुतराम् कैयट आदि के पक्ष में तो ङित्त्व के निरवकाश होने से **ङिच्च** सूत्र अनङ् आदि के विषय में अपवाद होता है और ङित्त्व की सावकाशता से 'तात्' के विषय में अपवाद नहीं रहता। अतः दोष इस पक्ष में नहीं, किंतु भट्टजी के पक्ष में ही आता है।

(ख) दूसरा हेतु भी यहाँ उपपन्न नहीं है, क्योंकि भाष्यकार ने प्रस्तुत समा-

---

1. उ० 1.1.53 : 'विप्रतिषेधे परमि'ति शास्त्र-परत्वे तु ङित्त्वस्य सावकाशत्वोक्तिरसंगता स्यात्, सूत्र-सावकाशत्वमेव हि विप्रतिषेधे बीजम्। न ह्यस्य सूत्रस्य सर्वादेशाप्राप्ति-विषये क्वचिच्चारितार्थ्यम्। अवश्य-प्राप्तिरेव च बाध्यत्वे बीजं दृष्टम्। किं च विप्रतिषेध-शास्त्र-परवार्तिक-व्याख्या-पर-भाष्ये शास्त्र-द्वयावकाश-शैली भाष्यकारस्य दृश्यते। न चात्र तथोक्तं भगवता।

धानवार्तिक की विशेष व्याख्या की ही नहीं है ; वार्तिक के शब्दों को दुहराने के अतिरिक्त उन्होंने वस्तुतः कोई व्याख्या नहीं की है।[1] अतः जब व्याख्या ही नहीं है, तब व्याख्या-शैली की विशेषता का अवकाश ही नहीं है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि कैयट और दीक्षितजी का पक्ष ही उचित है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि गुणवृद्धिनिषेधादि का प्रयोजन सर्वादेश और सर्वादेश का प्रयोजन गुणवृद्धिनिषेधादि बतलाये हैं। इस प्रकार तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आता है।[2]

इसका प्रतिविधान यह है कि सूत्रकार की प्रवृत्ति से सिद्ध होता है कि 'तात्' अन्तादेश के रूप में सूत्रकार को इष्ट नहीं है। क्योंकि यहाँ इस सूत्र को बनाने की अपेक्षा एरुः (3.4.86) के प्रकरण में **ति-ह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्याम्** इस प्रकार सूत्र बना देते, और **अलोऽन्त्यस्य** (1.1.52) से अन्तादेश हो जाता।[3] सन्देह-निवारण भी हो जाता, मात्रा-लाघव भी रहता।

उपर्युक्त शास्त्रार्थ का सार काशिका में निम्नलिखित श्लोकों में दिया है :—

तातङि ङित्त्वं संक्रमकृत् स्यादन्त्यविधिश्चेत्तच्च तथा न।[4]
हेरधिकारे हेरधिकारो लोपविधौ तु ज्ञापकमाह[5] ॥ 1 ॥
तातङो ङित्त्व-सामर्थ्यान्नायमन्त्य-विधिः स्मृतः।
न तद्वदनङादीनां, तेन तेऽन्त्य-विकारजाः[6] ॥ 2 ॥

---

1. म० भा० 1.1.53, पृष्ठ 394 : **तातङि ङित्करणस्य सावकाशत्वाद्विप्रतिषेधात्सर्वादेशः—तातङि ङित्करणं सावकाशम्। कोऽवकाशः ? गुण-वृद्धि-प्रतिषेधार्थो ङकारः। तातङि ङित्करणस्य सावकाशत्वाद् विप्रतिषेधात्सर्वादेशो भविष्यति।**
2. उ० 1.1.53, पृष्ठ 395 : **गुणवृद्धि-प्रतिषेधार्थत्वे सिद्धे सर्वादेशत्वम्, तस्मिंश्च तत्त्वम्, इत्यन्योन्याश्रयेण सर्वादेशत्वालाभेऽन्त्यस्यैव स्यादिति भावः।**
3. म० भा० 1.1.53, पृष्ठ 395 : **एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापयति 'न तातङ्ङन्त्यस्य स्थाने भवती'ति, यदेतं ङितं करोति। इतरथा हि लोट एरु-प्रकरण एव ब्रूयात्—'तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्यामि'ति।**
4. श्री क्षि० च० चैटर्जी ने टे० ट०, पृष्ठ 316, पा० टि० में **नः** पाठ उद्धृतकि या है।
5. इस अर्धाली का संबंध—**अतो हेः** से है। अतः इसकी व्याख्या **अतो हेः** पर देखें।
6. प्र० प्र० में **ते ह्यविकारकाः** तथा **ते ह्यविकारजाः** पाठ-भेद उपलब्ध होते हैं। धर्मकीर्ति के रूपावतार (पृष्ठ 74) में तथा काशिका में उपर्युद्धृत पाठ ही है। अर्थ-स्वारस्य की दृष्टि से ऊपर दिया पाठ ही ठीक प्रतीत होता है।

रपि सम-बलत्वात् । भवतात् । 2198 लोटो लङ्वत् (3.4.85)—लोटो लङ 2198 लोट् को लङ् की तरह कार्य होवे । इससे ताम् आदि (आदेश) और सकारका

अर्थात् तातङ् में डित्त्व संक्रम (गुणवृद्धि का निषेध)[1] करने वाला हो । यदि यहाँ अंत्यादेश होता है, तो संक्रम नहीं होगा । तातङ् को डित् करने से यहाँ अंतादेश नहीं बतलाया है । अनङ् आदियों के डित्त्व से वैसा नहीं होता । अतः वे अंत्यादेश हैं ।[2]

कुछ नव्यों का तो कहना है कि 1. **लोटो लङ्वत्** (3.4.85), 2. **एरुः** (86), 3. **सेर्ह्यपिच्च** (87), 4. **वाच्छन्दसि** (88), 5. **मेर्निः** (86), 6. **आमेतः** (90), 7. **सवाभ्यां वामौ** (91), 8. **आडुत्तमस्य पिच्च** (92), तथा 9. **एत ऐ** (93) इन नौ सूत्रों के पूरे प्रकरण को तीसरे अध्याय से हटा कर सातवें में 1. **लोटो लङ्वत्** (7.1.35), 2. **एरुः** (36), 3. **ति-ह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्याम्** (37), 4. **सेर्ह्यपिच्च** (38), इत्यादि प्रकार से लगा दिया जाए ।[3]

2198 **लोटः** 6.1, **लङ्वत्** (3.4.85)—'वत्' **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (5.1.115) के प्रकरण में उपमानवाचक (वति) प्रत्यय है । 'लोटः' उपमेय और 'लङ्' उपमान हैं । विग्रह-वाक्य में उपमेय तथा उपमान में सामानाधिकरण्य होना चाहिए । अतः उपमेय के षष्ठ्यन्त होने से उपमान भी षष्ठ्यन्त ही है[4] : लङः 6.1 इव लङ्वत्—**तत्र तस्येव** (116) से 'वति' ।

---

1. रूपावतार, पृष्ठ 75 : **संक्रमो=गुणवृद्धि-प्रतिषेधः** । उ० 1.1.3 : **'संक्रम' इति गुणवृद्धि-प्रतिषेध-विषय-ङितः प्राचां संज्ञा** ।
2. भाष्यकार द्वारा केवल एक बार (1.1.3 में) प्रयुक्त 'संक्रम' जैसी प्राचीन संज्ञा के प्रयोग के कारण तथा शैली की विशिष्टता से ये श्लोक लगते तो प्राचीन हैं, पर किस के तथा कब के है, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता । प्र० प्र० में इनकी अवतारणा **तथोक्तं वार्तिक-कृता** कह कर की है । भाष्य में ये उपलब्ध नहीं होते । न्यास में भी इनकी चर्चा नहीं है । प० म० **तातङि ङित्त्वमिति श्लोक-द्वयं क्वचित्पठ्यते** लिखा है । अतः इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है ।
3. सि० कौ०, पृष्ठ 399 पर शिवदत्त दाधिमथ की टिप्पणी 1.
4. प्र० 3.4.85, पृष्ठ 408 : **'लोट' इत्युपमेये षष्ठी-निर्देशादुपमानं षष्ठ्यन्तं विज्ञायते, तेन लङो यत्कार्यं, तल्लोटोऽतिदिश्यते, न तु लङि यत्कार्यं, तद्, इति अडाटौ लोटि न भवतः** ।

'लोटः' और 'लङः' में संबंध-विशेष के निर्धारित न होने से यह स्थानेयोगा षष्ठी है। स्थान में होने वाले प्रत्यय 'आदेश' कहलाते हैं।[1] अतः लङवत् (लङः स्थाने सम्पन्ना आदेशा इव) लोटः (स्थाने आदेशा भवन्ति)—लङ् के जैसे (लङ् के स्थान में सम्पन्न आदेशों की तरह) लोट् के (स्थान में आदेश) होते हैं—यह अर्थ निष्पन्न होता है। यह अतिदेश-सूत्र है।

'लङ् के आदेश' से लङ् तथा लोट्—दोनों—में साधारण प्रत्यय नहीं लिए जाते, किंतु तिङों के आदेश लिए जाते हैं। **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** (6.4.71) तथा **आडजादीनाम्** (72) से होने वाले 'अट्' और 'आट्' तिङों के आदेश नहीं हैं, किंतु लुङ् आदि परे रहते पूर्ववर्ती अंग को विहित आगम हैं। अतः लोट् में ये नहीं प्राप्त होते।[2]

अड् गार्ग्य-गालवयोः (7.3.99) तथा **अदः सर्वेषाम्** (100) से लङ् को विधीयमान अट् प्रत्यय (1) आदेश (किसी के स्थान में) न होने के कारण, अथवा (2) अपृक्त सार्वधातुक के अभाव के कारण नहीं प्राप्त होते।[3]

अष्टाध्यायी में लङ् के आदेश तिङों को निम्नलिखित सात आदेश विहित हैं : (क) **नित्यं ङितः** (3.4.99) से वस्, मस् के सकार का लोप। (ख) **इतश्च** (100) से तिप्, झि, सिप् के इकार का लोप। (ग-च) **तस्थस्थ-मिपां तान्तन्तामः** (101) से तस् को ताम्, थस् को तम्, थ को त और मिप् को अम्। (छ) निम्नलिखित तीन सूत्रों से झि को जुस् : **सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च** (3.4.109 ङितो झेर्जुस्) से अभ्यस्त धातुओं (जुहोत्यादिगण-पठित धातुओं से तथा √जक्ष्, √जागृ, √दरिद्रा, √शास्, √दीधीङ् और √वेवीङ्) से एवं √विद् से उत्तरवर्ती ङित् (लङ्) के झि को जुस् विहित है : अबिभयुः, अविदुः। (आ) **लङः 6.1 शाकटायनस्यैव** (111) **ङितः 6.1 झेर्जुस्** से आदन्त धातु से परवर्ती ङित् लङ् के झि को शाकटायन आचार्य के मत में (अर्थात् विकल्प से) जुस् होता है : अयुः, अयान्। (इ) **द्विषश्च** (112) से √द्विष् से उत्तरवर्ती लङ् के झि को विकल्प से जुष् होता है : अद्विषुः, अद्विषन्।

---

1. **आगमोऽनुपघातेन, विकारश्चोपमर्दनात्।**
   आदेशस्तु प्रसंगेन, लोपः सर्वापकर्षणात्॥—आपिशलि
   तथा अन्यत्र : **स्थाने शत्रुवदादेशाः, आगमा मित्रवत्स्मृताः।**
2. पृ० 119, टि० 4 में उद्धृत प्र० एवं बृ० श० शे०, पृष्ठ 1610 : **अडाटौ तु नातिदिश्येते, न हि तौ लङः क्रियेते, किन्तु लङि अङ्गस्येति भावः।**
3. बृ० श० शे० : **'अड् गार्ग्यगालवयोः' इति, 'अदः सर्वेषाम्' इति च लङ एव विधीयमानावपि अडाटौ नातिदिश्येते, अपृक्त-सार्वधातुकाभावात्।**

इन सातों कार्यों में से लोट् के तिङों को कौन-कौन हो सकते हैं, ? इसका विवेचन निम्नलिखित रीति से है :

(क) लोट् के वस्, मस् को अन्य कोई भी विधि न होने से **स-सजुषो रुः** (8.2.66) को बाधकर प्रस्तुत अतिदेश के कारण **नित्यं ङितः** (3.4.99) से सकार का लोप होगा : भवाम, भवाम ।

(ख) **इतश्च** (100) से इकार का लोप प्राप्त होते हुए भी **एरुः** (86) से ति, झि के इकार को उकार तथा **सेर्ह्यपिच्च** (87) से 'सि' को 'हि' आदेश विहित होने से इकार का लोप नहीं होगा : तु, अन्तु, हि । 'हि' के इकार का लोप **सकृद्गतौ यद् बाधितं, तद् बाधितमेव** (प० 41) से, अथवा 'हि' में इकारोच्चारण सामर्थ्य से नहीं होगा ।[1]

(ग-च) लोट् के तस्, थस्, थ को अन्य कोई विधान न होने से अतिदेशसिद्ध ङित्त्व के बल पर **तस्थस्थ-मिपां तान्तन्तामः** से क्रमशः ताम्, तम्, त ये आदेश होंगे । मिप् को **मेर्निः** (3 4.89) विधि **येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते, स तस्य बाधको भवति** (प० 58) से अम् को बाध लेगा : ताम्, तम्, त, नि ।

(छ) झि को जुस् लङ्वद्भाव से इन तीनों से प्राप्त होता है, किंतु होता नहीं है । इसमें निम्नलिखित युक्तियाँ हैं :

(अ) सूत्रकार की प्रवृत्ति से सिद्ध होता है कि वास्तविक लङ् के (आतिदेशिक लङ् के नहीं) तिङों को ही जुस् होता है । प्रस्तुत प्रकरण में **नित्यं ङितः** से ङितः' चला आ रहा है ।[2] आदन्त धातु के अनन्तर लङ् से भिन्न अन्य कोई ङित् तो संभव ही नहीं है (क्योंकि अन्य ङित् लकारो में विकरण का व्यवधान होता है) । अतः 'ङितः लङः' इस प्रकार सविशेष कहने का अभिप्राय यही है कि जो लङ् वस्तुतः ङित् नहीं है, उसके झि को शाकटायन के मत में जुस् होता है ।[3] प्रकृत में वास्तविक लङ् है नहीं, अपितु लङवत् है । अतः 'यान्तु', 'पान्तु' में जुस् प्राप्त नहीं होता ।

(आ) यदि कहें कि बिभ्यतु, जाग्रतु, विदन्तु इत्यादि में **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च**

---

1. प्र० : **'सेर्ह्यपिच्च** (87) **उत्वस्य बाधकमेवेति ।'** पर उ० : **उत्वग्रहणमिकारलोपस्याप्युपलक्षणम् ।**
2. च० क० के अनुसार **यासुट् परस्मै०** (3.4.103) से 'ङित्' की अनुवृत्ति करके उसे विशेष्यानुरोध से षष्ठ्यन्त में विपरिणत करके 'ङितः लङः' इस पदार्थ का अवगमन होता है । पर न्यायतः प्राप्त 'ङितः' के रहते यह युक्ति द्रविड-प्राणायाम सी लगती है ।
3. प्रकृत तथा **आतः** (3.4.110) सूत्र पर म० भा० ।

(3.4.109) से प्राप्त जुस् का क्या प्रतिविधान होगा ? तो इसका उत्तर है कि **लङः शाकटायनस्यैव** (3.4.111) में स्थित 'लङः' का योग इसी सूत्र से नहीं है, अपितु यह योगविभाग है : **लङः । शाकटायनस्यैव** । जुस् ङित् लङ् को ही होगा। इस प्रकार इस प्रकरण में विधीयमान यावन्मात्र जुस् से 'ङितः' का संबंध होने से विभ्यतु आदि में भी प्राप्त नहीं होता ।[1]

काशिका (3.4.85) का यह मत भी है कि प्रस्तुत सूत्र में **विदो लटो वा** (3.4.83) से 'वा' की अनुवृत्ति करके इसे व्यवस्थित-विभाषा मान लेंगे । फलतः जुस् से इतरत्र लङ्वद्भाव होगा, जुस् के विषय में नहीं ।

प्रक्रियाप्रसाद तथा तत्त्वबोधिनी का यही मत है। ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने (अ) युक्ति में यह आपत्ति दी है कि **लङः शाकटायनस्यैव** (3.4.111) में केवल 'ङितः' से काम नहीं चल सकता; क्योंकि 'अदुः' इत्यादि में **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च** से प्राप्त नित्य जुस् को बाध कर **ङितः शाकटायनस्यैव** से वा जुस् प्राप्त होने पर उसके निवारण के लिये 'लङः' विशेष्य आवश्यक है । अतः 'वस्तुतः ङित् लङ्' इत्यादि बात सिद्ध नहीं होती ।

'**आतः** अपवादसूत्र से नित्य जुस् करने पर आपत्ति नहीं रहेगी', यह कहना भी संगत नहीं है । क्योंकि **आतः** तो **आत एव सिज्-लुगन्ताज्झेर्जुस्** इस प्रकार नियम करता है, विधान नहीं । अन्यथा तो 'अभूवन्' में सिज्लुक् का प्रत्यय-लक्षण करके **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च** से जुस् दुर्निवार हो जाएगा ।

हां, **आतः** की आवृत्ति करके एक को विधि-सूत्र और दूसरे को नियम-सूत्र यदि बना दिया जाए, तो उपर्युक्त समाधान स्वीकार्य हो सकता है; क्योंकि 'अदुः' में **सिजभ्यस्त०** को बाध कर **लङः शाकटावनस्यैव** से वा जुस् होने पर **पुनः प्रसङ्ग-विज्ञानात्सिद्धम्** (प० 40) से **सिजभ्यस्त०** से उसके अभाव-पक्ष में नित्य जुस् हो सकता है । किन्तु तब भी जुह्वतु, विदन्तु इत्यादि में जुस् के निवारणार्थ तो व्यवस्थित-विभाषा का पल्ला पकड़ना ही होगा ।

इसका उत्तर शब्दरत्न, बृहच्छब्देन्दुशेखर, चन्द्रकला तथा प० शिवदत्त जी दाधिमथ ने यह दिया है कि (क) व्यवस्थित-विभाषा के स्थलों के परिगणन में[2] प्रस्तुत स्थल का निर्देश नहीं है ।[3] (ख) भगवान् भाष्यकार ने 'अदुः', 'अधुः' में

---

1. का०, न्या० तथा बृ० श० शे० ।
2. **देव-त्रातो गलो, प्राहः इति योगे च सद्विधिः ।**
   मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥
3. त० बो० पर शि० द० दाधिमथ की टिप्पणी तथा च० क०, पृष्ठ 447 ।

इव कार्यं स्यात्। तेन तामादयः, सलोपश्च। तथाहि—2199 तस्थस्थ-मिपां तान्तन्तामः (3.4.101)—ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात्स्युः। 2200 नित्यङ्-ङितः (3.4.99)—सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः स्यात्। 'अलोऽन्त्यस्ये'ति

लोप होते हैं, जैसे कि—2199 तस्, थस्, थ और मिप् को ताम्, तम्, त और अम् होवें—ङित् के इन चारों के स्थान में ताम् आदि क्रमशः होवें। 2200 तिङ् के सकारान्त उत्तम का नित्य लोप होवे। 'अलोऽन्त्यस्य' (1.1.52) से स् का लोप।

आपत्ति उठाकर 'लङ्वेव लङ्' इत्यादि ('अ') युक्तिगत समाधान दिया है। इससे सिद्ध होता है कि भाष्यकार को यहाँ पूर्वविप्रतिषेध इष्ट है।[1] (ग) **ङ्लोट् च** सूत्र बनाने से ही लङ्-संबंधी कार्य स्वतः सिद्ध हो जाते। पर ऐसा न करके **लोटो लङ्वत्** इस अतिदेशविधान से सिद्ध होता है कि आतिदेशिक विधि अनित्य होती है : **आतिदेशिकमनित्यम्** (प० 99)। अतः 'जुह्वतुः' इत्यादि के लिए व्यवस्थित-विभाषा मानना आवश्यक नहीं है।[2]

अब प्रसंग प्राप्त 'ताम्' आदि आदेशों के विधायक सूत्र बतलाते हैं। प्रत्ययक्रम में 'तस्' आदि पहले तथा 'वस्', 'मस्' बाद में आते हैं। अतः सूत्रक्रम को तोड़कर पहले 'ताम्' आदि आदेश बतलाते हैं :

2199 **तस्थस्थमिपाम्** 6.3 **तान्तन्तामः** 1.3 (3.4.101)—लस्य 6.1 (77), ङितः 6.1 (99)। प्रकृतसूत्रोक्त दोनों पद इतरेतरयोगद्वन्द्वान्त हैं। ङितः लस्य तस्थस्थमिपां (स्थाने) ताम्, तम्, त, अमः (आदेशा भवन्ति)—ङित् ल् के आदेश रूप तस्, थस्, थ तथा मिप् के स्थान में क्रमशः ताम्, तम्, त और अम् आदेश होते हैं। ये सभी आदेश अनेकाल् हैं, अतः समूचे स्थानी को हटाकर होते हैं।

2200 **नित्यं ङितः** 6.1 (3.4.99)—लस्य 6.1 (77), सः 6.1 उत्तमस्य 6.1 (98), इतश्च लोपः 1.1 परस्मैपदेषु (97) : ङितः लस्य सः उत्तमस्य नित्यं लोपः। 'सः' 6.1 पद 'उत्तमस्य' 6.1 का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है : ङित् लकार के सकारान्त उत्तम का नित्य लोप होता है। 'उत्तमस्य' के षष्ठी-निर्दिष्ट होने के कारण **अलोऽन्त्यस्य** (1.1.52) से उत्तम के अन्त्य सकार का ही लोप होता है।

काशिका तथा प्रक्रियाकौमुदी के अनुसार 'सः' विशेषण नहीं, अपितु विशेष्य है : ङित् लकार के उत्तम के सकार का नित्य लोप होता है। भट्ट नागेश के अनुसार इस पक्ष में 'भूयासम्' आदि में **यदागमास्तद्गुणीभूताः०** (प० 12) से समूचा 'यासम्' ही

---

1. शब्दरत्न तथा बृ० श० शे०।
2. च० क० तथा शिवदत्त दाधिमथी (त० बो० पर) टिप्पणी 3.

सस्य लोपः । भवताम् । भवन्तु । 2201 सेर्ह्यपिच्च (3.4.87)—लोटः सेर्हिः भवताम, भवन्तु । 2201 लोट् के 'सि' को 'हि' होवे और वह अपित् होवे । 2202

'उत्तम' शब्द से गृहीत है, अतः सकार का लोप प्राप्त होता है (—बृहच्छब्देन्दुशेखर) । विशेषण मानने पर कोई दोष नहीं आता । सूत्रकार ने भी विशेषण के स्थान में, अर्थात् 'उत्तमस्य' के पूर्व, रखा है ।

वैतोऽन्यत्र (96) से 'वा' की निवृत्ति के लिए यहाँ 'नित्यम्' दिया है । मूल में **ङिदुत्तमस्य=ङितः उत्तमः** (ष० तत्पु०), **तस्य** है ।

2201 **सेः** 6.1 **हि** 1.1 **अपित्** 1.1 **च** (3.4.87)—लोटो लङ्वत् (85) : लोटः (आदेशस्य) सेः ('सि' इत्यस्य) 'हि' (इति आदेशः भवति), अपित् च—लोट् के (आदेश) 'सि' के स्थान में 'हि' (यह आदेश होता है) और (वह) अपित् (पित् नहीं होता) ।

सूत्र में 'हि' विधेय आदेशपद है । इसी प्रकरण में सूत्रकार ने अन्य आदेशपदों को पुंल्लिङ्ग और प्र० ए० व० में दिया है ।[1] परन्तु 'हि' (1) लुप्तविभक्तिक है । इसमें हेतु (क) अष्टाध्यायी की यत्र-तत्र छन्दोबद्ध रचना और छन्दोनुरोध से विभक्ति का लोप हो सकता है । (ख) यह सूत्र सूत्रकार ने किसी प्राचीन (छन्दोबद्ध) व्याकरण से ज्यों का त्यों अपना लिया हो । (2) 'हि' नपुं० प्रथमैकवचनान्त भी हो सकता है ।

प्रश्न : न्यासकार ने एक शंका उठा कर उसका समाधान देते हुए कहा है कि 'अपित्' करने से 'हि' **सार्वधातुकमपित्** (1.2.4) से ङिद्वत् हो जाता है । जब अपित्त्व का प्रयोजन ङिद्वद्भाव ही है, तब सीधे ही **सेर्हि ङिच्च** क्यों न कहा ? **उत्तर :** ऐसा करने से ङित्कार्य गुणनिषेधादिक तो हो जायेंगे, पर पित्त्व का निषेध न होने से अनुदात्त 'सि' के स्थान में अनुदात्त 'हि' आदेश ही आन्तरतम्य से होगा । यह इष्ट नहीं है । 'अपित्' कहने से दोनों ही बातें सिद्ध हो जाती हैं ।[2]

इस पर मुझे आपत्ति यह है कि **हलः श्नः शानज्झौ** (3.1.83) पर भाष्यकार ने स्पष्ट लिखा है कि **हेः पित्त्वं न प्रतिषेध्यम् । पितोऽयमादेशः स्थानिवद्भावात् पित्**

---

1. **ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः** (84), **एरुः** (86), **मेर्निः** (89), **स-वाभ्यां वामौ** (91) ।
2. न्यास 3.4.87 : **अथ किमर्थं गुरुसूत्रं क्रियते, न 'सेर्हि, ङिच्च' इत्येवोच्येत ? नैवं शक्यम्—ङित्त्वस्य विधाने स्थानिवद्भावात्पित्त्वं स्यादेव । ततश्च ङित्त्वाङ्ङि त्-कार्यं गुण-निषेधादिकं स्यात्पित्त्वाच्चानुदात्तत्वम् । तस्माद् यथान्यासमेवास्तु ।** बृ० श० शे० भी देखें ।

स्यात्सोऽपिच्च । 2202 अतो हेः (6.4.105)—अतः परस्य हेर्लुक् स्यात् । अत् (ह्रस्व 'अ') से परे स्थित हि का लुक् हो । भव, भवतात्; भवतम्, भवत ।

स्यात् ? सार्वधातुकादेशे अनुबन्धा न स्थानिवद्भवन्तीति नायं पिद् भविष्यति' । तथा आगे भी **'तस्माद्वक्तव्यं पिन्न ङिद्भवति, ङिच्च पिन्न भवतीति'** । लिखा है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'अपित् च' के स्थान में 'ङिच्च' करने पर पित्त्व का स्थानिवद्भाव नहीं होता । एवं गुणनिषेधादि कार्य तो हो ही सकेंगे, साथ ही पित्त्वाद् अनुदात्त 'सि' के स्थान में पित्त्व का स्थानिवद्भाव न होने के कारण 'हि' उदात्त ही होगा । अतः अपिद्विधान निष्प्रयोजन है ।

इस प्रक्रियागौरवयुक्त 'अपिच्च' के ग्रहण से भी यह अनुमान ही पुष्ट होता है कि यह सूत्र व्याकरणान्तर से परिगृहीत है ।

2202 अतः 5.1, हेः 6.1 (6.4.105)—अङ्गस्य 6.1 (1) चिणो लुक् 1.1 (84) । 'अङ्गस्य' में संबंध-सामान्य में षष्ठी है । वह आवश्यकतानुसार अपेक्षित अन्य विभक्ति में भी परिणत हो जाती है ।[1] यहाँ 'हि' से पहले 'अत्' है और वह अंग है, अतः 'अङ्गस्य' पद 'अतः' 5.1 के अनुकूल 'अङ्गात्' 5.1 में परिणत हो जाता है और 'अतः' शब्द 'अङ्गात्' का विशेषण होने के कारण उसमें तदन्तविधि हो जाती है : अतः (=अदन्तात्) अङ्गात् (उत्तरस्य) हेः (हिप्रत्ययस्य) लुक् (भवति)—अत् (अन्तवाले) अंग से परे (स्थित) हि का लुक् होता है ।

मूल में 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति प्रयोजनविशेष न होने से नहीं की है, ऐसा लगता है । शास्त्रदृष्ट्या अपेक्षित एवं प्राप्त होने से मैंने दिया है । काशिका में भी इसे दिया गया है ।

'अत्' कहा होने से पाहि, स्तुहि आदि में हि का लुक् प्राप्त नहीं होता । पातात्, इतात्, चिनुतात् आदि में आशिष् अर्थ में तात् के तथा विध्यादि अर्थों में भव, गच्छ आदि में हि के लुक् के, सावकाश होने से ये दोनो तुल्य-बल-विरोधी हैं । अतः **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (1.4.2) से तात् (7.1.35), हिलुक् (6.4.105) को बाध लेता है । फिर **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (1.1.56) से तात् के हिवत् होने के कारण प्राप्त लुक् **सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं, तद् बाधितमेव** (प० 41) से नहीं होता । अथवा **हु-झल्भ्यो हेर्धिः** (6.4.101) से 'हेः' की अनुवृत्ति होते हुए भी पुनः 'हेः' देने से **अतः हेः हेर्लुक्**, अर्थात् 'हि (रूप) हि का लुक् होता है', ऐसा अर्थ होने से आतिदेशिक (स्थानिवद्भाव से प्राप्त) हि का लुक् नहीं होता ।[2]

---

1. **अङ्गस्य** (6.4.1) सूत्रस्थ काशिका ।
2. प्र० प्र०, पृष्ठ 24 ।

यदि कहें कि **सर्व-विधिभ्यो लोप-विधिर्बलवान्** (प० 100) से पर की अपेक्षा भी हि-लुक् बलवान् है, तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यह परिभाषा ही प्रामाणिक नहीं है,[1] 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से यदि प्रामाणिक मान भी लें, तो **ज्ञापक-सिद्धं न सर्वत्र** (प० 126) से अनित्य होने के कारण यह यहाँ नहीं लगती।

नागोजी भट्ट (ल० श० शे०, पृष्ठ 447) के अनुसार यहाँ **अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते** (प० 52) प्राप्त होती है, किंतु **ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र** (प० 126) के कारण लगती नहीं। उनका तथा भैरवमिश्र (प० शे०, परिभाषा 52 पर भैरवी) का आशय यह है कि बहिरङ्ग लुक् अन्तरङ्गों को भी बाध लेता है, फिर पर तथा नित्य का तो कहना ही क्या !

श्री ज्ञानेन्द्र सरस्वती के अनुसार लुक् अन्तरङ्ग को ही बाधता है, पर को नहीं। अर्थात् **अन्तरङ्गानपि०** (53) परिभाषा केवल अन्तरंग के विषय में विज्ञापित होने से पर के विषय में नहीं प्राप्त होती।

इस पर श्री भैरवमिश्र का कहना है कि स्वामीजी का मत मानने पर इस परिभाषा में 'अपि' शब्द व्यर्थ हो जाता है। इस परिभाषा का फलितार्थकथनपरक **सर्वविधिभ्यो लुग्विधिर्बलवान्** (प०) पाठ भी उपर्युक्त अर्थ मानने पर ही संगत होता है, स्वामीजी की व्याख्या के अनुसार नहीं।[2]

इस पर श्री लक्ष्मणशर्मा का कहना[3] है कि **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** (प० 51)

---

1. प० शे० (प० 100) तथा तत्रस्थ भैरवी।
2. च० क० : **यत्त्वत्र दण्डिना 'अन्तरङ्गानपि०** (प० 53) **इति न्यायस्य प्राप्तिमाशङ्क्य 'अन्तरङ्गानेव लुग्बाधते, न तु परम्' इत्युक्तम्, तन्न, 'अपि'-शब्द-स्वारस्य-विरोधात्। अत एवैतत्फलितार्थ-कथन-परः 'सर्व-विधिभ्यो लुग्विधिर्बलवान्'** (तुलनीय प० 100) **इति प्राचां पाठः संगच्छते।**
3. प० शे० (प० 52) पर लक्ष्मणशर्मा, तत्त्व-प्रकाशिका। इस परिभाषा के विज्ञापन-स्थल **प्रत्ययोत्तर-पदयोश्च** (7.2.98) पर भाष्य में तो 'अपि'-युक्त पाठ है : **एवं तर्हि सिद्धे सति यत्प्रत्ययोत्तरपदयोस्त्व-मौ शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा बहिरङ्गो लुग्भवति' इति।** अन्यत्र भी 'अपि'-युक्त पाठ ही धृत-उद्धृत मिलता है। **स्वमोर्नपुंसकात्** पर भी कैयट ने कुछ लोगों के वार्तिक को नकारने के मत में परिभाषा में 'अपि' देने का विशेष प्रयोजन 'नित्य और पर को भी लुक् बाध लेता है,' यह फलितार्थ ही बताया है। इससे 'अपि' सर्वसम्मत नहीं है, यह सूचित नहीं होता : **केचित्तु 'अन्तरङ्गानपि विधीन्बहिरङ्गो लुग् बाधते' इत्यत्र 'अपि'-ग्रहणान्नित्यानां परेषां च लुका बाधनमिच्छन्तः 'त्यदाद्यत्वं लुका बाध्यते' इत्याहुः।**

भव, भवतात् । भवतम् । भवत । 2203 मेर्निः (3.4.89)—लोटो मेर्निः स्यात् । 2204 आडुत्तमस्य पिच्च (3.4.92)—लोडुत्तमस्याडागमः स्यात्, स

2203 लोट् के 'मि' को 'नि' होवे । 2204 लोट् के उत्तम को आट् आगम होवे और

से बहिरंग का विरोध अन्तरंग से ही होता है, पर तथा नित्य से नहीं । बहिरंग के प्रकरण में अन्तरंग से पर, नित्य कैसे लिये जा सकते हैं ? रहा 'अपि' का प्रश्न, इस परिभाषा में 'अपि' पद प्रामाणिक नहीं है : भाष्य में यह उपलब्ध नहीं होता और **स्वमोर्नपुंसकात्** (7.1.23) पर कैयट ने भी इसे मतान्तर के रूप में ही रखा है ।

2203 मेः 6.1, **निः** 1.1 (3.4.89)—लोट : 6.1 लङ्वत् (85) : लोटः (आदेशस्य) मेः (स्थाने) निः (आदेशो भवति)—लोट के (आदेश) मि के स्थान में 'नि' (आदेश होता है) ।

2204 आट् 1.1 **उत्तमस्य** 6.1 **पिच्च** 1.1 (3.4.02)—लोटो लङ्वत् (85) । आट् टित् होने से आद्यवयव आगम है । आगम किसी के स्थान में नहीं होते, अतः 'उत्तमस्य' में स्थाने-षष्ठी नहीं है : लोटः (आदेशस्य) उत्तमस्य आट् (इति आगमो भवति) पित् च (भवति)—लोट् के उत्तम को आट् (यह आगम होता है) और (वह) पित् होता है ।

पित्त्व आगम का धर्म है, या उत्तम प्रत्यय का ? : उपर्युक्त व्याख्यान से आपाततः प्रतीत होता है कि 'आ' आगम को ही पित् किया गया है । पर वस्तुतः, उत्तम प्रत्यय पित् होता है ।[1] क्योंकि 'आ' को पित् करने का कोई प्रयोजन नहीं है । पित् के दो प्रयोजन होते हैं[2] :—

(क) **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (3.1.4) से पित् प्रत्यय अनुदात्त होता है । पर 'आ' तो **आगमा अनुदात्ताः** नियम से स्वतः ही अनुदात्त है ।

(ख) **सार्वधातुकमपित्** (1.2.4) से पित् को ङिद्वत्त्व नहीं होने के कारण उसके निमित्त से गुणवृद्धि का निषेध नहीं होता । परन्तु यहाँ 'आ' आगम प्रत्यय नहीं है, अतः उसके परनिमित्त से गुण, वृद्धि प्राप्त ही नहीं होते । अतः यों भी 'आ' को पित् करना व्यर्थ है । फलतः उत्तम ही पित् है ।

---

1. का० : **स चोत्तमपुरुषः पिद् भवति ।**
2. न्या० : **अथाट एव पित्त्वं कस्मान्न क्रियते ? निरर्थकत्वात्—पित्त्वं ह्यनुदात्तार्थं वा स्याद्, गुणवृद्ध्यर्थं वा, तत्राटोऽनुदात्तत्वमागमादेव सिद्धम् । गुणवृद्ध्योस्तु नैवासौ निमित्तमप्रत्ययत्वात् । यस्मादाटस्प्रति पित्त्वमनर्थकमित्युत्तमस्यैव विधीयते ।** च० क० 448 पृष्ठ भी देखें ।

पिच्च । हिन्योरुत्वं न, इकारोच्चारण-सामर्थ्यात् । भवानि । भवाव । भवाम ॥ 16 ॥

वह पित् हो । 'हि' और 'नि' को उत् नहीं होता, इकार का उच्चारण किया होने के बल पर । भवानि; भवाव, भवाम ॥ 16 ॥

इस पर वक्तव्य यह है कि—(अ) 'आट्' **प्रत्ययः** (3.1.1) के अधिकार में आने के कारण प्रत्यय है। (आ) **यदागमाः०** (प० 12) से उत्तम प्रत्यय का आगम होने के कारण भी आट् प्रत्ययत्व गुण से युक्त है । (इ) यदि ऐसा नहीं है, तो द्वेषै, द्वेषावहै, शयै, शयावहै, जुहवानि, जुहवाव इत्यादि स्थलों में प्रत्ययत्वरहित 'आ' से व्यवहित होने के कारण गुण जब प्राप्त ही नहीं है, तो क्या ये रूप असाधु हैं ?[1]

अतः वस्तुतः प्रतिविधान तो यह प्रतीत होता है कि इस सूत्र का योग-विभाग किया जाये—**आडुत्तमस्य । पिच्च ।** योग-विभाग-सामर्थ्य से 'आट् पित् नहीं होता, अपितु उत्तम प्रत्यय पित् होता है', इस प्रकार व्याख्या की जाये ।

मिप् स्वतः ही पित् है । वस्, मस् इ, वहि तथा महि प्रत्यय **सार्वधातुकमपित्** (1.2.4)—से ङिद्वत् हैं । अतः इस विधान से वे पित् हो जाते हैं । 'आ' भी **यदागमाः०** (प० 12) से पित् उत्तम का अङ्ग होने से पित् हो जाता है । फलतः यह गुण और वृद्धि का परनिमित्त बन जाता है । 'आ' आगम **आगमाः अनुदात्ताः** नियम से, या इस पारिभाषिक पित्त्व से, अनुदात्त है ही; व, म, इ, वहि, महि प्रत्यय भी **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (3.1.4) परिभाषा से सर्वानुदात्त हो जाते हैं ।

2201 **सेर्ह्यपिच्च** (3.4.87) सूत्र 2207 **इतश्च** (100) से प्राप्त लोप का तथा 2203 **मेर्निः** (89) सूत्र 2199 **तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः** (101) से प्राप्त मिप् के अम् आदेश का अपवाद हैं । **इश्तच** पुनः प्रवृत्त होकर इनके इकार का लोप हि और नि के इकारवान् पाठ के कारण नहीं करता, यह पीछे (पृष्ठ 113 पर) कहा जा चुका है ।

√भू+ लोट् की सिद्धियाँ : लोट् च सूत्र से विधि आदि अर्थों में √भू से परे लोट् : भू+ल् । तिप्, शप्, गुण तथा अव् आदेश आदि कार्य लट् की तरह होते हैं : भव+ति । **एरुः** से ति के इकार को उकारादेश : **भवतु** । आशिष् अर्थ में **आशिषि लिङ्-लोटौ** से लोट् । शेष प्रक्रिया विध्याद्यर्थक लोट् के 'भवतु' आदि की तरह : भव+तु । **तु-ह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्** से आशिष् अर्थ वाले 'तु' को 'तात्' सर्वादेश :

---

1. च० क०, पृष्ठ 448 : **न चाट एव पित्त्वातिदेशवैयर्थ्यम् । जुहवाव जुहवामेत्यत्राटः पित्त्वविधानसामर्थ्याद् गुणप्रवृत्तेः फलत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् ।** इससे सिद्ध होता है कि आट् में गुण के प्रति परनिमित्तत्व शास्त्रदृष्ट्या अपेक्षित है ।

2205 अनद्यतने लङ् (3.2.111)—अनद्यतन-भूतार्थ-वृत्तेर्धातोर्लङ्

सप्तम लकार : अनद्यतन भूत में लङ्

2205 अनद्यतन से रहित भूतकाल की क्रिया अर्थ में वृत्ति (प्रयोग) वाले

भवतात् । **झलां जशोऽन्ते** से त् को द् आदेश : **भवताद्** । **वाऽवसाने** से द् को विकल्प से त् : **भवतात्** । **भवताम्**—पूर्ववत् लोट्, उसे तस्, शप्, गुण आदि : भव+तस् । **लोटो लङ्वत्** से तस् को लङ्वद्भाव होने पर **तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः** से तस् को ताम् आदेश : भव+ताम् । ताम् के अन्त्य हल् म् की **हलन्त्यम्** से प्राप्त इत्संज्ञा का निषेध **न विभक्तौ तु-स्माः** से होता है : भवताम् । **भवन्तु**—झि में **झोऽन्तः** से अन्तादेश विशेष, शेष प्रक्रिया 'भवतु' की तरह । **भव**—लोट्, सिप्, गुणादि लट् की तरह : भव+सि । **सेर्ह्यपिच्च** से सि को हि आदेश : भव+हि । विध्याद्यर्थ में **अतो हेः** से हि का लोप : **भव** । आशिष् अर्थ में भव+हि स्थिति में **तु-ह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्** से हि को तात् सर्वादेश, जश्त्व, चर्त्व पूर्ववत् : **भवतात्, भवताद्** । **भवतम्, भवत**—थस्, थ में प्रक्रिया भवताम् की तरह । **तस्थस्थ०** से थस् को तम् और थ को त आदेश विशेष । **भवानि**—लोट्, मिप्, गुण आदि कार्य लट् की तरह : भव+मि । मि को **तस्थस्थमिपां०** से प्राप्त अम् आदेश को बाध कर **मेर्निः** से नि : भव+नि । **आडुत्तमस्य पिच्च** से नि के आदि में अनुदात्त आ का आगम : भव+आनि । **आटश्च** से शप् के अ तथा आट् के आ को वृद्धि एकादेश : भवानि । **भवाव, भवाम**—भवावस्, भवामस् की प्रक्रिया भवानि की तरह । **नित्यं ङितः** से स् का, लोप भवाव, भवाम ।। 16 ।।

2205 **अनद्यतने** 7.1 **लङ्** 1.1 (3.2.111)—प्रत्ययः 1.1 (3.1.1), परश्च 1.1 (2) धातोः 5.1 (3.1.91), भूते 7.1 (3.1.84)—अनद्यतने 7.1 भूते 7.1 धातोः 5.1 परः 1.1 लङ् 1.1 प्रत्ययः 1.1 (भवति) । अनद्यतन भूत में (वर्तमान) धातु से परे लङ् प्रत्यय (होता है) ।

'अनद्यतने' में बहुव्रीहि है, यह लिट् तथा लुट् के सूत्रों पर कहा जा चुका है । अतः 'अद्यतन' जिसमें विद्यमान नहीं है, वह 'अनद्यतन' है । इसके फलस्वरूप अद्यतन, व्यामिश्र, सामान्य भूत तथा आतिदेशिक भूतवत् काल अर्थ में लङ् नहीं होगा । भूत-विशेषाप्रतिपादक 'भूत' शब्द का प्रयोग करके किये भूतवद्भाव से **सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः** (प० 110) से भूत-सामान्यवद्भाव ही होता है । अतः इसमें लङ्, लिट् नहीं होते । हाँ, लुङ् तथा निष्ठा (क्त, कतवतु) हो सकते हैं । 'अद्यतन' में भी मुहूर्त, घटी, पलाद्यात्मक अद्यतन व्यपदेशिवद्भाव से रहता है, अतः अद्यतन में लङ् नहीं प्राप्त होता ।

स्यात्। 2206 लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः (6.4.71)—एषु परेष्वङ्गस्याडागमः धातु से परे लङ् हो। 2206 लुङ्, लङ् तथा लृङ् परे होने पर (पूर्ववर्ती) अंग को अट्

भगवान् भाष्यकार ने यहाँ एक वार्तिक स्वीकार किया है, काशिकाकार ने भी उसे दिया है : **परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुदर्शनविषये** (इन्द्रियातिक्रान्त तथा लोक में प्रसिद्ध किन्तु प्रयोग करने वाले की अनुभूति का विषय होने पर धातु से लङ् होता है। अर्थात् जिसके सम्मुख वाक्य का प्रयोग हो रहा है, उन्होंने उस घटना को नहीं देखा है, किंतु प्रयोग करने वाला उसे देख सकता है, साथ ही लोक में भी वह घटना प्रसिद्ध है, तब उस वाक्य की क्रिया में लङ् का प्रयोग होगा)। भाष्यकार ने अपने समय का उदाहरण दिया है—**अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्** (म०भा० 3.2.111)। अर्थात् यवन (दिमित्रियस्) ने साकेत (अयोध्या के निकटस्थ, कौशल जनपद की राजधानी) पर घेरा डाला है। माध्यमिका (चित्तौड़ से छह मील पर स्थित नगरी) पर घेरा डाला है। अथवा **नाथूरामो गोडसेर्महात्मगान्धिकमहन्** (ना० रा० गोडसे ने महात्मा गाँधी को मार डाला)। यहाँ परोक्षभूत होने से प्राप्त लिट् को बाध कर लङ् किया है। किंतु 'राम ने रावण को मारा' इत्यादि प्रयोगों में लिट् ही होगा : **जघान रावणं रामः।**

2206 **लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु** 7.3 (इ० द्व०), **अट्** 1.1, **उदात्तः** 1.1 (6.4.71)—अङ्गस्य 6.1 (1)—लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु, (परेषु पूर्वस्य) अङ्गस्य अट् उदात्तः। लुङ् आदि परे रहते अंग को अट् आगम सूत्रान्तर से विहित नहीं है, अतः अट् विधेय है। **आगमा अनुदात्ताः** (प०) नियम से प्राप्त अनुदात्तत्व का बाध करने के लिये 'उदात्तः' दिया है। अतः यह भी विधेय है। **अचश्च** (1.2.28) से अच् को ही उदात्तत्व का विधान होता है अट् के शेष अच् को नहीं। लुङ्, लङ् तथा लृङ् पर रहते (पूर्ववर्ती) अङ्ग को (उसके आदि में) 'अ' आगम होता है।

लुङ् आदि धातु से परे विहित हैं, अतः धातु ही अङ्ग है। धातु को यह अट् का आगम कब होता है, इस पर दो मत हैं—

(क) लुङ् आदि विशेषपरक अङ्ग को विहित ल् मात्र के आदेश तिबादि अन्तरङ्ग हैं। वह्वपेक्षी होने से तथा प्रत्ययापेक्षी अङ्ग की अपेक्षा करने से अट् बहिरङ्ग है। अतः अट् को बाध कर पहले तिबादि होते हैं। फिर **शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यः** (प० 44) से अट् अनित्य तथा शप् **कृताकृतप्रसंगि यत्तन्नित्यम्** (प० 43) से नित्य है।[1]

---

1. भाव यह है कि अट् अंग को विहित है। कृताकृतप्रसंगित्वेन यदि अट् को नित्य मानें, तो (1) यदि शप् करने पर करें, तो विकरणान्त अंग को अट् होता है, और

अतः अट् से पूर्व विकरण होता है फिर विकरणान्त अंग को स्थानिवद्भाव से लुङादित्वापन्न 'ति' परे रहते अट् होता है।[1]

(ख) **असिद्धवदत्राभात्** (6.5.22) और **न माङ्योगे** (74) पर भगवान् भाष्यकार ने मतान्तर के रूप में इस सूत्र में द्विलकारवान् निर्देश माना है।[2] भैरव मिश्र(च०क०) के मत में उनका आशय यह है कि अष्टाध्यायी में **मयतेरिदन्यतरस्यांल्लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः** संहितापाठ[3] है, और यहाँ लुङ् से पहले जो अतिरिक्त ल् है, वह केवल सन्धि के कारण ही नहीं है, अपितु सूत्रकार यह सिद्ध करना चाहते हैं कि **ल्लुङ्लङ्लृङ्क्षु अट्**, अर्थात् लकाररूप में अवस्थित लुङादि परे रहते अङ्ग को अट् होता है, न कि स्थानिवद्भाव से निष्पन्न लुङ् आदि परे रहते।

यहाँ नागेशभट्ट ने ल० श० शे में एक शङ्का और उसका उत्तर यों दिये हैं—

प्रश्न : अकरोत् इत्यादि में अ+कृ+ल् स्थिति में तिप् तथा 'उ' करने पर अ+कृ+उ+त् स्थिति होने पर **सति शिष्टस्वरो बलीयान्** नियम से विकरण-स्वर (उ के उदात्तत्व) के बलवान् होने के कारण **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (6.1.158) से अट् अनुदात्त ही हो जायेगा। अतः लावस्था में अट् सदोष है।

उत्तर : प्रस्तुत सूत्र में 'उदात्तः' स्वरित है। फलतः यह सूत्र अधिकारसूत्र है। यह अनुवृत्तिपरक अधिकार नहीं है, अपितु **अधिकः कारः=अधिकारः** (अनुवृत्ति से अधिक कार्य) अर्थ है[4], और वह अधिक कार्य बलीयस् सतिशिष्टस्वर को भी बाध कर उदात्त का होता है।

---

(2) यदि शप् करने से पूर्व करें, तो धातु-मात्र अंग को अट् होता है। अतः अट् शब्दान्तर को प्राप्त होता है। जब कि शप् धातु से परे होता है, न कि शब्द को। अतः शप् शब्दान्तर को प्राप्त नहीं है।

1. का०, न्या० एवं ल० श० शे०।
2. प्रकृत सूत्र पर म० भा० : **अथवा 'ल्लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वट्' इति द्विलकारको निर्देशः— लुङादिषु लकारादिषु योऽजादिरिति।** 6.4.22, वा० 5, पर भाष्य भी देखें।
3. यहाँ **'ल्लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वट्'** पाठ भी हो सकता है। पहला 'ल्' तो सन्धि के कारण भी हो सकता है, पर दूसरे और तीसरे ल् का और कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।
4. 1.3.11, वा० 7, पर म० भा० में 'अधिकार' का यह अर्थ भी दिया गया है : **न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः ? वक्तव्यश्च। किं प्रयोजनम् ? स्वरितेनाधिकारगतिर्यथा विज्ञायेत—अधिकं कार्यम्, अधिकः कारः।**

भैरवमिश्र का कथन है कि इन दोनों पक्षों में फल में कोई अन्तर नहीं है। 'लावस्था में अट्' के पक्ष में अ+पा' को 'पिब' आदेश **निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति** (प० 13) से नहीं होगा (—च० क०)।

'उदात्तः' कहने का प्रयोजन : उदात्त आदि स्वर **अचश्च** (1.2.28) परिभाषा से अचों का गुण या धर्म हैं। स्वरों के चिह्न भी वेद की विभिन्न शाखाओं में विभिन्न प्रकार से संकेतित हैं।[1] भगवान् सूत्रकार ने (1) अष्टाध्यायी का सस्वर (त्रैस्वर्य में) उपदेश किया था, यह एक पक्ष है, (2) एकश्रुति में किया था, यह दूसरा पक्ष है।[2] पहला पक्ष ही विद्वानों को स्वीकृत है।[3] न्यासकार ने यहाँ एक प्रश्न करके उसका उत्तर यों दिया है[4] : 'अट्' को उदात्तचिह्न देकर ही जब काम चल सकता है, तो प्रत्यक्ष 'उदात्तः' शब्द का प्रयोग करके ग्रन्थगौरव क्यों किया ? न केवल यहीं, अपितु **अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः** (7.1.75), **चतुरनडुहोरामुदात्तः** (7.1.98), तथा **यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च** (3.4.103) इत्यादि अनेक सूत्रों में भी दिया है। इसका उत्तर यह है कि 'उदात्तः' पद अष्टाध्यायी में साभिप्रायक है : 'उदात्तः' पद यह ज्ञापन करता है कि अष्टाध्यायी में गुण भेदक नहीं होते—**अभेदका गुणाः** (प० 118)। अर्थात् 'व्यक्ति में सङ्केत होता है', इस पक्ष में यत्न न होने पर स्वरूप से उच्चारित गुण (वर्णधर्म) विवक्षित नहीं होता।[5] इसका फल यह होता है कि **वृद्धिरादैच्** (1.1.1), **अदेङ्गुणः** (1.1.2) आदि में 'उदात्त' आदि शब्द दिये विना संहितापाठ के स्वर से केवल उन स्वरों वाले 'आदेच्' तथा 'अदेङ्' ही नहीं लिए जायेंगे, अपितु आदैज्मात्र तथा अदेङ्मात्र ही। हाँ, जहाँ स्वरों का 'उदात्त' आदि शब्द से साक्षात् कथन होगा, वहाँ वे स्वर भेदक होंगे। अर्थात् केवल वे पठित स्वर ही लिए जायेंगे, सभी नहीं।

---

1. मैक्डानल् (अ० आ०), वैदिक ग्रामर, परिशिष्ट 3.
2. प० शे० (प० 118) : **'सहस्य स उदात्तो निपात्यते' इत्यादि भाष्यं त्वेकश्रुत्याऽष्टाध्यायीपाठे क्वचिदुदात्ताद्युच्चारणं विवक्षाऽर्थमित्याशयेन। 'त्रैस्वर्येण पाठ' इति पक्षे तु ज्ञापकपरं भाष्यमिति कैयटादयः।**
3. वही : **सम्पूर्णाऽष्टाध्याय्याचार्येणैकश्रुत्या पठितेत्यत्र न मानम्।**
4. प्रकृत सूत्र पर न्यास : **एतच्चोदात्त-वचनम् 'अभेदका इह शास्त्रे गुणा' इत्यस्यार्थस्य ज्ञापकम्। कथं कृत्वा ? यदि च भेदका गुणाः स्युः ? तदोदात्तयुक्तेनैवाटं समुच्चारयेत्। पश्यत्याचार्यः 'अभेदका इह शास्त्रे गुणा' इति। यतः स्वरान्तर-निवृत्त्यर्थम् 'उदात्त'-वचनं कृतवान्। किमेतस्य ज्ञापनेन प्रयोजनम् ? वृद्धि-रादैच्' (1.1.1) इत्यत्रोदात्तादिभेद-भिन्नानामपि वृद्धि-संज्ञा सिद्ध्यतीति।**
5. प० शे० (प० 118) : **असति यत्ने 'स्वरूपेणोच्चारितो गुणो न विवक्षित' इत्यर्थः।**

स्यात्, स चोदात्तः । 2207 इतश्च (3.4.100)—ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत् तदन्तस्य लोपः स्यात् । अभवत्, अभवताम्, अभवन्, अभवः, अभवतम्, अभवात, अभवम्, अभवाव, अभवाम ।। 17 ।।

का आगम हो, और वह उदात्त हो । 2207 ङित् ल् का जो इकारान्त परस्मैपद, वह जिसके अंत में है, उसका लोप हो ।। 17 ।।

2207 इतश्च 6.1 (3.4.100)—लस्य 6.1 (77), इतश्च लोपः 1.1 परस्मैपदेषु (97), नित्यं 2.1 ङितः 6.1 (99) : ङितः लस्य परस्मैपदेषु इतश्च लोपः नित्यम् (भवति) । 'परस्मैपदेषु' पद षष्ठ्यन्त में परिणत होता है और 'इतः' का विशेष्य होता है । फलतः 'इतः' में तदन्तविधि होती है । लोप का विधान 'इतः' में षष्ठी का निर्देश करके किया गया है । अतः यहाँ **अलोऽन्त्यस्य** (1.1.52) परिभाषा भी उपस्थित होती है : ङितः लस्य इतः (इदन्तस्य) परस्मैपदस्य (अन्त्यस्य अलः) नित्यं लोपः (भवति) । ङित् ल् के आदेश इदन्त (ह्रस्व इकारान्त) परस्मैपद के (अन्तिम अल्) का लोप नित्य होता है ।

'परस्मैपदेषु' की विभक्ति पर विचार : काशिका तथा प्रक्रियाकौमुदी में 'परस्मैपदेषु' को यथान्यास सप्तम्यन्त ही रखा है । नागेश के अनुसार इसमें निम्नलिखित दोष आते हैं—

'परस्मैपदेषु' में यदि (1) पर-सप्तमी है, तो परस्मैपदपरक इकार तो 'भवेत्' इत्यादि में इय का इत् ही मिल सकता है, परस्मैपदों के इत् का अभवत्, भूयात्, अभूत् तथा अभविष्यत् इत्यादि में तो लोप हो ही नहीं सकेगा । अतः पर-सप्तमी उचित नहीं है । यदि (2) विषय-सप्तनी मानें, जैसा कि काशिका ने माना है, तो अभवत् इत्यादि में इकार के लोप के साथ-साथ भवेत् इत्यादि में इय के इकार का लोप भी प्राप्त होता है । क्योंकि इय **यदागमाः**० (प० 12) से 'परस्मैपद'-पद-ग्राह्य यासुट् का आदेश होने से परस्मैपद में विद्यमान है । अतः विषय-सप्तमी भी उचित नहीं है ।

इस स्थिति में दो विकल्प बचते हैं : (1) विषय-सप्तमी मानते हुए 'अन्तस्य' पद का अध्याहार करके 'परस्मैपदो में विद्यमान अन्त के इत् का लोप होता है', यह अर्थ किया जाए; अथवा (2) उपर्युक्त रीति से 'परस्मैपदेषु' को 'इतः' के अनुकूल षष्ठी ए० व०, 'परस्मैपदस्य' में परिणत किया जाए । इन दोनों विकल्पों से द्वितीय ही शास्त्र के अधिक अनुकूल है (—वृ० श० शे०) ।

√भू+लङ् की प्रक्रिया : √भू से अनद्यतने लङ् से लङ् : भू+ल् । तिप् अट् की अपेक्षा अन्तरंग है, अतः पहले तिप् आदेश : भू+ति । **इतश्च** से इ का लोप : भू+त् । अट् को नित्यत्वाद् बाध कर पहले शप्, गुणादिकार्य : भव+त् । **लुङ्-लङ्-लृङ्-**

2208 विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ् (3.3.161)—एष्वर्थेषु द्योत्येषु, वाच्येषु वा लिङ् स्यात्। (1) विधिः=प्रेरणम्, भृत्यादे-

अष्टम लकार : क. विधि आदि अर्थों में लिङ्

2208 (1) आदेश, (2) न्यौता, (3) अनुमति, (4) विनती, (5) प्रश्न तथा (6) याचना में—ये अर्थ जब (i) व्यंजना से कहे जायें, अथवा (ii) अभिधा से, तब—लिङ् हो। (1) विधि=प्रेरणा देना, नौकर आदि नीची कोटि के व्यक्ति को (किसी काम पर) लगाना होता है। (2) निमन्त्रण=नियुक्त करना, अवश्य कर्त्तव्य

क्ष्वड्दात्तः से 'भव' अङ्ग के आदि में अट् का आगम : अभवत्।

लावस्था में अड्-विधान (पृ० 13-1-132) के पक्ष में स्वर की प्रक्रिया में ही अन्तर है[1], फल में कोई भेद नहीं है।

तस्, थस्, थ तथा मिप् में **तस्थस्थमिपां०** से क्रमशः ताम्—अभवताम्, तम्—अभवतम्, त—अभवत तथा अम्—अभवम्। वस् मस् में **नित्यं ङितः** से सकारलोप—अभवाव, अभवाम। झि में अन्तादेश होने पर **इतश्च** से इत् का लोप : अभवन्त्। **संयोगान्तस्य लोपः** से त् का लोप : अभवन्। प्रातिपदिक संज्ञा के अभाव में **न लोपः प्रातिपादिकान्तस्य** से न् का लोप नहीं होता। सिप् में अभवसि, इत् का लोप : अभवस्। **स-सजुषो रुः** से स् को रु : अभवर्। विसर्ग : अभवः। शेष प्रक्रिया यथा-योग्य पूर्ववत्। अभवत्, अभवताम्, अभवन्; अभवः, अभवतम्, अभवत; अभवम्, अभवाव, अभवाम ॥ 17 ॥

2208 **विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु** 7.3 **लिङ्** 1.1 (3.3.161)—प्रत्ययः 1.1 (3.1.1), परश्च 1.1 (2), धातोः 5.1 (91)—विधि-निमन्त्रणामन्त्रणा-धीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु धातोः परः 1.1 लिङ् 1.1 प्रत्ययः 1.1 (भवति)।

'विधि·····प्रार्थनेषु' इतरेतरयोगद्वन्द्वान्त शब्द का सप्तमी बहुवचन का रूप है। 'विधि' इत्यादि अर्थों में धातु से परे लिङ् प्रत्यय होता है। कर्तृ, कर्म, सङ्ख्या, काल, प्रकार, लकारों का (i) द्योत्यार्थ होता है, यह एक पक्ष है तथा (ii) वाच्यार्थ होता है, यह दूसरा, यह **वर्तमाने लट्** पर (पृष्ठ 15 में) कहा जा चुका है। इसी लिए दीक्षितजी ने 'विधि आदि अर्थों के (i) द्योत्य होने पर, या (ii) वाच्य होने पर' लिखा है। वस्तुतः तो विधि आदि को लिङ् का वाच्यार्थ ही मानना उचित है, यह पहले (पृष्ठ 16 में) कहा जा चुका है।

---

1. बलीयान् सती शिष्टस्वर से प्राप्त अट् के अनुदात्तत्व को बाध कर इस विशेष विधान से उदात्तत्व होता है।

निकृष्टस्य प्रवर्तनम्। (2) निमन्त्रणं=नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्। (3) आमन्त्रणं=कामचारानुज्ञा। (4) अधीष्टः=

श्राद्धनिमित्तक भोजन जैसे कार्य में दौहित्र इत्यादि को न्योतना होता है। (3) आमन्त्रण=इच्छा के अनुकूल कार्य करने की अनुमति देना होता है। (4) अधीष्ट=किसी

'विधि' आदि का अर्थ : (1) प्रेरणा करने वाले से नीचे तबके के किसी व्यक्ति को कार्यविशेष करने के लिए प्रवृत्त करना, अर्थात् आदेश देकर किसी काम में लगाना, विधि होता है। (4) आदर करते हुए किसी कार्य में प्रवृत्त करना 'अधीष्ट' कहलाता है। अतः (1) 'विधि' 'आज्ञा' का पर्याय है, एवम् (4) 'अधीष्ट' 'अभ्यर्थना' का। आज्ञा अपने से छोटे को दी जाती है, तो अभ्यर्थना अपने से श्रेष्ठ से की जाती है। जैसे उपाध्याय (अध्यापक) का उचित सत्कार करते हुए उन्हें 'आप बच्चे को पढ़ायें' (माणवकम्भवानध्यापयेत्) इस प्रकार अभ्यर्थना करना अधीष्ट है। (2) 'निमन्त्रण' किसी को नियुक्त करना, अर्थात् न्योतना, होता है। जैसे भोजन के लिए प्रत्येक भूखे को बुलाना पुण्यकारक होते हुए भी शास्त्र-वचन के आधार पर, अथवा ऐरे-गैरे भूखे व्यक्ति की अपेक्षा शमदमादि चरित्रबल, विद्याबल और तपोबल से युक्त किसी ब्राह्मण को बुलाना और उस पर भी **त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः, कुतपस्तिलः** (म० स्मृ० 3.235) इत्यादि शास्त्र-वचन से दौहित्र को विशेष रूप से सत्पात्र समझ कर नियुक्त करना 'निमन्त्रण' होता है। (3) 'आमन्त्रण' क्रिया करने की सलाह देना है, करना/न करना आमन्त्रित की इच्छा पर निर्भर है। विवाहादि तथा अन्य पार्टी इत्यादि के अवसरों पर 'निमन्त्रण-पत्र' कह कर भेजे जाने वाले पत्रों (Invitation Cards) को 'आमन्त्रण-पत्र' कहना उचित है। (4) 'अधीष्ट' तथा (3) 'निमन्त्रण' में अंतर यह है कि अधीष्ट व्यक्ति यदि वह क्रिया न करे, तो कोई प्रत्यवाय नहीं होता; परन्तु निमन्त्रित व्यक्ति के न करने पर प्रत्यवाय होता है। (5) कार्य करने के लिए अनुमति माँगना, अथवा कार्य की कर्त्तव्या-कर्त्तव्यता पर विचार-विमर्श करना 'सम्प्रश्न' होता है। जैसे—'क्या राम व्याकरण पढ़े ?' (अपि रामो व्याकरणमधीयीत ?) अथवा 'राम व्याकरण पढ़े, कि तर्क ? (रामो व्याकरणं वाऽधीयीत, तर्कं वा ?)। (6) प्रार्थना किसी से कोई पदार्थ अपने लिए माँगना, अर्थात् याचना करना, है। जैसे—'एक पैसा दे दे बाबू' (एकं मे पणकं दद्याः)।

वस्तुतः ये सब 'प्रवर्तना' (प्रवृत्त करना) के ही सूक्ष्म रूप हैं। अतः 'प्रवर्तना अर्थ में लिङ् होता है', इतना कहना ही पर्याप्त है। वास्तव में तो 'प्रवर्तना' भी बड़ा शब्द है। 'विधौ लिङ्' इतना ही बहुत है। व्यापक विधि अर्थ अपनी किन-किन अवान्तर क्रियाओं में रहता है, यह बतलाने को, यानी शिष्य-बुद्धि-वैशद्यार्थ, 'विधि',

सत्कारपूर्वको व्यापारः। 'प्रवर्तनायां लिङ्' इत्येव सुवचम्। चतुर्णाम्पृथगुपादानम्प्रपञ्चार्थम्।

को कार्य में सत्कार करते हुए लगाना होता है। 'प्रवर्तना (प्रवृत्त करना) अर्थ में लिङ्', इतना ही कथन अच्छा है। चारों (अर्थों) का अलग अलग ग्रहण स्पष्टता के लिए है।

'निमन्त्रण' आदि को सूत्र में अलग-अलग दिया है।[1]

समर्थ सूत्रकार ने केवल उपर्युक्त उद्देश्य से ही इतना बड़ा सूत्र बनाया है, यह श्रद्धेय नहीं लगता। वस्तुतः प्रतीत तो यह होता है कि किसी प्राचीन प्रसिद्ध व्याकरण में यह सूत्र इस रूप में, या इसके लगभग, रहा हो। उस आचार्य के प्रति श्रद्धा निवेदित करने को भगवान् पाणिनि ने इस सूत्र को ज्यों-का-त्यों अपने व्याकरण में रख लिया हो।

लिङ् और णिच् से प्रकाशित प्रवर्तनाओं में अन्तर : प्रवर्तना (प्रयोजना) अर्थ में ही धातु से णिच् भी होता है। लिङ् तथा णिच् में अंतर यह है कि लिङ् में प्रवर्तना वर्तमान-कालीन प्रतीत होती है, तथा धातु का अर्थ क्रिया भविष्यत्कालिक प्रतीत होती है : **रामो गच्छेत्** (राम जाए) वाक्य में राम का जाना तो है भविष्यत्कालिक, वर्तमान तथा भूत नहीं है, किंतु प्रवंतना हो रही है वर्तमान काल में। णिच् में, इसके विपरीत, प्रयोज्य तथा प्रयोजक दोनों की क्रियाएँ एक-काल-वर्तिनी ही होती हैं। जैसे **रामः श्यामं गमयति** (राम श्याम को भेजता है) वाक्य में श्याम का जाना तथा राम का उसे प्रयोजित करना (भेजना) दोनों क्रियाएँ वर्तमानकालिक ही हैं।[2]

---

1. ल० म० : **अत एव भगवान्पाणिनिः 'विधि-निमन्त्रण०' इति सूत्रे 'विधि'-पदार्थं तद्विशेष-निमन्त्रणादिभिर्विवृतवान्।·····उक्तं च हरिणा—**
   अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूतं च तेष्वपि।
   तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया ?॥
   न्याय-व्युत्पादनार्थं वा, प्रपञ्चार्थमथापि वा।
   विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतम्॥
   ये दोनों श्लोक वाक्यपदीय के उपलब्ध संस्करणों में विद्यमान नहीं हैं। इन्हें कौण्ड भट्ट ने वैयाकरणभूषणसार में 'तदुक्तं' कह कर उद्धृत किया है। डॉ० कपिलदेव शास्त्री ने वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा, लिङर्थनिर्णय, कुरुक्षेत्र वि० वि० प्रकाशन, पृष्ठ 257, में इसे भट्टोजिदीक्षित की कारिका के रूप में बताया है। इस का प्रमाण अन्वेष्य है।
2. च० क०, पृष्ठ 451. अधिक के लिए म० भा० 3.1.26 देखें।

2209 यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (3.4.103)—लिङः परस्मैपदानां

2209 लिङ् में परस्मैपदों को यासुट् (आगम) हो तथा वह उदात्त और ङित्

भर्तृहरि ने इसे भिन्न रूप से कहा है : जब वर्तमान कर्तृत्वरहित, अथवा क्रिया-रहित द्रव्य मात्र की प्रवर्तना अभिहित हो, तब लोट्, लिङ् प्रत्यय किए जाते हैं; किंतु जब किसी वर्तमान क्रियासहित (अर्थात् किसी क्रिया के कर्ता) की प्रवर्तना होती है, तब वहाँ णिच् होता है।[1] जैसे—**रामो गच्छेदित्याह वसुमित्रः** (वसुमित्र ने कहा : राम जाए) वाक्य में वसुमित्र के कथन के समय राम जा नहीं रहा; उसे जाने को कहा जा रहा है। इसके विपरीत **वसुमित्रो रामं गमयति** (वसुमित्र राम को भेजता है) वाक्य में वसुमित्र की प्रवर्तना के समय राम जा रहा है, सक्रिय है : वसुमित्र सक्रिय राम की प्रवर्तना कर रहा है। यह भेद है।

'आज्ञा' अन्य-कर्तृक होती है : अपनी क्रिया में स्वयं को आज्ञा देना नहीं बनता। अतः उत्तम पुरुष 'विधि' (आज्ञा) अर्थ संभव नहीं है। केवल मध्यम तथा प्रथम ही हो सकते हैं (—च० क०, पृष्ठ 451)।

2209 यासुट् परस्मैपदेषु उदात्तः, ङित् च (3.4.103)—लिङः 6.1 सीयुट् (102), धातोः 5.1 (3.1.91), प्रत्ययः 1.1 (1) परः 1.1 (2): धातोः 5.1 लिङः 6.1 परस्मैपदेषु 7.3 यासुट् 1.1 प्रत्ययः 1.1 परः 1.1, उदात्तः 1.1, ङित् 1.1 च।

'यासुट्' में 'ट्' **हलन्त्यम्** से इत् है तथा 'उ' उच्चारणार्थ है। अतः प्रत्यय 'यास्' है। 'परस्मैपदेषु' पद पर-सप्तम्यन्त है या विषय-सप्तम्यन्त। 'लिङः' स्थान-षष्ठ्यन्त है। 'यासुट्' टित् होने से आद्यवयव आगम है। (1) आगम चूँकि षष्ठ्यन्त से किए जाते हैं[2], अतः यहाँ सप्तमी को षष्ठी के अर्थ में ही समझना चाहिए। अथवा (2) **परस्मैदेषु (विषयभूतेषु सत्सु) लिङो यासुट्** अन्वय कर लेना चाहिए।[3] इस पक्ष में सप्तमी को षष्ठी में बदलना आवश्यक नहीं है। टित् आगम आद्यवयव होते हैं। अतः यहाँ 'परः' की अनुवृत्ति बाधित समझनी चाहिए।

पक्ष में भेद से अन्वय तथा अर्थ यों होगा—(1) धातोः (परस्य) लिङः

---

1. **द्रव्यमात्रस्य तु प्रैषे पृच्छयादेर्लोड् विधीयते।**
   सक्रियस्य प्रयोगस्तु यदा स विषयो णिचः॥ वा० प० 3.7.126
2. सि० कौ०, परिभाषा प्र० : **आद्यन्तौ टकितौ** (1.1.46)—**टित्कितौ यस्योक्तौ, तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः।**
3. काशिका तथा न्यास में विषयसप्तमी ही मानी है। माधवीय धातुवृत्ति तथा प्रक्रियाकौमुदी में षष्ठ्यंत में परिणत किया गया है।

यासुडागमः स्यात्, स चोदात्तो, ङिच्च । ङित्त्वोक्तेर्ज्ञायते क्वचिदनुबन्धकार्येऽपि

हो । ङित्त्व को कहने से जाना जाता है कि कहीं पर अनुबंध कार्य में भी 'अल्विधि में नहीं' यह निषेध प्रवृत्त होता है । श्ना को किए शानच् (आदेश) के श् का इत्संज्ञक

(=लिङादेशानाम्) परस्मैपदेषु (परस्मैपदानाम्) यासुट् प्रत्ययः, (स च) उदात्तो ङिच्च । अर्थात् धातु से परस्थ लिङ् के (आदेश) परस्मैपदों को यासुट् प्रत्यय होता है; (वह) उदात्त और ङित् होता है । (2) धातोः (परेषु) परस्मैपदेषु (विषयभूतेषु सत्सु) लिङः यासुट् प्रत्ययः, उदात्तो ङिच्च । अर्थात् धातु से परे होने वाले परस्मैपदों के विषय में जो लिङ् है, उसे यासुट् प्रत्यय होता हैं; (वह) उदात्त और ङित् होता है । इस पक्ष में लावस्था में ही यासुट् होता है ।

'उदात्तः' का प्रयोजन : ऊपर प्रदर्शित के अनुसार यहाँ **आद्युदात्तश्च** (3.1.3) का भी अधिकार है । उसके रहते पुनः 'उदात्तः' कहने से सिद्ध होता है कि **आगमा अनुदात्ताः** (सूत्रकार की दृष्टि में आगम प्रत्यय अनुदात्त हैं) परिभाषा ज्ञापित होती है ।

यासुट् को ङित् करने का प्रयोजन : पूर्वपक्ष (1)—यहाँ यासुट् लिङ् के आदेश परस्मैपद प्रत्ययों के आगम के रूप में विहित है, अतः **यदागमास्तद्गुणीभूताः०** (प० 12) से यह परस्मैपदों का अवयव एवं परस्मैपद-समान-धर्मा है । परस्मैपद प्रत्यय ङित् लिङ् के स्थान में हैं, एवं **स्थानिवदादेशः०** से स्थानिवद्भाव (लिङ्वद्भाव) के कारण ङित् हैं । फलतः यासुट् भी स्वतः ही ङित् है, तब साक्षात् ङित् करना पौनरुक्त्य दोष-दूषित होने से त्याज्य है ।

उत्तर पक्ष—तिबादि प्रत्यय **लस्य** (3.4.77) सूत्र के द्वारा ल् इस अल् (वर्ण) के स्थान में विहित हैं, अतः अल्विधि हैं । अतः **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** सूत्र से यहाँ स्थानिवद्भाव शक्य नहीं है । अतः तिबादि ङित् नहीं है, और अङित् यासुट् को ही यहाँ ङित् किया गया है ।

पूर्व-पक्ष (2)—**घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (6.4.66) से कित् ङित् प्रत्यय परे रहते 'ई' का विधान सूत्रकार ने किया है तथा **न ल्यपि** (9.4.69) से इसका निषेध किया है । ल्यप् कित् क्त्वा का आदेश है । वहाँ सिद्धांततः स्थानिवद्भाव से ल्यप् को कित् मान कर ईत्त्व की प्राप्ति में निषेध होता है । **अनल्विधौ** पर्युदास से स्थानिवद्भाव का निषेध होने पर यहाँ अल्विधि होने से ल्यप् कित् नहीं हो सकता । तब कित् पर न होने से **'घु-मा-स्था-गा०'** से ईत्त्व प्राप्त ही नहीं है, तो सूत्रकार ने निषेध किसका किया ? अतः **न ल्यपि** निषेध से यह सिद्ध होता है कि ईत्त्व प्राप्त है और वह सम्भव तभी है, जब ल्यप् कित् हो । ल्यप् का कित् होना तब सम्भव है, जब **अनल्विधौ** पर्यु-

दास निषेध न कर सके। अर्थात् **न ल्यपि** से सूत्रकार की यह इच्छा विज्ञापित होती है कि अनुबंध कार्य में यह (अनल्विधौ) पर्युदास लागू नहीं होता। फलतः यहाँ ङित्त्व अबाधित ही है।

उत्तर-पक्ष—न ल्यपि का विज्ञापन तो ठीक है, पर यहाँ भी तो वही समस्या है : सूत्रकार ने **ङिच्च** अपने विज्ञापन के होते हुए भी दिया है : अतः इसका भी कोई प्रयोजन तो होना ही चाहिये (जिस प्रकार **न ल्यपि** व्यर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार **ङिच्च** पद भी व्यर्थ नहीं हो सकता : इससे आचार्य का यही हार्द व्यक्त होता है कि **न ल्यपि** का विज्ञापन सब जगह लागू नहीं होता, अर्थात् कहीं-कहीं अनुबंध कार्यों में भी **अनल्विधौ** यह पर्युदास लागू होता है : **क्वचिदनुबन्धकार्येष्वप्यनल्विधाविति निषेधः प्रवर्तते**। **न ल्यपि** के विज्ञापन एवम् इस विज्ञापन में क्षेत्रभेद होने से परस्पर-विरोध भी सम्भव नहीं है। यदि कथमपि **न ल्यपि** के विज्ञापन से स्थानिवद्भाव मान भी लिया जाये, तो भी वह स्थानिद्भाव-सम्भव ङित्त्व अप्ति् प्रत्ययों में ही आ सकेगा। पित् प्रत्ययों को तो स्थानिवद्भाव भी ङित् नहीं कर सकता। क्योंकि भाष्यकार ने **हलः इनः शानज्झौ** (3.1.83) पर **ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न**—अर्थात् पित् (स्थानिवद्भाव से) पित् नहीं (हो सकता)—कहा है अतः कम से कम पित् (सिप् तथा मिप्) के आगम यासुट् को ङित् करने को सूत्र में **ङिच्च** देना पूर्वपक्ष की युक्ति के रहने पर भी आवश्यक है ही। जब **ङिच्च** अनिवार्य ही है, तब उपर्युक्त बात भी इससे विज्ञापित होती ही है। यह विज्ञप्ति कोई कपोल-कल्पनामात्र नहीं है। इसमें अन्य सूत्र भी प्रमाण हैं। जैसे कि—**हलः इनः शानज्झौ** (3.1.83) से इना के स्थान में शानच् होता है। यदि आचार्य को स्थानिवद्भाव इष्ट होता, तो यहाँ शानच् को साक्षात् शित् न करके **हलः इन आनज्झौ** के रूप में दे देते। शित् इना के स्थान में शित् शानच् करने से आचार्य का यही मंतव्य स्पष्ट होता है कि आचार्य यहाँ **न ल्यपि** तथा **ङिच्च** के दो विज्ञापनों में से **ङिच्च** के विज्ञापन को अधिक प्रश्रय देते हैं।

पूर्व-पक्ष (3)—ङिच्च के ग्रहण से यह विज्ञापित होता है, यह तो ठीक, पर इसका फल क्या है ?

उत्तर-पक्ष—ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (अ०) का सत्प्रत्ययांत (भविष्यत् काल में विहित शतृ प्रत्यय वाला) रूप स्त्रीलिङ्ग में 'वक्ष्यमाणा' होता है। यहाँ लृट् का आदेश शानच् स्थानिवद्भाव से टित् तथा उगित् दोनों हो जाता है। फलतः यदि पूर्व-पक्ष के दिये विज्ञापन को ही प्रमाण मानें, तो टित् होने से **टिड्ढाणञ्०** (4.1.15) से तथा उगित् होने से **उगितश्च** (4.1.6) से ङीप् प्रत्यय प्राप्त होता है, एवं 'वक्ष्यमाण' का स्त्रीलिङ्ग 'वक्ष्यमाणी' बनना चाहिये। किंतु इस विज्ञापन से टित् तथा उगित् इन अनुबंधों को मानकर होने वाले कार्य (ङीब्विधान) की कर्तव्यता में **अनल्विधौ** निषेध

अनल्विधौ इति प्रतिषेध' इति । श्नः शानचः शित्त्वमपीह लिङ्गम् । 2210 सुट् ति-थोः (3.4.107)—लिङस्तकार-थकारयोः सुट् स्यात् । सुटा यासुण्न बाध्यते, (1) लिङो यासुट्, (2) तकार-थकारयोः सुडिति विषयभेदात् ।

होना भी इस (विज्ञप्ति) में प्रमाण है । 2210 लिङ् के तकार तथा थकार को सुट् (का आगम) हो । सुट् के द्वारा यासुट् बाधित नहीं होता; क्योंकि (1) यासुट् लिङ् को होता है तथा (2) सुट् तकार, थकार को । इस प्रकार दोनों के विषय अलग-अलग हैं ।

के प्रवृत्त होने से शानच् के टित् तथा उगित् न होने से ङीप् की प्राप्ति ही नहीं है । अतः शुद्ध रूप 'वक्ष्यमाणा' (टाबंत) ही बनता है ।

निष्कर्ष : अतः सप्रयोजन तथा प्रमाणसमर्थित होने से **ङिच्च** का यह विज्ञापन पर्याप्त सुपुष्ट है । इस लिये **ङिच्च** पद इस सूत्र में अवश्य-देय है ।

2210 सुट् ति-थोः 6.2 (3.4.107)—लिङः 6.1 सीयुट् (102) : लिङः ति-थोः सुट्—लिङ् के ति और थकार को सुट् होता है ।

'सुट्' विधेय टित् होने से आगम प्रत्यय है । इसमें 'ट्' **हलन्त्यम्** से इत् है; जिसके कारण यह षष्ठ्यंत (आगमी) का आदिम अवयव आगम बनता है । 'उ' उच्चारणार्थक है ।[1] अतः आगम सकारमात्र है ।

'ति-थोः' में 'ति' को यदि सार्थक माना जाए, तो प्रकृत आगम थ् के अतिरिक्त केवल तिप् को होगा, जबकि लक्ष्यानुरोध से तस्, त आताम् के तकार को भी अभीष्ट है । अतः **व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिः०** (प० 1) न्याय से यहाँ भी 'इ' उच्चारणार्थक है ।[2]

'ति-थोः' में षष्ठी और सप्तमी के द्विवचनों का संदेह है । (क) षष्ठी यदि की जाती है, तो लिङ् के आदेशों के सभी तकारों और थकारों को स् का आगम होगा, जो कि लक्ष्यानुरोध से अभीष्ट है । (ख) सप्तमी मानने से (अ) 'ति-थोः' में तदादि-विधि होने से तकारादि ति, तस्, त और थकारादि थस्, थ, थास् को ही स् का आगम होगा, आताम् और आथाम् के तकार और थकार को नहीं । परिणामतः एधिषीयास्ताम्, एधिषीयास्थाम् आदि रूपों में स् उपलब्ध नहीं हो पाएगा । इसके

1-2. सीयुट् और यासुट् में भी 'उ' उच्चारणार्थक ही है । उच्चारण के लिए पाणिनि सामान्यतः प्रथम स्वर 'अ' दिया करते हैं । इन आगमों में 'उ' और 'ति-थोः' में 'इ' देने से प्रतीत होता है कि ये सूत्र कदाचित् पूर्वाचार्यकृत हैं ।

2211 लिङः स लोपोऽनन्त्यस्य (7.2.79)—सार्वधातुक-लिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः स्यात् । इति सकार-द्वयस्यापि निवृत्तिः । सुटः श्रवणं त्वाशीर्लिङि,

2211 सार्वधातुक लिङ् के अन्तिम से भिन्न सकार का लोप हो । इससे दोनों ही सकारों की निवृत्ति हो जाती है । सुट् का श्रवण तो आशीर्लिङ् में, उससे भी अधिक

अतिरिक्त, (आ) लिङ के आदेशों को विहित सीयुट् (3.4.102) तथा यासुट् (103) को प्रकृत सुट् पर होने के कारण बाध लेगा । जबकि षष्ठी मानने पर यह बात नहीं है, क्योंकि सुट् के आगमी तकार और थकार वर्ण हैं, लिङ् तो उनका व्यधिकरण है, और सीयुट् तथा यासुट् लिङ् को ही विहित हैं—सीयुट् के लिये अपेक्षित लिङ् के आदेश परस्मैपदों का लिङ् से अभेद है, जबकि लिङ् के आदेशों के तकार-थकारों में अवयवावयविभाव संबंध है, अतः सुट् के और सीयुट् तथा यासुट् के विषयों में भेद है; तुल्यता नहीं है कि पर कार्य सुट्, पूर्वविहित सीयुट् और यासुट् को[1] विप्रतिषेध के कारण बाध सके ।

'लिङः' में पञ्चमी नहीं हो सकती, क्योंकि उसके पश्चात् कोई 'ति, थ' उपलब्ध नहीं होता । अतः षष्ठी बचती है । इसका संबंध तकार और थकार से है, जो लिङ् के आदेश तिङ् प्रत्ययों के अवयव हैं । अतः लिङ् के आदेश तिङ् अभीष्ट हैं ।

समुच्चित अर्थ यों होगा : लिङः (आदेशानां तिङां सम्बन्धिनोः) ति-थोः सुट् । अर्थात् लिङ् के आदेश तिङों के अवयव तकार और थकारों को स् आद्यवयव होता है ।

2211 : **लिङः** 6.1, **स** 6.1, **लोपः** 1.1, **अनन्त्यस्य** 6.1 (7.2.79)—रुदादिभ्यः सार्वधातुके 7.1 (76) : सार्वधातुके लिङ : अनन्त्यस्य स लोपः—सार्वधातुक में लिङ् के अंतिम-भिन्न स् का लोप होता है ।

'स' लुप्त-षष्ठीक पद है, अन्यथा 'अनन्त्यस्य' का इससे अन्वय कैसे होगा ? इस प्रकार का एक अन्य प्रयोग **न लोपः प्रातिपदिकान्त्यस्य** है, जिसमें 'न' लुप्त-षष्ठीक है । लिङ् का सकार अकारवान् नहीं है । अतः यहाँ 'अ' उच्चारणार्थक है ।

'सर्वधातुके' पद सप्तम्यंत है । तथा यहाँ लिङ् के आदेश तिङ् ही सार्वधातुक

---

1. पूर्वागत सीयुट् की बाधितता का विचार करने से तत्पश्चाद्वर्ती तुल्यधर्मा यासुट् की बाधितता स्वतः आ जाती है । सम्भवतः यही समझ कर काशिकाकार ने यहाँ सीयुट् के ही बाधित न होने की चर्चा की है । दीक्षितजी ने सि० कौ० में अभी यासुट् की ही चर्चा आने के कारण सुट् के द्वारा यासुट् के बाधित न होने की बात कही है । अभिप्रेत वस्तुतः दोनों हैं ।

स्फुटतरं तु तत्राप्यात्मनेपदे । 2212 अतो येयः (7.2.80)—अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य 'या' इत्यस्य इय् स्यात् । गुणो, यलोपः—भवेत् । 'सार्वधातुके' स्पष्ट रूप से तो आशीर्लिङ् में भी आत्मनेपद में होता है । 2212 अत् से परे स्थित सार्वधातुक के अंशभूत 'या' को 'इय्' होता है । गुण, तथा यकार का लोप होते

हैं । अतः यह पद 'लिङः' का विशेषण है और तदनुकूल षष्ठी में परिणतः होता है : सार्वधातुकस्य लिङः । दीक्षितजी ने वृत्ति में इसे लिङ् के साथ षष्ठी-तत्पुरुष में रखा है : सार्वधातुक-लिङः । काशिकाकार ने इसे सप्तम्यंत ही रखा है । उसकी उपपत्ति के लए टीकाकारों को बहुत-से द्रविड-प्राणायाम करके सार्वधातुक को लिङ् का विशेषण बनाना पड़ा है : यहाँ सप्तमी निर्धारण अर्थ में है तथा एकवचन जाति में है—सार्वधातुकों में जो लिङ्, अर्थात् सार्वधातुक-संज्ञक जो लिङ्, उसके अंत्य से भिन्न सकार का लोप होता है ।[1]

'सार्वधातुके' कहने के कारण प्रकृत सूत्र विधिलिङ् में ही लगेगा । आशीर्लिङ् **लिङाशिषि** से आर्धधातुक हो जाता है, अतः वहाँ यह सूत्र नहीं लगता ।

'अनन्त्यस्य'—अन्ते भवः=अन्त्यः, न अन्त्यः=अनन्त्यः, तस्य । अंत में होने वाले (स्थित) से भिन्न का । यह 'स' का विशेषण है । लिङ् के प्रत्ययों में स्वाभाविक अंत्य-भिन्न सकार नहीं है। उसके आद्यवयव आगमों सीयुट् (सीय्), यासुट् (यास्) और सुट् (स्) में यह सकार है । अतः प्रकृत सूत्र से इन तीनों के सकारों का ही लोप होता है । जहाँ इनमें से दो सकार उपलब्ध हैं, वहाँ उन दोनों का लोप होगा, जहाँ एक उपलब्ध है. वहाँ एक का । परिणामतः विधिलिङ् में चाहे (क) आत्मनेपद (सीयुट् तथा सुट्) हो, चाहे, (ख) परस्मैपद (यासुट् तथा सुट्), दोनों के सकारों का लोप होगा : (क) एधेत, एधेयाताम्, एधेथाः, एधेयाथाम्, (ख) भवेत्, भवेताम्, भवेतम्, भवेत । आशीर्लिङ् में (क) आत्मनेपद में दोनों रहेंगे—एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम् इत्यादि, तथा (ख) परस्मैपद में सुट् रहेगा—भूयास्ताम्, भूयासुः इत्यादि ।[2]

2212 **अतो येयः (7.2.80)**—प्रकृत सूत्र की व्याख्या से पूर्व इसके पाठ पर विचार आवश्यक है :

---

1. काशिका 7.2.79 : **सार्वधातुके यो लिङ्, तस्य···**। तथा इस पर पदमंजरी : **नैषा पर-सप्तमी, सार्वधातुक-परस्य लिङोऽसम्भवात् । तस्मान्निर्धारणे सप्तमी, जातावेक-वचनम्—'सार्वधातुकेषु मध्ये यो लिङ् सार्वधातुकसंज्ञकः, तस्य' इत्यर्थः ।** न्यास भी देखें ।
2. काशिका 7.2.79 तथा इस पर न्यास एवं पद-मञ्जरी ।

किम् ? चिकीर्ष्यात् । मध्येऽपवाद० (प० 61) न्यायेन ह्यतो लोप एव बाध्येत । हैं—भवेत् । 'सार्वधातुक में' क्यों (कहा) ? चिकीर्ष्यात् । 'मध्य में आए अपवाद (अव्यवहित विधियों को बाधते हैं)' इस न्याय (परिभाषा) से, क्योंकि, ह्रस्व अ का

---

(1) भाष्यकार ने **आने मुक्** (82) के भाष्य में प्रसंग से इस सूत्र का रूप **अतो या इयः** उद्धृत किया है ।[1] प्रकृत सूत्र के भाष्य में भी बीच वाला शब्द 'या' है, जबकि कुछ हस्त-लेखों में यह 'यास्' है ।[2] इससे भी सिद्ध होता है कि भाष्यकार को इस सूत्र का पाठ **अतो या इयः** उपलब्ध था ।

इसकी व्याख्या के दो विकल्प हो सकते हैं :

(क) भाष्य के 'या' शब्द को दृष्टि में रखते हुए अतः+याः+इयः>'यास्+इयः>या+रु>या+य्=या इयः । यहाँ 'यास्' पद 'या' का षष्ठी एक वचन का रूप है । **लोपः शाकल्यस्य** से किया य् का लोप असिद्ध होने के कारण 'आ+इ' को गुण एकादेश नहीं होता । अर्थ होगा : अतः या इयः—ह्रस्व अकार के पश्चात् स्थित या के स्थान में इय आदेश होता है । इस पक्ष में यासुट् के 'स्' का लोप **लिङः स-लोपोऽनन्त्यस्य** से होगा ।

(ख) भाष्य के 'यास्' शब्द को दृष्टि में रखते हुए **अतः यास्+इयः** में यास् की षष्ठी विभक्ति का **सुपां सु-लुक्०** (7.1.39) से लुक् होने पर शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है ।[3] अर्थ होगा : अतः यास् इय—ह्रस्व अकार के पश्चात् स्थित यास् के स्थान में इय आदेश होता है । इस पक्ष में समूचे 'यास्' के स्थान में 'इय' आदेश होता है ।

इस व्याख्या में दो दोष आते हैं : (क) विभक्ति के लोप की कल्पना करनी पड़ती है; (ख) 'या' को आदेश करने पर भी सलोप **लिङः स लोपो०** से हो जाने के कारण 'यास्' को आदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं है ।

---

1. महाभाष्य 7.2.82, पृष्ठ 156 : **'अतो या इय', इत्यत्राकार-ग्रहणं पञ्चमी-निर्दिष्टम्—'अङ्गस्य'** इति ।
2. महाभाष्य 7.2.80, पृष्ठ 154 : **बाढमर्थो, यद्यकारात्परो 'या'-शब्द आर्धधातु-कमस्ति । तथा इस पर उद्योत : 'या' इत्याकारान्तानुकरणेऽविभक्तिको निर्देश इति परे, एतदेवाभिप्रेत्य 'या-शब्द आर्धधातुकम्' इति निर्विसर्गः पाठो भाष्ये । क्वचित्तु सविसर्गः ।**
3. उद्योत, 7.2.80, पृष्ठ 153 : **षष्ठ्या जातायाः 'सु-लुक्-०' इति लुकि रुत्व-यत्व-यलोपेषु तस्यासिद्धत्वाद् गुणाभावे 'अतो या०' इति रूपम् ।**

भवेदित्यादौ तु परत्वाद्दीर्घः स्यात् । भवेताम् ।

लोप ही बाधित हो । भवेत् इत्यादि में तो पर होने से दीर्घ हो जाए । भवेताम् ।

---

(2) प्रदीप ने यहाँ इस पाठ के अतिरिक्त अन्यों (संभवतः काशिकाकार) को संमत **अतो येयः** पाठ की चर्चा की है ।[1] परवर्ती ग्रंथों में यही पाठ प्रचलित मिलता है । इस पाठ की व्याख्या भी दो तरह से ही हो सकती है :

भाष्य में 'या' का विस्पष्ट (संहिता-रहित, **अतो या इयः**) उच्चारण स्थानी का स्वरूप स्पष्ट करने को किया है, सूत्र का पाठ प्रदर्शित करने को नहीं । अतः सूत्र में (क) 'या' अविभक्तिक निर्देश है तथा सूत्र का स्वरूप गुण-संधि से **अतो येयः** है ।[2] अर्थ पूर्ववत् (1क की तरह) होता है । (ख) अथवा 'या' के षष्ठी एकवचन के 'यास्'[3] की 'इयः' से सन्धि करने पर 'या+इयः>याय्+इयः>या+इयः=येयः' होता है ।[4]

---

1. प्र० 7.2.80, पृ० 153-154 : (1) **केषांचिद् 'अतो या इय' इति सकारान्तानुकरणत्वात्पाठः । (2) अन्येषां तु सौत्रत्वान्निर्देशस्य य-लोपस्यासिद्धत्वानाश्रयणाद् 'अतो येयः' इति ।**

2. काशिका 7.2.80 : **'येय' इत्यविभक्तिको निर्देशः ।** तथा इस पर पदमञ्जरी : **येय इत्यस्मिन्समुदाये 'या' इत्यविभक्तो निर्देश इत्यर्थः ।** उद्योत : **'या' इति आकारान्तानुकरणेऽविभक्तको निर्देश इति परे । एतदेवाभिप्रेत्य 'या'-शब्द आर्धधातुकम् इति निर्विसर्गः पाठः । क्वचित्तु सविसर्गः पाठः ।**

3. काशिका में 'या' का षष्ठी का रूप 'यः' दिया है । यहाँ 'या+अस्' स्थिति में 'आ' का लोप (य्+अस्=यः) अष्टाध्यायी की सामान्य प्रणाली से उपलब्ध नहीं होने के कारण आचार्य के प्रयोग को प्रमाण मानने वाले श्रद्धालु व्याख्याताओं ने धातु के आकारलोप के प्रकरण के सूत्रों के द्वारा प्रकृत 'या' के 'आ' का लोप बताकर 'यः' रूप की सिद्धि की है : (i) **'आतो लोपः०'** (6.4.64) **इति,** (ii) **'आतो', 'धातोः',** (140) **इति योग-विभागाद् वाऽऽकार-लोपे कृते** (प्रकृत सूत्र पर न्यास); **'या'-शब्दात्षष्ठी, 'आतो धातोः'** (6.4.140) **इत्याकार-लोपः** (प० म०) । प्र० इस विषय में स्पष्ट नहीं है; किन्तु उ० में यही उल्टी पट्टी पढ़ी गई है । का० का शुद्ध पाठ 'यः' के स्थान पर 'याः' मानना उचित है । यदि 'यः' ही पाठ है, तो यह आचार्य का प्रमाद-पाठ है ।

4. काशिका 7.2.80 : **'यः' इति वा षष्ठी-निर्देशे य-लोपस्यासिद्धत्वमनाश्रित्य आद् गुणः कृतः सौत्रत्वान्निर्देशस्येति ।** न्यास में **'सौत्रोऽयं निर्देशः'** पाठ की व्याख्या की गई है ।

इस पक्ष में निम्न विसंगति है : **लोपः शाकल्यस्य** से विहित लोप **आद्गुणः** की कर्तव्यता में **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध होता है। यहाँ उसे विवादास्पद 'येयः' पाठ के आधार पर—उसे सौत्र निर्देश समझते हुए—सिद्ध मानना होगा, जब कि 'या इयः' पाठ में यह विसंगति भी नहीं है, तथा अर्थ भी स्पष्ट रहता है।

(3) काशिकाकार ने स्व-सम्मत पाठ तो **अतो येयः** दिया है, परन्तु कुछ लोगों के मत में **अतो यासियः** पाठ बताया है।[1] उनका कथन है कि इस पाठ के व्याख्याता **यासः इयः यासियः** (षष्ठीतत्पु०) मानते हैं तथा उनके मत में स्थानी 'यास्' (सकारान्त) है।[2]

इस पाठ में दो दोष हैं : (क) यास् की अन्तर्वर्तिनी षष्ठी के आधार पर सुबन्तत्वेन पदान्तीय स् को रुत्व, यत्व तथा उसका लोप आदि का निवारण कैसे होगा ? अतः इस व्याख्या में भी 'या-इयः' शुद्ध समस्त रूप है। (ख) अधिकार-प्रवृत्त **अङ्गस्य** का अन्वय तत्पुरुष के पूर्वपद यास् (यासः) से कैसे होगा ?

अतः इन सब पाठों में भाष्योद्धृत पाठ ही निरापद और पूर्ण है। अन्य पाठ में विविध प्रकार की कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं।

सूत्रार्थ—अतः 5.1, याः 6.1, इयः 1.1, रुदादिभ्यः सार्वधातुके 7.1 (76), अङ्गस्य 6.1 (6.4.1) : 'अगस्य' 'अतः' के अनुकूल 'अङ्गात्' में परिणत होता है तथा 'अतः' में तदन्त-विधि होती है : अदन्तादङ्गात् (परस्य) या इयः सार्वधातुके (अत में ह्रस्व अकार वाले अंग के पश्चात् स्थित या के स्थान में इय आदेश होता है सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय बाद में होने पर)। सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय प्रकृत में लकार के आदेश तिङ् हैं। यासुट् इनका आद्यवयव है, अतः परत्व विवक्षित नहीं है। फलतः सप्तम्यन्त 'सार्वधातुके' पद 'याः' के अनुकूल षष्ठी में परिणत हो जाता है, तथा सार्वधातुक अवयवी है और 'या' अवयव, अतः यह षष्ठी अवयवावयवि-भाव-सम्बधार्थक है। परिनिष्ठित अर्थ होगा : सार्वधातुक के अवयव या को इय आदेश होता है। 'इय' में अकार उच्चारणार्थक है। अतः आदेश 'इय्' है। यह अनेकाल् (इय्) होने के कारण **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (1.1.55) से समूचे स्थानी (यकार और आकार के समुदाय) के स्थान में होता है। 'यास्' के स् का लोप **लिङः स लोपोऽनन्त्यस्य** से होता है।

---

1. काशिका 7.2.80 : **'येयः' इत्यविभक्तिको निर्देशः।.....केचित्त्वत्र 'अतो यासियः' इति सूत्रं पठन्ति।**
2. का०, वहीं : **केचिदत्र 'अतो यासियः' इति सूत्रं पठन्ति। तेषां सकारान्तः स्थानी, षष्ठी-समासश्च।**

दीक्षितजी ने यहाँ 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति सम्भवतः साधारण होने के कारण तथा अर्थ में कोई भेद न आने के कारण नहीं की लगती है। पर एक तो यह अधिकार-प्राप्त है, दूसरे, भाष्यकार ने भी यहाँ इसकी अनुवृत्ति **आने मुक्** (82) के भाष्य में बताई है, तथा काशिकार आदि सभी आचार्यों ने भी मानी है, अतः परम्परा तथा अधिकार का निष्प्रयोजन भंग उचित नहीं है।

'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति का प्रयोजन : यदि **'अतो येयः'** में 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति न हो, तो आशीर्लिङ् में चिकीर्ष्यात् इत्यादि में या को इय् हो कर अनिष्ट चिकीर्ष्येत् रूप प्राप्त होगा। √कृ से सन् करने पर आशीर्लिङ् में चिकीर्ष+यात् स्थिति में यासुट् **लिङाशिषि** से आर्धधातुक ति का अवयव होने से आर्धधातुक है। 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति होने पर तो यहाँ इय् आदेश की प्राप्ति ही नहीं होती। अतः **अतो लोपः** (6.4.48) से 'अ' का लोप करके चिकीर्ष्यात् रूप बन जाता है।

पूर्व-पक्ष—यहाँ चिकीर्ष्यात् में **अतो लोपः** (6.4.48) सूत्र कृताकृतप्रसंगी होने से नित्य है। अतः पर **अयो येयः** (7.2.80) से बलवान् होने के कारण पहले ही प्रवृत्त होगा। प्रवृत्त होने पर अत् से परे यासुट् नहीं रहता। इसलिए 'सार्वधातुके' का ग्रहण व्यर्थ ही है।

उत्तर-पक्ष—अतो येयः (7.2.80) सूत्र **अतो लोपः** (6.4.48) तथा **अतो दीर्घो यञि** (7.2.101) सूत्रों के बीच में आता है। चिकीर्ष्यात् इत्यादि प्रयोगों में आशीर्लिङ् में नित्य होने से तथा भव+यात् स्थिति में विधिलिङ् में पर होने से **अतो दीर्घो०** से यह सूत्र बाधित होने के कारण निरवकाश हो जाता है। तब, नित्य तथा पर दोनों सूत्रों में से किसी एक सूत्र को इसने बाधना है। **मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन्बाधन्ते, नोत्तरान्** (प० 61, जो अपवाद मध्य में पड़ते हैं, वे अपने से पूर्व-पठित विधियों को ही बाधते हैं, पश्चाद्वर्तियों को नहीं) से पूर्ववर्ती **अतो लोपः** का ही बाध होगा, न कि उत्तरवर्ती **अतो दीर्घो यञि** का। इसलिए चिकीर्ष्यात् में **अतो येयः** की प्राप्ति 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति न होने पर होती ही है। तब भी, भवेत्, पचेत् आदि में **अतो दीर्घो०** से दीर्घ होने से साधु प्रयोग ही सिद्ध नहीं होंगे। इयादेश दीर्घ से पूर्व होने के कारण बाधित होता है। चिकीर्ष्यात् आदि में **अतो लोपः** को बाध लेने के कारण उसकी अपवादता सावकाशता के निवृत्त होने पर समाप्त हो जाती है। फलतः 'सार्वधातुके' का ग्रहण अनिवार्य है। इसके ग्रहण करने पर **अतो लोपः** की तो प्राप्ति होगी नहीं। केवल **अतो दीर्घो यञि** को इय् आदेश अपवाद होने से बाध लेगा। अतः चिकीर्ष्यात् तथा भवेत् इत्यादि दोनों प्रकार के प्रयोग निर्दुष्ट रहेंगे (—म० भा०)।

2213 झेर्जुस् (3.4.108)—लिङो झेर्जुस् स्यात्। ज इत्। 2214 उस्यपदान्तात् (6.1.96)—अपदान्तादवर्णादुसि परे पररूपमेकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते परत्वान्नित्यत्वाच्च 'अतो येय' इति प्राञ्चः। यद्यप्यन्तरङ्गत्वात्

2213 लिङ् के झि को जुस् हो। जकार इत् है। 2214 पदान्तभिन्न अवर्ण से परे उस् होने पर पररूप आदेश हो। यह प्राप्त होने पर पर तथा नित्य होने से 'अतो येयः' का अर्थ 'अत् से परे या इय' है, यह प्राचीन कहते हैं। यद्यपि अंतरंग होने के

2213 **झेर्जुस्** (3.4.108)—लिङः 6.1, सीयुट् (3.4.102) : लिङ् के (आदेश) झि को जुस् होता है। जुस् (उस्) **अनेकाल् शित् सर्वस्य** से समूचे झि का आदेश है। जकार की इत्संज्ञा **चुटू** से होती है। **हलन्त्यम्** से स् की इत्संज्ञा **न विभक्तौ तुस्माः** से बाधित हो जाती है।

2214 **उस्यपदान्तात्** (6.1.96)—एकः पूर्व-परयोः 6.2 (6.1.84), आद् 5.1 गुणः (6.1.87), एङि पररूपम् 1.1 (6.1.94), इको यणचि 7.1 (6.1.77) : अपदान्तात् आत् अचि (अजादौ) उसि परे पूर्व-परयोः पररूपम् एकः (आदेशः भवति)। पदांत के अकार से भिन्न अकार से परे अजादि उस् रहते पूर्व तथा पर (अ+उ) को एक पररूप (उ) आदेश होता है।

प्रस्तुत सूत्र से प्राप्त पररूप को **अतो येयः** सूत्र बाधता है। प्राचीन वैयाकरण **उस्यपदान्तात्** (6.1.96) से **अतो येयः** को पर तथा नित्य होने के कारण बलवान् मानते हैं। कथमपि पररूप यदि पहले कर भी दिया जाए, तो भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** (प० 38) न्याय से, अथवा **अन्तादिवच्च** (6.1.85) से अंतादिवद्भाव करके 'य्' को ही **अतो येयः** से इय् हो जाएगा। फलतः पररूप करो, या न करो, **कृताकृतप्रसंगी यो विधिः, स नित्यः** (प० 43) से इय् आदेश तो नित्य होने से होगा ही। तब यह बलवान् होने के कारण पररूप को बाधकर पहले ही प्रवृत्त हो जाएगा। फिर अवर्ण से परे न होने से पररूप नहीं होगा।

पूर्वपक्ष (1) : **अतो येयः** तो पर तथा नित्य ही है, पर पररूप सूत्र तो अंतरंग है : पररूपसूत्र **अङ्गस्य** (6.4.1) के अधिकार में न होने से अंगनिरपेक्ष होने के कारण प्रत्ययमात्र-सापेक्ष है, अतः अंतरंग है, **अतो येयः** तो अङ्गस्य के अधिकार में आने से प्रकृति-प्रत्यय दोनों की अपेक्षा करता है, अतः बहिरंग है। अतः **पूर्व-परनित्यान्तरङ्गापवादानाम्०** (प० 39) से पररूप बलवान् है।

उत्तरपक्ष—पररूपविधि भी तो अकार तथा उस् इन दोनों की अपेक्षा करने के कारण बहिरंग ही है।

पूर्वपक्ष—यह उभय—(अकार+उस्)—सापेक्षता अन्तरङ्गत्व में बाधक नहीं

पररूपं न्याय्यम्, तथाऽपि 'यास्' इत्येतस्य 'इय' इति व्याख्येयम्। एवं च सलोपस्यापवाद इय्। 'अतो येय' इत्यत्र तु सन्धिरार्षः। भवेयुः। भवेः, भवेतम्, भवेत; भवेयम्, भवेव, भवेम ॥ 18 ॥

कारण पररूप करना शास्त्र-दृष्टि से उचित है, तब भी 'यास् को इय्' इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये और इस प्रकार इय् सकार के लोप का अपवाद है। 'अतो येयः' सूत्र में तो सन्धि आर्ष है। भवेयुः। भवेः, भवेतम्, भवेत; भवेयम्, भवेव, भवेम ॥ 18 ॥

होगी, क्योंकि अकार तथा उस् दोनों प्रत्ययमात्र[1] ही हैं। प्रकृति-सापेक्षता यहाँ नहीं है। अतः पररूप अन्तरंग ही है।

उत्तरपक्ष—तब तो **अतो येयः** से 'यास् को इय् होता है', इस प्रकार की व्याख्या आचार्यों को सम्मत है। अतः, पहले तो अवर्ण से परे जुस् न होने के कारण **उस्यपदान्तात्** की प्राप्ति तो होगी नहीं। इय् ही होगा। और फिर पूर्वोक्त हेतु से ही **उस्यपदान्तात्** की प्राप्ति ही नहीं होगी। इस प्रकार **उस्यपदान्तात्** अंतरंग होने पर भी प्राप्त नहीं होगा।

विधिलिङ् की प्रक्रिया : भवेत्—√भू से विधि आदि अर्थों में कर्ता में **विधि-निमन्त्रणा०** सूत्र से लिङ् हुआ : भू+ल्। लिङ् को प्रथम पुरुष एकवचन की विवक्षा में परस्मैपद तिप् आदेश हो गया : भू+ति। सार्वधातुक संज्ञा के अनन्तर शप्, गुण, अवादेश के बाद **यासुट् परस्मै०** से यासुट् (यास्) हो गया : भव+यास्+ति। **सुट् तिथोः** से ति के आदि में सुट् जुड़ गया : भव+यास्+स्ति। प्रवृत्ति-भेद से **लिङः स लोपो०** से यास् के तथा सुट् के (दोनो) सकारों का लोप हो गया : भव+या+ति। **अतो येयः** से या को इय् आदेश : भव+इय्+ति। **आद्गुणः** (6.1.87) से अ+इ को गुण (ए) एकादेश हो गया : भवेय्+ति। **लोपो व्योर्वलि** (6.1.66) से य् का लोप : भवेति। **इतश्च** से इ का लोप हो गया : **भवेत्**।

भवे+तस् स्थिति में **तस्थस्थमिपां०** से तस् को ताम् आदेश विशेष है, शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है : **भवेताम्**।

भवेयुः—√भू+झि होने पर **झोन्तः** (7.1.3) से झ् को अन्त् आदेश प्राप्त हुआ। उसे बाधकर **झेर्जुस्** से जुस् अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण झि के स्थान में हो गया : भू+उस्। शप्, गुण, अवादेश तथा यासुट् होने पर भव+यास् उस्। प्राचीनों के मत में **लिङः स लोपो०** (7.2.79) से स् का लोप होने पर भव+या+उस् स्थिति

---

1. 'भव+या+उस्' स्थिति में अकार ('या' में 'आ') प्रत्यय (यासुट्) का अवयव है, अतः अकार उपचारात् प्रत्यय ही है।

2215 लिङाशिषि (3.4.116)—आशिषि लिङस्तिङ् 'आर्धधातुक'-संज्ञः स्यात् । 2216 किदाशिषि (3.4.104)—आशिषि लिङो यासुट्

ख. आशिष् अर्थ में लिङ्

2215 आशिष् अर्थ में हुए लिङ् का (आदेश) तिङ् (प्रत्यय) 'आर्ध-धातुक' संज्ञा वाला हो। 2216 आशिष् अर्थ में हुए लिङ् का (आगम) यास् कित् हो।

में **उस्यपदान्तात्** सूत्र से प्राप्त पररूप को पर तथा नित्य होने के कारण **अतो येयः** ने बाध कर 'या' को 'इय्' कर दिया। मतांतर में पररूप-विधायक सूत्र अंतरंग होने के कारण इयादेश का बाधक है। अतः **'अतो येयः** से यास् को इय् होता है', ऐसी व्याख्या करके **लिङः स लोपो०** से प्राप्त सलोप को बाध कर **अतो येयः** से समूचे यास् को इय् हो गया : भव+इय्+उस्। **आद्गुणः** से गुणादेश करके संहिता में **भवेयुः** (स् का रुत्व, विसर्ग होने पर) निष्पन्न हुआ।

भवेः—भवे+सि स्थिति में **इतश्च** से इकार-लोप होने पर स् को **ससजुषो रुः** से रुत्व तथा **खरवसानयोः०** (8.3.15 से) विसर्ग होने पर 'भवेः' सिद्ध हुआ।

भवेतम्, भवेत; भवेयम्, भवेव, भवेम—यथा-योग्य **तस्थस्थ-मिपां तान्तन्तामः** तथा **नित्यं ङितः** लगने पर बनते हैं ॥ 18 ॥

2215 लिङ् 6.1 आशिषि 7.1 (3.4.116)—तिङ् 1.1 शित्सार्वधातुकम् (113), आर्धधातुकं 1.1 शेषः (114), लङः शाकटायनस्यैव (111) : आशिषि लिङ् (लिङः) तिङ् आर्ध-धातुकम् एव। आशीर्वाद अर्थ में हुए लिङ् (का आदेश) तिङ् 'आर्ध-धातुक' ही होता है।

'एव' की अनुवृत्ति आवश्यक है : यहाँ **तिङ् शित्सार्वधातुकम्** (113) से 'सार्व-धातुक' संज्ञा तथा इस सूत्र से 'आर्ध-धातुक' संज्ञा ये दोनों संज्ञाएँ युगपत् प्राप्त हैं। यह एक-संज्ञाधिकार (1.4.2 से 2.2.38) का प्रकरण तो है नहीं। अतः दोनों संज्ञाएं एक-एक करके प्राप्त हैं, और पक्षे शप् भी प्राप्त है। 'सार्व-धातुक' संज्ञा के समावेश की निवृत्ति के लिए यहाँ 'एव' की अनुवृत्ति आवश्यक है। यह संज्ञा पूर्व प्राप्त सार्व-धातुक संज्ञा का अपवाद है।[1]

2216 किद् 1.1 आशिषि 7.1 (3.4.104)—लिङः 6.1 सीयुट् (102), यासुट् 1.1 परस्मै० (103) : आशिषि लिङः यासुट् किद् (भवति)। आशिष् अर्थ में (प्रयुक्त) लिङ् का (आगम) यासुट् कित् होता है। यह विधि पूर्वसूत्र से विहित ङिद्विधि का अप-वाद है। यद्यपि गुण और वृद्धि का **क्ङिति च** से निषेध ङित् होने पर भी सिद्ध है, तब

---

1. काशिका : **'सार्व-धातुक'-संज्ञाया अपवादः। समावेशश्चैवकारानुवृत्तेर्न भवति।**

कित् स्यात् । स्कोः० इति स-लोपः । 2217 क्ङिति च (1.1.5)—गित्-किन्-ङिन्-निमित्ते इग्लक्षणे गुण-वृद्धी न स्तः । भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः; भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त; भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म ॥ 19 ॥

स्कोः० सूत्र से स् का लोप होता है । 2217 गित्, कित् और ङित् प्रत्यय के निमित्त से 'इक् को' इस प्रकार कह कर विहित गुण और वृद्धि नहीं होते ॥ 19 ॥

भी 'इज्यात्' आदि प्रयोगों में **वचि-स्वपि-यजादीनां किति** (6.1.15) सूत्र से संप्रसारण तथा 'जागर्यात्' में **जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु** (7.3.85) से ङित् परे रहते न होने वाले तथा कित् परे रहते होने वाले गुण को करने के लिए यासुट् का कित् होना आवश्यक है ।

2217 **क्ङिति च** (1.1.5)—इकः 6.1 गुण-वृद्धी 1.2 (3), न धातु-लोप० (4) । ग् च क् च ङ् च, एषां समाहारः क्ङः । ग्, क्, ङ् के समाहार द्वंद्व में **खरि च** से ग् को क् होकर 'क्कङ्' रूप बनता है । क्ङः इतो यस्य, सः क्ङित् । ग्, क् ङ् जिसके इत् हैं, वह क्ङित् हुआ । **क्ङिति** में निमित्तसप्तमी है । 'च' शब्द 'इति' के अर्थ में है तथा 'इकः' के बाद अन्वित होगा : **क्ङिति इकः च (=इति) गुणवृद्धी न** । अर्थात् गित् कित् तथा ङित् को निमित्त मान कर 'इक् को' इस प्रकार कह कर होने वाले गुण तथा वृद्धि नहीं होते ।

यहाँ **क्ङिति** में पर-सप्तमी मान कर यदि 'गित्, कित् तथा ङित् परे रहते इक् को गुण एवम् वृद्धि नहीं होते ।' व्याख्या की जाये, तो छिन्नम्, भिन्नम् इत्यादि में इक् तथा कित् के मध्य में 'द्' का व्यवधान होने से **पुगन्त-लघूपधस्य च** से प्राप्त गुण का निषेध नहीं होगा । स्तुतम्, जितम् इत्यादि प्रयोगों में सावकाश होने के कारण **'येन नाव्यवधानम्, तेन व्यवहितेऽपि'** (प०) न्याय से गुण-वृद्धि का अपवाद यह है नहीं । अतः निमित्त-सप्तमी ही उचित है ।

दूसरे वैयाकरण मानते हैं कि यहाँ कित्, गित्, ङित् चूंकि प्रत्यय हैं, अतः 'प्रत्यय' के ग्रहण से **'यस्मात् प्रत्ययविधिः'** आदि सूत्र से प्राप्त 'अङ्ग' का विपरिणत रूप **अङ्गस्य** उपस्थित होगा : और गित्, कित् एवम् ङित् प्रत्यय परे रहते अंग के इक् को गुण वृद्धि न हों । उससे छिन्नम् आदि प्रयोगों में प्रत्यय परे रहते (दकार का व्यवधान होते हुए भी) अङ्ग के इक् को गुण का निषेध होने से कोई आपत्ति नहीं आती । 'भवावः' (भू+अवस्) आदि में ङित् (अवस्) परे रहते अङ्ग के इक् (ऊ) को गुण का निषेध होने से सूत्र की अतिव्याप्ति होगी, यह कुतर्क भी उचित नहीं है । क्योंकि अल्पापेक्षी (सार्वधातुकार्धधातुक प्रत्ययमात्रसापेक्ष) होने से गुण वहाँ अंतरंग है

तथाः प्रत्यय में भी कित्त्व आदि अधिक की अपेक्षा होने से **इको गुणवृद्धी** बहिरंग है। अतः **अन्तरङ्गे कार्ये कर्त्तव्ये बहिरङ्गन्न प्रवर्तते** (प०)—अन्तरंग कार्य करते समय बहिरंग कार्य की प्रवृत्ति नहीं होती—से **क्ङिति च** की वहाँ प्राप्ति नहीं है।

यदि सूत्र में 'इकः च (=इति)'—"इक् को' इस प्रकार कहकर"—न कहा जाये, तो 'लैगवायनः' में दोष होगा : **लिगोर्गोत्रापत्यं पुमान्** (लिगु का पुत्र) अर्थ में **नडादिभ्यः फक्** (4.1.99) से फक् तथा **आयनेयी०** (7.1.2) से फ् को आयन् होने पर **किति च** (7.2.118) से आदि अच् को वृद्धि : लैगु+आयन। **ओर्गुणः** (6.4.246) से गुण, अवादेश होने पर 'लैगवायन' बनता है। ये गुण और वृद्धि इक् को (इकः) कह कर विहित नहीं हैं, अपितु 'अचों में आदिम को' (**अचामादेः**) और 'उ को' (**ओः**) कह कर विहित हैं। अतः यहाँ अनुवर्तमान 'इकः' को अगर 'स्थाने'-योग में षष्ठ्यंत ही माना जाए, तब 'लैगवायनः' में न वृद्धि हो सकेगी, और न गुण : कित् फक् (आयन्) के निमित्त से होने वाले वृद्धि और गुण दोनों इक् का ही आदेश होते हैं। पर 'इकः' कह कर विहित नहीं है। अतः **क्ङिति च** की प्राप्ति ही नहीं है।

'**किति च** (7.2.118) सूत्र के निर्माण की सामर्थ्य से वृद्धि होगी,' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि **किति च** 'नाडायन' आदि प्रयोगों में चरितार्थ है।

ग्ला-जि-स्थश्च ग्स्नुः (3.2.139) में ग् का प्रश्लेष जिष्णु, भूष्णु आदि प्रयोगों में गुण का निषेध करने को किया है। गुण-निषेध तो यद्यपि क्स्नु करके भी हो सकता है, पर स्थास्नु में **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (6.4.66) से कित्त्व-निमित्तक ईत्त्व भी प्राप्त होता है; ग्स्नु करने पर ईत्त्व प्राप्त नहीं है। **श्चुकः किति** (7.2.11) में भी गकार का प्रश्लेष है : **श्चुकः ग्किति>श्चुकः क्किति>श्चुकः किति**।[1] इससे 'भूष्णु' में वलादि-लक्षण (**आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त) इट् का निषेध होगा।

वामन का कहना है कि **ग्ला-जि-स्थश्च०** में प्रत्यय क्स्नु है तथा **स्थः** पदः **स्था+आ=स्था** का षष्ठी ए० व० का रूप है। यहाँ 'स्था' में आकार-प्रश्लेष के कारण स्था आकारांत ही रहता है, इसमें ईत्त्व नहीं होता, जिसके लिए औरों ने प्रत्यय

---

1. **श्चुकः ग्किति** स्थिति में गकार से पूर्ववर्ती विसर्ग को, अथवा चर्त्व हो चुकने पर **श्चुकः क्किति** स्थिति में चर्त्व के **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध होने से उससे पूर्ववर्ती विसर्ग को, सत्व, रुत्व, उत्व, गुण हो कर **श्चुको ग्किति**, अथवा **श्चुको क्किति** नहीं होता, इसमें आर्ष प्रयोग, अथवा संहिता की अविवक्षा हेतु हो सकती है।

डा० त्रिपाठी : **झरो झरि सवर्णे** सूत्र से प्रथम ककार का वैकल्पिक लोप होने से एक-ककारघटित **श्चुकः किति** भी प्रयोग होता है।

2218 लुङ् (3.2.110)—भूतार्थ-वृत्तेर्धातोर्लुङ् स्यात् । 2219 माङि

नवम लकार : सामान्य भूत में लुङ्

2218 भूत क्रिया अर्थ की वाचक धातु से लुङ् हो । 2219 माङ् के योग में लुङ्

को ग्स्नु किया है तथा **क्ङिति च** और **श्चुकः किति** में गकार का प्रश्लेष किया है ।

भूयात् —√भू से आशिष् अर्थ में **आशिषि लिङ्-लोटौ** से लिङ् : भू+लिङ् । ल् को ति, उसकी **लिङाशिषि** से आर्धधातुक-संज्ञा । **इतश्च** से इ का लोप : भू+त् । **यासुट् परस्मै०** से यासुट्, **किदाशिषि** से यासुट कित् हो गया : भू+यास्त् । **सुट् तिथोः** से सुट् : भू+यास्+स्त् । **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (8.2.29) से पदांत (स्त्) के संयोग के आदि में स्थित् स् (सुट्) का लोपः भू+यास्+त् । पुनः लक्ष्य-भेद से यासुट् के स् का भी पदांत के संयोग के आदि में स्थित होने से लोप होता है : भू+यात् । यास् आर्धधातुक तिङ् का आगम होने से आर्धधातुक है; अतः **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से भू में ऊ को गुण (ओ) प्राप्त होता है । उसका **क्ङिति च** से निषेध हो गया : **भूयात्** ।

भूयास्ताम्—'भू+यास्+स्+ताम्' स्थिति में **स्कोस्संयोगाद्योः०** से झल् (त्) जिस (स्ताम् आदि संयोगों) में (स् से) परे है, ऐसे संयोग का प्रारंभिक वर्ण होने के कारण (यास् के स् का) लोप हो गया : भूया+स्ताम्=**भूयास्ताम्** ।

शेष रूप स्पष्ट हैं : 'भूयास्' स्थिति होने पर शेष प्रक्रिया विधि-लिङ् की तरह ही होती है । भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः; भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त; भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म ॥ 19 ॥

2218 **लुङ्** 1.1 (3.2.110)—धातोः 5.1 (3.1.91), भूते 7.1 (3.2.84), प्रत्ययः 1.1 (3.1.1), परश्च 1.1 (2) : भूते धातोः परः लुङ् प्रत्ययः भवति । 'बीते हुए समय में होने वाली क्रिया' अर्थ में धातु से परे लुङ् प्रत्यय होता है ।

2219 **माङि** 7.1 **लुङ्** 1.1 (3.3.175)—माङ् (मा अव्यय) उपपद रहते धातु से परे लुङ् प्रत्यय होता है । माङ् के योग में भूत अर्थ में लुङ् ऊपर वाले सूत्र से ही सिद्ध है, तब इस सूत्र से पुनर्विधान 'माङ् के योग में लुङ् सब इतर लकारों का अपवाद है', यह सूचित करता है । 'माऽस्तु' इत्यादि प्रयोगों में 'मा' के योग में लोट् की व्याख्या लोगों ने दो तरह से की है : (1) यह 'मा' अङित्[1] है, अतः **माङि लुङ्** की यहाँ प्राप्ति नहीं है । अतः आदिकवि के **मा निषाद, प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः** (वा० रा० 1.2.15) में लङ् का प्रयोग निर्दोष है । (2) 'मा' 'माङ्' ही है,

---

1. डॉ० त्रिपाठी : **अ मा नो ना प्रतिषेधे** (अमरकोश) भी इसमे अनुगुण है ।

लुङ् (3.3.175) । सर्व-लकारापवादः । 2220 स्मोत्तरे लङ् च (3.3.176)— स्मोत्तरे माङि लङ् स्याल्लुङ् च । 2221 च्लि लुङि (3.1.43) । शबाद्यपवादः । 2222 च्लेः सिच् (3.1.44) । इचावितौ । 2223 गाति-स्था-घु-पा-(हो) । यह अन्य सब लकारों का बाधक है । 2220 बाद में 'स्म' शब्द से युक्त माङ् के योग में लङ् और लुङ् हों । 2221 लुङ् बाद में होने पर च्लि् (हो) । यह शप् आदि का बाधक है । 2222 च्लि के स्थान में सिच् (आदेश हो) । (इसमें) इ और च् इत्संज्ञक हैं । 2223 √गा, √स्था, 'घु'-संज्ञक धातु, √पा एवं √भू के पश्चात् स्थित

पर 'अस्तु' लोट् का रूप नहीं, अपितु विभक्ति-प्रतिरूपक[1] अव्यय है । इस पक्ष में आदि-कवि का प्रयोग आर्ष ही है, क्योंकि 'अगमः' की अव्ययता सम्भव नहीं है ।

2220 **स्मोत्तरे लङ् च** (3.3.176)—यहाँ 'च' से पूर्व-सूत्र का अनुकर्षण है : **स्मोत्तरे माङि लुङ् लङ् च** । 'स्मोत्तरे' पद "स्म' इत्यव्ययमुत्तरं यस्मात्" अर्थ में बहुव्रीहि तथा 'माङि' का विशेषण है : 'स्म' अव्यय जिसके पश्चात् लगा हुआ है, ऐसा माङ् उपपद रहते धातु से परे लुङ् और लङ् दोनों होते हैं । यह इतर सब लकारों का अपवाद तो है ही, **माङि लुङ्** का भी अपवाद है : माङ् के योग में उस से नित्य लुङ् विहित है, यह लङ् का विधान भी करता है । अतः **मा स्म** के योग में लङ् और लुङ् का विकल्प है । अङित् मा के पक्ष में 'स्म' रहते भी अन्य लकार 'माऽस्तु' के समान ही हो सकते हैं ।

2221 **च्लि लुङि** (3.1.43)—धातोरेकाचो हलादेः० (22) : धातोः च्लि लुङि । 'च्लि' शब्द में प्रथमैकवचन का आर्ष लोप है । लुङ् से तात्पर्य लुङ् के आदेश तिङों से है । तिङ् परे रहते धातु से विहित प्रत्यय विकरण कहलाते हैं । अतः 'च्लि' विकरण है तथा अन्य विकरणों शप्, श्यन्, श्नु, श्नम् तथा श्ना का अपवाद है । काशिका तथा प्रौढमनोरमा के अनुसार इसमें इकार उच्चारणमात्र के लिए है ।

2222 **च्लेः सिच्** (3.1.44)—'च्लेः' में स्थाने-योगा षष्ठी है । 'सिच्' आदेश है । 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश होता है । 'सिच्' में 'च्' की इत्संज्ञा **चितः** (6.1.163) से अन्तोदात्त करने के लिए है । 'इ' की इत्संज्ञा करने से अमन्+स्+त (**मन ज्ञाने**, दिवादि, अनिट्, लुङ्, प्र० ए० व०) प्रयोग में **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (6.4.24) से न् का लोप इदित् (मन्स्) की उपधाका न् होने से नहीं होगा ।

2223 **गाति-स्था-घु-पा-भूभ्य सिचः परस्मैपदेषु** (2.4.77)—'गति' आदि में

---

1. 'विभक्ति-प्रतिरूपक' अव्यय वे शब्द कहलाते हैं, जो सुप्-तिङ् विभक्ति के होते हुए भी उस विभक्ति के अर्थ-विशेष को प्रकट न करने के कारण अव्यय मान लिए गए हैं । 'स्वस्ति' में 'अस्ति' इसी प्रकार का अव्यय है ।

भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु (2.4.77)—एभ्यः सिचो लुक्स्यात्। गा-पाविहेणादेश-पिबती गृह्येते। 2224 भू-सुवस्तिङि (7.3.88)—√भू, √सू एतयोः सार्व-

सिच् का लुक् हो, परस्मैपद प्रत्यय बाद में होने पर। यहाँ √गा एवं √पा क्रमशः इण् का आदेश और 'पा पाने' ली जाती हैं। 2224 √भू, √सू को सार्वधातुक तिङ्

द्वंद्वसमास करके पञ्चमी का बहुवचन (भ्यस्) है। **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः** (2.4.75) से व्यवहित होते पर भी यहाँ **ण्यक्षत्रियार्ष-ञितो यूनि लुगणिञोः** (2.4.58) से लुक् की ही अनुवृत्ति होगी, श्लु की नहीं। इसमें प्रमाण तो आचार्य के द्वारा किया वैसा व्याख्यान ही है : **व्याख्यानाद्विशेष-प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्** (प० 1)—अर्थात् व्याख्यान के प्रामाण्य से विशेष—असाधारण—बात भी स्वीकार की जाती है, न कि संदेह के कारण लक्षण (सूत्र) ही न बनाओ। 'गाति' में धातु के निर्देश में श्तिप् हुआ है। अतः **गा स्तुतौ** (जु०, प०) तथा **गाङ् गतौ** (भ्वा०. अ०) का ग्रहण होना चाहिए। **लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य ग्रहणम्** (प० 91) से भी भौवादिक तथा जौहोत्यादिक का ग्रहण ही पुष्ट होता है, परन्तु **गा-पोर्ग्रहण इण्पिबत्योर्ग्रहणम्**[1] (2.4.77, वा० 1) भाष्य-वचन के प्रामाण्य से **इण् गतौ** (अ०) का ही ग्रहण होगा। ऐसे ही **पा रक्षणे** (अ०, प०) तथा **पा पाने** (भ्वा०, प०) के सन्देह में जिन धातुओं में **अदि-प्रभृतिभ्यः शपः** (2.4.72) से विकरण का लुक् है, तथा जिनमें विकरण का लुक् नहीं है, अर्थात् आदादिक धातुओं से भिन्न, उन धातुओं में से अन्यतम के ग्रहण के विषय में संदेह होने पर अलुग्विकरण धातुओं का ग्रहण होगा : **लुग्विकिरणालुग्विकरणयो०** (प० 91)। अतः अलुग्विकरण **पा पाने** (भ्वा०) का ग्रहण होगा।

2224 **भू-सुवोस्तिङि** (7.3.88)—भू-सुवोः (6.2) = भूश्च सूश्चेति भू-सुवौ, तयोः। मिदेर्गुणः 1.1 (82), नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके (87)। **षूङ् प्राणि-गर्भ-विमोचने** (अ०, आ०, वे०), **षू प्रेरणे** (तु०, प०, से०), **षूङ् प्राणिप्रसवे** (दि०, आ०, वे०) में से यहाँ **लुग्विकरणा०** (प० 91) परिभाषा के विरोध के होते हुए भी आदादिक का ही ग्रहण होगा। 'क्योंकि तिङि' में (अव्यवहित) पर सप्तमी है, दैवादिक तथा तौदादिक में तो धातु एवं तिङ् के मध्य में विकरण का व्यवधान होता है। आदादिक में तिङ् धातु से अव्यवहित परे होता है। जैसे—सुवै (√सू+लोट्, उत्तम, ए० व०) में सू+ऐ स्थिति में पित् आट् होता है : सू+आ+ऐ। **आटश्च** से आ+ ऐ को वृद्धि एकादेश के बाद सू+ऐ स्थिति में **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण प्राप्त होता है।

---

1. √गा और √पा से आदादिक परस्मैपदी **इण् गतौ** और भौवादिक परस्मैपदी **पापाने** का ही ग्रहण होता है।

धातुके तिङि परे गुणो न स्यात् । 2225 अस्ति-सिचोऽपृक्ते (7.3.96)—सिच् च अस् चेति समाहारद्वन्द्वः । सिच्छब्दस्य सौत्रं भत्वम् । अस्तीत्यव्ययेन कर्म-

प्रत्यय बाद में होने पर गुण नहीं होता । 2225 सिच् और अस् यह समाहारार्थक द्वन्द्व-समास ('सिचस्' शब्द में है) । सिच् शब्द की भ-संज्ञा सूत्र में प्रयोग के आधार पर है । 'अस्ति' अव्यय के साथ कर्म-धारय तत्पुरुष ('अस्ति-सिचस्' शब्द में है) । उस (अस्ति-सिचस्) से हुई पञ्चमी का लुक् सूत्र में प्रयोग के आधार पर हो गया है । विद्यमान

आट् उत्तम पुरुष एकवचन तिङ् का आगम होने से **यदागमास्तद्गुणी-भूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते** (प० 12) द्वारा तिङ् ही समझा जाता है । अतः **भू-सुवोस्तिङि** से गुण का निषेध होकर **अचि श्नु०** (6.4.77) से उवङ् हो जाता है । जब कि लुट् में तास् के कारण गुणनिषेध न होने से **सविता** तथा **सोता** में **सार्वधातुकार्ध०** से गुण होगा ही ।

2225 **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** (7.3.96)—ब्रुव ईट् 1.1 (93), उतो वृद्धि-र्लुकि हलि 7.1 (89) । 'सिच्' और 'अस्' का समाहार (समूह) अर्थ में द्वंद्व समास होकर निष्पन्न 'सिचस्' का 'विद्यमान' अर्थ वाले 'अस्ति' (विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय) के साथ **अस्ति चासौ सिचस्** (विद्यमान जो सिचस्) अर्थ में कर्मधारय (विशेषण) समास होता है : अस्ति-सिचस् । ऐसे रूप से **छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति** मान्यता के आधार पर **सुपां सु-लुक्पूर्वसवर्णाच्छे०** (7.1.39) आदि सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का लुक् हो गया है । **तस्मादित्युत्तरस्य** (1.1.67, 'उससे' इस प्रकार जहाँ पञ्चमी-विभक्ति का निर्देश होवे, वहाँ होने वाला कार्य उस पञ्चमी-विभक्त्यन्त पद से निर्दिष्ट से परस्थ को होता है) के बल से पञ्चम्यंत **अस्तिसिचस्** से परस्थ सप्तम्यंत 'अपृक्ते' पद 'अपृक्तस्य' में परिणत हो जाता है । 'हलि' भी 'हलः' में बदल जायेगा । 'ईट्' षष्ठी-निर्दिष्ट से अभिप्रेत का आद्यवयव आगम है ।

समुच्चित अर्थ : आद्यवयव जो सिच् (प्रत्यय) तथा अस् (धातु) विद्यमान हैं (लुप्त अथवा आदिष्ट नहीं हुए हैं), उनसे परे स्थित अपृक्त हल् को ईट् का आगम होता है ।

सिच् तथा √अस् के साथ 'अस्ति' (विद्यमान) विशेषण होने के कारण लोप हुए सिच् से तथा 'भू' रूप को प्राप्त √अस् से परे ईट् नहीं होगा ।

'सिचस्' की संधि पर विचार : यहाँ 'सिचस्' में द्वंद्व करते समय **'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (2.4.71) से लुप्त (अंतर्वर्तिनी) विभक्ति का आश्रय **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (1.1.62) से ले कर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (1.4.17) से 'पद' संज्ञा मान कर सिच्+अस् स्थिति में **चोः कुः** (8.2.30) से कुत्व (सिक्+अस्) नहीं होगा, क्योंकि यहाँ सूत्र में इस प्रकार के प्रयोग को मान कर भ संज्ञा की प्रवृत्ति होती है । फलतः

धारयः। ततः पञ्चम्याः सौत्रो लुक्। विद्यमानात् (1) सिचः, (2) अस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागमः स्यात्। इति ईण्नेह, सिचो लुका लुप्तत्वात्—अभूत्। (साक्षात् उपस्थित 1) सिच् प्रत्यय से और (2) √अस् से परे स्थित अपृक्त हल् (व्यञ्जन-मात्र) को ईट् का आगम हो। इस सूत्र से ईट् यहाँ नहीं होता, क्योंकि सिच् लुक् के द्वारा लुप्त हो गया है (विद्यमान नहीं है)—अभूत्। 'हल् को' क्यों (कहा) ?

पद संज्ञा की प्राप्ति एक संज्ञा का अधिकार होने से नहीं होगी। अतः कुत्व भी नहीं होगा।

'अस्ति-सिचस्' की प्राचीन-सम्मत व्याख्या : काशिकाकार आदि प्राचीन आचार्य तो सौत्र भत्व तथा पञ्चमी के सौत्र लुक्, ये दोनों, कल्पनाएँ न करके सीधे ही 'अस्तिश्च सिच्च' (अस्ति=√अस् और सिच् प्रत्यय) का समाहार द्वंद्व समास (अस्ति-सिच्) करके पञ्चमी (एक वचन) में **अस्ति-सिचः** रूप बना कर **तु-रु-स्तु-शम्यमः सार्वधातुके** (7.3.95) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करके सप्तम्यन्त दोनों पदों को षष्ठी में बदलते हैं : अपृक्तस्य सार्वधातुकस्य। 'अपृक्त' चूंकि प्रत्यय है, अतः उसके परे रहते पूर्व की अङ्ग संज्ञा हो जाती है। अतः 'अङ्गात्' पद सामर्थ्य के कारण उपस्थित होता है। सिच् स्वयं प्रत्यय होने के कारण 'अङ्गात्' का विशेषण हो जाता है, अतः तदन्तविधि होती है। अस्तेरङ्गात् सिजन्ताच्च परस्यापृक्तस्य सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति (—काशिका)। √अस् अङ्ग से तथा सिच् प्रत्यय जिसके अन्त में है ऐसे अंग से परे अपृक्त सार्वधातुक को ईट् का आगम होता है।

प्राचीनाभिमत व्याख्या पर आपत्ति : इस व्याख्या में नवीनों को कुछ आपत्तियाँ हैं :—

(क) **अस् भुवि** धातु के लुङ्, प्रथम, एक वचन में **अस्तेर्भूः** (2.4.52) से 'भू' आदेश को **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (1.1.56) से स्थानिवत् होने के कारण √अस् धातु को मान कर 'त्' को ईट् अवश्य होगा। काशिकाकार ने **आहि-भुवोरीट्-प्रतिषेधः** (वा०) से स्थानिवद्भाव का निषेध करके अभूत् में ईट् का निवारण किया है, जो कल्पना-गौरव दोष से युक्त है।

(ख) अगात्, अस्थात्, अपात् आदि में **गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु** से किये सिच् के लुक् को **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** से स्थानिवद्भाव होने के कारण सिजंत अंग से परे स्थित अपृक्त 'त्' को ईट् होना चाहिये।

(ग) अपृक्त सार्वधातुक को ईट् का आगम मानने पर 'ऐधिषि' आदि प्रयोगों में भी ऐधि+स्+इ स्थिति में अपृक्त सार्वधातुक 'इ' को ईट् होना चाहिये।

नवीनों की व्याख्या के अनुसार जहाँ उपर्युक्त तीनों आपत्तियाँ न रहेंगीं, वहीं

'हलः' किम् ? ऐधिषि। 'अपृक्तस्य' किम् ? ऐधिष्ट। अभूताम्। 2226 सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (3.4.109)—(1) सिचः, (2) अभ्यस्ताद्, (3) विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस्स्यात्। इति प्राप्ते—2227 आतः (3.4.110)—सिज्लुक्यादन्तादेव झेर्जुस् स्यात्। अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत; अभूवम्, अभूव, अभूम।

(ऐधिस्+इ=) ऐधिषि। 'अपृक्त को' क्यों (कहा) ? (ऐधिस्+त=) ऐधिष्ट। अभूताम्। 2226 (1) सिच् के, (2) कृत्-द्वित्व धातु के और (3) √विद् के पश्चात् स्थित, ङित् (लकार) के झि को जुस् (आदेश) हो। यह प्राप्त होने पर—2227 सिच् का लुक् होने पर आकारांत (धातु) के पश्चात् ही स्थित झि को जुस् हो। अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत; अभूवम्, अभूव, अभूम।

आहि-भुवोरीट्-प्रतिषेधः (वा०) में 'भू' को स्थानिवद्भाव-निषेध की आवश्यकता भी नहीं होगी। अतः लाघव है।

2226 **सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च** (3.4.109)—नित्यं ङितः 6.1 (99), झेर्जुस् 1.1 (108)। सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च ङितो झेर्जुस् : सिच् के, 'अभ्यस्त' संज्ञक के तथा √विद् के पश्चात् स्थित ङित् (लकार) के आदेश झि के स्थान में जुस् होता है।

इस सूत्र से लिङ्-भिन्न लुङ् और लङ् के झि को जुस् आदेश होता है : सिच् के बाद लुङ् के झि को तथा अभ्यस्त और √विद् के पश्चात् लङ् के झि को जुस् होता है।

'अभ्यस्त' से जुहोत्यादि गण की धातुओं के अलावा 1 √जक्ष्, 2 √जागृ, 3 √दरिद्रा, 4 √चकास्, 5 √शास्, 6 √दीधी, 7 √वेवी ली जाती हैं। √विद् से **विद ज्ञाने** (अ०, प० अनिट्) का ही ग्रहण होता है। अन्य गणों की √विद् या तो आत्मनेपदी होने से झि वाली है ही नहीं, या झि है भी, तो विकरण से व्यवहित है।

2227 **आतः** (3.4.110)—सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च (109) से सिचः[1] 5.1 और झेर्जुस् (108) की अनुवृत्ति होती है। 'आत्' वर्ण है, अतः तदन्तविधि होती है : सिचः आदन्ताद् झेर्जुस् (सिच् से आदंत से परे स्थित झि को जुस् आदेश होता है)। सिच् और आदंत यदि पृथक्-पृथक् अवधि अभिप्रेत होते, तो सिच् के पश्चात् तो झि को जुस् पिछले **सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च** से ही किया जा चुका है। अतः यहाँ सिच् और आदंत दोनों झि से पूर्व होने चाहियें। यह स्थिति **घु-मा-स्था०** से सिच् का लुक् करने

---

1. सूत्र में 'सिच्' शब्द पञ्चम्यंत द्वंद्व **सिजभ्यस्तविदिभ्यः** का अवयव है। अतः 'सिचः' (पंचमी, ए० व०) कहा है।

2228 न माङ्योगे (6.4.74)—अडाटौ न स्तः। मा भवान्भूत्; मा स्म भवद्, भूद् वा ॥ 20 ॥

2228 माङ् के योग में अट् और आट् नहीं होते। मा भवान् भूत्। मा स्म भवत् अथवा मा स्म भूत् ॥ 20 ॥

पर ही हो सकती है : सिच् वहाँ यद्यपि साक्षात् नहीं है, पर **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (1.1.162) से है। अतः अर्थ हुआ : सिच् का लुक् जिसमें हुआ है तथा जो आदंत है, ऐसी धातु के पश्चात् स्थित झि को जुस् होता है। ऐसी स्थिति में भी प्रत्यय-लक्षण से सिच् वहाँ होने के कारण **सिजभ्यस्त०** से ही जुस् हो सकता है, पृथक् से **आतः** सूत्र की क्या आवश्यकता है ? **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** न्याय से आचार्य का यह मंतव्य यहाँ सूचित होता है कि प्रत्यय-लक्षण से सिच् के लक्षित होने पर झि को जुस् अगर होता है, तो केवल आकारांत धातु के पश्चात् ही होता है।[1]

2228 **न माङ्योगे** (6.4.74)—लुङ्-लङ्-लृङक्ष्वड् 1.1 उदात्तः (71), आड् 1.1 अजादीनाम् (72), अङ्गस्य 6.1 (1) : माङ्योगे अङ्गस्य अट् आट् न—'माङ्' (अव्यय) के योग में अङ्ग को अट् तथा आट् नहीं होते।

सिद्धियाँ : अभूत्—√भू से भूत अर्थ में कर्त्ता में **लुङ्** सूत्र से **लुङ्** हो गया। लुङ् को ति आदेश। **इतश्च** से 'इ' का लोप। **लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः** से उदात्त अट् टित् होने से धातु के आदि में आ गया : अभू+त्। 'त्' की सार्वधातुक संज्ञा हो कर शप् प्राप्त हुआ। उसे बाध कर **च्लि लुङि** से च्लि एवम् उसे भी **च्लेः सिच्** से सिच् (स्) आदेश हो गया। स् की **आर्धधातुकं शेषः** से आर्धधातुक संज्ञा हो गई : अभू+स्+त्। **गाति-स्था०** से सिच् के स् का लोप हो गया : अभू+ त्। **सार्वधातुकार्ध०** सूत्र से 'ऊ' को गुण प्राप्त हुआ। **भू-सुवोस्तिङि** से उसका निषेध हुआ। सिच् विद्यमान न होने से **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** से ईट् नहीं हुआ।

अभूताम् में **तस्थस्थ०** से तस् को ताम् आदेश विशेष है। शेष प्रक्रिया अभूत् के समान है।

अभूवन्—'अभू+स्+झि' स्थिति में सिच् का **गाति-स्था०** से लुक्। 'सिज-लुक् होने पर आदन्त धातु से परे ही झि को जुस् होता है,' इस नियम से झि को **सिजभ्यस्त०** से प्राप्त जुस् नहीं हुआ। **झोऽन्तः** से झ् को अन्त् आदेश : अभू+अन्ति। **इतश्च** से इ का लोप। **संयोगान्तस्य लोपः**(8.2.23) से त् का लोप—अभू+अस्। **भुवो वुग्लुङ्लिटोः** से भू को वुक् (व्) अंतागम : अभूव्+अन्=अभूवन्।

---

1. महाभाष्य, काशिका तथा न्यास एवं पदमंजरी।

2229 लिङ्-निमित्ते लृङ् क्रियाऽतिपत्तौ (3.3.139)—हेतु-हेतुमद्-भावादि लिङ्-निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात् क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्य-मानायाम् । अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्; अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत; अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम ॥ 21 ॥

दशम लकार : हेतु-हेतुमद्भावादि प्रकारार्थ में लृङ्

2229 हेतु-हेतुमद् भाव आदि लिङ् का निमित्त है; उसमें भविष्य अर्थ में लृङ हो, जब क्रिया की अपूर्णता प्रतीत होती हो ॥ 21 ॥

यहाँ **असिद्धवदत्राभात्** से वुक् के असिद्ध होने के कारण **अचि श्नु०** से उवङ् प्राप्त हुआ, पर **वुग्युटावुवङ्-यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ** (वा०) से वुक् के सिद्ध हो जाने से नहीं हुआ ।

अभूः, अभूतम्, अभूत, अभूवम्, अभूव, अभूम की सिद्धियाँ भी यथायोग्य इसी प्रकार समझें ।

'मा भवान् भूत्' आदि प्रयोगों में **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** से प्राप्त अट् का निषेध माङ् के योग के कारण **न माङ्-योगे** से हो गया ।

'मा स्म' के योग में √भू से **स्मोत्तरे लङ् च** से लङ् और पक्षे लुङ् होता है । यहाँ भी अट् नहीं होता : मा स्म भवत्, भूद् वा ॥ 20 ॥

2229 **लिङ्-निमित्ते लृङ्** (3.3.139)—भविष्यति 7.1 मर्यादावचनेऽवरस्मिन् (136) : लिङ्-निमित्ते भविष्यति लृङ् क्रियाऽतिपत्तौ = लिङ् प्रत्यय जिस अर्थ को मान कर होता है, उसी अर्थ में, भविष्यत् अर्थ तथा क्रिया की अपूर्णता प्रकट होती हो, तो धातु से लृङ् प्रत्यय होता है ।

लिङ् का निमित्त : कुछ लोग लिङ् का निमित्त **आशंसा-वचने लिङ्** (134) से लेकर **हेतु-हेतुमतोर्लिङ्** (156) और **इच्छाऽर्थेषु लिङ्-लोटौ** (157) को मानते हैं । उनके मत में आशंसा आदि अर्थों के अभिधान में यदि भविष्यत् अर्थ और क्रिया की असिद्धि प्रकट होते हों, तो लृङ् लकार होता है : गुरुश्चेदायास्यत्, आशंसेऽहमध्येष्ये (गुरुजी आये, तो आशा करता हूँ कि मैं पढ़ूंगा) ।

अन्य आचार्य **भविष्यति मर्यादा-वचनेऽवरस्मिन्** (136) के 'भविष्यति' से प्रारम्भ करके जिस भी निमित्त से लिङ् का विधान किया गया है, उसी निमित्त में यदि क्रिया की असिद्धि भी व्यक्त होगी, तो लृङ् होगा; उससे अन्य पूर्वागत आशंसा-वचन अर्थ में नहीं, यह मानते हैं ।

'हेतु-हेतुमद्भाव' का अर्थ : जब एक क्रिया किसी दूसरी क्रिया का हेतु (कारण) बने, तब पूर्व क्रिया 'हेतुक्रिया' है, तथा दूसरी क्रिया 'हेतुमती क्रिया' है । यदि ये दोनों

2230 ते प्राग्धातोः (1.4.80)—ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः। 2231 आनि लोट् (8.4.16)—उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य

उपसर्ग के योग में विशेष प्रक्रिया

2230 वे 'गति' और 'उपसर्ग' संज्ञाओं वाले शब्द धातु से पहले ही प्रयुक्त किये जाने चाहियें। 2231 उपसर्ग में स्थित निमित्त के पश्चात् स्थित, लोट् के आदेश

क्रियाएँ एक भविष्यत्काल में ही होती अभिप्रेत हैं, तथा दोनों क्रियाओं की असिद्धि व्यक्त होती हैं, तब दोनों में लृङ् होता है :[1] (1) सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्, (2) सुभिक्षमभविष्यत् (अच्छी वर्षा अगर हो, तो अच्छी फसल हो)।

अभविष्यत्—√भू+लृङ्। तिप्, अट् : अ+भू+ति, **इतश्च** से 'ति' के 'इ' का लोप। शेष कार्य लृट् की तरह। अभविष्यताम्, अभविष्यन्; अभविष्यः, इत्यादि भी इसी प्रकार समझें॥ 21॥

2230 **ते प्राग्धातोः** (1.4.80)—यहाँ 'ते' सर्वनाम से **उपसर्गाः क्रिया-योगे** (1 4.59), **गतिश्च** (60) सूत्रों द्वारा प्रतिपादित 'उपसर्ग' संज्ञक तथा 'गति' संज्ञक प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव आदि का ग्रहण होगा : वे (उपसर्ग तथा गतिसंज्ञक शब्द) धातु से पूर्व प्रयुक्त किये जाते हैं। प्रभवति। पराभवति। अनुभवति इत्यादि।

2231 **आनि लोट्** (8.4.16)—रषाभ्यां नो णः० (1), उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (14)। भाष्यवचन के अनुसार **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (2) सूत्र णकारादेश के प्रकरण में सब सूत्रों में उपस्थित होगा। प्रकृत सूत्र णकार के उपसर्गस्थ निमित्त से भिन्न पद में स्थित न् को ण् करता है। आनि और लोट् की षष्ठी विभक्तियों का लोप **छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति** मान्यता से **सुपां सु-लुक्०** इत्यादि से हो गया है : 'आनेः लोटः' समझें। उपसर्गात् 5.1 रषाभ्याम् 5.3 (परस्य) लोटः 6.1 आनेः 6.1 नः 6.1 अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये 6.1 अपि णः 1.1 (भवति)। यहाँ कोई उपसर्ग चूंकि रेफ के या षकार के रूप में तो है नहीं, अतः मुख्यार्थ बाधित होने पर 'उपसर्ग में स्थित रेफ या षकार' अर्थ को व्यक्त करेगा। फलतः 'उपसर्गस्थाभ्यां रेफषकाराभ्याम्परस्य' अर्थ हुआ। रेफ तथा षकार णत्व के पूर्व-निमित्त हैं, अतः दीक्षित जी ने 'रषाभ्याम्' को साक्षात् न कह कर 'उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य' इस प्रकार 'निमित्त' शब्द से कहा है। मि का आदेश नि है। आट् नि का अवयव है। अतः समूचे 'आनि' को 'लोट्' का आदेश कहा है। समुच्चित अर्थ यों होता है : उपसर्ग में स्थित निमित्त (र्-ष) से परे अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इनके व्यवधान में भी लोट् के (आदेश) आनि के नकार को णकार होता है।

---

1. इस विषय का विशेष विवेचन लकारार्थ-प्रक्रिया की व्याख्या में किया जायेगा।

लोडादेशस्यानीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । दुरः षत्व-णत्वयोरुपसर्गत्व-प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०) । दुःस्थितिः । दुर्भवानि । 'अन्तः' शब्दस्याङ्-कि-विधि-णत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् (वा०) अन्तर्धा । अन्तर्धिः । अन्तर्भवाणि । 'आनि' के न् के स्थान में ण् हो जाए । प्र-भवाणि । (षत्व और णत्व के प्रसंग में दुर् की उपसर्गता का निषेध कहना चाहिये) दुःस्थिति, दुर्भवानि । ('अङ्' और 'कि' प्रत्ययों के विधान के और णत्व के प्रसंग में 'अन्तर्' शब्द को उपसर्ग कहना चाहिये) अन्तर्धा,

---

'प्र+भवानि' स्थिति में **आनि लोट्** से न् को ण्—प्रभवाणि । 'लोट् का आदेश' (आनि) इस प्रकार कहने के कारण 'प्रवपानि (प्रकृष्टा वपा येषान्तानि) मांसानि' में प्रथमाबहुवचन के 'आनि' के न् को लोट् का आदेश नहीं होने के कारण इस सूत्र से णकार नहीं हुआ ।

लोट् पर विप्रतिपत्ति : तत्त्वबोधिनी के अनुसार तो यहाँ 'लोट्' पद स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थ ही है । ऊपर दिये प्रत्युदाहरण (प्रवपानि) में तो (1) णकार **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्** (प० 15)—अर्थ वाले शब्दस्वरूप का ग्रहण यदि सम्भव हो, तो अर्थरहित शब्द-स्वरूप का ग्रहण नहीं होता—से निवृत्त हो जायेगा । अथवा (2) सूत्र में 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति होने से वहाँ णत्व नहीं होगा । तात्पर्य यह है कि 'प्रवपानि' में **प्रातिपदिकान्त-नुम्विभक्तिषु च** (8.4.11) से पूर्वपदस्थ निमित्त से णकार जब सिद्ध है, तब यहाँ 'आनि' सूत्र से यदि णत्व करना अभिप्रेत होता, तो इसमें 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति निरर्थक होती । अतः 'प्रवपानि' में **प्रातिपदिकान्त०** से ही न को वैकल्पिक ण् होगा ।

दुरः षत्व-णत्वयोरुपसर्गत्व-प्रतिषेधो वक्तव्यः—यह वार्तिक है । मूर्धन्य आदेश (स् को ष् तथा न् को ण्) जब करना हो, तो 'दुर्' की उपसर्गता का निषेध कहना चाहिये । 'दुःस्थितिः' में विसर्जनीय के व्यवधान में भी—**नुम्विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि** (8.1.58)—'दुर्' की **उपसर्गाः क्रियायोगे** (1.4.59) से 'उपसर्ग' संज्ञा मान कर **उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति-स्तोभति-स्था-सेनय-सेध-सिच्-सञ्ज-स्वञ्जाम्** (8.3.65) से उपसर्गस्थ निमित्त (इण्) से परे 'स्थिति' के स् को ष् प्राप्त हुआ, पर प्रस्तुत वार्तिक से 'दुर्' की उपसर्गसंज्ञा का निषेध होने के कारण नहीं हुआ । 'दुर्भवानि' में **आनि लोट्** (8.4.16) से णकार (दुर्भवाणि) प्राप्त था । वह भी उपसर्गत्वप्रतिषेध के कारण नहीं हुआ ।

प्राचीन आचार्य 'दुर् से परे कुछ आचार्यों के मत में णकार नहीं होता', कहते है । यह उचित नहीं है । 'किन्हीं के मत में णत्व का निषेध होता है', कहने से 'सिद्धांत में तो णत्व होता ही है', ऐसा अनिष्ट अर्थ द्योतित होता है, जो भाष्यविरुद्ध है ।

2232 शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे (8.4.18) --उपदेशे कादि-खादि-षान्त-वर्जे गद-नदादेरन्यस्मिन् धातौ परे उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य नेर्नस्य णत्वं वा स्यात् । प्रणिभवति, प्रनिभवति ।। 22 ।।

इहोपसर्गाणासमस्तत्वेऽपि संहिता नित्या । तदुक्तम्—

अन्तर्घि, अन्तर्भवाणि । 2232 उपदेश में ककारादि, खकारादि और षकारांत को छोड़ कर, √गद्, √नद् आदि से भिन्न धातु बाद में होने पर उपसर्ग में स्थित निमित्त के पश्चात् स्थित 'नि' के न् को ण् विकल्प से हो जाए । प्रणिभवति । प्रनिभवति ।। 22 ।।

सन्धि कहाँ होती है, कहाँ नहीं

यहाँ यद्यपि उपसर्ग धातुओं के साथ समस्त नहीं हैं, तब भी सन्धि नित्य होती है । कहा है—

'अन्तः'-शब्दस्याङ्-कि-विधि-णत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् (वा०)—अङ् (कृत्-प्रकरण-स्थ अङ् प्रत्यय), कि (**उपसर्गे घोः किः** से विहित एक कृत्प्रत्यय) तथा णत्व के विधान के प्रसंग में 'अन्तर्' निपात की 'उपसर्ग' संज्ञा होती है । 'अन्तर्' की उपसर्ग संज्ञा होने के कारण अन्तर्+धा में **आतश्चोपसर्गे** (3.1.136) से धातु के पश्चात् अङ् प्रत्यय हो गया—अन्तर्धा+अ । **आतो लोप इटि च** (6.4.64) से धा के आ का लोप—अन्तर्ध, स्त्रीत्व में **अजाद्यतष्टाप्** (4.1.4) से टाप् होने पर 'अन्तर्धा' हो जाता है । 'अन्तर्भ-वाणि' में उपसर्ग संज्ञा के कारण **आनि लोट्** से न् को ण् हो जाता है ।

2232 **शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे** (8.4.18)—'अकखादौ, अषान्ते, उपदेशे' यह पदच्छेद है । नेः 6.1 गत-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च (17), उपसर्गात् 5.1 असमासेऽपि णोपदेशस्य (14), रषाभ्यां 5.2 नो 6.1 णः 1.1 (1) की अनुवृत्ति है । 'शेषे' से तात्पर्य 'पूर्वसूत्र में पठित धातुओं से अन्य धातुओं में' है । पूर्वसूत्र में पठित √गद्, √नद् आदि धातुओं से अन्य धातु अभीष्ट हैं । उपदेशकाल (धातु पाठ) में जो कका-रादि तथा खकारादि एवं षकारांत नही है, ऐसी तथा गद-नदादि-भिन्न धातु परे रहते उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ तथा षकार से) परे स्थित 'नि' के नकार को णकार विकल्प से होता है । प्र+नि+भवति में ण् विकल्प से हो गया, तो प्रणिभवति, नहीं तो प्रनि-भवति ।

'उपदेशे' का प्रयोजन : उपदेश में क-खादि-षांत, किंतु प्रक्रिया में अक-खादि-षांत धातुओं में णत्व-निषेध के लिये यहाँ 'उपदेश' पद दिया गया है । अतः 'प्रनिच-खान', 'प्रनिपेक्ष्यति' आदि स्थलों में णत्व नहीं होता ।। 22 ।।

सन्दर्भ : 'तयोर्य्वावचि संहितायाम्' (8.2.108) से चलने वाला 'संहितायाम्'

(1) 'संहितैकपदे नित्या, (2) नित्या धातूपसर्गयोः ।
(3) नित्या समासे, (4) वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते' ।। इति ।। 23 ।।

सत्ताद्यर्थनिर्देशश्चोपलक्षणम् । 'यागात्स्वर्गो भवती'त्यादावुत्पद्यत इत्याद्यर्थात् । उपसर्गास्त्वर्थविशेषस्य द्योतकाः । प्रभवति, पराभवति, सम्भवति,

सन्धि (1) एक पद में (पद के आन्तरिक अवयवों में) नित्य होती है ; (2) धातु और उपसर्ग (के मध्य) में नित्य होती है; (3) समास में नित्य होती है; (4) किन्तु वह वाक्य में वक्ता की इच्छा पर निर्भर करती है ।। 23 ।।

धातुओं का धातु-पाठोक्त अर्थ उपलक्षण-मात्र है

(धातुओं का) 'सत्ता' आदि अर्थ बतलाना (वाचकत्व का) उपलक्षण मात्र है; क्योंकि 'याग करने से स्वर्ग होता है', इत्यादि वाक्यों में ('भवति'='होता है' का) अर्थ 'उत्पन्न होना' इत्यादि है । उपसर्ग तो धातु के किसी खास अर्थ को द्योतित कर

का अधिकार आठवें अध्याय के अंत तक है । णत्व प्रकरण 8.4 के अन्तर्गत है, अतः 'संहितायाम्' के अधिकार में है । संहिता वक्ता की इच्छा पर निर्भर करती है; अतः विवक्षा न होने पर विकल्प स्वतः सिद्ध हो जाता है । तब उपर्युक्त **शेषे विभाषाऽकखादा०** में विभाषा निरर्थक है । इस शंका के समाधान के लिये संधि की नित्यता और अनित्यता की परिस्थितियों पर प्रकाश इस अनुच्छेद में डाला गया है ।

संहिता तीन परिस्थितियों में तो नित्य है, और केवल एक में वह वक्ता की इच्छा पर निर्भर करती हैं । 'प्र-भवाणि' आदि स्थलों में उपसर्ग और धातु के मध्य विहित संहिता के नित्यत्व का निवारण करने को **शेषे विभाषा०** सूत्र में 'विभाषा' शब्द दिया है ।। 23 ।।

उपसर्ग का कार्य : 'उपसर्ग' शब्द की व्युत्पत्ति 'उपसृजति इति उपसर्गः' है । यह धातु के साथ वैदिक भाषा में अर्थतः जुड़ कर और लौकिक संस्कृत में साक्षात् (शब्द-शरीर से) जुड़ कर उस धातु के अर्थ-विशेष की सृष्टि करता है ।[1]

धात्वर्थ-निर्देश निदर्शन मात्र है : यदि धातु के साथ उपसर्ग को लगाने से अर्थान्तर (धातुपाठ-प्रतिपादित अर्थ से भिन्न अर्थ) हो जाता है, तो **भू सत्तायाम्** इस प्रकार अर्थ का निर्देश तो निदर्शन-मात्र हुआ । व्यवहार भी इसी बात का समर्थन करता है । जैसे 'यागात्स्वर्गो भवति' वाक्य में 'भवति' का अर्थ 'विद्यते' (विद्यमान—सत्तावान्) तो नहीं है । क्योंकि सत्ता पूर्वतः सिद्ध पदार्थ की ही होती है । स्वर्ग तो याग का उत्पाद्य फल है, फलतः 'यज्ञ (करने) से स्वर्ग उत्पन्न होता है' इस प्रकार स्वयं

---

1. उपसर्गों पर विशेष के लिये निरुक्त-मीमांसा, अध्याय 14-15 देखें ।

अनुभवति, अभिभवति, उद्भवति, परिभवतीत्यादौ विलक्षणार्थावगतेः। उक्तं च—'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।

प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्' ॥ इति ॥ 24 ॥

2.1 एध वृद्धौ ॥ 1 ॥ कत्थन्ताः षट्त्रिंशदनुदात्तेतः। 2233 टित आत्मनेपदानां टेरे (3.4.79)—टितो लस्याऽत्मनेपदानां टेरेत्वं स्यात्। एधते।

देते हैं; क्योंकि प्रभवति (समर्थ होता है). पराभवति (पराजित होता/करता है), सम्भवति (शक्य होता है), अनुभवति (अनुभव करता है), अभिभवति (पराजित करता है) इत्यादि प्रयोगों से भिन्न-भिन्न अर्थ प्रतीत होते हैं। कहा भी है—

उपसर्ग के द्वारा धातु का अर्थ बलपूर्वक अन्य अर्थ में परिणत कर दिया जाता है। जैसे—प्रहार (चोट), आहार (भोजन), संहार (नाश), विहार (मौज-मज़ा), परिहार (बचाव) ॥ 24 ॥

धातु वर्ग 2 : 1 √एध्+लट्

1.1 √एध् बढ़ना अर्थ में है ॥ 1 ॥ √कत्थ् तक छत्तीस धातु अनुदात्त स्वर की इत्संज्ञा वाली हैं। 2233 टित् 'ल्' के स्थान में हुए आत्मनेपदों की टि के स्थान

धातु से ही सत्ता से अन्य उत्पत्ति अर्थ प्रकट होता है। अतः 'सत्ता' आदि अर्थ नवीनों द्वारा निदर्शन-मात्र के लिये किये गये हैं। भाष्यकार ने **चुटू** (1.3.7) सूत्र के भाष्य में 'पाणिनि ने कुछ धातुओं को अर्थसहित तथा कुछ को अर्थ रहित दिया है', कहा है। **अनेकार्था धातवः** (धातु अनेक अर्थ वाले होते हैं) यह प्रसिद्ध सिद्धांत भी अर्थ-निर्देश को उपलक्षणमात्र ही प्रकटित करता है। उपसर्ग अर्थ-विशेष के अभिधायक नहीं हैं, अपितु द्योतक ही हैं। अभिधायक तो धातु ही हैं। एक 'भवति' के साथ ही भिन्न-भिन्न उपसर्ग लगने से विलक्षण (भिन्न-भिन्न) अर्थ क्रमशः 'समर्थ होता है,' 'पराजित होता है', 'हो सकता है', 'अनुभव करता है', 'दबाता या तिरस्कृत करता है', 'ऊपर उठता है' या 'प्रकट होता है,' तथा 'पराजित करता है' होते हैं। यही बात अन्यत्र भी कही गई है—उपसर्ग के द्वारा धातु का अर्थ बलात् ही अर्थांतर में परिणत कर दिया जाता है। जैसे एक ही **हृञ् हरणे** (भ्वा०, उ०, अ०) धातु 'प्र' आदि उपसर्गों के साथ लगने से विलक्षण अर्थों को व्यक्त करती है : 'प्रहार' का चोट, 'आहार' का भोजन, 'संहार' का विनाश, 'विहार' का रमण और 'परिहार' का हटाना अर्थ होता है ॥ 24 ॥

2233 **टितः** 6.1, **आत्मनेपदानां** 6.3, **टेः** 6.1, ए 1.1 (3.4.79)—लस्य (77)। 'ए' में प्रथमा विभक्ति (सु) का सौत्र लोप हो गया है। टित लस्य आत्मनेपदानां टेः

2234 सार्वधातुकमपित् (1.2.4)—अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत् स्यात् । 2235 आतो ङितः (7.2.81)—अतः परस्य ङितामाकारस्य इय् स्यात् । एधेते, एधन्ते । 2236 थासः से (3.4.80)—टितो लस्य थासः से स्यात् ।

में 'ए' हो जाए । एधते । 2234 प् की इत्संज्ञा से रहित सार्वधातुक ङित् जैसा हो । 2235 ह्रस्व अ के पश्चात् स्थित ङित्संज्ञकों के 'आ' के स्थान में 'इय्' हो । एधेते, एधन्ते । 2236 ट् की इत्संज्ञा वाले 'ल्' के आदेश थास् के स्थान में 'से' आदेश हो

ए—टित् (ट् की इत्संज्ञा वाले, लट् से लोट् तक के) लकार के (आदेश) आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्ययों की टि को ए होता है । आत्मनेपद संज्ञा तङ् तथा आन (शानच् तथा कानच्) की है, तब भी यहाँ भाष्य-प्रामाण्य से[1] तङ् मात्र का ग्रहण होता है । फलतः 'पचमान' आदि शानजंत तथा 'चक्राण' आदि कानजंत उदाहरणों में **टित आत्मनेपदानां टेरे** से एत्व नहीं होगा ।

2234 **सार्वधातुकमपित्** (1.2.4)—गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् 1.1 (1) । अङित् ङित् के समान हो सकता है, साक्षात् ङित् नहीं । अतः 'ङित्' से 'ङिद्वत्= ङित् की तरह' समझना चाहिये । जिस सार्वधातुक में 'प्' की इत्संज्ञा न हो, वह 'ङित्' की तरह होता है । फलतः ङित् के निमित्त से होने वाले कार्य वहाँ भी होंगे । तिप्, सिप्, मिप् तथा शप् से भिन्न सब तस् आदि तिङ् तथा शतृ, शानच् आदि कृत् ङित् हैं ।

2235 **आतो ङितः** (7.2.81)—अतो 5.1 येयः 1.1 (80) । 'ङितः' में अवयव षष्ठी है : अतः (परस्य) ङितः (अवयवस्य) आतः इयः भवति—ह्रस्व अकार के पश्चात् स्थित तथा ङित् (प्रत्यय के) अवयव दीर्घ आ के स्थान में इय आदेश होता है । 'इय' में 'अ' उच्चारणार्थक है, यह **अतो येयः** (पृष्ठ 145) पर कहा जा चुका है ।

2236 **थासः** 6.1 **से** 1.1 (3.48.0)—टित आत्मनेपदानाम्० (79), लस्य (77) : टित् लकार के (आदेश) थास् को से (आदेश) होता है । 'से' के अनेक अल् (स्+ए) वाला होने के कारण समूचे 'थास्' को 'से' होता है । 'से' की विभक्ति लुप्त है ।

2.1 **√एध्** धातु 'बढ़ना' अर्थ में है । यह उदात्त तथा अनुदात्तेत् है । **√एध्**

---

1. **'आने मुग्' ज्ञापकं त्वेत्वे टित्तङाम्, इशिसीरचः ।**
डा-रौ-रस्सु, टिदटितः, प्रकृते तद्, गुणे कथम् ।। म० भा० 3.4.79, पृष्ठ 404 डा० पं० श्री रामप्रसाद त्रिपाठीजी ने इसकी ये युक्तियाँ सुझाई हैं : (1) **तिप्तस्झि०** (78) सूत्र की अनुवृत्ति करके 'तिबाद्यन्तर्गत जो आत्मनेपद', इस व्याख्यान से, अथवा (2) 'वर्तमान' इत्यादि निर्देश से तङ्मात्र का ग्रहण होगा ।

एधसे । एधेथे, एधध्वे । अतो गुणे—एधे । एधावहे, एधामहे ॥ 25 ॥

जाए । एधसे । एधेथे, एधध्वे । ह्रस्व अ के पश्चात् गुण (-वर्ण) होने पर (दोनों को पररूप एकादेश होता है)—एधे । एधावहे, एधामहे ॥ 25 ॥

से ले कर √**कत्थ्** तक छत्तीस धातु उदात्त तथा अनुदात्तेत् हैं । उदात्त होने का फल **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (7.2.10) से उपदेश में धातु के अनुदात्त होने के कारण होने के कारण होने वाला निषेध नहीं होगा । अनुदात्तेत् होने का फल **अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्** से आत्मनेपद-विधान है । इस प्रकार √**एध्** आदि √**कत्थ्** तक छत्तीस धातु सेट् तथा आत्मनेपदी हैं, यह निष्कर्ष निकलता है ।

कुछ लोगों के अनुसार धातु के अंत में पठित 'अ' (चुरादिगणीय धातुओं को छोड़ कर) धातु के अंत्य अल् की अर्थनिर्देश के आदिवर्ण के साथ संधि से संभावित विकार के संदेह को दूर करने के लिए दिया है । जैसे, यहीं संधि से 'एद्वृद्धौ' रूप यदि हो जाये, तो धातु 'एद्' है, या 'एध्' यह संशय उपस्थित हो सकता है । परंतु यह मत उदात्तेत्त्व आदि प्रयोजन होने से तथा सर्वाचार्यपरंपराविरुद्ध होने से अनादेय है ।

यहाँ मूलतः स्वर **एध्** ('ध' अनुदात्त) है । किंतु **उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** (8.4.56) से उदात्त 'ए' के अनन्तर उच्चारित अनुदात्त (धकारान्तवर्ती अ) स्वरित हो जाता है । इत्संज्ञाविधायक सूत्र **उपदेशेऽजनु०** (1.3.2) की दृष्टि में उपर्युक्त सूत्र **पूर्वत्रासिद्धम्** (8.2.1) से असिद्ध है । अतः व्यवहारतः स्वरित की इत्संज्ञा होते हुए भी शास्त्रदृष्ट्या अनुदात्त की ही इत्संज्ञा होती है । अतः धातु अनुदात्तेत् ही है । 'ए' पारिशेष्यात् उदात्त रह जाता है ।

एधते—√एध् से वर्तमान में कर्ता में लट् हुआ : एध्+लट् । ल् को प्रथमा एक वचन की विवक्षा में धातु के अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपद 'त' हुआ : एध् + त । उसकी सार्वधातुक संज्ञा होने के बाद शप् हो गया । उसकी भी **तिङ् शित्०** से सार्वधातुक संज्ञा हो गई : एध्+अ+त । **टित आत्मनेपदानां**—से त में अ को ए : एधते । इसी प्रकार एध्+ध्वम्=एधध्वे ।

एधेते—√एध्+लट्, प्र०, द्वि० व० की विवक्षा में आत्मनेपद आताम् : एध्+आताम् । आताम् की सार्वधातुक संज्ञा, शप् : एध्+अ+आताम् । **सार्वधातुकमपित्** से आताम् को ङिद्वद्भाव । **आतो ङितः** से आ को इय् : एध्+अ+इय्ताम् । **लोपो व्योर्वलि** से य् का लोप : एध्+अ+इताम । अ+इ को **आद् गुणः** से गुण : एध्+एताम् । **टित आत्मने०** से आताम् के आम् अंश को ए : एध्+एते=एधेते । इसी

2237 इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (3.1.36)—इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिटि। आमो मकारस्य नेत्त्वम्, आस्कासोराम्विधा-

2.1 एध्+लिट्, प्रथम की प्रक्रिया

2237 आदि में अकारेतर स्वर वर्ण वाला, गुरु से युक्त (किंतु) √ऋच्छ् से भिन्न जो धातु, उससे आम् हो लिट् बाद में होने पर। आम् के म् की इत्संज्ञा नहीं होती :

प्रकार एध्+आथाम्=एधेथाम्।

एधन्ते—एध्+अ+झ, **झोऽन्तः** से झ् को अन्त् : एध्+अ+अन्त् अ। **अतो गुणे** से अ+अन्त् के दोनो अकारों को एक पररूप आदेश : एध्+अन्त् अ। टि (तकारोत्तरवर्ती अ) को एत्व : एध्+अन्ते=एधन्ते।

एधसे—एध्+अ+थास्। यहाँ आस् को **टित आत्मनेपदानां०** से प्राप्त एत्व को बाध कर **थासः से** से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** से समूचे थास् के स्थान में 'से' होता है : एध्+अ+से=एधसे।

एधे—एध्+अ+इ। **टित आत्मने०**से इ को ए : एध्+अ+ए। **अतो गुणे** से अ और ए को ए का पर-रूप एकादेश : एध्+ए=एधे।

एधावहे—एध+अ+वहि, **अतो दीर्घो यञि** से शप् के अ को आ : एधावहि। **टित आत्मनेपदानाम्०** से 'वहि' की टि इ को ए : एधा+वहे=एधावहे। इसी प्रकार एध्+महिङ्=एधामहे ॥ 25 ॥

2237 इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (3.1.36)—प्रत्ययः (1), परश्च (2), धातोरेकाचो० (22), कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (35) : इजादेः 5.1, गुरुमतः 5.1, अनृच्छः 5.1, धातोः 5.1, परः 1.1, प्रत्ययः 1.1, आम् 1.1, अमन्त्रे 7.1, लिटि 7.1। **इजादेः**—इच् आदिर्यस्य, स इजादिः, तस्मात्। **अनृच्छः**—न ऋच्छ्=अनृच्छ् (तत्पु०), तस्मात्। तीनों पञ्चम्यंत शब्द धातोः 5.1 के विशेषण हैं : (1) जिसका पहला वर्ण इच् प्रत्याहार (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) का कोई वर्ण है, (2) जो गुरु (संयोग से पूर्व विद्यमान स्वर वर्ण) वाला है, (3) '√ऋच्छ्' से भिन्न है, ऐसे धातु के पश्चात् आम् प्रत्यय होता है, लिट् बाद में होने पर, मन्त्र से भिन्न प्रदेश में।[1]

'आम्' के 'म्' की इत्संज्ञा नहीं होती : 'आम्' के 'म्' की इत्संज्ञा **हलन्त्यम्** से

---

1. आम् का प्रयोग मंत्र (संहिता) में एक स्थल **असून् पितृभ्यो गमयां चकार** (अथर्ववेद 18.2.27) में ही मिलता है। तैत्तिरीय आदि संहिताओं के मन्त्र-भाग में भी नहीं मिलता, ब्राह्मण भाग में मिलता है। ऐ० ब्रा०, श० ब्रा० आदि में प्राचुर्येण मिलता है।

नाज्ञापकात्। 2238 आमः (2.4.81)—आमः परस्य लेर्लुक् स्यात्। 2239 कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि (3.1.4)—आमन्ताल्लिट्परा: कृञ्वस्तयोऽनु-

√आस् और √कास् को आम् का विधान इसका सूचक है। 2238 आम् के बाद स्थित लि का लुक् हो जाए। 2239 अंत में आम् वाली धातु के पश्चात् बाद में लिट्

प्राप्त है, पर सूत्रकार के कुछ विधानों से ज्ञात होता है कि उन्हें यह अभीष्ट नहीं है : उन्होंने **कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि** (3.1.35) से √कास् को और **दयायासश्च** (37) से √आस् को आम् का विधान किया है। यदि आम् के म् की इत्संज्ञा होती है, तो आम् (आ) प्रत्यय **मिदचोऽन्त्यात् परः** (1.1.47) से दोनों धातुओं के स्वर (आ) के पश्चात् होगा : का आ स्, आ आ स्। फिर सवर्ण दीर्घ होने पर रूप निष्पन्न हुए √कास् और √आस्। तब यहाँ आम् करना निष्प्रयोजन हुआ। इन धातुओं को आम् का यह विधान सूचित करता है कि आम् के म् की इत्सज्ञा नहीं होती कि वह **मिदचोऽन्त्यात् परः** (1.1.47) से अंतिम अच् के पश्चात् हो।

2238 **आमः** (2.4.81)—ण्यक्षत्रियार्ष-ञितो यूनि **लुक्** 1.1 अणिञोः (58), मन्त्रे घस० जनिभ्यो लेः 6.1 (80)। **आमः** 5.1, **लेः** 6.1 **लुक्** 1.1—आम् के पश्चात् स्थित लि का लुक् होता है। कुछ आचार्यों का कथन है कि आम् के पश्चात् लुप्यमान लि (लिट्) ही है। अतः लुप्यमान के रूप में 'लेः' अर्थतः ही प्राप्त है, उसकी अनुवृत्ति आवश्यक नहीं है।

2239 **कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि** (3.1.40)—कास्प्रत्ययादाम् 1.1 अमन्त्रे० (35) से 'आम्' आ कर पञ्चम्यन्त के रूप में परिणत होता है : **आमः कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि**। प्रत्यय जहाँ पूर्व-निमित्त के रूप में कथित होता है, वहां प्रत्ययांत का भी ग्रहण होता है : **प्रत्यय-ग्रहणे यस्मात् स विहितः, तदादेस्तदन्तस्यापि ग्रहणम्** (प० 24)। अतः 'आमः' का अर्थ होगा : आमन्तात्। 'कृञ्' से अकेली √कृ ही नहीं ली जाती, क्योंकि एक सूत्र में 'अनुप्रयोग' शब्द के साथ 'कृञ्' शब्द का प्रयोग किया गया है : **आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य** (1.3.63)। इससे सूचित होता है कि अनुप्रयोग में √कृ के अलावा भी कोई धातु है। √कृ के साथ अन्य धातुओं का इकट्ठा प्रयोग **कृञ्वस्ति-योगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** (5.4.50) में आया है। इसी प्रसंग में आगे **कृञो द्वितीय-तृतीय-शम्ब-बीजात् कृषौ** (58) में कृञ् का प्रयोग आया है। भाष्यकार का कहना है कि यहाँ **कृञ्वस्ति०** (5.4.50) से 'कृ' ले कर **'कृञो०'** (58) के ञकार से 'कृञ्' प्रत्याहार इष्ट है तथा इससे √कृ, √भू और √अस् का ग्रहण होता है।

पुराने वाङ्मय में √कृ का अनुप्रयोग सर्वाधिक, √अस् का कुछ बार तथा √भू का कभी नहीं मिलता। परवर्ती वाङ्मय में भी √भू का अनुप्रयोग कम ही मिलता है,

प्रयुज्यन्ते। 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' (1.3.63)—इति सूत्रे कृञ्ग्रहण-सामर्थ्यादनुप्रयोगोऽन्यस्यापीति ज्ञायते। तेन 'कृभ्वस्तियोग०' (5.4.50)—इत्यतः 'कृञो द्वितीय०' (5.4.58)—इति ञकारेण प्रत्याहाराश्रयणात् कृ-भ्वस्ति- से युक्त √कृ, √भू और √अस् का अनुप्रयोग होता है। **आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य** (1.3.63) सूत्र में 'कृञ्' शब्द देने से सिद्ध होता है कि अनुप्रयोग किसी अन्य धातु का भी होता है। फलतः **कृ-भ्वस्ति-योगे०** (5.4.50) से (कृ) लेकर **कृञो द्वितीय०** (58)

हाँ, √अस् का अनुप्रयोग बहुत बढ़ गया है।[1] महाभारत तथा वीर-चरित्र में अन्य √प्र-क्रम्, √वि-धा और √वस् के अनुप्रयोगों को देखते हुए कैयट का **तत्र समानार्थस्य धातोरनुप्रयोगो न भविष्यति** (प्र० 3.1.40) कथन भाषा के प्रयोग की प्रवृत्ति को सूचित करता है, वस्तुस्थिति को नहीं। व्यावहारिक भाषा में निरकुंशता होती ही है।

लिटि—आमंत प्रकृति के पश्चात् स्थित लिट् का **आमः** (2.2.38) से लुक् हो जाता है। तब, √कृ आदि का अनुप्रयोग किये जाते समय वहाँ लिट् है नहीं। **सर्वविधिभ्यो लुग्विधिर्बलवान्** (प० 100) के कारण लुक् से पूर्व अनुप्रयोग नहीं हो सकता। तब 'लिटि' का अभिप्राय यह होगा कि यहाँ अनुप्रयोग अकेले √कृ आदि का नहीं, अपितु अपने बाद लिट् को लिए हुए ही होगा: एधाम्+कृ+लिट्/भू+लिट्/अस्+लिट्।

वाङ्मय में लिट् के अलावा लुङ्, आशीर्लिङ्, लोट् तथा लट् के प्रयोग भी मिलते हैं: अकः (कृ+लुङ्, परस्मै०, प्र० एकव०), जनयाम्, रमयाम्, सादयाम्, स्थापयाम् और स्वदयाम् के साथ, अक्रन् (कृ+लुङ्, प०, प्र० बहुव०) विदाम् के साथ क्रियाम् (कृ+आशीर्लिङ्, उ० एकव०) पावयाम् के साथ, लोट् विदांकरोतु, विदांकुर्वन्तु, लट् जुहवांकरोति (शा० श्रौ० सू० 16.15.1), विदांकरोति।[2]

अनुप्रयोग अव्यवहित ही होगा: सूत्र में आम् के पश्चात् कृञ् का अनुप्रयोग बताया है। यहाँ पंचमी (आमः) आमंत प्रकृति से पूर्व अनुप्रयोग की निवृत्ति करती है। उसके होते हुए भी 'अनुप्रयोग' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि यह प्रयोग अव्यवहित-पर होगा।[3] अतः **तम्पातयां प्रथममास पपात पश्चात्** (रघुवंश 9.61) आदि

---

1. व्हिटने, वि० ड्वा०, संस्कृत ग्रामर, अनुच्छेद 1070 बी, सी।
2. व्हिटने, वही, अनुच्छेद 1073 बी, सी।
3. म० भा० 3.1.40, भा० वा० 8-9: **विपर्यास-निवृत्त्यर्थं वा।...ईहां चक्रे। 'चक्र ईहाम्' इति मा भूत्। व्यवहित-निवृत्त्यर्थं च। अन्वेव चानुप्रयोगो यथा स्यात्।... ईहाञ्चक्रे। व्यवहितस्य मा भूत्—ईहां देवदत्तश्चक्रे।**

लाभः। तेषां क्रिया-सामान्य-वाचित्वादाम्प्रकृतीनां विशेष-वाचित्वात्तदर्थयोर-भेदेनान्वयः। सम्पदिस्तु प्रत्याहारेऽन्तर्भूतोऽप्यनन्वितार्थत्वान्न प्रयुज्यते।

सूत्र के 'ञ्' से बने (कृञ्) प्रत्याहार का आश्रय लेने के कारण (मध्यवर्ती) √कृ, √भू, √अस् धातु प्राप्त होती हैं। वे चूँकि सामान्य क्रिया को प्रकट करती हैं, और आम् जिनसे हुआ है, वे धातु विशेष क्रिया को प्रकट करती हैं, अतः इन दोनों के अर्थों का अन्वय (संगति) अभेद के आधार पर होगा। √सम्पद् तो यद्यपि (कृञ्) प्रत्याहार में है, तब भी उसके अर्थ की संगति मुख्य धातु के अर्थ से न हो पाने के कारण यहाँ प्रयुक्त नहीं होता।

में 'पातयाम्' और 'आस्' का पदांतर ('प्रथमम्') से व्यवहित प्रयोग वार्तिककार और भाष्यकार तथा अन्य वैयाकरणों की दृष्टि में कवि की निरंकुशता को सूचित करता है।

किंतु वस्तुस्थिति यह है : ब्राह्मणों से लेकर महाकवियों के प्रयोगों तक में व्यवहित प्रयोग उपलब्ध होते हैं—**मीमांसामेव चक्रे** (श० ब्रा० 4.2.1.7), **विदां वा इदमयं चकार** (जै० ब्रा०)।[1] कालिदास के काव्यों में ऐसे प्रयोग कतिपय बार मिलते हैं। पुराणों और शिलालेखों में भी इस प्रकार के प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[2] इसी लिये हरदत्त ने वार्तिकार पर आक्षेप के द्वारा व्यवहित निवृत्ति का खंडन उचित ही किया है।[3] वस्तुतः तो आमंत शब्द स्वतंत्र पद के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, यह इसके

---

1. व्हिटने ने संस्कृत ग्रामर, अनुच्छेद 1072 सी, में यह उदाहरण दिया है। किंतु वैदिक पदानुक्रमकोष, 2.2, 1966 ई० सं०, में हम यह प्रयोग नहीं खोज पाए हैं।
2. श्रीमद्भा० 9.5.25 : **'क्रिया-कलापैः समुवाह भक्तिं यया विविञ्च्याग्निरयांश्च-कार'**, और जूनागढस्थ स्कन्दगुप्त-प्रशस्ति, खण्ड 1, श्लोक 30 : **विचिन्तयां चापि बभूवुरुत्सुकाः।**
3. प० मं० 3.1.40 : **कथं व्यवहितनिवृत्तिः? आमपेक्षया पश्चाद्भावस्य। तत्रैव मुख्यत्वात्। तदेवं पूर्वनिवृत्तिर्व्यवहितनिवृत्तिश्च प्रयोजनम् इति स्थितम्। इह तु 'तान् ह राजा मदयामेव चकार'** (ऐ० ब्रा० 6.1) **इति बह्वृच-ब्राह्मणे व्यवहित-प्रयोगश्छान्दसः। कथं भट्टिकाव्ये 'उक्षां प्रचक्रे* नगरस्य मार्गान्** (3.5), **'बिभयां प्रचकारासौ' इति? कथं वा 'तं पातयां प्रथममास'** (रघु० 9.61), **'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार'** (रघु० 13.36) **इति? वार्तिककारः पृच्छ्यताम्, यः पठति 'विपर्यासनिवृत्त्यर्थं वाच्यम्, व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च'** (म० भा० 3.1.40, वा० 8-9) **इति!**
*शुद्ध पाठ **प्रचक्रुर्** है। जयमङ्गला में वार्तिकमत का आश्रय लेकर **उक्षान् प्रचक्रुर्**, पाठ की व्याख्या की गई है।

कृञस्तु क्रियाफले परगामिनि परस्मैपदे प्राप्ते—2240 आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य (1.3.63)—आम् प्रत्ययो यस्मादित्यतद्गुण-संविज्ञानो बहु-

√कृ से तो क्रिया-फल अन्य किसी को मिलने वाला अभिप्रेत हो, तो परस्मैपद प्राप्त होने पर—2240 ('आम्प्रत्ययवत्' पद में) आम् प्रत्यय जिसके पश्चात् है, इस प्रकार अतद्गुण-संविज्ञान[1] बहुव्रीहि है। अनुप्रयुक्त होती हुई कृ से आत्मनेपद आम्

---

(1) अंतिम 'म्' की परवर्ती पद के आदिम वर्ण के साथ संधि से, (2) स्वर से तथा (3) इतिहास के अध्ययन[2] से विदित होता है। अतः व्यवहित प्रयोग प्रमाद नहीं हैं।

2240 **आम्प्रत्ययवकृञोऽनुप्रयोगस्य** (1.3.63)—सूत्र में 'कृञः' तथा 'अनुप्रयोगस्य' दो षष्ठ्यंत पदों का प्रयोग किया है। यदि 'कृञ्' से तात्पर्य एक √कृ से ही होता, तो 'अनुप्रयोगस्य' विशेषण व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि इस प्रसंग में 'कृञ्' अनुप्रयोग ही है। फलतः विशेषण किसी अन्य से व्यावृत्ति के लिये दिया है, ऐसा सिद्ध होता है। अर्थात् अनुप्रयोग में अकेले √कृ का ही विधान नहीं है, अपितु अन्य भी कोई धातु है। उसीकी व्यावृत्ति के लिये 'कृञः' का 'अनुप्रयोगस्य' विशेषण चरितार्थ हो जाता है: 'अनुप्रयोग की धातुओं में से कृञ् को ही'। इससे सिद्ध हुआ कि अनुप्रयोग अकेले कृञ् का ही नहीं है, और भी धातु अथवा धातुओं का अनुप्रयोग होता है।

अनुप्रयुज्यमान धातु कौन-सी तथा कितनी हैं? कृञ् चानुप्रयु० सूत्र में 'कृञ्' यह धातु का स्वरूपमात्रेण ही ग्रहण नहीं है, अपितु प्रत्याहार है। यह प्रत्याहार **अभूततद्भावे कृभ्वस्ति-योगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** (5.8.50) से कृ, भू, अस् को तथा **अभिविधौ सम्पदा च** (5.4.53) से **सम्पद्** को ले कर **कृञो द्वितीय-तृतीय-शम्ब-बीजात् कृषौ** (5.4.58) के 'ञ्' पर समाप्त होता है। इसमें से भी, √कृ, √भू तथा √अस् सामान्य क्रिया को कहते हैं: √कृ, √भू, √अस् से प्रतिपाद्य 'करना', 'होना' क्रिया प्रत्येक विशेष क्रिया—खाना, सोना, उठना, बैठना आदि—के साथ लगाई जा सकती है। 'सम्पद्' (सम् पूर्वक √पद् धातु) का अर्थ 'सिद्ध वस्तु का दूसरे स्वरूप में बदलना' विशेष क्रिया है है। अभेदान्वय सामान्य तथा विशेष का तो बन सकता है। पर, विशेष से विशेष का अभेद सम्भव नहीं है। जैसे जल का सामान्य रूप है, तो दूध का विशेष रूप है। इनका अभेद तो हो सकता है; पर नील एव पीत, विशेष रूपों का अभेदान्वय नहीं हो सकता। यहाँ भी जिसके साथ अनुप्रयोग हो रहा है, वह धातु एवं

---

1. इसका अर्थ व्याख्या में देखें।
2. इस अनुच्छेद की व्याख्या का अंतिम भाग देखें।

व्रीहिः। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात्कृञोऽप्यात्मनेपदं स्यात्। इह 'पूर्ववद्' इत्यनुवर्त्य वाक्य-भेदेन सम्बध्यते—पूर्ववदेवात्मनेपदं, न तु तद्-विपरीतमिति।

की प्रकृति धातु के समान हो। यहाँ 'पहले के समान' की अनुवृत्ति करके वाक्य को तोड़ते हुए संगति की जाती है—पहले की तरह ही आत्मनेपद होता है, न कि उसके विपरीत। इससे 'इन्दांचकार' इत्यादि से फल यदि कर्ता को भी प्राप्त होता है, तब भी

जिसका अनुप्रयोग हो रहा है, वह धातु, इन दोनों धातुओं का अर्थ पृथक्-पृथक् प्रतीत न होकर अभेदेन ही प्रतीत होगा। प्रस्तुत प्रकरण से भी विशेषार्थक √एध् धातु के साथ सामान्य √भू, √अस्, √कृ का अभेद अन्वय होता है: **'एधाम्**=वृद्धि, **चकार**=कर्त्रनुकूल क्रिया=वृद्धि से अभिन्न कर्तृस्थ, किया', यह अभेद होता है। √अस् में भी अभेद सम्पन्न होता है। फलतः अभेदान्वय आवश्यक है। और वह विशेषार्थक आम्प्रकृति धातुओं से सामान्यार्थक √कृ, √भू तथा √अस् का ही हो सकता है। √सम्पद् का नहीं। अतः कृञ् प्रत्याहार में होते हुए भी √सम्पद् का अनुप्रयोग प्रयोजन न होने से नहीं होगा। भाष्य में भी **कृम्वस्तीनां ग्रहणम्** कहा है।

सूत्रार्थ : आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य (1.3.63)—पूर्ववत् सनः (62), अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (12)। 'आम्प्रत्ययवत्' का लौकिक विग्रह 'आम्प्रत्ययेन तुल्यम्' (आम्प्रत्यय के समान) है। **तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः** (5.1.115) से 'वति' प्रत्यय है। 'आम्प्रत्यय' में **'आम्' इति प्रत्ययो यस्मात्**—आम् यह प्रत्यय जिस (धातु) से हुआ है, वह (धातु)—इस प्रकार अतद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि है। 'अतद्गुण-संविज्ञान' शब्द में भी बहुव्रीहि है: न विद्यमानन्तद्गुण-संविज्ञानं यस्य, तत्। यहाँ 'तत्' से अन्य-पदार्थ[1] लेना है। अन्य-पदार्थ के गुणों (समास-में प्रयुक्त पदों के अर्थों) का संविज्ञान (सह-विज्ञान, क्रिया के साथ अन्वय) जहाँ न होता हो, वह बहुव्रीहि 'अतद्गुण-संविज्ञान' होता है। जैसे—**पीताम्बरमाह्वय** वाक्य में 'पीताम्बर' पद का अन्य-पदार्थ कोई पुरुष-विशेष है। 'पीत अम्बर' (पीले कपड़े) उसके गुण हैं। 'आह्वय' (बुलाओ) क्रिया से अन्वय पुरुषविशेष का है, न कि उसके गुणों (पीले कपड़ों) का। उसके गुण तो

---

1. बहुव्रीहि समास वाला पद जिसका विशेषण होता है, वह अन्य पदार्थ होता है: पीताम्बरो हरिः। यहाँ 'पीताम्बरः' पद 'हरिः' का विशेषण है। अतः विशेष्य अन्य-पदार्थ होता है। अन्यश्चासौ पदार्थः=समास में प्रयुक्त पदों के अर्थ से अतिरिक्त प्रतीत होने वाला पदार्थ। अव्ययीभाव, तत्पुरुष और द्वंद्व में समास के घटक पदों का अर्थ ही प्रतीत होता है। स्व-पदातिरिक्त पदार्थ की प्रतीति बहुव्रीहि समास की अपनी विशेषता है।

तेन कर्तृगेऽपि फल 'इन्दाञ्चकार' इत्यादौ न तङ्। 2241 लिटस्त-झयोरेशि-

तङ् प्रत्यय नहीं होते। 2241 लिट् के आदेश त और झ के स्थान में (क्रमशः) एश्

विशेषण के रूप में ही अपनी सत्ता को प्रकट करके विरत हो जाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में भी 'आम्प्रत्यय' अपने अन्य-पदार्थ (धातु) का विशेषण है। इसका विशेष्य √एध् आदि धातु ही यहाँ गृहीत होगी, आम् प्रत्यय नहीं।

'कृञ्' के ञित् होने के कारण क्रियाफल जब कर्त्रभिप्रायक होगा, तब तो **स्वरितञितः०** (1.3.72) से ही आत्मनेपद होता है। अतः प्रस्तुत सूत्र क्रियाफल जहाँ परगामी होगा, वहाँ अप्राप्त में प्राप्ति कराने को है। इन्दाञ्चकार (**इदि परमैश्वर्ये**, म्वा, सेट्, प०, कर्तरि लिट्, प्र०, ए० व०) में कृञ् के ञित् होने से परगामी क्रियाफल में आम् प्रत्यय की प्रकृति √इन्द् चूंकि केवल परस्मैपदी है, अतः प्रस्तुत सूत्र से आत्मनेपद नहीं हो सकता। क्रियाफल के आत्मगामी होने पर तो द्वित्व-निमित्तक आत्मनेपद अवश्य प्राप्त होता है। क्योंकि प्रस्तुत सूत्र परगामी क्रियाफल में अप्राप्त आत्मनेपद का विधान करने के कारण आत्मगामी क्रियाफल में **स्वरित-ञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** से प्राप्त आत्मनेपद का 'आम्प्रत्ययवत्' कह कर बाधक नहीं हो सकता। फलतः कृञ् के ञित्त्व को चरितार्थ करने के लिये आत्मनेपद प्राप्त होगा। उसके निवारण के लिये 'पूर्ववत्' पद पूर्वसूत्र से लेकर सूत्र को दो खण्डों में विभक्त किया जाता है: (1) आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्यात्मनेपदं भवति (अनुप्रयोग के कृञ् को आम् प्रत्यय जिस धातु से हुआ है, उसकी तरह आत्मनेपद होता है)। (2) 'पूर्ववत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' (अनुप्रयोग के कृञ् को पहले की तरह आत्मनेपद होता है)।

यहाँ 'आम्' प्रत्यय जिस धातु से हुआ है, वह (कृञ् के अनुप्रयोग से) पूर्व की धातु ही है, तब इस पिष्टपेषण का प्रयोजन क्या है? समानार्थक दो बातों के कहने पर वह कथन नियम बनाया करता है। यहाँ भी 'पूर्ववत्' की अनुवृत्ति से ही 'कृञ् होने से पूर्व अवस्था वाले की तरह', इस प्रकार कार्य सिद्ध था, तब भी 'आम्प्रत्ययवत्' पद का सूत्र में पाठ नियम बनाता है कि पूर्व वाले धातु की तरह ही आत्मनेपद होगा, न कि उसके विपरीत। इस प्रकार एधाम्+कृ में परगामी क्रियाफल में प्राप्त परस्मैपद को बाध कर उपर्युक्त 'आम्प्रत्ययवत्' वाले पहले वाक्य से आत्मनेपद हो गया। 'इन्दांचकार' में आत्मगामी क्रियाफल में प्राप्त आत्मनेपद का 'पूर्ववत्' वाले दूसरे वाक्य खण्ड से निषेध हो कर परस्मैपद ही (**शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** से) हुआ।

2241 **लिटस्त-झयोरेशिरेच्** (3.4.81)—लिट् के आदेश त तथा झ के स्थान में क्रमशः एश् तथा इरेच् आदेश होते हैं। एश् शित् होने से तथा इरेच् अनेकाल्

रेच् (3.4.81)—लिडादेशयोस्त-झयोः 'एश्', इरेच्' एतौ स्तः। एकारोच्चारणं ज्ञापकं तङादेशानां टेरेत्त्वं नेति। तेन डा-रौ-रसां न। 'कृ+ए' इति स्थिते—2242 असंयोगाल्लिट् कित् (1.2.5)—असंयोगात्परोऽपिल्लिट् कित्स्यात्। 'क्ङिति च' इति निषेधात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणो (और) इरेच् होते हैं। (इन दोनों में) 'ए' का उच्चारण सूचित करता है कि त, आताम् आदि प्रत्ययों के आदेशों की टि को 'ए' नहीं होता। इसके फल-स्वरूप डा, रौ और रस् को (एत्व) नहीं होता। (इससे 'एधाम्+) कृ+ए' स्थिति होने पर—

2242 संयोग-रहित (धातु) के पश्चात् स्थित पित्त्व-रहित लिट् (का आदेश तिङ्) कित् हो जाए। 'क्ङिति च' से निषेध के कारण 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से होने वाला गुण नहीं होता। द्वित्व की अपेक्षा पर होने के कारण यण् प्राप्त होने पर—

होने से सर्वादेश है। एश् की शित्त्वनिमित्तक सार्वधातुक संज्ञा को **लिट् च** बाध लेता है। 'इरेच्' में 'च्' की इत्संज्ञा **चितः** (6.1.163) से एधांचक्रिरे आदि प्रयोगों में प्रकृति (एधाञ्चकृ) और प्रत्यय (इरे) के समुदाय (एधाञ्चक्रिरे रूप) को अन्तोदात्त करने को है।

यहाँ यदि 'इश्', 'इरिच्' अथवा 'अश्', 'इरच्' होता, तब भी **टित आत्मनेपदानां टेरे** से एत्व होने के कारण प्रकृत रूप सिद्ध हो सकते हैं, तब एकार (द्विमात्रिक) को देना साभिप्राय है। अर्थात् एकार बतलाता (विज्ञापन करता) है कि **टित आत्मनेपदानाम्०** से टित् लकार के आदेश तङ् प्रत्ययों की टि को ही एत्व होता है, न कि तङ् के आदेशों की टि को भी। इस ज्ञापन का अर्थ होगा कि लुट्स्थानिक तङ् के आदेश डा, रौ, रस् की टि को एत्व नहीं होगा। **लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः** सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने तो 'डा-रौ० आदि आदेशसूत्र से एत्वसूत्र के पर होने के कारण पहले एत्व होने पर पुनःप्रसंगविज्ञान से डा आदि होने पर **लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिः** (प० 121) नियम से पुनः एत्व नहीं होगा।' कहा है। इससे इस ज्ञापक के प्रति भाष्यकार की अरुचि सूचित होती है।

2242 **असंयोगाल्लिट् कित्** (1.2.5)—सार्वधातुकमपित् (4)। लिट् धातु से विहित है, अतः 'धातोः' अर्थतः आ कर 'असंयोगात्' का विशेष्य हो जाता है : असंयोगाद् धातोः अपित् लिट् किद् भवति—संयोग से रहित धातु के पश्चात् स्थित तथा पित् से भिन्न लिट् (का आदेश) कित्संज्ञक होता है। 'संयोग से रहित' विशेषण के कारण मन्थ्+ए में संयोगवान् धातु से परस्थ ए को कित्संज्ञा नहीं होती। फलतः ममन्थे में **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (6.4.24) से न् का लोप नहीं होता। प्रकृत में कित्त्व के कारण गुण का निषेध **क्ङिति च** से हो जाता है।

न। द्वित्वात् परत्वाद्यणि प्राप्ते—2243 द्विर्वचनेऽचि (1.1.59)—द्वि-त्वनिमित्ते-

2243 जिसके कारण द्वित्व होता है, वह अच् बाद में होने पर (पूर्ववर्ती) अच् को

2243 **द्विर्वचनेऽचि** (1.1.59)—इसके पूर्व के सूत्र हैं : **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (56), **अचः परस्मिन्पूर्व-विधौ** (57) तथा **न पदान्त-द्विर्वचन०** (58)। इस सूत्र में अनुवृत्ति के बारे में दो मत हैं : (1) दीक्षितजी ने **आदेशः, अचः, न** की अनुवृत्ति की है, और काशिकाकार तथा माधवीय धातुवृत्तिकार ने **स्थानिवदादेशः, अचः** की अनुवृत्ति मानी है, **न** की नहीं। दोनों पक्षों में **द्विर्वचने** शब्द की दो प्रकार से व्याख्या तथा आवृत्ति की गई है :

(क) द्विश्च तद् वचनम्=द्विर्वचनम् (कर्म-धारय) अर्थात् दो बार उच्चारण। इस व्याख्या में 'द्विर्वचने' भाव-सप्तमी है : द्विर्वचने कर्तव्ये अर्थात् दो बार उच्चारण जब हो, तब।

(ख) द्विः वचनं यस्मिन् निमित्ते, तत् द्विर्वचनम् (बहुव्रीहि), अर्थात् जिसके पश्चाद्वर्ती होने पर दो बार उच्चारण होता है, वह पश्चात् रहते पूर्ववर्ती को। इस व्याख्या में यह पर-सप्तम्यंत है : दो बार उच्चारण जिसे परनिमित्त मान कर होता है, वह बाद में होने पर। अन्य-पदार्थ 'यस्मिन् निमित्ते' सप्तम्यंत है, तथा 'अचि' अन्य-पदार्थ है।

(1) दीक्षितजी के पक्ष में अन्वय यों होगा : (क) द्विर्वचने कर्तव्ये (ख) द्विर्वचने (द्विर्वचन-निमित्ते) अचि (परतः पूर्वस्य) अचः आदेशः न (भवति)। अर्थात् (क) जब दो बार उच्चारण करना रहता हो, तब (ख) दो बार उच्चारण जिस के निमित्त से होता है, वह स्वर पश्चाद्वर्ती होने पर पूर्ववर्ती स्वर को आदेश नहीं होता।

(2) काशिका, माधवीयधातुवृत्ति के पक्ष में अन्वय यों होगा : (क) द्विर्वचने (कर्तव्ये) (ख) द्विर्वचने (द्विर्वचन-निमित्ते) अचि अचः आदेशः स्थानिवद् भवति। अर्थात् (क) द्विर्वचन (ही) जब करना हो, तब (ख) द्विर्वचन का निमित्त स्वर परवर्ती होने पर अच् का आदेश स्थानी के समान हो जाता है। ये लोग इस सूत्र का इस प्रकार अर्थ कर के यहाँ रूपातिदेश[1] मानते हैं।

---

1. रूप का अतिदेश (सादृश्यकरण)। सामान्यतया स्थानिवद्भाव में स्थानि को मान लिया जाता है। रूपातिदेश में स्थानी का रूप ला कर (आदेश हो चुकने पर भी 'पुनर्मूषको भव' न्याय से) उस आदेश से पूर्वकालिक अतिदिष्ट रूप के साथ प्रक्रिया होती है। जैसे 'चक्रतुः' में पहले यण् आदेश (क्+अतुस्) हो जाता है, फिर रूपातिदेश से स्थानिवद्भाव करके (कृ+अतुस् रूप ला कर) क् को कृ ही स्वरूपतः मान लिया जाता है। फिर कृ को द्वित्व आदि शेष प्रक्रिया होती है।

त्तेऽचि परे अच आदशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये । 2244 उरत् (7.4.66)— अभ्यास ऋवर्णस्यात् स्यात् प्रत्यये परे । रपरत्वम् । हलादिः शेषः । 'प्रत्यये' कोई आदेश न हो, यदि द्वित्व करना हो । 2244 अभ्यास के ऋकार के स्थान में ह्रस्व अ हो जाए प्रत्यय बाद में होने पर । (अ के) पश्चात् र् (हो गया) । पहला

भाष्यकार ने प्रथम पक्ष ही दिया है । दोनों व्याख्याओं में फल बराबर होने पर भी दीक्षितजी ने भाष्यप्रोक्त पक्ष का आश्रय ले कर व्याख्या की है । रूपातिदेश पक्ष में गौरव भी है : पहले यण् आदि आदेश करो, फिर रूपातिदेश से स्थानी बनाओ, फिर वहाँ स्थानी के साथ होने वाली प्रक्रिया करो; इस सब व्यापार में गौरव हो जाता है, तथा पहले किया आदेश व्यर्थ-सा प्रतीत होता है । अतः अजादेश-निषेध-पक्ष लाघव होने से उचित है । इसके अतिरिक्त, यदि आचार्य को स्थानिवद्भाव का विधान अभीष्ट होता, तो इस सूत्र को स्थानिवद्भाव-निषेध-सूत्र (**न पदान्त०**) से पूर्व रखते, न कि पश्चात् । अतः आदेश-निषेधपरक व्याख्यान ही उपयुक्त है ।

'द्विर्वचने' की दो तरह से व्याख्या का प्रयोजन : सूत्र में यदि 'द्विर्वचने' का व्याख्यान 'द्वत्व-निमित्ते' न किया जाये, तो दुद्यूषति (√दिव्+सन्+लट्, तिप्) में व् को **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (6.3.19) से पर होने के कारण द्वित्व से पूर्व सम्प्रसारण (ऊ) होने पर दि+ऊ+स को द्वित्व चूँकि करना है, अतः **इको यणचि** (6.1.77) से प्राप्त अण् का निषेध हो जायेगा । 'द्वित्वनिमित्ते' व्याख्यान होने पर तो 'ऊ' के द्वित्व-निमित्तक न होने के कारण **द्विर्वचनेऽचि** सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है । तथा यण् होने पर 'द्यु' को द्वित्वादि कार्य होंगे ।

'अचि' का प्रयोजन : सूत्र में 'अचि' न कहने पर √घ्रा+यङ् स्थिति में **सन्यङोः** (6.1.9) से द्वित्व होने से पहले ही **ई घ्रा-ध्मोः** (7.4.31) से आ को ई हो जायेगा : घ्री+यङ् । फिर द्वित्वादि होने पर जेघ्रीयते रूप बन सकेगा । द्वित्व-निमित्तक अच् के स्थान पर यहाँ द्वित्व-निमित्तक यङ् पश्चात् होने के कारण इस सूत्र से ईत्व का निषेध नहीं प्राप्त है ।

'अच आदेशः' का प्रयोजन : 'अच् का आदेश' कहने से असूषुपत् (√स्वापि लुङ्+चङ्) में हल् व् को **स्वापेश्चङि** (6.1.18) से द्वित्व से पूर्व होने वाला संप्रसारण अच् का आदेश न होने से निषिद्ध नहीं होता । फलतः सम्प्रसारण के अनंतर (सुप्) को द्वित्व हो कर उचित रूप सिद्ध होता है ।

2244 **उरत्** (7.4.66)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य 6.1 (58), अङ्गस्य 6.1 (6.4.1) । अ संज्ञा चूँकि प्रत्यय परे रहते पूर्व की होती है, अतः अङ्गस्य के सामर्थ्य से 'प्रत्यय' की उपस्थिति होती है । 'अङ्गस्य' में अवयव-षष्ठी है । अङ्गस्य (अवयवस्य

किम् ? वव्रश्च । 2245 कु-होश्चुः (7.4.62)—अभ्यास-कवर्ग-हकारयोश्च-वर्गादेशः स्यात् । एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे ।। 26 ।।

व्यंजन शेष (रहा) । (यहाँ) 'प्रत्यय बाद में होने पर' क्यों कहा ? वव्रश्च । 2245 अभ्यास के कवर्ग और हकार को चवर्ग आदेश हो जाए । एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे ।। 26 ।।

अभ्यासस्य उः (=ऋकारस्य) अत् (एकमात्रिकोऽकारो भवति) प्रत्यये (परे)—अङ्ग के अभ्यास के ऋकार को अत् आदेश होता है, प्रत्यय परे रहते । **उरण् रपरः** (1.1.51) परिभाषा से अ के बाद र् लग कर अर् हो जाता है । रूप-सिद्धि की प्रक्रिया में इस पर-वर्ती रेफ का लोप **हलादिः शेषः** से हो जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में यदि 'अङ्गस्य' के सामर्थ्य से 'प्रत्यय' की उपस्थिति न मानें, तो 'वव्रश्च' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा : **ओव्रश्चू छेदने** (तु०, प०, वे०) धातु (√व्रश्च्) से लिट् में व्रश्च्+व्रश्च्+अ स्थिति में **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** (6.1.17) से अभ्यास के रेफ को सम्प्रसारण (वृश्च्+व्रश्च्+अ) हो कर **उरत्** तथा **उरण् रपरः** से ऋ को अर्: वश्र्च् रूप बनता है । यहाँ (वश्र्च्+व्रश्च्+अ) स्थिति में **उरत्** से अद्विधि के पर-निमित्तक होने के कारण **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (1.1.57) से अ को स्थानिवद्-भाव (ऋ-भाव) हो जाता है । फलतः सम्प्रसारण (ऋ) आगे होने पर **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** (6.1.37) से लक्ष्यभेद होने से **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** (17) में व् को सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है। यदि यहाँ 'प्रत्यये' को उपस्थित न करें, तो अद्विधि परनिमित्तक नहीं रही । अतः **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** से स्थानिवद्भाव न होने के कारण **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** (17) से सम्प्रसारण अनिवार्यतः प्राप्त होगा । संप्रसारण (ऋ) बाद में न होने के कारण **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** से निषेध नहीं हो सकेगा । फलतः अनिष्ट 'उव्रश्च' रूप आपन्न होगा । इस आपत्ति के निवारण के लिये 'प्रत्यये' की उपस्थिति नितांत वांछनीय है ।

2245 **कु-होश्चुः** (7.4.62) अत्र लोपोऽभ्यासस्य 6.1 (58) । कु-होः 6.2 चुः 1.1 । 'कु-ह्' में 'कुश्च ह् च' विग्रह में इतरेतरयोग द्वंद्व समास है । 'कु-होः' में षष्ठी **षष्ठी स्थाने-योगा** परिभाषा से 'के स्थान में' अर्थ में है । अभ्यास के कवर्ग तथा हकार के स्थान में चवर्ग आदेश होते हैं ।

कवर्ग के 5 वर्ण और 1 ह्=छह व्यंजनों के स्थान में ये 5 चवर्गीय व्यंजन आदेश प्रतिपादित किये हैं । अतः **यथा-सङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** नियम तो लागू नहीं हो सकता । **स्थानेऽन्तरतमः**(स्थान और प्रयत्न में जो सदृशतम हो, वही आदेश होता है)

परिभाषा ही लागू होकर बतलायेगी कि किस व्यंजन के स्थान में कौन व्यंजन होता है। सदृशतम की देखभाल में बाह्यप्रयत्न काम में लाया जाता है।[1] फलतः कवर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम (नासिक्य) अक्षरों को बाह्य प्रयत्न एवं स्थान की समानता के कारण चवर्ग के क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम नासिक्य व्यंजनों का आदेश होगा। इस प्रकार क् को च्, ख् को छ्, ग् को ज्, घ् को झ् तथा ङ् को ञ् आदेश होंगे। प्रयत्न-साम्य निम्नलिखित प्रकार से होगा : अघोष, श्वास, विवार तथा अल्पप्राण क् को वैसा ही च्; अघोष आदि तथा महाप्राण ख् को वैसा ही छ्; घोष, संवार, नाद एवम् अल्पप्राण ग् को ज्, ङ् को ञ्[2]; घोषादि तथा महाप्राण घ् और ह् को वैसा ही झ् होगा।

सिद्धियाँ : एधाञ्चक्रे, एधांचक्रे—√एध् धातु से **परोक्षे लिट्** से लिट् प्रत्यय, एध्+लिट्। **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** से धातु के बाद आम् प्रत्यय : एध्+आम्+लिट्। **आमः** से लिट् का लोप : एध्+आम्। **कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि** से लिट्परक 'कृञ्' का अनुप्रयोग होता है : एधाम्+कृ+लिट्। ञित् होने के कारण √कृ से कर्तृगामिक्रियाफल में **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** से आत्मनेपद होता है तथा परगामी क्रियाफल में **शेषात्कर्तरि०** से परस्मैपद प्राप्त होता है। तब **आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य** से आम् प्रत्यय की प्रकृति √एध् के अनुदातेत् होने के कारण नित्य आत्मनेपद का नियम होता है। आत्मनेपद प्रत्ययों में प्रथम के एकवचन की विवक्षा में 'त' होता है : एधाम्+कृ+त। **लिट् च** से त की आर्धधातुक संज्ञा। **टित आत्मनेपदानाम्** से त में अ को ए प्राप्त होता है; उसको बाध कर **लिटस्त-झयोरेशिरेच्** से समूचे त को एश् होता है : एधाम्+कृ+ए। **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से कृ के ऋ को गुण प्राप्त होता है। ए की **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित्संज्ञा होने के कारण **क्ङिति च** से गुणनिषेध होता है। **लिटि धातोरनभ्यासस्य** (6.1.8) से **इको यणचि** (6.1.77) के पर होने कारण यण् प्राप्त होता है। **द्विर्वचनेऽचि** से उसका निषेध होता है। **लिटि धातोरनभ्यासस्य** से द्वित्व होता है : एधाम्+कृ+कृ+ए। **पूर्वोऽभ्यासः** से पूर्व कृ की अभ्यास संज्ञा। **उरत्** से अभ्यास के कृ के ऋ को 'अ' (एकमात्रिक) तथा **उरण्रपरः** से वह अ रपर (अर्) होता है : एधाम्+कर्+कृ+ए। **हलादिः शेषः** से रेफ का लोप होता है : एधाम्+कृ+ए। **कुहोश्चुः** से अभ्यास के क् को च् होता है : एधाम्+चकृ+ए। **इको यणचि** से ऋ को यण् : एधाम्+चक्रे। **मोऽनुस्वारः** से म् को अनुस्वार : एधां+

---

1. सि० कौ०, संज्ञाप्रकरण : **बाह्य-प्रयत्नाश्च यद्यपि सवर्ण-संज्ञायामनुपयुक्तास्तथाऽप्यान्तरतम्य-परीक्षायामुपयोक्ष्यन्ते।**
2. **नासिका स्थान की समानता से ङ् को ञ् होता है, ज् नहीं।**

चक्रे। **वा पदान्तस्य** से विकल्प से परसवर्ण ञ् : एधाञ्चक्रे। पक्षे परसवर्ण न होने पर एधांचक्रे।

आमंत शब्द के पदत्व पर विचार : आमंत प्रकृति और अनुप्रयुक्त आख्यात पाणिनि की पद्धति से एक पद हैं, अथवा यह दो पदों का असमस्त यौगिक रूप है, इस विषय में विचार करने पर द्वितीय पक्ष ही तर्क-संगत प्रतीत होता है। विद्वानों के विचार के अनुसार आमंत प्रकृति से निष्पन्न शब्द (1) सुबन्त शब्द है, (2) अव्यय है, ये दो पक्ष हैं। आम् प्रत्यय धातु से परे विहित है तथा तिङ्-भिन्न है, अतः **कृदतिङ्** (3.1.93) के अनुसार यह कृत् प्रत्यय है, तथा इससे निष्पन्न शब्द कृदंत है। यह मांत कृदंत होने के कारण **कृन्मेजन्तः** (1.1.39) से अव्यय हो सकता है। **कृन्मेजन्तः** की दो व्याख्याएँ की गई हैं :

(क) **कृद् यो मान्तः, तदन्तमव्ययम्**—मकारांत कृत् प्रत्यय जिस पद के अंत में है, उस पद की 'अव्यय संज्ञा' होती है। इस व्याख्या के रहते आमंत शब्द 'अव्यय' नहीं होता : एधाम् आदि वस्तुतः लिङन्त हैं, आम् करने के पश्चात् **आमः** से लिट् का लुक् होने पर शब्द यद्यपि आम्प्रत्ययांत ही दिखता है, पर शास्त्र-दृष्ट्या वहाँ **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (1.1.62) से लिडंतता अव्याहत है। अतः यह मांतेतर कृदंत होने के कारण अव्यय नहीं है।

लिट् की कृत्प्रत्ययता के कारण **कृत्तद्धित-समासाश्च** (1.2.46) से प्रत्ययाश्रित प्रातिपदिक संज्ञा इसकी होती है तथा सुप् विभक्ति का लोप **आमः** (2.4.81) से हो जाता है। अतः आमंत शब्द सुबंत पद है तथा आमंत और अनुप्रयुक्त दोनों असमस्त यौगिक हैं।

(ख) **मान्तं कृदन्तमव्ययम्**—मकारांत कृदंत शब्द अव्यय होता है। आमंत शब्दों में लिट् के लिये मांत होना आवश्यक नहीं है। कृत् लिट् का (जो तिङ् नहीं है, अर्थात् तिङादेश से पूर्व ही उसका) लोप होने पर भी प्रत्यय-लक्षण से कृदंतता आमंत में अव्याहत ही है। अतः 'एधाम्' आदि शब्द मकारांत भी है, और कृदंत भी। इसलिये ये अव्यय होते हैं, तथा इनकी विभक्ति का लोप **अव्ययादाप्सुपः** (2.4.82) से हो जाता है।

निम्नलिखित युक्तियाँ भी इसे स्वतंत्र पद ही सिद्ध करती हैं :

(1) संधि की प्रक्रिया से यह स्वतंत्र पद सूचित होता है : पदत्व के कारण **मोऽनुस्वारः** (8.3.23) से अनुस्वार तथा फिर **वा पदान्तस्य** (8.4.59) से वैकल्पिक पर-सवर्ण होता है। पदत्वाभाव में **नश्चापदान्तस्य झलि** (8.3.24) से अनुस्वार तथा **अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः** (8.4.58) से नित्य पर-सवर्ण प्राप्त हैं, जो कि लक्ष्यों में दृष्टि-गोचर नहीं होता।

2246 एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (7.1.10)—उपदेशे यो धातुरेकाजनु-

√एध्+लिट्, मध्यम और उत्तम पुरुष

2246 जो धातु उपदेशावस्था में एक स्वर वाली और अनुदात्त है, उसके पश्चात् स्थित तथा आदि में वल् प्रत्याहार के वर्ण (स्वर, य और ह को छोड़ कर शेष

---

(2) स्वर की दृष्टि से भी यह स्वतंत्र पद है : 'एधाम्' आदि आमंत शब्द प्रत्यय-स्वर से अंतोदात्त हैं और उनके साथ अनुप्रयुक्त 'चक्रे' आदि आख्यात पद **तिङ्-ङतिङः** (8.1.28) से सर्वानुदात्त हैं। वाङ्मय में उपलब्ध आमंतानुप्रयोगों में सर्वत्र यही स्थिति उपलब्ध होती है। अथर्ववेदसंहिता में यही स्वर दृष्ट है : **असून्पितृभ्यो गमयां चकार** (18.2.27)। इसके पद-पाठ में भी आचार्य ने इसे पृथक् पद ही माना हैं। यदि आमंत में पदत्व न होता, तो आमंत तथा अनुप्रयुक्त दोनों का पूरा समुदाय निहत होता; आमंत उदात्तवान् कदापि नहीं होता। इसके अतिरिक्त **स यदतिरेचया-ञ्चक्रुः** (श० ब्रा० 11.2.3.8) में यद्वृत्त-नियम से प्राप्त उदात्तता से पूरे आमंतानु-प्रयोगसमुदाय में एक ही उदात्त होता, जब कि यहाँ आमंत तथा अनुप्रयोग दोनों उदात्तवान् हैं।[1]

(3) आमंत और अनुप्रयोग के प्रयोग का इतिहास यह है कि वैदिक भाषा में यह अथर्ववेद के उपर्युक्त स्थल के अतिरिक्त तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक संहिताओं के ब्राह्मण भागों में यत्र-तत्र प्रयुक्त मिलता है। शतपथ आदि ब्राह्मणों में इसके प्रयोग अधिकता से मिलते हैं। प्राचीन प्रयोगों में अनुप्रयुज्यमान आख्यात लिट् का ही नहीं है, अपितु लट्, लोट्, आशीर्लिङ्, लुङ् के भी प्रायेण अव्यवहित तथा इक्के-दुक्के मिलते हैं। प्रायेण तो √कृ, √भू, √अस् का ही अनुप्रयोग मिलता है। एकाध प्रयोग अन्य प्र-√क्रम, वि-√धा तथा √वस् धातुओं के मिलते हैं। इन प्रयोगों से सूचित होता है कि आमंत कभी स्वतंत्र पद ही माना जाता था ॥ 26 ॥

2246 **एकाच उपदेशे०** (7.2.10)—ऋत इद् धातोः 6.1 (7.1.100), नेड् 1.1 वशि कृति (7.2.8)। इट् चूंकि वलादि आर्धधातुक को ही होता है, अतः साक्षात् वचन या अनुवृत्ति न होने पर भी 'वलादेः', 'आर्धधातुकस्य' पद अर्थतः परिगृहीत होने से

---

1. अच्युतग्रंथमालाकार्यालय, काशी, 1997 वि०, पृष्ठ 1143, में यद्यपि यहाँ 'चक्रुः' में उदात्त चिह्न नहीं उपलब्ध है तथा विश्वबंधुजी के पदा० कोष, 2.1, में भी अनुदात्त ही दिया है, तथापि **यद्वृत्तान्नित्यम्** (8.1.66) को देखते हुए ये दोनों प्रमाद ही प्रतीत होते हैं। व्हिटने ने सं० ग्रा०, अनु 1073 में इसे उदात्त सही बताया है।

दात्तश्च, ततः परस्य वलादेरार्धधातुकस्येण्न स्यात् । 'उपदेशे' इत्युभयान्वयि । 'एकाच' इति किम् ? यङ्लुग्व्यावृत्तिर्यथा स्यात् । स्मरन्ति हि—

व्यंजन) वाले 'आर्ध-धातुक'-सञ्ज्ञक प्रत्यय को इट् (आगम) नहीं हो । यहाँ 'उपदेशमें' शब्द दोनों (एकाच् और अनुदात्त) के साथ संबद्ध है । 'एक स्वर वाली' क्यों कहा ? ताकि यङ् का लुक् होने पर इस निषेध का निवारण हो सके । क्योंकि परम्परा में प्रसिद्ध है—जिसका निर्देश (क) श्तिप्, (ख) शप् का प्रयोग करके, (ग) अनुवंध

प्रस्तुत सूत्र में उपस्थित होंगे । काशिकाकार तथा सायण ने 'आर्धधातुकस्य' पद को यहाँ उपस्थित नहीं माना है । 'उपदेशे' का अन्वय 'एकाचः', 'अनुदात्तात्' इन दोनों पदों से होगा : क्योंकि यदि केवल 'एकाचः' के साथ मानें, तो उपदेश-काल में एकाच् तथा इस समय अनुदात्त धातु से इट् का निषेध होगा । इससे 'कर्तुम्' में इट् का निषेध नहीं हो सकेगा । कृञ् धातु उपदेशकाल में एकाच् तो है; पर उपदेशोत्तर काल में तुमुन् के स्वर (**ञ्नित्यादिर्नित्यम्** 6.1.197) से आद्युदात्त होने से उपदेश में एकाच् होते हुए भी उम समय उदात्त होने से 'कर्तुम्' में इट् का निषेध नहीं हो सकेगा । 'उपदेशे' पद को अनुदात्त के साथ ही अन्वित कर देने से यद्यपि 'कर्तुम्' में तो दोष नहीं रहेगा, पर 'एधाञ्चकृषे' में 'चकृषे' इस प्रकार अनेकाच् होने के कारण उपदेश में √कृ के अनुदात्त होते हुए भी इट् का निषेध न हो सकेगा । अतः केवल 'एकाचः' या केवल 'उपदेशे' पदों से 'उपदेशे' का अन्वय करने से उत्पन्न दोषों का परिहार करने के लिये देहली-दीप-न्यायेन दोनों ही पदों के साथ अन्वय किया है । फलतः 'कर्तुम्' तथा 'एधांचकृषे' दोनों तरह के प्रयोगों में उपदेश में √कृ के एकाच् तथा अनुदात्त होने के कारण इट् का निषेध हो सकेगा । इस प्रकार व्याख्या करने पर अर्थ निम्न प्रकार से होगा : उपदेशे एकाचोऽनुदात्ताच्च धातोः (वलादेरार्धधातुकस्य) नेड् भवति । उपदेश में एक अच् वाले तथा (उपदेश में ही) अनुदात्त धातु से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं होता ।

'एकाचः' की सार्थकता : प्रश्न—सूत्र में 'एकाचः' पद अनावश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि **'ऊदृदन्तैः'** आदि आगे पठित अनिट्कारिकाओं से प्रतिपादित अनुदात्त धातु स्वतः ही एकाच् हैं, तो 'उपदेश में अनुदात्त' कहने से ही 'उपदेश में एकाच्' अर्थ उपस्थित हो जाता है । इस प्रकार कर्तुम्, गन्तुम्, पक्तुम्, चिकीर्षति, एधांचकृषे, यियक्षति आदि प्रयोगों में इट् का निषेध भी हो जाता है ।

उत्तर : भगवान् पाणिनि के शास्त्रमें एक मात्रा भी निरर्थक नहीं है, फिर पूरे शब्द का तो कहना ही क्या ? यहाँ 'एकाचः' पद का ग्रहण यङ्लुक्-प्रक्रिया में इट् करने के लिये है । 'एकाचः' दे देने से यङ्लुक् में प्रस्तुत सूत्र की प्राप्ति न होने से इट्

'श्तिपा शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि' ।। इति ।

(इत्संज्ञक वर्ण) के साथ और (घ) गण के द्वारा किया गया है, एवं (ङ) जहाँ 'एकाच्' ('एक स्वर वाला') शब्द दिया गया है,—ये पाँच यङ्-लुक् में नहीं होते ।

का निषेध नहीं हो सकेगा । पाणिनीय शास्त्र के आचार्यों का नियम है—यङ्लुक् प्रक्रिया में निम्नलिखित पाँच प्रकार के कार्य नहीं होते :

(क) **इक्-श्तिपौ धातुनिर्देशे** (वा०) से धातु को बतलाने में इक् तथा श्तिप् दो प्रत्यय होते हैं । जो कार्य श्तिप् को निर्देश (प्रयोग) करके होते हैं, वे यङ्लुक् में नहीं होते । जिस कार्य को करने के लिये श्तिप् प्रत्यय धातु के साथ लगाया होता है, वह कार्य 'श्तिप् से निर्दिष्ट' कहलाता है । जैसे √हन् धातु के लोट् में √हन् को **हन्तेर्जः से** 'ज' आदेश होता है । यहाँ 'हन्तेः' पद √हन् धातु से श्तिप् करके निष्पन्न 'हन्ति' कृदन्त प्रतिपदिक शब्द के षष्ठी के एकवचन में बना है । अर्थ होता है : हन् धातु के स्थान में ज । तो, इस प्रकार यहाँ ज आदेश श्तिप् से निर्दिष्ट है । अतः यङ्-लुक् प्रक्रिया में √हन् के लोट्, मध्यम, एकवचन में 'ज' आदेश नहीं होता । 'जङ्घहि' बनता है । जबकि अदादिगण में 'जहि' बनता है ।

(ख) जिन कार्यों को करने में धातु में शप् का निर्देश हो, वे कार्य भी यङ्लुक् में नहीं होते । जैसे **सनीवन्तर्ध-भ्रस्ज-दम्भु-श्रि-स्वृ-यूर्णू-भर-ज्ञपि-सनाम्** (7.2.49)—इवन्त तथा √ऋध् आदि धातुओं से सन् को विकल्प से इट् आगम होता है—सूत्र में √भृ को सन् में इट् (विकल्प से) कहा है । सन् में √भृ के 'बुभूर्षति' तथा बिभरि-षति' दो रूप होते हैं । यहाँ √भृ को बाकी धातुओं की तरह सामान्य रूप में न दे कर शवंत 'भर' से जुहोत्यादि तथा भ्वादिगण की, दोनों, धातुओं को ही लेना है । इस शप् का तात्पर्य यङ्लुगंत से सन् प्रत्यय करने की स्थिति में इस सूत्र से विकल्प से प्राप्त इट् का निषेध करना है । फलतः **डुभृञ् धारण-पोषणयोः** तथा **भृञ् भरणे** दोनों धातुओं से यङ्लुक् के वाद सन् प्रत्यय करने पर **सनीवन्तर्ध०** से विकल्प से यहाँ √भृ का निर्देश शप् से होने के कारण प्राप्त ही नहीं होगा ।[1]

(ग) इसी प्रकार जो कार्य अनुबन्ध[2] का निर्देश करके किये जाते हैं, वे भी

---

1. **सनीवन्तर्ध०** से प्राप्त इट् का निषेध उपर्युक्त प्रकार से हो जाने पर भी **आर्ध-धातुकस्येड् वलादेः** से नित्य प्राप्त इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से प्राप्त निषेध निषेधक सूत्र में 'एकाच्' शब्द के प्रयोग के कारण नहीं होता (द्र० पृष्ठ 183 पर अनुच्छेद 'ङ') । अतः √भृ से यङ्लुक् में इट्-सहित रूप ही बनता है ।
2. जो इत्संज्ञा के योग्य है । इत्संज्ञा के लिये द्र० अष्टा० 1.3.2-8.

एतच्चेहैवेकाज्ग्रहणेन ज्ञाप्यते ।

और यह बात इसी सूत्र में 'एकाच्' शब्द देने से सूचित होती है ।

यङ्लुक् में नहीं होते । अनुबंध का निर्देश दो प्रकार से किया जाता है—

(अ) एक तो उसे अपने रूप में देना । अर्थात् जिस धातु को कार्य करना है, उसके जिस अंश की इत्सञ्ज्ञा होनी होती है, उस अंश के समेत ही सूत्र में देना । जैसे —**शीङः सार्वधातुके गुणः** (7.4.21), **स्तु-सू-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु** (7.2.72), **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (3.1.28), **क्रीङ्-जीनां णौ** (6.1.48) इत्यादि सूत्रों में क्रमशः √शीङ् में ङ्, √धूञ में ञ्, √गुपू में ऊ, तथा ईङ् में ङ् अनुबंध हैं, जो तत्तत् सूत्र में स्वरूप से दिये हैं । इन धातुओं को इन सूत्रों से होने वाला कार्य यङ्लुक् में नहीं होता ।

(आ) अनुबंध को स्पष्ट रूप से इत्संज्ञक बतलाते हुए सूत्र में देना । जैसे— **अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्, स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, इदितो नुम्धातोः** आदि सूत्रों में अनुबंधों (ङ्, ञ् या ह्रस्व इकार—इस प्रकार) दिया है । फलतः स्वरितेत् या ञित् होने के कारण प्राप्त आत्मनेपद, और ङित् या अनुदात्तेत् होने के कारण प्राप्त आत्मनेपद, एवं ह्रस्व इकार की इत्संज्ञा होने के कारण प्राप्त नुम् यङ्लुक् प्रक्रिया में नहीं होते : √शीङ् का यङ्लुक् में परस्मैपद वाला 'शेशयीति' रूप ही होगा । इसी प्रकार धूञ् से इसके ञित् होने पर भी आत्मगामी क्रियाफल में **शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** से परस्मैपद ही होगा : दोधवीति । **टुनदि समृद्धौ** (स्वा०) धातु से यङ्लुक् में नुम् भी नहीं होगा—नानदीति, नानत्ति ।

(घ) गण का निर्देश करके होने वाले कार्य भी यङ्लुक् में नही होंगे : **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः** (2.4.75), **दिवादिभ्यः श्यन्** (3.1.69), **स्वादिभ्यः श्नम्** (3.1.78), **पुषादि-द्युताद्यलूदितः परस्मैपदेषु** (3.1.55) इत्यादि सूत्रों में क्रमशः श्लु, श्यन्, श्नम् तथा अङ् कार्य तत्तद्गणनिर्दिष्ट धातुओं से उनके तत्तद् गणों का नाम ले कर विहित किये हैं । गणनिर्दिष्ट होने से इन धातुओं से ये कार्य यङ्लुक् में नहीं होंगे । इसके परिणाम-स्वरूप √हु से 'जोहवीति', √दिव् से 'देदिवीति' रूप बनेंगे ।

(ङ) जो कार्य 'एकाच्' शब्द को लेकर होंगे, वे भी यङ्लुक् में नहीं होंगे । 'बेभिदिता', 'चेच्छिदिता' आदि में इट् का प्रकृत सूत्र से प्राप्त निषेध इस में एकाच् पद के निर्देश के कारण नहीं हो सकेगा । अतः वलादि-लक्षणक इट् होगा ही । यङ्लुक् से अन्यत्र इट् का निषेध होता ही है : भेत्ता, बिभित्सति आदि ।

उपर्युक्त नियम पाणिनिसम्मत है : व्याकरणशास्त्र के आचार्यों का यह नियम

पाणिनि को सम्मत है, यह इस सूत्र में 'एकाचः' पद के ग्रहण से ही माना जाता है। आचार्य पाणिनि वैयाकरणों में प्रसिद्ध **अर्ध-मात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सवम्मन्यन्ते वैयाकरणाः** (प० 134; व्याकरण के विद्वान् आधी मात्रा के कम होने होने पर भी काम चलने पर पुत्र-जन्म जैसा उत्सव मनाते हैं; अर्थात् उन्हें संक्षेप अत्यंत प्रिय है।) लोकोक्ति से पूर्ण परिचित थे, एवम् उन्होंने अष्टाध्यायी में पूर्ण संक्षेप बरता है। उपदेश में जो धातु अनुदात्त हैं, वे एकाच् हैं ही। अतः पिष्टपेषण करना आचार्य को अभीष्ट नहीं हो सकता। **लक्ष्यानुसारेण लक्षणानि प्रवर्तन्ते** (सूत्रों की प्रवृत्ति उदाहरणों = शब्दों के अनुसार होती है। लक्ष्य शब्दों को सिद्ध करने के लिये सूत्र होते हैं, न कि सूत्रों के अनुसार शब्द) एक प्रसिद्ध नियम है। उपदेश में एकाच् तथा अनुदात्त धातुओं से यङ्लुक् प्रकरण के अधीन व्याख्यातव्य प्रयोगों में इट् प्रत्यय दीखता है। फलतः प्रस्तुत निषेध वहाँ लागू नहीं होता, यह सिद्ध होता है। आचार्य ने यङ्लुक् में प्रस्तुत निषेध का निषेधक कोई सूत्र तो बनाया है नहीं। अतः इस बात को द्योतित करने को यहाँ का 'एकाचः' पद दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। आचार्यों में प्रसिद्ध **श्तिपा, शपा०** आदि श्लोक में 'एकाच्' का ग्रहण भी यही बात पुष्ट करता है।

केवल 'एकाच्' ही नहीं, अपितु **श्तिपा, शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च** पद्यार्ध में पठित चारों बातें भी पाणिनि के 'एकाचः' के ग्रहण से ही सिद्ध हो जाती हैं। श्तिप् आदि से निर्दिष्ट कार्य यङलुक् में नहीं मिलते। प्रकृत शास्त्र (इण्निषेध) की यङ्-लुक् में अप्रवृत्ति 'एकाचः' से ही विज्ञापित होती है, वहीं 'एकाचः' का ग्रहण **'अङ्गग्रहणे अङ्गिनो ग्रहणम्'** (किसी एक अङ्ग के ग्रहण से अङ्गी का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे हाथी की सूंड पकड़ में आने पर मोटे पाँव, विशाल आकार, दो लंबे सफेद दाँत आदि सब अङ्गों वाला हाथी पकड़ में आ जाता है।) न्याय से **श्तिपा, शपाऽनुबन्धेन०** श्लोक में प्रतिपादित **'एकाज्ग्रहणं चैव'** अङ्ग के पाणिनि द्वारा सम्मत (विज्ञापित) होने पर लक्ष्य-प्रमाण से दूसरे श्तिप्, शप् आदि से गृहीत कार्य भी यङ्लुक् में नहीं होंगे। यह बात पाणिनि को सम्मत है, यह भी सिद्ध (विज्ञापित) हो जाता है।

यह एकदेशानुमति से ज्ञापन पाणिनीय शास्त्र में कोई नवीन बात नहीं है। **अपरस्पराः क्रिया-सातत्ये** (6.1.144) सूत्र में 'सततस्य भावः सातत्यम्' अर्थ में 'सातत्य' शब्द दिया है। 'सतत' पाणिनि के लक्षणों के अनुसार असिद्ध है। 'सन्तत' होना चाहिये। परन्तु आचार्य के वचन के प्रमाण से विकल्प से मकार का लोप माना जाता है।[1] इसके बारे में प्राचीन आचार्यों में प्रसिद्ध भी है : कृत्य शब्द परे रहते

---

1. म० भा० 6.1.144, भा० वा० 1, पृष्ठ 480 : **समो हित-ततयोर्वा लोपः**। तथा यहीं काशिका : **समस्तते विकल्पेन मकार-लोपो विधीयते**।

'अचः' इत्येवैकत्वविवक्षया तद्वतो ग्रहणेन च सिद्धे 'एक'-ग्रहण-

सूत्र में 'अचः' (अच् से) इस प्रकार एकवचन की विवक्षा से ही उस (अच्) वाले का ग्रहण होने के कारण जब निषेध होता था, तब 'एक' विशेषण देने से सिद्ध होता है कि अनेक स्वरों वाले उपदेश के विषय में यह निषेध लागू नहीं होता। इसके

'अवश्यम्' के म् का, 'काम' एव 'मनस्' शब्द परे रहते 'तुम्' (तुमुन्) के म् का लोप हो जाता है। 'हित' तथा 'तत' शब्द परे रहते 'सम्' के मकार का विकल्प से लोप होता है। √पच् के युट् और घञ् के रूप वाद में होने पर 'मांस' के अन्त्य अकार का वा लोप होता है।[1] अवश्यम् कृत्यम्=अवश्यकृत्यम्; गन्तुम् कामो यस्य, स गन्तु-कामः; कर्तुम् मनो यस्य, सः कर्तु-मनाः; सम्+हितः=सहितः और संहितः। सम्+ततः=सततः तथा सन्ततः। मांसस्य पचनं पाको वा मांस्पचनम्, मांसपचनम्; मांस्पाकः, मांसपाकः।

यहाँ प्रतिपादित 'सतत' का मकार लोप पाणिनि को सम्मत हैं, यह उसके 'सातत्यम्' शब्द के प्रयोग से सिद्ध (विज्ञापित) होता है। इसी आधार पर पाणिनि द्वारा साक्षात् या परोक्ष रूप से अप्रतिपादित, किंतु सूत्रों में प्रयुक्त, शब्दों में दृष्ट शेष कार्य भी एकदेश 'सतत' के अनुमत होने से संमत हैं, यह विज्ञापित होता है। फलतः **लुम्पेदवश्यमः** आदि श्लोक पाणिनि द्वारा अप्रतिपादित होते हुए भी पाणिनि-संमत ही माना जाता है। वैसे ही **श्तिपा, शपानु०** आदि श्लोक भी साक्षात् या परोक्ष रूप से पाणिनि-द्वारा अप्रतिपादित होते हुए भी **एकाच उपदेशे०** से **एकाज्ग्रहणं चैव** अंश के संमत होने के कारण पाणिनिसंमत ही माना जाता है।

उपदेश में एकाच् धातुओं के आदेशज अनेकाच्त्व में इट् का निषेध नहीं होता : (1) **प्रश्न**—जो धातु उपदेश-काल में तो एकाच् एवं अनुदात्त हैं, पर बाद में जिन्हें अनेकाच् आदेश हो गया है, उन धातुओं से वलादिलक्षणक इट् का निषेध होगा कि नहीं? जैसे—**हन हिंसागत्योः** (अदादि, प०, अ०) धातु धातुपाठ में एकाच् एवं अनुदात्त है। पर लिङ् तथा लुङ् में **हनो वध लिङि** और **लुङि च** सूत्रों से अनेकाच् 'वध' आदेश

---

1. **लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ् काममनसोरपि।**
समो वा हित-ततयोर्मांसस्य पचि युङ्-घञोः॥

यह श्लोक काशिका में धृत है। भाष्य में 3 वार्तिकों से यह आशय दिया गया है, पर वहाँ 'सम्' के 'म्' का लोप 'तुमुन्', 'काम' और 'मनस्' शब्द के पूर्व भी बता कर 'स-कामः,' 'भोक्तु-कामः', 'स-मनाः', 'भोक्तु-मनाः' उदाहरण भी दिये हैं।

सामर्थ्यादनेकाच्कोपदेशो व्यावर्त्यते । तेन वधेर्हन्त्युपदेश एकाचोऽपि न निषेधः, आदेशोपदेशेऽनेकाच्त्वात् ।

फल-स्वरूप स्थानी √हन् के रूप में एक स्वर वाली होते हुए भी (√हन् के आदेश) √वध् को यह निषेध नहीं होता : क्योंकि यह (√वध्) उपदेश किये जाते समय (**हनो वध लिङि** सूत्र में) अनेक स्वरों वाली है ।

होता है : भाष्यकार ने अवधीत् में **अतो हलादेर्लघोः** सूत्र से प्राप्त वृद्धि को निवृत्त करने के लिये 'वध आदेश अदंत है', कहा है । वध आदेश के अत् के लोप के स्थानिवद्भाव के कारण **अतो हलादेर्लघोः** से वृद्धि नहीं होती । अब यहाँ **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से इट् का निषेध होना चाहिये, क्योंकि आदेश यद्यपि अनेकाच् है, तब भी उपदेश उपदेश-काल (√हन् रूप धातुपाठ) में एकाच् ही है । अनेकाच् आदेश का फल वृद्धि आदि के निषेध आदि में चरितार्थ हो चुका है, अतः इसका अनेकाच्त्व इट् के निषेध में बाधक नहीं हो सकता ।

उत्तर—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् सूत्र में यदि केवल 'अचः' कर दिया जाये, तो **अचः** के एकवचन से 'एक अच् वाले धातु से' इस प्रकार का अर्थ आ जाता है ।

(2) **प्रश्न**—'अचः' का अर्थ तो 'एकत्व जिसमें विशेष है, उस अच् के बाद' सिद्ध होगा, कि न 'एकाच् वाला', यह बहुव्रीहि का अर्थ । जैसे 'गौः' शब्द का अर्थ 'एकत्वविशिष्ट गो' होता है । अतः बहुव्रीहि का अर्थ लाने के लिये 'एकोऽच् यत्र, स एकाच्, तस्मात् एकाच्:' अर्थात् 'एक अच् जिसमें है, उसके बाद' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास करना आवश्यक है, अतः आचार्य पाणिनि ने 'अचः' शब्द से ही काम चलता न देख कर 'एक' शब्द विशेषण के रूप में लगाया है ।

उत्तर—उपदेश में जो शक्लृ, पचि, मुचि आदि धातु अनुदात्त दी हैं, वे सब उपदेश में ही एकाच् भी दी हैं । अतः यहाँ 'अचः' शब्द लक्षणावृत्ति से 'अच् वाले' को प्रकट करेगा । फलतः 'एक' शब्द देने का कुछ और प्रयोजन दीखता है । और वह प्रयोजन यह है कि 'एक' शब्द के ग्रहण के सामर्थ्य से 'उपदेश में सब जगह एक अच् वाला होना चाहिये, किसी भी उपदेश में (चाहे वह आदेश उपदेश हो, या और कोई) अनेक अच् वाला उपदेश नहीं होना चाहिये' अर्थ बनता है । इससे अनेक अच् वाला उपदेश प्रस्तुत सूत्र का विषय नहीं होगा । फलतः √हन् यद्यपि धातुपाठ में एकाच् ही है, तब भी सूत्र में उपदिष्ट 'वध' आदेश अपने उपदेश-काल में अनेकाच् है । उसकी अनेकाच्ता आचार्य को अभीष्ट भी है । अतः 'वध' धातु से वलादि-लक्षणक इट् का निषेध प्रस्तुत सूत्र से नहीं होगा ।

यहाँ प्राचीन व्याघ्रभूति तथा काशिकाकार आदि वैयाकरणों ने दूसरी ही

व्याख्या प्रस्तुत की है। वे प्रस्तुत 'उपदेश' से 'धातुपाठ' को ही लेते हैं। 'वध' आदेश उनके अनुसार धातुपाठ में दिया न होने के कारण औपदेशिक एकाच् तथा अनुदात्त नहीं है। फलतः 'वध' धातु के विषय में प्रस्तुत सूत्र से निषेध प्राप्त ही नहीं होता। इसी अभिप्राय से व्याघ्रभूति ने 'वध' से इट् के निषेध को रोकने के लिये उसे अदन्त-त्वेन सेट् सूचित किया है : ह्रस्व अकारान्त, दीर्घ उकारान्त, दीर्घ ऋकारान्त, रु, स्नु, क्ष्णु, शी, यु, नु, क्षु, श्वि, डी, श्रि, वृङ् तथा वृञ् को छोड़ कर एक स्वर वाली स्वरान्त धातु अनिट् होती हैं।[1] इसी प्रकार काशिका में भी कहा गया है कि अदंत आदि परिगणितों को छोड़ कर सब अजंत एकाच् धातु अनुदात्त, अत एव अनिट्, होती हैं।[2]

व्याघ्र-भूति आदि की यह व्याख्या उचित नहीं है : पाणिनीय व्याकरण में 'उपदेश' का अर्थ होता है 'आद्योच्चारण' : अर्थात् अपने अज्ञात स्वरूप का ज्ञापक उच्चारण 'उपदेश' कहलाता है। इस व्यवस्था से, तथा सूत्रोपदेश में अनुदात्त √हन् को अनुदात्त 'वध' आदेश किया हुआ होने से 'वध' आदेश औपदेशिक क्यों न हो ? फलतः उपदेश में अनेकाच् होने से ही जब सूत्र की प्राप्ति नहीं होती, तब पर्युदास-कारिका में 'अदंत' को देना पाणिनिसंमत नहीं प्रतीत होता।

यदि यह कहें कि अनुदात्त √कृ को हुआ गुण (अर्) आदेश भी अनुदात्त ही होता है। और इसी लिये 'कर्+तृ' में इट् का निषेध होता है। वैसे ही √वस् आदेश में भी तो प्राप्त होता है। उसका निवारण करने के लिये पर्युदास-कारिका में अदंत को दे कर उसे उदात्त मान कर निषेध हो जाता है। तो भी पाणिनि के विरुद्ध एवं गौरवयुक्त होने के कारण पर्युदासपाठ (**अदूदृदन्त० विनैकाचः**) त्याज्य है। वधादेश-सूत्र में अनेकाच् उपदेश होने के कारण तथा भाष्यकार को भी वैसा ही अभीष्ट होने के कारण वध आदेश को अनौपदेशिक मानना पाणिनि-विरुद्ध है। पूर्व प्रकार से ही काम चलने पर भी पर्युदास-कारिका में पाठ गौरवार्थ हो जाता है। अतः पूर्वाचार्यों की व्याख्या उपेक्षणीय है।

---

1. **अदूदृदन्त-रु-स्नु-क्ष्णु-शी-यु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः।**
   वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचः स्वरान्ता धातवोऽनिटः॥

2. **अनिट् स्वरान्तो भवतीति दृश्यतामिमांस्तु सेटः प्रवदन्ति तद्विदः।**
   अदन्तमृदन्तमृतां च वृङ-वृञौ श्वि-डीङिवर्णेष्वथ शीङ्-श्रिणावपि॥

   तत्र सर्वे स्वरान्ता एकाचोऽनुदात्ता अदन्तादीन्वर्ज्जयित्वा। ···अदन्तादय उदात्ताः—अबधिष्ट (काशिका 7.2.10)।

अनुदात्ताश्चानुपदमेव संग्रहीष्यन्ते । एधाञ्चकृषे । एधाञ्चक्राथे ।
2247 इणः षीध्वं-लुङ्-लिटां धोऽङ्गात् (8.3.78)—इण्णन्तादङ्गात्परेषां षीध्वं-लुङ्-लिटां धस्य मूर्धन्यः स्यात् । एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे ।

अनुदात्त धातुओं की सूची अभी आगे दी जायेगी । एधाञ्चकृषे । एधाञ्च-क्राथे । 2247 अंत में इण् प्रत्याहार के वर्ण वाले अंग के पश्चात् स्थित (1) षीध्वम्, (2) लुङ् और (3) लिट् के धकार को ढकार आदेश हो । एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे ।

कौन-कौन धातु अनुदात्त हैं, यह अभी-अभी मूल में ही बतलाया जायेगा ।

2247 **इणः षीध्वंलुङ्-लिटान्धोऽङ्गात्** (8.3.78)—अपदान्तस्य मूर्धन्यः 1.1 (55) । इणः पद 'अङ्गात्' का विशेषण है । अतः यहाँ तदन्तविधि होती है । षीध्वम्, लुङ्, लिट् शब्दों का द्वंद्व समास (षीध्वं च लुङ् च लिट् चेति षीध्वँल्लुङ्लिटः) करके षष्ठी (सम्बन्ध) के बहुवचन में 'षीध्वँल्लुङ्लिटाम्' बना । 'धः' 6.1 स्थान-षष्ठी है । **'इण्णन्तात् अङ्गात् षीध्वँलुङ्लिटां (सम्बन्धिनः) धः (धकारस्य स्थाने) मूर्धन्यः (भवति)**—जिसके अंत में इण् प्रत्याहार के वर्ण आते हों, उस अङ्ग से परे षीध्वम्, लुङ् तथा लिट् के धकार को मूर्धन्य आदेश होता है । **स्थानेन्तरतमः** से घोष, संवार, नाद और महाप्राण ध् को वैसा ही 'ढ्' आदेश होगा ।

'कु' के निरास के लिये **इण्कोः** (57) की अनुवृत्ति न मान कर पृथक् से 'इणः' पद दिया है । फलतः पक्षीध्वम् (पक्+षीध्वम्), यक्षीध्वम् (यक्+षीध्वम्) इत्यादि प्रयोगों में ध् को मूर्धन्य प्राप्त ही नहीं होता ।

'षीध्वम्', 'लुङ्', 'लिट्' के ग्रहण से मूर्धन्यादेश इनके धकार को ही होगा, न कि 'स्तुध्वे', 'ब्रूध्वम्' आदि के ध् को भी ।

'अङ्गात्' के अर्थ पर विचार : 'अङ्गात्' में परार्था ('के पश्चात्' अर्थ वाली) पंचमी है, विधानार्थक ('तस्माद्विहित'='अङ्ग से विहित' अर्थ वाली) नहीं है । अंग से विहित जो षीध्वं, लुङ् और लिट् का धकार, उसे मूर्धन्य होता है—ऐसे (विधानार्थ-त्वेन) यदि व्याख्या, की जाये, तो **डुदाञ् दाने** धातु के लुङ् में 'अदिड्ढम्' में मूर्धन्य आदेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि यहाँ 'ध्वम्' जिससे किया गया है, वह अकारांत अंग है, न कि इण्णंत : अदा+ध्वम्, अदा+स्+ध्वम्, अदि+स्+ध्वम्, अदि+ध्वम् (ह्रस्वादङ्गात् से स् का लोप) । अब यदि 'इण्णंत अंग से विहित' अर्थ लें, तो यहाँ आकारांत अंग 'दा' से विहित होने के कारण लुङ् के ध् को मूर्धन्य आदेश नहीं होगा । किन्तु अंग से परे अर्थ करने पर वर्तमान अवस्था 'अदि+ध्वम्' में अंग से परे

एधाम्बभूव। अनुप्रयोग-सामर्थ्यादस्तेर्भूभावो न, अन्यथा हि 'ऋश्चानुप्रयुज्यते' इति, 'कृ-भू०' इति वा ब्रूयात्। 2248 अत आदेः (7.4.70)—

एधाम्बभूव। अनुप्रयोग चूंकि √अस् का किया है, इसलिये अस् को √भू आदेश नहीं होता, नहीं तो (सूत्रकार ने) '√कृ और √अस् का या √कृ और √भू का अनुप्रयोग होता है', यही कहा होता। 2248 अभ्यास के आदिम ह्रस्व अकार को

स्थित होने पर 'ध्' को मूर्धन्य हो जाता है। अतः 'से परे' अर्थ ही करना चाहिये।

'अङ्ग से परे' कहने से 'वेविषीध्वम्' जैसे प्रयोगों में मूर्धन्यादेश नहीं होगा, क्योंकि 'वेविषीध्वम्' में 'वेविष्+ई (य्)+ध्वम्' स्थिति में षीध्वम् इण्णंत अङ्ग से परे नहीं है, केवल इण् से परे हैं। क्योंकि **यस्मात् प्रत्ययविधिः०** से वेविष् की अङ्ग संज्ञा की जाती है, जो हलंत है।

शंका—अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम् (प० १५) से अर्थवान् 'षीध्वम्' का ग्रहण करने पर जहाँ इण्णंत अङ्ग (कृ) से परे 'षीध्वम्' है, ऐसे 'कृ+षीध्वम्' आदि प्रयोगों में ही प्रस्तुत सूत्र की प्रवत्ति होगी, 'वेविषीध्वम्' आदि में नहीं, क्योंकि यहां 'षीध्वम्' अनर्थक है। ष् (वेविष् अंग का अवयव), ईध्वम् (प्रत्यय)=षीध्वम्, इस प्रकार दो अवयवों से बना होने के कारण निरर्थक है। अतः 'अङ्गात्' का ग्रहण निष्प्रयोजन है।

उत्तर—परिभाषाएँ आचार्यों का साक्षात् वचन नहीं होतीं, अपितु उनके वचनों की संगति बैठाने के लिये कल्पित नियम होते हैं। उनके दिशा-निर्धारक तो साक्षात् वचन ही होते हैं। परिभाषा का महत्त्व साक्षाद् 'वचन' से अधिक नहीं होता। फलतः परिभाषा तथा साक्षाद्वचन में विरोध उपस्थित होने पर परिभाषा अनित्य एवम् उस स्थल में अप्रमाण माननी होती है। यहाँ भी यही बात लागू होती है: **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य** (प० 15) परिभाषा तथा साक्षात् 'अङ्गात्' वचन में विरोध उपस्थित होने पर प्रस्तुत प्रकरण में परिभाषा अनित्य एवम् अप्रमाण हो जाती है। इसके अप्रमाण होने पर 'वेविषीध्वम्' जैसे प्रयोगों में धकार को मूर्धन्यादेश की निवृत्ति 'अङ्गात्' कहने से ही हो सकेगी।[1]

2248 अत आदेः (7.4.70)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य 6.1 (58), दीर्घः 1.1 इणः किति (69) : **अभ्यासस्य आदेरतो दीर्घो (भवति)**—अभ्यास के आदि अवयव रूप एक मात्रिक 'अ' को दीर्घ (आ) होता है।

---

1. त० बो० : **'अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा क्वचिन्न प्रवर्तत' इति ज्ञापनार्थमिदमुक्तम्।**

अभ्यासस्यादेरतो दीर्घः स्यात् । पररूपापवादः । एधामासतुरित्यादि ॥ 27 ॥

दीर्घ (आदेश) हो। (यह विधान) पर-रूप का बाधक है। एधामास, एधामासतुः इत्यादि ॥ 27 ॥

सिद्धियाँ : एधांचकृषे—एधाम्+चकृ+थास्, **थासः से** से थास् को से : एधाम्+चकृ+से। **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से निषेध होता है। **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष् होता है। **असंयोगाल्लिट् कित्** से 'से' के कित् होने के कारण गुण का **क्ङिति च** से निषेध हो जाता है : एधांचकृषे, एधाञ्चकृषे। एधांचक्राथे, एधाञ्चक्राथे। एधांचकृ+ध्वे स्थिति में **इणः षीध्वं-लुङ्-लिटां०** से ध् को ढ् तथा **अनचि च** से ढ् को द्वित्व-विकल्प, **झलां जश् झशि** से पूर्व ढ् को ड् : एधांचकृढ्वे, एधांचकृड्ढ्वे। एधांचक्रे। एधांचकृवहे। इसी प्रकार पर-सवर्ण रूप समझें।

एधाम्बभूव, एधांबभूव—**कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि** से लिट्परक भू का अनुप्रयोग होने पर एधाम्+भू+लिट्। **शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्** से तिप् होता है। शेष प्रक्रिया बभूव की तरह होती है। **वाऽपदान्तस्य** यहाँ भी लगता है। **आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनु०** में 'कृ' के अनुप्रयोग में ही आम्प्रकृतिक पद (आत्मनेपद या परस्मैपद) का विधान होता है; फलतः यहाँ उसकी प्राप्ति नहीं है। इसी प्रकार एधाम्बभूवतुः, एधाम्बभूवुः इत्यादि।

एधामास—यहाँ अस् धातु को यदि **अस्तेर्भूः** (2.4.52) से 'भू' आदेश हो जाये, तो भू के अनुप्रयोग के तथा अस् के अनुप्रयोग के रूपों में कोई अंतर नहीं रहता। अतः अस् और भू दोनों को ग्रहण करने वाले कृञ् प्रत्याहार के स्थान में कृ के साथ भू और अस् में से अन्यतर का स्पष्ट कथन करने को सूत्र **कृ-भू चानुप्रयुज्यते लिटि**, या अक्षर-लाघव ही यदि प्रिय हो, तो **कृञ्चानु०** के रूप में बनाया जा सकता था। ऐसा न करके कृञ् प्रत्याहार का पाठ पाणिनि के विशेष अभिप्राय को प्रकट करता है कि अस् को भू आदेश नहीं होता। अतः 'एधाम्+अस्+लिट्' स्थिति में लिट् को तिप्, उसे णल् होता है : एधाम्+अस्+अ। 'अस्' को द्वित्व होता है—यहाँ **अजादेर्द्वितीयस्य** नियम द्वितीय एकाच् के अभाव के कारण लागू नहीं होगा; अतः 'अस्' को ही द्वित्व होगा : एधाम्+अस्+अस्+अ। अभ्यासकार्य होने पर 'एधाम्+अ-अस् अ' स्थिति में **अकः सवर्णे दीर्घः** से प्राप्त दीर्घ को बाधकर **अतो गुणे** (6.1.97) से पररूप प्राप्त होता है। उसे **अतः आदेः** बाध लेता है तथा आदि के 'अ' को 'आ' हो जाता है : एधाम्+आ+अस्+अ। तब **अकः सवर्णे दीर्घः** से आ+अ को दीर्घ एकादेश : एधाम्+आस्+अ=एधामास। इसी प्रकार एधामासतुः, एधामासुः; एधा-

एधिता, एधितारौ, एधितारः, एधितासे, एधितासाथे । 2249 धि च

√एध्+लुट् और लृट् की प्रक्रिया

2249 ध पहले वर्ण वाला प्रत्यय बाद में होने पर 'स्' का लोप हो ।

मासिथ, एधामासथुः, एधामास; एधामास, एधामासिव, एधामासिम ।

'पररूपापवादः' कथन पर विचार : दीक्षितजी ने नाम-धातु प्रकरण में इसी प्रकार के प्रसंग में पर-रूप करने के बाद दीर्घ प्रकृत सूत्र से बताया है ।[1] अतः स्व-वचन-विरोध है । नवीनों का कथन है कि **अत आदेः** सूत्र **हलादिः शेषः** से पर है, अतः द्वित्व से पूर्व ही दीर्घ हो जाता है । फिर अत् के पश्चात् न होने के कारण पररूप प्राप्त ही नहीं होता । अतः यहाँ का 'पररूपापवादः' कथन प्रमाद-मूलक है ।[2] इसके अलावा '√ऋध्+लिट् (अतुस्)' से 'अ+ऋध्+अतुस्' स्थिति में **आद् गुणः** से गुण की प्राप्ति है । केवल पररूप की अपवादता में गुण हो जायेगा । अतः **'पररूपापवादः'** मात्र कहना उचित नहीं है ।[3]

डा० पं० श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी : 'पररूपापवादः' इस मूलग्रन्थ में 'पररूप' गुण का भी उपलक्षक है, इसलिए **अत आदेः** का दीर्घ पररूप और गुण दोनों का अपवाद होता है : यद्यपि **अत आदेः** दीर्घ और पररूप दोनों से पर है, तथापि इन दोनों के अन्तरङ्ग होने से अन्यत्र अवकाश के अभाव में अपवादरूप से ही बाधक होगा । नाम-धातु प्रकरण में जो विरोध प्रतीत होता है, वह आभासमात्र है : साक्षात् औपदेशिक (धातुपाठोक्त) धातुओं में चरितार्थ दीर्घरूप अपवाद नामधातु में अंतरंग पररूप से **अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थः, तर्हि अन्तरंगेण बाध्यते** (प० 66) नियम के अधीन बाधित हो रहा है । अतः विरोध की शंका निर्मूल है ॥ 27 ॥

2249 धि 7.1 च (8.2.55)—रात्सस्य (24) संयोगान्तस्य लोपः (23) : धि

---

1. सि०कौ० नामधातु प्र०, पृष्ठ 448 (मो०ब० संस्करण) : **अ इवाचरति=अति । 'प्रत्यय'-ग्रहणमपनीय 'कास्यनेकाच्०' इत्युक्तेर्नाम् । औ, अतुः, उः । द्वित्वम्, 'अतो गुणे', 'अत आदेः' इति दीर्घः ।**
2. त० बो०, प्रकृत स्थल : **'अपवाद' इत्ययं ग्रन्थो नाम-धातु-प्रक्रियास्थ-स्व-ग्रन्थेन सह विरुध्यते ।···हलादिः शेषात्प्रागेव परत्वाद् 'अत आदेः' इति दीर्घे कृते तु पर-रूप-शङ्कापि तत्र नास्तीति चिन्त्योऽयं ग्रन्थः ।**
3. त० बो०, नामधातु-प्र० : **ननु 'अत आदेः' इत्यस्य पररूपापवादत्वम् 'एधामास' इत्यत्र यदुक्तं, तत्कथं संगच्छते ? आनृधतुः इत्यादौ 'आद्गुणः' इति गुणस्यापि प्राप्तेः ।**

(8.2.25)—धादौ प्रत्यये परे स-लोपः स्यात्। एधिताध्वे। 2250 ह एति (7.4.52)—तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे। एधिताहे। एधितास्वहे, एधितास्महे।

एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते; एधिष्यसे एधिष्येथे, एधिष्यध्वे; एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे ॥ 28 ॥

2250 तास् (प्रत्यय) और √अस् के 'स्' के स्थान में 'ह' हो जाए, बाद में 'ए' होने पर ॥ 28 ॥

च सस्य लोपः। यहाँ 'ध्' वर्ण (अल्) बाद में होने पर लोप-विधि होने के कारण **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से 'आदौ' जुड़ेगा : धि=धादौ। धादौ (प्रत्यये परे) सस्य लोपो (भवति)—धकारादि प्रत्यय परे रहते 'स्' का लोप होता है।

यहाँ बालमनोरमाकार श्री वासुदेवदीक्षितजी ने अष्टमाध्याय द्वितीय पाद के सूत्र में सप्तम अध्याय के चतुर्थ पाद से **सः स्यार्धधातुके** (7.4.49) **इत्यतः 'स' इत्यनुवर्तते। तासस्त्योः** (50) **इत्यतो 'लोप' इति।'** इस प्रकार भ्रांत अनुवृत्ति बतलाई है। यह अनुवृत्ति वस्तुतः अगले **ह एति** (7.4.52) की है।

2250 **ह इति** (7.4.52)—सः स्यार्धधातुके (49), तासस्त्योर्लोपः (50) : तासस्त्योः 6.2 **सः** 6.1 **हः** 1.1 (भवति) एति 7.1—तास् तथा अस्ति (√अस् धातु) के सकार को हकार होता है, एत् परे रहते। 'हः' में 'अ' उच्चारण के लिए है।

सिद्धियाँ : एधिता—√एध् धातु से लुट् लकार होता है : एध्+लुट्। लुट् को आत्मनेपद प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में 'त' होता है : एध्+त। 'त' की सार्वधातुक संज्ञा होने पर **कर्तरि शप्** से प्राप्त शप् को बाध कर **स्य-तासी लृलुटोः** से तास् : एध्+तास्+त। 'तास्' की आर्धधातुक संज्ञा के अनतर √एध् के उदात्त होने के कारण **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से इट् होता है : एध्+इ+तास्+त। **लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः** से 'त' को 'डा' आदेश होता है : एध्+इतास्+डा। 'डा' के डित् होने के कारण भसंज्ञा न होते हुए भी टि (तास् में आस्) का लोप होता है : एधित्+आ। **पुगन्त-लघूपधस्य च** से प्राप्त गुण का निषेध **दीधी-वेवीटाम्** से होता है : एधिता। इसी प्रकार एधितारौ एधितारः; एधितासे एधितासाथे आदि। स् का लोप √भू+लुट् के समान होता है।

एधिताध्वे—'एध्+इतास्+ध्वम्' में **टित आत्मनेपदानां टेरे** से ध्वम् की टि (अम्) को ए (ध्वे) होता है। एध्+इतास्+ध्वे। **धि च** से स् का लोप : एधिताध्वे।

एधिताहे—'एधितास्+इ' स्थिति में **टित आत्मने०** से इ को ए होता है : एधितास्+ए। **ह एति** से स् को ह : एधिताहे।

2251 आमेतः (3.4.90)—लोट एकारस्याम् स्यात् । एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम् । 2252 सवाभ्यां वामौ (3.4.91)—सकार-वकाराभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद् व, अम् एतौ स्तः । एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम् ।

√एध्+लोट् की प्रक्रिया

2251 लोट् के एकार को आम् आदेश हो । एधाम्, एधेताम्, एधन्ताम् । 2252 स् और व् के पश्चात् स्थित, तथा लोट् के अवयव एकार को क्रम से व और

लृट् की सिद्धियाँ : एधिष्यते—√एध् से 'भविष्यत्' अर्थ में लृट् होता है । धातु के अनुदातेत् होने के कारण उसे आत्मनेपद प्रत्यय प्रथम पुरुष एकवचन की विवक्षा में 'त' आदेश होता है : एध्+त । मार्वधातुकसंज्ञा के बाद शप् प्राप्त होता है, उसे बाध कर **स्य-तासी लृ-लुटोः** से स्य प्रत्यय होता है : एध्+स्य+त । स्य की आर्धधातुकसंज्ञा के अनंतर वलादिलक्षणक इट् होता है : एध्+इस्य+त । **आदेश-प्रत्यययोः** से स्य का स् मूर्धन्य (ष्) हो जाता है : एध्+इष्य+त । तब **टित आत्मने-पदानां टेरे** से 'त' की टि (अ) को ए होता है : एध्+इष्य+ते=एधिष्यते ।

एधिष्यसे में **थासः से** से 'से' विशेष होता है । 'एधिष्येते' तथा 'एधिष्येथे' में 'एधिष्य+आताम्' या 'आथाम्' स्थिति में **टित आत्मने०** से टि (आम्) को ए तथा **आतो ङितः** से आ को इय् होता है : एधिष्य+इते । **आद्गुणः** होने पर 'एधिष्येते', 'एधिष्येथे' बनता है । 'एधिष्यन्ते' में एधिष्य+झ, **झोऽन्तः** से झ् को अन्त् आदेश, टि (अ) को ए : एधिष्य+अन्ते । **अतो गुणे** से ष्य के अ तथा अन्ते के अ को पररूप एकादेश होता है । **एधिष्यावहे** में **अतो दीर्घो यञि** से ष्य के अ को दीर्घ विशेष होता है । शेष पूर्ववत् ॥ 28 ॥

2251 **आमेतः** (3.4.90)—लोटो लङ्वत् (85) से 'लोटः (अवयव-षष्ठ्यंत) की अनुवृत्ति होती है, 'एतः' स्थान-षष्ठ्यन्त है, 'आम्' प्रथमान्त विधेय है । **लोटः एतः आम्**—लोट् के एकार को 'आम्' आदेश होता है । विभक्ति होने के कारण इसके 'म्' की इत्संज्ञा नहीं होती ।

2252 **सवाभ्यां वामौ** (3.4.91)—लोटः (85) तथा आमेतः (90) से 'एतः' की अनुवृत्ति होती है । 'सवाभ्याम्' 5.2 की विभक्ति के कारण **तस्मादित्युत्तरस्य** से 'उत्तरस्य' अर्थ और 'सवाभ्याम्' में तथा 'वामौ' में द्विवचन के साम्य के कारण **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** से 'यथासङ्ख्यम्' अर्थ उपस्थित होता है । 'स', 'व' में 'अ' उच्चारणार्थ है । हल्मात्र इष्ट हैं । आदेश 'व' अकारान्त अभीष्ट है । लोटः सवाभ्यां (परस्य) एतः वामौ **यथासङ्ख्यम्** (भवतः)—लोट् के स् और व् से परे स्थित

2253 एत ऐ, (3.4.93)—लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात् । आमोऽपवादः । एधै, एधावहै, एधामहै ॥ 29 ॥

2254 आडजादीनाम् (6.4.72)—अजादीनामाट् स्याल्लुङादिषु । अम् ये दो आदेश होते हैं । एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम् । 2253 लोट् के आदेश उत्तम-संज्ञक त्रिक के एकार को ऐ आदेश हो । यह आम् आदेश का अपवाद है । एधै, एधावहै, एधामहै ॥ 29 ॥

√एध् : लङ् की प्रक्रिया

2254 प्रथम स्वर अक्षर वाली धातुओं को आट् हो बाद में लुङ् आदि होने

ए को क्रमशः व (ह्रस्व अकारान्त) और अम् आदेश होते हैं । यह सूत्र **आमेतः** का अपवाद है ।

2253 **एत ऐ** (3.4.93)—लोटः (85), आडुत्तमस्य पिच्च (92) । 'एतः' स्थान-षष्ठ्यन्त है, 'ऐ' लुप्त-प्रथमार्थक : लोटः 6.1 उत्तमस्य 6.1 एतः 6.1, ऐ 1.1—लोट् के उत्तम के 'ए' के स्थान में 'ऐ' होता है । यह सूत्र भी **आमेतः** का अपवाद है ।

सिद्धियाँ : एधताम्—√एध्+लोट्, लोट् (ल्) को त आदेश : एध्+त । त की टि ('अ') को **टित आत्मनेपदानां टेरे** से ए : एध्+ते । 'त' की सार्वधातुक संज्ञा के बाद शप् : एध्+अ+ते । **आमेतः** से ते के ए को आम् : एधताम् । **एधेताम्**—'एध्+अ+आताम्' स्थिति में **आतो ङितः** से आ को इय्, य-लोप : एध्+अ+इताम्, गुण : एधेताम् । **एधन्ताम्**—√एध्+अ+अन्ते, **आमेतः** से ए को आम् : एध्+अ+अन्ताम्, **अतो गुणे** से दोनों अकारों को एक पररूप आदेश : एध्+अन्ताम्=एधन्ताम् । **एधस्व**—एध्+अ+थास्, **थासः से** : एधसे, **आमेतः** से ए को आम् आदेश प्राप्त हुआ, उसे बाध कर **सवाभ्यां वामौ** से ए को व : एधस्व । **एधेथाम्** की सिद्धि एधेताम् की तरह होती है । **एधध्वम्**—एध्+अ+ध्वम्, **टित आत्मने०** से ध्वम् के अम् को ए आदेश : एधध्वे, ए को **सवाभ्यां वामौ** से अम् : एधध्वम् । **एधै**—एध्+अ+इट्, **टित आत्मने०** से इ को ए : एध्+ए=एधे । **एत ऐ** से ए को ऐ : एध्+अ+ऐ । **आडुत्तमस्य पिच्च** से ऐ के आदि में आ का आगम : एध्+अ+आऐ **आटश्च** से आ+ऐ को वृद्धि एकादेश : एध्+अ+ऐ । **वृद्धिरेचि** से अ+ऐ को वृद्धि-सन्धि : एधै । **एधावहै**—एध्+अ+वहि, **टित आत्मनेपदानां टेरे** से इ को ए : एध+वहे । **एत ऐ** से ए को ऐ : एध+वहै । **आडुत्तमस्य पिच्च** से वहि के आदि में आट् आगम : एध+आवहै । **अकः सवर्णे दीर्घः** से अ+आ को सवर्णदीर्घैकादेश : एधावहै । इसी प्रकार **एधामहै** ॥ 29 ॥

2254 आडजादीनाम् (6.4.72)—लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः (71) । लुङादि को

अटोऽपवादः। आटश्च (6.1.90)—ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त; ऐधथा, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्; ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि ॥ 30 ॥

2255 लिङः सीयुट् (3.4.102)—लिङात्मनेपदस्य सीयुडागमः पर। यह अट् का बाधक है। 'आटश्च' (से वृद्धि)—ऐधत (इत्यादि) ॥ 30 ॥

√एध्+विधि लिङ् की प्रक्रिया

2255 लिङ् के आदेश आत्मनेपद को सीयुट् (सीय्) आगम हो। स् का लोप

पर-निमित्त बतलाने से 'धातोः' पद अर्थतः आकर विशेष्य 'अजादीनाम्' के अनुकूल 'धातूनाम्' में बदल जाता है : **अजादीनां धातूनामाट् (भवति) लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु**—लुङ् लङ् और लृङ् बाद में होने पर स्वरादि धातुओं के आदिम अवयव के रूप में आट् आगम होता है। आट् अट् का बाधक है।

सिद्धियाँ : ऐधत—√एध् से कर्तृवाच्य में लङ्। ल् को आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होने पर 'त' की सार्वधातुक संज्ञा होती है : एध्+त : **कर्तरि शप्** से शप् (अ) : एध्+अ+त। **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** से प्राप्त अट् को बाध कर **आडजादीनाम्** से आट् (आ) टित् होने के कारण धातु के आदि में होता है। आ+एध्+अ+त। **आटश्च** से आ+ए को वृद्धि एकादेश (ऐ) होता है : ऐध्+अ+त। मिलने पर ऐधत रूप बनता है। यहाँ 'त' की टि (अ) को **टित आत्मनेपदानाम्०** से 'ए' लङ के ङित् होने के कारण प्राप्त नहीं है।

ऐधेताम्—'आताम् प्रत्यय होने पर पूर्ववत् प्रक्रिया से ही ऐध्+अ+आताम् स्थिति में **आतो ङितः** से 'आताम्' के 'आ' को 'इय्' होता है : ऐध्+अ+इय्ताम्। **'आद्गुणः'** से अ+इ को 'ए' गुण एकादेश होता है : ऐधेय्ताम्। **लोपो व्योर्वलि** से य् का लोप होने पर 'ऐधेताम्' बनता है।

ऐधन्त—झ में ऐध+अ+झ। **झोऽन्तः** से झ् को अन्त् : ऐध+अ+अन्त्+अ। **अतो गुणे** से अ+अ को पर-रूप (अ) एकादेश होने पर ऐध+अन्त=ऐधन्त बनता है। इसी प्रकार ऐधथाः, ऐधेथाम् रूप बनते हैं।

ऐधे—उत्तमपुरुष एकवचन इट् में ऐध्+अ+इ स्थिति में **आदगुणः** से अ+इ को गुण (ए) एकादेश होने 'ऐधे' बनता है।

ऐधावहि—एध्+अ+वहि स्थिति में **अतो दीर्घो यञि** से 'अ' को दीर्घ 'आ'।

ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त; ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्, ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि ॥ 30 ॥

2255 लिङः सीयुट् (3.4.102)—लिङः 6.1, सीयुट् 1.1। यासुट् परस्मै-

स्यात् । सलोपः । एधेत, एधेयाताम् । 2256 झस्य रन् (3.4.105)—लिङो झस्य रन्स्यात् । एधेरन् । एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम् । 2257 इटोऽत् (3.4.106)—लिङादेशस्येटोऽत्स्यात् । एधेय । एधेवहि, एधेमहि ।

होता है । एधेत, एधेयाताम् । 2256 लिङ् के आदेश झ को रन् आदेश हो । एधेरन् । 2257 लिङ् के आदेश इट् के स्थान में अत् (ह्रस्व अ) हो । एधेय । इत्यादि ।

पदेषू० (103) में परस्मैपदों को 'यासुट्' किया है; अतः यहाँ परिशेष से आत्मनेपदों को सीयुट् होता है : लिङ् के आत्मनेपद प्रत्ययों को सीयुट् का आगम होता है । टित् होने से यह प्रत्यय के आदि में जुड़ता है । उ और ट् इत् हैं । अतः आगम 'सीय्' है ।

2256 **झस्य रन्** (3.4.105)—लिङः 6.1 सीयुट् (102) । लिङ् के 'झ' को रन् आदेश होता है । अनेक अल् वाला होने से 'रन्' आदेश समूचे 'झ' के स्थान में होता है । **हलन्त्यम्** से प्राप्त इत्संज्ञा के निवारण के लिए 'रन् में न् (रन्न्) प्रश्लिष्ट है तथा इसका **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप होता है, यह संप्रदायविदों का कहना है ।

2257 **इटोऽत्** (3.4.106)—लिङः 6.1 सीयुट् (102) : लिङः इटः अत्—लिङ् के इट् को 'अत्' आदेश होता है । यहाँ 'त्' केवल उच्चारण के लिए ही है । 'त्' की इत्संज्ञा का विशेष प्रयोजन होता है स्वरितविधान ।[1] वह यहाँ नहीं है । ल० श० शे० के० अनुसार त् इत्संज्ञा के लिए (प्रयोजनविशेष से) नहीं है । अन्य आचार्यों का अभिप्राय है कि 'त्' इत्संज्ञा के लिए ही है । **न विभक्तौ तुस्माः** से इत्संज्ञा का निषेध आदेश होने से पहले (उपदेश अवस्था में) विभक्तिसंज्ञा न होने के कारण प्राप्त ही नहीं होता ।

विधि-लिङ् की सिद्धियाँ : एधेत—√एध् से कर्ता में विधिलिङ् को आत्मनेपद 'त' प्रत्यय होता है । 'त' की सार्वधातुकसंज्ञा के अनंतर शप्, **लिङः सीयुट्** से सीयुट् (सीय्) टित् होने से 'त' के आदि में होना है । एध्+अ+सीय्+त । **लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य** से 'सीय्' के 'स्' का लोप : एध्+अ+ईय्+त । **आद्गुणः** से अ+ई को गुण एकादेश : एध्+एय्+त । **लोपो व्योर्वलि** से 'य्' का लोप : एध्+ए+त= एधेत ।

एधेयाताम्—पहले की तरह की प्रक्रिया से 'आताम्' में एध्+एय्+आताम् स्थिति में वल् प्रत्याहार पश्चात् न होने से य् का लोप नहीं होता : एध्+एय्+आताम्=एधेयाताम् बनता है ।

---

1. **तित्स्वरितम्** (5.1.185) पर काशिका : **प्रत्ययाद्युदात्तस्यापवादः ।**

आशीर्लिङि आर्धधातुकत्वाल्लिङः सलोपो० न। सीयुट्-सुटोः प्रत्ययावयवत्वात्षत्वम्। एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम् एधिषीरन्; एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्; एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि ॥ 31 ॥

√एध्+आशीर्लिङ् की प्रक्रिया

आशिष् अर्थ में हुए लिङ् में आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण लिङ् के कारण सकार का लोप नहीं होता। सीयुट् (सीय्) और सुट् (स्) चूंकि प्रत्यय के अवयव हैं, अतः षकार हो जाता है। एधिषीष्ट इत्यादि ॥ 31 ॥

एधेरन्—एध्+झ स्थिति में **झस्य रन्** से 'झ' को सर्वादेश रन् : एध्+रन्। शप्, सीयुट्, स्लोप, गुण, य् का लोप पूर्ववत्।

एधेय—एध्+इट् स्थिति में **इटोऽत्** से इट् को 'अ' : एध्+अ। शप्, सीयुट्, स्लोप, गुण होने पर एध्+एय्+अ=एधेय।

थास्, ध्वम्, वहि तथा महि में 'एधेत' की तरह प्रक्रिया होती है। आथाम् में एधेयाताम् की तरह। एधेत, एधेयाताम्, एधेरन्; एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्; एधेय, एधेवहि, एधेमहि।

आशीर्लिङ् की सिद्धियाँ : आशीर्वादार्थक लिङ् में **लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य** से स् का लोप **लिङाशिषि** से लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होने से नहीं होता : **लिङः सलोपो०** में **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (7.2.76) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति होती है। सीयुट् के तथा सुट् के सकार प्रत्यय के अवयव हैं, अतः **आदेश-प्रत्यययोः** से उन्हें मूर्धन्यादेश होता है। इस सूत्र की प्रवृत्ति कुछ आचार्यों के मत में लक्ष्य (सीयुट् तथा सुट् के सकारों) के भेद से क्रमशः दो बार होती है। दूसरे आचार्य एक साथ ही प्रवृत्ति से दोनों दंत्यों को एक साथ ही मूर्धन्य करते हैं।

एधिषीष्ट—√एध् धातु से **आशिषि लिङ्लोटौ** से कर्त्ता में लिङ्, उसे आत्मनेपद 'त' आदेश, 'त' की **लिङाशिषि** से आर्धधातुक संज्ञा : एध्+त। 'त' के आर्धधातुक होने के कारण शप् नहीं होता। सीयुट् (सीय्) के अनंतर **सुट् तिथोः** से 'त' के आदि में सुट् (स्) का आगम : एध्+सीय्+स् त। सीय् की **आर्ध-धातुकं शेषः** से आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से सीय् के आदि में इट् : एध्+इ+सीय्+स्+त। **लोपो व्योर्वलि** से य् का लोप। **आदेश-प्रत्यययोः** से क्रमेण अथवा युगपत् सीय् तथा स् के स् को मूर्धन्यादेश : एध्+इ+षी+ष्त। **ष्टुना ष्टुः** से त् को मूर्धन्य (ट्) : एधिषीष्ट। **एधिषीयास्ताम्**—'एध्+सीय्+आताम्' स्थिति में **सुट् तिथोः** से 'आताम्' में त् के पूर्व सुट् (स) के आगम। य् के लोप को छोड़ कर शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

ऐधिष्ट, ऐधिषाताम् । 2258 आत्मनेपदेष्वनतः (7.1.5)—अनकारात् परस्यात्मनेपदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेशः स्यात् । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः, ऐधिषा-

√एध्+लुङ् तथा लृङ् की प्रक्रिया

2258 अकार से भिन्न वर्ण से परे स्थित तथा आत्मनेपदांतर्गत झ् को 'अत्' आदेश हो । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम् । 'इण्णंत अंग के पश्चात् स्थित षीध्वम्,

---

'एधिषीरन्', 'एधिषीमहि' आदि में सीयुट्, इट्, मूर्धन्यादेश आदि पूर्ववत् । तकारथकारदि प्रत्यय न होने से यहाँ सुट् प्राप्त नहीं है ।

एधिषीध्वम्—'एध्+इ+षी+ध्वम्' स्थिति में 'षीध्वम्' का 'ध्' यद्यपि इण् (इषी) से परे है, पर इण्णंत अंग से परे नहीं है, क्योंकि इट् प्रत्यय 'षीध्वम्' का आगम होने से 'षीध्वम्' प्रत्यय का अवयव ही है । अतः अंग 'एध्' हलंत ही है । इसलिये **इणः षीध्वं-लुङ्लिटां धोऽङ्गात्** से 'ध्' को मूर्धन्य 'ढ्' नहीं होता ।

एधिषीय—'एध्+इट्' स्थिति में 'इट्' को **इटोऽत्** से अत् (अ) : एध्+अ । शेष सीयुट् (सीय्), इट् (इ), मूर्धन्यादेश आदि पूर्ववत् : एध्+इ+षीय्+अ=एधिषीय । इसी प्रकार एधिषीवहि, एधिषीमहि ॥ 31 ॥

2258 आत्मनेपदेष्वनतः (7.1.5)—आत्मनेपदेषु 7.3, अनतः 5.1 । 'आत्मनेपदेषु' में सप्तमी अवयव-षष्ठी के अर्थ में है[1] : **पञ्चमी स्वस्मात् परां सप्तमीं षष्ठीं प्रकल्पयति** (पञ्चमी के अनंतर सप्तमी को षष्ठी के रूप में समझना चाहिए) नियम है । यहाँ यद्यपि पदक्रम में सप्तमी पञ्चमी से पूर्व ही है, तो भी अन्वय-क्रम में अर्थदृष्ट्या पञ्चमी से परे ही है । न अत् अनत्, तस्मात् अनतः—अत् से भिन्न से परे वाले को । **झोऽन्तः** (3) तथा **अदभ्यस्तात्** (4) की अनुवृत्ति है : अनतः परेषाम् आत्मनेपदानाम् (अवयवस्य) झस्य अत् (आदेशो भवति)—अद्भिन्न से परे स्थित आत्मनेपद-प्रत्ययों के अवयव रूप झ् को 'अत्' आदेश होता है ।

यदि सूत्र में 'आत्मनेपदेषु' पद न ग्रहण किया जाये, तो 'अदन्ति' आदि में झ् को अत् आदेश प्राप्त होगा । 'अनतः' का ग्रहण एधन्ते, प्लवन्ते, स्पर्धन्ते आदि में अत् आदेश के निवारण के लिये है ।

सिद्धियां : ऐधिष्ट—√एध् से कर्तृवाच्य में लुङ् । लुङ् को आत्मनेपद में 'त' आदेश । त की सार्वधातुकसंज्ञा । शप् को बाध कर **च्लि लुङि** से च्लि, उसे **च्लेस्सिच्**

---

1. 'अनतः' से अन्वित **'आत्मनेपदेषु'** पद **'तस्मादित्युत्तरस्य'** (1.1.67) से षष्ठी में विपरिणत हो जाता है ।

थाम्। 'इणः षीध्वं-लुङ्-लिटां धोऽङ्गात्'--ऐधिढ्वम्; 'इड्-भिन्न एव इणिह गृह्यत' इति मते तु ऐधिध्वम्। ढधयोर्वस्य मस्य च द्वित्वविकल्पात् षोडश रूपाणि। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि।

लुङ् तथा लिट् के धकार को (मूर्धन्य होता है)'—ऐधिढ्वम्; 'यहाँ इट् से भिन्न ही इण् गृहीत होता है', मत में तो ऐधिध्वम्। ढ् एवं ध् को तथा व् को और म् को द्वित्व के विकल्प के कारण सोलह रूप होते हैं।

से सिच् (स्) : एध्+स्+त। 'स्' की आर्धधातुक संज्ञा के अनंतर वलादि-लक्षणक इट् (इ) स् के पहले आता है : एध्+इस्+त। **आडजादीनाम्** से धातु के आदि में आट् : आ+एध्+इ+स्+त। **आटश्च** से वृद्धि : ऐध्+इ+स्+त। स् को मूर्धन्य आदेश, **ष्टुना ष्टुः** से 'त्' को 'ट्' : ऐध्+इ+ष्ट=ऐधिष्ट। इसी प्रकार ऐधिषाताम्, ऐधिषाथाम्, ऐधिष्ठाः।

ऐधिषत—'ऐध्+इष्+झ' स्थिति में झ् को **आत्मनेपदष्वनतः** से अत् : ऐधिष्+अत्+अ=ऐधिषत।

ऐधिढ्वम्,—'एध्+इ+स्+ध्वम्' स्थिति में **धि च** से 'स्' का लोप होने पर ऐध्+इ+ध्वम्। यहाँ 'ऐधि+स्' की अंग संज्ञा है।[1] 'स्' का लोप होने पर लुप्त हुए सिच् (स्) का अवयव होने से अंग संज्ञा 'ऐधि' की रह जाती है। फलतः 'ऐधि' इण्णंत अंग हो जाता है। उसके पश्चात् स्थित लुङ् के ध् को मूर्धन्यादेश : ऐधिढ्वम्।

ऐधिध्वम्—कुछ आचार्यों का मत है कि **इणः षीध्वं०** सूत्र में इट् से भिन्न इण् ही अभिप्रेत है। क्योंकि इसके बाद का सूत्र **विभाषेटः** है। उसका अर्थ है, इण परो य इट्, ततः परेषां षीध्वं-लुङ्-लिटां धस्य वा मूर्धन्यः स्यात् (इण् से परे जो इट्, उससे परे स्थित षीध्वम्, लुङ् और लिट् के ध् को विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है)। यदि इडंत अंग को भी सूत्रकार ने इण्णंत अंग ही माना होता, तो **इणः षीध्वं०** से पृथक् **विभाषेटः** में पृथक् 'इट्' का ग्रहण अनावश्यक ही होता। जैसे **'गौर्बलीवर्दः'** उक्ति में सामान्य 'गो' शब्द से ही 'बलीवर्द' (बैल) का बोध हो सकता है, तब भी विशेष 'बलीवर्द' शब्द का ग्रहण विशेष अभिप्राय (स्त्री गो की अप्रतीति) के लिये हुआ है, वैसे ही 'इण्णन्त' के ग्रहण से ही 'इट्' भी, वह चूंकि 'इण्' है, अतः समझा जा सकता है, पर तब भी 'इटः' का अलग से ग्रहण विशेष अभिप्राय (इण् के अंतर्गत इट् को न कहने की इच्छा) के लिये हुआ है। अतः 'इट् से भिन्न इण्' यह सूत्रकार का आशय

---

1. सि० कौ०, अजंत पुंल्लिङ्ग : **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (1.3.13)—**'विकरण-विशिष्टस्याङ्गसञ्ज्ञार्थं 'तदादि'-ग्रहणम्।**

प्रतीत होता है। ऐधिस्+ध्वम्, स् लोप होने पर इडंत अंग रह जाता है : ऐधि+ध्वम्, अतः मूर्धन्यादेश नहीं होता। फलतः रूप ऐधिध्वम् ही होता है।

यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता : (1) **इणः षीध्वं०** सूत्र इण्णंत अंग से परे स्थित 'ध्' को नित्य 'ढ्' आदेश करता है, जबकि **विभाषेटः** (8.3.79) इण् से परे स्थित 'इ' से परे आने वाले 'ध्' को विकल्प से मूर्धन्य आदेश करता है। जहाँ इट् इण् से परे न होगा, वहाँ पहले सूत्र से नित्य ही मूर्धन्यादेश होगा। अतः 'इट्:' ग्रहण पूर्व से प्राप्त नित्यविधि के अपवाद विकल्पविधि का प्रतिपादन करता है. किसी विशेष अभिप्राय से इसका ग्रहण नहीं किया है। अतः पूर्व-सूत्र में 'इट् से भिन्न इण्' इस प्रकार के अर्थ को यह प्रकट नहीं कर सकता। (2) भगवान् भाष्यकार ने भी उपर्युक्त मत की चर्चा नहीं की है।

कुछ वैयाकरण इसे मानते हैं, अतः स्वतः ही ऐसे स्थल में विकल्प आ जाता है। फलतः 'ध्' तथा 'ढ्' दोनों से युक्त रूप होंगे।

दोनों ही स्थलों में **अनचि च** से यर् ('ध्' तथा 'ढ्') को द्वित्व होता है। फलतः दो ध् (**झलां जश्झशि** से पूर्व ध् को 'द्' आदेश), एक ध्, दो ढ् (**झलां जश्झशि** से पूर्व ढ् को ड्) तथा एक ढ् वाले चार रूप (ऐधिद्ध्वम्, ऐधिध्वम्, ऐधिड्ढ्वम्, ऐधिढ्वम्) बनते हैं। इन चार रूपों में **यणो मयो द्वे वाच्ये** में 'मयः' में पञ्चमी (**मयः परस्य यणो द्वे वाच्ये**) मान कर मय् (ध् तथा ढ्) से परे व् को विकल्प से द्वित्व होता है। इससे दो व् वाले चार रूप, तथा एक व् वाले चार, इस प्रकार आठ रूप बनते हैं। फिर इन आठों रूपों में **अनचि च** से अकार रूप अच् से परे स्थित यर् म् को विकल्प से द्वित्व होने से आठ रूप एक 'म्' वाले तथा आठ रूप दो 'म्' वाले, सब सोलह रूप हो जाते हैं : 1 ऐधिढ्वम्, 2 ऐधिढ्वम्म्, 3 ऐधिढ्व्वम्, 4 ऐधिढ्व्वम्म्; 5 ऐधिड्ढ्वम्, 6 ऐधिड्ढ्वम्म्, 7 ऐधिड्ढ्व्वम्, 8 ऐधिड्ढ्व्वम्म्, 9 ऐधिध्वम्; 10 ऐधिध्वम्म्, 11 ऐधिध्व्वम्, 12 ऐधिध्व्वम्म्; 13 ऐधिद्ध्वम्, 14 ऐधिद्ध्वम्म्, 15 ऐधिद्ध्व्वम्, 16 ऐधिद्ध्व्वम्म्।

ऐधिपाताम्, ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि में प्रक्रिया पूर्ववत् ही होगी। जहाँ ष् के बाद अच् पड़ा है, वहाँ ष् उस अच् में मिलने से रूप बन जाता है, जहाँ ष् से परे तवर्गीय अक्षर है, वहाँ **ष्टुना ष्टुः** मूर्धन्य (थाः=ठाः) हो जाता है।

ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्, ऐधिषत; ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम्, ऐधिध्वम् (आदि सोलह रूप); ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि।

लृङ् की सिद्धियां : ऐधिष्यत—√एध् धातु से कर्ता में लृङ्, उसे आत्मनेपद

ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त; ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्; ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि। उदात्तत्वाद् वलादिरिट् ॥ 32 ॥

प्रसङ्गादनुदात्ताः सङ्गृह्यन्ते—

ऐधिष्यत इत्यादि। धातु उदात्त होने के कारण वल् प्रत्याहार से प्रारम्भ होने वाले प्रत्यय को इट् (आगम) होता है ॥ 32 ॥

अनुदात्त धातुओं के संग्रह की प्रतिज्ञा

प्रसंग आ गया है, इसलिये (उपदेश में) अनुदात्त धातु संकलित की जा रही हैं—

प्रथम पुरुष एकवचन 'त' आदेश, 'त' की सार्वधातुक संज्ञा होने के बाद प्राप्त शप् को बाध कर **स्यतासी लृलुटोः** से 'स्य' होता है : एध्+स्य+त। 'स्य' की **आर्धधातुकं शेषः** से आर्धधातुक संज्ञा होने पर **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से इट् : एध्+इ+स्य+त। **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष् : एध्+इष्य+त। **आडजादीनाम्** से आट् : आ+एध्+इष्य+त। **आटश्च** से वृद्धि एकादेश होने पर **ऐधिष्यत**।

ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त; ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। इन रूपों की प्रक्रिया लृट् की तरह ही है। लृङ् के ङित् होने से प्रत्ययों की टि को **टित आत्मनेपदानाम्०** से एत्व नहीं होता। 'ऐधिष्ये' में 'ऐधिष्य+इ' स्थिति में **आद् गुणः** से गुण एकादेश होता है। 'ऐधिष्यावहि', 'ऐधिष्यामहि' में टि को एत्व नहीं होता, 'ऐधिष्य+वहि', 'ऐधिष्य+महि' स्थिति में **अतो दीर्घो यञि** से 'ष्य' में 'अ' को दीर्घ होता है : ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि।

√**एध्** उपदेश में उदात्त है, यह कहा जा चुका है। अतः **एकाच उपदेशे०** (7.2.10) प्राप्त न होने से **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से वलादि प्रत्ययों को इट् का आद्यवयवत्वेन आगम निर्बाध रूप से होगा ॥ 32 ॥

1 √**भू** तथा 2 √**एध्** धातु सेट् एवम् अनुप्रयोग का √**कृ** अनिट् आ चुका है। अतः सेट् और अनिट् धातुओं के ज्ञान के लिये धातुओं की उदात्तता या अनुदात्तता की पहचान आवश्यक है। स्वरवर्णों के उच्चारण के समय मुख से बाहर गलबिल में स्थित स्वरतंत्री के प्रयत्नविशेष उदात्त तथा अनुदात्त हैं। अतः वस्तुतः तो वे उच्चारण से ही प्रदर्शित किये जा सकते हैं; किंतु वर्णों की तरह उन्हें भी लिपिबद्ध बहुत प्राचीन काल में ही कर लिया गया था। पाणिनि के समय तक आम भाषा में भी स्वर का प्रयोग अबाध रूप से होता था। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाता था। एक

ही शब्द का देशभेद से भिन्न भिन्न स्वरों में प्रयोग होता था, यह अष्टाध्यायी के अंतरंग साक्ष्य से स्पष्ट ही है। भगवान् पाणिनि के कुछ बाद तक तो स्वर लिपि की सहायता से उच्चारण से ही समझे जाते रहे; किंतु परवर्ती काल में आकर भाषा से स्वरों का लोप हो गया। इसी प्रकार अनुनासिक स्वरों का भी उच्छेद हो गया। तब सरलता के लिए 'यह उदात्त है', 'नह अनुदात्त है,' अथवा 'यह उदात्तेत् है', इत्यादि कंठतः कहने तथा लिखने की आवश्यकता हो गई और धातुपाठ में **एधादयः षट्त्रिंशदुदाता अनुत्तेतः** आदि स्पष्ट निर्देश प्रबल हो गये। यह प्रक्रिया भी सभी धातुओं के इस प्रकार के निर्देश न याद हों, और न सेट् एवम् अनिट् का ज्ञान हो, इस प्रकार कोमलमति को दुरूह हो गई। तब कृपालु आचार्यों ने उदात्तों से अनुदात्तों को पृथक् किया। उदात्त धातु अधिक थे, अनुदात्त कम। अतः शिष्य लोग अनुदात्तों को कंठस्थ करने लगे तथा पारिशेष्यात् उन कंठस्थों से शेष सब उदात्त है, और सेट् हैं. यह समझकर काम चलाने लगे। परम कृपालु आचार्य व्याघ्रभूति ने कंठस्थ करने में सुविधा के लिए उन धातुओं को सुगेय वंशस्थ छन्द में 11 कारिकाओं में निबद्ध कर दिया। आचार्य पतंजलि ने ये धातु धातुओं के अंत्य वर्णों के अनुक्रम से गद्य में निबद्ध की हैं।

अजन्त धातुओं में अनिट् अधिक हैं, सेट् कम। अतः सेट् धातु कारिका में गिना दीं। सेट् अजंत धातु अनिट् हलंतों से कम हैं। अतः पहले अजंतों को देकर फिर हलंतों को लिया। हलंतों में सेट् अधिक हैं, अनिट् कम। अतः अनिटों का परिगणन कर दिया। हलंत अनिट् धातु 102 हैं, तथा अजंत सेट् 13 तो नाम्ना परिगृहीत हैं और सभी अदंत, ऊदंत, ॠदंत धातु भी सेट् ही हैं।

काशिकाकार से लेकर प्रक्रियाकौमुदीकार आचार्य रामचंद्र तक प्रायेण व्याघ्रभूति की कारिकाएँ ही चलती रहीं। श्रीदीक्षितजी ने **एकमात्रालाघवेऽपि. पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः** प्रसिद्धि को चरितार्थ करते हुए 12 वर्णों वाले वंशस्थ की अपेक्षा लघु आठ वर्णों वाले अनुष्टुप् छंद में ग्यारह कारिकाओं में समूचा शास्त्रार्थ निबद्ध कर दिया : छह कारिकाओं में सब धातु दे दीं, तथा शेष पाँच में उनकी व्याख्या।

व्याघ्रभूति की कारिकाएँ गेय होने के साथ-साथ स्मरण करने में भी सरल हैं। दीक्षितजी की कारिकाएँ न गेय हैं, न याद करने में सरल। एक मशीनी खटाखट सी उनके उच्चारण में कानों को लगती है। परन्तु एक गुण है उनमें : व्याघ्रभूति की कारिकाओं में जहाँ क्रम को कोई आदर नहीं दिया है, वहीं दीक्षित जी की कारिकाएँ आदि तथा अंत—दोनों तरफ से—वर्णानुपूर्वी से संगृहीत हैं। वस्तुतः उन्होंने सूची बहुत उपयोगी बना दी है।

दीक्षितजी के अनंतर उनके शिष्य वरदराज ने भी अनिट् धातुओं का संग्रह

(1) ऊदृदन्तैयौति-रु-क्ष्णु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः ।
वृङ्-वृभ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥[1]

अजंत धातुओं में निम्नोक्त धातु उदात्त हैं, शेष अनुदात्त

(1) स्वरांतों में दीर्घ उकारांत, दीर्घ ऋकारांत, √यु, √रु, √क्ष्णु, √शीङ्, √स्नु, √नु, √क्षु, √श्वि, √डीङ्, √श्रि तथा √वृङ् और √वृञ् को छोड़कर शेष धातु अनुदात्त स्मरण की गई हैं ।

अपने ढंग से किया है । याद करने में तो यह संग्रह दीक्षितजी के संग्रह से सरल है । यह कारिका में न होकर गद्य में है ।

(1) एकाच् स्वरांत धातुओं में निम्नलिखित धातु उदात्त हैं, अतः सेट् हैं; इनसे भिन्न धातु अनुदात्त हैं, अतः अनिट् हैं :

(i) √भू, √लू आदि सब दीर्घ उकारांत धातुएँ, (ii) √कॄ, √पॄ आदि सब दीर्घ ॠकारांत धातुएँ उदात्त हैं । (iii) ह्रस्व उकारांतों में 1 √यु, 2 √रु, 3 √णु, 4 √क्षु, 5 क्ष्णु, 6 √स्नु (सब आदादिक[2]) धातुएँ ही सेट् हैं । (iv) इकारांतों में

---

1. काशिका (7.2.10) में उदाहृत व्याघ्रभूति की कारिकाओं में इस आशय को दो कारिकाओं से कहा है :

अनिट् स्वरान्तो भवतीति दृश्यतामिमांस्तु सेटः प्रविदन्ति तद्विदः ।
अदन्तमृदन्तमृतां च वृङ्-वृञौ श्वि-डीङिवर्णेष्वथ शीङ्-श्रिञावपि ॥ 1 ॥
गणस्थमूदन्तमुतां च रु-स्नुवौ क्षुवं तथोर्णोतिमथो यु-णु-क्ष्णुवः ।
इति स्वरान्ता निपुणं समुच्चितास्ततो हलन्तानपि *मन्निबोधत ॥ 2 ॥

* काशिका में **'सन्नि०'** मुद्रित है । परंतु हरदत्त ने **'मत् =मत्तः, निबोधतः= अवगच्छत'** व्याख्या में ऊपर धृत पाठ ही माना है । न्यास से पाठ के स्वरूप पर प्रकाश नहीं पड़ता ।

2. धातु-पाठ में √रु दो हैं : (i) **रुङ् गति-रेषणयोः** (भ्वा० 27.12), (ii) **रु शब्दे** (अ०) । दीक्षितजी ने दोनों को सेट् माना है, जिसका समर्थन त० बो० में **'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य ग्रहणम्'** (प० 91) से भौवादिक का और **'निरनुबन्धक-ग्रहणे न सानुबन्धकस्य'** (प० 82) से आदादिक का ग्रहण बता कर किया है । पर यह मत ठीक नहीं है : (1) √रु न केवल प्रकृत अनिट्कारिका में, अपितु भाष्यकार के अनिट्-पर्युदास-वाक्य (**उवर्णान्ता यु-रु-णु-क्षु-क्ष्णु-स्नूर्णु-वर्जम्**) में भी आदादिकों के मध्य में पठित है, भाष्य में तो इन धातुओं का क्रम भी वही है, जो अदादिगण में इनका क्रम है । यदि भौवादिक √रु भी भाष्य-कार को

ह्रस्वांत √श्वि (भ्वा०) तथा दीर्घांत डीङ् (भ्वा०; दि०) ही सेट् हैं। (v) ह्रस्व ऋकारांतों में **वृङ् सम्भक्तौ** (क्र्या०) तथा **वृञ् वरणे** (स्वा०, एवं चु०[1]) सेट् हैं।

काशिका में अजंत धातुओं में अदंत धातुओं और √ऊर्णु को भी सेट् बताया है।[2] काशिकाकार और दीक्षितजी में अदंत √वध एवम् √ऊर्णु की उदात्तों में गणना पर मत-भेद है : √वध भाष्य तथा अन्य आचार्यों के मत में उपदेश-काल में ही अनेकाच् है। अतः इस धातु में **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** की प्राप्ति का प्रसंग ही नहीं है। अतः अदंत को सेट् कारिकाओं में देना उचित नहीं प्रतीत होता।

√ऊर्णुञ् के बारे में काशिकाकार का कहना है कि √ऊर्णु अनेकाच् और अजादि है; अतः इससे **धातोरेकाचो हलादेः क्रिया-समभिहारे यङ्** से यङ् सम्भव नहीं है। उसे सम्भव करने को ऊर्णु को णुवद्भाव—**णु स्तुतौ** (अदा०) की समानता—का विधान किया जाता है : √णु एकाच् और हलादि है, √ऊर्णु भी वैसी ही मान ली जाती है। पर यह अनुदात्त है, या उदात्त. यह स्पष्ट करने को इसका परिगणन उदात्त कारिकाओं में करना अपेक्षित है, ताकि इसकी सेट्ता स्पष्ट रहे।[3]

पर यह व्याख्यान उचित नहीं प्रतीत होता : (1) √णु जहाँ एकाच् और हलादि है, वहीं उदात्त भी है; णुवद्भाव करने पर णु के तीनों धर्मों—एकाच्ता, हलादिता और उदात्तता—का अतिदेश होना न्याय्य है। दो का अतिदेश तो हो जाए, तृतीय का न हो, इसमें कोई औचित्य नहीं है। अतः √ऊर्णु की उदात्तता णुवद्भाव से ही सिद्ध है, सेट् कारिकाओं में उसे कहना आवश्यक नहीं है। (2) √ऊर्णु स्वयं भी

सेट् बतानी अभिप्रेत होती, तो वे धातु-पाठोक्त क्रम कथमपि न देते। अतः **'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्'** (प० 112) से भाष्य-कार को यहाँ आदादिक ही इष्ट है। इससे तत्त्वबोधिनी में **'सहचरिता०'** को अनित्य बतला कर यहाँ लागू न होने देना भी खण्डित हो जाता है। (2) धातु-पाठ में भौवादिक धातु अनुदात्तों में पठित है। (3) न्यास में भी आदादिक **'रु शब्दे'** का ही ग्रहण बतलाया गया है। (4) केवल यहीं नहीं, अष्टाध्यायी में अन्यत्र (3.3.22, 50 में) भी √रु से आदादिक का ही ग्रहण होता है। अतः **'रु शब्दे'** (अ०) तो सेट् है, पर **'रुङ् गति-रेषणयोः'** (भ्वा०) अनिट् है।

1. 'अ' (अनुबंध) समेत पाठ से सौवादिक और णिजभाव-पक्ष में चौरादिक दोनों को लेना है।
2. पृष्ठ 203, टि 1 में धृत का० 7.2.10 में उद्धृत व्याघ्रभूति की 1-2, कारिकाएँ।
3. का० 7.2.10 : **'वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो, यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम्'** (म० भा० 3.2.22, पृष्ठ 77) **इत्यतिदेशादेकाच्त्वमूर्णोतेरस्तीति उदात्त उपदिश्यते।**

(2) शक्लृ-पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिच्-प्रच्छ-त्यज-निजिर्-भजः ।
भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्जि-यज्-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्जि-सञ्ज्-सृजः ॥

क-च-वर्गान्त अनिट् धातुएँ

(2) 1 शक्; 2 पच्, 3 मुच्, 4 रिच्, 5 वच्, 6 विच्, 7 सिच्; 8 प्रच्छ्; 9 त्यज्, 10 निज्, 11 भज्, 12 भञ्ज्, 13 भुज्, 14 भ्रस्ज्, 15 मस्ज्, 16 यज्, 17 युज्, 18 रुज्, 19 रञ्ज्, 20 विज्, 21 स्वञ्ज्, 22 सञ्ज्, 23 सृज् (अनुदात्त हैं, अतः अनिट् हैं)।

उदात्त है, और अतिदेश के कारण भी उदात्तता ही प्राप्त है, तब अनुदात्तता का संदेह ही कैसे उठेगा कि स्पष्टता के लिये इसे उदात्त कहा जाए ? (3) उपर्युक्त अतिदेश-वार्तिक का पूरा स्वरूप यह है : ऊर्णु को णु के समान कहना चाहिये। इसके दो प्रयोजन हैं · (क) **धातोरेकाचो हलादेः···यङ्** (3.1.22) से इसे यङ् हो सके; इस प्रयोजन में √णु के दो धर्मों एकाच्ता, हलादिता का अतिदेश अभीष्ट है; (ख) √ऊर्णु+लिट् में **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** (3.1.36) से आम् न हो सके; इस प्रयोजन में सिर्फ हलादिता का अतिदेश अभिप्रेत है। इट् का निषेध तो अनुदात्त एकाच् से हुआ करता है, यह न उपदेश में अनुदात्त है, और न अतिदेश में, अतः उसकी प्राप्ति का यहाँ प्रसंग ही नहीं है।[1]

(2) दूसरी कारिका से हलंत अनुदात्त धातुओं का परिगणन किया है।

परिगणन की पद्धति : इस परिगणन का क्रम भी भिन्न-भिन्न प्रकार से रहा है : प्राचीन आचार्यों ने छंद को प्रमुखता देते हुए जिस भी धातु को जहाँ भी फँसा पाया, वहीं फँसा दिया : **वसति-शक्लृ-घसतिभ्यः**। पतंजलि ने अंत्याक्षर क्रम को दृष्टि में रखते हुए परिगणन किया है। काशिका में उद्धृत कारिकाओं में भी छंद को ही प्रमुखता दी गई है। किंतु भट्टोजिदीक्षितजी ने अंत्य-वर्णानुपूर्वी को निरपवादत्वेन और आदि-वर्णानुपूर्वी को आम तौर पर[2] दृष्टि में रख कर धातुओं का संकलन किया है। भाष्यकार ने हलंतों का निर्देश इगंत या श्तिबंत बना कर किया है; अनुबंधों का प्रयोग अजंतों में सिर्फ तीन (वेवीङ्, वृङ् और वृञ् में) ही किया है। दीक्षितजी ने तीन तरह से निर्देश किया है : (1) सब से अधिक तो अनुबंधरहित हलंत के रूप में;

---

1. **वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो, यङ्-प्रसिद्धिः प्रयोजनम् ।**
   आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेड्डपग्रहात् ॥ म० भा० 3.2.22
2. आदि-वर्ण-क्रम-भंग **'स्वजि-सञ्ज्', 'स्विद्यति-स्कन्दि', 'बुध्यती। बन्धि-रुधी, राधि', 'स्वप्-सृपि', 'द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्'** में हुआ है।

(2) फिर इगंत और श्तिबंत बना कर; (3) अनेकत्र पठित धातुओं में विवेक के लिये (क) विकरण-समेत, जैसे—पद्य, मन्य, पुष्य, (ख) अनुबन्ध-सहित, जैसे शक्लृ, विजिर्, तथा अजंतों में (ग) विना प्रयोजन के भी सानुबंध दिये हैं, जैसे शीङ्, तो (घ) सप्रयोजन भी जैसे वृङ् ।

इस श्लोक में ककारांत एक, चकारांत छह, इकारांत एक और जकारांत पंद्रह, कुल तेईस धातु परिगणित हैं। पहले पाद में **शक्लृ** से लेकर **भजः** तक इतरेतरद्वंद्वांत प्रथमाबहुवचनांत एक पद है, द्वितीय में **भञ्ज्** से **सृजः** तक वैसा ही एक पद है। चतुर्थ पाद के अंत में छंदोऽनुरोध से **स्वञ्जि-सञ्ज्-सृजः** में आदि वर्ण-क्रम गड़बड़ा गया है। दोनों पदों का संबंध सातवीं कारिका के **अनुदात्ता हलन्तेषु धातवः** से है।

1 √**शक्** का पाठ पतंजलि और व्याघ्रभूति दोनों ने **शकिः** कह कर किया है, दीक्षितजी ने सानुबंध **शक्लृ** के रूप में। निरनुबंधक **शकि** से सानुबंधक का ग्रहण होता है : **निरनुबन्धक-ग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणम्** (प० 82)। अतः इन लोगों के मत में **शक्लृ शक्तौ** (स्वा०) और **शक मर्षणे** (दि०) दोनों अनिट् हैं। दीक्षितजी के सानुबन्ध-कथन से निरनुबंधक का ग्रहण नहीं होगा : **तदनुबन्धक-ग्रहणे नातदनुबन्धकस्य** (प० 83)। अतः इनके मत में दैवादिक धातु सेट् ही होनी चाहिये। पर दिवादिगण में इन्होंने इसके अनिट् रूप देकर एकीय मत में सेट् बताया है तथा उन्हीं के मत को ले कर अनिट्कारिकाओं में लृदित् धातु दी बताई है।[1] पर भाष्यादि-विरोध के बावजूद इन्होंने दैवादिक को कारिकाओं में सेट् बताया तथा धातुव्याख्यान स्थल पर अनिट्। इसका रहस्य अन्वेष्य है। सायण भी दैवादिक को अनिट् ही मानते हैं।

चकारांतों में 1 पच्, 2 मुच्, 3 रिच्, 4 वच्, 5 विच्, 6 सिच् अनिट् हैं।

1 **पच्** से निरनुबंध होने के कारण ज्ञानेंद्रसरस्वती के मत में **डुपचष् पाके** तथा **पचि व्यक्तिकरणे** (भ्वा०) दोनों का, और काशिकाकार आदि के मत में **पचि व्यक्ति-करणे** धातु √पच् न होकर √पञ्च् है, अतः केवल **डुपचष् पाके** (भ्वा०) का ही ग्रहण होगा। काशिकाकार ने **पचि वचि** इत्यादि कारिका (11) में धातुनिर्देशार्थक इगंत **पचि** देकर 'पक्ता' उदाहरण दिया है। **पचि व्यक्तिकरणे** को अनिट् मानने पर तो 'पङ्क्ता' उदाहरण भी होना चाहिये। धातुपाठ में **पचि** (भ्वा०) को उदात्त **वर्चादियों** के अंतर्गत दिया गया है।[2] अतः **डुपचष्** में ऐकमत्य के कारण यह तो नित्य अनिट् ही

---

1. सि०कौ०, दिवादि० : **शक विभाषितो मर्षणे**—···**शक्ता, शक्यति, शक्यते** ··**सेट्-कोऽयमित्येके। तन्मतेनानिट्कारिकासु लृदित् पठितः।**
2. धा० पा०, भ्वादि, धातुवर्ग 6, धातुसंख्या 162-182 : **वर्चादय उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषाः।**

है, पर **पचि** के विषय में मतभेद है। मतों का अधिक रुझान **पचि** को सेट् ही सिद्ध करता है। अनिट् मानने वालों की यह भ्रांति ही हो सकती है।

2 **मुच्** से **मुच्लृ मोक्षणे** (तुदा०) का ही ग्रहण होता है; **मुचि कल्कने** (भ्वा०), **मुच प्रमोचने, मोदने च** (चुरा०) सेट् ही हैं। कुछ लोगों के अनुसार **'मुच्'** रूप से विद्यमान धातु अनिट् होती हैं।

3 **रिच्** से निरनुबंधक होने के कारण **रिचिर् विरेके** (रुधा०) तथा **रिच वियोजन-सम्पर्चनयोः** (चु०) दोनों धातुओं का ग्रहण होगा। निरनुबन्धक 4 **वच्** पाठ से **वच परिभाषणे** (अदा०), **वच परिभाषणे** (चु०) तथा **ब्रुवो वचिः** (2.4.53) से **ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि** (अदा०) को होने वाला 'वच्' आदेश, इन तीनों का ग्रहण होता है। 5 **विच्** से **विचिर् पृथग्भावे** (रुधा०) का ग्रहण होता है। 6 **सिच्** से **षिच क्षरणे** (तु०) ली जाती है।

छकारांत धातुओं में केवल **प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्** (तु०) धातु ही अनिट् है। **'प्रच्छ'** में 'अ' उच्चारण-सुविधा के लिये है।

जकारांत धातुओं में निम्नलिखित पंद्रह धातु अनिट् हैं : 1 **त्यज हानौ** (भ्वा०), 2 **णिजिर् शौच-पोषणयोः** (जु०, **णिजिर्** में **इर इत्संज्ञा वाच्या** वार्तिक से इर् की इत्संज्ञा तथा **णो नः** (6.1.65) से ण् को न् होने पर √**निज्** धातु बच रहती है, इर्-समेत का ग्रहण छंदः-शुद्धि के लिये ही किया है), 3 **भज्** से अभिप्राय **भज सेवायाम्** (भ्वा०) तथा **भज विश्राणने** (चु०) इन दो धातुओं से है। 4 **भञ्ज्** से **भजि···भाषाऽर्थाः** (चु०) तथा **भञ्जो आमर्दने** (रु०) लेनी हैं। 5 **भुज्** से **भुजो कौटिल्ये** (तु०) तथा **भुज पालनाभ्यवहारयोः** (रु०) इन दो धातुओं को लेना है। 6 **भ्रस्ज पाके** (तु०)। 7 **मस्जि** में इकार धातुनिर्देशक इक् प्रत्यय का तथा छंदःपूर्ति के लिये है। **टुमस्जो शुद्धौ** (तु०)। 8 **यज देवपूजा-संगति-करण-दानेषु** (भ्वा०)। 9 **युज्** से **युजिर् योगे** (रु०), **युज समाधौ** (दि०) तथा **युज संयमने** (चु०) ये तीन धातु लेनी हैं।

कुछ लोग **'त्यजि यजि युजि-रुजि-सञ्जि०** (काशिका 7.2.10, कारिका 11) इत्यादि व्याघ्रभूति के श्लोक में तथा भाष्य में भी **'युजि'** पाठ से **युजिर् योगे** के (र् को छोड़कर) एकदेश (एक भाग) 'युजि' का ग्रहण मानते हैं। अतः अनिट् केवल **युजिर् योगे** ही है। **युज समाधौ** तथा **युज संयमने** ये दोनों सेट् ही हैं।

10 **रुज्** से **रुजो भङ्गे** (तु०) तथा असंभवत्कर्मक (जसका कोई कर्म न हो सके, जब अकर्मक की तरह प्रयोग विवक्षित हो) **रुज हिंसायाम्** (चु०) ये दो धातु लेनी हैं। चौरादिक रुज् से जब उसका सकर्मक की तरह प्रयोग विवक्षित होगा, तभी **आस्वदः सकर्मकात्** (चु०, गणसूत्र 201) से उसमें णिच् होगा, अन्यथा शप् विकरण वाले

(3) अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद-नुदः, पद्य, भिद्, विद्यतिर्विनद् ।
शद्-सदि-स्विद्यति-स्कन्दि-हदि-क्रुध्, क्षुधि-बुध्यती ।।
(4) बन्धिर्युधि-रुधी, राधि-व्यध्-शुधः, साधि-सिध्यती ।
मन्य-हन्—

28 तवर्गांत धातुएँ अनुदात्त अत एव अनिट् हैं

(3-4) 1 अद्, 2 क्षुद्, 3 खिद्, 4 छिद्, 5 तुद्, 6 नुद्, 7 श्यन्विकरणक पद्, 8 भिद्, 9 श्यन् विकरण वाली विद्, 10 श्नम् विकरण वाली विद्, 11 शद्, 12 सद्, 13 श्यन् विकरण वाली स्विद्, 14 स्कन्द्, 15 हद्; 16 क्रुध्, 17 क्षुध्, 18 श्यन् विकरण वाली बुध्, 19 बन्ध्, 20 युध्, 21 रुध्, 22 राध्, 23 व्यध्, 24 शुध्, 25 साध् तथा 26 श्यन् विकरण वाली सिध्; 27 श्यन् विकरण वाली मन्, 28 हन् (धातु अनुदात्त हैं) ।

परस्मैपद रूप बनेंगे । यहाँ यह शब्विकरणक धातु अनिट् होगी । कुछ लोगों के अनुसार **ग्रस ग्रहणे** (चु०) से लेकर **स्वद आस्वादने** (चु०) तक **स्वद्** को छोड़ कर शेष धातु सकर्मक ही हैं । **स्वद्** से केवल सकर्मकावस्था में ही णिच् प्रत्यय होगा । अकर्मकावस्था में भौवादिक की तरह ही रूप चलेंगे । अतः **रुज्** धातु नित्य सकर्मक होने के कारण नित्य णिजंत है । ण्यंतावस्था में अनेकाच् (**रोजि**) होने के कारण अनुदात्त (अनिट् कारिका में) पाठ की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती । अतः केवल तौदादिक **रुजो भङ्गे** ही अनिट् है । चौरादिक का अनिट्-कारिकाओं में पाठ नहीं है । 11 **रञ्ज्** से **रन्ज रागे** (भ्वा० तथा दिवा० दोनों) को लेना है । 12 सानुबंध **विजिर्** पाठ से पृथग्भावार्थक जौहोत्यादिक को लेना है; **ओविजी भय-चलनयोः** (तु० तथा रु०) भिन्न अनुबंधवाली होने से सेट् हैं । 13 **स्वञ्जि** में 'इ' धातु-निर्देशार्थक और पाद-पूर्त्यर्थ है । इससे **स्वन्ज परिष्वंगे** अभीष्ट है । 14 **सञ्ज्** से **षन्ज संगे** (भ्वा०) को लेना है । 15 **सृज्** से **सृज विसर्गे** (दि० तथा तु०) लेनी हैं ।

(3-4) अब हलन्तों में 28 तवर्गांत—(क) दकारांत 15, (ख) धकारांत 11 और (ग) नकारांत 2—अनुदात्त धातु अगली दो कारिकाओं तीसरी में तथा चौथी के कुछ भाग में दी हैं ।

कारिका का विश्लेषण : तृतीय कारिका के प्रथम तीन पादों में 'अद्' से 'हदि' तक 15 दकारांत धातु दी हैं । प्रथम पाद में 'अद्···नुदः' इतरेतरयोग-द्वंद्वांत, प्रथमा-बहुवचनांत एक पद है । द्वितीय पाद में 'पद्य' लुप्त-प्रथमाविभक्तिक पद है । 'भिद्' 'विद्यतिः' तथा 'विनद्' तीनों प्रथमैकवचनांत हैं । 'शद्···क्रुध्' समाहार-द्वंद्व, प्रथमा एकव०, है । 'क्षुधि-बुध्यती' इ० द्व०, प्र०, द्विव०, है । शेष स्पष्ट हैं । 'पद्य', विद्यतिः',

(4) ···आप्-क्षिप्-छुपि-तप्-तिपस्, तृप्यति-दृप्यती ॥

पवर्गांत 20 धातु अनुदात्त अत-एव अनिट् हैं

(4-5 क) 1 आप्, 2 क्षिप्, 3 छुप्, 4 तप्, 5 तिप्, 6 श्यन् वाली तृप् तथा

'विनद्', 'स्विद्यति', 'बुध्यति', 'मन्य' धातु अन्य गणस्थों से विवेक के लिये विकरण-समेत दी हैं। सदि, स्कन्दि, हदि, क्षुधि, बन्धि, युधि, रुधि, राधि तथा साधि धातु-निर्देशार्थक इक्प्रत्ययांत हैं। विद्यति, स्विद्यति, बुध्यति, तथा सिध्यति श्तिप् से निर्दिष्ट हैं। धातुओं के अंत्य द् और ध् को चर्भाव (क) स्पष्ट-प्रतिपत्ति के लिये, अथवा (ख) प्रकृत समाम्नान के अनुकरण-परक होने के कारण नहीं किया है : **प्रकृति-वदनुकरणं भवति**। 'स्विद्यति-स्कन्दि' और 'रुधी', राधि में आद्यक्षर-क्रम-विपर्यय छंद की विवशता से किया लगता है। 'तुद्' में अकारांतता भी छन्दोऽनुरोध से ही है।

(क) **दकारांत अनुदात्त धातु**—3 **खिद्** से **खिद परिघाते** (तु०) तथा **खिद दैन्ये** (दि०) ही ली जायेंगी। 6 **नुद्** से दोनों **णुद प्रेरणे** (तु०, उ०, तथा प०) ली जाती हैं। 7 **पद्य** श्यन्विकरण वाली **पद गतौ** (दि०) ही अनिट् है, चौरादिक सेट् ही है। इसी प्रकार 9 **विद्यति** से श्यन्विकरण वाली **विद सत्तायाम्** (दि०) और 10 **विनद्** से श्नम् विकरण वाली **विद विचारणे** (रु०) ही अनिट् हैं; शेष **विद ज्ञाने** (अ०) तथा **विद चेतनाख्याननिवासेषु** (चु०) सेट् ही हैं। 11 **शद्** और 12 **सदि** से भौवादिक और तौदादिक दोनों **शद्लृ शातने** और **षद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु** धातुओं का ग्रहण होता है। 13 **स्विद्यति** श्यन्विकरण है। अतः इससे दैवादिक **ष्विदा गात्र-प्रक्षरणे** का ग्रहण होगा, भौवादिक **ञिष्विदा स्नेहन-मोचनयोः** और **ञिष्विदा अव्यक्ते शब्दे** सेट् ही हैं। शेष धातु स्पष्ट हैं।

(ख) **धकारांत अनुदात्त धातु**—3 **बुध्यति** से विकरण-ग्रहण से दैवादिक **बुध अवगमने** का ही ग्रहण होगा; भौवादिक **बुध अवगमने** और **बुधिर् अवबोधने** सेट् ही हैं। 6 **रुध्** से दैवादिक **अनो रुध कामे** और रौधादिक **रुधिर् आवरणे** दोनों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार विकरणादि भेदक से रहित पाठ के कारण 7 **राधि** से दैवादिक **राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेव** का और सौवादिक **राध संसिद्धौ** दोनों का ग्रहण होगा। 11 **सिध्यति** से भी श्यन्विकरणक **षिधु संराद्धौ** (दि०) का ही ग्रहण होगा, भौवादिक **षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च** का नहीं। 24 √**शुध्** में नकार-रहित पाठ के कारण तथा श्यन्विकरणों में पाठ होने से दैवादिक **शुध शौचे** अनिट् है, भौवादिक **शुन्ध शुद्धौ** और चौरादिक **शुन्ध शौच-कर्मणि** (णिजभाव पक्ष में) सेट् हैं।

(ग) **नकारांत अनुदात्त धातु**—1 **मन्य** से श्यन्विकरणक **मन ज्ञाने** का ही ग्रहण होगा, तनादि की **मनु अवबोधने** का नहीं। 2 **हन्** एक आदादिक ही है।

चौथी कारिका के शेष भाग में और पाँचवीं के पूर्वार्ध में पवर्गांत 20 धातु

(5) लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपि-यभ्-रभ्-लभ्-गम्-नम्-यमो, रमिः।

7 श्यन् वाली ही दृप्, 8 लिप्, 9 लुप्, 10 वप्, 11 शप्, 12 स्वप्, 13 सृप्; (ख) 14 यभ्, 15 रभ्, तथा 16 लभ्; (ग) 17 गम्, 18 नम्, 19 यम् और 20 रम् अनुदात्त हैं)।

संकलित हैं। इनमें (क) प्रथम तेरह—आप् से सृपि तक—पकारांत हैं; (ख) फिर तीन भकारांत हैं और (ग) अंत में चार धातु मकारांत हैं।

(क) पकारांत अनुदात्त धातु—1 **आप्** से **आप्लृ व्याप्तौ** (स्वा०) तो अनुदात्त है ही, चौरादिक **आप्लृ लम्भने** भी अनुदात्त है : आप् (चु०) धातु **धृष प्रसहने** से पूर्व पठित है, अतः **आ धृषाद्वा** (ग० सू०) से इसके पश्चात् चौरादिक णिच् विकल्प से होता है; णिजभाव-पक्ष में यह अनुदात्त-विधान इट् का निषेधक होता है; णिच्पक्ष में तो अनेकाच्ता के कारण इट् के निषेध की प्राप्ति ही नहीं है। 2 **क्षिप्** दो हैं : **क्षिप प्रेरणे** (दि० तथा तु०)। दोनों अनुदात्त हैं। 4 **तप्** तीन हैं : (क) **तप सन्तापे** (भ्वा०), (ख) **तप ऐश्वर्ये वा** (दि०) तथा धृषाद्यंतर्गत **तप दाहे** (चु०)। तीनों अविशेषेण अनुदात्त हैं। 6 **तृप्** श्यन्समेत दी है, अतः दैवादिक **तृप प्रीणने** ही अनुदात्त है, स्वादि की **तृप प्रीणन इत्येके,** तुदादि की और चुरादि में धृषाद्यंतर्गत **तृप···तृप्तौ** उदात्त ही हैं। दैवादिक तृप् को भी अनुदात्त-विधान इट् का निषेध करने के उद्देश्य से नहीं है, क्योंकि इसमें इट् तो **रधादिभ्यश्च** (7.2.45) से विकल्प से होता ही है; अतः यह अनुदात्त-विधान **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** (6.1.51) से अम् करने के निमित्त से है। 7 **दृप्** भी दैवादिक ही अनुदात्त है, तौदादिक और चौरादिक धृषाद्यंतर्गत तो उदात्त ही हैं। 9 **लुप्** दो हैं : (क) **लुप विमोहने** (दि०) तथा **लुप्लृ छेदने** (तु०); इसके साथ तौदादिक **लिप्** कारिका में दी गई है, अतः **सह-चरितासह-चरितयोः सह-चरितस्यैव ग्रहणम्** (प० 112) से तौदादिक लुप् का ही ग्रहण यहाँ होगा। अतः दैवादिक **लुप्** उदात्त और अत-एव सेट् है। 11 **शप्** भी दो हैं : भौवादिक तथा दैवादिक **शप आक्रोशे**। भेदक-रहित पाठ के कारण दोनों अनुदात्त हैं।

फकारांत तथा बकारांत सब धातु उदात्त हैं, अतः सेट् हैं।

(ख) भकारांत अनुदात्त धातु—15 **रभ्** से **रभ राभस्ये** (भ्वा०) अनुदात्त है। भ्वादि में ही क्वाचित्कत्वेन (क्षी० त० में दौर्गत्वेन) अभिमत **रभि शब्दे** से धातु रम्भ् निष्पन्न होती है, अतः वह सेट् है। शेष स्पष्ट हैं।

(ग) मकारांत अनुदात्त धातु—सब स्पष्ट हैं।

अगली डेढ़ कारिका में 31 ऊष्मवर्णान्त अनुदात्त धातुएँ दी हैं। इनमें (क) प्रथम दश धातु तालव्य-शकारांत हैं; (ख) अगली ग्यारह धातु मूर्धन्य षकारांत हैं; (ग) अगली दो धातु दंत्य सकारांत हैं; तथा (घ) शेष आठ धातु हकारांत हैं।

क्रुशिर्दन्शि-दिशि-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशः, कृषिः ॥

(6) त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्यतयो, घसिः ।

ऊष्मांत 31 धातु अनुदात्त और अत-एव अनिट् हैं

(5-6. क) 1 क्रुश्, 2 दन्श्, 3 दिश्, 4 दृश्, 5 मृश्, 6 रिश्, 7 रुश्, 8 लिश्, 9 विश्, 10 स्पृश्; (ख) 11 कृष्, 12 त्विष्, 13 तुष्, 14 द्विष्, 15 दुष्, 16 श्यन् विकरण वाली पुष्, 17 पिष्, 18 विष्, 19 शिष्, 20 शुष्, 21 श्यन् विकरण वाली

(क) **शकारांत अनुदात्त धातु**—2 **दन्शि** में इकार धातु-निर्देशार्थक है, तथा नकार-समेत[1] उच्चारण से औपदेशिक नकारवान् **दन्श दंशने** (भ्वा०) का ही ग्रहण होगा, चौरादिक आस्वदीय **दशि···भाषाऽर्थाः** का तथा **दशि दशने** का ग्रहण नहीं होता। 8 **लिश्** से दैवादिक **लिश अल्पीभावे** का तथा तौदादिक **लिश गतौ** दोनों का अविशेषेण ग्रहण होता है।

(ख) **षकारांत अनुदात्त धातु**—11 **कृषि** से भौवादिक और तौदादिक **कृष विलेखने** का ग्रहण होगा। 16 **पुष्य** में श्यन् का निर्देश 'दैवादिक **पुष पुष्टौ** ही अनिट् है', इस बात का सूचक है। आदि-वर्ण-क्रम-भंग छंदोनुरोध के कारण प्रतीत होता है। 18 **विष्** तीन हैं : (क) भौवादिक **विषु···सेचने**, (ख) जौहोत्यादिक **विष्लृ व्याप्तौ**, (ग) क्र्यादिक **विष विप्रयोगे**। निर्देश में भेदकाभाव के कारण तीनों ही अनुदात्त हैं। किंतु वोपदेव केवल जौहोत्यादिक को अनुदात्त मानते हैं। 19 **शिष्** से भी दीक्षितजी के मत में इसी प्रकार (क) भौवादिक **शिष···हिंसार्थाः**, (ख) रौधादिक **शिष्लृ विशेषणे** तथा (ग) चौरादिक आधृषीय **शिष असर्वोपयोगे** तीनों ही अविशेषेण अनुदात्त हैं, किंतु वोपदेव के मत में रौधादिक ही अनुदात्त है। 21 **श्लिष्यति** में श्यना निर्देश के कारण यहाँ भौवादिक **श्लिषु दाहे** का ग्रहण नहीं होगा, अपितु दैवादिक **श्लिष आलिङ्गने** का ही ग्रहण होगा।

(ग) **सकारांत अनुदात्त धातु**—सकारांतों में केवल दो धातु अनिट् हैं :

(1) **घस्लृ अदने** (भ्वा०) अनिट् है। अद् का आदेश घस्लृ स्थानी अद् के अनुदात्त होने (स्थानिवद्भाव) से ही अनुदात्त है। अतः यहाँ उसका ग्रहण नहीं होता। (2) **वस निवासे** (भ्वा०)। 'वसतिः' इस शप् से युक्त निर्देश के कारण केवल भौवा-

---

1. मुद्रित पुस्तकों में उपलब्ध सानुस्वार (**दंशि**) पाठ उचित नहीं है : सानुस्वार पाठ में **लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्** (प० 114) नहीं लग सकती; अतः तीनों धातुओं की अनुदात्तता प्राप्त होती है। शास्त्र के अनुसार चौरादिक दोनों धातु उदात्त, अत-एव सेट्, ही अभीष्ट हैं।

वसतिर्दह्-दिहि-दुही, नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहिस्तथा ॥ 33 ॥

श्लिष्; (ग) 22 घस्, 23 शप् विकरण वाली वस्; (घ) 24 दह्, 25 दिह् तथा 26 दुह्, 27 नह्, 28 मिह्, 29 रुह्, 30 लिह् तथा 31 वह् (अनुदात्त हैं) ॥ 33 ॥

दिक का ही ग्रहण होता है। आदादिक **वस आच्छादने** उदात्त ही है।

(ग) **हकारांत अनुदात्त धातु**—हकारांत धातुओं में 1 दह्, 2 दिह्, 3 दुह्, 4 नह्, 5 मिह्, 6 रुह्, 7 लिह्, तथा 8 वह् ये आठ अनिट् हैं। 'दह-दिहि-दुहः' प्र० ब० व० एकपद है। 'नह ··लिह्' समाहार० द्वन्द्वांत, प्र० ए० व०, एक पद है। 'वहिः' इका निर्दिष्ट 'वह्' का प्र० ए० व० का रूप है।

(1) **दह भस्मीकरणे** (भ्वा०); (2) **दिह उपचये** (अ०); (3) **दुह प्रपूरणे** (अ०); आदादिक 'दिह्' के साहचर्य से आदादिक का ही ग्रहण होगा, भौवादिक **दुहिर् अर्दने** सेट् ही है; (4) **णह बन्धने** (दि०); (5) **मिह सेचने** (भ्वा०); (6) **रुह बीज-जन्मनि प्रादुर्भावे च** (भ्वा०); (7) **लिह आस्वादने** (अ०); (8) **वह प्रापणे** (भ्वा०) अनिट् हैं।

काशिकोदाहृत व्याघ्रभूति की हलंतों की अनिट् कारिकाएँ निम्नलिखित हैं :—

शकिस्तु कान्तेष्वनिडेक इष्यते, घसिश्च सान्तेषु वसिः प्रसारणी।[1]
रभिस्तु भान्तेष्वथ मैथुने यभिस्ततस्तृतीयो लभिरेव नेतरे ॥ 3 ॥[2]

यमिर् [3]**न-मन्तेष्वनिडेक इष्यते, रमिश्च, यश्च श्यनि पठ्यते मनिः।**
नमिश्चतुर्थो, हनिरेव पञ्चमो, गमिश्च षष्ठः प्रतिषेध-वाचिनाम् ॥ 4 ॥

दिहिर्दुहिर्मेहति-रोहती वहिर्नहिस्तु षष्ठो, दहतिस्तथा लिहिः।
इमेऽनिटोऽष्टाविह मुक्त-संशया गणेषु हान्ताः प्रविभज्य कीर्तिताः ॥ 5 ॥

---

1. सम्प्रसारणवाली **वस निवासे** (भ्वा०) धातु।
2. अजंत सेट् धातुओं की दो कारिकाएँ पृष्ठ 203, पादटिप्पणी 1 में दी जा चुकीं हैं। अतः ये अंक उससे आगे की संख्या के सूचक हैं।
3. **नकार-मकारान्तेषु**। काशिका के विभिन्न संस्करणों में विभिन्न पाठ-भेद मिलते हैं। न्यास में **'अमन्तेषु'** की व्याख्या की गई है। कुछ लोगों ने **'यमन्तेषु** पाठ मान कर 'यमन्त' से 'यम्प्रत्याहारान्तेषु' अर्थ किया है। द्र० स्वा० द्वारिकादास-सं०, पृष्ठ 671, पा० टि० 1। प्रत्याहारता की दृष्टि से सर्वाधिक उचित प्रत्याहार तो 'अम्' है। 'यम्' तो बहुत लंबा पड़ जाता है। लक्ष्यानुरोध से 'नमन्तेषु' पाठ बेहतर है : यहाँ नकारमकारांत धातु ही गृहीत हैं। व्याघ्रभूतिस्तु तत्त्ववित्।

(7) अनुदात्ता हलन्तेषु धातवो द्व्यधिकं शतम् ।

2-6 कारिकाओं का स्पष्टीकरण

(7-9) व्यंजनांतों में एक सौ दो धातु अनुदात्त हैं ।

दिशि दृशि दंशिमथो मृशि स्पृशि, रिशि रुशि क्रोशतिमष्टमं विशिम् ।
लिशि च शान्तानिटः पुराणगाः पठन्ति पाठेषु दशैव नेतरान् ॥ 6 ॥
रुधिः स-राधियुधि-बन्धि-साधयः क्रुधि-क्षुधी, शुष्यति-बुष्यती, व्यधिः ।
इमे तु धान्ता दश येऽनिटो मतास्ततः परं सिद्ध्यतिरेव नेतरे ॥ 7 ॥
शिषि, पिषि, शुष्यति-पुष्यती, त्विषि, विषि, श्लिषि, तुष्यति-दुष्यती, द्विषिम् ।
इमान् दशैवोपदिशन्त्यनिड्विधौ गणेषु षान्तान् कृषि-कर्षती तथा ॥ 8 ॥
तपि, तिपि, चापिमथो वपि, स्वपि, लिपि, लुपि, तृप्यति-दृप्यती, सृपिम् ।
स्वरेण नीचेन शपि, छुपि, क्षिपि, प्रतीहि पान्तान् पठितांस्त्रयोदश ॥ 9 ॥
अदि, हदि, स्कन्दि-भिदि-च्छिदि-क्षुदीन्, शदि, सदि, स्विद्यति-पद्यती, खिदिम् ।
तुदि, नुदि, विद्यति विन्त इत्यपि प्रतीहि दान्तान्दश पञ्च चानिटः ॥ 10 ॥
पचि, वचि, विचि-रिचि-रञ्जि-पृच्छतीन्,
निजि, सिचि, मुचि-भजि-भञ्जि-भृज्जतीन् ।
त्यजि, यजि, युजि-रुजि-सञ्जि-मज्जतीन्,
भुजि, स्वजि, सृजि-मृजी विद्ध्यनिट्-स्वरान् ॥ 11 ॥

अब मूल की तीन कारिकाओं से हलंत अनिट् धातुओं की संख्या बता कर भिन्न गणों में पठित समान स्वरूप वाली धातुओं में कौन-सी ग्राह्य हैं, कौन-सी नहीं, इसका परिच्छेद करने के लिए प्रयुक्त उपायों की व्याख्या दीक्षितजी देते हैं—

(7 9) हलंत धातुओं में 102 धातु अनुदात्त हैं :

ककारांत 1	चांत 6	छांत 1	जांत 15	दांत 15
धांत 11	नांत 2	पांत 13	मांत 3	मांत 4
शांत 10	षांत 11	सांत 2	हांत 8	

प्रौढ-मनोरमा में दीक्षितजी ने यह संख्या निम्नलिखित श्लोक में दी है—

*क[1]-च[2]-च्छ[3]-जा[4], द[5]-ध[6]-न[7]-पा[8], भ[9]-म[10]-शाः[11], ष[12]-स[13]-हाः[14] क्रमात् ।
क[1]-च[2]-का[3], ण[4]-ण[5]-टा[6], [7]खण्डो[8], ग[9]-घ-[10]नाष्[11], ट[12]ख[13]-जाः[14] स्मृताः ॥

---

* श्लोक में इन वर्णों के क्रम को सूचित करने के लिये ये अंक पाठकों की सुविधार्थ हमने दिये हैं । श्लोक के उत्तरार्ध के वर्णों के ऊपर दिये अंक पूर्वार्ध के अंकों से मेल खाते हैं । अर्थात् 1 ककारान्त धातु 1 क-संख्यक हैं, 2 चकारांत धातु 2 च-संख्यक हैं, 3 छकारांत धातु 3 क-संख्यक हैं, इत्यादि ।

यह एक दिमागी कसरत का श्लोक है। इसमें व्यञ्जनों को वर्णमाला में उनके क्रम के अनुसार सङ्ख्या का वाचक माना गया है। कुछ परिवर्तित रूप में यह पद्धति ज्योतिष के जैमिनिसूत्र, लघु आर्यसिद्धान्त तथा समरसार आदि में और वा० रामायण के कई टीकाकारों द्वारा भी अपनाई गई है।† यह प्रदर्शित करता है कि वैयाकरण संप्रदाय भी काशिका, न्यास की सरल तथा प्रवाहमय रचना को छोड़ कर किस प्रकार चित्ररचना में पांडित्य-प्रदर्शन समझ कर उसके पीछे पड़ता जा रहा था : यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में धातु के अंत्य अक्षर दिये हैं तथा उत्तरार्ध में दिये वर्णों को वर्णमाला में हल्वर्णों में उनकी स्थिति के क्रम से प्राप्त संख्या का बोधक मान कर पूर्वोक्त धातुओं के अंत्य वर्णों के क्रम से उनकी संख्या के बोधक के रूप में प्रयुक्त किया है। जैसे 'क' वर्णमातृका में हल्वर्णों में प्रथम है, अतः एक का बोधक है। 'च' छह (पाँच कवर्गीय तथा एक चवर्गीय च, इस प्रकार छह) का, ण पंद्रह (5 वर्गीय+5 चवर्गीय+5 टवर्गीय=15) का, ट ग्यारह (5 कवर्गीय+5 चवर्गीय + 1 टवर्गीय ट=11) का बोधक है। इसी प्रकार अन्य वर्णों में भी समझें।

'कचच्छजाः' पद में 'छ' से पूर्व पठित चकार **छे च** (6.1.73) से विहित तुक् का परिणाम है। इससे धातु के अंत्यवर्ण का बोध नहीं होता। 'खण्डो' प्रथमैकवचनांत दो पद (खम् और डः) हैं। धातुओं के अंत्य अक्षरों तथा संख्या-बोधक वर्णों के समसंख्यक होने के कारण यथांसंख्य अथांत् 'क्रमशः' अर्थ स्वतः उपस्थित होता है। तब भी स्पष्टता के लिए 'क्रमात्' पद दिया है।

क (ककरांत) धातु क (1) है। चांत च (6) हैं, छांत क (1), जकारांत ण (15), दकारांत ण (15), धकारांत ट (11), नकारांत ख (2), पकारांत ड (13), भांत ग (3), मांत घ (4), शकारांत ञ् (10), षांत ट (11), सांत ख (2) तथा हकारांत ज (8) हैं।

पकारांत धातुओं में **'तृप्यति-दृप्यती'** (श्लोक 4) में श्यन् प्रत्यय का निर्देश तुदादि गण में मत-भेद (पांत या फांत) से पठित **तृप···तृप्तौ** (तु०) तथा **तृप तृप्तौ** (चु०, आघृषीय, णिजभावपक्ष में) बिना मत-भेद के पठित, तुदादिगण में **प्रथमो द्वितीयान्त इत्येके** कह कर मतभेद से पठित **दृप···उत्क्लेशे** (तु०) तथा चुरादि में **'···दृप सन्दीपन' इत्येके** कहकर पठित धातुओं को अनुदात्तनिर्देश (अनिट् बनने) से बचाने के

---

† महाभारतपरिचय, गीताप्रेस गोरखपुर, 2016 वि०, पृष्ठ 106 में 'जय' नाम की व्याख्या देखें।

तुदादौ मत-भेदेन स्थितौ यौ च चुरादिषु ॥

(8) तृपि-दृपी, तौ वारयितुं श्यना निर्देश आदृतः ।
स्विद्य-पद्यौ, सिद्ध्य-बुद्ध्यौ, मन्य-पुष्य-श्लिषः श्यना ॥

(9) वसिः शपा, लुका यौतिर्निर्दिष्टोऽन्य-निवृत्तये ।
निजिर्विजिर्शक्लृ इति सानुबन्धा अमी तथा ॥

जो तृप् और दृप् मत-भेदके रूप में तुदादि में और चुरादिगण में हैं, उनको निवारित करने के लिये इनका निर्देश श्यन् लगा कर किया है। स्विद्य और पद्य, सिद्ध्य और बुद्ध्य, मन्य, पुष्य और श्लिष्य का निर्देश श्यन् से किया है, वस् का निर्देश शप् से तथा यु का निर्देश शप् का लुक् करके अन्य विकरण वाले धातुओं की निवृत्ति के लिये किया है। इसी प्रकार निजिर, विजिर् और शक्लृ का अनुबंधों (इर् और लृ) से युक्त निर्देश वालीं इसी (अन्यों की निवृत्ति के) लिये हैं।

लिए किया है। फलतः तौदादिक तथा चौरादिक तृप् एवं दृप् धातु सेट् ही हैं। तृपितः, दृपितः में 'क्त' प्रत्यय में इट् होता है।

दकारांतों में स्विद्य तथा पद्य धातुओं को, धांतों में सिध्य तथा बुध्य को, नांतों में मन्य को, षांतों में पुष्य तथा श्लिष्य को दूसरे गणों में पठित **ञिष्विदा स्नेहन-मोचनयोः** (भ्वा०), **ञिष्विदा अव्यक्ते शब्दे** (भ्वा०), **पद गतौ** (चु०), श्रीज्ञानेंद्रसरस्वती के अनुसार **पद स्थैर्ये** (भौवादिक), **षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च** (भ्वा०), **षिध गत्याम्** (भ्वा०), **बुध अवगमने** (भ्वा०), **बुधिर् अवबोधने** (भ्वा०), **मनु अवबोधने** (त०), **पुष पुष्टौ** (भ्वा०, क्र्या०), **श्लिषु दाहे** (भ्वा०) धातुओं को उदात्त बताने के लिए श्यन्समेत पढ़ा है।

इसी प्रकार **वस आच्छादने** (अ०), **वसु स्तम्भे** (दि०) की निवृत्ति के लिए कारिका में 'वस्' धातु को शप् से युक्त (वसतिः) दिया है।

सेट् कारिका (**ऊदृदन्तैर्यौ ति०**) में 'यौति' को शप् के लुक् किये हुए के रूप में **युञ् बन्धने** (क्र्या०) को अनिट् न बनाने के लिए पढ़ा है।

निजिर्, विजिर् तथा शक्लृ धातु भी दूसरे गणों की **णिजि शुद्धौ** (अ०), **ओविजी भय-चलनयोः** (तु०, रु०), **शक विभाषितो मर्षणे** (दि०) **शकि शङ्कायाम्** (भ्वा०) धातुओं के निवारण के लिए अनुबंधों (इर् और लृ) के समेत पढ़ी हैं।

अब दो कारिकाओं में मतभेद से अनिट् धातुओं को बतलाते हैं—

(10) विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादिरिष्टो, भाष्येऽपि दृश्यते ।
व्याघ्रभूत्यादयस्त्वेनं नेह पेठुरिति स्थितिः ॥
(11) रञ्जि-मस्जी, अदि-पदी, नुद्, क्षुध्, शुषि-पुषी, शिषिः ।
भाष्यानुक्ता नवेहोक्ता व्याघ्रभूत्यादि-सम्मताः ॥ 34 ॥

(10) तौदादिक विद् चंद्राचार्य और दुर्ग आदि को भी अनुदात्तत्वेन अभीष्ट है, भाष्य में भी दृष्टिगोचर होता है। किंतु स्थिति यह है कि व्याघ्रभूति आदि आचार्यों ने इसे अनुदात्तों के प्रकरण में नहीं दिया है।

(11) भाष्य में नहीं बताई हुईं 1 रञ्ज्, 2 मस्ज्, 3 अद्, 4 पद्, 5 नुद्, 6 क्षुध्, 7 शुष्, 8 पुष् और 9 शिष्—ये नौ धातु व्याघ्रभूति आदि आचार्यों की संमति के कारण यहाँ बतलाई हैं ॥ 34 ॥

---

(10) **विद्लृ लाभे** (तु०) को चांद्र तथा दौर्ग वैयाकरण अनिट् मानते हैं। भाष्य में भी —'**विन्दि-विद्यति**' पाठ में 'विन्द्' (नुम्वान्, तौदादिक) अनिट् ही दीखता हैं।[1] व्याघ्रभूति आदि आचार्यों ने इसे अनिटों में नहीं पढ़ा है। अतः भाष्य तथा चांद्र दौर्गों के अनुसार तौदादिक अनिट् ही है, किंतु व्याघ्रभूति के अनुसार सेट् है।

(11) जकारांतों में 1 रञ्ज् और 2 मस्ज्, दकारांतों में 3 अद्, 4 पद्, तथा बालमोरमा के अनुसार 5 नुद्, अन्यों के अनुसार तुद्, धकारांतों में 6 क्षुध्, एवं षकारांतों में 7 शुष्, 8 पुष् और 9 शिष्—ये नौ धातु व्याघ्रभूति आदि आचार्यों को अनुदात्तों में अभीष्ट हैं। भाष्य में इनकी चर्चा नहीं है। भाष्य में खण्डन न होने के कारण तथा व्याघ्रभूति की सम्मति होने से इन्हें भी दीक्षितजी ने यहाँ शामिल कर लिया है। सूत्रकार और भाष्यकार के प्रयोगों से ज्ञापित होता है कि उन्हें भी ये अनुदात्त ही अभिप्रेत हैं : (1) **तेन रक्तं रागात्** (4.2.1), 3 **तदस्मिन्नन्नं प्रायेण संज्ञायाम्** (5.2.82), 4 **क्तोऽकृत-मित-प्रतिपन्नाः** (6.2.170), 7 **शुष्क-धृष्टौ०** (6.1.206), 9 **क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्** (2.1.60) इत्यादि सूत्रों में अनिट् प्रयुक्त 'रक्त' (<रंजि), 'अन्न' (<अदि), 'प्रतिपन्न' (<पद्)' 'शुष्क' (<शुष्) तथा 'विशिष्ट' (<शिष्) शब्द इन धातुओं की अनुदात्तता को ज्ञापित करते हैं। भाष्यकार के भी 2 मस्जि के 'मग्न'

---

1. भाष्य में 'विन्दि' से 'विन्द्' अंगवाली तौदादिक और रौधादिक दोनों ही अभिप्रेत प्रतीत होती हैं। उससे भिन्नता दिखाने को दीक्षितजी ने परस्मैपद में बनने वाले 'विनद्' अंग का निर्देश किया है, जहाँ श्नम् स्पष्ट होता है। व्याघ्रभूति की कारिका 10 (पृष्ठ 213) में 'विन्ते' (रौधादिक) ही दिया है। अतः उनके मत में तौदादिक सेट् है।

2.2 स्पर्ध सङ्घर्षे ॥ 2 ॥ संघर्षः=पराभिभवेच्छा । धात्वर्थेनोपसंग्रहा-

द्वितीय धातु-वर्गः 2 √स्पर्ध् से 6 नाध् तक की प्रक्रिया

2.2 √स्पर्ध् संघर्ष अर्थ में है ॥ 2 ॥ संघर्ष=दूसरे को परास्त करने की इच्छा है। ('दूसरा' कर्म अर्थ) धातु के अर्थ में ही शामिल है, अतः धातु अकर्मक है।

(1.1.47) तथा 'मङ्क्ता', 'मङ्क्तम्' (1.1.7), 5 नुद् के 'नुन्न' (8.2.6), तुद् के 'तुन्नवत्' (पस्पशा), पुष् के 'पुष्टि-वर्धनम्' (6.1.37)—इत्यादि प्रयोग इनकी अनुदात्तता सूचित करते हैं ॥ 34 ॥

√स्पर्ध् सकर्मक है : 2 √स्पर्ध् संघर्ष अर्थ में है। संघर्ष पर=दूसरे के अभिभव=तिरस्कार=पराजय की इच्छा को कहते हैं। कुछ लोग √स्पर्ध् को (क) अकर्मक मानते हैं, तो (ख) दूसरे सकर्मक। (क) अकर्मक माननेवालों का कहना है कि जिसके अभिभव की इच्छा संघर्ष होती है, वह धातु के अर्थ के अंतर्गत ही है। अतः पृथक् से कर्म को कहना उचित नहीं है। भाष्यकार ने भी सकर्मक का लक्षण 'धातु से प्रतिपादित अर्थ से बाहरी कर्म की अपेक्षा करना ही सकर्मकत्व होता है', किया है।[1] अतः यह अकर्मक ही है। (ख) सकर्मक मानने वाले (श्री ज्ञानेंद्र सरस्वती आदि) कहते हैं कि केवल अभिभव की इच्छा (संघर्ष) ही अर्थ है। अतः धात्वर्थ से बहिर्भूत कर्म की अपेक्षा रहती है। स्पर्धा अर्थ वाले सभी धातु सकर्मक ही होते हैं। यदि बाह्य कर्म न लिया जाये, तो स्पर्धा किसकी होगी ? **ह्वेञ् स्पर्धायाम्** (भ्वा०) धातु का प्रयोग **अह्वास्त मेरावमरावतीं यः** (जिसने मेरु पर्वत पर अमरावती=देव-राजधानी को पराजित करनेकी=जीतने की इच्छा की, या ललकारा) इस पद्यांश में सकर्मक मान कर ही हुआ है। दीक्षितजी ने आत्मनेपद-प्रक्रिया में **स्पर्धायामाङः** (1.3.31; आङ् से परे √ह्वा धातु को आत्मनेपद होता है स्पर्धा अर्थ में) सूत्र के उदाहरण में **कृष्णश्चाणूरमाह्वयते** (कृष्ण चाणूर को ललकारते हैं) लिखा है। यहाँ स्पर्धाऽर्थक 'आह्वयते' का 'चाणूरम्' कर्म है। श्री हर्ष ने भी **तन्नासत्ययुगं तां वा त्रेता स्पर्धितुमर्हति** (नैषधीयचरित 17.146) में साक्षात् √स्पर्ध् धातु को सकर्मक ही प्रयुक्त किया है। अतः √स्पर्ध् को सकर्मक मानना ही उचित है।

√स्पर्ध् अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। अतः लट् में प्रक्रिया एधते की तरह होती है : स्पर्धते—स्पर्ध् धातु से कर्ता में लट्, लट् को आत्मनेपद प्रथमपुरुष का एक

---

1. म० भा० 3.1.8, पृष्ठ 50 : (प्रश्न) **ननु चायमिषिः सकर्मको यस्यायमर्थे क्यज् विधीयते ?** (उत्तर) **तत्कर्मान्तर्भूतं धात्वर्थः सम्पन्नो, न चेदानीमन्यत्कर्मास्ति, येन सकर्मकः स्यात्।**

दकर्मकः । स्पर्धते । 2259 शर्पूर्वाः खयः (7.4.61)—अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते । 'हलादिः शेषः' इत्यस्यापवादः । पस्पर्धे । स्पर्धिता, स्पर्धिष्यते, स्पर्ध-स्पर्धते । 2259 पहले शर् वर्ण वाले अभ्यास के खय् अक्षर बच रहते हैं। यह विधान 'हलादिः शेषः' का बाधक है । पस्पर्धे । 3 √गाध् आधार तथा प्राप्ति की

वचन त । सार्वधातुक संज्ञा के अनंतर शप् (अ) : स्पर्ध्+अ+त । **टित आत्मनेपदानां टेरे** से टि (त में अ) को ए (ते) : स्पर्ध्+अते=स्पर्धते । स्पर्धेते, स्पर्धन्ते, स्पर्धसे, स्पर्धेथे, स्पर्धध्वे, स्पर्धे, स्पर्धावहे, स्पर्धामहे ।

लिट् में निम्नलिखित सूत्र से विशेष कार्य होता है :

2259 शर्पूर्वाः खयः (7.4.61)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (58), हलादिः शेषः (60) । 'शर्पूर्वाः' पद 'शर् (प्रत्याहारः) पूर्वो येभ्यस्ते शर्पूर्वाः', बहुव्रीहि (अतद्गुणसंविज्ञान) समास, प्रथमाबहुवचनांत है । 'खयः' प्रथमाबहुवचनांत विशेष्य है । 'शेषः' तथा 'आदिः' शब्द विशेषण हैं । अतः विशेष्य के अनुकूल बहुवचनांत हो जाते हैं : **'अभ्यासस्य शर्पूर्वाः आदयः खयः शेषा भवन्ति** । अर्थात् अभ्यास के शर् (श्, ष, स्) वर्ण जिनके पूर्व (अव्यवहितपूर्व) हैं, ऐसे शरों के बाद धातु के आदि में खय् (क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्) शेष रहते हैं । अर्थात् शरों का लोप हो जाता है । यह **हलादिः शेषः** (7.4.60) का अपवाद है । 'आदि' शब्द की अनुवृत्ति आने से 'वव्रश्च' आदि में 'च्' धातु का (शर्पूर्वक) आद्यवयव न होने से **'शर्पूर्वाः खयः** की प्राप्ति नहीं होती ।

सिद्धियाँ : पस्पर्धे—√स्पर्ध् धातु से कर्तृवाच्य मे लिट् : स्पर्ध्+ल् । लिट् को **तिप्तस्झि०** से त : स्पर्ध्+त । त को **लिटस्तझयोरेशिरेच्** से एश् (ए) : स्पर्ध्+ए । **लिटि धातोरनभ्यासस्य** से एकाच् स्पर्ध् को द्वित्व, **नन्द्राः संयोगादयः** से द्वित्व-निषेध की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि रेफ् द्वितीय एकाच् का आद्यवयव नहीं है । **पूर्वोभ्यासः** से प्रथम् स्पर्ध् की 'अभ्यास' संज्ञा, **हलादिः शेषः** से र्ध् का लोप प्राप्त हुआ, किंतु **शर्पूर्वाः खयः** से शर्पूर्वक (स्प् का) खय् (प्) शेष रहा, अन्य हलों (स्, र् तथा ध्) का लोप हो गया : प+स्पर्ध्+ए=पस्पर्धे ।

पस्पर्धाते, पस्पर्धिरे, पस्पर्धाथे, पस्पर्धे में क्रमशः पस्पर्ध्+आताम्, पस्पर्ध्+झ, पस्पर्ध्+आथाम्, पस्पर्ध्+इ स्थिति में **टित आत्मनेपदानां टेरे** से टि (ताम् और थाम् में आम्) को ए (आते, आथे), **लिटस्तझयोरेशिरेच्** से झ को इरेच् (इरे), **टित आत्मने०** से टि (इ) को ए, विशेष होता है । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है ।

पस्पर्धिषे, पस्पर्धिध्वे, पस्पर्धिवहे, पस्पर्धिमहे में पस्पर्ध्+थास् स्थिति में **थासः से** से थास् को से : पस्पर्ध्+से, तथा **टित आत्मने०** से टि (स्वम् के अम् और

ताम्, अस्पर्धत, स्पर्धेत, स्पर्धिषीष्ट, अस्पर्धिष्ट, अस्पर्धिष्यत ॥ 3 गाधृ प्रतिष्ठा-लिप्सयोर्ग्रन्थे च ॥ 3 ॥ गाधते, जगाधे । 4 बाधृ लोडने ॥ 4 ॥

इच्छा और गूँथना, रचना अर्थ में है ॥ 3 ॥ गाधते । 4 √बाध् लोडन अर्थ में है ॥ 4 ॥

वहि, महि के इ) को ए आदेश होने पर पस्पर्ध्+ध्वे, पस्पर्ध्+वहे, महे में लिट् के आदेश से, ध्वे, वहे, महे की **लिट् च** से आर्धधातुक संज्ञा होने से **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से 'से' इत्यादि आदेशों के आदि में इट् का आगम होता है : पस्पर्ध्+इ से, पस्पर्ध्+इध्वे=पस्पर्धिध्वे, पस्पर्ध+इवहे=पस्पर्धिवहे, पस्पर्ध+इमहे=पस्पर्धिमहे । पस्पर्ध्+इ+से में **आदेशप्रत्यययोः** से प्रत्यय 'से' के अवयव 'स्' को मूर्धन्य हो जाता है : पस्पर्धिषे । 'पस्पर्धिध्वे' में इण् अंतवाले अंग से परे न होने के कारण **इणः षीध्वं०** से ध् को मूर्धन्य नहीं होता ।

पस्पर्धे, पस्पर्धाते, पस्पर्धिरे; पस्पर्धिषे, पस्पर्धाथे, पस्पर्धिध्वे; पस्पर्धे, पस्पर्धिवहे, पस्पर्धिमहे ।

'स्पर्धिता' इत्यादिक लुट् लकार की प्रक्रिया 'एधिता' आदि की ही तरह होती है : स्पर्धिता, स्पर्धितारौ, स्पर्धितारः; स्पर्धितासे, स्पर्धितासाथे, स्पर्धिताध्वे; स्पर्धिताहे, स्पर्धितास्वहे, स्पर्धितास्महे ।

'स्पर्धिष्यते' आदि की लृट् की प्रक्रिया भी 'एधिष्यते' की तरह होती है । स्पर्धिष्यते, स्पर्धिष्येते, स्पर्धिष्यन्ते, स्पर्धिष्यसे, स्पर्धिष्येथे, स्पर्ध्यिध्वे; स्पर्धिष्ये, स्पर्धिष्यावहे, स्पर्धिष्यामहे ।

लोट् लकार की प्रक्रिया भी 'एधताम्' आदि की तरह ही है : स्पर्धताम्, स्पर्धेताम्, स्पर्धन्ताम्; स्पर्धस्व, स्पर्धेथाम्, स्पर्धध्वम्; स्पर्धै, स्पर्धावहै, स्पर्धामहै ।

√स्पर्ध् धातु हलादि है अतः लङ् में **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** से अट् का आगम होता है । शेष प्रक्रिया एध्+लङ् की तरह ही है । अस्पर्धत, अस्पर्धेताम् अस्पर्धन्त; अस्पर्धथाः अस्पर्धेथाम्, अस्पर्धध्वम्; अस्पर्धे, अस्पर्धावहि, अस्पर्धामहि ।

'स्पर्धेत' इत्यादि विधि-लिङ् की प्रक्रिया भी एधेत आदि की तरह है । स्पर्धेत, स्पर्धेयाताम्, स्पर्धेरन्; स्पर्धेथाः, स्पर्धेयाथाम्, स्पर्धेध्वम्; स्पर्धेय, स्पर्धेवहि, स्पर्धेमहि ।

आशीर्लिङ् भी एधिषीष्ट की तरह ही होता है । स्पर्धिषीष्ट, स्पर्धिषीयास्ताम्, स्पर्धिषीरन् ; स्पर्धिषीष्ठाः, स्पर्धिषीयास्थाम्, स्पर्धिषीध्वम् ; स्पर्धिषीय, स्पर्धिषीवहि, स्पर्धिषीमहि ।

लुङ् में अट्कार्य विशेष होता है । शेष ऐधिष्ट की तरह । अस्पर्धिष्ट, अस्पर्धिषाताम्, अस्पर्धिषत; अस्पर्धिष्ठाः, अस्पर्धिषाथाम्, अस्पर्धिढ्वम्, अस्पर्धिध्वम्;

अस्पर्धिषि, अस्पर्धिष्वहि, अस्पर्धिष्महि।

लृङ् में अट् कार्य को छोड़कर शेष प्रक्रिया ऐधिष्यत की तरह ही होती है। अस्पर्धिष्यत, अस्पर्धिष्येताम्, अस्पर्धिष्यन्त; अस्पर्धिष्यथाः, अस्पर्धिस्येथाम्, अस्पर्धिष्यध्वम्; अस्पर्धिष्ये, अस्पर्धिष्यावहि, अपर्धिष्यामहि।

यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि **अचो रहाभ्यां द्वे** (8.4.46) से रेफ के परे ध् को वा द्वित्व तथा **झलां जश् झशि** (53) से पूर्व धकार को दकार करने पर धातु का परिनिष्ठित रूप √स्पर्द्ध् निष्पन्न होता है। अतः सब लकारों की प्रक्रिया में स्पर्ध् (द्वित्वरहित) और स्पर्द्ध् (कृतद्वित्व) अङ्ग प्रयुक्त किया जा सकता है : स्पर्धते, स्पर्द्धते। लिट् में **शर्पूर्वाः खयः** (7.4.61) से अभ्यास के स्, द्, द्, ध्, इन चार हलों का लोप हो कर केवल 'प्' शेष रहेगा : पस्पर्धे, पस्पर्द्धे।

3 √**गाध्** धातु तवर्गचतुर्थांत (धान्त) है। प्रतिष्ठा तथा प्राप्त करने की इच्छा एवं ग्रंथन (रचना), गूँथना अर्थों में है। आधार (base) पर स्थित होना प्रतिष्ठा होती है। 'अगाध' (जिसका आधार=थाह न हो, अथाह) इसी धातु से बनता है।

अनुदात्त ऋकार इत्संज्ञक है तथा **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** (7.4.2) से णिच् में **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** से प्राप्त उपधा-ह्रस्व के निषेध के लिए है : अजगाधत्, अजगाधत। √गाध् में 'आ' **धातोः** (6.1.162) से उदात्त है। अतः यह धातु सेट् है। गाध् की प्रक्रिया लिट् में थोड़े अंतर के साथ √स्पर्ध् की तरह ही होती है।

लट् में गाधते, गाधेते, गाधन्ते; गाधसे, गाधेथे, गाधध्वे; गाधे, गाधावहे, गाधामहे रूप होते हैं।

जगाधे—गाध् से लिट्, लिट् को त, त को एश् (ए) : गाध्+ए। गाध् को **लिटि धातोरनभ्यासस्य** से द्वित्व : गाध+गाध्+ए। प्रथम गाध् की अभ्यास संज्ञा। **हलादिः शेषः** से उसके ध् का लोप : गा+गाध्+ए। **ह्रस्वः** से अभ्यास (गा) को ह्रस्व : ग+गाध्+ए। **कुहोश्चुः** से अभ्यास के 'ग्' को ज् : जगाध्+ए=जगाधे।

'जगाधाते' आदि रूपों की प्रक्रिया भी उपर्युक्त विशेषता के साथ 'पस्पर्धाते' आदि की तरह ही होती है। जगाधे, जगाधाते, जगाधिरे; जगाधिषे, जगाधाथे, जगाधिध्वे; जगाधे, जजाधिवहे, जगाधिमहे।

अन्य लकारों की प्रक्रिया √स्पर्ध् धातु की तरह ही होती है। गाधिता, गाधिष्यते, गाधताम्, अगाधत, गाधेत, गाधिषीष्ट, अगाधिष्ट, अगाधिष्यत।

4 √**बाध्** धातु लोडन=प्रतिघात, टकराना, (दबाव, बाधा देना, उलट करना) अर्थ में है तथा सकर्मक है। ऋ अनुदात्त तथा इत्संज्ञक है, इसलिए आत्मनेपद होता

लोडनं=प्रतिघातः । बाधते । 5 नाधृ, 6 नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु ॥ 5 ॥ 'आशिषि नाथ' इति वाच्यम् (वा०)—अस्याशिष्येवात्मनेपदं स्यात् । नाथते । अन्यत्र नाथति । नाधते ॥ 35 ॥

लोडन टकराना, दबाना, उलट करना है । बाधते । 5 √नाथ्, 6 √नाध् माँगना, सताना, स्वामी होना तथा आशिष् अर्थों में हैं । ('√नाथ् से आशिष् अर्थ में' कहना चाहिये)—इस (नाथ्) को आत्मनेपद 'आशिष्' अर्थ में ही हो । नाथते । अन्य अर्थों में नाथति । नाधते ॥ 35 ॥

है । **धातोः** (6.1.162) से अंत्य अच् ('बा' में 'आ') उदात्त होने से सेट् है । ऋदित् होने से णिच् में अबबाधत्, अबबाधत होता है, उपधा-ह्रस्व नहीं होता ।

√बाध् के रूप 'बाधते, बबाधे, बाधिता, बाधिष्यते, बाधताम्, अबाधत, बाधेत, बाधिषीष्ट, अबाधिष्ट, अबाधिष्यत' होते हैं । शेष रूप तथा प्रक्रिया √गाध् की तरह ही होती है । लिट् में **कुहोश्चुः** की प्राप्ति नहीं है ।

5 **√नाथ्** और 6 **√नाध्** ये दोनों धातु नकारादि हैं । पहली थान्त और दूसरी धान्त है । ऋ अनुदात्त तथा सानुनासिक (इत्संज्ञा के लिए) है । प्रयोजन (1) आत्मनेपद तथा (2) णिच्, लुङ् में प्राप्त उपधा-ह्रस्व का निषेध हैं : (1) नाथते, नाधते; (2) अननाथत्, अननाधत् ।

दोनों धातुओं का अर्थ याचना (माँगना) रोग (ज्वरादि) से जन्य पीड़ा, ऐश्वर्य (मिलकियत, स्वामित्व होना) तथा कुछ मुराद होना है ।

'आशिषि नाथ' इति वाच्यम् (वा०)—√नाथ् से 'आशीर्वाद' अर्थ में आत्मनेपद होता है । √नाथ् अनुदात्तेत् होने से ही आत्मनेपदी है । अतः प्रस्तुत वार्तिक 'आशीर्वाद अर्थ में ही √नाथ् से आत्मनेपद होता है, याच्ञा, उपताप तथा ऐश्वर्य अर्थों में परस्मैपद ही होता है', यह नियम बनाता है । फलतः निम्न प्रयोगों में आत्मनेपद दृष्ट होता है :

ब्राह्मणास्त्वां महाबाहो, भ्रातरश्च महौजसः ।
पर्जन्यमिव घर्मान्ते नाथमाना उपासते ॥ शा० प० 37.22
तथापि नाथमानस्य नाथ, नाथय नाथितम् ।
परापरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः ॥ श्रीमद्भा० 2.9.25

√नाथ् के आत्मनेपद में √गाध् की तरह रूप होते हैं । नाथते, ननाथे, नाथिता, नाथिष्यते, नाथताम्, अनाथत, नाथेत, नाथिषीष्ट, अनाथिष्ट, अनाथिष्यत । परस्मैपद में 'नाथति, ननाथ; नाथिता; नाथिष्यति, नाथतु, अनाथत्, नाथेत्, नाथ्यात्, अनाथीत्, अनाथिष्यत्' रूप होते हैं ।

2.7 दध धारणे ॥ 6 ॥ दधते । 2260 अत एक-हल्-मध्येऽनादेशादेर्लिटि (6.4.120)—लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं, तदवयवस्या-

द्वितीय धातु-वर्ग : 7 √दध् से 16 √दद् की प्रक्रिया

2.7 √दध् धारण करना अर्थ में है ॥ 6 ॥ दधते । 2260 जो अङ्ग लिट् के निमित्त से आदिवर्ण को आदेश वाला नहीं है, उसके अवयव, तथा संयोग से रहित

अनाथीत्—परस्मैपद लुङ् में √नाथ् से लुङ् को तिप्, **इतश्च** से 'ति' में 'इ' का लोप : नाथ्+त् । 'ति' की सार्वधातुकसंज्ञा होने से शप् को बाध कर 'च्लि', च्लि को सिच् (स्) : नाथ्+स्+त् । सिच् की आर्धधातुक संज्ञा के अनंतर **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से इट् : नाथ्+इस्+ई+त् । **अस्तिसिचोऽपृक्ते** से 'त्' के पूर्व ईट् (ई) : नाथ्+इस्+ईत् । **इट ईटि**—से 'स्' का लोप : नाथ्+इ+ई+त् । **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध स्को लोप **सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः** से सिद्ध होने के अनंतर **अकः सवर्णे दीर्घः** से इ+ई को दीर्घ एकादेश (ई) : नाथ्+ई+त् । **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** से अट् (अ) : अ+नाथ्+ई+त्=अनाथीत् ।

अनाथिष्टाम्—'अ+नाथ्+इ+स्+तस्' स्थिति में **तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः** से तस् को ताम्, स् को **आदेशप्रत्यययोः** से मूर्धन्य : 'अनाथिष्+ताम्', **ष्टुना ष्टुः** से ताम् के त् को ट् : अनाथिष्टाम् । **अनाथिष्टम्, अनाथिष्ट** की प्रक्रिया भी इसी तरह होगी । **अनाथिषुः** में **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च** से झि को जुस्, **चु-टू** से ज् का लोप विशेष होता है ।

अनाथीः—अ+नाथ्+इ+स्+स् (सिप्) । **अस्तिसिचोऽपृक्ते** से स् के पहले ईट् । 'अनाथीत्' की तरह स् का लोप तथा दीर्घ होने पर अनाथ्+ईस् । स् को रुत्व एवं विसर्ग : अनाथीः ।

अनाथिषम्—अनाथ्+इ+स्+अम् (मिप्), स् को मूर्धन्य : अनाथिषम् । अनाथिष्व, अनाथिष्म भी इसी तरह ।

√नाथ् धातु से केवल आत्मनेपद होगा । रूप √बाध् की तरह ही होते हैं ॥ 35 ॥

2.7 √दध् धातु धारण करने में है । दधते इत्यादि रूप एधते इत्यादि की तरह होते हैं ।

2260 **अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि** (6.4.120)—अङ्गस्य (1), ध्वसोरेद्धावभ्यास-लोपश्च (119), गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (98) । लिट् के आदेश तिङ् ङित् तो हो ही नहीं सकते, **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित् ही होते हैं । अतः 'ङिति' की अनुवृत्ति निष्प्रयोजन होने से केवल 'किति की ही अनुवृत्ति यहाँ होती है ।

संयुक्त-हल्मध्यस्थस्याकारस्य एकारः स्यादभ्यासलोपश्च किति लिटि।
2261 थलि च सेटि (6.4.121)—प्रागुक्तं स्यात्। आदेशश्चेह वैरूप्य-सम्पादक एवाश्रीयते शसि-दद्योः प्रतिषेध-वचनाज्ज्ञापकात्। तेन प्रकृति-जश्चरां

व्यंजनों के मध्य में स्थित, ह्रस्व अकार को ए आदेश और अभ्यास का लोप हों, कित् लिट् का आदेश प्रत्यय बाद में होने पर। 2261 इट् से युक्त थल् बाद में होने पर भी पीछे बताया कार्य हो जाए। और आदेश यहाँ स्वरूप में परिवर्तन करने वाला ही लिया जाता है, क्योंकि √शस् और √दद् को इस विधान का निषेध बतलाना इस आशय का सूचक है। इसके परिणाम-स्वरूप स्वभाव से ही जश् और चर् वाली

लिटि अनादेशादेः अङ्गस्य एक-हल्मध्ये अत एत्, अभ्यास-लोपश्च किति (लिटि)। यहाँ 'लिटि' पद की आवृत्ति होती है। एक में निमित्त-सप्तमी है, दूसरा 'किति' का परसप्तम्यंत विशेष्य है। 'अनादेशादेः' षष्ठ्यन्त है एवम् 'अङ्गस्य' का विशेषण है : **आदेश आदिर्यस्य, तदङ्गमादेशादि** (आदेश आदि है जिसका, ऐसा अंग), **न आदेशादि इत्यनादेशादि** (आदेशादि नहीं), **तस्य, लिटि (पर-निमित्ते सति) अनादेशादेः (आदेशादि यन्न भवति, तस्य)**—पर-निमित्त के रूप में लिट् के रहने पर जिसके आदि को आदेश नहीं होता हो, ऐसे—**अङ्गस्य** यहाँ अवयव-षष्ठी में है तथा यह 'अतः' (स्थान-षष्ठ्यंत) का विशेषण है। **'एक-हल्मध्ये—एकौ च तौ हलौ, इति एक-हलौ, तयोर्मध्ये।** एक-एक (अकेले, असंयुक्त) हलों के बीच में स्थित, **अतः**=अत् के स्थान में : अङ्ग के अवयवभूत, एकेक=असंयुक्त हलों के मध्य में स्थित अत् (ह्रस्व अकार) के स्थान में एकार होता है। **अभ्यास-लोपश्च**—अभ्यास का लोप भी होता है, **किति (लिटि)** कित्संज्ञक लिट् (के आदेश तिङ्) बाद में स्थित होने पर :

लिटि (पर-निमित्ते सति) अनादेशादेः अङ्गस्य एक-हल्मध्ये (स्थितस्य) अतः (एक-मात्रिकस्य 'अ' इत्यस्य स्थाने) एत् (भवति) अभ्यास-लोपश्च (भवति) किति लिटि परतः। अर्थात् (1) लिट् बाद में होने पर जिसके आदि अवयव को आदेश न होता हो, ऐसे अंग के अवयवरूप, (2) दो अकेले (असंयुक्त) हलों के मध्य में स्थित, 'अ' (एकमात्रिक अकार) को 'ए' (द्विमात्रिक) तथा अभ्यास का लोप होते हैं कित्संज्ञक लिट् परे रहते। इससे अभ्यास का लोप होता है, तथा द्वितीय एकाच् के अवयव अत् के स्थान में एत्त्व होता है।

2261 थलि च सेटि (6.4.121)—यहाँ 'च' समुच्चयार्थक है : सेट् थल् बाद में होने पर भी (पहले सूत्र का कार्य होता है)। पहला सूत्र कित् लिट् बाद में होने पर कार्य करता है, यह सेट् अकित् थल् (सिप् का आदेश होने से पित्) बाद में होने पर, यह अंतर है।

तेषु सत्स्वपि एत्त्वाभ्यास-लोपौ स्त एव। देधे, देधाते, देधिरे। 'अतः' किम्? दिदिवतुः। 'तपरः' किम्? ररासे। 'एक०' इत्यादि किम्? तत्सरतुः।

धातुओं को वही आदेश होने पर भी एकारादेश और अभ्यास का लोप होते ही हैं। देधे, देधाते, देधिरे। (प्रकृत 2260 सूत्र में) 'ह्रस्व अकार को' क्यों कहा? दिदिवतुः। 'अकार को ह्रस्व' क्यों कहा? ररासे। 'अकेले (संयोग से रहित हलों के०)' इत्यादि

अनादेशादेः में पठित 'आदेश' शब्द का तात्पर्य यहाँ जिस आदेश से आदेश्य में विरूपता आती हो, वही लेना है। इसका प्रमाण एक सूत्र है : 2263 **न शस-दद-वादि-गुणानाम्** (6.4.126)। यह सूत्र √शस् आदि धातुओं में एत्त्व का तथा अभ्यास के लोप का निषेध करता है। 'ददे' इत्यादि में जहाँ इसकी प्रवृत्ति होती है, वहाँ अभ्यासकार्य में **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** (प० 120) से अभ्यास के द् को द् आदेश[1] **अभ्यासे चर्च** (8.4.54) से होता है। प्रकृत एत्त्वाभ्यास-लोप-सूत्रों में 'आदेश' से 'वैरूप्य-सम्पादक आदेश' न लेकर 'यावन्मात्र आदेश' अर्थ लिया जाये, तो यहाँ 'ददे' आदि में यह सूत्र प्राप्त ही नहीं होगा, तब **शस-दद-वादि-गुणानाम्** से निषेध व्यर्थ ही रहेगा। अतः आचार्य का 'ददे' आदि में विरूपता न लाने वाले आदेश के होते हुए भी **अत एक-हल्मध्ये०** इत्यादि से प्राप्त विधि का निषेध ही प्रमाणित (विज्ञापित) करता है कि यहाँ 'आदेश' से प्रकृतिस्वरूप आदेश अभिप्रेत नहीं है, अपितु विकृतिस्वरूप (विरूपता करने वाला) ही अभीष्ट है। फलतः स्वभाव से जश् तथा चरों को स्वाभाविक जश् तथा चर् आदेश होने पर भी एत्त्व तथा अभ्यास का लोप ये दोनों होते ही हैं।

शङ्का—जहाँ 'बभणतुः' आदि में विरूप आदेश होता है, वहाँ **अभ्यासे चर्च** सूत्र त्रैपादिक होने के कारण **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध हो जाता है, फलतः विरूप आदेश के असिद्ध होने से एत्त्व तथा अभ्यास का लोप वहाँ होना चाहिए।

उत्तर—जहाँ एत्त्व तथा अभ्यासलोप करना होगा, वहाँ **अभ्यासे चर्च** सूत्र असिद्ध नहीं होगा, ऐसा सूत्रकार का आशय प्रकट होता है : यदि पूर्वपक्षोक्त अर्थ ही सूत्रकार को अभीष्ट होता, अर्थात् विरूप आदेश होने पर एत्त्वादि कार्य हो सकता, तो √भज् धातु को प्रस्तुत सूत्र से ही एत्त्वादि हो जाते, पृथक् से **तृ-फल-भज-त्रपश्च** (6.4.122) यह भज-धातु-घटित सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी? अतः सूत्रकार की प्रवृत्ति से सिद्ध (विज्ञापित) होता है कि √भज् में विरूप आदेश होने से **अत एक-हल्०** सूत्र की प्राप्ति न होने से **तृ-फल-भज०** सूत्र से एत्त्व होता है : भेजे। इससे भी

---

1. पृष्ठ 71 : 2182 **अभ्यासे चर्च** (8.4.54)—**तत्रापि प्रकृति-जशाम्प्रकृति-जशः, प्रकृतिचराम्प्रकृतिचर इति विवेक आन्तरतम्यात्।**

'अनादेशादेः' किम् ? चकणतुः । लिट 'आदेश'-विशेषणादिह स्यादेव—नेमिथ, सेहे ।

8 स्कुदि आप्रवणे ।। 7 ।। आप्रवणमुत्प्लवनमुद्धरणञ्च । 2262 इदितो

क्यों कहा ?तत्सरतुः । 'आदिवर्ण को आदेश से रहित के' क्यों कहा ? चकणतुः । लिट् को 'आदेश' का विशेषण बनाने के कारण यहाँ तो सूत्र की प्रवृत्ति होगी ही—नेमिथ, सेहे ।

8 √स्कुद् (स्कुदि) आप्रवण अर्थ में है ।। 7 ।। आप्रवण=उछलना और उठाना होता है । 2262 ह्रस्व इकार की इत्संज्ञा वाली धातु को नुम् (हो) । स्कुन्दते,

---

फल यही निकलता है कि 'विरूप आदेश' ही यहाँ 'आदेश' शब्द का तात्पर्यार्थ है ।

'अतः' पद ग्रहण करने से 'दिदिवतुः' (√दिव्+लिट्, प्र० द्वि०) आदि में प्राप्ति नहीं होती । 'अतः' में भी 'त्' के ग्रहण से 'ररासे' आदि में (जहाँ आत्=द्वि-मात्रिक अकार है) एत्त्वादि-कार्य नहीं होते । **एक-हल्मध्ये** कहने से √त्सर् से लिट् में 'त+त्सर्+अतुस्' में संयुक्त हल् (त्स्) से परे रहने पर एत्त्वादि कार्य नहीं होते । **अनादेशादेः** कहने से 'चकणतुः' इत्यादि में (यहाँ क+कण्+अतुस्>च+कण्+अतुस् में क् को च् विरूप आदेश होता है) प्रस्तुत सूत्र नहीं लगेगा । 'लिट्' का 'आदेश' से सम्बन्ध होने से 'नेमिथ' (√णम् से), 'सेहे' (√षह्) इत्यादि प्रयोगों में एत्त्वादि होते ही हैं । इन प्रयोगों में 'ण्' को 'न्' तथा 'ष्' को 'स्', आदि विरूप आदेश लिट् को निमित्त मान कर नहीं होते ।

सिद्धियाँ : देधे—√दघ् धातुसे लिट्, लिट् को त, त को एश् (ए) : दघ्+ए । लिट् के आदेश 'ए' की **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित्संज्ञा तथा **लिट् च** से आर्धधातुक संज्ञा, **हलादिः शेषः** से घ् का लोप प्राप्त होने पर **अत एक-हल-मध्येऽनादेशादेर्लिटि** से अभ्यास (पूर्व दघ्) का लोप तथा अगले दघ् के अत् को एत् : देघ्+ए=देधे ।

अन्य रूप भी इसी प्रकार तत्तत् प्रत्ययकार्यों की विशेषता से बनते हैं । देधे, देधाते, देधिरे, देधिषे, देधाथे, देधिध्वे; देधे, देधिवहे, देधिमहे ।

लुट् आदि अन्य लकारों की प्रक्रिया 3 √गाध् की तरह ही होती है : दधिता, दधिष्यते, दधताम्, अदधत, दधेत, दधिषीष्ट, अदधिष्ट, अदधिष्यत ।

अनुदात्तेत्, उदात्त 8 √स्कुद् (इदित्) धातु आप्रवण (उछलना, उठना, ऊपर पकड़ना) अर्थों में है । इकार की इत्संज्ञा का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए सूत्र बतलाते हैं—

2262 इदितो नुम् धातोः (7.1.58)—इदितो धातोर्नुम् भवति) । 'इदितः' षष्ठ्यन्त है एवं 'धातोः' का विशेषण है : **इत्** (एक मात्रिक 'इ' इति) **इत्** (-संज्ञको)

नुम् धातोः (7.1.58)—स्कुन्दते, चुस्कुन्दे। 9 श्विदि श्वैत्ये ॥ 8 ॥ अकर्मकः। श्विन्दते, शिश्विन्दे। 10 वदि अभिवादन-स्तुत्योः ॥ 9 ॥ वन्दते।

चुस्कुन्दे। 9 √श्विद् सफेद होना अर्थ में है ॥ 8 ॥ (यह) अकर्मक है। श्विन्दते, शिश्विन्दे। 10 √वद् प्रणाम करना तथा प्रशंसा करना अर्थों में है ॥ 9 ॥ वन्दते,

---

यस्य, स **इदित्**, तस्य **इदितः**। जिसका ह्रस्व 'इ' इत्संज्ञक (सानुनासिक) है, ऐसे धातु को नुम् का आगम होता है। नुम मित् है, अतः **मिदचोन्त्यात्परः** से अंत्य अच् (स्कु के 'उ') से परे होगा : स्कु+न्+द्। नुम् में 'उ' उच्चारण के लिए तथा **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा करने के लिए सानुनासिक है। **नश्चापदान्तस्य झलि** से न् को अनुस्वार एवम् **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से उसे पर द् का सवर्ण (न्) होता है : स्कु+न्+द् =स्कुन्द्।

सिद्धियाँ : 'स्कुन्दते' आदि में √स्कुन्द् से प्रत्यय होते हैं। प्रक्रिया पूर्ववत्। लिट् ('चुस्कुन्दे' आदि) में **'शर्पूर्वाः खयः'** से ककार शेष रह कर अन्य हलों स्, न् तथा द् का लोप होगा। शेष प्रक्रिया 'पस्पर्धे' की तरह होगी।

चुस्कुन्दे, चुस्कुन्दाते, चुस्कुन्दिरे; चुस्कुन्दिषे, चुस्कुन्दाथे, चुस्कुन्दिध्वे; चुस्कुन्दे, चुस्कुन्दिवहे, चुस्कुन्दिमहे। स्कुन्दिता, स्कुन्दिष्यते, स्कुन्दताम्, अस्कुन्दत, स्कुन्देत, स्कुन्दिषीष्ट, अस्कुन्दिष्ट, अस्कुन्दिष्यत। प्रक्रिया 4 √वाध् की तरह होती है।

9 √श्विद् यह इदित् तालव्यशकारादि धातु 'सफेद होना' अर्थ में अकर्मक है। श्रीवासुदेवदीक्षितजी 'सफेद करना' अर्थ में तथा 'सफेदी' के धातु के अर्थ के अंतर्गत होने से अकर्मक मानते हैं। 'श्वेत-करण' में 'करण' कर्म-सापेक्ष क्रिया है। सफेदी गुण है, जो द्रव्याश्रित हुए विना नहीं की जा सकती। अतः 'करण' का कर्म सफेदी होगी, या वस्तु ? यह विचार्य है। अतः 'श्वेत-करण' अर्थ में अकर्मकता कुछ जँचती नहीं।

अनुबंधों का प्रयोजन पूर्ववत् ही है : √श्विन्द् आत्मनेपदी धातु निष्पन्न होती है। लिट् में शर्पूर्वकखय् न होने से **शर्पूर्वाः खयः** की प्रवृत्ति नहीं होगी, **हलादिः शेषः** ही लगेगा। श्विन्दते, शिश्विन्दे, श्विन्दिता, श्विन्दिष्यते, श्विन्दताम्, अश्विन्दत, श्विन्देत, श्विन्दिषीष्ट, अश्विन्दिष्ट, अश्विन्दिष्यत।

10 √ वन्द् (इदित्त्वात् नकारवान्) धातु अभिवादन (गुरु आदि श्रेष्ठों को अपना कुलगोत्र आदि बताते हुए प्रणाम करना) तथा स्तुति अर्थ में है। यह सकर्मक है। प्रक्रिया पूर्ववत्। वन्दते, ववन्दे, वन्दिता, वन्दिष्यते, वन्दताम्, अवन्दत, वन्देत, वन्दिषीष्ट, अवन्दिष्ट, अवन्दिष्यत।

11√भन्द् (इदित्त्वात् नकारवान्) कल्याण होना तथा सुख (सुखी) होना इन

ववन्दे ॥ 11 ॥ 11 भदि कल्याणे सुखे च ॥ 10 ॥ भन्दते । बभन्दे । 12 मदि स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु ॥ 11 ॥ मन्दते । ममन्दे । 13 स्पदि किंचिच्चलने ॥ 12 ॥ स्पन्दते । पस्पन्दे । 14 क्लिदि परिदेवने ॥ 13 ॥

ववन्दे । 11 √भद् (इदित्) कल्याण और सुख होना अर्थ में है ॥ 10 ॥ भन्दते, बभन्दे । 12 √मद् स्तुति, प्रसन्नता, नशा, या मस्ती, सपना, इच्छा और गति होना/करना अर्थों में है ॥ 11 ॥ मन्दते, ममन्दे । 13 √स्पद् (इदित्) हिलना, धड़कना अर्थ में है ॥ 12 ॥ स्पन्दते, पस्पन्दे । 14 √क्लिद् (इदित्) विलाप अर्थ में, अर्थात् शोक करना अर्थ में है ॥ 13 ॥ यह सकर्मक है । चैत्र का शोक करता है । (क्लिन्दते) । चिक्लिन्दे । 15

अर्थों में अकर्मक है । **भन्दिषीस्त्वम्**-तेरा कल्याण हो तुम्हें सुख हो । भन्दते, बभन्दे, भन्दिता, भन्दिष्यते, भन्दताम्, अभन्दत, भन्देत, भन्दिषीष्ट, अभन्दिष्ट, अभन्दिष्यत ।

12 √**मन्द्** (इदित्) धातु मोद (सन्तोष, हर्ष), मद (गर्व), स्वप्न(आलस्य), कान्ति (इच्छा, चमकना, दमकना) तथा गति (धीमा, मन्दा होना) अर्थों में अकर्मक है । √मन्द् का स्तुति, हर्ष, तथा गर्व अर्थ में प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलता है । इनमें भी हर्ष (to rejocie, to gladden) अर्थ में अधिक प्रयुक्त मिलता है । लोक में 'गति' अर्थ अधिक प्रसिद्ध है । निरुक्त में इसे तृप्त्यर्थक बताया है ।[1] मन्दते, ममन्दे, मन्दिता, मन्दिष्यते, मन्दताम्, अमन्दत, मन्देत, मन्दिषीष्ट, अमन्दिष्ट, अमन्दिष्यत ।

13 √**स्पन्द्** (इदित्) धातु कुछ चलना हिलना) अर्थ में अकर्मक है । स्पन्दते । लिट् में **शर्पूर्वाः खयः**—पस्पन्दे । स्पन्दिता, स्पन्दिष्यते, स्पन्दताम्, अस्पन्दत, स्पन्दिषीष्ट, अस्पन्दिष्ट, अस्पन्दिष्यत ।

14 √**क्लिन्द्** (इदित्) धातु परिदेवन (शोक, किसी को याद करके क्लेश, खिन्नता अनुभव करना) अर्थ में सकर्मक है : **क्लिन्दते चैत्रम्मैत्रः**—मैत्र चैत्र को याद करके दुखी होता है । क्लिन्दते, चिक्लिन्दे, क्लिन्दिता, क्लिन्दिष्यते, क्लिन्दताम्, अक्लिन्दत, क्लिन्देत, क्लिन्दिषीष्ट, अक्लिन्दिष्ट, अक्लिन्दिष्यत ।

15 √**मुद्** धातु हर्ष (प्रसाद) होना अर्थ में अकर्मक है । मोदते, मुमुदे, मोदिता, मोदिष्यते, मोदताम्, अमोदत, मोदेत, मोदिषीष्ट, अमोदिष्ट, अमोदिष्यंत । लिट् में कित्संज्ञा होने से **पुगन्त-लघूपधस्य च** से प्राप्त उपधागुण **क्ङिति च** से निषेध के कारण नहीं होगा । अन्यत्र सब जगह होगा ।

16 √**दद्** धातु देना, त्यागना अर्थ में सकर्मक है । यह वस्तु मेरी नहीं है, इस प्रकार स्वत्वका त्याग करके उसपर किसी अन्य को स्वामी बनाना 'दान' होता है, न

---

1. नि० 2.5 : **मत्सरः=सोमो मन्दतेस्तृप्ति-कर्मणः ।**

'शोक' इत्यर्थः । सकर्मकः । क्लिन्दते चैत्रम् । चिक्लिन्दे । 15 मुद हर्षे ॥ 14 ॥ मोदते । 16 दद दाने ॥ 15 ॥ ददते । 2263 न शस-दद-वादि-गुणानाम्

√मुद् खुशी होना अर्थ में है ॥ 14 ॥ मोदते । 16 √दद् देना अर्थ में है ॥ 15 ॥ 2263 √शस् के, √दद् के, वकारादि धातुओं के (अकार को), तथा 'गुण' कहकर गुण किए

कि 'द्रव्य का त्याग' मात्र । 'द्रव्य का त्याग' अर्थ होने पर तो त्याज्य (त्याग का कर्म) द्रव्य के भी धातुके अर्थ के अंतर्गत होने से अकर्मकता आ जाती है ।[1]

यास्क ने √दद् का अर्थ धारण करना बताया है ।[2] क्षी० त० के अनुसार कौशिक इसे 'धारण' अर्थ में तथा √दध् को 'दान' अर्थ में मानते हैं । पदमंजरी, न्यास तथा माधवीय धातु वृत्ति में इसे 'दान' अर्थ में ही बताया है । वैदिक वाङ्मय में ये दोनों धातु 'धारण' अर्थ में ही आई हैं ।[3] धातुपाठों में √दद् प्राय: 'दान' अर्थ में तथा √दध् (वोपदव को छोड़कर) 'धारण' अर्थ में बताई है। इस अर्थ-परिवर्तन का कारण इन धातुओं के स्वरूप की √दा और √धा से समानता (analogy), ही प्रतीत होती है। भट्टमल्ल ने इन दोनों मतों का समन्वय √दद् के दोनों अर्थ बता कर किया है । √दध् को इन्होंने भी धारणार्थक ही बताया है ।[4]

2263 **न शस-दद-वादि-गुणानाम्** (6.4.126)—यह सूत्र 2260 **अत एकहल्मध्ये०** तथा 2261 **थलि च सेटि** का निषेध करता है । फलत: उन सूत्रों की तथा उनमें अनुवृत्त दूसरे सूत्रों के पदों की अनुवृत्ति यहाँ भी होती है : **शस-दद-वादि-गुणानाम् लिटि अनादेशादेरेक-हल्मध्ये (स्थितस्य) अतः एत् अभ्यासलोपश्च न (भवतः)** ।

शसश्च, ददश्च, वादिश्च, गुणश्च इति शस-दद-वादि-गुणाः (द्वन्द्व), **तेषां शस-दद-वादि-गुणानाम्** (अवयव-षष्ठी) । यह पद **धातूनाम्** का विशेषण है, जो 'अतः' के साथ

---

1. शुद्धितत्त्व : **अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम् । दानमित्यभिनिर्दिष्टम् ।** मा० धा० वृ० : **किंचिदुद्दिश्यापुनर्ग्रहणाय स्वीयत्यागो दानम् ।** तथा बा० म० : **'न ममेति' त्यागो दानं, न तु द्रव्य-त्यागः । तथा सति धात्वर्थोपसंग्रहादकर्मकत्वापत्तेः ।**
2. नि० 2.2 : **दण्डो ददतेर्धारयति-कर्मणः । 'अक्रूरो ददते मणिम्' इत्यभिभाषन्ते ।**
3. √दद् : ऋ० 1.24.7, 41.9; 3.53.17; 4.26.6; अ० सं० 10.8.35-36; 14.1.45; मा० सं० 7.14; 8.61; 27.16; तै० सं० 3.5.6.2, इस मन्त्र के √दद् का अनुवाद मा० श्रौ० सू० 2.3 2.13 में √नी से किया गया है । √दध् : ऋ० 1.94.2; 6.1.9, 16.17; 7.20.6, 33.11, 68.5; 10.77.7; अ० सं 5.1.3.
4. आख्यात-चंद्रिका 2.2.11 : **ददते, राति, शणति, प्रतिपादयतीति च । दाने;** 3.3.8 : **ददते दान-धारणे; दधते, त्रासयति च, स्कुन्दते धारणार्थकाः ।**

(6.4.126)—शसेर्ददेर्वकारादीनां, 'गुण'-शब्देन भावितस्य च योऽकारस्तस्य एत्वाभ्यासलोपौ न । दददे, दददादे, दददिरे ॥ 36 ॥

हुए धातु का जो अकार है, उसे अकारादेश तथा (इन धातुओं के) अभ्यास का लोप नहीं होते । दददे, दददाते, दददिरे ॥ 36 ॥

अन्वित है । यहाँ 'गुण' शब्द से केवल अत् (**अदेङ् गुणः**) को ही नहीं लेना है । यदि यही अभिप्राय होता, तो 'शस' तथा 'दद' दोनों धातु ही गुणवान् (अद्वान्) हैं । उनके ग्रहण की आवश्यकता न थी । अतः 'गुण' शब्द का प्रयोग करके विहित (किया हुआ) गुण रूप आदेश, यह 'गुण' शब्दका अर्थ होता है । सूत्र का परिनिष्ठित अर्थ यों होता है—

शस-दद-वादीनाम् (धातूनाम्), गुणस्य ('गुण' इति शब्देन साक्षाद्विहितस्य गुणस्य अवयवस्य), लिटि (परे=पर-निमित्ते सति) अनादेशादेः एकहल्मध्ये (स्थितस्य) अत एत्, अभ्यासलोपः च न (भवतः)—√शस्, √दद्, तथा वकारादि धातुओं के (अवयवरूप) और 'गुण' शब्द का प्रयोग करके किये हुए गुण के अवयव, एवं लिट् परे (पर-निमित्त के रूप में) रहने पर आदि को विरूप आदेश न होने वाले, तथा एक-एक हलों के मध्य में स्थित अत् के स्थान में एत् आदेश एवं अभ्यास का लोप नहीं होते ।

मूल में दिये 'भावितस्य' का अर्थ 'विहितस्य, सम्पादितस्य' है । तत्त्वबोधिनीकार ने **भावितत्वं च 'साक्षात्परम्परा-साधारणम्'** (भावितता=साक्षात् तथा परम्परा से दोनों प्रकार से, समान रूप से विहितता) यह विवरण दिया है । उनका तात्पर्य यह है कि (क) 'अत्' आदेश तो साक्षात् गुणादेश है । पर 'ओ' तथा 'ए' के आदेश अव् तथा अय् का 'अ' तो साक्षात् गुणादेश नहीं हैं । साक्षात् गुणादेश तो वहाँ भी 'ओ', 'ए' इतना ही है । (ख) अय् तथा अव् का 'अ' तो परम्परा से (गुण के स्थान में होने से ही) गुण कहलाता है । यहाँ केवल अद्रूप आदेश तथा अय्, अव् दोनों हीं समझे जाते हैं । यदि केवल 'विहित' अर्थ ही लिया जाये, तब तो जहाँ गुणादेश 'अत्' मात्र है, उसी का ग्रहण होगा । (क) 'पपरतुः', 'शशरतुः' आदि में 'गुण' शब्द से साक्षात् अत् के रूप में भावित (विहित) होने से अर् के अत् को एत्वादि नहीं होंगे । ऐसे ही (ख) 'लुलविथ' आदि में 'गुण' शब्द से साक्षात् तो 'ओ' हुआ है, पर परम्परा से ('ओ' के स्थान में होने वाले आदेश) अव् के 'अ' में भी द्वितीय प्रकार का (पारंपरिक) गुणशब्द-भावितत्व है । अतः यहाँ 'अव्' (परंपरया गुणरूप) के अवयव 'अ' को एत्वादि नहीं होते । पर 'पेचे' में (पच्+पच्+ए स्थिति में 'अ' साक्षात् एवम् परंपरया दोनों तरह ही 'गुण' शब्द से विहित नहीं है, अतः एत्वादि-निषेध होगा ।

दददे—√दद् से कर्त्रर्थ में लिट्, लिट् को त, उसे **टित आत्मने०** से ए : दद्+

2.17 ष्वद, 18 ष्वर्द आस्वादने ॥ 16 ॥ अयमनुभवे सकर्मको, रुचावकर्मकः । 2264 धात्वादेः षः सः (6.1.64)—धातोरादेः षस्य सः स्यात् । सात् पदाद्योः (8.3.111)—इति षत्व-निषेधः—अनुस्वदते । सस्वदे । स्वर्दते,

द्वितीय धातु-वर्ग : 17 √स्वद् से 24 √सूद् की प्रक्रिया

2.17 √ष्वद्, √ष्वर्द् आस्वाद लेना अर्थ में हैं ॥ 16 ॥ यह स्वादका अनुभव करना (चखना) अर्थ में सकर्मक है, अच्छा लगना अर्थ में अकर्मक है । 2264 धातु के प्रारम्भिक षकार को सकार हो जाए । सकार को मूर्धन्य आदेश का निषेध 'सात् पदाद्योः' सूत्र से हो जाता है—अनुस्वदते । सस्वदे । स्वर्दते, सस्वर्दे ।

ए । धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा: दद्+दद्+ए । **हलादिः शेषः** से अभ्यास के आदि से भिन्न हल् के लोप को बाध कर **अत एक-हल्मध्ये०** से दूसरे दद् के अकार को एत्त्वादेश और अभ्यास का लोप प्राप्त हुए । **न शस-दद-वादि-गुणानाम्** से उसका निषेध होने पर **हलादिः शेषः** से अभ्यास का आदिम हल द् शेष रह गया, दूसरे द् का लोप हो गया : द+दद्+ए=दददे ।

शेष दददाते, दददिरे; दददिषे, दददाथे, दददिध्वे; दददे, दददिवहे, दददिमहे रूपों की सिद्धि भी लगभग इसी तरह होती है ।

ददिता, ददिष्यते, ददताम्, अददत, ददेत, ददिषीष्ट, अददिष्ट अददिष्यत ॥ 36 ॥

2.17 √**ष्वद्**, 18 √**ष्वर्द्** चखना अर्थ में सकर्मक हैं तथा भाना, अच्छा लगना अर्थ में अकर्मक हैं **स्वदस्व हव्या, समिधो दिदीहि** (ऋ० सं० 3.54.22) में सकर्मक है तथा **अपां हि तृप्ताय न वारि-धारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा** (नैषधीयचरित 3.93) में अकर्मक है ।

मूल में **अयमनुभवे सकर्मकः** वाक्य में 'अयम्' पद (1) दोनों धातुओं में से प्रत्येक को दृष्टि में रख कर लिखा गया है; (2) अथवा इससे 'आस्वादन' शब्द का परामर्श होता है, कि यह सकर्मक भी है, अकर्मक भी ।

2264 **धात्वादेः** 6.1 **षः** 6.1 **सः** 1.1 (6.1.64)—आदेच उपदेशेऽशिति (45) से 'उपदेशे' 7.1 आता है : **उपदेशे धात्वादेः षः (स्थाने) सः (भवति)**—धातु के उपदेशावस्था में आदिम षकार को सकार हो जाता है । अतः √ष्वद् तथा √ष्वर्द् √स्वद् और √स्वर्द् में बदल जाता हैं । इसी प्रकार उपदेश में षकारादि अन्य धातुओं के बारे में भी समझें ।

सूत्र में 'धातु' कहने के कारण प्रातिपदिक 'षष्' (छह) में सत्व नहीं होता ।

सस्वदे । 19 उर्द माने क्रीडायां च ।। 17 ।। 2265 उपधायां च (8.2.78)—

19 √उर्द् मापना और खेलना अर्थ में है ।। 2265 किसी व्यंजन के पूर्व स्थित तथा धातु की उपधा के रूप में विद्यमान र् और व् बाद में होने पर (पूर्ववर्ती) इक्

'आदि' कहने से √लष्, √ष्वक् आदि के आदि-भिन्न षकार को सकार नहीं होता। 'उपदेशे' की अनुवृत्ति करने से नाम-धातु (**षकारमिच्छति=षकारीयति** में √षकारीय) में दन्त्य सकार नहीं होगा।

भाष्यकार ने 'धातु' शब्द देने का खण्डन किया है, क्योंकि 'उपदेशे' से ही 'षप्' आदि प्रातिपदिकों तथा √षकारीय आदि नाम-धातुओं में सत्व नहीं हो पायेगा।[1]

इस सूत्र के द्वारा सत्वादेश करने से 'असिष्वदत्' आदि में इण् से परे होने पर **आदेश-प्रत्यययोः** से मूर्धन्य आदेश हो जाता है। यदि उपदेश में दंत्यादि पाठ ही कर दिया जाये तो वह 'स्' न तो प्रत्यय का है, और न आदेश का ही, अतः 'असिष्वदत्' आदि में दंत्य ही रह जायेगा।

'अनुस्वदते' में **आदेश-प्रत्यययोः** से मूर्धन्यादेश प्राप्त होता है, उसका निषेध **सात्पदाद्योः** से हो जाता है।

स्वदते, सस्वदे, स्वदिता आदि अन्य धातुओं की तरह होते हैं। इसी तरह √स्वर्द् के रूप भी होते हैं।

19 **उर्द्** धातु मान (मापना, सकर्मक) क्रीडा (अकर्मक) तथा स्वाद लेना (सकर्मक) एवम् अच्छा लगना (अकर्मक) अर्थों में है। 'च' से कुछ लोगों के अनुसार 'आस्वादने' का उपसंग्रह होता है, तथा कुछ के अनुसार 'क्रीडायाम्' का ही।

2265 **उपधायां च** (8.2.78)—यहाँ **सिपि धातो रुर्वा** (74) से 'धातोः' की तथा **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (76) से (i) काशिका के मत में सब पदों की और (ii) दीक्षितजी के मत में 'र्वोः इकः दीर्घः' की अनुवृत्ति होती है। 'च' से **हलि च** (77) से 'हलि' का अनुकर्षण होता है।[2] 'र्वोः' में काशिका के तथा इस प्रकरण के अनुसार षष्ठी द्विवचन है और दीक्षितजी की व्याख्या **'रेफ-वकारयोः परतः'** को देखते हुए सप्तमी द्विवचन है।

---

1. म० भा० 6.1.64, वा० 1 : ···**नार्थो 'धातु'-ग्रहणेन।···'उपदेश' इति वर्तते, उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेशः।**
2. न्या०। त० बो० और बा० म० में इसे अनुवृत्ति-लभ्य माना है। ऐसा करने पर इस सूत्र में 'च' व्यर्थ हो जाता है।

धातोरुपधाभूतयो रेफ-वकारयोर्हल्परयोः परत इको दीर्घः स्यात् । ऊर्दते, ऊर्दांचक्रे । 20 √कुर्द्, 21 √खुर्द्, 22 √गुर्द् और 23 √गुद्

को दीर्घ हो। ऊर्दते, ऊर्दांचक्रे । 20 √कुर्द्, 21 √खुर्द्, 22 √गुर्द् और 23 √गुद्

(i) **काशिका के अनुसार व्याख्या :** 'उपधा' से उपान्त्य वर्ण लिये जाते हैं[1], जो प्रकृत में 'र्वोः' से प्रोक्त हैं। अतः उपधावर्णों और रेफ-वकारों में अभेद संबंध के कारण सप्तम्यन्त 'उपधायाम्' षष्ठ्यंत 'र्वोः' के अनुकूल षष्ठ्यंत 'उपधयोः' में बदल जाता है। 'हलि' पर-सप्तमी है तथा **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (1.1.66) के कारण पूर्ववर्ती 'र्वोः' से इसका संबंध है। अतः 'हलि र्वोः' का अर्थ 'हलि परतः पूर्वयोः र्वोः= हल्परयोः र्वोः' निष्पन्न होता है। अतः सूत्र के पदों का अन्वय यों होगा : धातोः उपधायाम् (=उपधयोः) र्वोः हलि (=हल्परयोः) उपधाया इको दीर्घः। अर्थात् धातु की उपधा (उपांत्य वर्णों) के रूप में विद्यमान (तथा) हल्परक रेफ और वकार की उपधा (उपांत्य वर्ण-) स्वरूप इक् को दीर्घ होता है।[2]

(ii) **दीक्षितजी के अनुसार व्याख्या :** 'उपधायाम्' (7.1) से अनुगत उपधा (उपांत्य वर्ण) से अभेद संबंध के कारण दीक्षितजी ने 'र्वोः' को सप्तम्यंत माना प्रतीत होता है। उपधा (उपांत्य वर्ण) प्रकृत में चूंकि रेफ और वकार दा हैं, अतः 'उपधायाम्' पद 'र्वोः' के अनुकूल द्विवचन में परिणत हो जाता है। उनके अनुसार अन्वय तथा अर्थ यों हैं : धातोः उपधायाम् (=उपधयोः 7.2) र्वोः 7.2 हलि इको दीर्घः। अर्थात् धातु की उपधा के रूप में विद्यमान तथा हल्परक रेफ और वकार बाद में होने पर (उनसे पूर्ववर्ती) इक् को दीर्घ होता है।[3]

समीक्षा—दीक्षितजी की व्याख्या में 'उपधायाः' की अनुवृत्ति न करने का

---

1. **अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा** (1.1.65) तथा इस पर म० भा०, वा० 7 : **अलोऽन्त्यात् पूर्वोऽल् उपधेति वा,** और 8 : **अवचनाल्लोकविज्ञानात्सिद्धम्।**

2. का० : **धातोरुपधा-भूतौ यौ रेफ-वकारौ हल्परौ, तयोरुपधाया इको दीर्घो भवति।** प० म० : **'र्वोरुपधायाः०' इत्यादि सर्वमनुवर्तते। इदमुपधा-ग्रहणं र्वोर्विशेषणम्, षष्ठीद्विवचनस्य तु स्थाने सप्तम्येकवचनम्। प्रकृतमुपधाग्रहणमिको विशेषणम्। तच्चर्वपेक्षं पूर्वत्वं प्रतिपादयति।** प्र० : **···धातोरुपधे यौ रेफ-वकारौ, तयोरुपधाया इको दीर्घः।** उ० भी देखें।

3. इस सूत्र की दीक्षितजी की वृत्ति के अलावा त० बो० तथा निम्नोद्धृत बा० म० : **'सिपि धातोः०' इत्यतो 'धातोः' इत्यनुवर्तते ; 'र्वोरुपधाया०' इत्यतो 'र्वोः इको दीर्घ' इति; 'हलि च' इत्यतो 'हलि' इति चानुवर्तते। 'उपधयोः' इत्यर्थे 'उपधायाम्' इत्यार्षम्।**

लाघव तो है, किन्तु इससे उन्हें 'र्वोः' को सप्तम्यन्त मानना पड़ा है। यह पद अपने सारे प्रकरण में षष्ठ्यन्त ही है। इसी प्रकार इस सारे प्रकरण में 'उपधायाः' की अनुवृत्ति भी पूर्व और पश्चात् के सब सूत्रों में दीक्षितजी को भी अभिमत है। प्रकृत सूत्र में करने पर भी आपत्ति नजर नहीं आती। 'र्वोः' की षष्ठ्यंतता ही काशिका, न्यास, प० म० और प्रदीप में बताई भी है। अतः व्यर्थ ही पूर्वाचार्यपरंपरा का विरोध भी इस व्याख्या में होता है। अतः काशिकोक्त व्याख्या उचित है।

'उपधायाम्' की सप्तमी पर विचार : प्रकृत सूत्र में यदि 'र्वोः' के अनुकूल 'उपधयोः' कहा जाता, तो 'र्वोः' के साथ संबंध के कारण यह षष्ठ्यंत ही रहता। परिणामतः पूर्व सूत्र से षष्ठ्यंत पद की अनुवृत्ति यहाँ नहीं हो पाती और अर्थ बनता : धातु के हल्परक तथा उपधा-भूत रेफ और वकार के इक् (संप्रसारण ?) को दीर्घ हो। यह अर्थ लक्ष्यों के अनुकूल नहीं है। यदि 'उपधयोः' में सप्तमी व्याख्यान से ली जाये, तो 'र्वोः' में भी वही करनी पड़ेगी तथा ऐसी स्थिति में 'उपधायाः' की अनुवृत्ति अनावश्यक होगी। इस प्रकार बहुत-सी बातें व्याख्या के रूप में कल्पित करनी पड़ेंगी।

'उपधायाम्' में सप्तमी, और उसका भी एक वचन, करने पर कोई दिक्कत नहीं आती। हाँ, 'उपधा' शब्द यहाँ 'वर्ण' अर्थ में न होकर उसके 'उपांत स्थान' अर्थ में प्रतीत होता है[1] : धातु के उपांत में स्थित हल्परक रेफ-वकारों के उपधावर्ण इक् को दीर्घ होता है।

शङ्का—'उपधायां च' सूत्र अनावश्यक है, क्योंकि 'ऊर्दते', 'कूर्दते' आदि में **हलि च** से ही 'हल्परयोः रेफवकारयोरिको दीर्घो भवति' (हल् पर रहते जो रेफ तथा वकार उनके परे रहने पर इक् को दीर्घ होता है) व्याख्या से दीर्घ हो सकता है।

उत्तर—हलि च की उपर्युक्त व्याख्या आपत्तियुक्त है। क्योंकि इसके अनुसार तो 'दिवमिच्छति दिव्यति', 'पुरमिच्छति पुर्यति' जैसे प्रयोगों में अनभीष्ट दीर्घ प्राप्त हो जाता है। अतः **हलि च** में 'धातोः' की **सिपि धातो रुर्वा** (8.2.74) से अनुवृत्ति आवश्यक है। अनुवृत्ति होने पर 'र्वोः' पद 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदंतविधि होती है। फलतः 'रेफवान्तयोर्धात्वोः इको हलि दीर्घो भवति' (रेफ तथा वांत

---

1. अष्टाध्यायी में 'उपधा' शब्द 11 बार असंदिग्ध रूप से 'वर्ण' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इस सूत्र के अलावा सर्वत्र यह षष्ठी में प्रयुक्त है। यहाँ प्रयुक्त सप्तमी अवश्य ही अभिप्राय-विशेष की सूचक है। अतः हमने अधिकरणार्थक विभक्ति से 'स्थान' अर्थ की कल्पना की है। बा० म० का इसे 'आर्ष' प्रयोग बताना कुछ अर्थ नहीं रखता : 'ऋषि' ने यह विचित्र प्रयोग आखिर क्यों किया ?

चक्रे । 20 कुर्द, 21 खुर्द, 22 गुर्द, 23 गुद क्रीडायामेव ॥ 18 ॥ कूर्दते, चुकूर्दे; खूर्दते; गूर्दते, जुगूर्दे; गोदते, जुगुदे । 24 षूद क्षरणे ॥ 19 ॥ सूदते, सुषूदे ।

खेल-कूद करना अर्थ में हैं ॥ 18 ॥ कूर्दते इत्यादि । 24 √षूद् क्षरित होना अर्थ में है । सूदते, सुषूदे ।

धाओं के इक् को हल् परे रहते दीर्घ होता है) अर्थ होता है । इस व्याख्या से न तो 'पुर्यति' (√पुर्य) तथा 'दिव्यति' (√दिव्य) में दीर्घ प्राप्त होता है, और न ही 'ऊर्दते', 'कूर्दते' आदि में प्राप्त होता है । अतः **उपधायां च** सूत्र अप्राप्त में प्राप्ति के लिये आवश्यक है ।

√उर्द् में हल् (द्) परे रहने पर उपधा रेफ से पूर्ववर्ती इक् (उ) को दीर्घ हो जाता है : √ऊर्द् । इसी प्रकार आगे की √कुर्द् आदि में भी दीर्घ हो जाता है ।

लिट् में गुरुमान् इजादि होने से 'एधांचक्रे' आदि की तरह आम् तथा उसके साथ की प्रक्रिया होती है : ऊर्दाञ्चक्रे, ऊर्दाञ्चक्राते, ऊर्दाञ्चक्रिरे; ऊर्दाञ्चकृषे, ऊर्दाञ्चक्राथे, ऊर्दाञ्चकृढ्वे; ऊर्दाञ्चक्रे, ऊर्दाञ्चकृवहे, ऊर्दाञ्चकृमहे । इसी तरह ऊर्दामास, ऊर्दामासतुः, ऊर्दामासुः; ऊर्दामासिथ, ऊर्दामासथुः, ऊर्दामास; ऊर्दामास, ऊर्दामासिव, ऊर्दामासिम; एवम् ऊर्दाम्बभूव, ऊर्दाम्बभूवतुः, ऊर्दाम्बभूवुः; ऊर्दाम्बभूविथ, ऊर्दाम्बभूवथुः, ऊर्दाम्बभूव; ऊर्दाम्बभूव, ऊर्दाम्बभूविव, ऊर्दाम्बभूविम ।

अन्य लकारों में ऊर्दिता, ऊर्दिष्यते, ऊर्दताम्, और्दत, उर्देत, ऊर्दिषीष्ट, और्दिष्ट, और्दिष्यत रूप बनते हैं ।

20 कुर्द्, 21 खुर्द्, 22 गुर्द्, 23 गुद्—धातु केवल क्रीडा (खेलना, उछलना-कूदना) अर्थ में ही हैं । ये धातु अकर्मक हैं । यहाँ 'एव' के ग्रहण से प्रतीत होता है कि इन धातुओं के अतिरिक्त धातुओं का अर्थनिर्देश उपलक्षण मात्र है । इसीलिए **'अनेकार्थाः धातवः'** वैयाकरणों का सिद्धान्त है । धातुओं के बतलाये हुए अर्थों से अन्य भी बहुत-से अर्थ होते हैं, पर √ऊर्द् आदि धातु क्रीडा अर्थ में ही होती हैं ।

√कुर्द्, √खुर्द्, तथा √गुर्द् धातुओं में √ऊर्द् की तरह ही **उपधायां च** से दीर्घ होता है । रूप तथा प्रक्रिया भी √ऊर्द् की तरह ही होती है । लिट् में हलादि होने से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य हो कर 'चुकूर्दे' आदि रूप बनते हैं । कूर्दते, चुकूर्दे, कूर्दिता, कूर्दिष्यते, कूर्दताम्, अकूर्दत, कूर्देत, कूर्दिषीष्ट, अकूर्दिष्ट, अकूर्दिष्यत ।

√गुद् धातु के 'गोदते' आदि रूपों में **पुगन्त-लघूपधस्य च** से गुण होता है : गोदते, गोदेते, गोदन्ते इत्यादि ।

√गुद् से लिट् में **असंयोगाल्लिट् कित्** से लिट् में कित् होने से गुण का निषेध

सेक्-सृप्-सृ-स्तृ-सृज्-स्तृ-स्त्याऽन्ये दन्याजन्त-सादयः ।
एकाचः षोपदेशाः ष्वष्क-स्विद्-स्वद्-स्वञ्ज-स्वप्-स्मिङः ॥

1 √सेक्, 2 √सृप्, 3 √सृ, 4 √स्तृ, 5 √सृज्, 6 √स्तृ, 7 √स्त्यै धातुओं से भिन्न सकारादि और उसके बाद दन्त्य (तवर्गीय) अथवा स्वर वर्ण वाली एकाक्षर धातु उपदेश में षकार्वान् हैं। इसी प्रकार 1 √ष्वष्क्, 2 √स्विद्, 3 √स्वद्, 4 √स्वञ्ज्, 5 √स्वप् और 6 √स्मिङ् भी उपदेश में षकारादि हैं।

होता है। जुगुदे, जुगुदाते, जुगुदिरे, जुगुदिषे, इत्यादि रूप होते हैं। गोदिता, गोदिष्यते, गोदताम्, अगोदत, गोदेत, गोदिषीष्ट, अगोदिष्ट, अगोदिष्यत।

24 **सूद्** (षोपदेश, प्रयोग में √सूद्) धातु का अर्थ झरना, निचुड़ना (अकर्मक) तथा निचोड़ना (सकर्मक) है।

प्रयोगों को देखते हुए इस धातु का अर्थ 'हनन' उचित है। 'क्षरण' अर्थ में इसका प्रयोग लाक्षणिक रूप में तथा पर्याप्त अर्वाचीन काल में भी कम ही हुआ लगता है। धातुपाठोक्त अर्थ को दृष्टि में रखते हुए 'मधुसूदन', 'केशिनिषूदन' आदि में हननार्थ में इसका प्रयोग लाक्षणिक है। 'निचोड़ना' अर्थ ही अन्वयानुपपत्ति से 'प्राण निचोड़ना', 'निष्प्राण करना', 'मारना' अर्थ में विकसित हो गया है। सर्वप्रथम इसका हननार्थ में प्रयोग प्रयोजनवती लक्षणा से 'निचोड़ना', 'सर्वथा निर्दय होकर मारना' इस विशेष अर्थ से हुआ होगा। इस अर्थ (लक्ष्यार्थ) में भी भौवादिक की अपेक्षा चौरादिक **षूद क्षरणे** का प्रयोग ही अधिक देखा जाता है।

√षूद् में पूर्वोक्त **धात्वादेः षः सः** से 'ष्' को 'स्' हो जाता है; धातु √सूद् रह जाती है। दीर्घोपध होने से गुण नहीं होता। सूदते, सुषूदे, सूदिता, सूदिष्यते, सूदताम्, असूदत, सूदेत, सूदिषीष्ट, असूदिष्ट, असूदिष्यत।

लिट् में 'सु+सूद्+ए' स्थिति में अभ्यासोत्तर 'सू' के सकार को आदेश का सकार होने से **आदेश-प्रत्यययोः** से मूर्धन्य आदेश हो जाता है : सुषूदे।

षोपदेश-विचार : दन्त्य-सकारादि के रूप में प्रयुक्त होने वाली धातु दो प्रकार की हैं : (अ) इण् से परे होने पर जिनके दंत्य स् को मूर्धन्यदेश हो जाता है, जैसे 'स्थिति', 'निष्ठा'; (आ) जिसके इण् से परस्थ स् को ष् नहीं होता। इसके स्पष्ट परिज्ञान के लिये पाणिनि ने (अ) कुछ धातुओं का उपदेश मूर्धन्य षकार से करके इस सूत्र से उसे सत्व-विधान किया और जहाँ मूर्धन्य अपेक्षित होता है, उन परिस्थितियों में **आदेश-प्रत्यययोः** से आदेशज सकार होने के कारण मूर्धन्यादेश किया है; यदि वे ऐसा नहीं करते, तो उन्हें **आदेश-प्रत्यययोः** में 'आदेश' के स्थान में उन सब धातुओं

दन्त्यः—केवल-दन्त्यो, न तु दन्तोष्ठजोऽपि, ष्वष्कादीनां पृथग् ग्रहणाज्ज्ञापकात् ॥ 37 ॥

यहाँ 'दंत्य' से सिर्फ दंत स्थान से उच्चारित वर्ण (अभिप्रेत है), न कि दाँत और ओंठ दोनों से उच्चारित भी। √ष्वष्क् आदि का अलग से ग्रहण इसका सूचक है ॥ 37 ॥

को देना पड़ता[1]; (आ) इनसे अन्य, सब परिस्थितियों में दंत्यादि ही रहने वाली धातुओं का उपदेश स्पष्टतः दंत्यादि के रूप में ही धातु-पाठ में किया है।

उपदेश हमारे यहाँ मौखिक ही रहा है। यदि लिखित रूप में भी हो, तो उसमें लेखक-प्रमाद आदि के कारण पाठ-भ्रंश की बहुत सम्भावना होती है।[2] अतः इनके सरलता से ज्ञान के लिये आचार्य पतंजलि ने षोपदेश धातुओं का लक्षण बनाया तथा उसके अपवाद धातुओं को परिगणित कर दिया : **अज्दन्त्य-पराः सादयः षोपदेशाः, स्मिङ्-स्वदि-स्विदि-स्वञ्जि-स्वपयश्च, सूपि-सृजि-स्तृ-स्त्या-सेकृ-सृ-वर्जम्।** कुछ परिवर्धन (धातु-सङ्ख्या में) करके दीक्षितजी ने इसी आशय को अनुष्टुप् छंद में निबद्ध कर दिया है।

पतंजलि के अनुसार षोपदेश धातुओं का लक्षण : अज्दन्त्य-पराः सादयः षोपदेशाः—वे धातु उपदेश में षकार(मूर्धन्य)वाली हैं, जिनके आदि में दंत्य सकार मिलता है, तथा उस सकार के बाद (i) या तो कोई स्वर है, या (ii) कोई दंत्य व्यंजन है।

अच् 'ल्तृ' से भिन्न 'दंत्य' वर्ण दो प्रकार के हैं : (i) केवल दंत्य, अर्थात् तवर्गीय[3] व्यंजन, एवं (ii) दंत्योष्ठ्य वकार। (i) केवल दंत्य-पर (तवर्गपरक) सादि तो प्रायेण सभी षोपदेश हैं। जो नहीं हैं, उन √स्तृ तथा √स्त्या का परिगणन आचार्य ने पर्युदासवाक्य में कर दिया है। (ii) दंत्योष्ठ्यपरक सादि धातुओं में कुल (चार) ही धातु षोपदेश हैं, अतः उनका परिगणन आचार्य ने पृथक् से कर दिया है। इससे सिद्ध होता है कि इनसे अन्य दंत्योष्ठ्यपरक सादि धातु अषोपदेश (दंत्यादि) ही

---

1. म० भा० 6.1.64, पृष्ठ 361 : **अथ किमर्थं षकारमुपदिश्य तस्य सकार आदेशः क्रियते, न सकार एवोपदिश्यते ? लघ्वर्थमित्याहुः। कथम् ? अविशेषेणायं षकारमुपदिश्य सकारमादेशमुक्त्वा लघुनोपायेन षत्वं निर्वर्तयति 'आदेश-प्रत्यययोः' (8.3.59) इति। इतरथा हि येषां षत्वमिष्यते, तेषां तत्र ग्रहणं कर्तव्यं स्यात्।**
2. प्र० : **'के पुनः ? इति—पाठ-भ्रंश-सम्भवात्प्रश्नः।**
3. सकारादि धातु के स् के बाद पुनः सकार उपलब्ध नहीं है, इस लिये 'तवर्गीय' लिखा है।

हैं। इस लिये यहाँ लक्षण-वाक्य में 'दंत्य' शब्द से (1) केवल दंत्य, अर्थात् तवर्ग ही पतंजलि को इष्ट है।[1]

इस लक्षण में 'स्मिङ्' नहीं आती। पर लक्ष्यों में उसके सकार को षकार होता है तथा धातुपाठ की परंपरा में उसे षोपदेश माना भी जाता है, अतः उसका परिगणन पृथक् से किया है। दंत्योष्ठ्य-परक सादि धातुओं के पूर्व परिगणन का कारण सम्भवतः उसकी आदि-वर्णानुक्रम में पूर्वभाविता है।

'ष्वष्क्' भी लक्षण-वाक्य में नहीं आती है। वार्तिकार ने √ष्वष्क् के आदिम षकार को **धात्वादेः षः सः** से प्राप्त सत्व के निषेध का निवारण करने की आवश्यकता बताई है : **सादेशे सुब्धातु-ष्ठिवु-ष्वष्कतीनां प्रतिषेधः (धात्वादेः षः सः** 6.1.63 पर वा० 1)। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य-परंपरा में यह धातु भी षोपदेश मानी जाती रही है। पतंजलि ने इस वार्तिक का खंडन किया है। अतः पतंजलि भी इसे सोपदेश मानते है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार इसकी षोपदशता अन्य प्रकार से सिद्ध होने के कारण पतंजलि ने लक्षण-वाक्य में इसका ग्रहण नहीं किया। दीक्षितजी ने सब आचार्यों का मत संगृहीत किया है और इसका भी परिगणन अपनी षोपदेश-लक्षण-कारिका में किया है।

षोपदेश-पर्युदास-वाक्य में भाष्य, काशिका, न्यास और पदमंजरी में 1 **सृप्लृ गतौ** (भ्वा०), 2 **सृत्र विसर्गे** (दि०, तु०), 3 **स्त्यै शब्दसङ्घातयोः** (भ्वा०), 4 **सेकृ··· गत्यर्थाः** (भ्वा०), 5 **सृ गतौ** (भ्वा०, जु०) ये गण-भेदेन सात धातु ऐक-मत्येन पठित अभिप्रेत हैं। किंतु √स्तृ के पाठ पर मत-भेद है : (1) भाष्य और काशिका में ह्रस्वांत 'स्तृ' उपलब्ध है। इससे **स्तृञ् आच्छादने** (स्वा०) का ग्रहण होना चाहिये। (2) न्यास और पद-मंजरी में 'स्तृ' से दीर्घांत **स्तृञ् आच्छादने** लिया है, जो क्र्यादिक है। दीर्घांत की सोपदेशता लक्ष्यों से भी सूचित होती है[2] : ऋग्वेदसंहिता के 'तिस्तिराणा,'

---

1. प्र० : **'दन्त्य'-ग्रहणेन वकारो न गृह्यत इत्याशङ्का स्यादिति स्विदादयो† भेदेन निर्दिष्टाः।** † भाष्य में 'स्विदि' का पाठ 'स्वदि' के पश्चात् उपलब्ध है। प्र०, प० म० और न्यास में 'स्मिङ्' के बाद 'स्विदि' ही बताई है। न्यास और प० म० के अनुसार यहाँ 'स्वदि' सर्वसम्मत नहीं है।

2. ऋ० 1.108.4 : **यत-स्रुचा बर्हिरु तिस्तिराणा;** 3.41.2 : **तिस्तिरे बर्हिरानुषक्** तथा मै० सं० 1.8.3. ये प्रयोग क्र्यादिक के ही हैं : (1) 'तिस्तिरे' के प्रयोग के समान स्थल **'स्तृणीत बर्हिरानुषक्'** (ऋ० 1.13.5) में क्र्यादिक का स्पष्ट प्रयोग है; (2) इर् तथा उर् दीर्घ ऋकार के स्थान में ही होते हैं, ह्रस्व के स्थान में नहीं। सौवादिक ह्रस्वांत है, जबकि क्र्यादिक दीर्घांत।

'तिस्तिरे', मै० सं० के 'तुस्तूर्षते' और 'तुस्तूर्षमाणस्य' प्रयोग क्रैयादिक की सोपदेशता में ही सम्भव हैं। (3) मा० धा० वृ० में ह्रस्वांत सौवादिक √स्तृ को तो कंठतः सोपदेश बताया ही है[1], दीर्घांत क्रैयादिक के सोपदेश-घटित 'तिस्तीर्षति', 'तिस्तरिषति' रूप देने से इसकी भी सोपदेशता ही सूचित होती है, अन्यथा (षोपदेशता होने पर) यहाँ **आदेश-प्रत्यययोः** से प्राप्त षत्व का निवारण सम्भव नहीं है। सायण द्वारा दोनों को सोपदेश मानने के पीछे निम्न हेतु हो सकते हैं : (1) क्रैयादिक √स्तृ के दीर्घ को शित् प्रत्यय बाद में होने पर **प्वादीनां ह्रस्वः** (7.3.80) से ह्रस्व हो कर बहुत से रूपों में 'स्तृ' रूप प्राप्त हो जाता है। अतः भाष्यकार को 'स्तृ' कहने से कदाचित् √स्तृ और √स्तृ दोनों ही अभिप्रेत हैं। लक्ष्यों की दृष्टि से दोनो सोपदेश हैं ही। क्रैयादिक √स्तृ से निष्पन्न 'विष्टर' और 'विष्टार' में षत्व सोपदेश न होने पर भी **वृक्षासनयोर्विष्टरः** (8.3.93) **और छन्दोनाम्नि च** (94) के विशेष विधान से हो जाता है। (2) भाष्य और काशिका को अनुमत होने से ह्रस्वांत √स्तृ को और न्यास-पदमंजरी-संमत होने से दीर्घांत √स्तृ को सायण ने लिया हो सकता है। दीक्षितजी ने उपर्युक्त कारणों से, अथवा सायण का अनुसरण करके ह्रस्वांत और दीर्घांत दोनों प्रकार की √स्तृ एवं √स्तृ को अपनी षोपदेश-कारिका में स्थान दिया है।

दीक्षितजी ने 'सृज' और 'स्वञ्ज' में अकार छंदःपूर्ति के लिये दिया है। प्रथम पाद 'स्त्या' पर पूरा होता है और 'न्ये' से दूसरा पाद प्रारम्भ होता है।

कारिका में 'अन्त' का अर्थ 'निकट' है तथा यह शब्द भाष्य के 'पर' के स्थान में है। कुछ ग्रंथों में 'सादयः' के स्थान पर 'षादयः' पाठ प्राचीन काल से है।[2] किन्तु यह भाष्यादि-विरुद्ध तो है ही, युक्ति-विरुद्ध भी है : (1) प्रकृत लक्षण धातु-पाठ में षकारवान् के रूप में उपलब्ध पाठ को संदिग्ध समझकर प्रयोग में धातु जिस रूप में है, उसे आधार बनाकर षोपदेशता का निर्णय करने के लिए है। (2) परिगणित दोनों प्रकार की धातुओं में भी दन्त्य सकार ही दिया गया है; यदि 'षादयः' पाठ अभीष्ट होता, तो √ष्वष्क् की तरह √स्विद् आदि भी षादि के रूप में ही कारिका में दी गई होतीं। (3) 'षादयः' पाठ मानने पर दन्त्य-परकता कैसे उपलब्ध होगी ? ष्टुत्व के काण मूर्धन्य वर्ण ही मिलेगा। तब '**मूर्धन्याजन्त-षादयः**' कहना उचति होता।

---

1. मा० धा० वृ० 5.5, पृष्ठ 315 : **सृपि-सृजि-स्तृ सृ० इत्यषोपदेशत्वान्न सत्वम्। अतिस्तरत्।**

2. बा० म० में मूर्धन्यादि पाठ की व्याख्या करके "**'सादयः' इति पाठेऽप्येवमेव व्याख्येयम्**" लिखा है। त० बो० में 'सादयः' पाठ की ही व्याख्या की गई है।

2.25 ह्राद अव्यक्ते शब्दे ॥ 20 ॥ ह्रादते, जह्रादे। 26 ह्लादी सुखे च ॥ 21 ॥ चादव्यक्ते शब्दे। ह्लादते। 27 स्वाद आस्वादने ॥ 22 ॥ स्वादते। 28 पर्द कुत्सिते शब्दे ॥ 23 ॥ पर्दते। 29 यती प्रयत्ने ॥ 24 ॥

एधादि द्वितीय धातु-वर्ग की शेष 12 धातु

2.25 √ह्राद् (स्वर-व्यंजनादि के रूप में) अस्पष्ट आवाज़ अर्थ में है ॥ 20 ॥ ह्रादते, जह्रादे। 26 √ह्लाद् सुख होने में भी ॥ 21 ॥ 'भी' कहने से 'अव्यक्त आवाज़' अर्थ में है। ह्लादते। 27 √स्वाद् चखना, भाना अर्थ में है ॥ 22 ॥ 28 √पर्द् बुरी आवाज़ करना (पादना) अर्थ में है ॥ 23 ॥ पर्दते। 29 √यत्

'एकाचः' पर विचार : भाष्य के प्रकृत स्थल में यद्यपि परिगणित धातु एकाच् ही दी हैं, तथापि 'एकाच् धातु ही षोपदेश होती हैं', यह स्पष्टतः नहीं कहा है; परन्तु **धातोरेकाचो हलादेः०** (3.1.22) के भाष्य में √सूच, और √सूत्र (चौरादिक अनेकाच्) धातुओं से यङ् का उपसंख्यान करके 'सोसूच्यते', 'सोसूत्र्यते' प्रयोगों में 'सू' में षत्व नहीं किया है। इससे सूचित होता है कि वे इन धातुओं को सोपदेश ही मानते हैं। यह तभी संभव है, जब उन्हें षोपदेशता एकाच् की ही इष्ट हो, अनेकाचों की नहीं। दीक्षित जी ने कारिका में 'एकाचः' विशेषण इसी आधार पर दिया लगता है ॥ 37 ॥

2.25 √ह्राद् बिजली कड़कना, गरजना जैसी आवाज़ अर्थ में रूढ है। वा० म० में 'मानवीय बोली से भिन्न बोली' अर्थ किया है। यह अकर्मक है। ह्रादते, जह्रादे, ह्रादिता, ह्रादिष्यते, ह्रादताम्, अह्रादत, ह्रादेत, ह्रादिषीष्ट, अह्रादिष्ट, अह्रादिष्यत।

√ह्लाद् सुख अनुभव करना तथा अव्यक्त शब्द अर्थ में भी बताई है। 'सुख' अर्थ में प्रयोग प्रचुर होता है, 'अव्यक्त शब्द' अर्थ में अप्रसिद्ध ही है। अनुदात्त 'ई' की इत्संज्ञा से आत्मनेपद होता है तथा निष्ठा (क्त, क्तवतु) में इट् नहीं होगा : **श्वीदितो निष्ठायाम्** (7.2.14)—√श्वि और ई की इत्संज्ञा वाली धातु के पश्चात् निष्ठा में इट् नहीं होता—प्रह्लन्नः, प्रह्लन्नवान्। **ह्लादो निष्ठायाम्** (6.4.95) से आ का ह्रस्व हो जाता है। 'आह्लादित' आदि इकारवान् शब्द कृदन्त नहीं, अपितु तद्धितांत हैं : **आह्लादः संजातोऽस्य, स आह्लादितः** अर्थ में **तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्** (5.2.36) से इतच् प्रत्यय से निष्पन्न हैं।

27 √स्वाद् आस्वादन (स्वाद लेना) अर्थ में सकर्मक है : मोदकं स्वादते (लड्डू का स्वाद लेता है)। स्वादते, सस्वादे, स्वादिता, स्वादिष्यते, स्वादताम्, अस्वादत, स्वादेत, स्वादिषीष्ट, अस्वादिष्ट, अस्वादिष्यत। 28 √पर्द् कुत्सित शब्द (पादना, अपान-शब्द करना) अर्थ में अकर्मक है। पर्दते, पपर्दे, पर्दिता, पर्दिष्यते,

यतते, येते। 30 युतृ, 31 जुतृ भासने ॥ 25 ॥ योतते, युयुते; जोतते, जुजुते। 32 विथृ, 33 वेथृ याचने ॥ 26 ॥ विविथे; विवेथे। 34 श्रथि शैथिल्ये ॥ 27 ॥ श्रन्थते। 35 ग्रथि कौटिल्ये ॥ 28 ॥ ग्रन्थते। 36 कत्थ श्लाघायाम् ॥ 29 ॥ कत्थते।

कोशिश करना अर्थ में है ॥ 24 ॥ यतते, येते। 30 √युत्, 31 √जुत् चमकना अर्थ में हैं ॥ 25 ॥ योतते, युयुते; जोतते, जुजुते। 32 √विथ्, 33 √वेथ् माँगने में हैं ॥ 26 ॥ विविथे। 34 √श्रथ् ढीला होने में है ॥ 27 ॥ श्रन्थते, 35 √ग्रथ् कुटिलता करना अर्थ में है ॥ 28 ॥ ग्रन्थते। 36 √कत्थ् शेखी मारना अर्थ में है ॥ 29 ॥ कत्थते।

पर्दताम्, अपर्दत, पर्देत, पर्दिषीष्ट, अपर्दिष्ट, अपर्दिष्यत।

29 √**यत्** धातु प्रयत्न (कोशिश करना) अर्थ में अकर्मक है। 'ई' की इत्संज्ञा से निष्ठा में इट् नहीं होगा : प्रयत्तम्, प्रयत्तवान्। प्रयतितम, प्रयतितवान् (इट् वाले) प्रयोग गलत हैं। यतते। लिट् में एत्त्व तथा अभ्यासलोप : येते। यतिता, यतिष्यते, यतताम्, अयतत, यतेत, यतिषीष्ट, अयतिष्ट, अयतिष्यत। 30 √**युत्**, 31 √**जुत्** धातु चमकना अर्थ में (अकर्मक) हैं। दोनों अप्रसिद्ध हैं। दोनों में 'ऋ' की इत्संज्ञा होने से णिच् की प्रक्रिया में लुङ् में चङ् परे रहते प्राप्त उपधाह्रस्व का निषेध हो जाता है : अयुयोतत्, अजुजोतत्। योतते, युयुते, योतिता, योतिष्यते, योतताम्, अयोतत, योतेत, योतिषीष्ट, अयोतिष्ट, अयोतिष्यत। 31 √**जुत्** के रूप भी ऐसे ही जोतते आदि होंगे। यह धातु √द्युत् से प्राकृत पद्धति से निष्पन्न रूप को वैयाकरणों द्वारा स्वीकृति का परिणाम प्रतीत होती है। तुलनीय विद्युत्=बिज्जु=बिजुली/बिजुरी=बिजली।

32 √**विथ्**, 33 **वेथ्** का अर्थ माँगना है। ऋदित् होने से णिच्, लुङ् में पूर्ववत् उपधाह्रस्व नहीं होता; दोनों का समान 'अविवेथत्' रूप ही होता है। लिट् में √विथ् के कित्परत्वेन गुण-निषेध के कारण 'विविथे', 'विविथाते', आदि रूप बनते हैं तथा √वेथ् के एकारवान् 'विवेथे', 'विवेथाते' आदि। शेष लकारों में दोनों धातुओं के रूप समान ही होते हैं : √विथ् में गुण होने के कारण धातु का अंग √वेथ् ही बन जाता है, अतः वेथिता, वेथिष्यते, वेथताम्, अवेथत, वेथेय, वेथिषीष्ट, अवेथिष्यत। निष्ठा में 'विथितम्', 'वेथितम्' रूप होते हैं।

34 √**श्रथ्** धातु शिथिलता (ढीला होना, खिसकना) अर्थ में (अकर्मक) है। 'इ' की इत्संज्ञा होने से **इदितो नुम् धातोः** से नुम् होता है। अनुस्वार, परसवर्ण पूर्ववत्। **ग्रन्थिः श्रन्थते** (गाँठ ढीली होती है)। खिसकने की अपेक्षा ढीला होने में इसका प्रयोग अधिक होता है। कुछ लोग इसे सकर्मक (ढीला करना, खिसकना अर्थ में) बतलाते हैं।

एधादयोऽनुदात्तेतो गताः ॥ 38 ॥

(3) अथाष्टात्रिंशत्तवर्गीयान्ताः परस्मैपदिनः—

√एध् आदि अनुदात्त की इत्संज्ञा वाली धातु समाप्त हुई ॥ 38 ॥

तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयान्त, परस्मैपदी : क : 1-10 धातुएँ

(3) अब अड़तीस धातु तवर्गीयान्त परस्मैपदी हैं—

श्रन्थते, शश्रन्थे, श्रन्थिता, श्रन्थिष्यते, श्रन्थताम्, अश्रन्थत, श्रन्थेत, श्रन्थिषीष्ट, अश्रन्थिष्ट, अश्रन्थिष्यत ।

35 √**ग्रथ्** धातु कौटिल्य (गूँथना) अर्थ में (सकर्मक) है । इदित् होने से नुम् : **ग्रन्थते पुष्पदाम** (फूलों की माला गूँथता है) । बालमनोरमा के अनुसार 'टेढ़ा होना' अर्थ में (अकर्मक) है । ग्रन्थते, जग्रन्थे, ग्रन्थिता, ग्रन्थिष्यते, ग्रन्थताम्, अग्रन्थत, ग्रन्थेत, ग्रन्थिषीष्ट, अग्रन्थिष्ट, अग्रन्थिष्यत ।

36 √**कत्थ्** बड़बोली करना अर्थ में सकर्मक है । बालमनोरमा तथा तत्त्व-बोधिनी के अनुसार कर्म में अविद्यमान गुणों को बतलाना श्लाघा होती है ।[1] यह धातु 'वि' उपसर्ग के साथ बहुत प्रयुक्त होती है । कत्थते, चकत्थे, कत्थिता, कत्थि-ष्यते, कत्थताम्, अकत्थत, कत्थेत, कत्थिषीष्ट, अकत्थिष्ट, अकत्थिष्यत ।

द्वितीय वर्ग का विश्लेषण : प्रथम धातुवर्ग में भ्वादिगण की आरम्भिक √भू को देने के पश्चात् द्वितीय धातुवर्ग में 29 धातु-सूत्रों में 36 तवर्गीयांत आत्म-गामि क्रिया फल वाली धातु दी हैं । इनमें आचार्य ने 6 धकारांत, 21 दकारांत, 3 तकारांत, तथा 6 थकारात धातु दी हैं । आदि-वर्णानुक्रम का ध्यान बिल्कुल नहीं रखा है, अत्य-वर्णानुक्रम भी कुछ-कुछ प्रत्याहारसूत्रों के अनुसार दिया है : घ्, द्, त्, थ् का क्रम रखा है । √नाथ् (तवर्ग-द्वितीयान्त) सम्भवतः √नाध् (तवर्ग-चतुर्थान्त) से अर्थ-साम्य के कारण ही धकारान्तों (तवर्ग-चतुर्थान्तों) में दी है ।

अर्थ-निर्देश भी निर्भ्रान्त क्रिया को बतलाने में असमर्थ है : (क) √बाध्, √सूद्, √ग्रथ् के अर्थ प्रमाण हैं; (ख) अभिधीयमान धातु के भाव-कृदन्त शब्द से ही अर्थ-निर्देश भी कोई अच्छा अर्थ-निर्देश नहीं है : √स्वद्, √स्वाद्, √यत्, द्रष्टव्य हैं ।

1 √भू और 36 धातु इस द्वितीय वर्ग की, कुल मिला कर 37 धातु आ चुकी हैं ॥ 38 ॥

तृतीय धातु-वर्ग का विश्लेषण : तीसरे धातु-वर्ग में तवर्गीयान्त परस्मैपदी धातु दी हैं । दीक्षितजी ने इनकी संख्या अड़तीस बताई है, किन्तु धातुसूत्रान्तर्गत

---

1. त० बो० : **अविद्यमान-गुण-सम्बन्ध-ज्ञापनं श्लाघा ।**

1 अत सातत्यगमने ॥ 1 ॥ अतति । अत आदेः (सू० 2248)—आत,

1 √अत् निरन्तर चलना अर्थ में है ॥ 1 ॥ अतति । 'अत आदेः' (से दीर्घ)—

धातु केवल 37 हैं : 4 √श्च्युत् के बाद यकार-रहितत्वेन प्रोक्त 5 √श्चुत् को मिला कर यह संख्या पूरी होती है। √श्चुत् क्षीर-स्वामी के अनुसार कौशिक के मत में है। सायण के कथन के अनुसार √श्चुत् यहाँ कुछ लोगों के मत में √श्च्युत् के अतिरिक्त है। दीक्षितजी ने उन्हीं का अनुसरण किया है। क्षीर-स्वामी ने यहाँ धातुएँ 35 बताई हैं : क्षी० त० में उपर्युक्त √श्चुत्, √मथि तथा √गण्ड् यहाँ नहीं हैं। तवर्गान्तों में डकारांत धातु का परिगणन उचित नहीं है। विशेष रूप से तब, जबकि यह टवर्गांतों में अपने स्थान (9.70) पर बाद में इसी अर्थ तथा पद में दी हुई है।

दीक्षितजी-प्रोक्त 38 धातुओं में (श्चुत्-समेत) 6 तकारांत हैं, जिनमें से √अन्त् दकारांतों में √अन्द् के साथ (उससे पूर्व) दी है, फिर धकारांत हैं, फिर 3 तकारांत धातु हैं, जिनमें से एक √शुन्ध् दकारांतों के बाद धातु-वर्ग के अंत में है, तथा दो अपने क्रम में थकारांतों के बाद हैं; उसके बाद 23 दकारांत धातु हैं, जिनमें एक √क्लिन्द् इसी अर्थ में पिछले धातु-गण में आ चुकी है। उभयपदी दकारांत धातुओं में पाठ उचित होता।

उपदेश-काल में इन धातुओं का अंतिम अनुनासिक स्वर उदात्त है, अतः ये उदात्तेत् हैं तथा धातु का प्रमुख स्वर अनुदात्त है, किंतु उदात्त की इत्संज्ञा होने के बाद धातु का स्वर **धातोः** (6.1.162) से उदात्त हो जाता है। उदात्तेत् होने से ये धातु परस्मैपदी हैं, तथा उदात्त होने से सेट् हैं।

प्रयोग में नकारोपध धातु उपदेश में दो प्रकार की हैं : (1) नकारवान् ही। जैसे 5 **मन्थ विलोडने** तथा 38 **शुन्ध शुद्धौ**। आशीर्लिङ् में यासुट् के कित् होने के कारण इनके नकार का लोप हो जाता है। (2) इदित् होने से **इदितो नुम् धातोः** से नुमागम के कारण नकारवान्। जैसे 7 **कुथि** आदि। इनके उपधा-नकार का श्रवण सब लकारों में होता है। शेष वर्णों की इत्संज्ञा तत्तत् स्थल पर बतलाई जायेगी।

1 √अत् 'चलते रहना' अर्थ में है, और अकर्मक है : **सा** (सरस्वती) **नो विश्वा अति द्विषः स्वसृरन्या ऋतावरी। अतन्नहेव सूर्यः** (ऋ० 6.61.9)। अतति, अततः, अतन्ति; अतसि, अतथः, अतथ; अतामि, अतावः, अतामः। आत, आततुः, आतुः; आतिथ, आतथुः, आत; आत, आतिव, आतिम।

आत—√अत्+लिट्, लिट् को तिप्, तिप् को णल् (अ) : अत्+अ। अत् को द्वित्व : अत्+अत्+अ। पूर्व अत् की अभ्यास संज्ञा, **हलादिः शेषः** से आदिभिन्न हल् 'त्' का लोप : अ+अत्+अ। **अतो गुणे** से प्राप्त पररूप को बाधकर **अत आदेः**

आततुः, आतुः। लुङि 'आतिस्+ईत्' इति स्थितिः। 2266 इट ईटि (8.2.28) —इटः परस्य सस्य लोपः स्यादीटि परे। सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः (वा०)। आतीत्। आतिष्टाम्। आतिषुः। 2267 वद-व्रज-हलन्तस्याचः

आत, आततुः, आतुः। लुङ् में 'आतिस्+ईत्' स्थिति है। 2266 इट् के पश्चात् स्थित सकार का लोप हो जाए ईट् बाद में होने पर। सिच् का लोप एकादेश की कर्तव्यता में सिद्ध करना चाहिए (वा०)। आतीत्। 2267 वद् के व्रज् के और हलन्त

से अभ्यास के 'अ' को दीर्घ होता है : आ+ अत्+अ। **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्ण दीर्घ एकादेश होने पर आत्+अ=आत रूप बनता है।

थल्, व तथा म में वलादि-लक्षण इट् होता है। शेष प्रक्रिया स्पष्ट है।

अतिता, अतिष्यति, अततु, आतत्, अतेत्, अत्यात्, आतीत्, आतिष्यत्।

2266 **इटः** 5.1 **ईटि** 7.1 (8.2.28)—रात्सस्य (24), संयोगान्तस्य लोपः (23)। इटः 5.1 (परस्य) सस्य लोपः ईटि 7.1 (परे सति)—इट् से परे (स्थित) स् का लोप होता है, उसके बाद ईट् होने पर।

'इटः' ग्रहण से 'अहार्षीत्' में इट् से परे न रहने से ईट् परे रहते हुए भी स् का लोप नहीं होता। 'ईटि' ग्रहण से 'आतिष्टाम् आदि में इट् से परे रहते हुए भी स् का लोप ईट् आगे न होने के कारण नहीं होता।

सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः (वा०)—एकादेशे (कर्त्तव्ये) सिचः लोपः सिद्धो वक्तव्यः। एकादेश जब करना हो, तब पहले हो चुका सिच् का लोप सिद्ध कहना चाहिए।

यहाँ कुछ लोगों को आपत्ति है कि प्रस्तुत वार्तिक में 'सिच्' ग्रहण न करके 'सलोपः' कहना ही पर्याप्त है। पर उत्तर यह है कि वार्तिककार का अभिप्राय यहाँ 'सिचः' पद देकर यह बताने से है कि **झलो झलि** (8.2.26), **ह्रस्वादङ्गात्** (27) तथा **इट ईटि** (28), ये तीनों सूत्र सिच् के स् का ही लोप करते हैं, अन्य सकार का नहीं। इससे 'द्विष्टराम्', 'स्तोता' आदि में सिच् का स् न होने से लोप नहीं होता। नहीं तो, लोप अनिवार्य था। सूत्रकार की प्रवृत्ति से 'सिच् या सकार इनमें किसका लोप होता है', इसका निर्णायक कोई संकेत नहीं मिलता। अतः वार्तिक में सिज्ग्रहण सार्थक है। **धि च** (9.2.25) से वामन के अनुसार सिच् के स् का, और भगवान् भाष्यकार के अनुसार स् का लोप होता है।[1]

2267 **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** 6.1 (7.2.3)—अङ्गस्य 6.1 (6.4.1), सिचि 7.1

---

1. का० 8.2.25 : **धि च—इतः प्रभृति सिचः सकारस्य लोप इष्यते।** तथा म० भा०।

(7.2.3)—वदे-व्रजेर्हलन्तस्य चाङ्गस्याचः स्थाने वृद्धिः स्यात्सिचि परस्मैपदेषु। इति प्राप्ते—2268 नेटि (7.2.4)—इडादौ सिचि प्रागुक्तं न स्यात्। मा भवानतीत्, अतिष्टाम्, अतिषुः।

अंग के स्वर के स्थान में वृद्धिसंज्ञक स्वर हो जाए परस्मैपदपरक सिच् बाद में होने पर। यह सूत्र प्राप्त होने पर—2268 पूर्व में इट् वाला सिच् पश्चात् होने पर पीछे बताया कार्य (वृद्धि) नहीं हो। मा भवान् अतीत्, (मा भवन्तौ) अतिष्टाम्, (मा भवन्तः) अतिषुः।

वृद्धिः 1.1, परस्मैपदेषु 7.3 (7.2.1)। वदश्च व्रजश्च हलन्तश्च इति (तेषां समाहारो) वद-व्रज-हलन्तम्, तस्य। 'वद-व्रज' में अकार उच्चारणार्थ हैं। 'अचः' में स्थाने-षष्ठी है। पूर्वसूत्र से 'सिचि', 'परस्मैपदेषु' पदों की अनुवृत्ति होने से वे दोनों चूँकि धातु के ही प्रत्यय हैं, अतः यहाँ भी **'धातोः'** (षष्ठ्यंत विशेष्य) की उपस्थिति होती है। **वद-व्रज-हलन्तस्य (धातोः) अङ्गस्य अचः (स्थाने) वृद्धिः (भवति) सिचि परस्मैपदेषु :** √वद्, √व्रज् तथा हलंत धातु के अंग के अच् के स्थान में वृद्धि होती है, परस्मैपद-परक सिच् परे रहने पर।

यहाँ √वद् एवं √व्रज् में हलंत होने के कारण ही वृद्धि संभव होने पर भी इन दोनों धातुओं के पृथक् ग्रहण से **अतो हलादेर्लघोः** (7.2.7) से परत्वेन प्राप्त विकल्प को बाध कर नित्य वृद्धि होती है : अवादीत्, अव्राजीत्।

केवल **वद-व्रज-हलोऽचः** कहने से भी 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'हलः' में तदंतविधि होकर **हलन्तस्य अङ्गस्य अचः** व्याख्या संभव है; तब भी **हलन्तस्य** में 'अन्तस्य' स्पष्टता के लिए है। श्रीज्ञानेंद्रसरस्वतीजी के अनुसार **हलोऽचः** कहने पर तो शायद कोई यह शंका करने लगे कि 'अङ्गस्य' का विशेषण 'हलः' पद न हो कर 'अचः' पद है, तथा तदंतविधि 'अचः' में ही होकर अर्थ **अजन्तस्य अङ्गस्य हलः स्थाने वृद्धिः** (अजंत अंग के अवयव हल् के स्थान में वृद्धि होती है) होता है। इस शंका के निवारण के लिए 'अन्तस्य' का ग्रहण है।[1]

इको गुणवृद्धी (1.1.3) से प्राप्त 'इकः' की निवृत्ति के लिए 'अचः' का ग्रहण किया है। 'परस्मैपदेषु' ग्रहण से आत्मनेपद प्रत्ययों में वृद्धि नहीं होगी।

नेटि (7.2.4)—न इटि 7.1 पदच्छेद है। 'इटि' पद 'सिचि' का विशेषण है। **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प०) से 'इटि' में 'आदौ' पद जुड़ता है : **इडादौ**। इस

---

1. त० बो० : **'हलोऽच' इत्युक्ते तु 'अजन्ताङ्गस्य हलः स्थाने वृद्धिः' इति कदाचिदाशङ्क्येत।**

2 चिती संज्ञाने ॥ 2 ॥ चेतति, चिचेत, अचेतीत्, अचेतिष्टाम्, अचेतिषुः । 3 च्युतिर् आसेचने ॥ 3 ॥ सेचनमार्द्रीकरणम् । आङीषदर्थेऽभि-

2 √चित् संज्ञा (ज्ञान, होश-हवाश, चेत) होना अर्थ में है ॥ 2 ॥ चेतति (इत्यादि) । 3 च्युतिर् आसेचन अर्थ में है ॥ 3 ॥ आसेचन माने गीला करना । 'आ' 'थोड़ा' और 'फैलाव' (='व्याप्त करना') अर्थ में है । 'इर्' की इत्संज्ञा कहनी चाहिये

सूत्र के द्वारा पूर्वसूत्र से प्राप्त विधि का निषेध होता है । उसमें भी यदि 'इडादि सिच्' परे रहने पर √वद् एवं √व्रज् में भी प्रस्तुत निषेध लगाने का सूत्रकार का आशय होता, तो 'हलंत' होने के कारण प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध हो सकता था । तब, पृथक् से इन दोनों का ग्रहण तो इन दोनों के ही 'सिच्' के इडादि होने के कारण **नेटि** की नित्य प्रवृत्ति होने से व्यर्थ ही होता । अतः √वद् एवं √व्रज् में वृद्धि-निषेध आचार्य को अभिप्रेत नहीं लगता । केवल हलंत धातुओं से ही प्राप्त वृद्धि का निषेध इस सूत्र का विषय है । **इटि (=इडादौ) सिचि परस्मैपदेषु हलन्तस्य अङ्गस्य अचः (स्थाने) वृद्धिर्न (भवति)** : इट् जिसके आदि में है, ऐसा परस्मैपद-परक सिच् परे रहने पर हलंत धातु के अंग के अच् के स्थान में वृद्धि नहीं होती ।

श्रीज्ञानेंद्रसरस्वतीजी के अनुसार कुछ पुस्तकों में **इडादौ सिचि हलन्त-लक्षणा वृद्धिर्न** मूल ग्रंथ पाया जाता है ।

आतीत् —√अत्+इ+स्+ई+त् स्थिति में धातु के हलंत होने कारण **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से अंग के अवयव अच् अ को वृद्धि प्राप्त होती है; **नेटि** से उसका निषेध हो जाता है । शेष प्रक्रिया 'अनाथीत्' की तरह होने पर 'अतीत्' स्थिति में धातु के अजादि होने के कारण **आडजादीनाम्** से आट् अजादि अंग का आद्यवयव बन जाता है : आ+अतीत् । **आटश्च** से आ+अ को वृद्धि एकादेश : आतीत् ।

'मा भवानतीत्, अतिष्टाम्, अतिषुः' उदाहरणों का अभिप्राय आट् से रहित रूपों को स्पष्टतः दिखलाना है । 'मा' के साथ सीधे ही यदि **न माङ्योगे** से आट् के निषेध वाला 'अतीत्' आदि क्रिया-रूप दे दिया जाये, तो 'मातीत्' रूप बनता है, जो 'मा आतीत्' से भी निष्पन्न हो सकता है । अतः 'मा' और क्रिया के मध्य 'भवान्' आदि कर्तृ-पद दिए हैं । 'अतिष्टाम्' के योग में 'भवन्तौ' तथा 'अतिषुः' के योग में 'भवन्तः' कारक-पदों का अध्याहार कर लें ।

2 √**चित्** होश में आना, चेतना, चेत आना, संभलना अर्थ में अकर्मक है । उपदेश (**चिती**) में सानुनासिक 'ई' होने से निष्ठा में **श्वीदितो निष्ठायाम्** से क्त और क्तवतु में इट् का निषेध होकर 'चित्तम्', चित्तवान्' बनता है । चेतति, चिचेत, चेतिता, चेतिष्यति, चेततु, अचेतत्, चेतेत्, चित्यात्, अचेतीत्, अचेतिष्यत् । लिट् में

व्याप्तौ च । इर इत्संज्ञा वाच्या (वा०)। च्योतति, चुच्योत । 2269 इरितो वा (3.1.57)—इरितो धातोश्चलेरङ् वा स्यात्परस्मैपदे परे । अच्युतत्, अच्योतीत् । 4 श्च्युतिर् क्षरणे ॥ 4 ॥ श्च्योतति, चुश्च्योत, अश्च्युतत्, अश्च्योतीत् । 5 यकाररहितोऽप्ययम्—श्चोतति । 6 मन्थ विलोडने ॥ 5 ॥ विलोडनम्प्रति-

(वा०) । च्योतति । 2269 इर् की इत्संज्ञा वाले धातु के पश्चात् स्थित च्लि के स्थान में अङ् प्रत्यय का आदेश विकल्प से हो जाए, परस्मैपद प्रत्यय बाद में होने पर । अच्युतत् अच्योतीत् । 4 √श्च्युत् झरना, क्षरित होना अर्थ में है ॥ 4 ॥ श्च्योतति । 5 यह धातु यकार से रहित (√श्रु ॒ त्) भी है : श्चोतति । 6 √मन्थ् विलोडन अर्थ में है ॥ 5 ॥ 'विलोडन' माने टकराव है । मन्थति । (आशीर्लिङ् में) यासुट् 'किदाशिषि'

सब रूप चिचेत, चिचिततुः, चिचितु; चिचेतिथ, चिचितथुः चिचित; चिचेत, चिचितिव, चिचितिम होते हैं ।

3 √**च्युत्** आसेचन अर्थ में है । 'आ' का अर्थ 'थोड़ा' तथा 'चारों ओर' है । अतः आसेचन माने गीला करना, भिगोना, छिड़कना, सींचना अर्थ पर्यवसित होता है । यह धातु सकर्मक है । थोड़ा-थोड़ा सिंचना, टपकना अर्थ में अकर्मक भी हो सकता है ।

इस धातु में 'इर्' का 'इ' सानुनासिक नहीं है । वैसा होने पर तो इदित् होने से **इदितो नुम् धातोः** से अनभीष्ट नुम प्राप्त होता । अतः वार्तिककार ने 'इर्' की इत्संज्ञा करने वाले सूत्र के अभाव में वार्तिक बनाया है : **इर इत्संज्ञा वाच्या** ('इर्' इस वर्ण-समुदाय की इत्संज्ञा कहनी चाहिए) । अतः धातु √च्युत् शेष रहती है ।

2269 **इरितो वा** (3.1.57)—'इरितः 6.1 वा' पदच्छेद है । धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (22), च्लेः सिच् (44), अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ्(52) तथा पुषादि-द्युताद्यृदितः परस्मैपदेषु (55) । 'इरितः' पद 'धातोः' का विशेषण है : **इरितो धातोः च्लेः अङ् वा (भवति) परस्मैपदेषु**—इर् की इत्संज्ञा वाले धातु से परे (स्थित) च्लि (के स्थान में) 'अङ्' (प्रत्यय) होता है, बाद में परस्मैपद प्रत्यय होने पर ।

च्योतति—पुगन्त-लघूपधस्य च से उपधा को गुण (ओ) होता है ।

चुच्योत, चुच्युततुः, चुच्युतुः; चुच्योतिथ, चुच्युतथुः चुच्युत; चुच्योत, चुच्युतिव, चुच्युतिम । च्योतिता, च्योतिष्यति, च्योततु, अच्योतत्, च्योतेत्, च्युत्यात् । लुङ् में अच्युतत्, अच्युतताम्, अच्युतन्; अच्युतः, अच्युततम्, अच्युतत; अच्युतम्, अच्युताव, अच्युताम ।

अच्युतत्—√च्युत्+लुङ्, लुङ् को तिप्, 'इ' का **इतश्च** से लोप : च्युत्+त् ।

घातः। मन्थति, ममन्थ। यासुटः 'किदाशिषि' (3.4.104) इति कित्त्वात् 'अनिदिताम्०' (6.4.24) इति न-लोपः—मथ्यात्। 7 कुथि, 8 पुथि, 9 लुथि, 10 मथि हिंसा-सङ्क्लेशनयोः ॥ 6॥ इदित्त्वान्न-लोपो न—कुन्थ्यात्; पुन्थ्यात्; लुन्थ्यात्, मन्थ्यात् ॥ 39 ॥

सूत्र से कित्संज्ञक है, अतः 'अनिदितां०' सूत्र से नकार का लोप (हो जाता) है—मथ्यात्। 7 √कुन्थ्, 8 पुन्थ्, 9 √लुन्थ्, 10 √मन्थ् धातु हिंसा करना और क्लेश देना अर्थों में हैं ॥ 6 ॥ ह्रस्व इकार की इत्संज्ञा वाले होने के कारण (इनके) नकार का लोप नहीं होता—कुन्थ्यात्, पुन्थ्यात्, लुन्थ्यात्, मन्थ्यात् ॥ 39 ॥

सार्वधातुक संज्ञा होने पर प्राप्त शप् को बाध कर **च्लि लुङि** से च्लि : च्युत्+च्लि+त्। च्लि को प्राप्त सिच् आदेश को बाध कर **इरितो वा** से च्लि के स्थान में अङ् : च्युत्+अ+त्। **पुगन्त-लघूपधस्य च** से प्राप्त गुण का अङ् के ङित्त्व के कारण **क्ङिति च** से निषेध, अडागम : अच्युतत्। **अच्युतन्**—अच्युत्+अ+अन्त् स्थिति में **संयोगान्तस्य लोपः** से त् का लोप, **अतो गुणे** से अ+अ को पररूप एकादेश : अच्युत+अन्=अच्युतन्। **अच्युतः**—अच्युत्+अ+सि, **इतश्च** से इ का लोप, स् को रुत्व, विसर्ग। **अच्युताव**—अच्युत्+अ+वस्। **अतो दीर्घो यञि** से विकरण 'अ' को दीर्घ, **नित्यं ङितः** से स् का लोप।

अङ् विकल्प से होता है, अतः उसके अभाव के पक्ष में प्रक्रिया तथा रूप 'अचेतीत्' की तरह होते हैं : अच्योतीत्, अच्योतिष्टाम्, अच्योतिषुः; अच्योतीः, अच्योतिष्टम्, अच्योतिष्ट; अच्योतिषम्, अच्योतिष्व, अच्योतिष्म।

लृङ् में अच्योतिष्यत्, अच्योतिष्यताम्, अच्योतिष्यन्; अच्योतिष्यः, अच्योतिष्यतम्, अच्योतिष्यत; अच्योतिष्यम्, अच्योतिष्याव, अच्योतिष्याम।

4 √**श्च्युत्** क्षरित होना, झरना (अकर्मक) तथा निचोड़ना (सकर्मक) अर्थ में है। क्षीरस्वामी और काश्यप के अनुसार यह उपदेश में ही तालव्यादि है, पर सायण इसे दंत्यसकारादि किंतु **स्तोः श्चुना श्चुः** से तालव्यादि मानते हैं। रूप एवं प्रक्रिया √च्युत् के समान हैं। लिट् में **शर्पूर्वाः खयः** से आदि हल् श् का लोप : चुश्चयोत, चुश्चयुततुः चुश्चयुतुः, चुश्चयोतिथ इत्यादि।

क्षीरस्वामी का कहना कि द्रविड लोग यहाँ 'चुतिर्'[1] धातु मानते हैं। भट्ट भास्कर और कौशिक के मत में यह 'श्चुतिर्' है। दीक्षितजी ने √श्चुत् को अतिरिक्त

---

1. का० कृ० धातुपाठ 1.4 में यह 'आसेचन' अर्थ में है।

3.11 षिध गत्याम् ॥ 7 ॥ सेधति, सिषेध, सेधिता, असेधीत् ।

तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी : ख : 11 षिध गत्याम्

3.11 √सिध् गति अर्थ में है ॥ 7 ॥ सेधति, सिषेध, सेधिता, असेधीत् ।

धातु के रूप में गिना लगता है। चोतति, श्चोतति, चुचोत, चुश्चोत इत्यादि। लुङ् में अचुतत्, अचोतीत्, अश्चुतत् अश्चोतीत् ।

यहाँ आचार्य ने √मन्थ् दो दी हैं : (1) अदित् 6 **मन्थ विलोडने**; आशीर्लिङ् में अथवा अन्य कोई कित्, ङित् प्रत्यय बाद में होने पर जिसके न् का लोप यासुट् के कित्त्व के कारण **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से हो जाता है · मथ्यात्, मथ्यमानः। इस धातु का प्रयोग श्रौतसूत्रों में उपलब्ध है : **ततो यथा-प्राशु मन्थति, यदि मथ्यमानो न जायेत** (आपस्तम्ब श्रौ० 7.13.3-4)। (2) इदित् **मथि हिंसा-संक्लेशनयोः**; कित्, ङित् प्रत्ययों से पूर्व इस के नकार का लोप धातु के इदित् होने के कारण **अनिदितां०** सूत्र से प्राप्त नहीं है : मन्थ्यात्, मन्थ्यमानः। इस के प्रयोग में खोज नहीं पाया हूँ। क्षीरस्वामी ने यहाँ विलोडनार्थक की व्याख्या नहीं की है। हिंसा-संक्लेशनार्थक को ही उन्होंने अदित् (मन्थ के) रूप में दिया है। अर्थात् क्षी० स्वा० द्वारा व्याख्यात धातुपाठ में यहाँ इदित् (मथि) नहीं है। मा० धा० वृ० के अनुसार मैत्रेय चंद्र, दुर्ग, पुरुषकार आदि आचार्य इदित् मथि को यहाँ मानते हैं।[1]

अदित् 6 √मन्थ् तथा आगे पठित एदित् √मथ् (24.23) 'विलोडन' अर्थ में हैं। 'विलोडन' से 'मथना', 'बिलोना' अर्थ अभिप्रेत है। इदित् 10 √मन्थ् हिंसा और संक्लेशन (प्रकार-विशेष से मारना, पीड़ा देना, पीस देना, कचूमर निकालना) अर्थों में है। 7 √कुन्थ्, 8 √पुन्थ् तथा 9 √लुन्थ् इन्हीं अर्थों में इदित् हैं ॥ 39 ॥

3.11 √**षिध्** धातु गति (प्राप्ति, जाना) अर्थ में है। गङ्गां विसेधति (गंगा पर

---

1. श्रौत-सूत्रों में नकारवान् 'मन्थति' रूप के साथ नकारलोपवान् 'मथ्यमानः' के प्रयोग के आधार पर यह सोचना अनुचित न होगा कि प्रयोक्ता की दृष्टि में दोनों प्रयोगों में एक ही धातु है। अत इन प्रयोगों में अदित् तथा औपदेशिक नकारवान् प्रकृत भौवादिक √मन्थ् का ही प्रयोग किया गया है; इस लिये 'मथ्यमानः' रूप एदित् तथा नकार-रहित 'मथ्' का या क्र्यादिक अदित् √मन्थ् का रूप नहीं है।

कित्-ङित् प्रत्ययों के योग में नकारवान् रूप के प्रयोग की प्राचीन वाङ्मय में अनुपलब्धि को देखते हुए मेरी कल्पना है कि इदित् √मथ् धातु प्राचीन नहीं है; अर्थात् पाणिनीय नहीं है। क्षीरस्वामी जैसे प्राचीन आचार्य ने भी अदित् √मन्थ् की व्याख्या की है, इदित् √मन्थ् की नहीं। यह भी उपर्युक्त कल्पना को पुष्ट करता है।

'सात् पदाद्योः' (8.3.111) इति षत्व-निषेधे प्राप्ते—

2270 उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति-स्तोभति-स्था-सेनय-सेध-

'सात् पदाद्योः' (8.3.111) सूत्र से षकारादेश का निषेध प्राप्त होने पर—

2270 उपसर्ग में स्थित निमित्त के पश्चात् स्थित 1 षुञ् अभिषवे (स्वा०), 2 षू प्रेरणे (तु०), 3 षोऽन्त-कर्मणि (दि०), 4 ष्टुञ् स्तुतौ (अ०), 5 ष्टुभु स्तम्भे (भ्वा०), 6 ष्ठा गति-निवृत्तौ (भ्वा०), 7 √सेनय, 8 षिध गत्याम् (भ्वा०) तथा 9 षिधू शास्त्रे

जाता है)। 'प्' को **धात्वादेः षः सः** से स् हो जाता है।

आचार्य क्षी० स्वा० तथा कश्यप के अनुसार यह **षिधु गत्याम्** (उदित्) है। पर यह उचित नहीं है। वृत्तिकार ने निष्ठा में 'सिधितम्', 'बुधितम्', रूप बनाए हैं। ये रूप दैवादिक धातुओं के तो हैं नहीं, क्योंकि वे अनिट् हैं। अतः उनसे तो 'सिद्धम्' 'बुद्धम्' ही बनेंगे। बाकी रही भौवादिक षिधू तथा प्रस्तुत धातु। इस षिध् को भी यदि उदित् ही मान लिया जाए, तो वैसे सेट् होते हुए भी क्त्वा में **उदितो वा** से वेट् होने के कारण निष्ठा में **यस्य विभाषा** से इट् का निषेध हो जाने से 'सिधितम्' रूप नहीं बन सकता। अतः सिद्ध होता है कि यह उदित् नहीं है। सायण भी अदित् षिध ही मानते हैं।

सेधति, सिषेध, सेधिता, सेधिष्यति, सेधतु, असेधत्, सेधेत्, सिध्यात्, असेधीत्, असेधिष्यत्।

2270 **उपसर्गात्सुनोति···स्वञ्जाम्** (8.3.65)—'इण्कोः' (57) अधिकारसूत्र से 'इणः' की अनुवृत्ति होती है। 'कोः' का अधिकार होते हुए भी यहाँ उसका सबंध किसी भी उपसर्ग में ककार होने के कारण वहीं है। उपसर्ग के साथ इण् का तात्स्थ्य संबंध है : उपसर्गस्थाद् इणः (उपसर्ग में स्थित इण् वर्ण के पश्चाद्वर्ती के स्थान में)। अपदान्तस्य मूर्धन्यः (55), सहेः साडः सः (56), नुम्-विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि (58) की अनुवृत्तियां भी हैं : **उपसर्गात् (=उपसर्गस्थात्) इणः (परस्य) सुनोत्यादीनाम् अपदान्तस्य सः (=सकारस्य) मूर्धन्यः (भवति) नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि**—उपसर्ग में स्थित इण् (रूप निमित्त) से परे (स्थित) तथा सुनोति आदि धातुओं के पदांत-भिन्न स् के स्थान में मूर्धन्य (ष्) आदेश होता है, नुम् विसर्जनीय, तथा शर् (प्रत्याहारस्थ वर्णों के) व्यवधान में भी।

सुनोति आदि धातु निम्नलिखित हैं : 1 षुञ् अभिषवे (अ०), 2 षू प्रेरणे (तु०), 3 षो अन्तकर्मणि (दि०), 4 ष्टुञ् स्तुतौ (अ०), 5 ष्टुभु स्तम्भे (भ्वा०), 6 ष्ठा गति-निवृत्तौ (भ्वा०), 7 सेनय (सेनयाऽभियाति इति अभिषेणयति), 8 षिध गत्याम्

सिच-सञ्ज-स्वञ्जाम् (8.3.65)—उपसर्गस्थान्निमित्तादेषां सस्य षः स्यात् ।
2271 सदिरप्रतेः (8.3.66)—'प्रति'-भिन्नादुपसर्गात् सदेः सस्य षः स्यात् ।

माङ्गल्ये च (भ्वा०), 10 षिच क्षरणे (तु०), 11 षञ्ज सङ्गे (भ्वा०), 12 ष्वञ्ज परिष्वङ्गे (भ्वा०) धातुओं के सकार के स्थान में षकार हो जाए । 2271 'प्रति' से भिन्न

(भ्वा०), 9 षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च (भ्वा०), 10 षिच क्षरणे (तु०), 11 षन्ज सङ्गे (भ्वा०) तथा 12 ष्वञ्ज परिष्वङ्गे (भ्वा०) ।

यहाँ 'षु' आदि धातुओं को श्तिप् प्रत्यय लगा कर 'सुनोति आदि के रूप में ग्रहण करने से यङ्लुक्-प्रक्रिया में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती : 'अतिशयेन, पुनः पुनर्वा, अभिषुणोति' अर्थ में यङ्लुक् में 'अभिसोषवीति', अभिसोषोति' रूप बनते हैं । यह प्राचीनों का मत है । प्रौढ़मनोरमा में दीक्षितजी का कहना है कि यङ्लुक्-प्रक्रिया में **स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य** (8.3.64) सूत्र से **उपसर्गात्०** सूत्र में 'स्था' से लेकर आगे दी धातुओं के ही अभ्यास के स् को मूर्धन्यादेश होता है । 'सुनोति' आदि 'स्था' से पूर्व पठित धातुओं के अभ्यास के स् को नहीं, यह नियम होने के कारण अभि+√सु के अभ्यास के स् को षत्व प्राप्त ही नहीं होता । अप्राप्त का निवारण नहीं होता । इस लिए श्तिप् से निर्देश स्पष्टता के लिए ही है ।

'सेधति' में शप् विकरण से सूचित होता है कि भौवादिक √सिध् (प्रकृत 11 **षिध गत्याम्** तथा अगली 12 **षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च,** दोनों) ही यहाँ ली जानी हैं, दैवादिक **षिधु संराद्धौ** नहीं । हरदत्तमिश्र के मत में शप्-समेत पाठ का प्रयोजन दैवादिक और यङ्-लुक् दोनों में इसकी निवृत्ति है ।

'निषेधति' (निषेध करता है) में 'नि+सेध्+अ+ति' स्थिति में **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व प्राप्त होता है, उसे बाध कर **सात्पदाद्योः** से निषेध हो जाता है, तब **उपसर्गात्०** सूत्र से ष् होता है । 'निः+षेध्+अ+ति=निःषेधति' इत्यादि में विसर्गों के व्यवधान में भी षत्व होता है । 'दुःसेधति' इत्यादि में तो **दुरः षत्व-षत्वयोरुपसर्गत्व-प्रतिषेधो वक्तव्यः** (वा०) से दुर् की उपसर्गता का निषेध होने से षत्व की प्राप्ति ही नहीं है ।

2271 **सदिरप्रतेः** (8.3.66)—पूर्व सूत्र से 'उपसर्गात्' की, तथा 'इणः', 'सः' 'मूर्धन्यः' की अन्य सूत्रों से अनुवृत्तियाँ आती हैं । **सदिः** यहाँ षष्ठी के अर्थ में प्रथमा का व्यत्यय है : **अप्रतेः उपसर्गात्** (=**उपसर्गस्थात्**) **इणः** (**परस्य**) **सदेः** (**षद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु,** भ्वा०, तु०) **मूर्धन्यो भवति**—'प्रति' से अन्य उपसर्ग में स्थित इण् से परे स्थित भौवादिक तथा तौदादिक √सद् के स् को मूर्धन्य आदेश होता है ।

2272 स्तन्भेः (8.3.67)—सौत्रस्य सस्य षः स्यात् । योग-विभाग उत्तरार्थः; किंच 'अप्रतेः'(66) इति नानुवर्तते—'बाहु-प्रतिष्टम्भविवृद्ध-मन्युः'(रघु० 2.32)।

उपसर्ग के पश्चात् स्थित √सद् के सकार को षकार हो जाए । 2272 (सूत्र-पठित) √स्तन्भ् के सकार को षकार हो जाए । इस सूत्र का विभाग अगले सूत्र के लिए है; इसके अतिरिक्त यहाँ (पिछले सूत्र से) " 'प्रति' से भिन्न के पश्चात्" की अनुवृत्ति

निषीदति (बैठता है), विषीदति (दुःखी होता है) । प्रति से परे 'प्रतिसीदति में दंत्य ही रहता है ।

2272 **स्तन्भेः** (8.3.67) 'सः', 'मूर्धन्यः', 'उपसर्गादिणः' की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् हैं । 'अप्रतेः' की अनुवृत्ति नहीं है । √स्तन्भ् दो उपलब्ध हैं—(1) **स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च** (3.1.82) सूत्र में पठित 'स्तन्भु' धातु, (2) **ष्टभि प्रतिबन्धे** (भ्वा०) से इदित् होने से नुम् के अनंतर अनुस्वार, परसवर्ण से संपन्न रूप √स्तम्भ् है, जिसका प्रयोग सूत्रकार ने **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** में मकारोपध के रूप में स्पष्टतः किया है । प्रस्तुत सूत्र में **लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्** (प० 114) परिभाषा से प्रतिपदोक्त सौत्र 'स्तन्भु' (रोधन=रोकना) का ही ग्रहण होगा । **स्तन्भेः** तथा **'स्तन्भु-स्तुन्भु०'** सूत्रों में 'स्तन्भु' धातु नकारोपध है, अतः प्रतिपदोक्त है । **ष्टभि प्रतिबन्धे** से (नुम् होने पर) निष्पन्न √स्तन्भ् लाक्षणिक है, और उसका रूप √स्तम्भ् है ।

प्रस्तुत सूत्र को एक **सदि-स्तन्भ्योरप्रतेः** सूत्र बनाने से काम न चलता देख कर आचार्य ने **अवाञ्चालम्बनाविदूर्ययोः** सूत्र में केवल 'स्तन्भि' धातु की अनुवृत्ति करने के लिए अलग सूत्र बनाया है ।

प्रश्न : (1) आचार्य ने अनुवृत्ति बताने के लिए स्वरित चिह्न का प्रयोग किया है । अतः केवल 'स्तन्भि' पर स्वरित स्वर करने से काम चलने के कारण पृथक् सूत्र की आवश्यकता नहीं है; (2) 'आलंबन' तथा 'आविदूर्य' ये दो अर्थ √सद् के होते ही नहीं; अतः एक सूत्र में देने पर भी केवल 'स्तन्भि' की ही अनुवृत्ति होगी; इस लिये पृथक् सूत्र-निर्माण व्यर्थ है ।

उत्तर : यदि एक सूत्र में ही 'स्तन्भि' को दिया जाये, तो अर्थ होता है—**अप्रतेः सदिधातोः, अप्रतेरेव स्तन्भिधातोः** अर्थात् प्रतिभिन्न उपसर्ग में स्थित इण् से परे विद्यमान सदि, तथा वैसे ही स्तन्भि के स् को ष् होता है । पर प्रति के साथ √स्तन्भ् का संबंध जोड़ना अभीष्ट नहीं है । नहीं तो **बाहु-प्रतिष्टम्भ-विवृद्ध-मन्युः** (रघु० 2.32) में षकारवान् 'प्रतिष्टम्भ' इत्यादि लक्ष्य गलत प्रमाणित होंगे ।

2273 अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः (8.3.68)—अवात् स्तन्भेरेतयोरर्थयोः षत्वं स्यात्। 2274 वेश्च स्वनो भोजने (8.3.69)—व्यवाभ्यां स्वनतेः सस्य षः स्याद् भोजने। 2275 परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम् (8.3.70)—परि-नि-विभ्यः परेषामेषां सस्य षः स्यात्। निषेधति।

नहीं होती—'बाहु-प्रतिष्टम्भ-विवृद्ध-मन्युः'। 2273 अव के पश्चात् √स्तन्भ् के सकार को षकार 'आलम्बन (सहारा लेना)' और 'दूरी न होना' अर्थों में हो जाए। 2274 वि और अव के पश्चात् √स्वन् के सकार को षकार हो जाए 'खाना' अर्थ में। 2275 परि, नि और वि के पश्चात् स्थित 'षेवृ सेवायाम्' (भ्वा०), 2 सित एवं 3 सय प्रातिपदिकों, 4 'षिवु तन्तु-सन्ताने'(दि०), 5 √सह्, 6 सुट् (आगम), 7 √स्तु एवं 8 √स्वञ्ज् के

2273 **अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः** (8.3.68)—स्तन्भेः, उपसर्गात्, सः, मूर्धन्यः पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् है। **अवात् उपसर्गात् ('अव' इत्युपसर्गात्) परस्य स्तन्भेः सः मूर्धन्यो (भवति) आलम्बनाविदूर्ययोः अर्थयोः**—'अव' उपसर्ग से परे √स्तन्भ् के स् को ष् होता है, आलंबन (सहारा लेना, टेक लेना) और आविदूर्य (सामीप्य) अर्थों में।

समुच्चयनीय पदांतर के न होने से चकार का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है।

छदिः स्तम्भानवष्टभ्नाति (छत थम्भों का सहारा लेती है, उन पर टिकी है); वृद्धो यष्टिमवष्टभ्य विषमानपि गच्छति (बूढ़ा लाठी का सहारा लेकर उबड़-खाबड़ रास्तों में भी चलता है); क्वास्ति गौः ? रामस्ताम् अवष्टभ्नाति तावत् (गाय कहाँ है ? यहाँ समीप में राम उसे बाँध तो रहा है)।

'आलंबन' तथा 'सामीप्य' से भिन्न अर्थ में प्रयोग निम्न प्रकार से होता है : कश्मीरेषु भारतीयसैनिकाः हिमेनावस्तब्धाः (कश्मीर में भारतीय सैनिक बर्फ में अकड़ गये)। अहो हिमम्! अवस्तब्धान्यङ्गानि शीतेन (ओह, कितनी बर्फ है! हाथ-पैर सर्दी से ऐंठ गये हैं)।

2274 **वेश्च स्वनो भोजने** (8.3.69)—यहाँ 'च' से 'अवात्' का समुच्चय होता है : **वेः अवाच्च (परस्य) स्वनः सः मूर्धन्यः (भवति) भोजने (अर्थे)**—वि और अव उपसर्गों के पश्चात् स्थित् √स्वन् के स् को ष् आदेश होता है, भोजन (खाना) अर्थ में। वि+ष्वन्+अति, अव+ष्वन्+अति स्थिति में **अट्-कु-प्वाङ्-नुम्-व्यवायेऽपि** से न् को ण् : विष्वणति, अवष्वणति (चवड़-चवड़ खाता है, सपड़का लगाता है, खाते हुए आवाज करता है)।

2275 **परि-नि-विभ्यः सेव-सित०** (8-3.70)—'सः', 'मूर्धन्यः' की अनुवृत्ति पूर्ववत् है : **परि-नि-विभ्यः 1 सेव-2 सित-3 सय-4 सिवु-5 सह-6 सुट्-7 स्तु-**

2276 प्राक् सितादड्-व्यवायेऽपि (8.3.63)—'सेव-सित०' (2275) इत्यत्र 'सित'-शब्दात् प्राग् ये सुनोत्यादयः, तेषामड्-व्यवायेऽपि षत्वं स्यात् । न्यषेधत्, न्यषेधीत्, न्यषेधिष्यत् ।

षकार को सकार हो जाए । निषेधति । (पिछले सूत्र के) 'सेव-सित०' में पठित 'सित' शब्द के पूर्व जो 'षुञ् अभिषवे' (स्वा०) आदि धातु दी हैं, उनके सकार को षकार अट् के व्यवधान में भी हो जाए । न्यषेधत्, न्यषेधीत्, न्यषेधिष्यत् ।

---

8 स्वञ्जाम् सः मूर्धन्यः (भवति)—परि, नि और वि उपसर्गों के पश्चात् स्थित 1 √सेव्, 4 √सिव्, 5 √सह्, 7 √स्तु, 8 √स्वञ्ज् धातुओं के तथा 2 सित, 3 सय प्रातिपदिकों के और 6 सुट् आगम के सकार के स्थान में षकार आदेश हो जाता है । 1 √सेव् से **षेवृ सेवायाम्** (भ्वा०), 4 √सिव से **षिवु तन्तु-सन्ताने** (दि०), 5 √सह् से **षह मर्षणे** (भ्वा०, चु०) तथा **षह चक्यर्थे** (दि०), 7 √स्तु से **ष्टुञ् स्तुतौ**, 8 स्वञ्ज् से **ष्वञ्ज परिष्वङ्गे** (भ्वा०) धातु लेनी हैं । 2 सित से **षिञ् बन्धने** (स्वा०) से निष्पन्न √सि से क्त प्रत्यय से संपन्न 'सित' प्रातिपदिक, 3 'सय' से √सि से **एरच्** (3.3.56) से, या **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः** (3.1.134) से अच् प्रत्यय से निष्पन्न 'सय' प्रातिपदिक लेने हैं : विषयः । 6 सुट् से **सुट् कात् पूर्वः** (6.1.135) के अधिकार में **सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे** (137), **समवाये च** (138) से विहित सुट् आगम अभिप्रेत है : परिष्करोति, परिष्कारः ।

√स्तु तथा √स्वञ्ज् के स् को ष् **उपसर्गात्सुनोति···स्तौति···स्वञ्जाम्** से ही सिद्ध होते हुए भी यहाँ पुनर्ग्रहण इस लिये किया गया है कि अट् के व्यवधान में इन धातुओं के सकार को षकार विकल्प से करने के लिये **सिवादीनां वाऽड्-व्यवायेऽपि** (8.3.71) के सिवादियों में इन धातुओं का ग्रहण हो सके : पर्यष्टौत्, पर्यस्तौत् ; पर्यष्वङ्क्त, पर्यस्वङ्क्त ।

2276 प्राक् सिताद् अड्-व्यवायेऽपि (8.3.63)—'सः', 'मूर्धन्यः' की अनुवृत्ति पूर्ववत् है : **सितात् प्राग् उक्तानां धातूनामुपसर्गात्सः मूर्धन्यो (भवति) अड्-व्यवायेऽपि**—'सित' शब्द से पूर्व कही हुई धातुओ के, उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती स् को अट् के व्यवधान में भी षकार होता है ।

इस सूत्र के 'प्राक् सितात्' ('सित' से पूर्व) की अवर अवधि 2270 **उपसर्गात् सुनोति०** (8.3.65) सूत्र में पठित 'सुनोति' (**षुञ् अभिषवे**) धातु है, तथा उत्तम अवधि 2275 **परि-नि-विभ्यः सेव-सित०** (70) सूत्र में पठित 'सित' शब्द है । अतः 1 √सु, 2 √सू, 3 √सो, 4 √स्तु, 5 √स्तुभ्, 6 √स्था, 7 √सेनय, 8 √सिध्, 9 √सिच्, 10 √सञ्ज्, 11 √स्वञ्ज्, 12 √सद्, 13 √स्तन्भ्, 14 √स्वन् और 15 √सेव्—

2277 स्थाऽऽदिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य (8.3.64)—प्राक् सितात् स्थाऽऽदिष्वभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वं स्यात्, एषामेव चाभ्यासस्य, न तु सुनोत्यादीनाम् । निषिषेध, निषिषिधतुः ।

2277 'सित' (2275 सूत्रस्थ) से पूर्व 'ष्ठा गति-निवृत्तौ' (2270 सूत्रस्थ) से बाद की धातुओं में अभ्यास के व्यवधान में भी (सकार को) षकार हो जाए, और इन्हीं के अभ्यास को, न कि (2270 सूत्रस्थ) √ष्ठा से पूर्व 'षुञ् अभिषवे' (स्वा०) आदि के अभ्याम को । निषिषेध, निषिषिधतुः ।

ये पंद्रह धातु तत्तत् सूत्रस्थ षत्व-निमित्तों के साथ यहाँ अभिप्रेत हैं । अतः इस सूत्र का तात्पर्य यह पर्यवसित होता है : 1 **उपसर्गात् सुनोति०** (65), 2 **सदिरप्रतेः** (66), 3 **स्तन्भेः** (67), 4 **अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः** (68), 5 **वेश्च स्वनो भोजने** (69), तथा 6 **परि-नि-विभ्यः सेव०** (70) से विहित षत्व अट् के व्यवधान में भी होता है ।

अतः 'नि+अ+सेधत्' स्थिति में **उपसर्गात् सुनोति०** से प्राप्त न होते हुए भी **प्राक् सितादड्-व्यवायेऽपि** से षत्व होता है : न्यषेधत् । इसी प्रकार न्यषेधीत् एवं न्यषेधिष्यत् । अट् आगम 1 लङ्, 2 लुङ् और 3 लृङ् में विहित है; अतः दीक्षितजी ने तीनों के ही उदाहरण दिये हैं ।

2277 स्थाऽऽदिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य (8.3.64)—यहाँ पूर्व सूत्रों से 'सः', 'मूर्धन्यः', 'प्राक्सितादड्-व्यवायेऽपि' की अनुवृत्ति होती है । 'सितात्' की पंचमी के कारण सप्तम्यंत 'स्थाऽऽदिषु' पद **पञ्चमी स्वस्मात्परां सप्तमीं षष्ठीं कल्पयति** नियम से षष्ठ्यंत हो जाता है : **प्राक् सितात् स्थाऽऽदीनां सः मूर्धन्यः अभ्यासेन व्यवायेऽपि, अभ्यासस्य च (भवति)**—'सित' शब्द से पूर्व तथा √स्था से प्रारम्भ करके स्थित धातुओं के सकार को षकार आदेश उपसर्गस्थ-निमित्त और स् के मध्य अभ्यास का व्यवधान होने पर भी, तथा अभ्यास के सकार को भी हो जाता है ।

प्राक् सितात् स्थाऽऽदिषु—इस प्रकरण में √स्था 2270 **उपसर्गात्सुनोति०** सूत्र में पठित छठी धातु है । अतः उसे शामिल करते हुए 1 √स्था, 2 √सेनय, 3 √सेध्, 4 √सिच्, 5 √सञ्ज्, 6 √स्वञ्ज्, 7 √सद्, 8 √स्तन्भ्, 9 √स्वन्, 10 √सेव्—ये 10 धातु तत्तत्सूत्रस्थ षत्व-निमित्तों के साथ ली जायेंगी ।

नि+सिसेध्+अ स्थिति में नि उपसर्ग के पश्चात् स्थित अभ्यास 'सि' के तथा 'सि' से व्यवहित 'से' के सकारों को ष् आदेश हो गये : निषिषेध ।

प्रकृत सूत्र का प्रयोजन : 'निषिषेध' आदि में नि के पश्चात् स्थित सि (अभ्यास) के स् को षत्व 2270 **उसर्गात् सुनोति०** से होने पर अभ्यास से व्यवहित

सेंध् से स् को षत्व **आदेश-प्रत्यययोः** से आदेशत्वेन हो जायेगा। तब प्रकृत सूत्र निरर्थक प्रतीत होता है। परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। इसके तीन प्रयोजन हैं :

(क) अषोपदेश धातुओं के अभ्यासोत्तर स् को षत्व स् की आदेशता नहीं होने के कारण **आदेश-प्रत्यययोः** से नहीं हो सकता : 'सेनयाऽभियातुमिच्छति=अभि+सिसेनयति' में 'अभिषिसेनयति' रूप प्राप्त होता है, जो अनिष्ट है। प्रकृत सूत्र से अभि उपसर्ग में स्थित निमित्त इण् (इकार) के पश्चात् अभ्यास के द्वारा व्यवहित 'से' के स् को षत्व प्रकृत सूत्र से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं : अभिषिषेणयति।

(ख) षत्व-विधान **इण्कोः** के अधिकार में आता है। अतः अधि+तस्थौ (अधि+स्था+लिट्) स्थिति में उपसर्गस्थ 'इ' निमित्त के पश्चात् स्थित अवर्णांत अभ्यास (त) से व्यवहित स्था के स् को षत्व **आदेश-प्रत्यययोः** प्राप्त नहीं है। प्रकृत सूत्र से यहां षत्व होता है, जिससे 'अधितष्ठौ' सही रूप निष्पन्न होता है : **अर्धासनं गोत्र-भिदो-ऽधितष्ठौ**।

(ग) 'अभिषेक्तुमिच्छति' अर्थ में अभि+सिसिच्+सति>अभि+सिसिक्+षति स्थिति में **उपसर्गात्सुनोति०** से सिच् के उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तरवर्ती अभ्यास-सकार को षकार होने पर अभ्यासोत्तवर्ती 'सि' के सकार को आदेशत्वेन **आदेश-प्रत्यययोः** से षत्व प्राप्त हुआ। पर **स्तौति-ण्योरेव षण्यभ्यासात्**[1] (8.3.61) नियम से निषेध होने पर 'अभिषिसिक्षति' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र होने पर अभ्यास से व्यवहित सि के सकार को षकार निर्बाध हो जाता है : अभिषिषिक्षति।

'अभ्यासस्य' नियम के लिये है : ये तीनों प्रयोजन अभ्यासोत्तर 'स्' को षत्व करने के लिये हैं। **'स्थाऽऽदिष्वभ्यासेन'** इतना ही सूत्र इन तीनों प्रयोजनों को पूरा करने में समर्थ है। **उपसर्गात्सुनोति०** से उपसर्गस्थ निमित्त के पश्चात् स्थित स् को ष् कर दिया जाने के कारण यहाँ 'अभ्यासस्य' अंश निरर्थक होकर नियम बनाता है कि यदि अभ्यास के स् को षत्व हो, तो केवल 1 √स्था, 2 √सेनय, 3 √सिघ्, 4 √सिच्, 5 √सञ्ज्, 6 √स्वञ्ज्, 7 √सद्, 8 √स्तन्भ्, 9 √स्वन्, 10 √सेव् धातुओं के ही अभ्यास के सकार को हो, अन्य 1 √सु, 2 √सू, 3 √सो, 4 √स्तु और 5 √स्तुभ् के सकार को नहीं हो।

इस नियम का फल : 'सुनोति' आदि में अभ्यास के स् को ष् नहीं होता : 'अभिषोतुमिच्छति' अर्थ में 'अभिसुसूषति' बनता है। यहाँ 'अभि+सु+सू+ष+

---

1. कृत-षत्व सन् बाद में होने पर अभ्यास के इण् से परे (1) स्तु के तथा (2) ण्यंत धातु के ही स् को ष् होता है, अन्य के स् को नहीं।

2278 सेधतेर्गतौ (8.3.113)—गत्यर्थस्य सेधतेः षत्वं न स्यात् । गङ्गां विसेधति ॥ 40 ॥

3.12 षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च ॥ 8 ॥ शास्त्रं=शासनम् ।

2278 गति अर्थ में √सिध् (प्रकृत षिध गत्याम्) को षत्व नहीं होता । गङ्गां विसेधति ॥ 40 ॥

तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयान्त परस्मैपदी : ग : 1.2 षिधू

3.12 ऊदित् √सिध् शास्त्र और मंगलभाव अर्थों में है । शास्त्र माने शासन

अ+ति' स्थति में प्रस्तुत नियम से इस धातु के स्थादियों के अन्तर्गत न होने से **उपसर्गात् सुनोति०** सूत्र से प्राप्त षत्व का निषेध हो जाता है । अभ्यासोत्तर स् को **आदेश-प्रत्यययोः** से प्राप्त षत्व का **स्तौति-ण्योरेव षण्यभ्यासात्** (8.3.61) नियम से √स्तु से भिन्न तथा (2) ण्यंत से भिन्न होने के कारण निषेध हो जाता है ।

2278 **सेधतेर्गतौ** (8.3.113)—न रपर-सृपि-सृजि-स्पृशि-स्पृहि-सवनादीनाम् (110), अपदान्तस्य मूर्धन्यः (55), सहेः साडः सः (56) की अनुवृत्ति है । 'सेधतेः' में शप् के ग्रहण से दैवादिक **षिधु संराद्धौ** का ग्रहण नहीं होता; भौवादिक का ही होता है : **गतौ सेधतेः** (भौवादिकस्य 'सिध्' धातोः) **सः षत्वन्न** (भवति)—गति (जाना) अर्थ में (भौवादिक) सिध् धातु के स् को षत्व नहीं होता ।

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो वा (प० 62)—विधि तथा निषेध अनन्तर (समीपस्थ) के होते हैं—परिभाषा से यह सूत्र अनन्तरोक्त **उपसर्गात्सुनोति०** सूत्र से प्राप्त षत्व का ही निषेध करता है । **आदेश-प्रत्यययोः** (8.3.59) तथा **स्वादिष्वभ्यासेन०** (8.3.64) से प्राप्त षत्व का नहीं । इससे 'गति' अर्थ में भीं 'सिषेध' में अभ्यास के इण् के पश्चात् स्थित 'से' के सकार को षकार **आदेश-प्रत्यययोः** से होता ही है । 'गङ्गां विसेधति' (गंगा पर जाता है) वाक्य में √सिध् गत्यर्थक है । अतः **उपसर्गात्सुनोति०** से वि उपसर्ग के इण् के पश्चात् स्थित स् को प्राप्त षत्व का निषेध **सेधतेर्गतौ** से हो जाता है 'निषेधति' में गति से भिन्न शासन (शास्त्र) अर्थ होने के कारण **उपसर्गात् सुनोति०** से षत्व हो जाता है ।' 40 ॥

3.12 **षिधू** आदेश देना और मंगल (शुभ कर्म करना) अर्थों में क्रमशः सकर्मक और अकर्मक है । 'शासन' अर्थ में उपसर्ग के बिना इसका प्रयोग नहीं मिलता । 'अकरणपरक आदेश' अर्थ में यह नि और प्रति के साथ 'निषेधति', 'निषेध', 'प्रतिषेधति', 'प्रतिषेध' आदि में प्रयुक्त है । **धात्वादेः षः सः** से औपदेशिक षकार को सकार आदेश होने पर धातु √सिध् निष्पन्न होती है । ऊ की इत्संज्ञा का प्रयोजन वलादि आर्धधातुक में इट् का विकल्प करना है, जिसका सूत्र निम्नोक्त है :

2279 स्वरति-सूति-सूयति-धूञ् दितो वा (7.2 44)—स्वरत्यादेः, ऊदितश्च (इदंकर्तव्यता का विधान या निषेध) है। 2279 1 स्वृ, 2 षूङ् (अ०), 3 षूङ् (दि०), 4 धूञ् (स्वा० तथा क्र्या०) धातुओं से तथा 5 दीर्घ अकार की इत्संज्ञा वाली धातुओं से परे स्थित, वल् प्रत्ययाहार के वर्ण से प्रारम्भ होने वाले आर्धधातुक प्रत्यय को इट्

2279 **स्वरति-सूति-सूयति-धूञ् दितो वा** (7.2.44)—आर्धधातुकस्येड् वलादेः (7.2.35) की अनुवृत्ति आती है। 'स्वरति' से लेकर 'ऊदित' तक समाहारद्वंद्व पंचम्येक-वचनांत एक पद है। 'धातोः' अर्थतः उपस्थित होता है : **स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्भ्यः, ऊदिश्तच (धातोः परस्य) वलादेरार्धधातुकस्य वा इट् (आगमो भवति)।** **स्वृ शब्दोपतापयोः** (भ्वा०), **षूङ् प्राणिगर्भविमोचने** (अ०), **षूङ् प्राणिप्रसवे** (दि०), **धूञ् कम्पने** (स्वा० तथा क्र्या०) धातुओं से परे एवम् ऊदित् (जिनमें ऊ सानुनासिक है, उन) धातुओं से परे (स्थित) वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम विकल्प से होता है।

यहाँ लुग्विकरण (सूति) तथा श्यन्विकरण (सूयति) ग्रहण से आदादिक तथा दैवादिक का ही ग्रहण होता है, **षू प्रेरणे** (तु०) का नहीं।

यहाँ दैवादिक तथा आदादिक दोनों धातुओं के ङित् होने के कारण 'षूङ्' का सूत्र में ('स्वरतिषूङ्धूञ्दितो वा' के रूप में) ग्रहण करने में लाघव होने पर भी 'सूति-सूयति' के रूप में गौरव करना सप्रयोजन है : **लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य** (विकरण के लुक् वाली तथा अलुग्विकरण वाली धातुओ में से अलुग्विकरण का ही ग्रहण होता है)। इस परिभाषा का विज्ञापन इससे होता है।

'धूञ्' में अनुबंध (ञ्) समेत पाठ से अनुबंधरहित **धू विधूनने** (तु०) का ग्रहण नहीं होता।

'वा' के ग्रहण का प्रयोजन : शंका—इट् सनि वा (7.2.41) से 'वा' की अनुवृत्ति स्वरित होने से हो सकती है, तब यहाँ 'वा' पद क्यों दिया है ?

उत्तर—इट् सनि वा (7.2.41) में 'वा' तथा **लिङ्-सिचोरात्मनेपदेषु**(42) सूत्र में **लिङ्-सिचोः** पद स्वरित है। यदि 'वा' की अनुवृत्ति हो जाए, तो **लिङ्-सिचोः** की भी अनुवृत्ति प्राप्त होती है। इन दोनों में से 'स्वरति' आदि सूत्र में अपेक्षित केवल 'वा' पद है। एक स्वरित पद की अनुवृत्ति हो, तथा दूसरे की न हो, इसका विनिगमक कोई पद सूत्र में आवश्यक है। तब 'वा' पद के ग्रहण से जैसे अनुवृत्त 'वा' पद निवृत्त हो जाता है, वैसे ही **लिङ्-सिचोः** भी निवृत्त हो जाता है। यही इस 'वा' के ग्रहण का प्रयोजन है।

परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात् । 2280 झषस्त-थोर्धोऽधः (8.2.40)—झषः परयोस्त-थोर्धः स्यान्न तु दधातेः । जश्त्वम्—सिषेद्ध, सिषेधिथ; सेद्धा, सेधिता; सेत्स्यति, सेधिष्यति; असैत्सीत् । 2281 झलो झलि(8.2.26)—झलः

आगम विकल्प से हो । 2280 झष् प्रत्याहार के वर्ण के पश्चात् स्थित तकार और थकार को धकार हो, किंतु √धा के तकार और थकार को (धकार) नहीं (हो) । जश् आदेश होता है—सिषेद्ध, सिषेधिथ इत्यादि । 2281 झल् प्रत्याहार के वर्ण से

2280 **झषस्त-थोर्धोऽधः** (8.2.40)—'झषः', प०, ए० है, 'त-थोः' ष० द्वि० । 'त' में 'अ' उच्चारणार्थ है । 'धः' (प्र० एकव०) में भी 'अ' उच्चारणार्थ है । न धा इति अधाः, तस्य अधः । **झषः परयोः त-थोः (तकार-थकारयोः स्थाने) धः स्यात् अधः (न धा-धातोः)** । झष् से परे (स्थित) त् और थ् को ध् होता है, √धा (के त् और थ्) को छोड़ कर ।

सिषेधिथ—√सिध् से कर्ता में लिट्, लिट् को सिप्, सिप् को थल् : सिध्+थ । द्वित्वादि : सिध्+सिध्+थ । अभ्यासकार्य, सिषेध्+थ । **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त इट् को बाध कर **स्वरति-सूति०** से वैकल्पिक इट् (इ) : सि+सिध्+इ+थ । सिध् के 'इ' को उपधागुण : सि+सेध्+इथ । **आदेश-प्रत्यययोः** से अभ्यासोत्तर स् को ष् : सि+षेध्+इथ=सिषेधिथ ।

इट् न होने के पक्ष में 'सि+षेध्+थ' स्थिति में **झषस्त-थोर्धोऽधः** से थ् को ध : सि+षेध्+ध, **झलां जश् झशि** से पूर्व ध् को जश्त्व (द्) : सि+षेद्+ध=सिषेद्ध ।

सिषेध, सिषिधतुः, सिषिधुः; सिषेधिथ, सिषेद्ध, सिषिधथुः, सिषिधः; सिषेध, सिषिधिव, सिषिध्व, सिषिधिम, सिषिध्म ।

सेधिता/सेद्धा; सेधिष्यति/सेत्स्यति, (सेध्+स्यति, **खरि च** से ध् को त्), सेधतु, असेधत्, सेधेत्, सिध्यात्, असेधीत्, न्यषेधीत्, असैत्सीत्, असेधिष्यत्, असेत्स्यत् । लुङ् में इट्-पक्ष में 'आतीत्' की तरह असेधीत् । इट् न होने पर असिध्+स्+त्, **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** से 'त्' को ईट् (इ) का आगम : अ+सिध्+स्+ई+त् । **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से वृद्धि : असैध्+स्+ईत् । **खरि च** : असैत्सीत् ।

तस् के इडभाव-पक्ष में 'अ+सैध्+स्+ताम्' स्थिति में **झलो झलि** से स् का लोप : अ+सैध्+ताम्, **झषस्त-थोर्धोऽधः** से त् को 'ध्' : असैध्+धाम्. **झलां जश् झशि** से ध् को द् : असैद्धाम् ।

2281 **झलो झलि** (8.2.26)—संयोगान्तस्य लोपः (23), रात्सस्य (24) । 'झलः' पंचमी एकवचनांत है । 'सस्य' में 'अ' उच्चारणार्थ है । **झलः (परस्य) सस्य**

परस्य सस्य लोपः स्याज्झलि । असैद्धाम्, असैत्सुः; असैत्सीः, असैद्ध; असैत्सम्, असैत्स्व, असैत्स्म । पक्षे असेधीत्, असेधिष्टाम् इत्यादि ॥ 41 ॥

3.13 खादृ भक्षणे ॥ 9 ॥ ऋकार इत् । खादति, चखाद । 14 खद स्थैर्ये हिंसायां च ॥ 10 ॥ चाद् भक्षणे । स्थैर्येऽकर्मकः । खदति । 2282 अत परे स्थित स् का लोप हो जाए, बाद में झल् होने पर । असैद्धाम् इत्यादि । (इट् के) पक्ष में असेधीत्, असेधिष्टाम् इत्यादि ॥ 41 ॥

तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी : घ : 13-15 धातु

3.13 √खाद् खाना अर्थ में है ॥ 9 ॥ ऋ इत्संज्ञक है । खादति, चखाद । 14 √खद् स्थिर होना, हिंसा में भी है ॥ 10 ॥ 'भी' कहने से 'खाना' अर्थ में है । 'स्थिर होना' अर्थ में अकर्मक है । खदति । 2282 उपधा के ह्रस्व अकार को वृद्धि हो

लोपः (भवति) झलि—झल् (प्रत्याहार के वर्ण) से परे स्थित स् का लोप होता है, झल् (प्रत्याहारस्थ वर्ण) परे रहते ।

यहाँ **पदस्य** (8.1.16) का अधिकार होने से 1 पूर्व झल्, 2 सकार तथा 3 अपर झल् ये तीनों जब एक ही पद के होंगे, तभी लोप होगा : भिन्नपदस्थ होने पर 'सोमस्तुत्स्थानम्' में 'स्थानम्' के स् का लोप नहीं होता । 'झलः' कहने से 'अचैष्टाम्' आदि में अच् से परवर्ती स् का लोप नहीं होता । 'झलि' कहने से 'असैत्सीत्' आदि में अच् परे रहने पर भी सकार-लोप नहीं होता ।

असैत्सीत्, असैद्धाम्, असैत्सुः; असैत्सीः, असैद्धम्, असैद्ध; असैत्सम्, असैत्स्व, असैत्स्म । नि, प्रति इत्यादि उपसर्ग पूर्व में होने पर न्यषेधीत्, न्यषैत्सीत्, प्रत्यषैत्सीत्, प्रत्यषैद्धाम् इत्यादि में स् को **प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि** से षत्व होता है ॥ 41 ॥

3.13 √**खाद्** भक्षण (खाना) अर्थ में (सकर्मक) है । उदात्त ऋ की इत्संज्ञा से परस्मैपद होता है तथा चङ् में प्राप्त उपधा-ह्रस्व नहीं होता : अचखादत् । खादति, चखाद, खादिता, खादिष्यति, खादतु, अखादत्, खादेत्, खाद्यात्, अखादीत् । अखादिष्यत् ।

14 √खद् खड़ा होना, टिकना (अकर्मक) और खदेड़ना (सकर्मक) तथा भक्षण (सकर्मक) अर्थों में है । खदति ।

2282 **अत उपधायाः** (7.2.116)—मृजेर्वृद्धिः (114), अचो ञ्णिति (115) : **उपधाया अतः वृद्धिः (भवति) ञ्णिति (प्रत्यये परे सति)**—अतिम वर्ण से पूर्ववर्ती वर्ण के रूप में विद्यमान ह्रस्व अकार को वृद्धि होती है, बाद में ञ् की अथवा ण् की इत्संज्ञा वाला प्रत्यय होने पर ।

उपधायाः (7.2.116)—उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् ञिति, णिति च प्रत्यये परे। चखाद। 2283 णलुत्तमो वा (7.1.91)—उत्तमो णल्वा णित्स्यात्। चखाद, चखद। 2284 अतो हलादेर्लघोः (7.2.7)—हलादेर्लघोरकारस्येडादौ परस्मैपदपरे सिचि वृद्धिर्वा स्यात्। अखादीत्, अखदीत्। 15 बद स्थैर्ये ॥ 11 ॥ पवर्गीयादिः। बदति; बबाद, बेदतुः, बेदिथ, बबाद-बबद; अबादीत्, अबदीत् ॥ 42 ॥

जाए ञ् की और ण् की इत्संज्ञा वाला प्रत्यय बाद में होने पर। चखाद। 2283 उत्तम णल् प्रत्यय विकल्प से ण् की इत्संज्ञा वाला हो। चखाद, चखद। 2284 परस्मैपद प्रत्यय से पूर्ववर्ती, तथा आदि में इट् वाला सिच् बाद में होने पर व्यंजनादि धातु के लघु अकार को विकल्प से वृद्धि हो जाए। अखादीत्, अखदीत्। 15 √बद् स्थिर होने में है ॥ 11 ॥ यह पवर्गीय वर्ण से प्रारम्भ होती है। बदति (इत्यादि) ॥ 42 ॥

2283 **णलुत्तमो वा** (7.1.91)—गोतो णित् (90) : **उत्तमो णल् वा णित् (भवति)**—उत्तम (-संज्ञक प्रत्ययों में से अन्यतम मिप् का आदेश) णल् विकल्प से ण् की इत्संज्ञा वाला होता है। अर्थात् उसे अभावातिदेश से अणित् के समान मान लिया जाता है। फलतः यह णल् में होने पर इसके निमित्त से णित्व-निमित्तक कार्य विकल्प से होंगे।

2284 **अतो हलादेर्लघोः** (7.2.7)—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (1), नेटि (4) ऊर्णोतेर्विभाषा (6), अङ्गस्य (6.4.1) : **हलादेः अङ्गस्य (अवयवस्य) लघोः अतः इटि (इडादौ) सिचि परस्मैपदेषु वृद्धिः विभाषा (भवति)**—व्यंजन से प्रारम्भ होने वाले अङ्ग के (अवयव) ह्रस्व अकार को विकल्प से वृद्धि होती है, परस्मैपद प्रत्यय से पूर्व आदि में इट् वाला सिच् बाद में होने पर। 'अतः' कहने पर भी 'लघु' कहने से संयुक्त-व्यंजन से पूर्व-वर्ती अत् को वृद्धि नहीं होगी : अमन्थीत्।

कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ 'लघोः' पद छोड़ा जा सकता है, क्योंकि 'अचकासीत्' इत्यादि में तो **येन नाव्यवधानम्, तेन व्यवहितेऽपि** परिभाषा से वृद्धियोग्य ('च' में विद्यमान अ) तथा इडादिसिच् में कई वर्णों (कास्) का व्यवधान होने से वृद्धि प्राप्त ही नहीं होती। 'अरक्षीत्' इत्यादि में भी इसी तरह प्राप्ति ही नहीं है। अतः केवल **अतो हलादेः** ही पर्याप्त है।

सिद्धियाँ—√खद्+लिट्, उसे तिप्, उसे णल् : 'खद्+अ' स्थिति में द्वित्व : खद्+खद्+अ। अभ्यास-कार्य : चखद्+अ। **अत उपधायाः** से 'चखद्' की उपधा के अ को वृद्धि : चखाद। अतुस् आदि में णित् प्रत्यय बाद में न होने के कारण वृद्धि

3.16 गद व्यक्तायां वाचि ॥ 12 ॥ गदति।

तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयांत परस्मैपदी धातु : ङ : 16-18 गद्— नद्

3.16 √गद् स्पष्ट (स्वर-व्यंजनात्मक वर्ण-भेद वाली) वाणी (बोलना) अर्थ में

प्राप्त नहीं है। खकार को विरूपकारक चकार आदेश होने के कारण **अत एकहल्मध्ये०** से एत्त्व तथा अभ्यास-लोप भी प्राप्त नहीं हैं : चखदतुः, चखदुः, चखदिथ, चखदथुः, चखद। खद्+मिप्, उसे णल् में चखद्+अ स्थिति में **णलुत्तमो वा** से अ में वैकल्पिक णित्त्व के कारण णित्त्व-पक्ष में उपधा के अकार को वृद्धि : चखाद; णित्त्वाभाव-पक्ष में वृद्धि भी नहीं हुई : चखद। चखदिव, चखदिम।

लुङ् में 'अखद्+ईत्' स्थिति में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से हलंत होने के कारण प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध होने पर **अतो हलादेर्लघोः** से विकल्प से वृद्धि होती है। वृद्धि-पक्ष में अखादीत्। अभाव-पक्ष में अखदीत्। 'अखादीत्' इत्यादि रूप 'अनाथीत्' इत्यादि की तरह ही होते हैं। वृद्ध्यभाव-पक्ष में अखदीत्, अखदिष्टाम्, अखदिषुः, अखदीः, अखदिष्टम्, अखदिष्ट, अखदिषम्, अखदिष्व, अखदिष्म।

15 √**बद्** पवर्ग-तृतीयादि है। स्थिर होना (अकर्मक) इसका अर्थ है। बदति, बबाद, बदिता, बदिष्यति, बदतु, अबदत्, बदेत्, बद्यात्, अबादीत्, अबदीत्, अबदिष्यत्।

लिट् में कित् प्रत्ययों में **अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि** से तथा थल् में **थलि च सेटि** से **हलादिः शेषः** को बाध कर एत्त्व और अभ्यास-लोप होते हैं : बेदतुः, बेदुः, बेदिथ, बेदथुः, बेद, बेदिव, बेदिम। तिप् और मिप् के णलों में अ को स्थानिवद्भाव से पिद्भाव होने के कारण एत्त्व तथा अभ्यास-लोप प्राप्त नहीं हैं : बबाद, बबाद/बबद।

आचार्य मैत्रेय-रक्षित के अनुसार यह धातु √**बन्द्** (स्वाभाविक नकार वाली) है, अतः बन्दति, बबन्द। अतुस् आदि में उन्होंने एक विचित्र बात कही है : अतुस् आदि के कारण **अनिदितां हलः०** से न् का लोप होने पर धातु 'बद्' रह जाती है, अतः **अत एक-हल्मध्ये०** से एत्त्व और अभ्यास-लोप होकर 'बेदतुः' आदि रूप बनते हैं। पर अतुस् आदि की कित्संज्ञा करने वाले सूत्र में **असंयोगात्** पद शायद उन्हें याद नहीं रहा।[1] यदि यहाँ नकार-लोप होता है, तो पीछे आई **5 मन्थ विलोडने** के भी मेथतुः, मेथुः आदि रूप होने चाहियें ॥ 42 ॥

3.16 √**गद्** का अर्थ स्वर और व्यंजन के भेद वाली मानवीय वाणी बोलना

---

1. डा० प० श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी जी ने आचार्य मैत्रेय के इस कथन का **'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'** की दृष्टि से यह समाधान देने का प्रयास किया है कि यहाँ कित्त्व-विधायक कोई वचन आचार्य मैत्रेय की दृष्टि में होगा।

2285 नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च (8.4.17)—उसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य नेर्णः स्याद् गदादिषु। प्रणिगदति। जगाद।

है ॥ 12 ॥ गदति। 2285 उपसर्ग में स्थित निमित्त के पश्चात् स्थित नि उपसर्ग (के नकार)को ण् हो जाए 1 √गद्, 2 √नद्, 3 √पत्, 4√पद्, 5-10 'घु' संज्ञक (छह) धातु, 11-13 (तीन) √मा, 14 दैवादिक √सो, 15 √हन्, 16 √या, 17 √वा, 18 √द्रा, 19 √प्सा, 20 √वप्, 21 √वह्, 22 दैवादिक √शम्, 23 सौवादिक √चि तथा 24 √दिह् धातु बाद में होने पर। प्रणिगदति। जगाद।

है। अभिधान किसी अभिधेय का होता है, अतः यह सकर्मक है **जगाद कन्या वचनं द्वितीयम्**। गदति, जगाद, गदिता, गदिष्यति, गदतु, अगदत्, गदेत्, गद्यात्, अगादीत्/अगदीत्, अगदिष्यत्।

2285 **नेर्गद-नद०** (8.4.17)—रषाभ्यां नो णः समान-पदे (1), उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य(14) : **उपसर्गात् रषाभ्यां नेः नः णः गद-नद-पत-पद···देग्धिषु।** 'उपसर्गात्' की पंचमी का अन्वय 'रषाभ्यां' की पंचमी के साथ है। दोनों का तात्स्थ्य संबंध है : र् और ष् उपसर्ग में स्थित होकर न् को णत्वादेश का निमित्त होते हैं— **उपसर्गस्थाभ्यां र-षाभ्यां (परस्य) नेः नः णः (भवति) गद-नद-पत-पद···देग्धिषु।** अर्थात् उपसर्ग में स्थित रेफ तथा षकार के पश्चात् स्थित नि के स्थान में णकार आदेश होता है 1 गद व्यक्तायां वाचि, 2 णद अव्यक्ते शब्दे, 3 पत्लृ गतौ, (सब भ्वा०), 4 पद गतौ (दि०, चु०), 5 दाण् दाने (भ्वा०), 6 देङ् रक्षणे (भ्वा०), 7 डुदाञ् दाने (जु०), 8 दो अवखण्डने (दि०), 9 धेट् पाने (भ्वा०), 10 डुधाञ् धारण-पोषणयोः (जु०), 11 मेङ् प्रणिदाने (भ्वा०), 12 माङ् माने शब्दे च (जु०), 13 माङ् माने (दि०), 14 षोऽन्त-कर्मणि (दि०), 15 हन हिंसागत्योः, 16 या प्रापणे, 17 वा गति-गन्धनयोः, 18 द्रा कुत्सायां गतौ, 19 प्सा भक्षणे (सब अ०), 20 डुवप बीज-सन्ताने, 21 वह प्रापणे (दोनों भ्वा०), 22 शमु उपशमे (दि०), 23 चिञ् चयने (स्वा०) तथा 24 दिह उपचये (अ०) बाद में होने पर।

सूत्र के **गद-नद-पत-पद** में 'अ' उच्चारणार्थ नहीं है, अपितु शप् है। ऐसे ही 'स्यति' आदि में श्तिप् भी यङ्लुक् में णत्व की निवृत्ति को सूचित करता है।[1] शाम्यति' में श्यन् और 'चिनोति' में श्नु अन्य विकरणों वाली चौरादिक √शम् और √चि के निवारण के लिए है। सूत्र में 'च' निष्प्रयोजन है।

---

1. **श्तिपा, शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।**
   यत्रैकाज्ग्रहणं चैव, पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥

17 रद विलेखने ॥ 13 ॥ विलेखनं=भेदनम् । रराद ।

18 णद अव्यक्ते शब्दे ॥ 14 ॥ 2286 णो नः (6.1.65)—धातोरादेर्णस्य नः स्यात् । नदति । णोपदेशास्त्वनर्द-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द्-नक्क-नृ-

17 √रद् विलेखन में है ॥ 13 ॥ 'विलेखन' माने 'तोड़ना' । रराद ।

18 √णद् अव्यक्त (अस्पष्ट) आवाज़ होना अर्थ में है ॥ 14 ॥ 2286 धातु के प्रारंभिक ण् के स्थान में न् आदेश हो । नदति । 1 √नर्द्, 2 √नाटि, 3 √नाथ्, 4 √नाध्, 5 नन्द्, 6 √नक्क्, 7 √नृ और 8 √नृत् को छोड़ कर (शेष सब व्यवहार में नकारादि धातु) तो उपदेश में णकार वाली हैं । यहाँ दीर्घ के योग्य 'नाटि' को छोड़ने की कहने के कारण घटादि-गणांतर्गत √नट् (नटि) उपदेश में णकारवान् ही

'प्रनि+गदति' स्थिति में नेर्गद० से णत्व : प्रणिगदति । ऐसे ही परिणिगदति। प्रणिजगाद, प्रण्यगदत्, प्रण्यगादीत् । अट् धातु को आगम के रूप में विहित होने से धातु ही बन जाता है;[1] अतः अट् का व्यवधान णत्व में बाधक नहीं है ।[2]

17 √रद् दाँत से काटना, कुतरना, तोड़ना अर्थ में सकर्मक है । रद, रदन (दाँत) । रदति, रराद, रेदतुः; रदिता आदि । लुङ् में (**अतो हलादेर्लघोः** से) वृद्धि के विकल्प के कारण अरादीत्, अरदीत् ।

18 √णद् गूँज, नाद, गर्जना जैसी अव्यक्त ध्वनि करना अर्थ में अकर्मक है । वासुदेवदीक्षित के अनुसार मनुष्य से भिन्न पशु, पक्षी आदि की बोली इसका अर्थ है ।[3]

2286 **णो नः** (6.1.65)—धात्वादेः षः सः (64) । धात्वादेः 6.1 णः 6.1 नः 1.1 भवति । धातु के आदिम णकार के स्थान में नकार आदेश होता है । इससे √णद् के ण् को न् : √नद् ।

णोपदेश धातु : जिस प्रकार सकारादि धातु (1) षोपदेश और (2) सोपदेश हैं, वैसे ही व्यवहार में नकारादि धातु भी (1) णोपदेश तथा (2) नोपदेश हैं । णोपदेश अधिक हैं, तथा नोपदेश अल्प । धातुपाठकार ने इन्हें णकारवान् और नकारवान् के रूप में दिया था । पर कालांतर में पाठभ्रंश की सम्भावना के कारण आचार्यों ने—संभवतः पतञ्जलि ने—नोपदेश धातुओं का परिगणन करके शेष धातुओं को णोपदेश बताया है[4]: 1 **नूती गात्र-विक्षेपे** (दि०), 2 **टुनदि समृद्धौ** (भ्वा०), 3 **नद**

---

1. **यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते** (प० 12) ।
2. का० : **अड्-व्यवायेऽपि णेर्गदादिषु णत्वमिष्यते—प्रण्यगदत्, परिण्यगदत् ।**
3. बा० म० : **अव्यक्त-शब्दः=अमनुष्य-पशु-पक्ष्यादि-कृत-प्रयोगः ।**
4. म० भा० 6.1.65 : **सर्वे नादयो णोपदेशाः नूति-नन्दि-नर्दि-नक्कि-नाटि-नाथ्-नृ-वर्जम् ।**

नृतः। नाटेर्दीर्घार्हस्य पर्युदासाद् घटादिर्णोपदेश एव। तवर्गचतुर्थान्त-नाधतेः, नृ-नर्द्योश्च केचिण्णोपदेशतामाहुः। 2287 उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (8.4.14)—उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः स्यात् समासे, असमासेऽपि। प्रणदति, प्रणिनदति ॥ 43 ॥

है। कुछ लोग तवर्ग के चौथे (ध्) को अंत में रखने वाली √नाध् को और √नृ तथा √नर्द् को उपदेश में णकार वाली ही बताते हैं। 2287 उपसर्ग में स्थित निमित्त के पश्चात् स्थित, उपदेश में णकारवान् धातु के नकार को णकार आदेश हो जाए समास में, और समास के अभाव में। प्रणदति, प्रणिनदति ॥ 43 ॥

शब्दे (भ्वा०), 4 **नक्क नाशने** (चु०), 5 **नट अवस्यन्दने** (चु०), 6-7 **नाथृ, नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु** (भ्वा०) तथा 8 **नृ**[1] **नये** (भ्वा० तथा क्र्या०) धातुओं को छोड़ कर शेष सभी व्यवहार में नकारादि के रूप में प्रयुक्त धातु उपदेशकाल में णकारादि हैं। उनके नकार को **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (8.4.14) से णत्व हो जाता है, जबकि ऊपर परिगणित नकारादि धातुओं के नकार को णत्व नहीं होता।

भाष्य में वृद्धिमान् 'नाटि (<√नट्+णिच्) के ग्रहण से सिद्ध होता है कि भौवादिक तथा घटादि-गणांतर्गत √नट् णोपदेश ही हैं। सायण के द्वारा चुरादि में मतांतरीय के रूप में पठित √नट् भी 'नाटि' रूप से युक्त होने के कारण णोपदेश नहीं है।

शाकटायनन्यास में √नर्द का ग्रहण नोपदेशों में नहीं किया है। अतः इनके मत में यह णोपदेश है। मैत्रेय और आभरणकार के मत में √नाध् णोपदेश है। काश्यप के मत में आचार्यों के विरोध के कारण यह उचित नहीं है। काशिकाकार, हरदत्त, सायण और श्रीकर यहाँ 'नृ' का ग्रहण नहीं मानते। अतः उनके मत में यह णोपदेश है। भाष्य और न्यास में नोपदेशों में इसका ग्रहण है। दीक्षितजी ने इन्हीं का अनुसरण किया है।

2287 **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (8.4.14)—र-षाभ्यां नो णः समान-पदे (1)। प्रस्तुत सूत्र असमान (भिन्न) पद उपसर्ग के पश्चाद्वर्ती को विधान करने के कारण असमान पदों में प्रवृत्ति के लिए है। अतः 'समानपदे' का अधिकार होते हुए भी यहाँ वह लागू नहीं होता। **समासेऽङ्गुलेः सङ्गः** (8.3.80) से 'समासे' की अनुवृत्ति

---

1. न्यास तथा क्षी० त० में ह्रस्वांत 'नृ' संभवतः प्रूफ की गलती है, क्योंकि ह्रस्वांत 'नृ' किसी भी धातु-पाठ में उपलब्ध नहीं है। **प्वादीनां ह्रस्वः** (7.3.80) से कृत-ह्रस्व का उल्लेख यदि माना जाए, तो बात दूसरी है।

3.19 अर्द-गतौ, याचने च ॥ 15 ॥ अत आदेः (2248)—2288 तस्मान्नुड् द्विहलः (7.4.71)—द्विहलो धातोर्दीर्घीभूतादकारात् परस्य नुट्

तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयान्त परस्मैपदी धातु : च : 19-24 √अर्द्—√खर्द्

3.19 √अर्द् गति और माँगना अर्थों में है ॥ 15 ॥ 'अत आदेः' (से धातु के आदि स्वर को लिट् में दीर्घ होने पर)—2288 दो हल् वाली धातु के दीर्घ हुए

है। **अट्-कु-प्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि** का अधिकार है। 'धातोः' अर्थतः उपस्थित होता है। उपसर्ग के साथ रेफ एवं सकार का तात्स्थ्य संबंध है : **उपसर्गात् (=उपसर्गस्थात्) र-षाभ्याम् (रेफाच्च, षकाराच्च) अट्-कु-प्वाङ्-नुम्व्यवायेपि णोपदेशस्य (धातोः) णः (= णकारस्य) नः (नकारः भवति) समासे, असमासेऽपि**—उपसर्ग में स्थित रेफ तथा षकार से परे अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् से व्यवधान में भी णोपदेश (धातु) के न् को ण् होता है, समास में तथा समास न होने पर भी।

यहां 'समासे' की अनुवृत्ति के कारण 'असमास में कहीं यह णत्व हो ही नहीं ?' इस शङ्का के निवारण के लिए 'असमासे' पद दिया है। 'असमासे' ही कहने से 'समासे' की निवृत्ति की शङ्का के कारण 'प्रणाम', 'परिणाम' इत्यादि में कहीं समास होने से (असमास न होने के कारण) णत्व प्राप्त ही नहीं हो, इसके निवारण के लिए सूत्र में 'अपि' शब्द पढ़ा है। इससे मण्डूक-प्लुति से 'समासे' की अनुवृत्ति होती है।

प्रणदति—प्र+नद्+अ+ति। उपसर्गस्थ रेफ से अट् से व्यवहित पर न् को ण् होता है। ऐसे ही पर्यणदत् में भी। किन्तु प्र+नि+नद्+अ+ति में 'प्र' से परे 'नि' का व्यवधान होने से णत्व नहीं होता। 'नि' के न् को णत्व **नेर्गद-नद०** से होता है।

लिट् में ननाद, नेदतुः इत्यादि। लुङ् में अनादीत्, अनदीत् ॥ 43 ॥

3.19 √**अर्द्** धातु गति तथा माँगना अर्थों में (सकर्मक) है। गति किस प्रकार की अभिप्रेत है, यह प्रयोग न मिलने से स्पष्ट नहीं है। कालिदास ने **निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनन्नार्दति चातकोऽपि** (रघु० 5.17) में 'याचना' अर्थ में प्रयोग किया है। क्षीर-स्वामी के अनुसार कुछ लोग 'यातना' अर्थ में मानते हैं। यातना=तंग करना, दुःख देना है। यास्क ने (निरुक्त 6.33 में) 'अर्दन' का अर्थ 'गमन' किया है। यह ण्यन्त रूप में हिंसार्थक धातुओं में निघण्टु (2.19) में समाम्नात है। चुरादि में यह हिंसा में आया भी है। अतः इसका गति अर्थ तो प्रामाणिक है। यातना भी कदाचित् कहा जा सकता है। निघण्टु (2.19) के लघुपाठ में यह 'याचति' के साथ दिया है। कदाचित् इसी कारण यह याचना अर्थ में चल पड़ा है। 'जनार्दन' में यही √अर्द् है।

2288 तस्मान्नुड् द्विहलः (7.4.72)—इससे पहले **अत आदेः** सूत्र है, जो दीर्घ करता है। प्रस्तुत सूत्र में सर्वनाम ('तत्') से पूर्वसूत्र से विहित कार्य लेना है। **तस्मा-**

स्यात् । आनर्द । आर्दीत् । 20 नर्द 21 गर्द शब्दे ॥ 16 ॥ णोपदेशत्वाभावान्न णः—प्रनर्दति । गर्दति, जगर्द । 22 तर्द हिंसायाम् ॥ 17 ॥ तर्दति । 23 कर्द कुत्सिते शब्दे ॥ 18 ॥ कुत्सिते=कौक्षे । कर्दति । 24 खर्द दन्दशूके ॥ 19 ॥ दंश-हिंसाऽऽदिरूपायां दन्दशूक-क्रियायामित्यर्थः । खर्दति, चखर्द ॥ 44 ॥

अकार के पश्चात् स्थित (वर्ण) को नुट् हो जाए । आनर्द । आर्दीत् । 20 √नर्द्, 21 √गर्द् शब्द अर्थ में हैं ॥ 16 ॥ उपदेश में णकारवान् न होने के कारण नकारादेश नहीं होता—प्रनर्दति । गर्दति, जगर्द । 22 √तर्द् हिंसा अर्थ में है ॥ 17 ॥ तर्दति । 23 √कर्द् खराब आवाज करना अर्थ में है ॥ 10 ॥ खराब=पेट की आवाज अर्थ में । कर्दति । 24 √खर्द् दन्द-शूक अर्थ में है ॥ 19 ॥ अर्थात् डाँश, मच्छर आदि के काटने की क्रिया अर्थ में है । खर्दति, चखर्द ॥ 44 ॥

न्नुडचि (6.3.74) में भी इसी प्रकार **न लोपोः नञः** (73) से किये कार्य का परामर्श होता है । अतः यहाँ 'तस्मात्' का अर्थ है : उस (पूर्व-सूत्र-प्रतिपादित कार्य) से परे । **द्विहलः**—द्वौ हलौ यस्मिन्, तस्य (जिसमें दो हल् हैं, उसे) । **नुट्** प्रथमा एक वचन में है । अथवा **अत्र-लोपोऽभ्यासस्य** (58), **दीर्घ इणः किति** (69), **अत आदेः** (70) की अनुवृत्ति आती है । 'तस्मात्' से 'दीर्घः' की प्रथमा पंचमी में परिणत हो जाती है : **तस्मात् (=अभ्यासस्य आदेः अतः दीर्घात् परस्य)** । **अंगस्य** का अधिकार है । 'तस्मात्' में पंचमी से **तस्माद् इत्युत्तरस्य**—परिभाषा से यह आगम अभ्यास के पश्चात् स्थित अंश का आद्यवयव (टित् होने से) बन जाता है : **द्विहलः अङ्गस्य तस्माद्(=अभ्यासस्य आदेः अतः स्थाने विहिताद् दीर्घात् उत्तरस्य) नुट् (भवति)**—दो व्यंजनों वाले अंग के उस (अभ्यास के अत् को विहित दीर्घ) से परे स्थित अश को नुट् होता है ।

सिद्धियाँ—√अर्द्+लिट् में णल् : अर्द्+अ; द्वित्व : अर्द्+अर्द्+अ; **हलादिः शेषः** से अभ्यास के आदि-भिन्न हलों 'र्द्' का लोप : अ+अर्द्+अ; **अत आदेः** से अभ्यास के ह्रस्व 'अ' को दीर्घः आ+अर्द्+अ; **तस्मान्नुड् द्विहलः** से दो 'र्, द्' व्यंजनों वाली धातु के अभ्यास को विहित दीर्घ आ के बाद के अंश अर्द् के आदि में नुट् (न्) : आ+न् अर्द्+अ=आनर्द् । इसी प्रकार आनर्दतुः, आनर्दुः; आनर्दिथ, आनर्दथुः, आनर्द; आनर्द, आनर्दिव, आनर्दिम ।

अर्दिता, अर्दिष्यति, अर्दतु, आर्दत्, अर्दे्त्, अर्द्यात्, आर्दीत्—आ+अर्दीत्, **आटश्च** से वृद्धि एकादेश; आर्दिष्यत् ।

20 √**नर्द्**, 21 √**गर्द्** धातु साँढ, बैल, गधा आदि पशुओं का बोलना, टाडना, अर्थ में अकर्मक हैं । हरियाणवी में साँड को ध्वनि के आधार पर 'नाड' भी कहते हैं । पहली नकारादि धातु **णोपदेशास्तु अ-नर्द्-नाटि-नाथ०** मे छोड़ी गई धातुओं में है, अतः यह णोपदेश नहीं है । फलतः प्र+नर्दति स्थिति में **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य**

3.25 अति, 26 अदि बन्धने ॥ 20 ॥ अन्तति, आनन्त; अन्दति, आनन्द। 27 इदि परमैश्वर्ये ॥ 21 ॥ इन्दति, इन्दांचकार। 28 बिदि अवयवे ॥ 22 ॥ पवर्ग-तृतीयादिः। बिन्दति=अवयवं करोतीत्यर्थः। 'भिदि' इति पाठान्तरम्। 29 गडि वदनैकदेशे ॥ 23 ॥ गण्डति। 'अन्तत्यादयः पञ्चैते न तिङ्-विषया' इति काश्यपः। अन्ये तु तिङ्मपीच्छन्ति।

तृतीय धातु-वर्ग : तवर्गीयान्त परस्मैपदी धातु : छ : 25-38 √अन्त्—√शुन्ध्

3.25 √अन्त्, 26 √अन्द् बाँधना अर्थ में हैं ॥ 20 ॥ अन्तति, आनन्त; अन्दति, आनन्द। 27√इन्द् अत्यधिक होना, ऐश्वर्य होना अर्थ में है ॥ 21 ॥ इन्दति, इन्दांचकार। 28 √बिन्द् तोड़ना अर्थ में है ॥ 22 ॥ इसके आदि में पवर्ग का तीसरा वर्ण है। बिन्दति अर्थात् टुकड़े करता है। √भिन्द् पाठ-भेद है। 29 √गण्ड् मुंह के एक हिस्से (गाल) की क्रिया में है ॥ 23 ॥ गण्डति। काश्यप का कथन है कि √अन्त् आदि पाँच धातुओं से तिङ् प्रत्यय नहीं लगते। अन्य आचार्य तो इनसे तिङ् भी चाहते हैं।

से णत्व की यहाँ प्राप्ति ही नहीं है : प्रनर्दति। ननर्द, ननर्दतुः, नर्दिता, अनर्दीत्। गर्दति इति गर्दभः (रेंकता है) : **शृ-कृ-शलि-कलि-गर्दिभ्योऽभच्** (उ० 3.122)। 22 √**तर्द्** चुभना अर्थ में अकर्मक, चुभोना अर्थ में सकर्मक है। तर्दति, तदर्द। 23 √**कर्द्** पेट में हवा की आवाज होना अर्थ में अकर्मक है। कर्दति, चकर्द। 24 √**खर्द्** साँप, बिच्छू, डाँश, मच्छर आदि का लड़ना (काटना) अर्थ मे सकर्मक है। परीक्षितं तक्षकश्चखर्द (परीक्षित को तक्षक काट गया) ॥ 44 ॥

3.25 √**अन्त्**, 26 √**अन्द्**, 27 √**इन्द्**, 28 √**बिन्द्** और 29 √**गण्ड्**—इन पाँच धातुओं से तिङ् प्रत्यय नहीं होते। अन्त्र (अँतड़ी, आँत), अन्त (छोर, गृह, विनाश, end), अन्ति (समीप), अन्दू (पैर में पहिनने की कड़ी, पैर बाँधने की बेल, बेड़ी), अन्दुक (हाथी के पैर की जंजीर या मोटा रस्सा), इन्द्र (देवराज), इन्दु (चाँद), बिन्दु (बूंद), गण्ड[1] (गाल) आदि कुछ कृदन्त प्रतिपादिकों में ही इनका प्रयोग मिलता है।

---

1. महाभारत, अनुशासन पर्व 93.98, में धातुपाठ का अर्थ निर्देश ही दुहराया है : **वक्त्रैकदेशे गण्डेति धातुमेतं प्रचक्षते**। यह धातु क्षी० स्वा० के मत में गाल भरने में है : **गण्ड-गत-संहनन-क्रियायामित्यर्थः**। सायण : गाल शुरू होने में है—**इह वदनैकदेशारम्भ-लक्षणा क्रिया 'वदनैक-देश'-शब्देनोच्यते**।

30 णिदि कुत्सायाम् ॥ 24 ॥ निन्दति, प्रणिन्दति । 31 टुनदि समृद्धौ ॥ 2289 आदिर्ञि-टु-डवः (1.3.5)—उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः । नन्दति । इदित्वान्न-लोपो न—नन्द्यात् । 32 चदि आह्लादे ॥ 26 ॥

30 णिन्द् बुराई करना अर्थ में है ॥ 24 ॥ निन्दति, प्रणिन्दति । 31 टुनदि खुशहाली होना अर्थ में है ॥ 25 ॥ उपदेश में धातु के प्रारंभिक ञि, टु तथा डु इत्संज्ञक होते हैं । नन्दति । ह्रस्व इकार की इत्संज्ञा होने के कारण नकार का लोप नहीं

यह काश्यप आचार्य का अभिप्राय है ।[1] अन्य आचार्य इन्हें तिङ्-कृदुभय-साधारण मानते हैं । संमताकार केवल √बिन्द् और पाठांतर के रूप में अभिप्रेत √भिन्द् से तिङ् नहीं मानते ।

उपदेश में इदित् धातुओं में **इदितो नुम् धातोः** से नुम् धातु के स्वर के पश्चात् हो जाता है; उसे **नश्चापदान्तस्य झलि** से अनुस्वार तथा **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से परसवर्ण होने पर 'अति=अन्त् इत्यादि । इस प्रघट्ट को 14 धातुओं में से 13 धातु इदित् होने से नकारवान् हैं, केवल अन्तिम 'शुन्ध्' उपदेश में ही नकार से युक्त है । कित् प्रत्यय से पूर्व इसके नकार का लोप होता है : शुध्यात्, शुधितः, शुधितवान्; पर इदितों के नकार का लोप नहीं होता : अन्त्यात्, अन्तित; अन्तितवान् ।

31 **टुनदि** में टु की इत्संज्ञा **आदिर्ञि-टु-डवः** से होती है । 'इ' **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञक है ही, अतः धातु √नद् बचती है, इदित्वान्नुम् : √नन्द् । नन्दति, ननन्द, नन्द्यात्, अनन्दीत्; आनन्दः, ननान्दा (ननद, पति की बहिन जो भाभी से कभी खुश नहीं होती—क्षी० त०) ।

2289 **आदिर्ञि-टु-डवः** 1.3 (1.3.5)—उपदेशेऽजनुनासिक इत् (2) । ञि और डु शब्द-स्वरूपों के साथ पठित होने से तथा 'टु' से पृथक् 'डु' के ग्रहण से 'टु' से टवर्ग का बोध (**अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** से) नहीं होगा । 'आदि' अवयवार्थक है; ञि, टु और डु शास्त्र में धातु के ही अयवव हैं, अतः अवयवी के रूप में 'धातोः' पद अर्थतः उपस्थित होता है । आदि-भूत अवयव प्रथमा-बहुवचनान्त (ञि-टु-डवः) हैं, अतः एकवचनांत 'आदिः' शब्द तथा संज्ञा शब्द इत्-संज्ञी के अनुरूप बहुचनांत के रूप में परिणत हो जाते हैं : **उपदेशे धातोः आदयः ञि-टु-डवः इतः भवन्ति** (उपदेश में धातु के आदि-स्वरूप ञि, टु और डु शब्द इत्संज्ञक होते हैं) ।

ञि, टु और डु की इत्संज्ञा का प्रयोजन तिङंत-प्रकरण में नहीं है; अपितु कृदंत-प्रकरण में है : वहाँ (1) ञि की इत्संज्ञा वाली धातुओं से वर्तमान अर्थ में क्त

---

1. तुलनीय निरुक्त 2.2 : **प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु** । नि० पाँ० अ०, पृष्ठ 168-169 देखें ।

चचन्द । 33 त्रदि चेष्टायाम् ॥ 27 ॥ तत्रन्द । 34 कदि, 35 क्रदि, 36 क्लदि आह्वाने रोदने च ॥ 28 ॥ चकन्द, चक्रन्द, चक्लन्द । 37 क्लिदि परिदेवने ॥ 29 ॥ चिक्लिन्द । 38 शुन्ध शुद्धौ ॥ 30 ॥ शुशुन्ध । न-लोपः—शुध्यात् ॥ 45 ॥

होता—नन्द्यात् । 32 √चन्द् आनन्द होने में है ॥ 26 ॥ चचन्द । 33 √त्रन्द् चेष्टा करना अर्थ में है ॥ 27 ॥ तत्रन्द । 34 √कन्द्, 35 √क्रन्द्, 36 √क्लन्द् बुलाना और रोना अर्थों में हैं ॥ 28 ॥ चकन्द; चक्रन्द; चक्लन्द । 37 क्लिन्द् शोक करने में है ॥ 29 ॥ चिक्लिन्द । 38 √शुन्ध् स्वच्छ करना अर्थ में है ॥ 30 ॥ शुशुन्ध । नकार का लोप होता है—शुध्यात् ॥ 45 ॥

प्रत्यत होता है; (2) ट्वित् धातुओं से भाव में और कर्तृ-भिन्न कारक अर्थ में क्त्रि विहित है; (3) ड्वित् धातुओं से उन्हीं अर्थों में अथुच् प्रत्यय विहित है।[1]

32 √**चन्द्** आह्लाद अर्थ में सकर्मक है। लोकं चन्दति इति चन्द्रश् चन्द्र इत्युच्यते।[2] लोक को आप्यापित (आनंदित, आह्लादित) करता है इसी लिए चंद्र 'चन्द्र' कहाता है। चन्दति, चचन्द, चन्दिता, चन्दिष्यति, चन्दतु, अचन्दत्, चन्देत्, चन्द्यात्, अचन्दीत्, अचन्दिष्यत्। चन्द्रम् चाँदी।

33 √**त्रन्द्** धातु चेष्टा करना अर्थ में हैं। यहाँ किस प्रकार की चेष्टा इष्ट है, यह स्पष्ट नहीं है।

34 √**कन्द्**, 35 √**क्रन्द्**, तथा 36 √**क्लन्द्**—ये तीन धातु आह्वान (बुलाना, पुकारना, सकर्मक) तथा (चीखते हुए) रोना (अकर्मक) इन अर्थों में है। कन्दति, चकन्द, चक्रन्द। चक्लन्द। √क्लन्द् धातु रेफ को लकार उच्चरित करने की प्राकृत-प्रवृत्तिका परिणाम है, स्वतंत्र धातु नहीं है।

37 √**क्लिन्द्** (इदित्) धातु विलाप करना (शोक करना) अर्थ में (सकर्मक)

---

1. (1) 3.2.187 : **ञीतः क्तः**, (2) 3.3.89 : **द्वितोऽथुच्**, (3) 3.3.88 : **ड्वितः क्त्रिः**। अष्टाध्यायी के इस प्रकरण में ञि, डु, टु क्रम है। पाणिनि की शैली अपने ग्रंथ के क्रम को तोड़ने की नहीं है : **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** (6.4.71) में सूत्र-पाठोक्त क्रम ही दिया गया है। अतः प्रकृत सूत्र का अक्षर-विन्यास '**आदिर्ञि-डु-टवः**' होना चाहिये। पाणिनि ने अर्थ-क्रम के आगे मातृका-क्रम को महत्त्व नहीं दिया है।
2. **यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः, प्रतापात्तपनो यथा**। रघुवंश 4.12.

30 णिदि कुत्सायाम् ॥ 24 ॥ निन्दति, प्रणिन्दति । 31 टुनदि समृद्धौ ॥ 2289 आदिर्ञि-टु-डवः (1.3.5)—उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः । नन्दति । इदित्वान्न-लोपो न—नन्द्यात् । 32 चदि आह्लादे ॥ 26 ॥

30 णिन्द् बुराई करना अर्थ में है ॥ 24 ॥ निन्दति, प्रणिन्दति । 31 टुनदि खुशहाली होना अर्थ में है ॥ 25 ॥ उपदेश में धातु के प्रारंभिक ञि, टु तथा डु इत्संज्ञक होते हैं । नन्दति । ह्रस्व इकार की इत्संज्ञा होने के कारण नकार का लोप नहीं

यह काश्यप आचार्य का अभिप्राय है ।[1] अन्य आचार्य इन्हें तिङ्-कृदुभय-साधारण मानते हैं । संमताकार केवल √बिन्द् और पाठांतर के रूप में अभिप्रेत √भिन्द् से तिङ् नहीं मानते ।

उपदेश में इदित् धातुओं में **इदितो नुम् धातोः** से नुम् धातु के स्वर के पश्चात् हो जाता है; उसे **नश्चापदान्तस्य झलि** से अनुस्वार तथा **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से परसवर्ण होने पर 'अति=अन्त् इत्यादि । इस प्रघट्ट को 14 धातुओं में से 13 धातु इदित् होने से नकारवान् हैं, केवल अन्तिम 'शुन्ध्' उपदेश में ही नकार से युक्त है । कित् प्रत्यय से पूर्व इसके नकार का लोप होता है : शुध्यात्, शुधितः, शुधितवान्; पर इदितों के नकार का लोप नहीं होता : अन्त्यात्, अन्तित; अन्तितवान् ।

31 **टुनदि** में टु की इत्संज्ञा **आदिर्ञि-टु-डवः** से होती है । 'इ' **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञक है ही, अतः धातु √नद् बचती है, इदित्वान्नुम् : √नन्द् । नन्दति, ननन्द, नन्द्यात्, अनन्दीत्; आनन्दः, ननान्दा (ननद, पति की बहिन जो भाभी से कभी खुश नहीं होती—क्षी० त०) ।

2289 **आदिर्ञि-टु-डवः** 1.3 (1.3.5)—उपदेशेऽजनुनासिक इत् (2) । ञि और डु शब्द-स्वरूपों के साथ पठित होने से तथा 'टु' से पृथक् 'डु' के ग्रहण से 'टु' से टवर्ग का बोध (**अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** से) नहीं होगा । 'आदि' अवयवार्थक है; ञि, टु और डु शास्त्र में धातु के ही अययव हैं, अतः अवयवी के रूप में 'धातोः' पद अर्थतः उपस्थित होता है । आदि-भूत अवयव प्रथमा-बहुवचनान्त (ञि-टु-डवः) हैं, अतः एकवचनांत 'आदिः' शब्द तथा संज्ञा शब्द इत्-संज्ञी के अनुरूप बहुचनांत के रूप में परिणत हो जाते हैं : **उपदेशे धातोः आदयः ञि-टु-डवः इतः भवन्ति** (उपदेश में धातु के आदि-स्वरूप ञि, टु और डु शब्द इत्संज्ञक होते हैं) ।

ञि, टु और डु की इत्संज्ञा का प्रयोजन तिङंत-प्रकरण में नहीं है; अपितु कृदंत-प्रकरण में है : वहाँ (1) ञि की इत्संज्ञा वाली धातुओं से वर्तमान अर्थ में क्त

---

1. तुलनीय निरुक्त 2.2 : **प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु** । नि० पाँ० अ०, पृष्ठ 168-169 देखें ।

चचन्द । 33 त्रदि चेष्टायाम् ॥ 27 ॥ तत्रन्द । 34 कदि, 35 क्रदि, 36 क्लदि आह्वाने रोदने च ॥ 28 ॥ चकन्द, चक्रन्द, चक्लन्द । 37 क्लिदि परिदेवने ॥ 29 ॥ चिक्लिन्द । 38 शुन्ध शुद्धौ ॥ 30 ॥ शुशुन्ध । न-लोपः—शुध्यात् ॥ 45 ॥

होता—नन्द्यात् । 32 √चन्द् आनन्द होने में है ॥ 26 ॥ चचन्द । 33 √त्रन्द् चेष्टा करना अर्थ में है ॥ 27 ॥ तत्रन्द । 34 √कन्द्, 35 √क्रन्द्, 36 √क्लन्द् बुलाना और रोना अर्थों में हैं ॥ 28 ॥ चकन्द; चक्रन्द; चक्लन्द । 37 क्लिन्द् शोक करने में है ॥ 29 ॥ चिक्लिन्द । 38 √शुन्ध् स्वच्छ करना अर्थ में है ॥ 30 ॥ शुशुन्ध । नकार का लोप होता है—शुध्यात् ॥ 45 ॥

प्रत्यत होता है; (2) ट्वित् धातुओं से भाव में और कर्तृ-भिन्न कारक अर्थ में क्त्रि विहित है; (3) ड्वित् धातुओं से उन्हीं अर्थों में अथुच् प्रत्यय विहित है।[1]

32 √**चन्द्** आह्लाद अर्थ में सकर्मक है। लोकं चन्दति इति चन्द्रश् चन्द्र इत्युच्यते।[2] लोक को आप्यापित (आनंदित, आह्लादित) करता है इसी लिए चंद्र 'चन्द्र' कहाता है। चन्दति, चचन्द, चन्दिता, चन्दिष्यति, चन्दतु, अचन्दत्, चन्देत्, चन्द्यात्, अचन्दीत्, अचन्दिष्यत् । चन्द्रम् चाँदी ।

33 √**त्रन्द्** धातु चेष्टा करना अर्थ में हैं। यहाँ किस प्रकार की चेष्टा इष्ट है, यह स्पष्ट नहीं है।

34 √**कन्द्**, 35 √**क्रन्द्**, तथा 36 √**क्लन्द्**—ये तीन धातु आह्वान (बुलाना, पुकारना, सकर्मक) तथा (चीखते हुए) रोना (अकर्मक) इन अर्थों में है। कन्दति, चकन्द, चक्रन्द । चक्लन्द । √क्लन्द् धातु रेफ को लकार उच्चरित करने की प्राकृत-प्रवृत्तिका परिणाम है, स्वतंत्र धातु नहीं है।

37 √**क्लिन्द्** (इदित्) धातु विलाप करना (शोक करना) अर्थ में (सकर्मक)

---

1. (1) 3.2.187 : **ञीतः क्तः**, (2) 3.3.89 : **द्वितोऽथुच्**, (3) 3.3.88 : **ड्वितः क्त्रिः**। अष्टाध्यायी के इस प्रकरण में ञि, डु, टु क्रम है। पाणिनि की शैली अपने ग्रंथ के क्रम को तोड़ने की नहीं है : **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** (6.4.71) में सूत्र-पाठोक्त क्रम ही दिया गया है। अतः प्रकृत सूत्र का अक्षर-विन्यास **'आदिर्ञि-डु-टवः'** होना चाहिये। पाणिनि ने अर्थ-क्रम के आगे मातृका-क्रम को महत्त्व नहीं दिया है।
2. **यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः, प्रतापात्तपनो यथा**। रघुवंश 4.12.

अथ कवर्गीयान्ताः—

(4) अनुदात्तेतो द्विचत्वारिंशत् : 1 शीङ् सेचने ॥ 1 ॥ तालव्यादिः ।

92 कवर्गीयांत धातु : चतुर्थ धातु-वर्ग : 42 आत्मनेपदी धातु

अब अंत में कवर्गीय वर्ण वाली धातु हैं—

(4) अनुदात्त की इत् संज्ञा वाली बयालीस धातु हैं : 1 √शीङ् सींचना अर्थ में है ॥ 1 ॥ यह धातु तालु से उच्चरित ऊष्म वर्ण से प्रारम्भ होने वाली है; कुछ

है । **क्लिदि परिदेवने** (1.15) पीछे अनुदात्तेत् धातुओं में दिया है । कर्तृगामी क्रिया-फल में परस्मैपद करने के लिए स्वरितेतों में नहीं दिया है ।

38 √**शुन्ध्** (नोपध) धातु शुद्ध करना (सकर्मक) तथा शुद्ध होना (अकर्मक) अर्थ में है । चुरादि में **शुन्ध शौचकर्मणि** शुद्ध करना अर्थ में दिया है । वहाँ णिच् **आ धृषाद्वा** से विकल्प से होता है । अतः णिजभावपक्ष में 'शुन्धति' इत्यादिक रूप होते हैं । यहाँ भौवादिक बनाने से सम्भवतः आचार्य को इसे अकर्मक कहना अभीष्ट हो इसी । लिये वासुदेव दीक्षितजी ने इसका अर्थ **शुन्धति=शुचिर्भवतीत्यर्थः** किया है । आशी-र्लिङ् में **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से न् का लोप होता है : शुध्यात् । यह सेट् है । शुन्धिता । शुधितः, शुधितवान्—**अनिदितां हल०** से न लोप ।

पिछली 37 से इस वर्ग की दीक्षित-प्रोक्त धातु-पाठीय 37 तथा एकीय 1, कुल 38 धातु, मिलाकर 75, तथा हमारे मत में एकीय को शामिल करना उचित न होने से 74 धातु आ चुकी हैं ॥ 45 ॥

चतुर्थ धातु-वर्ग का विश्लेषण : √भू एवम् √एध् आचार्य ने मंगलयुक्त अर्थ वाली होने से धातु-पाठ के आदि में दी हैं । समस्त क्रिया-भेद सत्ता की अवस्थाओं का ही प्रपंच हैं । अतः √भू आदि में दी है । जगत्-प्रपंच के लिये वृद्धि अर्थ सत्ता के अनंतर आवश्यक है । परस्मैपदी धातु के उपदेश के बाद आत्मनेपदी का क्रम न्याय-प्राप्त है । यही हेतु है कि आचार्य ने √भू के पश्चात् वृद्धयर्थक √एध् (आत्मने-पदी) का पाठ किया है । √एध् चूंकि सेट् तवर्गीयान्त आत्मनेपदी है, अतः उसके अनन्तर आचार्य ने सेट् तवर्गीयान्त आत्मनेपदी धातु दी हैं । तवर्गीयान्तों का प्रकरण होने से उसके बाद तवर्गीयान्त परस्मैपदी धातुओं का पाठ तीसरे वर्ग में किया है । इस प्रकार प्रसक्त (द्वितीय वर्ग में) और अनुप्रसक्त (तृतीय वर्ग में) के पाठ के बाद आचार्य ने अब वर्णमाला के क्रम से वर्ग दिये हैं । निकटस्थ √एध् व्यंजनांत है, अतः पहले व्यंजनांतों का संकलन किया है, स्वरांतों का नहीं । व्यंजनांतों का पाठ वर्ग-क्रमेण किया गया है । कवर्गीयांत धातु कुल 92 हैं । इनमें से (क) 42 आत्मनेपदी धातु चतुर्थ वर्ग में तथा (ख) 50 परस्मैपदी धातु पञ्चम वर्ग में दी हैं ।

दन्त्यादिरित्येके। शीकते, शिशीके। 2 लोकृ दर्शने ॥ 2 ॥ लोकते, लुलोके। 3 श्लोकृ सङ्घाते ॥ 3 ॥ सङ्घातो=ग्रन्थः; स चेह (1) ग्रथ्यमानस्य व्यापारो,

लोग मानते हैं कि इसका पहला वर्ण दन्त्य ऊष्म है। शीकते, शिशीके। 2 √लोक् देखना अर्थ में है ॥ 2 ॥ लोकते, लुलोके। 3 √श्लोक् संघात में है ॥ 3 ॥ संघात= ग्रंथन (रचना) है, और वह यहाँ (1) रचित होने वाले (कर्म) की क्रिया, या (?)

दीक्षितजी ने इस वर्ग में 42 धातु बताई हैं, जो 20 धातु-सूत्रों में दी हुई हैं। इनमें 4 धातु अर्थ-भेदेन दो-दो बार दी हुई हैं : 1 √**वङ्क्**, कौटिल्य (14) तथा गति (21) अर्थ में, 2 √लङ्घ् गति (34) भोजन-निवृत्ति (धातु-सूत्र 15) में, 3 √**मङ्क्**, गत्याक्षेप (37) और कैतव (धातु-सूत्र 17) में, 4 **द्राघ्** सामर्थ्य (40) और आयाम (धा०सू० 19) में हैं। 5√ध्राघ् एकीय मत में है। इन सब को यदि पृथक्-पृथक् धातु मानते हैं, तो इस वर्ग की धातु-संख्या 45 हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि दीक्षितजी ने कोई 3 धातु पृथक् नहीं मानी हैं, और 2 को उन्होंने पृथक् माना है। पाठ की पद्धति को देखते हुए √वङ्क् और √द्राघ् को अलग धातु के रूप में गिना गया लगता है, किंतु शेष दो-दो बार पठित 3 धातुओं को अलग नहीं माना प्रतीत होता। √वङ्क् को भी (1) इन तीन की तरह दंडक के बाद **वकि कौटिल्ये च** के रूप में, या (2) पहले ही **वकि कौटिल्ये, गतौ च** के रूप में देकर दंडक में न दिया होता, तो भी कोई हानि नहीं होती। अतः इसे दो धातुओं के रूप में मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार √ध्राघ् भी सर्व-सम्मत नहीं है। तब इसे धातु-पाठ में कैसे माना जा सकता है ? अतः हमारे विचार में इस वर्ग में कुल धातु 40 ही हैं। पर धातु-पाठ के उपलब्ध रूप को आदर देते हुए √वङ्क् को दो धातुओं के रूप में माना जा सकता है। अतः कुल धातु यहाँ अधिक से अधिक 41 मानी जा सकती हैं। क्षी० स्वा० ने 43 धातु बताई हैं, जो 21 धातु-सूत्रों में हैं।

दीक्षितजी की 42 धातुओं में से 32 ककारांत हैं, 10 घकारांत हैं। प्रथम 8 धातु ऋदित् हैं, फिर 7 इदित्, उसके बाद 4 अदित्, फिर 4 इदित्, 2 ऋदित्, 3 अदित्, 4 ऋदित्, फिर 5 इदित् और शेष 5 धातु ऋदित् हैं। ऋदित्करण का फल ण्यंत के लुङ् में उपधा-ह्रस्व का निषेध है, इदित् का फल नुम् है। ये सब इत्संज्ञक स्वर अनुदात्त हैं। अतः सब धातु आत्मनेपदी हैं। धातु उदात्त हैं। अतः सब धातु सेट् हैं।

1 √**शीक्** जल की बौछार करना, सींचना अर्थ में सकर्मक है। सायण का कथन है कि कुछ लोग इसे दंत्य सकारादि मानते हैं, पर यह उचित नहीं है। शीकते, शिशीके, शीकिता, शीकिष्यते, शीकताम्, अशीकत, शीकेत, शीकिषीष्ट, अशीकिष्ट, अशीकिष्यत। ण्यन्त, लुङ् में : अशिशीकत्। शीकरः (जलकण)।

(2) ग्रन्थितुर्वा। (1) आद्येऽकर्मकः, (2) द्वितीये सकर्मकः। श्लोकते। 4 द्रेकृ 5 ध्रेकृ शब्दोत्साहयोः ॥ 4 ॥ उत्साहो (1) वृद्धिः, (2) औद्धत्यं च। 'एच इग्घ्रस्वादेश' (1.1.48) इति ह्रस्वः—दिद्रेके, दिध्रेके। 6 रेकृ शङ्कायाम् ॥ 5 ॥ रेकते। 7 रेकृ, 8 स्रेकृ, 9 स्रकि, 10 श्रकि, 11 श्लकि गतौ ॥ 6 ॥

रचना करने वाले की क्रिया है। (1) पहले विकल्प के अर्थ में धातु अकर्मक है, (2) दूसरे विकल्प के अर्थ में सकर्मक है। श्लोकते (श्लोक-रचना करता है)। 4 √द्रेक, 5 √ध्रेक शब्द और उत्साह करना अर्थों में हैं ॥ 4 ॥ उत्साह माने (1) बढ़ना और (2) उद्धतता करना है। 'एच इग्घ्रस्वादेशे' से ह्रस्व होता है—दिद्रेके; दिध्रेके। 6 √रेक् शंका अर्थ में है ॥ 5 ॥ रेकते। 7 √सेक्, 8 √स्रेक्, 9 √स्रङ्क्, 10 √श्रङ्क्, 11 √श्लङ्क्, गति अर्थ में हैं ॥ 6 ॥ (प्रथम) तीन धातुओं का आदि-

---

2 √**लोक्** देखना अर्थ में सकर्मक है। लोकते, अलुलोकत्। लोकः, आलोकः।

3 √**श्लोक्** संघात (वाक्य-समुदाय) का प्रणीत होना अर्थ में (अकर्मक) या उसका प्रणयन करना अर्थ में (सकर्मक) है। श्लोकनं=वर्णनं श्लोकः। वाल्मीकिरनुष्टुभा राम-चरितं शुश्लोके (वाल्मीकि ने अनुष्टुभ् छन्द में राम के चरित को ग्रथित किया)। श्लोकः यश, पद्य।

4 √**द्रेक्** और 5 √**ध्रेक्** गधे का रेंकना तथा उत्साह (बढ़ना और उद्धत होना) अर्थों में अकर्मक है। क्षी० स्वा० ने 'शब्द की उद्धतता' अर्थ बताया है। द्रेकते। दिद्रेके—द्रेक्+द्रेक्+ए स्थिति में अभ्यास का आदि हल् द् शेष रहा : दे द्रेक्+ए, **ह्रस्वः** से ए को **एच इग्घ्रस्वादेशे** परिभाषा से इ ह्रस्व : दिद्रेके। इसी प्रकार दिध्रेके। द्रेकिता, ध्रेकिता इत्यादि। णिच्, लुङ्, में आदिद्रेकत्, आदिध्रेकत्।

" 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति ह्रस्वः" पंक्ति पर विचार : इस प्रकरण में सर्वप्रथम एच् को ह्रस्वादेश का प्रसंग √लोक् के लिट् में आया है। दीक्षितजी ने उसका 'लुलोके' रूप भी दिया भी है। अतः इस परिभाषा **(एच इग् ह्रस्वादेशे)** को वहीं देना उचित था। यह परिभाषा बहुत प्रसिद्ध भी है। अतः इसको यहाँ देने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

7 √**सेक्**, 8 √**स्रेक्**, 9 √**स्रङ्क्**, 10 √**श्रङ्क्** तथा 11 √**श्लङ्क्** 'गति' अर्थ में हैं। किस प्रकार की गति अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है। इनमें से प्रथम √सेक् का पर्युदास षोपदेश-कारिका (**सेक्-सृप्-सृज्०**) में किया गया है, अतः तथा √स्रेक् और √स्रक् में सकार के अव्यहित पश्चात् अच् अथवा दंत्य न होने से ये तीनों धातु अषोपदेश हैं। अतः √सेक् और स्रेक् के लिट् में सि+सेके, सि+स्रेके स्थिति में आदेश न होने के कारण स् को षत्व प्राप्त नहीं होता : सिसेके, सिस्रेके।

त्रयो दन्त्यादयः, द्वौ तालव्यादी। अषोपदेशत्वान्न षः—सिसेके। 12 शकि शङ्कायाम् ॥ 7 ॥ शङ्कते, शशङ्के। 13 अकि लक्षणे ॥ 8 ॥ अङ्कते, आनङ्के। 14 वकि कौटिल्ये ॥ 9 ॥ वङ्कते। 15 मकि मण्डने ॥ 10 ॥ मङ्कते। 16 कक लौल्ये ॥ 11 ॥ लौल्यं (1) गर्वः, (2) चापल्यं च। ककते; चकके।

वर्ण दंत्य ऊष्म है और (उसके बाद की) दो का तालव्य ऊष्म है। उपदेश में षकारवान् न होने के कारण षकारादेश नहीं होता—सिसेके। 12 √शङ्क् संदेह करना अर्थ में है ॥ 7 ॥ शङ्कते, शशङ्के। 13 √अङ्क् चिह्न लगाना अर्थ में है ॥ 8 ॥ अङ्कते, आनङ्के। 14 √वङ्क् टेढ़ा (बाँका) होना अर्थ में है ॥ 9 ॥ वङ्कते। 15 √मङ्क् भूषित करने में है ॥ 10 ॥ मङ्कते। 16 √कक् लोलता करना अर्थ में है ॥ 11 ॥ लोलता करना (1) घमण्ड करना, और (2) चंचलता करना है। ककते, चकके।

---

13 √अङ्क् चिह्न करना अर्थ में सकर्मक है। अङ्कते। आनङ्के—अङ्क्+अङ्क्+ए, **हलादिः शेषः** से अभ्यास के ङ् और क् का लोप : अ+अङ्क्+ए; **अत आदेः** से अभ्यास के आदि अ को दीर्घ : आ+अङ्क्+ए; **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** से 'आ' के पश्चात् स्थित अ को (आदि में) नुट् का आगम : आ+न्अङ्क्+ए=आनङ्के; आनङ्काते आनङ्किरे, आनङ्किषे, आनङ्काथे, आनङ्किध्वे, आनङ्के; आनङ्किवहे, आनङ्किमहे। अङ्किता, अङ्किष्यते, अङ्कताम्, आङ्कत, अङ्केत, अङ्किषीष्ट, आङ्किष्ट, आङ्किष्यत। 'मा' के योग में मा भवान् अङ्किष्ट। मा स्म के योग में मा स्म भवान् अङ्कत, अङ्किष्ट। अङ्क=चिह्न, संख्याचिह्न। हिन्दी में यह आँकना के रूप में है : आँकता है, आँकड़ा। अङ्कुर।

14 √वङ्क् टेढ़ा, बाँका होना, मुड़ना अर्थ में अकर्मक है। वङ्कते, ववङ्के इत्यादि। वक्रः बाँका। हिन्दी में यह बाँक, बाँका, बंकिम आदि में शेष है, आख्यात रूप में नहीं। प्रादेशिक बोली (हरियाणवी) में यह 'बांगा' में विकसित है।

16 √कक् लौल्य (गर्व करना, चपलता करना) अर्थ में है। ककते। चकके—विरूप आदेश (क् को च्) होने से एत्वादि नहीं हुए। बालकः ककते (बालक चपलता करता है)। गुरुषु विनयमाधेहि, मा ककस्व (गुरुओं के आगे विनीत बनो, गर्व तथा चपलता मत करो)। ककते इति काकः।[1] काकुः। इसके आख्यात रूप सम्भवतः प्रयोग में नहीं आते थे।

---

1. नैरुक्त लोग 'का-का' ध्वनि के अनुकरण पर 'काक' मानते हैं : **'काक' इति शब्दानुकृतिः। तदिदं शकुनिषु बहुलम्** (निरुक्त 3.18)। नि० पा० अ०, पृष्ठ 294-295 देखें।

17 कुक, 18 वृक आदाने ।। 12 ।। कोकते, चुकुके; वर्कते, ववृके—ऋदुपधेभ्यो

17 √कुक्, 18 √वृक् लेना अर्थ में है ।। 12 ।। कोकते, चुकुके; वर्कते, ववृके—उपधा में ह्रस्व ऋकार वाली धातुओं के पश्चात् स्थित लिट् गुण का निषेध पूर्ववर्ती सूत्र के

---

17 √कुक्, 18 √वृक् लेना अर्थ में सकर्मक हैं। कोकते। वर्कते। **पुगन्तलघूपधस्य च** से उपधागुण होता है। लिट् में **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित्त्व होने से गुण नहीं होता : चुकुके; ववृके।

शङ्का : असंयोगाल्लिट् कित् (1.2.5) **पुगन्तलघूपधस्य च** (7.3.86) पर है। अतः कित्संज्ञा तथा गुण इन दोनो की प्राप्ति में **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (1.4.2) परिभाषा से पूर्व (कित्संज्ञाविधायक) सूत्र का बाध हो कर पर कार्य (गुण) पहले हो जाना चाहिए। गुण (व+वर्क्+ए) होने पर असंयोग से परे न होने के कारण कित्संज्ञा यहाँ होनी ही नहीं चाहिए। फलतः 'ववर्के' रूप ही बनना चाहिए।

इसी शंका को दृष्टि में रखकर मूलकार ने यहाँ **ऋदुपधेभ्यो०** वार्तिक उद्धृत किया है। 'ऋदुपधेभ्यः' पंचमी बहुवचनांत है। 'लिट्' चूंकि धातु से ही—**धातोः** (3.1.91)—होता है, अतः 'ऋदुपधेभ्यः' का विशेष्य पद 'धातुभ्यः' उपस्थित हो जाता है। **पूर्वविप्रतिषेधेन गुणात् (प्राक्) ऋदुपधेभ्यो (धातुभ्यः परस्य) लिटः कित्त्वम्भवति।** पूर्वसूत्र का विप्रतिषेध करके होने वाले गुण से पूर्व ऋदुपध (ऋत् जिनकी उपधा है, उन धातुओं) से परे (स्थित) लिट् की कित् संज्ञा होती है।

इस वार्तिक से 'ववृके' इत्यादि में गुण पहले कित् संज्ञा होने से **क्ङिति च** से गुण का निषेध हो जाता है।

शंका : प्रस्तुत वार्तिक से ऋदुपध धातु में तो अवश्य गुणाभाव सिद्ध हो जाता है। पर √कुक् इत्यादि (चुकुके) में भी तो यही आपत्ति उपस्थित होती है। वहाँ भी पूर्व-विप्रतिषेध से कित्त्व को बाध करके पहले गुण होने पर 'चुकोके' रूप बनना चाहिए ?

उत्तर : √कुक् इत्यादि में गुण होने पर कित्संज्ञा हो सकती है। अतः कित्त्व **कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्** परिभाषा से गुण के होने या न होने दोनों ही स्थितियों में प्राप्त होने के कारण नित्य हो जाता। **पूर्व-पर-नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरम्बलीयः** (प० 39) से पर गुण से बलवत्तर होने से गुण को बाध लेता है। अतः √कुक् आदि में लिट् में गुण को बाध कर कित् संज्ञा होने से गुणनिषेध हो जाता है।

कोकिता, वर्किता। कोकः चकवा, भेड़िया[1]; कोकिलः। वृकः भेड़िया।

---

1. श्रीसत्यनारायणशर्मा, कोकपदपरामर्शनम्, परमार्थसुधा (त्रैमासिक संस्कृत पत्रिका), 11.2, पृष्ठ 1, वि० 2044, सार्वभौम संस्कृत प्रचार संस्थानम्, वाराणसी।

लिटः कित्त्वं गुणात् पूर्व-विप्रतिषेधेन (वा०)। 19 चक तृप्तौ, प्रतिघाते च ॥ 13 ॥ चकते, चेके।

20 ककि, 21 वकि, 22 श्वकि, 23 त्रकि, 24 ढौकृ, 25 त्रौकृ, 26 ष्वष्क,

द्वारा करके कित् हो जाता है (वा०)। 19 √चक् तृप्ति होना (छकना) और टकराना अर्थ में है ॥ 13 ॥ चकते, चेके।

20 √कङ्क्, 21 √वङ्क्, 22 √श्वङ्क्, 23 √त्रङ्क्, 24 √ढौक्, 25 √त्रौक्, 26 √ष्वष्क्, 27 √वस्क्, 28 √मस्क्, 29 √टिक्, 30 √टीक्, 31

---

19 √चक् धनपाल और मैत्रेय आदि के मत में तृप्त होना (छकना, अकर्मक) तथा प्रतिघात (टकराना, सकर्मक) अर्थ में है। क्षीरस्वामी और शाकटायन तृप्त होना अर्थ में ही मानते हैं। चकते। चेके—**अत एकहल्मध्ये०** इत्यादि सूत्र से एत्त्व तथा अभ्यास का लोप। चकिता। अचकिष्ट। चकोरः। 'चकितः' अर्थभेद से इसी से निष्पन्न है।

'**20 ककि, 21 वकि०**' आदि दंडक में दीक्षितजी के अनुसार 15 धातु हैं। सायण के मत में 13 हैं; '31 तिक्, 32 तीक्' उसमें नहीं हैं; सायण ने इन्हें क्वाचित्क बताया है। क्षीरस्वामी के पाठ में 21 वकि तथा 32 √तिक्, 33 √तीक् नहीं हैं। 14 √वङ्क् कौटिल्य अर्थ में आ चुकी है, अतः इसे दुहराना आवश्यक नहीं है। 24 √ढौक् 'ढोना' अर्थ में प्रयुक्त है : **तन्मांसं चैव गोमायोस्तैः क्षणादाशु ढौकितम्** (महाभारत, शा०प० 111.56)। 34 √लङ्घ् लाँघना, अतिक्रमण करना अर्थ में प्रसिद्ध है। भोजन का अतिक्रमण करना, व्रत करना इसी का अर्थ-विकास प्रतीत होता है : **ज्वरादौ लङ्घनं श्रेष्ठम्**। शेष का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

26 **ष्वष्क्**[1] के षोपदेश होने के कारण **धात्वादेः षः सः** से सत्त्व प्राप्त होता है।

---

1. यह धातु चार वर्तनियों में उपलब्ध है : (1) √**ष्वःक्**—निघंटु (2.14) के बृहत् एवं लघु दोनों संस्करणों में 'ष्वःकति' समाम्नात है। बृहत्पाठ के एक हस्त-लेख का 'ष्वष्कति' पाठ तीसरी वर्तनी के किसी पक्षधर के आग्रह का परिणाम प्रतीत होता है। इस शब्द की व्याख्या देवराज ने नहीं की है। (2) √**ष्वक्क्**—क्षीर-स्वामी, मैत्रेय-रक्षित,जि नेंद्रबुद्धि इस वर्तनी को मानते हैं। (3) √**ष्वष्क्**—सायण काशकृत्स्न, कातंत्र, शाकटायन, हेमचंद्र ने √ष्वष्क् वर्तनी मानी है। वार्तिक, भाष्य, काशिका और प०म० में यही वर्तनी मिलती है। (4) √**ष्वस्क्**—वोपदेव ने √ष्वष्क् रूप दिया है। इसके साथ पठित √वस्क् और √मस्क् की सोपधता को देखते हुए तो इसकी दंत्योपधता प्रासंगिक प्रतीत होती है। पर, काशकृत्स्न-धातुपाठ में ये धातु षोपध दी हैं, न्यास में √वुक्क् और √मक्क् के रूप में उद्धृत

27 वस्क, 28 मस्क, 29 टिकृ, 30 टीकृ, 31 तिकृ, 32 तीकृ, 33 रघि, 34 लघि, √तिक्, 32 √तीक्, 33 √रङ्घ्, 34 √लङ्घ् गति अर्थ में हैं ।। 14 ।। कङ्कते;

उसको **सुब्धातु-ष्ठिवु०** वार्तिक बाध देता है । फलतः इसमें आदि में ष् ही रहता है ।

सुब् धातु (सुप्=सुबंत प्रातिपदिकों से बनने वाली नाम-धातु), **ष्ठिवु निरसने** (भ्वा०) तथा **ष्वष्कति** (√ष्वष्क्) धातुओं को **धात्वादेः षः सः** से प्राप्त सत्व आदेश का निषेध कहना चाहिए ।

भाष्यकार ने इस वार्तिक को अनावश्यक बतलाया है; क्योंकि **धात्वादेः षः सः** में 'उपदेशे' की **आदेच उपदेशेऽशिति** (45) से अनुवृत्ति आने से सुब्धातु का ग्रहण व्यर्थ है । क्योंकि सुब्धातु (नामधातु) उपदेशांतर्गत नहीं है, इसलिये प्रस्तुत सूत्र वहाँ प्राप्त ही नहीं होता । 'ष्ठिवु' तथा 'ष्वष्कति' के भी आदि में य् का प्रश्लेष मानने से उनके षकार के धात्वादि न होने से प्राप्ति ही नहीं होंगी । यकार का लोप **लोपो व्योर्वलि** से हो जाता है ।

सायण के अनुसार **संमता** नामक ग्रंथ में **श्वकि** को **स्वकि** के रूप में दिया गया

हैं । अतः सोपध पाठको इस विषय में निर्णायक नहीं माना जा सकता ।

वस्तुतः निघंटु में समाम्नात वर्तनी ही मूल प्रतीत होती है । उसकेविसर्ग के उच्चारण से कुछ इलाकों में मूर्धन्योष्मोपध रूप तथा, दूसरे इलाकों में दंत्योपध रूप, या मूर्धन्योपध का ही दंत्योष्मोपध के रूप में विकास हुआ होगा । विसर्ग के जिह्वामूलीय स्वरूप के उच्चारण के प्रभावक्षेत्र में जिह्वामूलीय के पश्चाद्वर्ती ककार के सान्निध्य के कारण जिह्वामूलीय विसर्ग का उच्चारण जिह्वामूलीय कक़ार के रूप में विकसित हो गया । ककार के पूर्ववर्ती विसर्ग का शुद्ध विसर्ग के रूप में उच्चारण संस्कृत भाषा के अत्यंत प्राचीन काल में भले ही रहा हो, पर जिह्वा-मूलीय के रूप में उच्चारण लौकिक संस्कृत के अधिक अनुकूल रहा है । अतः √ष्वक्क् रूप ध्वनिविज्ञान के अधिक अनुकूल है । यों, √ष्वःक्, अथवा ष्व〰क् संस्कृत भाषा की धातु है, जबकि अन्य तीनों रूप इसी का प्राकृत (विकसित) स्वरूप हैं ।

यह धातु तिङंत या कृदंत किसी भी रूप में प्रयुक्त नहीं मिलती । तथापि (1) निघंटु में, (2) शर्ववर्मा को छोड़ कर धातु-पाठों के सब संम्प्रदायों की पूरी परंपरा में, (3) वार्तिक, भाष्य तथा काशिका में उपलब्ध होने के कारण यह धातु प्रामाणिक है तथा बोलचाल की भाषा में इसका प्रयोग अत्यंत प्राचीन काल में ही रहा होगा ।

गत्यर्थाः ॥ 14 ॥ कङ्कते, डुढौके, तुत्रौके। सुब्धातु-ष्ठिवु-ष्वष्कतीनां सत्व-प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)—ष्वष्कते, षष्वष्के।

अत्र तृतीयो दन्त्यादिरित्येके। 34 लघि भोजन-निवृत्तावपि ॥ 15 ॥

35 अघि, 36 वघि, 37 मघि गत्याक्षेपे ॥ 16 ॥ आक्षेपो निन्दा।

डुढौके; तुत्रौके। 1 सु, औ, जस् आदि विभक्त्यन्त पदों से बनने वाली धातुओं, 2 √ष्ठिव् और 3 √ष्वष्क् धातुओं को सकारादेश का निषेध कहना चाहिये (वा०) —ष्वष्कते, षष्वष्के।

इस दंडक में तीसरी (√श्वङ्क्) धातु दंत्योष्म (स्) वर्ण से प्रारंभ होने वाली (√स्वङ्क्) है, यह कुछ लोग मानते हैं। 34 √लङ्घ् भोजन न करना (व्रत, लंघन करना) अर्थ में भी है ॥ 15 ॥

35 √अङ्घ्, 36 √वङ्घ्, 37 √मङ्घ् गति(चाल)का आक्षेप अर्थ में हैं ॥ 16 ॥ आक्षेप माने निंदा है। '(1) गति में, और (2) गति को शुरू करने में भी हैं।'

है। काशकृत्स्न और कातंत्र में भी यह दंत्यादि है।[1] दीक्षितजी ने इसी का उल्लेख **अत्र तृतीयो दन्त्यादिरित्येके** कह कर किया है। इसका आशय यह है कि यहाँ=इस (दंडक) में तीसरी धातु कुछ लोगों के मत में आदि में दंत्य (ऊष्म) वाली है। किन्तु बालमनोरमाकार ने यह अर्थ न लेकर 'अत्र' से प्रकृत वार्तिक को लिया है कि इस वार्तिक में तीसरी धातु, अर्थात् √ष्वष्क्, कुछ लोगों के मत में दंत्यादि (√स्वष्क्) है। वा० म० के इस कथन का आधार भाष्य के षोपदेश-लक्षण में √ष्वष्क् का परिगणन न किया जाना प्रतीत होता है।[2] पर √ष्वष्क् वार्तिक, भाष्य, वृत्ति, धातु-पाठ के सभी संप्रदाय, निघंटु—कहीं भी दंत्यादि के रूप में अभिप्रेत नहीं है। अतः वासुदेव दीक्षितजी की यह व्याख्या भ्रांति ही है।

35 √अङ्घ्, 36 √वङ्घ्, 37 √मङ्घ्, तीनों धातु इदित् हैं तथा 'गति का आक्षेप' अर्थ में हैं। 'गति के आक्षेप' से क्षीरस्वामी ने 'वेग-पूर्वक चलना', अथवा 'चलना शुरू करना' लिया है।[3] सायण ने 'आक्षेप' का अर्थ 'निंदा' लिया है; अतः उनके मत में 'गति की निंदा' अर्थ है। 37 √मङ्घ् छल कपट करना अर्थ में भी है। अङ्घते, आनङ्घे, अङ्घ्रिः; वङ्घते, ववङ्घे।

---

1. का० कृ० धातुपाठ में उपदेश में यह धातु मूर्धन्योष्मादि दी है। पर यह षोपदेश-लक्षण-विरुद्ध है।
2. वा० म० : **'तृतीय' इति—तथा च 'स्वष्कत' इति रूपम्। केवल-दन्त्य-परक-सादित्वाभावेन षोपदेशत्वाभावः।**
3. क्षी० त० 1.77 : **गत्याक्षेपो=वेग-गतिर्गमनारम्भो वा।**

'गतौ, गत्यारम्भे च', इत्यन्ये। अङ्घते आनङ्घे; वङ्घते। 37 मघि कैतवे च ॥ 17 ॥ 38 राघृ, 39 लाघृ, 40 द्राघृ सामर्थ्ये ॥ 18 ॥ राघते; लाघते।

यह कुछ लोग मानते हैं। अङ्घते, आनङ्घे (इत्यादि)। 37 √मङ्घ् छल-कपट, धूर्तता करना अर्थ में भी है ॥ 17 ॥ 38 √राघ्, 39 √लाघ् 40 √द्राघ् समर्थ होना अर्थ में

---

38 √राघ्, 39 √लाघ्, 40 √द्राघ्, तीनों ऋदित् धातु 'कार्य के योग्य होना' अर्थ में अकर्मक हैं। √राघ् और √लाघ् एक ही धातु के दो उच्चारण (रोम और लोम की तरह) प्रतीत होते हैं। उल्लाघः=नीरोग। √द्राघ् दीर्घ, द्राघिष्ठ, द्राघीयस्, द्राघ्मन्, द्राघ्वन्, जैसे कुछेक नामपदों में ही उपलब्ध है। 40 √द्राघ् को सायणने इस धातु-सूत्र में नहीं दिया है। पर इसका दूसरा अर्थ बताने के उनके तरीके से प्रतीत होता है कि यह इस धातु-सूत्र में है। क्षीरस्वामी का कहना है कि अन्य धातु-पाठकारों ने √द्राघ् को यहाँ नहीं दिया है। 40 √द्राघ् क्षीरस्वामी के पाठ में 'आयास' अर्थ में है तथा 'आयास' का अर्थ उन्होंने 'कदर्थित करना' (किसी को 'लंबा करना', 'सीधा करना' मुहावरे के अर्थ में?) बताया है। कौशिक के पाठ में, 'आयाम' अर्थ है। उन्होंने 'आयाम' का अर्थ 'लंबा होना' बताया है।[1] √द्राघ् निरुक्त में भी दी है तथा दुर्गने इसका अर्थ 'बढ़ना' बताया है।[2] पाणिनि ने 'द्राघिमन्' आदि की सिद्धि के लिए दीर्घ को 'द्राघ्' आदेश का विधान **प्रिय-स्थिरोरु०** (6.4.157) से किया है। पर इससे यह सूचित नहीं होता कि यह धातु पाणिनीय नहीं है, क्योंकि उन्होंने 'इमनिच्' को कृदंतों में न लेकर तद्धितों में अपनी सुविधा के लिए लिया है।[3]

क्षीरस्वामी ने इस धातुसूत्र में 'घ्राघृ' भी दी है।[4] सायण ने इसका उल्लेख

---

1. क्षी० त० 1.80 : **द्राघृ आयासे च। आयासः=कदर्थनम्। कौशिकस्त्वायामे=दैर्घ्यविशिष्टायां क्रियायामित्याख्यत्।** सायण के कथन से प्रतीत होता है कि क्षी० त० में 'कदर्थन' अर्थ 'आयाम' का ही किया गया है : **आयामो दैर्घ्य-क्रियेति कौशिकः, कदर्थनमिति स्वामी।**

2. निरुक्त 2.16 तथा इस पर दुर्ग : **दीर्घं द्राघतेः वृद्ध्यर्थस्य। वृद्धं हि तद् भवति।** निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ 220 देखें।

3. वैदिक वाङ्मय में भाषा-चिंतन, पृष्ठ 71, पा० टि० 6, देखें।

4. डॉ० जी० बी० पल्सुले के ए कन्कार्डेंस आफ संस्कृत धातुपाठज, 1955, में क्षी० स्वा० को सम्मत के रूप में इसका उल्लेख भूल से छूट गया लगता है।

41 'ध्राघृ' इत्यपि केचित् । 40 द्राघृ आयामे च ॥ 19 ॥ आयामो = दैर्घ्यम् । द्राघते । 42 श्लाघृ कत्थने ॥ 20 ॥ श्लाघते ॥ 46 ॥

(5) अथ परस्मैपदिनः पञ्चाशत्—1 फक्क नीचैर्गतौ ॥ 1 ॥ नीचै-

हैं ॥ 18 ॥ राघते, लाघते । कुछ लोग यहाँ 41 √घ्राघ् भी मानते हैं। √द्राघ् आयाम अर्थ में भी है ॥ 19 ॥ आयाम लंबा, दीर्घ होना है । द्राघते । 42 √श्लाघ् प्रशंसा करना अर्थ में है ॥ 20 ॥ श्लाघते ॥ 46 ॥

पंचम धातु-वर्ग : 50 कवर्गीयांत परस्मैपदी धातु

(5) अब परस्मैपद वाली पचास धातु हैं—1 √फक्क् नीचे जाना अर्थ में है ॥ 1 ॥

'केचित् पठन्ति' कह कर किया है ।[1] यह धातु अन्य धातुपाठों में उपलब्ध नहीं है । दो घोष महाप्राण व्यंजनों का इतने निकट उच्चारण आसान नहीं है । अतः √द्राघ् के होते इस धातु का अस्तित्व संदेहास्पद है । दीक्षितजी ने इसे यहाँ 42 संख्या का पूरक होने से, या सायण का अनुसरण करने के कारण, दिया लगता है ।

42 √**श्लाघ्** प्रशंसा करना अर्थ में सकर्मक है । श्लाघते, श्लाघा । √**कत्थ्** (1·36) का अर्थ-निर्देश √श्लाघ् से और √श्लाघ् का √कत्थ् से करना अन्योन्य श्रयदोष से दूषित है ।

धातु-योग : (1) दीक्षितजी के मत में 75 पूर्वधातु, इस वर्ग की 42, कुल 117; (2) हमारे मत में पूर्वधातु 74, इस वर्ग की 41, कुल 115 ॥ 46 ॥

पंचम वर्ग का विश्लेषण : पंचम वर्ग में भी कवर्गीयांत धातु ही हैं । इसमें कुल 50 धातु दीक्षित जी ने बताई हैं । इनमें से 4 धातु कुछ आचार्यों को ही सम्मत हैं, पर दीक्षित जी ने उन्हें इस वर्ग में शामिल कर लिया है । हमारे विचार में इन्हें धातु-पाठ की धातुओं की संख्या में शामिल करना उचित नहीं है । 35 √त्वङ्ग् का अर्थ-निर्देश दो बार किया गया है, पर इसे पृथक् धातु नहीं माना है । क्षीरस्वामी ने इस वर्ग में 45 धातु बताई हैं । उनका पाठ कुछ व्यवस्थित नहीं हैं : वहाँ उपलब्ध धातु-संख्या से यह कथन मेल नहीं खाता ।

50 धातुओं में 4 धातु ककारांत हैं, 27 खकारांत हैं, 16 गकारांत हैं तथा अंत में 3 धातु घकारांत हैं । ककारांतों में 3 अदित् हैं, 1 इदित् । खकारांतों में 10 अदित् हैं, 10 ही इदित् हैं और 7 धातु ऋदित् हैं । गकारांतों में 1 अदित् है, शेष 15 इदित् हैं । घकारांत भी 1 अदित् और 2 इदित् हैं ।

---

1. मा० धा० वृ० के चौखम्बा-सं० में रेफ-रहित 'धाघृ' प्रूफ की गलती मालूम पड़ती है । ऐसी धातु किसी भी धातुपाठ में उपलब्ध नहीं है ।

गतिः=(1) मन्द-गमनम्, (2) असद्व्यवहारश्च। फक्कति ; पफक्क। 2 तक हसने ॥ 2 ॥ तकति। 3 तकि कृच्छ्र-जीवने ॥ 3 ॥ तङ्कति। 4 बुक्क नीचे जाना माने (1) धीमे चलना और (2) बुरा व्यवहार है। 2 √तक् हँसने में है ॥ 2 ॥ 3 √तङ्क् कष्ट-युक्त जीना अर्थ में है ॥ 3 ॥ 4 √बुक्क् भषण अर्थ में

इन धातुओं में से 4 √**बुक्क्** भौंकना, 30 √**लङ्ग्** लँगड़ाना, 39 √**रिङ्ग्** रेंगना, 50 √**शिङ्ग्** सूँघना, 33 √**मङ्ग्** माँगनाके रूप में आज की भाषाओं में भी प्रयुक्त होती हैं। शेष धातुओं के कुछ के कृदंत रूप मिलते हैं: 1 फक्किका, फाँक, 3 आतङ्क, 4 बुक्का (बूकी, **सुगन्धि-द्रव्य-पिष्टम्**—क्षी०स्वा०)। 11 शाखा शाखोटक, 13 उखा (पतीले जैसा बर्तन), 14 न्यूङ्ख (सोलह 'ओ' वर्ण), 17 मख (यज्ञ), 19 नख (नाखून), 26-27 प्रेङ्खा (हिंडोला), 28 वल्गा (वाग), 29 रङ्ग, 30 लङ्ग (लँगड़ा, लंग), 31 अङ्ग, अङ्गना, अङ्गार, अङ्गुलि, अङ्गन (आँगन), 32 वङ्ग (बाँगा, बंगाल), 33 मङ्गल, 34 तंग, 38 इङ्गित, 40 लिङ्ग, 41 रेखा इत्यादि।

दंडक-पठित 32 धातुओं का अर्थ 'गति' बताया है। तत्तद् धातु से अलग-अलग तरह की गति प्रकट होती है। किंतु उसका निर्देश नहीं किया गया है। अर्थविशेष का ज्ञान इन धातुओं के यथोपलब्ध आख्यात और नाम के रूप में प्रयोगों को देखकर किया जा सकता है। उपलक्षणार्थ निरुक्त 4.2 पर दुर्गटीका देखें।

1 √**फक्क्** धीमे-धीमे चलना, या नीचे जाना अर्थ में है। 'नीचे जाना' का अर्थ क्षीरस्वामी ने 'नीचा करना' बताया है। दीक्षितजी ने 'या' के स्थान पर 'और' कर दिया है। फक्कति; पफक्क, पफक्कतुः; फक्किता, फक्किष्यति, फक्कतु, अफक्कत्, फक्केत्, फक्क्यात्, अफक्कीत्, अफक्किष्यत्। फक्किका=फाँक, पङ्क्ति।

2 √**तक्** क्षीरस्वामी, पुरुषकार तथा सायण के मत में 'हँसना' अर्थ में है। दुर्गसिंह ने इसे 'सहना' अर्थ में बताया है। तकति; तताक, तेकतुः—**अत एक-हल्मध्ये०** से एत्त्व तथा अभ्यास-लोप, तेकिथ—**थलि च सेटि** से वही, तताक-ततक, तेकिव, तेकिम; तकिता; अताकीत्/अतकीत्—**अतो हलादेर्लघोः** से वृद्धि-विकल्प।

3 √**तङ्क्** कष्ट से जीना अर्थ में है। तङ्कति, ततङ्क, अतङ्कीत्। मैत्रेय और क्षीरस्वामी ने इसके बाद **शुक गतौ** और दी है। सायण का कहना है कि यह धातु अनार्ष प्रतीत होती है; क्योंकि (1) 'शुक' शब्द को उणादिसूत्र **शुक-वल्कोल्काः** (329) में √शुम् से कन् से निपातित बताया है, (2) 'शुक्र' शब्द को **ऋज्रेन्द्राग्र०** (उणादि-सूत्र 196) से √शुच्+रन् से निपातित किया है। यह धातु यदि होती, तो यह टेढ़ा रास्ता क्यों अपनाया जाता!

4 √**बुक्क्** भोंकना अर्थ में (अकर्मक) है। बुक्कति। अपरिचितन्दृष्ट्वा श्वा

भषणे ॥ 4 ॥ भषणं=श्वरवः । बुक्कति । 5 कख हसने ॥ 5 ॥ प्रनिकखति । 6 ओखृ, 7 राखृ, 8 लाखृ, 9 द्राखृ, 10 ध्राखृ शोषणालमर्थयोः ॥ 6 ॥ ओखति, ओखाञ्चकार । 11 शाखृ, 12 श्लाखृ व्याप्तौ ॥ 7 ॥ शाखति ।

13 उख, 14 उखि, 15 वख, 16 वखि, 17 मख, 18 मखि, 19 णख, 20 णखि, 21 रख, 22 रखि, 23 लख, 24 लखि, 25 इख, 26 इखि, 27 ईखि, 28 वल्ग, 29 रगि, 30 लगि, 31 अगि, 32 वगि, 33 मगि, 34 तगि, 35 त्वगि, 36 श्रगि, 37 श्लगि, 38 इगि, 39 रिगि, 40 लिगि गत्यर्थाः ॥ 8 ॥

है ॥ 4 ॥ भषण माने भोंकना (कुत्ते की आवाज़) है । 5 √कख् हँसने में है ॥ 5 ॥ 6 √ओख्, 7 √राख्, 8 √लाख्, 9 √द्राख्, 10 √ध्राख् सुखाना और 'अलम्' के अर्थों में हैं ॥ 6 ॥ 11 √शाख्, 12 √श्लाख् फैलना अर्थ में हैं ॥ 7 ॥

13 √उख्, 14 √उख्ख्, 15 √वख्, 16 √वख्ख्, 17 √मख्, 18 √मख्ख्, 19 √नख्, 20 √नख्ख्, 21 √रख्, 22 √रख्ख्, 23 √लख्, 24 √लख्ख्, 25 √इख्, 26 √इख्ख्, 27 ईख्ख्; 28 √वल्ग्, 29 √रङ्ग्, 30 √लङ्ग्, 31 √अङ्ग्, 32 √वङ्ग्, 33 √मङ्ग्, 34 √तङ्ग्, 35 √त्वङ्ग्, 36 √श्रङ्ग्, 37 √श्लङ्ग्, 38 √इङ्ग्, 39 √रिङ्ग्, 40 √लिङ्ग् गति अर्थ वाली हैं ॥ 8 ॥

बुक्कति (अपरिचित को देख कर कुत्ता भोंकता है) । हिंदी √भोंक् इसी से विकसित है । यह धातु शब्दानुकरणजन्य है ।

5 √कख् हँसना अर्थ में अकर्मक है । कखति, चकाख, अकाखीत्/अकखीत् । प्र+नि+कखति में **शेषे विभाषा०** (8.4.18) से न् को ण् इस धातु के ककरादि तथा सूत्र में कादि-खादि-षांत धातुओं का पर्युदास किया होने से नहीं होता ।

6 √**ओख्**, 7 √**राख्**, 8 √**लाख्**, 9 √**द्राख्**, 10 √**ध्राख्**, ये पाँच धातु शोषण(सुखाना) तथा 'अलम्' के अर्थ—भूषित, अलंकृत करना (सकर्मक), पर्याप्त होना (अकर्मक), निषेध करना, मना करना (सकर्मक)—में हैं । ओखति, ओखांचकार—इजादि तथा गुरुमान् होने से आम् । औखत्, मा स्म भवान् ओखत् । औखीत्, मा भवान् ओखीत् ।

11 √**शाख्**, तथा 12 √**श्लाख्** धातु फैलना, व्यापना अर्थ में हैं । शाखति इति शाखा—फैलती है इसलिए—साख, डाली । यह धातु या तो यास्क के अनंतर संस्कृत में आई है, या उनके समय में इसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं होता था; क्योंकि उन्होंने 'शाखा' का निर्वचन **'शाखा ख-शया, शक्नोतेर्वा'** (निरुक्त 1.4) किया है । यदि यह धातु होती, या इस अर्थ में होती, तो वे **शाखा शाखतेः** कहते ।

'13 उख·· 40 लिगि गत्यर्थाः ॥ 8 ॥' दंडक में 15 खकारांत और 13 गका-

द्वितीयान्ताः पंच-दश, तृतीयान्तास्त्रयो-दश। इह खान्तेषु '41 रिख, 42 त्रख, 43 त्रिखि, 44 शिखि' इत्यपि चतुरः केचित् पठन्ति। ओखति।

अंत में (कवर्ग के) दूसरे वर्ण वाली धातु 15 हैं, अंत में (कवर्ग के) तीसरे वर्ण वाली धातु हैं। इस दंडक में खकारांत धातुओं के मध्य 41 √रिख्, 42 √त्रिख्, 43 √त्रिङ्ख्, 44 √शिङ्ख् भी कुछ लोगों के मत में पठित हैं।

रांत, कुल 28, धातु 'गति' अर्थ में दी हैं। इनमें से पहली 14 धातुओं में हर पहली धातु अदित् है, तथा हर दूसरी धातु इदित् है; फिर 28 √वल्ग् अदित् है और शेष सभी इदित् हैं।

27 ईङ्ख् धातु वेद में ण्यंत के रूप में चलाना, हिलाना, प्रेरित करना अर्थों में प्रयुक्त है : **य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरस्समुद्रमर्णवम्। मरुद्भिरग्न, आ गहि** (ऋ० 1.19.7)। 28 √वल्ग् 'वकना' अर्थ में प्रयुक्त है : **वल्गते, जृम्भते चैव, रुदते, रोदयत्यपि। उन्मत्तमत्त-रूपं च भाषते चापि सुस्वरः।** (महाभारत, अनु० प० 14.157)। 30 √लङ्ग् लँगड़ाकर चलना अर्थ में है। 32 √वङ्ग् टेढ़ा चलना, बाँगा होना अर्थ में है। 34 √तङ्ग् क्षी० स्वा० ने 'स्खलन' अर्थ में बताई है। कहीं 'सँकरा होना' (तंग) में यही तो नहीं है ? 39 √रिङ्ग् रेंगना, तल से सँटते हुए चलना, लहरों का चलना, घुटनों के बल चलना अर्थ में प्रयुक्त है।

क्षीरस्वामी ने यहाँ अणोपदेश धातु भी मानी है : **द्विर्णखिर्णोपदेश-विकल्पार्थः—प्रनखति, प्रणखति।** किंतु यह णोपदेश-कारिका के विरुद्ध होने के कारण अनादेय है। उनके पाठ में यहाँ 26 √इङ्ख् नहीं है। वे 14 उङ्ख् को भी अनार्ष मानते हैं : **उखिरिदन्तोऽनार्षः, 'न्यूङ्खा ओकाराः षोडश'** (का० 1.2.34) **इत्याद्यर्थमुन्नीतः।**[1] क्षीर स्वामी ने √उङ्ख् की अनार्षता में कोई हेतु नहीं दिया है। 'न्यूङ्ख' के लिये ही यदि इस धातु की कल्पना करनी है, तो (1) इसका स्वरूप 'ऊखि' होना चाहिये, (2) अर्थ 'गति' नहीं 'उच्चारण' से संतद्ध 'शब्द' होना चाहिये। धातुपाठों में √उङ्ख् केवल

---

1. क्षी० त०। इस पर यु० मी० टि० 5 देखें। क्षी० त० में उद्धृत वाक्य में **'ओङ्काराः'** पाठ तथा विश्ववंधुजी द्वारा वै० प० 4, 2, पृष्ठ 1455, टि० n) में धृत **षोडशोंकरसमूह** अर्थ अनुचित है। काशिका 1.2.34 में 'ओ' अभिप्रेत है, 'ओम्' नहीं। द्र० प० म० : **'न्यूङ्खा' इत्यादि—षोडशेति पाठः, ओकारा इति च। न त्वेते मकारान्ताः।** इनके वर्णन के लिये देखिये आश्वलायन श्रौत सूत्र (7.11)। **न्यूङ्खयन्ते अधि पक्व आमिषि** (ऋ० 10.94.3) में यह क्रिया आमिष को पका देखकर की जाने वाली हर्षध्वनि के लिए हुआ है। अतः उस काल में भी 'ओ' जैसी हर्षध्वनि की √न्यूङ्ख् से अभिप्रेत प्रतीत होती है। ओङ्कार (प्रणव) नहीं।

2290 अभ्यासस्यासवर्णे (6.4.78)—इवर्णोवर्णान्तस्याभ्यासस्येयङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि। उवोख—'सन्निपात०' (प० 86) परिभाषया 'इजादेः०' (2237) इत्याम्न। ऊखतु; ऊखुः—इह सवर्ण-दीर्घस्याभ्यास-ग्रहणेन ग्रहणाद्ध्रस्वः प्राप्तो

2290 इकारांत और उकारांत अभ्यास को इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं, सवर्ण से भिन्न स्वर बाद में होने पर। उवोख—'सन्निपातलक्षणो०' (प०86) परिभाषा के कारण 'इजादेश्च०' से आम् नहीं होता। ऊखतुः, ऊखुः—यहाँ अभ्यास के ग्रहण से सवर्ण-दीर्घ का भी ग्रहण होने के कारण प्राप्त हुआ ह्रस्व कार्य एक ही बार प्रवृत्ति का नियम होने

क्षी०स्वा० और सायण ने दी है। यह वैदिक वाङ्मय में √न्यूङ्ख् के रूप में भ्वादि और चुरादि की रूप-रचना के साथ तथा कृदंत 'न्यूङ्ख' के रूप में मिलती है। आचार्य मैत्रेय ने भी 14 **उङ्ख्**, 16 √**वङ्ख्**, 18 √**मङ्ख्**, 19 √**नख्** तथा 25 √**इख्** नहीं दी हैं, अन्य व्याख्याताओं ने इन्हें स्वीकार किया ही है; अतः यहाँ मानना ही उचित है। काशकृत्स्न ने 41 √**रिख्**, चंद्राचार्य ने 42 √**त्रख्** तथा संमता-कार ने 42 √**त्रख्**, 43 √**त्रङ्ख्** तथा 44 √**शिङ्ख्** धातु भी मानी हैं। दीक्षितजी की बताई 50 संख्या इन्हें मिलाने से पूरी होती है। अतः उन्हें ये स्वीकृत हैं।

13 √**उख्**—ओखति, **पुगन्त-लघूपधस्य च** से गुण। लङ् में औखत्; मा स्म भवान् उखत्; लुङ् में औखीत्; मा भवान् उखीत्।

2290 **अभ्यासस्यासवर्णे** (6.4.78)—अङ्गस्य (1), अचि···य्वोरियङुवङौ (77) : अङ्गस्य य्वोः अभ्यासस्य इयङुवङौ असवर्णेऽचि। यहाँ 'य्वोः' इ+उ=यु का षष्ठी द्वि० व० है तथा 'अभ्यास' का विशेषण है, अतः तदंत-विधि होती है · **अङ्गस्य इ-उ-अन्तस्य अभ्यासस्य स्थाने यथा-संख्यम् इयङ्-उवङौ भवतः असवर्णे अचि** (अंग के अवयव, अंत में इकार और उकार वाले अभ्यास के अन्तिम अल् के स्थान में क्रमशः इयङ् =इय् और उवङ् =उव् आदेश होते हैं, बाद में सवर्ण से भिन्न स्वर होने पर)।

उवोख—उख्+अ स्थिति में **पुगन्त-लघू०** (से गुण प्राप्त होने पर **द्विर्वचनेऽचि** से निषेध, **लिटि धातोरन०** से द्वित्वः उख्+उख्+अ। **हलादिः शेषः** से प्राप्त दीर्घ को **वार्णादाङ्गं बलीयः** (प०56, अंग को विहित कार्य वर्ण को विहित कार्य से बलवान् होता है) से बाध कर **पुगन्त-लघूपधस्य च** से अंग की उपधा के उ को गुण : उ+ओख्+अ। प्रकृत **अभ्यासस्यासवर्णे** से असवर्ण 'ओ' पश्चात् होने पर पूर्व-वर्ती अभ्यास के उकार को उवङ् आदेश उव्+ओख्+अ=उवोख।

शङ्का (1)—'उ+ओख्=अ' स्थिति मे आर्धधातुक 'अ' को पर-निमित्त मान कर पूर्व (अभ्यास के 'उ') को विहित उवङ् की कर्तव्यता में गुणकार्य **अचः परस्मिन् पूर्व-विधौ** से स्थानिवत् (ओकार 'उ' के सदृश) हो जाता है, अतः यहाँ असवर्ण

न भवति सकृत् प्रवृत्तत्वात् । आङ्गत्वाद्धि पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्त्या ह्रस्वे कृते ततो दीर्घः, 'वार्णादाङ्गं बलीयः' (प० 56) इति न्यायात्, परत्वाच्च । उङ्खति; ववखतुः; वङ्खति; मेखतुः । 35 त्वगि कम्पने च ॥ 9 ॥

से नहीं होता; क्योंकि ह्रस्व अंग-संबंधी है, सूत्र अपने कार्य में बादल के समान प्रवृत्त होता है, अतः ह्रस्व करने पर तब दीर्घ होगा, क्योंकि 'वर्णाश्रयी कार्य की अपेक्षा अगाश्रयी कार्य बलवत्तर होता है,' यह न्याय है और ह्रस्व कार्य दीर्घ से पर भी है । 35 √त्वङ्ग् काँपना अर्थ में भी है ॥ 9 ॥

अच् के अभाव में उवङ् प्राप्त नहीं है । **इको यणचि** से यण् हो कर 'वोख' रूप बनना चाहिये ।

उत्तर—तब तो अभ्यास के पश्चात् असवर्ण अच् उपलब्ध ही नहीं होगा । अतः यहाँ 'असवर्णे' के ग्रहण करने से विदित होता है कि सूत्रकार अभ्यासोत्तर-वर्ती को विहित इस प्रकार के कार्य का स्थानिवद्भाव नहीं मानते । अतः असवर्ण अच् पर-वर्ती है ही, और उवङ् निर्बाध है ।

शंका (2)—'उ+ओख्+अ' स्थिति में धातु इजादि तथा गुरु 'ओ' वाली है, अतः यहाँ **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** से आम् होना चाहिए ।

उत्तर—यहाँ गुण हुआ है अंग की णल्परकता के निमित्त से; अर्थात् यह धातु आर्धधातुक ('अ') बाद में होने पर अंग गुण होने के कारण गुरुमती होती है । अब इसी गुरुमत्त्व के निमित्त से यदि आम् कर देते हैं, तो आम् अंग के पश्चात् होगा, फलतः अंग के पश्चात् आम् के द्वारा अंग की वह णल्परकता व्यवहित होने से नष्ट हो जाती है, जिसके कारण आम् का निमित्त गुरुमत्त्व अंग में हुआ था । अतः यहाँ **सन्निपात-लक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य** (प० 86) से गुरुमत्त्व के विधायक णल्पर-कत्व में व्याघातक आम् नहीं होगा ।

ऊखतुः—'उख्+अतुस्' स्थिति में अतुस् **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित् है, अतः **क्ङिति च** से लघूपध गुण का निषेध हो जाता है, द्वित्व की कर्तव्यता है, अतः **द्विर्व-चनेऽचि** से सवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है, तब द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होने पर 'उ+उख्+अतुस्' स्थिति में सवर्ण दीर्घ : ऊखतुः ।

शंका (1)—'ऊख्+अतुः' स्थिति में **अन्तादिवच्च** के द्वारा पूर्व (अभ्यास के 'उ') को अतवद्भाव करके 'ऊ' भी अभ्यास ही बन जाता है, तब अभ्यास का अवयव होने के कारण उसे **ह्रस्वः** से ह्रस्व क्यों नहीं होता ?

उत्तर : 'उ+उख्+अतुस्' स्थिति में ही **ह्रस्वः** से ह्रस्व कार्य **पर्जन्यवल्ल-क्षण-प्रवृत्तिः** (प० 120) के अनुसार लाभालाभ को न देखते हुए हो चुका है । उसके

45 युगि, 46 जुगि, 47 वुगि वर्जने ॥ 10 ॥ युङ्गति । 48 घघ हसने ॥ 11 ॥ घघति ; जघाघ । 49 मघि मण्डने ॥ 12 ॥ मङ्घति । 50 शिघि आघ्राणे ॥ 13 ॥ शिङ्घति ॥ 47 ॥

45 √युङ्ग्, 46 √जुङ्ग्, 47 √वुङ्ग् वरजना, छोड़ना अर्थ में हैं ॥ 10 ॥ 48 √घघ् हँसना अर्थ में है ॥ 11 ॥ 49 √मङ्घ् भूषित करना, सजाना अर्थ में है ॥ 12 ॥ मङ्घति । 50 √शिङ्घ् सूँघना अर्थ में है ॥ 13 ॥ शिङ्घति ॥ 47 ॥

पश्चात् दीर्घ होने पर यह पुनः प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि **लक्ष्ये लक्ष्णं सकृदेव प्रवर्तते** (प० 121) ।

शंका (2)—'उ+उख्+अतुस्' स्थिति में (अभ्यास-लोप होने के अनन्तर) ह्रस्व और सवर्ण दीर्घ दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं; तब दीर्घ-कार्य सवर्ण परे रहते पूर्व वर्ण को विहित होने के कारण वर्ण-मात्राश्रित है, जबकि **ह्रस्वः** से ह्रस्व को अभ्यासावयवता की और अच्त्व की—दो बातों की—अपेक्षा है । अतः सवर्ण-दीर्घ अल्पापेक्षी होने के कारण अन्तरंग है, और ह्रस्व अधिकापेक्षी होने के कारण बहिरंग है । अन्तरंग कार्य बहिरंग से बलवान् होता है; अतः ह्रस्व से सवर्ण दीर्घ बलवान् है; फलतः 'उ+उख्+अतुस्' में सवर्ण दीर्घ होकर ऊख्+अतुस् होने पर फिर ह्रस्व करके 'उखतुः' बनना चाहिये ।

उत्तर—यहाँ अंतरंग-बहिरंगता के होते हुए भी 'अन्तरंग बहिरंग से बलवान् होता है', यह परिभाषा लागू नहीं होगी, क्योंकि यह **वार्णादाङ्गं बलीयः** (प० 56) परिभाषा का क्षेत्र है : वर्ण-मात्राश्रित होने से दीर्घ वार्ण है, जबकि ह्रस्व **अङ्गस्य** (6.4.1) के अधिकार में होने से आङ्ग है । अतः आङ्ग ह्रस्व वार्ण दीर्घ से पूर्व प्रवृत्त होगा ।

श्रीवासुदेवदीक्षित का कथन है कि इस प्रसंग में **सर्व-विधिभ्यो लोप-विधिरिड्विधिश्च बलवान्** (प० 100) **अभ्यास-विकारेषु बाध्य-बाधक-भावो नास्ति** (प० 67) के कारण प्रवृत्त नहीं होती । अतः **हलादिः शेषः** से लोप तथा **ह्रस्वः** से ह्रस्व एक साथ हो सकते हैं । इनके पश्चात् सवर्ण-दीर्घ होगा । **पूर्वम्पूर्वमन्तरङ्गम्, परम्परं बहिरङ्गम्** नियम से **ह्रस्वः** दीर्घ से पूर्व प्राप्त होने के कारण अन्तरंग है, और बाद में प्राप्ति के कारण सवर्ण-दीर्घ बहिरंग है । अतः ह्रस्व ही बलवान् है ।

इसके अतिरिक्त, **ह्रस्वः** (7.4.59) **अकः सवर्णे दीर्घः** (6.1.101) से पर होने के कारण भी बलवान् है । त० बो० के अनुसार यह (परत्व) हेतु पुष्ट नहीं है, क्योंकि ह्रस्व आङ्ग होने के कारण बहिरंग है, जबकि सवर्ण दीर्घ अंतरंग । अतः पर ह्रस्व के द्वारा अंतरंग सवर्ण दीर्घ की बाधा बतलाना उचित नहीं है ।

अथ चवर्गीयान्ताः—

(6) तत्रानुदात्तेत एक-विंशतिः—1 वर्च दीप्तौ ॥ 1 ॥ वर्चते ।

चवर्गीयांत 92 धातु : षष्ठ धातु-वर्ग : 21 आत्मनेपदी धातु

अब अन्त में चवर्गीय व्यंजन वाली धातुएँ हैं—

(6) उनमें से अनुदात्त स्वर की इत् संज्ञा वाली 21 हैं—1 √वर्च् दीप्ति

---

15 √**वख्**—वखति; ववाख; ववखतुः—यहाँ धातु के वकारादि होने के कारण एत्वाभ्यास-लोप का निषेध **न शस-वद-वादि-गुणानाम्** से हो जाता है। वखिता; अवाखीत्/अवखीत् ।

14 √**उञ्ज्**, 26 √**इञ्ज्**, 27 √**ईञ्ज्**, 38 √**इञ्ज्** (सब इदित्) धातु इजादि तथा गुरुमान् हैं, अतः लिट् में आम् तथा √कृ, √भू और √अस् का अनुप्रयोग, **आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य** से √कृञ् में सिर्फ परस्मैपद ही होता है : उञ्ज्वांचकार, उञ्ज्वामास, उञ्ज्वाम्बभूव ।

31 √**अङ्ग्**—अङ्गति, आनङ्ग, आनङ्गतुः; आङ्गीत्, मा भवान् अङ्गीत् । अङ्गम् । अङ्गन आंगन ।

17 √**मख्**, 19 √**नख्** (**णो नः** से औपदेशिक ण् को न्), 21 √**रख्**, 23 √**लख्** के कित् लिट् और थल् में एत्वाभ्यास-लोप : ममाख, मेखतुः, मेखुः, मेखिथ, मेखथुः, मेख; ममाख-ममख, मेखिव, मेखिम; अमाखीत्/अमखीत् । इसी प्रकार रराख, रेखतुः; अराखीत्/अरखीत् इत्यादि ।

धातु-योग : दीक्षितजी—पूर्व-धातु 117, इस वर्ग की 50, कुल 167; हमारे मत में—पूर्व-धातु 115, इस वर्ग की 46, कुल 161 ॥ 47 ॥

षष्ठ धातु-वर्ग का विश्लेषण : अब दो (छठे-सातवें) वर्गों में 92 चवर्गीयांत धातु दी हैं। प्रथम वर्ग में 21 आत्मनेपदी हैं, उससे अगले वर्ग में 72 परस्मैपदी हैं। उनमें एक स्वरांत धातु है। अतः चवर्गीयांत कुल 92 धातु हैं। क्षीरस्वामी के यहाँ 9 √काञ्च् का पाठ नहीं है, अतः उनके पाठ में आत्मनेपदी धातु 20 हैं। सायण ने यही 21 दी हैं। दीक्षितजी ने उन्हीं का अनुसरण किया है। ये सब धातु उदात्त होने से सेट् हैं तथा अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी ।

इन 21 धातुओं में 14 चकारांत हैं तथा 7 जकारांत। चकारांतों में 7 अदित् हैं, 6 इदित् और 1 ऋदित् है। जकारांतों में 2 अदित्, 1 इदित्, 1 ईदित् और 3 ऋदित् हैं। चकारांतों में 2 षोपदेश हैं।

1 √**वर्च्** प्रकाश, चमकना, तेज के कारण दमकना अर्थ में (अकर्मक) है। वर्चते, ववर्चे, वर्चिता, वर्चिष्यते, वर्चताम्, अवर्चत, वर्चेत, वर्चिषीष्ट, अवर्चिष्ट,

2 षच सेचने, सेवने च ॥ 2 ॥ सचते; सेचे, सचिता । 3 लोचृ दर्शने ॥ 3 ॥ लोचते, लुलोचे । 4 शच व्यक्तायां वाचि ॥ 4 ॥ शेचे । 5 श्वच, 6 श्वचि (जलना, दीपना) अर्थ में है ॥ 1 ॥ वर्चते । 2 √षच् सींचने और सेवन अर्थों में है ॥ 2 ॥ 3 √लोच् देखने में है ॥ 3 ॥ 4 √शच् स्पष्ट (स्वर-व्यंजन-वर्णात्मक) वाणी अर्थ में है ॥ 4 ॥ 5 √श्वच्, 6 √श्वञ्च् गति अर्थ में है ॥ 5 ॥ 7 √कच्

अर्वचिष्यत । यह धातु आख्यात के रूप में कम प्रयुक्त है। वर्चस् (तेज, टट्टी), सुवर्चला (एक भाजी), सुर्वाचका (टाँकी—क्षी० स्वा०) ।

2 √**षच्=सच्** (1) सेचन और (2) सेवन अर्थों में है । वेद में यह दोनों अर्थों में आख्यात के रूप में भी उपलब्ध होती है : (1) **गावः सचन्त वर्तनिं यदूदभिः** (ऋ० 10.172.1) में यह 'गायें लेवटियों से मार्ग को सींच रही हैं', अर्थ में 'सेचन' अर्थ में हो सकती है । **इयमेव सा, या प्रथमा व्यौच्छदन्तरस्यां चरति प्रविष्टा । बहूर्जजान नवगज्जनित्री, त्रय एनां महिमानः सचन्ते** (तै० सं० 4.3.11.1) के भाष्य में भास्कर ने √सच् को 'सेचन' अर्थ में ही बताया है । (2) 'सेवन' अर्थ में तो यह प्रचुर प्रयुक्त है। 'सक्तु' भिगोया (साना) जाता है, इसलिये प्रथम अर्थ में तथा चिपक जाता है । (तुलनीय निरुक्त 4.10 : **सक्तुः सचतेः । दुर्धावो भवति**)। इसलिये दूसरे अर्थ में √सच् से निष्पन्न है । निरुक्त (3.21 में) √सच् को सेवनार्थक बताया है : **'सिषक्तु, सचते'** (निघण्टु 3.29.24) **इति सेवमानस्य** । सेवनार्थक से निष्पन्न नाम-पद 'सचा' (सह) तथा 'सचिव' हैं । षोपदेश होने से **धात्वादेः षः सः** से ष् को स् आदेश । सचते; सेचे—एत्वाभ्यास-लोप; सचिता; सचिष्यते; सचताम्; असचत; सचेत; सचिषीष्ट; असचिष्ट; असचिष्यत ।

3 √**लोच्** देखना, परखना अर्थ में सकर्मक है । लोचते; लुलोचे; लोचिषीष्ट; अलोचिष्ट; अलोचिष्यत । लोचन; आलोचन । ऋदित् का प्रयोजन णिच् से लुङ् में **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** से प्राप्त उपधा-ह्रस्व का **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** से निषेध है ।

4 √**शच्** स्पष्ट उच्चारण करना, स्पष्टस्वरवर्ण-पदा वाणी बोलना अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है । वैदिक 'शची' इसी से निष्पन्न है । बिजली की कड़क इस अर्थ में इंद्र (मेघ) की पत्नी शची ऋग्वेद में अभिप्रेत है ।

5 √**श्वच्** तथा 6 √**वञ्च्**—ये दो धातु गति (ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति) अर्थ में अकर्मक तथा सकर्मक एवं सेट् हैं । √वञ्च् अथर्ववेद में गति अर्थ में उपलब्ध है : **यस् तिष्ठति चरति, यो निलायं, चरति, यः प्रतङ्कम्** (4.16.2) **त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि** (10.8.27) । पंजाबी √वञ्ज् इसी से विकसित है ।

गतौ ॥ 5 श्वचते; श्वञ्चते । 7 कच बन्धने ॥ 6 ॥ कचते । 8 कचि, 9 काचि दीप्ति-बन्धनयोः ॥ 7 ॥ चकञ्चे; चकाञ्चे । 10 मच, 11 मुचि कल्कने ॥ 8 ॥ कल्कनं (1) दम्भः, (2) शाठ्यं च; (3) 'कथनम्' इत्यन्ये ।

बाँधने में हैं ॥ 6 ॥ 8 √कञ्च्, 9 √काञ्च् दीपना और बाँधना अर्थों में हैं ॥ 7 ॥ 10 √मच् और √मुञ्च् कल्कन अर्थ में हैं ॥ 8 ॥ कल्कन माने (1) 'ढोंग करना', और (2) 'धूर्तता करना है; (3) 'कहना' है, यह और लोग (मानते हैं) । 12 √मञ्च्

---

7 √**कच्** बाँधना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है । कच्यन्ते इति कचाः केशाः । विकच=बंधन-रहित=खिला हुआ । काचः=काँच । चकचे, चकचाते इत्यादि ।

8 √**कञ्च्** तथा 9 √**काञ्च्** ये दो धातु दीप्ति (चमकना, दमकना) तथा बंधन अर्थों में अर्थवशात् अकर्मक एवं सकर्मक तथा सेट् हैं । काञ्चते=दीप्यते इति काञ्चनम्=स्वर्णम् (चमकता, दमकता है, इसलिए सोना 'काञ्चन' है) । चकञ्चे; चकाञ्चे । काञ्ची=मेखला, क्योंकि वह बाँधी जाती है । नगरियों में दीप्त, प्रकाशित समृद्ध होने से एक विशेष नगरी (पुरी) 'काञ्ची' है । तुलतीय 'काशी' ।

10 √**मच्** तथा 11 √**मुञ्च्** कल्कन अर्थ में हैं । मैत्रेयरक्षित ने 'कल्कन' का अर्थ दम्भ, ढोंग, कपट तथा धूर्तता, ढिठाई करना ('दंभ' और 'शाठ्य') बताया है । क्षी० त० में 'दंभ' और 'क्वथन' अर्थ बताया है । मा०धा० वृ० में क्षीरस्वामी का अर्थ 'कत्थन' के रूप में उद्धृत किया गया है । 'क्वथन' का अर्थ खूब उबालना, काढ़ा(क्वाथ) बनाना होता है । किंतु आयुर्वेद में 'कल्क' से कच्ची चीजें ही ली जाती हैं, पकी उबली नहीं : तलछँट, पीठी (पिष्ट), चूर्ण । अतः यहाँ 'क्वथन' अर्थ कुछ जँचता नहीं । जिस प्रकार दंभ एवं शाठ्य परस्पर निकटवर्ती अर्थ हैं, वैसे ही क्षीरस्वामी के अर्थ भी परस्पर निकटवर्ती होने चाहिए । 'कल्क' 'दंभ', 'पाप' अर्थ में प्रसिद्ध है :

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः, स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य-वित्ताहरणं न कल्कः, तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥ महाभारत 1.1.275

'शेखी बघारना' दम्भ के बहुत निकट का अर्थ है । अतः मा० धा० वृ० में उद्धृत 'कत्थन' अर्थ कदाचित् क्षीरस्वामी का वास्तविक अर्थ है, दीक्षित जी का 'कथन' अर्थ भी 'कत्थन' का ही लेखक-प्रमाद से भ्रष्ट हुआ रूप लगता है । 'कथन' अर्थ में 'कल्क' या 'कल्कन' का प्रयोग, या अर्थकथन भी उपलब्ध नहीं है ।

मचते; मेचे, मेचाते, मेचिरे—अत एक-हल्मध्ये० से एत्त्व तथा अभ्यास-लोप । मचिता, अमचिष्ट, अमचिष्यत । मुञ्चते; मुमुञ्चे; मुञ्चिता । भाव में मुञ्च्यते—इदित् होने से न-लोप नहीं होता । चांद्र धातु-पाठ में √मुञ्च् के स्थान पर √मुच् दी गई है : मोचते; मुमुचे, मोचिता, अमोचिष्ट । मुच्यते ।

मेचे; मुमुञ्चे। 12 मचि धारणोच्छ्राय-पूजनेषु ॥ 9 ॥ ममञ्चे। 13 पचि व्यक्तीकरणे ॥ 10 ॥ पञ्चते। 14 ष्टुच प्रसादे ॥ 11 ॥ स्तोचते; तुष्टुचे।

15 ऋज गति-स्थानार्ज-नोपार्जनेषु ॥ 12 ॥ अर्जते। नुड्विधौ ऋकारैक-

धारना, ऊँचा करना, उठाना, सत्कार अर्थों में है ॥ 9 ॥ 13 √पञ्च् अस्पष्ट को स्पष्ट करना अर्थ में है ॥ 10 ॥ 14 √स्तुच् प्रसन्न होना अर्थ में है ॥ 11 ॥

15 √ऋज् गति, टिकना, सरल होना और कमाना अर्थों में है ॥ 12 ॥ नुट्

---

12 √मञ्च् धारण करना, ऊँचा करना तथा पूजन (प्रशस्त होना) अर्थों में सकर्मक एवम् अकर्मक तथा सेट् है। (1) मञ्चति=धारयति उपरि स्थितान् इति मञ्चः ; (2) मञ्च्यते=उच्छ्रितः क्रियते इति मञ्चः; (3) मञ्च्यते=प्रशस्यते इति वा मञ्चः। (1) ऊपर बैठे लोगों को धारण करता है, इसलिए मंच कहलाता है; (2) सामान्य धरातल से ऊँचा उठाया जाता है, ऊँचा होता है; (3) सुन्दर लगता है, सब प्रशंसा करते हैं, प्रशस्त होता है, इसलिए भी 'मञ्च' कहलाता है। मञ्चकः, मञ्चिका, हिन्दी का माँची, मँचिया, पंजाबी मंजी, मंजा (खाट) इस 'मञ्च' का ही विकसित रूप है।

13 √**पञ्च्** अव्यक्त को व्यक्त=स्पष्ट करना अर्थ में है। यह सकर्मक एवं सेट् है। प्रपञ्चः, पङ्कः, पङ्क्तिः, पञ्चिका, पञ्चन् (पाँच)। पंच। दुर्गसिंह, वर्धमान और सम्मताकार इसे स्वाभाविक अनुनासिक (ञ्) वाली 'पञ्च्' मानते हैं। न्यास के अनुसार यह √पच् है तथा परस्मैपदी है।

14 √**ष्टुच्** धातु प्रसाद, प्रसन्नता, स्पष्टता अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है। इस धातु के आदि में औपदेशिक 'ष्' है। उससे परवर्ती 'तु' है, 'तु' को **ष्टुना ष्टुः** से 'टु' हो गया है। **धात्वादेः षः सः** से ष् को स् करने पर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** (प०) से 'टु' को भी 'तु' हो जाता है : √स्तुच्। अतः दन्त्यपरक सादि होने के कारण यह षोपदेश है।

लिट् में **शर्पूर्वाः** से शर् जिससे पूर्व है, ऐसा खय् (तु) शेष रहेगा; स् का लोप होगा। 'तु' के बाद स्थित 'स्' को **आदेश-प्रत्यययोः** से ष् होता है, फिर उसके कारण अगले 'तु' को ष्टुत्व से 'टु' : तुष्टुचे, तुष्टुचाते, तुष्टुचिरे। स्तोचिता। स्तोकः= थोड़ा। नैरुक्त परंपरा में स्तोक को √श्चुत् से निष्पन्न माना जाता है।[1] वेद में यह 'बूँद' अर्थ में प्रयुक्त है।[2] उसी से 'थोड़ा' अर्थ विकसित हुआ है।

15 √**ऋज्** गति (ज्ञान, गमन, प्राप्ति), अर्जन तथा उपार्जन करना अर्थों में

---

1. नि० पाँ० अ० 2.1, पृष्ठ 163.
2. ऋ० सं० 3.21.2 : घृतवन्तः पावक, ते स्तोकाः श्चोतन्ति मेदसः।

देशो रेफो हल्त्वेन गृह्यते। तेन द्वि-हल्त्वान्नुट्—आनृजे। 16 ऋजि, कार्य के प्रसंग में ऋ वर्ण का एक भाग (र-सदृश ध्वनि) व्यंजन के रूप में मानी जाती है। इसलिये धातु के दो व्यंजन वाली होने के कारण नुट् होता है—आनृजे। 16

सेट् है। वा० म० के अनुसार 'अर्जन' का अर्थ सम्पादन करना तथा 'उपार्जन' का अर्थ सेवन करना है। तत्त्वबोधिनी के अनुसार 'अर्जन' प्रधानता से तथा 'उपार्जन' प्रासंगिक रूप से किए को कहते हैं। लोक में 'अर्जन' तथा 'उपार्जन' दोनों का अर्थ 'कमाना' प्रसिद्ध है। क्षीरस्वामी, धनपाल, शाकटायन और पुरुषकार ने 'उपार्जन' के स्थान में 'ऊर्जन' अर्थ दिया है। क्षी० स्वा० ने 'ऊर्जन' का अर्थ 'प्राणन' बताया है। क्षी० स्वा० का कथन है कि 'उद्रिक्त' 'उद्रेक' आदि शब्दों की सिद्धि के लिए कुछ लोग इसे √रिज् के रूप में मानते हैं।

लट् में लघूपधगुण होता है : अर्जते, अर्जेते, अर्जन्ते इत्यादि। रेजते, रिरेजे।

नुड्विधौ ऋकारेकदेशो रेफो हल्त्वेन गृह्यते—नुट् की कर्त्तव्यता में ऋ का एकदेश (ऋकारांतवर्ती) रेफ (हल्) के रूप में ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत वचन सूत्रकार के आशय का ही अनुवाद करता है, अनुक्त अथवा दुरुक्त का प्रतिविधान नहीं करता। अतः यह वार्तिक अनावश्यक है। इस पर विशेष विवरण आगे **कृपो रो लः** सूत्र पर देखें।

लिट् में 'ऋज्+त' स्थिति में 'त' को **लिटस्त-झयोरेशिरेच्** से एश् (ए) : ऋज्+ए। 'ए' के **असंयोगाल्लिट्०** से कित् होने से गुणनिषेध। **लिटि धातोरनभ्यास-स्य** से द्वित्व : ऋज्+ऋज्+ए। **पूर्वोऽभ्यासः** से पहले 'ऋज्' की अभ्यास-संज्ञा, **उरत्** से अभ्यास के 'ऋ' को अत्त्व तथा **उरण् रपरः** से रपरत्व होता है : अर्ज्+ऋज्+ए। **हलादिः शेषः** से 'र्ज्' का लोप : अ+ऋज्+ए। **अत आदेः** से अभ्यास के 'अ' को दीर्घ, **नुड्विधौ ऋकारैकदेशो रेफो हल्त्वेन गृह्यते** वार्तिक से ऋकारांतर्गत रेफ तथा ज् इन दो हलों वाली धातु होने से **तस्मान्नुड् द्विहलः** से 'आ' के अनंतरवर्ती ऋ के आदि में नुट् का आगम होता है : आ+न् ऋज्+ए। **अज्झीनं परेण संयोज्यम्** के अनुसार पर से संयुक्त होने के अनंतर 'आनृजे' रूप सिद्ध होता है। ऐसे ही आनृजाते, आनृजिरे इत्यादि रूप भी होते हैं। अर्जिता; अर्जिष्यते; अर्जताम्; आर्जत; अर्जेत; अर्जिषीष्ट; आर्जिष्ट; आर्जिष्यत। ऋजु सरल। ऋजीषम् तवा।

16 √**ऋञ्ज्**, 17 √**भृज्** धातुओं में पहली इदित् है, दूसरी ईदित् है। दोनों धातु 'भूनना' अर्थ में सकर्मक तथा सेट् हैं। पहली अप्रसिद्ध है। अकारांत उपसर्ग से परे होने पर **उपसर्गादृति धातौ** (6.1.91) से वृद्धि एकादेश हो जाता है : प्र+ऋञ्जते=प्रार्ञ्जते इजादि तथा **संयोगे गुरुः** से गुरुमान् होने के कारण लिट् में **इजा-**

17 भृजी भर्जने ॥ 13 ॥ ऋञ्जते । 'उपसर्गादृति०' (6.1.91) इति वृद्धिः— प्रार्ञ्जते । ऋञ्जांचक्रे; आर्ञ्जिष्ट । भर्जते । बभृजे । अभर्जिष्ट । 18 एजृ, 19 भ्रेजृ, 20 भ्राजृ दीप्तौ ॥ 14 ॥ एजांचक्रे । 21 ईज गति-कुत्सनयोः ॥ 15 ॥ ईजांचक्रे ॥ 48 ॥

√ऋञ्ज्, 17 √भृज् भूंजना, भूनना अर्थ में है ॥ 13 ॥ ऋञ्जते । 'उपसर्गाद् ऋति धातौ' से वृद्धि होती है—प्रार्ञ्जते । 18 √एज्, 19 √भ्रेज्, 20 √भ्राज् दीपना, चमकना अर्थ में है ॥ 14 ॥ 21 √ईज् गति और निन्दा करना अर्थों में है ॥ 15 ॥ ईजांचक्रे ॥ 48 ॥

देश्च गुरुमतोऽनृच्छः से आम् आदि हो कर ऋञ्जाञ्चक्रे, ऋञ्जाम्बभूव, ऋञ्जामास रूप होते हैं । क्षी० स्वा० और सम्मताकार यहाँ आम् नहीं मानते : आनृञ्जे । मैत्रेय ने धातु-प्रदीप (पृष्ठ 20) में कुछ समाधान की चेष्टा की है । ऋञ्जिता; ऋञ्जिष्यते; ऋञ्जताम्; आर्ञ्जत (आ+ऋञ्जत, **आटश्च** से वृद्धि एकादेश); ऋञ्जेत; ऋञ्जिषीष्ट; आर्ञ्जिष्ट (आ+ऋञ्जिष्ट, **आटश्च**), आर्ञ्जिष्यत ।

17 √**भृज्** से लट् में **पुगन्त-लघूपधस्य च** से गुण, रपरत्व; भर्जते । लिट् में 'ए' के **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित् होने के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है । द्वित्वादि होने पर बभृजे, बभृजाते इत्यादि । भर्जिता, भर्जिष्यते, भर्जताम्, अभर्जत, भर्जेत, भर्जिषीष्ट, अभर्जिष्ट, अभर्जिष्यत । भर्गस्, भर्ग, भृगु । ईदित् होने से निष्ठा में **श्वीदितो निष्ठायाम्** से इट् का निषेध : भृक्तः, भृक्तवान् ।

18 √**एज्**, 19 √**भ्रेज्**, 20 √**भ्राज्** ये तीनों धातु दीप्ति (चमकना, दमकना, प्रकाशित होना) अर्थ में अकर्मक तथा सेट् हैं । √एज् 'कम्पन' में परस्मैपदी है ।

18 √**एज्** तथा 19 √**भ्रेज्** धातुओं में ऋत् की इत्संज्ञा होने से णिजन्त प्रक्रिया में लुङ् में **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** से प्राप्त ह्रस्व का निषेध **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** से हो जाता है । पर 20 √**भ्राज्** धातु में **भ्राज-भास-भाष-दीप-जीव-मील-पीडामन्यतरस्याम्** से ह्रस्वविकल्प होने के कारण ऋदित्करण का विशेष प्रयोजन नहीं है । **भ्राज** करने पर भी आत्मनेपद तो हो ही जाता । अतः ऋदित्करण केवल अन्य दो धातुओं के साहचर्य के कारण ही किया हो सकता है । न्यास (7.4.3) के अनुसार √भ्राज् से होने वाले सब कार्य आगे फणादि गण में अवश्य-पठितव्य √भ्राज् से ही हो जाते हैं । यहाँ पाठ का कोई प्रयोजन नहीं है, अतः यहाँ इसका पाठ अनार्ष-सा है ।[1] एजाञ्चक्रे; एजाम्बभूव, एजामास; एजिता; मा स्म भवान् एजत; एजेत;

---

1. सायण तथा दीक्षित जी इससे सहमत नहीं हैं । 23वें वर्ग के पश्चात् √भ्राज् (23.1) की 'भव-तोषिणी' देखें ।

(7) अथ द्वि-सप्ततिर्व्रज्यन्ताः परस्मैदिनः—1 शुच शोके ॥ 1 ॥

सप्तम धातु-वर्ग : क. चकारांत परस्मैपदी सेट् 22 धातु

(7) अब √व्रज् तक बहत्तर परस्मैपदी धातु हैं—1 √शुच् शोक करना,

ऐजिष्ट, मा भवान् एजिष्ट । बिभ्रेजे; बभ्राजे । भ्राजस् । यङ्लुक् में बाभ्राक्ति ।

न्यास (7.4.3) तथा चंद्र के अनुसार यहाँ √भ्रेजृ के स्थान पर **'रेजृ'** है ।

21 √**ईज्** गति तथा कुत्सा (निन्दा) करना अर्थ में है । अर्थ स्पष्ट न होने से सकर्मकाकर्मक का विवेक संभव नहीं है । लघूपध न होने से गुण प्राप्त नहीं है; लिट् में आम्—ईजाञ्चक्रे, ईजाम्बभूव, ईजामास; ईजिता; ऐजिष्ट; । 'हवा करना' अर्थ में ईज् का प्रयोग **यो वा एता ईजते** (मै० सं० 4.5.6) तथा **स्वगृह्योक्तविधानेन प्रतिष्ठाप्याग्निमीजयेत्** (बृहज्जाबाल उपनिषद् 3.11) में उपलब्ध है । जाम्बवतीविजय में यह 'वि' के साथ उपलब्ध है :

असौ गिरेः शीतल-कन्दरस्थः पारावतो मन्मथ-चाटु-दक्षः ।
घर्मालसाङ्गीं मधुराणि कूजन् संवीजते पक्ष-पुटेन कान्ताम् ॥[1]

दुर्गसिंह ने इसे इदित् दिया है : ईञ्जते । ईञ्जाञ्चक्रे ।

धातु-योग : दीक्षितजी—पूर्व-योग 167, इस वर्ग की 21, कुल 188; हमारे मत में—पूर्वयोग 161, इस वर्ग की 21, कुल 182 ॥ 48 ॥

सप्तम धातु-वर्ग का विश्लेषण : इस धातु-वर्ग में क्षी० स्वा० और दीक्षितजी दोनों ने 72 धातु बताई हैं । दोनों आचार्यों के धातुपाठ में संख्या की पूर्ति अर्थ-भेद से पुनः पठित धातुओं को पृथक्-पृथक् मानने से ही हो पाती है : √गज् दो बार पठित है—**गज, गजि, गृज, गृजि, मुज, मुजि शब्दार्थाः ॥ 42 ॥ गज मदने च ॥ 43 ॥** किन्तु यह पद्धति पूर्व धातु-वर्गों में अपनाई धातु-गणना-शैली से मेल नहीं खाती : (1) चौथे धातु-वर्ग में 34 √लङ्ग्, 37 √मङ्ग् और 40 √द्राघ् भी अर्थ-भेद से पुनः पठित हैं; उन्हें जोड़ने से चौथे धातु-वर्ग में धातु-सङ्ख्या दीक्षितजी द्वारा प्रोक्त 42 नहीं, अपितु 45 होनी चाहिए, यह पीछे कहा जा चुका है । (2) पाँचवें धातु-वर्ग के दंडक में पठित **त्वगि** भी अर्थ-भेद से पुनः पठित है, किंतु दीक्षित जी ने उसे पृथक् धातु के रूप में नहीं गिना है । (3) दसवें वर्ग में अर्थ-भेदेन पुनः पठित धातुओं की संख्या यदि जोड़ें, तो उस वर्ग की प्रोक्त धातु-संख्या से कहीं अधिक ठहरती है । अतः इस (सप्तम) धातु-वर्ग में धातुओं की संख्या वस्तुतः 71 कहनी चाहिए ।

---

1. सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत । यु० मी०, सं० व्या० इ०, भाग 3, पृष्ठ 86.

क्षी० स्वा० द्वारा व्याख्यात धातु-पाठ में दीक्षितजी के द्वारा व्याख्यात धातु-पाठ से (1) न केवल अर्थ-कथन में अंतर है, अपितु (2) दीक्षितजी की कुछ धातु (11 म्रुञ्चु, 12 म्लुञ्चु) क्षी० त० में नहीं है, (3) क्षी० त० की कुछ धातु सि० कौ० में नहीं हैं, उदाहरणार्थ धातु-सूत्र संख्या 22 में क्षी० त० में √वृज् है, 'धृज' और 'धृजि' नहीं हैं, 49 √तेज् की जगह **कज मदे** है। दीक्षितजी ने मा० धा० वृ० को आधार बनाया है।

इस धातु-वर्ग में 4 जकारांत धातु चकारांतों के मध्य अनुचित पठित हैं, 18 धातु चकारांत हैं, 12 छकारांत हैं, फिर 36 धातु जकारांत हैं तथा एक धातु स्वरांत (√क्षि) है। इस वर्ग में इस धातु का पाठ दो दृष्टियों से विचित्र है : (1) यह स्वरांत है, प्रकरण व्यंजनांतों का है; (2) यह अनुदात्त है, प्रकरण उदात्तों का है। सायण ने मैत्रेय का यह समाधान उद्धृत किया है कि यहाँ इसे अगली धातु (√क्षीज्) की समानता के कारण दिया है।[1] √क्षीज् से उपर्युक्त दो प्रकार की समानता तो है नहीं, जिन दो बातों के आधार पर धातु-वर्गों का गठन किया है; हाँ, क्षकारादित्वेन समानता हो सकती है, पर यह समानता धातुपाठ में बहुत कम दृष्टि में रही है : आदि वर्ण को धातु-पाठ-गठन में कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। क्षी०स्वा० ने इसका यह समाधान किया है कि अनुदात्त (अनिट्) धातुओं को उदात्त (सेट्) धातुओं के मध्य पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए दिया गया है।[2] पर इस दृष्टि से भी इसका पाठ यदि 48 √अज् के पश्चात् हुआ होता, तो कदाचिद् उचित होता : √अज् का आदेश √वी (1) स्वरांत है, (2) अनुदात्त होने से अनिट् है।

ये सब धातु उदात्तेत् होने से परस्मैपदी हैं और उदात्त होने से सेट् हैं। √अज् का आदेश √वी और √क्षि ये दो अनुदात्त हैं, अतः अनिट् हैं।

7.1 √**शुच्** शोक, सोच करना अर्थ में सकर्मक है। बीती को याद करके दुःख का अनुभव करना (शोक) होता है। आधुनिक भाषाओं में यह √सोच् के रूप में तद्भव है तथा 'शोक','शोचनीय' में तत्सम है। शुचि, शौच, शोचिष् आदि इस √शुच् से नहीं, अपितु दैवादिक **ईशुचिर् पूतीभावे** से निष्पन्न हैं। 'शूद्र' शब्द समाज में अपनी शोचनीय स्थिति के कारण प्रकृत √शुच् से, अथवा अशुचि होने के कारण दैवादिक

---

1. मा० धा० वृ० 1.233 : **'अनिद् स्वरान्तः'** (व्याघ्रभूति की अनिट्कारिका) **इत्ययमनिट्। इह पाठस्तूत्तर-धातु-सादृश्यादिति मैत्रेये प्रतिपादितम्।**

2. **वक्ष्यति च—**

   पाठ-मध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित्।

   अनुदात्तोऽप्युदात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः॥ क्षी० त० 1.149

शोचति। 2 कुच शब्दे तारे ॥ 2 ॥ कोचति। 3 कुञ्च, 4 क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः ॥ 3 ॥ 'अनिदिताम्०' (6.4.24) इति न-लोपः, इति कुच्यात्, सोच करना अर्थ में है ॥ 1 ॥ शोचति। √कुच् ऊँची आवाज करना, चिल्लाना अर्थ में है ॥ 2 ॥ कोचति। 3 √कुञ्च् 4 √क्रुञ्च् कुटिल होना, मुड़ना, कम होना, सिकुड़ना अर्थों में हैं ॥ 3 ॥ 'अनिदितां हल०' सूत्र से नकार का लोप होता है, इसलिये

√शुच् से निन्दार्थक 'द्र' प्रत्यय से[1] अथवा नैरुक्त दृष्टि से √शुच्+√द्रा (गति-कुत्सना=कुत्सा[2]) से निष्पन्न हो सकता है। **शोचति गतां सम्पदं मलमल्लक-शेषो वणिक्**—दिवालिया (शब्दार्थ—लँगोटीमात्र जिसके पास बची है) बनिया गई हुई सम्पत्ति को (याद करके) क्लेश अनुभव करता है। **अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्** (गीता 2.11)।

शुशोच; शोचिता; शोचिष्यति; शोचतु; अशोचत्; शोचेत्; शुच्यात्; अशोचीत्; अशोचिष्यत्।

2 √**कुच्** ऊँचा शब्द करना (जोर से चिल्लाना, पक्षी आदि का शब्द) अर्थ में अकर्मक एवम् सेट् है। रूप √शुच् की तरह ही होते हैं : कोचति, चुकोच।

3 √**कुञ्च्** तथा 4 √**क्रुञ्च्** धातु टेढ़ा होना (घुँघराला, लहरदार-सा होना) तथा थोड़ा होना, कम पड़ना, बहुत से कम होना अर्थ में अकर्मक और वैसा करना अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् हैं। क्षीरतङ्गिणी में ये धातु यों हैं : **कुञ्च गतौ, क्रुञ्च गति-कौटिल्याल्पीभावयोः**। अर्थात् √कुञ्च् गति अर्थ में और √क्रुञ्च् गति की कुटिलता और थोड़ा होना, थुड़ना अर्थों में हैं।

√कुञ्च् और √क्रुञ्च् धातु **नकारजावनुस्वारपञ्चमौ** नियम से मूलतः नोपध हैं, पर **नश्चा-पदान्तस्य झलि** से अनुस्वार तथा **अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः** से परसवर्ण ('ञ्') हो जाता है। पहली धातु प्रसिद्ध है। लघूपध न होने से **पुगन्त-लघूपधस्य च** से गुण नहीं होता है। कुञ्चति; क्रुञ्चति।

लिट् में संयोग से परे होने के कारण 'अतुस्' आदि की **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित्संज्ञा नहीं होती, अतः न-लोप भी नहीं प्राप्त होता। फलतः चुकुञ्च, चुकुञ्चतुः, चुकुञ्चुः आदि रूप होते हैं।

आशीर्लिङ् में **किदाशिषि** से यासुट् के कित् होने से **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से 'न्' का (अत्व के असिद्ध होने से) लोप होता है : कुच्यात्।

---

1. उणादि-सूत्र 186 : **शुचेर्द्रश्च**।
2. अदादि 11.11 : **द्रा कुत्सायां गतौ**। निरुक्त 2.3 : **द्रातीति गति-कुत्सना**।

क्रुच्यात् । 5 लुञ्च अपनयने ॥ 4 ॥ लुच्यात् । 6 अञ्चु गति-पूजनयोः ॥ 5 ॥
कुच्यात्, क्रुच्यात् । 5 लुञ्च् नोंचना अर्थ में है ॥ 4 ॥ लुच्यात् । 6 √अञ्च् गति और सत्कार करना, श्रेष्ठ होना अर्थों में है ॥ 5 ॥ अच्यात्—'गति' अर्थ में नकार का

क्षी० त० में इन अर्थों में √कुञ्च् ही दी है, 4 √क्रुञ्च् को उन्होने इस वर्ग की तीसरी धातु के रूप में √कुञ्च् से पूर्व रखा है। काशिका (8.2.30) में अकेली **'कुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः'** ही उद्धृत है। प० म० (1.2.18) में यही पाठ उद्धृत किया गया है तथा 3.2.60 में दोनों धातुओं को प्रकृत धातु-सूत्र के रूप में इकट्ठे उद्धृत किया गया है। न्यास (1.2.28) में उद्धृत तो इकट्ठे ही किया है, पर उदित् दिया है। √कुञ्च् को चांद्र धातुपाठ में भी उदित् माना जाता है।

काशिका, न्यास, पदमञ्जरी, क्षीरतरङ्गिणी और माधवीय धातुवृत्ति में दोनों धातु नोपध किंतु संधि के कारण ओपध हो गई मानी हैं। न्यास (8.2.30) में उद्धृत अपरीय मत में ये दोनों पृथक्-पृथक् धातु-सूत्रों में अदित् हैं तथा √कुञ्च् नोपध है, जबकि √क्रुञ्च् ओपध। यहाँ काशिका में इसे ओपध तथा नोपध दोनों प्रकार से मानने के मत दिये गये हैं। 8.2.22 के भाष्य में √क्रुञ्च् को स्वभाव से ओपध मानने का संकेत है। इसपर उद्योत में इसे स्पष्टतः ओपध बताया है। पाणिनि के **'ऋत्विग्-दधृक्···युजि-क्रुञ्चां च'** (3.5.59) में अकारश्रुति से सूचिता होता है कि पाणिनि कदाचित् इसे ओपध मानते हैं। परंतु ऐसी स्थिति में क्रुङ् (मा० सं० 19.73) प्रयोग संभव नहीं है। अतः भाष्यकार ने यहाँ अकारवान् रूप को निपातन-सिद्ध माना है। इसका फल यह है कि चकार के संयोग में 'भ' संज्ञक प्रत्यय से पूर्व इस का लोप नहीं होता, पाणिनि यह सूचित करना चाहते हैं।

इस मत-भेद के फलस्वरूप √क्रुञ्च् का आशीर्लिङ् में नोपधपक्ष में 'क्रुच्यात्' एवं ओपध-पक्ष में 'क्रुञ्च्यात्' रूप होता है। दीक्षितजी ने नोपध-पक्ष माना है।

5 √लुञ्च् 3 √कुञ्च् की तरह नोपध ही है। यह हटाना, चुनना, नोंचना, चूँडना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है। रूप तथा प्रक्रिया 3 √कुञ्च् की तरह ही होते हैं। हिन्दी, गुजराती में 'लुच्चा' 'लुञ्चित' का तद्भव है। मूलतः यह जैन साधु के लिए प्रयुक्त होता था। गुजरात में जैन धर्म का समादर है, अतः वहाँ यह अच्छे ('चतुर') अर्थ में है; उत्तरभारत में उस धर्म का उतना प्रभाव नहीं है, तो इसका अर्थ भी विकृत हो गया। हिंदी √नोंच् इसी से विकसित है।

6 √अञ्च् धातु गति तथा पूजा करना, सम्मान करना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है। पूजा अर्थ में यहाँ **नाञ्चेः पूजायाम्** से निषेध होने के कारण नलोप केवल गति अर्थ में होता है; अच्यात्। पूजा अर्थ में अञ्च्यात्।

अच्यात्—गतौ न-लोपः, पूजायान्तु अञ्च्यात्। 7 वञ्चु, 8 चञ्चु, 9 तञ्चु, 10 त्वञ्चु, 11 म्रुञ्चु, 12 म्लुञ्चु, 13 म्रुचु, 14 म्लुचु गत्यर्थाः ॥ 6 ॥ वच्यात्; चच्यात्; तच्यात्; त्वच्यात्; अम्रुञ्चीत्; अम्लुञ्चीत्। 2291 जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च (3.1.58)—एभ्यश्च्लेरङ् वा लोप हो गया है, 'पूजा' अर्थ में तो अञ्च्यात्। 7 √वञ्च्, 8 √चञ्च्, 9 √तञ्च्, 10 √त्वञ्च्, 11 √म्रुञ्च्, 12 √म्लुञ्च्, 13 √म्रुच्, 14 √म्लुच् गति अर्थ वाली हैं ॥ 6 ॥ 2291 1 √जॄ, 2 √स्तन्भ्, 3 √म्रुच्, 4 √म्लुच्, 5 √ग्रुच्, 6√ग्लुच्, 7 √ग्लुञ्च् तथा 8 √श्वि धातुओं से विहित च्लि के स्थान में अङ् विकल्प से हो

लिट् में आनञ्च—'ञ्', 'च्' इन दो हलों वाली धातु होने के कारण **तस्मान् नुड् द्वि-हलः** से नुट् होता है। लुङ् में आ+अञ्चीत्, **आटश्च** से वृद्धि : आञ्चीत्। यहाँ **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से हलंत-लक्षणा वृद्धि प्राप्त होती है, पर **नेटि** से निषेध हो जाता है : मा भवान् अञ्चीत्।

7 √**कञ्च्**, 8 √**चञ्च्**, 9 √**तञ्च्**, 10 √**त्वञ्च्**, 11 √**म्रुञ्च्**, 12 √**म्लुञ्च्**, 13 √**म्रुच्**, 14 √**म्लुच्**—इन धातुओं में से पहली छह धातु उपदेश में नोपध हैं। अनुस्वार, परसवर्ण यथाक्रम हो जाते हैं। शेष दो उदित् तथा उदुपध हैं। ये सब गति अर्थ में (गतिविशेष स्पष्ट नहीं है) सकर्मक तथा सेट् हैं। क्षी०त० में 11 √**म्रुञ्च्** तथा 12 √**म्लुञ्च्** नहीं हैं। आ √तञ्च् 'दही जमाना' में प्रयुक्त होता है।

नोपधों में आशीर्लिङ् में **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से नलोप होता है। शेष रूप स्पष्ट हैं। उदुपधों में लघूपधगुण होता है : मुम्रोच, म्रोचिता, म्रोचिष्यति, म्रोचतु, अम्रोचत्, म्रोचेत्, म्रुच्यात्।

लुङ् में 'अ+म्रुच्+च्लि+त्' स्थिति में **च्लेः सिच्** को बाध कर **जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च** से 'च्लि' को अङ् वा होता है। उसके ङित् होने से नकार-लोप होता है और लघूपधगुण नहीं होता : अम्रुचत्। अङभाव-पक्ष में इट् तथा ईट् होकर सिज्लोप, उपधा-गुण : आम्रोचीत्, अम्रोचिष्टाम् इत्यादि।

2291 **जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च** (3.1.58) —च्लेः सिच्(44), अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ् (52), इरितो वा (57) : जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च च्लेः अङ् वा भवति। √जॄ आदि धातुओं से पर स्थित 'च्लि' के स्थान में अङ् आदेश विकल्प से होता है। 1 **जॄष् वयो-हानौ**, 2 **म्रुचु**, 3 **म्लुचु**···**गत्यर्थाः**, 4 **ग्रुचु**, 5 **ग्लुचु**···**स्तेयकरणे**, 6 **ग्लुञ्चु गतौ**, प्रस्तुत सूत्रमात्र में पठित 7 **स्तन्भु** (अनुस्वार, परसवर्ण होने से **स्तम्भु**) एवं 8 **टुओश्वि गति-वृद्धयोः**, ये आठ धातु प्रस्तुत सूत्र में गृहीत हैं। भाष्यकार के मत में इस सूत्र में √ग्लुच् और

स्यात् । अमुचत्-अम्रोचीत्; अम्लुचत्-अम्लोचीत् । 15 ग्रुचु, 16 ग्लुचु, 17 कुजु, 18 खुजु स्तेय-करणे ॥ 7 ॥ जुग्रोच; अग्रुचत्-अग्रोचीत्; अग्लुचत्, अग्लोचीत्; अकोजीत्; अखोजीत् । 19 ग्लुञ्चु, 20 षस्ज गतौ ॥ 8 ॥ लुङि

जाए। अम्रुचत्, अम्रोचीत्; अम्लुचत्, अम्लोचीत्। 15 √ग्रुच्, 16 √ग्लुच्, 17 √कुज्, 18 √खुज् चोरी करने में हैं ॥ 7 ॥ 19 √ग्लुञ्च्, 20 √सस्ज् गति अर्थ में हैं ॥ 8 ॥ लुङ् में अङ् विकल्प से होता है—अग्लुञ्चत्, अग्लुञ्चीत्। सकार को **स्तोः श्चुना श्चु** से शकार, उसे **झलां जश् झशि** से जश् आदेश के द्वारा जकारादेश

√ग्लुञ्च् को पृथक्-पृथक् अङ् करके भी अग्लुचत्, अग्लोचीत् और अग्लुञ्चीत् तीन रूप बनते हैं, जो इनमें से एक के ग्रहण से भी बन सकते हैं। अतः दोनों का ग्रहण व्यर्थ है। एक √ग्लुचु या √ग्लुञ्चु का ग्रहण ही पर्याप्त है। काशिका में किन्हीं आचार्य का मत दिया है कि यह तथ्य तो सूत्रकार की दृष्टि में भी रहा होगा, तब भी दोनों को देने के पीछे आचार्य का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि अङ् करके भी पृथ्क-पृथ्क रूप बनता है, अर्थात् √ग्लुञ्च् से अङ् करने पर ङित्त्व के निमित्त से नलोप नहीं होता, 'अग्लुञ्चत्' रूप होता है। इस मत को मानते हुए ही काशिकाकार ने चौथा रूप 'अग्लुञ्चत्' भी उदाहरणों में दिया है।[1] काशिकाकार का अपना मत है कि दोनों धातुओं के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। अतः दोनों को सूत्रकार ने लिया है। कैयट ने भाष्य के आधार पर इस मत का खण्डन किया है।

15 √**ग्रुच्**, 16 √**ग्लुच्**, 17 √**कुज्** तथा 18 **खुज्**,—ये चार धातु चुराना अर्थ में परस्मैपदी, सकर्मक तथा सेट् हैं। ग्रोचति, खोजति आदि रूप होते हैं। लुङ् में 15 **ग्रुच्** तथा 16 **ग्लुच्** में **जॄ-स्तन्भु०** सूत्र से वैकल्पिक अङ् होता है : अग्रुचत्, अग्लुच्त्। पक्ष में अग्रोचीत्, अग्लोचीत् बनते हैं। 17 **कुज्** तथा 18 **खुज्** के अकोजीत् एवम् अखोजीत् रूप बनते हैं। ये दो धातु यहाँ उचित नहीं हैं। √खुज् हिन्दी में अर्थ-भेद से √खोज् (ढूंढना) है।

19 √**ग्लुञ्च्** (उपदेश में नोपध) तथा 20 √**सस्ज्** (उपदेश में षोपदेश) ये दो धातु गति अर्थ में सकर्मक तथा सेट् हैं। आशीर्लिङ् में ग्लुच्यात्। लुङ् में **जॄ-स्तन्भु०** आदि से अङ् होने पर ङित् होने के कारण **अनिदितां हल०** से नकारलोप एवं ङित् होने से ही गुणनिषेध हो कर 'अग्लुचत्' रूप बनता है। पक्ष में (अङ् न होने पर) इट्, ईट् आदि 'अग्लुञ्चीत्'।

20 √**षस्ज्** के 'ष्' को **धात्वादेः षः सः** से सत्व : सस्ज्, **स्तोः श्चुना**

---

1. का० 3.1.58 : **केचित्तु वर्णयन्ति 'द्वयोरुपादान-सामर्थ्याद् गलुञ्चेनुरनासिक-लोपो न भवति—अग्लुञ्चत्' इति।**

अङ् वा—अग्लुञ्चत्, अग्लुञ्चीत् । सस्य श्चुत्वेन शः, तस्य जश्त्वेन जः—सज्जति । अयमात्मनेपद्यपि—सज्जते । 21 गुजि अव्यक्ते शब्दे ॥ 9 ॥ गुञ्जति; गुञ्ज्यात् । 22 अर्च पूजायाम् ॥ 10 ॥ आनर्च ॥ 49 ॥

हुआ—सज्जति। यह धातु आत्मनेपदी भी है—सज्जते। 21 गुञ्ज् अस्फुट ध्वनि (गूँजना, गुंजार करना), अर्थ में है ॥ 9 ॥ 22 √अर्च् पूजा (सत्कार) करना अर्थ में है ॥ 10 ॥ आनर्च ॥ 49 ॥

श्चुः से स् को श् : सश्ज्। श् को **झलां जश् झशि** से जश्त्व (ज्) : √सज्ज्। √सज्ज् प्रकृति से प्रत्यय होने पर सज्जति, ससज्ज, सज्जिता, असज्जीत्।

यद्यपि धातु-पाठ में यह परस्मैपदियों में ही उपलब्ध होती है, पर प्रयोग में आत्मनेपद में भी उपलब्ध है : **यदभिप्रायेषु सज्जन्ते।—आदित्यश्चाभिप्राये सज्जते** (भाष्य, 3.1. 26, वा० 15, पृष्ठ 96)। **प्रकृतेर्गुण-सम्मूढाः सज्जन्ते गुण-कर्मसु** (गीता 3.29)। भट्टमल्ल ने इसी लिये इसे उभयपदी बताया है : **संवर्मयति, सन्नह्यत्यात्मने सज्जतीत्यमी। संयतते, बंशयते सन्नाहे पदपञ्चकम्** (आ० च० 2.3.99)। अतः सज्जते, ससज्जे इत्यादि रूप भी बनेंगे। हिन्दी में यह √सज् के रूप में अर्थान्तर में है। साज, सजावट, सज्जा।

शिवस्वामीने √षस्ज् के स्थान पर √सश्च् मानी है, जो निघंटु (2.14) में गत्यर्थक धातुओं में संकलित है तथा वैदिक वाङ्मय में सुप्रयुक्त है।

21 √**गुञ्ज्** (इदित्) धातु अव्यक्त शब्द करना (गुँजारना, गूंजना) अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है। गुञ्जति, जुगुञ्ज। इदित् होने से आशीर्लिङ् में **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से न् का लोप नहीं होता : गुञ्ज्यात्। लुङ् में अगुञ्जीत्। क्षी० त० के अनुसार कुछ लोग इसे √गुज् मानते हैं : गोजति, जुगोज। शाकटायन ने दोनों दी हैं। शब्द अर्थ में √गुञ्ज् तुदादि में भी पठित है। यह शब्दानुकरणमूलक है।

22 √**अर्च्** सत्कार, स्तुति, पूजा करना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है। अर्चति, अर्चतः। लिट् में 'अ+अर्च्+अ' स्थिति में **अत आदेः** से अभ्यास को दीर्घ : आ+अर्च्+अ। **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** से नुट् का आ+न् अर्च्+अ=आनर्च। आनर्चतुः, आनर्चुः; आनर्चिथ, आनर्चथुः, आनर्च; आनर्च, आनर्चिव, आनर्चिम। अर्चिता; अर्चिष्यति; अर्चतु; आर्चत्; अर्चेत्; अर्च्यात्; आर्चीत्, आर्चिष्टाम्, आर्चिषुः; आर्चिष्यत्। अर्कः=देव, सूर्य, स्तोत्र[1], आक। अर्चिष्=ज्वाला ॥ 49 ॥

---

1. शिवनारायण शास्त्री, वैदिक वाङ्मय में भाषाचिन्तन, पृष्ठ 32.

7.23 म्लेछ अव्यक्ते शब्दे ।। 11 ।। (1) अस्फुटे, (2) अपशब्दे चेत्यर्थः । म्लेच्छति, मिम्लेच्छ । 24 लछ, 25 लाछि लक्षणे ।। 12 ।। ललच्छ; ललाञ्छ ।

सप्तम धातु-वर्ग : ख. छकारान्त परस्मैपदी सेट् 12 धातु

7.23 √म्लेछ् अव्यक्त शब्द अर्थ में है ।। 11 ।। (1) अस्पष्ट और (2) गलत-सलत बोलना अर्थ में है, यह तात्पर्य है । 24 √लछ्, 25 √लाञ्छ् चिह्न लगाना अर्थ में

कुछ साधारण ज्ञातव्य बातें : इस अनुच्छेद में चवर्गीयांत परस्मैपदी 71 धातुओं में से छकारांत 12 धातु दी हैं । ये सब परस्मैपदी और सेट् हैं । इनमें तीन तरह की धातु हैं : (1) जिनमें ह्रस्व या दीर्घ स्वर के अव्यवहित पश्चात् छकार है; इनमें संधि के नियम **छे च** (6.1.73) तथा **दीर्घात्** (75) के अनुसार स्वर को तुक् (त्) का अन्तागम होता है, जिसे **स्तोः श्चुना श्चुः** से च् आदेश हो जाता है : 23 √म्लेछ्>म्लेत्+छ्= √म्लेच्छ् । अतः प्रयोगावस्था में ऐसी सब धातुओं को चकारवान् कर लें । यह तुक् आगम छकार-निमित्तक है, अतः जहाँ छकार किसी कारण से यदि नहीं रहता है, तो यह तकार या चकार भी नहीं रहेगा : म्लिष्टम् । (2) जिनमें स्वर और छकार के मध्य रेफ है : 29 √हुर्छ् । इनमें **अचो रहाभ्यां द्वे** से छकार को द्वित्व होकर उस अतिरिक्त छकार को **खरि च** से चकारादेश होता है तथा पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को **उपधायां च** से दीर्घ हो जाता है[1] : √हुर्छ्>हुछ्र्छ=√हूर्च्छ् । (3) चार धातु इदित् हैं, अतः उनमें स्वर के पश्चात् तथा छकार से पूर्व **इदितो नुम् धातोः** से न् का आगम

---

1. इसी धातुवर्ग में 53 **'टुओस्फूर्जा वज्र-निर्घोषे'** धातु उपदेश में ही दीर्घ वाली दी है । **'उपधायां च'** से दीर्घ के होते दीर्घ-पाठ की आवश्यकता नहीं थी । अतः यह दीर्घ-पाठ यह विज्ञापित करता है कि **'उपधायां च'** सूत्र अनित्य है, अतः कहीं-कहीं यह अपने विषय में भी प्रवृत्त नहीं होता । इस प्रकार की धातु हैं प्रकृत धातु-वर्ग की छकारान्त √हुर्छ, √मुर्छ्, √स्फुर्छ । अतः कुछ लोगों के मत में इनमें दीर्घ नहीं होता : हुर्च्छति । मुर्च्छति, स्फुर्च्छति इत्यादि । द्र० √स्फूर्ज् पर क्षी० त०, बा० म० तथा त० बो० ।

क्षी० त० में **'हूर्छति, र्वोरुपधायाः०'** (8.2.76) **इति दीर्घः ।'** में सम्पादक की भूल से विराम-चिह्नों का गलत प्रयोग हो गया प्रतीत होता है । सही पाठ यों होना चाहिये : **हूर्छति । 'र्वोरुपधायाः'** (8.2.76) **इति दीर्घो निष्ठायाम् 'आदितश्च'** (7.2.16) **इतीण् नास्ति—हूर्णः ।** 'हूर्छति' में तो दीर्घ **'उपधायां च'** से ही होता है ।

26 वाछि इच्छायाम् ॥ 13 ॥ वाञ्छति। 27 आछि आयामे ॥ 14 ॥ आञ्छति। 'अत आदेः' (2248) इत्यत्र (1) तपरकरणं स्वाभाविक-ह्रस्व-हैं ॥ 12 ॥ 26 √वाञ्छ् चाहने में है ॥ 13 ॥ 27 √आञ्छ् विस्तार, लम्बा होने में है ॥ 14 ॥ आञ्छति। 'अत आदेः' (2248) सूत्र में (1 अत् में) त् लगाना स्वाभाविक ह्रस्व को स्वीकृत करने के लिये है; अतः (आञ्छ् में) दीर्घ न होने के कारण नुट् नहीं

होता है, जो श्चुत्व से ञ् बन जाता है; यहाँ कोई अतिरिक्त वर्ण नहीं आता : लाछि >लाछ्>लाञ्छ्।

7.23 √**म्लेछ्** (तुक् होने पर √म्लेच्छ्) शब्द के स्वर-व्यंजन वर्णों को ठीक-ठीक न बोलना, अस्पष्ट बोलना[1] आदि अर्थ में अकर्मक है। इस प्रकार बोलने वाले को 'म्लेच्छ' कहा जाता था।[2] कालांतर में उनकी सी रहन-सहन वाले को 'म्लेच्छ' कहा जाने लगा था।

24 √**लछ्** में **छे च** से तुक् (√लच्छ्) होता है। किंतु 25 √लाञ्छ् में नुम् के व्यवधान के कारण **दीर्घात्** से तुक् नहीं लगता। श्चुत्व होने के अनंतर √लच्छ् तथा √लाञ्छ् प्रकृतियाँ लक्षण होना, चिह्न करना, निशान लगाना, कलंक लगाना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् हैं। लाञ्छन=चिह्न, कलंक।

26 √**वाञ्छ्** धातु चाहना, आवश्यकता अनुभव करना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है। वाञ्छति, ववाञ्छ, वाञ्छिता, अवाञ्छीत् इत्यादि। अंग्रेजी √want.

27 √**आञ्छ्** धातु आयाम, विस्तार होता, लम्बा-चौड़ा होना (अकर्मक) और वैसा करने में सकर्मक तथा सेट् है। आञ्छति।

लिट् में 'आञ्छ्+अ', द्वित्व होने पर आञ्छ्+आञ्छ्+अ, अभ्यास-लोप तथा **ह्रस्वः** से ह्रस्व होने पर 'अ+आञ्छ्+अ' स्थिति में **तस्मान्नुड् द्विहलः** से नुट् की प्राप्ति पर दो मत हैं :

(1) न्यास, पद-मञ्जरी, क्षी० त० तथा मा० धा० वृ० के अनुसार **अत आदेः** (2248) सूत्र में तपर करके 'अतः' देने का प्रयोजन स्वाभाविक ह्रस्व का ग्रहण करना है। इसलिए यहाँ दीर्घ नहीं होने से नुट् नहीं होता। तात्पर्य यह है कि दीर्घ

---

1. विशेषार्थ द्र० मेरा वैदिक वाङ्मय में भाषा-चिन्तन, पृष्ठ 7, 9-10.
2. **तत्रैतामपिव्वाचमूदुरुप-जिज्ञास्याम्। स म्लेच्छः। तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेत्। असुर्या हैषा वाक्** (श० ब्रा० 3.2.1.24)। तुलनीय पतंजलि : **तस्माद् ब्राह्मणेन नापि म्लेच्छितवै, नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।** पस्पशाभाष्य, पृष्ठ 11.

परिग्रहार्थम्; तेन दीर्घाभावान्न नुट्—आञ्छ; (2) 'तपर-करणं मुख-सुखार्थम्' इति मते तु नुट्—आनाञ्छ। 28 ह्रीछ लज्जायाम् ॥ 15 ॥ जिह्रीच्छ।

29 हुर्छा कौटिल्ये ॥ 16 ॥ 'कौटिल्यम्=अपसरणम्' इति मैत्रेयः।

होता—आञ्छ; (2) 'त् लगाना उच्चारण की सुविधा के लिये है,' इस मत में तो नुट् होता है—आनाञ्छ। 28 √ह्रीछ् शरमाने में है ॥ 15 ॥ जिह्रीच्छ।

29 √हुर्छ् कौटिल्य में है ॥ 16 ॥ 'कौटिल्य माने हटना है,' यह मैत्रेय कहते

आकार को दीर्घ करना तो निरर्थक है। अतः ह्रस्व अकार को दीर्घ प्राप्त होता है। तब 'अतः' कहकर अत् (ह्रस्व, एकमात्रिक 'अ') को दीर्घ होता है। इसका प्रयोजन स्वभाव-सिद्ध ह्रस्व (एकमात्रिक) को ही दीर्घ होता है। दीर्घ को आदेश द्वारा प्राप्त ह्रस्व में प्रस्तुत-सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। फलतः यहाँ **ह्रस्वः** से आदेश द्वारा विहित अत् को **अत आदेः** से दीर्घ प्राप्त नहीं होगा। अतः नुट् भी नहीं होता। 'अ+आञ्छ्+अ' स्थिति में सवर्ण दीर्घ होकर 'आञ्छ' रूप बनता है।

(2) आचार्य मैत्रेय का कथन है कि कुछ लोग तपर करने का प्रयोजन मुख-सुख मानते हैं। इस में तो नुट् होगा ही और 'आनाञ्छ' रूप बनेगा। भाव यह है कि 'अतः' में तपर (अत्') करके ह्रस्व को देने का प्रयोजन उच्चारण-सौविध्य ही है, न कि 'स्वाभाविक ह्रस्व को ही दीर्घ होता है', जैसी दूर की कौड़ी लाना। अतः 'अ+आञ्छ्+अ' में भी 'अ' को **अत आदेः** से दीर्घ होता ही है। फलतः नुट् भी : आनाञ्छ।[1]

28 √**ह्रीछ्** में **दीर्घात्** से तुक् होता है : √ह्रीच्छ्। यह धातु लजाना अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है।

29 √**हुर्छ्** धातु कुटिलता करना, कुटिल (टेढ़ा) होना अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है। सायण का कहना है कि मैत्रेय के अनुसार कौटिल्य=अपसरण, भागना, दूर होना होता है। **उपधायां च** से दीर्घ होकर √हूर्छ् प्रकृति होती है। रेफ का व्यवधान होने के कारण तुक् नहीं होता, किंतु **अचो रहाभ्यां द्वे** से छकार को वा द्वित्व होकर प्रकृति √हूर्च्छ् भी हो जाती है। हूर्छति, हूर्च्छति; जुहूर्छ, जुहूर्च्छ।

---

1. तुलनीय क्षी० त० 1.128 : **आञ्छ, आञ्छतुः, आञ्छुः—'तस्माद्' ग्रहणान्नुड-भावः।** मा० धा० वृ० 1.207 : **आञ्छ···अत्र (1) लिट्यभ्यासह्रस्वे 'अत आदेः' इत्यत्र तपर-करणं स्वाभविक-ह्रस्व-परिग्रहार्थमिति न्यासकार-हरदत्ता-दिभिः प्रतिपादितत्वान्नुडभावे सवर्णदीर्घः। (2) 'अन्ये तु तपर-करणं मुख-सुखार्थमिति आनाञ्छेत्युदाहरन्ति' इति मैत्रेयः।**

'उपधायां च' (2265) इति दीर्घः—हूर्च्छति। 30 मुर्छा मोह-समुच्छ्राययोः ॥ 17 ॥ मूर्च्छति। 31 स्फुर्छा विस्तृतौ ॥ 18 ॥ स्फूर्च्छति। 32 युछ प्रमादे ॥ 19 ॥ युच्छति। 33 उछि उञ्छे ॥ 20 ॥ 'उञ्छः कणश आदानम्; कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः। उञ्छति, उञ्छाञ्चकार। 34 उछी विवासे ॥ 21 ॥ विवासः=समाप्तिः। प्रायेणायं वि-पूर्वः—व्युच्छति ॥ 50 ॥

हैं। 'उपधायां च' (2265) से दीर्घ—हूर्च्छति। 30 √मुर्छ् बे-होशी और ऊँचा होना अर्थों में है ॥ 17 ॥ 31 √स्फुर्छ् फैलाव अर्थ में है ॥ 18 ॥ 32 √युछ् असावधानी करने, गफ़लत करने में है ॥ 16 ॥ 33 √उञ्छ् उञ्छक्रिया में है ॥ 20 ॥ 'उञ्छ= दाना-दाना करके बीनना है; बालें बटोरना शिल है', यह यादव (कोश-कार कहते हैं)। 34 √उछ् विवास में है ॥ 21 ॥ विवास माने खत्म होना है। यह धातु आम तौर पर 'वि' उपसर्ग के सहित प्रयुक्त होती है—व्युच्छति ॥ 50 ॥

---

30 √**मुर्छ्** मूर्च्छा आना, मोह होना (मोह=बेहोशी, **मुह वैचित्त्ये**), तथा उकसना, बढ़ना हावी होना अर्थ में अकर्मक एवम् सेट् है। पूर्ववत् दीर्घ आदि। मूर्छति, मूर्च्छति; मुमूर्च्छ; अमूर्च्छीत् इत्यादि। **न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य** (रघु 2.34)।

31 √**स्फूर्छ्**, √स्फूर्च्छ् धातु विस्तार (अकर्मक) तथा विस्तार करना (सकर्मक), क्षी० स्वा० के अनुसार विस्मृति अर्थ में सेट् है। **उपधायां च** से दीर्घ : स्फूर्छति। लिट् में **शर्पूर्वाः खयः** : पुस्फूर्च्छ।

32 √**युछ्** प्रमाद करना अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् है। अल्पापेक्ष होने से **छे च** अन्तरंग है, अतः **पूगन्त-लघूपधस्य च** से पूर्व प्रवृत्त होता है। तदनन्तर लघूपध न होने से गुण प्राप्त नहीं होता : युच्छति, युयुच्छ, अयुच्छीत्।

33 √**उञ्छ्** चुगना, बीनना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है। 'कण-कण कर के दाना उठाना 'उञ्छ' है। तथा बालें बटोरना शिल', यह यादवप्रकाशकोश का कहना है।[1] उञ्छ-वृत्ति—खलिहान में अनाज निकल चुकने के बाद, या मंडी में बिक्री हो जाने पर बिखरे दानों को चुग कर निर्वाह करना।

इजादि गुरुमान् होने से आम् : उञ्छांचकार। लुङ् में औञ्छीत् (<आ+ उञ्छीत्)।

34 √**उछ्** (ईदित्) विवासन अर्थ में है। क्षीरस्वामी ने विवासन का अर्थ

---

1. तुलनीय मनुस्मृति 10.112 पर कुल्लूक : **सञ्जयात्मकानेक-धान्योन्नयनं शिलः··· धान्यादि-गुडकोच्चयनमुञ्छः**। किन्तु देवल-स्मृति : **एकैक-लून-शीर्णमनुज्ञातं शिलम्**।

7.35 ध्रज, 36 ध्रजि, 37 ध्रूज, 38 ध्रूजि, 39 ध्वज, 40 ध्वजि गतौ ॥ 22 ॥ ध्रजति, ध्रञ्जति, धर्जति, धृञ्जति, ध्वजति, ध्वञ्जति । 41 कूज अव्यक्ते शब्दे ॥ 23 ॥ चुकूज । 42 अर्ज, 43 षर्ज[1] अर्जने ॥ 24 ॥ अर्जति, आनर्ज; सर्जति, ससर्ज । 44 गर्ज शब्दे ॥ 25 ॥ गर्जति ।

सप्तम धातु-वर्ग : ग. जकारांत परस्मैपदी सेट् धातु

7.35 √ध्रज्, 36 √ध्रञ्ज्, 37 √धृज्, 38 धृञ्ज्, 39 √ध्वज्, 40 √ध्वञ्ज् गति अर्थ में हैं ॥ 22 ॥ 41 √कूज् अव्यक्त (पक्षी आदि का कूकना आदि) शब्द होना अर्थ में है ॥ 23 ॥ 42 √अर्ज्, 43 √षर्ज् कमाना अर्थ में हैं ॥ 24 ॥ 44 √गर्ज्

विनाश, समाप्ति बताया है। यह धातु ऋग्वेद में आख्यात और नाम (कृदंत) के रूप में 'अँधेरा हटाना', अर्थ में इकतालीस बार 'उषस्' के कर्तृत्व के संदर्भ में आई है। इनमें से भी यह अकेली सत्रह बार तथा 'वि' के योग में 23 बार और 1 बार वि··· वि के योग में आई है।[2] इसीलिये पुरुषकार ने इसे प्रायेण 'वि' के साथ प्रयुक्त होने वाली बताया है। यह अकर्मक और सेट्, परस्मैपदी है। उच्छति, व्युच्छति। ईदित् होने से निष्ठा में **इवीदितो निष्ठायाम्** से इट् का विषेध होता है : व्युष्टम् ॥ 50 ॥

सातवें धातु-वर्ग के तृतीय खण्ड में नौ धातु (35 √ध्रज्, 39 √ध्वज्, 48 √अज्, 50 √खज्, 56 √लज्, 60 √जज्, 64 √गज्, 70 √वज् और 71 व्रज्) अदुपध हैं। इन में से √ अज् और √वज् को छोड़कर शेष 7 धातुओं के लुङ् में **अतो हलादेर्लघोः** (2284) से विकल्प से वृद्धि होती है : अध्राजीत्, अध्रजीत्; अवाजीत्, अवजीत्। √अज् के लुङ् में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त वृद्धि का निषेध **नेटि** से हो जाता है : मा भवान् अजीत्। √व्रज् के लुङ् में **अतो हलादेर्लघोः** (2284) से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि को बाध कर √वद्, √व्रज् को विशेष करके विहित होने से नित्य वृद्धि होती है : अव्राजीत्।

42 √अर्ज् से लिट् में अभ्यास-लोप होने पर अ+अर्ज्+अ, **अत आदेः**— आ+अर्ज्+अ। **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** से अभ्यासोत्तर अर्ज् के आदि में नुट् का आगम होता है : आ+न् अर्ज्+अ=आनर्ज। आनर्जतुः, आनर्जुः; आनर्जिथ, आनर्जथुः, आनर्ज; आनर्ज, आनर्जिव, आनर्जिम। अर्जिता, अर्जिष्यति। लुङ् में धातु के हलंत होने के कारण **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त नित्य वृद्धि का निषेध **नेटि** (2268) से हो जाता है : मा भवान् अर्जीत्।

---

1. यह षोपदेश-नियम के अनुसार मूर्धन्यादि है। क्षी० त० में उपलब्ध 'सर्ज' (दन्त्यादि) पाठ प्रूफ की भूल ही प्रतीत होती है।
2. वै० वा० भा चि०, पृष्ठ 41, निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ 228.

45 तर्ज भर्त्सने ॥ 26 ॥ तर्जति । 46 कर्ज व्यथने ॥ 27 ॥ चकर्ज । 47 खर्ज पूजने च ॥ 28 ॥ चखर्ज ।

48 अज गति-क्षेपणयोः ॥ 29 ॥ अजति । 2292 अजेर्व्यघञपोः (2.4.56)—अजेः 'वी' इत्ययमादेशः स्यादार्ध-धातुक-विषये, घञमपं च वर्जयित्वा । वलादावार्ध-धातुके वेष्यते । विवाय, विव्यतुः, विव्युः—अत्र वका-

आवाज़ होना (गरजना) अर्थ में है ॥ 25 ॥ 45 √तर्ज् झिड़कने में है ॥ 26 ॥ 46 √कर्ज् व्यथित होने/करने में है ॥ 27 ॥ 47 √खर्ज् सत्कार करना अर्थ में भी है ॥ 28 ॥

48 √अज् गति और हाँकना अर्थों में है ॥ 29 ॥ 2292 √अज् को 'वी' आदेश होता है आर्ध-धातुक प्रत्यय के विषय में, घञ् और अप् प्रत्ययों को छोड़कर। आरंभ में वल् प्रत्याहार का वर्ण रखने वाला आर्धधातुक प्रत्यय बाद में होने पर यह 'वी' आदेश विकल्प से अभीष्ट है (वा)। विवाय, विव्यतुः, विव्युः—यहाँ व् के पश्चात्

उपधा में ह्रस्व अकार-रहित 36 √ध्रञ्ज्, 38 √धृञ्ज्, 40 √ध्वञ्ज्, 41 √कूज्, 44 √गर्ज्, 55 √क्षीज् आदि के अंग के अवयव स्वर को **वद-व्रज-हलन्त-स्याचः** से हलंतत्वेन प्राप्त वृद्धि का निषेध **नेटि** से हो जाता है : अध्रञ्जीत्, अधृञ्जीत्, अकूजीत्, अक्षीजीत् आदि।

रेफशिरस्क सब धातुओ में **अचो रहाभ्यां द्वे** से द्वित्व-विकल्प के कारण दो और एक जकार वाले रूप होंगे : धर्जति, धर्ज्जति; गर्जति, गर्ज्जति इत्यादि।

48 √**अज्** गति और क्षेपण अर्थों में है। प्रयोग में यह हाँकना अर्थ में है। हाँकने में पशु को प्रेरणा करने को चाबुक, साँटा आदि मारा जाता है : **उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति** (ऋ० 4.40.4)। अतः (पशु को) चलाना (हाँकना) इसका अर्थ है। पशु कर्म है, इसलिये यह सकर्मक है। सेट् तो ये सब धातु हैं ही। अजति।

2292 **अजेर्व्यघञपोः** (2.4.56)—आर्धधातुके (35), वा लिटि (55) : अजेः 6.1 वी 1.1 वा आर्धधातुके 7.1, अघञपोः 7.2—√अज् के स्थान में 'वी' विकल्प से होता है, आर्धधातुक के विषय में, घञ् और अप् प्रत्ययों के विषय में नहीं होता।

वलादावार्धधातुके वेष्यते—यह विकल्प सार्वत्रिक नहीं है, अपितु विषय-भेद से व्यवस्थित होता है। घञ् और अप् का पर्युदास करने के कारण इन में तो होता ही नहीं है, ल्युट् और वलादि आर्धधातुक में विकल्प से होगा, तथा शेष आर्धधातुक प्रत्ययों में नित्य होता है। इसमें हेतु यह है कि धातुपाठ में √अज् उदात्त है, जिसका फल वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है। अतः आर्धधातुक प्रत्ययों के

रस्य हल्परत्वाद् 'उपधायां च' (2265) इति दीर्घे प्राप्ते 'अचः परस्मिन्०' (1.1.57) इति स्थाननिवद्भावेनाच्परत्वम्; न च 'न पदान्त०' (58) इति निषेधः, 'स्वर-दीर्घ-यलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवद्' (वा०) इत्युक्तेः।

व्यंजन है, अतः 'उपधाया च' (2265) से दीर्घ प्राप्त होने पर 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (1.1.57) सूत्र से स्थानिवद्भाव हो जाने के कारण स्वर वर्ण बाद में हो जाता है; 'न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्विधिषु' (1.1.58) सूत्र से निषेध (वार्तिक-कारद्वारा) 'स्वर, दीर्घ, यलोप की कर्तव्यता में स्वर के लोपरूपी आदेश को ही स्थानिवद्भाव नहीं होता' कहा होने के कारण लागू नहीं होता।

विषय में √अज् वलादि आर्धधातुक में ही होगा, वलादिभिन्न में नहीं। फलतः वलादि आर्धधातुक में √अज् और √वी दोनों होंगे, अर्थात् √वी आदेश वलादि आर्धधातुक के विषय में ही विकल्प से होगा, शेष आर्धधातुक में √वी आदेश नित्य होगा।[1] जो वलादि आर्धधातुक किसी स्थिति में इट् के कारण वलादि नहीं रहता, वहाँ वी आदेश नित्य होगा। जैसे व, म। किन्तु थल् में वी होने पर इट् का विकल्प है। अतः वह पक्षे वलादि है। फलतः थल् में वी का विकल्प है।

उपर्युक्त भाष्य तथा कैयट को संमत व्यवस्थित विकल्प को दृष्टि में रख कर ही मूल में **'वलादावार्धधातुके वेष्यते।'** लिखा है। यह वार्तिक नहीं है। वलादि आर्धधातुक में विकल्प से तथा घञ् एवम् अप् में पर्युदास से स्पष्ट है कि इससे अन्य आर्धधातुक के विषय में विकल्पका प्रसंग नहीं है। अपितु नित्य ही होता है।

प्रस्तुत सूत्र में अधिकृत 'आर्धधातुके' में यदि 'आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते', इस अर्थ में (परार्था) सप्तमी मानी जाती है, तो √अज् से 'यङ्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होता, क्योंकि 'वी' आदेश होने से पहले धातु अजादि है, तथा यङ् केवल हलादि धातुओं से विहित है। यदि विषयार्थक सप्तमी मानी जाती है, तो यङ् की विवक्षा में ही √अज्को 'वी' आदेश होने पर धातु के हलादि होने के कारण 'यङ्' प्रत्यय हो कर अभीष्ट 'वेवीयते' रूप सिद्ध हो जाता है।

√अज् से यङ्लुक् नहीं होता। क्योंकि यङ् का लुक् होने पर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** परिभाषा से आर्धधातुकत्व के निमित्त यङ्का लुक् होने के बाद आर्धधातुकत्व भी निवृत्त हो जाता है। अतः 'वी' आदेश की प्राप्ति ही नहीं है।

'अघञपोः' कहने से 'समाजः' में घञ् तथा 'समजः' में **समुदोरजः पशुषु** से अप् होने पर 'वी' आदेश नहीं होता।

विवाय—√अज् से लिट्। लिट् को तिप्। णल् आदेश की विवक्षा में अजे-

---

1. क्षी० त० : **उदात्तत्वं त्वार्धधातुके वलादौ 'वी'-भावस्यानित्यत्वे लिङ्गम्।**

थलि 'एकाच०' (2246) इति निषेधे प्राप्ते—2293 कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि (7.2.13)—एभ्यो लिट इण्न स्यात्। (क) क्रादीनां चतुर्णां

थल् प्रत्यय में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (2246) से (इट् का) निषेध प्राप्त होने पर—2293 1 √कृ, 2 √सृ, 3 भृ, 4 √वृ, 5 √स्तु, √6 द्रु, 7 √स्रु, 8 √श्रु धातुओं के पश्चात् स्थित लिट् को इट् नहीं हो। सूत्र में (क) 1 √कृ आदि चार

र्व्यघञपोः से नित्य 'वी' आदेश, तिप् को णल् : वी+अ। 'वी को द्वित्व : वी+वी+अ। **ह्रस्वः** से अभ्यास को ह्रस्व : वि+वी+अ। **अचो ञ्णिति** से अभ्यासोत्तर वी के ई को वृद्धि : विवै+अ। **एचोऽयवायावः** से ऐ को आय् : **वि+वाय्+अ=विवाय।**

विव्यतुः—√अज् से अतुस् की विवक्षा में नित्य 'वी' आदेश : वी+अतुस्। पूर्ववत् द्वित्वादि : वि+वी+अतुस्। अतुस् के कित् होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से प्राप्त गुण का **क्ङिति च** से निषेध होने पर **अचि श्नु-धातु०** सूत्र से प्राप्त इयङ् को बाध कर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् : वि+व्+य्+अतुस्=विव्यतुः।

ऐसे ही विव्युः।

यहाँ 'वि+व्+य्+अतुस्/उस्' इत्यादि स्थिति में 'व्' से परे हल् 'य्' होने के कारण 'व्' की उपधा 'वि' के 'इ' को **उपधायां च** (8.2.78) से दीर्घ प्राप्त होता है। परंतु **अचः परस्मिन् पूर्व-विधौ** (1.1.57) से अच् के आदेश 'य्' को स्थानिवद्भाव (ईवद्भाव) होने से 'व्' हल्परक नहीं रह जाता। अतः दीर्घ नहीं होता।

शङ्का—यह प्रसंग दीर्घविधि का है, अतः **न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्चर्विधिषु** (1.1.58) से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है, अतः **उपधायाञ्च** (8.2.78) से दीर्घ तो होना ही चाहिए।

उत्तर—**स्वर-दीर्घ-य-लोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवत्** (वा०)—स्वर (उदात्तादि), दीर्घ तथा यलोप की कर्तव्यता में अच् के लोपरूप आदेश को ही स्थानिवद्भाव नहीं होता, (शेष को तो हो जाता है)—नियम से यहाँ दीर्घ-विधि में लोप से भिन्न अजादेश होने से स्थानिवद्भाव होता ही है। अतः दीर्घ नही हो सकता।

√**वी** की गणना **ऊदृदन्तैः** आदि सेट् कारिका में नहीं है। अतः यह पारिशेष्यात् अनुदात्त है, जिसका फल वलादि आर्धधातुक को प्राप्त इडागम का निषेध **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (2246) से होता है। थल् में इट् का निषेध प्राप्त होने पर—

2293 कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि(7.2.93)—नेड् वशि कृति (4)। 'कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवः' समाहार-द्वंद्वांत पंचम्येक-वचनांत पद है। 'लिटि' सप्तम्येक-वचन है। पंचम्यंत 'कृ···श्रुवः' पद से परे होने के कारण **पञ्चमी स्वस्मात्परां सप्तमीं**

ग्रहणं नियमार्थम्—'(1) प्रकृत्याश्रयः, (2) प्रत्ययाश्रयो वा यावानिण्निषेधः, (धातुओं) का ग्रहण नियम बनाने के लिए है कि (1) प्रकृति (धातु) को आश्रय मान कर, या (2) प्रत्यय को आश्रय मान कर होने वाला जितना भी इट् का निषेध होता

षष्ठीं प्रकल्पयति नियम से 'लिटि' की सप्तमी का अर्थ षष्ठी का हो जाता है : **कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवः परस्य लिट इट्(आगमो) न (भवति)**—1 √कृ, 2 √सृ, 3 √भृ, 4 √वृ, 5 √स्तु, 6 √द्रु, 7 √स्रु, 8 √श्रु धातुओं से परे स्थित लिट् को इट् का आगम नहीं होता।

यहाँ **निरनुबन्धक-ग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प० 82) से डु तथा ञ् अनुबंधों से रहित 1 √कृ का ग्रहण होने से **डुकृञ् करणे** (त०), **कृञ् करणे** (भ्वा०), **कृञ् हिंसायाम्** (स्वा०) इन एक तथा दो अनुबंधों वाली धातुओं का ग्रहण होगा। इसी प्रकार √भृ से **डुभृञ् धारणपोषणयोः** एवम् **भृञ् भरणे** इन दोनों का। 2 √सृ से **सृ गतौ** (भ्वा०, जु०) का। √वृ से **वृङ् सम्भक्तौ** (क्र्या०) एवम् **वृञ् वरणे** (स्वा०) इन दोनों का ही ग्रहण होता है।

प्रत्यय को होने वाले इट् का निषेध दो तरह से होता है—(1) प्रकृति (धातु) को निमित्त मान कर—**एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से उपदेश में एकाच् तथा उपदेश में अनुदात्त धातुओं को निमित्त मान कर इट् का निषेध होता है। अतः यह निषेध प्रकृत्याश्रय है। 1 √कृ, 2 √सृ, 3 √भृ ये तीन धातु उपदेश-काल में एकाच् तथा अनुदात्त हैं। अतः यहाँ **एकाच उपदेशे०** से प्रकृत्याश्रय इट् का निषेध प्राप्त होता है। (2) प्रत्यय को निमित्त मान कर—**श्र्युकः किति** (7.2.11 √श्रि धातु तथा उगंत धातुओं से परे गित् कित् प्रत्यय होने पर इट् नहीं होता) से इट् का निषेध कित् **श्र्युकः किति** से प्रत्यय को निमित्त मान कर प्रवृत्त होता है। अतः यह निषेध प्रत्ययाश्रय है।

4 √वृ से गृहीत √वृङ् तथा √वृञ् उपदेश काल में उदात्त हैं; अतः प्रकृत्याश्रय तो प्राप्त नहीं होता, पर उगंत होने के कारण 'क्त' आदि कित् प्रत्ययों में प्रत्ययाश्रय निषेध प्राप्त होता है।

(1) 1 √कृ, 2 √सृ, 3 √भृ से प्रकृत्याश्रय तथा (2) 4 √वृ से वस्, मस् में प्रत्ययाश्रय निषेध लिट् में भी प्राप्त है।[1] अतः प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन केवल इट् का

---

1. डॉ० प० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी : यद्यपि √वृ से थल् में इट् के निषेधार्थ यह हो सकता है, तथापि **'बभूथा-ततन्थ-जगृभ्म-ववर्थेति निगमे'** (7.2.64) सूत्र में 'ववर्थ' निपातन से समझना चाहिए कि लोके इड् भवत्येव। अर्थात् लोक में इट् होता ही है : 'ववरिथ' ही बनता है। इस प्रकार थल् में भी यहाँ का √वृ-ग्रहण

स लिटि चेत्, तर्हि क्रादिभ्य एव, नान्येभ्यः', इति। : (ख) **ततश्चतुर्णां** है, वह लिट् में यदि हो, तो √कृ आदि (चार) से ही हो, अन्य धातुओं से नहीं।

निषेध करना तो है ही नहीं। प्रस्तुत सूत्र 1 √कृ, 2 √सृ, 3 √भृ तथा 4 √वृ धातुओं के विषय में नियमन करता है कि यदि प्रकृत्याश्रय, प्रत्ययाश्रय तथा 'न' शब्द से, या 'वा' शब्द से होने वाला किसी भी तरह का इट् का निषेध लिट् में प्राप्त हो, तो केवल 1 √कृ, 2 √सृ, 3 √भृ तथा 4 √वृ इन चार धातुओं में ही हो। अन्य धातुओं से लिट् में इट् का निषेध होना चाहिए।

'√पच्+वस्' में द्वित्वादि अभ्यासकार्य होने पर 'पेच्+वस्' स्थिति में वलादि-लक्षण इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से प्रकृत्याश्रय निषेध प्राप्त होता है। पर, प्रस्तुत नियम से क्रादिभिन्न होने के कारण निषेध नहीं होता। इट् होता है और 'पेचिव' रूप होता है।

'बभूविव' में 'ब+भू+व' स्थिति में **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से ही इट् तथा **श्र्युकः किति** से उसका निषेध प्राप्त होता है। पर प्रस्तुत नियम से क्रादिभिन्न होने के कारण यह निषेध लागू नहीं होता। फलतः इट् होता है : ब+भू+इव। वुक् होने पर बभूविव।

√कृ आदि चार धातुओं में नियम करने से भी √स्तु आदि में आपत्ति रहती है। अतः दूसरा नियम बनाने के लिए √स्तु आदि चार धातुओं का ग्रहण किया है : √स्तु, √द्रु, √स्रु, √श्रु इन चारों में ही उपदेश में अनुदात्त होने से प्रकृत्याश्रय इट् का निषेध थल् में प्राप्त होता है। **ऋतो भारद्वाजस्य** (7.2.63) सूत्र से इट् प्राप्त होता है। यदि केवल क्रादि धातुओं का ही **कृ-सृ-भृ-वृ०** (13) सूत्र में ग्रहण किया जाए, तो थल् में सेट् रूप प्राप्त होगा। अतः उसका निषेध करने के लिए √स्तु आदि का ग्रहण किया है। फलतः **ऋतो भारद्वाजस्य** से प्राप्त इट् न होने से अभीष्ट रूप बनेगा।

'वस्', 'मस्', 'ध्वे', 'वहि', 'महि' में प्रकृत्याश्रय इट् का निषेध प्राप्त होता है : क्रादिभिन्न होने के कारण क्रादिनियम से इड्-विधान प्राप्त है। उसके निषेधार्थ √स्तु, √द्रु आदि का ग्रहण किया है। फलतः √स्तु, √द्रु, √स्रु, √श्रु इन चारों धातुओं में प्राप्त अनभीष्ट इट् का निषेध होता है। अतः थल् में इन धातुओं से

निष्प्रयोजन है; वह तो इस निषेध के बिना भी बनेगा ही। अर्थात् यह निषेध न हो, तो लोक में इट् स्वाभाविक होगा, छंद में 'ववर्थ' निपातन अपूर्व होगा। निषेध रहने पर निपातन व्यर्थ होकर लोक में इट् का ज्ञापन करेगा। इस प्रकार सर्वथा वेद में इड्रहित, लोक में इट्-सहित—दो रूप बनेंगे ही।

(1) थलि भारद्वाज-नियम-प्रापितस्य, (2) व-मादिषु क्रादि-नियम-प्रापितस्य चेटो निषेधार्थम्। 2294 अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् (7.2.61)— (ख) उनके पश्चात् (5 √स्तु आदि) चार धातुओं का (ग्रहण) (1) थल् में भारद्वाज-नियम के द्वारा प्राप्त कराये हुए, और (2) व, म आदि में √कृ-सृ आदि वाले नियम के द्वारा प्राप्त कराए हुए इट् का निषेध करने के लिए किया गया है। 2294 जो

तुष्टोथ, दुद्रोथ, सुस्रोथ, शुश्रोथ, एवं 'वस्' आदि में तुष्टुव, दुद्रुव, सुस्रुव, शुश्रुव इत्यादि रूप बनते हैं।

यहाँ एक बात ध्यातव्य है—**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो वा** (प० 62) विधि अथवा निषेध अनंतर (जो व्यवहित न हो, अर्थात् पूर्वप्रतिपादित अव्यवहित) को ही होते हैं। **कृ-सृ०** सूत्र से पूर्व **नेड् वशि कृति** से निषेध-प्रकरण चलता है। इसके अनंतर विकल्प-प्रकरण। अतः प्रस्तुत सूत्र से निषेधार्थक नञ् से प्राप्त इट् के अभाव का ही नियमन होता है, न कि विकल्प से प्राप्त इट् के अभाव का भी। फलतः सिषेधिथ, सिषेद्ध आदि में **स्वरति-सूति०** (7.2.44) सूत्र से प्राप्त वैभाषिक इट् का कोई नियमन नहीं होता; दोनों ही रूप बनते हैं।

डॉ० प० श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी का कहना है कि यद्यपि भट्टोजिदीक्षित ने 'वा' शब्द से प्राप्त इण्-निषेध का नियमन इसके द्वारा नहीं किया है, अत एव 'सिषेधिथ', सिषेद्ध इत्यादि रूप उन्होंने दिखलाये हैं; परन्तु महा-भाष्य की रीति से तो, 'वा' शब्द से प्राप्त निषेध का भी नियमन इससे उचित है : तभी **'अत एव नित्यानिडि'ति किम् ? आनञ्जिथ।'** यह भाष्य-संगत होता है। इसका आशय यह है कि यदि **उपदेशेऽत्वतः** सूत्र में 'तास् में नित्यानिट्' नहीं कहेंगे, तो √अञ्ज्+थल् में, जहाँ, 'आनञ्जिथ' यह एक रूप बनता है, अब वहाँ दो रूप हो जायेंगे—'आनङ्क्थ' भी बनने लगेगा। अतः, उस सूत्र में 'नित्यानिट्' आवश्यक है, क्योंकि 'अञ्जू' ऊदित् होने से तास् में वेट् है। अब यदि **कृ-सृ-भृ-वृ०** में 'वा' शब्द से प्राप्त इट् का नियमन नहीं होगा, तो उक्त सूत्र में 'नित्यानिट्' कहने पर भी यहाँ दो रूप बनने की आपत्ति लगी ही रहेगी। अतः भाष्य के अनुरोध पर 'वा' शब्द से प्राप्त इट् के निषेध का भी नियमन इससे मानना चाहिए।

2294 अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् (7.2.61)—अचः तास्वत् थलि 7.1 अनिटः 5.1 नित्यम्। अगले सूत्र **उपदेशेऽत्वतः** (7.2.62) से 'उपदेशे' का अपकर्षण होता है। तासि च क्लृपः, (60) गमेरिट् परस्मैपदेषु (58), न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (59)। थल् चूँकि धातु से ही होता है, अतः 'धातोः' 5.1 पद अर्थतः उपस्थित होता है। 'अचः' पद 'धातोः' का विशेषण है, इसलिए **येन विधिस्तदन्तस्य** से तदंत-विधि होती है : अचो धातोः=अजन्ताद्धातोः। 'उपदेशे' सप्तम्यंत है तथा 'अचः' से संबद्ध है :

उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट्, ततः परस्य थल इण्न स्यात्।
धातु (1) उपदेशावस्था में स्वरांत है और (2) तास् में इट् से नित्य रहित है, उसके

उपदेशे अचः धातोः। 'अनिटः' में 'अविद्यमानः इट् यस्मिन्' अर्थ में बहुव्रीहि हो कर पंचमी एकवचन है। इसका संबंध 'तासि' (सप्तम्यंत) पद से है। यहाँ भी अर्थतः 'धातोः' उपस्थित होता है। 'नित्यम्' का संबंध भी 'अनिटः' से है : तासि नित्यम् अनिटः (धातोः)। 'थलि' में सप्तमी है ; पर 'अचः' इस पंचम्यंत से सम्बद्ध होने से वह षष्ठी में परिणत हो जाती है : थलः 6.1। 'तास्वत्' शब्द में 'तासि इव' अर्थ में 'तास्' से वति प्रत्यय है : तासि यथा (न भवति), तथा तास्वत् इट् न (जैसे तास् में इट् नहीं होता, वैसे ही थल् में भी इट् नहीं होता)।

सब पदों का अन्वय यों होगा : उपदेशे अचः (=अजन्ताद्) तासि नित्यम् अनिटः (धातोः) थलः इट् तास्वत् न (भवति)—उपदेश में अजन्त तथा तास् प्रत्यय (लुट्) में नित्य इड्रहित धातु से परे थल् को इट् तास् की ही तरह नहीं होता।

जैसे—चिचेथ, जुहोथ। √चि और √हु के एकाच् एवम् अनुदात्त होने से तास् में **एकाच उपदेशे०** से इट् का नित्य निषेध होता है। उपदेश में अजन्त एवं तास् में नित्य अनिट् होने से थल् में प्रस्तुत सूत्र से क्रादिनियम आदि से प्राप्त इट् का निषेध हो जाता है।

पद-कृत्य : (1) 'अचः' ग्रहण करने से हलन्त धातुओं में इसकी प्राप्ति नहीं होती। फलतः √भिद्+थल्, √रुद्+थल् आदि में इट् होता ही है : बिभेदिथ, रुरोदिथ। (2) 'उपदेशे' कहने से उपदेशानंतर-काल में हलंत हो जाने वाली धातुओं में भी औपदेशिक अजन्तत्व को मान कर सूत्र की प्रवृत्ति होती है। केवल 'अचः' कहने से तो '√हृ+थ=जहर्थ' इत्यादि में इट् से गुण के पर तथा नित्य होने के कारण इट्-प्राप्ति से पूर्व ही गुण एवम् रपर होने पर अजन्त न होने के कारण निषेध न हो सकने से इट् हो ही जाता। (3) 'थलि' कहने से वस्, मस् आदि में प्रस्तुत सूत्र लागू नहीं होता। फलतः √पा आदि औपदेशिक अजन्त धातुओं में भी 'वस्' आदि में इट् होता ही है : पपिव। (4) 'तासि नित्यम् अनिटः' कहने से तास् में वैकल्पिक इट् वाली धातुओं में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे—सस्वरिथ, सस्वर्थ। √स्वृ से तास् में **स्वरति-सूति-सूयति-धूञ् दितो वा** (7.2.44) से वैकल्पिक इट् होता है। अतः थल् में **अचस्तास्वत्०** सूत्र लागू नहीं होगा, **स्वरति-सूति०** (7.2.44) से ही इट् होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ 'तासि', 'न' इन दो पदों की अनुवृत्ति से ही 'तास् में नित्य इड्रहित धातु से परे स्थित थल् को इट् नहीं होता', ऐसा अर्थ आ जाता है। अतः 'तास् में जैसे, वैसे' इस प्रकार 'तास्वत्' पद का ग्रहण पौनरुक्त्यमात्र है, अतः अनुपयुक्त है।

2295 उपदेशेऽत्वतः (7.2.62)—उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य पश्चात् स्थित थल् को इट् नहीं हो। 2295 (1) उपदेशावस्था में ह्रस्व अकारवान्, और (2) तास् में नित्य ही इट् से रहित (धातु) के पश्चात् स्थित थल् को इट् नहीं

इसपर और आचार्यों का कहना है कि जो अजन्त धातु तास् में भी विद्यमान है, उसी से परे थल् को इट्-निषेध करने के लिए 'तास्वत्' कहना आवश्यक है। जैसे √वेञ् से केवल लिट् में **वेञो वयिः** (2.4.41) से 'वय्' आदेश होता है। उपदेश में 'वे' अजन्त है, पर वह लिट् में नहीं है और आदेशज √वय् से तास् होता ही नहीं। अतः √वय् से थल् में नित्य इट् होता है, प्रस्तुत सूत्र वहाँ लागू नहीं होता।[1] इसी लिए भाष्य में भी **'यस्तासावनिट् च'** (जो तास् में है और अनिट् भी है) कहा है।

वस्तुतः तो 'तासि नित्यम् अनिटः' कहने से भी उपर्युक्त बात आ ही जाती है; क्योंकि जिस धातु में तास् होगा ही नहीं, वहाँ तास् में नित्य अनिट् होने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित हो सकता। अतः प्रस्तुत सूत्र की वहाँ (तास् में विद्यमान न होने पर) प्राप्ति ही नहीं है। अतः आचार्य ने शिष्यबुद्धि-वैशद्यार्थ ही स्पष्ट रूप से (1) तास् में विद्यमान तथा (2) तास् में नित्य अनिट् धातु से परे इट् का निषेध बतलाने के लिए 'तास्वत्' पद सूत्र में दिया है।

2295 उपदेशेऽत्वतः (7.2.62)—'अचः' पद को छोड़ कर पिछले सूत्र की तथा वहाँ बतलाये पूर्वसूत्रों की अनुवृत्ति आती है : उपदेशे अत्वतः तासि नित्यम् अनिटः (धातोः परस्य) थलि (थलः) तास्वत् इट् न (भवति)—उपदेश में अत् (ह्रस्व एक-मात्रिक 'अ') वाली तथा तास् में नित्य इड्रहित (धातु) से परे थल् को तास् की ही तरह इट् नहीं होता।

उदाहरण—शशक्थ, पपक्थ आदि में धातु उपदेश-काल में ही अत्वान् एवम् तास् में नित्य अनिट् है। इसलिये थल् को इट् नहीं होता।

पदकृत्य : (1) 'उपदेशे' कहने से उपदेशोत्तर-काल में गुण से संपन्न ह्रस्व 'अ' वाली धातुओं में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे—**कृष विलेखने** धातु में पर तथा नित्य होने के कारण गुण इट्-प्राप्ति से पहले ही हो जाता है। उस समय अत्वान् ('कर्ष्') होते हुए भी उपदेश में अत्वान् न होने के कारण यहाँ इट् हो कर 'चकर्षिथ' रूप ही बनता है। (2) 'अत्वतः' कहने से √भिद् इत्यादि ह्रस्व इकारादि वाली धातुओं में

---

1. इस मत के अनुसार 'तास्वत्' में 'तास् अस्ति अस्य, असौ तास्वान् (तास् जिसमें है, वह धातु)' अर्थ में विभक्ति (पंचमी) का आर्ष लोप हो गया लगता है।

थल इण्न स्यात्। 2296 ऋतो भारद्वाजस्य (7.2.63)—तासौ नित्यानिट ऋदन्तादेव थलो नेड् भारद्वाजस्य मतेन; तेनान्यस्य स्यादेव।

अयमत्र सङ्ग्रह :—

हो। 2296 भारद्वाज आचार्य के मत के अनुसार थल् को इट् का निषेध तास् में नित्य ही इट् से रहित ह्रस्व-ऋकारांत धातु से ही होता है; फलतः इससे भिन्न प्रकार की धातु से तो इस स्थिति में इट् हो ही जाए।

इस विषय में सार-कथन यों किया गया है—

इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। 'अत्वतः' में भी 'अत्' (तपर) के कारण √राध् आदि आकारवान् धातुओं में यह सूत्र लागू नहीं होता : रराधिथ। (3) 'तासौ नित्यम् अनिटः' कहने से वैकल्पिक इडभाव वाली ऊदित् तथा √क्रम् जैसी धातुओं में, जहाँ तास् में नित्य इट् **स्नु-क्रमोरनात्मनेपद-निमित्ते** (7.2.36) से परस्मैपद में ही होता है, यह सूत्र लागू नहीं होता : आनञ्जिथ, चक्रमिथ। (4) 'तास्वत् कहने से √अद् धातु के **लिट्-यन्यतरस्याम्** से सम्पन्न 'घस्' आदेश में थल् में प्रस्तुत सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। क्योंकि उस √घस् धातु से तास् होता ही नहीं है।

2296 ऋतो भारद्वाजस्य (7.2.63)—अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् (61), तासि च क्लृपः (60), गमेरिट् परस्मैपदेषु (58), न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (59)। 'ऋतः' पंचम्यंत है एवम् अर्थाक्षिप्त 'धातोः' का विशेषण होने से इसमें तदंत-विधि होती है : ऋतः (=ऋदन्तात्) तासि नित्यम् अनिटः (धातोः परस्य) थलि (थलः) इट् न (भवति) भारद्वाजस्य—भारद्वाज के मत में तास् में नित्य अनिट् ऋदंत धातु से परे थल् को इट् नहीं होता।

यदि यहाँ इतना ही अभिप्रेत हो, तो अजंतों में ऋदंत धातुओं के आ चुकने के कारण **अचस्तास्वत्०** से ही निषेध हो सकता है। अतः आचार्यों को इससे अधिक अर्थ बतलाना अभीष्ट है : भारद्वाज के मत से ऋदंत धातुओं से परे ही थल् को इट् का निषेध होता है। इसलिए ऋदंत से भिन्न धातुओं से परे स्थित थल् को इट् प्राप्त होता ही है। इसके फलस्वरूप ऋदंत धातु थल् में नित्य अनिट् होती है। पर, ऋदंत से भिन्न धातु भारद्वाज के मत में सेट् होती है, तथा **अचस्तास्वत्०** एवम् **उपदेशेऽत्वतः** से अनिट्। इस प्रकार ऋदंतों से भिन्न धातुओं से थल् को इट् विकल्प से होता है। जैसे—पपिथ, पपाथ; पेचिथ, पपक्थ। पर, ऋदन्त √हृ, √भृ इत्यादि से तो जहर्थ, बभर्थ इत्यादि इड्रहित रूप ही होता है। यह अभिप्राय दीक्षितजी ने एक कारिका में कहा है : (1) जो अजन्त तथा अकारवान् धातु तास् में अनिट् है, वह थल् में वेट् (विकल्प से इट् वाली) है। (2) इसी तरह की ऋदन्त धातु (थल् में) नित्य अनिट् होती है। (3) √कृ आदि धातुओं के अतिरिक्त धातु लिट् में सेट् होनी चाहिए।

(1) अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट्, थलि वेडयम्।
(2) ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट्, (3) क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥

(1) स्वरांत हो, या ह्रस्व अकारांत, जो धातु तास् (लुट्) में इट् से रहित होती है, वह थल् में विकल्प से इट् वाली होती है। (2) इसी प्रकार की (तास् में नित्य इड्रहित) ह्रस्व-ऋकारांत धातु[1] सभी प्रत्ययों में इट् से रहित होती है।(3)√कृ आदि आठ धातुओं से भिन्न (इस प्रकार की=तास् में अनिट्) धातु लिट् में सेट् (इट् वाली) हो।

---

(1) तास् में नित्य अनिट् अजंत तथा ह्रस्व अकारवान् धातुओं से थल् में **अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्** तथा **उपदेशेऽत्वतः** से इट् का निषेध हो जाता है। भारद्वाज के मत में केवल ऋदंतों में ही थल् को इट् का निषेध होता है, अतः ऋदंतों से भिन्न होने के कारण अजंत एवम् अत्वान् धातुओं में थल् में इट् होता है। अतः आचार्यों के मतभेद से अजंत एवं अत्वान् धातुओं में थल् में इट् विकल्प से होता है।

(2) परतु जो धातु तास् में नित्य अनिट् तो हैं, पर ऋदंत भी हैं, उनमें थल् में **अचस्तास्वत्थल्य०** से एवम् **ऋतो भारद्वाजस्य** से—दोनों से ही—इट् का निषेध होता है। अतः, ऐसी धातु थल् में नित्य अनिट् होती हैं।

(3) 1 √कृ, 2 √सृ, 3 √भृ, 4 √वृ, 5 √स्तु, 6 √द्रु, 7 √स्रु तथा 8 √श्रु, इन आठ धातुओं में से √कृ आदि तीन धातुओं में **अचस्तास्वत्०** तथा **ऋतो भारद्वाजस्य**—दोनों सूत्रों से ही थल् में नित्य निषेध प्राप्त होता है। पर, नियम-विशेष के लिए तथा वस्, मस् आदि में भी इट् के निषेध के लिए √कृ, √सृ, √भृ, इन तीन धातुओं का ग्रहण किया है। 4 √वृ में औपदेशिक उदात्तत्व होने के कारण तास् में नित्य सेट् होने से **ऋतो भारद्वाजस्य** की प्राप्ति नहीं है। वहाँ भी नियम के लिए तथा थल् आदि समूचे लिट् में ही इट् के निषेध के लिए √कृ, √सृ, √भृ तथा √वृ का भी ग्रहण किया है। फलतः √कृ, √सृ, √भृ तथा √वृ, ये चार धातु लिट् में नित्य अनिट् हैं। एवम् नियम-विधायक होने से इनसे अतिरिक्त धातुओं में लिट् में इट् होता ही है।

√कृ, √सृ, √भृ में तो क्रादि-नियम एवम् **ऋतो भारद्वाजस्य** दोनों ही नियमों से इट् का निषेध हो जाता है। √वृ में विशेष रूप से क्रादि-नियम के अन्तर्गत पाठ से इट् का निषेध हो जाता है। पर 5 √स्तु, 6 √द्रु आदि चारों धातुओं में **अचस्तास्वत्०**

---

1. नियम 1 के अधीन स्वरांतत्वेन वैकल्पिक इट् की प्राप्ति के बावजूद···।

न च स्तु-द्रवादीनामपि थलि विकल्पः शङ्क्यः, 'अचस्तास्वद्०' (2294) इति, 'उपदेशेऽत्वत' (2295) इति च योग-द्वय-प्रापितस्यैव हि प्रतिषेधस्य भारद्वाज-नियमो निवर्तक ; 'अनन्तरस्य०' (प० 62) इति न्यायात्।

विवयिथ-विवेथ, आजिथ; विव्यथुः; विव्य; विवाय-विवय, विव्यिव,

(2293 सूत्र में प्रोक्त) 5 √स्तु, 6 √द्रु आदि चार धातुओं के थल् में इट् के विकल्प की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भारद्वाज-नियम (7.2.63)—'विधि या निषेध के विधायक सूत्र से अव्यवहित स्थित विधान पर लागू होते हैं', इस परिभाषा के कारण 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' (7.2.61) और 'उपदेशेऽत्वतः' (62) इन दो सूत्रों से प्राप्त कराए हुए निषेध की निवृत्ति करता है।

विवयिथ-विवेथ, आजिथ, विव्यथुः, विव्य; विवाय-विवय, विव्यिव, विव्यिम।

तथा **ऋतो भारद्वाजस्य** से भारद्वाजेतर आचार्यों के मत में इट् का विकल्प प्राप्त हो सकता है। अतः उसके स्पष्टीकरण के लिए उपर्युक्त पंक्तियां लिखीं गई हैं।

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो वा (प० 62)—इस परिभाषा से **ऋतो भारद्वाजस्य** सूत्र अव्यवहित (अनंतर) पठित **अचस्तास्वत्०** तथा **उपदेशेऽत्वतः** इन दो सूत्रों पर ही लागू होगा। व्यवधान के कारण नियमार्थ पठित **कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि** सूत्र पर इसका जोर नहीं चल सकेगा। फलतः क्रादिसूत्र **ऋतो भारद्वाजस्य** आदि से प्राप्त विकल्प आदि का नियामक ही होगा। इसके फलस्वरूप थल् में √स्तु आदि में **अचस्तास्वत्०** से तथा भारद्वाज के मत-भेद से विकल्प से प्राप्त इट् का सर्वथा निषेध ही हो जाता है, और √स्तु, √द्रु, √स्रु, √श्रु इन चारों से अतिरिक्त धातुओं में विकल्प को बाध कर √कृ, √सृ, √भृ, √वृ आदि के द्वितीय नियम के अनुसार इट् नित्य होता है। अतः क्रादि आठ धातु लिट् में नित्य अनिट् एवम् इन से अतिरिक्त धातु लिट् में नित्य सेट् होती हैं।

सिद्धियाँ : (1) **विवयिथ**—√अज् से लिट् को मध्यम एकवचन थल् की विवक्षा में **अजेर्व्यघञपोः** से **'वलादावार्धधातुके वेष्यते'** इस व्यवस्थित-विभाषा से विकल्प से उदात्त √अज् को अनुदात्त √वी आदेश होता है : वी+थल्। द्वित्व, अभ्यासकार्य करने के अनंतर 'वि+वी+थ' स्थिति में √वी के औपदेशिक (सूत्र में उपदेश के समय) एकाच् तथा अनुदात्त होने के कारण **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से निषेध हो जाता है। उसे बाध कर **अचस्तास्वत्०** से तथा **ऋतो भारद्वाजस्य** से मतभेद के कारण वैकल्पिक 'इट्' होता है : वि+वी+इथ। **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण तथा **एचोऽयवायावः** से 'अय्' आदेश : वि+वय्+इथ=विवयिथ।

(2) **विवेथ**—इडभावपक्ष में वि+वी+थ, **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण।

(3) **आजिथ**—√अज् को √वी आदेश न होने के पक्ष में √अज् धातु के

विव्यिम । वेता-अजिता, वेष्यति-अजिष्यति, अजतु, आजत्, अजेत्, वीयात् ।

वेता, अजिता; वेष्यति, अजिष्यति; अजतु; आजत्; वीयात् ।

उदात्त होने के कारण **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से इट् (नित्य) हो जाता है : अ+अज्+इथ । **अत आदेः**—आ+अज्+इथ । **अकस्सवर्णे दीर्घः**, आजिथ ।

(4) **विव्यिव—यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्-ग्रहणेन गृह्यन्ते** (प० 12) से 'व' प्रत्यय को विविक्षित 'इट्' 'व' प्रत्यय का अंग ही होगा । अतः उस वलादि-भिन्न ('इव') की विवक्षा में **अजेर्व्यघञपोः** से अजादि आर्धधातुक का विषय होने के कारण √अज् को नित्य √वी आदेश होता है : वी+व । द्वित्व, अभ्यास कार्य होने पर वि+वी+व स्थिति में 'व' के कित् होने से गुण-निषेध होने पर वलादि-लक्षणक इट् की **एकाच उपदेशे०** से बाधा हो जाती है । इसलिए यहाँ प्राप्ति नहीं है । **कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु०** इत्यादि नियम से (नित्य) इट् हो जाता है । वि+वी+इ+व । गुण तो कित् होने से बाधित हो जाता है, अतः **अचि श्नु धातु०** इत्यादि से इयङ् प्राप्त होता है । उसको बाधकर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् हो जाता है : वि+व्+य्+इव । यण् को **अचः परस्मिन्०** से स्थानिवद्भाव होने से **उपधायाञ्च** से दीर्घ नहीं प्राप्त होता : विव्यिव । मस् में ऐसे ही : विव्यिम ।

विवाय, विव्यतुः, विव्युः; विवयिथ-विवेथ, आजिथ, विव्यथुः, विव्य; विवाय-विवय, विव्यिव, विव्यिम ।

लुट् तथा लृट् में 'तास्' एवम् 'स्य' के वलादि आर्धधातुक होने के कारण विकल्प से √अज् को √वी आदेश होता है । अनुदात्त होने के कारण 'वी' अनिट् है । फलतः वेता, वेष्यति आदि रूप बनते हैं । 'वी' आदेशाभावपक्ष में √अज् धातुस्वर से उदात्त है । अतः सेट् है । फलतः अजिता, अजिष्यति आदि रूप बनते हैं ।

आशीर्लिङ् में 'व' आदेश यासुट् के वलादि न होने से नित्य ही होता है । यासुट् के **किदाशिषि** से कित् होने से **क्ङिति च** से गुण का निषेध होता है : वीयात्, वीयास्ताम्, वीयासुः ।

लुङ् में विवक्षित सिच् के वलादि आर्धधातुक होने से सिच् की विवक्षा में √अज् को विकल्प से 'वी' आदेश होता है : अ+वी+त् । च्लि को सिच् : अ+वी+स्+त् । इट् का **एकाच उपदेशे०** से निषेध, **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** से 'त्' को (टित् होने से आदि में) ईट् होता है : अ+वी+स्+ई+त् । ऐसी स्थिति में **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** इगन्त अंग ('वी') को वृद्धि (ऐ) होती है । **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष् होने पर

2297 सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (7.2.1)—इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् परस्मैपद-परे सिचि। अवैषीत्; आजीत्; अवेष्यत्-आजिष्यत्।

49 तेज पालने ॥ 30 ॥ तेजति। 50 खज मन्थे ॥ 31 ॥ खजति ॥ 51 खजि गति-वैकल्ये ॥ 32 ॥ खञ्जति। 52 एजृ कम्पने ॥ 33 ॥ एजां-

2297 अंत में इ, उ, ऋ, लृ वर्ण वाले अंग को वृद्धि हो, उसके पश्चात् परस्मैपद-परक सिच् प्रत्यय होने पर। अवैषीत्।

49 √तेज् पालना अर्थ में है ॥ 30 ॥ 50 √खज् मथने में है ॥ 31 ॥ 51 √खञ्ज् लँगड़ाने में है ॥ 32 ॥ 52 एज् कांपने में है ॥ 33 ॥ 53 √स्फूर्ज् बिजली

अवैषीत्, अवैष्टाम्, अवैषुः; अवैषीः, अवैष्टम्, अवैष्ट; अवैषम्, अवैष्व, अवैष्म।

2297 **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** (7.2.1)—यहाँ 'वृद्धिः' शब्द दिया होने से **इको गुणवृद्धी** परिभाषा से षष्ठ्यंत 'इकः' पद उपस्थित होता है। **अङ्गस्य** (6.4.1) का अधिकार है। 'इकः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** से तदंत-विधि होती है : **इकः** (=इगन्तस्य) **अङ्गस्य** (स्थाने) **वृद्धिः** (भवति) **परस्मैपदेषु सिचि** (परतः स्थिते)—इगंत अंग को वृद्धि होती है परस्मैपद-संज्ञक प्रत्ययों से पूर्व सिच् परे रहते।

'वी'-आदेशाभाव-पक्ष में 'आ+अज्+इ+स्+ई+त्' स्थिति में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध होने पर **आटश्च** से वृद्धिरूप एकादेश होने पर स् का लोप आदि होने के बाद 'आजीत्' रूप बनता है।

लृङ् में विकल्प से 'वी' आदेश होने पर 'अवेष्यत्' तथा आदेशाभाव-पक्ष में 'आजिष्यत्' आदि रूप होते हैं।

50 √**खज्** विलोना, मथना, रोड़ना अर्थ में सकर्मक है। खजति; चखाज, चखजतुः; खजिता; अखाजीत्-अखजीत्। खजाकः=मथानी, खजाका=कड़छी (क्षी० त०)।

51 √**खञ्ज्** (इदित्) लँगड़ाना, लड़खड़ा कर चलना, अकर्मक। खञ्जति, चखञ्ज, खञ्ज्यात्, अखञ्जीत्। खन्, खञ्जः=खोड़, लंगड़ा। खञ्जन, खञ्जरीट पक्षि-विशेष।

52 √**एज्** काँपना अर्थ में अकर्मक है। एजति। लिट् में इजादि तथा गुरुमान् होने के कारण **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** से आम्, √कृ आदि का अनुप्रयोग : एजाम्+कृ+लिट्। आम् की प्रकृति √एज् परस्मैपदी है, अतः √कृ से उसके तुल्य परस्मैपद : एजाम्+कृ+णल् : शेष प्रक्रिया (3.27) 'इन्दांचकार' की तरह होती है : एजांच-

चकार। 53 टुओस्फूर्जा व्रज-निर्घोषे ॥ 34 ॥ स्फूर्जति, पुस्फूर्ज। 54 क्षि क्षये ॥ 35 ॥ अकर्मकः। अन्तर्भावित-ण्यर्थस्तु सकर्मकः। क्षयति; चिक्षाय, चिक्षियतुः, चिक्षियुः; चिक्षयिथ-चिक्षेथ; चिक्षियिव; चिक्षियिम, क्षेता। कड़कने में है ॥ 34 ॥ 54 √क्षि विनाश अर्थ में है ॥ 35 ॥ अकर्मक है। णिच् के अर्थ

कार, एजाञ्चक्रतुः इत्यादि। एजाम्बभूव, एजामास। जनमेजयः। 6.18 √**एज्** दीप्ति अर्थ में **एजृ, भ्रेजृ, भ्राजृ दीप्तौ** ॥ 14 ॥ दंडक में आत्मनेपदी आ चुकी है।

53 **स्फूर्ज्** गड़गड़ाना, बादल की गरज होना अर्थ में अकर्मक है। स्फूर्जति। लिट् में स्फूर्ज्+स्फूर्ज्+अ, **शर्पूर्वाः खयः** से अभ्यास का फ् शेष रहा तथा स् और ज् का लोप हो गया : फू+स्फूर्ज्+अ, **ह्रस्वः** से ह्रस्व तथा **अभ्यासे चर्च** से फ् को प् आदेश : पुस्फूर्ज। पुस्फूर्जतुः, पुस्फूर्जिथ; स्फूर्जिता; अस्फूर्जीत्; अस्फूर्जिष्यत्।

यह धातु उपदेश में ही दीर्घ उकार वाली है। यदि ह्रस्व 'उ' होता तो, **उपधायां च** से दीर्घ होकर यही स्वरूप प्राप्त हो सकता था। धातुपाठ में आचार्यों ने **उपधायां च** की प्राप्ति की उपेक्षा करके दीर्घवान् पाठ किया है। इस आधार पर कुछ आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इससे आचार्य पाणिनि ने **उपधायां च** की अनित्यता सूचित की है, अर्थात् यह सूत्र अपने विषयक्षेत्र में भी सब जगह लागू नहीं होता।[1] परिणामतः 7.29 √**हुर्छ्** आदि धातुओं में दीर्घ नही होता, यह इन धातुओं के प्रकरण में बताया जा चुका है।

इस धातु में आचार्य ने तीन अनुबंध दिये हैं : टु, ओ तथा आ। इनका प्रयोजन क्रमशः (1) **ट्वितोऽथुच्** (3.2.89) से अथुच् प्रत्यय करना है : **ममैव जन्मान्तर-पातकानां विपाक-विस्फूर्जथुरप्रसह्यः** (रघु० 14.62); (2) निष्ठा में **ओदितश्च** (8.2.45) से क्त, क्तवतु के तकार को नकारादेश है, तथा (3) निष्ठा में ही **आदितश्च** (7.2.16) से इट् का निषेध करना है : स्फूर्णः, स्फूर्णवान्। 'धातु के अंत्य वर्ण से अव्यवहित त् को नत्वादेश के विधान से ही व्यवधायक इट् का अभाव सूत्रकार को अभिमत प्रतीत होता है', यह यदि कहा जाए, तो आ का प्रयोजन भाव तथा आदि-कर्म में निष्ठा में इट् का विकल्प **विभाषा भावादि-कर्मणोः** से करना है : स्फूर्जितम्। स्फूर्णमनेन।

54 √**क्षि**[2] क्षय, नाश होना अर्थ में अकर्मक तथा नाश करना अर्थ में सकर्मक है। यह **ऊदृदन्तैः** (पृष्ठ 203) कारिका में अपठित होने से अनुदात्त और अतएव अनिट्

---

1. क्षी० त० 1.148 : **दीर्घोच्चारणं दीर्घस्यानित्यत्वार्थम्।**
2. इस धातु-वर्ग में इस धातु के औचित्य पर विचार इस धातु-वर्ग के आरंभ में किया जा चुका है।

2298 अ-कृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (7.4.25)—अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद् यादौ (प्रेरणा) को समेटता हुआ अर्थ यदि हो, तो सकर्मक है। 2298 अंत में स्वर वाले अंग को दीर्घ हो, उसके पश्चात् यकारादि प्रत्यय होने पर; किंतु (यकारादि) कृत् या सार्व-

---

है। क्षयति। रूप-सिद्धि 'भवति' की तरह। **चिक्षाय**—क्षि+क्षि+अ, **हलादिः शेषः** से अभ्यास का क् शेष रहा तथा ष् का लोप हो गया : कि+क्षि+अ, **कुहोश्चुः** से क् को च्, **अचो ञ्णिति** से अंग (चिक्षि) के अंतिम इ को वृद्धि : चिक्षै+अ, आय् आदेश : चिक्षाय। **चिक्षियतुः**—चिक्षि+अतुस्, **असंयोगाल्लिट् कित्** से अतुस् की कित्संज्ञा होने से गुण-निषेध, धातु के संयोग-पूर्वक होने के कारण **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** की प्राप्ति न होने से **अचि श्नु-धातु-भ्रुवाम्०** से इयङ् होता है : चि+क्षिय्+अतुस्=चिक्षियतुः।

'थल्' में औपदेशिक अनुदात्त होने से **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से इट् का निषेध होने पर अजन्त होने के कारण **अचस्तास्वत्०** से इट् का निषेध तथा ऋदंत-भिन्न होने के कारण भारद्वाज के नियम से इट् का विधान (इस प्रकार विकल्प) होता है : (1) चिक्षि+इ+थ, (2) चिक्षि+थल् के पित् होने से गुण, इट्-पक्ष में अयादेश : (1) चिक्षय्+इथ=चिक्षयिथ, (2) चिक्षेथ।

उत्तमपुरुष 'णल्' में **णलुत्तमो वा** से वैकल्पिक णित्त्व होने से णित्त्वपक्ष में **अचो ञ्णिति** से वृद्धि : चिक्षाय; णित्त्व के अभाव के पक्ष में **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण : चिक्षय।

'वस्' तथा 'मस्' में क्रादिनियम से नित्य इट्, इयङ् चिक्षियिव, चिक्षियिम।

क्षेता; क्षेष्यति; क्षयतु; अक्षयत्; क्षयेत्; वक्ष्यमाण आशीर्लिङ् में **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ होता है : क्षीयात्, क्षीयास्ताम्, क्षीयासुः।

2298 अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (7.4.25)—अयङ् यि क्ङिति (22), अङ्गस्य (6.4.1)। 'दीर्घः' पद से **अचश्च** (1.2.28) परिभाषा से 'अचः' (षष्ठ्यन्त) पद उपस्थित होता है : अचः अङ्गस्य दीर्घः यि अकृत्सार्वधातुकयोः। 'अचः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः यहाँ तदंतविधि हो जाती है : अचः (=अजन्तस्य) अङ्गस्य। 'अङ्गस्य' से ही (**यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** से) 'प्रत्यये' पद उपस्थित होता है, एवम् वह 'यि' का विशेष्य हो जाता है। **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से 'यि' में आदिविधि हो जाती है : यि=यादौ (प्रत्यये)। समुच्चित अर्थ यों होता है : **अचः** (=अजन्तस्य) **अङ्गस्य दीर्घः** (भवति) **यि** (=यादौ प्रत्यये परतः) **अ-कृत्-सार्वधातुकयोः** (परयोः)—यकारादि प्रत्यय बाद में होने पर अजन्त अंग को दीर्घ आदेश होता है, कृत् तथा सार्वधातुक प्रत्यय बाद में रहते नहीं।

लुङ् में इट् का निषेध होने पर **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** से इट्, **सिचि वृद्धिः परस्मै-**

प्रत्यये परे, न तु कृत्-सार्वधातुकयोः । क्षीयात् । अक्षैषीत् । 55 क्षीज अव्यक्त शब्दे ॥ 36 ॥ 41 कूजिना सहायं पठितुं युक्तः । चिक्षीज । 56 लज, 57 लजि भर्त्सने ॥ 37 ॥ 58 लाज, 59 लाजि भर्जने च ॥ 38 ॥ 60 जज, 61 जजि

धातुक प्रत्यय हो, तो (दीर्घ) नहीं हो । क्षीयात् । 55 √क्षीज् अव्यक्त आवाज करना अर्थ में है ॥ 36 ॥ इसे 41 √कूज् के साथ देने उचित था । 56 √लज्, 57 √लञ्ज् झिड़कने में है ॥ 37 ॥ 58 √लाज्, 59 √लाञ्ज् भूनना, भूँजना, खील बनाना अर्थ

रदेषु से वृद्धि, षत्व : अक्षैषीत् । लृङ् में अक्षेष्यत् । क्षयः नाश । तौदादिक √क्षि से वैदिक में सुप्रयुक्त गृहार्थक 'क्षय' निष्पन्न हैं ।

55 √**क्षीज्** अव्यक्त (अस्पष्ट) शब्द करना, (बुदबुदाना, खीजना) अर्थ में अकर्मक एवं सेट् है । इसे **कूज अव्यक्ते शब्दे** के साथ ही अर्थ की एकता होने से **कूज क्षीज अव्यक्ते,** इस प्रकार देना उचित है । पर इन दोनों के पृथक् पाठ से कदाचित् धातु-पाठकार आचार्य को अर्थ में समान (**अव्यक्ते शब्दे**) शब्दों का प्रयोग करके भी कुछ अर्थ-भेद बतलाना अभीष्ट हो : √कूज् पक्षियों के कूकने में प्रसिद्ध है । अतः वह अव्यक्त शब्द है । √क्षीज् धातु से पक्षियों से भिन्न मनुष्यो के ही अव्यक्त शब्द करने (बुदबुदाना, बड़बड़ाना, कुरमुराना, खीज कर बोलना) अर्थ में इस धातु का प्रयोग अभीष्ट हो सकता है, अतः पृथक् पाठ उचित ही है । सायण—प्रसिद्ध नहीं होने के कारण √क्षीज् को √कूज् के साथ नहीं दिया है ।[1]

56 √**लज्**, 57 √**लञ्ज्** (इदित्) भर्त्सना, लताड़ना, लांछन लगाना अर्थ में हैं । 58 √**लाज्** और 59 √**लाञ्ज्** (इदित्) भर्त्सन के अलावा भूनना, भूँजना अर्थ में भी हैं । इन धातुओं के क्रम और अर्थ-निर्देश पर मत-भेद है : (1) क्षीरतरङ्गिणी, धातुप्रदीप और शाकटायनीय धातुपाठ में दोनों दीक्षितानूदित अर्थ ही हैं; (2) पुरुषकार ने **लज लाजि भर्जने, लाज, लजि भर्त्सने च** क्रम तथा अर्थ दिया है; (3) सायण ने क्रम तो क्षीरतरङ्गिणी वाला ही दिया है, पर अर्थ पुरुषकार वाला; (4) चंद्र (1.77) के अनुसार चारों का अर्थ भर्त्सन है । युधिष्ठिर मीमांसकजी : धातुप्रदीप में धातु-सूत्र का पाठ **लाज लाजि च भर्त्सने** (अनुष्टुप् का सम पाद) है ।[2]

लजति; ललाज, लेजतुः, लेजुः; लजिता; अलाजीत्-अलजीत् । लञ्जति; ललञ्ज, ललञ्जतुः; लञ्जिता; अलञ्जीत् । लाजति; ललाज, ललाजतुः, ललाजुः; लाजिता; अलाजीत् । लाञ्जति; ललाञ्ज, ललाञ्जतुः; लाञ्जिता; अलाञ्जीत् । लाजाः खील, लावे ।

---

1. मा०धा०वृ० : **कूजिना सहायं न पठितोऽप्रसिद्धत्वात् ।**
2. दैवम्, पृष्ठ 55, टि० 3 ।

युद्धे ॥ 39 ॥ 62 तुज हिंसायाम् ॥ 40 ॥ तोजति ; तुतोज । 63 तुजि पालने ॥ 41 ॥ 64 गज, 65 गजि, 66 गृज, 67 गृजि, 68 मुज, 69 मुजि

में है ॥ 38 ॥ 60 √जज्, 61 √जञ्ज् लड़ने में हैं ॥ 39 ॥ 62 √तुज् हिंसा अर्थ में है ॥ 40 ॥ 63 √तुञ्ज् पालन में है ॥ 41 ॥ 64 √गज्, 65 √गञ्ज्, 66 √गृज्, 67 √गृञ्ज्, 68 √मुज्, 69 √मुञ्ज् आवाज करने में हैं ॥ 42 ॥ 64 √गज् मस्त

---

60 √जज्, 61 √जञ्ज् युद्ध करना अर्थ में हैं। जजति; जजाज, जेजतुः, जेजुः; जजिता; अजाजीत्-अजजीत्। जञ्जति; जजञ्ज, जजञ्जतुः; अजञ्जीत्। काशकृत्स्न धातुपाठ के व्याख्याता चन्नवीर कवि ने 'जजति' का अर्थ उपद्रव करना और 'जञ्जति' का अर्थ भ्रमण करना बताया है। जाजिः=जायफल; जञ्जा=अछूत; जङ्ग=युद्ध।[1]

62 √तुज् हिंसा अर्थ में (सकर्मक) तथा 63 √तुञ्ज् पालन में (सकर्मक) है। क्षी० त० और पुरुषकार में सूत्रों का स्वरूप **तुज तुजि हिंसायाम्, तुजि पालने च** है। इनके अनुसार √तुञ्ज् के दो अर्थ हैं : (1) हिंसा, (2) पालन। 'च' से 'हिंसा' अर्थ का समुच्चय होते उसे पृथक् से कहने की अपेक्षा नहीं है। अतः धातु-सूत्रों का स्वरूप होना चाहिये : **तुज हिंसायाम्, तुजि पालने च**। ऊपर 58 **लाज, 59 लाजि भर्जने च** इसी प्रकार का धातु-सूत्र है।

तोजति, तुञ्जति; तुतोज, तुतुजतुः; तुतुञ्ज, तुतुञ्जतुः; तोजिता; तुञ्जिता; अतोजीत्; अतुञ्जीत्। तुङ्ग ऊँचा।

64 √गज्, 65 √गञ्ज्, 66 √गृज्, 67 √गृञ्ज्, 68 √मुज् (क्षीरस्वामी तथा चन्द्र : √मज्) तथा 69 √मुञ्ज् शब्द करना अर्थ में अकर्मक हैं। प्रत्येक दूसरी धातु इदित् होने से नोपध है। क्षीरस्वामी तथा पुरुषकार का कहना है कि कुछ लोग √मृज् और √मृञ्ज् भी मानते हैं। 64 √गज् मस्ती होना अर्थ में भी है : गजः=हाथी। गजुः=चूड़ी। गञ्जः=कोश (हरियाणवी : गोझ, जेब, इसमें सिक्के खनकने के कारण)। गञ्जा=मयखाना (मदिरालय, पियकड़ों का शोर होने के कारण) तथा गाँजा। गृञ्जनम्=गाजर (वादी की आवाज करने के कारण)। मुञ्जः=मूंज। मोजति=खुशी से पागल होता है (—चन्नवीर कवि)। मोजः=मौज, मस्ती। गृञ्जति=सीटी बजाता है। म्रुञ्जति=गाली देता है। म्रुञ्जा=गाली।

---

1. धा० प्र०, पृष्ठ 25 तथा क्षी० त०, पृष्ठ 46 पर यु० मी० की टि० 2.

शब्दार्थाः ॥ 42 ॥ 64 गज मदने च ॥ 43 ॥ 70 वज,71[1] व्रज गतौ ॥ 44 ॥ 'वद-व्रज०' (2267) इति वृद्धिः—अव्राजीत् ॥ 51 ॥

अथ टवर्गीयान्ताः—

(क 8) शाड्यन्ता अनुदात्तेतः षट्-त्रिंशत्—1 अट्ट अतिक्रमण- होने में भी है ॥ 43 ॥ 70 √वज्, 71 √व्रज् जाना अर्थ में हैं ॥ 44 ॥ 'वद-व्रज-हलन्तस्याचः' (2267) से वृद्धि होती है—अव्राजीत् ॥ 51 ॥

टवर्गीयान्त 108 धातु : क. अष्टम वर्ग : आत्मनेपदी 36 धातु

अब अंत में टवर्गीय स्पर्श वाली धातुएँ हैं—

(क. 8) √शाड् तक अनुदात्त स्वर की इत्संज्ञा वाली छत्तीस धातुएँ हैं—

---

70 √वज्, 71 √व्रज् जाना अर्थ में सकर्मक हैं। वजति; ववाज, ववजतुः —**न शस-दद-वादि-गुणानाम्** से एत्वाभ्यास-लोप का निषेध; अवाजीत्-अवजीत्— **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से हलंतत्वेन प्राप्त नित्य वृद्धि का निषेध **नेटि** से होने पर **अतो हलादेर्लघोः** से वा वृद्धि। व्रजति; वव्राज, वव्रजतुः; व्रजिता; अव्राजीत्—हलंतत्वेन वृद्धि के निषेध में **नेटि** के चरितार्थ होने के कारण √व्रज् का विशेष कथन करने से प्राप्त वृद्धि का निषेध **नेटि** से नहीं होता। वाजः=(1) वेग, (2) पाँख। हिंदी का 'बाज' कदाचित पक्षार्थक वाज से ही वेगवान्, बलिष्ठ पक्षी श्येन के लिये विकसित हो गया है। व्रज्या=गति, परिव्रज्या=सन्न्यास, परिव्राजक, परिव्राट्=सन्यासी, व्रजः= गोष्ठ।

धातुयोग : दीक्षितजी—गत 188, इस वर्ग की 72, कुल 260; हमारी गणना —गत 182, वर्तमान 71, कुल 253 ॥ 51 ॥

सन्दर्भ : पिछले दो धातु-वर्गों में चवर्गीयांत 92 (दीक्षितजी की गणना के अनुसार 93) धातु देने के बाद अब अगले दो (8-9) धातु-वर्गों में 108 टवर्गीयांत धातु दी हैं। इनमें से (क) पहले (आठवें) धातु-वर्ग में आत्मनेपदी धातु दी हैं तथा (ख) दूसरे (नवें) धातु-वर्ग में परस्मैपदी हैं।

अष्टम धातु-वर्ग का विश्लेषण : दीक्षितजी के अनुसार इस वर्ग में 36 धातु संकलित हैं, जो 32 धातु-सूत्रों में दी गई हैं। क्षीरतरङ्गिणी में संख्या क्षीरस्वामी ने बताई तथा सम्पादक श्री युधिष्ठिर मीमांसकजी ने दी तो 35 है, पर वस्तुतः उपलब्ध

---

1. अर्थ-निर्देशमात्र से भिन्न 64 √गज् को भिन्न धातु (धातु-सूत्र 43) मानना उचित नहीं है। अतः इस धातु-वर्ग में दीक्षितोक्त 72 संख्या के बजाय 71 धातु ही हैं। इस धातु-वर्ग का विश्लेषण देखें।

हिंसयो : ॥ 1 ॥ दोपधोऽयम् ; 'तोपध' इत्येके । अट्टते ; आनट्टे । 2 वेष्ट

1 √अट्ट लाँघना, हिंसा अर्थों में है ॥ 1 ॥ इसका उपान्त्य वर्ण द् है; कुछ लोग त्

धातु 36 हैं; श्री मीमांसकजी ने 4 √गोप्ट्, और 5 √लोष्ट् को अलग-अलग न जाने क्यों नहीं गिना है ? क्षी० त० में दो (**स्फुडि विकसने** तथा **खुडि गति-वैकल्ये**) अधिक हैं और **स्फुट विकसने** तथा **होड़ अनादरे** नहीं हैं ।

इन 36 धातुओ में √हुण्ड् अर्थ-भेद से दो बार (16, 24) आई है । यदि अर्थों को मिलाकर **हुडि संघात-वरणयोः** के रूप में एक ही धातु-सूत्र में दे देते, तब भी कोई अंतर नहीं आता । अतः वस्तुतः इस वर्ग में 35 ही धातु हैं । इन 35 या 36 धातुओं में क्रमशः टकारांत 7, ठकारांत भी 7 ही और डकारांत 21 या 22 हैं । ठकारांतों में 5 इदित् और 2 अदित् हैं । डकारांतों में 15 या 16 इदित् हैं, तथा 6 ऋदित् हैं । अदित्ता का प्रयोजन इत् अनुदात्त स्वर को आधार-भूत अच् प्रदान करना है; इदित्ता का प्रयोजन नुम् करना; तथा ऋदित्ता का ण्यंत के चङ् में धातु की उपधा को प्राप्त ह्रस्व का निषेध है । ये सब धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी और उदात्त होने से सेट् हैं ।

(क) 8.1 √**अट्ट** लाँघना, किसी से बढ़ जाना, हिंसा करना अर्थों में है । हिंदी में √आँट् (पाटना) शायद इसी का विकसित रूप है । क्षीरस्वामी, जिनेन्द्रबुद्धि तथा कैयट ने इस धातु का स्वरूप **अत्ट** बताया है । क्षीरस्वामी का कथन है कि संदेह-निवारणार्थ इसे अत्ट (ष्टुत्व-रहित) रूप में रखा गया है । काशिका के अनुसार√अत्ट् और √अद्ड् दो धातु हैं, जो प्रयोग में ष्टुत्व से √अट्ट् और √अड्ड् हो जाती हैं । सायण के अनुसार मैत्रेय इसे दकारोपध (√अद्ड्) मानते हैं । उनके मत में टकारांतों के प्रकरण में डकारांत √अद्ड् (>√अड्ड्) उचित नहीं है । दीक्षितजी ने मैत्रेय का अनुसरण किया है । उन्होंने इसका औपदेशिक पाठ क्षीरस्वामी के तोपध के समान दिखाया नहीं है, अपितु अद्ट स्थिति में **खरि च** से द् को त् और **ष्टुना ष्टुः** से त् को ट् करके **अट्ट** के रूप में ही दिखाया है ।

उपधा में इस वर्ण-भेद का फल णिच् और सन् में दृष्टि-गोचर होता है : (क) √अद्ट्+णिच्>√अट्टि+चङ् में धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त होने पर ष्टुत्व के असिद्ध होने के कारण **न न्द्राः संयोगादयः** से निषेध होने से आदिम टकार से रहित 'टि' अंश को द्वित्व होता है : आ+अट्+टि+टि+चङ् । फिर णिज्लोप आदि होने पर आट्टिटत् रूप बनता है । इसी प्रकार सन् में अट्टिटिषते (अट्टिष धातु के द्वितीय एकाच् 'ट्टि' के केवल 'टि' अंश को द्वित्व होकर) बनता है । (ख) √अत्ट्> √अट्ट् पक्ष में तकार-समेत 'ट्टि' को द्वित्व करने पर **खर्पूर्वाः खयः** (**शर्पूर्वाः खयः** सूत्र

वेष्टने ॥ 2 ॥ विवेष्टे । 3 चेष्ट चेष्टायाम् ॥ 3 ॥ अचेष्टिष्ट । 4 गोष्ट, 5 लोष्ट संघाते ॥ 4 ॥ जुगोष्टे ; लुलोष्टे । 6 घट्ट चलने ॥ 5 ॥ जघट्टे । 7 स्फुट विकसने ॥ 6 ॥ स्फोटते; पुस्फुटे ।

उपान्त्य वर्ण वाली मानते हैं । अट्टते । आनट्टे । 2 √वेष्ट् लपेटने में है ॥ 2 ॥ विवेष्टे । 3 √चेष्ट् हिलना-डुलना, यत्न करना अर्थ में है ॥ 3 ॥ अचेष्टिष्ट । 4 √गोष्ट्, √लोष्ट् इकट्ठा होना अर्थ में हैं ॥ 4 ॥ 6 √घट्ट् हिलने में है ॥ 5 ॥ 7 √स्फुट् खिलना, फूटना अर्थ में है ॥ 6 ॥

पर वार्तिक) से खर् (त्) जिसके पूर्व है, ऐसा खय् ('टि' का टकार) शेष रहता है, प्रथम 'ट्' (जो ष्टुत्व के असिद्ध होने के कारण शास्त्र की दृष्टि में त् ही है) का लोप होता है : अटिट्टिषते । इसी प्रकार णिच्, लुङ् में आटिट्टत् रूप होता है ।

सायण और तदनुसारी दीक्षितजी के मत में रूप तो यही होते हैं, परंतु प्रक्रिया तनिक भिन्न है : वे **खर्पूर्वाः खयः** (वा०) का उपयोग नहीं करते, अपितु **पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने** (प० 127) से ष्टुत्व की असिद्धि का निषेध करके 'ट्टि' को द्वित्व करते हैं और 'ट्' ही शेष रहता है । उनके मत में **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्युपायः** (प०) अनित्य प्रतीत होती है : अन्यथा 'ट्टि' के प्रथम 'ट्' के शेष रहने तथा द्वितीय परवर्ती 'ट्' का लोप होने पर प्रथम 'ट्' किस निमित्त से मूर्धन्य रहेगा ? ष्टुत्व का निमित्त 'ट्' लुप्त हो जाने पर नैमित्तिक 'ट्' को त् बन जाना चाहिए । पुरुषकार ने **निमित्तापाये०** परिभाषा की प्रवृत्ति यहाँ मानकर 'त्' के शेष वाले अतिट्टिषते, आतिट्टत् रूप अन्यों के मत में उद्धृत किए हैं । सायण ने युक्ति दिए बिना उसका खंडन किया है । वासुदेवदीक्षित और ज्ञानेन्द्रसरस्वती सायण का ही मत मानते प्रतीत होते हैं ।

अट्टते; आनट्टे; अट्टिता; अट्टिषीष्ट; आट्टिष्ट; आट्टिष्यत । अट्टः=आटा, चून । **अट्ट-शूला जनपदाः** (पद्मपुराण, श्रीमद्भागवतमाहात्म्य 1.36) ।

2 √**वेष्ट्** लपेटना, लोटना, गूँथना, घेरना अर्थ में सकर्मक है । वेष्टते; विवेष्टे, विवेष्टाते, विवेष्टिरे; अवेष्टिष्ट, अवेष्टिषाताम् । वेष्टनम्=वस्ता । वेष्टः, प्रवेष्टः=बाहु ।

4 √**गोष्ट्**, 5 √**लोष्ट्** इकट्ठा करना, पिण्ड बनाना अर्थ में सकर्मक एवं सेट् हैं । लोष्टः=ढेला । लोष्टते; लुलोष्टे, लुलोष्टाते; अलोष्टिष्ट ।

6 **घट्ट्** चलना, हिलना, चेष्टा करना, टकराना (अकर्मक) अर्थ में हैं । घट्टते; जघट्टे, जघट्टाते; घट्टिता; घट्टताम्; अघट्टत; घट्टेत; घट्टिषीष्ट; अघट्टिष्ट; अघट्टिष्यत । घट्टना=टकराव, अरघट्टः=रहट, उद्घट्टनम्=उघड़ना ।

7 √**स्फुट्** खिलना, फूटना, विकसित होना अर्थ में अकर्मक है । यह तुदादि में

8 अठि गतौ ॥ 7 ॥ अण्ठते; आनण्ठे । 9 वठि एक-चर्यायाम् ॥ 8 ॥ ववण्ठे । 10 मठि, 11 कठि शोके ॥ 9 ॥ शोक इह आध्यानम् । मण्ठते । 12 मुठि पालने ॥ 10 ॥ मुण्ठते । 13 हेठ विबाधायाम् ॥ 11 ॥ जिहेठे । 14 एठ च ॥ 12 ॥ एठाञ्चक्रे ।

15 हिडि गत्यनादरयोः ॥ 13 ॥ हिण्डते ; जिहिण्डे । 16 हुडि सङ्घाते ॥ 14 ॥ जुहुण्डे । 17 कुडि दाहे ॥ 15 ॥ चुकुण्डे । 18 वडि

8 √अण्ठ् गति अर्थ में है ॥ 7 ॥ 9 √वण्ठ् किसी का सहायक के रूप में आना अर्थ में है ॥ 8 ॥ 10 √मण्ठ्, 11 √कण्ठ् शोक अर्थ में हैं ॥ 9 ॥ यहाँ शोक चिंता-पूर्वक स्मरण है । 12 √मुण्ठ् रक्षा में है ॥ 10 ॥ 13 √हेठ् शठता करना, अड़ना अर्थ में है ॥ 11 ॥ 14 √एठ् भी ॥ 12 ॥

15 √हिण्ड् गति (हाँडना) और अनादर अर्थों में है ॥ 13 ॥ 16 √हुण्ड् इकट्ठा होने में है ॥ 14 ॥ 17 √कुण्ड् जलना अर्थ में है ॥ 15 ॥ 18 √वण्ड् बाँटना,

---

भी है । क्षीरतरङ्गिणी में यह यहाँ नहीं है । स्फोटते । लिट् में **शर्पूर्वाः खयः** से स् का लोप : पुस्फुटे, पुस्फुटाते । स्फुटम् खिला हुआ, स्पष्ट; स्फोटः फोड़ा ।

9 √**वण्ठ्** किसी का सहायक के रूप में आना अर्थ में (क्षीरस्वामी, सायण) है । वा० म० और त० बो० में अकेले विचरना, बिना सहायक के घूमना, भटकना अर्थ में बताई है । महाभाष्य में इससे निष्पन्न 'वण्ठ' का अर्थ 'रँडुआ' प्रतीत होता है, तथा नागेश भट्ट ने यही अर्थ किया भी है । क्षीरस्वामी ने 'वण्ठ' का अर्थ भाड़े पर आया लड़ाका बताया है ।[1]

11 √**कण्ठ्** प्रायः उद् के साथ हीं व्याकुलता से याद करने में प्रयुक्त होती है : उत्कण्ठते चेतः ।

13 √**हेठ्** तथा 14 √**एठ्** ऐंठना, अकड़ना, अड़ना, शठता करना अर्थ में हैं । √एठ् इजादि गुरुमान् है । अतः **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** से आम्—एठांचक्रे ।

16, 24 √**हुण्ड्** संघात और स्वीकारना अर्थों में है । हुण्डिका=हुण्डी । काश्यप का कहना है कि यह धातु द्रविड़ों में प्रचलित है । काशकृत्स्न धा०पा० में यह हिंसा और गति (चन्नवीर : पराजय) अर्थ में परस्मैपदी (1.183) तथा संघात (चन्न० : पराजय) अर्थ में √योष्ट् और √लोष्ट् के साथ एक ही धातुसूत्र (1.434) में दी है ।

18 √**वण्ड्**, 19 √**मण्ड्** वंडणा (पंजाबी), बाँडणा (हरियाणवी), बाँटना अर्थ

---

1. म०भा० 3.3.20 : **ननु चायमिङ् एक एव वण्ठ-रण्डा-कल्पः ।** उ० : **वण्ठो=मृत-भार्यः ।** क्षी०त० : **वण्ठो दत्त-द्रव्यो योद्धा ।**

विभाजने ॥ 16 ॥ 19 मडि च ॥ 17 ॥ ववण्डे । 20 भडि परिभाषणे ॥ 18 ॥ (1) परिहास; (2) सनिन्दोपालम्भश्च परिभाषणम् । बभण्डे । 21 पिडि सङ्घाते ॥ 19 ॥ पिपिण्डे । 22 मुडि मार्जने ॥ 20 ॥ मार्जनं=(1) शुद्धिः, (2) न्यग्भावश्च । मुण्डते । 23 तुडि तोडने ॥ 21 ॥ तोडनं=(1) दारणं, (2) हिंसनं च । तुण्डते । 24 हुडि वरणे ॥ 22 ॥ वरणं=स्वीकारः । 'हरण' इत्येके । हुण्डते । 25 चडि कोपे ॥ 23 ॥ चण्डते । 26 शडि रुजायां, सङ्घाते

बाँडणा, वंडणा, हिस्से करना में है ॥ 16 ॥ 19 √मण्ड् भी ॥ 17 ॥ 20 √भण्ड् परिभाषण अर्थ में है ॥ 18 ॥ (1) हँसी-मजाक, (2) बुराई करते हुए उलाहना देना (भँड़ैती) परिभाषण है । 21 √पिण्ड् इकट्ठा होने में है ॥ 19 ॥ 22 √मुण्ड् मार्जन में है ॥ 20 ॥ मार्जन माने (1) सफाई करना, (2) नीचा होना है । 23 √तुण्ड् तोडने में है ॥ 21 ॥ तोडना माने (1) फाड़ना, (2) मारना है । 24 √हुण्ड् वरण अर्थ में है ॥ 22 ॥ वरण माने स्वीकार करना है । कुछ लोग हरना अर्थ में मानते हैं । 25 √चण्ड् गुस्सा करने में है ॥ 23 ॥ 26 √शण्ड् रोग होना और इकट्ठा होना अर्थों में

में हैं । सायण की सूचना के अनुसार नंदी के मत में √मण्ड् बँटना, लपेटना अर्थ में है तथा क्षीरस्वामी की सूचना के अनुसार नन्दी के मत में √वण्ट् बाँटने में तथा √वण्ड् लपेटने, बँटने में है । चन्नवीरकवि √वण्ड् और √मण्ड् दोनों को वेष्टन अर्थ में ही मानते हैं । क्षीरस्वामी का कथन है कि एक ही अर्थ वाली √वण्ड् और √मण्ड् को अलग-अलग धातु-सूत्र में देने से आचार्य का तात्पर्य अर्थ में कुछ भेद बताना प्रतीत होता है । √वण्ड् का अर्थ तो बाँटना, हिस्से करना है, √मण्ड् का अर्थ अलग करना (माँड पसाना) सम्भवतः हो । मण्डम्=माँड, मण्डूरम्=लोह-मल ।

20 √भण्ड् खिल्ली उड़ाना, मजाक उड़ाना, भंडैती करना अर्थ में है । भण्डः=भाँड, भण्डिलः=दूत ।

21 √पिण्ड् पिण्डा बनाना अर्थ में सकर्मक है । पिण्डः=पिण्डा, गाँव (पंजाबी); पिण्डी=छोटा पिण्ड, पिण्डिलः=ज्योतिषी ।

22 √मुण्ड् का अर्थ (क) क्षीरस्वामी और चन्नवीरकवि एवं पुरुषकार के अनुसार अन्य लोग 'मज्जन' मानते हैं, (ख) चन्द्र, देव, सायण तथा दीक्षितजी 'मार्जन' अर्थ मानते हैं । मज्जन और मार्जन की व्याख्या (1) शुद्धि=स्वच्छ करना तथा (2) न्यग्भाव (नीचा होना) है । चन्नवीर : स्नान ।

23 √तुण्ड् तोड़ने में है । अन्न, ग्रास को तोड़ने से तुण्ड मुख है । बातों को तोड़-मरोडकर कई तरह से, बार-बार कहने वाला बहु-भाषी 'तुण्डिल' है । 25 √चण्ड् कोप अर्थ में अकर्मक है । चण्ड, प्रचण्ड, चण्डी, चण्डा, चण्डाल । 26 √शण्ड् बाल-

च ॥ 24 ॥ शण्डते । 27 तडि ताडने ॥ 25 ॥ तण्डते । 28 पडि गतौ ॥ 26 ॥ पण्डते । 29 कडि मदे ॥ 27 ॥ कण्डते । 30 खडि मन्थे ॥ 28 ॥

31 हेडृ, 32 होडृ अनादरे ॥ 29 ॥ जिहेडे ; जुहोडे । 33 बाडृ आप्लाव्ये ॥ 30 ॥ बशादिः । आप्लाव्यम् = आप्लवः । बाडते । 34 द्राडृ, 35 ध्राडृ विशरणे ॥ 31 ॥ द्राडते; ध्राडते । 36 शाड श्लाघायाम् ॥ 32 ॥ शाडते ॥ 52 ॥

है ॥ 24 ॥ 27 √तण्ड् पीटना अर्थ में है ॥ 25 ॥ 28 √पण्ड् गति में है ॥ 26 ॥ 29 √कण्ड् मद होने में है ॥ 27 ॥ 30 √खण्ड् मथने में है ॥ 28 ॥

31 √हेड्, 32 √होड् अनादर करना अर्थ में हैं ॥ 29 ॥ 33 √बाड् आप्लाव्य अर्थ में है ॥ 30 ॥ इसके आदि में बश् प्रत्याहार का वर्ण (पवर्ग-तृतीय) है। आप्लाव्य माने बाढ़ आना है। 34 √द्राड्, √ध्राड् बिखरने में हैं ॥ 31 ॥ 36 √शाड् प्रशंसा करना अर्थ में है ॥ 32 ॥ शाडते ॥ 52 ॥

रोग होना अर्थ में अकर्मक तथा संघात अर्थ में सकर्मक है। शण्डः = भेँ (बिस, क्षीर-स्वामी : **अब्जादि-मूलाभोगः**; अमरकोष : अब्जादि का समूह)[1]। 27 √**तण्ड्** कूटना, छड़ना अर्थ में सकर्मक है। तण्डुल = चावल। 'तन्दुल' इसी से विकसित है। तण्डुः एक ऋषि। 28 √**पण्ड्** गति अर्थ में है। इससे पण्डः (तीर्थ-पुरोहित, पंडा), पण्डा (बुद्धि) शब्द बनते हैं।

33 √ **बाड्** बाढ़ आना अर्थ में है। यह क्षीरतरङ्गिणी में अन्तस्थादि है तथा माधवीय धातुवृत्ति में पवर्ग-तृतीयादि बताया है। 36 √**शाड्** प्रशंसा करना अर्थ में है। काश्यप, क्षीरस्वामी तथा मैत्रेय-रक्षित का कथन है कि ड् तथा ल् (ऋग्वेदियों का ळ्) वाली धातु पृथक्-पृथक् उपदिष्ट हैं : **ईड, ईल स्तुतौ**। पाणिनीय तंत्र में एक ही प्रकार की प्रकृतियों का समाम्नान करके **ड-लयोरभेदः, र-लयोरभेदः** जैसी विज्ञप्तियों से संक्षेप के लिए एक ही उपदेश से दोनों ही प्रकृतियों का प्रतिपादन कर दिया है। देश-भेद से उच्चारण-भेद की कुछ विशेष प्रवृत्तियों को देख कर पाणिनि ने अधिक प्रयुक्त तथा शिष्टों में परिगृहीत ध्वनियों को रख लिया, शेष को उन ध्वनियों के विकार समझ कर पृथक् समाम्नान नहीं किया। ड-द, ड-ल, र-ल आदि उच्चारण-भेद प्राकृत प्रवृत्ति ही हैं।

धातु-योग : दीक्षित जी—गत 260, वर्तमान 36, कुल 293; हमारे मत में—गत 253, वर्तमान 35, कुल 288 ॥ 52 ॥

---

1. 'तालव्यो मूर्धन्योऽब्जादिकदम्बे 'शण्ड'-शब्दोऽयम्।
मूर्धन्य एव वृषभे पूर्वाचार्यैर्विनिर्दिष्टः ॥' इत्यूष्मविवेकः—रामाश्रमी सुधा

(ख) अथ (9) आटवर्गीयान्त-समाप्तेः परस्मैपदिनः—

9.1 शौटृ गर्वे ॥ 1 ॥ शौटति; शुशौट । 2 यौटृ बन्धे ॥ 2 ॥ यौटति । 3 म्लेटृ, 4 म्रेड़ उन्मादे ॥ 3 ॥ द्वितीयो डान्तः । टान्तमध्ये पाठस्त्वर्थ-साम्यात्, नाथतिवत् । म्लेटति; म्रेडति ।

ख. नवम धातु-वर्ग : परस्मैपदी 72 धातुओं में अ. टकारांत 31 धातु

(ख) 9 अव अंत में टवर्ग का वर्ण रखने वाली धातु समाप्त होने तक परस्मैपदी धातु हैं—

1 √शौट् घमण्ड होना/करना अर्थ में है ॥ 1 ॥ 2 √यौट् बाँधने में है ॥ 2 ॥ 3 √म्लेट्, 4 √म्रेड् उन्माद होना अर्थ में है ॥ 3 ॥ दूसरी धातु के अंत में डकार है। अंत में ट वाली धातुओं में पाठ तो अर्थ की समानता के कारण √नाथ् के पाठ की तरह किया है।

संदर्भ : पिछले धातु-वर्ग में टवर्गीयांत (क) आत्मनेपदी सेट् 36 धातु देने के बाद प्रकृत नवम धातु-वर्ग में टवर्गीयांत (ख) परस्मैपदी सेट् 72 धातु दी हैं। प्रकृत अनुच्छेद में उनमें से 30 टकारांत, तथा 1 टकारांत से अर्थ की समानता के कारण मध्य में पठित डकारांत (4 √म्रेड्), कुल 31 धातु दी हैं। ये सब धातु उदात्तेत् हैं, अतः सेट् हैं; धातु-पाठ में उदात्त के रूप में निर्दिष्ट् हैं, अतः परस्मैपदी हैं। इनमें पहली 4 धातु ऋदित् हैं, फिर 1 एदित् है, 1 ईदित् और शेष 25 धातु अदित् हैं। ऋदित् का प्रयोजन णिच्, लुङ् में अग की उपधा को प्राप्त ह्रस्व का निषेध **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** (7.4.2) से करना होता है, ईदित् का प्रयोजन निष्ठा में इट् का निषेध **श्वीदितो निष्ठायाम्** (7.2.14) से करना होता है; एदित् का प्रयोजन **अतो हलादेर्लघोः** से प्राप्त वृद्धि का निषेध यहीं दिये सूत्र (2299) से बताया है।

9.1 √**शौट्** अभिमान (गरूर-करना) अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है। शौटीर्य गर्व होता है। **तदेतदतिशौटीर्यमौडुलोमेर्न मृष्यति** (कल्पतरु)। शौटति। शुशौट। शौटिता। शौटिष्यति। अशौटीत्।

2 √**यौट्** बाँधना (जोड़ना) अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् है। क्षीरतरङ्गिणी में 'सम्बन्धे, सम्बन्धः=श्लेषः' अर्थ दिया है।

3 √**म्लेट्** तथा 4 √**म्लेड्** उन्माद होना अर्थ में अकर्मक एवं सेट् हैं। दूसरी धातु डकारांत है। टकारांत धातुओं में तो **2.5 नाथृ, 6 नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्या-शीष्षु ॥ 5 ॥**' (पृष्ठ 221) की तरह अर्थ की समानता से रख दी है।

क्षीरतरङ्गिणी में दूसरी धातु √म्लेट् है तथा एकीय मत से √म्रेड् दी है। दुर्ग √मेट् मानते हैं। सायण √म्रेट्, √म्रेड और √म्लेट् ये तीन मानते हैं।

5 कटे वर्षावरणयोः ॥ 4 ॥ 'चटे' इत्येके । चकाट । सिचि 'अतो हलादेर्लघोः' (2284) इति वृद्धौ प्राप्तायाम्—2299 ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम् (7.2.5)—ह-म-यान्तस्य, क्षणादेः, ण्यन्तस्य, श्वयतेः, एदितश्च वृद्धिर्न स्याद् इडादौ सिचि । अकटीत् ।

5 √कट् वारिस होना तथा ढँकना अर्थों में है ॥ 4 ॥ कुछ लोग √चट् मानते हैं। सिच् में 'अतो हलादेर्लघोः' (2284) सूत्र से वृद्धि की प्राप्ति होने पर—2299 (क) अंत में (1) ह्, (2) म्, (3) य् वाली, (ख) √श्वस्, (ग) √जागृ, (घ) णि (प्रत्ययांत), (ङ) √श्वि, और (च) इत्संज्ञक एकार वाली धातुओं के अंगों को वृद्धि नहीं हो, बाद मे आदि में इट् वाला सिच् प्रत्यय होने पर। अकटीत्।

काशकृत्स्न ने √शौट् आदि सभी भिन्न प्रकार से दी हैं। जैसे क्रमशः √शौण्ड् (शौण्डीरः), √यौण्ड् (यौण्डीरः), √मेड् और √म्रेड् (मेडीरः, म्रेडीरः)।

5 √कट् (एदित्) बरसना तथा ढँकना (ढाँपना) अर्थों में सकर्मक एवम् सेट् है। कश्यप की सूचना के अनुसार कुछ आचार्य √चट् (एदित्) धातु मानते हैं। कटति। **कटिः**=कमर, हरियाणवी कड़। कटक=सेना, कड़ा। मा० धा० वृ० : कटीरः=जघन तथा कञ्चुक। क्षी० स्वी० : कट्वरी=तक्र-व्यंजन (कढी ?)। कटाहः=कड़ाह। **जटा-कटाह-सम्भ्रम०** (शिवताण्डवस्तोत्र में) यह यौगिक अर्थ में या रूपकविधान से प्रयुक्त है।

लिट् में 'क्' को विरूप 'च्' आदेश होने से **अत एकल्मध्ये०** से एत्त्व तथा अभ्यास-लोप नहीं होते : चकाट, चकटतुः। कटिता, कटिष्यति, कटतु, अकटत्, कटेत्।

लुङ् में 'अ+कट्+इ+स्+ई+त्' स्थिति में **वदव्रज०** से प्राप्त वृद्धि का निषेध **नेटि** से करके उपधा के अकार को विकल्प से वृद्धि प्राप्त होती है, उसका निषेध **ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ०** से हो जाता है : अकटीत्, अकटिष्टाम्।

2299 **ह्म्यन्त-क्षण-श्वस[1]-जागृ-णि-श्व्येदिताम्** (7.2.5)—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (1), नेटि (4), अङ्गस्य (6.4.1) : ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम् अङ्गानां वृद्धिर्न (भवति) इटि सिचि। ह्, म्, य्, अन्ते येषान्धातूनान्ते ह्म्यन्ताः। क्षणश्च, श्वसश्च, जागाश्चेति क्षण-श्वस-जागरः। णिश्च, श्विश्च, एदितश्च इति णि-श्व्येदितः। ह्म्यन्ताश्च, क्षण-श्वस-जागरश्च, श्व्येदितश्च इति ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-

---

1. क्षी० त० (1.480) के अनुसार सूत्र में 'शस' पाठ है। फलतः **'शसु हिंसायाम्'** (1.16) में ही प्रकृत सूत्र से वृद्धि-निषेध होगा; √श्वस् (क्षी० त० 2.66) के तो अश्वासीत्, अश्वसीत्, ये दो रूप उन्होंने बताए हैं।

6 अट, 7 पट गतौ ॥ 5 ॥ आट, आटतुः, आटुः; पपाट, पेटतुः, पेटुः ।

6 √अट्, 7 √पट् गति अर्थ में हैं ॥ 5 ॥ 8 √रट् परिहास करना, खिल्ली

णि-श्व्येदितः, तेषाम् । प्रस्तुत वृद्धिनिषेध सिच् परे रहते प्रवृत्त होता है । सिच् विहित है धातु को, अतः यहां 'धातोः' 5.1 पद अर्थतः उपस्थित होता है और **हृम्यन्त०** का विशेषण होने से 'धातूनाम्' (ष० व०) के रूप में परिणत हो जाता है । 'णि' प्रत्यय है । निरनुबंध पाठ से णिच् (स्वार्थिक, तथा **हेतुमति च** से विहित, दोनों प्रकार का) तथा 'णिङ्' दोनों का ग्रहण होता है । **न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः** न्याय से अकेले 'णि' ग्रहण से **'प्रत्यय-ग्रहणे तस्य च तदन्तस्य च** (प० 24) से 'ण्यन्त' का ग्रहण होगा । 'इटि' का सम्बन्ध 'सिचि' से होने से **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से 'आदौ' (=इडादौ) अर्थ होता है । अन्वय इस प्रकार है—

हृम्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम् धातूनाम् अङ्गानाम् वृद्धिर्न इटि (=इडादौ) सिचि परस्मैपदेषु । (1) अन्त में (अ) हकार, (आ) मकार, तथा (इ) यकार वाली, (2) √क्षण्, (3) √श्वस्, और (4) √जागृ, (5) ण्यंत, (6) √श्वि और (7) 'ए' की इत्संज्ञा वाली धातुओं के अंग को वृद्धि नहीं होती, इडादि सिच् ('इस्') परे रहते, परस्मैपद-प्रत्ययों में ।

'अकटीत्' में √कट् के एदित् होने से वृद्धि नहीं होती । सूत्र के अन्य उदाहरण : (1 अ) हांत—अग्रहीत्, (आ०) मांत—अवमीत् (इ) यांत—अहयीत् । (2) **क्षणु हिंसायाम्** (त०)—अक्षणीत् । (3) **श्वस प्राणने** (अ०)—अश्वसीत् । (4) **जागृ निद्राक्षये**—अजागरीत् । (5) **ऊन परिहाणे** (चु०) से लुङ् में वेद में **नोनयति-ध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः** (3.1.51) सूत्र से चङ् का निषेध होने पर औनयीत्[1] । (6) **दुओश्वि गतिवृद्ध्योः** (भ्वा०)—अश्वयीत् ।

6 √**अट्** तथा √**पट्** धातु गति (घूमना फिरना, चलना) अर्थ में अकर्मक तथा सेट् हैं । √पट् धातु प्राप्ति, व्याप्ति, ढँकना अर्थ में भी है : पटति=आवृणोति, इति पटः=वस्त्रम् । अटति; पटति ।

लिट् में **अत आदेः** से दीर्घ होने से आट, आटतुः, आटुः । √पट् से कित् लिट् में एत्त्व तथा अभ्यासलोप—पपाट, पेटतुः, पेटुः; पेटिथ ।

लुङ् में 'आ+अट्+इ+स+ई+त्' स्थिति में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त

---

1. ऋ० 1.53.3 : **मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः** । वैदिक वाङ्मय में √उन् के केवल दो ही प्रयोग मिलते हैं : (1) प्रकृत तिङन्त **'मा···उनयीः'** पद तथा (2) 'ऊन' विशेषण पद । औनयीत्' आदि रूप उस समय व्यवहार में अवश्य आते होंगे ।

8 रट परिभाषणे ॥ 6 ॥ रराट । 9 लट बाल्ये ॥ 7 ॥ ललाट । 10 शट रुजा-विशरण-गत्यवसादनेषु ॥ 8 ॥ शशाट । 11 वट वेष्टने ॥ 9 ॥ ववाट, ववटतुः,

उड़ाना अर्थ में है ॥ 6 ॥ 9 √लट् बालपन में है ॥ 7 ॥ 10 √शट् (1) रोग, (2) विखरना, (3) गति और (4) दुःख देना अर्थों में है ॥ 8 ॥ 11 √वट् बँटने में

वृद्धि का निषेध नेटि से, हलादि न होने से **अतो हलोदर्लघोः** से वा वृद्धि प्राप्त नहीं होती : आ+अटीत्=आटीत् । √पट्से होती है : अपाटीत्-अपटीत् ।

8 √रट् धातु परिभाषण अर्थ में बताई है, किंतु प्रयोग में रटना, घोखना वार-वार वोलना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है । रूप √पट् की तरह चलते हैं । तोंता-रटंत ।

9 √लट् बचपना करना, बच्चों की तरह होना अर्थ में अकर्मक और सेट् है । रूप √पट् की तरह चलते हैं । लट्वा=लट, छोटी चिड़िया, लट्टू (क्षी० त०)[1] लाट=देश-विशेष ।

कुछ विद्वान् हिंदी के 'लड़का' की व्युत्पत्ति √लट् से बने 'लटक' से करते हैं । पर काम-सूत्र की टीका जयमङ्गला आदि में बहुशः प्रयुक्त[2], ध्वनि तथा अर्थ दोनों दृष्टियों से ही समान, 'लाडीक' से करना अधिक उचित है । लाडीकः—लाड्यते इति लाडीकः (लडाया जाता है इसलिये लाडीक होता है) ।

10 √शट् धातु रोग होना (पंजाबी में चोट लगना; सट वंझणा) फैलना, विखरना, खिँढणा, सड़ना, गति (सटना) तथा दुःखी करना (सकर्मक) एवम् सेट है । शटति; शशाट, शेटतुः; अशाटीत्-अशटीत् । शाटी=साड़ी । शाटकः=धोती ।

यहाँ काशकृत्स्न ने **शट निवासे, रुट विशरण-गत्यवसादनेषु** ये दो धातु दी हैं । श्री युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है कि पाणिनीय धातु-पाठ में स्यात् इन दोनों धातुओं का संकर हो गया है । अर्थात् 'रुजा' यह काशकृत्स्न की 'रुट' के स्थान पर आ कर अर्थ के रूप में परिणत हो गई है ।

11 √वट् धातु वेष्टन (लपेटना, रस्सी आदि बँटना) अर्थ में सकर्मक एवं सेट् है । वकारादि होने से **न शस-दद-वादि-गुणानाम्** से एत्व तथा अभ्यास-लोप का निषेध

---

1. तुलनीय मेदिनी कोष : **लट्वा, करञ्जभेदे फलेऽवद्ये खगान्तरे** । यह सुधाटीकाधृत पाठ है । चौखम्वा सं० में 'ऽवद्ये' की जगह 'वाद्ये' पाठ है ।
2. कामसूत्र 3 3.32 : **बालस्याङ्क-गतस्यालिङ्गनं चुम्बनं च करोतिः** । जयमङ्गला **'बालस्ये'ति लाडीकस्य स्वाङ्कमारोपितस्य** । पं० रामप्रसाद त्रिपाठी : **लडति=विलसति इति लाडकः—'लड विलासे'** धातु से ण्वुल् प्रत्यय हुआ है । परन्तु, यहाँ प्रयुक्त तो 'लाडीक' है, 'लाडक' नहीं ।

ववटुः; ववटिथ। 12 किट, 13 खिट त्रासे ॥ 10 ॥ केटति, खेटति। 14 शिट, 15 षिट अनादरे ॥ 11 ॥ शेटति; शिशेट; सेटति; सिषेट। 16 जट, 17 झट सङ्घाते ॥ 12 ॥ 18 भट भृतौ ॥ 13 ॥ 19 तट उच्छ्राये ॥ 14 ॥ 20 खट है ॥ 9 ॥ 12 √किट्, 13 √खिट् भय होने में है ॥ 10 ॥ 14 √शिट्, 15 √षिट् अनादर करने में है ॥ 11 ॥ 16 √जट्, 17 √झट् झुण्ड होने में है ॥ 12 ॥ 18 √भट् नौकरी करना, नौकर होना अर्थ में है ॥ 13 ॥ 19 √तट् ऊँचा होने में है ॥ 14 ॥ 20 √खट् चाहने में है ॥ 15 ॥ 21 √नट् हाव-भाव करते हुए नाचने

होता है : ववाट, ववटतुः। रज्जुं वटति रस्सी बँटता है (क्षी० त०)। वटकम्=बड़ा (पंजा० भल्ला), तमिल आदि वडा। वाटी=वाटी।

12 √**किट्** तथा 13 √**खिट्** धातु त्रास (डरपाना, डराना[1]) अर्थ में सकर्मक और (डरना[2] अर्थ में) अकर्मक एवम् सेट् हैं। आगे '**इट किट कटी गतौ** ॥ 24 ॥' दंडक में 30 √किट् का पाठ अर्थ-भेद के लिए होगा। लाघव के लिए यहीं **खिट त्रासे, किट गतौ च** देना अच्छा होता। क्षी० स्वा० √किट् यहाँ नहीं मानते। मैत्रेय, सायण मानते हैं। क्षी० त० में 'उत्त्रासे' अर्थ है।

14 √**शिट्** तथा 15 √**षिट्** धातु अनादर करना अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् हैं। **धात्वादेः षः सः**—√सिट्। शेटति, सेटति; शिशेट, सिषेट; अशेटीत्।

16 √**जट्** तथा 17 √**झट्** संघात करना (सकर्मक), संघात होना अर्थ में (अकर्मक) सेट् हैं। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार 'संघात' के दो अर्थ हैं—मिलाना (मिश्रीवभाव) तथा मारना (संहनन)। √जट् मिलाने में तथा √झट् मारने में है। √झट् से ही पञ्जाबी का 'झटका' शब्द निष्पन्न हुआ है। जटा=केश-संघात। हिंदी 'जड़' (पेड़-पौधों की) भी इसी से बना है। हिन्दी √झड़् √झट् से है।

18 √**भट्** नौकरी करना, पैसा लेकर काम करना अर्थ में (अकर्मक) सेट् है। भटति=भृतिं करोति, इति भटः रूढि से सिपाही। भटित्रम्=शूलाकृत (सींक पर पकाया हुआ) मांस। उणादिवृत्ति के अनुसार भाड़ा (वेतन)। भाटकम्=भाड़ा।

19 √**तट्** ऊँचा करना अर्थ में (सकर्मक) तथा ऊँचा होना अर्थ में (अकर्मक) एवम् सेट् है। लिट् में तताट, तेटतुः, तेटुः। लुङ् में अताटीत्-अतटीत्। तटः, तटी तटम्=किनारा; तटिनी=नदी। तटाकम्=तालाब (पाळ वाला)। 'तडाग', 'तळाव', 'तालाव' इसी से विकसित हैं।

20 √**खट्** चाहना, आवश्यकता में होना (सकर्मक) अर्थ में है। चखाट, चख-

---

1. मा० धा० वृ० : **इह त्रासो भयोत्पादनम्।**
2. क्षी० त० : **उत्त्रासो भयोद्गतिः।**

काङ्छायाम् ॥ 15 ॥ 21 णट नृत्तौ ॥ 16 ॥ 22 पिट शब्द-सङ्घातयोः ॥ 17 ॥ 23 हट दीप्तौ ॥ 18 ॥ 24 षट अवयवे ॥ 19 ॥ 25 लुट विलोडने ॥ 20 ॥

में है ॥ 16 ॥ 22 √पिट् आवाज़ करना और समूह बनाना, इकट्ठा करना अर्थों में है ॥ 17 ॥ 23 √हट् प्रकाश होने में है ॥ 18 ॥ 24 √षट् अवयव होने में है ॥ 19 ॥

टतुः; अखाटीत्, अखटीत् । क्षी०त० में काङ्क्षे (काङ्क्षाऽस्त्यस्येति काङ्क्षः । काङ्क्षा-विशिष्टे धात्वर्थे) पाठ है । खटः=तिनका । खटिका=खड़िया । खट्वा=खाट । हिंदी में √खट् आवश्यकता या शक्ति से अधिक श्रम करने में प्रयुक्त होती है ।

21 √णट् धातु नाचना अर्थ में अकर्मक है । **णोपदेशास्त्वनर्द-नाटि-नाथ-नाध-नन्द-नक्क-नृ-नृतः** में 'नाटि' से भिन्न को णोपदेश कहा है । 'नाटि' धातु चौरादि **णट अवस्यन्दने**[1] के ण्यंत रूप में निर्देश से होती है । अतः वह णोपदेश नहीं है । प्रस्तुत धातु तो णोपदेश है । किंतु क्षीरस्वामी अणोपदेश मानते हैं ।[2] पर यह उचित नहीं है ।[3] **णो नः** से ण् को न् हो जाता है । लिट् में नत्व के लिण्निमित्तादेश न होने से एत्वाभ्यास लोप होते हैं : ननाट, नेटतुः, नेटुः । अनाटीत्, अनटीत् । क्षीरतरङ्गिणी में 'नतौ', एकीय मत से अर्थांतर मिलता है । पुरुषकार की सूचना (**नृतौ, नृत्ताविति च क्षीरस्वामी**) के अनुसार 'नृति' तथा 'नृत्ति' अर्थ हैं ।

22 √**पिट्** शब्द करना (अकर्मक) तथा संघात करना अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् है । पेटा=पेटी, पिटः, पिटकः=कण्डोल (तृण, बाँस, बेंत इत्यादि का बना पात्र) । पिटकम्=फोड़ा (**विस्फोटः**—क्षी० स्वा०) ।

23 √**हट्** दीप्ति करना, प्रकाशित करना, चमकाना, दमकाना (सकर्मक), प्रकाशित होना आदि अर्थ में (अकर्मक) एवम् सेट् है । हाटकम्=सुवर्ण (कुन्दन) । हटति; जहाट, जहटतुः; हटिता; अहाटीत्-अहटीत् । हिंदी 'हट्टी', 'हाट' (दूकान, बाजार) सम्भवतः इसी धातु से निष्पन्न हैं । तुलनीय **वणिक्=पण्यं नेनेक्ति** (निरुक्त 2.17) ।

24 √**सट्** (णोपदेश) अवयव करना, हिस्से करना अर्थ में सकर्मक और सेट्

---

1. न्यास (2.3.56, स्वामी द्वारकादास संस्करण, पृष्ठ 217) में 'अवस्पन्दने' (ओष्ठ्य अघोष अल्पप्राण घटित) पाठ प्रूफ की भूल प्रतीत होती है । **णो नः** (6.1.65) पर न्यास में अन्तस्थ घटित पाठ ही उद्धृत है ।
2. पदमंजरी (2.3.56, स्वामी द्वारिकादास सं०, पृष्ठ 216,) में **'नट नृत्तौ' इत्यस्य तु घटादिपठितस्याग्रहणम्** कथन में दन्त्य नासिक्यस्पर्शवान् पाठ प्रमादपाठ है । **णो नः** पर पदमंजरी में अणोपदेश धातु के रूप में केवल चौरादिक ही बताई है ।
3. विशेष के लिए इसी धातु पर मा० धा० वृ० देखें ।

'डान्तोऽयम्' इत्यके। 26 चिट पर-प्रेष्ये ॥ 21 ॥ 27 विट शब्दे ॥ 22 ॥ 28 बिट आक्रोशे ॥ 23 ॥ बशादिः। 'हिट' इत्येके। 29 इट, 30 किट, 31 कटी गतौ ॥ 24 ॥ एटति; केटति; कटति। ईकारः 'श्वीदितो निष्ठायाम्'

25 √लुट् लोटने में है ॥ 20 ॥ कुछ लोग कहते हैं कि इस का अंतिम वर्ण ड् (√लुड्) है। 26 √चिट् दूसरे की चाकरी करना अर्थ में है ॥ 21 ॥ 27 √विट् आवाज करने में है ॥ 22 ॥ 28 √विट् जोर से चिल्लाने, कोसने में है ॥ 23 ॥ इसके आरंभ में वश् प्रत्याहार का वर्ण (पवर्ग का तीसरा व्यजंन) है। कुछ लोग कहते हैं कि यह √हिट् है। 29 √इट्, 30 √किट्, 31 √कट् गति अर्थ में हैं ॥ 24 ॥ (अंतिम धातु

है। ससाट, सेटतुः, सेटुः। सटा=सिंह की अयाल।

25 √लुट् विलोना, हिलाना अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् है। दुर्ग, सायण ने 'विलोडने' अर्थ दिया है। काश्यप, कौशिक, द्रविड तथा नंदी इसके बाद √पठ् तक सब धातुओं को डकारान्त मानते हैं।

26 √**चिट्** दूसरे की दासता करना, दूसरे से भेजा जाने योग्य होना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है। चेटः=नौकर, चेटिः, चेटी=नौकरानी।

27 √**विट्** शब्द करना अर्थ में, अकर्मक एवं सेट् है। क्षीर तरङ्गिणी में **'पिट शब्दे। अर्थभेदाद् द्विः पाठः।'** कहा है तथा एकीय मत से √पिड् धातु दी है। √विट् आक्रोश अर्थ में दी है। √विट् है ही नहीं। सायण के अनुसार यहाँ कुछ लोग √हिठ् धातु मानते हैं। नंदी के अनुसार √विड् है। इसके बाद क्षीरतरङ्गिणी में **हेड विबाधायाम्** धातु मिलती है।

28 √**बिट्** धातु पुकारना, भला बुरा कहना, निंदा अर्थ करना अर्थ में सकर्मक सेट् है। यह धातु बशादि (बकारादि) है। कुछ लोग कहते हैं कि यह **हिट** है। बेटति, बिबेट, बेटिता, अबेटीत्। हेटति, जिहेट, जिहिटतुः, हेटिता, अहेटीत्।

29 √**इट्**, 30 √**किट्** तथा 31 √**कट्** गति अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् हैं। एटति। इयेट—'इ+एट्+अ' स्थिति में **अभ्यासस्यासवर्णे** (6.4.78) से इयङ् होता है। ईटतुः—इ+इट्+अतुः; सवर्णदीर्घ होने पर ईट्+अतुः=ईटतुः। एटिता। ऐटित्—आ+इटीत्, **आटश्च**। केटति, चिकेट, अकेटीत्। कटति; चकाट, चकटतुः। एदित् न होने से वृद्धि-निषेध नहीं होता। **अतो हलादेर्लघोः** से वैकल्पिक वृद्धि होती है: अकाटीत्, अकटीत्।

31 **कटी** में 'ई' की इत्सञ्ज्ञा के कारण **श्वीदितो निष्ठायाम्** (7.2.14) से इट् का निषेध : कट्टः, कट्टवान्। कटकम्=छावनी, सेना, कड़ा (आभूषण)।

(7.2.14) इतीण्निषेधार्थः। केचित्तु इदितं मत्वा नुमि कृते 'कण्टति' इत्यादि वदन्ति; अन्ते च 'इ', 'ई' इति प्रश्लिष्य अयति; इयाय, इयतुः, इयुः; इययिथ, के पाठ में) दीर्घ इकार 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (7.2.14) से इट् के निषेध के प्रयोजन से है। किंतु कुछ लोग √कट् को इदित् मान कर नुम् करने पर 'कण्टति' इत्यादि रूप होते हैं, यह कहते हैं; और ('कटी' के) अंत में √इ तथा √ई का प्रश्लेष (कटि+

प्रस्तुत धातुसूत्र के योगविभाग पर आचार्यों के तीन पक्ष हैं :

(1) क्षी० स्वा० द्वारा सूचित 'अन्य आचार्य' तथा आचार्य मैत्रेय 'इट किट कटि ई' यह योग-विभाग मान कर यहाँ चार धातु उपदिष्ट मानते हैं।[1]

(2) संमताकार तथा तरंगिणीकार (आचार्य क्षीरस्वामी नहीं) 'इट किट कटि इ (ह्रस्व)' यह योगविभाग मानते हैं। इनके मत में इसका फल यह है कि **उदयति दिन-नाथो, याति शीतांशुरस्तम्** (मूल अज्ञात, क्षीरतरङ्गिणी में उद्धृत) तथा **उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ, हितधाम्नि याति चास्तम्** (माघ 4.20) श्लोकों में 'उदयति' शब्द इस प्रश्लेषलभ्य √इ के लट् तिप् में तथा शत्रन्त के सप्तम्येकवचनमें साधु सिद्ध हो जाता है। अन्यथा यह अशुद्ध ही रहेगा।

(3) आचार्य शाकटायन, धनपाल, पुरुषकार, सायण, हरदत्तमिश्र, जिनेंद्रबुद्धि तथा काशिकाकार 'इट किट कटी' ये तीन धातु ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मानते हैं (मा० धा० वृ०)। आचार्य पाणिनि भी इसी पक्ष को आशीर्वाद देते प्रतीत होते हैं। क्योंकि उन्होंने **शौट्रादय उदात्ता उदात्तेतः परस्मैभाषाः** लिखा है। इसके अनुसार ये प्रश्लिट धातु (√ई और √इ) भी उदात्त ही होने चाहिएँ। परन्तु सर्वाचार्यसम्मत अनिट् कारिकाओं के अनुसार ये अनुदात्त होनी चाहिएँ। जहाँ धातुपाठ में उदात्तों के मध्य अनुदात्त या अन्यथा धातु दिया है, वहाँ उन्होंने स्पष्ट रूप से इसका निर्देश धातु पाठ में किया है।[2] परन्तु प्रस्तुत स्थल में ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता। इससे सिद्ध है कि उन के मत में यह प्रश्लेष है ही नहीं।

आचार्य मैत्रेय ने इस पर यह कहा है कि जिस प्रकार 'यह भट्टों का ग्राम है'

---

1. क्षी० त० तथा मा० धा० वृ०।
2. धातुपाठ : 'तिप्यादय उदात्ता अनुदात्तेतः, आत्मने-भाषास्तिपिस्त्वनुदात्तः ··· मव्यादय उदात्ता उदात्तेतः परस्मैभाषाः, जिस्त्वनुदात्त। ···घुषिरादय उदात्ता उदात्तेतः परस्मैभाषा, घषिस्त्वनुदात्तः।··· कुचादय उदात्ता उदात्तेतः परस्मैभाषाः, रुहिस्त्वनुदात्तः। ···पचादयोऽनुदात्ताः स्वरितेत उभयतो-भाषाः, षचिस्तूदात्तः। और भी अनेक स्थल धातुपाठ में ऐसे हैं।

कहने से भट्टेतरों का अप्राधान्य तथा भट्टों का प्राधान्य (प्राचुर्य) सूचित होता है। उसी तरह √इ उदात्तों में रहते भी अनुदात्त रह सकता है।

इसके दो उत्तर हैं : (क) धातुपाठ में यह भट्ट-ग्राम-न्याय जब एक जगह भी आश्रित नहीं मिलता, स्पष्ट रूप से प्रधानेतरों का निर्देश अनेक स्थानों पर किया गया है, तो यहाँ ही यह न्याय कैसे मान लें ? (ख) जैसे कि पुरुषकार ने कहा है, यदि 'इ' आदि का प्रश्लेष यहाँ है ही, तो इसका सर्वथाऽबाधित निश्चय हो, तब तो यह न्याय मानना भी उचित है। परन्तु जब इतने लोगों को विप्रतिपत्ति है, तथा भगवान् पाणिनिका आशय भी प्रकारांतरेण इसके विपरीत ही प्रतीत होता है, तब यह न्याय मानने की अपेक्षा प्रश्लेष को न मानना ही अच्छा है।[1]

रहा माघ के समर्थन का प्रश्न। उसका उत्तर हरदत्त के अनुसार यह हो सकता है कि 'उदय' शब्द से आचार अर्थ में क्विप् करके लट् तथा शतृ करके उपर्युक्त रूप साधु सिद्ध हो सकते हैं।[2] अतः (1) मैत्रेय, (2) संमता तथा तरंगिणी का मत उचित नहीं है।

'कटि' योगविभाग मानने वाले उपर्युक्त (1-2) आचार्यों के मत में कण्टति, चकण्ट। क्षीरतरङ्गिणी : कण्टाफलम कटहल (पनसम्)। कण्टकम् काँटा। √इ, √ई अतिरिक्त मानने के पक्ष में दोनों धातु **ऊदृदन्तैः यौति०** कारिकोक्त न होने से अनुदात्त हैं, अतः अनिट हैं। तदनुसार अयति (सार्वधातुक गुण तथा अयादेश)। लिट् में इयाय —इ+इ+अ, **अचो ञ्णिति** से अभ्यासोत्तर 'इ' को वृद्धि तथा अयादेश : इ+आय्+अ इको इयङ् : इयाय। 'इ+इ+अतुः, में 'अतुस्' के **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित् होने से गुण-निषेध होनेपर **अकः सवर्णे दीर्घः** से प्राप्त सवर्ण दीर्घ को **वार्णादाङ्गं बलीयः** (प० 56) से बाध कर **एरनेकाचोऽसंयोग-पूर्वस्य** से अभ्यासोत्तर 'इ' को यण् हो जाता है : इ+य्+अतुः=इयतुः। इसी प्रका इयुः, इयथुः, इय।

थल् में 'इ+इ+थ' स्थिति में (1) ऋदंतभिन्न होने से भारद्वाज के मत में इट् तथा (2) **अचस्तास्वत्०** से इट् का निषेध, इस प्रकार वैकल्पिक इट् हो जाता है : (1) इ+इ+इथ। थल् के पित् होने से **सार्वधातुकार्ध०** से गुण होता है : इ+ए+इथ। अयादेश: इ+अय्+इथ, **अभ्यासस्यावर्णे** से अभ्यास के 'इ' को इयङ् : इयथिथ।

---

1. मा० धा० वृ० में उद्धृत पुरुषकारका मत—**स चायं न्यायः सुनिश्चित एवायतेः पाठे शोभते। विप्रतिपन्ने पुनरुदात्तत्वोक्त्याऽऽञ्जस्य-वशादपाठ एव ज्यायान्।**
2. मा० धा० वृ० में उदाहृत हरदत्त—**'उपसर्गस्यायतौ' इत्यत्रायतिरनुदात्तेत्। कथन्तर्हि 'उदयति विततोर्ध्व-रश्मि-रज्जाविति' परस्मैपदम् ? किमनेन वन्य-गज-शौचेन ? यदि वा पचाद्यजन्तादुदय-शब्दादाचार-क्विपि लट्।**

इयेथ; इयाय-इयय; दीर्घस्य तु 'इजादेः०' (2237) इत्यामि 'अयाञ्चकार' इत्याद्युदाहरन्ति ॥ 53 ॥

इ+ई=कटी) करके (√इ से) अयति, इयाय, इयतुः आदि और दीर्घ (√ई) को 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (2237) से आम् करने पर 'अयाञ्चकार' इत्यादि उदाहरण देते हैं ॥ 53 ॥

---

(2) इडभावपक्ष में गुण होने पर इ+ए+थ, **अभ्यासस्यासवर्णे** से अभ्यास के 'इ' को इयङ्: इय्+ए+थ=इयेथ ।

उत्तम पुरुष णल् में णित्त्व-विकल्प से **अचो ञ्णिति** से वृद्धि तथा **अभ्यासस्यासवर्णे** से इयङ् : इयाय । णित्त्वाभाव-पक्ष में गुण तथा अयादेश एवम् इयङ् : इयय ।

वस्, मस् में क्रादिनियम से लिट् में नित्य इट् होने पर इ+इ+इव । **एरनेकाचोऽसंयोग०** से अभ्यसोत्तर 'इ' को यण् होता है : इ+य्+इव=इयिव, इयिम ।

लुट् आदि में एता; एष्यति; अयतु; आयत्; अयेत्; ईयात्—**अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ; ऐषीत्—लुङ् में 'आ+इषीत्' स्थिति में **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** से वृद्धि : आ+ऐषीत्, **आटश्च** से आ+ऐ को वृद्धि एकादेश : ऐषीत् । ऐष्टाम्, ऐषुः, ऐषीः, ऐष्टम्, ऐष्ट, ऐषम्, ऐष्व, ऐष्म । मा भवान् ऐषीत् ।

लृङ् में ऐष्यत्, ऐष्यताम्, ऐष्यन्, ऐष्यः, ऐष्यतम्, ऐष्यत इत्यादि ।

'कटी' में अंत में प्रश्लिष्टत्वेन अभिमत √ई से लिट् में विशेष होता है, शेष लकारों में √इ के समान : √ई+लिट्, **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** से आम् : अयाञ्चकार, अयाम्बभूव, अयामास ॥ 53 ॥

नवम-वर्ग का विश्लेषण : दीक्षितजी ने इस वर्ग की धातुओं की संख्या का निर्देश नहीं किया है । क्षीरस्वामी ने यह संख्या 70 बताई है । इस वर्ग में एकीय धातु 14 हैं; दीक्षितजी की शैली एकीयों की गणना वर्ग की धातुओं में करने की है; अतः इन्हें मिलाकर इस वर्ग में 86 धातु हैं । एकीय धातुओं को धातु-पाठ में जोड़ना उचित नहीं है । अतः इस वर्ग में 72 ही धातु हैं । इनमें भी 4 धातु अर्थ-भेदेन, किन्तु रूपाभेदेन, पुनः पठित हैं;[1] अतः इन्हें भी पृथक् धातु के रूप में गिनना उचित नहीं है ।

---

1. (1) √**रट्** परिभाषण अर्थ में ही दो बार (8,45) आई है । यह उचित नहीं है : (क) 45 √**रट्** बिना किसी प्रयोजन के ठकारांतों में आ पड़ी है; (ख) क्षीरस्वामी, सायण ने इसे √**रठ्**(टवर्गद्वितीयांत)ही दिया है; टवर्ग-प्रथमांत की तो इन लोगों ने सूचना भी नहीं दी है । (2) √**किट्** (12,30) अर्थ-भेद से दो बार दी है; पर इसे 12 '**खिट त्रासे** ॥ 10 ॥ 13 **किट गतौ च** ॥ 11 ॥' के रूप में देते, तो

9.32 मडि भूषायाम् ॥ 25 ॥ 33 कुडि वैकल्ये ॥ 26 ॥ कुण्डति । 'कुण्डते' इति तु दाहे गतम् । 34 मुड, 35 प्रुड मर्दने ॥ 27 ॥ 36 चुडि

ख. नवम धातु-वर्ग : परस्मैपदी आ. ठ-डान्त 41 धातु

9.32 √मण्ड् मण्डन, अलङ्करण, सजाना, माँडना अर्थ में है ॥ 25 ॥ 33 √कुण्ड् विकल होने में है ॥ 26 ॥ कुण्डति । 'कुण्डते' यह (आत्मनेपदी) तो दाह अर्थ में जा चुका है । 34 √मुड्, 35 √प्रुड् मसलना, कुचलना अर्थ में हैं ॥ 27 ॥

अतः वस्तुतः यहाँ 68 धातु ही उपदिष्ट हैं, यह मानना उचित है । पर, धातु-पाठ में उपदेश की पद्धति के आधार पर धातु-पाठ के समाम्नाता को ये भी पृथक् धातु के रूप में ही अभीष्ट हैं, यह प्रतीत होता है । अतः हमने मूल में प्रसंख्यान उसी के अनुसार किया है ।

38 √रुण्ट्, 39 √लुण्ट् डकारांतों में शायद इदित्त्व की समानता से ही हैं, पर 40 √स्फुट् को यहाँ देने का तो यह कारण भी नहीं है, कदाचित् 'केचित्' वाली √स्फुण्ट् (इदित्) ही तो मौलिक नहीं है ? ठकारांत धातु डकारांतों के मध्य न जाने क्यों दी हैं ?

पिछले वर्ग की आत्मनेपदी 19 √मण्ड् और 22 √मुण्ड् भी अथ-भेद से यहाँ 32 वीं और 22 वीं धातुओं के रूप में परस्मैपदित्वेन पुनः पठित हैं ।

34 √मुड् तथा √प्रुड् मर्दन करना, मलना, मोड़ना अर्थ में सकर्मक एव सेट् हैं । क्षी०त० तथा मा०धा०वृ० में 'प्रमर्दन' अर्थ है । यह क्षी०त० में मुडि, मा०धा० वृ० में √मुट्, धनपाल के मत में √मुड्, शाकटायन के मत में √पुड्, क्षी०त० के एकीय मत में √पुण्ड् (पुण्ड्रः=पोंडा, इक्षुविशेष, तथा अश्व का अथवा सामान्य तिलक) है ।

36 √चुण्ड् थोड़ा पड़ना, कम पड़ना, कम होना, घटना (अकर्मक) तथा चूँडना, चूँटना अर्थ में (सक०) सेट् है । कुछ लोग √चुण्ट् तथा दुर्ग √चुट् मानते हैं । हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों (हरियाणवी आदि) में ये चूंटणा, चूंडणा के रूप में उपलब्ध हैं ।

हर तरह से लाघव होता । (3) √लुण्ठ् (54,57) को भी 54 'लुठि आलस्ये गतौ च ॥ 43 ॥' के रूप में देकर 'च' से 'प्रतिघाते' का अनुकर्षण लघु होता । (4) √गण्ड् (3.29, पृष्ठ 267 तथा 9.72, पृष्ठ 342) भी निष्प्रयोजन पुनरुक्त है । वैसे, इसका सही स्थान यहीं है ।

अल्पी-भावे ॥ 28 ॥ 37 मुडि खण्डने ॥ 29 ॥ मुण्डति । 'पुडि च' इत्येके । पुण्डति ।

38 रुटि, 39 लुटि स्तेये ॥ 30 ॥ रुण्टति, लुण्टति । 'रुठि, लुठि' इत्येके । 'रुडि, लुडि' इत्यपरे । 40 स्फुटिर् विशरणे ॥ 31 ॥ इरित्वादङ् वा —अस्फुटत्, अस्फोटीत् । 'स्फुटि' इत्यपि केचित् । इदित्वान्नुम्—स्फुण्टति ।

36√चुण्ड् थुड़ना, कम होना अर्थ में है ॥ 28 ॥ 37√मुण्ड् टुकड़े-टुकड़े करने में है ॥ 29 ॥ कोई लोग √पुण्ड् भी मानते हैं ।

38√रुण्ट्, 39 √लुण्ट् चुराने (लूटने) में है ॥ 30 ॥ कुछ लोग धातु '√रुण्ठ्, √लुण्ठ् हैं', यह कहते हैं, दूसरे लोग '√रुण्ड्, √लुण्ड् हैं', यह कहते हैं । 40 √स्फुट् खिलना, फूटना अर्थ में है ॥ 31 ॥ इर् की इत्संज्ञावाली होने के कारण अङ् विकल्प से होता है—अस्फुटत्, अस्फोटीत् । √स्फुण्ट् भी कुछ लोग मानते हैं । इत् की इत्संज्ञा वाला होने से नुम् होता है—स्फुण्टति ।

---

37 √मुण्ड् काटना, मूँडना अर्थ में (सकर्मक एवं सेट्) है । मैत्रेय के मत में यह √पुडि है । क्षी०त० में इसके बाद **वटि विभाजने** है । √हिंदी √बँट् (अक०), √बाँट् (सकर्मक) ।

40 √स्फुट् (इरित्) फोड़ना, बिखेरना (सकर्मक सेट्) हैं । का०कृ०धा०पा० में यह विकास (खिलना) में भी है । स्फोटति । लुङ् में **इरितो वा** से वा अङ्, ङित्वाद् गुणनिषेध : अस्फुटत् । अङभावपक्ष में लघूपध गुण : अस्फोटीत् । स्फोटः । तुदादि में यह फूटना, बिखरना अर्थ में अकर्मक है । स्फोटति फोड़ता है । स्फुटति फूटता है, खिलता है ।

क्षी०स्वा० ने यहाँ **स्फटि** भी दी है । उनका कहना है कि नंदी तथा स्वामी ने √स्फण्ट् की जगह √स्फट दी है । हिन्दी में इसका विकास फटना, फाटणा, पाटणा, फाडणा के रूप में है । वस्त्रं स्फटति (क्षी०स्वा०) कपड़ा फटता है, कपड़ा पाट्टै सै । स्फटिक । सायण ने भी इस धातु को स्वामी और काश्यप के नाम से दिया है । उनके कथन के अनुसार इन दोनों आचार्यों के मत में यहाँ **स्फुठि** (√स्फुण्ठ्) भी है । चान्द्र धातु-पाठ में इरित् के स्थान में अदित् √स्फुट् सायण ने बताई है । केवल स्फुटिर् सायण के अनुसार मैत्रय आदि के मत में है । मा०धा०वृ० (चौ०सं०) में यह धातु ठान्त है, या टान्त, यह स्पष्ट नहीं है । ठकारान्तों का प्रकरण होने के कारण √स्फुठ् (ठान्त) पाठ उचित है ।

41 √पठ बोलना, पढ़ना अर्थ में है । पठति; पपाठ, **पेठतुः—अत एक-**

41 पठ व्यक्तायां वाचि ॥ 32 ॥ पेठतुः, पेठिथ; अपाठीत्-अपठीत् । 42 वठ स्थौल्ये ॥ 33 ॥ ववठतुः, ववठिथ । 43 मठ मद-निवासयोः ॥ 34 ॥ 44 कठ कृच्छ्र-जीवने ॥ 35 ॥ 45 रट परि-भाषणे ॥ 36 ॥ 'रठ' इत्येके । 46 हठ प्लुति-शठत्वयोः ॥ 37 ॥ 'बलात्कार' इत्येके । हठति; जहाठ । 47 रुठ, 48 लुठ, 49 उठ उपघाते ॥ 38 ॥ ओठति । 'ऊठ' इत्यके—ऊठति;

41√पठ् साफ बोलना अर्थ में है ॥ 32 ॥ 42 √वठ् मोटा होने में है ॥ 33 ॥ 43√मठ् नशा, मस्ती होने और मस्त रहने में है ॥ 34 ॥ 44 √कठ् कठिनाई का जीना अर्थ में है ॥ 35 ॥ 45√रट् खिल्ली उड़ाना अर्थ में है ॥ 36 ॥ कुछ लोग √रठ् मानते हैं । 46 √हठ् उछलना और शठ होना अर्थ में है ॥ 37 ॥ 'जबर्दस्ती करना अर्थ में है', यह कुछ लोग कहते हैं । 47 √रुठ्, 48 √लुठ्, 49 √उठ् चोट करने में

हल्मध्ये० से एत्त्वाभ्यासलोप । अपाठीत्, अपठीत्—**अतो हलादेर्लघोः** से वृद्धि-विकल्प ।

42 √**वठ्** मोटा होने में अकर्मक, सेट् है । वकारादि होने से लिट् में एत्त्व तथा अभ्यास लोप का निषेध **न शस-दद-वादि-गुणानाम्** से होता है । लुङ् में अवाठीत्, अवठीत् । वठरः मोटी अक्ल वाला (मन्दबुद्धि)—क्षीरस्वामी ।

43 √**मठ्** मद होना तथा निवास करना, रहना, अर्थ में अकर्मक और सेट् हैं । मठति; ममाठ, मेठतुः; अमाठीत्, अमठीत् । मठरः=अधम (क्षी०स्वा०) । मठश्छात्रादि-निलयः (अमरकोष) । अमरकोष के 'आदि' से साधुओं का ग्रहण हो सकता है । आज यह साधुओं के निवास में रूढ है । मठिका=मढिया, मढी ।

44 √**कठ्** कठिनता से जीना अर्थ में अकर्मक है । मैत्रेय इन धातुओं का पाठ **मठ कठ मद-निवासयोः** मानते हैं । दीक्षित जी ने क्षी०स्वा० का अनुसरण किया है । मा मवानठीत् । कठिन । कठोर । कठति; चकाठ; कठिता; अकाठीत्, अकठीत् । क्षीरस्वामी ने इसके बाद **अठ गतौ** भी दी है : अठति, आठ, मा भवान् अठीत् ।

46 √**हठ्** धातु प्लुति (उछलना, शीघ्रता करना) तथा शठता करना (हठ करना, धूर्तता करना) अर्थ में अकर्मक एवम् सेट् है । काशकृत्स्न, चंद्र तथा दुर्ग इसे 'बलात्कार' (जबर्दस्ती करना,) हठ करना अर्थ में मानते हैं । क्षी०स्वा० **प्लुति-शंकु-बन्धनयोः—प्लवने, कीलबन्धने चार्थे** मानते हैं । हठति; जहठतुः; अहाठीत्, अहठीत् । हठ ।

47 √**रुठ्** 48 **लुठ्** और 49 √**उठ्** धातु उपघात (टकरा कर लुढ़कना) अर्थ में अकर्मक तथा सेट् हैं । क्षी०स्वा० ने यहाँ केवल √उठ् देकर √रुठ् और √लुठ् को दुर्ग-सम्मत बताया है । धनपाल, मैत्रेय और शाकटायन ने ये दो ही मानी हैं । √उठ् को मैत्रेय ने एकीय बताया है । दीक्षितजी ने यहाँ √ऊठ् को भी एकीय मत से दिया है । पर यह न अन्य धातु-पाठों में धृत है और न ही इनके अतिरिक्त किसी

ऊठांचकार । 50 पिठ हिंसा-संक्लेशनयोः ॥ 39 ॥ 51 शठ कैतवे च ॥ 40 ॥ 52 शुठ प्रतिघाते ॥ 41 ॥ शोठति । 'शुठि' इति स्वामी—शुण्ठति । 53 कुठि च ॥ 42 ॥ कुण्ठति । 54 लुठि आलस्ये प्रतिघाते च ॥ 43 ॥ 55 शुठि

हैं ॥ 38 ॥ कुछ लोग (√उठ् के स्थान में) √ऊठ् मानते हैं। 50 √पिठ् हिंसा और कष्ट पहुँचाने (पीटने) में है ॥ 39 ॥ 51 √शठ् धूर्तता करने में है ॥ 40 ॥ 52 √शुठ् रुकावट डालने में है ॥ 41 ॥ '√शुण्ठ् है,' यह क्षीरस्वामी कहते हैं। 53 √कुण्ठ् भी (रुकावट डालने में है) ॥ 42 ॥ 54 √लुण्ठ् आलस करने और रुकावट

आचार्य ने उद्धृत या सूचित ही किया है। मा०धा०वृ० में मैत्रेय द्वारा उद्धृत (**अत्र मैत्रेय 'उठेत्यप्येक' इति**) एकीय धातु कदाचित् √**ऊठ्** ही है और मुद्रित ह्रस्ववान् पाठ प्रूफ की गलती हो सकती है। इजादि गुरुमान् होने से आम् : ऊठाञ्चकार, ऊठामास। औठीत्। मा भवान् ऊठीत्।

50 √**पिठ्** हिंसा (पीटना) तथा क्लेश देना (तकलीफ देना) अर्थ में सकर्मक एवं सेट् है। पिठरम् थाली। पेठति, पिपेठ, पिपिठतुः; पेठिता; अपेठीत्; अपेठिष्यत्।

51 √**शठ्** कैतव (छल-छन्द रचना, कपट) करना अर्थ में भी है। यह अकर्मक तथा सकर्मक एवम् सेट् है। पुरुषकार, सायण को पिछली धातु के अर्थों का अनुकर्षण भी इष्ट है, क्षी०स्वा० तथा का०कृ० को केवल कैतव। शठः=ढीठ, धूर्त।

52 √**शुठ्** टकराना अर्थ में सकर्मक है। क्षी०स्वा० और सायण गति के प्रतिघात में तथा धनपाल केवल प्रतिघात में मानते हैं। का०कृ०, धनपाल, सायण और दुर्ग के मत में धातु √शुठ् है। शोठति। क्षी०स्वा० ने √शुण्ठ् (इदित् होने से नुम् वाली) दी है। शुण्ठति। यह शोषण अर्थ में भी है।

53 **कुण्ठ्** भी प्रतिघात अर्थ में ही है। कुण्ठित=प्रतिहत, खूंढा, भोथरा। हिन्दी के साहित्यकारों को, विशेषकर कवियों को, कुंठा' बहुत प्रिय है। कुठारः—**कुण्ठेर्नलोपश्च** (सरस्वती-कण्ठाभरण 2.3.43)।

54, 57 √**लुण्ठ्**, 56 **रुण्ठ्**, आलस करना, प्रतिघात (क्षी०स्वा० : गति का प्रतिघात), टकराना तथा गति अर्थ में सकर्मक है। क्षी०स्वा० ने इन अर्थों में केवल रेफादि (√रुण्ठ्) दी है, तथा गति अर्थ में इन्हें पुनः दिया है। धा०प्र०, मा०धा०वृ० में लकारादि ही है। मा०धा०वृ० में धातु अदित् छपी है, जबकि उदाहरण इदित् का है। अदित् पाठ प्रूफ की गलती लगती है। सायण ने 57वीं को अर्थभेद से पुनः पठित बताया भी है। रुण्ठति; लुण्ठति; लुलुण्ठ; अलुण्ठीत्। 54 √लुण्ठ धा०प्र० के अनुसार है।

55 √**शुण्ठ्** सूखना (अकर्मक), सुखाना (सकर्मक) है। कौशिक ने यह नहीं दी

शोषणे ॥ 44 ॥ 56 रुठि, 57 लुठि गतौ ॥ 45 ॥

58 चुड्ड भाव-करणे ॥ 46 ॥ भाव-करणम्=अभिप्राय-सूचनम् । चुड्डति; चुचुड्ड । 59 अड्ड अभियोगे ॥ 47 ॥ अड्डति; आनड्ड । 60 कड्ड कार्कश्ये ॥ 48 ॥ कड्डति । चुड्डादयस्त्रयो दोपधाः, तेन क्विपि चुत्, अत्, कत् इत्यादि । 61 क्रीड़ विहारे ॥ 49 ॥ चिक्रीड । 62 तुड़ तोडने ॥ 50 ॥

डालने में है ॥ 43 ॥ 55 √शुण्ठ् सूखने, सुखानें में है ॥ 44 ॥ 56 √रुण्ठ्, 57 √लुण्ठ् गति अर्थ में हैं ॥ 45 ॥

58 √चुड्ड् भाव-करण अर्थ में है ॥ 46 ॥ भाव-करण माने अभिप्राय को सूचित करना है । 59 √अड्ड् लगाव (लगन) होने में है ॥ 47 ॥ 60 √कड्ड् कड़ा होने में है ॥ 48 ॥ √चुड्ड् आदि तीनों उपधा में दकार वाली हैं, इसलिये क्विप् में चुत्, अत्, कत् इत्यादि रूप होते हैं ।

61 √क्रीड् विहार करना अर्थ में है ॥ 49 ॥ 62 √तुड् तोड़ना अर्थ में

है । क्षी०त० में यह अर्थ-भेद से दो बार आई है । शुण्ठति, शुण्ठिता, शुण्ठ्यात्, अशुण्ठीत् । शुण्ठी=सोंठ (सुखाई हुई अदरक) ।

58√**चुड्ड्** अभिप्राय प्रकट करने में है । 59 √**अड्ड्** लगना, लगाव होना अर्थ में अकर्मक है । 60 √**कड्ड्** कठोर, कड़ा होने में है । यह धातु क्षी०त० में यहाँ नहीं है, अपितु अन्तिम √गण्ड से पूर्व दी है । ये धातु क्षी०त० में वा दोपध मानी है, मा०धा०वृ० में नित्य । इससे सबके क्विप् में, और √अड्ड् के सन् और चङ् में भी रूप-विकल्प प्राप्त होता है : चुत्, चुट्; अत्, अट्; कत्, कट् । '√अड्ड्+इस' स्थिति में **अजादेर्द्वितीयस्य** से द्वितीय एकाच् 'ड्डि' को द्वित्व प्राप्त हुआ । पर **नन्द्राः संयोगादयः** से दकार (ष्टुत्वके असिद्ध होने के कारण) से रहित 'डि' को ही द्वित्व होता है तथा रूप 'अड्डिड्डिषति' बनता है । दोपधत्वाभाव-पक्ष में 'अडिड्डिषति' । इसी प्रकार चङ् में आड्डिडत्, आडिड्डत् । क्षी०स्वा० : चुड्डम्=भग । हिन्दी का 'चूत' √चुड्ड् से निष्पन्न 'चुत्' ही प्रतीत होता है । संभोगाभिप्राय को अपने विशेष स्फुरण (फुरफुराने) गन्ध तथा आर्द्रता से व्यक्त करने के कारण भग का यह नाम पड़ा हो सकता है । काम-शास्त्र में 'भाव' से 'रति' अभिहित होती है । कदाचिद् यहाँ का 'भाव-करण' शब्द 'रति-क्रिया' अर्थ में न हो ।

61 √**क्रीड्** आनन्द करना, मौज करना अर्थ में बताई है । खेल का उद्देश्य यही होता है । अतः √क्रीड् खेलना अर्थ में रूढ है । क्रीडति, चिक्रीड, क्रीडिता, अक्रीडीत्, अक्रीडिष्टाम् । क्रीडा । √खेड् (गुजराती), √खेल् √क्रीड् से विकसित लगती हैं ।

62 √**तुड्** तोड़ना (क्षीरस्वामी : द्रावण, पुरुषकार और सायण : दारण और

तोडति; तुतोड। 'तूड्' इत्यके। 63 हुड्, 64 हूड्, 65 होड् गतौ ॥ 51 ॥ हुड्यात्; हूड्यात्; होड्यात्। 66 रौड् अनादरे ॥ 52 ॥ 67 रोड्, 68 लोड् उन्मादे ॥ 53 ॥

69 अड उद्यमे ॥ 54 ॥ अडति; आड, आडतुः, आडुः। 70 लड विलासे ॥ 55 ॥ लडति। ल-डयोर्ल-रयोश्चैकत्व-स्मरणाल् 'ललति' इति स्वाम्यादयः। 71 कड मदे ॥ 56 ॥ कडति। 'कडि' इत्येके—कण्डति। 72 गडि वदनैक-देशे ॥ 57 ॥ गण्डति।

इति टवर्गीयान्ताः ॥ 54 ॥

हिंसन) अर्थ में है। क्षीरस्वामी, शाकटायन √तूड् (दीर्घोपध) मानते हैं। दुर्ग, देव, है ॥ 50 ॥ कोई आचार्य √तूड् मानते हैं। 63 √हुड्, 64 √हूड्, 65 √होड् गति में हैं ॥ 51 ॥ 66 √रौड् अनादर में है ॥ 52 ॥ 67 √रोड्, 68 √लोड् उन्माद में हैं ॥ 53 ॥

69 √अड् ऊँचा करने में है ॥ 54 ॥ 70 √लड् विलास करने में है ॥ 55 ॥ 'ल् और ड् को तथा ल् और र् को एक बताने की परम्परा के कारण 'ललिन' होता है', यह क्षीरस्वामी आदि कहते हैं। 71 √कड् मद होने में है ॥ 56 ॥ कुछ लोग √कण्ड् मानते हैं। 72 √गण्ड् मुँह के एक हिस्से (गाल) की क्रिया में है ॥ 57 ॥ गण्डति।

इस प्रकार अंत में टवर्गीय वर्ण वाली धातु समाप्त हुई ॥ 54 ॥

पुरुषकार और सायण ने ह्रस्ववान् ही मानी है। तोडति; अतोडीत्। √तूड् से तूडति, तुतूड, तूडिता, तूड्यात्, अतूडीत्। 63 √हुड्, 64 √हूड् और 65 √होड् गति अर्थ में हैं। क्षी० त०, मा० धा० वृ० में क्रम √हूड्, √हुड्, √होड् (क्षी० त० : √हौड्) है। पुरुषकार के अनुसार चंद्र और मैत्रेय यहाँ √हुड् को नहीं मानते। धनपाल और शाकटायन √हौड् (या √होड्) को नहीं मानते। चंद्र, मैत्रेय और सायण ने तीसरी धातु ओकारवान् मानी है। हूडः=बकरा (क्षी० त०)। होडति, जुहोड, जुहुडतुः; जुहुडुः; हूडति, जुहूडु, जुहूडतुः; होडति; जुहोड, जुहोडतुः। तीनों धातुओं का स्पष्ट भेद प्रदर्शित करने को दीक्षितजी ने आशीर्लिङ् के रूप दिये हैं। 66 √रौड् अनादर अर्थ में सकर्मक है। सायण ने इसके स्थान पर √काड् दी है। 67 √रोड्, 68 √लोड् के स्थान पर क्षी० त० में एक √लौड् ही है। उन्माद (चित्त-भ्रम होना) अर्थ है। 61√क्रीड् से 68√लोड् तक की 8 धातु उपदेश में ऋदित् हैं; अतः इनसे णिच्, लुङ् में उपधा-ह्रस्व नहीं होता : अचिक्रीडत्; अतुतोडत्।

69 √अड् उठा होना, अड़ना, रुकावट डालना अर्थ में अकर्मक है। अडति; आड, आडतुः, आडुः; अडिता; आडीत्, मा भवान् अडीत्। अडः=बिच्छू का डंक

अथ पवर्गीयान्ताः—

(क) 10 तत्र अनुदात्तेतः स्तोभत्यन्ताश्चतुस्त्रिंशत्—

पवर्गीयान्त धातु : क. दशम धातु-वर्ग : 34 आत्मनेपदी

अब अंत में पवर्गीय वर्ण वाली वाली धातु हैं :

(क) 10 उनमें अनुदात्त की इत्संज्ञा वाली धातु √स्तुभ् तक चौंतीस हैं—

(सायण : **वृश्चिकलाङ्गूलम्**)। विच्छू के डंक के समान तीखे स्वभाव का (असहिष्णु) होने के कारण व्यड एक ऋषि-विशेष, उसका पुत्र व्याडि। उसी प्रकार हिंसा को सदा उद्यत शेर आदि पशु : व्याड—व्याल। हिंदी में यह √अड़ है। 70 √**लड्** हाव-भाव दिखलाना, इठलाना, अर्थ में अकर्मक तथा दुलराना अर्थ में सकर्मक है। लडति; ललाड, लेडतुः, लेडुः; लडिता; अलाडीत्, अलडीत्। दुलराया जाता है, इसलिये लाडीकः लड़का। जो 'ड्' वाली धातु हैं, वे 'ल्' वाली के रूप में भी दृष्ट होती हैं, अतः √लल्। ललना, ललना=प्रमदा। लाडः=दुलार; लाल=दुलारा; लाडी, लाली=दुलारी। **मयि लल ललने** (वा० रा०, सुन्दरकाण्ड 20.35) **परिलल ललने, ललितम्** (क्षी० त० में उद्धृत)।

धातु-योग : दीक्षित जी—गत 293, वर्तमान में धातु-संख्या बताई नहीं है। शैली के आधार पर 86 हो सकती हैं, अतः योग 379; हमारे मत में—288 गत, वर्तमान में परिगणित 72, अतः कुल 360 हैं। 4 धातु छोड़ी जा सकती हैं, अतः 356 हो सकती हैं। ॥ 54 ॥

संदर्भ : पिछले दो (8-9) धातु-वर्गों में टवर्गीयान्त धातु आ चुकी हैं। तवर्गीयान्त धातु इसके बाद दी जानी चाहियें। पर धातु-पाठ के आरम्भ में सत्ता और वृद्धि अर्थ की वाचक √भू और √एध् को मंगलार्थ दिया होने से कुछ तवर्गीयान्त धातु √एध् के पश्चात् दो (2-3) वर्गों में दी जा चुकी हैं, तथा कुछ आगे द्युतादि गण में अभिप्रेत कार्य-विशेष के लिये 19 वें वर्ग में दी जायेंगी। अतः यहाँ टवर्गीयान्तों के पश्चात् पवर्गीयान्त धातु अगले दो वर्गों में—(क) दसवें वर्ग में आत्मनेपदी, और (ख) ग्यारहवें वर्ग में परस्मैपदी—दी जा रही हैं।[1]

दशम धातु-वर्ग का विश्लेषण : दीक्षितजी ने इस वर्ग में 34 धातु बताई हैं। यहाँ (1) 2 √तेप्, 5 √ग्लेप्, 16 √लम्ब्, ये तीन धातु अर्थ-भेद से दो-दो बार पठित हैं। 23 √अभि, 24 √रभि एकीय मत में हैं; 33 √स्रम्भु धातु-पाठ में दीक्षितजी द्वारा यहाँ दी न होते हुए भी उन्हें 22 वें धातु-सूत्र में अभीष्ट हैं। इन सब

---

1. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 82, धातु-संख्या 357 के बाद : **तवर्गान्ताः केचन एधत्यादयो गताः, केचन द्युतादौ वक्ष्यन्ते। इति क्रम-प्राप्तानात्मनेपदिनः पवर्गान्तानाह—।**

1 तिपृ, 2 तेपृ, 3 ष्टिपृ, 4 ष्टेपृ क्षरणार्थाः ॥ 1 ॥ आद्योऽनुदात्तः । क्षीरस्वामी तु 'अयं सेट्' इति बभ्राम । तेपते; तितिपे; क्रादिनियमादिट्—

10.1 √तिप्, 2 √तेप्, 3 स्तिप्, 4 √स्तेप् झरना, चूना अर्थ वाली हैं ॥ 1 ॥ पहली धातु अनुदात्त है; क्षीरस्वामी को तो 'यह सेट् है', यह भ्रम हुआ है । तितिपिषे

को यदि जोड़ें, तो कुल धातु 37 होती हैं । यदि (1) तीन पुनः पठितों को अलग धातु न गिनें, तो यह संख्या 34 हो जाती है । अथवा यदि (2) क्वाचित्कत्वेन प्रोक्त 23 अभि, 24 रभि और 22 वें धातु-सूत्र में दंत्यादित्वेन अभिमत √स्रम्भ् को न लें, तीन पुनः पठितों को ले लें, तब भी संख्या 34 हो जाती है । दीक्षितजी ने (1) अर्थांतर से पुनः-पठितों को तो धातु-संख्या में जोड़ा है,[1] और (2) एकीय धातुओं को अपनी धातु-संख्या में (क) कहीं जोड़ा है, तो (ख) कहीं छोड़ा है,[2] अतः यहाँ उन्हें एकीयों को जोड़ना ही अभीष्ट प्रतीत होता है । यों (1) यदि कथमपि रूप-भेद नहीं होता हो, तो भिन्न-भिन्न अर्थों का निर्देश एक साथ ही किया जाना उचित है; उन्हें पृथक् धातु मानकर धातु-संख्या बढ़ाना उचित नहीं है; (2) एकीयत्वेन प्रोक्त तथा अभिप्रेत धातुओं को भी धातु-पाठ की धातुओं में जोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि एकीय धातु तो पाठ-भेद, मत-भेद आदि का परिणाम हैं, वे धातु-पाठ की मौलिक धातु नहीं हैं । इस लिये इन दोनों तरह की धातुओं को गिनती में जोड़ना उचित नहीं है । अतः इस वर्ग में धातुओं की वास्तविक संख्या तो 31 ही है । किन्तु दीक्षितजी के अभिप्राय का आदर करते हुए उनकी 34 संख्या की पूर्ति अर्थांतर के कारण पुनः पठितों को जोड़कर करने की अपेक्षा क्वाचित्कत्वेन सही, पर पृथक् रूप में उपलब्ध धातुओं को जोड़ कर करना उचित समझा है ।

10.1 **√तिप्**, 2 **√तेप्**, 3 **√स्तिप्** और 4 **√स्तेप्** झरना, रिसना अर्थ में हैं । प्रथम तथा तृतीय इकारोपध है; द्वितीय और चतुर्थ एकारोपध । तीसरी, चौथी षोपदेश हैं । प्रथम √तिप् **आप्-क्षिप्-छुपि-तप्-तिपः** (अनिट्-कारिका 4) में पठित होने से अनुदात्त, और अत-एव अनिट् हैं । तेपते; तितिपे, तितिपाते, तितिपिरे—कित्त्वाद् गुण-निषेध । 'तिप्+थास्' में 'ति+तिप्+से' स्थिति में वलादि लक्षणक इट् को **एकाच उपदेशे०** से निषेध होने पर **कृ-सृ-भृ-वृ०** इत्यादि नियम से नित्य इट् हो जाता है : ति+तिप्+इसे, थास् के कित् होने से **पुगन्तलघूपस्य च** से गुण नहीं होता । प्रत्यय का सकार होने से **आदेश-प्रत्यययोः** से मूर्धन्यादेश हो जाता है : तितपिषे ।

---

1. धातु-वर्ग, संख्या 3-5 का विश्लेषण देखें ।
2. (क) धातु-वर्ग, संख्या 4, 7-8, (ख) धातु-वर्ग, संख्या 4-5 का विश्लेषण ।

तितिपिषे; तेप्ता; तेप्स्यते। 2300 लिङ्-सिचावात्मने-पदेषु (1.2.11)—इक्समीपाद्धलः परौ झलादी (1) लिङ्, (2) आत्मनेपदः-परः सिच्च इत्येतौ कितौ स्तः। कित्त्वान्न गुणः—तिप्सीष्ट, तिप्सीयास्ताम्, तिप्सीरन्। लुङि 'झलो झलि' (2281) इति स-लोपः—अतिप्त, अतिप्साताम्, अतिप्सत। तेपते; तितेपे। तिष्टिपे, तिष्टिपाते, तिष्टिपिरे। तिष्टेपे, तिष्टेपाते, तिष्टेपिरे। 2 तेपृ में 'कृ-सृ-भृ-वृ०' (2293) आदि के नियम से इट् होता है। 2300 इ, उ, ऋ और लृ के निकट स्थित हल् के पश्चात् स्थित, तथा आदि में झल् प्रत्याहार के वर्ण (वर्गों के प्रथम चार स्पर्श तथा ऊष्म) वाला (1) लिङ् और (2) बाद में आत्मनेपद से युक्त सिच्, ये दो कित् होते हैं। कित् होने के कारण गुण नहीं होता—तिप्सीष्ट। लुङ् में 'झलो झलि' (2291) से स् का लोप होता है—अतिप्त। 2 √तेप् काँपने, हिलने में

ध्वम्, वहि, महिङ् में भी **कृ-सृ-भृ०** (22) इत्यादि से ही इट् होता है : तितिपिध्वे; तितिपिवहे, तितिपिमहे।

2 √तेपृ आदि से तो तितेपे, तितेपाते, तितेपिरे, तितेपिषे (**आर्ध-धातुकस्येड् वलादेः** से इट्) इत्यादि। 1 √तिप् से लुट् तथा लृट् में तेप्ता, तेप्स्यते। 2 √तेप् से तेपिता; तेपिष्यते।

2300 लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु (2.2.99)—इको झल् हलन्ताच्च (10), असंयोगाल्लिट् कित् (5)। इकः हलन्तात् झल् लिङ्-सिचौ आत्मनेपदेषु कित्।

'इकः' 6.1 में षष्ठी 'सामीप्य' अर्थ में है। इसका अन्वय 'हलन्तात्' से है : इकः समीपाद् हलन्तात्। 'हलन्तात्' पद में 'अन्त' शब्द अपेक्षित नहीं है। क्योंकि एकाच् धातुओं में इक्-सामीप्य होने पर हलंतता तो स्वयं ही हो जाती है। अतः 'हलः' पद ही लाघव के कारण दीक्षितजी ने लिया है।

'झल्' शब्द 'लिङ्-सिचौ' का विशेषण है। लिङ् तथा सिच् झल्-स्वरूप अभिप्रेत नहीं हैं। अतः यहाँ तदादि-विधि होती है, तथा 'झल्' विशेष्य-निघ्न होने से प्रथमा-द्विवचनांत में परिणत होता है : झलौ=झलादी, लिङ्-सिचौ।

'आत्मनेपदेषु' पद 'सिच्' का विशेषण है। क्योंकि लिङ् का ही आदेश होने से लिङ् से परे तो आत्मनेपद प्रत्यय हो नहीं सकते। अतः 'आत्मनेपदेषु लिङ्' कहना असामर्थ्य के कारण नहीं बनता, सिच् से परे आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। अतः 'आत्मनेपदेषु परेषु सत्सु पूर्वः झलादिः' अर्थ हुआ। 'कित्' पद 'लिङ्-सिचौ' का विधेय होने से तदनुसार द्विवचन में परिणत हो जाता है : लिङ्सिचौ कितौ (स्तः)।

इकः (=इक्समीपाद्) हलन्तात् (=हलः परः) झल् (=झलादिः) लिङ् आत्मनेपदेषु (परेषु सत्सु) झल् (=झलादिः) सिच् (इत्येतौ लिङ्-सिचौ) कित्

कम्पने च ॥ 2 ॥ 5 ग्लेपृ दैन्ये ॥ 3 ॥ ग्लेपते । 6 टुवेपृ कम्पने ॥ 4 ॥ वेपते । 7 केपृ, 8 गेपृ 5 ग्लेपृ च ॥ 5 ॥ (1) चात् कम्पने, गतौ च ; (2) सूत्र-विभागादिति स्वामी; (3) मैत्रेयस्तु चकारमन्तरेण पठित्वा ''कम्पने' भी है ॥ 2 ॥ 5 ग्लेप् √दीन होने में है ॥ 3 ॥ 6 वेप् काँपने में है ॥ 4 ॥ 7 √केप्, 8 √गेप्, 5 √ग्लेप् भी हैं ॥ 5 ॥ कम्पन और गति अर्थों में (1) 'च'('भी') से कम्पन और गति में हैं; (2)'सूत्र को अलग-अलग करने के कारण हैं,' यह क्षीरस्वामी कहते हैं; (3) मैत्रेय तो धातु-सूत्र को 'च' के बिना देकर ''यहां 'कम्पन में' की अपेक्षा है'', यह

(=कितौ स्तः) । इक् के समीप में स्थित हल् से परे स्थित झलादि लिङ् तथा आत्मनेपद-परक झलादि सिच्—ये दोनों—कित् होते हैं ।

तिप्सीष्ट—तिप् से आशीर्लिङ् में 'तिप्+सी+स्+त' स्थिति में इट् का निषेध **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से करके लघूपधगुण प्राप्त होता है । तिप् में इक् के समीप में स्थित हल् 'प्' से परे झलादि (सकारादि) लिङ्[1] की कित् संज्ञा हो जाती है । फलतः **क्ङिति च** से गुणनिषेध हो जाता है । **आदेश-प्रत्यययोः** से सुट् के 'स्' को मूर्धन्य आदेश होने के बाद **ष्टुना ष्टुः** से 'त्' को ष्टुत्व (टत्व) हो जाता है : तिप्सीष्ट ।

लुङ् में 'अ+तिप्+स्+त' स्थिति में 'स्' के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होता है । **झलो झलि** से सिच् का लोप होने पर अतिप्त । 'त' के **सार्वधातुकमपित्** से ङित् होने से पुनः गुण की प्रवृत्ति नहीं होती । अतिप्साताम्, अतिप्सत; अतिप्थाः, अतिप्साथाम्, अतिब्ध्वम् (**झलां जश् झशि** से प् को ब्); अतिप्सि, अतिप्स्वहि, अतिप्स्महि ।

काश्यप के मत में यहाँ **दिपृ, देपृ**, ये दो धातु भी हैं । देपते; दिदिपे, दिदेपे ।

2 √**तेप्** धातु कम्पन (काँपना) अर्थ में भी है । 5 √**ग्लेप्** धातु दीनता अनुभव करना अर्थ में अकर्मक एवम् सेट् है । 6 √**वेप्** धातु काँपना अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है । **आदिर्ञि-टु-डवः** से 'टु' की इत्संज्ञा होने से **ट्वितोऽथुच्** से अथुच् प्रत्यय होता है : वेपथुः ।

7 √**केप्**, 8 √**गेप्**, 5 √**ग्लेप्**, ये तीन धातु भी 'काँपना' अर्थ में अकर्मक, सेट् हैं । धातु-सूत्र में 'च' से 'गति' अर्थ का अपकर्षण अगले धातु-सूत्र से होता है । क्षीरस्वामी के मत में 7 **केपृ** से लेकर 11 **लेपृ** तक एक ही धातु-सूत्र है, 'च' से उसी का विभाग कर दिया गया है; अतः कम्पन और गति अर्थ में ही तीनों हैं । मैत्रेय ने धातु-सूत्र में 'च' नहीं दिया है, अपितु अर्थ-निर्देश में 'कम्पने' कहने की अपेक्षा बताई है ।

---

1. 'सीस्त' समुदाय **'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'** (प०) से लिङ् ही है ।

इत्यपेक्षते," इत्याह। ग्लेपेरर्थ-भेदात् पुनः पाठः। 9 मेपृ, 10 रेपृ, 11 लेपृ गतौ ॥ 6 ॥

12 त्रपूष् लज्जायाम् ॥ 7 ॥ 2301 तृ-फल-भज-त्रपश्च (6.4.122)— एषाम् (1) अत एकारः, (2) अभ्यास-लोपश्च स्यात् किति लिटि, सेटि थलि

कहते हैं। अर्थ के अलग होने के कारण √ग्लेप् को दुबारा दिया है। 9 √मेप्, 10 √रेप्, 11 √लेप् गति में हैं ॥ 6 ॥

12 √त्रप् शर्माने में है ॥ 7 ॥ 2301 √तृ, √फल्, √भज् और √त्रप् धातुओं के (1) ह्रस्व 'अ' को 'ए' और (2) अभ्यास का लोप हो जाएँ बाद में कित्

यहाँ 5 √ग्लेप् अर्थ-भेद से दो बार—तीसरे और पाँचवें धातु-सूत्र में—आई है।

9 √मेपृ, 10 √रेपृ तथा 11 √लेपृ गति अर्थ में सकर्मक, सेट् हैं। धातु-सूत्र का स्वरूप मैत्रेय के अनुसार **'मेपृ, लेपृ सेवने। रेपृ, प्लेवृ गतौ॥'** है। कौशिक के मत में यहाँ एक धातु और है : **हेपृ च**। कोई आचार्य **धेपृ** भी यहां मानते हैं।

12 √त्रप् शर्माना अर्थ में अकर्मक, सेट् है। त्रपते, त्रपेते, त्रपन्ते।

2301 **तृ-फल-भज-त्रपश्च** (6.4.122)—ध्वसोरेद्धावभ्यास-लोपश्च (119), अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (120), थलि च सेटि (121), गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङिति० (98) : तृ-फल-भज-त्रपश्च अतः एद्, अभ्यास-लोपश्च (भवति) क्ङिति लिटि, सेटि थलि च। लिट् को ङिद्वद्भाव नहीं होता, अतः 'क्ङिति' से सिर्फ 'किति' की ही अनुवृत्ति होती है। 'तृ-फल-भज-त्रपः' समाहार-द्वन्द्वांत षष्ठ्यंत पद है। √फल, √भज में अकार उच्चारणार्थ है। √तृ, √फल्, √भज् तथा √त्रप् धातुओं के भी ह्रस्व 'अ' को एकार आदेश तथा इनके अभ्यास का लोप होते हैं, बाद में कित् लिट् और सेट् थल् होने पर।

√त्रप् आत्मनेपदी है, अतः इससे थल् तो प्राप्त नहीं है : हाँ लिट् के सब आत्मनेपद प्रत्यय कित् हैं; इसलिये कित् लिट् के पर-निमित्त से दोनों कार्य होंगे। त्रप्+ए, **लिटि धातोरनभ्यासस्य** से √त्रप् को द्वित्व : त्रप्+त्रप्+ए; अभ्यास-संज्ञा के बाद **हलादिः शेषः** को बाध कर **तृ-फल-भज-त्रपश्च** से अभ्यास (प्रथम 'त्रप्') का लोप होकर द्वितीय 'त्रप्' के 'अ' को एत्व : त्रेप्+ए=त्रेपे। त्रेपाते, त्रेपिरे।

√त्रप् धातु-पाठ में ऊदित् है, अतः 'त्रप्+से' स्थिति में **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से प्राप्त नित्य इट् को बाध कर **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** से विकल्प से इट् होता है : त्रप्+इसे (=इषे)।

च। त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे। ऊदित्त्वादिड् वा—त्रपिता, त्रप्ता; त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट।

13 कपि चलने ॥ 8 ॥ कम्पते; चकम्पे।

15 रबि, 15 लबि, 16 अबि शब्दे ॥ 9 ॥ ररम्बे; ललम्बे; आनम्बे। 15 लबि अवस्रंसने च ॥ 10 ॥ 17 कबृ वर्णे ॥ 11 ॥ चकबे। 18 क्लीबृ

लिट्, या इट्-सहित थल् होने पर। त्रेपे, त्रेपाते; (धातु उपदेश में) ऊ की इत्संज्ञा वाली है, अतः विकल्प से इट् होता है—त्रपिता, त्रप्ता; त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट।

13 √कम्प् चलना, अपनी स्थिति से हटना अर्थ में है ॥ 8 ॥

14 √रम्ब्, 15 √लम्ब्, 16 √अम्ब् आवाज करने में हैं ॥ 9 ॥ 15 √लम्ब् लटकने में भी है ॥ 10 ॥ 17 √कब् रँगने में है ॥ 11 ॥ 18 √क्लीब् धृष्ट न होने

द्वित्व होने पर त्रप्+त्रप्+इषे। 'से' के **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित् होने के कारण **तृ-फल-भज-त्रपश्च** से एत्त्व तथा अभ्यासलोप होता है: त्रेपिषे। इडभाव-पक्ष में **हलादिः शेषः**, त+त्रप्+से=तत्रप्से। यहाँ विकल्पविधि को न बाध सकने से **कृ-सृ-भृ-वृ०** की प्रवृत्ति नहीं होती।[1]

त्रेपाथे, त्रेपिध्वे, तत्रब्ध्वे; त्रेपे, त्रेपिवहे, तत्रब्वहे, त्रेपिमहे, तत्रप्महे। लुट् तथा लृट् में **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** से इड्-विकल्प होता है; त्रपिता, त्रप्ता; त्रपिष्यते, त्रप्स्यते। त्रपताम्; अत्रपत; त्रपेत; त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट; अत्रपिष्ट, अत्रप्त —**झलो झलि** से 'स्' का लोप, अत्रप्साताम्, अत्रप्सत; अत्रप्थाः, अत्रप्साथाम्, अत्रब्ध्वम्; अत्रप्सि, अत्रप्स्वहि, अत्रप्स्महि। अत्रपिष्यत अत्रप्स्यत। त्रपा=लज्जा।

13 √**कम्प्** चलना (हिलना, डोलना, काँपना) अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है। कम्पते; चकम्पे; कम्पिता; अकम्पिष्ट। यह हिन्दी आदि में √काँप् है।

14 √**रम्ब्**, 15 √**लम्ब्**, 16 √**अम्ब्** शब्द करना (रंभाना, गुहारना) अर्थ में अकर्मक सेट् हैं। 'आनम्बे' में **तस्मान्नुड् द्विहलः** से नुट् होता है। अम्बा=जननी। अम्बु=जल। 15 √**लम्ब्** अवस्रंसन (लटकना, झूलना, खिसकना, लम्बा होना) अर्थ में अकर्मक है। आलम्बते=सहारा लेता है। लम्बः=लम्बा। प्रालम्बम्=माला। विलम्बिका=कब्जियत।

17 √**कब्** रँगना (सकर्मक), रंग-बिरंगा होना (अकर्मक) अर्थ में सेट् है। कबते; चकबे; कबिता; कबिष्यते, अकबिष्ट। कबरः; कबरी चितकियों वाली गाय।

18 √**क्लीब्** अधृष्टता करना (न अड़ना, शक्ति-हीन होना, कायरता करना, नपुंसकता-सी करना) अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है। उत्तिष्ठ, युध्यस्व, किमिति क्ली-

---

1. 2293 '**कृ-सृ-भृ-वृ०**' की व्याख्या, पृष्ठ 306.

अधाष्ट्र्ये ॥ 12 ॥ चिक्लीबे । 19 क्षीबृ मदे ॥ 13 ॥ क्षीबते ।

20 शीभृ कत्थने ॥ 14 ॥ शीभते । 21 चीभृ च ॥ 15 ॥ 22 रेभृ शब्दे ॥ 16 ॥

23 अभि-24 रभी क्वचित् पठ्येते—अम्भते; रम्भते । 25 ष्टभि,

में है ॥ 12 ॥ 19 √क्षीब मस्ती, नशा होने में है ॥ 13 ॥

20 √शीभ् प्रशंसा करने में है ॥ 14 ॥ 21 √चीभ् भी ॥ 15 ॥ 22 √रेभ् आवाज करने (वर्णन करने) में है ॥ 16 ॥

23 √अम्भ् और 24 √रम्भ् किन्हीं ग्रन्थों में दी गई हैं—अम्भते; रम्भते ।

बसे (उठो, उद्योग करो, लड़ो, क्या कायरता करते हो)? चिक्लीबे । क्लीबः=नपुंसक । **क्लैब्यं मा स्म, गमः पार्थ** (गीता 2.3) ।

19 √**क्षीब्** मद होना, मस्त होना, नशे में होना अर्थ में अकर्मक तथा सेट् है । चिक्षीबे, क्षीबिता । मैत्रेय के अनुसार यह अदित् है । क्षीबः (√क्षीब्+त, **अनुपसर्गात् फुल्ल-क्षीब०** सूत्र से इडभाव तथा 'त्' लोप का होने पर क्षीब्+अ=मत्त ।

20 √**शीभ्** श्लाघा करना, आत्म-प्रशंसा करना अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् है । शीभरः=प्रशंसा करने वाला । 21 √**चीभ्** भी इसी अर्थ में सेट् है । वस्तुतः इस धातु को पिछली धातु के साथ ही रखना चाहिए : **शीभृ, चीभृ कत्थने** । ये धातु देशभेद से उच्चारणभेद के कारण एक के ही रूपान्तर हैं । केरल में 'शुचीन्द्रम्' का उच्चारण 'चुचीन्द्रम्' होता है । Munich (जर्मनी के एक नगर) को भी म्यूनिश, म्यूनिख, म्यूनिच् बोलते हैं ।

22 √**रेभ्** शब्द करना अर्थ में अकर्मक एवम् सेट् है । वेद में यह स्तुति अर्थ में प्रयुक्त है : रेभः=स्तोता । यह धातु ऋग्वेद में √रिभ् के रूप में है तथा परस्मैपदी है । इसके रेभति, रेभन्ति, रिरेभ तथा रिभ्यते आख्यात रूप ऋग्वेद में प्रयुक्त हैं, तथा रेभत् एवं रेभ नामपद । **इन्दुं रिहन्ति महिषा अदब्धाः पदे रेभन्ति कवयो न गृध्राः** (ऋ० 9.97.57), **एषा नेत्री राधसः, सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः** (ऋ० 7.76.7) । **तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते** (ऋ० 10.71.3) । कृष्ण यजुर्वेद की परंपरा में आख्यात रूप तो आत्मनेपदी मिलते हैं तथा कृदंत रूप परस्मैपदी (शत्रन्त) इस परंपरा में धृत ऋग्वेदीय मंत्रों में ही उपलब्ध हैं । अतः प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के बाद यह धातु आत्मनेपदी ही हो गई है । किन्तु ऋग्वेदीय √रिभ् कब कैसे √रेभ् के रूप में बदल गई, यह स्पष्ट नहीं है । पाणिनि का विरिब्ध (7.2.18) शब्द भी वि+√रिभ् से ही सम्भव है । अतः बहुत सम्भव है कि पाणिनि को यह √रिभ् ही

26 स्कभि प्रतिबन्धे ॥ 17 ॥ स्तम्भते ; उत्तम्भते—'उदः स्था-स्तम्भोः०' (8.4.61) इति पूर्व-सवर्णः । विस्तम्भते—'स्तन्भेः' (2272) इति षत्वं तु न

25 √स्तम्भ्, 26 √स्कम्भ् टेक, सहारा देने में है ॥ 17 ॥ स्तम्भते; उत्तम्भते—'उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य' (8.4.61) से पूर्व-सवर्णादेश हो गया है। विस्तम्भते—यहाँ 'स्तन्भेः' (2272) से 'स्' को 'ष्' तो नहीं होता, क्योंकि उस सूत्र में 'स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च' (3.1.82) सूत्र में पठित धातु का ही ग्रहण होता है;

अभिप्रेत रही हो।[1] वैयाकरणों में केवल वोपदेव ने इसे √रिभ् के अलावा दिया है।

आचार्य दुर्गने यहां **अभि रभि** ये दो धातु भी पढ़ी हैं। अम्भते; आनम्भे; अम्भिता; रम्भते; ररम्भे। अम्भते=शब्दं कुरुते इति अम्भः=उदकम्। तुलना करें अम्बु। रम्भा=कदली, करम्भः=दही-सत्तू (—क्षी० त०)।

25 √**स्तम्भ्** तथा 26 √**स्कम्भ्** (दोनों इदित्) धातु प्रतिबन्ध करना (रोकना, सहारा देना) अर्थ में सकर्मक एवम् सेट् हैं। पहली धातु षोपदेश है। दोनों में **इदितो नुम् धातोः** से नुम् होने पर **नश्चापदान्तस्य झलि** से अनुस्वार तथा **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से परसवर्ण होता है।

उत्तम्भते—उद्+√स्तम्भ्+अते, **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** से स् को पूर्व-सवर्ण (थ्) : उद्+थ्तम्भते। **झरो झरि सवर्णे** से थ् का वा लोप : उद्+तम्भते। **खरि च** से द् को त् : उत्+तम्भते=उत्तम्भते। थ् का लोप नहीं होने पर उद्+थ् तम्भते, **खरि च** की दो बार प्रवृत्ति होकर क्रमशः द् और थ् को त् आदेश : उत्+त् +तम्भते=उत्तम्भते।

विस्तम्भते—'वि+स्तम्भते' स्थिति में **स्तन्भेः** से षत्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि इस सूत्र में **स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च** सूत्र में पठित औपदेशिक न् वाली √स्तन्भ् का ही ग्रहण है, लाक्षणिक √स्तम्भ् का नहीं। सायण के अनुसार इसका कारण सूत्रपाठ में **उदः स्था-स्तम्भोः०** सूत्र में मकारोपध और **स्तन्भेः** में नकारोपध दो तरह का पाठ उपलब्ध होना बताया है। तात्पर्य यह है कि √स्तम्भ् धातु दो प्रकार

---

1. काशिका (7.2.18) में 'विरिब्ध' (स्वर) के प्रत्युदाहरण 'विरेभित' का पाठान्तर 'विरिभित' देकर उसकी व्याख्या में √रभ् की कल्पना की है : **अन्ये तु 'विरिभितमन्यत्'** (म० भा० 7.2.18) **इति पठन्ति। रभि सौत्रं धातुं पठन्ति। ते 'विरिभितम्' इति प्रत्युदाहरन्ति।** यहाँ √रम् से 'विरिभित' की व्युत्पत्ति में कल्पना-गौरव √रेम् से व्युत्पति करने जितना ही है, अतः 'रभि' के स्थान पर 'रिभि' पाठ उचित प्रतीत होता है।

भवति; श्नु-विधौ निर्दिष्टस्य सौत्रस्यैव तत्र ग्रहणात्; तद्बीजं तु (1) 'उदः स्था-स्तम्भोः' (8.4.61) इति पवर्गीयोपध-पाठः, (2) 'स्तन्भेः' (2272) इति तवर्गीयोपध-पाठश्चेति माधवः। केचिद् 'अस्य टकार औपदेशिक' इत्याहुः; इसका कारण तो (1) " 'उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य' (8.4.61) सूत्र में उपधां में पवर्ग-वाले वर्ण (म्) का पाठ और (2) 'स्तन्भेः' (2272) सूत्र में उपधा में तवर्गवाले वर्ण (न्) का पाठ है", यह माधव (सायण) कहते हैं। कोई ,इसका ट् धातु के उपदेश में ही है (ष्टुत्व के कारण नहीं), यह कहते हैं; उनके मत में ष्टम्भते, टष्टम्भे (रूप होते हैं)।

की मिलती है—(1) धातु-पाठ में पठित प्रकृत √स्तम्भ् (मकारोपध) तथा (2) सूत्र-प्रमाणक (धातु-पाठ में अपठित) √स्तन्भ् (नकारोपध)। अष्टाध्यायी में तीन सूत्रों में ये दोनों धातु हैं : (1) **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** में मकारोपधा वाली है; (2) **'स्तन्भेः', स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु०** तथा **जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु०** सूत्रों में नोपध पाठ ही है। सौत्र धातु उपदेश में नोपदेश है। उसकी इसी स्पष्टता के लिए उसे सर्वत्र आचार्य ने नोपध ही दिया है। प्रस्तुत √स्तम्भ् धातु नोपधा वाली नहीं है। अतः नोपध धातु से होने वाले कार्य यहाँ प्राप्त नहीं होंगे। अतः **स्तन्भेः** से षत्व यहाँ 'वि+स्तम्भ्+अते' में नहीं प्राप्त होता। **उदः स्थाः-स्तम्भोः** में मोपध धातु दी है। मोपध लाक्षणिक ही है, प्रतिपदोक्त नहीं; अतः लाक्षणिक √स्तन्भ् से औपदेशिक नकार और आगमिक नकार दोनों से संपन्न √स्तम्भ् धातुओं का ग्रहण होगा, किसी एक का नहीं। क्षी० त० में √स्तन्भ् और √स्तम्भ् के इस भेद को दृष्टि में न रख कर इसके भी 'विष्टम्भ' और 'अवष्टम्भते' उदाहरण चांद्र तथा भोजीय व्याकरण के प्रमाण से दिये हैं, जो चिंत्य हैं।

हिंदी की √थम्, √थँम् इसी से विकसित अकर्मक हैं। सकर्मक : √थाम्, थाँम्। थम्भ, थम्ब, थम्बा, थम्भा तथा खम्भ, खम्ब, खम्भा, एवम् खम्बा शब्द क्रमशः √स्तम्भ् तथा √स्कम्भ् का ही विकसित रूप हैं। √स्तम्भ् का प्रयोग लौकिक प्रयोगों में भी हुआ है। पर √स्कम्भ् का केवल वैदिक तथा पाली में ही। अतः कुछ लोग 'खम्ब', 'खम्भ' शब्दों को सीधे वैदिक से प्राकृतों में आया शब्द बतलाते हैं। विष्कम्भः =ताला।

आचार्य मैत्रेय तथा कुछ और लोग कहते हैं कि यह उपदेशावस्था में ही टकार वाली है, दंत्य-परक-सादि नहीं है। उनके मत में विष्टम्भते (<वि+ष्टम्भ्+अते), ष्टम्भते, टष्टम्भे इत्यादि रूप होते हैं।

27 √जभ् (ईदित्) तथा 28 √जृम्भ् (इदित्) ये धातु गात्र झुकाना (शरीर को झुकाना, जमुहाई लेना, अँगड़ाई लेना) अर्थ में अकर्मक एवम् सेट् हैं।

तन्मते ष्टम्भते; टष्टम्भे । 27 जभी, 28 जृभि गात्र-विनामे ॥ 18 ॥ 2302 रधि-जभोरचि (7.1.61)—एतयोर्नुमागमः स्यादचि । जम्भते; जजम्भे; जम्भिता; अजम्भिष्ट । जृम्भते; जजृम्भे ।

27 √जभ् (ईदित्), 28 √जृम्भ् अंग को झुकाना, जमुहाई लेना अर्थों में हैं ॥ 18 ॥ 2302 √रध् और √जभ् को नुम् का आगम होता है बाद में स्वर होने पर । जम्भते; जजम्भे; जृम्भते; जजृम्भे ।

पहली ईदित् (**जभी**) तथा दूसरी इदित् (**जृभि**) है । काशकृत्स्न तथा मैत्रेय के (एकीय मत) और तदनुसारी सायण के अनुसार यह ईदित् ही है । क्षीरस्वामी **जभ** (अदित्) मानते हैं । ईदित् पाठ का फल **श्वीदितो निष्ठायाम्** से निष्ठा (क्त, क्तवतु) में इट् का निषेध है : जब्धम् (मैत्रेय, काशिका[1] तथा दीक्षित जी) । अदित् पाठ में जभितम् (क्षीरस्वामी) । सायण और मैत्रेय के मत में निम्नोक्त **रधि-जभोरचि** सूत्र से अजादि प्रत्ययों में नकारवान् और हलादि में नकार-रहित है । क्षी० त० में उपलब्ध नुम् से रहित 'जभते' में **रधि-जभोरचि** की अप्रवृत्ति का कारण स्पष्ट नहीं है । कदाचित् प्रूफ की गलती से 'जम्भते' के स्थान में 'जभते' छप गया है ।

2302 **रधि-जभोरचि** (7.1.61)—इदितो नुम् धातोः (58) । 'रधि' इका निर्दिष्ट है । 'धातोः' पद 'रधि-जभोः' के अनुकूल द्विवचनान्त में बदल जाता है : रधि-जभोः धात्वोः । 'धातोः' ग्रहण से तृतीयाध्यायोक्त 'प्रत्ययः' शब्द अचि के विशेष्य के रूप में आता है तथा 'अचि' में तदादि-विधि होती है—रधि-जभोः धात्वोः नुम् भवति अचि (अजादौ) प्रत्यये । √रभ् और √जभ् धातुओं को नुम् का आगम होता है बाद

---

1. का० में यह अदित् है, या ईदित्, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता : **रधि-जभोरचि** (7.1.61) पर 'अचि' का प्रत्युदाहरण चौ० तथा स्वामी द्वारिकादास जी के संस्करणों में 'जभ्यम्' छपा है । न्यास, प०म० में इसकी व्याख्या नहीं की गई है । किंतु मा०धा०वृ० में 'जब्धम्' प्रत्युदाहरण काशिका में बताया है : **जभी इत्येके, जब्धम् इति मैत्रेयः । अयमेव पाठः प्रायेण वृत्तिकारस्य सम्मतः; यदाह 'रधि-जभोरचि' (7.1.61) इत्यत्र अज्ग्रहणं प्रत्युदाहरणे 'जब्धम्' इति । अनीदित्त्वे इटा भाव्यम् इति कथमेवमुदाहरेत् ?** न्यास और प०म० (स्वा०द्वा० दास सं०) में भिन्न-भिन्न पाठ मुद्रित है : न्यास (3.1.24) में **जभ जृभी** और (7.4.86 में) **जभि जृभी** है । प०मं० (3.1.24) में **जभी जृभी** एवं (7.1.61 तथा 7.4.86) में **जभ जृभी** हैं । **जृभी** का ईदित्त्व तो सर्वथा अनुचित है । ईदित्त्व में नुम् (√जृम्भ्) कैसे होगा ? न्यास का 'जभि' भी उचित नहीं है, सूत्रपाठ के 'जभ' के विपरीत है ।

29 शल्भ कत्थने ॥ 19 ॥ शशल्भे । 30 वल्भ भोजने ॥ 20 ॥ दन्त्योष्ठ्यादिः । ववल्भे । 31 गल्भ धाट्ष्यें ॥ 21 ॥ गल्भते । 32 श्रन्भु

29 √शल्भ् प्रशंसा करने में है ॥ 19 ॥ 30 √वल्भ् खाने में है ॥ 20 ॥ इसके आदि में दाँत और ओंठ से बोला जाने वाला अन्तस्थ है । 31 √गल्भ् ढिठाई करने में है ॥ 21 ॥

32 √श्रम्भ् (औपदेशिक नकारवान्) प्रमाद, गफलत करने में है ॥ 22 ॥

में अजादि प्रत्यय होने पर । नुम् मित् होने के कारण **मिदचोऽन्त्यात् परः** से धातुओं के अकार के पश्चात् होता है । अनुस्वार, परसवर्ण होकर √रन्ध्+स्वर, √जम्भ्+स्वर बनता है । √जभ् धातु सेट् है, अतः सार्वधातुक प्रत्ययों में शप् विकरण के कारण तथा आर्ध-धातुक प्रत्ययों में इट् के कारण यह सब लकारों में मकारवान् है : जम्भते; जजम्भे, जजम्भाते, जजम्भिरे, जजम्भिषे, जजम्भाथे, जजम्भिध्वे, जजम्भे, जजम्भिवहे, जजम्भिमहे; जम्भिता; जम्भिष्यते; जम्भताम्; अजम्भत; जम्भेत, जम्भेयाताम्, जम्भेरन्; जम्भिषीष्ट, जम्भिषीयास्ताम्; अजम्भिष्ट, अजम्भिषाताम्, अजम्भिषत; अजम्भिष्यत । जम्भः=दाढ़ : **तमेषां जम्भे दध्मः** (वा० सं० 16.64-6) ।

28 जृभ् धातु इदित् है तथा **इदितो नुम् धातोः** से नुमागम, अनुस्वार-परसवर्णादेश के कारण मकारवान् है : जृम्भते; जजृम्भे; जृम्भिता; जृम्भिष्यते; जृम्भताम्; अजृम्भिष्यत । जृम्भा=जमुहाई ।

लौकिक संस्कृत में √जम्भ् की अपेक्षा √जृम्भ् का प्रयोग अधिक मिलता है । प्राकृतों तथा आधुनिक भाषाओं में अकारवान् √जम्भ् धातु मिलती है । परंतु यह धातु ऋकारवान् √जृम्भ् से विकसित हो सकती है ।

29 √**शल्भ्** श्लाघा करने में सकर्मक, सेट् है । शल्भते; शशल्भे । 30 √**वल्भ्** (दन्त्योष्ठ्यादि) खाना अर्थ में सकर्मक सेट् है । 31 √**गल्भ्** ढिठाई करना, बढ़-बढ़ कर बोलना अर्थ में अकर्मक है । प्रगल्भः=चतुर, बोलने में निपुण, मुखर ।

32 √**श्रम्भ्** उपदेश में नकारवान् और उदित् है । इसकी वर्तनी और अर्थ दोनों पर मत-भेद हैं : (1) क्षी०त० में धृत पाठ तो **स्रम्भु** है, पर सम्पादक का कहना है कि हस्तलेखों में धातु और उदाहरण तालव्यशकारवान् है । पुरुषकार (185) में क्षी०स्वा० का पाठ **स्रम्भु** ही उद्धृत है । चन्द्र भी दंत्य-सकारादि और पवर्गीयान्त ही मानते हैं । (2) काश्यप और सायण के मत में तालव्यादि और पवर्गान्त है । क्षी०स्वा० द्वारा उद्धृत एकीय मत में, जो पुरुषकार में उनके नाम से दिये उद्धरण में भी धृत है, पुरुषकार में स्पष्टतया **स्रम्भु प्रमादे** पाठ है । देव और मैत्रेय भी इसे √स्रंस् (दंत्योष्माद्यंत) मानते हैं । भट्टमल्ल ने प्रमादार्थक का स्वरूप तो √स्रंस् दिया है तथा

प्रमादे ॥ 22 ॥ (1) तालव्यादिः, (2) 33 दन्त्यादिश्च । श्रम्भते; स्रम्भते । 34 ष्टुभु स्तम्भे ॥ 23 ॥ स्तोभते, विष्टोभते; तुष्टुभे; व्यष्टोभिष्ट ॥ 55 ॥

यह आदि में (1) तालव्य शकारवाली और (2) 33 दन्त्य वाली, दो तरह की है। श्रम्भते; स्रम्भते। 34 √स्तुभ् थाँभने, टेक, सहारा देने में है ॥ 23 ॥ स्तोभते, विष्टोभते; तुष्टुभे; व्यष्टोभिष्ट ॥ 55 ॥

विश्वासार्थक का √स्रम्भ् : **विस्रम्भते तु प्रत्येति—इति विश्वासे** (आ०चं० 1.2.12, श्लोक 36), **अवस्रंसे प्रमादे च स्रंसते** (3.3.52, श्लोक 66), **प्रमादे स्रंसते चावस्रंसते** (3.3.96, श्लोक 84) ।

हमारे विचार में (1) ये दोनों धातु मूलतः दंत्योष्मादि (√स्रम्भ्) हैं। तालव्यादि पाठ देश-भेद से ऊष्म के दो प्रकार के उच्चारण के कारण इसी से निष्पन्न, अतएव क्षेत्रीय पाठ है। (2) प्रयोगों को देखते हुए (क) भकारांत का अर्थ 'विश्वास' होना चाहिये तथा (ख) प्रमाद अर्थ दंत्योष्माद्यंत √स्रंस् (नोपध, उदित्) का अवस्रसंन से विकसित निरूढ लाक्षणिक अर्थ होना चाहिये। अतः द्युतादि-गणस्थ का स्वरूप **स्रंसु प्रमादे** (19.17) होना चाहिये। ऊष्मांतों के प्रकरण में यही पाठ उचित भी है। प्रकृत पवर्गीयांतों के प्रकरण में धातुसूत्र का स्वरूप **स्रंभु विश्वासे** होना चाहिये। √स्रम्भ् का लुङ् में अङ् वाला रूप साहित्य में तो मिलेगा ही नहीं, प्रयोग में भी उचित नहीं है।

34 √स्तुभ् (उपदेश में षकारवान्) रोकना, थाँभना, दुर्ग के मत में दोष-वृद्धि बतलाना[1] अर्थ में सकर्मक, सेट् है। स्तोभते। विष्टोभते—**उपसर्गात्सुनोति-सुवति-स्यति०** से षत्व। तुष्टुभे—**आदेश-प्रत्यययोः** से षत्व। अस्तोभिष्ट, व्यष्टोभिष्ट—'वि+अस्तोभिष्ट' स्थिति में **प्राक् सितादड्-व्यवायेऽपि** से षत्व। अनुष्टुभ्, त्रिष्टुभ्। यह धातु निघंटु (3.14.4) में √अर्च् (स्तुति) के पर्यायों में है। स्कंद ने वृद्धि तथा स्तुति अर्थ बताया है।[2] देवताध्यायब्राह्मण (3.7.8) में √स्तुभ् और √स्तु को पर्याय के रूप में दिया गया है।

धातु योग : दीक्षितजी—गत 379, वर्तमान 34, योग 413; हमारे मत में—गत 356, वर्तमान 31, योग 387 है ॥ 55 ॥

---

1. क्षी०त० : **'स्तोभो दोष-वृद्ध्याख्यार्थ' इति दुर्गः**। ऋग्वेद में यह स्तुति अर्थ में तिङन्त और कृदन्त दोनों रूपों में परस्मैपदी है। **प्रति ष्टोभति वाघतो न वाणी** (1.88.6), **एतत्त इन्द्र, वीर्यं गीर्भिर्गृणन्ति कारवः। ते स्तोभन्त ऊर्जमावन्** (8.54.1) ।
2. निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ 576-577 ।

(ख 11) अथ परस्मैपदिनः—

1 गुपू रक्षणे ॥ 1 ॥ 2303 गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः (3.1.28)—एभ्य 'आय'-प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे। 'पुगन्त०' (2189) इति गुणः। 2304 सनाद्यन्ता धातवः (3.1.132)—सनादयः 'कर्मेणिङ्' (3.1.30)-

पवर्गीयान्त धातु—ख. एकादश धातु-वर्ग : परस्मैपदी अ. 1-2 धातु

(ख 11) अब परस्मैपद वाली (धातु हैं)—

1 √गुप् रक्षा करने में है ॥ 1 ॥ 2303 √गुप्, √धुप्, √विच्छ्, √पण् √पन्—इन धातुओं से 'आय' प्रत्यय (धातु के) अपने अर्थ में हो। 'पुगन्त-लघूपधस्य च' (2189) से गुण होता है। 2304 सन् से लेकर √कम् से होने वाले णिङ् तक के

संदर्भ : दशम वर्ग में पवर्गीयांत आत्मनेपदी धातु देने के बाद प्रकृत ग्यारहवें वर्ग में √गुप् से लेकर √शुम्भ् तक 39 पवर्गीयान्त धातु दी हैं।[1] ये सब उदात्तेत् तथा उदात्त हैं, अतः सब परस्मैपदी और सेट् हैं। इनमें पहली √गुप् ऊदित् है जिसके कारण वलादि आर्धधातुकों में **स्वरति-सूति-सूयति-धूञ् दितो वा** से विकल्प से इट् होता है।

2303 **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (3.1.28)—प्रत्ययः (2), परश्च (3), धातारेकाचो० (22)। 'धातोः' पद **गुपू** आदि के साथ अन्वित है, अतः बहुवचन में परिणत हो जाता है। कोई अर्थ बतलाया न होने से यह प्रत्यय प्रकृति के ही अर्थ में है। गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्यो धातुभ्यः परः आयः प्रत्ययः भवति—1 √गुप्, 2 √धूप्, 3 √विच्छ्, 4 √पण् और 5 √पन् धातुओं से उनके पश्चात् आय प्रत्यय होता है। आय प्रत्यय अकारांत है। अर्थात् 'अ' उच्चारणार्थ नहीं है।

2304 **सनाद्यन्ता धातवः** (3.1.32)—सन् आदिर्येषां, ते सनादयः, सनादयः अन्ते येषां, ते सनाद्यन्ताः। 'सन्' जिन में सबसे पहले है, वे प्रत्यय जिनके अंत में हैं, वे शब्द 'धातु' कहलाते हैं।

सनाद्यन्ता धातवः (3.1.32) से पहले क्रमशः 1 **गुप्-तिज्-किद्भ्यः सन्** (3.1.5), 2 **सुप आत्मनः क्यच्** (8), 3 **काम्यच्च** (9), 4 **कर्तुः क्यङ् स-लोपश्च** (11),

---

1. दीक्षितजी ने इनकी संख्या नहीं बताई है। 36-37 वीं धातुओं के पाठ पर मत-भेद हैं। उन्हें पृथक् न गिनने से संख्या 39 ही है। निर्णयसागर संस्करण में इन्हें भी अलग से गिना कर संख्या 41 दी गई है। क्षी०स्वा० ने 34 संख्या बताई है, जो चंद्रोक्त 'षच' को स्वीकार करके होती है। क्षी०त० मे पाँच धातु (16-17, 32-35) नहीं हैं।

अन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां, ते 'धातु'-संज्ञाः स्युः । धातुत्वाल्लडादयः । गोपायति ।
2305 आयादय आर्धधातुके वा (3.1.31)—आर्धधातुकविवक्षायाम् आयादयो
प्रत्यय जिन (समुदायों) के अन्त में हैं, वे (समुदाय) 'धातु' संज्ञा वाले हों। धातु होने के कारण लट् आदि होते हैं। गोपायति। 2305 आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में

---

5 **लोहितादि-डाज्भ्यः क्यष्** (13), 6 **सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः** (वा० 12), 7 **मुण्ड-मिश्र-श्लक्ष्ण-लवण-व्रत-वस्त्र-हल-कल-कृत-तूस्तेभ्यो णिच्** (21), 8 **धातोरेकाचो हलादेः क्रिया-समभिहारे यङ्** (22), 9 **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (27), 10 **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (28), 11 **ऋतेरीयङ्** (29), 12 **कमेर्णिङ्** (30) ये 12 प्रत्यय हैं। निम्नलिखित कारिका में ये सब संगृहीत हैं—

सन्क्यच्काम्यच्क्यङ्क्यषोऽयाचारक्विब् णिज्यङौ तथा ।
यगायेयङ् णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः ॥

प्रस्तुत सूत्र में **संज्ञा-विधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्त-ग्रहणं नास्ति** (प० 28) से तदन्त-विधि का निषेध होने के कारण धातु-संज्ञा की कर्त्तव्यता में केवल **सनादयो धातवः** कहने से **प्रत्यय-ग्रहणे तस्य च तदन्तस्य च** (प० 24) से तदंत-विधि होने से **सनाद्यन्ता धातवः** रूप अर्थ नहीं बन सकता। अतः प्रत्यक्षतः 'अन्त' शब्द दिया है।

गोपायति—√गुप् से **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** से आय प्रत्यय होता है : गुप्+आय। धातु से विहित होने से **आर्धधातुकं शेषः** से आय आर्धधातुक है। अतः **पुगन्त-लघूपधस्य च** से उपधा के 'उ' को गुण होता है : गोप्+आय। आय-प्रत्ययांत होने से 'गोपाय' की 'धातु' संज्ञा **सनाद्यन्ता धातवः** से होती है। धातु से लट्, तिप्, शप् आदि होने पर 'गोपाय+अति। **अतो गुणे** से पररूप एकादेश : गोपायति।

यहाँ आय प्रत्यय को अदंत करने से शप् होने पर 'गोपाय+अ+ति' स्थिति में **अतो गुणे** से किया पररूप एकादेश **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** से उदात्त ही होता है : गोपायति, गोपायते इत्यादि।

2305 आयादय आर्धधातुके वा (3.1.31)—धातोरेकाचो हलादेः० (22), प्रत्ययः (2), परश्च (3)। 'आयादयः' के साथ संबद्ध होने से 'प्रत्ययः', 'परः' ये दोनों पद प्रथमाबहुवचनांतों ('प्रत्ययाः', 'परे') में परिणत हो जाते हैं। **आयादयः**—आय आदिर्येषां ते (आय, ईयङ्, णिङ् इति त्रयः प्रत्ययाः) आयादयः। 'आर्धधातुके' में विषयार्थक सप्तमी है, अतः 'आर्धधातुक के विषय में (प्रत्यय हुआ हो या नहीं, केवल विवक्षा में ही)', यह अर्थ होता है। आयादयः (आय, ईयङ्, णिङ्) प्रत्यया आर्धधातुके (विवक्षिते) धातोः परे वा (भवन्ति)। आय आदि (आय, ईयङ् तथा णिङ् ये तीन) प्रत्यय आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में धातु से परे विकल्प से होते हैं।

वा स्युः। 2306 कास्-प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (3.1.35)—कास्-धातोः, प्रत्ययान्तेभ्यश्च आम् स्याल्लिटि, न तु मन्त्रे। कास्यनेकाज्ग्रहणं कर्तव्यम् (वा०)—सूत्रे 'प्रत्यय'-ग्रहणमपनीय तत्स्थानेऽनेकाच इति वाच्यम् इत्यर्थः।

'आय' आदि प्रत्यय विकल्प से हों। 2306 √कास् धातु से और प्रत्यय अन्त में लग कर बनी धातुओं से लिट् में आम् हो, किन्तु मन्त्रात्मक वेद (संहिता) में नहीं। 'कास्०' सूत्र में 'प्रत्यय' शब्द को हटाकर उसके स्थान में 'अनेक स्वरों वाली (धातु) से' यह

2306 **कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (3.1.35)**—धातोरेकाचो० (22)। कास् च प्रत्ययश्च (सनादिर्णिङन्त) इति कास्प्रत्ययः, तस्मात्। 'प्रत्ययात्' में **'प्रत्यय-ग्रहणे तस्य च तदन्तस्य च** (प०) से तदंत-विधि हो जाती है। √कास्-धातोः; प्रत्ययान्तात् च धातोः परः आम् प्रत्ययो भवति अमन्त्रे (मन्त्र-भिन्ने) लिटि—**√कासृ शब्दकुत्सायाम्** धातु से परे तथा प्रत्यय (सन् आदि) जिन के अंत में है, ऐसे धातुओं से परे आम् प्रत्यय होता है, मंत्र (संहिता) से भिन्न प्रदेश में, लिट् परे रहते।

सूत्र में 'अमन्त्रे' कहने से **एतासान्देवतानाम्पाप्मानम्मृत्युमपहत्य यत्रासान्दिशामन्तस्तद् गमयाञ्चकार** (श०ब्रा० 14.4.1.11) में तथा **स ह रथमास्थाय प्रवावयांचकार** (जै०उ०ब्रा 3.1.3.5) में मंत्र से भिन्न ब्राह्मण में आम् हो ही जाता है। मंत्र में आम् का प्रयोग अथर्वसंहिता में ही उपलब्ध होता है।[1]

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून्पितृभ्यो गमयांचकार॥ अ०सं० 18.2.27

प्रस्तुत सूत्र में वार्तिककार ने संशोधन उपस्थित किया है—**कास्यनेकाज्ग्रहणं कर्तव्यम्। कास्प्रत्ययाद्०** (इत्यादि सूत्र) में 'अनेकाच् (धातु से)', यह पद देना चाहिए।

यदि इस वार्तिक से 'कास् धातु,' पदों के साथ 'अनेकाचः' ('अनेकाच् धातु') पद जोड़ने का वार्तिककार का अभिप्राय लिया जाये, तब तो '1 √कास् धातु से, 2 प्रत्ययान्त धातुओं से तथा 3 अनेकाच् धातुओं से आम् हो,' इस प्रकार का अर्थ हो जाता है। इस अर्थ में 'अ' शब्द से **सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः** से क्विप् प्रत्यय होने पर प्रत्ययान्त होने से आम् प्राप्त होता है। फलतः 'आञ्चकार' इत्यादि अनिष्ट रूप बनता है, न कि 'औ', 'अतुः', 'उः' इत्यादि अभीष्ट रूप।

यदि 'अनेकाज्'-ग्रहण का संबंध 'प्रत्ययात्' से किया जाये, तो '1 कासृ-धातोश्च, 2 अनेकाचः प्रत्ययान्ताच्चाम्'—1 √कास् धातु से तथा 2 अनेकाच् प्रत्ययांत धातु से

---

1. आ०अ० मैकडॉनल, ए वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट्स, अनुच्छेद 139, 9 ए।

2307 'आर्धधातुके' (6.4.46) इत्यधिकृत्य—2308 अतो लोपः (6.4.48)—आर्धधातुकोपदेश-काले यदकारान्तं, तस्य अकारस्य लोपः स्यादार्धधातुके परे। गोपायाञ्चकार; गोपायांबभूव; गोपायामास; जुगोप, जुगुपतुः; ऊदित्त्वाद् वा कहना चाहिये, यह तात्पर्य है। 2307 'आर्धधातुक' में (3.4.46) यह अधिकार करके —2308 ह्रस्व 'अ' का लोप हो—'आर्धधातुक' संज्ञक प्रत्यय के उपदेश के समय जो (समुदाय) अकारांत है, उसके (ह्रस्व) अवर्ण का लोप हो आर्धधातुक प्रत्यय बाद में होने पर। गोपायाञ्चकार; गोपायांबभूव; गोपायामास; जुगोप, जुगुपतुः; (√गुप्

परे आम् होगा। फलतः **जागृ निद्रा-क्षये** (अ०) तथा **चकासृ** (अ०) आदि बिना प्रत्यय के ही अनेक अच् वाली धातुओं से आम् नहीं प्राप्त होगा। फलतः संशोधन व्यर्थ होगा। अतः इसका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए मूल में **प्रत्यय-ग्रहणमपनीय** इत्यादि कहा है। अर्थात् 1 √कास् से तथा 2 अनेकाच् धातु से परे आम् प्रत्यय होता है। धातु चाहे स्वरूपतः अनेकाच् हो, चाहे प्रत्यय के लगने से अनेकाच् बनी हो; इससे कोई अंतर नहीं पड़ेगा।[1]

2307 **आर्धधातुके** (6.4.46)—यह अधिकार-सूत्र है। 'आर्धधातुक में' इस प्रकार **'न ल्यपि'** (6.4.69) तक अधिकार है।

2308 **अतः 6.1 लोपः 1.1** (6.4.48)—आर्धधातुके (7.1.46)। धातु से होने वाले प्रत्ययों की **आर्धधातुकं शेषः** से 'आर्धधातुक' संज्ञा होती है। इसलिए 'अतः' का विशेष्य 'धातोः' पद अर्थतः उपस्थित होता है। फलतः तदंत-विधि होती है और 'अतः' पद का अर्थ 'अदन्तस्य (धातोः)' होता है। **अलोऽन्त्यस्य** आता है। 'आर्धधातुके अतः' (आर्धधातुक में अदंत का) कहने से 'आर्धधातुक संज्ञा किये जाते समय अदंत धातु के' इत्यादि अर्थ होता है। आर्धधातुके अतः (=अदन्तस्य धातोः) अन्त्यस्य अलः लोपः (भवति)—आर्धधातुक संज्ञा का उपदेश किये जाते समय अदन्त धातु के अंत्य वर्ण का लोप होता है।

---

1. प्रो० डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी : वस्तुतः सूत्र की न्यूनता-पूर्ति के लिये ही प्रायः वार्तिक-निर्माण होने से केवल प्रत्ययांत से भी आम् इष्ट ही है। अतः 'आञ्चकार' में ही भाष्यतात्पर्य समझना चाहिये।

त्रिपाठी जी का कथन नागोजी भट्ट के उद्योतोक्त अन्यदीय मत के अनुसार प्रतीत होता है। इस मत में 'प्रत्यय' का अपनयन इष्ट नहीं है; पर दीक्षितजी के मत में इष्ट है। अतः त्रिपाठीजी का कथन मूल के प्रतिकूल है। दीक्षितजी ने हरदत्त का अनुसरण किया है।

इट्—जुगोपिथ, जुगोप्थ। गोपायिता, गोपिता, गोप्ता; गोपाय्यात्; गुप्यात्; अगोपायीत्, अगोपीत्, अगौप्सीत्।

उपदेश में) ऊ की इत्संज्ञावाली है, इसलिये विकल्प से इट् होता है—जुगोपिथ, जुगोप्थ। गोपायिता, गोपिता, गोप्ता;..गोपाय्यात्, गुप्यात्; अगोपायीत्, अगोपीत्, अगौप्सीत्।

दीक्षितजी के अनुसार यहाँ 'आर्धधातुके' पद की आवृत्ति होती है। वासुदेव दीक्षित और ज्ञानेंद्रसरस्वती के अनुसार **अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिक-लोपो झलि क्ङिति** (6.4.37) से 'उपदेश' पद की आवृत्ति होती है। **न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः** न्याय से अकेली प्रकृति ('उपदेश' पद) का प्रयोग नहीं हो सकता, अतः सामर्थ्य से तथा 'आर्धधातुके' (सप्तम्यंत पद) के सन्निधान से 'उपदेश' पद सप्तम्यंत में परिणत होता है। फलतः 'आर्धधातुके उपदेशे (कर्त्तव्ये)' (आर्धधातुक संज्ञा करते समय) अर्थ होता है।

दूसरा 'आर्धधातुक' पद 'आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय परे रहते' इस तरह लोप का परनिमित्त बनकर उपस्थित होता है। वृत्ति में 'यदकारान्तस्याकारस्य' कथन का 'अकारान्तस्याकारस्य' अर्थ होनेसे 'अतः' पद की भी आवृत्ति दीक्षित जी को अभिप्रेत प्रतीत होती है। (1) इस पाद में **अङ्गस्य** (6.4.1) का अधिकार होने से तथा 'आर्धधातुके प्रत्यये' कहा होने से 'प्रत्यय' पद के आने से आक्षिप्त होने के कारण 'अङ्गस्य' की अथवा (2)'धातोः' पद की पूर्वोक्त रीति से अर्थतः उपस्थिति होने से प्रथम 'अतः' पद में तदंत-विधि हो जाती है। 'अतः=अदन्तस्य' अर्थ होता है। दूसरे 'अतः' का संबंध 'लोपः' पद से है। 'अदन्तस्य (1 अङ्गस्य, 2 धातोर्वा अन्त्यस्य अवयवस्य) अतः लोपो भवति' अर्थ होता है। समुच्चित अर्थ निम्न प्रकार से होगा : आर्धधातुके उपदेशे (कर्त्तव्ये=आर्धधातुकोपदेश-काल इति यावत्) अदन्तस्य (धातोः, अङ्गस्य वा अन्त्यावयवस्य) अतः लोपो भवति आर्धधातुके प्रत्यये परतः स्थिते। अर्थात् आर्धधातुक संज्ञा का उपदेश किये जाते समय अदंत (धातु या अंग) के अंतिम अवयव अत् का लोप होता है, बाद में आर्धधातुक प्रत्यय होने पर।

काशिकाकार ने तो **'अकारान्तस्यार्धधातुके लोपो भवति'** इतना ही अर्थ दिया है।

गोपायाञ्चकार—√**गुप्** से **आयादय आर्धधातुके वा** से आर्धधातुक लिडादेशों की विवक्षा में विकल्प से आय प्रत्यय होने के पक्ष में : गुप्+आय। आय की आर्धधातुक संज्ञा के अनंतर **पुगन्त लघूपधस्य च** से गुण : गोपाय। **सनाद्यन्ता धातवः** से 'गोपाय' की धातु संज्ञा के बाद लिट् : √गोपाय+लिट्। **कास्-प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि**

से आम् : गोपाय+आम्+लिट् । **अकः सवर्णे दीर्घः** को बाध कर **अतो लोपः** से गोपाय के (यकारोत्तरवर्ती) 'अ' का लोप होता है : गोपाय्+आम् । **कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि** से लिट्-परक √कृ, √भू, √अस् में से अन्यतम लिट्-परक √कृ का अनुप्रयोग होता है : गोपायाम्+कृ+लिट्। **आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य** से लिट् के स्थान में परस्मैपद तिप् : गोपायाम्+कृ+ति, ति को णल् : गोपायाम्+कृ+अ । **अचो ञ्णिति** से √कृ को वृद्धि प्राप्त होती है, पर **द्विर्वचनेऽचि** से निषेध हो जाता है । **लिटि धातोरनभ्यासस्य** से 'कृ' को द्वित्व : गोपायाम्+कृ+कृ+अ । **पूर्वोऽभ्यासः** से पूर्वतन 'कृ' की 'अभ्यास' संज्ञा के बाद **उरत्** से अभ्यास के ऋ को अत् ('अ') आदेश तथा **उरण् रपरः** से रपर (अर्) होने पर गोपायाम्+कर्+कृ+अ । **हलादिः शेषः** से रेफ का लोप : गोपायाम्+क+कृ+अ । **कुहोश्चुः** से अभ्यास के क् को च् : गोपायाम्+च+कृ+अ । **अचो ञ्णिति** से अभ्यासोत्तर 'कृ' को वृद्धि तथा रपर (आर्) : गोपायाम्+चकार । **मोऽनुस्वारः** से म् को अनुस्वार तथा **वा पदान्तस्य** से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण : गोपायाञ्चकार । परसवर्णाभाव-पक्ष में गोपायां चकार ।

इसी प्रकार गोपायाञ्चक्रतुः; गोपायां चक्रतुः; गोपायाञ्चक्रुः; गोपायां चक्रुः ।

गोपायाञ्चकर्थ—यहाँ **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त इट् का निषेध **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से होता है; फिर **ऋतो भारद्वाजस्य** तथा **कृ-सृ-भृ-वृ०** से निषेध होने से इट् नहीं होता । थल् के पित् होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण होता है ।

गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र; गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चकर, गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम । पक्ष में अनुस्वार वाले रूप भी होते हैं ।

√भू के अनुप्रयोग में 'बभूव' की तरह प्रक्रिया होती है । गोपायाम्बभूव, गोपायाम्बभूवतुः इत्यादि । यहाँ भी परसवर्ण विकल्प से ही होता है ।

√अस् के अनुप्रयोग में प्रक्रिया 'एधामास' की तरह तथा रूप गोपायामास, गोपायामासतुः, गोपायामासुः; गोपायामासिथ, गोपायामासथुः इत्यादि होते हैं ।

जुगोप—आयाभाव-पक्ष में √गुप्+लिट् । गुप्+अ । अभ्यास-कार्य होने पर जुगुप, **पुगन्त-लघूपधस्य च** से गुण : जुगोप । **जुगुपतुः**—अतुस् आदि से **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित्संज्ञक होने से गुण का **क्ङिति च** से निषेध हो जाता है : जुगुपतुः । इसी प्रकार जुगुपुः । **जुगुपिथ, जुगोप्थ**—**गुपू** ऊदित् होने से **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** से इड्विकल्प होने पर[1] लघूपध गुण : जुगोपिथ । इडभाव-पक्ष में भी 'जुगुप्+थ' स्थिति

---

1. सायण का कहना है कि मैत्रेय के अनुसार **'कृ-सृ-भृ०'** नियम इडभावमात्र पर (चाहे वह निषेध के कारण हो, चाहे विकल्प के कारण) ही लागू होता है । अतः

2 धूप सन्तापे ॥ 2 ॥ धूपायति; धूपायांचकार; दुधूप; धूपायितासि, धूपितासि ॥ 56 ॥

2 √धूप् गरमाना, गरम होना अर्थ में है ॥ 2 ॥ धूपायति; धूपायांचकार, दुधूप; धूपायितासि, धूपितासि ॥ 56 ॥

में थल् के पित् होने से लघूपध गुण होता है : जुगोप्थ । जुगुपथुः, जुगुप; जुगोप, जुगुपिव, जुगुपिम ।

गोपायिता, गोपिता; गोप्ता—तास् (वलादि आर्धधातुक) की विवक्षा में **आयादय आर्धधातुके वा** से वैकल्पिक आय : गोपाय । धातु संज्ञा के बाद लुट् आदि होने पर √गोपाय+ता । **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से नित्य इट् : गोपाय+इता । **अतो लोपः** से अकारलोप : गोपाय्+इता=गोपायिता । आयाभावपक्ष में √गुप्+ता, **स्वरति-सूति०** से वैकल्पिक इट् : गुप्+इता । **पुगन्त-लघूपधस्य च** से गुण : गोप्+इता =गोपिता । इडभावपक्ष में √गुप्+ता । लघुपधगुण : गोप्ता ।

इसी प्रकार लृट् में गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति ।

गोपायतु; अगोपायत्; गोपायेत्; गोपाय्यात्, गुप्यात् (यासुट् के **किदाशिषि** से कित् होने से गुण नहीं होता) ।

अगोपायीत्—वलादि आर्धधातुक सिच् की विवक्षा में आय-विकल्प, इट्, **अतो लोपः**—अगोपाय्+इ+स्+त्, **अस्तिसिचोऽपृक्ते** से ईट् : अगोपाय्+इ+स्+ईत्, **इट ईटि** से सकार-लोप, सवर्णदीर्घ : अगोपाय्+ईत्=अगोपायीत् । **अगोपीत्**—आयाभाव-पक्ष में **स्वरति-सूति०** से इड्-विकल्प : अ+गुप्+इ+स्+ईत् । सलोप, दीर्घ : अ+गुप्+ईत् । **व्रद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध होने पर लघूपधगुण : अगोप्+ईत्=अगोपीत् । **अगौप्सीत्**—इडभावपक्ष में अगुप्+स्+ईत्, **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से वृद्धि : अगौप्+स्+ईत्=अगौप्सीत् ।

अगोपायीत्, अगोपायिष्टाम्, अगोपायिषुः (**सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च** से झि को जुस्); अगोपायीः, अगोपायिष्टम्, अगोपायिष्ट; अगोपायिषम्, अगोपायिष्व, अगोपायिष्म । अगोपीत्, अगोपिष्टाम्, अगोपिषुः; अगोपीः, अगोपिष्टम्, अगोपिष्ट; अगोपि-

---

उनके मत में इट् नित्य ही होता है । किन्तु हरदत्त आदि उस नियम को केवल निषेध पर ही लागू मानते हैं, विकल्प पर नहीं । अतः वा इट् होता है । दीक्षित जी ने हरदत्त के मत का ही अनुसरण किया है । डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी जी का कथन है कि इस विषय में स्पष्ट चर्चा **'कृ-सृ-भृ-वृ०'** की व्याख्या के प्रसंग में (पृष्ठ 309 पर) की जा चुकी है, अतः 'जुगोपिथ' एक ही रूप भाष्य-सम्मत है ।

11.3 जप, 4 जल्प व्यक्तायां वाचि ॥ 3 ॥ 3 जप मानसे च ॥ 4 ॥

धातु-वर्ग 11 : पवर्गीयांत परस्मैपदी शेष धातु

11.3 √जप्, 4 √जल्प् स्पष्ट वाणी बोलने में हैं ॥ 3 ॥ 3 √जप् मन ही मन

षम्, अगोपिष्व, अगोपिष्म । अगौप्सीत्, अगौप्ताम् (**झलो झलि** से स् का लोप), अगौप्सुः; अगौप्सीः, अगौप्तम्, अगौप्त; अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म । अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत्, अगोप्स्यत् ।

2 √**धूप्** धातु संताप देना (धूप देना), धूप में सुखाना, सुगन्ध (धूप देना) अर्थ में सकर्मक सेट् है ।

धूपायति—√धूप् से **गुपू-धूप०** से नित्य आय प्रत्यय होता है : धूप्+आय । दीर्घोपध होने से गुण प्राप्त नहीं होता । 'धूपाय' की **सनाद्यन्ता धातवः** से धातु संज्ञा होने पर लट्, तिप्, शप् : √धूपाय+अ+ति । **अतो गुणे** से 'य+अ' के दोनों अकारों को पररूप एकादेश : धूपाय+ति=धूपायति ।

धूपायाञ्चकार, धूपायाम्बभूव, धूपायामास—**आयादय आर्धधातुके वा** से वैकल्पिक आय । शेष प्रक्रिया गोपायाञ्चकार आदि की तरह होती है ।

दुधूप—आयाभाव पक्ष में √धूप+अ । द्वित्व : धूप्+धूप्+अ । अभ्यास-कार्य : दुधूप्+अ=दुधूप । दुधूपतुः, दुधूपुः; दुधूपिथ, दुधूपथुः, दुधूप; दुधूप, दुधूपिव, दुधूपिम ।

धूपायिता, धूपिता, धूपायिष्यति, धूपिष्यति; धूपायतु; अधूपायत्; धूपायेत्; धपाय्यात्, धूप्यात्; अधूपायीत्, अधूपीत्; अधूपायिष्यत्, अधूपिष्यत् ॥ 56 ॥

संदर्भ : 57 वें अनुच्छेद में हम ने ग्यारहवें वर्ग की शेष 37 धातु दी हैं । इनमें से दो (36-37 वीं) धातुओं के पाठ पर मत-भेद है : मैत्रेय इन्हें ऋकारवान् मानते हैं; क्षीरस्वामी तथा सायण ने उनका अनुसरण किया है; मैत्रेय की सूचना के अनुसार अन्य लोग इन्हें इकारवान् मानते हैं । छह धातु (11 √तुम्प्, 13 √त्रुम्प्, 15 √तुम्फ्, 17 √त्रुम्फ्, 37 √सृम्भ् अथवा एकीय √सिम्भ्, एवं 39 √शुम्भ्) उपदेश में नकारवान् हैं, संधि में मकारवान् हो गई हैं । कित् प्रत्ययों में इन सब के नकार का लोप हो जाता है । जैसे—आशीर्लिङ् में यासुट् **किदाशिषि** से कित् होता है, अतः उससे पूर्व स्थित धातु के नकार का लोप होने पर रूप तुप्यात्, त्रुप्यात्, तुफ्यात्, त्रुफ्यात्, सृभ्यात्, सिभ्यात्, शुभ्यात् होते हैं । वासुदेव दीक्षित ने 37वीं को इदित् बताया है । अतः उनके मत में आशीर्लिङ् में 'सिम्भ्यात्' होता है ।

इस वर्ग की 39 धातुओं में 1 √गुप् ऊदित् है, 32 अदित् हैं, 4 इदित् हैं तथा

5 ष सान्त्वने ॥ 5 ॥ 6 षप समवाये ॥ 6 ॥ समवायः (1) सम्बन्धः; (2) सम्यगवबोधो वा । सपति । 7 रप, 8 लप व्यक्तायां वाचि ॥ 7 ॥ 9 चुप न्वायां गतौ ॥ 8 ॥ चोपति; चुचोप; चोपिता ।

10 तुप, 11 तुम्प, 12 त्रुप, 13 त्रुम्प, 14 तुफ, 15 तुम्फ, 16 त्रुफ, में बोलने में भी है ॥ 4 ॥ 5 √चप् सांत्वना देने में है ॥ 5 ॥ 6 √सप् (षोपदेश) समवाय में है ॥ 6 ॥ समवाय (1) संबंध, या (2) भली-भांती समझना है । 7 √रप्, 8 √लप् स्पष्ट स्वर-व्यंजन वाली वाणी बोलने में हैं ॥ 7 ॥ 9 √चुप् धीमे चलने में है ॥ 8 ॥

10 √तुप्, 11 √तुम्प्, 12 √त्रुप्, 13 √त्रुम्प्, 14 √तुफ्, 15 √तुम्फ्,

---

2 उदित् हैं । ह्रस्व उकार की इत्संज्ञा का प्रयोजन **उदितो वा** से क्त्वा में इट् का विकल्प है : सर्मित्वा, सुम्मित्वा, सुप्त्वा; सेमित्वा, सिम्मित्वा, सिप्त्वा ।[1]

3 √जप्, 4 √जल्प् बोलना अर्थ में हैं । 3 √जप् का प्रयोग बोलने की अपेक्षा मन-मन में बोलना अर्थ में अधिक है । हिंदी में यह 'जपना' के रूप में है । ये दोनों धातु सकर्मक हैं । जपति; जजाप, जेपतुः, जेपुः; जेपिथ, जेपथुः, जेप; जजाप, जजप, जेपिव, जेपिम; जपिता; जपिष्यति; जपतु; अजपत्; जपेत्, जप्यात्; अजापीत्, अजपीत्; अजपिष्यत् । जल्पति; जजल्प, जजल्पतुः; अजल्पीत् । शेष रूप √जप् के रूपों के समान हैं । जल्पाकः=गप्पी, बहुत बोलने वाला, वातून ।

5 √चप् चुप कराना, ढाढस बँधाना अर्थ में है । रूप √जप् के समान । रोते को पीट कर चुप कराने वालों की कृपा से यह चपत मारना अर्थ में भी प्रचलित हो गई, जिससे इस धातु से चपटः, चपेटः, चपेटा शब्द 'चपत', 'थप्पड़' अर्थ में हैं ।[2] **9 √चुप्** धीमे-धीमे चलने में अकर्मक है । चोपति; चुचोप; चोपिता; चुप्यात्; अचोपीत्; अचोपिष्यत् । यह निष्पन्द हो जाना, बोलना बंद कर देना, चुप होना अर्थ में भी रही है : **चुप्पं=निष्पन्दत्वम्** (क्षीरस्वामी) चुप्पी; **चुप्पः** चुप्पा । √चप्, √चुप में अर्थ का विपर्यय हुआ लगता है । √चप् गति में और √चुप् सान्त्वन में उचित हैं ।

नवें धातु-सूत्र में क्षीरस्वामी ने छह धातु दी हैं, सायण ने आठ । सायण ने अन्तिम दो (7-8 वीं) धातु चांद्र धातु-पाठ से लीं हैं । दीक्षितजी ने सायण का अनुसरण किया है । इन आठ धातुओं में विषम धातु उकारोपध हैं तथा उनके रूप √चुप् की तरह चलते हैं, सम धातु नकारोपध हैं, **नश्चापदान्तस्य झलि** (8.3.34) से न् को

---

1. इडभावपक्ष में क्त्वा के कित्त्व के निमित्त से नकार-लोप होने से √सुम्म् तथा एकीय √सिम्म् दोनों के यही रूप होते हैं ।
2. क्षी० त० : **चपेटश्चपटो विपुलः** । म० भा० 1.1.1 : **खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति** ।

17 त्रुम्फ हिंसाऽर्थाः ॥ 9 ॥ तोपति; तुतोप । तुम्पति; तुतुम्प; तुतुम्पतु—संयोगात्परस्य लिटः कित्वाभावान्न-लोपो न । 'किदाशिषि' (2216) इ. कित्वान्न-लोपः—तुप्यात् । 'प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि' (16.1.157 सूत्रे ग० सू०) इति पारस्करादिगणे पाठात्सुट्—प्रस्तुम्पति गौः । श्तिपा निर्देशाद् यङ्-लुकि न—प्रतोतुम्पीति । त्रोपति; त्रुम्पति; तोफति; तुम्फति; त्रोफति; त्रुम्फति ।

इहाद्यौ द्वौ पंचम-षष्ठौ च नी-रेफाः; अन्ये स-रेफाः; आद्याश्चत्वारः प्रथमान्ताः; ततो द्वितीयान्ताः; अष्टावप्युकारवन्तः ।

16 √त्रुफ्, 17 √त्रुम्फ् हिंसा अर्थ में हैं ॥ 9 ॥ तुतुम्पतुः—संयोग के बाद स्थित लिट् कित् नहीं होता, अतः नकार का लोप नहीं होता । 'किदाशिषि' (2216) से कित्संज्ञा होने के कारण न् का लोप हो जाता है—तुप्यात् । पारस्करादिगण (6,1.157 पर) में 'प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि' इस प्रकार पठित होने के कारण सुट् होता है—प्रस्तुम्पति गौः । (गण-सूत्र में √तुम्प् का) निर्देश श्तिप् से होने के कारण (सुट्) यङ्-लुक् में नहीं होता—प्रतोतुम्पीति ।

इस धातु-सूत्र में पहली दो तथा पाँचवीं और छठी धातु रेफ-रहित हैं; शेष रेफ-सहित हैं; पहली चार धातुओं के अंत में पवर्ग का पहला वर्ण (प्) है, उसके बाद (चार धातुओं) के अन्त में पवर्ग का दूसरा वर्ण (फ्) है; आठों धातु उ स्वर वाली हैं ।

अनुस्वार तथा **अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः** (8.4.58) से अनुस्वार को म् हो जाता है । **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (6.4.24) की दृष्टि में अनुस्वार तथा परसवर्ण दोनों **पूर्वत्रासिद्धम्** (8.2.1) से असिद्ध हैं, अतः **अनिदितां०** सूत्र से नकार का लोप कित् और ङित् प्रत्ययों में हो जाता है । लिट् में पिद्-भिन्न प्रत्ययों की कित्संज्ञा **असंयोगाल्लिट् कित्** (2242) से होती है, किन्तु √तुम्प् आदि से अतुस् आदि संयोग के पश्चात् होने के कारण कित् नहीं होते, अतः नकार-लोप प्राप्त नहीं है : तुतुम्प, तुतुम्पतुः, तुतुम्पुः; तुतुम्पिथ, तुतुम्पथुः इत्यादि । आशीर्लिङ् में धातु से परस्थ यासुट् **किदाशिषि** (2216) से कित् है, अतः नकार-लोप होगा : तुप्यात्, तुप्यास्ताम्, तुप्यासुः । अन्य तीन नोपध धातुओं के बारे में भी इसी प्रकार समझें ।

पारस्कर-प्रभृतीनि च संज्ञायाम् (6.1.157) गण-सूत्र से संज्ञा में सुट् निपातित है । इसके गण-पाठ में एक सूत्र दिया है : **प्रात् तुम्पतौ गवि कर्तरि** । अर्थात् प्र+√तुम्प् के प्रयोग में यदि इस धातु का कर्ता 'गो' शब्द हो, तो √तुम्प् को सुट् आगम (आद्यवयव) होता है । अतः 'गाय सींग मारती है', अर्थ में 'प्रस्तुम्पति गौः' बनता है । 'तुम्पतौ' में 'तुम्पति' से क्रिया-रूप इष्ट नहीं है, अपितु √तुम्प् अर्थ देने के लिये श्तिप् का प्रयोग किया गया है । इससे (1) मरखना बैल/साँढ़ अर्थ में 'प्रस्तुम्पः',

18 पर्प, 19 रफ, 20 रफि, 21 अर्ब, 22 पर्ब, 23 लर्ब, 24 बर्ब, 25 मर्ब, 26 कर्ब, 27 खर्ब, 28 गर्ब, 29 शर्ब, 30 षर्ब, 31 चर्ब गतौ ॥ 10 ॥ आद्यः प्रथमान्तः, ततो द्वौ द्वितीयान्तौ, तत एकादश तृतीयान्ताः। द्वितीय-तृतीयौ मुक्त्वा सर्वे रोपधाः। पर्पति; पपर्प; रफति; रम्फति; अर्बति; आनर्ब;

18 √पर्प्, 19 √रफ्, 20 √रम्फ्, 21 √अर्ब्, 22 √पर्ब्, 23 √लर्ब्, 24 √बर्ब्, 25 √मर्ब्, 26 √कर्ब्, 27 खर्ब्, 28 √गर्ब, 29 √शर्ब्, 30 √षर्ब्, 31 √चर्ब् गति अर्थ में हैं ॥ 10 ॥ पहली धातु के अंत में (पवर्ग का) पहला वर्ण (प्) है, उसके बाद की दो के अंत में दूसरा वर्ण (फ्) है, उसके पश्चात् ग्यारह धातुओं

'प्रस्तुम्पकः' रूप भी सिद्ध होते हैं, तथा (2) यङ्लुक में **श्तिपा, शपाऽनुबन्धेन०** कारिका के कारण सुट् नहीं होने से 'प्रतोतुम्पीति' रूप बनता है।

दसवें धातु-सूत्र में क्षीरस्वामी ने 15 धातु मानी हैं; सायण ने मूलोक्त 14 की व्याख्या की है। दीक्षितजी ने सायण का अनुसरण किया है। क्षीरस्वामी के पाठ में (1) √पर्प् के स्थान में √वर्फ् है; (2) √पर्ब्, √लर्ब् और √मर्ब् नहीं हैं; (3) √घर्ब्, √सर्ब्, √भर्ब् और √नर्ब् (पाठान्तर : √तर्ब्) अतिरिक्त हैं।

ये सब धातु गति अर्थ में हैं। पंगु (पांगा, पंगला) जिस पर बैठ कर चलता है, वह पीढ़ा या पहियेदार गाड़ी 'पर्प' कहलाती है। इससे धातु के अर्थ गति-विशेष का अन्दाज़ लगता है। अन्य धातुओं का अर्थ किस प्रकार की गति है, यह स्पष्ट नहीं है।

इस दंडक का गठन यदि आद्यक्षरानुक्रम से हुआ होता, तो √बर्ब् को यह कह कर स्पष्ट नहीं करना पड़ता कि यह पवर्गीयादि है।

कंठाचार्य ने √वर्फ्, √रफ् और √रम्फ् का अर्थ हिंसा बताया है (—क्षीर-स्वामी)। √अर्ब् आदि धातु कौशिक के मत में नकारोपध हैं, रेफोपध नहीं। अतः अम्बति; आनम्ब; अब्यात्; आम्बीत् (आ+अम्बीत्) आदि रूप बनते हैं।

क्षीरस्वामी ने √अर्ब् आदि धातुओं को पवर्गीयांत मानते हुए इनके कृदंत रूप बकारांत दिये हैं, जबकि व्यवहार में और कोशों में ये दंत्योष्ठ्यांत हैं—अर्बा=अश्व; खर्बः=ह्रस्व, गर्बः=दर्प, शर्वः, सर्वः, चर्बणम्। बर्बर, बर्बरी=घुंघराले बाल। कर्बटः=400 गाँवों का मुखिया शहर (ज़िला)।

19 √रफ् के कित् लिङ् और सेट् थल् में अभ्यासलोप तथा द्वितीय रफ् के अत् को एत्व : रराफ, रेफतुः, रेफुः; रेफिथ, रेफथुः, रेफ; रराफ, ररफ, रेफिव, रेफिम। लुङ् में वृद्धि-विकल्प—अराफीत्, अराफिष्टाम्, अराफिषुः; अरफीत्, अरफिष्टाम्।

21 √अर्ब् के लिट् में 'आ+अर्ब्+अ' स्थिति में दो हलों 'र् ब्' से युक्त होने के कारण **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** से नुट् : आनर्ब।

पर्बति; लर्बति; बर्बति—पवर्गीयादिरयम् । मर्बति; कर्बति; खर्बति; [illegible]ति; शर्बति; सर्बति; चर्बति ।

32 कुबि आच्छादने ॥ 11 ॥ कुम्बति । 33 लुबि, 34 तुबि अर्दने ॥ 12 ॥ लुम्बति । तुम्बति । 35 चुबि वक्त्र-संयोगे ॥ 13 ॥ 36 षृभु 37 षृम्भु हिंसाऽर्थौ ॥ 14 ॥ सर्भति; ससर्भ; सर्भिता । सृम्भति; ससृम्भ; सृभ्यात् । '36 षिभु, 37 षिम्भु[1]' इत्येके—सेभति । सिम्भति । 38 शुभ, 39 शुम्भ भाषणे ॥ 15 ॥ 'भासने' इत्येके । 'हिंसायाम्' इत्यन्ये ॥ 57 ॥

के अंत में तीसरा वर्ण (ब्) है । दूसरी तीसरी से अन्य सब का उपांत्य वर्ण (उपधा) रेफ है । बर्बति—इस धातु का प्रथम वर्ण पवर्गीय (ब्) है, (दंत्योष्ठ्य व् नहीं) ।

32 √कुम्ब् ढँकने में है ॥ 11 ॥ 33 √लुम्ब्,34 √तुम्ब् गति तथा याचना में हैं ॥ 12 ॥ 35 √चुम्ब् मुँह लगाना (चूमना) अर्थ में है ॥ 13 ॥ 36 √षृभ्, 37 √षृम्भ् हिंसा करना अर्थ वाली हैं ॥ 14 ॥ कुछ लोग मानते हैं कि ये 36 षिभु, 37 षिम्भु (इकारवान्) हैं—सेभति; सिम्भति । 38 √शुभ्, 39 √शुम्भ् बोलने में हैं ॥ 15 ॥ कुछ लोग चमकने में, अन्य लोग हिंसा में मानते हैं ॥ 57 ॥

---

36 √सृभ्, 37 √सृम्भ्(=सृम्भ्)हिंसार्थक हैं । मैत्रेय और सायण के मत में ये दोनों षोपदेश हैं; क्षीरस्वामी इन्हें दंत्य-सकारादि मानते हैं ।[2] सर्भति, ससर्भ, ससृभतुः; ससृम्भ, ससृम्भतुः । दोनों के आशीर्लिङ् में सृभ्यात्, सृभ्यास्ताम्, सृभ्यासुः—यासुट् के कित् होने से √सृभ् में गुण नहीं होता, √सृम्भ् में **अनिदितां हल०** से नकार-लोप ।

---

1. बाल-मनोरमा में इसे इदित् बताया है : आद्य इदुपधो, द्वितीय इदित् । मो० ब० सं० में मूल में भी 'षिभि' कर दिया गया है । मा० धा० वृ० में मैत्रेय के प्रमाण से यथाधृत ही उद्धृत है तथा धातु-पाठीय और एकीय धातुओं में ऋ और इ का ही अन्तर बताया है : **अत्र मैत्रेय एवं पठित्वा " 'षिभ षिम्भ' इत्येक" इति ऋकारस्य स्थाने इकारमप्याह** । दीक्षितजी ने मा० धा० वृ० का ही अनुसरण किया है । अतः वा० म० का पाठ प्रमाद-पाठ है ।

चौखम्बा (1934 ई०) संस्करण में मुद्रित **'ष्टभु ष्टम्भु'** धातुपाठ प्रमाद-पाठ है । वहां धातु-सूची में भी टवर्गवान् पाठ है । यह प्रेस कापी की 'ऋ' की मात्रा को 'ट' पढ़ने के कारण हो गया लगता है ।

2. क्षी० त० : **एतावप्यषोपदेशौ; 'सृ-वर्जम्** (6.1.64 भाष्ये) **इत्यनेनानर्थकस्यापि ग्रहणात्** । पर भाष्यकार का यदि यह आशय होता, तो वे 'सृ' से ही √सृज् और √सृप् का भी पर्युदास इस प्रकार अनर्थक के ग्रहण से होने के कारण इन्हें पृथक् से क्यों देते ? अतः यह मत उचित नहीं है ।

अथानुनासिकान्ताः—

12 तत्र कम्यन्ता अनुदात्तेतो दश—

वर्ग-पञ्चमांत धातु : क. धातु-वर्ग 12 : अ. आत्मनेपदी 1-9

अब अन्त में वर्गों के पाँचवें वर्ण वाली (धातुएँ)—

12 उनमें √कम् तक दस धातु अनुदात्त की इत्संज्ञा वाली हैं—

मैत्रेय का कथन है कि कुछ लोग ऋकारवान् **षृभु, षृम्भु** के स्थान पर इकारवान् **षिभु षिम्भु** धातु यहाँ मानते हैं : सेभति, सिम्भति; सिषेभ, सिषिम्भ; असेभीत्; असिम्भीत्। आशीर्लिङ् में दोनों से 'सिभ्यात्' होता है।

38 √**शुभ्**, क्षीरस्वामी के मत में यहाँ नहीं है, तुदादि में है। देव और मैत्रेय √शुभ् और √शुन्भ् को यहाँ हिंसा अर्थ में मानते हैं, दुर्ग, धनपाल और शाकटायन इन्हें भासन अर्थ में मानते हैं। क्षीरस्वामी ने √शुन्भ् के दो अर्थ दिये हैं : भाषण तथा हिंसा। भवभूति ने 'निषुम्भ' का प्रयोग किया है। उसकी सिद्धि के लिये गुप्ताचार्य ने √षुन्भ् पाठ माना है।[1] रूप शोभति; शुम्भति; सुम्भति इत्यादि होते हैं। कुषुम्भम्=कुसुम्भा, राजपूत राजाओं का प्रिय नशीला पेय।

धातु-योग : दीक्षितजी ने इस वर्ग की धातु-संख्या बताई नहीं है। हमारी गणना—गत धातु 387, वर्तमान 39, योग 426 ॥ 57 ॥

संदर्भ : अब तक आई 426 धातुओं में दो (√भू, √क्षि) स्वरांत धातु आई हैं; शेष 424 धातु अंत में स्पर्शों के पाँच वर्गों के अनुनासिकेतर वर्णों वाली आई हैं। इन सब स्पर्शों के उच्चारण में हवा मुख में आकर रुक जाती है, जबकि नासिक्य स्पर्शों के उच्चारण में हवा मुख से निकलती रहती है। पंचमेतर स्पर्शों की इसी समानता से 426 अपंचमांत धातुओं को पहले देकर फिर हवा जारी रहने की समानता से √घिण्ण् से √क्रम् तक पंचमांत धातु धातु-पाठ में दी प्रतीत होती हैं।

---

1. क्षी०त० 1.292 : **षोपदेशोऽयमिति गुप्तः 'सावष्टम्भ-निषुम्भ-शुम्भन-नमद्-भूगोल०'** (मालती-माधवम् 522) **इत्यादि-दर्शनात्**। मा०मा० के निर्णयसा० सं० में **'०निशुम्भ-सम्भ्रम०'** पाठ छपा है तथा त्रिपुरारि और जगद्धर द्वारा व्याख्यात है। 'निशुम्भ' यहाँ 'परिभव', 'निर्दय यन्त्रण' अर्थ में है। अभिनवभारती (9.275, परिमल सं०) में **शुम्भनं=पीडनं** अर्थ दिया है। सायण ने गुप्त के हवाले से **'निषुम्भ-सम्भ्रम०'** दिया है। मा० मा० की टीकाओं में 'निशुम्भ' के ऊष्म पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। प्रसिद्धि तालव्यवान् शब्द की है। शुम्भ, निशुम्भ। तालव्य की अपेक्षा मूर्धन्यका उच्चारण कठिन पड़ता है।

1 घिणि, 2 घुणि, 3 घृणि ग्रहणे ॥ 1 ॥ नुम्, ष्टुत्वम् । घिणते; जिघिण्णे । घुण्णते; जुघुण्णे । घृण्णते; जघृण्णे । 4 घुण, 5 घूर्ण भ्रमणे ॥ ॥ घोणते । घूर्णते । इमौ तुदादौ परस्मैपदिनौ । 6 पण व्यवहारे, स्तुतौ च ॥ 3 ॥

1 √घिण्, 2 √घुण्, 3 √घृण्(तीनों इदित्) लेना, पकड़ना अर्थ में हैं ॥ 1 ॥ नुम्, (नकार को) टवर्गादेश होते हैं । 4 √घुण्, 5 √घूर्ण, घूमना अर्थ में हैं ॥ 2 ॥ ये दोनों तुदादिगण में परस्मैपदी हैं । 6 √पण् लेन-देन करना और स्तुति करना अर्थ

इन दीक्षितजी के अनुसार 40 तथा हमारे मत में 39 धातुओं में (क) 10 धातु आत्मनेपदी हैं, जो बारहवें वर्ग मे दी गई हैं,[1] (ख) शेष 30 या 29 धातु परस्मैपदी हैं और बारहवें वर्ग में दी गई हैं । ये सब धातु उदात्त बताई हैं, अतः सेट् हैं ।

12.1 **√घिण्, √घुण्** तथा **√घृण्**—तीनों धातु इदित् हैं, अतः इनका व्यवहार-योग्य रूप क्रमशः √घिण्ण्, √घुण्ण् तथा √घृण्ण् है : **इदितो नुम् धातोः** से प्राप्त न् को **ष्टुना ष्टुः** से णत्व हो गया है । ये धातु न केवल अर्थ की दृष्टि से √ग्रह् से सम्बद्ध हैं, बल्कि स्वरूप की दृष्टि से भी √ग्रह् के 'गृह्ण्' अंग के प्राकृत-प्रवृत्ति से देश-भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में विकसित उच्चारण को ही संस्कृत भाषा में आत्मसात् करने की प्रवृत्ति का परिणाम हैं : ऋ के उच्चारण में 'इ' की और 'उ' की स्वर-भक्ति देश-भेद से विद्यमान है; वह शेष रह गई तथा रेफांश लुप्त हो गया । ह् के कारण अल्प-प्राण ग् महाप्राण घ् में विकसित हो गया । अंतिम √घृण्ण् प्राकृत प्रभाव को अंशतः नकारने के परिणाम-स्वरूप है, अथवा 'ऋ' की श्रुति अभिप्रेत होने से अर्ध-परिवर्तित अवस्था की परिचायक है । पंजाबी में √घिण्ण् प्रयुक्त है ।

4 **√घुण्** एवं 5 **√घूर्ण्** घूमना, चक्कर खाना, चकराना अर्थ में अकर्मक हैं । 4 **√घुण्** लघूपध है, अतः शप् तथा इडादि आर्धधातुक बाद में होने पर **पुगन्तलघूपधस्य च** से गुण होता है : घोणते; घोणिता । लिट् के कित् होने से गुण-निषेध : जुघुणे, जुघुणाते, जुघुणिरे; घोणताम्; अघोणत; घोणेत; घोणिषीष्ट; अघोणिष्ट, अघोणिष्यत । घोणा=नाक; घुणः=घुन । घुणाक्षरम् । घुणावर्तः=रहट (क्षीरस्वामी) । 5 **√घूर्ण्** उपदेश में ही दीर्घोपध है । ह्रस्वोपध (**घुर्ण**) पाठ में **उपधायां च** (2265) से दीर्घ से ही बन जाता, अतः यह दीर्घोपध पाठ ज्ञापित करता है कि **उपधायां च** सूत्र सार्वत्रिक (नित्य) नहीं है । अन्य लोग दीर्घवान् उपदेश स्पष्टता के लिये किया मानते हैं । घूर्णते; जुघूर्णे, जुघूर्णाते; घूर्णिता; घूर्णेत; घूर्णिषीष्ट; अघूर्णिष्ट; अघूर्णिष्यत ।

6 **√पण्** व्यापार-व्यवहार, ले-बेंच करना, मूल्य तय करने को बातचीत करना । सौदा करना तथा प्रशंसा करना अर्थ में (सकर्मक) है ।

---

1. हमने यह धातुवर्ग पाठकों की सुविधार्थ दो (58-59) अनुच्छेदों में दिया है ।

7 पन च ॥ 4 ॥ 'स्तुतौ' इत्येव सम्बध्यते, पृथङ्-निर्देशात् । पनि-साहचर्यात् पणेरपि स्तुतावेव 'आय'-प्रत्ययः । व्यवहारे तु पणते, पेणे, पणिता इत्यादि ।

में है ॥ 3 ॥ 7 √पन् भी ॥ 4 ॥ अलग से निर्देश करने से यह सिद्ध होता है कि यह केवल 'स्तुति अर्थ में' कथन से ही सम्बद्ध है । √पन् के साथ के कारण √पण् से भी स्तुति अर्थ में ही 'आय' प्रत्यय होता है । व्यवहार अर्थ में पणते, पेणे, पणिता इत्यादि

---

7 √पन् भी है । यदि आचार्य को √पन् के भी √पण् वाले दोनों अर्थ अभीष्ट होते, तो दोनों धातुओं को एक ही साथ **पण पन स्तुति-व्यवहारयोः** के रूप में दे देते । इस लाघव के विपरीत पृथक्-पृथक् पाठ से यह सूचित होता है कि √पन् के साथ उच्चारित 'च' से अत्यन्त-समीपोच्चारित 'स्तुतौ' का ही अनुकर्षण होता है । अतः √पन् केवल स्तुति अर्थ में है तथा √पण् के दो अर्थ हैं ।

गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः (2303) सूत्र में स्तुत्यर्थक √पन् के साथ √पण् दी है । √पण् व्यवहार और स्तुति दो अर्थों में है । **सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्** (प० 112) से स्तुत्यर्थक √पन् के साहचर्य से स्तुत्यर्थक √पण् से ही आय प्रत्यय होगा (—क्षीरस्वामी) । व्यवहार अर्थ में √पण् आय-रहित ही रहेगी । भट्टि ने **न चोपलेभे वणिजां पणायाम्** (3.27) में व्यवहार अर्थ में भी आय का प्रयोग भ्रान्ति से किया है (—क्षीरस्वामी)[1] । काशिका, न्यास, पद-मंजरी, क्षीर-तरंगिणी और माधवीय धातुवृत्ति में आय स्तुति अर्थ में ही बताया है । दीक्षितजी ने इसी परंपरा का अनुकरण किया है ।[2]

ये दोनों धातु उपदेश में अनुदात्तेत् हैं । अनुदात्तेत्त्वका फल आत्मनेपद √पण् से आय-रहितावस्था में मिल चुकता है, अतः आयान्तावस्था में उसके निमित्त से आत्मने-पद नहीं होगा,[3] पारिशेष्यात् परस्मैपद ही होगा : पणायति चक्रपाणिम् (विष्णु की

---

1. तुलनीय प० म० 3.1.28 । सम्भवतः इसी आपत्ति को दृष्टि में रख कर जय-मङ्गला में **'पणायान्'** (पण+अयान्=पण-लाभान्) पाठ की व्याख्या करके **'पणायाम्'** पाठान्तर की व्याख्या **'वणिजां स्तुतिं संव्यवहार-विषयां नोपलेभे'** करके उपर्युक्त युक्ति के ही आधार पर √पण् से स्तुत्यर्थ में ही आय प्रत्यय होता बताया है ।
2. का० कृ० धा० पा० की कन्नड़ टीका में व्यवहार अर्थ में भी आय बताया है : **पणायते=व्यवहरति** । परन्तु यह लक्ष्य तथा लक्षण दोनों की परम्परा के विरुद्ध है ।
3. का 3.1.28 : **अनुबन्धश्च केवले चरितार्थः । तेनाय-प्रत्ययान्तान्नात्मनेपदम् ।** प० म० : **ये तु व्यवहारार्थादप्यायमिच्छन्ति, तेषामपि पणिष्यते, पणायिष्यतीत्या-दावनुबन्धः केवले चरितार्थः ।**

स्तुतावनुबन्धस्य केवले चरितार्थत्वाद् आय-प्रत्ययान्तान्नात्मनेपदम्—पणायति; रूप बनते हैं। अनुबन्ध ('अ' की अनुदात्तता) स्तुति अर्थ में जब धातु शुद्ध (प्रत्यय-रहित) रहती है, तब अपना कार्य (आत्मनेपद) कर चुकता है, अतः अंत में आय प्रत्यय लगने से निष्पन्न धातु से आत्मनेपद नहीं होता—पणायति; पणायां चकार,

---

स्तुति करता है), शतस्य पणते (सौ का दाँव लगाता है या सौदा करता है)।

7 √पन् से आत्मनेपद के विषय में दो पक्ष हैं :

(1) काशिका और माधवीय धातुवृत्ति में 'पनायति' उदाहरण दिया गया है। दीक्षितजी ने भी इन्हीं का अनुकरण किया लगता है। इसकी युक्ति सम्भवतः यह है कि √पन् से यद्यपि सार्वधातुक के विषय में तो केवल √पन् उपलब्ध नहीं है, परन्तु आर्धधातुक के विषय में आयाभावपक्ष में चरितार्थ होने के कारण आयान्त से आत्मनेपद नहीं होता। अवयव √कम् के अनुदात्तेत्त्व के निमित्त से ही समुदाय 'कामि' में आत्मनेपद की प्राप्ति के होते भी √कम् से णिङ् (आत्मनेपदार्थ ङित्) करना इस युक्ति की पाणिनि-सम्मतता का सूचक है।

(2) अनुदात्तेत् √गुप् से **गुप्तिज्किद्भ्यः सन्** से सन्नन्त √**जुगुप्स** से अनुदात्तेत्त्व के निमित्त से आत्मनेपद करने की भाष्यकार की 'अवयव में किया लिङ्ग (अनुदात्तेत्त्व) समुदाय (प्रत्यय-सहित) में भी फलित होता है', इस व्यवस्था का हवाला देकर क्षीरस्वामी ने कहा है कि यहाँ आय के व्यवधान में भी आत्मनेपद होना चाहिये।[1]

काश्यप, सम्मताकार तथा वासुदेव (दीक्षित नहीं) ने √**पणाय** से भी आत्मनेपद सम्भवतः इस युक्ति के आधार माना है।[2] परन्तु यह मत भाष्य के पूरे कथन को दृष्टि में रखते हुए उचित नहीं है। भाष्यकार का कहना है कि अवयव में किया हुआ लिङ्ग उस समुदाय में चरितार्थ होता है, जिसे वह व्यभिचरित नहीं करता।[3] प्रकृत में अनुदात्तेत्त्व लिङ्ग आय-रहित तथा √पण् और √पन् में चरितार्थ होने से समुदाय √पणाय एवं √पनाय को व्यभिचरित करता है—√पण् के दो अर्थों में से एक में

---

1. क्षी० त० 1.297 : पनायते हरिम्। अत्र 'अवयवेऽपि कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति' (म० भा० 3.1.5) इत्याय-व्यवधानेऽप्यात्मनेपदम्।
2. मा० धा० वृ० 1.436 : अत्र स्वामि-काश्यप-सम्मताकार-वासुदेवादयः 'पणायत' इत्यायान्तादात्मनेपदमुदाहरन्ति।
3. म० भा० 3.1.5 : अवयवे कृतं लिङ्गं तस्य समुदायस्य विशेषकं भवति, यं समुदायं योऽवयवो न व्यभिचरति। सनं च न व्यभिचरति।

पणायां चकार, पेणे; पणायितासि, पणितासे; पणाय्यात्, पणिषीष्ट; पनायति; पनायाञ्चकार, पेने ।

पेणे; पणायितासि, पणितासे; पणाय्यात्, पणिषीष्ट; पनायति; पनायाञ्चकार, पेने ।

आय नहीं होता, वहाँ अनुदात्तेत्त्व के निमित्त से आत्मनेपद होने से अनुदात्तेत्त्व लिङ्ग चरितार्थ हो जाता है, आय होने पर वह अव्यभिचारी नहीं रहता । अतः √पणाय में आत्मनेपद नहीं होना चाहिये, √पन् से आर्धधातुक के विषय में आय का विकल्प होने से अनुदात्तेत्त्व व्यभिचरित है, अतः √पनाय से भी आत्मनेपद उचित नहीं है ।

शंका—लगभग इसी प्रकार की स्थिति **गुप गोपने** (भ्वा०) से **गुप्तिज्किद्भ्यः सन्** (3.1.5) से 'निंदा' अर्थ में सन् विहित होने से √जुगुप्स में होती है । निन्देतर अर्थ में व्यभिचरित होने के कारण उपर्युक्त युक्ति से वहाँ भी अनुदात्तेत्त्व के निमित्त से आत्मनेपद नहीं होना चाहिये, पर भाष्यकार ने अवयव के लिङ्ग से समुदाय में वहाँ आत्मनेपद ही बताया है । तो उसी तरह प्रकृत में भी √पण् और √पन् से आत्मनेपद ही होना चाहिये ।

उत्तर—**गुप्तिज्०** से विहित सन् नित्य है, 'निंदा' आदि अर्थ तो प्रयोगों की बहुलता के आधार पर प्रायिक उपाधिवचन हैं,[1] वह लक्षण का अंश नहीं है, और न वार्तिक (अनुक्त-चिंता-परक वाक्य) ही है । अतः वहां अनुदात्तेत्त्व लिङ्ग सन् को व्यभिचरित नहीं करता, सन् से इतरत्र 'गोपते' आदि रूप इस धातु के नहीं चलते । अतः वहाँ तो √जुगुप्सा में आत्मनेपद ही उचित है । प्रकृत में ऐसी स्थिति नहीं है— √पण् और √पन् दोनों में आय का विकल्प अर्थ-विशेष के नियमन से तदितर में तथा प्रत्यय-विशेष में लक्षण (सूत्र) के द्वारा विहित है, अतः आयाभाव में अनुदात्तेत्त्व के चरितार्थ हो जाने से आय में वह व्यभिचरित हो जाता है । फलतः आत्मनेपद उचित नहीं है ।

निघंटु (3.14.16) में √पन् का आत्मनेपद वाला रूप पनायते[2], तथा √पण् के शुद्धावस्था का, आत्मनेपदी (32 पणते) और आयान्त का परस्मैपदी (31 पणायति) पद 'अर्चति' के पर्यायों में समाम्नात है ।

लिट् आदि की विवक्षा में √पण् से स्तुति अर्थ में भी आय विकल्प से होता है : (क) पणायाञ्चकार, पणायां बभूव, पणायामास; (ख) पेणे, पेणाते, पेणिरे—

---

1. का० 3.1.5 : **निन्दा-क्षमा-व्याधिप्रतीकारेषु सनिष्यते । अन्यत्र यथा-प्राप्तं प्रत्ययाः भवन्ति । प० म : प्रायिकमेतदुपाधिवचनम् ।**
2. इस पद के पाठ-भेद पर विचारार्थ देखें । नि० पाँ० अ०, पृष्ठ 397, पा० टि० 2.

8 भाम क्रोधे ॥ 5 ॥ भामते; बभामे । 9 क्षमूष् सहने ॥ 6 ॥ क्षमते;

8 √भाम् गुस्सा करने में है ॥ 5 ॥ 9 √क्षम् सहना अर्थ में है ॥ 6 ॥

आयाभाव-पक्ष में तथा व्यवहार अर्थ में आयाभाव में 'पण्+पण्+ए' स्थिति में **अत-एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि** से अभ्यासोत्तरवर्ती 'पण्' के 'अ' को एकारादेश तथा अभ्यास का लोप होते हैं।

मूलक-पणः=मूलियों की गुच्छी, शाक-पणः=साग की गुच्छी। पण्यम्=बिक्री की चीज। आपणः=हाट-बाजार। विपणि=दूकान। पनसः=कटहल। पणिः=वणिक्, बनिया। फीनिशिया के मूल निवासी सम्भवतः ऋग्वेदोक्त 'पणि' ही हैं।

8 √**भाम्** गुस्सा करना अर्थ में अकर्मक है। भामते; बभामे; भामितासे। भामः=क्रोधोऽस्या अस्तीति भामिनी=गुस्से वाली, नखरीली स्त्री : **सुन्दरी, रमणी, रामा, कोपना सैव भामिनी** (अमर-कोश)। तनिक-सी बात पर बिगड़ने को अपना हक़ समझने के कारण भामः=जीजा :

अहो भगिन्यहो भाम, मया वां बत पाप्मना।
पुरुषाद इवापत्यं बहवो हिंसिताः सुताः ॥ श्रीमद्भा० 10.4.15

9 √**क्षम्** ऊदित् और षित् है। ऊदित्त्व का प्रयोजन **स्वरति-सूति-सूयति०** से इट् का विकल्प है : क्षमितासे, क्षन्तासे। षित्त्व का प्रयोजन √क्षम् से भावार्थ में स्त्री-लिंग में अङ् प्रत्यय **षिद्-भिदादिभ्योऽङ्** (3.3.104) से करना है : क्षमा सहना, सहने वाली पृथ्वी।

यह √सह् के अर्थ में है। √सह् के दो अर्थ हैं : (1) मर्षण, इससे इसका अर्थ अपराधादि को सहना, उसका प्रतीकार न करना, क्षमा करना प्रचलित हुआ है; (2) अभिभव, इससे समर्थ (सक्षम) होना बना है। दैवादिक धातु प्रथम अर्थ में तथा भौवादिक द्वितीय में प्रचलित है। क्षमः=समर्थ, क्षमा, क्षान्ति=सहनशीलता।

चक्षमिषे, चक्षंसे—'क्षम्+क्षम्+से', अभ्यास-कार्य : चक्षम्+से; ऊदित् होने के कारण **स्वरति-सूति-सूयति०** से वा इट् : चक्षम्+इसे (=चक्षमिषे)। इडभावपक्ष में 'चक्षम्+से' स्थिति में **नश्चापदान्तस्य झलि** से म् को अनुस्वार : चक्षंसे। यहाँ **अनुनासिकस्य क्वि-झलोः क्ङिति** से दीर्घ प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यहाँ संभव पर निमित्त झल् पद तिङ्-भिन्न क्वि के साथ पठित होने से **सहचरितासहचरितयोः०** (प० 112) से तिङ्-भिन्न झलादि प्रत्यय के निमित्त से ही प्रकृत दीर्घ प्राप्त होता है; प्रस्तुत में 'से' तिङ् झलादि है (—वा० म०)।

चक्षमिध्वे, चक्षन्ध्वे—इडभाव-पक्ष में **अट्-कु-प्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि** से न् को ण् नहीं होता, क्योंकि न् हुए अनुस्वार तथा परसवर्ण कार्य **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध हैं।

चक्षमे, चक्षमिषे-चक्षसे, चक्षंमिध्वे, चक्षमिवहे। 2309 म्वोश्च (8.2.65)—मान्तस्य धातोर्मस्य नकारादेशः स्यान् मकारे वकारे च परे। णत्वम्—चक्षण्वहे, चक्षमिवहे, चक्षण्महे; क्षमिष्यते, क्षंस्यते; क्षमेत; आशिषि क्षमिषीष्ट, क्षंसीष्ट; अक्षमिष्ट, अक्षंस्त ॥ 58 ॥

12.10 कमु कान्तौ ॥ 7 ॥ कान्तिः=इच्छा।

2309 अन्त में म् वर्णवाली धातु के म् को न् आदेश हो, बाद में म् और व् होने पर। (न् को) ण् हो जाता है—चक्षण्वहे, चक्षण्महे। आशीर्लिङ् में क्षमिषीष्ट, क्षंसीष्ट (रूप होते हैं) ॥ 58 ॥

आ. मकारांत आत्मनेपदी धातु : 12.10 √कम्

12.10 √कम् कांति अर्थ में है ॥ 7 ॥ कांति माने चाहना।

चक्षमिवहे, चक्षण्वहे—इडभावपक्ष में **म्वोश्च** से क्षम् के म् को न् : चक्षम्+वहे; **अट्-कु-प्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि** से त् को ण् : चक्षण्वहे। इसी प्रकार चक्षमिवहे, चक्षण्महे।

क्षमितासे, क्षन्तासे; क्षमिष्यते, क्षंस्यते; क्षमताम्; अक्षमत; क्षमेत; क्षमिषीष्ट, क्षंसीष्ट; अक्षमिष्ट, अक्षमिषाताम्, अक्षमिषत; अक्षमिष्ठः, अक्षमिषाथाम्, अक्षमिढ्वम्, अक्षमिध्वम्; अक्षमिषि, अक्षमिष्वहि, अक्षमिष्महि; अक्षंस्त, अक्षंसाताम्, अक्षंसत; अक्षंस्थाः; अक्षंसाथाम्, अक्षन्ध्वम्—**धि च** से स् का लोप, **नश्चापदान्तस्य०** से न् को अनुस्वारादेश तथा उसे **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से परसवर्ण नकारादेश; अक्षंसि, अक्षण्वहि, अक्षण्महि—**म्वोश्च** से म् को न्, णत्व; अक्षमिष्यत, अक्षंस्यत।

2309 **म्वोश्च** (8.2.65)—म्वोः 7.2। 'च' से **मो नो धातोः** (64) का अनुकर्षण होता है। 'मः' पद **धातोः** का विशेषण है, अतः इसमें तदंत-विधि होती है : मान्तस्य धातोः। **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा अर्थतः उपस्थित होती है : म्वोः परयोः च (मान्तस्य धातोः अन्त्यस्य अलः नः आदेशः भवति)। मकार एवं वकार बाद में होने पर पूर्व-वर्ती मकारांत धातु के अंतिम वर्ण को न् आदेश होता है। इस व्याख्या में मूलोक्त **'मस्य'** पद **अलोऽन्त्यस्य** का फलितार्थ है। यह अर्थ 'मः' की आवृत्ति करके भी आ सकता है : मः (=मान्तस्य) (धातोः अवयवस्य) मः नः भवति म्वोः परयोः। मकारांत धातु के अवयव म् को न् हो जाता है, बाद में मकार या वकार होने पर ॥ 58 ॥

संदर्भः अंत में वर्गों के पाँचवें वर्ण वाली आत्मनेपदी धातुओं वाले 12वें वर्ग में अन्तिम तथा 10वीं धातु √कम् है। प्रक्रिया-विस्तार के कारण हमने इसे पृथक् 59वें अनुच्छेद में दिया है।

12.10 **√कम्** धातु चाहना अर्थ में सकर्मक सेट् है। 'उ' की इत्संज्ञा का

2310 कमेर्णिङ् (3.1.10)—स्वार्थे। ङित्त्वात्तङ्—कामयते। 2311 अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (6.4.55)—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु—एषु णेरयादेशः स्यात्। वक्ष्यमाण-लोपापवादः। कामयांचक्रे। आयादय आर्धधातुके वा (2305)—चकमे; कामयिता, कमिता; कामयिष्यते, कमिष्यते।

2310 √कम् से धातु के अपने अर्थ में णिङ् हो। इत्संज्ञक ङ्० वाली होने के कारण आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं—कामयते। 2311 आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु—ये (प्रत्यय) बाद में होने पर (पूर्व-वर्ती) णि को 'अय्' आदेश हो। आगे (2313 'णेरनिटि' सूत्र से) बतलाये जाने वाले लोप का बाधक है। कामयांचक्रे। आर्धधातुक प्रत्यय बाद में होने पर आय आदि विकल्प से होते हैं—चकमे; कामयिता, कमिता; कामयिष्यते, कमिष्यते।

प्रयोजन क्त्वा में **उदितो वा** से तथा निष्ठा में **यस्य विभाषा** से इट् का निषेध करना है : कमित्वा, कान्त्वा; कान्तम्, कान्तवान्, कान्तः।

2310 **कमेः 5.1 णिङ् 1.1** (3.1.30)—धातोरेकाचो हलादेः० (22)। अर्थ-विशेषका कथन न होने के कारण णिङ् स्वार्थ में ही होता है : कमेः धातोः णिङ् स्वार्थे। √कम् धातु के पश्चात् उसके अपने अर्थ में णिङ् प्रत्यय होता है।

णिङ् में ण् और ङ् इत्संज्ञक हैं, जिनका प्रयोजन क्रमशः धातु की उपधा के अकार को **अत उपधायाः** से वृद्धि और **अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्** से आत्मनेपद हैं : कामि। **सनाद्यन्ता धातवः** से धातु संज्ञा, लट्, त, शप् : √कामि+अ+त; **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से इ को ए गुण, अय् आदेश : कामय्+अत; 'त' की **ङित आत्मनेपदानां टेरे** से एत्त्व : कामयते। कामयेते, कामयन्ते; कामयसे, कामयेथे, कामयध्वे; कामये, कामयावहे, कामयामहे।

काशकृत्स्न-धातुपाठ से टीकाकार चन्नवीरकवि ने सार्वधातुक में भी णिङ् के विकल्प का उदाहरण दिया है : कमते, कामयते। पर वाङ्मय में शुद्ध √कम् सार्वधातुक प्रत्ययों में उपलब्ध नहीं है। अतः यह चिन्त्य है।

2311 **अय् 1.1 आमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु 7.3** (6.4.55)—णे 6.1 अनिटि (51) : आम्-अन्त-आलु-आय्य-इत्नु-इष्णुषु णेः अय् भवति—1 आम्, 2, अन्त, 3 आलु, 4 आय्य, 5 इत्नु, 6 इष्णु प्रत्यय बाद में होने पर पूर्ववर्ती णि को 'अय्' आदेश होता है। यह सूत्र अनिडादि आर्धधातुक मात्र में णि का लोप करने वाले **णेरनिटि** (2313) का परत्वेन तथा निरवकाशत्वेन अपवाद है।

कामयाञ्चक्रे—√कम् से **आयादय आर्धधातुके वा** से विकल्प से णिङ् : √कम्+

2312 णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ् (3.1.48)—ण्यन्तात्, श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे। 'अकाम्+इ+अ+त' इति स्थिते—2313 णेरनिटि (6.4.51)—अनिडादावार्ध-धातुके परे णेर्लोपः स्यात्।

2312 ण्यंत के, √श्रि, √द्रु और √स्रु के पश्चात् स्थित च्लि को चङ् हो बाद में कर्तृ-वाचक लुङ् होने पर। 'अकाम्+इ+अ+त' स्थिति में—2313 आदि में इट् से रहित आर्धधातुक (प्रत्यय) बाद में होने पर (पूर्ववर्ती) णि का लोप हो

इ; **अत उपधायाः** से वृद्धि तथा **सनाद्यन्ता धातवः** से धातु संज्ञा : √कामि। लिट्, तथा **कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि** से आम् : √कामि+आम्+लिट्। **आमः** से लिट् का लुक् : कामि+आम्। **अयामन्ताल्वा०** से इ को अय् : कामय्+आम्। **कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि** से लिट्-परक √कृ का अनुप्रयोग : कामयाम्+कृ+लिट् : शेष प्रक्रिया 'एधाचक्रे' की तरह होती है।

कामयाम्बभूव तथा कामयामास भी √एध् की तरह ही बनते हैं।

चकमे—णिङभाव-पक्ष में √कम्+लिट्, लिट् को त, त को ए : कम्+ए। द्वित्व : कम्+कम्+ए। अभ्यासकार्य : चकमे। चकमाते, चकमिरे; चकमिषे, चकमाथे, चकमिध्वे; चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे।

लुट् और लृट् में तास् और स्य में णिङ्-विकल्प : काम्+इ+ता, इट्, गुण, अयादेश : कामयिता, कामयितासे; कामयिष्यते।

लोट् : कामयताम्; लङ् : अकामयत; विधि-लिङ् : कामयेत; आशीर्लिङ् : कामयिषीष्ट, कमिषीष्ट—**आयादय आर्धधातुके वा** से णिङ्-विकल्प। लुङ् में—

2312 णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ् (3.1.43)—च्लि लुङि 7.1 (43), च्लेः 6.1 सिच् (44): णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि लुङि च्लेः चङ्। 'णि' प्रत्यय है, अतः **प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः, तदादेः तदन्तस्य ग्रहणम्** (प० 24) से तदन्त-विधि होती है : णेः (=ण्यन्तात्)। √श्रि आदि धातु हैं, अतः, तथा 'णि' धातु से विहित है, इसलिए 'ण्यन्तात्' का विशेष्य भी तदाक्षिप्त 'धातोः' पद रहेगा : ण्यन्तात् धातोः, श्रि-द्रु-स्रुभ्यश्च धातुभ्यः (विहितस्य) च्लेः चङ् भवति कर्तरि लुङि—ण्यंत धातु से, **श्रिञ् सेवायाम्** से, **द्रु गतौ** से और **स्रु गतौ** से विहित च्लि को चङ् आदेश होता है, कर्त्रर्थक लुङ् में।

यहाँ 'णि' निरनुबन्धक दिया है, अतः णिङ् तथा णिच् (स्वार्थिक और प्रेरणार्थक) दोनों का ग्रहण होगा।

2313 णेः 6.1 अनिटि 7.1 (6.4.51)—आर्धधातुके (46), अतो लोपः (48): अनिटि आर्धधातुके णेः लोपः। 'अनिटि' में **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से

परत्वाद् 'एरनेकाच०' (6.4.82) इति यणि प्राप्ते 'ण्यल्लोपावियङ्-यण्-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वं-विप्रतिषेधेन' (वा०) इति वार्तिकम्। णि-लोपस्य तु पाचयतेः

जाए। इस सूत्र की अपेक्षा परवर्ती होने के कारण 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (6.4.82) से यण् प्राप्त होने पर " 'णि' का और ह्रस्व 'अ' का लोप तुल्यबल वाला पूर्व-वर्ती विरोधी होते हुए भी 1 इयङ्, 2 यण्, 3 गुण, 4 वृद्धि और 5 दीर्घ की अपेक्षा बल-

---

तदादि-विधि होती है : अनिडादौ आर्धधातुके (परे पूर्वस्य) णेर्लोपः—जिसके आदि में इट् नहीं हुआ है, ऐसा आर्धधातुक प्रत्यय बाद में होने पर पूर्ववर्ती णि का लोप हो जाता है। यहाँ भी 'णि' से णिङ् और णिच् दोनों प्रत्ययों का ग्रहण होगा।

'अकामि+च्लि+त' स्थिति में **णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः०** (2312) सूत्र से च्लि को चङ् होने पर 'अकामि+अत' स्थिति में **णेरनिटि** (2313) से इ का लोप तथा **एरनेकाचोऽसंयोग-पूर्वस्य** से इ को यण् दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं, दोनों विधियों का विरोध तुल्यबल है : अन्यत्र लब्धावकाश दो विधियों की एक विषय में युगपत् प्रवृत्ति तुल्य-बल-विरोध होता है।[1] **एरनेकाचो०** से विहित यण् 'प्रध्यौ' आदि अनेक स्थलों में लब्धाकाश है ही, **णेरनिटि** से विहित णि-लोप भी √पच् के ण्यन्त √पाचि से **क्तिच्-क्तौ च संज्ञायाम्** से क्तिच् करने पर √पाचि+क्ति स्थिति में सावकाश हो जाता है : पाक्तिः। क्योंकि पाचि+ति स्थिति में इयङ् (**अचि श्नु-धातु०** से) तथा यण् (**एरनेकाचो०**) से प्राप्त नहीं हैं : ये दोनों अजादि प्रत्यय बाद में होने पर ही प्राप्त होते हैं, यहाँ ति हलादि है। गुण (**सार्वधातुकार्ध०** से) ति के कित्त्व से बाधित हो जाता है। वृद्धि का निमित्त ञित्त्व या णित्त्व भी प्रत्यय में नहीं है, उल्टे उसका बाधक कित्त्व है; अतः वृद्धि भी नहीं है। दीर्घ (**अकृत्सार्वधातुकयोः०** से) यादि प्रत्यय से पूर्व प्राप्त होता है। यहाँ वह भी प्राप्त नहीं है। ति के वलादित्व के निमित्त से प्राप्त इट् का निषेध **ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च** (7.2.9) से हो जाता है; अतः 'ति' अनिडादि प्रत्यय है, जो धातु से विहित एवं तिङ्-शिद्-भिन्न होने से आर्ध-धातुक भी है। अतः 'पाचि+ति' स्थिति में केवल णि का लोप होता है और इस प्रकार णि-लोप 'अकामि+अ+त' से अन्यत्र ('पाक्ति' में) सावकाश है। दोनों (यण् और णिलोप) विधियों का विषय एक 'इ' ही है। अतः यहाँ विप्रतिषेध (तुल्य-बल-विरोध) है, और **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से यण् बलवान् ठहरता है। ऐसी स्थिति में **ण्यल्लोपावियङ्-यण्-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वं-विपतिषेधेन** (वा०) से यण् को उसके पूर्ववर्ती तुल्य-बल-विरोधी णि-लोप

---

1. **अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशयोर्द्वयोः शास्त्रयोरेकत्र युगपत् प्रवृत्तिः तुल्य-बल-विरोधः।** का० 1.4.2 भी देखें : **यत्र द्वौ प्रसङ्गावन्यार्थविकस्मिन् युगपत् प्राप्नुतः, स तुल्य-बल-विरोधः।**

'पाक्तिः' इत्यादि क्तिजन्तमवकाश इति भावः। वस्तुतस्तु 'अनिटि' इति वचन-सामर्थ्यादार्धधातुक-मात्रमस्य विषयः। तथा चेयङादेरपवाद एवायम्।

वान् होता है", यह वार्तिक है। णि के लोप का तो अवकाश √पाचि से क्तिच् प्रत्यय लग कर बना 'पाक्ति इत्यादि रूप है, यह तात्पर्य है। वास्तव में तो इट् से रहित में इस प्रकार कहने की सामर्थ्य के कारण इसका विषय सब आर्धधातुक प्रत्यय हैं। इस

के द्वारा बाध लिया जाता है।

शंका—यण् पर है, इसलिए पूर्ववर्ती णि-लोप को बाध कर उसे होने दें, फिर यण् को स्थानिवद्भाव करके उसे णि समझ कर **णेरनिटि** से उसका लोप कर सकते हैं। तब प्रकृत वार्तिक व्यर्थ है।

उत्तर—यण् का स्थानी इ अल् है। उसी को णि के रूप में मान कर होने वाला णि-लोप अलाश्रय-विधि है। अतः **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** के पर्युदास-वाक्य से यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता।

इस वार्तिक से (क) 1 इयङ्, 2 यण्, 3 गुण, 4 वृद्धि और 5 दीर्घ को बाध कर पूर्व-विप्रतिषेध से[1] णि का लोप होता है, और (ख) 1 वृद्धि तथा 2 दीर्घ को बाध कर अत् का लोप होता है।

प्रकृत वार्तिक में णि-लोप के ग्रहण पर दीक्षितजी का कथन है कि निम्न हेतु से यह आवश्यक नहीं है—

णेरनिटि (2313) में 'अनिटि' पद साभिप्राय है : यदि यहाँ **णेः** ही सूत्र रहे, तब भी 'आर्धधातुके' का अधिकार होने से 'आर्धधातुक प्रत्यय बाद में होने पर णि का लोप होता है', अर्थ होता है। इडादि आर्धधातुक बाद में होने पर णि कामि+इता, कारि+इता इत्यादि में **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण णि के लोप को बाध लेता है। इसी तरह अन्यत्र भी इयङ्, यण्, वृद्धि, दीर्घ आदि भी पर होने से णिलोप को बाध लेते हैं। फलतः णि-लोप क्तिच् प्रत्यय में ही (इयङ् इत्यादि की प्राप्ति न होने से) सावकाश होता। क्तिच् अनिडादि आर्धधातुक है। अतः उसके लिए यहाँ 'अनिटि' कहना व्यर्थ ही है। इसके विपरीत आचार्य के 'अनिटि' के ग्रहण का अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार का आर्धधातुक प्रत्यय—चाहे वलादि होते हुए भी **एकाच उपदेशे०** से

---

1. अष्टाध्यायी में पूर्व-वर्ती तुल्य-बल-विरोधी सूत्र यदि परवर्ती को बाध कर प्रवृत्त होता है, तो पूर्व-विप्रतिषेध होता है। यदि परवर्ती तुल्य-बल-विरोधी सूत्र पूर्व-वर्ती तुल्य-बल-विरोधी सूत्र को बाध कर प्रवृत्त होता है, तब पर-विप्रतिषेध होता है। पर-विप्रतिषेध अधिक होता है, पूर्व-विप्रतिषेध कम।

इयङ्—अततक्षत्। यण्—आटिटत्। गुणः—कारणा। वृद्धिः—कारकः। दीर्घः—कार्यते।

प्रकार यह इयङ् आदि का अपवाद ही है। इयङ् का अपवाद—अततक्षत्, यण् का अपवाद—आटिटत्, गुण का अपवाद—कारक, दीर्घ का अपवाद—कार्यते।

अनिट् हो, चाहे अवलादि होने से स्वभावतः अनिट् हो—इस सूत्र का विषय है। अर्थात् आर्धधातुक प्रत्ययमात्र में प्रस्तुत सूत्र लागू होता है।

फलतः जहाँ भी आर्धधातुक में णिलोप प्राप्त होगा, वहीं इयङ्, यण्, गुण, दीर्घ तथा वृद्धि भी प्राप्त होंगे तथा ये सब पर होने के कारण णिलोप को (इसके प्रत्येक प्राप्ति-स्थल में) बाध लेगें। तब णिलोप का तो कोई अवकाश ही नहीं रहेगा। अतः निरवकाश होने के कारण णिलोप अपवाद हो जाता है, एवम् **पूर्व-पर-नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरम्बलीयः** (प० 39) से इयङ् आदि पर विधियों को बाध लेता है। अतः प्रस्तुत वार्तिक द्वारा इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि तथा दीर्घ को बाध कर णिलोप का विधान करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए णिलोप-पक्ष में प्रस्तुत वार्तिक व्यर्थ है। हाँ, **अतो लोपः** से अत् के लोप का विधान 'चिकीर्षकः' में वृद्धि तथा 'चिकीर्ष्यात्' में **अकृत्सार्वधातुकयोः०** से प्राप्त दीर्घ को प्रस्तुत वार्तिक से बाध कर हो जाता है। 'गोपायिता' इत्यादि स्थलों में वृद्धि तथा दीर्घ की प्राप्ति नहीं होते हुए भी अत् का लोप हो जाता है। इसलिए **अतो लोपः** सावकाश होने के कारण अपवाद नहीं है। फलतः पर वृद्धि तथा दीर्घ से इसके बाधित होने के कारण अत् के लोप का विधान पूर्व-विप्रतिषेध से करना आवश्यक है। अतः **'अल्लोपो दीर्घ-वृद्धिभ्यां पूर्व-विप्रतिषेधेन'** इतना ही वार्तिक होना चाहिए।

1 इयङ् की प्राप्ति को पूर्व-विप्रतिषेध से बाध कर णिलोप की प्राप्ति का उदाहरण—**अततक्षत्**—√तक्ष् से **हेतुमति च** से णिच् : √तक्ष्+इ। धातुसंज्ञा, लुङ्, तिप् तथा इ का लोप : √तक्ष्+इ+त्। च्लि को चङ्, द्वित्व : तक्ष्+तक्ष्+इ+अ+त्। संयोगपूर्वक होने के कारण **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य से** यण् की प्राप्ति न होने से **अचि श्नु-धातु-भ्रुवाम्०** से इयङ् प्राप्त होता है, तथा **णेरनिटि** से णिलोप। **विप्रतिषेधे परङ्कार्यम्** से परत्वाद् इयङ् की ही प्राप्ति होने पर अपवाद होने से णि का लोप हो जाता है : तक्ष्+तक्ष्+अ+त्। **हलादिः शेषः** से अभ्यास के 'क्ष्' का लोप होने पर **लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः** से अट् : अ+त+तक्ष्+अत्=अततक्षत्।

2 यण् की प्राप्ति को बाध कर णिलोप का उदाहरण—**आटिटत्**—ण्यंत √आटि से लुङ् में 'आटि+अ+त्' स्थिति में **चङि** से अजादि होने से (**अजादेर्द्वितीयस्य**) टि को द्वित्व होता है : आ+टि+टि+अत्। असंयोगपूर्वक होने से **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् तथा णिलोप प्राप्त होते हैं। अपवाद होने से णिलोप :

2314 णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (7.4.1)—चङ्-परे णौ यदङ्गम्, तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात्। 2315 चङि (6.1.11)—चङि परेऽन-

2314 बाद में चङ् से युक्त णि से पूर्व जो अंग, उसकी उपधा को ह्रस्व हो। 2315 अभ्यासरहित धातु के अवयव प्रथम एकाक्षर समुदाय को द्वित्व होता है, आदि में स्वर

आ+टि+ट्+अत्। **आडजादीनाम्** से आट् : आ+आ+टि+ट्+अत्। **आटश्च** से वृद्धि एकादेश : आटिटत्।

3 गुणप्राप्ति को बाध कर णिलोप का उदाहरण—**कारणा**—ण्यंत √कारि से **स्त्रियाम्** के अधिकार में **ण्यास-श्रन्थो युच्** से युच् : कारि+यु। **युवोरनाकौ** से यु को अन : कारि+अन। धातु से विहित होने के कारण 'अन' आर्धधातुक है, अतः **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से प्राप्त पर होने से बलवान् गुण को णिलोप अपवाद होने से बाध कर होता है : कार्+अन। **अजाद्यतष्टाप्** से टाप : कार्+अन+आ। सवर्ण-दीर्घ, णत्व : कारणा।

4 वृद्धि को बाध कर णिलोप का उदाहरण—**कारकः**—√कारि से **ण्वुल्तृचौ** से ण्वुल् : कारि+वु। वु को **युवोरनाकौ** से अक : कारि+अक। **अचो ञ्णिति** से पर होने से प्राप्त वृद्धि को अपवादत्वात् बाध कर णिलोप होता है : कार+अक=कारक, प्रातिपदिक कार्य होने पर कारकः।

5 दीर्घ को बाध कर णिलोप का उदाहरण—**कार्यते**—√कारि से कर्म में लट्, त, **सार्वधातुके यक्** से यक् : कारि+य त। 'य' की आर्धधातुक संज्ञा। यादि आर्धधातुक परे होने के कारण **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से परत्वाद् दीर्घ प्राप्त होता है। अपवाद होने से णिलोप उसे बाध लेता है : कार्+यत, **टित आत्मनेपदानां टेरे** से 'त' की टि 'अ' को एः कार्+य+ते=कार्यते।

2314 णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (7.4.1)—अङ्गस्य (6.4.1) : चङि णौ अङ्गस्य उपधाया ह्रस्वः (भवति)। 'चङि' तथा 'णौ' में परार्था सप्तमी है। चङि (परे सति यः णिः तस्मिन्) णौ (परे) अङ्गस्य उपधाया ह्रस्वो (भवति)—चङ्परक (चङ् परे है, जिससे ऐसा) णि परे होने पर अंग की उपधा को ह्रस्व होता है।

2315 चङि (6 1.12)—एकाचो द्वे प्रथमस्य (1), अजादेर्द्वितीयस्य (2), लिटि धातोरनभ्यासस्य (8) : चङि अनभ्यासस्य धातोः प्रथमस्य एकाचः द्वे (भवतः), अजादेः द्वितीयस्य। 'चङि' में परसप्तमी तथा 'धातोः' में अवयवषष्ठी है। फलतः निम्नलिखित अर्थ पर्यवसित हुआ—चङि (परे) अनभ्यासस्य धातोः (अवयवस्य) प्रथमस्य एकाचः द्वे (भवतः), अजादेः (तु) द्वितीयस्य—बाद में चङ् होने पर अभ्यास-

भ्यास-धात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, अजादेस्तु द्वितीयस्य। 2316 सन्वल्लघुनि चङ्-परेऽनग्लोपे (7.4.93)—'चङ्-परे' इति बहु-व्रीहिः, अन्य- वाली धातु के दूसरे (एकाक्षर समुदाय) को, बाद में चङ् होने पर। 2316 'चङ्-परे'

रहित धातु के अवयव पहले एकाच् समुदाय को द्वित्व होता है, स्वरादि धातु के तो दूसरे एकाच् समुदाय को।

2316 **सन्वल्लघुनि चङ्-परेऽनग्लोपे** (7.4.93)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (58), अङ्गस्य (6.4.1) : अङ्गस्य अभ्यासस्य सन्वत्, लघुनि चङ्-परे अनग्लोपे।

दो प्रकार से व्याख्या : इस सूत्र की व्याख्या सम्प्रदाय में दो तरह से उपलब्ध है : (1) भाष्य-कार के मत से, (2) काशिका-कार के मत से। कैयट ने दोनों व्याख्याएँ—पहली स्वाभिमत व्याख्या के रूप में तथा दूसरी **'अन्ये तु व्याचक्षते'** कह कर—उद्धृत की हैं। हरदत्त ने केवल दूसरी व्याख्या ही स्पष्ट की है। न्यासकार ने कैयट की व्याख्या ही दी है। सायण ने दूसरी व्याख्या ही मानी है, उद्धृत प्रथम भी की है। उन्होंने एक पक्ष-विशेष (कार्य-काल) के आधार पर एक स्थल पर अन्वय भी परंपरा से भिन्न प्रकार से दिया है। दीक्षित जी ने दोनों संप्रदायों की व्याख्याएँ दी हैं : पहली व्याख्या को उन्होंने और स्पष्ट तथा पूर्ण बनाया है, दूसरी व्याख्या 'अथवा' कह कर केवल प्रस्तुत कर दी है, एवं प्रकरण के अंत में सायण का कार्य-काल-पक्षानुसारी कथन स्पष्ट करके उसके दोष बताते हुए दोनों संप्रदायों की व्याख्याओं को स्वीकार करके स्पष्ट किया है।

संप्रदाय-भेद का कारण सूत्र के पदों के अन्वय में मत-भेद है :

दोनों पक्षों का इष्ट समान अन्वय : दोनों सम्प्रदायों में (क) 'अङ्गस्य' का अन्वय 'अभ्यासस्य' से तथा 'अङ्गस्य' में अवयव-षष्ठी इष्ट है; (ख) 'अभ्यासस्य' में स्थाने-षष्ठी एवम् उसका संबंध 'सन्वत्' से इष्ट है; (ग) 'लघुनि' का अन्वय 'अभ्यासस्य' से और 'लघुनि' में पर-सप्तमी अभीष्ट है; (घ) 'चङ्-परे' में बहुव्रीहि[1] है, तथा

---

1. 'चङ् चासौ परश्च, तस्मिन्' (कर्मधारय) करने पर (क) अर्थ 'चङ् बाद में होने पर' होता है, जो 'चङि' कहने से आ जाता, तब 'पर' शब्द व्यर्थ हो जाता है; (ख) कर्मधारय लक्ष्यविरोधी भी है : केवल 'चङ् बाद में होने पर' कहने से शुद्ध √द्रु, √स्रु को भी सन्वद्भाव होगा और फलतः √द्रु+लुङ् में 'अदुद्रव्+अत्' स्थिति में सन्वद्भाव से **"स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां वा'** (7.4.81) से वा इत्त्व होकर अदिद्रवत्, अद्रुद्रवत् (इसी प्रकार √स्रु से असिस्रवत्, असुस्रवत्) रूप प्राप्त होंगे, जो अनिष्ट हैं।

पदार्थो णिः। (1) स च, 'अङ्गस्य' इति च द्वयमप्यावर्तते—'अङ्ग'-संज्ञा-
पद बहु-व्रीहि है; अन्य-पदार्थ 'णि' है। (1) वह (णि) और 'अङ्गस्य', ये दोनों दुह-

---

अन्य-पदार्थ 'णौ' है[1]; (ङ) 'अनग्लोपे' का संबंध पूर्व-वर्ती 'चङ्-परे' पद से लभ्य 'णौ' से ही है[2], तथा 'णौ' में निमित्त-सप्तमी है एवम् 'अनग्लोपे' में 'सति'-सप्तमी : अङ्गस्य अवयवस्य अभ्यासस्य स्थाने सन्वद् भवति लघुनि चङ्-परे णौ अनग्लोपे।

---

1. चङ् णि, √श्रि, √द्रु, √स्रु के बाद आता है; अतः यदि 'चङ्-पर' का अन्य-पदार्थ ये सब माने जायें, तो √द्रु, √स्रु की शुद्धावस्था (अदु+द्रव्+अत्) में भी सन्वत्त्व हो जायेगा तथा **'स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति च्यवतीनां वा'** से इत्त्व* होकर अदुद्रवत्, असुस्रवत् के स्थान पर अदिद्रवत्, अदुद्रवत् तथा असिस्रवत्, असुस्रवत्, ये अनिष्ट रूप भी बनेंगे। दीक्षितजी ने इस स्थिति के निवारण के लिये 'अङ्गस्य' की आवृत्ति करके उसका संबंध 'णौ' से किया है तथा 'अङ्गस्य' में षष्ठी 'निमित्त' अर्थ में बताई है; अंग संज्ञा का निमित्त कोई प्रत्यय होता है : **'यस्मात्प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'** (1.3.13), और प्रकृत में णि, √स्रि, √द्रु और √स्रु में से प्रत्यय केवल णि है; अतः 'णौ' अन्य-पदार्थ है। दूसरी व्याख्या में 'चङ्-परे' का संबंध किया ही 'अङ्गस्य' जाता है अतः वहाँ दीक्षितजी की पद्धति से 'णौ' अन्य-पदार्थ के रूप में प्राप्त होता है।

* बा० म० में श्रीवासुदेव दीक्षितजी इसकी बजाय **'दीर्घो लघोः'** (7.4.94) से दीर्घ-प्राप्ति संभवतः गलती से कह गये हैं—**ततश्च 'दीर्घो लघोः' इति सन्वद्भाव-विषये अभ्यासस्य वक्ष्यमाणो दीर्घः स्यात्। इत्यत आह 'अन्य-पदार्थो णिः' इति।** संयोग-परक होने से 'दु' तथा 'सु' (अभ्यास) गुरु हो गये हैं, लघु नहीं रहे।

2. णि से सम्बन्ध न करके केवल 'अक् का लोप होने पर सन्वत्त्व नहीं होता' कहने से तो सन्वत्त्व केवल स्वरांत धातुओं में हो सकेगा, क्योंकि कोई भी धातु ऐसी नहीं है जिसमें कोई 'अक्' अनुबंध के रूप में, या अन्यथा लुप्त न होता हो। √कम् ही उपदेश में 'कमु' (उदित्) है, अतः अग्लोपी है। इसी प्रकार √कथ अनुबंध-रहित तो है, पर णि बाद में होने पर इसके अंत्य 'अ' का लोप णि परे रहते **अतो लोपः** से होता है, अतः यह भी अग्लोपी है। किंतु कमु के उकार के लोप का निमित्त णि नहीं है, जबकि √कथ के अकार-लोप का निमित्त णि है। अतः कम्+णि+लुङ् में सन्वद्भाव होगा, पर √कथ्+णि+लुङ् में नहीं। 'णौ' से सम्बन्ध न करने पर √कम्+णि+लुङ् में भी यह सूत्र नहीं लग पाता। अतः लक्ष्यानुरोध से यहाँ 'अनग्लोपे' का सम्बन्ध 'णौ' से किया है।

दोनों पक्षों में अन्वय पर मत-भेद : 'चङ्-परे णौ' के अन्वय पर मत-भेद के कारण इस सूत्र की दो व्याख्याएँ हो गई हैं :

(1) प्रथम पक्ष के अनुसार 'णौ' की आवृत्ति होती है तथा एक 'णौ' का अन्वय पूर्व-वर्ती 'लघुनि' से होता है और दूसरे 'णौ' का अन्वय 'अनग्लोपे' से : अङ्गस्य अवयवस्य अभ्यासस्य स्थाने सन्वद् भवति लघुनि परे चङ्परे णौ परे, णौ अनग्लोपे—अंग के अवयव अभ्यास को सन् में जैसे कार्य होता है, वैसे ही कार्य होता है[1], बाद में लघु स्थित होने पर (तथा) उसके बाद चङ्-परक णि होने पर, णि बाद में रहते (उसके निमित्त से) अक् का लोप होने पर नहीं।

इस व्याख्या में अभ्यास एवं लघु में, तथा लघु एवं णि में अपरिहार्य (एक या दो) हलों के व्यवधान से अधिक वर्णों का व्यवधान नहीं होना चाहिए।[2]

उदाहरण—'चकम्+अत्' स्थिति में लुप्त णि को **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** से स्थानिवत् मान कर णि से अव्यवहित (एक-हल्-मात्र से व्यवहित) पूर्व लघु है 'क' में 'अ', उस 'अ' से अव्यवहित (एक क् मात्र से व्यवहित) पूर्व है अभ्यास 'च', जो 'चकम्' अंग का अवयव है; अतः यहाँ सन्वद्भाव होगा : अचीकमत।

(2) द्वितीय पक्ष के अनुसार 'णौ' की आवृत्ति होती है, पर प्रथम 'णौ' का सम्बन्ध 'अङ्गस्य' से ही होता है, 'लघुनि' से नहीं; द्वितीय 'णौ' का सम्बन्ध 'अनग्लोपे' से होता है : चङ्-परे णौ अङ्गस्य अवयवस्य अभ्यासस्य सन्वत् लघुनि, णौ अनग्लोपे—बाद में चङ् वाला णि होने पर उससे पूर्व-वर्ती अंग के अवयव अभ्यास को बाद में

---

1. अभ्यास के स्वर को इत्त्व **'सन्यतः'** (7.4.79) और **'ओः पु-यण्-ज्यपरे'** (80) से नित्य तथा **'स्रवति-शृणोति०'** (81) से वा होता है।
2. **'येन नाव्यवधानं, तेन व्यवहितेऽपि, वचन-प्रामाण्यात्'** (प०) से एक वर्ण के व्यवधान में और सन्वद्भाव के विषय में √स्मृ, √त्वर् आदि से णि+लुङ् में अभ्यास और लघु के मध्य एकाधिक स्म्, त्व्, प्र्, म्र्, स्त्, स्प् वर्णों के व्यवधान में भी अत्त्व के विधान से सूचित होता है कि पाणिनि को एकाधिक हलों का व्यवधान सन्वत्त्व के विषय में स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त एक बात और : 'व्यवधान' से विजातीय का व्यवधान ही लिया जाता है, सजातीय का व्यवधान तो व्यवधान ही नहीं माना जाता—**'हलोऽनन्तराः संयोगः'** (1.1.7) में हल् से विजातीय अचों का व्यवधान ही आनंतर्य का बाधक होता है, हलों का नहीं; इसीलिए दीक्षितजी ने **'अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग-संज्ञाः स्युः'** (संज्ञा-प्रकरणम्) कहा है। अतः यहाँ भी लघुनि' से अभ्यास और लघु के बीच में स्वरान्तर का आनंतर्य ही अभ्यास की लघु-परता का बाधक होगा, हलों का व्यवधान नहीं।

निमित्तं यच्चङ्-परं, 'णि'रिति यावत्, तत्परं यल्लघु, तत्परो योऽङ्गस्याभ्यासः, तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावग्लोपे सति । अथवा (2) 'अङ्गस्य' इति नावर्तते—

राये जाते हैं—'अङ्ग' (संज्ञा) का निमित्त, बाद में चङ् से युक्त जो णि है, वह (णि) बाद में होने पर (पूर्ववर्ती) जो लघु है, वह (लघु) जिसके पश्चात् है, ऐसा जो अंग का अभ्यास, उसे (अभ्यास को) वैसा ही कार्य हो जैसा सन् बाद में होने पर हुआ करता है, णि के निमित्त से अक् का लोप होने पर नहीं । अथवा (2) 'अङ्गस्य' पद

लघु वर्ण होने पर सन्वत् कार्य होता है, णि के निमित्त से अक् का लोप होने पर नहीं । इस व्याख्या में अभ्यास और लघु में ही व्यवधान का अभाव अपेक्षित है, लघु और णि में नहीं । उदाहरण—'चकम्+(इ)+अत्' स्थिति में अंग 'चकम्' 'इ' से पूर्व है, अंग का अवयव अभ्यास 'च' है, जिसके अव्यवहित पश्चात् लघु 'क' है; अतः इस व्याख्या में भी यहाँ सन्वद्भाव होता है : अचीकमत ।

किंतु 'चकास्+णि+लुङ्' में 'च+चकास्+(इ)+अत्' स्थिति में (1) व्याख्या में णि और लघु के मध्य में क्, आ, स् (तीन) वर्णों का व्यवधान है; अतः यहाँ सन्वद्भाव नहीं होगा; परन्तु (2) व्याख्या में अंग चचकास् है, उसके बाद इ (स्थानिवद्भूत) है, अंग का अवयव अभ्यास (प्रथम 'च') है, और उसके अव्यवहित पश्चात् लघु (दूसरा 'च') हैं; अतः यहाँ सन्वद्भाव होगा : अचीचकासत् ।

√जागृ+णि+लुङ् से 'ज (अभ्यास) जागृ (लघु)+णि+अत्' स्थिति में अभ्यास और लघु ('गृ') में 'जा' (हल्+अच्) का व्यवधान है, अतः दोनों व्याख्याओं के अनुसार सन्वत्त्व नहीं होगा : अजजागरत् ।

इतिहास-क्रम से व्याख्या-विकास :

(1) भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या अन्वय दे कर नहीं की है, अपितु एक उदाहरण पर विचार कुछ इस प्रकार किया है कि उससे उन्हें अभिप्रेत अन्वय का एक महत्त्व-पूर्ण अंश उसके आधार पर निकाला जा सकता है : अजजागरत् (जागृ+णि+लुङ्) में इस सूत्र से सन्वत्त्व इसलिए नहीं होता कि सूत्र में चङ्-परक (णि) बाद में रहते (उससे पूर्ववर्ती) लघु-परक अभ्यास ('जा' से) व्यवहित है : ज (अभ्यास)+जा (दीर्घ)+गृ(लघु)+(इ, स्थानिवद्भूत)+अत् । इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भाष्य-कार को इस सूत्र का अन्वय 'चङ्-परे णौ लघुनि अभ्यासस्य' अभिप्रेत है ।[1]

---

1. वा० म० : **अत्र प्रथम-पक्ष एव भाष्य-सम्मतः, 'अजजागरत्' इत्यत्र चङ्-परे णौ यल्लघु, तदभ्यास-व्यवहितम्, इति न सन्वत्त्वम्, इति भाष्योक्तेः ।** भाष्य का पाठ यह है : **इह कस्मान्न भवति—अजजागरत् ? 'लघुनि चङ्-परे' इत्युच्यते, व्यवहितं चात्र लघु चङ्-परम् ।**

'चङ्-परे णौ यदङ्गं, तस्य योऽभ्यासो लघु-परः, तस्य···' इत्यादि प्राग्वत्। दुहराया नहीं जाता—'पर-वर्ती चङ् से युक्त णि-परक (पूर्ववर्ती) जो अंग है, उसका बाद में लघु से युक्त जो अभ्यास है, उस (अभ्यास) को···' इत्यादि पूर्ववर्ती है।

कैयट तथा जिनेंद्रबुद्धि : भाष्य-कार के इस आशय को स्पष्ट किया (क) प्रदीप में कैयट ने और (ख) न्यास में जिनेंद्रबुद्धि ने।[1]

(2) द्वितीय व्याख्या का संकेत काशिका में उपलब्ध होता है : **लघुनि धात्वक्षरे परतो योऽभ्यासः, तस्य चङ्-परे णौ परतः सनीव कार्यं भवति, अनग्लोपे** (धातु का लघु अक्षर बाद में होने पर उससे पूर्ववर्ती जो अभ्यास है, बाद में चङ् वाला णि उसके बाद में होने पर सन् जैसा कार्य होता है, जो बाद में होने पर अक् का लोप नहीं होता, वह बाद में होने पर)। इस व्याख्या में 'लघुनि' का अन्वय 'अभ्यासस्य' से किया गया है तथा 'चङ्-परे णौ' का सम्बन्ध 'लघुनि' से नहीं है। इसके अतिरिक्त यहाँ एक बात और है : यहाँ 'धात्वक्षरे' में अभिप्रेत 'धातोः' नवीन है, अभ्यास से 'धातोः' अर्थतः उपस्थित होता है और चङ्-परक णि परे रहते धातु अंग ही है, अतः काशिका-कार ने 'धातोः' कह कर कदाचिद् 'अङ्गस्य' कहना चाहा है, जो अधिकृत है।

कैयट और हरदत्त : काशिका के ऊपर वर्णित आशय को ही कदाचिद् कैयट ने और स्पष्ट करके यों दिया है : **अन्ये तु व्याचक्षते—चङ्-परे णौ यदङ्गं, तदभ्यासस्य सन्वद्भावो विधीयते।** इसे विस्पष्ट किया है हरदत्त ने : **एवं तर्हि 'चङ्-परे' इति अङ्गस्य विशेषणम्—चङ-परे यदङ्गम्, तस्य योऽभ्यासः, तस्य सन्वत्कार्यं भवति। 'लघुनि धात्वक्षरे' इति—चङ्-परे णौ यदङ्गम्, तस्य सम्बन्धि यल्लघु, इत्यर्थः। सामर्थ्यात्··· णेः समीपभूतस्य अङ्गस्य ग्रहणम्, चङ्-परे णौ अको लोपेऽसति···।**[2]

---

1. प्रदीप, पृष्ठ 286 : **चङ्-परे णौ यल्लघु, तस्मिन्परतोऽभ्यासस्य सन्वत्कार्यं भवति।** न्यास, पृष्ठ 206 : **चङ्परे णौ परतो यत् पूर्वं लघु, तस्मिन् परतो योऽभ्यासः, तस्य सन्वद् भवति।**
2. सायणने (मा० धा० वृ० 'नाम-धातु' प्रकरण, पृष्ठ 422) में इस व्याख्या का श्रेय कैयट को न देकर हरदत्त को दिया है : **कुमार्यादीनां तु··· अगेव लुप्यत इति 'अचुकुमारत्' इत्याद्यैव भवति। इदं चाग्लोपित्वेनेत्त्वाभाव-वचनं 'सन्वत्०' सूत्रस्य 'चङ्-परे णौ यदङ्गम्, तस्य योऽभ्यासो लघु-परः' इत्यर्थ-वादिनां हरदत्तादीनामनुसारेण, न तु 'चङ्-परे णौ यल्लघु, तस्मिन्परतोऽभ्यासस्य'** (प्रदीप, पृष्ठ 276) **इति वादिनां कैयट-कारादीनाम्। तेषां यदत्राभ्यासात्परं लघु, न तच्चङ्-पर-णि-परम्; यच्चङ्-परं, न तल्लघु, अभ्यासस्य वर्णान्तरेण व्यवधानान्न तत्पर इति नास्त्यत्रेत्त्व-प्रसङ्गः।**

सायण : सायण ने मा० धा० वृ० में तीन स्थलों में द्वितीय व्याख्या का ही आश्रय लिया है—(क) √ऊर्णु+णिच्+लुङ् में उन्होंने द्वितीय व्याख्या को उद्धृत करके उसकी प्रवृत्ति का निषेध कार्य-काल पक्ष[1] का आश्रय ले कर किया है।[2] (ख) √चकास्+णिच् का रूप 'अचीचकासत्' बनाया है, जो दूसरी व्याख्या के अनुसार ही संभव है।[3](ग) 'कुमारीमाचष्टे' अर्थ में निष्पन्न √कुमार नामधातु के णिच्+लुङ् में द्वितीय व्याख्या के अनुसार सन्वत्त्व की प्राप्ति बता कर णिच् के निमित्त से 'कुमार+इ' स्थिति में **अतो लोपः** से अग्लोप के कारण सन्वद्भाव का अभाव बताया है।[4] (घ) चतुर्थ स्थल में उन्होंने √जागृ+णि+लुङ् के 'अजजागरत्' में **'सन्वल्लघुनि०** से इत्त्व अनेक वर्णों के व्यवधान के कारण नहीं होता', यह कहा है।[5] यह कथन दोनों व्याख्याओं पर समान रूप से लागू होता है : (1) प्रथम व्याख्या के अनुसार यहाँ लघु 'गृ' (अथवा 'गर्') चङ्-परक तो है, परन्तु अभ्यास लघु-परक नहीं है, 'जा' का व्यवधान है; (2) द्वितीय व्याख्या के अनुसार चङ्-परक-णि-परक अंग 'जजागृ' का अवयव अभ्यास 'ज' लघु-परक नहीं है, दीर्घ-परक है, बाद में 'गृ' लघु है भी, तो 'जा' से व्यवहित है। अतः दोनों व्याख्याएँ अभिप्रेत हो सकती हैं। पर अन्य तीन स्थलों पर उन्होंने जब द्वितीय व्याख्या का आश्रय लिया है, तो यहाँ भी उसी का आश्रय लिया मानना उचित है।

भट्टोजिदीक्षित : दीक्षितजी ने (1) भाष्य-कार द्वारा संकेतित तथा कैयट द्वारा प्रस्तावित प्रथम व्याख्या को और विकसित करके तथा (2) काशिका-संमत और हरदत्त द्वारा विकासित द्वितीय व्याख्या को **'अथवा'** कह कर दिया है :

---

1. इसका विवरण प्रकरण के अंत में कारिकाओं के विवरण में देखें।
2. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 243 : **और्णुनवत्*—अत्र···'दीर्घो लघोः' इति अभ्यासस्य दीर्घो न भवति, 'चङ्-परे णौ यदङ्गं, तस्य योऽभ्यास' इति सूत्रार्थ-व्यवस्थापनात्। अत्र तु अङ्गावयवस्याभ्यासो, न तु अङ्गस्य।** इसका विवरण कारिकाओं की व्याख्या में देखें।

   *चौखंम्बा सं० में **और्णुनुवत्** (नकार में उकार) अशुद्ध छपा है।

3. वही, पृष्ठ 266 : **अचीचकासत्—ऋदित्वात् 'णौ चङि' इति न ह्रस्वः।**
4. वही, पृष्ठ 422 : **कुमार्यादीनां तु···अगेव लुप्यत इति 'अचुकुमारत्' इत्याद्येव भवति।**
5. वही, पृष्ठ 265 : **अजजागरत्—'सन्वल्लघुनि०' इतीत्त्वं 'येन नाव्यवधान०'-न्यायेन एक-वर्णेन व्यवधान एव भवति, न पुनरनेकेन, इति इह न भवति।**

(1) प्रथम व्याख्या में दीक्षितजी ने 'अङ्गस्य' की आवृत्ति करके उसका अन्वय 'चङ्-परे णौ' से भी किया है : अङ्गस्य चङ्-परे णौ लघुनि अङ्गस्य अभ्यासस्य सन्वद्; णावनग्लोपे। इस अन्वय में 'अङ्गस्य' में षष्ठी निमित्त अर्थ में बताई है, तथा 'अभ्यासस्य' के साथ अन्वय में उन्हें अवयव-षष्ठी अभिप्रेत लगती है[1] : जो 'अंग' संज्ञा का निमित्त है, और जिसके पश्चात् चङ् है, ऐसा णि बाद में होने पर उससे पूर्ववर्ती लघु-परक जो अंग का अवयव अभ्यास है, उसे सन् बाद में होने पर जैसे कार्य होता है, वैसे ही कार्य हो; णि बाद में होने पर अक् वर्ण का लोप होने पर नहीं।

'अङ्गस्य' का अन्वय 'चङ्-परे' से करने का प्रयोजन : 'चङ्-परे' में 'पर' शब्द की व्यर्थता के कारण √द्रु और √स्रु की शुद्धावस्था में भी परवर्ती चङ् के निमित्त से विकल्प से इत्त्व की अनिष्ट प्राप्ति के कारण 'चङ्-पर' शब्द बहुव्रीहि है तथा अन्य-पदार्थ 'णि' है, यह पीछे (पृष्ठ 380 पर) कहा जा चुका है। इस व्याख्या में **व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिः, न हि सन्देहादलक्षणम्** (प० 1) से 'चङ्-पर' का अर्थ बहुव्रीहि का करके अन्य-पदार्थ के रूप में 'णि' का कल्पना की गई है; परन्तु शब्द के द्वारा अर्थाभिधान जब संभव है, तब अर्थ के द्वारा अर्थाभिधान—'पर' की व्यर्थतापत्ति और इत्त्व की अनिष्टापत्ति के कारण व्याख्यान के द्वारा अन्य पदार्थ के रूप में 'णि' का कथन—उचित नहीं है; अनिष्ट इत्त्व की प्राप्ति तो सूत्र-कार के रचना-शैथिल्य को प्रकट करती है; अतः साक्षात् उपलब्ध[2] 'अङ्गस्य' शब्द का 'चङ्-परे' से संबंध करके अन्य-पदार्थ 'णौ' की प्राप्ति दीक्षित जी ने बताई है : चङ्-परक (णि) और अंग में निमित्त-निमित्ति-भाव संबंध है—'अंग' संज्ञा का निमित्त केवल णि हो सकता है, क्योंकि यह प्रत्यय है; √द्रु और √स्रु नहीं, वे तो स्वयम् अंग हैं।[3]

श्रीवासुदेवदीक्षित ने 'अङ्गस्य' में 'निमित्त' अर्थ में षष्ठी करके अंग सञ्ज्ञा का निमित्त 'चङ्-परक वर्ण' बताया है, जो अर्थतः णि का इ ही है, √श्रि, √द्रु और

---

1. त० बो० में कदाचित् इस व्याख्या को माधवाभिमत-कार्य-काल-पक्षानुसारी समझ कर 'अङ्गस्य' में अवयव-षष्ठी न मान कर कर्मणि षष्ठी मानी है : **'अङ्गस्याभ्यास' इति—'अङ्गस्य ये द्वे विहिते, तयोः पूर्वोऽभ्यासः इत्यर्थः'**। हमारे विचार में दीक्षितजी ने कार्य-काल पक्ष का अनुसरण नहीं किया है; अतः यह व्याख्या उचित नहीं है। इस विषय का विवरण आगे कारिकाओं की व्याख्या में देखें।
2. प० 113 : **श्रुतानुमितयोः श्रुत-सम्बन्धो बलवान्**।
3. त० बो० : **'चङ्-परे' इत्येतावतैव 'णिः' इति न लभ्यते, श्रि-द्रु-स्रुवामपि चङ्-परत्वात्। अत आह—'अङ्ग-संज्ञा-निमित्तम्' इति।**

√स्नु का अंतिम वर्ण नहीं, क्योंकि वह (अंतिम वर्ण) प्रत्यय न होने के कारण अंग संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता, कहा है।[1] पर यह उचित नहीं है : अंग संज्ञा का निमित्त 'वर्ण' कब होता है ? वह तो प्रत्यय होता है। चङ् जिनके पश्चात् है, उन चार (णि, √श्रि, √द्रु और √स्नु) में प्रत्यय केवल णि है; अतः वह अंग संज्ञा का निमित्त है, तथा 'चङ्-परे' के अन्य-पदार्थ के रूप में उसी का बोध होगा।

(2) द्वितीय व्याख्या में 'चङ्-परे' का संबंध 'अंग' से किया गया है; चङ् जिनके पश्चात् है, उन चार (णि, √श्रि, √द्रु और √स्नु) में से इनके पर रहते अंग से संबंध केवल णि का ही संभव है, क्योंकि √श्रि आदि तीनों तो स्वयम् अंग हैं, अंग से परत्वेन संबद्ध नहीं हो सकतीं।[2] अतः इस व्याख्या में 'चङ्-परे तन्निमित्तेन अङ्गत्वापन्नस्य' (बाद में चङ् वाला बाद में होने पर अंग संज्ञा को प्राप्त का) कहने से ही 'चङ्-परे' का अन्य-पदार्थ 'णौ' स्वतः प्राप्त हो जाता है; 'अङ्गस्य' की आवृत्ति यहाँ आवश्यक नहीं है। अतः इस व्याख्या को दीक्षितजी ने अपने पूर्व-वर्तियों से ज्यों-का-त्यों ले लिया है।

इस पक्ष में भी 'अङ्गस्य' में षष्ठी अवयव अर्थ में ही है, कर्मणि नहीं।[3]

---

1. बा० म० : 'अङ्गस्य' इति···निमित्त-निमित्ति-भावे षष्ठी। तथा च 'अङ्ग-संज्ञा-निमित्त-भूते चङ्-परके वर्णे' इति लभ्यते। चङ्-परकश्च वर्णोऽर्थाण्णेरिकार एव, न तु श्रि-द्रु-स्नुवामन्त्य-वर्णः, तस्याप्रत्ययत्वेनाङ्ग-संज्ञा-प्रापकत्वाभावात्। व्या०च० (पृष्ठ 266) में पं० चारुदेवजी ने भी 'अङ्गस्य' की आवृत्ति का महत्त्व इसी पद्धति पर दर्शाया है।

2. त० वो० : "'अङ्गस्य' इति नावर्तत" इति—अस्मिंस्तु व्याख्याने 'चङ्-परे' इत्येतावतैव 'णिः' इति लभ्यते, श्रि-द्रु-स्नुषु परेष्वङ्गत्वासम्भवात्। बा० म० : अङ्गस्य च प्रत्यय-निमित्तत्वादेव णेरन्यपदार्थस्य लाभः।

3. कार्य-काल-पक्षाश्रय पक्ष में सायण ने इस व्याख्या में भी कर्मणि षष्ठी मानी है : और्णुनवत्—अत्र 'दीर्घो लघोः' इति अभ्यासस्य दीर्घो न भवति, चङ्-परे णौ यदङ्गं, तस्याभ्यास' इति सूत्रार्थ-व्यवस्थापनात्; अत्र तु अङ्गावयवस्याभ्यासो, न त्वङ्गस्य।

√जागृ (मा० धा० वृ०, पृष्ठ 265), √चकास् (पृष्ठ 266) तथा अचुकुमारत् (पृष्ठ 422) के प्रकरणों में उन्होंने अंगावयव के अभ्यास में भी सन्वत्त्व की प्राप्ति बता कर अन्य हेतुओं से उसका परिहार किया है। आगे कारिकाओं की व्याख्या देखें।

पाणिनि को अभीष्ट अर्थ : अधिकृत और अनुवृत्त शब्दों को प्रकृत सूत्र के पद-क्रम में यथा-स्थान रखने से जो वाक्य बनता है, उससे बिना किसी विशेष प्रयास के सुगठित, असंदिग्ध और स्पष्ट अर्थ निकलता है : अङ्गस्य अभ्यासस्य सन्वत् लघुनि चङ्-परे अनग्लोपे। यहाँ अधिकृत 'अङ्गस्य' में अवयवार्था षष्ठी है, जिसका संबंध 'अभ्यासस्य' से है। अनुवृत्त 'अभ्यासस्य' में स्थाने-षष्ठी है तथा उसका संबंध विधेय 'सन्वत्' से है। सूत्रकार ने विधेय होने के कारण अंत में रखे जाने योग्य 'सन्वत्' को अन्वय में ऋजुता के लिये प्रकृत सूत्र के आदि में रखा है। शेष पदों का अन्वय सूत्र में दिये क्रम से ही होता है, केवल उनकी विभक्तियों का अर्थ करने की आवश्यकता है : 'लघुनि' में पर-सप्तमी है—लघु बाद में होने पर। इस सप्तमी से ('**तस्मिन्' इति निर्दिष्टे पूर्वस्य** परिभाषा-सूत्र से) उपस्थित 'पूर्वस्य' का विशेष्य 'अभ्यासस्य' है, अतः अभ्यास और लघु के मध्य व्यवधान अपरिहार्य मात्रा (एक या दो हल्) से अधिक नहीं होना चाहिये। 'चङ्-परे' पद में 'चङ् बाद में होने पर', यह कर्मधारय तो है नहीं, क्योंकि यह अर्थ तो 'चङि' से ही आ जाता; अतः यहाँ बहुव्रीहि है, जो अन्य-पदार्थ की अपेक्षा किया करता है। इसका विशेष्य (अन्य-पदार्थ) सूत्र-गत कोई पद तो सामर्थ्य के अभाव के कारण नहीं हो सकता : लघु अभ्यास के पश्चात् स्थित होता है, तथा चङ् को पर निमित्त मान कर अक् का लोप कोई विहित ही नहीं है कि उसके पर्युदास-वाक्य 'अनग्लोपे' को 'चङ्-परे' का विशेष्य माना जाये। यह अंगाधिकार है, अतः 'प्रत्यये' पद अर्थतः स्वतः उपस्थित है, जिसका अन्वय योग्य शब्द से होगा : (क) अभ्यास के बाद स्थित लघु स्वर अंग का अवयव है, उससे 'प्रत्यये' का संबंध नहीं हो सकता, (ख) 'अनग्लोपे' में सति सप्तमी है : अक् का लोप होने पर नहीं; अतः 'प्रत्यये' के साथ उसका अन्वय भी नहीं हो सकता; (ग) बच रहता है 'चङ्-परे'—चङ् जिसके बाद है (वह प्रत्यय बाद में होने पर); चङ् **णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः०** से णि, √श्रि, √द्रु और √स्रु के बाद विहित है, अतः ये चारों चङ्-परक हैं, पर प्रत्यय सिर्फ 'णि' है; अतः सामर्थ्य के कारण 'चङ्-परे' का अन्य-पदार्थ 'णौ' पद है, यह सिद्ध होता है।[1] 'चङ्-परे' पद दो सप्तम्यंत पदों 'लघुनि' और 'अनग्लोपे' के मध्य स्थित है, अतः 'चङ्-परे णौ' का संबंध देहली-दीप न्यायसे इन दोनों से होगा : (1) लघुनि चङ्-परे णौ (अभ्यास के बाद वह लघु होने पर, जिसके बाद चङ्-परक णि है)। यहां

---

1. 'णौ' न कह कर 'चङ्-परे' कहने का प्रयोजन यह अभिप्राय है कि इस सूत्र से सन्वद्-भाव केवल णि की अपेक्षा नहीं करता, अपितु 'चङ्-परक णि' की अपेक्षा करता है। अर्थात् सन्वद्भाव वहीं होगा, जहाँ चङ् होता है; यानी ण्यंत धातु के कर्त्रर्थक लुङ् में सन्वत् करने के लिये 'णौ कर्तरि लुङि' न कह कर केवल 'चङ्-परे' कह दिया है।

'णौ' में पर-सप्तमी है, अतः लघु और णि में तथा णि और चङ् में व्यवधान नहीं होना चाहिये; (2) चङ्-परे णौ अनग्लोपे (चङ्परक णि बाद में होने पर, उसके निमित्त से, अक् का लोप होने पर नहीं)। इस अन्वय में भी 'णौ' में निमित्त-सप्तमी है।

सूत्रकार के पद-क्रम से समुच्चित अर्थ यह बनता है: अङ्गस्य (अवयवस्य) अभ्यासस्य सन्वत् (भवति) लघुनि (स्वरे परे सति, ततः पश्चात्) चङ्-परे णौ (परे सति); णौ अग्लोपे (च) असति—अंग के अवयव अभ्यास को सन्वद्भाव होता है, (अभ्यास के) बाद में लघु स्वर स्थित होने पर तथा उसके पश्चात् वह णि स्थित होने पर, जिसके पश्चात् चङ् है; णि परे रहते अक् का लोप होने पर नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार के शब्दों से भी पहली व्याख्या ही सरलता से निकल रही है। यही कारण प्रतीत होता है कि भाष्य-कार ने इसकी व्याख्या अर्थ बतला कर नहीं की; केवल एक महत्त्वपूर्ण अंश ही उदाहरण की व्याख्या में उन्होंने बताया। किन्तु काशिकाकार ने प्रकृत सूत्र की वृत्ति में इस सूत्र के अर्थ को विकृत करके प्रस्तुत किया है। वे यदि सूत्र-गत पदों को ही अधिकृत तथा अनुवृत्त पदों सहित दे देते, कोई भी व्याख्या न करते, तब भी सूत्रार्थ स्पष्ट था; परंतु उन्होंने (1) न तो सातवें अध्याय के अंत तक अधिकृत 'अङ्गस्य' (6.4.1) की अनुवृत्ति की, (2) न 'चङ्-परे' का निकटस्थ (क) पूर्ववर्ती 'लघुनि' से अन्वय किया और न (ख)पर-वर्ती 'अनग्लोपे' से। यह कैसी व्याख्या है? कैयट ने सूत्रकार के अभिप्रेत अर्थ को न केवल सुरक्षित किया, बल्कि काशिका-कार के हरदत्त द्वारा स्पष्ट किये[1] अर्थ की अपेक्षा उसे प्राथमिकता भी दी।

---

1. यद्यपि कैयट और हरदत्त का पौर्वापर्य निश्चित करना उपलब्ध आंतरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर संभव नहीं है, तथापि प्रकृत स्थल में कैयट ने **'अन्ये तु व्याचक्षते'** कहकर जो बात कही है, वह पद-मंजरी के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलती। कैयट द्वारा चर्चित यह मत पद-मंजरी में अर्थतः एवं शब्दतः उपस्थित है। हरदत्त ने संक्षेप से कहा है, कैयट ने **'अस्यायमर्थः'** कह कर विस्तार से दिया है। अतः यहाँ कैयट ने **'अन्ये तु'** से हरदत्त का ही स्मरण किया प्रतीत होता है। कैयट ने **परोवर-परम्पर०** (5.2.10) पर प्रदीप में भी हरदत्त के कथन को **'अन्ये तु'** कह कर स्पष्ट किया है। यों, हरदत्त ने भी कैयट के मत को **'अन्ये तु'**, **'अपर आह'**, **'आह च'** कह कर दिया है। यु० मी०, सं० व्या० इ०, भाग 1, पृष्ठ 394-5 पर उद्धृत 3.2.115; 4.3.60; 7.1.72; 7.2.5 पर प्र० तथा प०म० के स्थल देखें। हमारे विचार में ये दोनों समकालीन प्रतिस्पर्धी हैं, इस लिये दोनों एक-दूसरे की दृष्टियों से परिचित हैं।

2317 सन्यतः (7.4.79)—अभ्यासस्य अत इकारः स्यात्सनि । 2318 दीर्घो लघोः (7.4.94)—अभ्यासस्य लघोर्दीर्घः स्यात् सन्वद्भाव-विषये । अचीकमत ।

2317 अभ्यास के ह्रस्व अकार को (ह्रस्व) इकार हो जाए, सन् बाद में होने पर । 2318 सन्वद्भाव जिन स्थितियों में होता है, उन स्थितियों में अभ्यास के लघु स्वर को दीर्घ स्वर आदेश हो । अचीकमत ।

दीक्षितजी का योग-दान : दीक्षितजी ने न केवल **सन्वत्०** सूत्र में अधिकृत, अनुवृत्त के रूप में सूत्रकार को अभिप्रेत और सूत्र में साक्षात् स्थित सब पदों का तात्पर्य स्पष्ट किया, अपितु 'अङ्गस्य' तथा 'णौ' की आवृत्ति करके उसे पहले से अधिक स्पष्ट किया। दूसरे अर्थ को दीक्षितजी ने परंपरा से जिस रूप में प्राप्त किया था, उसी रूप में दे दिया ।

2317 सन्यतः (7.4.79)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (58), भृञामित् (77) : अभ्यासस्य (अवयवस्य) अतः (स्थाने) इत् (भवति) सनि (परे)—अभ्यास के अवयव ह्रस्व[1] अ को ह्रस्व इ होता है, बाद में सन् होने पर ।

2318 दीर्घो लघोः (7.4.94)—अङ्गस्य 6.1 (6.4.1), अत्र लोपोऽभ्यासस्य 6.1 (7.4.48) सन्वल्लघुनि चङ्-परेऽनग्लोपे (93) : लघुनि अनग्लोपे । **सन्वल्लघुनि०** (2316) की दो व्याख्याओं के कारण यहाँ उस की अनुवृत्ति होने से प्रकृत सूत्र की भी दो व्याख्याएँ होंगी :

(1) अङ्गस्य (निमित्ते) चङ्-परे (णौ) परे सति (पूर्वस्य) लघुनि (लघु-परस्य) अङ्गस्य (अवयवस्य) अभ्यासस्य (अवयवस्य) लघोः (स्थाने) दीर्घः (भवति णौ) अनग्लोपे—'अंग' संज्ञा का निमित्त-भूत, चङ्-परक णि बाद में रहते अंग का अवयव लघु-परक जो अभ्यास, उसके अवयव लघु के स्थान में दीर्घ होता है, णि के निमित्त से अक् का लोप होने पर नहीं ।

(2) चङ्-परे (णौ) अङ्गस्य लघुनि (लघु-परस्य) अभ्यासस्य (अवयवस्य) लघोः (स्थाने) दीर्घो (भवति णौ) अनग्लोपे—चङ्-परक णि बाद में रहते, अंग के लघु-परक अभ्यास के (अवयव) लघु को दीर्घ होता है, णि के निमित्त से अक् का लोप होने पर नहीं ।

---

1. का० और त० दो में 'अत्' का प्रयोजन पच्+यङ्+सन्=√पापचिष में दीर्घ आ को इत्त्व न होना बताया है । बा० म० में 'अत्' में तपर-करण स्पष्टतार्थ माना है । यहाँ **'दीर्घोऽकितः'** (7.4.83) के भाष्य में तपर-करण के खण्डन का हवाला दिया है, पर हम इसे वहाँ नहीं खोज पाये हैं ।

णिङभाव-पक्षे तु—कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः (वा०)। णेरभावान्न दीर्घ-सन्वद्भावौ—अचकमत।

णिङ् नहीं होने के पक्ष में तो—'√कम् के पश्चात् स्थित च्लि को चङ् आदेश कहना चाहिये' (वा०)। णि नहीं है, इसलिये दीर्घ, सन्वद्भाव नहीं होते—अचकमत।

सिद्धियाँ : √कम् से स्वार्थ में **कमेर्णिङ्** से नित्य प्राप्त णिङ् को बाध कर लुङ् में अर्धधातुक च्लि की विवक्षा में **आयादय आर्धधातुके वा** से विकल्प से णिङ् होता है : कम्+इ। **अत उपधायाः** से √कम् के अ को वृद्धि : कामि। **सनाद्यन्ता धातवः** से 'कामि' की धातु संज्ञा के बाद कर्थर्थ में लुङ्, उसे √कामि के ङिदंत होने से आत्मनेपद त : √कामि+त। शप् को बाधकर च्लि, **णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ्** से च्लि को चङ् आदेश : कामि+अत। 'इ' को **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से प्राप्त गुण को बाध कर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् तथा **णेरनिटि** से णि-लोप प्राप्त होने पर **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से यण् के बलवान् सिद्ध होने पर (क) **ण्यल्लोपावियङ्-यण्-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वं-विप्रतिषेधेन** (वा०) से पूर्व णि-लोप के द्वारा पर यण् का निषेध करके, अथवा (ख) दीक्षित जी के अनुसार **णेरनिटि** की अपवादता के कारण **पूर्व-पर-नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः** (प० 39) से यण् को बाध कर, णि-लोप होता है : काम्+अत। **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** से काम् की उपधा आ को ह्रस्व : कम्+अत। **चङि** से कम् को द्वित्व : कम्+कम्+अत। अभ्यास-कार्य : चकम्+अत। **सन्वल्लघुनि चङ्-परेऽनग्लोपे** की (1) प्रथम व्याख्या के अनुसार अंग संज्ञा के समय चङ्-परक (णि) होने के कारण, चङ्-परक णि से पूर्व लघु कम् है, उस (कम्) से पूर्व अंग (चकम्) का अवयव अभ्यास 'च' है, अतः इसे सन्वद्भाव होता है; (2) दूसरी व्याख्या के अनुसार चङ्-परक (णि) बाद में होने पर उससे पहले अंग का अवयव अभ्यास प्रथम 'च' लघु-परक है, उसके बाद 'क' व्यंजन-मात्र से व्यवहित 'अ' ('क' में) है, उसे सन्वद्भाव होता है। अतः **सन्यतः** से अभ्यास के ह्रस्व अकार को ह्रस्व इकार होता है : चिकम्+अत। **दीर्घो लघोः** से दोनों ही व्याख्याओं के अनुसार अभ्यास के इकार को दीर्घ होता है : चीकमत। अट् आगम लुङ् होते ही भी किया जा सकता है, तथा सारी प्रक्रिया कर चुकने के बाद भी : अचीकमत।

कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः (वा०)—√कम् (शुद्ध, णिङ्-रहित) के पश्चात् स्थित च्लि को चङ् आदेश पाणिनि द्वारा विहित नहीं है; उसे कहना अपेक्षित है। अतः यह वार्तिक अनुक्त-चिन्ता-परक है।[1]

---

1. वेद-वेदांग वाङ्मय में √कम् से आर्धधातुक प्रत्ययों में णिङ्-रहित प्रत्ययों का

(क) 1 संज्ञायाः कार्य-कालत्वादङ्गं यत्र द्विरुच्यते ।

(क) 1 संज्ञा (-प्रतिपादक शास्त्र) अपने कार्य के स्थलों (कार्य-विधायक सूत्रों) में उपस्थित होती है, यह मानने के पक्ष में जहाँ (समूचे) अंग को द्वित्व होता है, वहीं दीर्घ

अचकमत—आयादय आर्धधातुके वा से णिङ् के अभाव के पक्ष में √कम्+लुङ् । √कम् के अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपद, अट् : अकम्+त । च्लि । अकम्+च्लि+त । **च्लेः सिच्** से च्लि को प्राप्त सिच् आदेश को बाध कर **कमेश्चलेश्चङ् वक्तव्यः** से चङ् आदेश : अकम्+अत । **चङि** से द्वित्व, अभ्यासकार्य : अचकम्+अत । **सन्वल्लघुनि चङ्-परेऽनग्लोपे** सूत्र में 'चङ्-परे' का अन्य-पदार्थ 'णौ' अभिमत होने से तथा यहाँ णि न होने से सन्वद्भाव प्राप्त नहीं होता, अतः अभ्यास के 'अ' को इत्त्व तथा दीर्घ भी नहीं प्राप्त हैं । अतः अचकमत ।

कारिकाओं की व्याख्या : पदों के अन्वय तथा अर्थ करने के बारे में कुछ सिद्धांत हैं; सूत्र-गत संज्ञा और परिभाषा शब्दों का अन्वय करने के लिये दो सिद्धांत हैं : **यथोद्देशं संज्ञा-परिभाषम्** (प० 2), **कार्य-कालं संज्ञा-परिभाषम्** (प० 3) । सायण ने सन्वद्भाव के चार स्थलों में से तीन स्थलों में यथोद्देश-पक्ष का आश्रय लेकर बनने वाले अर्थ को मान कर रूप-सिद्धि की व्याख्या की है,[1] तथा एक स्थल[2] में सन्वद्भाव

प्रयोग णिङ्-सहित प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक है : (1) लिट् और (2) लुट् में णिङ्-रहित ही मिलता है; (3) लृट् में दोनों तरह से मिलता है; किन्तु (4) लुङ् में णिङ्-सहित ही मिलता है । हो सकता है कि व्यवहार में णिङ्-रहित का प्रयोग णिङ्-सहित से अधिक होता हो और पाणिनि के समय णिङ्-रहितावस्था में चङ्-रहित 'अकमिष्ट' आदि रूप प्रयुक्त होते हों, किन्तु वार्तिककार के समय तक अनुकरण के सिद्धांत पर 'अकमिष्ट' आदि की जगह द्वित्व वाले रूप प्रयुक्त होने लगे हों, जिनका अनुशासन वार्तिक-कार ने कर दिया हो ।

1. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 265, में अजजागरत् में, तथा पृष्ठ 422 पर अचुकुमारत् में सन्वत्त्व की प्राप्ति बता कर उसके अभाव में हेतु दिया है; पृष्ठ 266 में 'अचीचकासत्' रूप में सन्वत्त्व किया है । इन अनेकाच् धातुओं में कार्यकाल पक्ष के अनुसार तो सन्वत्त्व का प्रश्न ही नहीं उठता, तब अभाव-हेतु-चर्चा और इत्त्व-विधान यथोद्देश-पक्ष के आधार पर ही सम्भव हैं ।
2. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 243 : **और्णुनवत्—'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासस्य दीर्घो न भवति, 'चङ्-चरे णौ यदङ्गं, तस्य योऽभ्यास' इति सूत्रार्थ-व्यवस्थापनात्; अत्र तु अङ्गावयवस्याभ्यासो, न त्वङ्गस्य ।** समूचे अंग को द्वित्व कार्य-काल पक्ष में ही प्राप्त है ।

तत्रैव दीर्घः सन्वच्च, नानेकाक्ष्विति माधवः ।।
2 चकास्त्यर्थापयत्यूर्णोत्यादौ नाङ्गं द्विरुच्यते ।
किन्त्वस्यावयवः कश्चित्, तस्मादेकाक्ष्विदं द्वयम् ।।

और सन्वद्-भाव होते हैं; अनेक स्वरों वाली धातुओ में नहीं । यह माधव कहते हैं ।

2 √चकास्, √अर्थापि और √ऊर्णु (सब ण्यंत) आदि में द्वित्व (समूचे) अंग को नहीं होता, किन्तु उसके किसी अवयव को होता है । इस लिये ये दोनों (दीर्घ और सन्वद्-भाव) कार्य एक स्वर वाली धातुओं में होते हैं ।

के अभाव का हेतु कार्य-काल-पक्ष के अनुसार अन्वय से प्राप्त अर्थ का उदाहरण में लागू न होना दिया है । दीक्षितजी ने अंतिम स्थल के आधार पर अपनी यह मान्यता बनाई है कि सायण कार्य-काल पक्ष को मानते हैं तथा उनके मत में सन्वद्भाव एकाच् धातुओं में ही होता है, अनेकाच् धातुओं में नहीं ।[1] पर वस्तुतः यह सायण का सार्वत्रिक सिद्धांत नहीं है, अपितु एक-देशीय मत है, यह उनके तीन स्थलों में यथोद्देश पक्ष को और एक स्थल में कार्य-काल पक्ष को मानने से सिद्ध होता है । अतः लगता है यहाँ दीक्षितजी ने सायण के तिल को ताड़ बनाया है ।

दीक्षितजी ने कार्य-काल पक्ष का खंडन भी कोई शास्त्रीय असंगति, या अन्य आपत्ति, देकर नहीं किया है, बल्कि कैयट के प्रमाण पर किया है ।

दीक्षितजी ने सायण के मत को पूर्व-पक्ष के रूप में लिया है, अतः कार्य-काल पक्ष की चर्चा पहले करना उचित है :

(क) **कार्य-कालं संज्ञा-परिभाषम्** (प० 3)--संज्ञा च परिभाषा चेति संज्ञा-परिभाषम् (समाहार द्वन्द्व)—संज्ञा और परिभाषा ।

(क) कार्ये=तत्तत्कार्य-विधि-प्रदेशे, विधायके सूत्रादौ, काल्यते उपस्थाप्यते, इति कार्य-कालम् । अथवा (ख) कार्येण=कार्य-विधायक-शास्त्रेण काल्यते (=उपस्थाप्यते=स्व-समीपं प्राप्यते) इति कार्य-कालम् । संज्ञा और परिभाषा का प्रतिपादक सूत्र कार्य का विधान करने वाले सूत्र में स्वरूपतः उपस्थित किया जाता है । अतः प्रकरण-स्थ कार्य-विधायक सूत्र के पदों के साथ इन उपस्थित होने वाले संज्ञा-परिभाषा-सूत्रों के पदों का अन्वय करना होता है ।

उदाहरण—**सन्वल्लघुनि०** (7.4.93) और **दीर्घो लघोः** (94) सूत्रों में **अङ्गस्य** (6.4.1) और **अभ्यासस्य** (7.4.58) पदों की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्ग' और 'अभ्यास' संज्ञाएं हैं, जो क्रमशः **यस्मात्प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (1.4.13) और **पूर्वोऽभ्यासः**

---

1. मूल में दी प्रथम दो कारिकायें देखें ।

(6.1.4) सूत्रों से प्रतिपादित हैं। (1) कार्य-काल पक्ष में सन्वत् और दीर्घ कार्यों के विधायक सूत्रों **सन्वल्लघुनि०** और **दीर्घो लघोः** के देश में संज्ञा-प्रतिपादक दोनों सूत्र स्वरूपतः उपस्थित होते हैं, तथा उनके पदों का अन्वय (पदैक-वाक्यता) विधि-सूत्रों के पदों से होता है।[1] अतः प्रकृत सूत्रों में अनुवृत्त 'अभ्यास' संज्ञा का अर्थ स्पष्ट करने को **पूर्वोऽभ्यासः** सूत्र **सन्वल्लघुनि०** और **दीर्घो लघोः** में उपस्थित होगा। **पूर्वोऽभ्यासः** का अर्थ है : **ये द्वे उच्चारणे, तयोः पूर्वः अभ्यासः।** यह सब सन्वत्सूत्र में उपस्थित होने पर सूत्र का स्वरूप यह होगा : अङ्गस्य ये द्वे उच्चारणे, तयोः पूर्वोऽभ्यासः, तस्य सन्वत् लघुनि० (अंग के जो दो उच्चारण होते हैं, उनमें से प्रथम उच्चारण अभ्यास है, उसे सन्वत्०)। यहां 'अङ्गस्य' में षष्ठी कारक-षष्ठी—कृदंत 'उच्चारण' शब्द के योग में **कर्तृ-कर्मणोः कृति** से—है, शेष (अवयव) षष्ठी नहीं है। शेष षष्ठी कारकार्थ की अविवक्षा में होती है, जबकि यहाँ वह विवक्षित है; अतः कारक-षष्ठी के होते शेष-षष्ठी नहीं हो सकती।

कार्य-काल पक्ष का फलितार्थ : 'अंग के दो उच्चारण' कहने से 'समूचे अंग के दो उच्चारण' अर्थ ही आता है, अतः अंग के अवयव को होने वाले द्वित्व का ग्रहण इससे बाधित हो जाता है। फलतः सन्वत्त्व और दीर्घ वहीं होंगे, जहाँ समूचे अंग को द्वित्व होता है। द्वित्व धातु के एकाच् समुदाय को विहित है; अतः 'समूचे अंग को द्वित्व' का फलितार्थ 'एकाच् धातु को द्वित्व' सिद्ध होता है। अनेकाच् धातुओं में तो अंग, अर्थात् धातु के प्रथम या द्वितीय एकाच् समुदाय, को द्वित्व होता है, जो अंग का अवयव हैं, समूचा अंग नहीं। अतः अनेकाच् धातुओं में ये दोनों सूत्र लागू नहीं होते।[2]

---

1. डॉ० पं० श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी—यह कैयटादि का मत है। नागेश के मत में (क) संज्ञा-शास्त्र के वाक्यार्थ का अन्वय विधि-शास्त्र के वाक्यार्थ से होता है, अर्थात् वाक्यैक-वाक्यता होती है, और (ख) परिभाषा-शास्त्र के पदों का अन्वय विधि-शास्त्र के पदों के साथ होता है; अर्थात् पदैक-वाक्यता होती है।

2. यह फलितार्थ-कथन सायण ने साक्षात् नहीं किया है, अपितु √ऊर्णु (अ०) के प्रकरण में 'ऊर्णु+णि+लुङ्' से 'और्णुनवत्' रूप बनाते हुए दिये कार्य-काल-पक्षाश्रयी आशय के आधार पर दीक्षितजी ने 1-2 कारिकाओं में निष्कर्ष के रूप में दिया है। पर एक-देशीय कथन के आधार पर निकले निष्कर्ष को 'माधव का मत' कहना उचित नहीं है। एक स्थल में उपयुक्त यथोद्देश-पक्ष के आधार पर निकलने वाला निष्कर्ष क्या माधव का मत नहीं होगा? अतः दीक्षितजी को माधव की दोनों मान्यताएँ दे कर उनके बलाबल के आधार पर माधव का मत निश्चित करना चाहिये था।

√अर्थापि, √ऊर्णु, √चकास्, √जागृ आदि धातुओं में द्वित्व अंग के अवयव को होता है : आ अर् थप्+थप्+इ+अत्, आ ऊर्+नु+नु+इ+अत्, अच+चकास्+इ+अत्, अज+जागृ+इ+अत् । अतः कार्य-काल पक्ष में अन्वय करने पर इनमें सन्वद्-भाव और दीर्घ नहीं होंगे ।

कार्य-काल पक्ष की कम-जोरियाँ : सायण द्वारा यहाँ एक-देशीय रूप से आश्रित कार्य-कालपक्ष को मानने में (क) लक्ष्य-विरोध, (ख) आचार्य-परम्परा-विरोध तथा (ग) स्व-वचन-विरोध की निम्नलिखित आपत्तियाँ हैं । इनके कारण यहाँ कार्य-काल पक्ष की अपेक्षा यथोद्देश पक्ष का आश्रय ही उचित है । तद् यथा—

(क) लक्ष्य-विरोध : **अङ्गस्य** (6.4.1) के अधिकार में अभ्यास को विहित सब कार्य कार्य-काल पक्ष के अनुसार समुचे अंग को द्वित्व होने पर ही होंगे; परिणामतः **ह्रस्वः** (7.4.59) तथा **हलादिः शेषः** (60), **सन्यतः** (79) आदि कार्य सिर्फ एकाच् धातुओं के अंगों में ही सीमित हो जायेंगे, √जागृ-लिट्, √जागृ+णिच्+लुङ् में द्वित्व होने पर कोई भी अभ्यास-कार्य नहीं हो पायेगा तथा 'जागृजागार', 'अजागृजागरत्' रूप बनेंगे । √दरिद्रा+सन् में भी द्वित्व तो होगा, पर न **हलादिः शेषः** से अभ्यास का आदि-हल् रहेगा और न **सन्यतः** से इत्त्व होगा ? फलतः सायण अपने 'दिदरिद्रासति', या 'दिदरिद्रिषति' रूप कैसे बना पायेंगे ? अतः यहाँ इस पक्ष को मानने में इष्ट-व्यापत्ति दोष है ।

(ख) परम्परा-विरोध : (अ) भाष्यकार ने 'अजजागरत्' में सन्वत्त्व न होने का हेतु अभ्यास और लघु के मध्य 'जा' का व्यवधान बताया है, यह पीछे (पृष्ठ 383 में) कहा जा चुका है । यदि भाष्य-कार कार्य-काल पक्ष को मानते, तो वे 'और्णुनवत्' पर सायण के उत्तर की तरह कार्य-काल पक्ष के आधार पर सन्वत्त्व की प्राप्ति का ही निषेध करते । उनके उत्तर से सूचित होता है कि वे यहाँ यथोद्देश पक्ष को ही मानते हैं, जिसके अनुसार सन्वत्त्व की प्राप्ति प्रथम व्याख्या के एक अंश (णि-परक लघु) के आधार पर है, दूसरे अंश (लघु-परक अभ्यास) के यहाँ लागू न होने से सन्वत्त्व नहीं होता, यह भाष्य-कार ने कहा ही है ।

'अजजागरत्' में सन्वत्त्व के अभाव में यही युक्ति काशिका, न्यास, पद-मंजरी, प्रदीप आदि सब ग्रंथों में दी गई है, तथा अन्यत्र भी अभ्यास को ह्रस्व, आदिशेष आदि सब ने यथोद्देश पक्ष के अनुसार ही किए हैं ।

(आ) इसके अतिरिक्त एक बात और : शास्त्र में (i) संज्ञाओं के विषय में यथोद्देश पक्ष का और (ii) परिभाषाओं के विषय में कार्य-काल पक्ष का आश्रय

(ख) 3 वस्तुतोऽङ्गस्यावयवो योऽभ्यास, इति वर्णनात् ।
ऊर्णौ दीर्घोऽर्थापयतौ द्वयं स्यादिति मन्महे ॥

(ख) 3 असलियत में 'अंग का अवयव जो अभ्यास है', इस प्रकार वर्णन किये जाने के कारण[1] √ऊर्णु (+णि) में दीर्घ तथा √अर्थापि में दोनों होते हैं; हम यह मानते हैं ।

प्रायेण लिया जाता है ।[2] इसलिए जब तक कोई विशिष्ट हेतु न हो, यहाँ कार्यकाल पक्ष का आश्रय उचित नहीं है । अतः यहाँ कार्य-काल पक्ष मानने में परम्परा-विरोध दोष भी है ।

(ग) स्ववचनविरोध : सायण ने ह्रस्व और अभ्यास के आदि-शेष के स्थलों में तत्तत् सूत्रों को यथोद्देश पक्ष के अनुसारी अर्थ में ही लगाया है। इसके अतिरिक्त (1) 'अज-जागरत्' में कार्य-काल पक्ष के अनुसार तो सन्वत्त्व की प्राप्ति ही नहीं है, पर उन्होंने सन्वत्त्व की सम्भावना का उत्तर कार्य-काल पक्ष के अनुसार बने अर्थ के आधार पर नहीं, बल्कि यथोद्देशपक्ष के अनुसार बने अर्थ को मानकर दिया है कि यहाँ अभ्यास और लघु में व्यवधान होने से सन्वत्त्व नहीं होता : (2) √चकास्+णिच् लुङ् में कार्य-काल पक्ष के अनुसार तो सन्वत्त्व प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि यहाँ (समूचे) अंग को द्वित्व नहीं हुआ है, अपितु अंग के अवयव (प्रथम एकाच्) को हुआ है; पर उन्होंने इसमें सन्वत्त्व किया है : 'अचीचकासत्' रूप बताया है; यह **सन्वत्०** सूत्र की दूसरी व्याख्या में यथोद्देश पक्ष लागू करने से ही सम्भव है; (3) 'अचुकुमारत्' आदि में भी णि के निमित्त से अग्लोप के कारण सन्वत्त्व का अभाव बताया है, न कि अंग को द्वित्व न होने के कारण; (4) √दरिद्रा+सन्+लट् में **सन्यतः** से अंग के अवयव अभ्यास को इत्त्व करके 'दिदरिद्रासति' या 'दिदरिद्रिषति' रूप बनाये हैं; कार्य-काल पक्ष के अनुसार यह प्राप्त ही नहीं है । अतः सायण ने स्वयं भी 'और्णुनवत्' के एक स्थल को छोड़ कर कहीं भी कार्य-काल पक्ष का आश्रय नहीं लिया है तथा एक स्थल का कार्य-कालाश्रय अपने ही अन्य कथनों का विरोधी है ।

(ख) **यथोद्देशं संज्ञा-परिभाषम्** (प० 2)—उद्देशाः=संज्ञा-परिभाषाऽऽम्नान-

---

1. अर्थात् यथोद्देश-पक्षीय व्याख्या मानने के कारण ।

2. परिभाषेन्दु-शेखर, प० 2, पर भूति-तिलक व्याख्या : **संज्ञा-परिभाषाणां प्रत्येकं पक्ष-द्वय-स्वीकारे न फलम्, किन्तु (क) 'आगच्छतमग्नी 3' इत्यादि-फलानुरोधात् संज्ञा-विषये यथोद्देशः, (ख) 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति सूत्र-भाष्यात् (355 पृष्ठे) परि-भाषा-विषये कार्य-कालः ।** पृष्ठ 394 पर त्रिपाठीजी की टिप्पणी भी देखें ।

प्रदेशाः, तानतिक्रम्य, इति यथोद्देशम् । संज्ञा और परिभाषा सूत्रों का देश (स्थल) 'उद्देश' है । संज्ञा-परिभाषा-सूत्र अपने स्थान को नहीं छोड़ते । अर्थात् इनकी अनुवृत्ति विधि-सूत्रों में शब्दशः नहीं होती, अपितु तत्तत् संज्ञा और परिभाषा के लिंग (संज्ञा शब्द अथवा सप्तम्यंत पदादि) से चिह्नित विधि-सूत्र अपने स्थल में विद्यमान संज्ञा-परिभाषा-सूत्रों के देश में उपस्थित होते हैं । जैसे—'गुण' संज्ञा-शब्द से युक्त **आद् गुणः** सूत्र **अदेङ् गुणः** के स्थल में, सप्तम्यन्त **अचि** से युक्त **इको यणचि** सूत्र **'तस्मिन्' इति निर्दिष्टे पूर्वस्य** के स्थल में उपस्थित हो कर उनके वाक्यार्थ से एक-वाक्यता करते हैं ।[1] इस प्रकार इस पक्ष में विधि-सूत्र और परिभाषा-सूत्रों के पदों की अनुवृत्ति नहीं होती, अपितु **पूर्वोऽभ्यासः** आदि के स्थल में **सन्वल्लघुनि** एवम् **दीर्घो लघोः** सूत्र जा कर उनके वाक्यार्थ से अपना वाक्यार्थ मिला कर अपना वाक्यार्थ-बोध निष्पादित करते हैं ।

यथोद्देश पक्ष का फलितार्थ : इस पक्ष के अनुसार प्रकृत में 'अभ्यासस्य' से अन्वित 'अङ्गस्य' में षष्ठी पदान्वय न होने के कारण किसी कृदंत पद के योग में नहीं, अपितु शेष (अवयवावयवि-भाव) संबंध में ही होगी । इससे सूत्रार्थ 'अङ्गस्य अवयवो योऽभ्यास; तस्य सन्वत्' निष्पन्न होता है, जिससे कार्य-काल पक्ष में आने वाली कोई भी आपत्ति इस पक्ष में नहीं आती । उल्टे, कार्य-काल पक्ष में जहाँ (अनेकाच् अंगों में) सन्वत्त्व तथा दीर्घ प्राप्त ही नहीं था, वहाँ इस पक्ष में ये दोनों होंगे । तद्यथा—

√ऊर्णु+णि+लुङ् में 'और्णु+नव्+अत्' स्थिति में पहली व्याख्या के अनुसार अभ्यास (णु)+लघु (नव्)+चङ्-परक णि (अत्) स्थिति होने से तथा दूसरी व्याख्या के अनुसार अंग (और्णुनव्) का अभ्यास (णु)+लघु (नव्) स्थिति होने से अभ्यास के लघु उ को **दीर्घो लघोः** से दीर्घ[2] होता है : और्णूनवत् ।

अर्थमाचष्टे, 'अर्थाप्+णिच्+लुङ्' में 'आ+अर्+थाप्+इ+अत्' स्थिति में णिलोप, **णौ चङ्युप०** से ह्रस्व, **चङि (न न्द्राः०)** से थप् को द्वित्व : आ+अर्+थप्+थप्+अत्, अभ्यास-कार्य : आ+अर् त+थप्+अत्, दोनों व्याख्याएँ लागू होने से **सन्वल्लघुनि०** से सन्वद्भाव, **सन्यतः** से इत्त्व, **दीर्घो लघोः** से दीर्घ : आ+अर्ती+थप्+अत्=आर्तीथपत् ।

---

1. डॉ० पण्डित रामप्रसाद त्रिपाठी—यह कैयटादि प्राचीन आचार्यों का मत है । नागोजी भट्ट के मत में संज्ञा-सूत्रों से तो वाक्यैक-वाक्यता, किन्तु परिभाषा-सूत्रों से पदैक-वाक्यता उचित है । संज्ञा-परिभाषा-सूत्रों और विधि-सूत्रों के वाक्यार्थों का बोध स्वतंत्रतया होने पर भी परस्पर सापेक्षता 'वाक्यैक-वाक्यता' है । दोनों प्रकार के सूत्रों के पदों का परस्पर-सापेक्ष अन्वय 'पदैक-वाक्यता' होती है ।
2. सन्वत्त्व का फल **'सन्यतः'** से अभ्यास के अत् को इत् करना है; यहाँ अभ्यास में वह है नहीं, उ है; अतः सन्वद्भाव नहीं किया है ।

कार्यकाल पक्ष में 'आर्तथपत्' रूप होता है।

√चकास् लघु+णिच्+लुङ् में 'अच+चकास्+अत्' स्थिति में (1) प्रथम व्याख्या के अनुसार लघु+चङ्-परक णि नहीं है, अतः यहां **सन्वल्लघुनि०** और **दीर्घो लघोः** सूत्र लागू नहीं होते, इसलिये 'अचचकासत्' रूप होता है; तथा (2) द्वितीय व्याख्या के अनुसार अभ्यास+लघु है, अतः सन्वत्त्व तथा दीर्घ दोनों होते हैं; इस लिये 'अचीचकासत्' रूप होता है, यह पीछे (पृष्ठ 385 तथा 396 पर) कहा जा चुका है।

दीक्षितजी ने √चकास्+णि+लुङ् में इस रूप-भेद के हेतु व्याख्या-भेद का श्रेय (कारिका 5 में) कैयट को दिया है, जिसके आधार पर श्रीज्ञानेंद्रसरस्वती ने मा० धा० वृ० में (पृष्ठ 422 पर) एक को हरदत्त का और दूसरी को कैयट का मत बतलाने को उपेक्षणीय बताया है।[1] पर व्याख्या-विकास के इतिहास में (पृष्ठ 384 पर) हम देख चुके हैं कि वस्तुतः सायण का कथन ही सत्य है।

'सन्वल्लघुनि०' की दोनों व्याख्याएँ यथोद्देश-पक्षानुसारी हैं : श्रीज्ञानेंद्रसरस्वती ने प्रथम व्याख्यान में **'अङ्गस्य अभ्यासस्य'** का विवरण करते हुए कुछ ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है, जो कार्य-काल पक्ष का आश्रय लेने पर ही दी जाती है,[2] यथोद्देश पक्ष का आश्रय लेनेपर नहीं। इससे लगता है कि वे प्रथम व्याख्या को कार्य-काल-पक्षा-श्रयी तथा द्वितीय व्याख्या को यथोद्देश-पक्षाश्रयी मानते हैं। पं० श्रीचारुदेव शास्त्री ने सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर (1) भाष्य-कैयट-जिनेन्द्रबुद्धि-भट्टोजि-सम्मत व्याख्या को कार्य-काल पक्ष के अनुसार तथा, (2) काशिका, पद-मञ्जरी में स्थित और कैयट द्वारा अन्यदीय के रूप में उद्धृत तथा दीक्षितजी द्वारा 'अथवा' कह कर दी व्याख्या को यथोद्देश पक्ष के अनुसार माना है।[3] परन्तु यह निम्न हेतुओं से उचित नहीं है :

(i) प्रथम व्याख्या के प्रस्तोताओं को यहाँ कार्य-काल पक्ष अभिमत नहीं

---

1. त० बो०, मो० व० सं०, पृष्ठ 125 : **'कैयटेनैव' इति—तथा च 'एकं हरदत्त-मतम्, अपरं तु कैयट-मतम्' इति व्याचक्षाणा उपेक्ष्या इति भावः।** सायण का यह कथन पीछे (पृष्ठ 384, टि०, 1 में) उद्धृत किया हुआ है।
2. त० बो० में 'सन्वल्लघुनि०' की व्याख्या : **'अङ्गस्याभ्यास' इति—अङ्गस्य ये द्वे उच्चारणे, तयोः पूर्वोभ्यास इत्यर्थः।** तुलनीय कारिका 1 की व्याख्या : **कार्य-काल-पक्ष-पाति-माधव-मतं···व्याचष्टे—···तेन अङ्गस्य ये द्वे, तयोः पूर्वोऽभ्यास-संज्ञकः, तस्येति फलितम्।**
3. व्या० च०, भाग 3, पृष्ठ 265-268.

4 चकास्तौ तूभयमिदं न स्यात्, स्याच्च व्यवस्थया ।
"णेर्विशेष्यं सन्निहितं 'लघुनी'त्यङ्गमेव वा" ॥
5 इति व्याख्या-विकल्पस्य कैयटेनैव वर्णनात् ।
णेरग्लोपेऽपि सम्बन्धस्त्वगितामपि सिद्धये ॥ ॥ 59 ॥

4-5 √चकास् (+णिच्) में व्यवस्था दी होने से ये दोनों हो भी सकते हैं और नहीं भी; क्योंकि कैयट ने ही णि का विशेष्य निकटस्थ 'लघुनि' पद है, या 'अङ्ग' है, इस प्रकार दो तरह से व्याख्या की है। णि का अग्लोप के भी साथ सम्बन्ध तो (उपदेशकाल में) अक् की इत्संज्ञा वाली धातुओं को भी (दीर्घ और सन्वद्भाव की) सिद्धि करने के लिये किया है ॥ 59 ॥

है, यह कार्य-काल पक्ष की कमजोरियाँ गिनाते हुए (पृष्ठ 395 पर) कहा जा चुका है; तब उस व्याख्या को कार्य-काल-पक्षाश्रित कैसे कहा जा सकता है ?

(ii) यहाँ कार्य-काल-पक्षाश्रय के उद्भावक सायण ने इस पक्ष के अनुसार 'और्णुनवत्' रूप सिद्ध करते हुए व्याख्या का जो स्वरूप दिया है, वह प्रथम व्याख्या वाला नहीं है, अपितु द्वितीय व्याख्या वाला है।[1] अतः प्रथम व्याख्या को कार्य-काल पक्ष के अनुसार मानना तथ्य के विरुद्ध है। द्वितीय व्याख्या यदि यथोद्देश-पक्षानुसारी ही है, तो वह 'और्णुनवत्' की व्याख्या के प्रसंग में ही कार्य-कालानुसारी कैसी हो गई ?

(iii) दीक्षितजी ने **'वस्तुतः'** (कारिका 3) से जो वक्तव्य दिया है, वह कार्य-काल पक्ष के विपरीत यथोद्देश पक्ष के अनुसार है, यह बा० म० और त० बो० में ही स्पष्टतः कहा गया है। इस पक्ष में दीक्षितजी ने व्याख्या-विकल्प की बात स्पष्ट शब्दों में कही है : **इति व्याख्या-विकल्पस्य कैयटेनैव वर्णनात्** (का० 5)। √ऊर्णु में दीर्घ तथा √अर्थापि में दोनों यदि एक (द्वितीय) व्याख्या के अनुसार ही हैं, तब तो प्रथम व्याख्या में कार्य-काल पक्ष के कारण इनमें रूप-विकल्प हो गया; पर दीक्षितजी ने स्पष्टतः एक रूप को ही मान्यता दी है : **ऊर्णौ दीर्घोऽर्थापयतौ द्वयं स्याद् इति मन्महे** (का० 3)। पीछे (पृष्ठ 397 में) हम देख चुके हैं कि कार्य-काल पक्ष का आश्रय लिए बिना यथोद्देश पक्ष के अनुसार अर्थ करने पर दोनों व्याख्याओं से ही √ऊर्णु में दीर्घ तथा √अर्थापि में सन्वत्त्व एवं √चकास् में सन्वत्त्व की प्रवृत्ति तथा अप्रवृत्ति, दोनों, ठीक घटते हैं, जबकि 'प्रथम व्याख्या कार्य-काल के अनुसार है', यह मानने पर

---

1. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 243 : **चङ्-परे णौ यदङ्गम् तस्य योऽभ्यास···।** पृष्ठ 422 : **चङ्-परे णौ यदङ्गं, तस्य योऽभ्यासो लघु-पर इत्यर्थ-वादिनां हरदत्तादीनाम० ।**

13 अथ क्रम्यन्तास्त्रिंशत् परस्मैपदिनः—

त्रयोदश वर्ग : पंचम-वर्णांत परस्मैपदी धातु

13 अब √क्रम् तक तीस परस्मैपदी हैं—

सन्वत्त्वाभाव वाला एक रूप ही बनता है।

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि दीक्षितजी को इन दोनों व्याख्याओं में यथोद्देश पक्ष ही स्वीकृत है, कार्य-काल पक्ष नहीं। तब दीक्षितजी के अन्वय ('अङ्गस्य' की आवृत्ति) तथा अर्थ को स्वीकार करते हुए उनकी एक व्याख्या में कार्य-काल पक्ष की तथा द्वितीय व्याख्या में यथोद्देश पक्ष की संभावना कहाँ तक उचित है, यह स्पष्ट है।

(iv) दीक्षितजी द्वारा दिया सायण का मत एक भिन्न मत नहीं, अपितु पूर्व-पक्ष है, यह दीक्षितजी के **'वस्तुतः'** शब्दों से भली-भाँति सूचित होता है। तब सायण के बहु-विध दोषों तथा असंगतियों से ग्रस्त, एवं स्वयं ही चार अन्य स्थलों में अनादृत एक कथन को मत के रूप में मान्यता दे कर उसके आधार पर रूप-भेद की कल्पना करना[1] भी उचित नहीं है।

निष्कर्ष : (क) प्रकृत सूत्र की व्याख्या के (1) भाष्यकार और (2) काशिकाकार से प्रारब्ध दो सम्प्रदाय हैं; (ख) दोनों में यथोद्देश पक्ष का आश्रय ही लिया गया है; (ग) कार्य-काल पक्ष का आश्रय तो शब्द-तन्त्र-स्वतन्त्र[2] सायण ने शिष्य-बुद्धवैशद्यार्थ बुद्धि-विलास के रूप में यों ही बतला दिया, अन्यथा वह अभिप्रेत तो उन्हें भी नहीं है; (घ) प्रथम संप्रदाय की व्याख्या कार्य-काल-पक्ष पर आधारित है, द्वितीय व्याख्या यथोद्देश-पक्ष पर, यह कथन आधार-रहित है।

धातु-योग : गत धातु 426, प्रकृत 10, योग 436[3] ॥ 59 ॥

संदर्भ : बारहवें वर्ग में वर्ग-पंचमांत आत्मनेपदी 10 धातु देने के बाद प्रकृत 13वें वर्ग मे वर्ग-पंचमांत परस्मैपदी धातु दी हैं। उदात्त बताई होने से ये सब सेट् हैं।

---

1. व्या० च०, भाग 3, पृष्ठ 274 : आर्तीथपत्; टि० 3 : आर्तथपत्।
2. मा० धा० वृ०, √चक्ष् (2.7) की वृत्ति के अंत में ग्रंथकार की शेखी :
   शब्द-तन्त्र-स्वतन्त्रेण प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता।
   तस्या निःशेषतो मन्ये बोद्धारो भाष्य-पारगाः ॥
3. यह हमारे अभिप्राय से है। दीक्षितजी का गणनाक्रम टूट गया है। अतः उनके मत से गिनती सम्भव न होने से नहीं दी है। इसी कारण आगे के वर्गों में भी दीक्षितजी का योग नहीं दिया जा सका है।

1 अण, 2 रण, 3 वण, 4 भण, 5 मण, 6 कण, 7 क्वण, 8 व्रण,

1 √अण्, 2 √रण्, 3 √वण्, 4 √भण्, 5 √मण्, 6 √कण्, 7 √क्वण्,

दीक्षितजी ने इनकी संख्या 30 बताई है : 9वें धातु-सूत्र की 19 √वन् 10वें धातु-सूत्र में अर्थ-भेद से पुनः दी गई है।[1] हमारे मत में 10वें धातु-सूत्र की √वन् पृथक् धातु नहीं है। अतः वस्तुतः 29 धातु इस वर्ग में हैं। क्षीरस्वामी ने इस वर्ग की धातुओं की संख्या 33 बताई है, जबकि वहाँ वास्तविक संख्या 32 है तथा √घण्, √ध्वन् अतिरिक्त हैं। मीमांसकजी ने एकीय √जिम् को पृथक् गिनकर संख्यापूर्ति की है। √वन् और √मीम् अर्थ-भेदेन पुनः-पठित तथा प्रसंख्यात हैं।

इस वर्ग में 1-15 धातु ट-वर्ग-पंचमांत हैं; 16-21 (√वन् को एक ही मानने पर पाँच धातु) त-वर्ग-पंचमांत तथा 22-30 प-वर्ग-पंचमांत हैं।

1 √अण्, 6 √कण्, 8 व्रण्, 9 √भ्रण् तथा 10 √ध्वण् धातु शब्द करना अर्थ में बताई हैं; पर किस प्रकार की आवाज करना, यह विशेष स्पष्ट नहीं है। इनका आख्यात के रूप में प्रयोग भी शायद ही हुआ करता हो, साहित्य में उपलब्धि दुर्लभ है। 1 √**अण्** अणु, अणि, आणि (पहिये को धुरे से निकलने से रोकने को लगाई जाने वाली कीली, पिन), अण्ड आदि शब्दों में, 6 **कण्** कण्ठ, कङ्कण, 8**व्रण्** व्रण (घाव) में मिलती हैं। क्षीरस्वामी का कथन है कि 10 √**ध्वण्** लोक में प्रयुक्त नहीं है। पर यह लोक में ही क्या, उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में भी प्रयुक्त नहीं है। वस्तुतः √ध्वन् का प्राकृत रूप √ध्वण् ही संस्कृत में अपना लिया प्रतीत होता है।

2 **रण्** (बजना; रुनझुन करना), रणः (युद्ध-भूमि, जहाँ परस्पर को ललकारते योद्धा शोर करते हैं)। 3 **वण्** शब्द करना अर्थ में वाणिः, वाणी (बोलने की क्रिया) शब्दों में हैं। 4 √**भण्** बोलना (व्यक्त वाणी) अर्थ में आख्यात के रूप में भी प्रयुक्त होती है तथा भण्ड (भाँड), भाण, भणिति आदि शब्दों में भी है। गुजराती में √भण् √पढ् (सं० √पठ्) के अर्थ में प्रयुक्त होती है। भणति; बभाण, बभणतुः—**अभ्यासे चर्च** से 'भ्' रूप से भिन्न 'ब्' आदेश होने से एत्व तथा अभ्यास-लोप नहीं होते;

---

1. इस वर्ग में √घण्, √ध्रण्, √जिम् एकीय धातु हैं, तथा √मीम् शब्द में भी है। दीक्षित जी की प्रसंख्यान-शैली अव्यवस्थित है। उपर्युक्त तीन क्वाचित्कों का प्रसंख्यान दीक्षितजी ने नहीं किया, 3-5 तथा 10वें वर्ग में किया है। अर्थ-भेदेन पुनः पठित दो धातुओं में से एक का प्रसंख्यान किया, दूसरी (√मीम्) का नहीं किया। क्षीरस्वामी ने '**मीम शब्दे च**' पृथक् धातु-सूत्र देकर उसे अपनी गिनती में शामिल किया है।

9 भ्रण, 10 ध्वण शब्दार्थाः ॥ 1 ॥ अणति । रणति । वणति । वकारादित्वादेत्वाभ्यास-लोपौ न—ववणतुः; ववणिथ । धणिरपि कैश्चित्पठ्यते—धणति । 11 ओणृ अपनयने ॥ 2 ॥ ओणति; ओणांचकार । 12 शोणृ वर्ण-गत्योः ॥ 3 ॥

8 √व्रण्, 9 √भ्रण्, 10 √ध्वण् शब्द करना अर्थ वाले हैं ॥ 1 ॥ 3 (धातु के) आदि में व् है, इसलिये एकार और अभ्यास का लोप नहीं होते—ववणतुः । यहाँ कुछ लोगों द्वारा √धण् भी पठित है । 11 √ओण् हटाने में है ॥ 2 ॥ 12 √शोण् रंगीन

मणिता; मणिष्यति; मणतु; अमणत्; मणेत्; मण्यात्; अमाणीत्, अमाणिष्टाम्, अमाणिषुः, अमणीत्, अमणिष्टाम्, अमणिषुः; अमणिष्यत् । 5 √ **मण्** सम्भोग के समय स्त्री-पुरुष की आनन्द-ध्वनि के लिये 'मणित' में प्रयुक्त है ।[1] इसी अर्थ में 'मन्मन' शब्द भी इसी से निष्पन्न है । 7 √**क्वण्** वजना (वीणा आदि तार-वाद्य का शब्द होना) अर्थ में क्वणः, क्वाणः में (उप, नि और प्र उपसर्गों के साथ भी) है ।

√वण् और √मण् को छोड़ कर शेष धातुओं से यदि शब्द अर्थ प्रकट होता है, तो अव्यक्त, अनुनासिक-प्रधान गुनगुनाहट, रुनझुन, झन्झनाहट होना जैसा अर्थ प्रकट होता है ।

मैत्रेय के अनुसार संमता में √**घण्** भी शब्द अर्थ में दी है; इसे क्षीरस्वामी ने **वन, भण, घण शब्दे** (धा०सू 308) में दिया है । कौशिक ने इसे √ **घन्** के रूप में दिया है जो घनुष्, घन्वन् शब्दों में है ।

2 √**रण्** के कित् लिट् में एत्त्व तथा अभ्यास-लोप : रराण, रेणतुः । 3 √**वण्** चूँकि वकारादि है, अतः एत्त्व तथा अभ्यास-लोप का निषेध **न शस-दद-वादि- गुणानाम्** से हो जाता है : ववाण, ववणतुः, ववणुः । लुङ् में सब धातुओं में **अतो हलादेर्लघोः** से उपधा में वृद्धि का विकल्प होता है : अराणीत्, अरणीत् । 1 √**अण्** में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से **हलन्तत्वेन** प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध : मा भवानणीत् ।

11 √**ओण्** हटाना अर्थ में सकर्मक है । ओणति । लिट् में धातु इजादि गुरुमान् है, अतः **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** से आम् एवम् √कृ, √भू और √अस् का अनुप्रयोग, शेष प्रक्रिया √इन्द् के समान होती है : ओणांचकार, ओणाम्बभूव, ओणामास । लुट् आदि में—ओणिता; ओणिष्यति; ओणतु; औणत्; ओणेत्, ओण्यात्; औणीत्, मा भवान् ओणीत्, हलंतत्वेन प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध; औणिष्यत् । उपदेश में ऋदित् का फल णिच्, लुङ् में **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** से प्राप्त ह्रस्व का

---

1. शिवनारायण शास्त्री, परिमल पब्लिकेशंस, शक्तिनगर, दिल्ली, काव्यादर्श-प्रसादिनी 3.11.

शोणति; शुशोण । 13 श्रोणृ सङ्घाते ॥ 4 ॥ श्रोणति । 14 श्लोणृ च ॥ 5 ॥ शोणादयस्त्रयोऽमी तालव्योष्मादयः । 15 पैणृ गति-प्रेरण-श्लेषणेषु ॥ 6 ॥ 'प्रैणृ' इति क्वचित्पठ्यते—पिप्रैण ।

होना और गति अर्थों में है ॥ 3 ॥ 13 √श्रोण् समूह होना अर्थ में है ॥ 4 ॥ 14 √श्लोण् भी ॥ 5 ॥ 12 √शोण् आदि तीनों के आदि में तालव्य शकार है। 15 √पैण् गति, प्रेरणा करना और चिपकना, चिपकाना अर्थों में है ॥ 6 ॥ कुछ ग्रन्थों में 'प्रैणृ' पठित है : प्रिप्रैण ।

नाग्लोपि-शास्वृदिताम् से निषेध होता है : औणिणत् (मा भवान् ओणिणत्) ।

क्षीरस्वामी का कथन है कि **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** से उपधा को होने वाला ह्रस्वादेश **चङि** से द्वित्व को बाध कर उससे पहले होता है, यह इस धातु को ऋदित् करने से सूचित होता है; क्योंकि यदि द्वित्व पहले कर देते हैं, तो 'ओणिणि+अत्' स्थिति में चङ्-परक अंग की उपधा ण् है, कोई स्वर नहीं, जिसे कि ह्रस्व हो । उपधा-ह्रस्व के अलावा ऋदित्त्व का और कोई प्रयोजन है नहीं; अतः यह व्यर्थ हो जायेगा । परिणामतः अट्+णिच्=√आटि से 'मा आटि+अत्' स्थिति में पहले ह्रस्व, फिर टि को द्वित्व : मा अटिटि अत्=मा अटिटत् रूप होता है ।

12 √**शोण्** लाल होना (अकर्मक), रंगना, लाल करना (सकर्मक) तथा गति अर्थ में है । इसके भी आख्यात प्रयोग कदाचित् ही मिलें । शोण=बिहार में एक नद, शोणा, शोणित शब्दों के आधार पर इसकी कल्पना की गई लगती है । लाल रंग वाला होने से तथा शरीर में सदा बहते रहने से खून 'शोणित' है । रंगीन होने से यह 'रक्त' कहलाता है । (तेज) गति वाली होने से बिहार की एक विशेष नदी (सोन) 'शोण' कहलाती है ।[1]

13 √**श्रोण्** लौंदा-सा होना अर्थ में अकर्मक है । यह भी श्रोणः (पंगु), श्रोणा (श्रवण नक्षत्र का विकसित रूप) तथा श्रोणिः, श्रोणी (कटि, कमर) शब्दों से कल्पित है । 14 **श्लोण्** इसी के प्राकृत (र् के स्थान में ल्) उच्चारण को संस्कृत में स्थान दिये जाने के प्रयास में यहां दिया हुआ लगता है ।

15 √**पैण्** गति, प्रेरणा करना, धक्का देना, फेंकना तथा चिपकना अर्थ में सकर्मक है । माधव के अनुसार कुछ लोग √**लेण्** मानते हैं, तो दीक्षितजी के अनुसार कुछ लोग √ **प्रैण्** (रेफवान्) मानते हैं । ऋदित् का फल ण्यन्त के लुङ् में उपधा-ह्रस्व

---

1. नदियों के नाम प्रायः उनकी गति के आधार पर पड़े हैं । हमारी निरुक्तमीमांसा, पृष्ठ 320, में 'गंगा', 'सिन्धु' आदि शब्दों का विवरण देखें ।

16 ध्रन शब्दे ॥ 7 ॥ उपदेशे नान्तोऽयम् । 'रषाभ्याम्०' (8.4.1) इति णत्वम् । ध्रणति । नोपदेश-फलं[1] यङ्-लुकि—दन्ध्रन्ति । 'बण' इत्यपि

16 √ध्रन् आवाज करने में है ॥ 7 ॥ यह उपदेश में नकारान्त है । 'र-षाभ्यां०' से न् को ण्—ध्रणति । उपदेश में नकार देने का फल यङ्-लुक् में दन्ध्रन्ति (नकारवान् रूप बनना) है । कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ √वण् भी है—

का अभाव है · अपिपैणत् ; अलिलेणत्; अपिप्रैणत् ।

ये सब धातु उपदेश में णकारांत है । इनके बाद उपदेश में नकारांत छह धातु दी हैं—

16 √ध्रन्, √ध्रण् मैत्रेय के अनुसार उपदेश में नकारांत (ध्रन्) है, तथा **अट्-कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से न् को ण् होने से √ध्रन् ही √ध्रण् बन गई है । उपदेश में नांत होने से यङ्-लुक् में 'अतिशयेन, पुनः-पुनर्वा ध्रणति' अर्थ में √ध्रण्+यङ् से **यङोऽचि च** से यङ् का लुक् करने पर उसे **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** से लक्षित मान कर **सन्यङोः** से द्वित्व : ध्रण्+ध्रण्; अभ्यास-कार्य : द+ध्रण्; **नुगतोऽनुनासिकान्तस्य** से अभ्यास को नुक् : दन्+ध्रण्; **नश्चापदान्तस्य झलि** से न् को अनुस्वार : दं+ध्रण्; **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से नत्व : दन्ध्रण्; शप् होने पर दन्ध्रण्+अ+ति, **चर्करीतं च** से यङ्-लुगंतों को अदादि के भीतर कथित होने से **अदि-प्रभृतिभ्यः शपः** से शप् का लुक् : दन्ध्रण्+ति, **अट्-कुप्वाङ्नुम्०** (8.4.2) त्रिपाद्यंतर्गत है, इस लिए वह **नश्चापदान्तस्य०** की दृष्टि में **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध है, अतः दन्ध्रन्+ति; **नश्चापदान्तस्य झलि** से न् को अनुस्वार तथा उसे **अनुस्वारस्य ययि०** से पर-सवर्ण : दन्ध्रन्ति । यदि यहाँ उपदेश में न् नहीं होता, स्वाभाविक ण् होता, तो 'दन्ध्रण्ति' रूप बनता ।

यह √ध्रन् या √ध्रण् क्षी० त० में नहीं है ।

क्षी० त० में **√पैण्** के बाद **वन, भण, धण शब्दे** धातु-सूत्र है । सायण ने इसे किसी कोश (हस्तलेख) का पाठ बताया है तथा मा० धा० वृ० में प्रथम धातु **वण** छपी है । इसे ही कदाचित् दीक्षितजी ने 'पवर्गीयादि √वण् कुछ लोगों के अनुसार है', यह कह कर बताया है । √ध्रण् से प्रारब्ध तवर्गीयांतों के बीच में टवर्गीयांत √बण् उचित नहीं है । वणति;ववाण, वेणतुः; वेणुः; अवाणीत्, अवणीत् ।

---

1. मो०ब०सं० में मूल तथा दोनों टीकाओं में **'णोपदेश-फलं'** पाठ है । बा०म० में **'नकार-स्थानिक-णोपदेशस्य'** से इसी की व्याख्या की गई है । परंतु उपदेश में ही यदि णकार है, तो स्थानी 'न्' कहाँ से आया ? जिसे 'र-षाभ्यां०' से 'ण्' किया गया है । अतः **'नोपदेश०'** पाठ शुद्ध है ।

केचित्—बेणतुः, बेणिथ। 17 कनी दीप्ति-कान्ति-गतिषु ॥ 8 ॥ चकान।
बेणतुः। 17 √कन् दीप्ति, कान्ति (इच्छा) और गति अर्थों में है ॥ 8 ॥

---

17 √कन् (ईदित्) चमकना, दमकना (अकर्मक), चाहना (सकर्मक) तथा गति (सकर्मक) अर्थों में है। वेद में इसका आख्यात और कृदंत के रूप में, उभयथा, प्रयोग उपलब्ध होता है। क्षीरस्वामी ने यहाँ कांति का अर्थ शोभा बताया है, पर इच्छा अर्थ में स्पष्ट प्रयोग उपलब्ध हैं : **अग्ने, तृतीये सवने हि कानिषः पुरोळाशं सहसः सूनवाहुतम्** (ऋ० 3.28.5), **भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्** (ऋ० 4.24.9), **स इन्नु रायः सु-भृतस्य चाकनन्मदं, यो अस्य रंह्यं चिकेतति** (ऋ० 10.147.4)। वैदिक 'कनी' तथा 'कनीना' और लोक-वेद में प्रयुक्त 'कन्या' शब्द √कन् से इच्छा अर्थ में ही निष्पन्न है।[1] कनीनिका आँख की पुतली। 'कनक' में पं० चारुदेव शास्त्री ने दीप्ति अर्थ स्पष्ट माना है;[2] परंतु स्वर्ण सबको प्रिय (अभीष्ट) होता है, इसलिये इच्छा अर्थ में भी हो सकता है; कनक के पर्याय हिरण्य का एक निर्वचन यास्क ने इच्छा अर्थ वाली √हर्य् से किया है।[3] यह भी कनक की इच्छाऽर्थक √कन् से व्युत्पत्ति का पोषक है।[4] अतः हमारे विचार में √कन् का मूल अर्थ इच्छा है; दीप्ति और गति अर्थ उसी से विकसित हुए हैं : जो इष्ट है, वह शोभायुक्त भी प्रतीत होता है, और उसे पाने को ही प्रयास भी सब करते हैं। निघंटु में यह कांति और गति अर्थों में बताई है।[5]

---

1. तु० निरुक्त 4.15 : **कन्या (क) कमनीया भवति।···(क) कनतेर्वा स्यात् कान्ति-कर्मणः।** कदाचित् इसका मूल अर्थ 'लाडली', 'लाडो' रहा हो। छोटा बच्चा औरों से अधिक लाडला होता है; सम्भवतः 'कनिष्ठ' 'कनीयस्' में 'कन्' शब्द इसी लिये 'छोटा' के लिये है।
2. व्याकरण-चंद्रोदय, भाग 3, पृष्ठ 39.
3. निरुक्त 2.10 : **हिरण्यं कस्मात् ?···(घ) हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः।**
4. क्षी० स्वा० ने 'कान्त' शब्द √कन् से बताया है। 'कांत' और 'कांति' शब्द दो भिन्न अर्थों में हैं; एक अर्थ 'इच्छा' है तथा दूसरा 'शोभा'। जो चहेता है, वह सुंदर दीखता ही है। यही कारण है कि 'कान्त' शब्द काव्यों में 'प्रिय' और 'सुंदर' दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से पहला अर्थ √कम् से व्युत्पन्न 'कान्त' का है, दूसरा √कन् से व्युत्पन्न का।
5. नि० पाँ० अ०, पृष्ठ 311, निघंटु 2.6.10; तथा पृष्ठ 322, निघंटु 2.14.77. निघंटु और निरुक्त में 'कांति' का अर्थ 'इच्छा' है, 'शोभा' नहीं।

18 ष्टन, 19 वन शब्दे ॥ 9 ॥ स्तनति । वनति । 20 वन, 21 षण सम्भक्तौ ॥ 10 ॥ वनेरर्थभेदात् पुनः पाठः । सनति; ससान, सेनतुः ।
18 √स्तन्, 19 √वन् आवाज करने में हैं ॥ 9 ॥ 20 √वन्, 21 √षण् भली-भाँति सेवन करने में हैं ॥ 10 ॥ 19 √वन् को अर्थ अलग होने के कारण फिर दिया है ।

कनति; चकान, चकनतुः—क् को विरूप च् आदेश होने से एत्वाभ्यासलोप नहीं होते; कनिता; अकानीत्, अकनीत्—**अतो हलादेर्लघोः** से उपधा को वा वृद्धि : अकनिष्यत् ।

√कन् ईदित् है, अतः **इवीदितो निष्ठायाम्** से इट् का निषेध : कान्तः, कान्तवान् । **अनुनासिकस्य क्वि-झलोः क्ङिति** से दीर्घ ।

18 √**ष्टन्** (=√स्तन्) तथा 19 √**वन्** शब्द करना अर्थ में (अकर्मक) हैं । न्यास और क्षीरतरंगिणी में प्रथम धातु अषोपदेश (उपदेश में दंत्य-सकारादि) मानी है, पर यह षोपदेश-कारिका के विरुद्ध है । स्तनति; तस्तान, तस्तनतुः, तस्तनुः; स्तनिता; स्तनिष्यति; स्तनतु; अस्तनत्; स्तनेत्; स्तन्यात्; अस्तानीत्, अस्तनीत्; अस्तनिष्यत् । स्तनितम्, निष्टनः । वनति; ववान, ववनतुः—**न शस-दद-वादि-गुणानाम्** से एत्वाभ्यासलोप का निषेध : वनिता; अवानीत्, अवनीत्; अवनिष्यत् । क्षी०स्वा० ने √वन् के स्थान पर √ध्वन् दी है, जो इसी गण में आगे भी इसी अर्थ में आई है; अतः यहाँ पाठ निष्प्रयोजन है ।

√**वन्** सम्भक्ति (देना), सेवन करना अर्थ में भी है । मैत्रेय ने अर्थ में भेद होने के कारण इसे पृथक् (बीसवीं) धातु ही माना, तो अन्य आचार्यों ने भी उनका अनुकरण किया । हमारे विचार में यह यदि अर्थ-भेद के कारण पृथक् है, तो कई अर्थों वाली सब धातुओं को उतने अर्थों में पृथक् मान कर धातु-पाठ में उपदेश किया जाना चाहिए । हाँ, यदि रूप-भेद भी होता है, तब तो पृथक् पाठ सार्थक है ।

21 √**सन्** उपदेश में षकारवान् तथा प्रक्रिया में **धात्वादेः षः सः** से सकारवान् हो जाती है । यह संभक्ति अर्थ में है । सनति; ससान, सेनतुः—'सन्+सन्+अतुस्' स्थिति में **अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि** से अभ्यासोत्तर 'स' के अकार को ए तथा अभ्यास का लोप होता है; सनिता; सनिष्यति; सनतु; असनत्; सनेत् । आशीर्लिङ् में 'सन्+यात्' स्थिति में यासुट् **किदाशिषि** से कित् है, अतः **ये विभाषा** से सन् के न् को विकल्प से आ आदेश : (1) सआ यात्; **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ : सायात्; (2) आत्वाभाव-पक्ष में सन्यात् । सायात्, सायास्ताम्, सायासुः; सन्यात्, सन्यास्ताम्, सन्यासुः । असानीत्, असानिष्टाम्, असानिषुः; असनीत्, असनिष्टाम्, असनिषुः ।

2319 ये विभाषा (6.4.43)—जन-सन-खनामात्त्वं वा स्याद् यादौ क्ङिति। सायात्, सन्यात्।

2319 √जन्, √सन्, √खन् को 'आ' विकल्प से हो जाए आदि में य् वाला कित् और ङित् प्रत्यय बाद में होने पर। सायात्, सन्यात्।

2319 ये विभाषा (6.4.43)—अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति 7.1 (24), विङ्-वनोरनुनासिकस्यात् 1.1 (41), जन-सन-खनाम् 6.3 सञ्झलोः (42), अङ्गस्य (6.4.1) : जन-सन-खनाम अङ्गानाम् अलोऽन्त्यस्य विभाषा आत् ये (यादौ) क्ङिति (प्रत्यये)—√जन्, √सन्, √खन् अंगों के अंतिम अल् (न्) को आ आदेश विकल्प से होता है, बाद में यकारादि कित् और ङित् प्रत्यय होने पर। 'अंग' संज्ञा प्रत्यय बाद में होने पर (प्रत्यये) पूर्व-वर्ती शब्द की होती है, अतः यहाँ 'ये क्ङिति' के विशेष्य के रूप में 'प्रत्यये' आता है। एक-वचनांत 'अङ्गस्य' अपने संज्ञी 'जन-सन-खनाम्' के अनुकूल बहु-वचनांत 'अङ्गानाम्' में बदलता है। 'जन-सन-खनाम्' की षष्ठी के कारण **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा आती है। 'ये' पद य (य्+अ, उच्चारणार्थ) का सप्तमी, एकवचन, का रूप है : यकारे। वर्ण जब पर-सप्तम्यन्त होता है, तब वर्ण के साथ 'आदि' शब्द जुड़ता है : **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34); अतः 'ये प्रत्यये=यादौ प्रत्यये'।

क्षीरस्वामी तथा धातुपारायणकार का मत[1] है कि यहाँ 'ये' पद से 'य'-शब्द-घटित, अर्थात् 'य' के रूप में रहने वाला, प्रत्यय अभिप्रेत न होने से तदादि-विधि नहीं होती, और यह सूत्र यक् और यङ् प्रत्ययों में ही लागू होता है, न कि यासुट् में भी।[2] अतः √सन् से 'सन्यात्' ही बनता है, 'सायात्' नहीं।[3]

---

1. क्षी० त० : **सनति, सनो 'ये विभाषा'** (6.4 43) **आत्त्वम्—सायते, सन्यते। कथं सन्यात् ? 'ये' इति अदन्ते ये परे विधानात्।** मा०धा०वृ० : **धातु-पारायणे तु " 'लोपो यि'** (6 4.118) **इतिवद् वर्णमात्रे निर्देष्टव्ये 'य' इत्यत्वतो निर्देशाद् यासुटि आत्त्वं न" इत्युक्तम्।**
2. यदि यकारादि प्रत्यय ही अभिप्रेत होता, तो सूत्र-कार **'लोपो यि'** (6.4.118) और **'अयङ् यि क्ङिति'** (7.4.122) की तरह **'यि विभाषा'** सूत्र बना देते।
3. काशिका में इस सूत्र के सब उदाहरण यक् और यङ् के ही दिए हैं। √जन् के संदर्भ में श्यन् (य) में आत्त्व की प्राप्ति की चर्चा की है। इससे प्रतीत होता है कि उन्हें 'य'-रूप प्रत्यय अभिप्रेत है। सम्भवतः क्षीरस्वामी की व्याख्या इन्हीं से प्रभावित है। किंतु का० में 'ये' की व्याख्या **'यकारादौ प्रत्यये'** ही की है; अतः व्याख्या से तो प्रतीत होता है कि उन्हें यासुट् परे रहते भी आत्त्व इष्ट ही प्रतीत होता है। अतः काशिकाकार इस विषय में अस्पष्ट एवं संदिग्ध हैं।

22 अम गत्यादिषु ॥ 11 ॥ '17 कनी दीप्ति-कान्ति-गति०' इत्यत्र गतेः परयोः शब्द-सम्भक्त्योः 'आदि'-शब्देन संग्रहः । अमति; आम । 23 द्रम, 24 हम्म, 25 मीमृ गतौ ॥ 12 ॥ द्रमति, दद्राम । 'ह्म्यन्त०' (2299) इति

22 √अम् गति आदि अर्थों में है ॥ 11 ॥ यहाँ के 'आदि' शब्द से 17 √कन् दीप्ति, कान्ति और गति० धातु-सूत्रों में पठित गति अर्थ के बाद के 'शब्द' और 'सम्भजन' अर्थ लिये जाते हैं । 23 √द्रम्, 24 √हम्म्, 25 √मीम् गति अर्थ में हैं ॥ 12 ॥ 'ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम्' (2299) से वृद्धि का निषेध हो जाता है—अद्रमीत् । मीमति; मिमीम; यह (√मीम्) शब्द करना अर्थ में भी है ।

---

22 √**अम्** गति, शब्द और सम्भक्ति अर्थों में है । धातु-सूत्र में **'गत्यादिषु'** कहा है । 'गति' अर्थ तो **'कनी दीप्ति-कान्ति-गतिषु ॥ 8 ॥'** का 'गति' अर्थ है और 'आदि' शब्द से उसके बाद के धातु-सूत्रों में दिए **'शब्दे'** और **'सम्भक्तौ'** अर्थों का संग्रह होता है (—क्षी०त०, मा०धा०वृ०) ।

अमति; आम—√अम्+लिट् में अम्+अ, द्वित्व, अभ्यासकार्य : अ+अम्+अ, **अत आदेः** से अभ्यास के अ को दीर्घ : आ+अम, **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ : आम; आमतुः; आमुः । अमिता; आमत्; अमेत्; अम्यात्; आमीत्—हलन्तत्वेन **वद-व्रज-हलन्त-स्याचः** से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध, मा भवान् अमीत् । अन्तः=छोर, end, अन्त्रम्=आँत, आम्रः=आम का पेड़, अमत्रम्=पात्र, अंसः, अङ्गुरिः, अङ्गुलिः, अमित्रम् आदि शब्दों में यह धातु उपलब्ध होती है; आख्यात रूप में तो शायद ही मिले ।

23 √**द्रम्**, 24 √**हम्म्** 'गति' अर्थ में हैं । प्रथम धातु द्रमः=दाम, दिरम, द्रमकः=दमड़ी, द्रमिड (द्रविड), दन्द्रम्यमाण आदि शब्दों में, √**हम्म्** पतंजलि के अनुसार सौराष्ट्र में आख्यात के रूप में तथा अन्यत्र 'हम्मीर आदि शब्दों में प्रयुक्त उपलब्ध हैं । द्रमति; दद्राम, दद्रमतुः—अकार एक-हलमध्यस्थ न होने पर एत्त्व और अभ्यास-लोप नहीं होते; अद्रमीत्—**वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध, **अतो हलादेर्लघोः** से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि का **ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ०** से निषेध, अद्रमिष्टाम्; हम्मति; जहम्मतुः; अहम्मीत्—**वद-व्रज०** से प्राप्त, **नेटि** से निषेध, संयोग के कारण धातु के अकार के गुरु होने से **अतो हलादेर्लघोः** की प्राप्ति नहीं होती ।

25 √**मीम्**[1] गति अर्थ में है । क्षीरस्वामी ने शब्द अर्थ में इसका पाठ पुनः किया है । मीमति; मिमीम, मिमीमतुः; मीमिता; अमीमीत् । 'शब्द' अर्थ में यह

---

1. यह धातु विश्व-बन्धुजी के वैदिक-पदानुक्रम-कोष, 5.1, में छूट गई लगती है ।

न वृद्धिः—अद्रमीत् । हम्मति; जहम्म । मिमीम; अयं शब्दे च । 26 चमु, 27 छमु, 28 जमु, 29 झमु अदने ।। 13 ।। 2320 ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति

26 √चम्, 27 √छम्, 28 जम्, 29 √झम् खाना अर्थ में हैं ।। 13 ।। 2320 √ष्ठिव्, √क्लम् तथा √चम् के स्वर को दीर्घ हो जाए श् की इत्संज्ञा वाला प्रत्यय बाद में

किसी आवाज की नकल पर बनी धातु प्रतीत होती है । तुलनीय मिमियाना । ऋदित्व के कारण मीम्+णिच्+लुङ् में अमिमीत् ।

26 √**चम्**, 27 √**छम्**, 28 √**जम्** और 29 √**झम्** भक्षण अर्थ में हैं । 26 √**चम्** आ उपसर्ग के साथ आचमन (थोड़ा-सा पानी पीना) अर्थ में आख्यात रूप में और अकेली चमस, चमू आदि कृदंत रूपों में पीना अर्थ में प्रयुक्त है । √**छम्** √**चम्** का और √ **झम्** √**जम्** का ही विकसित (प्राकृत-प्रभावित) रूप प्रतीत होता है । 28 √**जम्** भोजन करना अर्थ में है । गुजराती : जमवुं—राम जमे छे (राम भोजन कर रहा है) । वैदिक भाषा में यह प्रज्वलित करना अर्थ में है : निघण्टु (1.17.1) में यह 'ज्वलत्' के पर्यायों में तथा (2.14.104 में) गति अर्थ में आया है । किंतु यास्क ने 'जमदग्नि' शब्द की व्याख्या √ज्वल् से भिन्न प्रकार से[1] की है : **जमदग्नयः** (क) **प्रजमिताग्नयो वा,** (ख) **प्रज्वलिताग्नयो वा** (निरुक्त 7.24) । प्रथम निर्वचन में अग्नियों को घृतादि आहुतियों का भक्षण कराने का भाव हो सकता है । √**जम्** आख्यात रूप में वैदिक में उपलब्ध नहीं है ।

क्षीरस्वामी का कथन है कि कुछ लोग इसे √**जिम्** मानते हैं । मा०धा०वृ० में उद्धृत मैत्रेय के कथन से प्रतीत होता है कि कुछ लोग √**जिम्** को √**जम्** से पृथक् मानते हैं । देश-भेद से यह √जीम् (हरियाणवी), √जेव्, √जेंव् के रूप में प्रयुक्त होता है तथा 'जेवनार', 'ज्योनार' आदि कृदन्त शब्दों में उपलब्ध है ।

2320 **ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति** (7.3.75)—शमामष्टानां दीर्घः 1.1 श्यनि (74), अङ्गस्य 6.1 (6.4.1) : ष्ठिवु-क्लमु-चमाम् अङ्गानाम् अन्त्यस्य अचः दीर्घः शिति (प्रत्यये परतः सति)—√ष्ठिव्, √क्लम्, √चम् अंगों के आखिरी स्वर को दीर्घ होता है, बाद में इत्संज्ञक श् वाला प्रत्यय स्थित होने पर ।

'आङि चम' इति वक्तव्यम् (वा०)—√चम् को दीर्घ आङ् उपसर्ग उपपद रहते ही होता है । आचामति । चमति, उच्चमति, विचमति ।

---

1. 'जमदग्नि' में 'जमत्' शत्रन्त है, जब कि व्याख्या में क्तान्त 'जमित' और 'ज्वलित' का प्रयोग किया है । वस्तुतः उचित तो 'जमन्तोऽग्नयो येषाम्' विग्रह में बहुव्रीहि है ।

(7.3.75)—एषामचो दीर्घः स्याच्छिति। 'आङि चम' इति वक्तव्यम्
(वा)—आचामति। 'आङि' किम्? चमति, विचमति। अचमीत्। जिमि
होने पर। '√चम् को (दीर्घ) आङ् पूर्व में होने पर होता है', यह कहना चाहिये
(वा०)—आचामति। 'आङ् पूर्व में होने पर' क्यों कहा? चमति, विचमति।

प्रकृत सूत्र के स्वरूप पर मत-भेद : भाष्य में सूत्र का यथा-धृत स्वरूप ही धृत मिलता है; पर कैयट के कथन से प्रतीत होता है कि इस सूत्र के दो स्वरूप प्रचलित हो गए थे : (1) यथा-धृत, (2) अकेली √चम् के स्थान पर आ √चम् थी। प्रथम पक्ष में भाष्य में उपलब्ध **दीर्घत्वमाङि चमः** विधायक वार्तिक है; द्वितीय पक्ष में यह सूत्रार्थ को स्पष्ट ही करता है कि इसमें पठित 'आ' की उपपदता √चम् के लिए अनिवार्य (तन्त्रम्[1]) है, न कि **उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च** (3.2.109) में उपेयिवान् (उप+√इ+क्वसु) में 'उप' उपसर्ग की तरह अननिवार्य है, जहाँ 'उप' से भिन्न किसी भी उपसर्ग के योग में, या बिना किसी उपसर्ग के भी, इसे क्वसु अभीष्ट है।[2] ईयिवस् (उप के अभाव) में क्वसु दृष्ट भी है : **ईयिवांसमति स्त्रियः** (ऋ० 3.9.4), **ईयुषीणामुपमा शश्वतीनाम्** (ऋ० 1.113.15; 124.2)। पाणिनि ने अन्यत्र भी √चम् को 'आ' के साथ ही दिया है : **नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः** (7.3.15)। यही कारण प्रतीत होते हैं कि काशिका में प्रकृत सूत्र में ही **'आचमाम्'** व्याख्या की गई है। क्षीरस्वामी भी इसी पक्ष को मानते हैं। काशिका में √क्लम् 'क्लमि' के रूप में छपी हुई है। पर क्षी० त० और त० बो० में इसे प्रथम पक्ष के समान 'क्लमु' के रूप में ही काशिका के नाम से उद्धृत किया गया है। अतः काशिका में सूत्र का स्वरूप **ष्ठिवु-क्लम्वाचमां शिति** होना चाहिये। दीक्षितजी ने भाष्य-वार्तिक को प्रथम दृष्टि से देखा है। सायण कौन-सा पक्ष मानते हैं, यह स्पष्ट नहीं है : मा धा० वृ० में छपा तो **ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति** है, पर वार्तिक का स्मरण न करके **"आङ्-पूर्वत्वे तु 'ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति' इति दीर्घः—आचामति।"** कहा है। इससे प्रतीत होता है कि उनके मत में सूत्र का पाठ **ष्ठिवुक्लम्वाचमां शिति** है। दीक्षितजी के टीका-कारों में (1) ज्ञानेंद्रसरस्वती ने वार्तिक स्वीकार किया है : **'आङि चम' इति—'ष्ठिवु-क्लम्वा-चमाम्' इति वृत्ति-कारोक्तपाठोऽयुक्त इति भावः।** (2) परंतु वासुदेव-दीतिजी ने न

---

1. शाबरभाष्य 12.1.1 : **तन्त्रं साधारणो धर्मग्रामः।**
2. प्र० 7.3.75 : **'ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति' इति सूत्र-पाठादाह 'दीर्घत्वमाङि चमः इति' इति। अथवा 'सूत्रे तन्त्रमाङ्, न तु यथा 'उपेयिवान्' (3.2.109) इत्यत्र 'उप'-शब्दोऽतन्त्रम्, इति प्रदर्शनाय वार्तिकारम्भः।** इस पर उद्योत भी देखें।

केचित् पठन्ति – जेमति । 30 क्रमु पाद-विक्षेपे ॥ 14 ॥ 2321 वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः (3.1.70)—एभ्यः श्यन्वा स्यात्

कुछ लोगों के ग्रंथ में √जिम् पाठ है—जेमति । 30 √क्रम् कदम रखने में है ॥ 14 ॥ 2321 √भ्राश्, √भ्लाश्, √भ्रम्, √क्रम्, √क्लम्, √त्रस्, √त्रुट्, √लष् से श्यन्

केवल इस वार्तिक पर कोई ध्यान नहीं दिया है, अपितु जिस ढंग से व्याख्या की है, उससे तो विदित होता है कि वे **'आचमाम्'** पाठ की व्याख्या ही कर रहे हैं ।[1] कौमुदी के कुछ ग्रन्थों में सूत्र में **'आचमां'** ही धृत भी है ।[2]

चचाम, चेमतुः, चेमुः; चमिता; चमतु; आचामतु; अचमीत्—लुङ् में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त वृद्धि का निषेध **नेटि** से होने पर, **अतो हलादेर्लघोः** से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि का निषेध **हृस्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि श्व्येदिताम्** से हो जाता है, क्योंकि धातु मकारांत है; अचमिष्टाम्, अचमिषुः । अचमिष्यत् ।

ये चारों उपदेश में उदित् हैं । अतः क्त्वा में **उदितो वा** से इट् का विकल्प होता है, तथा क्त्वा में विभाषेट् होने से क्तवतु, क्तमें, **यस्य विभाषा** से इट् का निषेध ही हो जाता है : चमित्वा, चान्त्वा; चान्तम् ।

30 **√क्रम्** कदम रखना अर्थ में है । 'कदम' शब्द 'क्रम' से विकसित है । यों, लाक्षणिक रूप से यह धातु शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार की गतियों के विभिन्न भेदों के लिए प्रयुक्त होती है । यद्यपि यह उपदेश में उदात्तेत् होने से नित्य परस्मैदी है, तथापि कुछ अर्थों में तथा परिस्थितियों में यह आत्मनेपद में भी प्रयुक्त होती है ।[3]

2321 **वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः** 5.1 (3.1.70)—प्रत्ययः (1), परश्च (2), सार्वधातुके यक् (67), कर्तरि शप् (68), दिवादिभ्यः श्यन् (69) । कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय धातु से विहित हैं, अतः यहाँ 'धातोः' भी अर्थतः उपस्थित होता है । भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषेभ्यः धातुभ्यः परः श्यन् प्रत्ययो वा (भवति)—दुभ्राशृ, टुभ्लाशृ दीप्तौ (भ्वा०), भ्रमु चलने (भ्वा०), भ्रमु

---

1. वा० म०, मो० ब० सं०, पृष्ठ 126 : **ष्ठिवु क्लमु चम् एषां द्वन्द्वः । 'चम्' इत्यनेन आङ्-पूर्वकस्य चमेर्ग्रहणम् ।** द्वितीय वाक्य की संगति तभी होगी, जब यहाँ **'आचम्'** पाठ हो : **ष्ठिवु क्लमु आचम् एषां द्वन्द्वः । 'आचम्' इत्यनेन···।** अतः वा० म० का यह स्थल पाठ-शोधापेक्षी है ।
2. मो० ब० संस्करण, पृष्ठ 126 पर टि० 1.
3. अष्टा० 1.3.38-43 : **'वृत्ति-सर्ग-तायनेषु क्रमः'** आदि सूत्र । भाव, कर्म, कर्म-कर्तृ, कर्म-व्यतिहार अर्थों में सभी धातुओं से आत्मनेपद होता है ।

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । 2322 क्रमः परस्मैपदेषु (7.3.76)—क्रमेर्दीर्घः स्यात् विकल्प से हो जाए, कर्त्रर्थ-वाचक सार्वधातुक बाद में होने पर । 2322 √क्रम् को दीर्घ

अनवस्थाने (दि०), क्रमु पाद्-विक्षेपे (भ्वा०). क्लमु ग्लानौ (दि०), त्रसी उद्वेगे (दि०), त्रुट छेदने (तु०), लष कान्तौ (भ्वा०) धातुओं के पश्चात् श्यन् प्रत्यय विकल्प से होता है, बाद में कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय होने पर ।

2322 **क्रमः परस्मैपदेषु** (7.3.76)—शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (74), ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति (75), अङ्गस्य (6.4.1) : क्रमः अङ्गस्य अचः दीर्घो भवति शिति परस्मैपदेषु—√क्रम् अंग के स्वर को दीर्घ होता है, इत्सञ्ज्ञक शकार वाला वह प्रत्यय बाद में होने पर जिसके पश्चात् परस्मैपद-संज्ञक प्रत्यय है ।

क्राम्यति, क्रामति—√क्रम्+लट्, तिप्, क्रम्+ति; 'सार्वधातुक' संज्ञा के पश्चात् **कर्तरि शप्** से प्राप्त शप् को बाध कर **वा-भ्राश-म्लाश०** से विकल्प से श्यन् : (1) क्रम्+य+ति; (2) पक्षे शप् : क्रम्+अ+ति; **क्रमः परस्मैपदेषु** से दोनों स्थितियों में दीर्घ : (1) क्राम्यति, (2) क्रामति ।[1]

चक्राम, चक्रमतुः । **क्रमिता**—√क्रम्+ता, **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त इट् का ही **स्नु-क्रमोरनात्मनेपद-निमित्ते** से नियमार्थ विधान होने पर क्रमिता; इसी प्रकार क्रमिष्यति । लोट् में क्राम्यतु, क्रामतु; सिप् में '√क्रम्+सि' स्थिति' में (1) विकल्प से श्यन् और (2) उसके अभाव-पक्ष में शप् : (1) क्रम्+य+सि, (2) क्रम्+अ+सि; **सेर्ह्यपिच्च** से सि को हि तथा **अतो हेः** से हि का लोप होने पर **प्रत्यय-लोपे प्रत्ययलक्षणम्** से हि को लक्षित मानकर **क्रमः परस्मैपदेषु** से दीर्घ : (1) क्राम्य, (2) क्राम ।

शंका—लुक्, श्लु, लु, लुप् शब्दों से लुप्त प्रत्यय के निमित्त से अंग को कार्य **न लुमताऽङ्गस्य** (1.1.63) से प्रत्यय-लक्षण के निषेध के कारण प्राप्त नहीं है। प्रकृत में 'क्रम्+य+हि' स्थिति में **अतो हेः** से हि का लुक् होने पर उस (परस्मैपदेषु) के निमित्त से क्रम् अंग को **क्रमः परस्मैपदेषु** से दीर्घ नहीं होना चाहिए ।

उत्तर—(1) **न लुमताऽङ्गस्य** सूत्र से प्रत्यय-लक्षण का निषेध उसी स्थिति में होता है, जब अंग को विहित कार्य उस प्रत्यय के कारण से अंग संज्ञा को पाने वाले अंग को होता हो; प्रकृत में 'अङ्गस्य' का सीधा सम्बन्ध 'शिति' पद से है, 'परस्मैपदेषु' तो 'शिति' का विशेषण है । अतः शित् (श्यन्, शप्) प्रत्यय के अंग को प्राप्त कार्य के

---

1. श्यन् प्रत्यय **'आद्युदात्तश्च'** (3.1.3) के अधिकार के कारण उदात्त है; शप् पित् होने से अनुदात्त है । अतः क्राम्यति, क्रामति ।

परस्मैपदे परे शिति । क्राम्यति, क्रामति; चक्राम; क्राम्यतु, क्रामतु । 2323 स्नु-क्रमोरनात्मनेपद-निमित्ते (7.2.36)—अत्रैवेट् । अक्रमीत् ॥ 60 ॥

हो जाए, परस्मैपद-परक शित् प्रत्यय बाद में होने पर । क्राम्यति, क्रामति । 2323 √स्नु और √क्रम् को आत्मनेपद का निमित्त न होने पर ही इट् हो । अक्रमीत् ॥ 60 ॥

प्रसंग में परस्मैपद प्रत्यय के लक्षित होने का निषेध नहीं होगा । (2) 'परस्मैपदेषु' का ग्रहण अंग संज्ञा के पर निमित्त के रूप में नहीं है, अपितु तङ् और आन प्रत्ययों (आत्मनेपद) के अभाव को ही उपलक्षित करता है ।[1]

2323 **स्नु-क्रमोरनात्मनेपद-निमित्ते** (7.2.36)—आर्धधातुकस्येड् वलादेः (35), अङ्गस्य (6.4.1) । 'स्नु-क्रमोः' में पंचमी के अर्थ में षष्ठी है; 'अनात्मनेपद०' में सति-सप्तमी है—आत्मनेपदस्य निमित्तम्=आत्मनेपद-निमित्तम् (षष्ठी-त०), तस्याभावः=अनात्मनेपद-निमित्तम्, तस्मिन् (आत्मनेपदस्य निमित्तस्य अभावे) सति । अनात्मनेपद-निमित्ते (सति) स्नु-क्रमोरङ्गयोः वलादेरार्धधातुकस्य इट् भवति । अर्थात् जब √स्नु और √क्रम् अगों के निमित्त से (भाव, कर्म, कर्तृ एवं कर्म-व्यतिहार, वृति, सर्ग तथा तायन आदि अर्थों में) आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्यय न हों, तब (भाव, कर्म, कर्तृ एवं कर्म-व्यतिहार, वृत्ति, सर्ग और तायन आदि से भिन्न अर्थों में) √स्नु और √क्रम् अंगों के (पश्चात् स्थित) वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम होता है ।

यहाँ 'आत्मनेपद का निमित्त' का तात्पर्य 'आत्मनेपद प्रत्यय की साक्षात् उपस्थिति की निमित्तता' अभिप्रेत है, न कि 'आत्मनेपद प्रत्ययों का विषय', अथवा 'आत्मनेपद प्रत्यय हो सके, ऐसी योग्यता'; अतः भाव, कर्म, कर्म-कर्तृ वाच्य आदि अर्थों में आत्मनेपद की योग्यता होते हुए भी कृत् प्रत्यय होने पर इट् होगा ही, क्योंकि वहाँ आत्मनेपद प्रत्यय साक्षात् नहीं है ।

प्रकृत-सूत्र नियमार्थ है : √स्नु 'शी-स्नु-नु-क्षु०' (सेट् कारिका 1) में उदात्त

---

1. म० भा० 1.1.63 : **'क्रमेर्दीर्घत्वं च' (न सिध्यति)—न खल्वपि क्रमेर्दीर्घत्वम् 'परस्मैपदेषु' इत्युच्येत । कथं तर्हि ? 'शिति' इति; तद्विशेषणं परस्मैपद-ग्रहणम् । ···योऽसौ लुमता लुप्यते, तस्मिन्यदङ्गम्, तस्य यत् कार्यम्, तन्न भवति । तथा इस पर प्र० : लुमता यो लुप्तः, तस्मिन्यत् कार्यमाङ्गमनाङ्गं वा, तन्न भवतीत्यर्थः ।··· 'तद्विशेषणम्'—विशेषण एवोपक्षीणत्वात्कार्यम्प्रति निमित्त-भावो नास्तीत्यर्थः ।** यहीं उद्योत : **'लुप्ते प्रत्यये यदङ्गम्' इति—लुप्त-प्रत्यय-निरूपिताङ्ग-संज्ञकस्य न कार्यम्, किन्तु शिदादि-निमित्ताङ्ग-संज्ञकस्य, इति न दोषः । किं च परस्मैपद-ग्रहणस्य तङानाभावोपलक्षणत्वादपि न दोषः ।** यहाँ बा० म० भी देखें ।

14 अथ रेवत्यन्ता अनुदात्तेतः—

1 अय, 2 वय, 3 पय, 4 मय, 5 चय, 6 तय, 7 णय गतौ ॥ 1 ॥

अयते। **2324 दयायासश्च (3.1.37)—√दय्, √अय्, √आस्—एभ्य**

अन्तस्थान्त धातु : क. चतुर्दश वर्ग : 34 आत्मनेपदी धातु

14 अब √रेव् तक इत्संज्ञक अनुदात्त वाली धातु हैं—

1 √अय्, 2 √वय्, 3 √पय्, 4 √मय्, 5 √चय्, 6 √तय्, 7 √णय् (> नय्) गति अर्थ में हैं ॥ 1 ॥ 2324 √दय्, √अय्, √आस्—इन धातुओं से

(सेट्) धातुओं में पठित है, तथा √क्रम् अनिट् कारिकाओं में पठित नहीं है, अतः दोनों धातु सेट् हैं और यहाँ इट् **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से ही सिद्ध है। अतः यह सूत्र अप्राप्त का विधान नहीं करता, अपितु **सिद्धे विधिर्नियमार्थः** न्याय से नियम करता है कि √स्नु, √क्रम् अंगों से परे वलादि आर्धधातुक को **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से सिद्ध इट् इन दोनों धातुओं के निमित्त से आत्मनेपद न होने पर ही होगा, आत्मनेपद होने पर नहीं होगा। फलतः जहाँ भी धातु के निमित्त से √स्नु और √क्रम् से आत्मनेपद होगा, वहाँ ये धातु अनिट् रहेंगी। जैसे—उपक्रंस्यते मया। स्नौति इति स्नविता (स्नु+तृच्), स इवाचरतीति स्नवित्रीयते (स्नवितृ+क्यङ्, **कर्तुः क्यङ् स-लोपश्च** से) में क्यङ् के ङित्त्व के निमित्त से आत्मनेपद होता है, √स्नु के निमित्त से नहीं; अतः 'स्नवितृ+य' स्थिति में इट् होता ही है।

धातु-योग : गत 436, वर्तमान 29, योग 465 ॥ 60 ॥

संदर्भ : स्पर्शांत धातुओं को देने के बाद धातु-पाठ में अब अंतस्थांत 127 धातु तीन वर्गों में दे रहे हैं। चौदहवें धातु-वर्ग में 9 सूत्रों में 16 यकारांत, 6 सूत्रों में 9 लकारांत और 3 सूत्रों में 9 वकारांत, कुल 34 धातु दी हैं। दीक्षितजी ने इनकी संख्या नहीं बताई है। क्षीरस्वामी ने इस वर्ग की धातुओं की संख्या 39 बताई है। उन्होंने √तय् अर्थ-भेद से दो बार दी है; 1 शेवृ, 2 सेवृ, 3 केवृ, 4 खेवृ, 5 प्लेवृ अतिरिक्त दी हैं; 19 √वल्ल् नहीं दी; 29 √गेव् के स्थान पर एवृ दी है, और णोपदेश 7 √णय् की जगह नोपदेश √नय् दी है ॥

14.1 √अय् जाना, गुज़रना, बीतना अर्थ में सकर्मक है। अयते।

2324 **दयायासश्च** (3.1.37)—प्रत्ययः (1), परश्च (2), धातोरेकाचो० (22), कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (35)। दयश्च अयश्च आस् च, इति दयायास् (स० द्वंद्व), तस्मात्। दयायासो धातोः च परः आम् प्रत्ययो भवति अमन्त्रे लिटि—√दय्, √अय्, √आस् धातुओं से उनके पश्चात् आम् प्रत्यय होता है मंत्र-भिन्न लिट् में।

आम् स्याल्लिटि, अयांचक्रे। अयिता। अयिषीष्ट। 2325 विभाषेटः (8.3.79)—इणः परो य इट्, ततः परेषां षीध्वं-लुङ्-लिटां धस्य वा मूर्धन्यः आम् हो जाए लिट् में। अयाञ्चक्रे। 2325 इण् (प्रत्याहार) के बाद स्थित जो इट्, उसके पश्चात् स्थित षीध्वम्, लुङ् और लिट् के धकार को ढकार विकल्प से हो

अयाञ्चक्रे, अयाम्बभूव, अयामास—√अय् से लिट् में **दयायासश्च** से आम् : अय्+आम्+लिट्। शेष प्रक्रिया एधाञ्चक्रे, एधाम्बभूव, एधामास की तरह होती है।

अयिता, अयितासे; अयिष्यते; अयताम्; आयत, आयेताम्; अयेत; आशीर्लिङ में—अयिषीष्ट, अयिषीयास्ताम्, अयिषीरन्, अयिषीष्ठाः; अयिषीयास्थाम्; 'अयिषी+ध्वम्' स्थिति में **विभाषेटः** से ध् को वा ढ् : अयिषीढ्वम्, अयिषीध्वम्; अयिषीय, अयिषीवहि, अयिषीमहि; लुङ में—आयिष्ट, आयिषाताम्, आयिषत, आयिष्ठाः, आयिषाथाम्; 'आयिस्+ध्वम्' स्थिति में **चि च** से स् का लोप होने पर 'आयि+ध्वम्' स्थिति में **विभाषेटः** से ध् को वा ढ् : आयिढ्वम्, आयिध्वम्, आयिषि, आयिष्वहि, आयिष्महि; लृङ् में—आयिष्यत, आयिष्येताम्, आयिष्यन्त इत्यादि।

2325 विभाषेट : (8.3.79)—अपदान्तस्य मूर्धन्यः 1.1 (55), इणः षीध्वं-लुङ्-लिटां धोऽङ्गात् (78) : इणः 5.1 इट 5.1 षीध्वम्-लुङ्-लिटां धः 6.1 मूर्धन्यः 1.1 विभाषा (भवति)—इण्[1] के पश्चात् स्थित इट् के बाद स्थित (1) षीध्वम्[2] के, (2) लुङ् के और (3) लिट् के ध् को मूर्धन्य (ढ्) आदेश विकल्प से होता है।

कुछ लोग **इणः षीध्वम्०** (78) सूत्र में 'अङ्गात्' को भी स्वरित मान कर उसकी अनुवृत्ति करके 'इणः' को उसका विशेषण बनाते हैं; इणः अंगात्। फलतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (1.1.72) से 'इणः' में तदंत-विधि हो जाती है : इण्णन्ताद् अङ्गात् इटः (परेषाम्) षीध्वं-लुङ्-लिटां (सम्बन्धिनः) धः मूर्धन्यः विभाषा भवति। अंत में इण् प्रत्याहार के वर्ण से युक्त अंग के पश्चात् स्थित इट् के बाद आने वाले षीध्वम् के लुङ् के और लिट् के ध् के स्थान में मूर्धन्य (ढ्) विकल्प से होता है।

---

1. इण् से इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ औ, ह्, य्, व्, र् तथा ल् वर्ण लेने हैं :
   पूर्वेणैवाण्ग्रहाः सर्वे, परेणैवेण्ग्रहा मताः।
   ऋतेऽणुदित्सवर्णस्य चैतदेकं परेण तु॥
2. अर्थात् सेट् आत्मनेपदी धातुओं के आशीर्लिङ्, मध्यम, बहुवचन का सविकरण प्रत्यय-भाग।

स्यात् । अयिषीढ्वम्, अयिषीध्वम् । आयिष्ट; आयिढ्वम्, आयिध्वम् । 2326 उपसर्गस्यायतौ (8.2.19)—अयति-परस्योपसर्गस्य यो रेफः; तस्य लत्वं जाए । अयिषीढ्वम्, अयिषीध्वम् । आयिढ्वम्, आयिध्वम् । 2326 बाद में √अय् से युक्त उपसर्ग का जो र् है, उसे ल् हो जाए । प्लायते, पलायते । निस् और दुस्

दोनों व्याख्याओं में अंतर : दीङ् क्षये (दि०) से लिट् में मध्यम, ब० व, ध्वम् : √दी+ध्वम्; इट्, द्वित्व, अभ्यास कार्य : दिदी+इ+ध्वम्; **दीङो युडचि क्ङिति** (6.4.63) से इट् के आदि में युट् (य्) का आगम, 'दिदी+यिध्वम्' स्थिति में प्रथम व्याख्या के अनुसार इण् (य्) के बाद स्थित इट् के पश्चात् लिट् के ध्वम् के ध् को ढ् विकल्प से हो जाता है : दिदीयिढ्वे, दिदीयिध्वे । किन्तु दूसरी व्याख्या के अनुसार इण्णंत अंग 'दिदी' के पश्चात् युट् (य्) के व्यवधान के कारण इट् इण्णंत अंग के पश्चात् नहीं है, अतः एक ही रूप होगा : दिदीयिध्वे । रूप-विकल्प शिष्ट-जुष्ट है । इसी आधार पर भगवान् पतंजलि ने पहली व्याख्या ही मानी है ।[1]

2326 उपसर्गस्यायतौ (8.2.19)—कृपो रः 6.1 लः 1.1 (18) । 'अयतौ' की सप्तमी के कारण **'तस्मिन्' इति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (1.1.66) परिभाषा से 'पूर्वस्य' पद उपस्थित होता है । भाष्यकार ने इस सूत्र के पदों का अन्वय दो प्रकार से किया है :

(1) **उपसर्गस्य अयतौ पूर्वस्य रः लः** (उपसर्ग के अयति-परक रेफ को ल् होता है) । इस व्याख्या के अनुसार उपसर्गस्थ रेफ और √अय् में **येन नाव्यवधानम्, तेन व्यवहितेऽपि** न्याय से एक वर्ण से अधिक का व्यवधान नहीं होना चाहिये । अतः

---

1. इस सूत्र पर म० भा० : 'अङ्गात्' इति वक्ष्यामि । अङ्ग-ग्रहणाच्च दोषः—इह न प्राप्नोति 'उपदिदीयिढ्वे', 'उपदिदीयिध्वे' इति; यो ह्यत्र अङ्गान्त्य इण्, न तस्मादुत्तर इट्; यस्माच्चोत्तर इट्, नासावङ्गान्त्य इण्, इति । ···'अङ्गात्' इति वक्ष्यामि । ननु चोक्तम् 'अङ्ग-ग्रहणाच्च दोष' इति । पूर्वस्मिन्योगे यदङ्ग-ग्रहणम्, तदुत्तरत्र निवृत्तम् । अथवा—पूर्वस्मिन्योगे इण्ग्रहणं प्रत्यय-विशेषणम्, उत्तरत्र धकार-विशेषणम् । इस पर प्र० देखें : " 'अङ्गात्' इति वक्ष्यामि" इति—इण्णन्तादङ्गादुत्तरस्य धकारस्य षीध्वमोऽवयवस्य द्वित्वं भवतीत्यर्थः ।···'उपदिदीयिढ्व' इति—युटः परादित्वाद् इण्णन्तादङ्गात्पर इण्न भवति युटो व्यवधानात् ।··· 'पूर्वस्मिन्' इति—अङ्ग-ग्रहणाननुवृत्तौ युट एवेण उत्तर इट्, इति ढत्व-विकल्पः सिद्ध्यति । 'अथवा' इति—इणः परो यो धकार इटश्च, तस्य षीध्वं-लुङ्-लिटां सम्बन्धिनो विभाषा मूर्धन्य इत्यर्थः ।—'उपदिदीयिढ्व' इत्यत्र यकारादेवेणः परो धकार इति सिद्धो ढत्व-विकल्पः ।

स्यात्। प्लायते, पलायते। निस्-दुसो रुत्वस्यासिद्धत्वान्न लत्वम्—निरयते, दुरयते। निर्-दुरोस्तु—निलयते, दुलयते। 'प्रत्यय' इति त्विणो रूपम्। अथ

(के स्) को हुआ रु आदेश चूँकि असिद्ध है, अतः उसे ल् नहीं होता—निरयते, दुरयते। किन्तु निर् और दुर् (के र्) को (ल् होता है)—निलयते, दुलयते। 'प्रत्यय' तो इण्

निर्+अयते, दुर्-अयते, प्र+अयते, परा+अयते, परि+अयते में तो लत्व होगा; निलयते, दुलयते, प्लायते, पलायते, पल्ययते; किन्तु प्रति+अयते में नहीं होगा : प्रत्ययते।

(2) **अयतौ पूर्वस्य उपर्गस्य रः लः** (बाद में √अय् से युक्त, अर्थात् √अय् से पूर्व स्थित, उपसर्ग के अवयव रेफ को ल् होता है)। इसके अनुसार और √अय् में व्यवधान नहीं होना चाहिये, रेफ और √अय् में उपसर्ग के रेफोत्तर-वर्ती वर्णों का व्यवधान हो सकता है। इससे प्रति+√अय् में भी लत्व होगा, फलतः 'प्रत्यय' के स्थान पर 'प्लत्यय' शब्द बनेगा, जो कि बनता नहीं है। कैयट ने इसका समाधान यह किया है कि प्रति के साथ √अय् का प्रयोग नहीं होता, अपितु √इ का ही प्रयोग होता है, अतः 'प्रत्यय' शब्द ठीक है।

भाष्य-कार के अनुसार दोनों व्याख्याएँ तुल्य-बल हैं, तथापि उन्होंने पहली व्याख्या के प्रति एक पक्ष-पात करके 'वह उन्हें इष्ट है', यह सूचित किया है : उन्होंने दोनों व्याख्याएँ देकर प्रथम को दुहराया है।

काशिका-कार ने द्वितीय व्याख्या के अनुसार वृत्ति देकर भाष्य-संमत पहली व्याख्या भी दे दी है। इसके अलावा उन्होंने 'अपरे तु' कहकर वह व्याख्या भी दी है, जो कैयट के 'प्रत्यय' पर के कथन में समाहित है। क्षीरस्वामी ने प्रथम व्याख्या के अनुसार ही कार्य किया है। सायण ने प्रथम व्याख्या स्वीकार करके द्वितीय व्याख्या भी भाष्य और कैयट के अनुसार दे दी है। दीक्षितजी ने केवल द्वितीय व्याख्या दी है। द्वितीय व्याख्या (1) 'प्रत्ययते' आदि का कोई समाधान न होने से, तथा (2) प्रक्रिया-गौरव के कारण प्रथम की अपेक्षा दुर्बल प्रतीत होती है।

प्लायते, पलायते—प्र+अयते, **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ। प्रथम व्याख्या के अनुसार **अचः परस्मिन् पूर्व-विधौ** से एकादेश को प्राप्त स्थानिवद्भाव का निषेध **पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्** (प० 127) से प्राप्त हुआ, **तस्य दोषः संयोगादि-लोप-लत्व-णत्वेषु** (वा०) से उस निषेध का निषेध होने से एकादेश को स्थानिवद्भाव के कारण 'प्र+अयते' स्थिति आने पर **येन नाव्यवधानम्, तेन व्यवहितेऽपि** न्याय से एक 'अ' वर्ण के व्यवधान में भी लत्व होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'प्रायते' स्थिति में व्यपवर्ग के अभाव से उपसर्ग की अयति-परकता न होने पर एकादेश को **अन्तादिवच्च** से

कथम् 'उदयति विततोर्ध्व-रश्मि-रज्जौ' (शिशुपालवधम् 4.20) इति माघः ? (1) 'इट-किट-कटी' (भ्वा० 8.24) इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य भविष्यति; (2) यद्वा

का रूप है। तब माघ ने 'उदयति विततो०' (प्रयोग) कैसे किया है ? (1) 'इट-किट-कटी गतौ' (भ्वा० 8.24) दण्डक में (√कटि+इ=कटी) प्रश्लिष्ट (√इ) का होगा;

आदिवद्-भाव प्राप्त हुआ, जिसका निषेध **उभयत आश्रये नान्तादिवत्** (प०) से हो गया। तब **अचः परस्मिन्पूर्व-विधौ** से पिछली व्याख्या की तरह स्थानिवद्भाव से व्यपवर्ग (प्र+अयते) सिद्ध होने पर उपसर्ग की अयति-परकता होने के कारण अयति-परक उपसर्ग के अवयव रेफ को ल् हो गया : प्लायते। इसी प्रकार पलायते।

परि+अयते=पर्ययते में प्रथम व्याख्या के अनुसार यण् के व्यवधान में र् को ल् : पल्ययते; द्वितीय व्याख्या के अनुसार **एक-देश-विकृतमनन्यवत्** (प० 38) से, या पूर्ववत् **अचः परस्मिन्पूर्व-विधौ** से यण् को स्थानिद्भाव करके परि+अयते स्थिति में लत्व : पल्ययते।

निर्+अयते, दोनों व्याख्याओं के अनुसार विना कोई विशेष प्रक्रिया के र् को ल् : निलयते। इसी प्रकार दुर्+अयते=दुलयते। किंतु निस्+अयते, **स-सजुषो रुः** (8.2.66) से स् को रु, 'निर्+अयते' स्थिति में रु (8.2.66) **पूर्वत्रासिद्धम्** (8.2.1) से **उपसर्गस्यायतौ** (8.2.19) की दृष्टि में असिद्ध है, अतः लत्व प्राप्त ही नहीं है : निरयते। इसी प्रकार दुस्+अयते=दुरयते।

प्रति+अयते, यण्, प्रत्य्+अयते, प्रथम व्याख्या में उपसर्गस्थ रेफ और √अय् में अनेक वर्णों के व्यवधान के कारण लत्व प्राप्त नहीं होता : प्रत्ययते। द्वितीय व्याख्या में अयति से पूर्व स्थित उपसर्ग के अवयव रेफ को लत्व होता है : प्लत्ययते। किंतु कैयट के अनुसार यह प्रयोग होता नहीं है, अतः 'प्रत्ययते' हो नहीं है, तो लत्व कहाँ प्राप्त होगा ?

√अय् अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। माघ ने **उदयति विततोर्ध्व-रश्मि-रज्जौ** (शिशुपाल-वधम् 4.20) के 'उदयति' शब्द में शतृ (परस्मैपद) का प्रयोग किया है। यदि यह √अय् से होता, तो 'उदयमाने' हुआ होता। अतः यह √अय् से नहीं है, यह तो सिद्ध है; किससे है ? इस पर दो व्याख्याएँ हो सकती हैं : (1) यह **इण् गतौ** (अ०) से तो है नहीं; किसी भौवादिक √इ, या √ई से हो सकता है; ऐसी एक धातु मतांतर से **इट, किट, कटी गतौ** (9.24) धातु-सूत्र में प्रश्लिष्ट बताई है, यह उससे हो सकता है। (2) पर वह धातु सर्व-सम्मत तो है नहीं, अतः दूसरी व्याख्या यह होगी : **चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि** (अ०) धातु उपदेश में अनुदात्तेत् भी बताई है और ङित् भी है। दोनो का प्रयोजन धातु से आत्मनेपद करना है : **अनुदात-ङित आत्मने-**

अनुदात्तेत्त्व-लक्षणमात्मनेपदमनित्यम्, चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकात्। वादि-

(2) अथवा इत्संज्ञक अनुदात्त के कारण होने वाला आत्मनेपद अनित्य (वैकल्पिक) है; क्योंकि (अनुदात्तेत्) चक्षिङ् को ङित् करना इसे सूचित करता है। आदि में वकार

पदम् (2157)। चक्षिङ् में अनुदात्तेत्त्व का प्रयोजन **अनुदात्तेतश्च हलादेः** सूत्र से युच् करना है। इससे सिद्ध होता है कि अनुदात्तेत्त्व से आत्मनेपद होता ही हो, यह आवश्यक नहीं है, अर्थात् अनुदात्तेत्त्व के निमित्त से प्राप्त आत्मनेपद अनित्य है, और √अय् से परस्मैपद का कवि का प्रयोग ग़लत नहीं है।

2 √**वय्** गति अर्थ में है। इसका प्रयोग वयस् (उम्र, पक्षी), वायस (कौआ) आदि शब्दों में दृष्ट है; आख्यात रूप शायद ही मिले। लिट् में 'वय्+वय्+ए' स्थिति में **अत एक-हल्मध्ये०** से प्राप्त एत्त्वाभ्यास-लोप का निषेध **न शस-दद-वादि-गुणानाम्** से हो जाता है; अभ्यास कार्य : ववये, ववयाते, ववयिरे। वयिषीढ्वम्, वयिषीध्वम्, अवयिढ्वम्, अवयिध्वम्—**इणः षीध्वं०** से नित्य प्राप्त ढत्व को बाध कर **विभाषेटः** से मूर्धन्यादेश विकल्प से होता है।

3 √**पय्** भी गति अर्थ में ही है। **मिमाति मायुं, पयते पयोभिः** (ऋ० 1.164.28, अथर्व० 9.1.8; 10.6[1]) में 'पयते' को प० चारुदेव शास्त्रीजी ने 3 √पय् का रूप माना है।[2] पर हमारे विचार में यह पाणिनीय तन्त्र में √प्यै के आदेश के रूप में अभिप्रेत[3] प्राचीन √पी से निष्पन्न है : (1) **यदीमृतस्य पयसा पियानः** (ऋ०1.79.3) में यह योग बहुत स्पष्ट रूप से गौतम राहूगण ने दिया भी है; गाय-बछड़े के प्रसंग में 'दूध से पुष्ट करना' अर्थ 'दूध के साथ जाना' अर्थ की अपेक्षा अधिक संगत है; (3) सायण ने यही अर्थ किया भी है; (4) विश्वबंधुजी ने वै० प० कोश (1.4) में इसे √पी के अन्तर्गत उचित ही संकलित किया है। पयते; पेये; पयितासे।

4 √**मय्**, 5 √**चय्**, 6 √**तय्** भी गति अर्थ में हैं। 'मयते' आदि सार्वधातुक प्रत्ययों वाले रूप **मेङ् प्रणिदाने** (भ्वा०) से भी होते हैं, परंतु आर्धधातुक में इसके रूप मेये, मयिता आदि एत्त्वाभ्यास-लोप तथा इट् से होते हैं, जबकि **आदेच उपदेशेऽशिति** से √मे के 'ए' को 'आ' होने के कारण √मा हो जाने से ममे, माता आदि रूप होते हैं। मेये; चेये; तेये। 6 √**तय्** क्षीरस्वामी ने रक्षण अर्थ में भी दी है।

7 √**णय्** (णोपदेश, **णो नः** से ण् को न, √नय्) गति में है। मैत्रेय रक्षण में

---

1. वै० प० कोश, 1.4, पृष्ठ 2003, कालम 3, में '15.6' प्रूफ की अशुद्धि है।
2. व्या० च०, खंड 3, पृष्ठ 49.
3. अष्टा० 6.1.28-29 : **प्यायः पी, लिङ्-यङोश्च।**

त्वाद् ववये। पेये; मेये; चेये; तेये; प्रणयते, नेये। 8 दय दान-गति-रक्षण-
होने के कारण (एत्त्व और अभ्यास-लोप नहीं होते)—ववये। 8 √दय् देना, जाना,

---

भी मानते हैं। क्षीरस्वामी ने इसे औपदेशिक नकारवान् माना है। णोपदेश होने से प्र+नयते में **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** से णत्व : प्रणयते; क्षीरस्वामी के मत के अनुसार प्रनयते। आर्धधातुक प्रत्ययों में भेद के लिए यह **णीञ् प्रापणे** (भ्वा०) से पृथक् दी है।

8 √**दय्** देना, गति, रक्षा[1], हिंसा और लेना, इन पाँच अर्थों में बताई है। वैदिक वाङ्मय में यह प्रथम चार अर्थों में स्पष्टतः उपलब्ध है : (1) दान—**य एक इद् विदयते वसु** (ऋ० 1.84.7); (2) गति—**मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्** (मूल मृग्य है); (3) रक्षा—**एको देवत्रा दयसे हि मर्तान्** (ऋ० 7.23.5), **नवेन पूर्व दयमानाः स्याम** (मै० सं० 4.13.8), **त्वां मृत्युर्दयताम्** (अथर्व सं० 8.1.5); (4) हिंसा—**अग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि**[2] (ऋ० 6.6.5), लाक्षणिक रूप से दहन, भक्षण=नाशन अर्थ में **स्थिरा चिदन्ना दयते वि जम्भैः** (ऋ० 4.7.10) तथा **दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि** (ऋ० 6.6.5) में है।[3] (5) आदान—प० चारुदेव शास्त्री ने निम्न दो उदाहरणों में √दय् आदान अर्थ में बताई है :[4] **महो धनानि दयमान ओजसा**(ऋ० 1.130.7), **एको अजुर्यो दयते वसूनि** (ऋ० 6.30.1); किंतु हमारे विचार में यहाँ यह (1) 'देना' अर्थ में ही है, 'आदान' अर्थ में नहीं; हेतु ये हैं : (क) उपर्युक्त प्रथम मन्त्र के समान मन्त्र में प्रकृत √दय् के स्थान में √दा का प्रयोग उपलब्ध होता है : **महो हि दाता वज्र-हस्तो अस्ति** (ऋ० 6.29.1); (ख) द्वितीय मन्त्र से मिलता-जुलता आशय दान अर्थ वाली √दय् के प० जी द्वारा उद्धृत मन्त्र में भी √दय् से ही कहा गया है : **य एक इद् वि दयते वसु** (ऋ० 1.84.7); इस लिए **एको अजुर्यो दयते वसूनि** (ऋ० 6.30.1) की √दय् भी दानार्थक ही प्रतीत होती है; (ग) आदानार्थक √दय् के लिए उद्धृत दोनों मन्त्रों के भाष्य में वेंकटमाधव और सायण दोनों ने √दय् का अर्थ दान ही किया है। कदाचिद् यहाँ 'आदान' के स्थान पर 'अदन' पाठ तो नहीं

---

1. काशिका (3.1.37) में उद्धृत धातु-सूत्र में ये प्रथम तीन अर्थ ही हैं।
2. तुलना करें ऋ० 6.29.6 : (इन्द्रः) **पुरू च वृत्रा हनति नि दस्यून्**।
3. इन उदाहरणों के लिए देखें निरुक्त (4.17) तथा व्या० च०, (खंड 3, पृष्ठ 46)। पण्डित चारुदेव जी ने इन्हें धातु-पाठोक्त क्रम से भिन्न तथा व्यत्यस्त क्रम में क्यों उद्धृत किया है, यह स्पष्ट नहीं है।
4. व्या० च०, खण्ड 3, पृष्ठ 46.

हिंसाऽऽदानेषु[1] ॥ 2 ॥ आदानं=ग्रहणम् । **दयाञ्चक्रे** । 9 **रय गतौ** ॥ 3 ॥

10 **ऊयी तन्तु-सन्ताने** ॥ 4 ॥ **ऊयांचक्रे** । 11 **पूयी विशरणे दुर्गन्धे च** ॥ 5 ॥ **पूयते; पुपूये** । 12 **क्नूयी शब्दे उन्दे च** ॥ 6 ॥ **चुक्नूये** । 13 **क्ष्मायी विधूनने**

रक्षा करना, मारना, आदान अर्थों में है ॥ 2 ॥ आदान माने लेना है । दयाञ्चक्रे । 9 √रय् जाने में है ॥ 3 ॥

10 √ऊय् ताना तनना अर्थ में है ॥ 4 ॥ 11 √पूय् खंड-खंड होना, खील-खील हो जाना और सडाँध मारना अर्थों में है ॥ 5 ॥ 12 √क्नूय् आवाज़ करना और गीला करना अर्थों में है ॥ 6 ॥ 13 √क्ष्माय् हिलाने में है ॥ 7 ॥

था ? इस अर्थ में प्रयोग भी मिलते हैं : **स्थिरा चिद् अन्ना दयते वि जम्भैः** (ऋ० 6.6.5) ।

यह धातु लौकिक में दान और रक्षा अर्थ[2] से चल कर दया (कृपा) अर्थ में प्रयुक्त होने लगी है । अन्य सब अर्थ दया के आगे परास्त हो गए हैं ।

दयते; दयाञ्चक्रे, दयांबभूव, दयामास—**दयायासश्च** से आम्, शेष प्रक्रिया एध्+लिट् के समान होती है; दयितासे । दया, दयालु; दयित; दयिता ।

9 √**रय्** गति अर्थ में है । क्षी०स्वा० ने 'प्रवाह=नदी-वेग' अर्थ वाले 'रय' को इसी धातु से बना बताया है; पर **रीङ् स्रवणे** (दि०) से मानना उचिततर प्रतीत होता है; नदी-प्रवाह के प्रसंग में √री का प्रयोग तो उपलब्ध है, √रय् का नहीं : **अश्मन्वती रीयते** (ऋ० 10.53.8), **प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्व-सिच इयानाः** । ···**ताः** ···**अनु रीयमाणाः** (वा० सं० 10.19) । रयते; रेये; रयितासे । निरयः नरक नि+√रय् से भी हो सकता है, निस्+√अय् से भी, तो निर्+√इ से भी ।[3] यास्क ने 'नरक' को नि+√ऋ से निष्पन्न 'न्यरक' से विकसित माना है ।[4]

ये सब धातु अदित् हैं । अब छह (10.15) ईदित् धातु दी गई हैं । इन सब में निष्ठा में इट् नहीं होगा तथा य् का लोप **लोपो व्योर्वलि** से हो जायेगा : ऊतः, पूतः, क्नूतः, क्ष्मातः, स्फीतः (क्षी०स्वा० के मय में स्फातः भी) ।

---

1. काशिका 3.1.37 में यह धातु-सूत्र '**दय दान-गति-रक्षणेषु**' उद्धृत है ।
2. व्या०च०, खण्ड 3, पृष्ठ 46, के अनुसार केवल 'रक्षा' अर्थ से ।
3. **क्रिया-कलापैः समुवाह भक्ति ययाऽऽविरिञ्च्यान् निरयांश्चकार** । (श्रीमद्भागवत 9.5.25) में 'आविरिञ्च्यान् अयान् निश्चकार' अन्वय होते हुए भी 'निरय' की निस्+√इ या √अय् से व्युत्पत्ति का सङ्केत समझा जा सकता है । ज्ञान की दृष्टि से आविरिञ्च्य गतियाँ निरय ही तो हैं ।
4. निरुक्त 1.11 : **नरकं=न्यरकं=नीचैर्गमनम्** ।

॥ 7 ॥ चक्ष्माये । 14 स्फायी, 15 ओप्यायी वृद्धौ ॥ 8 ॥ स्फायते; पस्फाये । प्यायते ।

14 √स्फाय्, 15 √प्याय् बढ़ने में हैं ॥ 8 ॥

---

14 √**स्फाय्** तथा 15 √**प्याय्** बढ़ना, फैलना, मोटा होना अर्थ में अकर्मक हैं। स्फायते । प्यायते ।

√स्फाय् से निष्ठा में **स्फायः स्फीः निष्ठायाम्** (6.1.22) से 'स्फी' आदेश होता है। यह स्फी **ऊदुन्तैः०** (अनिट्-कारिका 1) में अपठित होने से अनुदात्त है और स्वभावतः ही अनिट् है। ईदित् पाठ का प्रयोजन **श्वीदितो निष्ठायाम्** से निष्ठा में इट् का निषेध करना होता है। वह यहाँ स्वतः ही इट्-निषेध के सिद्ध होने से प्राप्त ही नहीं है। फलतः ईदित् पाठ निष्प्रयोजन है। सभी धातु ईदित् चल रहीं है, इसलिए इसे भी ईदित् केवल प्रकरणानुरोध से दिया है, यह दीक्षितजी तथा काशिका का मत है। आचार्य सायण भी इसी मत के हैं। पर उन्होंने एक बात विशेष कही है कि इस ईदित्त्व का फल अनुदात्तेत्त्व मात्र करना है।[1] पर इसमें कोई दम नहीं है। क्योंकि यह प्रयोजन तो अन्य धातुओं की तरह अदित् करने से भी सिद्ध हो जाता।

आचार्य क्षीरस्वामी ने यहाँ कुछ अर्थवान् बात कही है कि उपर्युक्त प्रकार से ईदित् पाठ व्यर्थ लग रहा है, पर वस्तुतः यह सप्रयोजन है : ईदित् पाठ यह विज्ञापित करता है कि 'स्फी' आदेश होता है। फलतः जहाँ 'स्फी' आदेश नहीं होता, वहाँ भी निष्ठा में इट्-निषेध का निमित्त होने से यह सार्थक है। अतः स्फीतः, स्फातः ये दो रूप निष्ठा में बनेंगे।[2]

√प्याय् का ईदित्त्व सभी के मत में सप्रयोजन है। निष्ठा में **प्यायः पी** (6.1.28) से व्यवस्थित विभाषा से अन्धू (कूप) तथा ऊधस् (लेवटी) के विशेषण रूप आ+प्याय् से भिन्न सोपसर्ग √प्याय् को 'पी' आदेश नहीं होता : **आप्यानश्चन्द्रमाः।** अनुपसृष्ट को होता है : **पीनो देवदत्तो, दिवा न भुङ्क्ते।** अतः 'पी' आदेशाभावावस्था में √प्याय् का ईदित्त्व चरितार्थ हो कर इण्निषेध कर देता है।

√प्याय् के ओदित् होने के कारण **ओदितश्च** से निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है।

---

1. मा० धा० वृ० : **स्फायेस्त्वीदित्त्वे स्फीभावस्य नित्यत्वात्स्वरान्तत्वादनिट्त्वे सिद्धे-ऽनुदात्तेत्त्वमात्रं फलम्।**
2. क्षी० त० : **निष्ठायां 'स्फायः स्फी' (6.1.22)। स्फीतः। ईदित्त्वं स्फायेरादेशा-नित्यत्वे लिङ्गम्। स्फातः।** तथा इस पर पा० टि० 2.

2327 लिङ्-यङोश्च (6.1.29)—लिटि, यङि च प्यायः पी-भावः स्यात् । पुनः-प्रसङ्ग-विज्ञानात्० (प० 40) 'पी'-शब्दस्य द्वित्वम्, 'एरनेकाच०' (6.4.82) इति यण्—पिप्ये, पिप्याते, पिप्यिरे ।

2328 दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् (3.1.61)—

2327 लिट् में और यङ् में √प्याय् को 'पी' आदेश हो जाए । 'पुनः प्रसंग-विज्ञानात् सिद्धम्' (प० 40) से 'पी' शब्द को द्वित्व, 'एरनेकाचोऽसंयोग-पूर्वस्य' (6.4 82) से यण्—पिप्ये, पिप्याते, पिप्यिरे ।

2328 √दीप्, √जन्, √बुध्, √पूर्, √ताय्, √प्याय्—इन धातुओं से विहित

2327 **लिङ्-यङोश्च** (6.1.29)—प्यायः 6.1 पी 1.1 (28) : लिङ्-यङोः च प्यायः पी भवति—लिट् और यङ् बाद में रहते पूर्ववर्ती √प्याय् को 'पी' आदेश होता है ।

पिप्ये—√प्याय्+लिट्, लिट् का त, त को ए, 'प्याय्+ए' स्थिति में **लिटि धातोरनभ्यासस्य** से प्राप्त द्वित्व को पर-वर्ती **लिङ्-यङोश्च** से पी आदेशः पी+ए । अब यहाँ **लिटि धातोरन०** से पुनः प्राप्त द्वित्व **सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितम्, तद् बाधितमेव** (प० 41) से निषिद्ध होने पर **पुनः प्रसङ्ग-विज्ञानात् सिद्धम्** (प० 40) से 'पी' शब्द को द्वित्व हो ही जाता है : पी+पी+ए । अभ्यास कार्य, ह्रस्व : पिपी+ए । **इको यणचि** से प्राप्त यण् को अपवादत्वाद् बाध कर **अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से प्राप्त इयङ् को अपवादत्वेन बाध कर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् : पिप्ये । इसी प्रकार पिप्याते, पिप्यिरे, पिप्यिषे, पिप्याथे, पिप्यिध्वे/पिप्यिढ्वे, पिप्ये, पिप्यिवहे, पिप्यिमहे ।

प्यायिता; प्यायिष्यते; प्यायताम्; अप्यायत; प्यायेत; प्यायिषीष्ट, प्यायिषीढ्वम्/प्यायिषीध्वम् । अप्यायि—

2328 **दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्** (3.1.61)—धातोरेकाचो हलादेः क्रिया-समभिहारे यङ् (22), च्लेः सिच् (44), णि-स्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि[1] चङ् (48), चिण् ते पदः (60) : । दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्यः धातुभ्यः च्लेः स्थाने चिण् अन्यतरस्याम् भवति, कर्तरि ते (परे सति)—1 **दीपी दीप्तौ** (दि०), 2 **जनी प्रादुर्भावे** (दि०), 3 **बुध अवगमने** (दि०), 4 **पूरी आप्यायने** (दि०), 5 **तायृ सन्तान-पालनयोः** (भ्वा०) तथा 6 **ओप्यायी वृद्धौ** (भ्वा०) धातुओं के पश्चात् स्थित च्लि के स्थान में चिण् प्रत्यय आदेश विकल्प से होता है, कत्रर्थक 'त' शब्द बाद में होने

---

1. काशिकाकार और दीक्षितजी ने 'कर्तरि' की अनुवृत्ति बताई नहीं है; परन्तु भाव, कर्म, तथा कर्म-कर्तृ से बचाने को आवश्यक है । क्षीरस्वामी तथा सायण ने इसकी अनुवृत्ति को दृष्टि में रख कर ही 'कर्तरि' शब्द का प्रयोग किया है ।

एभ्यश्च्लेश्चिण्वा स्यादेकवचने 'त'-शब्दे परे। 2329 चिणो लुक्(6.4.104)—चिणः परस्य 'त'-शब्दस्य लुक् स्यात्। अप्यायि, अप्यायिष्ट।

च्लि को चिण् विकल्प से हो जाए, बाद में एक-वाचक 'त' शब्द होने पर। 2329 चिण् के बाद स्थित 'त' शब्द का लुक् हो जाए। अप्यायि, अप्यायिष्ट।

पर। धातु के पश्चात् च्लि तथा उसके बाद 'त' प्रत्यय लुङ् के आत्मनेपद एक-वचन का ही होता है, कहीं तकार न समझ लिया जाए, अतः दीक्षितजी ने 'ते' को 'एक-वचने' विशेषण से स्पष्ट किया है। √दीप्, √जन् तथा √पूर् दैवादिक हैं, अतः उनके साथ पठित √बुध् से दैवादिक का ही ग्रहण होगा, भौवादिक **बुधिर् अवबोधने** तथा **बुध अवगमने** का नहीं।

धातुओं का सूत्र-पठित क्रम धातु-पाठ-पठित क्रम से भिन्न है: धातु-पाठ में √जन्, √दीप्, पूर्, √बुध् (सब दि०) तथा √प्याय्, ताय् (दोनों भ्वा०) क्रम है। √बुध् का क्रम तो उपर्युक्त रीति से दैवादिक के ही ग्रहण के लिये प्रयोजन-वशात् तोड़ा है, अन्यथा दैवादिक और भौवादिक में से किस √बुध् का ग्रहण हो, अथवा दोनों का ग्रहण हो, यह संशय बना रहता। परन्तु √जन् और √दीप् का तथा √प्याय् और √ताय् का क्रम तोड़ने का कोई हेतु नहीं दिखाई देता। कदाचित् धातु-पाठ में इनका सूत्रोक्त क्रम तो नहीं था ?

2329 चिणो लुक् (6.4.104)—'चिणः' की पंचमी के कारण **'तस्माद्' इत्युत्तरस्य** (1.1.67) से 'उत्तरस्य' अर्थतः उपस्थित होता है। लुक् प्रत्यय को विहित है, अतः 'लुक्' शब्द से **प्रत्ययस्य लुक-श्लु-लुपः** से 'प्रत्ययस्य' उपस्थित होता है। चिण् 'त' परे रहते विहित है, यह पिछले सूत्र में देख चुके हैं। अतः अर्थ यों होता है: चिणः उत्तरस्य त-प्रत्ययस्य लुक्—चिण् के प्रश्चात् स्थित 'त' प्रत्यय का लुक् होता है।

काशिकाकार ने यहाँ 'त' की उपस्थिति नहीं बताई है : **चिण उत्तरस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति।**[1]

---

1. इस व्याख्या में अप्यायि से तरप् करने पर अप्यामि+तर स्थिति में **'लक्ष्य-भेदाल्लक्षणस्य पुन- प्रवृत्तिः'** न्याय से **'चिणो लुक्'** से तर का लोप प्राप्त होता है; पर **'चिणो लुक्'** (6.4.104) सूत्र **'असिद्धवदत्राभात्'** (6.4.22) के द्वारा असिद्ध है; अतः आभीय सूत्र से विहित प्रत्यय (त) के लोप के निमित्त से पुनः आभीय सूत्र से प्रत्यय (तर) का लोप पहले वाले लोप के असिद्ध होने के कारण नहीं होगा। म० भा० : **असिद्धस्तलोपः तस्यासिद्धत्वान्न भविष्यति।** अतः यह व्याख्या भी ठीक है; पर इसमें प्रक्रिया-गौरव तो दीक्षितजी की व्याख्या की अपेक्षा है ही।

16 ताय् सन्तान-पालनयोः ॥ 9 ॥ सन्तानः=प्रबन्धः । तायते; ततायेः; अतायि; अतायिष्ट ।

17 शल चलन-संवरणयोः ॥ 10 ॥ 18 वल, 19 वल्ल संवरणे,

16 √ताय् सन्तान और रक्षा करने में है ॥ 9 ॥ संतान माने फैलाना है ।

17 √शल् हिलना और ढँकना अर्थों में है ॥ 10 ॥ 18 √वल्, 19 √वल्ल्

√प्याय्+लुङ्, लुङ् को त, उसकी सार्वधातुक संज्ञा के बाद **कर्तरि शप्** से प्राप्त शप् को बाध कर **च्लि लुङि** से च्लि : प्याय्+च्लि+त । **च्लेः सिच्** से च्लि को प्राप्त सिच् आदेश को बाध कर **दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्** से च्लि को वा चिण् : प्याय्+इ+त । **चिणो लुक्** से त का लुक् : प्याय्+इ । अट् : अप्यायि । चिण् के अभाव-पक्ष में च्लि को सिच्, उसकी आर्धधातुक संज्ञा, इट्, स् को मूर्धन्यादेश, ष्टुत्व : अप्यायिष्ट ।

'आताम्' आदि में प्याय्+च्लि+आताम्, च्लि को सिच्, इट्, अट् : अप्याय्+इस्+आताम्; **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष् : अप्यायिषाताम् । इसी प्रकार अप्यायिषत, अप्यायिष्ठाः, अप्यायिषाथाम् । ध्वम् में 'अप्यायिस्+ध्वम्' स्थिति में **धि च** से स् का लोप होने पर अप्यायि+ध्वम्, **इणः षीध्वं०** से नित्य प्राप्त ढकारादेश को बाध कर **विभाषेटः** से विकल्प से ढत्व : अप्यायिढ्वम्, अप्यायिध्वम्; अप्यायिषि, अप्यायिष्वहि, अप्यायिष्महि ।

16 √**ताय्** विस्तार करना, प्रबंधन करना, बढ़ाना तथा रक्षा करना अर्थों में सकर्मक है । तायते; ततायें । लुङ् में इसकी प्रक्रिया तथा रूप √प्याय्+लुङ् में इसकी प्रक्रिया तथा रूपों के समान होते हैं : अतायि/अतायिष्ट, अतायिषाताम्, अतायिषत । ऋदित् होने से ताय्+णिच्+लुङ् में **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** से प्राप्त ह्रस्व का निषेध **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** से हो जाता है, तब **सन्वल्लघुनि चङ्-परे०** सूत्रकी दोनों व्याख्याएँ लागू न होने से[1] इत्त्व तथा दीर्घ नहीं होगा : अततायत् । निष्ठा में तायितः, तायितवान् ।

17 √**शल्** हिलना-डुलना, काँपना (अकर्मक) तथा छाना, ढँकना (सकर्मक)

---

1. प्रथम व्याख्या में अंग संज्ञा (अतताय्) का निमित्त चङ् परक णि बाद में रहते उससे अव्यवहित पूर्व लघु से अभ्यास 'अतताय्+अत्' स्थिति में नहीं है; अतः सन्वत्त्व नहीं होगा । द्वितीय व्याख्या में चङ्-परक णि बाद में रहते अतताय् अंग का अभ्यास लघु-परक नहीं है, अपितु दीर्घ-परक है; अतः सन्वत्त्व नहीं होगा ।

संचरणे च ॥ 11 ॥ ववले; ववल्ले । 20 मल, 21 मल्ल धारणे ॥ 12 ॥ मेले; ममल्ले । 22 भल, 23 भल्ल परिभाषण-हिंसाऽऽदानेषु ॥ 13 ॥ बभले; ढँकना, छा जाना और फैलना अर्थों में है ॥ 11 ॥ 20 √मल्, 21 √मल्ल् धारण करने में हैं ॥ 12 ॥ 22 √मल्, 23 √मल्ल् निंदा करना, भला-बुरा कहना, मारना

अर्थों में है। शलते; शेले; शलिता; शलिषीढ्वम्, शलिषीध्वम्; अशलिढ्वम्, अशलिध्वम्। शल्कः=छिल्का, शलाका=सींक, सलाई, शलभः=पतंगा, शालूकम्=उत्पलों का कंद, शल्यम्=नुकीला अस्त्र, शल्यकः=शिकारी।

18 √**वल्**, 19 √**वल्ल्** (दोनों दंत्योष्ठ्यांतस्थादि) ढँकना, छा जाना (सकर्मक) तथा घूमना, वल खाते हुए चलना (अकर्मक) अर्थ में हैं। पं० चारुदेवजी के अनुसार इसका प्रयोग संचरण अर्थ में मिलता है, संवरण में नहीं : **अन्योऽन्यं शर-वृष्टिरेव वलते** (महावीरचरित 6.41), **प्रणयिनं परिरब्धुमथाङ्गना ववलिरे वलि-रेचित-मध्यमाः** (माघ० 3.38)। यह वल्क, वल्कल=बक्कल, वृक्ष की छाल, वलि=झुर्री, वलयः=कंकण, वलीक=छप्पर का छोर, वल्मीक=बाँबी आदि शब्दों में भी है। वलते, ववले—वकारादि होने से एत्त्व और अभ्यास-लोप का निषेध **न शस-दद-वादि०** से हो जाता है। यह धातु गति अर्थ में परस्मैपद में भी प्रयुक्त है : **त्वदभिसरण-रभसेन वलन्ती पतति पदानि कियन्ति चलन्ती** (गी० गो० 6); **ज्वर-जनित-चिन्ताऽऽकुलतया वलद्-बाधां राधाम्**[1] (गी० गो० 1) में कदाचिद् **बल प्राणने** (भ्वा० पवर्गीयादि) का अन्तस्थादि के रूप में प्रयोग व-ब में अभेद मान कर[2] 'बढ़ना' अर्थ में किया गया है।

19 **वल्ल्** क्षी० त० में नहीं है, उन्होंने इसे दुर्ग के नाम से उद्धृत किया है। यह वल्ली (बेल, लता जो अपने आश्रय को ढँक लेती है तथा खूब फैलती है), वल्लरी, वल्लभ; वल्लूरम् (सूखा मांस), वल्लव (गाय दुहने वाला) वल्लकी (वीणा) शब्दों में है। वल्लते, ववल्ले।

20 √**मल्**, 21 √**मल्ल्** धारण करने में (सकर्मक) है। पहली धातु मलयः, मलम्, परिमलम् (फूल, चन्दन आदि को मलने से उत्पन्न महक), माला, मालती आदि शब्दों में है। मलते, मेले। √मल्ल् मल्लिका, मल्ली (एक फूल), मल्ल, (पहलवान), मल्लक (एक बरतन) में है। मल्लते, ममल्ले। मलमल्लक=लंगोटी।

22 √**भल्**, 23 √**भल्ल्** निन्दा करना, मारना, देना अर्थों में है। भलते;

---

1. ये उदाहरण व्या० च०, भाग 3, पृष्ठ 49, से लिये गये हैं।
2. क्षी० स्वा० तथा उज्जवलदत्त ने प्राणनार्थक √बल् को दंत्योष्ठ्यादित्वेन माना है। क्षी० त०, पृष्ठ 75, टि० 2.

बभल्ले। 24 कल शब्द-संख्यानयोः ॥ 14 ॥ कलते; चकले। 25 कल्ल अव्यक्ते शब्दे ॥ 15 ॥ कल्लते। 'अशब्दे' इति स्वामी, 'अशब्दः=तूष्णीम्भाव' इति च।

26 तेवृ, 27 देवृ देवने ॥ 16 ॥ तितेवे; दिदेवे। 28 षेवृ, 29 गेवृ, और लेना अर्थों में हैं ॥ 13 ॥ 24 √कल् आवाज़ करना और गिनना अर्थों में है ॥ 14 ॥ 25 √कल्ल् अस्फुट ध्वनि करने में है ॥ 15 ॥ क्षीरस्वामी 'अशब्द' अर्थ में मानते हैं तथा 'अशब्द' माने 'चुप होना' बताते हैं।

26 √तेव्, 27 √देव् जुआ खेलने में हैं ॥ 16 ॥ 28 √सेव्, 29 √गेव्,

---

वभल्ले। भलूकः, भल्लूकः भालू, भल्लः भाला।

24 √कल् चहचहाने जैसी आवाज़ करना तथा हिसाब लगाना, गिनती करना अर्थ में (सकर्मक) है। आकलते=हिसाब लगाता है : फलाता है; संकलते=जोड़ करता है, इकट्ठा करता है; परिकलते=गुणा करता है, प्रत्याकलते=भाग देता है, विकलते=बाकी (घटा) निकालता है। आकलन=हिसाब, फलाना (फैलाना), संकलन=जोड़, विकलन=बाकी, घटा, परि-कलन=गुणा, प्रत्याकलन=भाग, कला=मात्रा, एक यूनिट, कलः=मधुर अव्यक्त आवाज़, कलकलः=चहचहाट, कोलाहल, कलम=लेखनी, कलम, कलायः=मटर (सतीनकः), कलल=रज-वीर्य के मिश्रण की आरंभिक स्थिति, कलुष, कल्मषः=कलंक, पाप खोट। कलते; चकले; कलिता; अकलिष्ट। यह संख्यान अर्थ में चुरादि में भी आया है : कलयति। कालयति चौरादिक क्षेपार्थक का है। इससे काल (समय, मृत्यु) बनता है। कालिका=मेघ-समूह।

25 √कल्ल् अस्फुट ध्वनि करना, क्षी० स्वा० चुप होना अर्थ में है। कल्लते, चकल्ले। कल्लोलः=लहर।

26 √तेव्, 27 √देव् सट्टा, जुआ खेलना अर्थ में अकर्मक, संमान करना, प्रसन्न करना, रमना अर्थ में सकर्मक हैं। 'देवन' शब्द प्रकृत √देव् के अलावा √दिव् (दि०), **दिवु परिकूजने** तथा **दिवु अर्दने** (दोनों चु०) से निष्पन्न हो सकता है। इसमें से प्रसिद्ध दैवादिक है। अतः यह 'देवन' उसी का होना उचित है। अतः ये दोनों धातु दैवादिक √दिव् के अर्थ में हैं। तेवते; तितेवे; अतेविढ्वम्, अतेविध्वम्। ऋदित् होने से णिच्+लुङ् में उपधा-ह्रस्व नहीं होता : अतितेवत्, अदिदेवत्। देवटः=ऊन कमाने वाला (क्षी० स्वा० : ऊर्णा-वृत्तिः), शिल्पी; देवरः[1], देवलः (पुजारी, देव-पूजा की

---

1. यास्क ने इसे √दिव् से बताया है : **देवरो दीव्यतिकर्मा** (निरुक्त 3.15)। नि० पा० अ०, पृष्ठ 365 तथा 368 भी देखें।

30 ग्लेवृ, 31 पेवृ, 32 मेवृ, 33 म्लेवृ सेवने ॥ 17 ॥ 'परिनिविभ्यः०' (2275) इति षत्वम्—परि-षेवते । सिषेवे । अयं सोपदेशोऽपीति न्यास-कारादयः; तद् भाष्य-विरुद्धम् ।[1] गेवते; जिगेवे; जिग्लेवे; पिपेवे; मेवते; म्लेवते । 'शेवृ,

30 √ग्लेव्, 31 √पेव्, 32 √मेव्, 33 √म्लेव् (सभी ऋदित्) सेवा करना, उपयोग करना अर्थ में हैं ॥ 17 ॥ 'परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्' (2275) सूत्र से ष् होता है—परि-षेवते । न्यास के प्रणेता (जिनेंद्रबुद्धि) कहते हैं कि यह (√सेव्) उपदेश में दंत्य-सकारादि भी है; यह (कथन) भाष्य के विरुद्ध है । कुछ

आजीविका वाला) शब्द प्रकृत √देव् की अपेक्षा दैवादिक √दिव् से ही निष्पन्न माने जाते रहे हैं ।

28 √सेव्, 29 √गेव्, 30 √ग्लेव्, 31 √पेव्, 32 √मेव्, 33 √म्लेव्—ये छह सेवा, सेवन करना, सेना अर्थ में हैं । क्षीरस्वामी ने यहाँ 11 धातु दी हैं : **एवृ, शेवृ, षेवृ, सेवृ, केवृ, खेवृ, ग्लेवृ, पेवृ, प्लेवृ, मेवृ, म्लेवृ सेवने** । मा०धा०वृ० में यहाँ **मेवृ** नहीं है तथा अर्थ भी 'सेचने' छपा है । उन्होंने मैत्रेय के प्रमाण से एकीय के रूप में **शेवृ, खेवृ** और **मेवृ** को सूचित किया है तथा मैत्रय को **सेवृ** भी अभीष्ट बताई है ।[2] उन्होंने कुछ लोगों के हवाले से **क्लेवृ** भी यहाँ दी है । अतः सायण की सूचना के अनुसार सब पाठांतरों तथा मत-भेदों को मिलाकर यहाँ 10 धातु है । क्षीरस्वामी की √एव् इनमें नहीं है । √क्लेव् कदाचित् √केव् का अशुद्ध छापा है । √केव् केवल, केवट, कैवर्त आदि शब्दों में है भी, √क्लेव् तो आख्यात या नाम किसी भी रूप में दृष्ट नहीं है । मैत्रेय, क्षीरस्वामी तथा न्यास-कार को सम्मत उपदेश में दंत्योष्मादि √सेव् भाष्य-कार को अभीष्ट नहीं प्रतीत होती, नहीं तो उन्होंने षोपदेश-विवेचन-वाक्य (**अज्दन्त्य-पराः सादयः षोपदेशाः स्मिङ्-स्वदि-स्विदि-स्वञ्जि-स्वपयश्च**) में अंतर्भुक्त धातुओं की अपवाद धातुओं के संग्राहक पर्युदास वाक्य (**सृपि-सृजि-सृ-स्त्या-**

---

1. दीक्षितजी का "**अयं सोप०तद् भाष्य-विरुद्धम्**" कथन सायण के निम्न कथन पर आधृत है : **अत्र मैत्रेयादयो दन्त्यादिमपि वदन्ति । तथा च 'परि-नि-विभ्यः०' (7.3.70) इत्यत्र न्यासेऽपि "षोपदेशस्य 'सात्पदाद्योः' (8.3.11) इति निषेधे प्राप्ते, अपरस्य त्वप्राप्ते च" इति । तदिदं षोपदेश-लक्षण-पर्युदासे 'सेवृ*वर्जम्' इति स्त्यायतिवदनुपादानाद् भाष्यकारस्यानभिमतत्वमिव प्रतीयते । अत एव 'परि-नि-विभ्यः०' (7.3.70) इत्यत्र हरदत्तः—'सेवतिभूवादिष्वनुदात्तेद्' इत्याह, न तु 'सेवती'* इति । * चौखम्बा-सं० में क्रमशः 'सेक्तृ०' तथा 'सेवतीति ।' अपपाठ हैं ।**
2. न्यास (8.3.70) में भी **'षेवृ, सेवृ सेवने' इति भ्वादावात्मनेपदिनौ पठ्येते ।'** कहा है ।

खेवृ, केवृ' इत्यप्येके । 34 रेवृ प्लव-गतौ ॥ 18 ॥ प्लव-गतिः=प्लुत-गतिः । रेवते ॥ 61 ॥

15 अथावत्यन्ताः परस्मैपदिनः—

लोग मानते हैं कि यहाँ √शेव्, √खेव्, √केव् भी हैं। 34 √रेव् प्लव-गति में है ॥ 18 ॥ प्लव-गति माने उछलकर चलना है। रेवते ॥ 61 ॥

15 अव 93 √अव् तक परस्मैपदी धातु हैं—

सेकृ-सृ-वर्जम्) में **सेवृ** भी दी होती। यही कारण प्रतीत होता है कि हरदत्त ने (7.3.70 पर पदमंजरी में) **सेवतिर्भूवादिष्वनुदात्तेत्** कहकर एक ही √सेव् धातु का उल्लेख किया है, न कि दो (**सेवती**) का।

34 √**रेवृ** धातु उछल-उछलकर चलना अर्थ में है। रेवते; रिरेवे; अरेविढ्वम्, अरेविध्वम्। मध्य-प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र में नर्मदा नदी ऊँचाई से एक-दम गिरते, उछलते चलने के कारण 'रेवा' कहलाती है। 'रेवती' (एक नक्षत्र) **री गति-रेषणयोः** (क्र्या०) से, क्षीरस्वामी के मत में **रीङ् स्रवणे** (दि०) से विच् से निष्पन्न 'रे' से मतुप् करके निष्पन्न है। हमारे विचार में यह शब्द 'रयिमती' (धनवती) से य-लोप के द्वारा विकसित है। रेवत् (एक साम) गत्यर्थक √री से निष्पन्न है, रेवती=रेवत् सामवाली वाणी।

मैत्रेय यहाँ **प्लव** को भी गत्यर्थक धातु मानते हैं। पर यह सूत्र-कार को अभीष्ट नहीं प्रतीत होती : (1) 'आप्लाव' शब्द की सिद्धि के लिये **विभाषाऽऽङि रु-प्लुवोः** (3.3.50) के द्वारा √प्लु से घञ् का विधान किया है; यदि √प्लव् उनके धातु-पाठ में होती, तो √प्लव् घञ् का विधान करते; (2) √प्लु+णिच्+लुङ् में 'अपिप्लवत्' की सिद्धि के लिये **स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां वा** (7.4.81) से विकल्प से इकार किया है; यह रूप √प्लव् से **सन्वल्लघुनि०** के द्वारा सन्वद्भाव करके **सन्यतः** से यों ही बन जाता है। तब सूत्र में √प्लु का ग्रहण व्यर्थ होगा। इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि को अपने धातु-पाठ में **प्लव** धातु के रूप में अभीष्ट नहीं है; अतः यह अर्थ-निर्देश (प्लव-गतौ) का ही अंग है (—मा० धा० वृ०, प्रौ० म०)।

धातु योग : पूर्व-धातु 465 वर्तमान 34, योग 499 ॥ 61 ॥

संदर्भ : अंतस्थान्त (क) आत्मनेपदी सेट् 34 धातु 14वें वर्ग में देने के बाद (ख) 93 परस्मैपदी सेट् धातु पंद्रहवें धातु-वर्ग में दी हैं। क्रमशः (1) यकारांत 7 धातु, (2) लकारांत 37, (3) रेफांत 8 तथा (4) वकारांत 40 (अंतस्थांत कुल 92) और (5) स्वरांत 1, कुल 93 धातु हैं। 3 धातुओं का स्वरूप एकीय मत में भिन्न है। अं

1 मव्य बन्धने ॥ 1 ॥ ममव्य । 2 षूक्ष्यं, 3 ईक्ष्यं, 4 ईर्ष्यं ईर्ष्याऽर्थाः

ख. पंचदश वर्ग : अ. य-ल-रेफांत परस्मैपदी 52 धातु

1 √मव्य् बाँधना अर्थ में है ॥ 1 ॥ 2 √सूक्ष्य्, 3 √ईक्ष्यं, 4 √ईर्ष्यं

वर्ण का यह क्रम न तो वर्ण-माला के क्रम के अनुसार है, और न शिव-सूत्रों के क्रम के।[1] मव्य में स्वरांत 54 √जि का पाठ तो और भी अनुचित है : (1) 92 धातु अंतस्थांत हैं यह, स्वरांत है; (2) 92 धातु सेट् हैं, यह अनिट् है। 24 √चुल्ल् इसी अर्थ तथा पद में 8·58 √चुड्ड् के रूप में आ चुकी है। दीक्षितजी ने इसके अर्थ की यही व्याख्या वहाँ भी की है।

प्रकृत बासठवें अनुच्छेद में इनमें से य-ल-रांत 52 धातु दी हैं। लुङ् में (1) यकारांत में **ह्मयन्त-क्षण०** (2299) से वृद्धि का निषेध हो जाता है तथा (2) ल-रांत धातुओं में **अतो-ल्रान्तस्य** (2330) से नित्य वृद्धि होती है।

15·1 √**मव्य्** बाँधना अर्थ में सकर्मक है। मव्यति। लिट् में 'म+मव्य्+अ' स्थिति में **यस्य हलः** (6.4.40) की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि इससे हल् के पश्चात् 'य्+अ=य' समुदाय का लोप होता है, व्यंजन (य्) मात्र का नहीं। अतः ममव्य। ममव्यतुः; ममव्युः। मव्यिता; मव्यिष्यति; मव्यतु; अमव्यत्; मव्येत्। आशीर्लिङ् में √मव्य्+यात् स्थिति में **हलो यमां यमि लोपः** (8.4.64) से हल् व् के पश्चात् तथा यम् ('यात्' के य्) से पूर्व स्थित य् का वैकल्पिक लोप : (1) मव्यात्, (2) मव्य्यात्। अमव्यीत्—लुङ् में 'अमव्य्+ईत्' स्थिति में हलादि धातु का अकार एक-मात्रिक होते हुए भी लघु नहीं है, क्योंकि उसके पश्चात् व्य् संयोग होने से वह गुरु हो गया है, अतः **अतो हलादेर्लघोः** (7.2.7) से वृद्धि प्राप्त ही नहीं है; **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** (7.2.3) से हलंतत्वेन प्राप्त वृद्धि का निषेध **नेटि** (7.2.4) से हो जाता है। अमव्यिष्टाम्, अमव्यिषुः। अमव्यिष्यत्।

2 √**सूक्ष्यं**, 3 √**ईक्ष्यं**, 4 √**ईर्ष्यं** रागज असहिष्णुता,[2] मन-मनमें जलना, कुढ़ना, डाह करना, किसी की बढ़ती देखकर उसे न सह पाना अर्थ में अकर्मक हैं। 2 √**सूक्ष्यं** धातु-पाठ की क्षी० त०, मा० धा० वृ० तथा सि० कौ० व्याख्याओं में दन्त्योष्मादि ही छपी मिलती है, पर भाष्य के षोपदेश-नियम तथा वहां के पर्युदास को

---

1. **'अपो ल्रान्तस्य'** (2330) में ल्-र् क्रम से सूचित होता है कि पाणिनि को इन धातुओं का यही क्रम इष्ट है।

2. क्षी० त० : **ईर्ष्या कामजमसहनम्।**

॥ 2 ॥ 5 हय गतौ ॥ 3 ॥ अहयीत्—यान्तत्वान्न वृद्धिः । 6 शुच्य अभिषवे ॥ 4 ॥ (1) अवयवानां शिथिलीकरणं, (2) सुरायाः सन्धानं वाऽभिषवः, (3) स्नानं च । शुशुच्य । 'चुच्य' इत्येके । 7 हर्य गति-कान्त्योः ॥ 5 ॥ जहर्य ।

डाह करना अर्थ में हैं ॥ 2 ॥ 5 √हय् जाना अर्थ है ॥ 3 ॥ अहयीत्—धातु के अंत में य् है, इसलिये वृद्धि नहीं होती । 6 √शुच्य् अभिषव अर्थ में है ॥ 4 ॥ (1) अवयवों को ढीला करना (कुचलना), या (2) शराब खेंचना और (3) नहाना अभिषव होता है । कुछ लोग √चुच्य् मानते हैं । 7 √हर्य् जाना तथा चाहना अर्थ में है ॥ 5 ॥

देखते हुए यह उचित नहीं है । इसे **षूक्ष्य्** होना चाहिये । अतः लिट् में मा० धा० वृ० में दिया 'सूषूक्ष्य' में मूर्धन्योष्म का प्रयोग तथा 'सोसूक्ष्यंते' (यङ्) में **स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात्** (8.3.61) से षत्व-निषेध संगत होता है. अषोपदेशता में यहाँ षत्व की प्राप्ति ही नहीं होती । अतः मा० धा० वृ० के आंतरिक साक्ष्य से सिद्ध होता है कि यह धातु उपदेश में **षूक्ष्य** है, **सूक्ष्य** नहीं । त० बो० में भी 'सूषूक्ष्यें' ही उपलब्ध है । सूषूक्ष्यतुः, सुषूक्ष्युः । सूक्ष्यिता; सूक्ष्यिष्यति; सूक्ष्यतु; असूक्ष्यत्; सूक्ष्यत्; सूक्ष्यात्; सूक्ष्यात्; असूक्ष्यीत्; असूक्ष्यिष्यत् । 3 √**ईक्ष्य्**, 4 √**ईर्ष्य्** से लिट् में **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** (2237) से आम्—ईक्ष्याञ्चकार, ईक्ष्यांबभूव, ईक्ष्यामास; ईर्ष्याञ्चकार, ईर्ष्यांबभूव, ईर्ष्यामास । ईर्ष्या=ईखा, डाह । 'ईर्खा' शब्द 'ईक्ष्या' से निष्पन्न नहीं है, अपितु वैदिकों द्वारा ष् को ख् बोलने की परिपाटी के कारण 'ईर्ष्या' से ही निष्पन्न है ।

5 √**हय्** गति अर्थ में है । क्षीरस्वामी के अनुसार यह धातु गति तथा कांति अर्थों में है । मा० धा० वृ० की सूचना के अनुसार कुछ लोग भक्ति तथा शब्द अर्थों में भी मानते हैं । 'अश्व' का पर्याय 'हय' शब्द इससे भी निष्पन्न हो सकता है, तथा **हि गतौ वृद्धौ च** (स्वा०) से भी । हयति; जहाय; हयिता । आर्शीर्लिङ् में हय्यात्—यम् (या के य्) से पूर्व-वर्ती यम् (धातु का य्) हल् के पश्चात् नहीं है, अतः **हलो यमां यमि लोपः** से य् का लोप नहीं होता । **अहयीत्** 'अहय्+ईत्' स्थिति में **वद-व्रज०** से प्राप्त नित्य वृद्धि का **नेटि** से निषेध, **अतो हलादेर्लघोः** से प्राप्त वृद्धि **ह्मयन्त-क्षण०** से निषेध । अहयिष्टाम्; अहयिषुः; अहयिष्यत् । हयः=घोड़ा, हयी=घोड़ी ।

6 √**शुच्य्** अभिषव करना अर्थ में सकर्मक है । अवयवों को ढीला करना (कूटना) तथा शराब खेंचना एवं (चांद्र धातु-पाठ के टीकाकार पूर्णचंद्र के अनुसार) स्नान करना, अभिषव होता है । शुच्यति; शुशुच्य; शुच्यात्; शुच्य्यात्; अशुच्यीत् । निष्ठा में शुच्यितः । क्षीरस्वामी इसे ईदित् (**शुच्यी**) मानते हैं । अतः निष्ठा में उनके मत में शुक्तः, शुक्तवान् रूप होते हैं । मा० धा० वृ० में मूलोक्त पाठ ही है । कुछ लोच √**शुच्य्** की जगह √**चुच्य्** मानते हैं । क्षीरस्वामी के अनुसार दुर्ग √**चुच्य** को ईदित् मानते हैं । मैत्रेय के अनुसार यह अदित् ही है । का० कृ० धातुपाठ में दोनों

8 अल भूषण-पर्याप्ति-वारणेषु ॥ 6 ॥ अलति; आल। 2330 अतो ल्रान्तस्य (7.2.2)—'ल्र' इति लुप्त-षष्ठीकम्। अतः समीपे यौ ल्रौ, तदन्त-स्याङ्गस्यातो वृद्धिः स्यात्, परस्मैपद-परे सिचि। 'नेटि' (2268) इति निषेधस्य,

8 √अल् अलंकृत करना, काफी होना, रोकना अर्थों में है ॥ 6 ॥ 2330 'ल्र' शब्द लोप हुई षष्ठी विभक्ति वाला है। ह्रस्व अ के निकट जो व् और रेफ हैं, अंत में उन्हें रखने वाले अंग के ह्रस्व अ को वृद्धि हो जाए, परस्मैपद-परक सिच् बाद में होने पर। (यह सूत्र) 'नेटि' (2268) से होने वाले (वृद्धि के) निषेध का और 'अतो हला-

---

(√शुच्य् तथा √चुच्य्) ईदित् ही दी हैं। फलतः निष्ठा में दो-दो रूप बनेंगे।

7 हर्य् गति (तुलनीय अंग्रेजी hurry) तथा चाहना, चमकना, दमकना अर्थ में सकर्मक है। इसका प्रयोग प्रायः वैदिक काल में ही होता था। 'हर्य्+यात्' स्थिति में **अचो रहाभ्यां द्वे** से द्वित्व होने से हर्य्य्यात्, **हलो यमां०** से य् का लोप होने से हर्य्यात्; द्वित्व न होने किन्तु लोप होने से हर्यात् तथा दोनों न होने से हर्य्यात् इस प्रकार एक, दो और तीन य् वाले रूप विकल्प से होते हैं। यास्क ने हिरण्य' का एक निर्वचन इसी से किया है।

8 √अल् भूषित करना (सकर्मक) पर्याप्त (काफी) होना, सरना (अकर्मक) तथा रोकना, निषेध करना, हटाना, मना करना (सकर्मक) अर्थों में है। भूषण, अपर्याप्ति तथा वारण अर्थ वाला 'अलम्' अव्यय पद इसी से निष्पन्न है। अलति। **आल**—अ+अल्+अ। **अत आदेः** से अभ्यास को वृद्धि : आ+अल्+अ, सवर्ण-दीर्घ : आल। आलतुः, आलुः; अलिता; अलिष्यति; अलतु; आलत्; अलेत्; अल्यात्; आलीत्; आलिष्यत्।

मैत्रेय के अनुसार कुछ लोग इसे स्वरितेत् मानते हैं। फलतः उनके मत में यह उभयपदी है। अतः अलते; आले; अलिता; अलिष्यते; अलताम्; आलत; अलेत; अलिषीष्ट; आलिष्ट; आलिष्यत रूप भी होंगे।

क्षी० त० में **अला भूषण-पर्याप्ति-निवारणेषु** पाठ है। इस पक्ष में निष्ठा में **आदितश्च** (7.2.16) से इट् का निषेध होगा : अल्तः, अल्तवान्। मा० धा० वृ० में मूलोक्त पाठ ही है। इस पक्ष में निष्ठा में इट् होगा : अलितः, अलितवान्।

2330 **अतो ल्रान्तस्य** (7.2.2)—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (1), अङ्गस्य (6.4.1) : अतः 6.1 ल्रान्तस्य अङ्गस्य परस्मैपदेषु सिचि। यहाँ 'अन्त' शब्द 'उदकान्तं गतः' आदि वाक्य-गत 'अन्त' के समान 'समीप' अर्थ में है। अवयव (छोर, अन्त, end) अर्थ में यदि माना जाये, तो (1) ल्रौ अन्तौ यस्य, स ल्रान्तः, तस्य (अङ्गस्य) इस

'अतो हलादेः०' (2284) इति विकल्पस्य चापवादः—मा भवानालीत्। 'अयं देर्लघोः' (2284) से होने वाले (वृद्धि के) विकल्प का अपवाद है—मा भवान् आलीत्। 'यह स्वरितेत् है', यह कुछ लोग कहते हैं; उनके मत में 'अलते' इत्यादि रूप भी होते

प्रकार बहुव्रीहि होगा। यह अर्थ तो **अतो ल्रः** सूत्र बना कर 'ल्रः' को षष्ठ्यंत **अङ्गस्य** का विशेषण बना कर **येन विधिस्तदन्तस्य** से 'ल्रान्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है; तब 'अन्तस्य' व्यर्थ ही होता है। अतः 'अन्त' शब्द अवयव अर्थ में सूत्रकार को इष्ट नहीं लगता; (2) 'ल्रान्तस्य अङ्गस्य अतः वृद्धिः' अर्थ बनता है, जिसके अनुसार अश्वल्लीत् (43 √श्वल्ल्+लुङ्) में भी वृद्धि प्राप्त होगी। अतः अवयवार्थक 'अन्तस्य' पद गौरव-युक्त तथा अनिष्ट-रूप-प्रयोजक होने से त्याज्य है। इसलिये 'अन्त' शब्द 'समीप' अर्थ में है।

'अन्त' को 'समीप' अर्थ में मानने पर भी यदि (1) ल्र च तद् अन्तं च (कर्मधारय त०) समास माना जाये, तो विशेषण 'अन्त' का पूर्वप्रयोग प्राप्त होता है; अतः यहाँ कर्मधारय नहीं है; (2) 'ल्रस्य अन्तम्' (ल्, र् के समीप) ऐसा (षष्ठी त०) समास माना जाये, तो 'ल्रस्य समीपस्य अङ्गसम्बन्धिनः अतः वृद्धिः' (ल्, र् के निकट-वर्ती अंगावयव ह्रस्व अकार को वृद्धि होती है) अर्थ होता है; तब √रप्, √रण्, √शल्ल् आदि धातुओं में भी अंग का अत् रेफ और लकार के समीप में है, अतः इनके लुङ् में वृद्धि प्राप्त होती है; जबकि √रप् और √रण् में अभीष्ट **अतो हलादेर्०** आदि से वैकल्पिक वृद्धि ही है और √शल्ल् में वृद्धि इष्ट ही नहीं है; इस लिये षष्ठीतत्पुरुष समास भी उचित नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि को 'ल्रान्तस्य' एक समस्त पद के रूप में अभीष्ट नहीं है। इससे यह भी सूचित होता है कि समीपार्थक 'अन्तस्य' पद का संबंध 'ल्र' से नहीं है, अन्यथा षष्ठी-समास ही उचित रहता। इस लिये 'अन्तस्य' का संबंध 'अतः' से इष्ट है : अतः 6.1 अन्तस्य ल्र अङ्गस्य वृद्धिः (अत् के समीप-वर्ती लकार और रेफ अंग को वृद्धि होती है)। इस अन्वय से सिद्ध होता है कि अत् के समीप-वर्ती ल् र् का संबंध अंग के साथ है, अतः 'ल्र' षष्ठ्यन्त है, पर विभक्ति का लोप **सुपां सुलुक्०** से हो गया है।

'ल्र' (लुप्त) षष्ठ्यंत पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः तदंत-विधि होती है : ल्रान्तस्य अङ्गस्य। समुच्चित अर्थ यह है : अतः अन्तस्य (=समीप-वर्तिनः) ल्रान्तस्य अङ्गस्य वृद्धिः (भवति) परस्मैपदेषु सिचि (अत् के समीपवर्ती ल् और र् से अन्त होने वाले अंग को वृद्धि होती है, परस्मैपदपरक सिच् बाद में होने पर।

प्रस्तुत अर्थ में एक दोष रहता है : यहाँ अंग को वृद्धि कही है। 'वृद्धि' शब्द

से **इको गुण वृद्धी** से 'इकः' पद प्राप्त होगा। फलतः अंग के इक् को वृद्धि प्राप्त होती है, तब √अल् इत्यादि के अत् को तो वृद्धि प्राप्त ही नहीं होगी। अतः इष्ट-विरोध दोष होगा। यदि यह कहें कि इष्ट-सिद्ध्यर्थ **इको गुण०** परिभाषा प्रयोजनाभावात् उपस्थित नहीं होती। अतः अत् वाली धातुओं में भी **अलोऽन्त्यस्य** से 'अन्त्यस्य' पद की उपस्थिति होने से वृद्धि हो सकती है। पर, 'अन्त्यस्य' की उपस्थिति में भी इक् वाली धातुओं में तो वृद्धि प्राप्त ही होगी। इस लिये 'अतः' पद की आवृत्ति करनी उचित है। पहला अतः' पद 'अन्तस्य' के साथ तथा दूसरा 'वृद्धिः' के साथ अन्वित होता है।

निर्दोष अन्वय निम्नलिखित प्रकार से होता है—

अतः अन्तस्य (=समीपवर्तिनः) ल्र (=ल्रान्तस्य) अङ्गस्य अतः वृद्धिः (भवति) परस्मैपदेषु सिचि—अत् के समीप में जो लकार तथा रेफ हैं, वे जिसके अंत में हैं, ऐसे अंग के अत् को वृद्धि होती है, परस्मैपद-परक सिच् प्रत्यय बाद में होने पर।

'अतः अन्तस्य' कहा होने से **खोलृ, खोर्ऋ, पील, मील** आदि धातुओं में प्रस्तुत सूत्र प्राप्त नहीं होता।

'अतः अन्तस्य ल्रान्तस्य अङ्गस्य' कहा होने से √श्वल्ल् आदि धातुओं में भी वृद्धि प्राप्त नहीं होती। यहाँ अत् के समीप में लकार तो है, पर वही लकार अंग का अंतिम अवयव नहीं है। जो लकार अंग का अंत्य अवयव है, वह अत् के समीप नहीं है।

लकारांत तथा रेफांत धातु सभी सेट् हैं। अतः यदि **नेटि** (7.2.4) तथा **अतो हलादेर्लघोः** (7) पर होने के कारण **अतो ल्रान्तस्य** (2) को बाध लें, तो प्रस्तुत सूत्र निरवकाश हो जाता है। अतः यह **निरवकाशो विधिरपवादः** से अपवाद होकर **परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः** (प०) से इन दोनों सूत्रों को बाध लेता है।

यहाँ **'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान्** (प० 60) यदि लागू हो' तो प्रस्तुत सूत्र अनंतर पठित **नेटि** को ही बाधेगा, उत्तर पठित **अतो हलादेर्लघोः** को नहीं। इस पर श्री ज्ञा० स० ने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं—**यद्यपि पुरस्तादपवाद-न्यायेन 'नेटि' इत्यस्यापवादो, न तु विकल्पस्यापि, तथाऽपि बाध्य-सामान्य-चिन्तायां स्व-विषये प्राप्तं सर्वं बाध्यते इति 'पुरस्तादपवाद-न्यायोऽत्र न प्रवर्तित' इति भावः** (—त० बो०)।

इस सूत्र की अपवादता को स्पष्ट करने के लिए जहाँ वृद्धि विशुद्ध (स्पष्ट) रूप से दीखती है, ऐसा उदाहरण ग्रंथकार ने दिया है : मा भवान् आलीत्—'मा भवान् √अल्+ईत् स्थिति में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध होने पर **अतो हलादेर्लघोः** से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि को बाधकर **अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि होती है : आलीत्।

स्वरितेद्' इत्येके; तन्मते 'अलते' इत्याद्यपि। 9 ञिफला विशरणे ॥ 7 ॥ 'तृ-फल०' (2301) इत्येत्त्वम्—फेलतुः, फेलुः; अफालीत्। 10 मील, 11 श्मील, 12 स्मील, 13 क्ष्मील निमेषणे ॥ 8 ॥ निमेषणं=संकोचः।

हैं। 9 √फल् टूटना, बिखरना अर्थ में हैं ॥ 7 ॥ 'तृ-फल-भज-त्रपश्च' (2301) से ए हो जाता है—फेलतुः; फेलुः। अफालीत्। 10 √मील्, 11 √श्मील्, 12 √स्मील्, 13 √क्ष्मील् निमेषण अर्थ में हैं ॥ 8 ॥ निमेषण माने मींचना, मूँदना है। दूसरी

यह धातु आख्यातों में उपलब्ध है, या नहीं, यह कहना तो कठिन है; किंतु अलक (केश), अलका (कुबेर की पुरी), अलि (भ्रमर), अलिक (ललाट), अलीक (झूठ), अलिन्द (पोळी, घर का प्रवेश-द्वार वाला छता हुआ भाग), आलिः, आली (सखी, पंक्ति), अलर्क (खाजला, या पागल कुत्ता) शब्दों में यही धातु प्रयुक्त प्रतीत होती है। क्षीरस्वामी ने 'आलता' अर्थ वाले 'अलक्तक' को भी इसी धातु से बताया है, तथा 'अरक्तक' को ल् का र् उच्चारण होने के कारण। पर 'अलक्तक' शब्द कदाचित् 'अरक्तक' का ही विकास है। 'अरक्तक' शब्द √रञ्ज् (रंगना) से निष्पन्न 'रक्त' से बना है, जिसमें 'अ' निषेधार्थ में नहीं, अपितु 'अधिक' अर्थ में हो सकता है।

√फल् यहाँ दो हैं : (1) 9 √फल् में 'ञि' और 'आ' इत्संज्ञक हैं, जिनके कारण **श्रीतः क्तः** (3.2.187) से वर्तमान अर्थ में क्त प्रत्यय तथा **आदितश्च** से निष्ठा में इट् का निषेध होते हैं; यह धातु खिलना, खिढणा, फूटना, फटना, बिखरना, विकसित होना अर्थों में है। 'फुल्ल' (फूल) इसी का बनता है। यों, विकसन अर्थ में 25 √फुल्ल् भी अलग से विकसित हो गई है। (2) 23 √फल् सामान्य उदात्त 'अ' अनुबन्ध वाली है, जिसका अर्थ फल आना, फलना, परिणाम निकलना है। इससे क्त में 'फलित' बनता है। रूप-भेद के कारण इन्हें अलग-अलग धातु मानना उचित है। तिङंत के रूप में ये दोनों धातु समान रूप और प्रक्रिया वाली हैं : फलति; पफाल, फेलतुः—**तृ-फल-भज-त्रपश्च** से अभ्यास के अकार को एकार तथा धातु के अभ्यासोत्तर-वर्त्ती अंश का लोप होता है; फलिता; अफालीत्—**अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि; अफालिष्टाम्। फलक पट्टी, पाटा 9 √फल् से है। फलम् 23 √फल् से।

10 √मील्, 11 √श्मील्, 12 √स्मील्, 13 √क्ष्मील् मींचना, मूँदना अर्थ में सकर्मक हैं। मैत्रेय के मत में यहाँ 11 √श्मील् नहीं है और क्षीरस्वामी के मत में 12 √स्मील तथा 13 √क्ष्मील् नहीं हैं। चान्द्र धातु-पाठ में √श्मील् की जगह √क्ष्मील् है। माधवीय धातुवृत्ति में **मील, श्मील, क्ष्मील** छपी हैं, परंतु उनकी टिप्पणी **तृतीयो दन्त्यादिः** से सूचित होता है कि (1) या तो यहाँ चार धातु थीं, 'जिनमें से तीसरी √स्मील् प्रूफ की अशुद्धि से निकल गई है, या (2) उसमें ककारादि √क्ष्मील् नहीं

द्वितीयस्तालव्यादिः । तृतीयो दन्त्यादिः । 14 पीलप्रतिष्टम्भे ॥ 9 ॥ प्रतिष्टम्भो रोधनम् । 15 णील वर्णे ॥ 10 ॥ निनील । 16 शील समाधौ ॥ 11 ॥

धातुका पहला वर्ण तालव्य (ऊष्म) है । तीसरी का दंत्य (ऊष्म) है । 14 √पील् प्रतिष्टंभ अर्थ में है ॥ 9 ॥ प्रतिष्टंभ माने रोकना है । 15 √नील् रँगने में है ॥ 10 ॥ 16 √शील् चित्त की एकाग्रता करना अर्थ में है ॥ 11 ॥ 17 √कील्

थी । इनमें 10 √मील् ही प्रसिद्ध है : मीलनम्=मींचना; **सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति;** प्रमीला=तंद्रा (नींद की वह अवस्था, जिसमें आँखें मुँदनी शुरु होती हैं, यहाँ 'प्र' प्रारम्भ अर्थ में है) । मीलति; मिमील; अमीलीत् ।

14 √**पील्** रोकना अर्थ में है । पीलति; अपीलीत् । पीलु=जाळ (पीलु) वृक्ष तथा उसका फल, हाथी[1], परमाणु; पिपीलकः=चींटा, पिपीलिका=चींटी । निरुक्त में यह शब्द 34 √**पील्** या √**पेल्** से निष्पन्न बताया है ।[2]

15 √**नील्** काला करना अर्थ में सकर्मक, काला होना अर्थ में अकर्मक है । **श्वेतं नीलति मरकत-कान्त्या** (क्षी०त० में उद्धृत) सफेद मरकत मणि की कांति से काला करता है । अथवा सफेद पदार्थ (स्फटिक) मरकत की कांति से काला होता है । नीला=काला । **कृष्णे नीलासित-श्याम-काल-श्यामल-मेचकाः** (अ० को०) । आधुनिक भाषाओं में यह 'नीला' के रूप में 'नीले' रंग के लिये प्रसिद्ध है तथा इससे विकसित 'लील्ला', 'लीला' शब्द किसी भाषा में 'नीले' के लिये, तो किसी में 'हरे' के लिये प्रसिद्ध हैं : गुजराती लीला मर्चा=हरी मिर्च, लीलो पाँदड़ो=हरा पत्ता । यह णोपदेश है, अतः प्रणीलति—**उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (2287) से णत्व ।

16 √**शील्** मनो-नियोग करना, एकाग्र होना अर्थ में सकर्मक है । शीलति; शिशील; अशीलीत् । शीलम्=स्वभाव, समाहितता । शीले भवा वृत्तिः शैली=स्वभाव

---

1. अ० को०, पं० 2722 : **द्रुमप्रभेद-मातङ्ग-काण्ड-पुष्पाणि पीलवः,** पं० 705 **पीलौ गुडफलः;** मे० को० : **पीलुः पुमान् प्रसूने स्यात्परमाणौ मतङ्गजे ।** कुमारिल (तंत्र-वार्तिक 1.3.9) के अनुसार 'हाथी' अर्थ में 'पीलु' म्लेच्छों में प्रसिद्ध है । उर्दू के पीलवान्, फीलवान्, फीलखाना, फीलपांव, आदि शब्द इसी 'पीलु' को लिये हुए हैं : पीलुरस्यास्तीति पीलुमान्=हस्तिपकः (हाथीवान्) । पं० यु० मी० ने 'पीलुमान्' की जगह 'पीलुवान्' रूप देकर उसका ही अपभ्रंश 'पीलवान्' बताया है : क्षी० त०, पृष्ठ 79, टि० 5. पर मतुप् के म् को व् यहाँ तंत्र-सिद्ध नहीं है; अतः 'पीलुमान्' ही उचित है ।
2. निरुक्त 7.13 : **पिपीलिका पेलतेर्गति-कर्मणः ।** स्कन्द : **न ह्यसौ क्षणमप्युदास्ते ।**

शीलति। 17 कील बन्धने ॥ 12 ॥ 18 कूल आवरणे ॥ 13 ॥ 19 शूल रुजायां, सङ्घाते च ॥ 14 ॥ 20 तूल निष्कर्षे ॥ 15 ॥ निष्कर्षो=निष्कोषणम्, तच्चान्तर्गतस्य बहिर्निःसारणम्। तुतूल। 21 पूल सङ्घाते ॥ 16 ॥ 22 मूल बाँधना, जड़ना अर्थ में है ॥ 12 ॥ 18 √कूल् ढँकने में है ॥ 13 ॥ 19 √शूल् पीड़ा होने और समूह होने में है ॥ 14 ॥ 20 √तूल् निष्कर्ष अर्थ में है ॥ 15 ॥ निष्कर्ष माने भीतर स्थित को बाहर निकालना है। 21 √पूल् समूह होने में

के अनुकूल प्रवृत्ति।[1] यह अनु और परि के साथ विचार-विमर्श करना, एकाग्रता तथा समग्रता से अध्ययन करना अर्थ में प्रयुक्त होती है: स्तुतिकुसुमांजलि: एक परिशीलन।[2]

17 √**कील्** कीलना, बाँधना, जोड़ना अर्थ में सकर्मक है। कीला=किल्ली, खूँटी; कीलकः=कील। कीलालम्=माबा, खोया।

18 √**कूल्** ढँकना, घेरना अर्थ में सकर्मक है। कूल्यतेऽम्भसा कूलम् (क्षी० त०) पानी से ढँका जाता है, अतः 'कूल' किनारा होता है। किनारा पानी को घेरता है, इसलिए 'कूलत्यम्भ इति कूलम्' कहना उचित है। कूलति; चूकूल; कूलिता; अकूलीत्।

19 √**शूल्** दर्द होना, चुभना तथा समूह होना अर्थ में अकर्मक है। क्षी० त० में केवल **रुजायाम्** (पीडा) अर्थ ही है। मा० धा० वृ० में प्रकृत दोनों अर्थ हैं। शूलति; शुशूल; अशूलीत्। शूलम्=नोंकीला अस्त्र, भाला, सूळ (कीकर आदि का काँटा)।

20 √**तूल्** निकालना अर्थ में सकर्मक है। तूल्यत इति तूलः=कपास, जो डोडी से निकाली जाती है, या जिसमें बिनोले लोढकर निकाले जाते हैं (अपादान अर्थ में प्रत्यय)। तूली=चित्र बनाने की कूची, ब्रश, जिससे चित्र निकाला जाता है। **तूलं, तूलिस्तूल-शय्या, शलाकायां तु तूलिका** (क्षी० त० में उद्धृत कोई कोष-वचन)।

21 √**पूल्** समूह बनाना अर्थ में सकर्मक है। पूल्यते इति पूलः=इकट्ठा करके बाँधा जाता है, अतः पूळा, ज्वार-बाजारे आदि चारे के फरड़ों का जूट। पूली=पूळी (**तृणोच्चयः**—क्षीरस्वामी)।

---

1. 'शैली' कार्यों की विविधता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यास्क के अनुसार यह लेखक के 'शील' पर आधारित है: **तत् परुच्छेपस्य शीलम्** (निरुक्त 10.42)। दण्डी ने ऐसे समान शील पर निष्पन्न पद्धति को 'मार्ग' कहा है: वैदर्भ मार्ग, गौड मार्ग। वामन ने इसे 'रीति' कहा है। काव्यादर्शप्रसादिनी 1.40.
2. कश्मीर के 14वीं सदी के भक्त कवि जगद्धर भट्ट की 'स्तुतिकुसुमांजलि' का व्यापक अध्ययन। लेखक डॉ० निगमबोध तीर्थ, परिमल पब्लिकेशंस, शक्तिनगर, दिल्ली।

प्रतिष्ठायाम् ॥ 17 ॥ 23 फल निष्पत्तौ ॥ 18 ॥ फेलतुः, फेलुः । 24 चुल्ल भाव-करणे ॥ 19 ॥ भाव-करणम्=अभिप्रायाविष्कारः । 25 फुल्ल विक-

है ॥ 16 ॥ √मूल् आधार बनना अर्थ में है ॥ 17 ॥ 23 √फल् फलना अर्थ में है ॥ 18 ॥ 24 √चुल्ल् भाव-करण में है ॥ 19 ॥ भाव-करण माने मन की बात प्रकट करना है। 25 √फुल्ल् फूलना (खिलना) अर्थ में है ॥ 20 ॥ 26 √चिल्ल्

---

22 √**मूल्** आधार बनना, जड़ बैठना, गहरे बैठना अर्थ में अकर्मक है। मूलम् =जड़, तथा जड़ के रूप में ही खाये जाने वाले मूली, गाजर आदि शाक। मूल्यो गोधूमादिः=पकने पर पौधा उखाड़ कर निकाला जाने वाला अन्न। मूलम्=पूँजी। मूलेन सम्मितम् मूल्यम्=कीमत। 'मूल' शब्द लाक्षणिक रूप से 'कारण' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है : मूल प्रकृति, मूलाविद्या। यास्क के समय यह धातु नहीं थी।[1]

23 √**फल्** फल आना, सिद्ध होना अर्थ में अकर्मक है। रूप तथा प्रक्रिया 9 √**फल्** के समान होते हैं। फलम्=फल, फलितम्=फलाव, फला हुआ, परिणति। अल्पं फलं=फलिका=फळी, फली,।

24 √**चुल्ल्** अभिप्राय सूचित करने में है। काशकृत्स्न धातु-पाठ में **'पाकाग्नि कुण्ड'** अर्थ भी दिया है : चूल्हा बनना, चूल्हे के रूप में उपयोग में आना। चुल्लितः, चुल्ली=चूल्हा। √चुद्ड् के रूप में यह पीछे (9.58 में) आ चुकी है। ड् के ल् उच्चारण के कारण यहाँ अलग से दिया लगता है। इसे भी दोपध ही होना चाहिये।

25 √**फुल्ल्** खिलना, फूलना अर्थ में अकर्मक है। (1) 9 √**फल्** से क्त प्रत्यय में पाणिनि ने √फल् के अकार को उकार, इट्-निषेध करने को उसे आदित् करके, निपातन से त को ल आदि की लम्बी प्रक्रिया तीन सूत्रों में[2] देकर 'फुल्ल' शब्द बनाया है। इससे सूचित होता है कि √फुल्ल् धातु पाणिनि के समय में (या उनके धातु-पाठ में) नहीं थी; अन्यथा 'फुल्ल' शब्द इस धातु से आसानी से सिद्ध होने पर वे उत्त्व, इडभाव तथा त् को लकारादेश की लम्बी प्रक्रिया न अपनाते; क्षीव, कृश आदि इस प्रकार के शब्द हैं ही; (2) ध्वनि-योजना की दृष्टि से भी √फुल्ल्

---

1. **मूलं मोचनाद् वा, मोषणाद् वा, मोहनाद् वा** (निरुक्त 6.3) इस निष्कर्ष का आधार है। अन्यथा वे इसे √मूल् से निष्पन्न बताते।
2. अष्टा० 7.4.87 : **चर-फलोश्च;** 7.2.16 : **आदितश्च;** 8.2.55; **अनुपसर्गात् फुल्ल-क्षीब-कृशोल्लाघाः** तथा इस पर काशिका : **'फुल्ल' इति 'ञिफला विशरण' इत्येतस्माद् धातोरुत्तरस्य निष्ठा-तकारस्य लकारो निपात्यते; उत्त्वमिडभावश्च सिद्ध एव।**

सने ॥ 20 ॥ 26 चिल्ल शैथिल्ये भाव-करणे च ॥ 21 ॥ 27 तिल्ल गतौ ॥ 21 ॥ तेलति। 'तिल्ल' इत्येके—तिल्लति। 28 वेलृ, 29 चेलृ, 30 केलृ, 31 खेलृ, 32 क्ष्वेलृ, 33 वेल्ल चलने ॥ 22 ॥ पञ्च ऋदितः।
ढीला होना और मन की बात प्रकट करने में है ॥ 21 ॥ 27 √तिल् गति करना, अर्थ में है ॥ 22 ॥ कुछ लोग √तिल्ल् मानते हैं। 28 √वेल्, 29 √चेल् 30 √केल्, 31 √खेल्, 32 √क्ष्वेल्, 33 √वेल्ल् चलना (हिलना) अर्थ में

संस्कृत की प्रकृति की अपेक्षा प्राकृत प्रकृति के निकट की लगती है; अतः हमारे विचार में (क) यह संस्कृत की नहीं है; (ख) प्राकृत की है; (ग) इससे निष्पन्न 'फुल्ल' शब्द संस्कृतभाषी वर्ग में प्रवेश पाकर संस्कृत में अपना लिया गया, तो (घ) वैयाकरणों ने अपने तंत्र में प्रसिद्ध 9 √फल् से ही इसे सिद्ध कर लिया, परन्तु (ङ) √फुल्ल् का प्रयोग बढ़ता गया, तो वैयाकरणों ने पाणिनि के पश्चात् काल में इसे संस्कृत के धातु-पाठ में स्थान दे दिया; (च) प्राचीन काल में जहाँ 'फुल्ल' के अलावा 'उत्फुल्ल', 'सम्फुल्ल' ही स्वीकृत हुए थे, वहीं बाद में 'प्रफुल्ल', 'प्रफुल्लित' आदि प्रयोग भी संस्कृत में स्थान पा गए।

हिंदी में यह (√फुल्ल्) धातु √फूल् के रूप में आख्यातों में और 'फूल' आदि नाम-पदों में प्रयुक्त होती हैं तथा इसका अर्थ 'विशरण' की अपेक्षा 'विकसन' की ओर चला गया। फूलना, फूल की क्रिया में डोडी (मुकुल) के अवयवों का बिखराव होता है। आरंभिक स्थिति में जो 'विकसन' है, वही अधिक हुआ विशीर्णता की ओर चला जाता है। √फूल् 'विकसन' से चल कर फूलना, सूजना, बढ़ना, हवा या पानी भरने से वस्तु का फैलना, जैसे पेट फूलना, आदि अर्थ में रूढ हो गई है।

फुल्लति; पुफुल्ल; फुल्लिता; अफुल्लीत्। फुल्लित=फूल आया हुआ; फुल्लम् =फूल।

26 √चिल्ल् ढीला होने और अभिप्राय प्रकट करने में है। क्षी०त० में दूसरा अर्थ नहीं दिया हैं; मा० धा० वृ० में दोनों हैं। चिल्लति; चिचिल्ल; अचिल्लीत्। चिल्लः=चील पक्षी (—क्षी०त०)।

27 √तिल् गति अर्थ में है। यह क्षी०त० और मा०धा०वृ० में नहीं है। दुर्ग और मैत्रेय इसे मानते हैं। क्षीरस्वामी ने √तिल्ल् दी है तथा 'दुर्ग √तिल् भी मानते हैं' कहा है। √तिल् स्नेहन अर्थ में तुदादि में भी है, 'तिल' तथा तिलक उसी से बनते हैं। आख्यातों के रूप में प्रयोग शायद ही मिले। नाम शब्द तौदादिक से निष्पन्न हो जाते हैं। अतः इसे यहाँ मानने की आवश्यकता नहीं है। दीक्षित जी इसे भी एकीय के रूप में ही देते, तो उचित होता।

28 √वेल्, 29 √चेल्, 30 √केल्, 31 √खेल्, 32 √क्ष्वेल् और 33 √वेल्ल्

षष्ठो लोपधः । 34 पेलृ, 35 फेलृ, 36 शेलृ गतौ ॥ 23 ॥ 'षेलृ' इत्यके । हैं ॥ 22 ॥ पाँच धातुओं में ह्रस्व ऋ की इत्संज्ञा है । छठी धातु की उपधा ल् वर्ण वाली है । 34 √पेल्, 35 √फेल्, 36 √शेल् गति अर्थ में हैं ॥ 23 ॥ कुछ लोग

धातु हिलना अर्थ में हैं । पहिली धातु क्षी०त० में नहीं है, उसके स्थान में उन्होंने **वेल्लृ** की व्याख्या की है : **वेल्लेर्द्विर्बद्धो लकारः—वेल्लति** । प्रथम पाँच धातु ऋदित् हैं, अतः णि+चङ् में धातु की उपधा को **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** से प्राप्त ह्रस्व का निषेध **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** से हो जाता है । √वेल्ल् क्षी०स्वा० के मत में ऋदित् है : अविवेल्लत् । सायण और दीक्षित जी इसे अदित् मानते हैं ।

'वेला' (समुद्र का किनारा) इस धातु से है, क्योंकि यहाँ जल लहराता है; किंतु 'वेला' (समय) चौरादिक **वेल कालोपदेशे** से है । 'चेल' वस्त्र तौदादिक **चिल वसने** से है; 'चेल' (चेलट्) कुत्सितवाचक भी है और समास (तत्पु०) के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होता है : स्त्रि-चेली, स्त्री-चेली ।[1] सायण का कहना है कि चेल (वस्त्र) अकुलीन बुनकर जुलाहे के द्वारा बुना होने से अपवित्र है तथा बुनकर से सादृश्य के कारण स्त्री, ब्राह्मणी आदि के लिये 'कुत्सा' अर्थ में प्रयुक्त होता है ।[2] केलिः=शृंगार-रसानुकूल चेष्टा √केल् से है । √खेल् से खेलम्=खेल, क्षी० स्वा० के अनुसार खेलने की जगह : **खेल्यतेऽत्रेति खेलम्** । अथवा खेल वह क्रिया है, जिसमें चलना होता है; अर्थात् क्रीडा ।

34 √पेल्, 35 √फेल्, और 36 √शेल् गति अर्थ में हैं । सब ऋदित् हैं, अतः णि+चङ् में उपधा-ह्रस्वाभाव : अपिपेलत् इत्यादि । √पेल् यास्क के अनुसार 'पिपीलिका' में है । पेलम्=अंड-कोष; पेलवम्=सुकुमार,[3] तनु; फेला=जूठन (**भुक्तोज्झितम्**—क्षी०स्वा०) । हिन्दी में √पेल् धकेलने में है । √शेल् मा० धा० वृ० में √पेल्

---

1. **चेलं वस्त्रेऽधमे त्रिषु** (अमरकोश 3.3.202) । **घ-रूप-कल्पप्-चेलड्-ब्रुव-गोत्र-मत-हतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः** (6.3.43) । **चेलडादीनि वृत्तिविषये कुत्सनवाचीनि । तैः 'कुत्सितानि कुत्सनैः'** (2.1.53) **इति समासः** (—सिद्धान्तकौमुदी, समासाश्रय-विधयः) ।
2. मा० धा० वृ० : **'चेलादयो वृत्ति-विषये कुत्सन-वचना' इति भवतावुक्तम् । तत्र चेलमकुलीनेन तन्तु-वायेनोत्पादितं भवति । तत्सादृश्याद् ब्राह्मण्यादिषु वृत्त्या चेल-शब्दस्य कुत्सन-वचनत्वम्** । अर्थात् 'चेली' यहाँ लाक्षणिक है ।
3. 'पेलव' को 'पेल' अंश के कारण काव्यशास्त्र में अश्लील (ग्राम्य) शब्दों में गिना जाता है, जैसे बहुत से लोग 'गोभी' को 'गो' के कारण अभक्ष्य समझते हैं तथा 'कोबी', 'कोबिस' बोलते हैं ।

37 स्खल सञ्चलने ॥ 24 ॥ चस्खाल; अस्खालीत् । 38 खल सञ्चये ॥ 25 ॥

√षेल् (> √सेल्) मानते हैं । 37 √स्खल् फिसलना अर्थ में है ॥ 24 ॥ 38 √खल्

और √फेल् के बीच में है । क्षी०त० के कुछ कोषों में दंत्यादि √सेल् पाठ है; यह षोपदेश-नियम-विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं है । सायण का कहना है कि कुछ लोग **खेलृ, षेलृ, सेलृ** भी यहाँ मानते हैं । √खेल् पीछे 'चलन' अर्थ में 31 वीं धातु के रूप में आ चुकी है ।[1] √सेल् (दन्त्यादि) षोपदेश-नियम-विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं है । 'सेलु' शब्द श्लेष्मातक (लिसोड़ा) अर्थ में रूढ है; इससे षोपदेश **षेलृ** स्वीकार्य है ।[2] इसी को दीक्षित जी ने 'कुछ लोग **षेलृ** मानते हैं,' कह कर दिया है । **षेलृ** तालव्यादि √शेल् के अतिरिक्त है, न कि उसकी स्थानापन्न; अतः दीक्षित जी को यहाँ 'अपि' भी देना चाहिये था : **षेलृ इत्यप्येके** । सायण ने दिया भी है : **अत्र क्वचित् 'खेलृ, षेलृ, सेलृ' इत्यपि त्रयः पठ्यन्ते ।**

37 √**स्खल्** फिसलना अर्थ में अकर्मक है । यह आख्यात के रूप में भी सुप्रयुक्त है । स्खलति । **चस्खाल—शर्पूर्वाः खयः** से स् तथा ल् का लोप हो गया, ख शेष रह गया : ख+स्खल्+अ; **कु-होश्चुः** से श्चुत्व : चस्खल्+अ; णित् 'अ' बाद में होने के कारण **अत उपधायाः** से उपधा-वृद्धि : चस्खाल । अतुस् णित् नहीं है, अतः वृद्धि नहीं :

---

1. सायण ने 'इसे मैत्रेय आदि के अनुसार आगे दिया जायेगा', कहा है : **तत्र खेलतिर् मैत्रेयाद्यनुसारेणाग्रे पठिष्यते ।** पर यह मा० धा० वृ० में आगे उपलब्ध नहीं है । इससे पूर्व अलबत्ता पिछले धातु सूत्र में ही दी गई है । पर वहाँ 'यह मैत्रेयादि के अनुसार है,' इसकी कोई चर्चा नहीं है ।
2. मा० धा० वृ० : **अत्र क्वचित् 'खेलृ, षेलृ, सेलृ' इत्यपि त्रयः पठ्यन्ते । तत्र खेलतिर् मैत्रेयाद्यनुसारेणाग्रे पठिष्यते । सेलतेस्तु दन्त्यादेः पाठः षोपदेश-पर्युदास-वाक्येऽनुपादानादनार्षः । मूर्द्धन्यादिस्तु सेलुः=श्लेष्मातक इत्यादि-दर्शनाद् ग्राह्यः ।**

   *शब्द-कल्पद्रुम कोष में दंत्यादि 'सेलु' की जगह तालव्यादि 'शेलु' शब्द दिया है । सुश्रुत में भी तालव्यादि ही है । मोनियर वि० ने 'शेलु' (ताल०) को प्रधान मान कर दंत्यादि को उसका रूप-भेद माना है । अतः 'सेलु' प्राकृत-प्रवृत्ति से 'शेलु' से विकसित हुआ लगता है तथा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसके लिये पृथक् धातु मानने की आवश्यकता नहीं है; पर वैयाकरण के लिये तो शब्द-सिद्धि आवश्यक होती है; उसके लिये आदेश (श् को स्) का तरीका सरल है, और पृथक् धातु-कल्पना का तरीका गौरव-युक्त है । संस्कृत में तालव्य को दंत्यादेश दुर्लभ है । इसलिये सायण ने दूसरा तरीका अपना कर षोपदेश√ षेल् (>√सेल्) की संभावना इस एक शब्द के आधार पर की है ।

39 गल अदने ॥ 26 ॥ गलति, अगालीत् । 40 षल गतौ ॥ 27 ॥ सलति । 41 दल विशरणे ॥ 28 ॥ 42 श्वल, 43 श्वल्ल आशु-गमने ॥ 29 ॥ शश्वाल;

इकट्ठा होने करने में है ॥ 25 ॥ 39 √गल् खाना (निगलना) अर्थ में है ॥ 26 ॥ 40 √षल् (>√सल्) गति (बहना) अर्थ में है ॥ 27 ॥ 41 √दल् टूटना, टुकड़े-

---

चस्खलतु : स्खलिता; स्खलतु; अस्खलत्; स्खलेत्; स्खल्यात्; लुङ् में अस्खल्+ईत्, **अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि : अस्खालीत् । स्खलितम्, स्खलिति=गलती ।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥

38 √**खल्** सञ्चय करना, जोड़ना, इकट्ठा करना अर्थ में सकर्मक है । खल्यतेऽन्नं सञ्चीयतेऽत्रेति खलः=गाहने के लिए अन्न को यहाँ इकट्ठा किया जाता है, अतः ऐसे स्थानको 'खल' (खलिहान) कहा जाता है । **खले यथाऽमी युगपत्पतन्ति** । खलिः=खळ, खळी; खलितः, खल्वाट् (गंजा); खल्वम्=गम्भीर । खलीनम्=नकेल (क्षी० त०—घोड़े की, **खलीनमश्वमुखावरणम्**) ।

39 √**गल्** खाना, निगलना अर्थ में सकर्मक है । लुङ् में **अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि : अगालीत् । गलः=गला । गल्लः=गाल । गालिः=गाली । 'निगलन' 'निगरण' से है ॥

40 √**सल्** (षोपदेश) धातु गति अर्थ में है । लुङ् में वृद्धि : असालीत् । क्षीरतरङ्गिणी में अषोपदेश √सल् दिया है । यह षोपदेश-नियम-विरुद्ध होने से त्याज्य है । सलिलम्=जल । ब्राह्मण ग्रन्थों में तो 'सरिर' (√सृ) से ही 'सलिल' माना है । प्रतीत होता है कि √सृ का 'सर्' रूप में विकार ही प्राकृत प्रभाव से √सल् में परिणत हो गया तथा कुछेक विशेष शब्दों में ही निरूढ रह गया । यदि यह धातु प्राचीन होती, तो यास्क 'सललूक' का निर्वचन √सृ+ऊक से न करके[1] √सल्+ऊक से करते ।

41 √**दल्** टुकड़े-टुकड़े होना, टूटना, फूटना, (अकर्मक), टुकड़े करना (दलना) सकर्मक है । अदालीत् । मैत्रेय 'विदारणे' (सकर्मक) पाठ मानते हैं । किंतु **अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्** (उ०रा०च० 1.28), **दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते** (वही, 3.31), **हा हा देवि, स्फुटति हृदयम्** (वही, 3.38) में यह अकर्मक प्रयुक्त है ।

42 √**श्वल्** तथा 43 √**श्वल्ल्** जल्दी-जल्दी जाना, तेजी से चलना अर्थ में

---

1. निरुक्त 6.3 : **सललूकं संलुब्धं भवति । पापकमिति नैरुक्ताः । सररूकं वा स्यात् सर्तेरम्यस्तात् ।**

अश्वालीत्। शश्वल्ल; अश्वल्लीत्। 44 खोलृ, 45 खोऋं गति-प्रतिघाते ॥ 30 ॥ खोलति; खोरति।

46 धोऋं गति-चातुर्ये ॥ 31 ॥ धोरति। 47 त्सर छद्म-गतौ ॥ 32 ॥ तत्सार; अत्सारीत्। 48 क्मर हूर्च्छने ॥ 33 ॥ चक्मार। 49 अभ्र, 50 वभ्र,

टुकड़े होना अर्थ में है ॥ 28 ॥ 42 √श्वल्, 43 √श्वल्ल् तेज चलगा अर्थ में हैं ॥ 29 ॥ 44 √खोल्, 45 √खोर् चाल की रुकावट होना, थँमना अर्थ में हैं ॥ 30 ॥

46 √धोर् चाल की चतुराई होना, करना अर्थ में है ॥ 31 ॥ 47 √त्सर् कुटिल चाल से चलना अर्थ में है ॥ 32 ॥ 48 √क्मर् कुटिलता करने में है ॥ 33 ॥

अकर्मक हैं। √श्वल् से लुङ् में **अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि : अश्वालीत्। √श्वल्ल् में अंग का अंतिम लकार अत् के समीप नहीं है, अतः **अतो ल्रान्तस्य** प्राप्त नहीं होता : अश्वल्लीत्। शुल्वं=ताँबा (जल्दी पिघलने या लचीला होने से), तथा डोरा (नपैना)। क्षी० त० में √श्वल् की जगह √शल् है।

44 √**खोल्** तथा 45 √**खोर्** धातु चलते को रोकना, थाँभना अर्थ में सकर्मक हैं। खोरः (**लडयोरभेदः** से खोडः) खोड़ा, लंगड़ा। खोलम्=टोप, हेल्मेट (क्षी०त० : **खोलं शिरस्त्रम्**)। दुर्ग √खोड् मानते हैं। क्षी०त० में √खोर् पहले है, √खोल् बाद में। पर, इसके बाद रेफांत धातु ही आ गई हैं, अतः उनसे पूर्व √खोल् की बजाय √खोर् उचित है।

46 √**धोर्** चाल की चतुराई, खास चाल से चलना, घोड़े, हाथी, सूअर आदि का एक खास अंदाज़ में चलना अर्थ में अकर्मक है। आधोरणः=पीलवान् (**आधोरणाः हस्तिपकाः**—अमरकोष 2.8.59), धोरितकम्=घोड़े की सरपट चाल। यह धातु √धौर् के रूप में भी उपलब्ध होती है।[1]

47 √**त्सर्** कपट से चलना अर्थ में अकर्मक है। अत्सारीत्—लुङ् में **अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि। त्सरुः (तलवार आदि की) मूँठ। त्सरुकः=तलवार अच्छी माँजने वाला। कौशिक यहाँ √त्सम् भी मानते हैं। इससे निष्पन्न कोई प्रातिपदिक शायद उनकी दृष्टि में हो !

48 √**क्मर्** कुटिलता (मक्कारी) करना अर्थ में अकर्मक है। अक्मारीत्—**अतो ल्रान्तस्य**। क्षी० स्वा० ने यह धातु नहीं दी है। 'मकर' सम्भवतः इसी से वर्णविपर्यय

---

1. **तत्र धौरितकं धौर्यं, धोरणं धोरितं च तत्।**
बभ्रु-कङ्कु-शिखि-क्रोड-गतिवत् ..... ॥ हैम नाममाला

51 मभ्र, 52 चर गत्यर्थाः ॥ 34 ॥ चरतिर्भक्षणेऽपि । अभ्रति; आनभ्र; मा भवानभ्रीत्—अङ्गान्त्य-रेफस्य अतः समीपत्वाभावान्न वृद्धिः ॥ 62 ॥

49 √अभ्र्, 50 √वभ्र्, 51 √मभ्र्, 52 √चर् गति अर्थ में हैं ॥ 34 ॥ 52 √चर् खाना, चरना अर्थ में भी है। मा भवान् अभ्रीत्—अंग का अंतिम रेफ ह्रस्व अ के निकट नहीं है, अतः वृद्धि नहीं होती ॥ 62 ॥

से निष्पन्न है। क्मरः>मकरः=मगरमच्छ (कुटिल मत्स्य—जलचर जन्तु[1])।

49 √अभ्र्, 50 √वभ्र्, 51 √मभ्र्, 52 √चर् धातु गति अर्थ में हैं। क्षी०त० में दूसरी धातु पवर्गद्वितीयादि (√वभ्र्) दी है। प्रथम तीन धातुओं की उपधा में पवर्ग का चौथा वर्ण है। √चर् खाना, चरना (पशुओं का घास आदि खाना) अर्थ में भी है। पशु चल-चल कर खाते हैं, सम्भवतः इसीलिए √चर् के ये दोनों अर्थ विकसित हुए हैं। केवल 'गति' अर्थ में यह √चल् के रूप में विकसित हुई है।

√अभ्र्+लिट् में अभ्यास को **अत आदेः** से दीर्घ : आ+अभ्र्+अ। दो हलों (भ्, र्) वाला होने से **तस्मान्नुड् द्विहलः** से नुट् : आनभ्र। लुङ् में अंग का अंतिम रेफ चूँकि अत् के समीप में नही है, मकार से व्यवहित है, अतः **अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि नहीं होती : आभ्रीत्; मा भवान् अभ्रीत्। अभ्र=मेघ इससे भी हो सकता है तो अब्-भ्र (अप्+√भृ) से भी।

पटत् चरतीति (फटता-फटता भी चलता है, काम निकालता रहता है) पटच्चरम्=फटा-पुराना कपड़ा, चोर।[2] पाटयन् चरतीति (फाड़ता, फोड़ता, दीवार आदि तोड़ता, चलता है, काम करता है) पाटयच्चरः>पाटच्चरः=चोर। अथवा स्वार्थे अण् से पटच्चर एव पाटच्चरः। चरण=पाँव, चर्या=साधुओं का ध्यान आदि आचरण, सुन्दर। चरु=हव्य-पाक, चरित्र=आचरण, चरित। चारण=हार कर बैठे को भी उत्साहित करके चला देने वाला वीरगाथा गाने वाला भाट।

धातु-योग : गत धातु 499, प्रकृत 52, योग 551 ॥ 62 ॥

---

1. तुलनीय 'मद्गु' एक जलचर जन्तु।

2. क्षी०त० में इसे 'पटत्+चर' ('**भूत-पूर्वे चरट्**') से बताया है : पटच्चरं जीर्ण-वस्त्रं, पट इवाचरद् भूत-पूर्वम्। चोर अर्थ में पटत्+चर् से बताया है : पटच्चर-श्चौरः; पटंश्चरतीति। श्री यु०मी० ने 'पटच्चर' और 'पाटच्चर' शब्दों में भ्रम से 'तुक्' समझ कर क्षी०स्वा० के कथन में दोष निकाला है : **उभयत्र तुक् कथम्? इति तोक्तम्**। वस्तुतः यह पाठ शतृप्रत्ययांत है।

15.53 ष्ठिवु निरसने ॥ 35 ॥ 'ष्ठिवु-क्लमु०' (2230) इति दीर्घः—ष्ठीवति । अस्य द्वितीयः (1) थकारः, (2) ठकारो वेति वृत्तिः—(1) तिष्ठेव, तिष्ठिवतुः; तिष्ठिवुः, (2) टिष्ठेव, टिष्ठिवतुः; टिष्ठिवुः । 'हलि च' (8.2.77) इति दीर्घः—ष्ठीव्यात् ।

अन्तस्थान्त धातु : ख. 15 : आ. वकारांत परस्मैपदी 41 धातु

15.53 √ष्ठिव् फेंकना अर्थ में है ॥ 35 ॥ 'ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति' (2320) से दीर्घ होता है ।—ष्ठीवति । इसका दूसरा वर्ण (1) थ् या (2) ठ् (इष्ट) है, यह काशिका में कहा है—(1) तिष्ठेव, तिष्ठिवतुः; तिष्ठिवुः; (2) टिष्ठेव, टिष्ठिवतुः, टिष्ठिवुः । 'हलि च' (8.2.77) से दीर्घ होता है—ष्ठीव्यात् ।

संदर्भ : इस अनुच्छेद में 15 वें वर्ग की शेष 41 धातु दी हैं । इनमें से 40 धातु वकारांत हैं तथा 1 स्वरांत है । वकारांत सब धातु सेट् परस्मैपदी हैं । स्वरांत धातु अनिट् परस्मैपदी है ।

15.53 √ **ष्ठिव्** फेंकना (थूकना) अर्थ में अकर्मक है । यह धातु पोपदेश है तथा **धात्वादेः षः सः** से प्राप्त सत्व का **सुब्धातु-ष्ठिवु-ष्वष्कतीनां प्रतिषेधो वाच्यः** (वा०) से निषेध होता है । अतः धातु √ष्ठिव् (मूर्धन्यादि) ही रहती है । लट् में ष्ठिव्+अ+ति, **ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति** से 'इ' को दीर्घ—ष्ठीव्+अ+ति= ष्ठीवति ।

काशिका में **धात्वादेः सः षः** (6.1.64) पर **'ष्ठिवु' इत्यस्य द्वितीयस्थकारष्ठकारश्चेष्यते । तेन 'तेष्ठीव्यते', 'टेष्ठीव्यत' इति चाभ्यास-रूपं द्विधा भवति** ('ष्ठिवु धातु का दूसरा वर्ण थकार है, तथा ठकार है, यह अभिमत है । फलतः यङ् में द्वित्व होने पर 'तेष्ठीव्यते' और 'टेष्ठीव्यते') तथा (यह अभ्यास का रूप दो प्रकार से होता है) लिखा है । दीक्षितजी ने काशिका के **च** को **वा** में बदल दिया है । भाष्य को देखते हुए **च** ही उचित है ।

यदि √ष्ठिव् के द्वितीय वर्ण को मूलतः थकार (√ष्थिव्) माना जाए, तो अभ्यास में **शर्पूर्वाः खयः** लगने से खय् (थ्) शेष रहेगा । फलतः लिट् में ति+ष्थिव्+अ, **ष्टुना ष्टुः** से थकार को टकार : ति+ष्ठिव्+अ, इ को लघूपध गुण : तिष्ठेव रूप बनता है । इसी प्रकार अभ्यास के अन्य स्थलों (सन्, यङ्) में तकारवान् ही रूप सिद्ध होंगे, 'टुष्ठ्यूषति' इत्यादि टकारवान् प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे । परन्तु उपलब्ध दोनों ही प्रकार के प्रयोग होते हैं । अतः √ष्ठिव् में थकार तथा टकार दोनों वर्ण इष्ट हैं, यह मानना उचित है । भगवान् भाष्यकार ने भी इस सूत्र पर **'ष्ठिवेरपि द्वितीयो वर्णष्ठकारः । यदि ठकारः ? तेष्ठीव्यते इति न सिद्ध्यति । एवं तर्हि थकारः । यदि थकारः ?**

54 √जि जये ॥ 36 ॥ अयमजन्तेषु पठितुं युक्तः । जय = उत्कर्ष-

54 √जि जय अर्थ में है ॥ 36 ॥ इसे स्वरांत धातुओं में देना उचित है ।

टुष्ठ्यूषति, टेष्ठीव्यते इति न सिद्ध्यति । एवं तर्हि द्वाविमौ ष्ठिवू, एकस्य द्वितीयो वर्ण-ष्ठकारोऽपरस्य थकारः ।' लिखा है ।[1] अतः लिट् में क्रमशः थकार तथा ठकार के शेष रहने से 'तिष्ठेव' एवं 'टिष्ठेव' ये दो रूप बनते हैं । अतुस् आदि में भी 'तिष्ठिवतुः', 'टिष्ठिवतुः' इत्यादि दो-दो रूप होंगे :

तिष्ठेव	तिष्ठिवतुः	तिष्ठिवुः	टिष्ठेव	टिष्ठिवतुः	टिष्ठिवुः
तिष्ठेविथ	तिष्ठिवथुः	तिष्ठिव	ठिष्ठेविथ	टिष्ठिवथुः	टिष्ठिव
तिष्ठेव	तिष्ठिविव	तिष्ठिविम	टिष्ठेव	टिष्ठविव	टिष्ठिविम

आशीर्लिङ् में √ष्ठिव्+यात्, **हलि च** से दीर्घ : ष्ठीव्यात् । लुङ् में अष्ठेवीत्, अष्ठेविष्टाम् । लृङ् में अष्ठेविष्यत् । √ष्ठिव्+ल्युट्, **युवोरनाकौ** से 'यु' को 'अन' : ष्ठिव्+अन, लघूपध गुण : ष्ठेवनम् । **ष्ठीवनासृक्शकृन्मूत्ररेतांस्यप्सु न निक्षिपेत्**[2] में प्रोक्त **ष्ठीवन** पृषोदरादित्वाद् दीर्घ होने पर बनता है ।[3]

54 √**जि** 'जय' अर्थ में है । **ऊदुदन्तैयौ ति०** (अनिट्कारिका 1) में पर्युदस्त धातुओं में परिगणित न होने से यह धातु अनिट् है ।[4] इसका यहाँ पाठ निम्न कारणों

---

1. म० भा० 6.1.64, वा० 1, पृष्ठ 360 ।
2. या० स्मृ० 1.137 । तुलनीय म० स्मृ० 4.56 : **नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।**
3. मा० धा० वृ० । वस्तुतः यह समाधान **'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'** न्याय से ठीक है । आचार्य चंद्रगोमी ने इस स्थिति से बचने के लिए एक सूत्र बनाया है—**ष्ठिवु-सिवोर्दीर्घश्च** (1.3.98) । इसमें 'च' से गुण भी विहित है । इस प्रकार 'ष्ठीवनम्', 'ष्ठेवनम्' उनके यहाँ तंत्रतः ही शुद्ध हैं । तुलनीय क्षी० त० 1.373 तथा पा० टि० 3.
4. क्षीरस्वामी का कहना है कि यह धातु लक्ष्यों में इड्रहित ही उपलब्ध होती है । इससे सूचित होता है कि वे इसे उदात्तों के मध्य पाठ के कारण सेट् मानते हैं । श्री यु० मी० (पृष्ठ 83, पा० टि० 5) ने इस पर अपना मत प्रकट किया है कि उदात्तों में पाठ से 'जयिता' तथा लोक में उपलब्ध होने के कारण 'जेता' इस प्रकार सेट् तथा अनिट् दोनों प्रकार के रूप साधु हैं । पर यह उचित नहीं है : **'ऊदुदन्तैः'** आदि कारिका में अपठित होने से √जि कथमपि उदात्त नहीं हो सकती । यह कारिका प्रामाणिक नहीं है, यह श्री मीमांसक जी शायद ही कह सकें,

से संदिग्ध है : (क) यह धातु-वर्ग हलंत तथा सेट् धातुओं का है, जबकि यह अजंत और अनिट् है; (ख) 'अभिभव' अर्थ में इसे आगे अनिट् स्वरांतों के मध्य दिया है : 29.45 **जि, 46 ज्रि अभिभवे**; (ग) अर्थ-निर्देश भी यहाँ के स्व-शब्द 'जय' की अपेक्षा वहाँ का 'अभिभव' ही अधिक स्पष्ट है। अतः इस धातु का यहाँ पाठ उचित नहीं है। क्षीरस्वामी के अनुसार लक्ष्यों में अनिट् के रूप में उपलब्ध होने से कौशिक ने इसे यहाँ नहीं दिया है।[1]

इस धातु का यहाँ पाठ क्षीरस्वामी से पूर्व हो चुका था। उन्होंने तथा मैत्रेय, देव और सायण ने जैसे-तैसे इसके यहाँ पाठ का औचित्य बतलाने की चेष्टा **स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया** न्याय से की है :

(1) क्षीरस्वामी, देव, लीलाशुकमुनि और सायण आचार्यों का कहना है कि 'जय' 'उत्कर्ष, (श्रेष्ठता पाना) अर्थ में हैं, अतः अकर्मक है, 'अभिभव' किसी को तिरस्कृत करना होता है, अतः आगे दी धातु सकर्मक है। दोनों प्रकार के अर्थों के लिये दोनों दी गई हैं।[2]

(2) मैत्रेय का कहना है कि यद्यपि यह अजंत है, तथापि अगली धातु से समानता के कारण इसे यहाँ दिया है।[3] अगली धातु √जीव् है, जो हलंत तथा सेट् ही है। उससे इसकी समानता आदि वर्ण की दृष्टि से (जकारादित्वेन) ही हो सकती है, जिसका धातु-पाठ में कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि धातु-पाठ में धातु-संकलन का आधार (1) पद, (2) सेट्ता वा अनिट्ता तथा (3) अंतिम वर्ण, इन तीन की समानता है; आदिवर्ण की नहीं। अतः मैत्रेय का आशय स्पष्ट नहीं है।

दीक्षित जी इन आचार्यों से सहमत नहीं हैं : 'अभिभव' के उन्होंने दो अर्थ

क्यों कि इस कारिका का परिगणन व्याघ्रभूति, पतंजलि, वामन आदि सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। अतः इस प्रसंग में श्रीक्षीरस्वामी तथा श्रीयु० मी० जी, दोनों, गलत हैं, यह स्पष्ट है।

1. क्षी० त० 1.374 : **लक्ष्येऽनिट्कोऽयम्—जेता। अत एव कौशिकोऽमुं नाध्यैष्ट, 'जि ज्रि अभिभवे' इत्यनेनैव सिद्धत्वात्।**
2. क्षी० त० : **अकर्मक-सकर्मकत्वार्थमुभयोरुपादानम्।** मा० धा० वृ० 1.554, पृष्ठ 108 : **इह जय उत्कर्ष-प्राप्तिरित्यकर्मकोऽयम्। यस्त्वग्रेऽभिभवार्थे, स सकर्मक :।** देव 13-14 तथा इसपर पुरुषकार भी देखें। पुरुषकार में इस विषय पर अधिक विचार किया गया है।
3. मा० धा० वृ० 1.554 : **अत्र मैत्रेय 'उत्तर-धातु-सादृश्यानुरोधेनाजन्तोऽप्यत्र निर्दिश्यत' इति।**

प्राप्तिः। अकर्मकोऽयम्। जयति। 2331 सन्-लिटोर्जेः (7.3.57)—जयतेः सन्-लिण्निमित्तो योऽभ्यासः, ततः परस्य कुत्वं स्यात्। जिगाय, जिग्यतुः;, 'जय' माने उत्कृष्ट होना है। यह अकर्मक है। जयति। 2331 √जि का सन् और

बताये हैं—(क) न्यून करना तथा (ख) न्यून होना। अतः वहीं पाठ में यह प्रयोग के अनुसार सकर्मक भी है और अकर्मक भी। जहाँ तक 'उत्कर्ष' का प्रश्न है, वह 'न्यूनीकरण' अर्थ में ही समाहित है, यदि न्यून की जाने वाली वस्तु (कर्म) को कहा न जाये, तो 'उत्कर्ष' अर्थ आ जाता है, वही धातु अकर्मक हो जाती है। अतः सकर्मकता और अकर्मकता के लिये दो जगह कहना अपेक्षित नहीं है। इसीलिये उन्होंने यहाँ स्पष्टतः कहा है कि इसका पाठ अजंतों में करना उचित है। इसके अतिरिक्त यही भेद यदि रखना होता, तो इसे आगे 29.45 **ञि अभिभवे**, 46 **जि जये च** के रूप में भी रखा जा सकता था।[1]

2331 **सन्लिटोर्जेः (7.3.27)**—अभ्यासाच्च (55), चजोः कु घिण्ण्यतोः (52) :: सन्लिटोः 7.2 जेः 6.1 अभ्यासात् 5.1 कु (लुप्त-प्रथमाविभक्तिक)। यहाँ 'सन्लिटोः' में निमित्तार्थक सप्तमी है। सन् तथा लिट् को पर निमित्त मान कर होने वाले द्वित्व में ही यह सूत्र लागू होगा। धातु के अभ्यास के अनंतर जकार ही है, अतः 'अभ्यासात्' से 'अभ्यास के बाद स्थित (जकार) को' अर्थ स्वतः प्राप्त होता है :[2] सन्लिटोः अभ्यासत्परस्य जः कु—सन् तथा लिट् को पर निमित्त मान कर होने वाले अभ्यास से परे स्थित जकार को कुत्व (गकार) होता है। 'कु' लुप्त-प्रथमा-विभक्तिक है।

यहाँ 'सन्लिटोः' में यदि परसप्तमी ही मानी जाये, तो 'सनि लिटि च परतः जेः अभ्यासात् कु' (सन् तथा लिट् परे रहते पूर्ववर्ती √जि के अभ्यास से परवर्ती को कुत्व होता है) अर्थ होता है। फलतः 'जेजयिषति' (√जि से यङ्लुक् फिर सन्, √जि+इष+) में धातु के अनंतर 'सन्' है। प्रत्यय-लक्षण से जि को यङन्त मानकर **सन्यङोः** से द्वित्व : जि+जि+इस। जि का अभ्यास सन्परक है; अतः कुत्व होना चाहिए। परंतु यह लक्ष्य-दृष्ट्या उचित नहीं है। अतः पर सप्तमी न मान कर निमित्तसप्तमी माननी चाहिए, यह आचार्य सायण कहते हैं। जेजयिषते में अभ्यास का निमित्त सन् नहीं, अपितु यङ् है। अतः यहां सायण की व्याख्या मानने पर कुत्व प्राप्त ही नहीं है। इस

---

1. श्रीकृष्णलीलाशुकमुनि ने इस प्रकार के पाठ की चर्चा करके उसे चिंत्य जिस आधार पर बताया है, वह दुर्बल है। पुरुषकार, पृष्ठ 22.
2. **'तस्मादित्युत्तरस्य'** (1.1.67) से **'अभ्यासात्'** की पंचमी से **'उत्तरस्य'** अर्थ आता है।

जिग्युः; जिगयिथ, जिगेथ; जिगाय/जिगय, जिग्यिव, जिग्यिम; जेता; जीयात्; अजैषीत्।

55 जीव प्राण-धारणे ॥ 37 ॥ जिजीव। 56 पीव, 57 मीव, 58 तीव,

लिट् के निमित्त से हुआ जो अभ्यास है, उसके बाद स्थित वर्ण को कवर्ग आदेश हो जाए।

55 √जीव् प्राणों को धारण करना (जीना) अर्थ में है ॥ 37 ॥ 56 √पीव्, 57 √मीव्, 58 √तीव्, 59 √नीव् मोटा होना अर्थ में हैं ॥ 38 ॥ 60 √क्षीव्,

---

लिए काशिका में इस सूत्र की **सनि लिटि च प्रत्यये जेरङ्गस्य योऽभ्यासस्तदुत्तरस्य कवर्गादेशो भवति** वृत्ति चिंत्य है।

यहां 'जेः' पद से 'जि' इस रूप में धातुपाठ में प्रतिपदोक्त धातु ही सूत्रकार को इष्ट है, **ज्या वयोहानौ'** (क्र्या०) से लिट् में **वचि-स्वपि-यजादीनां किति** (6.1.15) तथा **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** (11) से सम्प्रसारण होने पर लाक्षणिक 'जि' के अभ्यास से परे कुत्व **लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्** (प० 114) के कारण नहीं प्राप्त होता।

जिगाय—√जि+अ, 'जि' को द्वित्व, पूर्व 'जि' की अभ्यास संज्ञा, जि+जि+अ। **सन्लिटोर्जेः** से अभ्यासोत्तर 'जि' के जकार को कुत्व : जि+गि+अ। **अचो ञ्णिति** से वृद्धि जि+गै+अ, ऐ को आय् : जिगाय।

जिगयिथ, जिगेथ—जि+जि+थ, वलादि-लक्षणक इट् का **एकाच उपदेशे०** से निषेध, **कृ-सृ-भृ-वृ०** से प्राप्त नित्य इट् का **अचस्तास्वत्थ०** से निषेध होने पर भारद्वाज-नियम से वा इट् : जि+जि+इ+थ। **सार्वधातु०** से गुण, अय् : जि+जय्+इ+थ; कुत्व : जिगयिथ। इडभावपक्ष में जिगेथ।

वस्, मस् में क्रादिनियम से नित्य इट्, **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् : जिग्यिव, जिग्यिम।

जेता; जेष्यति; जयतु; अजयत्; जयेत्; जीयात्—आशीर्लिङ् में जि+यात्, **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ : जीयात्। अजैषीत्—इट् का निषेध होने पर **सिचि वृद्धिः०** से वृद्धि, अजैष्टाम्, अजैषुः; अजेष्यत्।

55 **√जीव्** धातु जीना अर्थ में अकर्मक है। जीवति; जिजीव; जीविता; अजीवीत्। जीवञ्जीवः=चकोर। जीवातुः=जिलाने वाली औषध। जैवातृकः=चाँद। जीविका, आजीवः=रोजी, रोजगार, वृत्ति। जीवः=जीव (जीने वाला)। जीवितम्=जीना, जीनेका साधन प्राण। जीवनम्।

56 **√पीव्, 57 √मीव्, 58 √तीव्, 59 √नीव्** (णोपदेश)—ये धातु पीवर

59 णीव स्थौल्ये ॥ 38 ॥ पिपीव; मिमीव; तितीव; निनीव। 60 क्षीवु, 61 क्षेवु निरसने ॥ 39 ॥ 62 उर्वी, 63 तुर्वी, 64 थुर्वी, 65 दुर्वी, 66 धुर्वी, 67 गुर्वी हिंसाऽर्थाः ॥ 40 ॥ ऊर्वांचकार—'उपधायां च' (2265) इति दीर्घः। तुतूर्व। 67 गुर्वी उद्यमने ॥ 41 ॥ गूर्वति; जुगूर्व। 68 मुर्वी बन्धने ॥ 42 ॥ 69 पुर्व, 70 पर्व, 71 मर्व पूरणे ॥ 43 ॥ 72 चर्व अदने ॥ 44 ॥ 73 भर्व

61 √क्षेव् फेंकना अर्थ में हैं ॥ 39 ॥ 62 √उर्व्, 63 √तुर्व्, 64 √थुर्व्, 65 √दुर्व्, 66 √धुर्व्, 67 √गुर्व् हिंसा अर्थ में हैं ॥ 40 ॥ ऊर्वांचकार—'उपधायां च' (2265) से दीर्घ होता है। 67 √गुर्व् उठाना, ऊपर करना अर्थ में है ॥ 41 ॥ 68 √मुर्व् बाँधना अर्थ में है ॥ 42 ॥ 69 √पुर्व्, 70 √पर्व्, 71 √मर्व् भरना (पूरना) अर्थ

होना, मोटा होना अर्थ में अकर्मक हैं। क्षीरस्वामी के अनुसार **पीव, मीव, नीव, तीव स्थौल्ये** पाठ है। णोपदेशकारिका के विरुद्ध होने से **नीव** उपेक्ष्य है। पीवन्ः=पुष्ट; पीवरः=मोटा; मीवरः=मानी। तीवरः=निषाद। नीवरः=पूंजी लगाने वाला बनिया (—सायण)। नीविः, नीवी=मूलधन, पूंजी, रोकड़; नाड़ा, स्त्री का कमरबन्द —**नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः, शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि।**

60 √**क्षीव्** तथा 61 √**क्षेव्** धातु फेंकना, हटाना, छोड़ना, निरसन अर्थ में सकर्मक हैं। क्षीवति—दीर्घोपघ होने से गुण नहीं होता। क्षीरस्वामी केवल **क्षीव निरसने** पाठ ही मानते हैं। मा० धा० वृ० में केवल **क्षीवु** उपलब्ध होता है। चंद्रगोमी क्षीरस्वामी की सूचना के अनुसार **क्षिवु**, तो मा० धा० वृ० की सूचना के अनुसार **क्षेवु** मानते हैं। मैत्रेय ने √**क्षीव्** को माना ही नहीं है।

62 √**उर्व्**, 63 √**तुर्व्**, 64 √**थुर्व्**, 65 √**दुर्व्** तथा 66 **धुर्व्** ये पाँच (ईदित्) धातु हिंसार्थक तथा सकर्मक हैं। सब में **उपधायाञ्च** (2265) से उ को दीर्घ। √ऊर्व्+लिट् में **इजादेश्च गुरुमतो०** से आम्। शेष प्रक्रिया स्पष्ट है। ऊर्वांचकार। ईदित् होने से निष्ठा में इण्निषेध : ऊर्णः, ऊर्णवान्; तूर्णः, तूर्णवान् इत्यादि। क्षीरस्वामी 64 √थुर्व् नही मानते। दुर्ग एक और धातु **जुर्वी** भी मानते हैं : जूर्णः, जूर्णवान्। 67 √**गुर्व्** (ईदित्) हिंसा, ढोना, उठाना, अर्थ में सकर्मक है। गूर्वति, जुगूर्व। गूः, गूर्णः, गूर्णवान्। क्षीरस्वामी 'उद्यमे' अर्थ मानते हैं। 68 √**मुर्व्** (ईदित्) धातु बाँधना अर्थ में सकर्मक है। मूर्वति इति मूर्वा, एक खास तरह की घास। मौर्वी=मूर्वा की बनी धनुष् बाँधने की डोरी। मूर्णः; मूर्णवान्। 69 √**पुर्व्**, 70 √**पर्व्**, 71 √**मर्व्** धातु पूरना, भरना अर्थ में सकर्मक, सेट् हैं। मा० धा० वृ० में √**फर्व्** भी उपलब्ध होती है। पूः=पुरी। पूर्वं=दिग्विशेष, पूर्वः=पहला। पर्वन्= पोरुवा, उत्सव, खंड। निरुक्त (1.20) में इसका निर्वचन √पृ से किया है। इससे सूचित होता है कि √पर्व् धातु प्राचीन नहीं है, अपितु 'पर्वन्' आदि शब्दों के आधार

हिंसायाम् ॥ 45 ॥ 74 कर्व, 75 खर्व, 76 गर्व दर्पे ॥ 46 ॥ 77 अर्व, 78 शर्व, 79 षर्व हिंसायाम् ॥ 47 ॥ आनर्व; शर्वति; सर्वति ।

80 इवि व्याप्तौ ॥ 48 ॥ इन्वति; इन्वांचकार । 81 पिवि, 82 मिवि, 83 णिवि सेचने ॥ 49 ॥ 'तृतीयो मूर्धन्योष्मादि'रित्येके । 'सेवने' इति तरङ्गिण्याम् । पिन्वति; पिपिन्व । 84 हिवि, 85 दिवि, 86 धिवि, 87 जिवि में हैं ॥ 43 ॥ 72 √चर्व् खाना (चबाना, चाबना) अर्थ में है ॥ 44 ॥ 73 √भर्व् मारना अर्थ में है ॥ 45 ॥ 74 √कर्व्, 75 √खर्व्, 76 √गर्व् घमंड करना अर्थ में हैं ॥ 46 ॥ 77 √अर्व्, 78 √शर्व्, 79 √सर्व्, हिंसा अर्थ में हैं ॥ 47 ॥

80 √इन्व् व्याप्त होना अर्थ में है ॥ 48 ॥ 81 √पिन्व्, 82 √मिन्व्, 83 √निन्व् सींचने में हैं ॥ 49 ॥ 'तीसरी धातु आदि में मूर्धन्य ऊष्ण वर्ण वाली है', यह कुछ लोग मानते हैं। 'सेवन अर्थ में है' यह क्षीरतरंगिणी में कहा है। 84 √हिन्व्, 85 √दिन्व्, 86 √धिन्व्, 87 √जिन्व् प्रसन्न तृप्त करना अर्थ वाली हैं ॥ 50 ॥

पर कल्पित की गई है। पर्वतः=पर्वों (चोटियों) वाला (पहाड़), आकाश मण्डल को भरतासा खड़ा होता है। यास्क ने (1.20 में) पर्वन्+त (मत्वर्थीय) व्याख्या की है।

72 √**चर्व्** धातु चबाना अर्थ में सकर्मक, सेट् है। चार्वाकः=खाने-पीने, मौज-मज़ा करने को ही परम लक्ष्य मानने वाला दार्शनिक। 73 √**भर्व्** हिंसा करना अर्थ में सकर्मक, सेट् है। भर्वः=रुद्र। 74 √**कर्व्**, 75 √**खर्व्** 76 √**गर्व्** अभिमान, गरूर करना अर्थ में अकर्मक, सेट् हैं। क्षीरस्वामी 74 √ **कर्व्** नहीं मानते। 77 √**अर्व्**, 78 √**शर्व्**, 79 √**सर्व्** (षोपदेश) धातु हिंसा करना अर्थ में सकर्मक, सेट् हैं। आनर्व —**अत आदेः** से दीर्घ, **तस्मान्नुड् द्विहलः** से नुट्। क्षीरस्वामी √**सर्व्** नहीं मानते। शर्वः=शिव। सर्वः=सब। ये क्रमशः √**श्रु**, √**सृ** से उणादि व से निष्पन्न हो सकते हैं।

80 √**इव्** (इदित्) धातु फैलना अर्थ में सकर्मक है। इदित् होने से नुम्: √इन्व्। धातु के झलंत न होने से 'न्' को अनुस्वार नहीं होता। इन्वाञ्चकार। इन्वकाः=मृगशिरा नामक 5 ताराओं का पुञ्ज। **विश्वं स धत्ते द्रविणं, यमिन्वसि** (ऋ० 5.28.2)। 81 √**पिन्व**, 82 √**मिन्व**, 83 √**निन्व** (णोपदेश) सींचना अर्थ में सकर्मक सेट् हैं। तीसरी धातु मूर्धन्योष्मादि (**षिवि**) है, यह कुछ लोग मानते हैं। क्षीरस्वामी **निवि** (नोपदेश) मानते हैं। उपलब्ध क्षी०त० में **'सेचने'** अर्थ है, तथा **'सेवन इत्येके'** लिखा है। सायण तथा दीक्षितजी के मत में क्षी०त० में ही 'सेवने' अर्थ-निर्देश है। मैत्रेय धातु तो मूलोक्त ही मानते हैं, पर अर्थ 'स्रंसने' मानते हैं।

84 √**हिन्व्**, 85 √**दिन्व्**, 86 √**धिन्व्**, 87 √**जिन्व्** प्रसन्न करना, तृप्त करना, धपाना अर्थ में सकर्मक, सेट् हैं। का० के अनुसार **दिवि** नहीं है। न्यास

प्रीणनार्थाः ॥ 50 ॥ हिन्वति ; दिन्वति । 2332 धिन्वि-कृण्व्योर च (3.1.80)— अनयोरकारोऽन्तादेशः स्याद् उ-प्रत्ययश्च शब्विषये । अतो लोपः (2308); तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपध-गुणो न; उ-प्रत्ययस्य पित्सु गुणः—धिनोति, 2332 √धिन्व् और √कृण्व् के अंतिम वर्ण को 'अ' आदेश हो और उ प्रत्यय (हो) शप् के विषय में। 'अतो लोपः' (2308) से लोप; उसे स्थानिवद्भाव होने के कारण 'पुगन्त-लघूपधस्य च' (2189) से लघु उपधा वाले अंग को होने वाला गुण नहीं होता;

(6.4.106) के अनुसार **जिवि** नहीं है। क्षीरस्वामी **हिवि** के स्थान पर **इवि** को ही मानते हैं। मैत्रेय, चंद्र तथा सायण **हिवि** ही मानते हैं। क्षीरस्वामी के अनुसार धातु-सूत्र में **'जिवि'** धातु **'दिवि'** से पूर्व है।

2332 **धिन्वि-कृण्व्योर च** (3.1.80)—सार्वधातुके यक् (67), कर्तरि शप् (68)। प्रकृत सूत्रपठित 'च' से **तनादि-कृञ्भ्य उः** (79) से 'उः' का अनुकर्षण होता है : धिन्विकृण्व्योः अ, उः च कर्तरि सार्वधातुके।

'धिन्वि-कृण्व्योः' 6.2 √धिन्व्, √कृण्व् से धातुनिर्देशार्थक इक्प्रत्ययांत का स्थान-षष्ठ्यन्त रूप है। षष्ठी के कारण **अलोऽन्त्यस्य** (1.1.52) से 'अन्त्यस्य अलः' आता है। 'अ' लुप्तप्रथमा-विभक्तिक है। 'उ' विकरण प्रत्यय है तथा शप् का अपवाद है, अतः **प्रत्ययः** (3.1.1), **परश्च** (2), **आद्युदात्तश्च** (3) पदों का विशेष्य है : धिन्वि-कृण्व्योः (अन्त्यस्य अलः स्थाने) अ (इत्यादेशः) च 'उः' (प्रत्ययः परः अनुदात्तः भवति) कर्तरि सार्वधातुके—√धिन्व् तथा √कृण्व् धातु के अंतिम अल् (व्) को अ आदेश तथा इन धातुओं से परे आद्युदात्त 'उ' प्रत्यय कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते होता है।

प्रस्तुत सूत्र तथा शब्विधायक सूत्र का विषय एक ही है, अतः दीक्षितजी ने 'शब्विषये' संक्षेपार्थ लिखा है।

आचार्य वोपदेव ने ये दोनों धातु तनादिगण में मानी हैं। फलतः, उनके मत में सूत्र में 'च' अनावश्यक है। इससे अकार अंतादेश तथा तनादि के अंतर्गत होने से 'उ' प्रत्यय करके इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। परंतु पाणिनीय तन्त्र में ऐसा न करने का प्रयोजन भाव तथा कर्म में लुङ् में **तनादिभ्यस्तथासोः** से सिच् का लुक् न होने देना है।

√धिन्व्+ति, **धिन्वि-कृण्व्योर च** से पहले 'व्' को 'अ', फिर शप् को बाध कर उ विकरण : धिन्+अ+उ+ति। **यस्मात्प्रत्यय-विधि०** से विकरण परे रहते पूर्व (धिन) की अंग संज्ञा होने पर **अतो लोपः** से 'अ' का लोप : धिन्+उ+ति। 'उ' प्रत्यय **आर्धधातुकं शेषः** से आर्धधातुक है। अलोप को **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** से स्थानि-

धिनुतिः, धिन्वन्ति। 2333 लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः (6.4.107)—असंयोग-पूर्वो यः प्रत्ययोकारः, तदन्तस्याङ्गस्य लोपो वा स्यात्, म्वोः परयोः। धिन्वः, धिनुव; धिन्मः, धिनुमः। मिपि तु परत्वाद् गुणः—धिनोमि।

पित् प्रत्यय बाद में रहते उ प्रत्यय को गुण होता है। धिनोति। 2333 बाद में म्, व् होने पर उस अंग का लोप विकल्प से हो जाए, जिसके अंत में प्रत्यय का वह उ है, जिससे पहले संयोग नहीं है। धिन्वः, धिनुव; धिन्मः, धिनुमः। मिप् में तो पर होने के कारण

वद्भाव होता है। फलतः 'धिन्' लघूपध अंग की उपधा को **पुंगन्त-लघूपधस्य च** से गुण नहीं हो सकता ? धिन्+उ+ति। 'ति' को परनिमित्त मानकर 'उ' को **सार्वधातुकार्ध०** से गुण हो जाता है : धिनोति। इसी प्रकार सिप् तथा मिप् में धिनोषि, धिनोमि। अपित् 'तस्' आदि में 'तस्' आदि के **सार्वधातुकपित्** से ङिद्वत् होने से **क्ङिति च** से गुण-निषेध : धिनुतः। धिनु+अन्ति, **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से 'उ' को यण् : धिन्वन्ति। धिनुथः, धिनुथ।

शंका : एक ही सूत्र से विहित 'अ' अंतादेश तथा 'उ' विकरण **एक-योग-निर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः** (प० 18) से युगपत् होते हैं। पौर्वापर्य से न होने से आर्धधातुक प्रत्यय (उ) के उपदेशकाल में (अकार अंतादेश के न हुआ होने से) अदन्त अंग नहीं है। अतः लोप प्राप्त नहीं होता।

उत्तर : साक्षाद् 'अ' का उपादान करने से अकार अंतादेश पहले होता है फिर 'च' से अनुकृष्ट 'उ' प्रत्यय होता है।[1] अतः **एकयोग०** परिभाषा यहाँ लागू नहीं होती।

व् को 'अ' अंतादेश तथा फिर उसका लोप करने से यद्यपि सीधे 'व्' का लोप कर देने में लाघव है, पर ऐसा करने पर √धिन् की उपधा को लघूपध गुण प्राप्त होता है। यह इष्ट नहीं है। अल्लोप करने पर उसके स्थानिवद्भाव से इगंत उपधा न रहने के कारण गुण प्राप्त ही नहीं होता।[2] अतः **फलवद् गौरवमपि न्याय्यम्** न्याय से अंतादेश-पूर्वक लोप ही इष्ट है।

2333 लोपश्चास्यान्यतरस्याम् म्वोः (6.4.107)—संयोग जिससे पूर्व नहीं है, इस प्रकार का जो प्रत्यय का उकार, उसे अंत में रखने वाले अंग का विकल्प से लोप हो जाए, म् व् परे रहते।

---

1. वृ०श०शे० : **श्रुत-क्रमानुरोधात् पूर्वमकारादेशः। चानुकृष्टत्वेन पश्चात्प्रत्ययः। अत एवार्धधातुकोपदेशेऽकारान्तत्वाल्लोपः सिद्ध्यति।**
2. म०भा० : **लोपे सति गुणः प्रसज्येत। अत्वे पुनः सति अकार-लोपस्य स्थानिवद्भावाद् गुणो न भविष्यति।**

यहाँ 'अस्य' 6.1 में षष्ठी 'लोपः' कृदन्त शब्द के कर्म में **कर्तृ-कर्मणोः कृति** (2.3.65) से है। 'अस्य' में 'इदम्' शब्द से अष्टाध्यायी में पिछले **उतश्च प्रत्ययादसंयोग-पूर्वात्** सूत्र के विशेष्य का परामर्श होता है। उस सूत्र का अर्थ, जैसा कि आगे बतलाया जायेगा, 'असंयोग-पूर्वको य उत्, तदन्त-प्रत्ययान्तादङ्गात्परस्य हेर्लुग्भवति' है। इस प्रकार के अंग के बाद मकार-वकारपरक 'हि' उपलब्ध नहीं है, अतः असंभव दोष से 'अस्य' 6.1 से 'हेः' 6.1 का परामर्श नहीं होगा। अतः 'असंयोगपूर्वको य उत्, तदन्त-प्रत्ययान्तादङ्गात्' का ही परामर्श होगा। और वह (अङ्गात्) 'अस्य' के अनुकूल षष्ठ्यंत (अङ्गस्य) में बदल जायेगा : अस्य (=असंयोगपूर्वको य उत्, तदन्त-प्रत्ययान्तस्य) अङ्गस्य।

प्रस्तुत सूत्र में 'लोपः' 1.1 विधेय पद है। 'अङ्गस्य' के षष्ठी-निर्देश से **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा से 'अन्त्यस्य', 'अलः' पद उपस्थित होते हैं : अस्य अङ्गस्यान्त्यस्य अलः लोपः।

'अंग' से 'प्रत्यये' का आक्षेप होता है। सूत्रोक्त 'म्वोः' 7.2 पद उसका विशेषण है, अतः तदादि-विधि होती है : म्वाद्योः प्रत्यययोः। समुचित अर्थ निम्न प्रकार से होता है—

अस्य (=असंयोगपूर्वो य उत्, तदन्त-प्रत्ययान्तस्य) अङ्गस्य (अन्त्यस्य अलः) लोपः म्वादौ (प्रत्यये)—संयोग जिससे पहले नहीं है, ऐसा उत् जिसके अंत में है, इस प्रकार का प्रत्यय जिसके अंत में है, उस अंग के अंतिम अल् का लोप होता है, मकार तथा वकार जिसके आदि में है, ऐसा प्रत्यय परे रहते।

यहाँ **चिणो लुक्** (6.4.104) से 'लुक्' की अनुवृत्ति चालू रहते भी 'लोपः' के ग्रहण के दो प्रयोजन हैं—

(क) **प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः** (1.1.61) परिभाषा से समूचे प्रत्यय का अदर्शन लुक् कहलाता है। 'लुक्' की अनुवृत्ति करने पर समूचे प्रत्यय का अदर्शन होने से सुन्वः, सुन्मः, चिन्व; चिन्मः आदि श्नुविकरणक प्रयोगों में आपत्ति आती है। वहाँ सुवः, सुमः, चिवः, चिमः ये अनिष्ट रूप प्राप्त होते हैं। 'लोपः' ग्रहण करने पर पूर्वोक्त प्रकार से अंत्यावयव (उकार) का ही लोप होने से निर्दोष रूप बनते हैं। अतः सूक्ष्मदर्शी भगवान् सूत्रकार ने सूत्र में 'लोपः' पद रक्खा है।[1]

(ख) 'कृ+उ+वः' स्थिति में **सर्व-विधिभ्यो लुग्विधिर्बलवान्** (प० 100) से पूर्व 'उ' गुण से लोप होने पर 'कृ+वः' स्थिति में **प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम्** से लुप्त हुए 'उ' के निमित्त से 'कृ' के 'ऋ' को **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण होता है :, कर्+वः।

---

1. का० : **लुगिति वर्तमाने लोप-ग्रहणमन्त्य-लोपार्थम्**।

2334 उतश्च प्रत्ययादसंयोग-पूर्वात् (6.4.106)—असंयोग-पूर्वो यः प्रत्ययोकारः; तदन्तादङ्गात्परस्य हेर्लुक् स्यात्। धिनु। नित्यत्वादुकारलोपात् पूर्व-
गुण होता है—धिनोमि। 2334 उस अंग के पश्चात् स्थित हि का लोप हो जाए, जिसके अंत में प्रत्यय का वह उकार है, जो संयोग से पहले नहीं है। धिनु। नित्य होने

फिर **अत उत् सार्वधातुके** से 'अ' को 'उ' आदेश होने पर 'कुर्वः' रूप बनता है। यदि यहाँ 'लुक्' किया जाये, तो **न लुमताऽङ्गस्य** से प्रत्यय-लक्षण का निषेध होने से गुण नहीं हो सकेगा। 'वस्' ङित् होने से गुण का निमित्त हो नहीं सकता। अतः 'लुक्' की अपेक्षा 'लोपः' (विधेय) भगवान् सूत्रकार ने उचित ही दिया है।[1]

धिन्वः, धिनुवः—धिन+उ+वः, **अतो लोपः**, धिन्+उ+वः। अलोप के प्रत्यय-लक्षण से 'धिन्' के इ को लघूपध गुण नहीं होता। 'उ' को प्राप्त सार्वधातुक गुण का 'वस्' के ङित् होने से **किङति च** से निषेध, **लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः** से 'उ' का वा लोप : धिन्+वः=धिन्वः। लोपाभावपक्ष में धिनुवः। ऐसे ही मस् में धिन्मः, धिनुमः।

दिधिन्व, दिधिन्वतुः, दिधिन्वुः, दिधिन्विथ, दिधिन्विव, दिधिन्विम; धिन्विता; धिन्विष्यति; धिनोतु, धिनुतात्, धिनुताम्, धिन्वन्तु।

2334 उतश्च प्रत्ययादसंयोग-पूर्वात् (6.4.106)—चिणो लुक् (104), अतो हेः (105), अङ्गस्य (1), असंयोग-पूर्वाद् 5.1, उतश्च प्रत्ययात् 5.1 अङ्गस्य 6.1 हेः 6.1 लुक् 1.1 (भवति)। 'असंयोग-पूर्वात्' में बहुव्रीहि है। अविद्यमानः संयोगः पूर्वमस्मात्, इत्यसंयोगपूर्वः, तस्मात् (उतः)—संयोग जिससे पूर्व विद्यमान नहीं है (यहाँ सूत्रोक्त 'उतः' पद अन्य पदार्थ है), इस प्रकार के 'उत्' से परे। 'प्रत्ययात्' पद 'उतः' का विशेष्य है : असंयोग-पूर्वादुतः प्रत्ययात्। 'उतः' विशेषण शब्द में तदंतविधि होती है : असंयोग-पूर्वो य उत्, तदन्तात् प्रत्ययात्। प्रत्यय परे रहते पूर्व की 'अंग' संज्ञा होती है। यहाँ 'हि' प्रत्यय से पूर्व-वर्ती उदंत-प्रत्ययांत भाग 'अंग' कहलाता है। अतः यहाँ भी अंग' पद उपस्थित होता है। 'अङ्गस्य' का अन्वय 'प्रत्ययात् से होता है। इसलिए 'अंगस्य' षष्ठ्यंत से काम नहीं चल सकता। अतः 'अङ्गस्य' पद पञ्चम्यंत 'अङ्गात् में परिणत होता है। 'प्रत्ययात्' पद 'अङ्गात्' का विशेषण है। अतः तदंतविधि : प्रत्ययान्ताद् अङ्गात्। अङ्गात् की पञ्चमी से **तस्मादित्युत्तरस्य** से 'उत्तरस्य' पद उपस्थित होता है। समुच्चित अर्थ यों होता है : असंयोग-पूर्वको य उत्, तदन्त-प्रत्ययान्ताद-ङ्गात्परस्य हेर्लुग् (भवति)—संयोग जिससे पहले नहीं है, इस प्रकार का उत् जिसके

---

1. न्यास : **किञ्च 'कुर्वः' 'कुर्म' इत्यत्र गुणो लुकि सति न स्यात्, 'न लुमताऽङ्गस्ये'ति प्रत्यय-लक्षण-प्रतिषेधात्।**

अंत में है, वह प्रत्यय जिसके अन्त में है, ऐसे अंग से परे 'हि' का लुक् होता है।

'लुक् शब्द का अर्थ "प्रत्यय का 'लुक्' शब्द से भावित अदर्शन" होता है। यहाँ 'हि' से अल्समुदाय (ह्+इ=हि) इष्ट नहीं है, अपितु 'हि' स्वरूप वाला प्रत्यय इष्ट है। अतः **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा यहाँ लागू नहीं होती। फलतः समूचे प्रत्यय का अदर्शन ही अभिप्रेत है, न कि 'हि' के अंत्यावयव इकार का अदर्शन।

का० तथा मा० धा० वृ० में इससे पूर्ववर्ती **अतो हेः** सूत्र में तो अङ्गस्य का अनुवर्तन दिया है, पर प्रस्तुत सूत्र में नहीं। श्रीयुत दीक्षितजी इसे यहाँ भी मानते हैं।

यदि यहाँ 'उतः' पद को 'प्रत्ययात्' का विशेष्य माना जाये, तो 'असंयोग-पूर्वक प्रत्यय जो उत्, तदंत अंग से परे हि का लुक् होता है', अर्थ होगा। इससे श्नु प्रत्यय में इसकी प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि तब प्रत्यय 'उ' नहीं होगा, अपितु 'नु' होगा।

'अङ्गात्' पद की उपस्थिति से 'चिनु हिमम्' इत्यादि वाक्यों में 'हिमम्' के आद्यवयव 'हि' के निमित्त से इससे पूर्ववर्ती 'चिनु' की अंग संज्ञा नहीं होती। अतः यहाँ 'हि' का लोप प्राप्त नहीं होता। अन्यथा तो 'उकारांत प्रत्यय से परे 'हि' का लोप होता है,' अर्थ होने से लोप होना चाहिए।

यहाँ 'प्रत्ययात्' पद 'असंयोग-पूर्वात्' का विशेष्य नहीं है। यदि विशेष्य माना जाये, तो आप्+नु+हि' में प्रत्यय 'नु' से पूर्व संयोग नहीं है; अतः प्रस्तुत सूत्र से 'हि' का लोप होना चाहिये। इसलिये इष्ट-विरोध होता है। 'उतः' के साथ अन्वय करने से तो उकार से पूर्व यहाँ 'प्' तथा 'न्' का संयोग है, इसलिए लोप की प्राप्ति ही नहीं होती।

घिनु—√घिन्व्+लोट्, घिन्व्+सिप्, **घिन्वि-कृण्व्योर च** से 'व्' को 'अ' आदेश तथा शप् को बाध कर 'उ' प्रत्यय : घिन्+अ+उ+सि। 'उ' की आर्धधातुक संज्ञा, **अतो लोपः** से 'अत्' का लोप : घिन्+उ+सि। **सेर्ह्यपिच्च** से 'सि' को 'हि' : घिन्+उ+हि; 'हि' के **सार्वधातुकमपित्** से ङिद्वत् होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से प्राप्त गुण का **ङिति च** से निषेध। **उतश्च प्रत्ययादसंयोग०** से तातङ् के अभावपक्ष में 'हि' का लुक् : घिनु। घिनुतम्, घिनुत।

घिनवानि—'घिन+उ+मि' स्थिति में **लोपश्चास्या०** से उलोप पर होने के कारण 'आट्' तथा **मेनिः** को बाध कर प्राप्त होता है। पर **आडुत्तमस्य पिच्च** सूत्र से 'आट्' तो उकार-लोप हो, या न हो, तब भी प्राप्त होगा ही। अतः **कृताकृत-प्रसङ्गि नित्यम्** (प० 43) से **आडुत्तमस्य पिच्च** नित्य होने से **पर-नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः** (प० 39) से पर उलोप-विधि (6.4.107) से आड्-विधि (3.4.92) बलवान् है। अतः आट् होता है। तदनंतर, मकारादि प्रत्यय परे न होने से उलोप की

माट्—धिनवाव, धिनवाम । जिन्वति इत्यादि । 88 रिवि, 89 रवि, 90 धवि गत्यर्थाः ॥ 51 ॥ रिण्वति; रण्वति; धन्वति । 91 कृवि हिंसा-करण-योश्च ॥52 ॥ चकाराद् गतौ । 'कृणोति' इत्यादि धिनोतिवत् । अयं स्वादौ च ।

के कारण उ के लोप से पहले आट् होता है—धिनवाव, धिनवाम । 88 √रिण्व्, 89 √रण्व्, 90 √धन्व् गति अर्थ में हैं ॥ 51 ॥ 91 √कृण्व् हिंसा और करना अर्थों में भी है ॥ 52 ॥ 'भी' कहने से गति में है । 'कृणोति' इत्यादि रूप 'धिनोति' के समान होते हैं । यह स्वादिगण में भी है ।

प्राप्ति ही नहीं है : धिन्+उ+आमि; **मेनिः**, धिनु+आनि । अलोप के स्थानिवद्-भाव के कारण लघूपध गुण नहीं होता । **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से 'उ' को 'ओ' गुण : धिनो+आनि, अव् : धिन्+अव्+आनि=धिनवानि ।

धिनवाव, धिनवाम भी इसी तरह होते हैं ।

अधिनोत्, अधिनुताम्, अधिन्वन्; अधिनोः, अधिनुतम्, अधिनुत; अधिनवम्, अधिन्व, अधिनुव, अधिन्व, अधिनुम । धिनुयात्, धिनुयाताम्, धिनुयुः; धिनुयाः, धिनुयातम्, धिनुयात; धिनुयाम्, धिनुयाव, धिनुयाम । धिन्व्यात्; अधिन्वीत्; अधिन्विष्यत् ।

88 √रिव्, 89 √रव्, 90 √धव् (सब इदित्) धातु गति अर्थ में हैं । **इदितो नुम् धातोः** से नुम् : √रिन्व्, √रन्व्—**अट्-कु-प्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि** से न् को ण् : √रिण्व्, √रण्व । क्षीरस्वामी के धातु-पाठ में यहां **दवि** भी है । √धन्व् से 'मरु' 'धनुष्' अर्थों में 'धन्वन्' भी निष्पन्न हुआ है । **धन्वा तु मरुदेशे ना, क्लीबं चापे स्थलेऽपि च** (मेदिनीकोष) । भानुजी दीक्षित की सूचना के अनुसार मुकुटाचार्य के मत में यह धातु धातुपाठोक्त नहीं है, अपि तु सौत्र है ।[1] रिण्वति; रिरिण्व; रिण्विता; रिण्विष्यति; रिण्वतु; अरिण्वत्; रिण्वेत्, रिण्व्यात्; अरिण्वीत्, अरिण्विष्यत् ।

91 √**कृव्** (इदित्, √**कृण्व्**) हिंसा तथा करना अर्थों में भी (सकर्मक) है । 'भी' ('च') कहने से यह गति अर्थ में है, यह सायण का कथन है । उनके पूर्व काशिका और क्षी० त० में अर्थ-निर्देश में 'च' नहीं है । प्रयोगों की मात्रा की दृष्टि से यह 'करना' अर्थ में ही अधिकतम मिलती है । 'हिंसा' अर्थ तो कदाचित् 'करना' का विकास है । **एतानि वामश्विना वीर्याणि प्र पूर्व्याण्यायवोऽवोचन् । ब्रह्म कृण्वन्तो वृषणा, युवभ्यां सुवीरासो विदथमावदेम** (ऋ० 1.117.25) में √कृण्व् का प्रयोग किया गया है, तो

---

1. 'समानौ मरु-धन्वानौ' (अमर कोष 2.1.5) पर सुधा : **धन्व्यतेऽस्मात् 'धविर्गत्यर्थः सौत्र', इति मुकुटः । तन्न, दर्शनात् ।**

एतानि वामश्विना वर्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्स-मदासो अक्रन्; तानि नरा, जुजुषाणोप यातम्; बृहद् वदेम विदथे सु-वीराः (ऋ० 2.39.8) में √कृ का। **कृणोमि वश्रि विष्कन्धं मुष्का-बर्हो गवामिव** (अ० सं० 3.9.2), तथा **पिशङ्गे सूत्रे खगलं तदा बध्नन्ति वेधसः। श्रवस्युं शुष्मं काववं वश्रि कृण्वन्तु बन्धुरः** (3) में √कृण्व् कदाचित् 'हिंसा' अर्थ में है। क्योंकि प्रथम स्थल के 'कृणोमि' का पाठ-भेद विश्वबंधुजी ने 'क्षिणोमि' बताया है, जो **क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वाँ अहम्** (वा० सं० 11.72) में 'हिंसा' अर्थ में स्पष्टतः प्रयुक्त है। 'गति' अर्थ में इस धातु का प्रयोग सायण को शायद कोई मिला हो, पर हमें उपलब्ध नहीं हुआ है।

'अयं स्वादौ च।' पर विचार : स्वादिगण में **कृञ् हिंसायाम्** धातु उपलब्ध है। इससे सार्वधातुक प्रत्ययों में **स्वादिभ्यः श्नुः** से **श्नु** होकर 'कृणु' अंग होता है। श्नु शित् (अपित्) होने से **सार्वधातुकमपित्** से ङिद्वत् होता है, जिसके कारण √कृ के ऋ को **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण नहीं हो पाता, अतः सार्वधातुक प्रत्ययों में इसके रूप प्रकृत √कृण्व् के समान ही चलते हैं। अंतर केवल इतना है कि भौवादिक √कृण्व् से सिर्फ परस्मैपद प्रत्यय ही होते हैं, और कृणोति, कृण्वत् आदि ही बनते हैं, जबकि सौवादिक उभयपदी है और कृणुते, कृण्वान आदि भी बनते हैं। आर्धधातुक प्रत्ययों में दोनों के रूपों में कोई समानता नहीं है : √कृण्व्—चकृण्व, कृण्विता; √कृ—चकार, चक्रे, कर्त्ता। अतः मा० धा० वृ से उद्धृत दीक्षितजी के शीर्ष-स्थ कथन का आशय इतना ही है कि 'कृणोति' आदि सार्वधातुक रूप स्वादि गण में भी बनते हैं।

'कृञ् हिंसायाम्' (स्वा०) पर विचार : वैदिक वाङ्मय में प्रायेण 'करना' अर्थ में और कादाचित्कत्वेन 'हिंसा' अर्थ में 'कृणु' अंग का प्रयोग आत्मनेपद की अपेक्षा परस्मैपद में लगभग डेढ़ गुना हुआ है। पाणिनि के धातु-पाठ में यह अंग (1) भौवादिक √कृण्व् से विशेष व्यवस्था से—**विन्वि-कृण्व्योर च** (2332) से 'अ' अंतादेश और 'उ' विकरण करके[1]—विहित है, और (2) स्वादि में **कृञ्** धातु के पाठ से स्वादि-गणीयत्वेन सामान्य प्रक्रिया से ही विहित है। अतः यह शंका स्वाभाविक है कि वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध 'कृणु' अंग भौवादिक का है, या सौवादिक का। पद को देखते हुए—वैदिक वाङ्मय में आत्मनेपद के प्रयोग के कारण—यह सौवादिक उभयपदी का ही प्रतीत होता है; किन्तु अर्थ को देखते हुए—सौवादिक का 'हिंसा' अर्थ ही बतलाया होने से तथा वेद में प्रायेण 'करण' अर्थ में ही मिलने के कारण—यह भौवादिक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, भौवादिक के पक्ष में दो युक्तियाँ और हैं :

---

1. पाणिनि ने यह लम्बी प्रक्रिया क्यों अपनाई ? यह विचारणीय है। क्या 'चकृण्व' आदि रूप प्रयुक्त होते थे ?

92 मव बन्धने ॥ 53 ॥ मवति; मेवतुः, मेवुः, अमवीत्, अमावीत् ।

92 √मव् बाँधना अर्थ में है ॥ 53 ॥ 93 अव् (1) रक्षा करना, (2) गति,

---

(1) वेद में उपलब्ध 'कृणोति' और 'कृणुते' आदि उभयपदी रूप सौवादिक √कृ से सामान्य प्रक्रिया के अनुसार सिद्ध होते हुए पाणिनि ने पृथक् सूत्र **धिन्वि-कृण्व्योर च** (3.1.80) क्यों बनाया ? इससे सूचित होता है कि पाणिनि के धातु-पाठ में √कृञ् स्वादि में नहीं रही होगी । (2) √कृण्व् के स्पष्ट प्रयोग हमारे विचार में पैप्पलाद-संहिता में कृण्वत् (16.49.8), कृण्वतः (19.20.17), कृण्वताम् (19.41.9) एवम् कदाचित् कृण्वन् (ऋ० खिल 4.6.9, 5.5.2; पै० सं० 16.105.4) में हैं ।[1]

हम वाकर्नागल् की इस कल्पना से सहमत हैं कि 'कृणु' अंग का ही विकास 'करु' और 'कुरु' (करोति, कुरुतः) अंगों में हुआ है ।[2] वैदिक वाङ्मय में 'कृणु', 'करु' और 'कुरु' अंगों का प्रयोग मिलता है, किंतु अगले द्रो की तुलना में 'कृणु' का प्रयोग न केवल कम है, बल्कि क्रमशः कमतर होता चला गया है ।

कृणोति—√कृव् के इदित् होने से **इदितो नुम् धातोः** से नुम्, (1) **र-षाभ्यां नो णः समान-पदे** में र् के अन्तर्गत ऋकारैक-देश रेफ-सदृश के भी गृहीत होने से[3], या (2) **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** (वा०) से, न् को ण् : √**कृण्व्** ; तिप्, शप् को बाध कर **धिन्वि-कृण्व्योर च** से उ प्रत्यय तथा व् को अ आदेश : कृण् अ+उ+ति; उ की आर्धधातुक संज्ञा होने पर **अतो लोपः** से अ का लोप, उसे **अचः परस्मिन् पूर्व-विधौ** से स्थानिवद्भाव होने से ऋ को **पुगन्त-लघूपधस्य च** से गुण नहीं होता; 'कृणु+ति' स्थिति में इगंत अंग 'कृणु' के उ को **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण : कृणोति ।[4]

लिट् आदि में चकृण्व; कृण्विता; कृण्विष्यति; कृण्वतु; अकृण्वत्; कृण्वेत्; कृण्व्यात्; अकृण्वीत्; अकृण्विष्यत् । कृण्वन्, कृण्वन्तौ, कृण्वन्तः । **कृण्वन्तो विश्वमार्यम्, अप घ्नन्तो अराव्णः** (ऋ० 9.63.5) ।

92 √**मव्** बाँधना अर्थ में (सकर्मक) है । मवति, मवतः, मवन्ति । लिट् में

---

1. मूल ग्रंथ (पै० सं०) उपलब्ध न हो पाने से हम इन स्थलों में इनका अर्थ, पुरुष, वचन आदि निर्धारित नहीं कर पाए हैं । यह विचार विश्वबंधुजी के वै०प०को०, भाग 1.2, में उपलब्ध वर्गीकरण के आधार पर है ।
2. ब्रुगमान्, ए कम्पैरेटिव ग्रामर आफ दी इंडो-जर्मेनिक लैंग्वेजेज, IV, पृष्ठ 178, टि० 2, में चर्चित कुह्न का लितरातुरब्लात्, III, 55 टि० ।
3. विशेषार्थ '**कृपो रो लः**' (2350) की व्याख्या देखें ।
4. मोनियर विलियम्स् ने अपने शब्द-कोष में इस धातु पर 'कृण्वति' रूप दिया है । यह चिंत्य है : यह रूप वाङ्मय में अनुपलब्ध तो है ही, लक्षण-विरुद्ध भी है ।

93 अव- 1 रक्षण- 2 गति- 3 कान्ति- 4 प्रीति- 5-6 तृप्त्यवगम- 7 प्रवेश- 8 श्रवण- 9स्वाम्यर्थ- 10 याचन- 11-12 क्रियेच्छा- 13-15 दीप्त्यवाप्त्यालिङ्गन- 16-17 हिंसाऽऽदान- 18 भाग- 19 वृद्धिषु ॥ 54 ॥ अवति; आव; मा भवानवीत् ॥ 63 ॥

16.1 धावु गति-शुद्धयोः स्वरितेत् ॥ 1 ॥ धावति, धावते; दधाव, दधावे ॥ 64 ॥

(3) चाहना, (4) प्रसन्न होना, (5) तृप्त होना, (6) ज्ञान होना, (7) घुसना, (8) सुनना, (9) मालिक होना, (10) माँगना, (11) करना, (12) चाहना, (13) दीपना, (14) पाना, (15) लिपटना, (16) हिंसा करना, (17) लेना, (18) बंटवारा करना और (19) बढ़ना अर्थों में है ॥ 54 ॥ अवति; आव; मा भवान् अवीत् ॥ 63 ॥

अन्तस्थान्त धातु : ग. 16 : वकारांत उभय-पदी 1 धातु

16.1 √धाव् गति (दौड़ना, भागना) और शुद्धि करना (धोना) अर्थ में स्वरित वर्ण की इत्संज्ञा वाली है ॥ 1 ॥ धावति, धावते; दधाव, दधावे ॥ 64 ॥

ममाव। मव्+मव्+अतुस् स्थिति में **हलादिः शेषः** को बाध कर **अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेः०** से एत्त्व तथा अभ्यास-लोप : मेवतुः, मेवुः। मविता; मविष्यति; लुङ् में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध, **अतो हलोदेर्लघोः** से वा वृद्धिः अमावीत्, अमवीत्।

93 √अव् धातु 19 अर्थों में है। क्षी० स्वा० ने 18 अर्थ बताये हैं, 3 कांति नहीं दिया है। 17 वाँ अर्थ दान नहीं, अपितु आदान है। वोपदेव ने अंतिम चार अर्थों को गिनाते हुए **भागे, वृद्धौ, प्रहे, वधे** कहा है, जिसमें **प्रहे वधे** प्रकृत अर्थ के **हिंसादान** की व्याख्या है; अतः **हिंसादान** का छेद 'हिंसा+आदान' होता है। यह धातु 'रक्षा' अर्थ में अधिक है। अवति; आव, आवतुः, आवुः, आविथ, आवथुः, आव, आव, आविव, आविम; अविता; अविष्यति; अवतु; आवत्; अवेत्; अव्यात्; आवीत्—मा भवान् अवीत्, **वद-व्रज०** से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध। **ओतुः**=विलाव, **ऊनः**=कम, **अवीः**=रजस्वला, **अविः**=पृथिवी—**अविरासीत्** पिलप्पिला (वा० सं० 23.12), **अवनिः**=पृथिवी, **ओम्**=ओंकार, **ऊतिः**=रक्षा, **अवटः**=गड्ढा। **अव**=एक उपसर्ग।

धातु-योग : गत धातु 551; प्रकृत 41, योग 592 ॥ 63 ॥

संदर्भ : सोलहवें वर्ग में वकारांत स्वरितेत् सेट् 1 धातु देकर अन्तस्थान्तों का प्रकरण समाप्त किया है।

16.1 √**धाव्** दौड़ना, भागना अर्थ में अकर्मक तथा धोना अर्थ में सकर्मक है। यह उदात्त होने से सेट् और स्वरितेत् होने से उभय-पदी है। क्षी० त० में केवल शुद्धि

अर्थ दिया है।[1] गति और शुद्धि अर्थ मा० धा० वृ० और का० कृ० धा० में हैं। यह धातु इन दोनों अर्थों में समस्त वेद-वेदांग वाङ्मय में उभय-पद में उपलब्ध है। आत्मनेपद की अपेक्षा परस्मैपद का प्रयोग कहीं अधिक मिलता है।[2] शुद्ध्यर्थक √धाव् का क्त में इड्रहित 'धौत' रूप सर्वत्र उपलब्ध है। इट् वाला कोई रूप उपलब्ध नहीं है, क्योंकि वैदिक वाङ्मय में आर्धधातुक प्रत्यय वाला रूप केवल एक 'धौत' मिलता है। पाणिनीय तंत्र की सेट्-अनिट् व्यवस्था के अनुसार यह धातु सेट् ही अभिप्रेत है, पर अनिट् धौत की निष्पत्ति के लिये आचार्य ने इसे उदित् किया है, जिससे क्त्वा में **उदितो वा** से इड्-विकल्प से धावित्वा, धौत्वा रूप निष्पन्न होते हैं और क्त, क्तवतु में **यस्य विभाषा** से इट् के निषेध के कारण धौत तथा धौतवत् ही।

गत्यर्थ में प्रकृत √धाव् के अलावा एक अन्य स-रूप धातु √धौ सार्वधातुक (शित्) प्रत्ययों में सरकना, रेंगना, गति-सामान्य अर्थवाली √सृ के आदेश के रूप में विहित है।[3] व्याख्याताओं के अनुसार यह आदेश अर्थ-विशेष (वेग-युक्त गति, भागना,

---

1. श्री गजानन बालकृष्ण पल्सुले ने ए कं० सं० धा०, में सब के मत में 'गति' और 'शुद्धि' अर्थ बताये हैं। पर क्षी० स्वा० ने केवल 'शुद्धि' अर्थ दिया है। उसे देखते हुए यह उचित नहीं है। गति के अर्थ में क्षी० स्वा० ने √सृ के आदेश √धौ से निष्पन्न 'धावति' की चर्चा परोक्षतया की है, प्रकृत √धाव् के अर्थ के रूप में नहीं : **धावते पादौ, धावति। धावित्वा, धौत्वा; धौतः; धावकः। 'धावति' इति वेगितायां गतावाहुः।** तुलनीय का० 7.3.78 : **सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशमिच्छन्ति।** क्षी० स्वा० ने **'आहुः'** से इसी का परामर्श किया है।

2. संहिताओं में आत्मनेपदी केवल दो रूप (धावते, धावमान) मिलते हैं, जबकि परस्मैपदी 12. ब्राह्मणों में आत्मनेपदी तीन (धावते, धावन्ते, धावमान), परस्मैपदी रूप ही मिलते हैं तथा श्रौ० सू० में आत्मनेपदी तीन (धावते, धावमान, धावेत) और परस्मैपदी 9 रूप मिलते हैं। आत्मनेपदी के कुल चार रूप (धावते, धावन्ते, धावेत, धावमान) मिलते हैं; परस्मैपदी के कुल 18 (5 लट् के—धावति, धावतः, धावन्ति, धावसि, धावथः, 2 लेट् के—धावात्, धावाम्, 4 लोट् के—धावतु, धावन्तु, धाव, धावत, 4 लङ् के—अधावत्, अधावताम्, अधावन् धावन्, 2 विधि-लिङ् के—धावेत्, धावेयुः, तथा 1 शतृ का धावत्) रूप मिलते हैं।

3. अष्टा० 7.3.78 : **1 पा- 2 घ्रा- 3 ध्मा- 4 स्था- 5 म्ना- 6 दाण्- 7-8 दृश्यर्ति- 9 सर्ति- 10 शद- 11 सदां 1 पिब- 2 जिघ्र- 3 धम- 4 तिष्ठ- 5 मन- 6 यच्छ- 7-8 पश्यर्च्छ 9- धौ- 10 शीय- 11 सीदाः।**

दौड़ना) में ही इष्ट है।[1] अथात् √धौ ने √सृ को अपदस्थ नहीं किया है, बल्कि दोनों के अर्थ का निर्धारण मात्र किया है। पर, केवल सार्वधातुक प्रत्ययों में √धौ आदेश करने का और वह भी √धाव् के रहते, प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। प्राचीन वाङ्मय में आर्धधातुक प्रत्ययों में वेगित-गत्यर्थक √धाव् अंग की अनुपलब्धि तो कहीं इसका हेतु नहीं है ? पर यह धातु तो दैनिक व्यवहार की एक बहुत आम क्रिया को प्रकट करती है; अतः यह तो संभव नहीं प्रतीत होता कि आर्ध-धातुक प्रत्ययों में इसका प्रयोग ही नहीं होता हो।

हिंदी में √धाव् गति (दौड़ना) अर्थ में तत्सम नामपदों में और पुरानी हिंदी में आख्यातों में उपलब्ध है, तथा शुद्धि अर्थ में √धो के रूप में विकसित है। संस्कृत धातु वस्तुतः √धौ ही प्रतीत होती है, √धाव् रूप तो निष्ठा में इड्रहित रूप के लिए आवश्यक अनुबंध उ से सन्धि के कारण हो गया है : धौ+उ=धावु। पाणिनि द्वारा √सृ को √धाव् आदेश न करके √धौ करना भी इसी कल्पना को पुष्ट करता है। √धाव् से 'धौत' आदि औकारवान् रूप बनाने में **च्छ्वोः शूडनासिके च** (6.4.19) से व् को ऊठ् आदेश (धा+ऊ) और फिर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि एकादेश (धौ) की गौरव-युक्त प्रक्रिया भी √धाव् को मूल धातु मानने में बाधक है। वकारांतों में तो इसे संहित रूप से उत्पन्न भ्रम के कारण रख लिया प्रतीत होता है।

धावति, धावतः, धावन्ति; धावते, धावेते, धावन्ते। दधाव, दधावतुः, दधावुः; दधावे, दधावाते, दधाविरे। धावितासि; धावितासे। धाविष्यति; धाविष्यते। धावतु, धावताम्। अधावत्; अधावत। धावेत्, धावेताम्, धावेयुः; धावेत, धावेयाताम्, धावेरन्। धाव्यात्, धाविषीष्ट। अधावीत्; अधाविष्ट। अधाविष्यत्, अधाविष्यत। धावित्वा; धौत्वा; धौतः; धौतवान्।

कुछ सेट् धातु निष्ठा में अनिट् होती हैं। इस निमित्त पाणिनि ने कुछ प्रविधियाँ इस्तेमाल की हैं। उनमें से दो ये हैं : (1) उपदेश में ईदित् धातुओं से निष्ठा में इट् नहीं होता—**श्वीदितो निष्ठायाम्** (7.2.14)। जैसे—**यती प्रयत्ने** (1.29) से यत्तम्, यत्तवान्। (2) किसी धातु से यदि कहीं भी इड्-विकल्प विहित है, तो उससे निष्ठा में इट् नहीं होता—**यस्य विभाषा** (15)। जैसे—**धावु** से क्त्वा में **उदितो वा** (7.2.56) से इट् का विकल्प विहित है, तो इसका निष्ठा का रूप धौतः, धौतवान् होगा। **कृती छेदने** (तु०), **कृती वेष्टने** (रु०), **चृती हिंसा-ग्रन्थनयोः** (तु०), **उछृदिर् दीप्ति-देवनयोः** (रु०), **उतृदिर् हिंसाऽनादरयोः** (रु०), **नृती गात्रविक्षेपे** (दि०) धातुओं

---

1. का० 7.3.78 : **सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशमिच्छन्ति। अन्यत्र 'सरति', 'अनुसरति' इत्येव भवति।** तथा क्षी० त० : **'धावति' इति वेगितायां गतावाहुः।**

अथोष्मान्ताः—

(क) आत्मनेपदिनः—17.1 धुक्ष, 2 धिक्ष सन्दीपन-क्लेशन-जीवनेषु ॥ 1 ॥

ऊष्मांत धातु : क. 17 : आत्मनेपदी

अब अंत में ऊष्म वर्ण वाली—

(क) आत्मनेपदी धातुएँ (दी जा रही हैं)—

17.1√धुक्ष्, 2√धिक्ष् प्रज्वलित (तेज) करना, क्लेश देना और जिलाना

में से √कृत्, √चृत् और √नृत् से निष्ठा में इट् का निषेध (1) ईदित् होने से **इवीदितो निष्ठायाम्** (7.2.14) से, तथा (2) **सेऽसिचि कृत-चृत-छृत-तृद-नृतः** (7.2.57) से वेट् होने के कारण **यस्य विभाषा** (7.2.15) से, दोनों ही तरह, प्राप्त है। **सेऽसिचि०** से इड्-विकल्प कर्तिष्यति, कर्त्स्यति आदि को देखते हुए अवश्यविधेय है, तब **यस्य विभाषा** से निष्ठा में इट् का निषेध भी स्वतः प्राप्त है। ऐसी स्थिति में इन्हें ईदित् क्यों किया ? ईदित्त्व का प्रयोजन इण्निषेध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः इन धातुओं का ईदित्त्व यह ज्ञापित कराता है कि **यस्य विभाषा** से होने वाला इट् का निषेध अनित्य है।[1] परिणामतः √धाव् से क्त में निषेध नहीं होगा और धावितः, धावितवान् रूप भी होंगे। पर इनका अर्थ 'धोना' नहीं, अपितु 'दौड़ना' ही रूढि से ग्राह्य है। 'धोती' के लिए प्रसिद्ध 'धौत' शुद्धयर्थक से ही निष्पन्न है।

धातु-योग : गत 592, प्रकृत 1, योग 593 ॥ 64 ॥

संदर्भ—14-16वें वर्गों में 127 अंतस्थांत धातु देने के बाद 17-18वें दो वर्गों में ऊष्मांत धातु दी हैं। (क) 17वें वर्ग में 51 आत्मनेपदी धातु दी हैं। दीक्षितजी ने इनकी संख्या नहीं बताई है। क्षीरस्वामी ने संख्या 46 बताई है; क्षी० त० में 6 √क्लेश्, 18 √प्रेष्, 19 √रेष् 40 √वल्ह्, 49 √गृह् नही हैं; शेष धातुओं में भी कुछ का स्वरूप ऊपर दी धातुओं से भिन्न है, जिसकी चर्चा यथा-स्थान की जायेगी। दीक्षितजी ने मा० धा० वृ० के अनुसार पाठ दिया है। 6 √क्लेश् क्षकारांतों में, 46 √काश् हकारांतों में तथा 51 √घुंष् षकारांतों के प्रकरण को छोड़कर हकारांतों के बाद अस्थानेपतित हैं। इन 51 धातुओं केवल 2 में तालव्यांत 6 √क्लेश् तथा 46 √काश् हैं, मूर्धन्यांत 21 हैं, दन्त्यांत 9 हैं तथा शेष 19 हकारांत धातु है। ये सब धातु 37 धातु-सूत्रों में दी हैं। ये सब धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी और उदात्त होने से सेट् हैं।

1 √**धुक्ष्**, 2 √**धिक्ष्** धँधकाना, धौंकना, हवा करना, भड़काना, क्लेश

---

1. यहाँ मा० धा० वृ० तथा का० 7.2.15 पर पद-मंजरी देखें। हरदत्त ने यह तात्पर्य **'अपर आह'** कह कर दिया है, सायण ने मैत्रेय का नाम लेकर।

धुक्षते; दुधुक्षे; धिक्षते; दिधिक्षे । 3 वृक्ष वरणे ॥ 2 ॥ वृक्षते; ववृक्षे । 4 शिक्ष विद्योपादाने ॥ 3 ॥ शिक्षते । 5 भिक्ष भिक्षायामलाभे, लाभे च ॥ 4 ॥ भिक्षते । 6 क्लेश अव्यक्तायां वाचि ॥ 5 ॥ 'बाधन' इति दुर्गः । क्लेशते; चिक्लेशे । 7 दक्ष वृद्धौ, शीघ्रार्थे च ॥ 6 ॥ दक्षते; ददक्षे । 8 दीक्ष मौण्ड्येज्यो-

अर्थों में हैं ॥ 1 ॥ 3 √वृक्ष् ढँकने में है ॥ 2 ॥ 4 √शिक्ष् विद्या ग्रहण करने में है ॥ 3 ॥ 5 √भिक्ष् भीख मांगने में है, चाहे न मिले, या मिले ॥ 4 ॥ 6 √क्लेश् अस्फुट वाणी बोलने में है ॥ 5 ॥ 'बाधा देने में' यह दुर्ग कहते हैं । √दक्ष् बढ़ने और

देना, पीड़ित करना तथा जिलाना (सकर्मक), साँस आना, धड़कना (अकर्मक) अर्थ में हैं । √**धुक्ष्** प्रायः 'सम्' उपसर्ग के साथ आता है । धुक्षते, दुधुक्षे; धुक्षिता; अधुक्षिष्ट । हिंदी √धोंक् √धौंक इसी से विकसित प्रतीत होता है । धिक्षते; दिधिक्षे आदि ।

3 √**वृक्ष्** धातु ढँकना, व्यापना, घेरना अर्थ में सकर्मक है । वृक्षते; ववृक्षे; वृक्षिता; अवृक्षिष्ट । वृक्षः=पेड़ । यास्क ने वृक्ष का निर्वचन √व्रश्च् (छेदन) से किया है । लगता है यह धातु 'वृक्ष' शब्द से ही कल्पित की गई है ।

4 √**शिक्ष्** धातु विद्याग्रहण करना (सीखना) अर्थ में सकर्मक है । शिक्षते उपाध्यायात् (गुरु से पढ़ता है) । भाषा-वैज्ञानिक लोग इसे सामर्थ्यार्थक √शक् से स्वार्थे सन् से निष्पन्न मानते हैं । सिखाने में दण्ड के उपयोग के कारण मराठी, गुजराती में 'शिक्षा' दण्ड में रूढ है ।

5 **भिक्ष्** भिक्षा, मिले या न मिले (केवल मांगना, भीख माँगना) अर्थ में सकर्मक है । श्रीज्ञानेन्द्रसरस्वतीजी ने **याच्ञा-लाभालाभास्त्रयोऽर्थाः** (याचना करना, मिलना, तथा ना मिलना ये तीन अर्थ हैं) लिखा है । श्रीक्षीरस्वामी जी ने **क्लेशे च व्यक्तायां वाचि** पाठ भी माना है । उनके अनुसार √भिक्ष् धातु के पांच अर्थ होते हैं, जिनका पृथक् से निर्देश देश-भेद से भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रसिद्धि के कारण किया है ।

6 √**क्लेश्**, चंद्र, दुर्ग, मैत्रेय तथा संमता-कार आदि इसे पृथक् धातु मानते हैं । चंद्र के मत में यह भाषण अर्थ में है । दुर्ग तथा का० कृ० : बाधन में, सायण अस्फुट आवाज निकालना अर्थ में तो देव व्यक्त वाणी अर्थ में मानते हैं । पुरुषकार ने **क्लेश व्यक्तायां वाचि** कहा है । क्लेशते; चिक्लेशे; क्लेशिता; अक्लेशिष्ट । क्लेशः= दुःख, पीड़ा, कष्ट । हिन्दी में यह तत्सम (क्लेश) और तद्भव (कलेश) नामपदों में दोनों तरह प्रयुक्त है । हिंदी √किलस् इसी से विकसित है ।

इसका वर्णक्रम के अनुसार उचित स्थान इस वर्ग के आदि में है । षकारांतों के मध्य किस प्रयोजन से दिया है, यह स्पष्ट नहीं है ।

7 √**दक्ष्** बढ़ना और शीघ्रता करना अर्थों में है । यास्क ने इन दोनों अर्थों को

पनयन-नियम-व्रतादेशेषु ॥ 7 ॥ दीक्षते; दिदीक्षे। 9 ईक्ष दर्शने ॥ 8 ॥ ईक्षाञ्चक्रे।

जल्दी करना अर्थ में है ॥ 6 ॥ 8 √दीक्ष् मुंडन, यज्ञ करना, यज्ञोपवीत धारण करना, नियमों और व्रतों का आदेश करना (दीक्षा देना) अर्थों में है ॥ 7 ॥ 9 √ईक्ष् देखने में है ॥ 8 ॥

क्रमशः 'समृद्ध करना' तथा 'उत्साह करना' कहा है : **दक्षिणा दक्षतेः समर्धयति-कर्मणः। ···दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साह-कर्मणः** (निरुक्त 1.7)।

8 √**दीक्ष्** मूँडना (सकर्मक), मूँड मुँडाना (अकर्मक), यज्ञ पर बैठना, (अकर्मक), यज्ञ के लिये दीक्षित करना (सकर्मक), ब्रह्मचर्य (विद्याध्ययन) के निमित्त यज्ञोपवीत लेना तथा लिवाना, विधिनिषेधात्मक नियम धारण करना, व्रत लेना, व्रत के निमित्त से दीक्षित होना तथा (धर्मसंबंधी) आदेश देना अर्थों में प्रयोगानुसार अकर्मक तथा सकर्मक है। दीक्षते; दिदीक्षे; अदीक्षिष्ट। दीक्षा। दीक्षितः।

क्षी० स्वा० का कहना है कि कुछ लोग यहाँ दो धातुसूत्र मानते हैं—**दीक्ष मौण्ड्ये। ज्योपनयन-नियम-व्रतादेशेषु।** फलतः √ज्या एक अतिरिक्त धातु उनके मत में है। ज्याते[1]। परंतु यह धातुसूत्र की अनुचित खेंचतान ही प्रतीत होती है : (1) हलंतों में स्वरांत अनुचित है; (2) √ज्या इस अर्थ में लोक में और वेद में विदित नहीं है। यह क्र्यादि में उचित स्थान पर उचित अर्थ में है।

9 √**ईक्ष्** देखना, विचारना, समझना (सकर्मक) तथा सोचना (अकर्मक) सेट् है। ईक्षते। लिट् में **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** से आम् : ईक्षाञ्चक्रे, ईक्षाम्बभूव, इक्षामास, ईक्षिता; ईक्षताम्; ऐक्षत; ऐक्षिष्ट; ऐक्षिष्यत। अवेक्षण, वेक्षण, अपेक्षा, उपेक्षा, अन्वीक्षा, आन्वीक्षिकी (दर्शनशास्त्र)। पंजाबी √वेख् सोपसर्ग √ईक्ष् से है।

6 √**क्लेश्** को छोड़कर शेष आठों धातु मूलतः किसी अन्य धातु से विकसित प्रतीत होती हैं। तद्यथा— 1 √दुह्+स्>√धुक्ष्, 2 √दिह्+स्>√धिक्ष्, 3 वृज् (या √व्रश्च्)√स्>√वृक्ष्, 4 √शक्+स्>√शिक्ष्, 5 √भज्+स्>√भिक्ष् 6 √दह्+स्>√दक्ष् तथा 7 √दीक्ष् (वोतलिक् तथा रोट् √दीक्ष् को √दक्ष् से मानते हैं)[2], 8 √ईष्√स्>√ईक्ष्। इनमें स् इच्छार्थक से भिन्न है तथा इनमें से कुछ धातु ऋग्वेद से पूर्व ही इस रूप में विकसित हो चुकी थीं। कुछ की कल्पना नामपदों

---

1. क्षी०त० : **अन्ये दीक्ष मौण्ड्ये ज्योपनयनादौ चेत्याहुः। ज्यवते।** यहाँ 'ज्याते' उचित है। 'ज्यवते' तो 'ज्युङ् गतौ' से सम्भव है।
2. व्हिटने, रूट्स्, वर्ब्-फार्म्ज़···, पृष्ठ 74.

10 ईष गति-हिंसा-दर्शनेषु ॥ 9 ॥ ईषांचक्रे। 11 भाष व्यक्तायां वाचि ॥ 10 ॥ भाषते। 12 वर्ष स्नेहने ॥ 1 ॥ दन्त्योष्ठ्यादिः। ववर्षे। 13 गेषृ अन्विच्छायाम् ॥ 12 ॥ 'ग्लेषृ' इत्येके। अन्विच्छा=अन्वेषणम्। जिगेषे। 14 पेषृ प्रयत्ने ॥ 13 ॥ पेषते। 15 जेषृ, 16 णेषृ, 17 एषृ, 18 प्रेषृ गतौ ॥ 14 ॥ जेषते; नेषते; एषांचक्रे; पिप्रेषे। 19 रेषृ, 20 हेषृ,

10 √ईष् गति, हिंसा और देखने में है ॥ 9 ॥ 11 √भाष् स्फुट बोली बोलने में है ॥ 10 ॥ 12 √वर्ष् स्निग्ध करने में है ॥ 11 ॥ यह आदि में दाँत और ओंठ से उच्चरित वर्ण वाली है। 13 √गेष् अन्विच्छा अर्थ में है ॥ 12 ॥ कुछ लोग √ग्लेष् मानते हैं। अन्विच्छा माने गवेषणा करना (खोजना) है। 14 √पेष् प्रयत्न (कोशिश) करना अर्थ में है ॥ 13 ॥ 15 √जेष्, 16 √णेष् (>√नेष्), 17 √एष्, 18 √प्रेष् गति अर्थ में हैं ॥ 14 ॥ 19 √रेष्, 20 √हेष्, 21 √ह्रेष् अस्फुट शब्द करने में

के आधार पर की लगती है।

10 √ईष्, गति, हिंसा तथा देखना, समझना, विचारना, सोचना अर्थों में सकर्मक है। ईषते; ईषाञ्चक्रे, ईषांबभूव, ईषामास; ईषिता; ऐषिष्ट। ईषा=कीली (क्षी०त०)। हलीषा=हळस (हलका लंबा डंडा, जिसके अंत में जुआ टिकता है तथा जिसके द्वारा बैल हल को खेंचता है)। मनीषा=मन्शा।

11 √भाष्, बोलना, स्पष्ट वाणी बोलना अर्थ में है। भाषते। भाषा।

12 √वर्ष् चिकना करना अर्थ में सकर्मक सेट् है। लोकप्रसिद्धि के अनुरोध से 'स्नेहने' के स्थान पर 'मेहने' (बरसना) या 'सेचने' अर्थनिर्देश उचित है। क्षीरस्वामी √वर्ष् के स्थान पर √पर्ष् मानते हैं, तो मैत्रेय दोनों ही।

13 √गेष् खोजना, बीनना, तपासना, अर्थ में सकर्मक है। मैत्रेय √ग्लेष् मानते हैं। √गेष् गो+एष्>√गवेष् से विकसित प्रतीत होती है।

14 √पेष् धातु प्रयत्न करना अर्थ में है। क्षीरस्वामी तथा मैत्रेय के अनुसार √येष् है। मैत्रेय, उसके अलावा, √प्रेस् (दंत्यांत) भी मानते हैं। सायण ने √पेष् के स्थान पर √एष् धातु दी है, जो उनके अगले धातु-सूत्र में भी (17वीं धातु) है।

15 √जेष्, 16 √नेष्, 17 √एष्, 18 √प्रेष् भेजना अर्थ में सकर्मक हैं। णेषृ में णो नः से नकारादेश होकर √नेष्। क्षीरस्वामी तथा मैत्रेय के पाठ में √प्रेष् के स्थान में √ह्रेष् है, जिसे दीक्षितजी ने अगले धातु-सूत्र में दिया है। प्र+एषते=प्रेषते, एङि पररूपम्। √एष् के रहते √प्रेष् को अलग से मानने का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है।

19 √रेष्, 20 √हेष् और 21 √ह्रेष्, ये तीन धातु अव्यक्त शब्द करना

21 ह्रेषृ अव्यक्ते शब्दे ॥ 15 ॥ आद्यो वृक-शब्दे; ततो द्वावश्व-शब्दे। रेषते; हेषते; ह्रेषते।

22 कासृ शब्द-कुत्सायाम् ॥ 16 ॥ कासांचक्रे। 23 भासृ दीप्तौ ॥ 17 ॥ बभासे। 24 णासृ, 25 रासृ शब्दे ॥ 18 ॥ नासते, प्रणासते। 26 णस कौटिल्ये ॥ 19 ॥ नसते। 27 भ्यस भये ॥ 20 ॥ भ्यसते; बभ्यसे।

हैं ॥ 15 ॥ पहली धातु भेड़िये की आवाज में है; उसके बाद की दो धातु घोड़े की आवाज (हिनहिनाने) में हैं।

22 √कास् आवाज की खराबी (खाँसने) में है ॥ 16 ॥ 23 √भास् दीपना (चमकना) अर्थ में है ॥ 17 ॥ 24 √नास्, 25 √रास् आवाज करने में हैं ॥ 18 ॥ 26 √नस् कुटिलता करने में है ॥ 19 ॥ 27 √भ्यस् डरने में है ॥ 20 ॥

अर्थ में हैं। पहिली √रेष् भेड़िये का गुर्राना अर्थ में तथा √हेष् एवं √ह्रेष् हिन-हिनाना अर्थ में हैं। केशव ने कहा भी हैं :

कौक्षे कर्दति, पर्दते गुद-रवे, रेषेति वार्के भवेत्।
बुक्केति श्व-रवे भषेति, हयजे हेषेति, ह्रेषेति च ॥

क्षीरस्वामी के संस्करण में यहाँ √रेष् नहीं है। √हेष् भी पिछली √प्रेष् के स्थान में है। चांद्र धातुपाठ में तो यहीं है।

22 √**कास्** खाँसना, काँखना अर्थ में है। लिट् में **कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि** से आम् : कासाञ्चक्रे, कासांबभूव, कासामास। कासः=खांसी। **कास-श्वास-कृतायासः कण्ठे घुर्घुरायते** (गरुडपुराण)।

23 √**भास्** भासना, चमकना, दमकना, भासित होना अर्थ में अकर्मक है। प्रतिभासते=लगता है, प्रतीत होता है, प्रतिबिंबित होता है। भासः एक कवि। आभास।

यहाँ प्रकरणानुरोध से ऋदित्करण का प्रयोजन **भ्राजृ दीप्तौ** (6.20) की तरह आत्मनेपदमात्र है। **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** से उपधाह्रस्व का निषेध प्रयोजन नहीं है। क्योंकि **भ्राज-भास-दीप-जीव-मील-पीडामन्यतरस्याम्** से उपधाह्रस्व को विकल्प होता है : अवभासत्, अबीभसत्। क्षीरस्वामी ने इनके बाद **रासृ शब्दे** धातु दी है। यह रेंकना अर्थ में है। मा० धा० वृ० में √रास् को अगली √नास् के बाद दिया है। दीक्षितजी ने उन्हीं का अनुसरण किया है।

24 √**नास्** (णोपदेश) तथा 25 √**रास्** धातु शब्द करना अर्थ में अकर्मक हैं। रासभः=गधा। रास्ना=राल।

26 √**नस्** कुटिलता करना, छल कपट करना अर्थ में है। नसते; नेसे, नेसाते, नेसिरे; नसिता; अनसिष्ट।

28 आङः शसि इच्छायाम् ॥ 21 ॥ आशंसते; आशशंसे ।

28 आङ् के पश्चात् √शंस् (इदित्) चाहना अर्थ में है ॥ 21 ॥

---

27 √भ्यस् डरना अर्थ में है । इसका प्रयोग **यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेताम्** (ऋ० 2.12.1) इत्यादि वेद में ही मिलता है ।

28 √आ+√शंस् (इदित्) क्षीरस्वामी, देव, सायण और दीक्षितजी के अनुसार चाहना, आशा करना अर्थ में (सकर्मक तथा अकर्मक) तथा पुरुषकार के अनुसार हिंसा अर्थ में (सकर्मक) है । कालिदास ने इच्छा अर्थ में प्रयोग किया है : (1) सकर्मक—**आशंसन्ते सुर-युवतयो बद्ध-वैरा हि दैत्यैरस्याधिज्ये धनुषि विजयं, पौरुहूते च वज्रे** (शाकु० 2.15); (2) अकर्मक—**मनोरथाय नाशंसे, किं बाहो, स्पन्दसे वृथा** (वहीं, 7.13) ।

आशंसते; आशशंसे; आशंसितासे; आशंसिष्ट । यह धातु नित्य 'आ' उपसर्ग के सहित ही प्रयुक्त होती है, अकेली √शंस्, या अन्य उपसर्ग के साथ नहीं ।[1] अतः 'आ' धातु का अंग ही माना जाता है । पाणिनि ने 'उ' प्रत्यय की प्रकृति के रूप में 'आशंस्' ही दी है, केवल √शंस् नहीं : **सनाशंस भिक्ष उः** (3.12 168) । अतः त्वामें 'आशंसित्वा' रूप होगा, ल्यप् वाला नहीं ।

धातु के पाठ पर विचार : श्री क्षीरस्वामी, कृष्णलीलाशुकमुनि तथा सायण ने इसे इदित् माना है । दुर्ग इसे किस रूप में मानते हैं, इस पर भिन्न-भिन्न कथन उपलब्ध हैं : (1) श्रीकृष्ण० मुनि के अनुसार क्षीरस्वामी का कहना है कि दौर्ग **आङः शन्सु** (नोपध तथा उदित्) मानते हैं । अतः भाव-कर्म में 'आशंस्यते' क्षीरस्वामी के मत में बनता है तथा दुर्ग के मत में 'आशस्यते' बनता है ।[2] (2) सायण का कथन है कि दौर्ग इसे नोपध अनिदित् मानते हैं, क्षीरस्वामी भी । इन लोगों के मत में नकार-लोप होता है ।[3] (3) उपलब्ध क्षी० त० में दुर्ग का पाठ **'आङः शासु'** तथा रूप 'आशासते' (कर्तरि), 'आशास्यते' (कर्मणि) दिये मिलते हैं ।[4] परंतु, वस्तुतः यहाँ क्षी०त० का पाठ

---

1. मा० धा० वृ० में उद्धृत काश्यप और सम्मता ।
2. पुरुष-कार, पृष्ठ 108 : **क्षीरस्वामी तु "दौर्गाः आङः शन्सु इत्याहुः," इत्याह । 'आशंस्यते, आशस्यते' फल-भेदं च ।**
3. मा० धा० वृ, पृष्ठ 116 : **दौर्गस्तु नोपधमनिदितं पठति; स्वामी च । तेषां न-लोपाभावे विशेषः ।**
4. क्षी० त०, पृष्ठ 90 : **दुर्ग 'आङः शसु' इत्याह । आशासते, आशास्यते, आशा-सित्वा, आशास्त्वा ।**

29 ग्रसु, 30 ग्लसु अदने ।। 22 ।। जग्रसे; जग्लसे ।

29 √ग्रस्, 30 √ग्लस् खाने में हैं ।। 22 ।।

कुछ गड़बड़ा गया है तथा संपादक पं० यु० मी० उस गड़बड़ को पकड़ नहीं पाये : यदि **आङः शासु** दुर्ग का पाठ क्षीरस्वामिसंमत है, तो 'आशास्यते' रूप देने की क्या आवश्यकता क्षीरस्वामी को पड़ी ? 'आशसि' और 'आशन्सु' मानने पर तो न-लोपाभाव और न-लोप का भेद दर्शाने को यक् वाला रूप देना सार्थक है। अतः क्षी० त० में उपलब्ध 'आशास्यते' इस बात की ओर संकेत करता है कि यह धातु ऐसी है, जिसमें यक् की कुछ सार्थकता है, और वह सार्थकता प्रकृत में नलोप से सम्बद्ध है। इदित्त्वात् नुम् वाली धातु क्षीरस्वामी को सम्मत है, दुर्ग का मत उससे भिन्न है; अतः दुर्ग का पाठ क्षीरस्वामी ने **आङः शंसु** ही उद्धृत किया है, **आङः शासु** नहीं। फलतः उदाहरण भी 'आशंसते' (नकारवान्), 'आशस्यते', 'आशसित्वा', 'आशस्त्वा' (तीनों न-लोपवान्) होने चाहिएँ। यही बात श्रीकृष्णलीलाशुकमुनि ने **'आशंस्यते', 'आशस्यते' फल-भेदं च** से स्पष्टतः कही है। क्षी० त० में स्व-मतीय उदाहरण 'आशंसते', 'आशंस्यते' उपलब्ध हैं ही। दौर्गाभिमत उदाहरण 'आशंसते', 'आशस्यते' ही न्याय्य हैं। अतः यहाँ दौर्ग पाठ के संबंध में पुरुषकार और मा० धा० वृ० का लेख ही सही प्रतीत होता है। क्षी० त० के पाठ के संबंध में मा० धा० वृ० का कथन सही नहीं लगता। या ये कोई और स्वामी हो सकते हैं।

इदित् मानने वालों के मत में क्त्वा में 'आशंसित्वा' तथा क्त में 'आशंस्तः' रूप होंगे। नोपध तथा उदित् मानने वालों के मत में **अनिदितां हल०** से न-लोप तथा **उदितो वा** से इड्-विकल्प वाले 'आशसित्वा', 'आशस्त्वा' दो रूप तथा क्त में एक 'आशस्तः' होंगे। 'आ' के धातु-मुक्त होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होत।

29 √ग्रस् (उदित्) निवाला लेना, गस्सी लेना, खाना, भक्ष्य बनाना अर्थ में सकर्मक है। ग्रसते; जग्रसे; ग्रसिता; अग्रसिष्ट; ग्रसित्वा, ग्रस्त्वा; ग्रस्तः, वेद में **ग्रसित-स्कभित०** (7.2.34) से सेट् 'ग्रसित' निपातित है। ग्रासः। पंजाबी का ग्राही (या गिराही, ग् के पश्चात् इ की स्वरभक्ति, अपिश्रुति) इसी से विकसित है। हिन्दी में गास, गस्सा, गस्सी। ग्रीष्मः। 30 √ग्लस् रेफ को ल् बोलने की प्राकृत प्रवृत्ति के कारण उपर्युक्त √ग्रस् से ही विकसित हो गया है। ग्लासः=ग्लस्यतेऽनेनेति पात्र-विशेषः—पीने का पात्र-विशेष, ग्लास, हिंदी में गिलास।[1]

---

1. वस्तुतः यह अंग्रेजी ग्लास (काँच) से 'काँचनिर्मित पात्र' के लिये हिंदी में आया है। बाद में उस आकार वाले अन्योपादनक पात्र के लिए भी रूढ हो गया।

31 ईह चेष्टायाम् ॥ 23 ॥ ईहांचक्रे । 32 बहि, 33 महि वृद्धौ ॥ 24 ॥ बंहते; बबंहे, मंहते । 34 अहि गतौ ॥ 25 ॥ अंहते; आनंहे । 35 गर्ह 36 गल्ह कुत्सायाम् ॥ 26 ॥ जगर्हे; जगल्हे । 37 बर्ह, 38 बल्ह प्राधान्ये ॥ 27 ॥

31 √ईह् चेष्टा करने में है ॥ 23 ॥ 32 √वंह्, 33 √मंह् बढ़ने में हैं ॥ 24 ॥ 34 √अंह् गति अर्थ में है ॥ 25 ॥ 35 √गर्ह्, 36 √गल्ह् निंदा करने में हैं ॥ 26 ॥ 37 √बर्ह्, 38 √बल्ह् प्रधान होना अर्थ में है ॥ 27 ॥ दोनों के आदि

---

31 √ईह् शारीरिक हलचल, अंग-सञ्चालन करना, चेष्टा अर्थ में बताई है। पर इसका प्रसिद्ध अर्थ इच्छा है।[1] ईहते; ईहांचक्रे इत्यादि; ऐहिष्ट । ईहितम्, ईहा । निरीह=निश्चेष्ट, निरिच्छ; 'दयनीय' लाक्षणिक अर्थ है।

32 √बंह् और 33 √मंह् (दोनों इदित्) बढ़ना अर्थ में हैं। पहली धातु पवर्ग-तृतीयादि है। बंहते; बबंहे; बंहिता; अबंहिष्ट । √मंह् वेद में 'देना' अर्थ में है : **स्तोतृभ्यो मंहते मघम्** (ऋ० 1.11.3); **शूरो मघा च मंहते** (9.1.10) । **दाता मघानि मघवा सु-राधाः** (4.17.8) ।

34 √अंह् (इदित्) गति अर्थ में है। काशकृत्स्न के अनुसार यह तथा 41वीं √प्लिह् टेढ़ा चलना (वक्र-गति) अर्थ में हैं। यास्क ने अंहति, अंहस् (वेग, पाप) और अंहु को √हन् से उलटकर निष्पन्न बताया है।[2] अंहते; आनंहे—'अन्ह्+अन्ह्+ए' स्थिति में **हलादिः शेषः**, दीर्घ : आ+अन्ह्+ए, **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** से अ से पूर्व नुट् : आ+न् अन्ह्+ए । 'न्' को **नश्चापदान्तस्य झलि** से अनुस्वार । आनंहे । अंहिता; आंहिष्ट ।

35 √गर्ह् निंदा, बुराई करना अर्थ में सकर्मक है। गर्हते; जगर्हे; गर्हिता; गर्हिष्यते; अगर्हिष्ट । गर्हा निन्दा । 36 √गल्ह् धातु √गर्ह् के रेफ को लकार उच्चरित करके विकसित है। वस्तुतः ऐसी धातुओं को पृथक् धातु नहीं मानना चाहिये। किंतु व्याकरण में दैशिक प्रवृत्तियों का संकलन भी आवश्यक होता है। अतः मूल रूप के साथ विकृतियों का समाम्नान भी किया जाता है।

37 √बर्ह् तथा 38 √बल्ह् (दोनों ओष्ठ्यादि) धातु प्रधानता होना अर्थ में हैं। सब अंगों में प्रधान होने से मोर की कलगी बर्हः। मैत्रेय के मत में यह धातु यहाँ नहीं है।

---

1. **ईहन्ते काम-भोगार्थमन्यायेनार्थ-सञ्चयान्** । गीता 16.12.
   इच्छा, काङ्क्षा, स्पृहेहा, तृड्, वाञ्छा, लिप्सा, मनोरथः । अ० को०
2. निरुक्त 4.25 : **अंहतिश्चांहश्चांहुश्च हन्तेर्निरूढोपधाद् विपरीतात्** ।

ओष्ठ्यादी । 39 वर्ह्, 40 वल्ह् परिभाषण-हिंसाऽऽच्छादनेषु ॥ 28 ॥ दन्त्योष्ठ्यादी । केचित्तु पूर्वयोर्दन्त्योष्ठ्यादितामनयोरोष्ठ्यादितां चाहुः । 41 प्लिह् गतौ ॥ 29 ॥ पिप्लिहे । 42 वेह्, 43 जेह्, 44 बाह् प्रयत्ने ॥ 30 ॥ आद्यो दन्त्योष्ठ्यादिः । अन्त्यः केवलोष्ठ्यादिः । 'उभावप्योष्ठ्यादी' इत्यके । 'दन्त्योष्ठ्यादी' इत्यपरे । जेहतिर्गत्यर्थोऽपि । बबाहे । 45 द्राह् निद्रा-

में ओंठ से उच्चरित होने वाला वर्ण है । 39 √वर्ह्, 40 √वल्ह् निंदा करते हुए उलाहना देना, हिंसा, ढँकना अर्थों में हैं ॥ 28 ॥ दोनों का आदिम वर्ण दंत्योष्ठ्य है । कुछ लोग पिछली दो धातुओं को आदि में दंत्योष्ठ्य वर्ण वाली और इन्हें आदि में ओष्ठ्य वर्ण वाली बतलाते हैं । 41 √प्लिह् गति अर्थ में है ॥ 29 ॥ 42 √वेह्, 43 √जेह्, 44 √बाह् कोशिश करने में हैं ॥ 30 ॥ पहली धातु का आदिम वर्ण दंत्योष्ठ्य है; आखिरी धातु के आदि में केवल ओंठ उच्चरित वर्ण है । कुछ लोग मानते हैं कि दोनों का आदिम वर्ण ओष्ठ्य है । दूसरे लोग मानते हैं कि दोनों का आदिम वर्ण दंत्योष्ठ्य है । 43 √जेह् गति अर्थ वाला भी है । 45 √द्राह् नींद उड़ना अर्थ में है ॥ 31 ॥ कुछ लोग

---

39 √वर्ह् तथा 40 √वल्ह् परिभाषण (निंदा-सी करते हुए उलाहना देना)[1], हिंसा करना, तथा आच्छादित करना, ढँकना अर्थों में सकर्मक हैं ।

ये दोनों धातु दंत्योष्ठ्यादि (वकरादि) हैं । धनपाल, शाकटायन और मैत्रेय (प्राधान्यार्थक) धातुओं को दंत्योष्ठ्यादि तथा इनको ओष्ठ्यादि कहते हैं । मा० धा० वृ०, गोविंदस्वामी तथा बहृवृच ब्राह्मण के अनुसार ये दंत्योष्ठ्यादि ही हैं । क्षीरस्वामी ने केवल √वर्ह् ही दी है, √वल्ह् नहीं । √वर्ह् का ही प्राकृत रूप √वल्ह् प्रतीत होता है ।

41 √प्लिह् गति अर्थ में है । प्लेहते; पिप्लिहे; प्लेहितासे; प्लेहिष्यते आदि । प्लीहा = तिल्ली ।

42 √वेह्, 43 √जेह् तथा 44 √बाह् धातु प्रयत्न करना अर्थ में अकर्मक हैं । पहली धातु के आदि में दंत्योष्ठ्य वर्ण है । अंतिम में ओष्ठ्य है । कुछ लोगों का कहना है कि दोनों ओष्ठ्यादि हैं । दूसरे कहते हैं कि दोनों ही दंत्योष्ठ्यादि हैं । √जेह् धातु गति अर्थ में भी है । बाहेते इति बाहू = बाजू ।

45 √द्राह् निद्रा नष्ट होना (नींद टूटना) अर्थ में अकर्मक है । क्षीरस्वामी के मत में निक्षेप (रखना, न्यास रखना, धरोहर रखना, फेंकना) अर्थ में है । मा० धा० वृ० और दुर्ग के अनुसार निद्रा-क्षय में । मैत्रेय ने इससे पूर्व माह माने धातु दी है ।

---

1. यः सनिन्द उपालम्भस्तत्र स्यात्परिभाषणम् । अ० को०

क्षये ॥ 31 ॥ 'निक्षेप' इत्येके । 46 काशृ दीप्तौ ॥ 32 ॥ चकाशे । 47 ऊह वितर्के ॥ 33 ॥ ऊहांचक्रे । 48 गाहू विलोडने ॥ 34 ॥ गाहते; जगाहे; जगाहिषे; जघाक्षे; जगाहिढ्वे, जगाहिध्वे, जघाढ्वे; गाहिता । 2335 ढो ढे

रखने में मानते हैं । 46 √काश् चमकने में है ॥ 32 ॥ 47 √ऊह् कल्पना करने में है ॥ 33 ॥ 48 √गाह् (ऊदित्) गाहना (पानी में विहार करना) अर्थ में है ॥ 34 ॥ जगाहिषे, जघाक्षे; जगाहिढ्वे, जगाहिध्वे, जघाढ्वे; गाहिता । 2335 ढ् का लोप हो

---

46 √**काश्** प्रकाशित होना, चमकना, दमकना अर्थ में अकर्मक है । काशते, चकाशे । प्रकाशः । कुछ लोगों के अनुसार **कासि** है, तो दूसरों के अनुसार **कासृ** पाठ है । कांसते । चकांसे । कासते । चकासे । अचकासत् । √काश् का पाठ भी इस वर्ग के आरम्भ में करना उचित है । हकारों के मध्य उचित नहीं है ।

47 √**ऊह्** युक्ति-प्रतियुक्ति लगा कर विचार करना, विचारना, समझना अर्थ में सकर्मक है । क्षीरस्वामी के अनुसार तर्क (उत्प्रेक्षा) करना अर्थ में है । मा० धा० वृ० में वितर्क (सम्भावना) अर्थ दिया है । **अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः** में आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद **'अनुदात्तेत्त्व-लक्षणमात्मनेपदमनित्यम्'** (प० 97) से हुआ है ।

48 √**गाह्** विलोना, हिलोरना, गाहना अर्थ में सकर्मक है । **गाहन्तां महिषा निपान-सलिलम्** (शाकुन्तलम्) । ऊदित् होने से **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** से वैकल्पिक इट् वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते होता है ।

जगाहिसे—√गाह्+लिट्, लिट् को थास्, थास् को से : गाह्+से । द्वित्व : गाह्+गाह्+से । अभ्यासकार्य : जगाह्+से । **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त नित्य इट् को बाध कर **स्वरति-सूति०** से विकल्प से इट् : जगाह+इसे । **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष् : जगाहिषे ।

जघाक्षे—इडभावपक्ष में जगाह्+से, **हो ढः** से ह् को ढ् : जगाढ्+से । **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** से ग् को घ् : जघाढ्+से, **ष-ढोः कः सि** से ढ् को क् : जघाक्+से, **आदेश-प्रत्यययोः** से क् से परे होने से 'स्' को ष् : अघाक्+षे, **क्षषोः संयोगे क्षः** नियम से क्ष् : जघाक्षे ।

जगाहिढ्वे—जगाह्+ध्वे, **स्वरति-सूति०** से इट् : जगाह्+इ+ध्वे । **विभाषेटः** से घ् को विकल्प से ढ् : जगाहिढ्वे । ढत्वाभाव-पक्ष में जगाहिध्वे । इट् के अभाव में जगाह्+ध्वे, **हो ढः** से ह् को ढ् : जगाढ्+ध्वे, **ष्टुना ष्टुः** से 'ध' को ढ् : जगाढ्+ढ्वे, **ढो ढे लोपः** से पहले ढ् का लोप : जघाढ्वे । जगाहे । जगाहिवहे, जगाह्वहे । जगाहिमहे, जगाह्महे ।

2335 ढो ढे लोपः (7.3.13)—ढः 6.1, ढे 7.1, लोपः 1.1 : ढे (ढकारे परे)

लोपः (8.3.13)—ढस्य लोपः स्याड् ढे परे। गाढा; गाहिष्यते, घाक्ष्यते; गाहिषीष्ट, घाक्षीष्ट; अगाहिष्ट, अगाढ, अघाक्षाताम्, अघाक्षत, अगाढाः, अघाढ्वम्, अघाक्षि। 49 गृहू ग्रहणे ॥ 35 ॥ गर्हते; जगृहे—ऋदुपधेभ्यो

ढ् बाद में होने पर। गाढा। 49 √गृह् (ऊदित्) ग्रहण करने में है ॥ 35 ॥ जगृहे—

ढः (ढकारस्य) लोपः (भवति) ढकार पर रहते पूर्व ढकार का लोप होता है।

गाढा—√गाह्+ता, इडभावपक्ष में **हो ढः** से ढत्व : गाढ्+ता, **झषस्तथोर्धोऽधः** से 'त्' को 'ध्' : गाढ्+धा, **'ष्टुना ष्टुः'** से 'ध्' को 'ढ्' : गाढ्+ढा, **ढो ढे लोपः** : गा+ढा=गाढा।

घाक्ष्यते—इडभाव-पक्ष में √गाह्+स्य+ते, **हो ढः**, गाढ्+स्य+ते, **ष-ढोः कः सि**। गाक्+स्यते। **एकाचो बशो भष्०** से ग् को घ् : घाक्+स्यते। **क्षोः संयोगे क्षः**—घाक्ष्यते।

इसी प्रकार आशीर्लिङ् में इड्-विकल्प से इट् में गाहिषीष्ट तथा इडभाव में 'गाह्+सीस्+त, गाढ्+सीष्ट, घाढ्+सीष्ट, घाक्+षीष्ट=घाक्षीष्ट रूप बनते हैं।

अगाहिष्ट, अगाढ—लुङ् में इडभाव-पक्ष में अ+गाह्+स्+त, **झलो झलि** से स् का लोप : अगाह्+त, **हो ढः** : अगाढ्+त, **झषस्तथोर्धोऽधः**, अगाढ्+ध। **ष्टुना ष्टुः**, अगाढ्+ढ, **ढो ढे लोपः**, अगाढ।

यहाँ सिच् का लोप होने पर **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** से सिच् को मान कर सकार के (पर) निमित्त से **एकाचो बशो भष्०** से भष्-भाव प्राप्त हो सकता है। पर **वर्णाश्रये नास्ति प्रत्यय-लक्षणम्** (प० 22) से सकार रूप वर्ण के निमित्त से होने वाले भष्-भाव की प्राप्ति में प्रत्यय-लक्षण-सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। अतः भष्भाव प्राप्त नहीं होता।

अगाहिषाताम्, अघाक्षाताम्—इडभाव-पक्ष में अगाह्+स+आताम्, **हो ढः** : अगाढ्+स्+आताम्। भष्भाव : अघाढ्+स्+आताम्। ढ् को क् : अघाक्+स्+आताम्। षत्व : अघाक्+षाताम्=अघाक्षाताम्। अगाहिषत, अघाक्षत। अगाहिष्ठाः; अगाढाः। अगाहिषाथाम्, अघाक्षाथाम्। अगाहिढ्वम्, अगाहिध्वम्, अघाढ्वम्। अगाहिषि, अघाक्षि। अगाहिष्वहि, अघाक्ष्वहि। अगाहिष्महि, अघाक्ष्महि। अगाहिष्यत, अघाक्ष्यत; अगाहिष्येताम्, अघाक्ष्येताम्। गाढ=गाढा, कड़ा।

49 √**गृह्** लेना, पकड़ना अर्थ में सकर्मक है। ऊदित् होने से वेट् है। कुछ पाठों में √ग्रह् भी मिलती है। क्षीरस्वामी, काश्यप तथा संमताकार के मत में **ग्लहू** (**गृहू** के स्थान पर) पाठ है। कहीं-कहीं इदुपध **ग्रिहू** धातु भी उपलब्ध होती है। पर मा० धा०वृ० के अनुसार वह अप्रामाणिक है। चंद्र, दुर्ग और मा०धा०वृ० के अनुसार प्रस्तुत धातु **गृह्** ही है। क्षीरस्वामी ने यह चंद्र और दुर्ग के मत में अगली **ग्लहू** के

लिटः कित्त्वं गुणात् पूर्व-विप्रतिषेधेन (वा); जगृहिषे, जघृक्षे; जघृढ्वे; गर्हिता, गर्ढा; गर्हिष्यते, घर्क्ष्यते; गर्हिषीष्ट, घृक्षीष्ट; लुङि अगर्हिष्ट; इडभावे—2336 शल इगुपधादनिटः क्सः (3.1.45)—इगुपधो यः शलन्त, उपधा में ह्रस्व ऋ वाली धातुओं से लिट् को कित्त्व पूर्व-वर्ती गुण को बाध कर हो जाए (वा०)। लुङ् में अगर्हिष्ट; इट् के अभाव-पक्ष में—2336 उपधा में इ, उ, ऋ, लृ

स्थान में बताई है। √गृह्+अ+ते, **पुगन्त-लघूपधस्य च** से उपधा को गुण : गर्ह्+अते=गर्हते। √ग्रह् आदि के ग्रहते, ग्लहते, ग्रेहते आदि होते हैं। गृहम् घर।

ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन (वा०)—लिट् धातु से ही होता है। अतः 'धातोः' पद अर्थतः उपस्थितः होता है। 'ऋदुपधेभ्यः' का विशेष्य होने से यह बहुवचन में परिणत होता है : ऋदुपधेभ्यः धातुभ्यः (परस्य)।

असंयोगाल्लिट् कित् (1.2.5) से **पुगन्त-लघूपधस्य च** (7.3.86) पर है। अतः दोनों में **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से कित् की अपेक्षा गुण बलवान् है। फलतः ऋदुपध धातुओं में लिट् में कित् होने से पहले ही गुण प्राप्त होता है। प्रस्तुत वार्तिक पर-विप्रतिषेध का निषेध करके पूर्व-विप्रतिषेध की स्थापना करता है। पूर्व किद्विधान के द्वारा पर गुण-विधान का विप्रतिषेध हो जाता है : ऋदुपधेभ्यः धातुभ्यः परस्य लिटः कित्त्वम्, गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन प्रवर्त्तते। ऋदुपध धातुओं से परे स्थित लिट् का कित्त्व गण से बलवान् होता है, पूर्वविप्रतिषेध से।

जगृहे—गृह्+लिट् में 'जगृह्+ए' स्थिति में **असंयोगाल्लिट् कित्** (1.2.5) से कित्त्व और **पुगन्त-लघूपधस्य च** (7.3.86) से गुण की प्राप्ति हुई, गुण कित्त्व से पर है, अतः **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (1.4.2) से वह पूर्व-सूत्र से विधेय कित्त्व का बाधक है, परंतु **ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात् पूर्व-विप्रतिषेधेन** (वा०) से पूर्व के द्वारा पर को बाध कर कित्त्व होता है, जिससे उसके बाद **पुगन्त-लघूपधस्य च** से प्राप्त गुण का निषेध **क्ङिति च** से होता है : जगृहे।

जगृहाते, जगृहिरे; थास् में जगृह्+से, **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** से वा इट् : जगृहिषे। इडभाव-पक्ष में जघाक्षे की तरह प्रक्रिया से जघृक्षे। जगृहाथे; जगृहिढ्वे, जगृहिध्वे, जघृढ्वे; जगृहे; जगृहिवहे, जगृह्वहे; जगृहिमहे, जगृह्महे।

गर्हिता, गर्ढा; गर्हिष्यते, घर्क्ष्यते; गर्हताम्; अगर्हत; गर्हेत; गर्हिषीष्ट, घृक्षीष्ट; अगर्हिष्ट। इडभाव-पक्ष में अगृह्+च्लि+त स्थिति में **शल इगुपधाद०** से च्लि को क्स : अगृह्+स+त, **हो ढः** से ह् को ढ् : अगृढ्+स+त, **ष-ढोः कः सि** से ढ् को क् : अगृक्+सत, **एकाचो बशो भष्०** से ग् को घ् : अघृक्सत, **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष् : अघृक्षत=अघृक्षत।

2336 शल इगुपधादनिटः क्सः (3.1.45)—धातोरेकाचो हलादेः० (22), च्लेः

तस्मादनिटश्च्लेः क्सादेशः स्यात् । अघृक्षत । 2337 क्सस्याचि (7.3.72)—वाली जो धातु अंत में श्, ष्, स् और ह् वाली है, उस इड्रहित धातु के पश्चात् स्थित च्लि को क्स आदेश हो। अघृक्षत। 2337 आदि में स्वर वाला आमनेपद प्रत्यय बाद में

सिच् (44) : शलः इगुपधाद् अनिटः धातोः च्लेः क्सः। शल् वर्ण है, तथा 'धातोः' से सम्बद्ध है, अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (1.1.72) से इसमें तदंत-विधि होती है : इगुपधात् शलन्ताद् अनिटः धातोः (परस्य) च्लेः क्सः (भवति)—उपधा में इ, उ, ऋ, लृ वर्ण वाली तथा अंत में श्, ष्, स् और ह् वर्ण से युक्त धातु के पश्चात् स्थित इड्हित च्लि के स्थान में क्स प्रत्यय होता है। यह क्स सिच् का अपवाद है तथा अदंत है। कित्त्व का प्रयोजन **क्ङिति च** से गुण का निषेध है।

अगर्हिषाताम्, अगर्हिषत; अगर्हिष्ठाः, अगर्हिषाथाम्, अगर्हिढ्वम्, अगर्हिष्वम्; अगर्हिषि, अगर्हिष्वहि, अगर्हिष्महि। इडभाव-पक्ष में—अघृक्षाताम्, अघृक्षन्त; अघृक्षथाः, अघृक्षाथाम्, अघृक्षध्वम्; अघृक्षि, अघृक्षावहि, अघृक्षामहि में अगृह्+च्लि+प्रत्यय स्थिति में सिच् को बाधकर **शल इगुपधादनिटः क्सः** (2336) से च्लि को क्स आदेश, ढत्व, कत्व, षत्व, मष्ट्व होने पर अंग 'अघृक्ष' बन जाता है। अजादि प्रत्ययों में अघृक्ष+आताम् आदि स्थिति में **आतो ङितः** आदि से इय् आदि आदेश प्राप्त होने पर उसे अपवादत्वेन बाधकर **क्स्याचि** से क्स के अ का लोप : अघृक्ष्+आताम्=अघृक्षाताम्। इसी प्रकार अन्य 'अन्त' आदि अजादि प्रत्ययों में समझें।

2337 क्सस्याचि (7.3.72)—घोर्लोपो लेटि वा (70), अङ्गस्य (6.4.1)। 'अङ्गस्य' का अन्वय 'क्सस्य' के साथ होता है। 'क्स' प्रत्यय है। अतः **प्रत्यय-ग्रहणे तस्य च तदन्तस्य च** (प०) से 'क्सान्तस्य अङ्गस्य' अर्थ होता है, 'अङ्ग' संज्ञा प्रत्यय परे रहते ही होती है, अतः 'प्रत्यये' (सप्तम्यंत) पद आक्षिप्त होता है। 'अचि' पद का अन्वय 'प्रत्यये' से होता है। अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प०) से 'अचि' में 'आदि' पद जुड़ जाता है : अजादौ प्रत्यये। 'अङ्गस्य' में षष्ठी-निर्देश है। अतः **अलोऽन्त्यस्य** से 'अन्त्यस्य' पद उपस्थित होता है : क्सस्य (क्सान्तस्य) अङ्गस्य (अन्त्यस्य) लोपः (भवति) अचि (अजादौ) प्रत्यये (परतः)—क्स-प्रत्यांत अंग के अंत्यवर्ण का लोप होता है, अजादि प्रत्यय परे रहते।

कुछ पाठांतरों में **अजादौ तङि** पाठ मिलता है। उस पक्ष में अगले सूत्र **लुग्वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये** से 'आत्मनेपदे' पद का अपकर्षण होता है। फलतः 'अजादौ आत्मनेपदे प्रत्यये परतः' अर्थ होता है।

'आत्मनेपद' के अपकर्षण के पक्ष में एक लाभ यह भी आचार्य बतलाते हैं कि: **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च** (3.2.60) सूत्रस्थ **क्सोऽपि वाच्यः** वार्तिक से क्स होने:

अजादौ तङि क्सस्य लोपः स्यात् । अलोऽन्त्यस्य (1.1.52) । अघृक्षाताम्; अघृक्षन्त । 50 ग्लह् च ॥ 36 ॥ ग्लहते ।

51 घुषि कान्ति-करणे ॥ 37 ॥ घुंषते; जुघुंषे । केचिद् 'घष' इत्यदुपधं पठन्ति ॥ 65 ॥

होने पर (पूर्व-वर्ती) क्स के अंतिम वर्ण का लोप हो । अघृक्षाताम् । 50 √ग्लह् भी (ग्रहण में है) ॥ 36 ॥

51 √घुंष् शोभा बनाने में है ॥ 37 ॥ कुछ लोग √घष् इस प्रकार उपधा में ह्रस्व अ वाली कहते हैं ॥ 65 ॥

पर 'तादृक्ष', 'सदृक्ष' आदि शब्दों से जस् में 'तादृक्ष+अस्' स्थिति में प्रस्तुत सूत्र में 'आत्मनेपदे' का अपकर्षण न करने पर अजादि 'अस्' प्रत्यय बाद में रहते क्सांत अंग के अंत्य वर्ण (अ) का लोप हो कर 'तादृक्षः', 'सदृक्षः' रूप प्राप्त होते हैं । 'आत्मनेपदे' का अपकर्षण करने पर तो लोप प्राप्त ही नहीं होता, क्योंकि यह अस् सुप् है, तङ् नहीं ।

लृङ् में इट् में अगर्हिष्यत, अगर्हिष्येताम्, अगर्हिष्यन्त; इडभाव में अघृक्ष्यत, अघृक्ष्येताम् अघृक्ष्यन्त आदि ।

50 √**ग्लह्** भी (ग्रहण अर्थ में) है । 'जूए की बाज़ी' अर्थ में 'ग्लह' शब्द को पाणिनि ने निपातन से सिद्ध किया है : **अक्षेषु ग्लहः** (3.3.70) । काशिका के अनुसार यह शब्द √ग्रह् से अर्थ-विशेष में लत्व करने को निपातित हो सकता है, तो कुछ लोगों को स्वतन्त्र प्रकृति के रूप में अभिमत √ग्लह् से अर्थ-विशेष में नियंत्रित भी हो सकता है । 'बाज़ी लगाना' अर्थ भी 'ग्रहण' अर्थ का ही संदर्भ-विशेष में नियमन है । **र-लयोरभेदः** की प्रवृत्ति से √ग्रह् का ही √ग्लह् के रूप में विकास हो गया प्रतीत होता है । यह धातु सायण की सूचना के अनुसार काश्यप और सम्मताकार के अनुसार है । क्षी०त० में यह ऊदित् मिलती है । ग्लहते; जग्लहे; ग्लहिता, क्षीरस्वामी के मत में **स्वरति-सूति०** से वा इट्, अतः ग्लाढा भी; ग्लहिष्यते, घ्लक्ष्यते; ग्लहताम्; अग्लहत; ग्लहेत; ग्लहिषीष्ट, घ्लक्षीष्ट; अग्लहिष्ट, अग्लहिषाताम्; अग्लहिढ्वम्, अग्लहिध्वम्; इडभाव-पक्ष में अग्लह्+सिच्+त, **झलो झलि** (8.2.26) से सिच् के स् का लोप : अग्लह्+त, ह् को ढ्, त् को **झषस्तथोर्धोऽधः** (8.2.40) से ध् : अग्लढ्+ध, ष्टुत्व : अग्लढ्+ढ, **ढो ढे लोपः** (8.3.13) से प्रथम ढ् का लोप अग्ल+ढ, **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से ग्ल के अ को दीर्घ : अग्लाढ; अग्लह्+स्+आताम्, ह् को ढ् : अग्लढ्+स्+आताम्, ढ् को क् : अग्लक्+स्+आताम्, स् को ष् : अग्लक्+ष्+आताम्, भष्ट्व : अघ्लक्षाताम्; अघ्लक्षत, अग्लाढाः, अघ्लक्षाथाम्, अग्लाढ्वम्, **अनचि च** से द्वित्व : अग्लाड्ढ्वम्, अघ्लक्षि, अग्लह्महि, अग्लह्महि; अग्लहिष्यत, अघ्लक्ष्यत ।

51 √**घुंष्** (इदित्) दुर्ग, मैत्रेय और सायण के अनुसार 'कान्तिकरण' अर्थ में

है। देव : **कान्ति-कर्मणि**। चन्नवीरकवि ने 'कान्ति-करण' का अर्थ 'अन्धेरा हटाना' बताया है। प्रयोग में अनुपलब्धि के कारण सही अर्थ बता पाना सम्भव नहीं है। घुंषते; जुघुंषे; अघुंषिष्ट।

प्रकृत धातु के स्वरूप पर मत-भेद : (1) चंद्र के मत में यह धातु **घषि** (√**घंष्**) है। (2) दुर्ग ने इस धातु-सूत्र का स्वरूप **घुषि कान्ति-करणे** दिया है। अतः उनके मत में धातु √**घुंष्** है। देव, मैत्रेय और सायण ने धातु का यही स्वरूप माना है। दीक्षितजी ने इन्हीं का अनुकरण किया है। (3) क्षीरस्वामी[1] के अनुसार **घसि करणे**

---

1. क्षीरतरङ्गिणी 1.432 : **घसि करणे, घंसते। चन्द्रो 'घषि' इत्याह—घंषते। 'घुषि कान्ति-करण' इति दुर्गः।** दैव 170 : **इदितो घुंषेद्† घुंषते कान्ति-कर्मणि।** इस पर पुरुष० ने क्षी०त० के समूचे कथन का अभिप्राय संक्षेप से दे कर फिर उनका नाम ले कर क्षी०त० का पूरा पाठ उद्धृत किया है। हेमचंद्र ने भी चंद्राभिमत √घंष् (घषि) बताई है : **मूर्धन्यान्तोऽयमिति चन्द्रः—घंषते।**

किंतु सायण ने **'घिषीतीदुपधं पेठतुश्चन्द्रकाश्यपौ। स्वामी घसेति दन्त्यान्त-मदुपधं पपाठ, यथा वयं तथा देव-मैत्रेय-दुर्गाः।'** कथन में क्षीरस्वामि-संमत √घस् तथा चंद्राभिमत √घिष् बताई है। यु० मी०. के अनुसार मुद्रित चांद्र धातु-पाठ में **'घुषिर् करणे'** पाठ छपा है।

इस परस्पर-विरुद्ध स्थिति में श्री यु०मी० 'चांद्र पाठ क्या है', यह निर्णय नहीं कर पाए हैं (क्षी०त०, पृष्ठ 92, टि० 3)।

हमारे विचार में स्थिति इतनी गड़बड़ नहीं है : (1) चांद्र पाठ 'घुषिर्' नहीं प्रतीत होता—चांद्र व्याकरण में 'इर्' अनुबंध का प्रयोजन परस्मैपद (अतङ्) में च्लि को **इरितो वा** (चा०व्या० 1.1.74) से अङ् करता है। यह धातु आत्मने-पदी है, इसमें अङ् प्राप्त ही नहीं है। अतः लगता है मुद्रित चांद्र धातुपाठ में पाणिनीय व्याकरण में अगले धातु-वर्ग में प्रदत्त **'घुषिर् अविशब्दने'** ही गल्ती से यहाँ छप गई है। अतः यह उस संस्करण के संपादक का प्रमाद प्रतीत होता है। (3) इस लिए चंद्र और क्षीरस्वामी की धातुओं के स्वरूप के बारे में सायण से सुतरां प्राचीन और चंद्रगोमी से निकट के क्षीरस्वामी, हेमचंद्र और पुरुषकार की सूचना ही सही प्रतीत होती है।

†देव का 'घुंषते' के साथ 'घुंषेद्' पाठ मानने पर √घुंष् उभय-पदी सिद्ध होती है। तु० **झषेज्झषेत संवृत्यामादाने, हिंसने झषेत्** (दैव 168), इस लिए **'घुषेर्विशब्दनादौ णौ'** (169) में 'घुषेः' की तरह यहाँ 'घुंषेर्' पाठ उचित है।

श्री यु० मी० जी ने 22.9.78 के अपने पत्र में इन पाठ-शोधों को स्वीकृत

(ख. 18) अथार्हत्यन्ताः परस्मैपदिनः—1 घुषिर् अविशब्दने ॥ 1 ॥ (1) 'विशब्दनं=प्रतिज्ञानम्; ततोऽन्यस्मिन्नर्थे' इत्येके; (2) 'शब्द' इत्यन्ये पेठुः। घोषति; जुघोष; घोषिता। इरित्त्वादङ् वा—अघुषत्, अघोषीत्।

ऊष्मांत धातु : ख. वर्ग 18 : अ. 57 परस्मैपदी धातु

(ख. 18) अब 87 √अर्ह् तक परस्मैपदी धातु हैं—1 √घुष् (इरित्) अविशब्दन अर्थ में है ॥ 1 ॥ (1) 'विशब्दन माने प्रतिज्ञा करना है; उससे भिन्न अर्थ में है', यह कुछ लोग कहते हैं; (2) 'शब्द करना (बोलना)' अर्थ में है, यह अन्य लोगों ने पाठ दिया है। इत्संज्ञक इर्वाला होने से विकल्प से अङ् होता है—अघुषत्, अघोषीत्।

है। (4) सायण ने विना कोई नामोल्लेख किए √घष् भी दी है।[1] दीक्षितजी ने √घंष् और √घंस् पाठ-भेदों की चर्चा न करके केवल √घष् की चर्चा न जाने क्यों की है?

धातु योग : गत धातु 593, वर्तमान 51, योग 644 ॥ 65 ॥

संदर्भ : अठारहवें वर्ग में 53 धातु-सूत्रों में 87 (क्षी० त० में 88) ऊष्मांत धातु अंत में ष्, स्, ह् के क्रम से दी गई हैं। शुरु में एक स्वरोपध षकारांत धातु देने के बाद उन्नीस क्षकारांत धातु दे कर पुनः 37 स्वरोपध षकारांत धातु दी हैं। क्षकारांतों को स्वरोपधों के पश्चात्, या पहले देना उचित होगा। सकारांत धातुओं में तो और भी गड़बड़ है : उनके बीच में (1) तीन चवर्गीयांत, वे भी विचित्र-से (ज्, च् और झ् के) क्रम में दी हैं; तथा (2) तीन (69-71) शकारांत धातु दे कर एक (72वीं) वकारांत तथा एक (73 वीं) शकारांत धातु दे कर फिर दो सकारांत धातु दी हैं।

ये सब धातु उदात्तेत् होने से परस्मैपदी और उदात्त होने से सेट् हैं।

18.1 **घुषिर्**—यह धातु (क) यहाँ और (ख) चुरादि गण में है : (क) यहाँ यह (1) काशिका, क्षी०त०, धनपाल के ग्रंथ और भागवृत्ति में **घुषिर् शब्दार्थः** है; (2) चंद्र एवं दुर्ग के अनुसार **घुषिर् शब्दे** है तथा (3) शाकटायन ने **घुषू शब्दे** (ऋदित्)

कर लिया है : **दैव-ग्रन्थे घुंषेदिति स्थाने घुंषेरिति पाठ-शोधनं भवतां ग्राह्यं वर्तते। क्षीरतरङ्गिण्याः 92 तमस्य पृष्ठस्य तृतीयस्यां टिप्पण्यां काशकृत्स्नचन्द्रगोमिनोः 'घुषिर् करणे' इति मुद्रितपाठो निर्दाशितस्तद्विषयेऽपि भवन्मतं साधु। आत्मनेपदित्वादस्य धातोरिरित्त्वं व्यर्थमेव। अत्र हेमचन्द्रसायणाचार्याभ्यां निर्दिष्टः पाठ एव सम्यक्।**

1. मा० धा० वृ० : **षकारान्तोऽप्ययम्।** यहाँ 'अपि' से सूचित होता है कि यहाँ 'अयम्' से उनके द्वारा क्षीरस्वामी को संमत के रूप में उद्धृत अदुपध √घस् का परामर्श है।

2 अक्षू व्याप्तौ ॥ 2 ॥ 2338 अक्षोऽन्यतरस्याम् (3.1.75)—अक्षो वा
2 √अक्ष् (ऊदित्) व्याप्त होने में है ॥ 2 ॥ 2338 √अक्ष् से श्नु प्रत्यय

दी है, किन्तु यह ऋदित्त्व उनके व्याकरण में फल में इरित्त्व के समान है : ऋदित् धातुओं से परस्मैपद-परक च्लि को **ऋदितोऽतङि** (4.3.10) से अङ् विहित है। (ख) चुरादि-गणीय धातु सबके मत में 'विशब्दन' अर्थ में है। पाणिनि ने 'विशब्दन' से भिन्न अर्थ में निष्ठा में इण्निषेध किया है : **घुषिरविशब्दने** (7.2.23)। इससे विशब्दन-भिन्नार्थक भौवादिक को इट् का निषेध होता है। संभवतः यही कारण है कि भौवादिक का अर्थनिर्देश कैयट आदि से पूर्व ही 'शब्द' अर्थ से बदल कर अविशब्द, या अविशब्दन कुछ व्याख्याताओं ने कर दिया। देव और सायण ने उसे ही अपनाया, तो उनके अनुयायी दीक्षितजी ने भी उसे ही लिया है। अतः का०, क्षी०त० आदि के अनुसार यह शब्द करना, तुमुल निनाद, घोष करना अर्थ में (अकर्मक) है। कैयट द्वारा उद्धृत **अविशब्द** और देव तथा सायण द्वारा दिया **अविशब्दन** अर्थ न+विशब्द/न+विशब्दन है। 'विशब्दन' का अर्थ काशिका में प्रतिज्ञान दिया है, जिसका आशय न्यासकार ने 'अपने अभिप्राय को शब्द के द्वारा प्रकट करना' बताया है। अतः किसी बात की घोषणा करना 'विशब्दन' है, तथा 'विशब्दन से भिन्न' अर्थ 'अविशब्दन' है।

घोषति; जुघोष, जुघुषतुः, जुघुषुः; घोषिता; घोषिष्यति; घोषतु; अघोषत्; घोषेत्; घुष्यात्; लुङ् में अघुषत्, अघोषीत्—यह धातु उपदेश में इरंत है, अतः **इर इत्संज्ञा वाच्या** (वा०) से इर् की इत्संज्ञा होने से इरित् है, फलतः 'अघुष्+च्लि+त्' स्थिति में **च्लेः सिच्** से च्लि को प्राप्त सिच् आदेश को बाधकर **इरितो वा** (2269) से विकल्प से अङ् होता है : अघुष्+अत्, **पुगन्त-लघूपधस्य च** (2189) से प्राप्त उपधा-गुण को **क्ङिति च** (2217) से बाध कर 'अघुषत्' रूप बनता है, अङ् न होने पर च्लि को सिच्, उसे इट् तथा त् को **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** (2225) से ईट् : अघुष्+इ+स्+ईत्, सिज्लोप, दीर्घ होने पर **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** (2267) से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** (2268) से निषेध होने पर **पुगन्त-लघू०** से उपधा को गुण : अघोषीत्। अघुषत्, अघुषताम्, अघुषन्; अघुषः, अघुषतम्, अघुषत; अघुषम्, अघुषाव, अघुषाम; अघोषीत्, अघोषिष्टाम्, अघोषिषुः, अघोषीः, अघोषिष्टम्, अघोषिष्ट; अघोषिषम्, अघोषिष्व, अघोषिष्म। निष्ठा में **घुषिरविशब्दने** (7.2.23) से इट् का निषेध : घुष्टा रज्जूः (रस्सी की आवाज हुई)। किन्तु संघुषितं वाक्यम् (स्पष्टार्थक वाक्य)।

2 √**अक्ष्** (ऊदित्) व्याप्त होना, फैलना अर्थ में है। क्षीरस्वामी ने 'सघात' अर्थ भी दिया है। ऊदित् होने से **स्वरति-सूति-सूयति-धूञ् दितो वा** (2279) से इट् विकल्प से होता है, जिसके कारण निष्ठा में इट् नहीं होता : अष्टः, अष्टवान्।

2338 अक्षोऽन्यतरस्याम् (3.1.75)—सार्वधातुके यक् (67), कर्तरि शप् (68);

श्नु-प्रत्ययः स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। पक्षे शप्—अक्ष्णोति, अक्ष्णुतः, अक्ष्णुवन्ति; अक्षति, अक्षतः, अक्षन्ति। आनक्ष ; आनक्षिथ, आनष्ठ; अक्षिता, अष्टा; अक्षिष्यति, 'स्कोः०' (8.2.29) इति क-लोपः, 'ष-ढोः कः सि' (8.2.41) अक्ष्यति; अक्ष्णोतु; अक्ष्णुहि; अक्ष्णवानि; आक्ष्णोत्; आक्ष्णवम्; अक्ष्णुयात्, अक्ष्णुयुः; अक्ष्यात्; ऊदित्त्वाद्वेट्, 'नेटि' (2268)—मा भवानक्षीत्,

विकल्प से होता है, कर्तृ-वाचक सार्वधातुक बाद में होने पर। पक्ष में शप् होता है—अक्ष्णोति; अक्षति। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (8.2.29) से क् का लोप, 'ष-ढोः कः सि' (8.2.41 सूत्र से ढ् को क् होने पर) अक्ष्यति। इत्संज्ञक ऊ होने से विकल्प से इट्; 'नेटि' (2268 से वृद्धि-निषेध)—मा भवान् अक्षीत्, इट् न होने पर मा भवान्

स्वादिभ्यः श्नुः (73) : सार्वधातुक प्रत्यय धातु से ('धातोः') होते हैं, इसलिए, या **धातोरेकाचो०** (22) से 'धातोः' पद उपस्थित होता है, जो सामर्थ्य के कारण 'अक्षः' से अन्वित होता है—अक्षः 5.1 धातोः 5.1 परः श्नुः (प्रत्ययः) कर्तरि सार्वधातुके अन्यतरस्याम् (भवति) : √अक्ष् धातु के पश्चात् श्नु प्रत्यय कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय बाद में होने पर विकल्प से होता है। यह विकरण है और शप् का अपवाद तथा शित् होने से सार्वधातुक प्रत्यय है।

अक्ष्णोति—√अक्ष्+लट्, अक्ष्+तिप, शब्द को बाध कर विकल्प से **अक्षोऽन्यतरस्याम्** से श्नु : अक्ष्+नु+ति, **सार्वधातुकार्ध०** से गुण : अक्ष्+नो+ति, **र-षाभ्यां नो णः समान-पदे** से न् को ण् : अक्ष्+णो+ति=अक्ष्णोति। **अक्ष्णुतः**—यहाँ तस् की ङित्संज्ञा होने से **क्ङिति च** से गुण का निषेध होता है। **अक्ष्णुवन्ति**—अक्ष्णु+झि, **झोऽन्तः**, अक्ष्णु+अन्ति, गुण का **क्ङिति च** से निषेध। संयोग-पूर्वक होने से यण् प्राप्त न होने पर **अचि श्नु-धातु-भ्रुवाम्०**—से उवङ् : अक्ष्+ण्+उव्+अन्ति=अक्ष्णुवन्ति। अक्ष्णोपि, अक्ष्णुथः, अक्ष्णुथ; अक्ष्णोमि, अक्ष्णुवः, अक्ष्णुमः—यहाँ संयोग-पूर्वक होने से **लोपश्चास्यान्यतरस्याम्म्वोः** की प्राप्ति नहीं है।

श्नु के अभाव-पक्ष में शप् : अक्षति, अक्षतः, अक्षन्ति; अक्षसि, अक्षथ; अक्षथः, अक्षामि, अक्षावः, अक्षामः।

लिट् में अक्ष्+अक्ष्+अ, अभ्यासलोप : अ+अक्ष्+अ, **अत आदेः**—आ+अक्ष्+अ, द्विहल् होने के कारण नुट् : आ+न्अक्ष्+अ=**आनक्ष**। इसी प्रकार आनक्षतुः, आनक्षुः। थल् में **स्वरति०** से वैकल्पिक इट् : **आनक्षिथ**। इडभाव-पक्ष में आनक्ष्+थ, **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से 'क्ष्' संयोग के आदि अवयव 'क्' का लोप : आनष्+थ, **ष्टुना ष्टुः**—आनष्+ठ=**आनष्ठ**। आनक्षथुः, आनक्ष; आनक्ष, आनक्षिव, आनक्ष्व, आनक्षिम, आनक्ष्म। व्, म् के झलादि न होने से क् का लोप नहीं होता।

अक्षिष्टाम्, अक्षिषुः। इडभावे तु मा भवानाक्षीत्, आष्टाम्, आक्षुः। 3 तक्षू, 4 त्वक्षू तनूकरणे ॥ 3 ॥ 2339 तनू-करणे तक्षः (3.1.76)—श्नुः स्याद्वा आक्षीत्। 3 √तक्ष्, 4 √त्वक्ष् (दोनों ऊदित्) पतला करना (छीलना, रन्दा फेरना) अर्थ में हैं ॥ 3 ॥ 2339 छीलना अर्थ में √तक्ष् से शप् के विषय में श्नु विकल्प से

अक्षिता, अष्टा; अक्षिष्यति; इडभावपक्ष में अक्ष्+स्य+ति, **स्कोः संयोगाद्योः०** से क् का लोप : अष्+स्य+ति, **ष-ढोः कः सि**, अक्+स्य+ति, **आदेशप्रत्यययोः**, अक्+ष्य+ति=**अक्ष्यति**। अक्ष्णोतु, अक्ष्णुतात्, अक्ष्णुताम्, अक्ष्णुवन्तु; अक्ष्णुहि, अक्ष्णुतात्, अक्ष्णुतम्, अक्ष्णुत; अक्ष्णवानि, अक्ष्णवाव, अक्ष्णवाम। श्नु न होने पर अक्षतु, अक्षतात्, अक्षताम् इत्यादि। आक्ष्णोत्, आक्ष्णुताम्, आक्ष्णुवन्; आक्ष्णोः, आक्ष्णुतम्, आक्ष्णुत; आक्ष्णवम्; आक्ष्णुव, आक्ष्णुम; आक्षत्, आक्षताम् इत्यादि।

विधि-लिङ् में यासुट् के ङित् होने से 'अक्ष्णु+यात्' स्थिति में प्राप्त गुण का **क्ङिति च** से निषेध : अक्ष्णुयात्, अक्ष्णुयाताम्, अक्ष्णुयुः; श्नु न होने पर शप् : अक्षेत्, अक्षेताम्, अक्षेयुः इत्यादि।

आशीर्लिङ् में **लिङाशिषि** से लिङ् के आदेश तिङ् प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा होने से श्नु नहीं होता : अक्ष्यात्, अक्ष्यास्ताम्, अक्ष्यासुः।

लुङ् में **स्वरति०** से इड्विकल्प होने पर आ+अक्ष्+इ+ई+त्, दीर्घ, आ+अक्ष्+ईत्। **वदव्रज०** से प्राप्त वृद्धि का **नेटि** से निषेध, **आटश्च** से आ+अ को वृद्धि एकादेश : आक्षीत्।

मा भवान् अक्षीत्—यह उदाहरण वृद्ध्यभाव को स्पष्ट रूप से दिखलाने के लिये दिया है। इडभाव-पक्ष में **वद-व्रज०** से हलंत-लक्षणा वृद्धि होती है : मा भवान् आक्षीत्; तस् में **स्कोः संयोगाद्योः** से ककार का लोप : आष्+ताम्, **ष्टुना ष्टुः** से त् को ट् : आष्टाम्; आक्षुः; आक्षीः, आष्टम्, आष्ट; आक्षम्, आक्ष्व, आक्ष्म।

लृङ् में इट्पक्ष में आक्षिष्यत्, आक्षिष्यताम्। इडभावपक्ष में कलोप आदि शेष सिच् की तरह : आक्ष्यत्, आक्ष्यताम्। इन्—अक्षि=आँख। कवराक्षम्=घोड़े के मुँह को ढँकने वाला, चमड़े का छेद वाला ढक्कन (मा० धा० वृ० : **कबराक्षमिति सच्छिद्रं यदश्वानां मुख-पिधानं तदुच्यते**)।

3 √**तक्ष्** तथा 4 √**त्वक्ष्** छीलना, घड़ना, रंदा फेरना अर्थ में सकर्मक है। दोनों ऊदित् हैं, अतः **स्वरति-सूति०** से वेट् हैं और निष्ठा में अनिट् : तष्टम्, तष्टवान्।

2339 तनू-करणे तक्षः (3.1.76)—अनुवृत्ति पिछले सूत्र के समान होती है; पिछले सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' आता है : तक्षः 5.1 धातोः 5.1 तनू-करणेऽर्थे कर्तरि

शब्विषये । तक्ष्णोति, तक्षति वा काष्ठम् । ततक्षिथ, ततष्ठ; अतक्षीत्, अतक्षिष्टाम्; अताक्षीत्, अताष्टाम् । 'तनू-करणे' किम् ? वाग्भिः सन्तक्षति, भर्त्सयतीत्यर्थः ।

5 उक्ष सेचने ॥ 4 ॥ उक्षाञ्चकार । 6 रक्ष पालने ॥ 5 ॥ 7 णिक्ष

हो । तक्ष्णोति, तक्षति वा काष्ठम् (लकड़ी छीलता है) । " 'छीलना' अर्थ में" क्यों ? वाग्भिः सन्तक्षति अर्थात् वचनों से लताड़ता (कष्ट पहुँचाता) है ।

5 √उक्ष् सींचना अर्थ में है ॥ 4 ॥ 6 √रक्ष् बचाव करना, रक्षा करना

सार्वधातुके श्नुः प्रत्ययः अन्यतरस्याम् (भवति) —'पतला करना' अर्थ में प्रयुक्त √तक्ष् धातु से श्नु प्रत्यय विकल्प से होता है, बाद में कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय होने पर ।

तक्ष्णोति, तक्षति—√तक्ष्+ति, कर्तरि शप् को बाध कर **तनू-करणे तक्षः** से वा श्नु : तक्ष्+नु+ति, **र-षाभ्यां नो णः** से न् को ण् : तक्ष्णुति, लघूपध गुण : तक्ष्णोति; श्नु न होने पर शप् : तक्षति ।

ततक्ष, ततक्षतुः, ततक्षुः; ततक्षिथ—**स्वरति-सूति०** से वा इट्, ततष्ठ—इडभाव-पक्ष में **स्कोः संयोगाद्यो०** से क् का लोप । तक्षिता, तष्टा; तक्षिष्यति, तक्ष्यति; अतक्षीत्— इट् होने पर; इडभाव-पक्ष में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से वृद्धि : अताक्षीत्, अताष्टाम्, अताक्षुः । तक्षा=तरखान, बढ़ई ।

√तक्ष् का प्रयोग मुहावरे में अवयवों को पतला करने से भिन्न अर्थ में भी होता है, जैसे बोली से घायल करना; इस अर्थ में श्नु नहीं होता : **वाग्भिः सन्तक्षति** (वाणी) से, कठोर बात बोलकर, घायल करता है; अर्थात् किसी को कटु वचन बोलकर चोट पहुँचाता है) । आगे 'त्वचन' अर्थ में भी 13 √तक्ष् (अदित्) दी है; उससे भी श्नु नहीं होता ।

त्वक्षति; तत्वक्ष; त्वक्षिता, त्वष्टा; अत्वक्षीत्, अत्वाक्षीत् । त्वष्टा=देवशिल्पी । √त्वक्ष् का प्रयोग वैदिक में ही अधिक उपलब्ध है ।

5 √**उक्ष्** सींचना अर्थ में (सकर्मक) है । बीज का सिंचन करने से उक्षा=साँढ़, विजार, ox । तुलना करें : वृष । उक्षति । लिट् में इजादि गुरुमान् होने से आम्—**उक्षाम्प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्**[1] (भट्टि० 2.5) । उक्षिता; उक्षिष्यति; औक्षीत्, मा भवान् उक्षीत्; औक्षिष्टाम्; औक्षिषुः ।

6 √**रक्ष्** पालन, रक्षा करना, बचाना, रखना अर्थ में है । यह धातु 'रोकना'

---

1. टीकाकारों सुधाकर और जयमंगल ने अनुप्रयोग में अव्यवहितता अभिप्रेत होने के कारण यहाँ आमंत प्रयोग न मानकर **'उक्षान् प्रचक्रुः'** पाठ माना है । मा०धा०वृ० भी देखें ।

चुम्बने ॥ 6 ॥ प्रणिक्षति । 8 त्रक्ष, 9 ष्ट्रक्ष, 10 णक्ष गतौ ॥ 7 ॥ त्रक्षति; स्त्रक्षति; नक्षति । 11 वक्ष रोषे ॥ 8 ॥ 'संघात' इत्येके । 12 मृक्ष

अर्थ में है ॥ 5 ॥ 7 √णिक्ष् (>√निक्ष्) चूमना अर्थ में है ॥ 6 ॥ 8 √त्रक्ष्, 9 √स्त्रक्ष् (षोपदेश), 10 √नक्ष् (णोपदेश) गति अर्थ में हैं ॥ 7 ॥ 11 √वक्ष् गुस्सा

अर्थ में भी प्रयुक्त है : **देवान्ह वै यज्ञेन यजमानानसुर-रक्षसानि ररक्षुः 'न यक्ष्यव्व' इति; तद् यदरक्षंस्तस्माद्रक्षांसि** (श० ब्रा० 1.1.1.16) । रक्षति; ररक्ष; रक्षिता; अरक्षीत्, अरक्षिष्टाम् । रक्षस्, राक्षसः=राक्षस । हिंदी में यह धातु √रख्, √रक्ख्, √राख् के रूप में अधिकतया स्वामी होना, स्थित होना अर्थ में तथा उससे कम रक्षा करना (जैसे राम-रक्खा, रव्व-राखा, ईश्वर राखी करे) अर्थ में और √रोक् के रूप में निषेध करना, रोकना (शतपथीय) अर्थ में है ।

7 √**णिक्ष्** चूमना अर्थ में सकर्मक है । **णो नः** (2286) से ण् को न् : √निक्ष् । (1) रेफवान् उपसर्ग के पश्चात् तिङ् प्रत्ययों में **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (2287) से नित्य णत्व : प्रणिक्षति; (2) कृत् प्रत्ययों में **वा निस-निक्ष-निन्दाम्** (8.4.33) से विकल्प से णत्व : प्रणिक्षणम्, प्रनिक्षणम् । निक्षति; निनिक्ष; निक्षिता; अनिक्षीत्, अनिक्षिष्टाम् ।

8 √**त्रक्ष्** अथवा √**तृक्ष्**, 9 √**ष्ट्रक्ष्** अथवा √**ष्टृक्ष्** एवं 10 √**णक्ष्** गति अर्थ में हैं । द्वितीय धातु क्षीरस्वामी को उपलब्ध पाठ में षोपदेश नहीं थी । यही हेतु है कि उन्होंने **'षोपदेशो न्याय्यः'** (षोपदेश धातु उचित हैं) कहा है । मा० धा० वृ० में सायण ने षोपदेश ही दी है, पर मुद्रित संस्करण में **स्तृक्ष** (दंत्यादि) है, जो उनके **'षोपदेश-फलं तरीष्टृक्ष्यत इत्यादौ ।'** कथन के विरुद्ध है । सिद्धांतकौमुदी के कुछ संस्करणों में भी दंत्यादि छपा है, पर यह षोपदेश-नियम के विरुद्ध होने से गलत है । पहली दोनों धातु क्षीरस्वामी और सायण तथा चंद्र ने भी ऋकारवान् दी हैं, पर बाल-मनोरमा में इन्हें अकारवान् बताया है । बहु-संमत होने से ऋकारवान् पाठ ही उचित प्रतीत होता है ।

त्रक्षति; तत्रक्ष; त्रक्षिता; अत्रक्षीत्, अत्रक्षिष्टाम्; तृक्षति; ततृक्ष; तृक्षिता; अतृक्षीत्; तृक्षः, तस्यापत्यं तार्क्ष्यः=तृक्ष का पुत्र गरुड । स्तृक्षति; तस्तृक्ष; अस्तृक्षीत् ।

√नक्ष् गति अर्थ में निघंटु (2.14.31) में भी दी है, तथा निरुक्त (3.20) में स्मृत भी है । 'नक्षत्र' शब्द पाणिनि के अनुसार न+क्षत्र (<न+√क्षर्/√क्षि) है;[1] उणादिकार (उ०सू० 392) और यास्क ने निरुक्त (3.20) में इसे √नक्ष् से निष्पादित किया है ।

11 √**वक्ष्** गुस्सा करना अर्थ में है । क्षीरस्वामी ने इसे 'सङ्घात' अर्थ में दिया

---

1. 6.3.75 पर का० ।

सङ्घाते ॥ 9 ॥ 'म्रक्ष' इत्येके । 13 तक्ष त्वचने ॥ 10 ॥ त्वचनं=(1) संवरणम्, (2) त्वचो ग्रहणं च । 'पक्ष परिग्रह' इत्येके । 14 षूर्क्ष[1] आदरे ॥ 11 ॥ 'अनादरे' इति तु क्वाचित्कोऽपपाठः । 'अवज्ञाऽवहेलनमसूर्क्षणम्' इत्यमरः ।

करने में है ॥ 8 ॥ 'समूह (ढेर) होना अर्थ में है', यह कुछ लोग मानते हैं 12 √मृक्ष् समूह (ढेर) होना अर्थ में है ॥ 9 ॥ कुछ लोग √म्रक्ष् मानते हैं । 13 √तक्ष् त्वचन अर्थ में है ॥ 10 ॥ त्वचन—(1) छाना, और (2) चुटकी काटना है । कुछ लोग '√पक्ष् स्वीकारना अर्थ में है', यह कहते हैं । 14 √सूर्क्ष् आदर करने में है ॥ 11 ॥ 'अनादर करने में', यह तो कुछ ग्रन्थों में भ्रष्ट पाठ है । 'अवज्ञा, अवहेलन, असूक्षणं', यह अमरकोष में कहा है ।

है, तथा 'रोष' अर्थ में √मक्ष् बताई है, जिससे मक्षः=माखा, मक्षिका=मक्खी, माखी निष्पन्न है । वक्षस्=छाती । वक्षणा=नदी, नाड़ी में यह √वह् के समानार्थक है । सम्भवतः √वक्ष् √वह्+स् से निष्पन्न है ।

12 √मृक्ष् समूह होना अर्थ में है । मैत्रेय के अनुसार यह √म्रक्ष (अकारवान्) है । 13 √तक्ष्, चन्द्र और क्षीरस्वामी के मत में √त्वक्ष्, चुटकी काटना (क्षीरस्वामी) तथा दुर्ग, काश्यप और मैत्रेय के मत में ढँकना (संवरण), अर्थ में है । यह अदित् है, अतः नित्य सेट् होने से पूर्वागत √तक्ष् से भिन्न है ।

सायण ने इसके बाद "कुछ लोगों के मत में यहाँ 'परिग्रह' (स्वीकार करना) अर्थ में √पक्ष् धातु भी है", कहा है । क्षीरस्वामी ने इसे 19 √घ्राङ्क्ष के पश्चात् दिया है । पक्षः पाँख, पाख, पखवाड़ा, पक्ष; पक्षतिः पंख, प्रतिपदा । पाँख बगल में होती हैं, इसलिये पक्ष का अर्थ side, बगल भी होता है । पक्ष, विपक्ष ।

14 √सूर्क्ष् (षोपदेश) आदर करना अर्थ में (सकर्मक) है । क्षीरस्वामी ने

---

1. मुद्रित क्षी० त०, मा० धा० वृ० तथा सि० कौ० में दंत्योष्मादि अपपाठ है : यह षोपदेश-कारिका के स्पष्टतया विपरीत है । पुरुषकार (170, पृष्ठ 102) में मूर्धन्योष्मादि पाठ मुद्रित है, वह उचित है । पं० यु०मी० ने क्षीरस्वामी से पुरुषकार द्वारा उद्धृत 'षूर्क्ष्य' पाठ को न जाने किस आधार पर अयुक्त ठहरा कर दंत्योष्मादि(सूर्क्ष्य)पाठ को युक्त ठहराया है । द्र० दैवम्, पृष्ठ 102, पा०टि० 6 : **क्षीरतरङ्गिण्यां 'सूर्क्ष्य' इति पाठः, स एव युक्तः, उत्तरत्र 'षान्तोऽयमिति चन्द्रः' इति पाठ-दर्शनात्** । चन्द्र का षान्त(√सूर्क्ष) पाठ मानना क्षीरस्वामी के अंतस्थांत पाठ में कहाँ विप्रतिपत्तिकर है ? पुरुषकार में उद्धृत और क्षी० त० में उपलब्ध तथा यु०मी० जी द्वारा धृत, उद्धृत और साधित पाठों में तो केवल आदिवर्ण (क्रमशः मूर्धन्योष्म तथा दंत्योष्म) का ही अंतर है । अतः यह टिप्पणी चिंत्य है ।

15 काक्षि, 16 वाक्षि, 17 माक्षि काङ्क्षायाम् ॥ 12 ॥ 18 द्राक्षि, 19 ध्राक्षि, 20 ध्वाक्षि घोर-वाशिते च ॥ 13 ॥

15 √काङ्क्ष्, 16 √वाङ्क्ष्, 17 √माङ्क्ष् (सब इदित्) चाहने में हैं ॥ 12 ॥ 18 √द्राङ्क्ष्, 19 √ध्राङ्क्ष्, 20 √ध्वाङ्क्ष् (सब इदित्) कर्कश आवाज़ करने में भी हैं ॥ 13 ॥

अनादर अर्थ में √सूर्क्ष्य् धातु देकर चंद्र के मत में √सूर्क्ष् बताई है।[1] उपलब्ध चांद्र व्याकरण में पवर्ग-पंचमादि **सूर्क्ष अनादरे** (1.2.19) प्रूफ की अशुद्धि प्रतीत होती है। √सूर्क्ष् का चंद्र, क्षीरस्वामी, मैत्रेय और का कृ० संमत 'अनादर' अर्थ (1) प्रयोग और (2) कोश के विपरीत है : (1) **तस्माद्‌ य एव पिता पुत्राणां सूर्क्षति, स श्रेष्ठो भवति, प्रजापतिर्हि तमभिजिघ्रति** (गोपथ ब्रा०, उ० 3.9, पृष्ठ 126), **सोमेन यक्ष्यमाणो नतुं सूर्क्षेन्**[2], **न नक्षत्रम्** (आप० श्रौ० 5.1.21)[3]—**सोमेन यक्ष्यमाणः सर्व-कर्मभ्यः पूर्वं न कुर्यादादरम्। सोमस्यापि य ऋतुः, तस्यापि न सूर्क्षेत्** (—धूर्तस्वामिभाष्य)। (2) **अवज्ञाऽवहेलनमसूर्क्षणम्** (अमरकोष)। सायण ने मा० धा० वृ० में यद्यपि 'आदर' अर्थ ही सिद्ध किया है, परन्तु तै० ब्रा० 1.2.1.1 पर भाष्य में " **'सूर्क्ष दर्शन' इति धातुः।**" कहा है।[4]

15 √**काङ्क्ष्**, 16 √**वाङ्क्ष्**, 17 √**माङ्क्ष्** सब (इदित्) इच्छा, चाहने में हैं। 15 √काङ्क्ष् ही लोक में प्रसिद्ध है। 16 √वाङ्क्ष् √वाञ्छ् से सम्बद्ध प्रतीत होती है।

18 √**द्राङ्क्ष्**, 19 √**ध्राङ्क्ष्** तथा 20 √**ध्वाङ्क्ष्** चाहना के अलावा कर्कश आवाज़ करना अर्थ में भी हैं। क्षीरस्वामी ने 20 √ध्वाङ्क्ष् को कर्कश आवाज़ अर्थ में दुर्ग के मत में बताया है। उनके अपने मत में यह केवल इच्छा करना अर्थ में है। ध्वाङ्क्षः=कौवा। तीर्थ-ध्वाङ्क्षाः (=तीर्थ पर यजमान से दक्षिणा के प्रश्न पर काँव-काँव करते पण्डे आदि) लाक्षणिक प्रयोग है।

---

1. क्षी० त० 444 : **सूर्क्ष्य अनादरे। ···'षान्तोऽयम्' इति चन्द्रः। असूर्क्षणम्=अपरिभवः।** यह अर्थकथन अमरकोष के अवहेलन=असूर्क्षण के विपरीत है। देव ने भी √सूर्क्ष् का अर्थ आदर ही दिया है। द्र० दैवम् 170 : **ईर्ष्यायामादरे चार्थे क्रमात् सूर्क्ष्यति, सूर्क्षति।**
2. मैसूर, 1944, संस्करण, पृष्ठ 478, में 'सूर्क्ष्मेत् छपा है; पर अन्यत्र धृत, उद्धृत एवं व्याख्यात पाठ 'सूर्क्षेत्' ही है।
3. तुलनीय आप० श्रौ०, भाग 1, पृष्ठ 478, टि० 1 में धृत रुद्रदत्तवचन : **भारद्वाजश्चाह—'अथातः श्रद्धधानस्य नतुं पृच्छेन्न नक्षत्रम्' इति।**
4. अर्थात् सायणीयत्वेन प्रसिद्ध सब ग्रंथ एक ही पुरुष की कृति नहीं हैं।

21 चूष पाने ॥ 14 ॥ 22 तूष तुष्टौ ॥ 15 ॥ 23 पूष वृद्धौ ॥ 16 ॥ 24 मूष स्तेये ॥ 17 ॥ 25 लूष, 26 रूष भूषायाम् ॥ 18 ॥ 27 शूष प्रसवे ॥ 19 ॥ प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम् । तालव्योष्मादिः । 28 यूष हिंसायाम् ॥ 20 ॥ 29 जूष च ॥ 21 ॥ 30 भूष अलंकारे ॥ 22 ॥ भूषति ।

21 √चूष् पीना (चूसना) अर्थ में है ॥ 14 ॥ 22 √तूष् तुष्टि होने में है ॥ 15 ॥ 23 √पूष् बढ़ने में हैं ॥ 16 ॥ 24 √मूष् चोरी करने में है ॥ 17 ॥ 25 √लूष्, 26 √रूष् भूषित करने में है ॥ 18 ॥ 27 √शूष् प्रसव अर्थ में है ॥ 19 ॥ प्रसव माने अनुमति देना है । इसका पहला वर्ण तालव्य ऊष्म है । 28 √यूष् हिंसा करना अर्थ में है ॥ 20 ॥ 29 √जूष् भी ॥ 21 ॥ 30 √भूष् अलंकृत करने में

क्षी०त० में इसके बाद **पक्ष परिग्रह इत्येके** कहा है । इसकी चर्चा 13 √तक्ष् के प्रसङ्ग में पृष्ठ (484 पर) की जा चुकी है ।

21 √**चूष्** पीना अर्थ में है । यह हिन्दी में √चूस् है । चूषति, चुचूष । 22 √**तूष्** तुष्टि होना अर्थ में तथा 23 √**पूष्** बढ़ना अर्थ में हैं । पूषति । पुष्टि अर्थ में 48 √**पुष्** आगे यहीं है : पोषति । प्रकृत √**पूष्** 'पूषी' दिया रखने का दीवालगीर, दीवार में बना आला (**पूषी दीप-स्थापनार्थं कुड्य-कल्पितो बिलविशेषः**—मा०धा०वृ०), 'पूषन्' एक देव-विशेष आदि में उपलब्ध है । 24 √**मूष्** चुराना अर्थ में है । मूषति; अमूषीत् । मूषः, मूषकः, मूसा, चूहा; मूषी, चूहिया, मूसी; मूषा, साँचा (**तैजसावर्तनी मूषा**—अमर) । 25 √**लूष्**—दुर्ग के अनुसार यहाँ यह भी है । क्षी०त० और मा०धा०वृ० में यह तथा 26 √**रूष्** यहाँ नहीं हैं । मा०धा०वृ० में ये सुधाकर के नाम से दी हैं । √रूष् **चूर्ण** (पाउडर) जैसी वस्तु मल कर शरीर का शृंगार करना अर्थ में प्रयुक्त होती है । लूष् इसी का प्राकृत-प्रभावित रूप प्रतीत होता है ।

27 √**शूष्** प्रसव अर्थ में है । भट्टमल्ल ने इसे अनुमति देना अर्थ में बताया है : **शूषति स्मानुमनुतेऽप्यनुज्ञायाम्** (1.2.28) । क्षीरस्वामी तथा मैत्रेय के पाठ में यह मूर्धन्यादि है, जो प्रयोग में दन्त्यादि हो जाती है । क्षीरस्वामी ने चरक के मत में तालव्यादि बताई है । शूषा=शाक (—क्षीरस्वामी) शूषम्=बल ।[1]

28 √**यूष्** और 29 √**जूष्** हिंसा अर्थ में है । यूषम्=शोरबा, तरी (सायण :

---

1. वै०प०को०, 4.4, में अष्टा० 4.1.4 में 'शूषी' शब्द बताया है, पर यह वहाँ, या अष्टा० में अन्यत्र भी उपलब्ध नहीं हो पाया है । मा०धा०वृ० में भी एक शब्द बताया है : **दृश्यते च तैत्तिरीयके 'अक्ष-शूषा' इति** । पर मैं इस शब्द को वै०प० को० तथा मो०वि० के कोश में नहीं खोज पाया हूँ ।

31 ऊष रुजायाम् ॥ 23 ॥ ऊषांचकार । 32 ईष ऊञ्छे ॥ 24 ॥ 33 कष, 34 खष, 35 शिष, 36 जष, 37 झष, 38 शष, 39 वष, 40 मष, 41 रुष,

है ॥ 22 ॥ 31 √ऊष् पीडा करना/होना अर्थ में है ॥ 23 ॥ 32 √ईष् चुगने में है ॥ 24 ॥ 33 √कष्, 34 √खष्, 35 √शिष्, 36 √जष्, 37 √झष्, 38 √शष्, 39 √वष्, 40 √मष्, 41 √रुष्, 42 √रिष् हिंसा करने में हैं ॥ 25 ॥ तीसरी और

मांस-रस-विशेषः), तुलनीय अंग्रेजी : जूस् (juice) । √जूष् √यूष् का ही दैशिक उच्चारण-भेद है । 30 √**भूष्** सजाना अर्थ में (कर्म-कर्तृ) है : भूषते कन्या स्वयमेव—कन्या अपना श्रृंगार कर रही है (कर्म-कर्तृत्वाद् आत्मनेपदी) । भूषति । अभूषीत् । 31 √**ऊष्** रोग, पीड़ा होना अर्थ में अकर्मक है । इजादि गुरुमान् होने से आम्—ऊषांचकार, ऊषाम्बभूव, ऊषामास । औषीत्, मा भवानूषीत् । ऊषः=खारी मिट्टी । ऊषणम्=काली मिर्च । त्र्यूषणम्=त्रि-कटु (पीपल, शोंठ, काली मिर्च) ।[1] ऊष्मन्=ऊष्म वर्ण । उच्चारण स्थान के ईषद् विवृत होने के कारण वायु का घर्षण होता है । अतः ये वर्ण स्थान को पीड़ा देने के कारण 'ऊष्म' हैं । घर्षण से गर्मी पैदा होती है । इस लिए ऊष्मा का अर्थ गर्मी भी होता है ।

33 √**कष्**, 34 √**खष्**, 35 √**शिष्**, 36 √**जष्**, 37 √**झष्**, 38 √**शष्**, 39 √**वष्**, 40 √**मष्**, 41 √**रुष्**, 42 √**रिष्** (ये 10 धातु) हिंसा करना अर्थ में हैं । इस दंडक की तीसरी (35 √**शिष्**), तथा छठी (38 √**शष्**) धातु तालव्योष्मादि हैं और सातवीं (39 √**वष्**) दत्योष्ठ्यादि है । इनमें √35 **शिष्** अनुदात्त है, अतः अनिट् है । मैत्रेय और क्षीरस्वामी के अनुसार यहाँ 34 √**खष्** नहीं है; मा०धा०वृ० और कण्ठ के अनुसार है । क्षी०त० में 40 √**मष्** के पश्चात् √मुष् और है ।

33 √**कष्** घिसना, कसना (कद्दूकस, सोने आदि की कसौटी से) अर्थ में है । कषति, अकाषीत्, अकषीत् । निकषः=कसौटी । कषिः, कषी=कस्सी (क्षीरस्वामी : खनित्रम्) । कच्छूः=खुजली । कक्षः=काख, प्रकोष्ठ; कक्षा, कक्ष्या=घर का एक हिस्सा, **गृहस्य कक्ष्यामहतोऽभ्यसूयन्** (सौन्दरनन्द 5.8) ।

34 √**शिष्** बचाना अर्थ में है । शेषः=बाकी । विशेष=अधिक । शेषा=पूज्य द्वारा धारित माला आदि का प्रसाद । शिशिषतुः, शिशिषुः । थल्, वस्, मस् में क्रादि-नियम से नित्य इट् होता है । अजंत तथा अकारवान् न होने से विकल्प प्राप्त नहीं है । शिशेषिथ, शिशिषथुः, शिशिष; शिशेष, शिशिषिव, शिशिषिम । शेष्टा; शेक्ष्यति; शेषतु; अशेषत्; शेषेत्; शिष्यात् । लुङ् में **शल इगुपधादनिटः क्सः** से क्स :

---

1. **त्रिकटु त्र्यूषणं व्योषम्** (अमरकोश 2.9.111)—**त्रीणि शुण्ठी-पिप्पली-मरीचानां समाहारस्य** (रामाश्रमी सुधा) ।

42 रिष हिंसाऽर्थाः ॥ 25 ॥ तृतीय-षष्ठौ तालव्योष्मादी; सप्तमो दन्त्योष्ठ्यादिः। चकाष; चखाष; शिशेष, शिशेषिथ; शेष्टा; क्सः—अशिक्षत्; अशेक्ष्यत्; जेषतुः; शेषतुः; ववषतुः ; मेषतुः। 2340 तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः

छठी धातु शुरु में तालव्य ऊष्म वर्ण वाली हैं; सातवीं शुरु में दन्त्योष्ठ्य वर्ण वाली है। क्स होता है—अशिक्षत्। 2340 √इष्, √सह्, √लुभ्, √रुष् और √रिष् के

अ+शिष्+स+त, कित् होने से गुणनिषेध, **ष-ढो कः सि**, अ+शिक्+स+त्, **आदेश-प्रत्यययोः**, अ+शिक्+प+त्=अशिक्षत्। अशिक्षताम्, अशिक्षन्; अशिक्षः, अशिक्षतम्, अशिक्षत; अशिक्षम्, अशिक्षाव, अशिक्षाम। लृङ् में अशेक्ष्यत्।

36 √जष्, 38 √शष् तथा 40 √मष् से कित् लिट् में एत्वाभ्यास लोप होते हैं : जजाष, जेषतुः; शशाष, शेषतुः; ममाष, मेषतुः। √वष्+लिट् में ववाष; अतुष् में **न शस-दद-वादिगुणानाम्** से निषेध होता है : ववषतुः।

2340 **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** (7.2.48)—आर्धधातुकस्येड् वलादेः (35), स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा : ति 7.1, इष-सह-लुभ-रुष-रिषः 5.1, आर्धधातुकस्य 6.1, इट् 1.1, वा।

उभय-निर्देशे पञ्चमी-निर्देशो बलीयान् (प० 71) से सप्तमी की अपेक्षा पंचमी का अर्थ बलवान् है। **तस्मादित्युत्तरस्य** से 'उत्तरस्य' उपस्थित होता है। 'ति' का अन्वय 'इष-सह-लुभ-रुष-रिषः' से है। फलतः 'ति' षष्ठ्यंत (तः) में परिणत हो जाता है—**पञ्चमी स्वस्मात्परां सप्तमीं षष्ठीम्प्रकल्पयति**। 'ति' में सप्तमी-निर्देश है, अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** से तदादि-विधि होती है। इष-सह-लुभ-रुष-रिषः 5.1 उत्तरस्य तादेः 6.1 आर्धधातुकस्य इट् वा (भवति)। √इष्, √सह्, √लुभ्, √रुष्, तथा √रिष् से परे स्थित तकारादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होता है।

√**इष्** धातुपाठ में तीन गणों में आती है : (1) **इष गतौ** (दि०), (2) **इषु इच्छायाम्** (तु०) तथा (3) **इष आभीक्ष्ण्ये** (क्र्या०)। इनमें से कौन सी धातु प्रस्तुत सूत्र में इष्ट है, इसके बारे में आचार्यों में मतभेद है : जिनेन्द्रबुद्धि और हरदत्त के अनुसार कुछ लोग प्रस्तुत सूत्र में 'इषं' तथा 'सह' को विकरणांत पठित मानते हैं : √इष् में श (तौदादिक) विकरण है, तो √सह् में शप्। दैवादिक तथा क्र्यादिक धातुओं में औपदेशिक अकार अनुबंध है अतः **सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्** (प० 112) से अकार-विकरणक 'सह' के सहयोग से अकार-विकरणक तौदादिक √इष् का ग्रहण हो जाता है। अन्य लोग तौदादिक √इष् का ही ग्रहण करने के लिए सूत्र में **तीषु-सह०** इत्यादि उकारानुबंधक धातु मानते हैं।

इस पक्ष के अनुसार **सहचरिता०** परिभाषा के बिना ही, उकारानुबंध के ग्रहण

(7.2.48)—इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। रोषिता, पश्चात् स्थित, तथा आदि में तकार वाले आर्धधातुक को इट् विकल्प से हो। रोषिता,

---

से ही, केवल तौदादिक का ग्रहण होता है, शेष का नहीं।[1]

वार्तिककार आचार्य कात्यायन तथा भाष्यकार भगवान् पतंजलि का मत उपर्युक्त मत के विपरीत दीखता है। वार्तिककार ने प्रस्तुत सूत्र पर **इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात्प्रतिषेधः** वार्तिक लिखा है। भगवान् भाष्यकार ने भी इसे स्वीकार किया है। यदि उपर्युक्त (काशिकाकार की) व्याख्या मानी जाए, तो दिवादि-गण-पठित √इष् में प्रस्तुत सूत्र प्राप्त ही नही होता; अतः श्यन्-विकरण के दैवादिक धातु में **तीष-सह०** की प्रवृत्ति रोकने के लिए **इषेस्तकारे०** आदि वार्तिक की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः यदि काशिकाभिमत व्याख्या सिद्धांतसंमत होती, तो भगवान् भाष्य-कार और बहुत-से वार्तिकों की तरह प्रस्तुत वार्तिक का भी खंडन ही करते। पर ऐसा न करके उन्होंने तो प्रस्तुत वार्तिक को माना है। अतः दोनों आचार्यों (भाष्य-कार तथा कात्यायन) के मत में **तीष-सह०** सूत्र दैवादिक, तौदादिक तथा क्र्यादिक—तीनों ही—धातुओं में प्राप्त होता है। दैवादिक में वार्तिक द्वारा निषेध होने से यह सूत्र लागू नहीं होता; अतः तौदादिक और क्र्यादिक में विकल्प लागू होता है। इस पर आचार्य काश्यप तथा कैयट की भी सहमति है।

√**सह्** भी तीन गणों में है : **षह मर्षणे** (भ्वा०, चु०), **षह चक्यर्थे** (दि०)। प्रस्तुत सूत्र में आचार्य ने इसे अन्य धातुओं से पृथक् करने के लिए विकरण-समेत दिया है : यह शवंत रूप है। अतः भौवादिक √सह् का ही यहाँ ग्रहण होता है। दैवादिक तथा चौरादिक में इट् नित्य ही होता है, यह आचार्य आत्रेय आदि कहते हैं। पर यह तर्क उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि—

(क) आचार्य आत्रेय यहाँ तो शवंत मानते हैं; पर **परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्** में 'सह' में अकार उच्चारणार्थक मानते हैं। इस प्रकार दो तरह से व्याख्या में कोई प्रमाण नहीं है। अपितु अर्ध-जरतीय न्याय से आचार्य आत्रेय का व्याख्यान उपादेय नहीं है।

(ख) इसी सूत्र में 'सह' के साथ √इष्, √लुभ्, √रुष् और √रिष् भी अकारवान् पढ़ी हैं। 'इष' में विकरण (श) नहीं है, यह बताया जा चुका है। इसी

---

1. का० : इषु इच्छायामित्यस्यायं विकल्प इष्यते। यस्तु इष गताविति दैवादिकस्तस्य प्रेषिता, प्रेषितुम्, प्रेषितव्यम् इति नित्यम्भवति। योऽपि, इष आभीक्ष्ण्य इति क्र्यादौ पठ्यते, तस्याप्येवमेव। तदर्थमेव तीष-सहेति सूत्रे केचिदुदितमिमं पठन्ति।

रोष्टा । रोषिष्यति । रेषिता, रेष्टा । रेषिष्यति । 43 भष भर्त्सने ॥ 26 ॥ इह

रोष्टा । रेषिता, रेष्टा । 43 √भष् भर्त्सन अर्थ में है ॥ 26 ॥ 2341 √उष्, √विद्,

---

प्रकार 'लुभ' भी विकरणान्त नहीं है । **लुभ गार्ध्ये** (दि०), **'लुभ विमोहने'** (तु०) ये दो √लुभ् धातुपाठ में हैं । इनमें अंतिम में विकरण अ (श) होता है । यदि 'सह' में विकरणांत पाठ लिया जाता है, तो **सहचरितासहचरितयोः०** परिभाषा से √लुभ् भी तौदादिक ही लेनी चाहिए, जबकि आचार्य **तीष-सह०** सूत्र में दैवादिक तथा तौदादिक —दोनों—का ही ग्रहण करते हैं । इसी प्रकार √रुष् तथा √रिष् भी **रुष, रिष हिंसार्थौ** (भ्वा) तथा **रुष, रिष हिंसायाम्** (दि०) अकार-विकरणक एवम् श्यन्-विकरणक हैं । दोनों ही गणों में **तीष-सह०** सूत्र लगता है । अतः आचार्य आत्रेय के अनुसार तो इनमें भौवादिक का ही ग्रहण होना चाहिए । अतः, जब एक ही सूत्र में पठित √इष्, √लुभ्, √रुष् तथा √रिष् में सविकरण पाठ नहीं है, तो √सह् में है, इसका क्या प्रमाण ? अतः इन सब धातुओं में अकार उच्चारणार्थक है, तथा 'सह' से भौवादिक तथा दैवादिक दोनों का ग्रहण होना चाहिए ।

इसी प्रकार **√लुभ्, √रुष्** तथा **√रिष्** से भी विभिन्न गणों में पठित धातुओं का ग्रहण होता है ।

रोषिता—√रुष् से लुट् : रुष् :+लुट्, लुट् को तिप् : रुष्+ति, शप् को बाध कर तास् : रुष्+तास्+ति, **लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः** से ति को डा : रुष्+तास्+आ, डित् होने से 'आ' परे रहते भसंज्ञा न होते हुए भी 'तास्' के आस् का लोप : रुष्+त्+आ, **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त नित्य इट् को बाध कर **तीष-सह-लुभ०** से वैकल्पिक इट् : रुष्+इ+त्+आ, **पुगन्त-लघूपधस्य च** से उ को गुण : रोष्+इ+त्+आ, इ को प्राप्त गुण का **दीधीवेवीटाम्** से निषेध : रोषिता ।

रोष्टा—इट् न होने पर रुष्+त्+आ । लघूपध गुण : रोष्+त्+आ, **ष्टुना ष्टुः**, रोष्+ट्+आ=रोष्टा ।

रोषिता—लृट् में स्य तादि आर्धधातुक नहीं है । अतः इड्विकल्प प्राप्त नहीं है, **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से नित्य इट् ही होता है : रुष्+इस्य+ति, लघूपध गुण, **आदेशप्रत्यययोः**—रोष्+इष्य+ति=रोषिष्यति ।

रोषतु; अरोषत्; रोषेत्; रुष्यात्; अरोषीत्—यहाँ भी सिच् चूँकि आर्धधातुक नहीं है, अतः **तीष-सह०** सूत्र प्राप्त नहीं होता, नित्य 'इट्' ही होता है; अरोषिष्टाम्; अरोषिषुः; अरोषिष्यत् ।

इसी प्रकार 42 **√रिष्** के रूप भी होते हैं : रेषति; रिरेष; रेषिता, रेष्टा; रेषिष्यति; रेषतु; रेषेत्; रिष्यात्; अरेषीत्; अरेषिष्यत् ।

43 √भष् भर्त्सन अर्थ में अकर्मक है । क्षीरस्वामी का कहना है कि यह धातु

भर्त्सनं=श्व-रवः। भषति; बभाष। 44 उष दाहे॥ 27॥ ओषति। 2341 उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् (3.1.38)—एभ्यो लिट्याम्वा स्यात्। ओषांचकार, और √जागृ के पश्चात् आम् विकल्प से हो, बाद में लिट् होने पर। ओषांचकार,

---

शब्दार्थक है—कुत्सित शब्द करने में है। यहाँ 'भर्त्सन' रूढि से कुत्ते का शब्द (भौंकना, भोंसणा) होता है। लुङ् में **अतो हलादेर्लघोः**—अभाषीत्, अभषीत्। भषकः। भट्टमल्ल ने इसे आत्मनेपदी बताया है : **भषते, बुक्कयति च, बुक्कतीति शुनां ध्वनौ** (आ० च० 1.5.2)।

44 √**उष्** जलाना, गर्म करना, तपाना अर्थ में सकर्मक तथा सेट् है। यह धातु प्रायः वेदकाल में व्यवहृत होती थी। लोक में इसका प्रयोग तिङों के साथ नहीं मिलता।[1] उषस्=प्रातःकाल विवासनार्थक √उच्छ् से है।

2341 **उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम्**[2] (3.1.38)—धातोरेकाचो हलादेः० (22), कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (25), प्रत्ययः (1), परश्च (2), आद्युदात्तश्च (3)। उष-विद-जागृभ्यो धातोः परः आम् प्रत्ययः आद्युदात्तः अन्यतरस्याम् (भवति) लिटि।

बहुवचनांत 'उष-विद-जागृभ्यः' पद के साथ अन्वय होने के कारण 'धातोः' पद बहुवचनांत 'धातुभ्यः' में परिणत हो जाता है : उषविदजागृभ्यः धातुभ्यः पर आम्प्रत्ययः आद्युदात्तः अन्यतरस्याम् (भवति) लिटि। (√उष्, √विद् तथा √जागृ धातुओं से परे आद्युदात्त आम् प्रत्यय विकल्प से होता है, लिट् में)।

'उष' में अकार उच्चारणार्थक है तथा 'विद' में सप्रयोजनक है : √विद् से आम् करने पर धातु अदंत रहे (विद+आम्) और फलतः लघूपध न रहने से गुण न हो विदाम् बने, यह प्रयोजन है। जहाँ 'आम्' नहीं होता, वहाँ अदंतता के न रहने से गुण होगा ही : विवेद।[3]

धातु-पाठ में √विद् **विद ज्ञाने** (अदा०), **विद सत्तायाम्** (दि०), **विद्लृ लाभे** (तु०), **विद विचारणे** (रु०) तथा **विद चेतनाख्याननिवासेषु** (चु०) इस प्रकार पाँच गणों में आती है। आदादिक **जागृ निद्राक्षये** के साहचर्य से **सहचरितासहचरितयोः०** परिभाषा से आदादिक **विद ज्ञाने** का ही प्रस्तुत सूत्र में ग्रहण होता है।[4]

---

1. नि० 2.26 : **अथापि नैगमेभ्यो भाषिका—उष्णं, घृतमिति।**
2. क्षी० त० में **'उष-विद-जागुरन्यतरस्याम्'** पाठ मिलता है।
3. मा० धा० वृ०, का तथा म० भा० 3.1.38.
4. न्यासकार का कहना है कि परस्मैपदी √उष् तथा √जागृ धातुओं के साहचर्य से परस्मैपदी √विद् का ही ग्रहण होगा, आत्मनेपदी (दैवादिक, रौधादिक तथा चौरादिक) और उभयपदी (तौदादिक) का नहीं।

उवोष; ऊषतुः; उवोषिथ। 45 जिषु, 46 विषु, 47 मिषु सेचने ॥ 28 ॥ जिजेष। क्रादिनियमादिट्—विवेषिथ, विविषिव। वेष्टा; वेक्ष्यति; अविक्षत्।

उवोष। 45 √जिष्, 46 √विष्, 47 √मिष् सींचने में हैं ॥ 28 ॥ 'कृ-सृ-भृ-वृ०' (2293) आदि के नियम से इट् होता है—विवेषिथ, विविषिव।

ओषाञ्चकार—√उष् से लिट् : उष्+लिट्, लिट् परे रहते **उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम्** से विकल्प से धातु से परे आम् होता है : उष्+आम्+लिट्, √कृ, √भू, √अस् का अनुप्रयोग आदि शेष प्रक्रिया 'इन्दाञ्चकार' की तरह होती है। लघूपधगुण विशेष होता है। ओषां बभूव, ओषामास।

उवोष—'आम्' न होने पर √उष्+लिट्, लिट् को तिप्, तिप् को णल् : उष्+अ, द्वित्वादि : उ+उष्+अ, लघुपधगुण : उ+ओष्+अ, **अभ्यासस्यासवर्णे** से अभ्यास के 'उ' को उवङ् : उव्+ओष्+अ=उवोष।

इसी प्रकार बाकी रूप भी √उख् की तरह बनते हैं : ऊषतुः, ऊषुः; उवोषिथ, ऊषथुः, ऊष; उवोष, ऊषिव, ऊषिम। ओषिता, ओषिष्यति; ओषतु; ओषत्; उषेत्; उष्यात्; औषीत्; औषिष्यत्। उष्णम्=गर्म। भाष्यकार ने 'ऊष' को अप्रयुक्त प्रयोग बताया है।[1]

45 √जिष्, 46 √विष्, 47 √मिष् सींचना, भिगोना, गीला करना अर्थ में सकर्मक हैं। इनमें 46 √विष् अनिट् है, किन्तु वोपदेव इसे सेट् मानते हैं। जेषति; जिजेष; जेषिता; अजेषीत्; वेषति; विवेषिथ—विविष्+थ, इट् का **एकाच उपदेशे०** से निषेध होने पर **कृ-सृ-भृ०** से नित्य इट् होता है, अजन्त या अकारवान् न होने से **ऋतो भारद्वाजस्य** लागू नहीं होता; इसी प्रकार विविषिव, विविषिम। वेष्टा, वोपदेव के मत में वेषिता। वेक्ष्यति—विष्+स्यति, लघूपध गुण : वेष्+स्यति, **ष-ढोः कः सि,** षत्व : वेक्+ष्यति, क्षत्व : वेक्ष्यति=वेक्ष्यति। वोपदेव : वेषिष्यति। लुङ् में अविष्+च्लि+त्, **शल इगुपधादनिटः क्सः** से च्लि को क्स : अविष्+सत्, शेष प्रक्रिया वेक्ष्यति के समान : अविक्षत्। अविक्षताम्, अविक्षन्—अविक्ष+अन्, **क्सस्याचि** से स के अ का लोप। अविक्षः, अविक्षतम्, अविक्षत; अविक्षम्, अविक्षाव, अविक्षाम। वोपदेव : अवेपीत्, अवेपिष्टाम्, अवेपिषुः।

का० कृ० धातु-पाठ में 45 √जिष् के पश्चात् **'णिषु'** भी दी है। पं० यु० मी० जी ने पतंजलि द्वारा धात्वंतर के रूप में कथित[2] 'नेषति' से इसी √निष् को समझा लगता है।[3] कैयट ने 'नेषति' से पूर्वागत आत्मनेपदी **णेषृ गतौ** (17.16) ली

---

1. म० भा०, पस्पशा, पृ० ३५.
2. म० भा० 3.1.34, 3.2.135.
3. क्षी० त०, पृष्ठ 96, पा० टि 2.

48 पुष पुष्टौ ॥ 29 ॥ पोषति; पोषिता; पोषिष्यति; अपोषीत् । अनिट्-केषु 'पुष्य' इति श्यना निर्देशादयं सेट्; अतो न क्सः । अङ्-विधौ दैवादिकस्य ग्रहणान्नाङ् । 49 श्रिषु, 50 श्लिषु, 51 प्रुषु, 52 प्लुषु दाहे ॥ 30 ॥ श्रेषति ;

48 √पुष् पुष्टि करना अर्थ में है ॥ 29 ॥ इङ्रहित धातुओं में 'पुष्य' इस प्रकार श्यन् से निर्देश करने के कारण यह इट् वाली है; इसलिये क्स नहीं होता। अङ्-कार्य में दिवादि गण की √पुष् का ग्रहण होने के कारण यहाँ अङ् नहीं होता। 49 √श्रिष्, 50 √श्लिष्, 51 √प्रुष्, 52 √प्लुष् (सब उदित्) जलाना, दाझना अर्थ में

है।[1] पतंजलि द्वारा दिये नेषतु, नेष्टात् (नागेश के मत में सही पाठ नेषात् है)[2] पद वाङ्-मय में उपलब्ध नहीं हैं। पतंजलि ने कोई दो उदाहरण दिये हैं, जो संभवतः वैदिक हैं। प० म० (3.2.135) में नेषति और नेषिथ में भी इसे दृष्ट बताया है। 'नेषति' ऋ० 5.46.1 में है,[3] पर यह √नी के अर्थ में तो है ही, √नी से ही लेट्, सिप् से निष्पन्न प्रतीत होता है। नेषिथ हमें उपलब्ध तो हो ही नहीं पाया है, अभ्यास-रहित होने के कारण अनियमित प्रयोग प्रतीत होता है, तथा इससे √निष् की कल्पना नहीं की जा सकती, यह रूप √नी से भी पूर्ववत् निष्पन्न हो सकता है। 'नेष्टृ' को भी वैयाकरण-परंपरा में प्रायः √नी से तृच् या तृन् करके षुक् करके माना जाता है। यदि पतंजलि-प्रोक्त धात्वंतर 'नेषति' से भी निष्पन्न माना जाए, तब भी यह धातु √नेष् (गति) हो सकती है। वैदिक में पद का धातु-पाठीय नियम तो चलता भी नहीं है। अतः यहाँ काशकृत्स्नसम्मत √निष् मानने की आवश्यकता नहीं है।

48 √पुष् बढ़ाना, पोसना, पुष्टि करना, मजबूत करना अर्थ में सकर्मक है। अनिट्-कारिकाओं में श्यन्-समेत 'पुष्य' दिया है, अतः यह सेट् ही है। अतः लुङ् में यहाँ **शल इगुपधादनिटः क्सः** से क्स नहीं होगा। **पुषादि-द्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु** में दैवादिक ही गृहीत है, अतः अङ् भी नहीं होता। इस प्रकार रूप-भेद होने के कारण इसे अलग से दिया है। पोषति; पुपोष, पुपुषतुः, पुपुषुः; पोषिता; अपोषीत्, अपोषिष्टाम्। पोषितः, पोषितवान्। पुष्टः दैवादिक का है।

49 √श्रिष्, 50 √श्लिष्, 51 √प्रुष्, 52 √प्लुष् दाह अर्थ में सकर्मक तथा सेट् हैं। सब उदित् हैं, अतः क्त्वा में वेट् तथा निष्ठा में अनिट् हैं।

---

1. प्र० 3.1.34.
2. उ० 3.1.34, पृष्ठ 113.
3. तुलनीय ऋ० 10.17.5.

शिश्रेष; श्रेषिता। श्लेषति; शिश्लेष ; श्लेषिता। अयमपि सेट्। 'अनिट्सु दैवादिकस्यैव ग्रहणम्', इति कैयटादयः। यत्त्वनिट्कारिका-न्यासे 'द्वयोर्ग्रहणम्' इत्युक्तम्, तत् (1) स्वोक्ति-विरोधाद्, (2) ग्रन्थान्तर-विरोधाच्चोपेक्ष्यम्।

हैं ॥ 30 ॥ श्लेषिता—यह भी सेट् है; 'अनिट् धातुओं में दिवादि गण की धातु का ही ग्रहण है', यह कैयट आदि कहते हैं; अनिट् कारिकाओं पर न्यास में जो यह कहा है कि दोनों का ग्रहण होता है, वह (1) अपने कथन से विरोध के कारण और

अयमपि सेट्—धातु-पाठ में √श्लिष् दो जगह उपलब्ध होती है : (1) भ्वादि में **श्रिषु···प्लुषु दाहे**—इस प्रस्तुत दण्डक में, (2) **श्लिष आलिङ्गने** (दि०)। आचार्य कैयट ने **श्लिष आलिङ्गने** (3.1.46) सूत्र पर '**श्लिषः क्स इति—श्लिष इत्यत्रानिट इत्यनुवर्तनाद्दाहार्थस्य सेटो ग्रहणाभावः।**' लिख कर दाहार्थक भौवादिक को सेट् बताया है। इसी प्रकार जिनेंद्रबुद्धि[1], हरदत्त, वर्धमान, क्षीरस्वामी तथा संमताकार आदि आचार्य भी भौवादिक को सेट् मानते हैं। इसी लिए दीक्षितजी ने भी '**श्लिष्यतयः**' (श्यन्-समेत) पाठ ही अनिट्-कारिका (6) में लिया है। अतः भौवादिक √श्लिष् को आचार्यपरंपरा सेट् ही मानती है।

आचार्य जिनेंद्रबुद्धि ने **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (7.2.10) पर काशिका की

शिषि, पिषि, शुष्यति-पुष्यती, त्विषि, विषि, श्लिषि, तुष्यति-दुष्यती, द्विषिम्।
इमान्दशैवोपदिशन्त्यनिड्विधौ गणेषु षान्तान्कृषि-कर्षती तथा ॥

अनिट्कारिका 8 की व्याख्या में '**श्लिष आलिङ्गने** (दि०), **श्रिषु, श्लिषु प्रुषु, प्लुषु दाहे** (भ्वा०) **द्वयोरपि ग्रहणम्।**' लिखा है। **श्लिष आलिङ्गने** (3.1.46) पर उन्होंने भौवादिक को सेट् कहा है।[1] इस प्रकार न्यासकार ने परस्पर-विरुद्ध बातें कहीं हैं। इसके अतिरिक्त, कैयट आदि अन्य प्रमाणभूत आचार्यों का भी दोनों को अनिट् मानने में विरोध है। अतः इन दो दोषों के कारण न्यासकार का 7.2.10 पर '**द्वयोर्ग्रहणम्**' वचन मान्य नहीं हो सकता।

भौवादिक धातु का दाह अर्थ होने से **श्लिष आलिङ्गने** (3.1.46) सूत्र से लुङ् में क्स प्राप्त नहीं होता। फलतः इट् तथा ईट् होने पर 'अश्लिष्+इ+स्+ई+त्' स्थिति में सकार-लोप आदि के अनन्तर लघूपधगुण : अ+श्लेष्+ईत्=अश्लेषीत्। अश्लेषिष्टाम्। अश्लेषिषुः।

---

1. न्यास 3.1.46 : अथ '**श्रिषु, श्लिषु, प्रुषु, प्लुषु दाह**' इत्येतस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति ? आलिङ्गने तस्य वृत्त्यसम्भवात्। '**अनिट**' इत्यधिकाराच्च। अस्य सेट्त्वात्।

पुप्रोष; पुप्लोष । 53 पृषु, 54 वृषु, 55 मृषु सेचने ॥ 31 ॥ मृषु सहने च । इतरौ हिंसा-संक्लेशनयोश्च । पर्षति; पपर्ष; पृष्यात् । 56 घृषु संघर्षे ॥ 32 ॥ 57 हृषु अलीके ॥ 33 ॥ 66 ॥

(2) दूसरे ग्रंथों से विरोध के कारण उपेक्षणीय है । 53 √पृष्, 54 √वृष्, 55 √मृष् (सब उदित्) सींचना अर्थ में हैं ॥ 31 ॥ √मृष् सहन करने में भी है। दूसरी दो हिंसा करने और पीडित करने में भी हैं । 56 √घृष् (उदित्) संघर्ष करने (घिसने) में है ॥ 32 ॥ 57 √हृष् झूठ बोलने, अप्रिय करने में है ॥ 33 ॥ 66 ॥

---

53 √**पृष्**, 54 √**वृष्**, 55 √**मृष्** (सब उदित्) सींचना (सकर्मक), बूँद पड़ना, बरसना अर्थ में (अकर्मक) हैं । क्षीरस्वामी ने 55 √**मृष्** को सहना अर्थ में भी बताया है । सायण ने 53 √**पृष्** और 54 √**वृष्** को हिंसा और संक्लेशन अर्थों में भी बताया है तथा काश्यप के अनुसार धातु-सूत्र यों दिया गया है : **पृषु, हृषु हिंसा-सङ्क्लेशन-दानेषु** । अर्थात् काश्यप के अनुसार यहाँ **मृषु** की जगह **हृषु** है, जो यहीं अलीक अर्थ में दी है । क्षीरस्वामी ने **भृषु हिंसा-संघातयोः** भी यहाँ दी है । पृषत् —बूँद तथा बुँदकियों वाला हरिण । ये सब उदित् होने से क्त्वा में वेट् तथा निष्ठा में अनिट् हैं । वृष्ट्वा, वर्षित्वा, वृष्टो देवः । पृष्णिः=किरण । पृष्ठम्=पीठ । वृषः =साँढ, तु० उक्षा । वर्षम् साल तथा वर्षा ।

56√**घृष्** धातु घिसना (घिसना तथा घसना) अर्थ में सकर्मक और सेट् है । घर्षति; घर्षिता; अघर्षीत् । रामः चन्दनं घर्षति—राम चन्दन घिसता है । वीनाहे रज्जुर्घर्षति (कुएँ की जगत पर रस्सी घिसती है) । घृष्ट्वा; घर्षित्वा; घृष्टम् । सङ्घर्षः ।

57 √**हृष्** (उदित्) 'अलीक' अर्थ में सेट् है । यहाँ 'अलीक' का अर्थ कुछ स्पष्ट नहीं है । लोक में तथा वेद में यह 'मिथ्या' अर्थ में प्रसिद्ध है । अतः वा० दी० ने इसका अर्थ 'झूठा होना', 'झूठा पड़ना', अथवा 'झूठ बोलना' बताया है : **अलीकं= मिथ्या-भवनं, मिथ्योक्तिर्वा** (—बा० म०) । भट्टमल्ल ने (आ० च० 1.3.19 में) इसे 'गर्व' अर्थ में बताया है । काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नडटीका में 'अलीक' का अर्थ 'आनंद' दिया है । का० (7.2.29) में इसे 'हर्ष' शब्द से व्यक्त किया है : **तद्विषये च हर्षे वर्तमानो लोमसु वर्तत इत्युच्यते** । शब्विकरण के साथ यह वैदिक वाङ्मय में आत्मनेपद में ही उपलब्ध है तथा अर्थ 'आनंद' ही है : **प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति, हर्षते अस्य सेना** (ऋ० 9.96.1); **याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणी-भिर्युवतिभिर्न मर्यः** (ऋ० 10.30.5) ।

आनंद, विस्मय, सिहरन के मारे रोमांच हो जाता है । अतः धातु का प्रयोग रोमन् की कर्तृता में 'खड़ा होना' (रोमांच होना, रोयें उठना) अर्थ में भी होता है :

18.58 तुस, 59 ह्रस, 60 ह्लस, 61 रस शब्दे ॥ 34 ॥ तुतोस; जह्रास; जह्लास; ररास। 62 लस श्लेषण-क्रीडनयोः ॥ 35 ॥ 63 घस्लृ

अष्टादश वर्ग : आ. ऊष्मांत परस्मैपदी शेष 30 धातु

18.58 √तुस्, 59 √ह्रस्, 60 √ह्लस्, 61 √रस् शब्द करने में है ॥ 34 ॥ 62 √लस् चिपकना, ल्हिसना तथा खेलना अर्थों में है ॥ 35 ॥ 63 √घस् खाने में

हृष्टानि लोमानि (का० 7.2.29)—**हृष्टानि=उत्स्फुटानि** (प०म०)। **हृष्टा दन्ताः** (वहीं काशिका)=**कठिन-द्रव्य-खादनेन, शीत-पीडया वा हता इत्यर्थः** (प०म०)। **रोमहर्षश्च जायते** (गीता 1.29)।

यह उदित् होने से क्त्वा में वेट् तथा निष्ठा में अनिट् है : हर्षित्वा, हृष्ट्वा; **प्रियां मयूरः प्रतिननृतीति यद्वत् त्वं नरवर, ननृतीषि हृष्टः** (म० भा० 7.3.87)। रोमांच, सिहरन अर्थ में निष्ठा में यह वेट् है : **हृष्टाः केशाः, हृषिताः केशाः** (म०भा० 7.2.29)। हर्षति; जहर्ष; हर्षिता; हर्षिष्यति; हर्षतु; हर्षेत्; हृष्यात्; अहर्षीत्; अहर्षिष्यत्।

धातु-योग : गत धातु 644, वर्तमान 57, योग 701 ॥ 66 ॥

18.58 √**तुस्, 59 ह्रस्, 60 ह्लस्** और 61 √**रस्** आवाज़ करना अर्थ में बताई हैं। इनमें से 61 √**रस्** इस अर्थ में प्रसिद्ध है : **मेघ-निर्घोषे रसितादि च** (अ०को०)। यास्क ने भी यह इस अर्थ में दी है : **रसा=नदी, रसतेः शब्द-कर्मणः** (नि० 11.25)। 59 √**ह्रस्** छोटा होना अर्थ में प्रसिद्ध है : **ह्रस्वोः ह्रसतेः** (नि० 3.13) तथा दुर्ग : **ह्रसितो हि भवति स महतः सकाशात्**। तथा निरुक्त 2.17 : **अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव, निर्ह्रसितोपसर्ग आ-हन्तीति**। एवम् इस पर दुर्ग : **आङ्-पूर्वस्य हन्तेः; स पुनरुपसर्गं निर्ह्रस्य=ह्रस्वं कृत्वाऽहिरुच्यते**। 60 √**ह्लस्** रेफवान् धातु से ही विकसित प्रतीत होती है, जो प्राकृत-भाषी लोगों से संस्कृत में आ गई होगी। 58 √**तुस** 'तोसल' देश-विशेष तथा वहाँ के राजा के नाम में प्रयुक्त है (क्षीरस्वामी)। तोसति; तुतोस, तुतुसतुः; तोसिता; अतोसीत्; ह्रसति; जह्रास, जह्रसतुः; ह्रसिता; अह्रासीत्, अह्रसीत्; रसति; ररास, रेसतुः, रेसुः, रेसिथ; रसिता; अरासीत्, अरसीत्। तोसलः; ह्रस्वः; रसा नदी, पृथ्वी।

62 √**लस्** दो अर्थों में बताई है, पर दूसरा (क्रीडन) अर्थ ही अधिक प्रसिद्ध है : लास्य, विलास, अलसः। यह ल्हिसना, चिपकना, चिप-चिपाना, अर्थ में शायद उपलब्ध नहीं है। मज़े लेना, आनंद, मौज करना, शोभायुक्त होना अर्थ में 'वि' के साथ प्रयुक्त होता है। लसति; ललास, लेसतुः; अलासीत्, अलसीत्।

63 √**घस्** खाना अर्थ में है। √जक्ष् इसी से विकसित प्रतीत होती है।

अदने ।। 36 ।। अयं न सार्वत्रिकः, 'लिट्यन्यतरस्याम्' (2.4.40) इति अदेर्घस्लादेश-विधानात् । ततश्च यत्र लिङ्गं वचनं वाऽस्ति, तत्रैवास्य प्रयोगः ।

है ।। 36 ।। यह सब प्रत्ययों में उपलब्ध होने वाली नहीं है, क्योंकि 'लिटयन्यतरस्याम्' (2.4.40) से √अद् को 'घस्लृ' आदेश किया गया है । इस लिये जिस प्रत्यय में कोई

पाणिनि ने (1) √घस् को कुछ प्रत्ययों में √अद् के आदेश के रूप में दिया है;[1] (2) पर उन प्रत्ययों से अन्यत्र भी √घस् से क्मरच् प्रत्यय से 'घस्मर' शब्द बनाया है; इससे सूचित होता है कि उन्हें आदेशज √घस् के अलावा भी कोई √घस् अभिप्रेत है, और वह प्रकृत √घस् ही है ।[2] अतः क्षीरस्वामी तथा भट्टमल्ल का इसे कुछ लोगों के मत में होना बताना[3] उचित नहीं है ।

यह अदित् है, लृदित् नहीं : यह धातु अदितों के प्रकरण में है; लृदित्त्व का प्रयोजन लुङ् में अङ् करके अघसत् आदि रूप बनाना है, जो √अद् के आदेश √घस् के लृदित्-करण से आचार्य ने सिद्ध कर दिया है; प्रकृत स्थल में लृदित्त्व न केवल निष्प्रयोजन है, बल्कि प्रयोगों के विपरीत भी है : वैदिक वाङ्मय में पर्याप्त उपलब्ध अघस्ताम्, अघत्ताम् और अक्षन् रूप इसे अदित् मानने पर सारल्येन सिद्ध हो जाते हैं । अन्यथा इनकी सिद्धि के लिए प्रक्रिया-गौरव-बहुल व्यत्यय का सहारा लेना पड़ेगा । अतः कुछ लोगों के मत में पाणिनि को यहाँ **घसॅ अदने** पाठ अभीष्ट रहा होगा ।

अयं न सार्वत्रिकः—दसों लकार तथा उत्सर्ग-विशेष प्रत्यय सब धातुओं से होते हैं । पर, √घस् इसका अपवाद है : इस धातु से कुछ लकार तथा प्रत्यय ही हो पाते हैं । इसी बात को प्रकट करने के लिए आचार्य पाणिनि ने **लुङ्सनोर्घस्लृ** (2.4.37), **घञपोश्च** (38), **बहुलं छन्दसि** (39) तथा **लिट्यन्यतरस्याम्** (40) सूत्र बनाए हैं । ये सूत्र लुङ्, सन्, घञ्, अप् तथा लिट् परे रहते √अद् के स्थान में 'घस्लृ' आदेश करते हैं । इनमें से भी लिट् परे रहते विकल्प से, तथा शेष में नित्य आदेश होता है । यदि आचार्य को प्रस्तुत √घस् धातु का सब लकारों तथा प्रत्ययों में प्रयोग अभीष्ट होता, तो वे उपर्युक्त सूत्र न बनाते, क्योंकि उपर्युक्त सूत्रों से इष्ट रूप तो प्रस्तुत √घस् से

---

1. 2.4.37 : **लुङ्-सनोर्घस्लृ, घस्लृ-भावेऽच्युपसंख्यानम्** (वा०); 38 : **घञपोश्च;** 39 : **बहुलं छन्दसि;** 40 **लिट्यन्यतरस्याम् ।**
2. 3.2.160 : **सृ-घस्यदः क्मरच् ।** न्या० 2.4.40 : **अस्ति घसिः प्रकृत्यन्तरम्, 'सृ-घस्यदः क्मरच्' (3.2.160) इति क्मरच्विधानात् ।**
3. क्षी०त० 1.471 : **'घस्लृ अदने' इति केचित् ।** आ०च० 2.1.26, श्लोक 25 : **वल्भते, घसति क्वापि ।**

(1) अत्रैव पाठः शपि परस्मैपदे लिङ्गम्; (2) लृदित्करणमङि; (3) अनिट्-कारिकासु पाठो वलाद्यार्धधातुके; (4) क्मरचि तु विशिष्योपादानम् ।[1]

चिह्न, या (किसी मुनि का) कथन है, उसी में इसका प्रयोग होता है—(1) यहीं पाठ शप् (और) परस्मैपद में हेतु है; (2) लृ को इत्संज्ञक करना अङ् में प्रमाण है; (3) अनिट्-कारिकाओं में दिया जाना वलादि आर्ध-धातुक में प्रयोग का विनिगमक है;

ही तत्तद् घञ्, अप्, लिट्, लुङ् आदि में बन जाते । हाँ, √अद् से लुङ्, सन्, घञ् और अप् में प्राप्त अनभीष्ट आत्सीत्, अत्सिषति आदि पदों के निवारण के लिए उन-उन प्रत्ययों का √अद् से निषेध कर देते । इससे प्रस्तुत √घस् से घञ् आदि प्रत्ययों में 'घासः' आदि नित्य पद प्राप्त हो जाते तथा लिट् में एक रूप √घस् का तथा एक √अद् का होने से अभीष्ट 'जघास' तथा 'आद' दोनों रूप सिद्ध हो जाते । अतः √अद् के स्थान में 'घस्लृ' आदेश करने वाले चार सूत्र व्यर्थ ही होते, **लिट्यन्यतरस्याम्** की तो कोई आवश्यकता ही नहीं थी । इससे सिद्ध होता है कि भ्वादि-पठित प्रस्तुत 'घस्लृ' का प्रयोग सब लकारों तथा प्रत्ययों में नहीं होता । हाँ, जहाँ-जहाँ प्रयोग के विषय में (1) स्पष्ट प्रमाण अथवा (2) आचार्य का वचन मिलता है, वहीं-वहीं इसका प्रयोग होगा ।[2]

---

1. 'अयं न···विशिष्योपादानम् ।' कथन सायण के निम्न कथन का संक्षेप है : **'अयं न सार्वत्रिको 'लिट्यन्यतरस्याम्' इत्यदेर्घस्लादेश-विकल्प-विधान-वैयर्थ्य-प्रसङ्गात् । ततश्च द्वै-रूप्यं हि साध्यम् । ततश्च यत्र···लृदित्करणमङि ; 'घसिश्च सान्तेषु' इतीण्निषेधो वलाद्यार्धधातुके । यत्र प्रत्यये प्रतिपदोपादानं 'सृ-घस्यदः क्मरच्' इत्यादौ तद्वचनम्** (मा० धा० वृ०) । सायण का कथन हरदत्त के निम्न कथन पर आधारित है : **प्रकृत्यन्तरस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थमिदम् । तेन यत्र लिङ्गं वचनं वा नास्ति, तत्र तस्य प्रयोगो न भवति । तत्र (1) लृदित्करणं लुङि प्रयोगस्य लिङ्गम्, (2) 'घसिश्च सान्तेषु'** (का० 7.2.10, अनिट्कारिका 3) **इत्यनुदात्तपाठो वलादावार्धधातुके, (3) 'सृ-घस्यदः क्मरच्'** (3.2.160) **इति वचनं क्मरचि, (4) भूवादौ परस्मैपदिषु पाठात् परस्मैपदे प्रयोगः** (पदमंजरी 2.4.40) । हरदत्त ने जिनेंद्रबुद्धि के मन्तव्य का विस्तार ही किया है : **ननु च···तत् कथमिह लिटि विकल्पविधानम् ? घसेः प्रकृत्यन्तरस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थम् । तेन तस्य सार्वधातुक आर्धधातुके च यत्र लिङ्गं नास्ति वचनं च, तत्र प्रयोगो न भवति** (न्यास 2.4.40) ।

2. न्या० 2.4.40 : (प्रश्नः) **तत् कथमिह लिटि विकल्प-विधानम् ?** (उत्तरम्) **घसेः प्रकृत्यन्तरस्यासर्व-विषयत्व-ज्ञापनार्थम् । तेन तस्य सार्वधातुक आर्धधातुके च यत्र लिङ्गं नास्ति वचनं च, तत्र प्रयोगो न भवति ।** तु० प०म०, मा० धा० वृ० ।

√घस् के प्रयोग का क्षेत्र : (1) स्वादिगण में देने से शप् वाले लकारों में इसका प्रयोग होगा। (2) लृदित् पाठ से लुङ् में **'पुषादि-द्युताद्य्लृदितः०'** से अङ् होता है। अतः लृदित्करण इसके लुङ् में प्रयोग का विनिगमक है। (3) लृ को उदात्त करके धातु को उदात्तेत् बनाने से **शेषात् कर्तरि०** से परस्मैपद होगा। (4) अनुदात्त होने से अनिट् कारिकाओं में इसकी गिनती होती है, इसलिए वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों में इसका प्रयोग होता है। (5) **सृ-घस्यदः क्मरच्** (3.2.160) सूत्र में √घस् से क्मरच् का खास विधान किया है। इसलिए क्मरच् के साथ भी प्रस्तुत √घस् का प्रयोग होता है।[1]

(1) प्रमाण तथा वचन न मिलने से आशीर्लिङ् में इसका प्रयोग नहीं होता। (2) लिट् और लुट् में √अद् के आदेश √घस् के रूप उपलब्ध होने से इसके रूप नहीं बनते। शेष लट्, लुट्, लृट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ् तथा लृङ् में प्रयोग हो सकता है। (3) कर्मवाच्य में यक् के विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता, अतः यक् वाले 'घस्यते' आदि रूप नहीं बनते। हाँ, वलादि आर्ध-धातुक में इट का निषेध प्राप्त होता है, अतः कर्मवाच्य में भी लुट्, सिच् तथा लृङ् में प्रयोग हो सकता है।

यह विवरण सम्प्रदाय की विचारधारा के अनुसार है। हमारा विचार यह है :

यह धातु वैदिक वाङ्मय में शुद्धावस्था में लिट्, लेट्, लोट्, लङ् में, णिजन्त के लुङ् में तथा सन्नन्त रूपों में उपलब्ध है। गण-कार्य की दृष्टि से शब्लुक् वाले रूप अधिक हैं : घस्तु, घस्ताम्; अघत्, अघत्ताम्; अघः, अघस्ताम्। इन वैदिक रूपों की सिद्धि आचार्य ने **बहुलं छन्दसि** (2.4.39) से कर दी। शब्विकरण वाला एक रूप

पं० यु०मी० ने क्षी०त०, पृष्ठ 98, टि० 1, में मा०धा०वृ० के **'अयं न सार्वत्रिकः'** कथन को क्षीरस्वामी के प्रभाव में 'यह धातु सर्वाचार्य-सम्मत नहीं है', इस अर्थ में लिया है। उन्होंने सायण के " **'लिट्यन्यतरस्याम्' इत्यदेर्घस्लादेश-विकल्प-विधान-वैयर्थ्य-प्रसङ्गात्।**" वाक्यशेष पर ध्यान नही दिया लगता है।

1. प०म० 2.4.40 : **प्रकृत्यन्तरस्यासर्व-विषयत्व-ज्ञापनार्थमिदम्। तत्र तस्य प्रयोगो न भवति। तेन यत्र लिङ्गं वचनं वा नास्ति, तत्र (1) लृदित्करणं लुङि प्रयोगस्य लिङ्गम्; (2) 'घसिश्च सान्तेषु'** (का० 7.2.10 में अनिट्का० 3) **इत्यनुदात्त-पाठो वलादावार्धधातुके; (3) 'सृ-घस्यदः क्मरच्'** (3.2.160) **इति वचनं क्मरचि, (4) भूवादिषु परस्मैपदिषु पाठात् परस्मैपदे प्रयोगः।** वस्तुतः तो भौवादिक के लृदित्त्व का प्रयोजन 'अघात्सीत्' आदि अनिष्ट रूप रोकना है, तो, √अद् को लुङ् में 'घस्लृ' आदेश का प्रयोजन 'आत्सीत्' आदि रूपों का निवारण है। द्र०प०म० 2.4.37 : **अदेरात्सीदत्सिषतीत्यनिष्टं रूपं मा भूदिति योगारम्भः।** अतः आदादिक से काम चलने से भौवादिक के लिट् और लुङ् में रूप चलाना अपेक्षित नहीं है।

'घसन्तु' (शां०श्रौ०सू० 6.1.5 में) उपलब्ध है। शब्लुक् में **गम-हन-जन-खन-घसां लोपः०** से उपधा-लोप में 'क्षन्तु' प्राप्त होता है। इससे यह कहा जा सकता है कि इस धातु के शप् वाले रूप भी व्यवहार में आते होंगे। अतः इसका भ्वादिगण में पाठ आवश्यक था।

इन तिङंत रूपों के अलावा यह धातु कुछ (गिनती के—पाँच-सात) कृदंत शब्दों में भी उपलब्ध है। इनमें घस्मर, घस्वर एवं घस्र शब्द महत्त्व के हैं। सन् एवम् वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों में इडभाव करने के लिये √घस् को अनुदात्त किया है।

इस विवरण से एक बात तो यह स्पष्ट है कि यह एक ऐसी प्राचीन धातु है, जो पाणिनि से पहले ही सामान्य व्यवहार की धातु (Floating root) नहीं रह गई थी। अतः आज इसका सब लकारों तथा कृदंत प्रत्ययों में प्रयोग करना उचित नहीं है। वाङ्मय में उपलब्ध रूपों के अलावा अन्य रूपों में प्रयोग करना उचित नहीं होगा। अतः, हमारे विचार में तो इसका प्रयोग (क) न तो सब सार्वधातुक लकारों में होना चाहिये—'घसन्तु' की सिद्धि करना ही (1) शब्विकरण वाले गण में तथा (2) उदात्तेत् पाठ का प्रयोजन है—(ख) और न सब वलादि आर्ध-धातुकों में। घस्मर, घस्वर, घस्र तथा √जिघत्स में इण्निषेध से अनुदात्तत्व चरितार्थ हो जाता है। अतः सब वलादि आर्धधातुकों में इसके रूप चलेंगे, यह कहना उचित नहीं है।

√अद् के स्थान में √घस् आदेश का भी इतना ही तात्पर्य है कि √अद् के रूप इन-इन लकारों तथा प्रत्ययों में प्रयोग में नहीं आते; इन सब में √अद् के अर्थ को कहने के लिये √घस् के उन-उन लकारों तथा प्रत्ययों के रूपों का ही प्रयोग करना चाहिये। अतः √अद् का आदेश √घस् और भौवादिक √घस् एक ही हैं, प्रकृत्यंतर नहीं। आचार्य ने भ्वादि-गण में तथा आदेश-विधायक सूत्र में एकवाक्यता के लिये धातु लृदित् ही दी है। यहाँ (भ्वादिगण में) यदि अदित् दी होती, तो अनिष्ट 'अघात्सीत्' रूप प्राप्त होता। सूत्र में उच्चारणार्थ कोई स्वर तो देना ही था, 'लृ' ही दे दिया। इससे आदेशज धातु के भी 'अघात्सीत्' रूप की निवृत्ति हो गई। अन्यत्र √घस् का स्मरण आचार्य ने 'घसि' (इगंत-निर्देश) से या शुद्ध √घस् के रूप में किया है।

अतः न √अद् सार्वत्रिक है, और न √घस् ही। √घस् की अपेक्षा √अद् का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। वाङ्मय में भी √अद् जहाँ बहुतायत से प्रयुक्त मिलती है, वहीं √घस् उसकी तुलना में बहुत स्वल्प।

क्षीरस्वामी ने इस धातु के आख्यात रूप नहीं दिये हैं। घञ् में 'घासः' तथा क्मरच् में 'घस्मरः' ही उदाहरण के रूप में दिये हैं। उनके इस मौन का अर्थ यह निकाला जा सकता है कि भौवादिक √घस् उनके मत में आख्यात रूपों के लिये नहीं,

घसति; घस्ता। 2342 सः स्यार्धधातुके (7.4.49)—सस्य तः स्यात् सादावार्धधातुके। घत्स्यति; घसतु; अघसत्; घसेत्। लिङ्गाद्यभावादाशिष्यस्याप्रयोगः। 2343 पुषादि-द्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु (3.1.55)—(1)

(4) क्मरच् प्रत्यय में तो विशेष रूप से ग्रहण करना (प्रमाण) है। 2342 स् को त् हो सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय बाद में होने पर। घत्स्यति। लिङ्ग आदि न होने से आशीर्लिङ् में इसका प्रयोग नहीं होता। 2343 (1) श्यन् विकरण वाली √पुष् आदि

अपितु 'घस्मर' आदि कृदंत शब्दों के लिये ही पठित है। परंतु, घञ् में √अद् के आदेश √घस् से 'घासः' की सिद्धि होने के कारण उसे यहाँ उदाहृत करना चिन्त्य है।

घसति—घस्+ति, घस्+शप्+ति=घसति। इसी प्रकार घसतः, घसन्ति इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। अनद्यतन भूत (लङ्) में इसके तथा सामान्य भूत (लुङ्) में आदेश √घस् के रूप समान ही होते हैं, परंतु प्रक्रिया भिन्न (शप् की और अङ् की) होती है। दोनों लकारों में स्वर में भेद है।

लिट् में आदेश √घस् से काम चल जाने से इसकी रूप-प्रक्रिया नहीं होती। लुट् में घस्+ता, **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** से प्राप्त इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से उपदेश में अनुदात्त होने से निषेध होता है : घस्ता, घस्तारौ, घस्तारः इत्यादि। लृट् में घस्+स्य+ति, इट् का निषेध होने पर **सः स्यार्धधातुके** से √घस् के स् को त् हो जाता है : घत्+स्य+ति=घत्स्यति; घत्स्यतः; घत्स्यन्ति इत्यादि।

2342 सः स्यार्धधातुके (7.4.49)—अच उपसर्गात्तः (40); 'तः' में अकार उच्चारण के लिए है : सः 6.1, तः 1.1, सि 7.1, आर्धधातुके 7.1। स् आर्धधातुक परे रहते प्रस्तुत सूत्र लगता है, अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से 'स्' में 'आदौ' पद जुड़ जाता है : सः तः सि (=सादौ) आर्धधातुके—स् के स्थान में त् होता है, आदि में सकार वाला आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते।

2343 पुषादि-द्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु (3.1.55)—च्लेः सिच् (44), अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ् (52) : पुषादि-द्युताद्य्लृदितः 5.1, च्लेः 6.1, अङ् 1.1, परस्मैपदेषु 7.3—√पुष् आदि, √द्युत् आदि तथा लृदित् धातु से परे स्थित च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है, परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय परे रहते। 'अङ्' के ङित् होने से इगुपध धातुओं में **क्ङिति च** से गुण का निषेध हो जाता है।

√**पुष् पुष पुष्टौ** के रूप में भ्वा०, दि० और क्र्या० में तथा **पुष धारणे** के रूप में चुरादिगण में आता है। प्रस्तुत सूत्र में कौन-सी √पुष् को **आदि** मान कर पुषादि गण लेना है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। (1) यदि भ्वादि-पठित √पुष् से पुषादि गण माना जाए, तो प्रस्तुत सूत्र में द्युतादि गण का ग्रहण व्यर्थ होता है, क्योंकि इन पुषादि धातुओं के ठीक बाद **द्युत दीप्तौ** से द्युतादि गण प्रारंभ होता है, अतः केवल

श्यन्विकरण-पुषादेः, (2) द्युतादेः, (3) लृदितश्च परस्य च्लेरङ् स्यात् परस्मैपदेषु । अघसत् ।

के, (2) √द्युत् आदि के और (3) इत्संज्ञक ह्रस्व लृ वाली धातु के बाद स्थित च्लि को अङ् हो, बाद में परस्मैपद होने पर । अघसत् ।

'पुषादि' के ग्रहण से ही अव्यवहित-पठित 'द्युतादि' धातुओं के ग्रहण के बावजूद द्युतादिगण का अलग से ग्रहण करने में आचार्य का अभिप्राय यही है कि भौवादिक धातुओं को 'पुषादि' गण से यहाँ नहीं लेना चाहिए । (2) यदि क्र्यादि-पठित √पुष् से पुषादि गण माना जाए, तो उसमें गौरव है । क्योंकि वहाँ उस पुषादि गण में √पुष् के अतिरिक्त **मुष स्तेये, खच भूत-प्रादुर्भावे, हेठ च** तथा **ग्रह उपादाने** ये चार धातु आती हैं । यदि ये ही अभिप्रेत होतीं, तो 'पुषादि' शब्द को न देकर धातुपाठ में इन्हें ही लृदित् **मुष्लृ, खच्लृ, हेठ्लृ ग्रह्लृ** होने से ही 'अङ्' हो जाता और एक पूरे पद का लाघव हो जाता । अतः आचार्य का अभिप्राय क्र्यादिक 'पुषादि' धातुओं को यहाँ लेना नहीं दीखता । (3) यदि चौरादिक √पुष् आदि को लिया जाए, तो (क) यह परिभाषा-शास्त्र-विरुद्ध होगा, क्योंकि यहाँ **'पुषादि-द्युताद्यलृदितः'** पद में पठित पंचमी से **तस्मादित्युत्तरस्य** परिभाषा-सूत्र से 'उत्तरस्य' अर्थ उपस्थित होता है । इससे धातु से अव्यवहित परे च्लि होना चाहिए । पर चौरादिक धातुओं में तो धातु तथा च्लि के बीच में 'णिच्' का अपरिहार्य व्यवधान होता है । (ख) चुरादि की धातुओं में **णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः०** से च्लि को चङ् विहित है । इन धातुओं में उस के बाधित होने से इष्ट चङ्वान् अपूपुषत् आदि रूप निष्पन्न हो पायेंगे । अतः चुरादि-पठित धातुओं को 'पुषादि' गण से लेना प्रस्तुत सूत्र में आचार्य को इष्ट नहीं हो सकता । (4) प्रस्तुत सूत्र में पारिशेष्यात् दिवादि-पठित पुषादि गण का ही ग्रहण होता है । इसीलिए आचार्य दीक्षितजी ने **'श्यन्-विकरण-पुषादयः'** लिखा है ।

शंका : चुरादि-पठित सभी धातुओं से णिच् विकल्प से होता है ।[1] अतः जब णिच् नहीं होता, उस स्थिति में णिच् का व्यवधान नहीं रहता । णिजभाव में अङ् के चरितार्थ होने से चङ् का अपवाद नहीं होगा । अतः चङ्वान् रूप भी रहेंगे । इस लिये चौरादिक 'पुषादि' गण को भी यहाँ लिया जाना चाहिये ।

उत्तर : व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम् न्याय से आचार्य-परंपरा में लक्ष्यानुरोध से 'पुषादि' गण से दैवादिक ही ली गई है, चौरादिक नहीं ।

शंका : यदि पुषादि तथा द्युतादि धातुओं को 'लृदित् कर दिया जाए, तो

---

1. सि० कौ०, चुरादिगण में **'बहुलमेतन्निदर्शनम्'** (ग० सू०) की अन्यतम व्याख्या : **'चुरादिभ्य एव बहुलं णिच् इत्यर्थ' इत्यन्ये ।**

64 जर्ज, 65 चर्च, 66 झर्झ परिभाषण-हिंसा-तर्जनेषु ॥ 37 ॥

64 √जर्ज्, 65 √चर्च्, 66 √झर्झ् निंदा-युक्त परिहास करना, हिंसा करना और लताड़ना, धमकाना अर्थों में हैं ॥ 37 ॥

लृदित् होने से उनसे अङ् हो जायेगा। लृ को ही उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित आवश्यकतानुसार करने से परस्मैपद, आत्मनेपद तथा उभयपद भी यथोचित हो जाएगा। अतः सूत्र में 'पुषादि-द्युतादि' पदों को देना गौरव ही है।

उत्तर : आचार्य का अनुबंधकरण सप्रयोजन है—पुषादि तथा द्युतादि गणों में ही आचार्य ने किसी धातु में ईत्, ऊत् तथा उत् को अनुबंध के रूप में दिया है, तो कुछ में आत् को। फलतः **श्विता वर्णे** (भ्वा०), **ञिमिदा स्नेहने** (भ्वा०), **वृतु वर्तने** (भ्वा०), **ष्विदा गात्र-प्रक्षरणे** (दि०), **षिधु संराद्धौ** (दि०) आदि में 'अत्' तथा 'उत्' की इत्संज्ञा होने से **आदितश्च** (7.2.16) से निष्ठा में इट् का निषेध तथा क्त्वा में **उदितो वा** (6.2.56) से इड्विकल्प होता है। यदि केवल लृदित् ही दिया जाये, तो लक्ष्य-दोष आता है। और यदि 'आत्' आदि अनुबंधों के साथ लृदित् भी दिया जाये, तो ग्रंथ-गौरव दोष आता है। अतः दोनों दोषों से छुट्टी पाने लिए 'पुषादि' तथा 'द्युतादि' गणों को दिया है।[1]

अघसत्—सायण तथा तदनुसारी दीक्षितजी के मत में धातु को लृदित् करने से प्रकृत √घस् का लुङ् में प्रयोग अनुमत है : √घस्+लुङ्, लुङ् को ति, **इतश्च** से ति के 'इ' का लोप : घस्+त्; च्लि को **पुषादि-द्युताद्य्लृदितः०** से अङ् : घस्+अत्, अडागम : अघस्+अ+त्=अघसत्।

शेष रूपों की प्रक्रिया भी इसी प्रकार होगी। अघसताम्, अघसन्; अघसः, अघसतम्, अघसत; अघसम्, अघसाव, अघसाम। लृङ् में अघत्स्यत् आदि।

64 √**जर्ज्**, 65 √**चर्च्** तथा 66 √**झर्झ्** धातु निंदा करते हुए उलाहना देना, हिंसा करना, तथा तर्जन करना (लताड़ना) अर्थों में (सकर्मक) हैं। इन तीनों को चवर्गीयांत धातुओं में देना उचित है। ऊष्मांतों में शायद लेखक के प्रमाद से आ गई हों। मैत्रेय के अनुसार अर्थ के अनुरोध से यहाँ दीं गई हैं। पर यह उचित नहीं है। इस अर्थ में इससे पूर्व और तो धातु पठित भी नहीं हैं, तब अर्थानुरोध कैसा ? क्षीर-स्वामी के अनुसार **चर्च, झर्छ, झर्झ** परिभाषणे पाठ है। चंद्र तथा दुर्ग के अनुसार **जर्ज** के स्थान में **जर्त्स** है। कोई **जर्ज** मानते हैं, तो कोई **झर्च**। राम जाने कौन-सा पाठ ठीक है ! जर्जति, चर्चति इत्यादि।

---

1. न्या० तथा प० म० 3.1.55 तथा प्रकृत स्थल पर त० बो० एवं बा० म०।

67 पिसृ, 68 पेसृ गतौ ॥ 38 ॥ पिपिसतुः ; पिपेसतुः । 68 हसे हसने ॥ 39 ॥ एदित्त्वान्न वृद्धिः—अहसीत् । 69 णिश समाधौ ॥ 40 ॥ तालव्योष्मान्तः । प्रणेशति । 70 मिश, 71 मश शब्दे रोष-कृते च ॥ 41 ॥ तालव्योष्मान्तौ ।

72 शव गतौ ॥ 42 ॥ दन्त्योष्ठ्यान्तः, तालव्योष्मादिः । शवति; अशवीत्, अशावीत् ।

67 √पिस, 68 √पेस् (दोनों ऋदित्) गति अर्थ में हैं ॥ 38 ॥ 68 √हस् (एदित्) हँसने में है ॥ 39 ॥ एदित् होने से वृद्धि नहीं होती । अहसीत् ।

69 √णिश् (>√निश्) एकाग्र होने में है ॥ 40 ॥ (यह) अंत में तालव्य ऊष्म वर्ण वाली है । 70 √मिश्, 71 √मश् आवाज़ करने तथा गुस्से से की (आवाज़) करने में भी हैं ॥ 41 ॥ दोनों अंत में तालु से उच्चरित ऊष्म वर्ण वाली हैं ।

72 √शव् गति अर्थ में है ॥ 42 ॥ (यह) अंत में दंत्योष्ठ्य वर्ण और आदि में तालव्य ऊष्म वर्ण वाली है ।

---

67 √**पिस्** तथा 68 √**पेस्** धातु गति अर्थ में (सकर्मक) हैं । दोनों धातुओं के रूप समान ही होते हैं । केवल कित् प्रत्यय परे रहते भेद होता है : पिपेस, पिपिसतुः; पिपेस, पिपेसतु । अपेसीत् । मा० धा० वृ० के अनुसार किसी-किसी पाठ में **विसृ, वेसृ, पिशृ, पेशृ** धातु भी मिलनीं हैं । मैत्रेय आदि आचार्यों ने ये नहीं दीं हैं ।

68 √**हस्** (एदित्) धातु हँसना अर्थ में है । यह प्रयोग-वशात् अकर्मक तथा सकर्मक दोनों तरह की है । हसति; जहास; हसिता; एदित् होने से लुङ् में **हम्यन्त-क्षण-श्वस०** आदि से **अतो हलादेः०** से प्राप्त वृद्धि का निषेध हो जाता है : अहसीत् । हस्रं मुखम्=हँसता चेहरा, यहाँ √हस् से **स्फायि-तञ्चि-वञ्चि०** (उ० सू० 178) से रक् होता है । हस्यत इति हस्रः=जिसकी हँसी उड़ाई जाती है, वह (मूर्ख) हस्र है ।

69 √**निश्** चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध या एकाग्र करना अर्थ में है । प्र+नेशति, **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** से धातुके न् को ण : प्रणेशति । निनेश, निनिशतुः, निनिशुः, निनेशिथ, निनिशथुः; नेशिता; नेशिष्यति; नेशतु; अनेशत्; नेशेत्; निश्यात्; अनैशीत्, अनैशिष्टाम्, अनैशिषुः । चित्त-वृत्तियों का निरोध निद्रा के द्वारा कर देती है, अतः निशा रात्री (—मैत्रेय) । यों, यह शब्द नि+√शी से भी निष्पन्न हो सकता है : नितरां शेरतेऽस्यां प्राणिन इति निशा (मा०धा०वृ०) ।

72 √**शव्** गति अर्थ में यास्क ने भी बताई है । यह इस अर्थ में तिङंत के रूप में काबुल के इलाके में बोली जाती रहीं है, पश्तो में अब भी प्रयुक्त होती है । आर्यों

73 शश प्लुत-गतौ ॥ 43 ॥ तालव्योष्माद्यन्तः । शशाश, शेशतुः, शेशुः, शेशिथ । 74 शसु हिंसायाम् ॥ 44 ॥ दन्त्योष्मान्तः । 'न शस-दद०'

73 √शश् उछलकर चलना अर्थ में है ॥ 43 ॥ आदि और अंत में तालव्य ऊष्म वर्ण वाली है ।

74 √शस् (उदित्) हिंसा करना अर्थ में है ॥ 44 ॥ अंत में दंत्य ऊष्म वर्ण वाली है । 'न शस-दद-वादि-गुणानाम्' (2263) से एत्त्व (और अभ्यास-लोप) नहीं

में इसके कृदंत रूप शव (मुर्दा शरीर) तथा वैदिक शवस् (बल) प्रयुक्त होते हैं ।[1] शवति; शशाव, शेवतुः, शेवुः; शविता; अशावीत्, अशवीत् । शवरः, शबरः जाति-विशेष; शावः, शावकः छौना, पशु या पक्षी का बच्चा ।

73 √**शश्** उछल कर चलने में सकर्मक है । क्षी० त० में 'प्लुति-गमने' अर्थ है, जिसकी व्याख्या उन्होंने 'प्लुतिभिर्गमने' की है । शशति; शशाश, शेशतुः, शेशुः; अशाशीत्, अशशीत् । शशः, शशकः खरगोश, सूस्सा । शशीयसी एक ऋषिका ।

क्षी० त० में इसके बाद **कव शब्दे** भी है । कौशिक के मत में **कश** बताया है । काशः=कास, काँस; 'काशि' इस नाम का एक जन-पद है, जिसकी राजधानी काशी नगरी थी; कश्मीराः=कश्मीर । सायण के मत में यह धातु अनार्ष है : (1) यदि यह धातु यहाँ होती, तो काशिका, न्यास और पद-मंजरी में **प्रतिष्कशश्च कशेः** (6.1.152) की √कश् से आदादिक **कश गति-शासनयोः** को न लिया जाता; (2) **नाभ्यस्त-स्याचि पिति सार्वधातुके** (7.3.87) पर वार्तिक में अभिप्रेत 'चाकशीमि' को पतंजलि ने प्रकृत्यंतर (√काश् से भिन्न) √कश् से बताया है, जिससे कैयट ने आदादिक **कश गति०** को ही लिया है; कुछ लोगों के अनुसार आदादिक धातु दंत्य-सकारांत है । ऐसी स्थिति में कैयट ने औणादिक **कशेर्मुट्** सूत्र और अष्टक के **प्रतिष्कशश्च कशेः** सूत्र में पठित (सौत्र) √कश् को लिया है, न कि प्रकृत को । अतः इन सबके समक्ष यह यहाँ नहीं थी ।

74 √**शस्** (उदित्) हिंसा करना, मारना, काटना अर्थ में है । √शस्+अतुस् में **अत एक-हल्मध्ये०** का निषेध **न शस-दद-वादि-गुणानाम्** से हो जाता है : शशसतुः, शशसुः । अशासीत्, अशसीत्; क्षीरस्वामी ने **हृस्यन्त-क्षण-शस-जागृ-णि-श्न्येदिताम्** पाठ मानकर केवल अशसीत् रूप दिया है । शसित्वा, शस्त्वा । निष्ठा में **यस्य विभाषा** से इण्निषेध प्राप्त हुआ, **धृषि-शसी वैयात्ये** (7.2.19) से यह वैयात्य (अविनीतता) अर्थ

---

1. नि० 2.2 : **शवतिर्गति-कर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते; विकारमस्यार्येषु भाषन्ते 'शव' इति** । तुलनीय : म० भा० 1.1.1.

(2263) इति एत्त्वं न—शशसतुः, शशसुः, शशसिथ । 75 शंसु स्तुतौ ॥ 45 ॥ 'अयं दुर्गतावपी'ति दुर्गः । 'नृशंसे, घातुक; क्रूरः' इत्यमरः । शशंस । आशिषि न-लोपः—शस्यात् ।

76 चह परिकल्कने ॥ 46 ॥ कल्कनं=शाठ्यम् । अचहीत् ।

(होते)—शशसतुः । 75 √शंस् (उदित्, नोपध) प्रशंसा करने में है ॥ 45 ॥ 'यह बुरी गति होने में भी है', यह दुर्ग मानते हैं । 'नृशंस, घातुक, क्रूर' (ये पर्याय हैं), यह अमरसिंह कहते हैं । आशीर्लिङ् में नकार का लोप होता है—शस्यात् ।

76 √चह् परिकल्कन में है ॥ 46 ॥ कल्कन माने शठता (धूर्तता, ढिठाई)

में ही नियत है, अतः हिंसा अर्थ में इट् होगा : शसितः, विशसितः । अविनीतता अर्थ में विशस्तः धृष्ट, ढीठ, हिक्कड़ । शस्त्रम्=हथियार । यह हिंसा अर्थ में 'वि' के साथ अधिक प्रयुक्त होती है ।[1] **अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता, क्रय-विक्रयी** (मनुस्मृति 5.51) —**विशसिता=हतस्याङ्ग-विभाग-कारः** (मेधातिथि), **अङ्गानि यः कर्तर्यादिना पृथक् पृथक्करोति** (कुल्लूक) । क्षी० त० में अर्थनिर्देश **हिंसाऽर्थः** पाठभेद है । पर यु० मी० जी ने इसे मूल में रखकर 'हिंसायाम्' को टि० में पाठांतर के रूप में प्रदर्शित किया है ।

75 √**शन्स्** उपदेश में नोपदेश और उदित् है, अतः इसके बाद कित् और ङित् होने पर नकार का लोप हो जाता है; शेष प्रत्ययों में अनुस्वार रहता है; उदित् होने से क्त्वा में वेट् है तथा निष्ठा में अनिट् । क्षीरस्वामी और सायण ने इसे स्तुति अर्थ में ही दिया है । पर दुर्ग ने स्तुति एवं हिंसा अर्थ में दिया है : **शंसु स्तुतौ च** । इसका प्रयोग दोनों अर्थों में मिलता है : नराशंस, प्रशंसा, शस्त्र (स्तोत्र मन्त्र) आदि में यह स्तुति अर्थ में है, तो नृशंस, शंस्ता (पशु-विशसिता, कसाई—क्षीरस्वामी) में हिंसा में ।

शंसति; शशंस; संयोग के पश्चात् होने से अतुस् आदि कित् नहीं हैं, अतः न-लोप नहीं होता : शशंसतुः, शशंसुः; शंसिता; आशीर्लिङ् में यासुट् **किदाशिषि** से कित् है, अतः **अनदितां हल०** से नकार का लोप होता है : शस्यात्, शस्यास्ताम्; अशंसीत्, अशंसिष्टाम्; अशंसिष्यत् ।

76 √**चह्** शठता करना अर्थ में है । क्षीरस्वामी ने अर्थ 'कल्कने' करके

---

1. प० चारुदेवजी के व्या०च०, भाग 3, पृष्ठ 40, में 'शस् (मारना) का प्रयोग विना वि उपसर्ग के नहीं होता—विशसति' । का आशय कदाचित् √शस् के तिङन्त रूप के प्रयोग से ही है, अन्यथा नाम पदों में तो यह प्रायेण वि से रहित मिलती है : शसन, शस्त, शस्तृ, शस्त्र, शास (खड्ग, द्र० शाबर भाष्य 9.4.23 : **असिं वै शासमाचक्षते इति**) । पर इस आशय को स्पष्टतया कहना उचित है ।

77 मह पूजायाम् ॥ 47 ॥ अमहीत् । 78 रह त्यागे ॥ 48 ॥ 79 रहि गतौ ॥ 49 ॥ रंहति; रंह्यात् । 80 दृह, 81 दृंहि, 82 बृह, 83 बृंहि वृद्धौ ॥ 50 ॥ दर्हति; ददर्ह, दर्ह्हतुः; दृंहति; बर्हति; बृंहति । बृंहि शब्दे च ॥ 51 ॥ 'बृंहितं करिगर्जितम्' इत्यमरः । 'बृंहिर्' इत्येके—अबृहत्, अबर्हीत् । 84 तुहिर्, 85 दुहिर्, 86 उहिर् अर्दने ॥ 52 ॥ तोहति; तुतोह; अतुहत्, अतोहीत् ।

करना है । 77 √मह् पूजा (सत्कार) करने में है ॥ 47 ॥ 78 √रह् छोड़ने में है ॥ 48 ॥ 79 √रंह् (इदित्) गति, (वेग से) चलना अर्थ में है ॥ 50 ॥ 80 √दृह्, 81 √दृंह् (इदित्), 82 √बृह्, 83 √बृंह् (इदित्) बढ़ना अर्थ में हैं ॥ 50 ॥ 83 √बृंह् (इदित्) आवाज़ करने में भी है ॥ 51 ॥ 'बृंहित माने हाथी की चिंघाड़ है', यह अमरसिंह ने कहा है । कुछ लोग √बृंह् को इरित् मानते हैं—अबृहत्, अबर्हीत् । 84 √तुह्, 85 √दुह्, 86 √उह् (सब इरित्) याचना करने में हैं ॥ 52 ॥ अदुहत्,

---

'कल्कनं शाठ्यम्' बताया है । सायण ने 'परिकल्कने' दिया है । चहति; चचाह; चेहतुः, चेहुः; चहिता; अचहीत्—हकारांत होने से **अतो हलोदेर्लघोः** का निषेध **ह्म्यन्त-क्षण०** से हो जाता है ।

इसी प्रकार 77 √**मह्**, 78 √**रह्** की प्रक्रिया होती है । महिषः, महत्; मही; रहितः, रहस्, विरहः ।

79 √**रंह्** (इदित्) गति, तेजी से जाना अर्थ में है । आख्यात के रूप में √गम् के पर्याय के रूप में उभय-पद में वैदिक तथा सूत्र वाङ्मय में उपलब्ध होती है : (1) परस्मैपद में—**त्वमुत्सां ऋतुभिर्बद्बधानां अरंह ऊधः पर्वतस्य वज्रिन्** (ऋ० 5.32.2), **तदन्तर-प्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्न-निरूपणाभ्याम्** (ब्र०सू० 3.1.1), आचार्य शंकर ने 'रंहति' की व्याख्या 'गच्छति' से की है; (2) आत्मनेपद में—**स रंहत उरु-गायस्य जूतिम्** (ऋ० 9.97.9) । रंहः=वेगः । **न पादपोन्मूलन-शक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य** (रघु० 2.34) ।

√**रङ्ह्** इसी के प्राकृत उच्चारण का स्वीकृत रूप है । हरियाणवी में 'हाँघा' (बल, ज़ोर) इसी से निष्पन्न 'रङ्घ' से विकसित है ।

80 √**दृह्**, 82 √ **बृह्** तथा 81 √**दृंह्** और 83 √**बृंह्** (दोनों इदित्) बढ़ना अर्थ में हैं । 83 √**बृंह्** हाथी का चिंघाड़ना अर्थ में है । अमरकोष में 'बृंहित' को करि-गर्जित का पर्याय बताया है । सायण ने अर्थ 'शब्दने' दिया है, क्षीरस्वामी ने 'शब्दे च' । दृढ=स्थूल, मजबूत; बृहत्=बड़ा; परिवृढ=स्वामी; बर्हिः=मयूर-पिच्छ, मोर का चंदा; ब्रह्मन्=स्तोत्र, वेद, प्रजा-पति । दुर्ग, चन्द्र और गुप्त के मत में 82वीं धातु इरित् 'बृंहिर्' है । फलतः लुङ् में च्लि को वा अङ् : अबृहत्, अबर्हीत् ।

84 √**तुह्**, 85 √**दुह्**, 86 √**उह्** गति और याचना अर्थों में हैं । तोहति;

दोहति; दुदोह; अदुहत्, अदोहीत्—अनिट्-कारिकास्वस्य दुहेर्ग्रहणं नेच्छन्ति। ओहति; उवोह, ऊहतुः; ओहिता; मा भवानुहत्; औहीत्। 87 अर्ह पूजायाम् ॥ 53 ॥ आनर्ह ॥ 67 ॥

अदोहीत्—अनिट्-कारिकाओं में इस √दुह् को नहीं लेना चाहते। 87 √अर्ह् सत्कार करने में है ॥ 53 ॥ आनर्ह ॥ 67 ॥

तुतोह, तुतुहतुः; तोहिता; अतोहीत्, अतुहत्। तुहिनम्=बर्फ। 85 √**डुह्** क्षी०त० में नहीं है; चंद्र और दुर्ग के मत में 86 √**उह्** यहाँ नहीं है। ओहति, अप+ओहति =अपोहति—**एङि पररूपम्**। उवोख आदि की तरह उवोह, ऊहतुः। औहत्, औहीत्; मा भवान् ओहीत्, ओहत्। √**दुह्** दो हैं : (1) यह तथा (2) आदादिक। अनिट् कारिकाओं में आदादिक √दिह् के साथ पठित √दुह् से आदादिक √दुह् ही मैत्रेय आदि ने ली है। अतः उन्हें यह सेट् ही अभीष्ट है। दोहिता।

87 √**अर्ह्** मूलतः सत्कार होना, श्रेष्ठ होना अर्थ में है। लाक्षणिक रूप से योग्य होना अर्थ में है। अर्हति; आ+अर्ह, र्, ह् दो हल् वाली धातु के कृत-दीर्घ आ के बाद वाले अ को नुट् का आगम होता है : आनर्ह। आनर्हतुः, आनर्हुः। अर्हिता; आर्हीत्, आर्हिष्टाम्, आर्हिषुः; मा अर्हीत्,। अर्हत्=पूज्य। अर्घः=मूल्य तथा पूजा। अर्घ्य। कुछ लोग √**अर्घ्** को पृथक् मानते हैं। **तृष्णा-क्षय-सुखस्यैते कलां नार्घन्ति**[1] **षोडशीम्**। यह ह् को घ् बोलने की प्राकृत प्रवृत्ति से निष्पन्न है।

सायण ने √अर्ह् को अनिट् बताया है, पर उदाहरण इट् वाला दिया है।[2] यहाँ का मा०धा०वृ० का पाठ चिंत्य है।

धातु-योग : गत धातु 701, वर्तमान 30, योग 731 ॥ 67 ॥

संदर्भ : धातु-पाठ में अब तक (क) अंत्य वर्ण और (ख) पद (आत्मनेपद, परस्मैपद) की समानता के आधार पर धातुओं को वर्गों में रखा गया है। आचार्य ने सत्तार्थक परस्मैपदी √भू (अजंत) को मंगलार्थ आदि में देकर मंगलार्थ ही वृद्धचर्थक आत्मनेपदी हलंत धातुओं का प्रारंभ √एध् से करके तवर्गीयांत 36 आत्मनेपदी और 37 परस्मैपदी दो वर्गों में देने के बाद चतुर्थ वर्ग से अब तक कवर्गीयांत आत्मनेपदी तथा परस्मैपदी √शीक् आदि धातुओं से अंत्य-हल्-वर्णानुक्रमणी से शुरू करके हकारांत

---

1. क्षी० त०, 1.488, पृष्ठ 100, टि० 4, में चर्चित म०भा०, पूना सं०, सभापर्व 38.26 पर तथा सभापर्व, पृष्ठ 188 पर उल्लिखित **अर्हन्ति** का पाठान्तर। हैम धातु-पारायण (1.564) भी देखें ॥
2. मा०धा०वृ० 1.662, पृष्ठ 129 : **हकार-प्रसङ्गादनिडपीह पठितः। ···अर्हिता।**

तक 657, कुल 731, धातु दी हैं। अब रूप-रचना की कुछ अवांतर विशेषताओं को भी दृष्टि में रख कर हलंत धातुओं का संकलन (क) अवांतर विशेषताओं की समानता तथा (ख) पद की समानता की दृष्टि से अगले वर्णों में किया गया है।

उन्नीसवें वर्ग का विश्लेषण : इस वर्ग के संकलन के निम्न आधार हैं : (क) सब धातु हलंत हैं, (ख) सब धातु प्रायो-वृत्त्या आत्मनेपदी हैं : (अ) लुङ् में सब धातु (1) विकल्प से परस्मैपदी तथा (2) अङ् विकरण वाली हैं; इसके निमित्त आचार्य ने द्युतादि गण (1) **द्युद्भ्यो लुङि** सूत्र में **द्युद्भ्यः** (गण की पहली धातु √द्युत् को बहु-वचन में) देकर तथा (2) **पुषादि-द्युताद्यॠदितः०** में **'द्युतादि'** शब्द देकर दिया है। (आ) 18-21 धातु लुङ् के साथ-साथ लृट्, लृङ्, 'सत्'-संज्ञक प्रत्यय (भविष्य-कालिक कृदन्त) तथा सन् में भी (i) विकल्प से परस्मैपदी, और (ii) परस्मैपद में अनिट् हैं। पाणिनि ने इस कार्य के लिए इन चार धातुओं का एक वृतादि अंतर्गण दो सूत्रों में **वृद्भ्यः** (गण की पहली धातु √वृत् को बहु-वचन में) दे कर बनाया है; (इ) 22वीं √कृप् लुङ् तथा लृट्, लृङ्, 'सत्'-संज्ञक प्रत्यय और सन् प्रत्यय में साथ-साथ (i) विकल्प से परस्मैपदी और (ii) परस्मैपद में अनिट् है।

इस प्रकार इस वर्ग में संकलन का प्रमुख आधार (1) अंत्य वर्ण की बहुत मोटी समानता (हलंतता), (2) प्रायो-वृत्त्या आत्मनेपदिता के साथ-साथ (3) कुछ प्रत्ययों में विकल्प से परस्मैपदिता तथा (4) परस्मैपद प्रत्ययों में अनिट्ता और (5) लुङ् परस्मैपद में अङ् विकरण की समानताएँ हैं।

इनके अलावा (i) 2-4 धातु निष्ठा में अनिट् करने को आदित् दी हैं; (ii) 14-20 धातु क्त्वा में वेट् और निष्ठा में अनिट् करने को उदित् दी हैं।

ये सब धातु आत्मनेपदी तथा सेट् हैं।

वर्गीकरण की कमियाँ : इस वर्ग में (i) धातु अंत्य-वर्णानुक्रमणी की प्रायिक[1] समानता के आधार पर दी जा सकती थी; ऐसी स्थिति में (अ) यह गण 'रुचादि' होता, न कि 'द्युतादि'; (आ) अनुबंध वर्ण की समानता के कारण 2-4 आदित् धातुओं को अदित् धातुओं के बाद दिया जाना उचित है। (इ) उदित् धातु उसके बाद आनी चाहियें तथा उनकी पहली धातु 17 **स्रम्भु** होनी चाहिये, न कि 14 **स्रंसु**। (ii) अर्थ-निर्देश भी बहुत उचित नहीं है : (अ) 3 √मिद् और 4√स्विद् का स्नेहन

---

1. वृतादि गण को तो द्युतादि गण की अन्य धातुओं के बाद रखना ही उचित और अपेक्षित है। तास् में वा परस्मैपदी होने के कारण √कृप् अंत में ही होनी चाहिये तथा √स्यन्द् को ऊदित्ता की समानता से उसके पूर्व रखना उचित है।

19 अथ कृपू-पर्यन्ता अनुदात्तेतः—1 द्युत दीप्तौ ॥ 1 ॥ द्योतते। 2344 द्युति-स्वाप्योः सम्प्रसारणम् (7.4.67)—अनयोरभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्यात्। दिद्युते, दिद्युताते। द्योतिता। 2345 द्युद्भ्यो लुङि (1.3.91)—

उन्नीसवाँ वर्ग : अ. लुङ् में वा परस्मैपदी आत्मनेपदी धातु

19 अब √कृप् तक आत्मनेपदी हैं—1 √द्युत् दीप्त होना, चमकना, अर्थ में है ॥ 1 ॥ 2344 √द्युत् और √स्वाप् के अभ्यास को संप्रसारण हो। दिद्युते। 2345 √द्युत् आदि (धातुओं) से विहित लुङ् को परस्मैपद विकल्प से हो। 'पुषादि०'

अर्थ एक ही है, पर इन दोनों के स्नेहन में बहुत अंतर है, जो इनसे निष्पन्न मेदस् (चर्बी) और स्वेद (पसीना) से विस्पष्ट है। (आ) 20 √श्रृध् (पादना) का 'शब्द-कुत्सा' अर्थ भी 'कुत्सिते शब्दे' के रूप में कदाचिद् बेहतर होता; इसकी समानार्थक √पर्द् का यही अर्थ दिया भी है। यों, 'शब्द-कुत्सा' अभिव्यक्ति का प्राचीन काल का ढंग ही शायद रहा हो; तुलनीय : **विश्चकद्राकर्षः—'वि' इति, 'चकद्र' इति श्व-गतौ भाष्यते। 'द्राति' इति गति-कुत्सना; 'कद्द्राति' इति द्राति-कुत्सना** ·· (निरुक्त 2.3)।

19.1 √**द्युत्** दीप्त होना, जलना, प्रकाशित होना, चमकना-दमकना अर्थ में सकर्मक है। 'अ' अनुबंध अनुदात्त है, अतः यह धातु अनुदात्तेत् है; अतः आत्मनेपदी है। धातु उदात्त है. अतः सेट् है। द्योतते, द्योतेते, द्योतन्ते; द्योतताम्; अद्योतत; द्योतेत।

2344 **द्युति-स्वाप्योः सम्प्रसारणम्** (7.4.67)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (58) : द्युति-स्वाप्योः अभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। **इग् यणः सम्प्रसारणम्** (1.1.45) परिभाषा से 'यणः इक्' अर्थ आता है। **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा से यण् के समान उच्चारण-स्थान वाला इक् होता है। 'द्युति' में 'इ' धातु-निर्देश में है। 'स्वापि' में आदि-वृद्धि इसे णिच् का रूप सूचित करती है। √द्युत् तथा √स्वापि (स्वप्+णिच्) के अभ्यास के यण् को सदृशतम स्थान वाला इक् आदेश होता है।

दिद्युते—द्युत्+द्युत्+ए, **हलादिः शेषः** से प्राप्त य् और त् के लोप को अपवाद होने से **द्युति-स्वाप्योः०** से बाध कर य् को इ सम्प्रसारण, **सम्प्रसारणाच्च** से पूर्वरूप : दित्+द्युत्+ए; **हलादिः शेषः** से त् का लोप : दिद्युते। दिद्युताते, दिद्युतिरे; दिद्युतिषे, दिद्युताथे, दिद्युतिध्वे; दिद्युते, दिद्युतिवहे, दिद्युतिमहे; द्योतिता; द्योतिष्यते; द्योतिषीष्ट, द्योतिषीयास्ताम् इत्यादि।

2345 **द्युद्भ्यो लुङि** (1.3.92)—शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् (78), वा क्यषः (90) : द्युद्भ्यः कर्तरि लुङि वा परस्मैपदम्। 'द्युद्भ्यः' पद में ब० व० से √द्युत् आदि धातु अभिप्रेत हैं। धातु-पाठ में √द्युत् के बाद 22 √कृप् तक 21 धातु देने के बाद

द्युतादिभ्यो लुङः परस्मैपदं वा स्यात्। 'पुषादि०' (2343) सूत्रेण परस्मैपदे अङ्—अद्युतत्। अद्योतिष्ट। 2 श्विता वर्णे ॥ 2 ॥ श्वेतते; शिश्विते; अश्वितत्, (2343) सूत्र से परस्मैपद में अङ् होता है—अद्युतत्। अद्योतिष्ट। 2 √श्वित् (आदित्) रंग वाला होना अर्थ में है ॥ 2 ॥ 3 √मिद् (ञिदित् और आदित्) चिकना

'वृत्' शब्द उपलब्ध होता है, जो किसी गण की समाप्ति का सूचक है। निकटस्थ गण द्युतादि ही है, जिसके अंतर्गत वृतादि (अंतर्गण) है। अतः 'द्युद्भ्यः' से √द्युत् से √कृप् तक की 22 धातु ली जायेंगी।[1] परस्मैपद प्रत्यय **लस्य** के अधिकार में विहित हैं, इस लिये, तथा **तस्मादित्युत्तरस्य** (1.1.67) से 'लुङि' पद 'लुङः' (षष्ठ्यंत) में परिणत हो जाता है : द्युद्भ्यः परस्य कर्तरि लुङः परस्मैपदम् वा भवति—√द्युत् आदि बाईस धातुओं के पश्चात् स्थित लुङ् के स्थान में 'परस्मैपद'-संज्ञक प्रत्यय-समुदाय विकल्प से होता है।

अद्युतत्—अद्युत्+लुङ्, **अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्** को बाध कर **द्युद्भ्यो लुङि** से लुङ् के स्थान में विकल्प से परस्मैपद तिप्: अद्युत्+त्; शप् को बाधकर च्लि, उसे प्राप्त सिच् को बाध कर **पुषादि-द्युताद्यृदितः परस्मैपदेषु** से च्लि को अङ् आदेश : अद्युत्+अत्; **क्ङिति च** से लघूपध गुण का निषेध : अद्युतत्। अद्युतताम्, अद्युतन्; अद्युतः, अद्युततम्, अद्युतत; अद्युतम्, अद्युताव, अद्युताम।

अद्योतिष्ट—**द्युद्भ्यो** लुङि से परस्मैपद न होने पर लुङ् को आत्मनेपद त : अद्युत्+त; च्लि, उसे सिच्, इट्, गुण, सत्व, ष्टुत्व : अद्योतिष्ट। अद्योतिषाताम्, अद्योतिषत; अद्योतिष्ठाः, अद्योतिषाथाम्, अद्योतिढ्वम्, अद्योतिध्वम्; अद्योतिषि, अद्योतिष्वहि, अद्योतिष्महि।

द्युद्भ्यो लुङि (2345) में 'कर्तरि' की अनुवृत्ति के कारण भाव और कर्म में तो आत्मनेपद ही होगा : अद्योति, अद्योतिषाताम्।

√ज्युत् धातु √द्युत् से विकसित है : यास्क ने 'ज्योतिष्' को आदि-वर्ण-व्यापत्ति से निष्पन्न बताया है। टीका-कारों के अनुसार √द्युत् का आदिम वर्ण दकार जकार में परिणत हो गया है।[2] यह आदि-वर्ण-व्यापत्ति 'ज्योतिष्' शब्द में ही नहीं

---

1. 'आदि' शब्द देते, तब भी ब० व० तो देना ही पड़ता; अतः संक्षेपार्थ उसे न देकर केवल ब० व० से ही **'आदिभ्यः'** का अर्थ संक्षेपरुचि आचार्य ने प्रकट कर दिया है।
2. उणादि-कार ने भी 'ज्योतिष्' को √द्युत् से ही निष्पादित किया है : **द्युतेरिसन्, आदेश्च जः** (उ० सू० 2.109)।

अश्वेतिष्ट । 3 ञिमिदा स्नेहने ।। 3 ।। मेदते । 2346 मिदेर्गुणः (7.3.82)—मिदेरिको गुणः स्यादित्संज्ञक-शकारादौ । एश आदि-शित्त्वाभावान्नानेन गुणः—

होने में है ।। 3 ।। 2346 आदि में इत्संज्ञा वाले शकार से युक्त (प्रत्यय) बाद में होने पर √मिद् के इक् को गुण हो । एश् आदि में इत्संज्ञक शकार वाला न होने के कारण

हुई है, अपितु √द्युत् धातु के साथ-साथ √ज्युत् ही स्वतंत्र विकसित हो गई थी : (1) निघंटु (1.16.10) में **द्योतते, ज्योतते** साथ-साथ पठित हैं; (2) मै० सं० (2.12.4) में उपलब्ध 'ज्योतताम्' का समान पाठ श० ब्रा० (8.6.3.21) में 'द्योतताम्' तथा तै० ब्रा० (2.4.6.12) में 'दीप्यताम्' है । अ० सं० (7.17.1) में 'ज्योतय' उपलब्ध है । (3) कात्यायन-श्रौत-सूत्र (4.14.5) में 'अवज्योत्य' (ल्यवंत) उपलब्ध होता है; (4) इसके अतिरिक्त 'ज्योत्स्ना' (मै० सं० 4.2.1) शब्द भी इसी √ज्युत् से निष्पन्न है ।

2 √**श्वित्** सफेद करना (सकर्मक), सफेद होना (अकर्मक) है । आदित् होने से निष्ठा में **आदितश्च** (7.2.16) से इडभाव : श्वित्तम् । श्वित्तवान् । प्रक्रिया तथा रूप लिट् को छोड़ कर √द्युत् की तरह होते हैं । लिट् में शिश्विते, शिश्विताते, शिश्वितिरे; शिश्वितिषे इत्यादि । श्वित्त्रम्=सफेद कोढ़ ।

3 √**मिद्** चिकना करना/होना अर्थ में है । 'ञि' अनुबंध का प्रयोजन **ञीतः क्तः** (3.2.187) से वर्तमान अर्थ में 'क्त' करना है तथा आदित् का प्रयोजन निष्ठा में इट् का निषेध करना है : मिन्नम्, मिन्नवान् । मेदस्=चर्बी । मित्रम्=सुहृत् । मित्रः =सूर्य । मेदिनी=पृथ्वी ।

2346 **मिदेर्गुणः** (7.3.82)—ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति (75), अङ्गस्य (6.4.1), इको गुण-वृद्धी (1.1.3) : अग संज्ञा से आक्षिप्त 'प्रत्यये' का अन्वय 'शिति' से होता है, जिसमें **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से आदि-विधि हो जाती है : मिदेः अङ्गस्य इकः गुणः शिदादौ प्रत्यये—√मिद् के अंग के अवयव इक् के स्थान में गुण होता है, आदि में इत्संज्ञक शकार वाला प्रत्यय बाद में होने पर ।

प्रस्तुत सूत्र से दैवादिक √मिद् से लट् आदि में श्यन् के ङित् होने से लघूपध-गुण का निषेध होने पर गुण हो जाता है : मेद्यति । शप् में इस की आवश्यकता नहीं है । यहाँ इसे दिखलाने का अभिप्राय तो यही है कि लिट् में 'मिद्+मिद्+ए' स्थिति में लघूपधगुण का निषेध एश् के ङित् होने से हो जाता है । तब एश् में चूंकि इत्संज्ञक शकार आदि में नहीं है, अपितु अंत में है, अतः यहाँ 'मि+मिद्+ए' में **मिदेर्गुणः** की प्राप्ति नहीं है । फलतः 'मिमिदे' रूप होता है ।

यदि 'शकार इत् अस्ति यत्र, सः शित्, तस्मिन् शिति' इस प्रकार बहुव्रीहि

मिमिदे । अमिदत्, अमेदिष्ट । 4 ञिष्विदा स्नेहन-मोचनयोः ॥ 4 ॥ 'मोहनयोः' इत्येके । स्वेदते; सिष्विदे; अस्विदत्, अस्वेदिष्ट । 'ञिक्ष्विदा च' इत्येके । अक्ष्विदत्, अक्ष्वेदिष्ट । 5 रुच दीप्तावभिप्रीतौ च ॥ 5 ॥ रोचते सूर्यः । हरये इस सूत्र से गुण नहीं होता—मिमिदे । 4 √स्विद् चिकनाई होना और छोड़ना अर्थों में है ॥ 4 ॥ कुछ लोग 'मुग्ध करने/होने में है', यह मानते हैं । कुछ लोग √क्ष्विद् भी मानते हैं । 5 √रुच् चमकने और माने (पसंद होने) में है ॥ 5 ॥ सूर्य चमकता है ।

समास माना जाये, तो 'मिमिदे' में भी प्रत्यय में शकार की इत्संज्ञा तो है ही, अतः यहाँ गुण प्राप्त होगा । इस लिये कर्मधारय समास ही उपादेय है ।

लुङ् में 'अ+मिद्+लुङ्' स्थिति में **द्युद्भ्यो लुङि** से परस्मैपद । शेष प्रक्रिया 'अद्युतत्', 'अद्योतिष्ट' की तरह ही होती है । अमिदत्, अमेदिष्ट ।

4 √**स्विद्** धातु स्नेहन तथा मोचन (छोड़ना) अर्थ में (सकर्मक) सेट् है । कुछ आचार्यों के अनुसार मोहना, वैचित्त्य होना, घबड़ा कर पसीने-पसीने होना अर्थ में है । कुछ लोग **ञिक्ष्विदा** धातु भी इन्हीं अर्थों में मानते हैं । उसके क्ष्वेदते, चिक्ष्विदे, क्ष्वेदिता, अक्ष्विदत्, अक्ष्वेदिष्ट रूप होते हैं ।[1]

'एकाचः षोपदेशाः स्युः ष्वष्क-स्विद्-स्वद्-स्वन्ज-स्वप्-स्मिङः' (षोपदेश कारिका, पृष्ठ 235) में पठित होने से यह षोपदेश है । **धात्वादेः षः सः** से ष् को स् होता है : √स्विद् । स्वेदते, स्वेदेते, स्वेदन्ते । **शद्-सदि-स्विद्यति-स्कन्दि०** (अनिट्-कारिका 3) में श्यन् विकरण वाली धातु दी है, अतः भौवादिक धातु सेट् ही है ।

सिष्विदे—'सि+स्विद्+ए', **आदेश-प्रत्यययोः** । स्वेदिता; स्वेदिष्यते । लुङ् में √द्युत् की तरह : अस्विदत्, अस्वेदिष्ट । अस्वेदिष्यत, अस्वेदिष्येताम् । स्वेदः, स्विन्नः । यह 'गलना', 'सीझना' अर्थ में भी है : **अर्धस्विन्नास्तु गोधूमाः अन्येऽपि चणकादयः । 'कुल्माषा' इति कथ्यन्ते** (शब्दार्थचिन्तामणि) ।

5 √**रुच्** प्रकाशित होना चमचमाना, चमकना, दमकना तथा अच्छा लगना, रुचना, प्रिय लगना, भाना अर्थों में (अकर्मक सेट्) है ।

रोचते सूर्यः सूर्य चमकता है । यह दीप्ति अर्थ का उदाहरण है । **हरये रोचते**

---

1. मा० धा० वृ० में **'ञिष्विदा स्नेहस्य मोचने च'** तथा धा० प्र० में **'स्नेहन-मोहनयोः'** पाठ है । क्षी० त० में धातु तथा अर्थ भिन्न रूप में मिलते हैं—**ञिक्ष्विदा स्नेह-मोहनयोः** । नंदी के मत में धातु 'ञिस्विदा' ही है । आर्हत आचार्य के मत में 'ञिक्ष्विडा' पाठ है । मनु (4.64) में **'न क्ष्वेडेत्'** प्रयोग भी मिलता है । परंतु इसका अर्थ उपर्युक्त अर्थों से भिन्न है—**'अव्यक्त-दन्त-शब्दात्मकं क्ष्वेडनं न कुर्यात्'** (कुल्लूक भट्ट, दाँत न किटकिटाए) ।

रोचते भक्तिः। 6 घुट परिवर्तने ॥ 6 ॥ घोटते; जुघुटे; अघुटत्, अघोटिष्ट। 7 रुट, 8 लुट, 9 लुठ प्रतिघाते ॥ 7 ॥ अरुटत्, अरोटिष्ट। 10 शुभ

हरि को भक्ति अच्छी लगती है। 6 √घुट् बदलने में है ॥ 6 ॥ 7 √रुट्, 8 √लुट्, 9 √लुठ् टकराने में है ॥ 7 ॥ 10 √शुभ् चमकने में है ॥ 8 ॥ 11 √क्षुभ् हलचल

भक्तिः भक्ति हरि को अच्छी लगती है। यह अभिप्रीति का उदाहरण है। इसी प्रकार देवदत्ताय मोदको **रोचते** इत्यादि। **रोचन्ते रोचना दिवि** (ऋ० 1.6.1), **रोचय मा ब्राह्मणेषु मयि धेहि रुचा रुचम्** (का० सं० 40.13)। इत्यादि वेद में भी प्रयुक्त है। रुचिः, चारु, रुचिरम्।

6 √**घुट्** धातु घोंटना, घुटाई करना, फिराना, लोटना अर्थ में (सकर्मक सेट्) है। **पण्डितो मातुलानीं घोटते** पण्डितजी भंग[1] घोंट रहे हैं। घोटते इति घोटकः फिराया जाता है, अतः घोड़ा 'घोटक' होता है। घोटत इति वा, अथवा लोट लगाता है, इसलिए। घुटिका=गुल्फास्थि (टखना,—क्षी० त०)। लिट् में 'एश्' आदि की कित् संज्ञा **असंयोगाल्लिट् कित्** से होने से गुण नहीं होता : जुघुटे, जुघुटाते। लुङ् में √घुत् की तरह प्रक्रिया होती है : अघुटत्, अघुटताम्, अघोटिष्ट, अघोटिष्टाम् इत्यादि।

7 √**रुट्**, 8 √**लुट्**, 9√**लुठ्**[2] धातु प्रतीघात (घात की प्रतिक्रिया होना, लोटना, लुढ़कना, टकराना) अर्थ में (अकर्मक, सेट्) हैं। रोटते; लोटते; लोठते; अरुटत्, अरोटिष्ट; अलुटत्, अलोटिष्ट; अलुठत्, अलोठिष्ट। क्षीरस्वामी ने √रुट् को 'दीप्ति' अर्थ में दिया है।

10 √**शुभ्** शोभा देना, भला लगना, शोभित होना, जँचना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) है। शोभा शब्द का प्रयोग **शुभ शुम्भ शोभार्थे** (तु०) में होने से यह निपातित माना जाता है।[3] इदं वस्त्रं त्वयि शोभते (यह कपड़ा तुम्हें जँचता है)। पण्डितः कुरूपोऽपि सभासु शोभते (कुरूप भी पण्डित आदमी सभाओं में शोभा देता—भला

---

1. अ० को० : **मातुलानी तु भङ्गायाम्।**
2. यह पाठ देव, मैत्रेय आदि के अनुसार है। कैयट (3.1.7) तथा क्षीरस्वामी के मत में यहाँ √रुठ् तथा √लुठ् दो ही हैं। हरियोगी के मत में √रुट् तथा √लुट् ये दो हैं। क्षीरस्वामी ने **'रुट दीप्तौ'** यह धातु पृथक् दी है। मा० धा० वृ० की सूचना के अनुसार क्षी० त० में **'लुठ दीप्तौ'** पाठ होना चाहिये। पर मुद्रित पुस्तक में रेफादि ही उपलब्ध है।
3. क्षी० त० 6.34 : **अत एव निपातनात् 'शोभा' साधुः।** तथा वामन, काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति 5.2.41 : **शोभेति निपातनात्। शुभेर्भिदादेराकृतिगणत्वादङ् सिद्ध एव। गुणप्रतिषेधाभावस्तु निपात्यते।**

दीप्तौ ॥ 8 ॥ 11 क्षुभ सञ्चलने ॥ 9 ॥ 12 णभ, 13 तुभ हिंसायाम् ॥ 10 ॥ आद्योऽभावे च—'नभन्तामन्यके समे' (ऋ 8.41.2)='मा भूवन्नन्यके सर्वे।' इति निरुक्तम् (10.5.)। अनभत्, अनभिष्ट। अतुभत्, अतोभिष्ट। इमौ होने में है ॥ 9 ॥ 12 √नभ्, 13 √तुभ् हिंसा करने में है ॥ 10 ॥ पहली धातु 'नहीं होना' अर्थ में है—'नभन्ताम् अन्यके समे' (ऋ० 8.41.2)='न होवें (रहें), दूसरे सब', यह निरुक्त (10.5 में कहा है)। ये दोनों दिवादि और क्र्यादि गणों में भी हैं।

लगता—है)। शुशुभे; शोभिता, अशुभत्, अशोभिष्ट। शुभम्, अच्छा, मंगलमय। शुभ्रम्। शोभन। शोभित।

11 √क्षुभ् क्षोभ होना, प्रकृति में फेर-बदल होना, हलचल होना[1] (अकर्मक), मथा जाना (सकर्मक) अर्थ में (सेट्) है। क्षोभते; चुक्षुभे; क्षोभिता; अक्षुभत्; अक्षोभिष्ट। क्षुब्धः=मन्थः[2], मथानी। अन्यत्र क्षुभितः।

12 √नभ् (णोपदेश) तथा 13 √तुभ् हिंसा अर्थ में है। √नभ् धातु का अर्थ **तमू षु समना गिरा नभन्तामन्यके समे** (ऋ० सं० 8.41.2) पर निरुक्त (10.5) में **मा भूवन्नन्यके सर्वे** अर्थात् 'सब न हों, न रहें,, इस प्रकार अभाव रूप में किया है। निघंटु (3.10) में वधार्थक धातुओं में 'नभते' भी है। **नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु** (ऋ० 10.133.16) के 'नभन्ताम्' की व्याख्या वेंकट ने **विच्छिन्ना धन्वसु भवन्तु** की है तथा सायण ने **हिंस्यन्ताम्, नश्यन्तु** की है।[3] ऋग्वेदीय 'नभाक' (8.40. 4-5) ऋषि का नाम कदाचित् इसी धातु से निष्पन्न है : (शत्रुओं को) नष्ट करने वाला, अर्थात् क्रूर, प्रचण्ड। पौराणिक 'नाभाग' इसी 'नभाक' से विकसित है।

यह धातु-सूत्र दिवादि और क्र्यादि गणों में भी है। इससे पहले भी बहुत-सी धातु आ चुकी हैं, जो भ्वादि गण से अन्यत्र पठित हैं; पर, दीक्षितजी ने उनके अन्यत्र पाठ की चर्चा सिद्धांतकौमुदी में इससे पूर्व कहीं नहीं की है। आगे भी नहीं की है।

---

1. क्षी० त० 1.499 : **संचलन-रूपान्यथात्वम्**। मा० धा० वृ० 1.738 : **प्रकृति-विपर्यासो गमनं च**।
2. **क्षुब्ध-स्वान्त-ध्वान्त०** (7.2.18) से इस अर्थ में निपातित है।
3. मा० धा० वृ० में यहाँ **'छिन्ना मा भवन्तु'** प्रमाद-पाठ है। वेंकट ने **'विच्छिन्ना भवन्तु'** व्याख्या की है। प्रकरण से भी यही अर्थ उचित है : शत्रुओं के धनुषों पर चढ़ी डोरी के टूटने की कामना ही उचित है। ऋ० के सायण-भाष्य में भी यहाँ एक गड़बड़ है : उन्होंने 'नभन्ताम्' को क्र्यादिक √नभ् से व्यत्यय से शप् से निष्पादित किया है। भौवादिक के होते, व्यत्यय की कल्पना प्रमाद ही है। वैदिक में क्र्यादिक का तो प्रयोग भी नहीं मिलता।

दिवादी, क्र्यादी च। 14 स्रंसु, 15 ध्वंसु, 16 भ्रंसु अवस्रंसने ॥ 11 ॥ 15 ध्वंसु गतौ च ॥ 12 ॥ अङि न-लोपः—अस्रसत्, अस्रंसिष्ट। 'नास्रसत् करिणां ग्रैवम्' इति रघु-वंशे (4.48)। 'भ्रंशु' इत्यपि केचित् पेठुः। अत्र तृतीय एव तालव्यान्त इत्यन्ये। 'भृशु, भ्रंशु अधः-पतने' इति दिवादौ। 17 स्रम्भु विश्वासे ॥ 13 ॥ अस्रभत्, अस्रम्भिष्ट। दन्त्यादिरयम्। तालव्यादिस्तु प्रमादे गतः ॥ 68 ॥

14 √स्रंस्, 15 √ध्वंस्, 16 √भ्रंस् खिसकने में हैं ॥ 11 ॥ 15 √ध्वंस् गति (जाना) अर्थ में भी है ॥ 12 ॥ अङ् में न का लोप होता है—अस्रसत्। 'हाथियों का गरदन का अलंकार नहीं खिसका (अस्रसत्)', यह रघु-वंश में कहा है। कुछ लोग 'भ्रंशु' धातु भी मानते हैं। अन्य लोग मानते हैं कि यहाँ (उर्युक्त 11 वे धातुसूत्र की) तीसरी धातु ही अंत में तालव्य वाली है। दिवादिगण में √भृश्, √भ्रंश् नीचे गिरने में हैं। 17 √स्रम्भ् विश्वास करना/होना अर्थ में है ॥ 13 ॥ इसका पहला वर्ण दन्त्य है। आदि में तालव्य वर्ण वाली धातु तो 'प्रमाद' अर्थ में जा चुकी है ॥ 68 ॥

---

14 **√स्रंस्**, 15 **√ध्वंस्** तथा 16 **√भ्रंस्** धातु ढीला पड़ना, ढीला होना, झड़ना, खिसकना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) हैं। **ध्वंस्** गति (नीचे की ओर चलना, गिरना, पतन होना, नाश) अर्थ में भी है।

ये सब धातु नोपध हैं। **नश्चापदान्तस्य झलि** से नकार को अनुस्वार, उसके **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध होने से नकार के रूप में समझे गए अनुस्वार का लोप कित् या ङित् प्रत्यय परे रहते **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से होता है : अभ्रसत्; अध्वसत्, अभ्रसत्; यहाँ अङ् ङित् है। पक्ष में अस्रंसिष्ट; अध्वंसिष्टः, अभ्रंसिष्ट।

सायण का कथन है कि मैत्रेय, क्षीरस्वामी, बोधिन्यास तथा संमताकार आदि √भ्रन्स् (दंत्योष्मांत) की जगह √भ्रन्श् (तालव्योष्मांत) धातु मानते हैं और **नीग्-वन्चु-स्रन्सु-ध्वन्सु-भ्रन्सु०** (7.4.84) सूत्र में भी **'भ्रन्शु'** (तालव्योष्मांत) धातु ही मानते हैं। आ० च० 2.3.51 (श्लोक 121) में छपा तो दन्त्यान्त है : **पतत्यधोगतौ भ्रंसतेऽपि भ्रश्यति भृश्यति**। यहाँ 'अपि' से सूचित होता है कि 'भ्रश्यति' 'अपि' से पूर्ववर्ती धातु का ही गणांतर का रूप है। अतः हमारे विचार में भट्टमल्ल को यहाँ तालव्यांत धातु ही अभिप्रेत है : **भ्रंशतेऽपि भ्रश्यति**। न्यासकार ने (7.4.84 पर) **स्रन्सु ध्वन्सु अवस्रंसने** पाठ उद्धृत किया है।

सायण का कथन है कि कुछ ग्रंथों में √भ्रश् (नकारविरहित) पाठ है।

17 **√स्रम्भ्** (नोपध) धातु विश्वास करना अर्थ में (सकर्मक, सेट्) है। प्रायः 'वि' उपसर्ग के साथ ही विश्वास करना अर्थ में प्रयुक्त होता है। केवल नहीं। विस्रम्भते; विसस्रम्भे; विस्रम्भिता; विस्रम्भिष्यते; विस्रम्भताम्; व्यस्रम्भत;

19.18 वृतु वर्तने ॥ 14 ॥ वर्तते; ववृते । 2347 वृद्भ्यः स्य-सनोः

वर्ग 19 : आ. स्य, सन्, लुङ् में वा परस्मैपदी आत्मनेपदी धातु

19.18 √वृत् होने में है ॥ 14 ॥ 2347 √वृतों (√वृत् आदि धातुओं) से

विस्रम्भेत, **नश्चापदान्तस्य झलि, अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः**, इन दोनों के **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध होने से **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से नकारलोप होता है : अ+स्रम्भ्+अत्, न लोप, अ+स्रभ्+अत्=अस्रभत् ।

यहाँ दंत्य ऊष्म वर्ण (सकार) आदि में है । तालव्य ऊष्म वर्ण जिस के आदि में है, इस प्रकार की काश्यप-संमत **श्रन्भु प्रमादे** (10.32) पीछे जा चुकी है । आचार्य कौशिक ऊष्मांत धातुओं का प्रसंग होने के कारण इसे भी ऊष्मांत (**स्रन्हु**) मानते हैं (—क्षीरतरङ्गिणी) । हमारे विचार में यहाँ धातु-सूत्र का स्वरूप **स्रंसु प्रमादे** होना चाहिये तथा 10.32 में **स्रन्भु विश्वासे**[1] । **एवायं दश-मास्यो अस्रज्जरायुणा सह** (वा०सं० 8.28) के 'अस्रत्' की व्याख्या में महीधर ने प्रकृत धातु-सूत्र **स्रंस अधः पतने** के रूप में उद्धृत किया है । यह उचित नहीं है । धातु **स्रंसु** होनी चाहिये, अन्यथा 'स्रस्तः', 'स्रस्तवान्' रूप नहीं बनेंगे । **कनक-वलयं स्रस्तं-स्रस्तं मया प्रतिसार्यते** (शाकु० 3.15) ।

धातुयोग : गत धातु 731, वर्तमान 17, योग 748 ॥ 68 ॥

19.18 √**वृत्** (उदित्) होना, बरतना, वर्ताव करना, गति अर्थ में अकर्मक, सेट्, आत्मनेपदी, है । उदित् क्त्वा में **उदितो वा** से इट् विकल्प से होता है, तथा निष्ठा में **यस्य विभाषा** से इण्निषेध । वर्तित्वा, वृत्त्वा; वृत्तम् ।

ववृते—√वृत्+लिट्, वृत्+ए, **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित्त्व के कारण गुण-निषेध, द्वित्व, **उरत्, उरण् र-परः**, वर्त्+वृत्+ए, **हलादिः शेषः**, ववृते । ववृताते, ववृतिरे; ववृतिषे; ववृताथे, ववृतिध्वे; ववृते, ववृतिवहे, ववृतिमहे ।

लुट् में **आर्धधातुस्येड्वलादेः** से इट्, लघूपधगुण : वर्तिता; वर्तितासे ।

2347 **वृद्भ्यः स्य-सनोः** (3.3.92)—शेषात्कर्तरि 7.1 परस्मैपदम् 1.1 (78), वा क्यषः (90) । 'वृद्भ्यः' में ब० व० से 'वृतादिभ्यः' अर्थ लिया जाता है, तथा √कृप् के बाद 'वृत्' होने से यह **द्युद्भ्यो लुङि** से गृहीत द्युतादिगण के अंतर्गत है । इसमें √वृत् से √कृप् तक पाँच धातु आती हैं । परस्मैपद प्रत्यय ल् के स्थान में होते हैं, अतः 'लः' अथवा 'लस्य' पद अर्थतः उपस्थित होता है । 'स्य-सनोः' में विषय-सप्तमी है । अतः अर्थ यों होता है—वृद्भ्यः 5.3 (वृतादिभ्यः पंचभ्यः परस्य) लस्य

---

1. इसकी वर्तनी, अर्थ तथा यहाँ पाठ के विषय में 10.32 √श्रम्भ्, पृष्ठ 353, की व्याख्या देखें ।

(1.3.92)—वृतादिभ्यः परस्मैपदं वा स्यात्स्ये, सनि च । 2348 न वृद्भ्यश्च-
परस्मैपद विकल्प से हो, स्य और सन् के विषय में । 2348 चार वृतों (√वृत् आदि

(स्थाने) परस्मैपदम् 1.1 वा (भवति) स्य-सनोः 7.2 (विषये)। वृतादि (√वृत्, √वृध्, √श्रृध्, √स्यन्द् तथा √कृप् इन पाँच) धातुओं से परे स्थित लकार के स्थान में परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय विकल्प से होते हैं स्य तथा सन् के विषय में ।

2348 न वृद्भ्यः चतुर्भ्यः (7.2.59)—आर्धधातुकस्य 6.1 इड् 1.1 वलादेः (35), से 7.1 सिचि कृत-चृत-छृद-तृद-नृतः (57), गमेरिट् परस्मैपदेषु (58) : चतुर्भ्यः वृद्भ्यः से आर्धधातुकस्य इट् न परस्मैपदेषु । 'से' में सप्तमी होने से **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से तदादि विधि । इट् का निमित्त धातु से परस्थ आर्धधातुक प्रत्यय है । यहाँ धातु से परे सकार है । अतः भिन्न विभक्ति होते हुए भी 'से' पद का अन्वय परत्वसामान्यात् 'आर्धधातुकस्य' पद से होता है । 'से' में सप्तमी तदादिविधि करने के लिए की है । तदनंतर विशेषण तथा विशेष्य में सामंजस्य के लिए 'सादौ' पद विशेष्य 'आर्धधातुकस्य' पद के अनुकूल 'सादेः' में परिणत हो जाता है : वृद्भ्यः 5.3 चतुर्भ्यः 5.3 (परस्य 6.1) से 7.1 (सादेः 6.1) आर्धधातुकस्य 6.1 परस्मैपदेषु इट् 1.1 न (भवति) । √वृत् आदि चार धातुओं (√वृत्, √वृध्, √श्रृध् तथा √स्यन्द्) से परे विद्यमान, सकार आदि वाले आर्धधातुक प्रत्यय को इट् (आगम) नहीं होता, परस्मैपद प्रत्ययों के विषय में ।

यहाँ 'परस्मैपदेषु' पद से तात्पर्य आत्मनेपद—**तङानावात्मनेपदम्** (1.4.100)—से भिन्न धातु से होने वाले प्रत्यय हैं । यहाँ पदशेषकार आचार्य का कहना है कि 'परस्मैपदेषु' में पर-सप्तमी नहीं है, अपितु विषय-सप्तमी है तथा यह 'वृद्भ्यः' पद का विशेषण है । तदनुसार 'परस्मैपदेषु वृद्भ्यः'—परस्मैपद के विषय में (परस्मैपदोपलक्षित) जो √वृत् आदि धातु हैं, उनसे परे—अर्थ होता है । फलतः जहाँ भी परस्मैपद हो सकता है, वहीं, साक्षात् परस्मैपद प्रत्यय हो या नहीं, इट् का निषेध हो सकता है । जैसे √वृत् आदियों से सन् प्रत्यय होने पर परस्मैपद हो जाता है । सन् करने पर यदि कृत् प्रत्यय तृच् आदि कर दिये जायें, तो भी 'वृत्+स+तृ' स्थिति में साक्षात् परस्मैपद-प्रत्यय न होते हुए भी **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** से सन् के निमित्त से प्राप्त इट् का निषेध हो आता है । द्वित्व, अभ्यास-कार्य होने पर √विवृत्स से तृच्, उसके निमित्त से प्राप्त इट् तो प्रकृति √विवृत्स के √वृत से भिन्न होने से होगा ही, इसी प्रकार जहाँ 'हि' परस्मैपद प्रत्यय का **अतो हेः** से लोप हो जाता है, वहाँ भी इट् नहीं ही होता, 'विवृत्स' ही रूप होता है । यदि परार्था सप्तमी मानी जाये, तब तो लोप होने पर परस्मैपद-परकत्व न रहने से इट् का निषेध **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** से प्राप्त ही नहीं होता । अतः इट् वहाँ दुर्निवार ही हो जाता है ।

तुर्भ्यः (7.2.59)—एभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण्न स्यात्, तङानयोरभावे। चार) के पश्चात् स्थित, आदि में सकार वाले आर्धधातुक को इट् नहीं हो, बाद में 'त'

अपि च आत्मनेपद के विषय में भी जहाँ आत्मनेपद एक ही (समान) पद में होगा, वहाँ इट् का निषेध नहीं होगा। जैसे सन् में ही **वृद्भ्यः स्य-सनोः** के विकल्प-पक्ष में आत्मनेपद में 'वृत्+स+त' इत्यादि-प्रकार से एक पद में ही इट् का निमित्त-भूत सन् तथा आत्मनेपद हैं, अतः यहाँ साक्षात् आत्मनेपद में इट् का निषेध प्राप्त नहीं होता। 'इट्' होता ही है, 'विवर्तिषते' रूप होता है।

पर, जहाँ आत्मनेपद समान-पदस्थ न हो, वहाँ इट् का निषेध होगा ही। जैसे 'विवृप्सिता इव आचरति' अर्थ में उपमान-वाचक 'विवृत्सितृ' शब्द (नाम) से **कर्तुः क्यङ् स-लोपश्च** (3.1.11) से क्यङ् होने पर क्यङ् के निमित्त से आत्मनेपद होता है। अब यहाँ परस्मैपद का निमित्त तो '√वृत्+स=√विवृत्स' धातु थी, जबकि आत्मने-पद हुआ है √विवृत्सितृ+य धातु से। इस प्रकार आत्मनेपद परस्मैपद के निमित्तभूत पद के समान-पद में नहीं रहा, अपितु भिन्न-पदस्थ हो गया। अतः 'विवृत्सित्रीयते'[1] में आत्मनेपद के होते हुए भी इट् का निषेध तो होगा ही।

इस प्रकार पदशेषकार आचार्य, भगवान् भाष्यकार, वार्तिककार एवं शेष आचार्य परंपरा 'परस्मैपदेषु' पद में परार्था सप्तमी से सहमत नहीं है। परस्मैपद का विषय वहीं होगा, जहाँ 'तङ्' तथा 'आन' का अभाव होगा। अतः दीक्षितजी ने **'तङा-नयोरभावे** लिखा है।

प्रस्तुत सूत्र √वृत्, √वृध् तथा √श्रुध् से तो नित्य प्राप्त वलादि इट् का तथा √स्यन्द् से **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (81) से विकल्प से प्राप्त इट् का निषेध करता है।

शङ्का : √वृत् आदि धातु पाँच हैं। आचार्य पाणिनि ने इनमें से आद्य चार में सकारादि आर्धधातुक को इट् का निषेध **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** से किया है। **कृपू** में स्य तथा तास् में इट् का निषेध करने के लिए **तासि च क्लृपः** (7.2.60) सूत्र बनाया है। अब यहाँ यदि **न वृद्भ्यस्तासि च क्लृपः** सूत्र बना देते, तो संक्षेप हो जाता, कार्य भी चल जाता। अतः 'चतुर्भ्यः' पद व्यर्थ ही है।

उत्तर : यहाँ 'चतुर्भ्यः' पद सप्रयोजन है : क्योंकि √स्यन्द् से परे 'स्य' को **स्वरति-सूति०** से वा 'इट्' प्राप्त होता है। उसी का **न वृद्भ्यः०** निषेध करता है। अब

---

1. विवृत्सितृ+य, **'रीङ् ऋतः'** से ऋ को रीङ् : विवृत्सित्+री+य=विवृत्सि-त्रीय, **'सनाद्यन्ता धातवः'** से धातु संज्ञा, त : विवृत्सित्रीय+ते, शप्; विवृत्सित्री-य+अ+ते, **'अतो गुणे'**, विवृत्सित्रीयते।

वत्स्यति, वर्तिष्यते। अवृतत्, अवर्तिष्ट; अवत्स्यत्, अवर्तिष्यत। 19 वृधु आदि नौ तथा 'आन' प्रत्यय न होने पर। वत्स्यति, वर्तिष्यते। 19 √वृध् बढ़ने में

यहाँ **स्वरति-सूति०** से प्राप्त (इट्) वलादि आर्धधातुक मात्र को मान कर होता है, जबकि इट् का निषेध परस्मैपद-विषयक सादि आर्धधातुक को मान कर। सकार वलादि के अंतर्गत है। अतः सादि आर्धधातुक को इट् का निषेध वलादि आर्धधातुक की अपेक्षा विशेषाश्रित है, फलतः **अल्पापेक्षि अन्तरङ्गम् बह्वपेक्षि बहिरङ्गम्** नियम से इट् अंतरंग तथा इट् का निषेध वहिरंग हो जाता है। फलतः **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** (प० 51) से इट् का निषेध √स्यन्द् से प्राप्त ही नहीं होगा। अतः इष्टव्यापत्ति दोष हो जाता है।

यदि 'चतुर्भ्यः' पद दे दिया जाता है, तो चौथी √स्यन्द् में इट् का निषेध अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए। यदि अंतरंग वेड्-विधान के द्वारा बाध लिया जाए, तो **निरवकाशो विधिरपवादः** के अनुसार निषेध अपवाद हो जाता है। फलतः अपवाद होने से **परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरम्बलीयः** (प० 39) से **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** सूत्र **स्वरति-सूति०** को वाध लेगा। अतः 'चतुर्भ्यः' का ग्रहण सार्थक है।

न्यासकार तथा ज्ञानेंद्रसरस्वती जी ने यहाँ एक पक्ष और दिया है : **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** सूत्र में 'चतुर्भ्यः' के स्थान में 'पञ्चभ्यः' पद देना चाहिए। इससे लाभ यह होगा कि **तासि च क्लृपः** के स्थान में केवल **तासि च** ही पर्याप्त होगा। √वृत् आदि चार धातुओं में तास् में आत्मनेपद रहता है, अतः तङ् तथा आन के अभाव में प्राप्त होने वाला निषेध वहाँ वैसे ही नहीं प्राप्त होगा। √कृप् से लुट् में परस्मैपद होता है, अतः **तासि च** केवल √कृप् में ही लागू हो कर इट् का निषेध करेगा।

वृद्भ्यः स्य-सनोः तथा **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** दोनों सूत्रों में गण-निर्देश होने के कारण यङ्लुक् में इनकी प्राप्ति नहीं होती।

वत्स्यति—√वृत्+लृट्। **वृद्भ्यः स्य-सनोः** से विकल्प से परस्मैपद तिप् : वृत्+ति, स्य : वृत्स्य+ति, **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से प्राप्त इट् का **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** से निषेध, लघूपध गुण : वर्त्+स्य+ति=वत्स्यति। परस्मैपदाभाव-पक्ष में आत्मनेपद त : वृत्+स्य+ते, इट् : वृत्+इ+स्य+ते, षत्व : वृत्+इष्य+ते, लघूपध गुण : वर्त्+इष्य+ते=वर्तिष्यते।

लुङ् में **द्युद्भ्यो लुङि** से विकल्प से परस्मैपद, च्लि को **पुषादि-द्युतादि०** से अङ्, ङित् अ परे होने से गुण का निषेध : अ+वृत्+अत्=अवृतत्। पक्ष में अवर्तिष्ट।

लृङ् में अवत्स्यत् तथा अवर्तिष्यत।

19 √**वृध्** बढ़ना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) है। प्रक्रिया √वृत् की तरह। वत्स्यति, वर्धिष्यते; अवृधत्, अवर्धिष्ट; अवत्स्यत्, अवर्धिष्यत।

वृद्धौ ॥ 15 ॥ 20 शृधु शब्द-कुत्सायाम् ॥ 16 ॥ इमौ वृतिवत्[1] । 21 स्यन्दू प्रस्रवणे ॥ 17 ॥ स्यन्दते; सस्यन्देः, सस्यन्दिषे, सस्यन्त्से; सस्यन्दिध्वे, सस्यन्द्ध्वे; स्यन्दिता, स्यन्ता । 'वृद्भ्यः स्य-सनोः' (2347) इति परस्मैपदे कृते ऊदिल्लक्षणमन्तरङ्गमपि विकल्पं बाधित्वा 'चतुर्'-ग्रहण-सामर्थ्यात् 'न

है ॥ 15 ॥ 20 √शृध् खराब शब्द (पाद मारने) में है ॥ 16 ॥ ये दोनों √वृत् की तरह हैं । 21 √स्यन्द् (ऊदित्) झरने में है ॥ 17 ॥ 'वृद्भ्यः स्य-सनोः' (2347) से परस्मैपद करने पर इत्संज्ञक ऊ वाला होने से प्राप्त अंतरंग भी विकल्प को बाध कर

सगुण रूपों में यहाँ **अचो र-हाभ्यां द्वे** (8.4.46) से 'ध्' को द्वित्व तथा **झलां जश्झशि** (8.4.53) से पूर्व धकार को दकार आदेश होने पर 'वर्द्धते' इत्यादि 'द्ध' वाले रूप भी हो सकते हैं ।

20 √**शृध्** खराब शब्द करना, पाद मारना, अपान शब्द करना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) है । यह भी √वृत् की तरह ही है । शर्त्स्यति, शर्धिष्यते; अशृधत्, अशर्धिष्ट; अशर्त्स्यत्, अशर्धिष्यत । शर्द्धते; शर्द्धिता इत्यादि । शर्द्धञ्जहाश्चणका मापाश्च । हिंदी √सड़् कदाचित् इस √शर्ध् से ही तो विकसित नहीं है? √शर्ध्= √शड्ढ्=√सड्ढ्=√सड़् । पंजाबी √सड़् (जलना) अन्य से है ।

21 √**स्यन्द्** झरना, चूना, टपकना, बहना तथा रिसना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) है । क्षीरस्वामी 'स्रवणे' पाठ मानते हैं । यह गति अर्थ में भी है : स्यन्दनम्=रथ । स्यदः=वेग । सिन्धुः चलते पानी के कारण नदी, समुद्र ।

यह धातु नकारोपध है । अनुस्वार, परसवर्ण । ऊदित् होने से **स्वरति-सूति०** से वेट् तथा निष्ठा में अनिट् है ।

स्यन्दते; सस्यन्दे, सस्यन्दाते, सस्यन्दिरे; सस्यन्दिषे—विकल्प से इट्, षत्व । इड-भाव-पक्ष में **खरि च** : सस्यन्त्से । सस्यन्दाथे, सस्यन्दिध्वे, सस्यन्द्ध्वे, **झरो झरि सवर्णे** से दकार का वैकल्पिक लोप : सस्यन्ध्वे; सस्यन्दे, सस्यन्दिवहे, सस्यन्दिमहे, सस्यन्द्महे; स्यन्दिता, स्यन्दितासे ।

√स्यन्द्+लृट् । **वृद्भ्यः स्य-सनोः** से परस्मैपद : स्यन्द्+ति, स्य, **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** से प्राप्त नित्य इट् को बाध कर **स्वरति-सूति०** से वैकल्पिक इट् प्राप्त होता है । अंतरंग इट् का भी **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** से निषेध इसके अपवाद होने के कारण होता है, **खरि च** : स्यन्त्स्यति । परस्मैपद न होने पर **स्वरति-सूति०** से विकल्प

---

2. मो० ब० सं० में 'वृतुवत्' है । आगे (पृष्ठ 527 में) 22 √कृप् पर इसी तरह की टिप्पणी में दीक्षितजी ने इगंत का प्रयोग करके धातु-निर्देश किया है : **'कल्पते ...' इत्यादि स्यन्दिवत्** । अतः यहाँ भी इका निर्देश ही उचित है ।

वृद्भ्यः०' (2348) इति निषेधः—स्यन्त्स्यति; स्यन्दिष्यते, स्यन्त्स्यते। स्यन्दिषीष्ट, स्यन्त्सीष्ट। 'द्युद्भ्यो लुङि' (2345) इति परस्मैपद-पक्षे अङ्, न लोपः—अस्यदत्; अस्यन्दिष्ट, अस्यन्त, अस्यन्त्साताम्, अस्यन्त्सत। अस्यन्त्स्यत्; अस्यन्दिष्यत, अस्यन्त्स्यत। 2349 अनु-वि-पर्यभि-निभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु (8.3.72)—एभ्यः परस्याप्राणि-कर्तृकस्य स्यन्दतेः सस्य षो वा स्यात्। अनु-

'चतुर् (चार)' कहने की सामर्थ्य के कारण 'न वृद्भ्यः०' (2348) से निषेध होता है—स्यन्त्स्यति। 'द्युद्भ्यो लुङि' (2345) से परस्मैपद होने के पक्ष में अङ्, न लोप होते हैं—अस्यदत्। 2349 अनु, वि, परि, अभि, और नि के पश्चात् तथा जिसका कर्ता प्राणि-भिन्न है, ऐसी √स्यन्द् के स् को ष् विकल्प से हो। अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते वा जलम् (पानी झरता है)। 'जिसका कर्ता प्राणि-भिन्न है,' क्यों कहा ? हाथी अनुस्यन्दन करता

से इट् : स्यन्दिष्यते तथा स्यन्त्स्यते।

स्यन्दताम्; अस्यन्दत; स्यन्देत, स्यन्देयाताम्, स्यन्देरन्। आशीर्लिङ् में इड्-विकल्प : स्यन्दिषीष्ट, स्यन्त्सीष्ट। लुङ् में वा परस्मैपद होने पर च्लि को अङ्, उसके ङित् होने के कारण **अनिदितां हल०** से न् का लोप : अस्यदत्, अस्यदताम्, अस्यदन् इत्यादि। आत्मनेपद में **स्वरति-सूति०** से वा इट् : अस्यन्दिष्ट; इडभावपक्ष में अस्यन्द+स्+त, **झलो झलि** (2281) से स् का लोप, **झरो झरि सवर्णे** (8.4.65) से धातु के 'द्' का वा लोप : अस्यन्त। दकारलोपाभाव पक्ष में **खरि च** से द् को त् : अस्यन्त्त। **झलो झलि** (8.2.26) **पूर्वत्रासिद्धम्** (8.2.1) से असिद्ध है, अतः **अनिदितां हल०** (6.4.24) से न् का लोप प्राप्त नहीं है। अस्यन्दिषाताम्, अस्यन्त्साताम्, अस्यन्दिषत, अस्यन्त्सत; अस्यन्दिष्ठाः, अस्यन्त्थाः, अस्यन्थाः, अस्यन्दिषाथाम्, अस्यन्त्साथाम्, अस्यन्दिढ्वम्, अस्यन्दिध्वम्, अस्यन्द्ध्वम्, अस्यन्ध्वम्; अस्यन्दिषि, अस्यन्त्सि, अस्यन्दिष्वहि, अस्यन्त्स्वहि, अस्यन्दिष्महि, अस्यन्त्स्महि, यहाँ सिच् के पश्चात् झल् नहीं है, अतः सिज्लोप नहीं होता।

2349 अनु-वि-पर्यभि-निभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु (8.3.72)—अपदान्तस्य मूर्धन्यः (55), सहेः साडः सः (56), सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि (71) : अनु-वि-परि-अभि-निभ्यः (परस्य) स्यन्दतेः सः मूर्धन्यः वा अप्राणिषु। स्यन्दन क्रिया अकर्मक है, अतः अधिकरण-सप्तम्यन्त 'अप्राणिषु' स्यन्दन का कर्तृत्वेन ही अधिकरण हो सकता है; इसलिए 'अप्राणिषु' से 'कर्तृषु' का बोध होता है : अनु, वि, परि, अभि और नि के पश्चात् स्थित √स्यन्द् के सकार को मूर्धन्य ऊष्म आदेश होता है, इसी क्रिया के कर्ता यदि अ-प्राणी (प्राणी-भिन्न) हों। 'अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते जलम्' (पानी झर रहा है, बह रहा है) वाक्य में प्राणि-भिन्न जल कर्ता है, अतः वा षत्व होता है। 'अनुस्यन्दते'

ष्यन्दते, अनुस्यन्दते वा जलम्। 'अप्राणिषु' किम् ? अनुस्यन्दते हस्ती। 'अप्राणिषु' इति पर्युदासान् 'मत्स्योदके अनुस्यन्देते' इत्यत्रापि पक्षे षत्वं भवत्येव। 'प्राणिषु न' इत्युक्तौ तु न स्यात् ॥ 69 ॥

है (मद चुवाता है)। 'अप्राणिषु', इस प्रकार पर्युदास करने के कारण 'मछली और पानी अनुस्यन्दित हो रहे हैं,' इस प्रयोग में भी पक्ष में षत्व होता ही है। 'प्राणी कर्ता होने पर नहीं' कहने पर तो नहीं हो सकता ॥ 69 ॥

हस्ती' (हाथी मद चुवा रहा है) वाक्य में प्राणी 'हस्ती' कर्ता है, अतः यहाँ षत्व नहीं होता।

'पर्युदास' का अर्थ : निषेध दो तरह का होता है—(1) प्रसज्ज्य प्रतिषेध, (2) पर्युदास। (1) प्रथम प्रकार में पहले प्रसज्जन (विधान) करके फिर उसका निषेध किया जाता है : 'प्राणिषु न' कहने में 'न' गौण नहीं, अपितु मुख्य है। पर (2) पर्युदास में निषेध गौण होता है।[1] 'पर्युदास' का अर्थ होता है : छुड़ाव (exception)। निषेध के गौण होने से 'अ-प्राणिषु (प्राणि-भिन्नेषु)' कथन में पर्युदस्यमान और अपर्युदस्यमान (छोड़ी जानेवाली और न छोड़ी जाने वाली) दोनों वस्तुओं की युगपत् उपस्थिति होने पर पर्युदस्य की उपस्थिति के कारण निषेध का अपहार नहीं हो सकता। जैसे—'अ-प्राणिषु' कहने से प्राणि-भिन्न का ग्रहण होता है, तथा प्राणियों का पर्युदास (त्याग)। **'मत्योदके अनुष्यन्देते'** (मछली और पानी अनुस्यंदन कर रहे हैं—मछली तैर रही है, पानी बह रहा है) वाक्य में प्राणी 'मत्स्य' अप्राणी 'उदक' दोनों में कर्तृत्वेन उपस्थित हैं, तो यहाँ प्राणि-भिन्न 'उदक' की कर्ता के रूप में उपस्थिति प्राणी 'मत्स्य' की कर्ता के रूप में उपस्थिति से बाधित नहीं होती; निषेधांश तत्पुरुष समास में पूर्व पद के रूप में स्थित होने से गौण हो गया है, अतः प्राणिभिन्न उदक के कर्तृत्व के कारण विकल्प से मूर्धन्यादेश होगा ही : **'मत्स्योदके अनुष्यन्देते, अनुस्यन्देते।**

यदि पर्युदास ('अ-प्राणिषु') न कह कर प्रसज्य प्रतिषेध ('प्राणिषु न') कर दिया जाए, तो प्राणी की कर्तृत्वेन उपस्थिति में निषेध पूर्ण बल के साथ लागू होगा। वहाँ निषेधांश के सर्वथा बलवान् होने के कारण निषेध्य और अनिषेध्य दोनों के समान रूप से कर्ता होने पर निषेध पक्ष के बलवान् होने से निषेध पक्ष ही लागू होगा। फलतः

---

1. (1) **अ-प्राधान्यं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता।**
प्रसज्ज्य प्रतिषेधोऽसौ, क्रियया सह यत्र नञ् ॥
(2) **प्रधानत्वं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता।**
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदे न नञ् ॥

19.22 कृपू सामर्थ्ये ॥ 18 ॥ 2350 कृपो[1] रो लः (8.2.18)—

वर्ग 19 : इ. लुट्, लृट्, लुङ्, लृङ्, सन् में वा परस्मैपदी आत्मनेपदी धातु

19.22 √कृप् (ऊदित्) समर्थ होने में है ॥ 18 ॥ 2350 कृपो रो लः—'कृप,

---

'मत्स्योदके' के कर्तृत्व में क्रिया-पद 'अनुस्यन्देते' (मूर्धन्य-रहित) ही रहेगा। इस क्रिया का कर्तृत्व प्राणी मत्स्य और अप्राणी उदक दोनों में समानरूप से है। इस लिये निषेध-शास्त्र की उद्देश्यता आ जाने से **निषेधाश्च बलीयांसः** (प०) के बल से प्रबलता होने से निषेधांश की अवश्य प्रवृत्ति होगी। फलतः मूर्धन्यादेश का नित्य अभाव रहेगा।

धातु-योग : गत 748, वर्तमान 4, योग 752 ॥ 69 ॥

19.22 √**कृप्** समर्थ होना अर्थ में अकर्मक है। उदित् होने के कारण यह वलादि आर्धधातुक में **स्वरति-सूति०** से वेट् है। अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है।

2350 कृपो रो लः (8.2.18)—इस सूत्र की व्याख्या के विषय में सैद्धांतिक मतभेद (1) आचार्य कात्यायन (वार्तिककार) तथा (2) आचार्य पतंजलि के बीच है :

(1) **पूर्व-पक्ष :** वार्तिककार कात्यायन इसका पदच्छेद कृपः 6.1 रः 6.1, लः 1.1 मानते हैं। उनके अनुसार '√कृप धातु के रेफ को लकार होता है', अर्थ होता है। फलतः कल्पते, कल्प्ता इत्यादि प्रयोगों में इस सूत्र की प्रवृत्ति है, पर—चक्लृपे, क्लृपः इत्यादि प्रयोगों में प्रस्तुत सूत्र प्राप्त ही नहीं होता। उपर्युक्त स्थलों में स्थानी ऋकार है, जबकि सूत्र में 'रः' यानी 'रेफ के स्थान में' 'लः' यानी 'लकार आदेश' किया गया है। ऋकार में यद्यपि रेफ के ही समान कोई वर्ण-भाग उच्चारण में प्रतीत होता है, तथा शेष अंश अज्भक्ति[2] का। तब भी, उस रेफ-सदृश वर्णावयव एवम् रेफ में जाति-गत भेद बिल्कुल स्पष्ट है। अतः रेफत्व जाति से विशिष्ट रेफ वर्ण के स्थान में होने वाला लकार रूप आदेश रेफत्व से भिन्न ऋत्व रूप जाति से विशिष्ट ऋकार के अवयव रेफ-सदृश को नहीं हो सकता। यदि रेफ से ऋकारस्थ रेफ-सदृश का भी ग्रहण माना जाये,

---

1. क्षीरस्वामी **'कृपे रो लः'** पाठ मानते हैं। प्र० कौ० में भी यही पाठ माना प्रतीत होता है।

2. अचः स्वरस्य भक्तिः भंजनं श्रवणम्। 'ऋ' में 'र्', 'लृ' में 'ल्+र्' व्यञ्जनसदृश ध्वनियों के अलावा इनके पश्चात् स्वर का श्रवण और होता है। गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में यह स्वरभाग 'उ' के समान है, तो उत्तर भारत में 'इ' के समान। पर इन स्वरों का संस्कृत का उच्चारण बहुत समय से—प्राकृत काल से ही—विकृत हो गया है। 'लृ' का तो उच्छेद ही हो गया है। परंपरा-पालनार्थ लिपि में ही भेद उपलब्ध होता है।

'कृप, उः, रः, ल' इतिच्छेदः। 'कृप' इति लुप्त-षष्ठीकम्। तच्चावर्तते— उः, रः, लः' यह सन्धिच्छेद होता है। 'कृप' लुप्त हुई षष्ठी विभक्ति वाला पद है।

तो (क) जाति-भेद का नियम बाधित होता है, (ख) रेफवर्ण परे रहते पूर्व वर्ण को होने वाले आदेश ऋ वर्ण रहते भी प्राप्त होंगे। जैसे—'देवदत्त ऋलृगित्याह' वाक्य में 'देवदत्त+रु+ऋलृगित्याह' स्थिति में **हशि च** (6.1.114) से 'रु' को उकार आदेश प्राप्त होगा। क्योंकि हश् प्रत्याहार में रेफ भी है और प्रस्तुत उदाहरण में ऋ में रेफ-सदृश वर्णावयव है। उसके निमित्त से 'देवदत्तो ऋलृगित्याह' इस प्रकार का अनिष्ट रूप होगा। (ग) शिवसूत्रों में 'ऋलृक्' के बाद उससे भिन्न 'हयवरट्' सूत्र में रेफ का ग्रहण भी यही सिद्ध करता है कि ऋकार और रेफ में जातिगत भेद होने के साथ-साथ ऋकारस्थ रेफ-सदृश से भी बिल्कुल-भिन्नता है। रेफ के ग्रहण से ऋकारावयव रेफ-सदृश का तथा ऋकार के ग्रहण से रेफ-वर्ण का ग्रहण शास्त्रदृष्टि से अयुक्त है।

अतः स्वयं भगवान् पाणिनि का (i)**लुटि च क्लृपः** (1.3.93) प्रयोग शास्त्रोक्त नहीं है। एवम् इस प्रकार के अन्य प्रयोग भी पाणिनि की दृष्टि से छूट गये हैं। शास्त्र के द्वारा उनका प्रतिपादन करना चाहिए।

केवल यहीं नहीं, अपितु (ii) **र-षाभ्यां नो णः समान-पदे** (8.4.1) तथा (iii) **तस्मान्नुड् द्विहलः** (7.4.71) में भी पाणिनि की दृष्टि से ऋकारग्रहण छूट गया है। पूर्वोक्त जाति-भेद के कारण ही (iv) **अप्तृन्तृच्···प्रशास्तॄणाम्'** (6.4.11) में पठित 'प्रशास्तॄणाम्' पद में और इस तरह के दूसरे 'स्तृणोति', 'पितॄणाम्' इत्यादि प्रयोगों में **र-षाभ्यां नो णः** से णत्व प्राप्त नहीं होगा। इसी प्रकार (v) **अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषे-तित्याज-श्राताः श्रितमाशीराशीर्ताः** (6.1.36) में 'आनृचुः' तथा 'आनृहुः' में नुड्-विधि प्राप्त नही है। नुड्-विधायक सूत्र **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** (7.4.71) दो हलों वाली धातु में नुट् का आगम करता है। यहाँ √अर्च् तथा अर्ह् धातुओं के निपातनात् संपन्न हुए √ऋच् और √ऋह् धातुओं में एक-एक हल् ही है।

ऋकार के अवयव रेफ-सदृश को हल् नहीं माना जा सकता। क्योंकि (क) प्रथम तो, रेफ-सदृश स्वयं किसी वर्णत्व जाति से समवेत नहीं है। (ख) दूसरे, यदि 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से रेफ-सादृश्य के आधार पर आग्रह किया भी जाये, तो वह रेफ-सदृश जिस ऋवर्ण का अवयव है, वह ऋवर्ण अच् है, हल् नहीं। अवयव हल् हो, अवयवी अच् हो, यह संभव नहीं है। अतः ये तथा 'आनृवतुः' इत्यादिक प्रयोग भी पाणिनि के अनुसार सिद्ध नहीं होते। अतः इन का भी शास्त्र के द्वारा प्रतिपादन करना चाहिए।

इस प्रकार आपत्ति के अभिप्राय से उपर्युक्त रूप सिद्ध करने के लिए वार्तिक-

(1) कृपो यो रेफः, तस्य लः स्यात्; (2) कृपेर्ऋकारस्यावयवो यो रेफ-सदृशः, और उसकी आवृत्ति होती है—(1)√कृप् का जो रेफ है, उस के स्थान में लकार

कार ने एक संशोधन उपस्थित किया है : **नुड्विधि-लादेश-विनामेषु ऋकारे प्रतिविधेयम्।** नुड्विधि, लादेश तथा विनाम (णत्व के विधानों) में ऋकार में प्रतिपादन करना चाहिए। अर्थात् **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** (7.4.71), **कृपो रोलः** (8.2.18), और **र-षाभ्यां नो णः समान-पदे** (8.4.1.) सूत्रों में ऋकार का भी ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार ऋकार के ग्रहण से प्रस्तुत स्थल में √कृप् के ऋकार को भी लृकार आदेश होने से **लुटि च क्लृपः** (1.3.93) तथा 'क्लृप्तिः' आदि प्रयोगों में कोई आपत्ति नहीं आयेगी।

(2) **उत्तर पक्ष**—उपर्युक्त सूत्रों में ऋकार के ग्रहण से भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, 'कृप् धातु के रेफ तथा ऋकार को लकार हो' इस प्रकार का अर्थ ऋकार के ग्रहण से होता है। कल्पते, कल्प्ता इत्यादि स्थलों में तो रेफ को लकार हो जाता है। पर क्लृप्तिः, क्लृपः आदि प्रयोगों में ऋकार को लकार करने पर 'क्लिप्तः', 'क्लपः', इत्यादि अनिष्ट रूप प्राप्त होते हैं।

(क) ऋकार से ऋकारावयव के ग्रहण के लिए यदि 'ऋकारस्य' को अवयव-षष्ठ्यंत माना जाये, तो अवयवतत्त्व का बोध करने के लिए किसी विशेष्य पद की आवश्यकता होती है। 'ऋकारस्य' का अन्वय सूत्र में पठित 'रः' (षष्ठ्यन्त) पद से होता है,—यह कहना भी नही बन सकता। वार्तिककार के ही सिद्धांत के अनुसार ऋ-जाति तथा रेफ-जाति में नितांत भेद है, और ऋवर्ण के अवयव की तो कोई जाति ही नहीं है। नहीं तो ऋत्व तथा ऋकारांतर्गतावयवत्व ये दो जातियाँ यदि भिन्न-भिन्न मानी जायें, तो ऋवर्ण तथा रेफ-सदृश, ये दो भिन्न वर्ण भी मानने पड़ेंगे। यदि नहीं, तो एक वर्ण में दो भिन्न जातियाँ नहीं रह सकतीं।

'नरसिंह' न्याय भी यहाँ लागू नहीं होगा : नरत्व और सिंहत्व, इन दो भिन्न जातियों के समवाय से वहाँ इन दोनो से भिन्न एक 'नरसिंह' व्यक्ति की प्रतीति होती है। वैसे ऋवर्ण में रेफ-सदृश तथा अज्भक्ति, इन दो भिन्न जातियों का समवाय शास्त्र-सिद्ध नहीं है। और, न ही रेफ-सदृशत्व और अज्भक्तत्व, ये दो परस्पर-भिन्न जातियाँ सिद्ध हैं, जिनके मिलने से ऋकार रूप एक वर्ण की प्रतीति होती हो।

वार्तिककार के अनुसार ही ऋकारावयव रेफश्रुति और 'रः' पदवाच्य रेफ में जातिगत नितांत भेद होने से अन्वय नहीं हो सकता, **कृपो रो लः** में जो 'रः' है, वह ऋकारावयव से जाति की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। अतः रेफ एवम् ऋकार में अवयवावयवित्व नहीं हो सकता; फलतः 'ऋकारस्य' पद का रेफ से अन्वय नहीं बन

तस्य च लकार-सदृशः स्यात्। कल्पते; चक्लृपे; चक्लृपिषे, चक्लृप्से इत्यादि होवे; (2) √कृप् के ऋकार का अंश जो रेफ के समान ध्वनि हो जाए। कल्पते;

सकता। अतः अवयव-षष्ठी निरर्थक है।

(ख) ऋकार के स्थान में लकार रूप आदेश कैसे बन सकता है? क्या ऋकार को सर्वादेश होगा? तब तो क्ल्प्तः, क्ल्पः आदि रूप बनेंगे।

(ग) यदि यह कहा जाये कि √कृप् के रेफ को तथा ऋकार को लकार रूप आदेश होता है, ऐसा अर्थ करके ऋवर्ण एवम् लृवर्ण में सावर्ण्य होने से ऋकार के अवयव को लृकार का अवयव आदेश करेंगे। फलतः 'कृपः' को 'क्लृपः' आदेश होगा।

इस पर पूछना यह है कि अवयव-षष्ठी में आने वाली आपत्तियों के अतिरिक्त 'ल.'-पद-वाच्य वर्ण एवम् लृकारावयव वर्णांश, इनमें जातिभेद (i) है, या (ii) नहीं? (i) यदि है? तो 'लः' इस सूत्रपठित पद से लृकारावयव का बोध कैसे होगा? (ii) यदि भेद नहीं है, तो लृकारावयव तथा लकार को अभिन्न मानने से हश् तथा हल् प्रत्याहारों को परनिमित्त मानने पर होने वाले कार्य लृकार परे रहते भी प्राप्त होंगे, एवम् लृकार का अच्त्व व्याहत होगा।

ऐसी स्थिति में वार्तिककार को दो में से अन्यतर समाधान मिल सकता है:

(अ) **कृपो रो लः** सूत्र में 'लः' विधेय के साथ 'लृ' विधेय का भी ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने पर '√कृप् के रेफ को लकार तथा ऋकार को लृकार आदेश होते हैं,' अर्थ होता है। इससे सभी प्रकार के प्रयोग निष्पन्न हो जाते हैं।

(आ) ऋकार के अवयव रेफ-सदृश तथा रेफ में एवम् लृकार के अवयव लकारसदृश एवम् लकार में श्रुतिसामान्य मान कर ऋकार के अवयव रेफ-सदृश को लृकार का अवयव लकार-सदृश होता है, ऐसा माना जाये।

इनमें से पहले (अ) प्रकार का समाधान वार्तिककार ने किया नहीं है। उन्होंने केवल **नुड्विधि-लादश-विनामेषु ऋकारे प्रतिविधेयम्** ही कहा है। अब शेष रह जाता है (आ) श्रुति-सामान्य। उसके मानने पर प्रस्तुत वार्तिक निरर्थक है। क्योंकि आचार्य पाणिनि को 'रः' से हल् प्रत्याहार में पठित रेफ नहीं, अपितु वह रेफश्रुति अभिप्रेत है, जिसमें इस प्रकार की ध्वनि की समानता है। रेफ-श्रुति रेफ में तो है ही, पर ऋकार के अवयव में भी है। अतः जब 'र' पद से ही श्रुतिसामान्य से दोनों का ग्रहण हो सकता है, तो संशोधन करके ऋकार का ग्रहण निरर्थक नहीं, तो और क्या है?

इस दृष्टि से भगवान् सूत्रकार ने **कृपो रो लः** तथा **र-षाभ्यां नो णस्समान-पदे** सूत्रों में 'र' शब्द दिया है। एवम् **कृपो रो लः** में 'लः' से श्रुति-सामान्य से लृकारावयव तथा लकार—दोनों—का ही ग्रहण आचार्य को अभिप्रेत है।

अब प्रश्न आता है कि यह श्रुति-सामान्य आचार्य को कहां अभिप्रेत है ? और कहाँ नहीं ? आचार्य के अपने प्रयोग इस बात के विनिगमक हैं कि (1) नुड्विधि, (2) लादेश, तथा (3) विनाम—इन तीन स्थलों में ही सूत्रकार को श्रुति-सामान्य एवम् ऋकारावयय का रेफत्वेन ग्रहण अभिप्रेत है, अन्यत्र नहीं। तद्यथा—

(1) **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** (7.4.71) में 'हल्' पद से आचार्य को रेफ-सदृश भी अभिप्रेत है, यह **अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषे०** सूत्र में 'आनृचुः', 'आनृहुः' में प्रयुक्त नुड्विधान से सिद्ध होता है। अन्यथा तो नुट् यहाँ प्राप्त ही नहीं है।

(2) इसी प्रकार **तासि च क्लृपः** (8.2.60) में 'कृपः के स्थान में 'क्लृपः' पाठ यही बतलाता है कि यहाँ 'रः' से रेफ तथा ऋकारावयव रेफ-मदृश, एवम् 'लः' से लकार एवम् लृकारावयव लकार-सदृश दोनों ही वर्ण अभिप्रेत हैं।

(3) **क्षुम्नादिषु च** (8.4.39) से प्रतिपादित णत्व-निषेध के लिये परिगणित क्षुम्नादिगण में 'तृप्नु' और 'नृनमन' शब्दों का ग्रहण बतलाता है कि **र-षाभ्यां नो णः०** में सूत्रकार को 'र' शब्द से श्रुति-सामान्य ही अभिप्रेत है। क्योंकि ऋकार को पूर्वनिमित्त मानकर णत्व केवल एक सूत्र **छन्दस्यृदवग्रहात्** (8.4.26) से प्राप्त होता है। 'नृनमन' में इससे प्राप्त णत्व का निषेध करने के लिए क्षुम्नादि गण में इस शब्द का पाठ किया गया है। पर 'तृप्नोति' में निमित्तभूत ऋकार पूर्वपद मे स्थित नहीं है, इसलिये **छन्दस्यृदव०** सूत्र की तो यहाँ प्राप्ति है ही नहीं, **र-षाभ्यां नो णः०** की प्राप्ति केवल तभी हो सकती है, जब वहाँ दिये 'र' पद से श्रुतिसामान्य के आधार पर ऋकारावयव रेफ-सदृश को निमित्त माना जाये। अन्य किसी णत्व-विधायक सूत्र की वहाँ प्राप्ति है नहीं, तब निषेध चूंकि विहित का, प्राप्त का, होता है, अतः सिद्ध होता है कि (1) **र-षाभ्यां०** की ही प्राप्ति 'तृप्नोति' में होती है, एवम् (2) उसके निवारणार्थ ही क्षुम्नादिगण में 'तृप्नु' का ग्रहण किया गया है।

यहाँ एक शंका हो सकती है : गण-पाठ में बहुत से अवान्तर प्रक्षेपों के कारण उसकी केवल पाणिनि-मुनि-प्रणीतता संदिग्ध है। अतः 'तृप्नु' शब्द भी वार्तिककार के अनंतर प्रक्षिप्त हो सकता है। संदिग्ध शब्द के आधार पर पाणिनि का अभिप्राय नहीं बताया जा सकता।

इसका उत्तर यह है कि **अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृणाम्** (6.4.11) सूत्र में 'प्रशास्तृणाम्' पद में आचार्य ने स्वयम् 'ऋ' से परे 'नाम् के 'न्' को णकारादेश किया है। पूर्वपदस्थ निमित्त न होने से **छन्दस्यृदवग्रहात्** की प्राप्ति यहाँ नहीं है। तब आचार्य की प्रवृत्ति सिद्ध करती है कि **'र-षाभ्यां नो' णः०** से ही यहाँ श्रुति-सामान्य के आधार पर णत्व-विधान आचार्य को अभिप्रेत है। ऐसी स्थिति में 'तृप्नोति' में भी **अट्-कुप्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि** (8.4.2) से णत्व स्वतः प्राप्त हो जाता है। 'तृप्नु',

यह गण-निर्दिष्ट पाठ **तृप प्रीणने** धातु का श्नु-विकरण-निर्दिष्ट रूप है। धातु-पाठ में ग्रहण इसकी पाणिनीयता को बलपूर्वक सिद्ध करता है। तब स्वतः प्राप्त णत्व के निषेध के लिए गणपाठ में मिलने वाला पाठ भी पाणिनीय ही है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

हशि च (6.1.114) इत्यादि सूत्रों में 'र' से श्रुति-सामान्य भगवान् सूत्रकार को अभिप्रेत नहीं है, इसमें सीधा विनिगमक प्रमाण उनका अपना सूत्र **र ऋतो हलादेर्लघोः** (6.4.162) ही है। जबकि यहाँ श्रुति-सामान्य अभिप्रेत है, इसका विनिगमक सूत्रकार का कोई भी प्रयोग प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त, प्रत्याहारसूत्रों में अच् प्रत्याहार में 'ऋ,' 'लृ' को बतला कर हल् प्रत्याहार में उनसे पृथक् 'र' 'ल' का ग्रहण तथा अट्, अण्, एवम् इण् प्रत्याहारों में 'ऋ,' 'लृ' के अतिरिक्त 'र,' 'ल' का ग्रहण बतलाता है, कि वहाँ आचार्य को श्रुति-सामान्य अभिप्रेत नहीं है। कृपण, कृपीट, कर्पूर, कृपाण आदि उणादि लक्ष्यों में तो बाहुलकात् (**उणादयो बहुलम्**) लत्व नहीं होता।

भगवान् भाष्यकार का मत : वार्तिककार के उपर्युक्त आक्षेप के प्रसंग में ही आचार्य पतंजलि ने **ऋलृक्** तथा **एओङ्** सूत्रों पर लिखा है :—**ऋकारोऽप्यत्र षष्ठीनिर्दिष्टः। कथम् ? अविभक्तिको निर्देशः, 'कृप, उः, रः लः=कृपो रो ल' इति** (ऋलृक्)।

(क) यस्यापि न गृह्यन्ते, तस्याप्येष न दोषः, ऋकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते। कथम् ? अविभक्तिको निर्देशः—'कृप उः रः लः=कृपो रोलः' इति। (ख) अथवा—उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते र-श्रुतेर्ल-श्रुतिर्भवतीति (एओङ्)।

द्वितीय उद्धरण का तात्पर्य यह है : (क) जिसके भी मत में अवयवी के ग्रहण से अवयव का ग्रहण नहीं होता, उसके मत में भी प्रस्तुत सूत्र में यह दोष नहीं है। ऋकार का भी निर्देश है। कैसे ? विभक्ति से रहित निर्देश है। अर्थात् प्रस्तुत सूत्र में आपाततः षष्ठ्यंत के रूप में प्रतीत होने वाला 'कृपो' शब्द √कृप् का षष्ठी के एकवचन का 'कृपः' नहीं है, अपितु 'कृप उः रः लः=कृपो रो लः' है। (ख) अथवा, यहाँ **रो लः** इन दोनों पदों में स्फोट (ध्वनि) मात्र का निर्देश है—'र्' ध्वनि के स्थान में 'ल्' ध्वनि होती है। अर्थात् रेफ और लकार से तत्तज्जाति-विशिष्ट तत्तद् वर्ण-मात्र अभिप्रेत नहीं हैं।

उपर्युक्त (क) कथन से भाष्यकार का यह आशय है कि यदि वार्तिककार के आग्रह को माना भी जाये, तब भी ऋकार को बाहर से जोड़ने की आवश्यकता नहीं हैं। 'कृप' इस अविभक्तिक प्रयोग के अनंतर 'उः' पाणिनि को अभिप्रेत है। अविभक्तिक प्रयोग पाणिनि के लिए कोई नई चीज नहीं है। अतः वार्तिककार का प्रयास

आदेय नहीं है।[1]

यह तो हुई दुर्जनतोषन्याय की बात। अब वास्तविक उत्तर भाष्यकार ने (ख) 'अथवा' से दिया है। इसके अनुसार सूत्र में ऋकार की उपस्थिति आवश्यक नहीं है। क्योंकि श्रुति-सामान्य के कारण स्थानी की योग्यता के अनुसार **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा से रेफवाले उदाहरणों में लकारादेश तथा रेफ सदृश वाले उदाहरणों में लकारसदृश आदेश होंगे। फलतः इस व्याख्यान में भाष्यकार को कृपः 6.1, रः 6.1, लः 1.1 पदच्छेद ही अभीष्ट है, ऐसा लगता है। इसके अनुसार अर्थ 'कृप् (धातु) के अवयव रूप र् (रेफ तथा रेफ-सदृश) के स्थान में ल् (लकार तथा लकार-सदृश) आदेश होते हैं,' होता है।

भट्टोजिदीक्षितजी का मत : भट्टोजिदीक्षितजी ने भाष्यकार द्वारा प्रदर्शित (क) पक्ष को लिया है : उन्होंने 'कृप उः रः लः पदच्छेद बताया है। 'कृप' में अकार ('कृप्+अ') उच्चारणार्थक है। 'उः' पद 'ऋ' का षष्ठी ए० व० का और 'रः' पद 'र्' का षष्ठी ए०व० का रूप है। समीपस्थित ऋकार (उः) तथा रेफ (रः) √कृप् धातु का (कृप) एकदेश हैं, अतः 'कृप' में अवयवार्था षष्ठी अभिप्रेत है। उसका **'सुपां सु-लुक्-पूर्वसवर्णाच्छे-याडा-ड्या-याजालः'** (7.1.39) से लोप हो गया है। 'उः' पद 'ऋ' का षष्ठी एकवचन का रूप है। इस पद का अन्वय 'रः' पद से है। रेफ के साथ ऋवर्ण के दो ही प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं : (i) या तो ऋकार का आदेशज (**उरण् रपरः** से सम्पन्न होने वाला) रेफ, अथवा (ii) ऋकार में उच्चारण-साम्य की दृष्टि से रेफ के समान ही सुना जाने वाला आधी अथवा चौथाई मात्रा वाला ऋवर्ण का अवयव। (i) यदि पहला सम्बन्ध ही अभिप्रेत हो, तो 'कृपः र.' से ही काम चल जायेगा। 'कृपः (अवयवस्य) उः (अवयवस्य) रः' इस प्रकार गौरव-पूर्वक कहने का विशेष अर्थ नहीं दिखाई देता। अतः आचार्य को द्वितीय प्रकार के संबंध (अवयवावयविभाव) को बतलाना अभीष्ट प्रतीत होता है। अतः यह अवयवार्था षष्ठी है, स्थानेयोगा षष्ठी नहीं। 'रः' स्थानी है, अतः इसमें स्थाने-योगा षष्ठी है। 'लः' प्रथमांत विधेयपद है।

आपाततः 'कृप उः रः लः' पदों का अन्वितार्थ इस प्रकार प्राप्त होता है—कृप (कृप् धातोरवयवस्य) उः (ऋकारस्यावयवस्य) रः (रेफस्य स्थाने) लः (लकारादेशो भवति)—√कृप् के अवयव ऋवर्ण के अवयव रेफ के स्थान में लकार आदेश होता है।

---

1. 8.2.7 : **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य**। यहाँ 'न' और 'प्रातिपदिक' लुप्त-विभक्तिक माने जाते हैं। 7.3.96 : **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** (2225) में 'अस्ति-सिचस्' लुप्त-पंचमी-विभक्तिक माना जाता है।

यहाँ यदि केवल 'ऋकार का अवयव' से रेफसदृश ही अभिप्रेत हो, तो 'कल्पते' आदि प्रयोगों में रेफ ऋकार का अवयव नहीं है, अपितु आदेशज (तत्स्थानिक) है। इसलिये प्रस्तुत सूत्र प्राप्त ही नही होगा।

इस आपत्ति को दूर करने के लिए आवश्यक है कि 'कृप' का अन्वय 'रः' से भी किया जाये। दो अलग-अलग पदों से अन्वय के लिए 'कृप' की आवृत्ति आवश्यक है : एक 'कृप' का अन्वय 'उः' से तथा दूसरे का 'रः' से होगा एवम् 'उः' का अन्वय 'रः' से होगा। एक पद के साथ भिन्न पदों का अन्वय करने के लिए आवृत्ति आवश्यक है। अतः 'रः' एवम् 'लः' इन दो पदों की भी आवृत्ति होनी चाहिए। **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा से 'लः' के दो अर्थ होंगे : (1) लकार तथा (2) लकारसदृश। फलतः अन्वय निम्न प्रकार से होगा :—

(i) कृप (=√कृप् धातोरवयस्य) उः (=ऋकारस्यावयवस्य) रः (=रेफस्य स्थाने) लः (=लकार-सदृशः भवति); (ii) कृप (=√कृप् धातोरवयवस्य) रः (=रेफस्य स्थाने) लः (=लकारः भवति)—(i) √कृप् धातु के अवयव ऋकार के अवयव रेफ-सदृश के स्थान में लकार-सदृश, एवम् (ii) √कृप् धातु के अवयव रेफ के स्थान में लकार आदेश होता है।

यहाँ (i) हल् रेफ तो ऋकार का अवयव हो नहीं सकता। अतः ऋकार-ग्रहण-सामर्थ्याद् ही रेफ-सदृश का बोध ऋकार ('उः') से अन्वित 'रः' पद से होगा। साथ ही (ii) √कृप् का अवयव आदेशज रेफ हो सकता है। अतः 'कृपः' से अन्वित 'रः' से उसका भी बोध होगा।

'रः' में स्थाने-योगा षष्ठी होने के कारण **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा प्राप्त होती है। इससे 'लः' इस एक पद से ही (i) रेफ के स्थान में लकार तथा (ii) रेफसदृश के स्थान में लकार-सदृश आदेश होंगे।

यहाँ दीक्षितजी को "**'कृप' इति लुप्त-षष्ठीकम्। तच्चावर्तते।**" में 'तत्' शब्द से समीप में स्थित केवल 'कृप' इस एक ही पद की आवृत्ति करना अभिप्रेत है, अथवा 'कृप रः लः' इन तीनों पदों की, यह स्पष्ट नहीं होता। ऊपर दिये अर्थ-विकास से जैसे प्रतीत होता है, उसके अनुसार तो तीनों ही पदों की आवृत्ति सिद्ध होती है। क्योंकि, यदि एक √कृप् का अन्वय 'रः' से होगा, तो 'उः' को भी अन्वय के लिए 'रः' पद चाहिए। ऐसा आवृत्ति से ही हो सकता है। वासुदेवदीक्षित भी ऐसा ही मानते हैं।[1]

---

1. वा० म० : **'कृप रः ल' इति पद-त्रयमावर्तते इत्यर्थः। तथा च वाक्य-द्वयं सम्पद्यते—(i) 'कृप रः ल' इत्येकं वाक्यम्।·····(ii) 'कृप उः रः लः' इति द्वितीयं वाक्यम्।**

यदि आवृत्ति न करें, तो √कृप् के साथ अन्वित 'रः' पद का 'रेफ के स्थान में', और 'उः' से अन्वित 'रः' का 'रेफ-सदृश के स्थान में', इस प्रकार अर्थ-भेद कैसे बन सकेगा ?

परन्तु, पूर्वपठित **कृप इति लुप्त-षष्ठीकम्** नपुंसकैकवचनांत के ठीक बाद दिये नपुंसकैकवचनान्त 'तत्' शब्द से **" 'कृप' इति लुप्त-षष्ठीकम्"** का परामर्श न्याय्य लगता है। ऐसी स्थिति में 'कृप' की ही आवृत्ति करने में निम्नलिखित युक्ति दी जा सकती है :

उपर्युक्त अर्थ-भेद आवृत्ति विना किये भी दोनों स्थानियों की योग्यता के अनुसार **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा से हो सकता है : एक ही 'रः' पद 'कृप' से अन्वय के समय √कृप् की योग्यता के कारण रेफ का ग्राहक होगा, तो 'उः' के साथ अन्वय में रेफ-सदृश का। इस प्रकार 'लः' पद भी आवृत्ति के विना ही उपर्युक्त प्रकार से लकार तथा लकार-सदृश दोनों का ग्राहक होगा। जिस प्रकार आवृत्ति वाले पक्ष में **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा से ही उन-उन अर्थों की प्राप्ति होती है, वैसे ही यदि आवृत्ति विना किये भी अर्थ प्राप्त होता है, तो व्यर्थ तीनों पदों की आवृत्ति करने से क्या लाभ ?

भट्टोजिदीक्षित के मत की समीक्षा : उपर्युक्त व्याख्यान में भट्टोजिदीक्षित सीधे रूप से श्रुति-सामान्य का आश्रय लेते नहीं प्रतीत होते; अपितु पूर्वोदाहृत **एओङ्**-सूत्रस्थ भाष्य पर आचार्य कैयट की टिप्पणी—**तत्र ऋकार-निर्देश-सामर्थ्याद्विभागं प्रकल्प्यादेशो विधीयते**—का आश्रय लेते प्रतीत होते हैं। कैयट का भाव यह है कि ऋकार को लत्व तो **स्थानेऽन्तरमः** के विरोध के कारण से बन नहीं सकता, तब ऋकार का ग्रहण ही सिद्ध करता है कि पाणिनि रेफ से ऋकार के एकदेश को ग्रहण करते हैं। अतः, उस रेफ-सदृश के स्थान में **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा से लकार-सदृशादेश ही होगा।

वास्तव में तो यहाँ **'ऋकार-निर्देश-सामर्थ्यात्'** मानें, अथवा पूर्वोक्त विनिगमकों के आधार पर सूत्रकार की मनीषा समझ कर मानें, सूत्रकार को यहाँ अभिप्रेत तो श्रुति-सामान्य ही लगता है। तब 'रः,' 'लः' इन दो पदों से ही जब रेफ तथा रेफ-सदृश, लकार एवम् लकार-सदृश का बोध हो सकता है, तब 'उः' पद से कोई खास आशय प्रकट नहीं होता। वह तो अर्थतः ही प्राप्त है। ऐसी अवस्था में 'उः' पद की उपस्थिति कुछ गौरव ही उपस्थित करती है। वह गौरव है : (1) सबसे पहले तो ऋकार-ग्रहण ही, फिर (2) आवृत्ति आदि भी गौरव ही हैं। जबकि लाघव कुछ भी नहीं है। इनके अतिरिक्त यदि ऋकार के विना ही शास्त्र-शुद्ध समाधान हो जाता है, तथा सूत्रकार एवम् भाष्यकार को भी यही अभिप्रेत है, तो ऋवर्ण की कल्पना क्लिष्ट एवम् गौरव युक्त ही है।

इस प्रकार के गौरवयुक्त व्याख्यान की अपेक्षा (1) काशिकाकार आचार्य

वामन[1] एवं (2) प्रक्रियाकौमुदीकार आचार्य रामचन्द्र के व्याख्यान अधिक उचित तथा आदेय हैं :

(1) **वामन का मत :** आचार्य वामन लिखते हैं—'रः' पद में ध्वनि की समानता ली जाती है। इसलिए जो विशुद्ध रेफ है, तथा जो ऋवर्ण में है, उन दोनों का ही एक 'रः' शब्द से ग्रहण होता है। 'लः' से भी श्रुति-समानता का ही ग्रहण होता है। इससे विशुद्ध रेफ के स्थान में विशुद्ध लकार आदेश होता है। ऋकार को भी उसके एकदेश रेफ-सदृश को लकार-सदृश के रूप में विकृत करके लृकार किया जाता है। इस प्रकार **'लुटि च क्लृपः'** इत्यादि निर्देश उचित सिद्ध हो जाते हैं।[2]

यहाँ एक तथ्य स्पष्ट कर देना ठीक होगा : इस विषय में काशिका के पूर्व भाग (5 अध्याय तक) के लेखक आचार्य जयादित्य तथा उत्तर (छठे अध्याय से अंतावधि) भाग के लेखक आचार्य वामन में मतभेद है। आचार्य जयादित्य **एओङ्** पर लिखते हैं :

वर्णों में दूसरे वर्णों के समान आकृति वाले जो वर्णों के अवयव हैं, उनमें उन वर्णों को होने वाला कार्य नहीं होता। क्योंकि वे वर्णों के अवयव उन दूसरे वर्णों की छाया का अनुकरण करते हैं, साक्षात् वे ही नहीं हैं। अलग प्रयत्न (बाह्य तथा आभ्यंतर) से जो सम्पन्न हो, उसे ही आचार्य वर्ण कहना चाहते हैं। नुड्विधि, लादेश तथा विनाम में ऋवर्ण में उन-उन विधियों का प्रतिपादन करना चाहिए (वा०)। नुट् का विधान करने वाले सूत्र में ऋकार का ग्रहण करना चाहिए—आनृधतुः आनृधुः; लादेश-विधायक सूत्र में भी ऋकार का ग्रहण करना चाहिए—क्लृप्तिः, क्लृप्तवान्; विनाम (णत्व) की विधि में ऋकार का ग्रहण करना चाहिए—कर्तॄणाम्।[3]

---

1. काशिका में इस विषय में मत द्वैविध्य है। इस पर विस्तरेण चर्चा टीका में अनुपद की गई है।
2. 'र' इति श्रुति-सामान्यमुपादीयते। तेन यः केवलो रेफो, यश्च ऋकारस्थस्तयोर् द्वयोरपि ग्रहणम्। 'लः' इत्यपि सामान्यमेवोपादीयते। ततो यः केवलस्य रेफस्य स्थाने लकारादेशो विधीयते, ऋकारस्याप्येकदेश-विकार-द्वारेण लृकारः, तथा 'लुटि च क्लृपः' इत्येवमादयो निर्देशा उपपद्यन्ते। (काशिका 8.2.18)।
3. वर्णेषु ये वर्णैकदेशा वर्णान्तर-समानाकृतयस्तेषु तत्कार्यन्न भवति। तच्छायाऽनुकारिणो हि ते। न पुनस्त एव। पृथक्-प्रयत्न-निर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्त्याचार्याः। नुड्विधि-लादश-विनामेषु ऋकारे प्रतिविधातव्यम् (वा०)। नुड्विधौ ऋकार-ग्रहणम्—आनृधतुः, आनृधुः; लादेशे ऋकार-ग्रहणम्—क्लृप्तिः, कलृप्तवान्; विनामे ऋकार-ग्रहणम्—कर्तॄणाम्।

स्यन्दिवत्। 2351 लुटि च क्लृपः (1.3.93)—लुटि, स्य-सनोश्च क्लृपेः चक्लृपे। चक्लृपिषे, चक्लृप्से इत्यादि √स्यन्द् की तरह हैं। 2351 बाद में लुट्, स्य

इससे यह बात सिद्ध होती है कि आचार्य जयादित्य वार्तिककार के मत को मानते हैं, एवम् श्रुतिसामान्य के सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। इसके विपरीत आचार्य वामन **तस्मान्नुड् द्विहलः** (7.4.11), **कृपो रो लः** (8.2.18) एवं **र-षाभ्यां नो णः०** (8.4.1), इन तीनों ही सूत्रों में श्रुतिसामान्य को मानते हैं।

(2) **आचार्य रामचन्द्र** ने प्रक्रिया-कौमुदी (भ्वादिगण) में प्रस्तुत सूत्र पर **'कृपे रेफस्य लकारः स्यात्। 'रो ल' इति सामान्योक्तेर्ऋकारैकदेशस्य रेफस्य लृकारैकदेशो लः।'** लिखा है। इस प्रकार वे भी श्रुति-सामान्य-पक्ष ही मानते हैं।

कल्पते—√कृप्+लट्। लट् (ल्) को तः कृप्+त। त की टि को एत्त्व तथा अन्य शप्, गुण, **कृपो रो लः** से रेफ को लत्व आदि कार्य होने पर कल्प्+अ+ते=कल्पते। कल्पेते, कल्पन्ते; कल्पसे, कल्पेथे, कल्पध्वे; कल्पे, कल्पावहे, कल्पामहे। **चक्लृपे**—√कृप्+लिट्, कृप्+त, कृप्+ए, **असंयोगाल्लिट् कित्** से ए के कित्त्व के कारण धातु को लघूपध-गुण का निषेध। **द्विर्वचनेऽचि** से **कृपो रो लः** का निषेध। धातु को द्वित्व : कृप्+कृप्+ए। अभ्यासकार्य—चकृप्+ए, **कृपो रो लः** से ऋकारस्थ रेफ-सदृश को ल-सदृश आदेश—चक्लृप्+ए=चक्लृपे। चक्लृपाते, चक्लृपिरे। **चक्लृपिषे, चक्लृप्से**—धातु के ऊदित् होने से वलादि आर्धधातुक में **स्वरति-सूति०** से वैकल्पिक इट्। इसी प्रकार चक्लृपिध्वे। इडभाव-पक्ष में **झलां जश् झशि**, चक्लृब्ध्वे। चक्लृपिवहे, चक्लृप्वहे; चक्लृपिमहे, चक्लृप्महे।

2351 लुटि च क्लृपः (1.3.93)—शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् (78), वा क्यषः (90)। 'च' से **वृद्भ्यः स्य-सनोः** (92) सूत्र से 'स्य-सनोः' पद का ग्रहण होता है। अतः उपस्थित होने वाले सब पद हैं : कर्तरि लुटि च स्य-सनोः क्लृपः परस्मैपदम् वा।

'परस्मैपदम्' प्रथमांत विधेय पद है। 'वा' अव्यय है। लुट् प्रत्यय **धातोः** (3.1.91), **प्रत्ययः** (3.1.1) **परश्च** (3.1.2) से 'धातु से परे' होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'क्लृपः' धातुवाचक पद है। अतः उसमें पंचमी एवम् उससे परे होने वाले प्रत्यय वाचक शब्दों 'लुटि' और 'स्य-सनोः' में सप्तमी है। परन्तु चूँकि परस्मैपद प्रत्यय लुट् के स्थान में होते हैं, अतः 'लुट् परे रहते' अर्थ नहीं बन सकता, अतः यहाँ 'क्लृपः' की पंचमी से 'लुटि' की सप्तमी का **पंचमी स्वस्मात्परां सप्तमीं षष्ठीं प्रकल्पयति** (प०) नियम से 'लुटः' (षष्ठी) में विपरिणाम होगा। 'स्य-सनोः' में तो विषय-सप्तमी ही है। पर वहाँ 'परस्मैपदम्' पद के सामर्थ्य से 'लः' पद की उपस्थिति होगी। 'स्यश्च संश्च, इति स्य-सनौ (इतरेतरयोग द्वन्द्व), तयोः', यह 'स्य-सनोः' पद का

लौकिक विग्रह है।

यदि कोई शंका करे कि समूचे धातुपाठ में आचार्य ने 'क्लृप्' को तो नहीं दिया है, तो क्या यह सौत्र है ? इसका उत्तर यह है कि **कृपो रो लः** में बताये अनुसार यहाँ लृकारवान् पाठ वहाँ ऋवर्ण के रेफ-सदृश अवयव का भी 'रः' पद से ग्रहण बतलाने के लिए है। वस्तुतः धातु तो √कृप् ही है। अथवा उपर्युक्त विज्ञापन के साथ-साथ यहाँ 'लुट् के स्थान में तथा स्य, सन् की कर्त्तव्यता में परस्मैपद प्रत्ययों के विधान से पूर्व ही ऋकारावयव को लृकारावयव लकार-सदृश आदेश हो जायेगा', यह भी आचार्य का अभिप्राय हो सकता है। पर इससे न कोई हानि है, न लाभ।

अनुवृत्ति किए पदों का अन्वय निम्नलिखित प्रकार से होगा : क्लृपः (धातोः परस्य) कर्तरि लुटि (=लुटः स्थाने) स्यसनोश्च (विषये लः स्थाने) परस्मैपदम् (परस्मैपद-संज्ञकाः प्रत्ययाः) वा—√कृप् से परे स्थित कर्त्रर्थक लुट् के स्थान में और 'स्य' एवम् 'सन्' प्रत्यय के विषय में लकार के स्थान में परस्मैपद-संज्ञक प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

'स्य' तथा 'सन्' परे रहते तो **'वृद्भ्यः स्य-सनोः'** (92) की प्राप्ति थी ही, प्रस्तुत सूत्र लुट् में भी विधान करने के लिए है। यदि यह सोचें कि तब तो प्रस्तुत सूत्र में भी 'च' से 'स्य-सनोः' की अनुवृत्ति करना पिष्ट-पेषण ही हुआ, फलतः 'च' निरर्थक होने से त्याज्य है, तो इसका उत्तर यह है कि यदि 'च' से 'स्य-सनोः' पद की अनुवृत्ति न करें, तो सूत्र होगा : **लुटि क्लृपः**। इससे **क्लृपः लुटि एव** (√क्लृप् को लुट् में ही परस्मैपद होता है), यह अनिष्ट अर्थ भी बन सकता है। फलतः स्य, सन् में पूर्वसूत्र से प्राप्त विकल्प का **'लुटि एव क्लृपः'** नियम से बाध हो जायेगा। लुङ् में भी पूर्ववर्ती सूत्र **द्युद्भ्यो लुङि** (1.3.11) को बाध लेगा। 'च' से अनुकर्षण करने पर तो नियम बनता नहीं। इसलिए 'च' का ग्रहण उचित है।

शङ्का : 'स्य-सनोः' पद को स्वरित करने से प्रस्तुत सूत्र में अनुवृत्ति सिद्ध होने से कोई आपत्ति नहीं रहेगी। तब 'च' पद व्यर्थ ही है।

उत्तर : सम्प्रदाय में स्वर-पाठ के भ्रष्ट हो जाने से कहीं उट्टंकना करने वाले कुतर्की लोग आचार्य पर आक्षेप न लगायें, इसलिए स्पष्टतापूर्वक उपर्युक्त आपत्ति से मुक्त होने के लिए आचार्य ने स्वरित न करके 'च' पद ही रखा है। इसमें विशेष गौरव भी नहीं है। एवम्, स्वरित-निर्देश के विषय में आचार्य की प्रवृत्ति से सिद्ध होता है कि जहाँ दूर तक किसी पद की अनुवृत्ति करनी होती है, उसी पद को आचार्य स्वरित से निर्दिष्ट करते है। जहाँ केवल अगले ही सूत्र में अनुवृत्ति अपेक्षित होती है, आगे नहीं, वहाँ तो चकार ही करते हैं : **चकारानुकृष्टं न सर्वत्र** (प० 79)।

आचार्य जिनेंद्रबुद्धि तो यहाँ चकार को पद-प्रयोग की विचित्रता दर्शाने के

लिए किया हुआ मानते हैं।[1]

वास्तव में तो पौर्वापर्य की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि चकार यहाँ अनुकर्षण के लिए आवश्यक नहीं है, अपितु स्पष्टार्थक तथा अनुवर्तमान पदों की निवृत्ति करने की सूचना के लिए है :

वृतादिगण में सब आचार्य पाँच धातु मानते हैं, एवम् **कृपू** उनमें अन्तिम है। द्युतादि में √कृप् का पाठ लुङ् को परस्मैपद करने पर **पुषादि-द्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु** से अङ् के प्रयोजन से है। वृतादि में पाठ का प्रयोजन स्य, सन् के विषय में तथा लुट् को परस्मैपद-विधान और उसके फलस्वरूप **तासि च क्लृपः** (2.2.59) से 'इट्' का निषेध ही है।

यदि 'च' को 'स्य-सनोः' के अनुकर्षण के लिए माना जाये, तो वृतादि गण में **कृपू** का अन्तर्भाव व्यर्थ ही हो जाता है। तब तो सूत्रकार ने **कृपू** को 'वृत्' करने से पहले ही दिया होता। इसके फलस्वरूप लुङ् में अङ् भी हो जाता तथा स्य, सन् के विषय में एवम् 'लुट्' को परस्मैपद और इट् का निषेध भी पृथक् पठित **लुटि च क्लृपः** (1.3.93) तथा **तासि च क्लृपः** (7.2.60) से हो जाता। इस पक्ष में 'च' पद 'स्य-सनोः' का अनुर्षण करने के लिए है, इस विषय पर किसी की दो रायें नहीं हो सकती थीं।

पर आचार्य ने, इसके विपरीत, वृतादिगण में ही **कृपू** को माना है। इससे सिद्ध होता है कि स्य, सन् में **वृद्भ्यः स्य-सनोः** (1.3.92) से ही परस्मैपद होता है, तथा वृतादिगण में **कृपू** के ग्रहण के सामर्थ्य से ही **'लुट्येव क्लृपः'** ऐसा नियम (1.3.93 से) नहीं बनता, अतः चकार-ग्रहण 'स्य-सनोः' के अनुकर्षण के लिए अपेक्षित नहीं है।

'कर्तरि' का प्रयोजन : अष्टाध्यायी में **अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्** (1.3.12) से आत्मनेपद प्रकरण का प्रारम्भ तथा **विभाषोपपदेन प्रतीयमाने** (77) पर अन्त होता है। **शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** (1.3.78) से **लुटि च क्लृपः** (1.3 93, पादान्त) तक परस्मैपद-प्रकरण है। आत्मनेपद का विधान भाव, कर्म तथा कर्ता रूप अर्थोपाधि को निमित्त मान कर केवल दो सूत्रों—**भाव-कर्मणोः** (1.3.13) तथा **कर्त्तरि कर्म-व्यतिहारे** (1.3.14) से होता है। शेष सूत्र धातु को ही निमित्त मान कर भाव, कर्म, कर्तृ अर्थों का निर्देश किए बिना ही प्रवृत्त होते हैं।

अब प्रश्न आता है कि **भाव-कर्मणोः** (1.3.13) तथा **कर्तरि कर्मव्यतिहारे**

---

1. न्यास 1.3.93 : **ननु च 'स्य-सनोः' इति स्वरितत्वमिष्यते। तेन तस्य बाधा न भविष्यति, इति। सत्यमेतत्। सूत्र-कारस्तु चकारं वैचित्र्यार्थं चकार; न स्वरितत्वार्थम्।**

(1.3.14) के अतिरिक्त आत्मनेपद का विधान करने वाले सूत्र भाव में प्रवृत्त होंगे, कि कर्म में, या कर्त्ता में ?

यदि किसी भी प्रकार का निर्देश न होने से तीनों में ही मानें, तो सिद्धान्त-व्याघात के साथ-साथ **भाव-कर्मणोः** (1.3.13) सूत्र व्यर्थ हो जाता है। अतः निरवकाशत्वेन **भाव-कर्मणोः** धातुमात्र से आत्मनेपद का विधान करता है। शेष आत्मनेपद-विधायक सूत्रों का यह अपवाद होता है। फलतः **भाव-कर्मणोः** जहाँ अपवाद न हो, ऐसा कर्तृवाच्य **अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्** (1.3.12) इत्यादिक का प्रवृत्ति-क्षेत्र रहता है। इस पारिशेष्य से सिद्ध होता है कि **भाव-कर्मणोः** के अतिरिक्त आत्मनेपद-विधायक सब सूत्रों में 'कर्तरि' पद अर्थतः उपस्थित होता है।

अब प्रश्न आता है कि **शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** से भिन्न परस्मैपद-विधायक **अनुपराभ्यां कृञः** (1.3.79) से लेकर **लुटि च क्लृपः** (1.3.93) तक के सूत्र भाव, कर्म तथा कर्त्ता में से किसमें प्राप्त होंगे ?

कर्त्ता में प्राप्ति सिद्धान्त-सम्मत है। पर काशिककार तथा व्याख्याता एवम् श्री दीक्षितजी 'कर्त्तरि' का निर्देश कहीं भी नहीं करते। पर उदाहरण उन्होंने सब कर्तृवाच्य के ही दिये हैं। उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि ये सब परस्मैपद-विधायक सूत्र धातु को निमित्त मान कर आत्मनेपद-विधान करने वाले **अनुदात्तङितः०** आदिक का ही अपवाद हैं। अतः जब उत्सर्ग सूत्रों की प्राप्ति पारिशेष्यात् सिद्ध है, तब इन अपवाद-सूत्रों की प्राप्ति भी कर्तृवाच्य में ही होगी। निर्देश तो उन्होंने जैसे उत्सर्ग-सूत्रों में नहीं किया है, वैसे ही अपवाद-सूत्रों में भी नहीं किया है।

परन्तु उपर्युक्त अभिप्राय का औचित्य शास्त्र-सिद्ध नहीं है : ये सूत्र जैसे **अनुदात्त-ङितः०** आदिक का परत्वेन तथा अपवादत्वेन बाध करते हैं, वैसे ही पर होने के कारण **भाव-कर्मणोः** (1.3.13) का भी बाध न करेंगे, इसका क्या विनिगमक ? आत्मनेपद-विधान-प्रसंग में तो **भाव-कर्मणोः** अपवाद होने से सब से बलवान् हो जाता है, पर परस्मैपद-प्रकरण में तो विशेष-विशेष सूत्रों से प्राप्त परस्मैपद के अतिरिक्त लक्ष्यों में चरितार्थ होने से **भाव-कर्मणोः** सूत्र सावकाश हो जाता है। ऐसी स्थिति में ये सूत्र **अनुदात्त-ङितः०** आदिक के ही अपवाद हैं, यह सिद्ध नहीं होता। फलतः इन सूत्रों की प्राप्ति कर्तृवाच्य में ही सिद्ध नहीं हो सकती। इस स्थिति में भाव तथा कर्म में भी परस्मैपद ही प्राप्त होगा।

यह सीधी-सी बात सूत्रकार की दृष्टि से अछूती रह गयी है, यह सम्भव नहीं है। उस आपत्ति का एक मात्र उपाय है 'कर्तरि' पद की परस्मैपद-विधायक सूत्रों में उपस्थिति। अतः **शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्** में 'कतरि' को स्वरित मानना ही पाणिनीय है। फलतः प्रत्येक सूत्र में 'कर्तरि' पद की अनुवृत्ति होने से **भाव-कर्मणोः** की इन

परस्मैपदं वा स्यात्। 2352 तासि च क्लृपः (7.2.60)—क्लृपेः परस्य और सन् होने पर √क्लृप् से परस्मैपद विकल्प से होवे। 2352 √क्लृप् के बाद

सूत्रों के विषय में प्राप्ति ही नहीं होगी, और पारिशेष्यात् प्राप्त कर्त्रर्थ में आत्मनेपद-विधायक **अनुदात्त-ङितः०** आदिक के ही ये परस्मैपद विधायक सूत्र—अपवाद होंगे, यह अभिप्राय भी सिद्ध हो जाता है।

2352 तासि च क्लृपः (7.2.60)—आर्धधातुकस्येड् वलादेः (35), गमेरिट् परस्मैपदेषु (58), न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (59)। सप्तम्यन्त 'तासि' के साथ दिये 'च' से **सेऽसिचि कृत-चृत०** (57) से 'से' पद का अनुकर्षण होता है : क्लृपः 5.1 तासि 7.1 से 7.1 च, आर्धधातुकस्य 6.1, इट् 1.1 न परस्मैपदेषु। पदों का अन्वय तथा अर्थ **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** की तरह ही होता है। फलितार्थ होगा : क्लृपः 5.1 (परस्य) तासः 6.1 सादेः 6.1 आर्धधातुकस्य 6.1 इट् 1.1 (आगमः) न (भवति) परस्मैपदविषये (तङानयोरभावे, यत्रैव परस्मैपद-सम्भवः स्यात्तत्रैव, परस्मैपदयोग्यत्व एवेति भावः)। —√क्लृप् (धातु) से परे (स्थित) तास् को तथा सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं होता, परस्मैपद का विषय होने पर, परस्मैपद हो चाहे न हो, परस्मैपद प्रत्ययों के होने की योग्यता अपेक्षित है। फलतः √कृप् के समान-पदस्थ आत्मनेपद में तो 'इट्' होगा ही, परन्तु आत्मनेपद के कृपिस्थ न होने पर तथा सन्नन्तादि प्रकृति से कृत् प्रत्ययों के प्रसंग में निषेध ही प्रवृत्त होगा।

'च' से 'से' का अनुकर्षण करने के तीन प्रयोजन हैं :—

(क) **चानुकृष्टं न सर्वत्र** (प० 79) से 'से' पद की यहाँ अनुवृत्ति तथा आगे के **अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्** (7.2.61) इत्यादि सूत्रों में अनुवृत्ति न होना है। (ख) **'तासि'** इस विधेय-सप्तमी से 'से' इस दूसरी विधेय-सप्तमी का बाध नहीं होता। (ग) **अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्** (7.2.61) आदि सूत्रों में **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** (59) से 'न' की अनुवृत्ति होती है।

'तासि' पद में सप्तमी का प्रयोजन चकारानुष्कृष्ट 'से' इस सप्तम्यन्त पद की अनुरूपता ही है। आदि-विधि के लिए सकार को सप्तम्यन्त ('से') करना आवश्यक है। सकारादि आर्धधातुक तथा तास् वलादि आर्धधातुक होने के कारण इट् के प्रति समान रूप से निमित्त हैं। इस समान-रूपता को ही दृष्टि में रखकर सम्भवतः सूत्र-कार ने अनुवृत्ति-लभ्य 'से' के अनुकूल 'तास्' को भी सप्तम्यन्त ही दिया है।

अथवा षष्ठी से अभिधेय अर्थ को पंचमी-युक्त सप्तमी के द्वारा कहने की आचार्य की शैली भी हो सकती है; यह उस समय की प्रयोग-गत विशेषता भी हो सकती है। आचार्य ने बहुत-से स्थलों पर इसी प्रकार विभक्तियों को प्रयुक्त किया है :

(1) तासेः, (2) सकारादेरार्धधातुकस्य चेण्न स्यात्, तङानयोरभावे। (1) कल्प्तासि, कल्प्तास्थः; कल्पितासे, कल्प्तासे। (2) कल्प्स्यति; कल्पिष्यते, कल्प्स्यते। कल्पिषीष्ट, क्लृप्सीष्ट। अक्लृपत्; अकल्पिष्ट, अक्लृप्त। अकल्प्स्यत्; अकल्पिष्यत, अकल्प्स्यत।

वृत् ॥ 19 ॥ वृत्तः=सम्पूर्णो द्युतादिर्वृतादिश्चेत्यर्थः ॥ 70 ॥

स्थित (1) तास् को तथा (2) आदि में स् वाले आर्धधातुक को इट् नहीं होवे, त आदि प्रत्यय तथा 'आन' स्वरूप वाला प्रत्यय बाद में न होने पर। (1) कल्प्तासि, कल्प्तास्थः; (2) कल्प्स्यति; अकल्प्स्यत्।

वृत् ॥ 19 ॥ 'हो गया'=पूरा हो गया √द्युत् आदि वाला और √वृत् आदि वाला गण यह तात्पर्य है ॥ 70 ॥

डः सि धुट् (8.3.29)। यहाँ **डः सो धुट्** भी कह सकते थे।

कल्प्तासि—√कृप्+लुट्। **लुटि च क्लृपः** से परस्मैपद सिप्, तास्, क्लृप+तास्+सि, वलादि लक्षणक इट् को बाध कर **स्वरति-सूति०** से प्राप्त वैकल्पिक इट् का **तासि च क्लृपः** से निषेध, लघूपधगुण, रपरत्व तथा **कृपो रो लः** से रेफ को लत्व : कल्प्तासि।

आत्मनेपद-पक्ष में **स्वरति-सूति०** आदि से वैकल्पिक इट् कल्पितासे, कल्प्तासे। इसी प्रकार 'स्य' (लृट् तथा लृङ्) में भी तीन रूप होते हैं। सीयुट् में भी ऊदिल्लक्षणक वैकल्पिक इट्, अतः दो रूप। सिच् में **द्युद्भ्यो लुङि** से वैकल्पिक परस्मैपद। परस्मैपद-पक्ष में **पुषादि-द्युताद्यलृदितः** से च्लि को अङ्—अक्लृपत्। आत्मनेपद-पक्ष में वैकल्पिक इट् : अकल्पिष्ट। यङ्लुक् में **आदित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति** (ऋ० 10.157.1)।

वृत्—यह शब्द √वृत् से भूत में क्विप् से निष्पन्न है। अर्थात् 'हो चुका'। कुछ लोग √वृध् से निष्पन्न मानते हैं। अर्थात् बढ़ चुका, पूर्ण हो चुका। 'बढ़ना' धातु का 'समाप्ति' अर्थ में प्रयोग अब भी होता है। जैसे—दूकान बढ़ा रहा है, यानी दूकान बन्द कर रहा है। वर्धकिः तरखान। यह **द्युतादि** गण तथा तदन्तर्गत **वृतादि** गण की समाप्ति का सूचक है।

धातु-योग : गत 752, वर्तमान 1, योग 753 ॥ 70 ॥

संदर्भ : रूप-रचना की दृष्टि से कुछ वैशिष्ट्य वाली धातुओं का समाम्नान आचार्य ने पिछले धातु-वर्ग से प्रारम्भ कर दिया है। अब इसी दृष्टि से कुछ और प्रकार के वैशिष्ट्य वाली धातु आचार्यने अगले दो वर्गों में दी हैं। इसके लिये धातुओं में दो अनुबंधों का अतिदेश किया गया है :

(1) **घटादयो मितः** (21.32) से इन धातुओं को 'मित्' नाम दिया गया है; इसके दो फल हैं : (क) णिच् में धातु की उपधा को ह्रस्व होता है : **मितां ह्रस्वः** (6.4.92); (ख) चिण् और णमुल् प्रत्ययों में धातु के स्वरों में अंतिम को विकल्प से दीर्घ होता है : **चिण्-णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्** (6.4.93)।

(2) इनमें से कुछ को **घटादयः षितः** (20.12) से षित् बताया गया है, जिसका फल स्त्रीलिंग में **षिद्-भिदादिभ्योऽङ्** (3.3.104) से अङ् प्रत्यय तथा टाप् करके आकारांत भाव-वाचक सज्ञाएँ बनाना है।

इनमें से (1) मित् अनुबंध का फल अधिक धातुओं में दृष्टि-गोचर होता है, तो प्रकृत 20वें वर्ग की 1 √घट् से लेकर 21वें वर्ग की 1 √फण् तक का एक गण **घटादयः** बनाकर एक धातु-सूत्र **घटादयो मितः** (21.31) के द्वारा उन्हें 'मित्' कह दिया है; (2) षित् अनुबंध का फल कुछेक धातुओं में दृष्टि-गोचर होता है, तो घटादियों में से कुछ धातुओं को 20वें वर्ग में अलग निकाल कर उन्हें 'षितः' कह दिया गया है। मित् तथा षित् (उभयथा अतिदिष्ट) धातुओं को केवल मितों से पहले सम्भवतः सूची-कटाह न्याय से दे दिया है।

घटादि गण के अंतर्गत मित् और षित् धातु दो तरह की है :

(क) वे, जो अन्यत्र भी पठित हैं, पर यहाँ किसी खास अर्थ या पद में मित् और षित् संज्ञा के लिये अनूदित हैं। धातुओं का अर्थनिर्देश उपलक्षणमात्र के लिए है; अर्थांतर में प्रयोग भी शिष्टसम्मत है; अतः ये अनूदित धातुएँ पदांतर और अर्थांतर में अनूदित करके ही मित् या षित् संज्ञा किये जाने के कारण उस विशिष्ट पद या अर्थ में ही मित् या षित् होंगी, उनसे भिन्न पद और अर्थों में अमित् और अषित् ही रहेंगी।

(ख) वे, जो इन्हीं वर्गों में, घटादि गण में ही, आई हैं, अन्यत्र समाम्नात नहीं हैं। ये धातु चाहे समाम्नात अर्थ में प्रयुक्त हों, चाहे अर्थांतर में, नित्य ही मित् अथवा षित् होंगी।

अनूदित धातुओं की धातुओं के महा-योग में गणना उचित नहीं है : क्षीरस्वामी और दीक्षितजी ने इन वर्गों की धातुओं की संख्या अनूदित और स्वतंत्र धातुओं को स्वतंत्र धातुओं के रूप में ही मानकर जोड़ कर दी है। पर अनूदित धातु चूँकि अन्यत्र संख्यात हैं, तथा यहाँ अपूर्वत्वेन विहित नहीं हैं, अतः इन्हें जोड़ कर धातु-पाठ में धातुओं के महायोग में वृद्धि करना, जैसा कि सभी संस्करणों के संपादकों ने किया है, हमारे मत में उचित नहीं है। दीक्षितजी ने 20वें वर्ग में 13 धातु बताई हैं; उनका आशय केवल मित् और षित् धातुओं की इयत्ता बताना है; इन्हें पिछले धातु-योग से जोड़ कर धातुओं की संख्या की वृद्धि करना उचित नहीं है। अतः, हमने यहां नवीन

20 अथ त्वरत्यन्तास्त्रयो-दशानुदात्तेतः, षितश्च—1 घट चेष्टायाम् ॥ 1 ॥ घटते; जघटे। 'घटादयो मितः' (21.31 धा० सू०) इति वक्ष्यमाणेन

धातुवर्ग 20 : (1) णिच में ह्रस्व (2) चिण् णमुल् में वा दीर्घ और (3) आकारांत संज्ञा बनाने वाली आत्मनेपदी धातुएँ

20 अब √त्वर् तक तेरह आत्मनेपदी और 'ष्' की इत्संज्ञा वाली धातु हैं—1 √घट् चेष्टा करना, घटित होना अर्थ में है ॥ 1 ॥ आगे कहे जाने वाले 'घटादयो

धातुओं को तो स्वतंत्र धातु मानकर उनका प्रसंख्यान धातु-योग में किया है, पर अनूदितों को इसमें नहीं जोड़ा है। अतः इन दो वर्गों में दी धातु-संख्या केवल मित् और षित् धातुओं की संख्या को प्रकट करती है। धातु-योग में इस संख्या को न जोड़ कर केवल नूतन स्वतंत्र धातुओं की ही संख्या जोड़ी गई है। परिणामतः 20वें वर्ग में आई 8 √दक्ष्, 18 √कन्द्, 11 √क्रन्द, 12 √क्लन्द्, ये चार धातु धातु-योग में गृहीत नहीं की जाएँगी। यों, केवल मित तथा षित् धातुओं की संख्या की दृष्टि से ये धातु तेरह हैं; पर इस वर्ग में नवीन केवल नौ हैं।

20·1 √**घट्** चेष्टा करना अर्थ में है। 'चेष्टा' से तात्पर्य है शारीरिक क्रिया। यह गति से तनिक भिन्न है : गति में विषय की प्राप्ति के अनुकूल मानस और शारीरिक व्यापार होता है, चेष्टा में विषय' की प्राप्ति संमिलित नहीं होती। अतः गति सकर्मक है, जबकि चेष्टा अकर्मक। √घट् से मानस या शारीरिक व्यापार से भिन्न प्रकार का व्यापार भी कहा जाता है। जैसे—एषोऽर्थोऽत्र न घटते (यह बात यहाँ घट नहीं रही, संगत नहीं हो रही)। √घट् घटना, घटित होना, बनना, मिलना, यत्न करना, लगना, व्यापृत होना आदि अर्थों में है। घटते; जघटे; घटिता; घटिष्यते; घटताम्; अघटत; घटेत; घटिषीष्ट; अघटिष्ट; अघटिष्यत; घटयति; घटा; घाटं-घाटम्, घटं-घटम्; घटः।

√**घट्** तीन स्थानों पर मिलती है : (1) यहीं **घट चेष्टायाम्** के रूप में, (2) चुरादिगण में **घट संघाते**, एवं (3) वहीं पटादि दंडक में माधव तथा दीक्षितजी को संमत भाषार्थ में। आपाततः यही प्रतीत होता है कि भौवादिक √घट् चौरादिकों का ही मित्संज्ञा के निमित्त से किया गया अनुवाद (पुनः पाठ) मात्र है। फलतः यह केवल चेष्टा अर्थ में ही मित् होगी। **झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः** इत्यादि प्रयोगों में चेष्टा-भिन्न योजनादिक अर्थ में ह्रस्वविधान अनुचित है। और यदि अर्थांतर में मित्त्व दुर्जन-तोष-न्याय से माना भी जाये, तो मयूर कवि के 'प्रविघाटयिता' तथा भारवि के 'उद्घाटनम्' जैसे उपर्युक्त प्रयोगों में मित्त्व क्यों नहीं हुआ ?

इसका उत्तर यह है कि इसे चौरादिकों का अनुवाद कहना उचित है। क्योंकि चुरादिगण में **'ज्ञप मारण-तोषण-निशामनेषु मिच्च, यम परिवेषणे, चह** (अथवा चंद्र के

मित्संज्ञा। तत्फलं तु (1) णौ 'मितां ह्रस्वः' (6.4.92) इति, (2) 'चिण्-णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' (93) इति च वक्ष्यते। घटयति, विघटयति। कथं तर्हि 'कमल-वनोद्घाटनं कुर्वते ये' (सूर्य-शतकम् 2), 'प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव' (किराता० 2.46) इत्यादि ? शृणु—'घट सङ्घाते' इति चौरादिकस्येदम्, न च 'तस्यार्थ-विशेषे मित्त्वार्थमनुवादोऽयम्', इति वाच्यम्, 'नान्ये मितो हेतौ' (चु० धा० सू०) इति निषेधात्—'अहेतौ=स्वार्थे णिचि। 'ज्ञपादि-पञ्चक-व्यतिरिक्ताश्चुरादयो मितो न' इत्यर्थः।

मितः' (21.32 धा० सू०) से मित् संज्ञा होती है। उसका फल तो (1) णि में 'मितां ह्रस्वः' (6.4.92; मित् धातुओं को ह्रस्व), और चिण्, एवं णमुल् बाद में रहते (मित् धातुओं को) वा दीर्घ (93) बतलाया जाएगा। घटयति, विघटयति। तब 'कमल-वनोद्घाटनं कुर्वते ये' (सूर्य-शतक 2), 'प्रविघाटयिता समुत्पतन्०' (किरात 2.46) इत्यादि कैसे ? सुनो—यह चुरादि गण की 'घट संघाते' का है। 'किसी खास अर्थ में मित् संज्ञा के लिये यह उसका पुनः कथन है,' यह कहना, उचित नहीं है, क्योंकि 'नान्ये मितोऽहेतौ' (चु०) से (मित् संज्ञा का) निषेध होता है—'अहेतौ'=धातु के अपने अर्थ में हुए णिच् में। अर्थात् √ज्ञप् आदि पाँच से अतिरिक्त चुरादि गण की धातुएँ मित् नहीं हैं।

मत में चप) कल्कने, बल प्राणने, चिञ् चये, नान्ये मितोऽहेतौ' लिखा है। इसका भाव होता है कि √ज्ञप् आदि पाँच धातुओं के अलावा चुरादि में और कोई धातु मित् नहीं है। इससे चौरादिक √घट् के भी मित्त्व का निषेध हो गया, तब निषिद्ध-मित्त्व √घट् का यदि मित्त्वार्थ अनुवाद माना जाये, तब नान्ये मितोऽहेतौ से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? फलतः भौवादिक √घट् किसी का अनुवाद नहीं है, अपितु स्वतंत्र समाम्नात है। तब अर्थांतर में भी यह मित् ही रहेगी और चौरादिक का हेतुमण्ण्यन्त में 'घाटयति' तथा भौवादिक का 'घटयति' रूप होगा।

यहाँ क्षीरस्वामी का कहना है कि घटादिणांतर्गत जो धातु केवल घटादिगण में ही हैं, अन्यत्र पठित नहीं हैं, उनसे तो शप् विकरण होगा तथा भ्वादिगण की प्रक्रिया के अनुसार रूप चलेंगे, पर जो धातु अन्यत्र भी पठित हैं, उनसे अपने उस मूल स्थान के विकरण तथा कार्य होंगे। यहाँ तो केवल मित् तथा षित् संज्ञा करना ही इष्ट है। अतः शप् तथा अन्य भौवादिक कार्य उनसे नहीं होंगे।[1]

---

1. क्षी० त० : इह घटादौ केऽप्यत्रैव पठिताः प्रकृत्यादि-विषयाः, न्याय्य-विकरणाश्च। अन्ये तु स्व-स्थानोक्त-कार्य-भाजः षित्त्व-मित्त्वार्थमनूद्यन्ते, इति यथा-यथ-मुत्प्रेक्ष्यम्।

2 व्यथ भय-संचलनयोः ॥ 2 ॥ व्यथते। 2353 व्यथो लिटि (7.4.68)—व्यथोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि। हलादि-शेषापवादः।

2 √व्यथ् डरना और हिल जाना (क्षुभित होना) अर्थों में है ॥ 2 ॥ 2353 √व्यथ् के अभ्यास को संप्रसारण होता है, लिट् में। यह 'हलादिः शेषः' (2179) का

---

2 √**व्यथ्** धातु डरना तथा संचलन (अपने स्वाभविक आनंदमय रूप से हटना, दुखी होना) अर्थ में (सेट्) है। धातुवृत्तिकार दुर्ग के अनुसार दुःख तथा चलन अर्थ में है। द्वितीय अर्थ अधिक साहित्य-संमत प्रतीत होता है। संचलन अथवा चलन सामान्येन अर्थनिर्देश है। दुःख अथवा भय जैसी मानसिक क्रियाओं के साथ दिया होने से संचलन मानस ही अभिप्रेत है। फलतः इस धातु के अर्थ क्षुब्ध, उद्विग्न होना, दुखी होना, तड़पना आदि के लगभग होंगे।

2353 **व्यथो लिटि** (7.4.68)—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (58), द्युति-स्वाप्योः सम्प्रसारणम् (67)। **इग् यणः सम्प्रसारणम्** (1.1.45) से 'यणः इक्' पद अर्थतः आते हैं : व्यथः 6.1 अभ्यासस्य 6.1 यणः (स्थाने) इक् सम्प्रसारणं भवति, लिटि—√व्यथ् के अवयव अभ्यास के अवयव यण् के स्थान में इक् वर्ण होता है लिट् में।

विव्यथे—'व्यथ्+व्यथ्+ए' स्थिति में **हलादिः शेषः** को बाध कर **व्यथो लिटि** से य् को इ सम्प्रसारण, 'व्+इ+अथ्+व्यथ्+ए' स्थिति में **सम्प्रसारणाच्च** (6.1.108) से अकार को पूर्वरूप : विथ्+व्यथ्+ए; **हलादिः शेषः** से थ् का लोप : वि+व्यथ्+ए=विव्यथे। विव्यथाते, विव्यथिरे; विव्यथिषे, विव्यथाते, विव्यथिध्वे; विव्यथे, विव्यथिवहे, विव्यथिमहे।

व्यथो लिटि (7.4.68) सूत्र **हलादिः शेषः** (7.4.60) से परत्वेन बलवान् है। पर, उत्तरसूत्र (68) अंतरंग (अल्पापेक्ष) होने से पूर्व सूत्र (60) से बलवान् है। क्योंकि पूर्वसूत्र √व्यथ् के अभ्यास के अवयव यण् को लिट् में 'इक्' संप्रसारण करता है, जब कि उत्तर सूत्र अभ्यास के आदि अवयव को शेष रखता है। अतः उत्तर सूत्र से यलोप होने पर भी वकार के संप्रसारणार्थ वचने से पूर्व-सूत्र अपवाद भी नहीं होगा। तब **सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्** (प० 129) से पहले संप्रसारण प्राप्त हुआ, और, **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** वचनसामर्थ्य से यकार को हुआ। यहाँ **सकृद् गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं, तद् बाधितमेव** नियम भी लागू नहीं होगा। क्योंकि सम्प्रसारणसूत्र को शेषत्व-विधायक सूत्र की बाधा अभीष्ट नहीं है। केवल अभ्यासान्तर्भव-यकार-लोप-बाध-मात्र अभीष्ट है। फलतः थकारलोप-बाध में तात्पर्य न होने से थकार-लोप तो होगा ही।

दीक्षितजी ने यहाँ **हलादिः शेषापवादः** लिखा है। उनका अभिप्राय सम्भवतः

थस्य हलादि-शेषेण निवृत्तिः । विव्यथे । 3 प्रथ प्रख्याने ॥ 3 ॥ पप्रथे । 4 प्रस

अपवाद है । 'थ' का लोप 'हलादिः शेषः' से हो जाता है : विव्यथे । 3 √प्रथ् विस्तार करना/विस्तृत होना अर्थ में है ॥ 3 ॥ 4 √प्रस् फैलना/फैलाना अर्थ में है ॥ 4 ॥

यह है कि दो यण् होने पर **न सम्प्रसारणे०** वचन से पर यण् को सम्प्रसारण प्राप्त होता है । यदि पर यण् का **हलादिः शेषः** से लोप हो गया, तो प्रस्तुत सूत्र निरवकाश हो जायेगा । अतः, यह सूत्र शेष-सूत्र का अपवाद है । इस पक्ष में **सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्** (प० 129) की आवश्यकता नहीं है । शेष बातें पूर्ववत् ही हैं ।

इस पर कुछ का यह मन्तव्य है कि शेष-सूत्र से यलोप कर देने पर दो यण् तो रहते नहीं, जो कि पर यण् को सम्प्रसारण प्राप्त हो । अतः सम्प्रसारण-सूत्र वकार में सावकाश ही रहेगा । उनके अनुसार दीक्षितजी को यहाँ निरवकाशत्वेन अपवादत्व अभिप्रेत नहीं है, अपितु बाधकत्वमात्र अभिप्रेत है, और वह **सम्प्रसारणं तदाश्रयं च०** परिभाषा से प्राप्त हो जाता है ।

व्यथिता; व्यथिष्यते; व्यथताम्; अव्यथत; व्यथेत; व्यथिषीष्ट; अव्यथिष्ट; अव्यथिष्यत । 'षित्' होने से अङ्—'व्यथा' । 'मित्' होने से व्यथयति, व्यथं-व्यथं, व्याथं-व्याथम् । ण्यंत से कर्मवाच्य में व्यथयिता, व्याथिता, व्यथिता, अव्यथि, अव्याथि इत्यादि ।

3 √**प्रथ्** प्रसिद्ध होना अर्थ में अकर्मक, सेट् है । प्रथते; पप्रथे इत्यादि । प्रथयति, प्राथं-प्राथम्, प्रथं-प्रथम् । अप्राथि, अप्रथि । 'प्रथा' प्रसिद्धि, रीत, परम्परा । पृथु, पृथ्वी, इ की स्वर भक्ति से पृथिवी—**प्रथनात् 'पृथिवी' इति** (निरुक्त 1.13) । पृथक् ।

सायण के अनुसार वर्धमान तथा पुरुषकार इत्यादि कुछ आचार्य यहाँ **प्रथ** के अतिरिक्त **पृथ** (क्षीरस्वामी ऋदुपध, उदित् **पृथु**) भी मानते हैं । पर्थते; पपृथे; पर्थिष्ट; इत्यादि । पर्थयति । अपपर्थत्, अपीपृथत् । पर्थं-पर्थम्, पार्थं-पार्थम् । अपर्थि, अपार्थि, तथा पृथा (कुंती) इत्यादि ।

परन्तु क्षी० त० के अनुसार लोग इसे अपाणिनीय मानते हैं ।[1] उनका आशय यह है कि उणादिसूत्रों में जहाँ भी ऋदुपध √पृथ् से रूप सिद्ध हो सकते हैं, वहीं √पृथ् का ग्रहण न करके √प्रथ् को लिया है और उसे सम्प्रसारण करके कित् प्रत्यय किये हैं । जैसे—'पृथुः' में **प्रथि-म्रदि-भ्रस्जां सम्प्रसारणं स-लोपश्च** (उ० सू० 28) से √प्रथ् से 'कु' प्रत्यय किया है । 'पृथक्' में **प्रथेः कित्सम्प्रसारणं च** (उ० सू० 134) से 'अजि'

---

1. क्षी० त० 1.513 : **प्रथेः सम्प्रसारणादनार्षममुं मन्यन्ते ।**

प्रत्यय तथा सम्प्रसारण बताया है। 'पृथिवी' में **प्रथेः क्विबन्सम्प्रसारणं च** (उ० सू० 148) से क्विबन् किया है।[1] 'पृथ्वीका' शब्द भानुजीदीक्षित के अनुसार **फर्फरीकादयश्च** (उ० सू० 460) के अन्तर्गत √प्रथ् से कीकन् तथा सम्प्रसारण करके निपातित है।[2] 'पृथुक' शब्द **अर्भक-पृथुक-पाका वयसि** (उ० सू० 731) से √प्रथ् से 'कुकन्' तथा सम्प्रसारण करके निपातित है। इस पर सब आचार्य एकमत हैं। इससे सिद्ध होता है कि घटादिगण में √पृथ् सम्प्रदाय-सम्मत नहीं है।

आचार्य यास्क ने भी '**प्रथनात्पृथिवीत्याहुः। क एनामप्रथयिष्यत्, किमाधारश्च ? अथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैः** (निरुक्त 1.14)।' कह कर 'पृथिवी' को स्पष्ट ही तथा 'पृथु' को अर्थ-संकेत से √प्रथ् से व्युत्पन्न माना है।[3] नहीं तो, वे 'पर्थनात्' तथा 'अपर्थयत्', 'अपर्थिता' ही प्रयुक्त करते।

इन सब उदाहरणों से यह भी सिद्ध होता है कि **प्रथ** का अर्थ केवल प्रसिद्ध होना ही नहीं है, अपितु विस्तार यानी विस्तृत होना, फैलना भी है। कम-से-कम आचार्य यास्क ने तो √प्रथ् को विस्तार अर्थ में ही लिया है। सम्भवतः **प्रथ प्रख्याने, विस्तारे च** पाठ रहा हो।

4 √**प्रस्** फैलना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) है। आचार्य क्षीरस्वामी प्रसव (अनुमति देना) अर्थ में (सकर्मक) मानते हैं। दुर्ग, काशकृत्स्न, माधव तथा दीक्षितजी के अनुसार विस्तार ही अर्थ है।

प्रसते; प्रसयति; अप्रासि, अप्रसि; प्रसम्प्रसम्, प्रासम्प्रासम्। प्रसा=पसा ? फैले हुए हाथ में जितना समाये, वह माप।

---

1. यद्यपि उपलब्ध पुस्तकों में 'षिवन्' (ककार रहित) पाठ उपलब्ध होता है, तब भी गुणनिषेधार्थ कित्त्व अपेक्षित है। इस प्रकरण के सभी प्रत्यय साक्षात् कित् हैं, आतिदेशिकत्वेन नहीं। अतः 'क्षिवन्' (ककारयुक्त) पाठ युक्तियुक्त प्रतीत होता है।
2. अ० को० रामाश्रमी टीका 2.4.125 : **प्रथ प्रख्याने। फर्फरीकादयश्च इति साधुः।** क्षीरस्वामी ने इसे **अलीकादयश्च** (उ० सू० 465) से बताया है। श्री यु० मी० (क्षी० त० पृष्ठ 106, पा० टि० 1) के मत में यह कीकच्-प्रत्यांत है। इस पक्ष में 'चितः' से अन्तोदात्त होने से पृथ्वीका रूप सिद्ध होगा। दीक्षितजी के मत में नित्त्वाद् आद्युदात्त पृथ्वीका है।
3. यास्क ही नहीं, ऋग्वेद के गृत्समद, श्यावाश्व तथा एव-याम-रुद् आत्रेय ने पृथु, पृथिवी की √प्रथ् से व्युत्पत्ति ही अपने प्रयोगों में सूचित की है। द्र० वै० वा० भा०, पृष्ठ 91, पर 'पृथिवी' शब्द का विवरण।

विस्तारे ॥ 4 ॥ पप्रसे । 5 म्रद मर्दने ॥ 5 ॥ 6 स्खद स्खदने ॥ 6 ॥
5 √म्रद् मसलने, मलने में है ॥ 5 ॥ 6 √स्खद् स्खदन में है ॥ 6 ॥ स्खदन माने

---

5 √म्रद् कुचलना, मलना, मसलना अर्थ में सकर्मक सेट् है । क्षीरतरंगिणी में छपा **म्रद मदने** (रेफरहित) पाठ प्रेस की भूल मालूम पड़ती है ।

बालमनोरमाकार ने यहाँ **ऋदुपधोऽयम्—मर्दते; ममृदे** लिखा है । यह उचित नहीं प्रतीत होता । क्योंकि (अ) **अत् स्मृ-दृ-त्वर-प्रथ-म्रद-स्तृ-स्पशाम्** (7.4.95) में रेफवान् ही पाठ है । (आ) **प्रथि-म्रदि-भ्रस्जां सम्प्रसारणम्, स-लोपश्च** (28) उणादि-सूत्र पर दीक्षितजी ने **त्रयाणां कुः, सम्प्रसारणं, भ्रस्जेः स-लोपश्च** वृत्ति लिखी है । (इ) और इसकी व्याख्या में बालमनोरमाकार ने ही **'प्रथ प्रख्याने', 'म्रद मर्दने', 'भ्रस्ज पाके' एभ्यः कु-प्रत्ययः सम्प्रसारणं च** कथन में रेफवान् पाठ स्वीकार किया है ।

कुचली हुई वस्तु चूंकि कोमल हो जाती है, अतः 'मृदु' शब्द (कोमल) अर्थ में रूढा लक्षणा से प्रयुक्त होता है । मृदा, मृत्तिः, मृत्स्ना=मिट्टी । 'ऋ' का विकास इ (तृण=तिनका, ऋक्ष=रीछ), उ (वृक्ष=रूख) और अ के रूप में हुआ है । अतः मृत्तिः=मट्टी=माटी ।

इस प्रसंग में क्षीरतरंगिणीकार ने एक अस्पष्ट-सी पंक्ति लिखी है—**प्रथेः सम्प्रसारणादनार्षममुं मन्यन्ते । एवं मृद्नातौ सति म्रदिम् ।** इसका भाव यह है कि जिस प्रकार √प्रथ् से संप्रसारण करके 'पृथ्' रूप प्राप्त किया जाता है, तो उससे स्वभावतः 'पृथ्' रूप वाली **पृथु** धातु अपाणिनीय सिद्ध होती है, उसी प्रकार सम्प्रसारण करने के कारण क्र्यादिक √मृद् के होते भौवादिक √म्रद् का पाठ भी अपाणिनीय है । यहाँ पूर्व-हेतु से विरोध स्पष्ट है ।[1] वस्तुतः तो '√प्रथ् को संप्रसारण करने से ऋदुपध √पृथ् जैसे अनार्ष है, वैसे ही √म्रद् को संप्रसारण करने से क्र्यादिक ऋदुपध √मृद् अनार्ष है,' यह कहना अपेक्षित था । संभवतः आचार्य ने **एवं मृद्नाति सति म्रदि** (अथवा **म्रदौ**) ही लिखा हो, पर लेखक-प्रमाद से पाठ-विकार हो गया हो । इस निष्कर्ष पर धातु-वृत्ति कुछ प्रकाश डालती प्रतीत होती है—**मृदुः 'प्रथि-म्रदि०' इत्यादिना कु-प्रत्ययः सम्प्रसारणं च । नैतेन मृद्धातोरभावोऽनुमातव्यः । तत्र सम्प्रसारण-स्यान्यायं वक्तव्यत्वात् । सत्त्व एव हि मृद्धातोर्मृदेत्यादिनिर्देशोपपत्तिः ।** यहाँ यद्यपि आचार्य माधव ने क्षीरस्वामी का निर्देश तो नहीं किया है, पर उनके मंतव्य को सही ढंग से रखा है तथा उसका खंडन भी किया है । उनका भाव यह है कि √प्रथ् के सम्प्रसारण से √पृथ् के समान √म्रद् के संप्रसारण से √मृद् को अपाणिनीय

---

1. क्षी०त०, पृष्ठ 106, में मीमांसकजी की टिप्पणी 4.

स्खदनं=विद्रावणम् । 7 क्षजि गति-दानयोः ॥ 7 ॥ मित्त्व-सामर्थ्यादनुपधा-त्वेऽपि 'चिण्-णमुलोः०' (6.4.93) इति दीर्घ-विकल्पः—अक्षञ्जि, अक्षाञ्जि; क्षञ्जङ्क्षञ्जम्, क्षाञ्जं-क्षाञ्जम् । 8 दक्ष गति-हिंसनयोः ॥ 8 ॥ योऽयं खदेड़ना है। 7 √क्षञ्ज् (इदित्) गति और देने में है ॥ 7 ॥ यह चूंकि मित् किया गया है, अतः उपधा न होने पर भी 'चिण्-णमुलोः०' (6.4.93) से वा दीर्घ होता है—अक्षञ्जि, अक्षाञ्जि; क्षञ्जङ्-क्षञ्जम्, क्षाञ्जङ्-क्षाञ्जम् । 8 √दक्ष् गति और हिंसा करने में है ॥ 8 ॥ बढ़ने और जल्दी करने में जो आत्मनेपदियों में दिया गया है,

---

समझना भूल है । **मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा** (1.2.7) सूत्र में भगवान् पाणिनि ने क्र्यादिक धातुओं के साथ √मृद् का भी निर्देश किया है । उणादि सूत्रों में संप्रसारण √प्रथ् एवं √भ्रस्ज के निमित्त से कहना तो अवश्य था ही, √भ्रद् का ग्रहण करके उणादिकार ने लाघव ही किया है । अन्यार्थक होने से वह कोई विज्ञापन नहीं करता । अतः यहाँ √भ्रद् और क्र्यादिगण में √मृद् दोनों पाणिनीय हैं ।

6 √**स्खद्** धातु स्खदन अर्थ में (सकर्मक) है । स्खदन=विद्रावण=खदेड़ना, हराना, भगाना होता है । यह सेट् है । हरियाणवी में सम्भवतः इसी का अपभ्रंश 'खँदाना' 'भेजना' अर्थ में है । 'खंधी' (ऊत गई, इधर-उधर भागने वाली चञ्चला स्त्री) ।

क्षीरतरंगिणी के मुद्रित पाठ के अनुसार यह खदन=विदारण (काटना, चीरना, टुकड़े करना, खोदना) अर्थ में सकर्मक है । धातु-पाठ में √**खद्** धातु के अर्थ **खद स्थैर्ये हिंसायां च** (3.14) के अनुसार स्थिर होना (अकर्मक) स्थिर करना (सकर्मक) तथा मारना, नष्ट करना (सकर्मक) अर्थ में है । माधवीय धातुवृत्ति (1.756 में) स्वामी का अर्थ स्खदन=विद्रावण उद्धृत है । 'स्वामी' से क्षीरस्वामी ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं ।

स्खदते । चस्खदे—**शर्पूर्वाः खयः** । स्खदिता । स्खदयति; अस्खादि, अस्खदि । स्खदं-स्खदं; स्खादं-स्खादम् । स्खदा=खेदा (पशु को शिकार के लिए अनुकूल स्थान पर लाने के लिये किया जाने वाला हाँका) ।

7 √**क्षञ्ज्** (इदित्) गति तथा दान अर्थ में है । अर्थ स्पष्ट नहीं है । कौशिक के अनुसार यह **क्षज** (अदुपध) है । मित् करने का अन्य प्रयोजन न होने से **चिण्-णमुलोर्दीर्घो०** से उपधाभिन्न अकार को भी वैकल्पिक दीर्घ होगा ही : अक्षञ्जि, अक्षाञ्जि । क्षाञ्जं क्षाञ्जम्, क्षञ्जं क्षञ्जम् । **गुरोश्च हलः** से अङ् होने से षित्व अनावश्यक है । इसी प्रकार 8 **दक्ष्**, 10 √**कन्द्**, 11 √**क्रन्द्** तथा 12 √**क्लन्द्** में भी समझें ।

8 √**दक्ष्** धातु शीघ्र जाना, समझाना (सकर्मक) तथा हिंसा करना (सकर्मक)

वृद्धि-शैघ्रचयोरनुदात्तेत्सु पठितः, तस्येहार्थ-विशेषे मित्त्वार्थोऽनुवादः। 9 ऋप कृपायां, गतौ ॥ 9 ॥ 10 कदि, 11 ऋदि, 12 क्लदि वैक्लव्ये ॥ 10 ॥ 'वैकल्य' इत्येके। 'त्रयोऽप्यनिदित' इति नन्दी; 'इदित' इति स्वामी; 'कदि-ऋदी इदितौ, ऋद, क्लद इति चानिदितौ' इति मैत्रेयः। कदि-ऋदि-क्लदीना-माह्वान-रोदनयोः परस्मैपदिषूक्तानां पुनरिह पाठो (1) मित्त्वार्थं, (2) आत्मने-पदार्थश्च। 13 त्वरा सम्भ्रमे ॥ 11 ॥

घटादयः षितः ॥ 12 ॥ षित्वादङ कृत्सु वक्ष्यते ॥ 71 ॥

उसका यहाँ पुनः कथन मित् संज्ञा के लिये है। 9 √ऋप् कृपा करने, जाने में है ॥ 9 ॥ 10 √कन्द्, 11 √ऋन्द्, 12 √क्लन्द् (सब इदित्) असमर्थ होने में हैं ॥ 10 ॥ कुछ लोग 'विकल (व्याकुल) होने में हैं', यह मानते हैं। 'तीनों ही ह्रस्व इकार से भिन्न इत्संज्ञक वर्ण वाली हैं,' यह नंदी मानते हैं; 'इत्संज्ञक ह्रस्व इकार वाली हैं,' यह क्षीर-स्वामी मानते हैं; मैत्रेय मानते हैं कि √कन्द् और √ऋन्द् इदित् हैं, √ऋद् और √क्लद् अनिदित् हैं। बुलाने और रोने में परस्मैपदी धातुओं में पठित √कन्द्, √ऋन्द् और √क्लन्द् को यहाँ पुनः देना (1) मित् संज्ञा के लिये और (2) आत्मनेपद के लिये है। 13 √त्वर् (इत्संज्ञक त्रि और आ वाली) जल्दी करने में है ॥ 11 ॥

√घट् आदि धातु इत्संज्ञक ष् वाली हैं ॥ 12 ॥ षित् होने के कारण अङ् कृत् प्रत्ययों में बतलाया जायेगा ॥ 71 ॥

अर्थ में (सेट्) है। मा० धा० वृ० में गति तथा शासन अर्थ में दिया है।

दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च (भ्वा० 17.7) पहले आ चुकी है। यहाँ गति तथा हिंसा अर्थ में मित्संज्ञा के लिए उसी का अनुवाद है।

9 √**ऋप्** कृपा करना (अकर्मक) तथा गति (अस्पष्ट) अर्थ में (सेट्) है। ऋपते; चऋपे; ऋपयति; अऋापि, अऋपि; ऋापं-ऋापम्; ऋपं-ऋपम्। यहाँ इसकी मित्संज्ञा ही होती है, षित् संज्ञा नहीं। भिदादियों (3.3.104) में **ऋपेः सम्प्रसारणं च** गणसूत्र से इसका ग्रहण किया है : कृपा, कृपण, कृपाण, कृपीट।

10 √**कन्द्**, 11 √**ऋन्द्** 12 √**क्लन्द्** से तीनों धातु कातर होना, घबड़ाना अर्थ में अकर्मक सेट् हैं। आचार्य चंद्र ने यहाँ 'वैकल्ये' (विकल होना) दिया है। आचार्य नंदी **कद ऋद क्लद** (अनिदित्) पाठ मानते हैं। आचार्य क्षीरस्वामी तथा माधव तीनों को इदित् ही मानते हैं। आचार्य मैत्रेय दो **कदि ऋदि** को इदित् तथा दो **ऋद क्लद** को अनिदित्, इस प्रकार कुल चार धातु यहाँ मानते हैं।

कदि ऋदि क्लदि आह्वाने रोदने च के रूप में परस्मैपदियों में दी हुई ये धातु अर्थ-विशेष में मित्संज्ञा तथा आत्मनेपद करने के लिए अनूदित की है। इदित् धातुओं में षित्त्व आवश्यक नहीं है; **गुरोश्च हलः** (3.3.103) से अङ् होगा। अनिदित् पाठ में

21 अथ फणान्ताः परस्मैपदिनः—1 ज्वर रोगे ॥ 1 ॥ ज्वरति;

इक्कीसवाँ वर्ग : क. (1) णिच् में ह्रस्व तथा (2) चिण् और णमुल् में वा दीर्घ वाली परस्मैपदी धातु

21 अव 73 √फण् तक परस्मैपदी धातुएँ हैं—1 √ज्वर् बीमारी होने में

षित्करण आवश्यक है। आक्रन्दः।

13 √ त्वर् (इत्संज्ञक ञि और आ वाली) शीघ्र करना, आशुकारी होना अर्थ में अकर्मक सेट् हैं।

इस धातु के आदित् होने से निष्ठा में **आदितश्च** (7.2.16) से नित्य इट् का निषेध प्राप्त होता है। पर उसे बाधकर **रुष्यरत्वर-सङ्घुषा-स्वनाम्** (7.2.28) से विकल्प से इट् का विधान है। फलतः इसे आदित् करने का कोई प्रयोजन नहीं है। संभवतः आचार्य को यह धातु पूर्वाचार्यपरंपरा में आकारांतोपदेश में ही प्राप्त हुई हो, तथा फल में कोई अंतर न होने से उन्होंने इसे इसी स्वरूप में अपने धातु-पाठ में स्थान दे दिया हो।

धातु-योग : गत 753, वर्तमान 9, योग 762 ॥ 71 ॥

संदर्भ : पीछे आत्मनेपदी मित् और षित् 13 धातुएँ दी हैं। प्रकृत 21 वें धातु-वर्ग में परस्मैपदी मित् 73 धातुएँ दी हैं। ये दो तरह की हैं : (1) जो यहीं पठित ये धातुएँ हैं, अन्यत्र नहीं; जैसे—1 √ज्वर्, 7 √स्तक्; इनकी संख्या 25 है; (2) जो अन्यत्र पठित हैं, यहाँ (1) पद-विशेष तथा (2) अर्थ-विशेष एवं दोनों के साथ मित्कार्यों के लिये अनूदित की गई हैं; जैसे 3 √हेड्, 8 √चक्; इनकी संख्या 48 है। इन 73 धातुओं में से 8 उपसर्गाभाव में विकल्प से मित् हैं और 6 धातुओं को मित्त्व का निषेध किया गया है। आत्मनेपदी (20 वें वर्ग में संकलित) और प्रकृत (21 वें) वर्ग की परस्मैपदी, सब मित् धातु कुल 86 हैं, जिन में से 34 नूतन हैं, तथा 52 अन्य प्रकरणों से यहाँ मित्त्वार्थ अनूदित हैं।

21.1 √**ज्वर्** बीमारी (रोग) होने में बताई है। 'रोग' से सामान्य 'बीमारी होना' अर्थ व्यक्त होता है, जबकि प्रयोग में यह बुखार होना, ताप चढ़ना अर्थ में प्रसिद्ध है। √ज्वल् इसी का अर्थ की दृष्टि से सामान्यीकरण वाला तथा उच्चारण की दृष्टि से विकसित रूप प्रतीत होता है[1] : रोग-विशेष के आन्तरिक ताप से जलना √ज्वर् से व्यक्त होता है, तथा अग्नि, आतप आदि के भौतिक ताप से जलना

---

1. यह ऐतिहासिक व्याकरण (Historical Grammar) की दृष्टि है; विश्लेषणात्मक व्याकरण (Descriptive Grammar) की दृष्टि से √ज्वल् पृथक् धातु मान कर आगे (धा० सू० 24.6 में) दी गई है।

जज्वार। 2 गड सेचने ॥ 2 ॥ गडति; जगाड। 3 हेड वेष्टने ॥ 3 ॥ 'हेड्
है ॥ 1 ॥ 2 √गड् सींचने में है ॥ 2 ॥ 3 √हेड् लपेटने में है ॥ 3 ॥ '√हेड्

√ज्वल् से प्रकट होता है।[1] √ज्वर् अन्यत्र आगत का अनुवाद नहीं है। ज्वरति; जज्वार; ज्वरिता; ज्वरिष्यति; ज्वरतु; अज्वरत्; ज्वरेत्; ज्वर्यात्; अज्वारीत्, **अतो ल्रान्तस्य** से नित्य वृद्धि; ज्वरयति; ज्वारं-ज्वारम्, ज्वरं-ज्वरम्; अज्वारि, अज्वरि। ज्वरः=जुरी, बुखार।

2 √**गड्** सींचना अर्थ में है। लकारवान् √गल् अदन (खाना) अर्थों में आ चुकी है, तथा आगे चुरादियों में भी स्रवण, या स्रावण अर्थ में दी है। धातुपाठ में **'ड-लयोरभेदः'** के आधार पर ड-लकार वाली धातुओं को एक न मान कर पृथक्-पृथक् पाठ ही किया गया है; अतः यह उनका अनुवाद नहीं है। हाँ, कालान्तर में इसके डकार को देश-भेद से लकार अवश्य हो गया है :

गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असञ्जात-किण-स्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गडी ॥[2]

इस श्लोक में क्षीरस्वामी द्वारा पठित 'गडी' शब्द 'वृषः' का पर्याय है। काव्य-प्रकाश आदि में कुछ स्थानों में 'गडिः' पठित है,[3] तो अन्यत्र 'गलिः' या 'गली'।[4] गडति=सिञ्चति बीजमिति गडी=बिजार साँढ, तु० उक्षा, वृष।

गडति, जगाड, अगाडीत्, अगडीत्; गडयति; अजीगडत्।

3 √**हेड्** लपेटना, घेरना अर्थ में सकर्मक है। **हेड् अनादरे** (8.31) टवर्गीयान्त

---

1. √ज्वर सामान्य कष्ट होना (अकर्मक) तथा कष्ट, तकलीफ देना (सकर्मक) अर्थ में भी प्रयुक्त हो जाती है : **किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्** ? (बृ०उ० 4.4.12)। 'कामज्वर' (कामपीडा) में भी इसी प्रकार का मानसिक सन्ताप अर्थ है।
2. काव्य-प्रकाश 10.109 पर उद्धृत श्लोक 480. क्षीरस्वामी ने केवल चतुर्थ चरण दिया है, जिस पर यु० मी० ने **'अनुपलब्ध-मूलम्'** टिप्पणी की है। काव्य-प्रकाश में लकारवान् पाठ है, क्षी० त० में डकारवान् दिया है।
   अर्थ को ठीक से न समझ पाने के कारण इसकी व्याख्या लोगों ने तरह-तरह से की है। द्र० काव्यप्रकाश की वामनाचार्य झलकीकर की बाल-बोधिनी टीका, पृष्ठ 662.
3. शब्द-कल्प-द्रुम कोष में 'गडिः' ही उद्धृत है। द्र० वहाँ 'गडिः' शब्द।
4. का० प्र० के संस्करणों में 'गलिः' मुद्रित है, पर पाठालोचन वाले संस्करणों में 'गली' पाठभेद दिया है।

अनादरे' (8.31) इत्यात्मनेपदिषु गतः। स एवोत्सृष्टानुबन्धोऽनूद्यतेऽर्थ-विशेषे मित्त्वार्थम्। परस्मैपदिभ्यो ज्वरादिभ्यः प्रागेवानुवादे कर्तव्ये तन्मध्येऽनुवाद-सामर्थ्यात् परस्मैपदम्। हेडति; जिहेड; हिडयति; अहिडि, अहीडि। अनादरे (ऋदित्) अनादर अर्थ में है।' इस रूप में (8.31) आत्मनेपदियों में जा चुका है। अनुबन्ध-रहित वही (इस) खास अर्थ में मित्त्व के लिये दुवारा कहा गया है। परस्मैपद वाली √ज्वर् आदियों से पहले ही (आत्मनेपदियों में कहीं) पुनः कथन करना था, उन

आत्मनेपदी धातुओं में आ चुकी है। उसी को 'वेष्टन' अर्थ में मित्संज्ञा करने के लिए ऋकार अनुबन्ध के बिना पुनः दिया है। √ज्वर् आदि परस्मैपदियों से पहले ही आत्मनेपदी √त्वर् के बाद देना शक्य होने पर भी उदात्तेतों में दिया होने के कारण यह परस्मैपदी होगी। अतः आत्मनेपदी का अनुवाद होते हुए भी इसके परस्मैपद में रूप चलेंगे : हेडति; अहेडीत्। णिच् में √हेड+णिच्, **मितां ह्रस्वः** से ह्रस्व : हिड्+इ। ह्रस्व-विधान-सामर्थ्यात् लघूपधगुण नहीं होता : हिडयति; अजीहिडत्। ण्यन्त से भाव-कर्म में तो **मितां ह्रस्वः** से ह्रस्व, तब √हिडि धातु को **चिण्णमुलोः०** से वैकल्पिक दीर्घ : अहीडि, अहिडि। इसी प्रकार णमुल् में भी : हिडं-हिडम्, हीडं-हीडम्।

शङ्का : मितां ह्रस्वः से किया ह्रस्व **चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्** से दीर्घ की कर्त्तव्यता में समानाश्रय (√हिड् की उपधा) होने से **असिद्धवदत्राभात्** से असिद्ध हो जाना चाहिये। फलतः यहाँ दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं है।

उत्तर : ह्रस्व का आश्रय है णिपरक उपधा, जबकि दीर्घ का आश्रय है, चिण्-परक-णिपरक तथा णमुल्परक-णिपरक उपधा। अतः भिन्नाश्रय होने से दीर्घ की कर्तव्यता में ह्रस्व असिद्ध नहीं होगा। अतः दीर्घ-विधान निरापद है।[1]

आचार्य क्षीरस्वामी ने यहाँ '**पाठ-सामर्थ्याद् ह्रस्वः—अहिडि, अहेडि; हिडं-हिडं, हेडं-हेडम्। अन्ये ह्रस्वं कृत्वा चिण्-णमुलोर्वा दीर्घमाहुः—अहिडि, अहीडि, हिडं-हिडं, हीडं-हीडम्।**' लिखा है। उनका अभिप्राय सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि **पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्तिः** न्याय के अनुसार यहाँ दीर्घ को भी दीर्घ होगा। विकल्प-पक्ष में जहाँ दीर्घ न होगा, वहाँ मित्-पाठ-सामर्थ्य से दीर्घ को **मितां ह्रस्वः** से ह्रस्व होगा। अतः इकारवान् तथा एकारवान्, दोनों तरह के, रूप बनेंगे।

श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकजी की इस पर टिप्पणी है कि **मितां ह्रस्वः** तथा **चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्** सूत्र वहीं लगते हैं, जहाँ णिच् के निमित्त से गुण या वृद्धि

---

1. मा० धा० वृ० : '**चिण्णमुलोर्दीर्घविकल्पे 'ऽसिद्धवदत्रा०' इति ह्रस्वत्वे नासिद्धत्वम्, द्व्याश्रयत्वात्; णिमात्राश्रयो दीर्घ-विकल्पः।**

तु हेडयति । 4 वट, 5 भट परिभाषणे ॥ 4 ॥ 'वट वेष्टने' (9.11), 'भट भृतौ' (9.18) इति पठितयोः परिभाषणे मित्त्वार्थोऽनुवादः । 6 णट नृत्तौ ॥ 5 ॥ इत्थमेव पूर्वमपि पठितम् । तत्रायं विवेकः—पूर्व-पठितस्य नाट्यमर्थः, यत्कारिषु (परस्मैपदियों) के बीच में देने से परस्मैपद होता है । हेडति, जिहेड; हिडयति; अनादर अर्थ में हेडयति । 4 √वट्, 5 √भट् निंदा-युक्त उलाहना देने में है ॥ 4 ॥ '√वट् लपेटना, बँटना अर्थ में' (9.11), '√भट् नौकरी करने में' (9.18), इस प्रकार दी जा चुकी धातुओं को परिभाषण अर्थ में मित् संज्ञा करने के लिए पुनः कहा गया है । 6 √नट् (णोपदेश) नृत्ति अर्थ में है ॥ 5 ॥ इसी तरह पहले भी कहा गया है । ऐसी स्थिति में भेद यह है—पहले दिये हुए का 'नाट्य करना' अर्थ है, जिसे करने वालों को 'नट' कहा

होने से उपधा-दीर्घ होता हो । यहाँ तो एकार स्वभाव से ही दीर्घ है, णिच् के निमित्त से नहीं । अतः मित्प्रकरण में दीर्घ देने से (=स्वाभाविक दीर्घ वाली धातु को भी मित् करने से) यहाँ ह्रस्व होगा ।[1]

अनादर अर्थ में मित् न होने से 'हेडयति' इत्यादि ।

4 √**वट्** तथा 5 √**भट्** परिहास करना, निन्दापूर्वक उलाहना देना अर्थ में (सक०) है । पूर्व-पठित **वट वेष्टने** तथा **भट भृतौ** को ही परिभाषण अर्थ में मित् करने के लिए अनूदित किया है । वटयति; अवाटि, अवटि इत्यादि । इसी प्रकार √भट् के भी रूप होंगे ।

वेष्टन में √वट् के वाटयति तथा भृति में √भट् के भाटयति आदि ।

6 √**नट्** (णोपपदेश) धातु टकारांत उदात्तेतों में इसी (नृत्ति) अर्थ-निर्देश के साथ (9.21 में) दी जा चुकी है । घटादियों में पुनः दे कर के यदि मित्त्व 'नृत्ति' अर्थ में ही अभिप्रेत होता, तो **णट नृत्तौ वा** के रूप में घटादियों में ही दे देते, पहले न देते । इससे वैकल्पिक मित्त्व भी सिद्ध हो जाता और लाघव भी होता है । पर ऐसा न करने से प्रतीत होता है कि यहाँ 'नृत्ति' पूर्व-पठित से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । 'नृत्ति' शब्द के तीन अर्थ हैं :—(1) नाट्य, (2) नृत्य तथा (3) नृत्त । (1) वाक्य के अर्थ को जहाँ अंग-विक्षेप के द्वारा चरितार्थ किया जाये, वह नाट्य होता है । जैसे **एद्दहमेत्तत्थणिआ** (एतावन्मात्र-स्तनिका) इत्यादि में वाक्य से प्रतिपादित अल्पपरिणाह आदि को

---

1. क्षी० त० पृष्ठ 108 पर पा० टि० 2 : **अयं भावः—णिज्निमित्तं यत्र गुण-वृद्धिभ्यां दीर्घत्वं भवति तत्रैव 'मितां ह्रस्वः' (6.4.92), 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' (93) इति सूत्रे प्रवर्तेते । इह तु स्वभाव-सिद्ध-एकारः, न तु णिज्निमित्तः । अत आह—दीर्घ-पाठ-सामर्थ्याद् इति भावः ।**

'नट'-व्यपदेशः। वाक्यार्थाभिनयो नाट्यम्। घटादौ तु नृत्तं नृत्यं चार्थः, यत्कारिषु 'नर्तक'-व्यपदेशः। पदार्थाभिनयो नृत्यम्। गात्र-विक्षेप-मात्रं नृत्तम्। 'केचित्तु घटादौ णट (i) नतौ' इति पठन्ति, (ii) 'गतौ' इत्यन्ये। णोपदेश-वाक्ये भाष्यकृता 'नाटि' इति दीर्घ-पाठाद् घटादिर्णोपदेश एव।

जाता है। वाक्य के तात्पर्य का अभिनय करना 'नाट्य' है। किंतु घटादि गण में अर्थ 'नृत्त' और 'नृत्य' है, जिसे करने वालों को 'नर्तक' कहा जाता है। अंग-विक्षेप के द्वारा भाव का अभिनय 'नृत्य' है। केवल अंग-संचालन 'नृत्त' होता है। कुछ लोग 'घटादि गण में (i) √णट् (>√नट्) झुकने में है', यह कहते हैं; (ii) अन्य लोग 'गति में है', यह। णोपदेश धातुओं का अपवाद बताते समय भाष्यकार के द्वारा 'नाटि' इस प्रकार दीर्घ देने से घटादि √नट् णोपदेश ही है।

कराग्र को मुकुलाकार आदि करके जो भाव प्रकट किया जाता है, वह नाट्य होता है।[1] इसे करने वाले नट (अभिनेता) कहलाते हैं। यह टान्तों में पठित **णट नृत्तौ** (9.21) का अर्थ है। घटादि-पठित का अर्थ है : (2) नृत्य तथा (3) नृत्त। (2) 'नृत्य' पदार्थ का—भाव का—अभिनय होता है तथा (3) 'नृत्त' अभिनय—अनुकरण—के बिना केवल अंगों का विभिन्न मुद्राओं में संचालन होता है। इसे करने वाले 'नर्तक' कहलाते हैं। इन्हीं को क्रमशः (1) नाट्य=अभिनय, (2) नृत्य=भावाभिनय तथा (3) नृत्त=नाच कहा जा सकता है।

आचार्य क्षीरस्वामी यहाँ **नट नतौ** यानी झुकना (अकर्मक) अर्थ में तवर्ग-पञ्चमोपदेश पाठ मानते हैं। जैसे नटयति शाखाम् (डाल को झुकाता है)। 'नृत्ति' अर्थ में तो वे इसे अमित् ही बतलाते हैं।[2] पाठान्तर के अनुसार वे इसे गति—झुकना आदि (अकर्मक)—अर्थ में मानते हैं।

णोपदेशभिन्न धातुओं को गिनाने वाले वाक्य में भाष्यकार ने 'नाटि' (दीर्घ-वान्) दी है।[3] अतः घटादि √नट् तो णोपदेश ही है। इस लिये सिद्धान्तकौमुदी के कुछ संस्करणों में तथा पदमंजरी आदि में उपलब्ध नोपदेश पाठ प्रामादिक ही है।[4]

प्रणटति; प्रणटयति; प्राणाटीत्, प्राणटीत्; प्राणाटि, प्राणटि। प्रणटं-प्रणटं,

---

1. का० प्र० 2.19 : **'आदि'-ग्रहणात् 'एद्दहमेत्त०' इत्यादावभिनयादयः।**
2. क्षी० त०, 1.538 : **नट नतौ। नटति। नटयति शाखाम्। नृत्तौ तु नाटयति।**
3. म० भा० 6.1.65 : **सर्वे नादयो णोपदेशा नृति-नन्दि-नर्दि-नक्कि-नाटि-नाथृ-नाधृ-नृ-वर्जम्।**
4. पीछे 9.21 पर भवतोषिणी देखें।

7 ष्टक प्रतीघाते ॥ 6 ॥ स्तकति । 8 चक तृप्तौ ॥ 7 ॥ तृप्ति-प्रतीघातयोः पूर्वपठितस्य तृप्ति-मात्रे मित्त्वार्थोऽनुवादः । आत्मनेपदिषु पठितस्य

7 √स्तक् (षोपदेश) टकराना अर्थ में है ॥ 6 ॥ 8 √चक् तृप्ति होने में है ॥ 7 ॥ तृप्ति और प्रतीघात अर्थों में पहले दिये हुए का मित्संज्ञा के लिये पुनः कथन किया गया है। आत्मनेपदियों में दिये हुए को परस्मैपदियों में पुनः देने के कारण

प्रणाटं-प्रणाटम्। सर्वत्र **उपसर्गादसमासेऽपि०** से णत्व।

सिर हिलाने आदि से निषेध को व्यक्त करने के कारण ही सम्भवतः यह धातु हिन्दी में नटना (√नट्), हरियाणवी आदि में नाटना (√नाट्) है। अर्थ-संकोच-वशाद् अंग्रेजी में सिर हिलाना तथा सिर हिलाकर संकेत करना जैसे अर्थ में नॉड् (nod) के रूप में मिलती है।

इन छह धातुओं में प्रथम दो (√ज्वर्, √गड्) नूतन हैं, तथा शेष चार (हेड्, √वट्, √भट् तथा √नट्) अन्यत्र पठितों का अनुवाद ही हैं।

7 √**स्तक्** (षोपदेश) धातु ठोंकना, टकराना, चोट करना, ठकठकाना आदि में (सकर्मक) है। **धात्वादेः षः सः**—स्तकति; तस्ताक—**शर्पूर्वाः खयः**। अस्ताकीत्, अस्तकीत्। अस्ताकि, अस्तकि। इत्यादि। सन् में तिस्तकिषति : **स्तौति-ण्योरेव षण्यभ्यासात्** नियम से षत्व नहीं होता। तिष्टकयिषति में **'स्तौति-ण्योरेव०'** नियम लागू नहीं होता है।

आचार्य क्षीरस्वामी यहाँ √स्तक् (अषोपदेश) यह एक अतिरिक्त धातु मानते हैं। पर यह मान्यता षोपदेश-नियम विरुद्ध होने से उपेक्ष्य है।

8 √**चक्** तृप्त होना, छकना अर्थ में (अकर्मक) है। यह धातु **चक तृप्तौ प्रतीघाते च** (4.18) के रूप में पहले आ चुकी है। यहाँ 'तृप्ति' अर्थ में मित्संज्ञा करने के लिए पुनः दी है। पहले यह अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है, अब उदात्तेत् होने से परस्मैपदी ही है। इसके फलस्वरूप तृप्ति अर्थ में यह उभयपदी है। चकति, चकते। प्रतीघात अर्थ में केवल आत्मनेपदी है : चकते। तृप्ति अर्थ में ण्यंत में उभयपद में ही ह्रस्व होगा : चकयति, चकयते। चचाक, चेकतुः, चेकुः; चेके, चेकाते; चेकिषे; अचकिष्ट; अचाकीत्; अचाकि, अचकि; चकं-चकं, चाकं-चाकम्।

आचार्य क्षीरस्वामी ने इसे **ष्टक, स्तक प्रतिघाते** से पहले **'चक तृप्तौ प्रतिघाते च** के रूप में दिया है, तथा पहले आ चुकी को **चक तृप्तौ** (74) के रूप में दिया है। आचार्य शाकटायन ने दोनों ही जगह तृप्ति तथा प्रतिघात दोनों अर्थ माने हैं। धनपाल ने अर्थ के विषय में तो स्वामीजी को ही प्रमाण माना है, पर आत्मनेपदी का अनुवाद भी आत्मनेपदी ही होगा, यह मानकर घटादिपठित को आत्मनेपदी ही माना है। काशकृत्स्नीय धातु-पाठ में तथा माधवीय-धातुवृत्ति में केवल **चक तृप्तौ** पाठ ही

परस्मैपदिष्वनुवादात् परस्मैपदम् । 9 कखे हसने ॥ 8 ॥ एदित्त्वान्न वृद्धिः—अकखीत् । 10 रगे शङ्कायाम् ॥ 9 ॥ 11 लगे सङ्गे ॥ 10 ॥ 12 हगे, 13 ह्लगे, 14 षगे, 15 ष्टगे संवरणे ॥ 11 ॥ 16 कगे नोच्यते ॥ 12 ॥ 'अस्यायमर्थ' इति विशिष्य नोच्यते, (i) क्रिया-सामान्यार्थत्वात्; (ii) अनेकार्थ-

परस्मैपद होता है । 9 √कख् (एदित्) हँसने में है ॥ 8 ॥ इत्संज्ञक 'ए' वाला होने के कारण वृद्धि नहीं होती—अकखीत् । 10 √रग् (एदित्) शंका करने में है ॥ 9 ॥ 11 √लग् (एदित्) लगने में है ॥ 10 ॥ 12 √हग्, 13 √ह्लग्, 14 √सग् (षोपदेश), 15 √स्तग् (यह षोपदेश तथा सब एदित्) छुपाने (ढँकने) में हैं ॥ 11 ॥ 16 √कग् (एदित्) नहीं कहा जाता है ॥ 12 ॥ 'इसका अमुक अर्थ है', इस प्रकार विशेष रूप से नहीं कहा जाता, क्योंकि (i) यह सामान्य क्रिया अर्थ वाली है; (ii) 'यह अनेकार्थक

माना है । दीक्षितजी ने सायण का अनुकरण किया है ।

9 √**कख्** (एदित्) हँसना अर्थ में (अकर्मक) हैं । अकखीत्—**ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ०** से वृद्धि-निषेध । कखयति; अकाखि, अकखि; कखं-कखं, काखं-काखम् इत्यादि । इससे पहले यह धातु **कख हसने** के रूप में परस्मैपद में ही आ चुकी है । इसे एदित् करने से तथा एदित्त्व का फल लुङ् में ही मिलने के कारण यहाँ पठित के लुङ् में तो रूप चलेंगें, पर शेष लकारों में नहीं ।

10 √**रग्** शङ्का, सन्देह करने में (अकर्मक) है । **शङ्कायां रगतीति स्यात्** (आ० चं० 1.2.1०, श्लोक 35) । रगति; ररग; रेगतुः, रेगुः; अरगीत्; रगयति इत्यादि । रागं-रागम्, रगं-रगम्; अरागि, अरगि ।

11 √**लग्** लगना, जुड़ना आदि में (अकर्मक) है । लगति; लेगतुः; अलगीत् । 'सक्त' अर्थ में 'लग्न' लगा हुआ **क्षुब्ध-स्वान्त-ध्वान्त-लग्न-म्लिष्ट०** (7.2.18) से निपातनात् बनता है, अन्यथा 'लगित' बनता है । यह चुरादि में **लग आस्वादने** अमित् है । यहाँ की **लग सङ्गे** अनुबंध, विकरण तथा अर्थ तीनों तरह से भिन्न है । अतः यह चौरादिक का अनुवाद नहीं है ।

12 √**ह्गग्**, 13 √**ह्लग्**, 14 √**सग्**, 15 √**स्तग्** (दोनों षोपदेश तथा सब एदित्) ये धातु संवरण (ढँकना) अर्थ में सकर्मक हैं । प्रत्येक का, अथवा, संवरण का ही, अर्थ स्पष्ट नहीं है । ह्गति; ह्लगति; ससाग, सेगतुः; तस्ताग, तस्तगतुः; अस्तगीत्; स्तगयति; अस्तागि, अस्तगि । ह्गं-ह्गं, ह्गागं-ह्गागम् । इत्यादि ।

आचार्य क्षीरस्वामी ने **ष्ठगे स्थगे** पाठ माना है । आचार्य दुर्ग ने **षगे स्थगे**, तथा माधव ने **षगे ष्ठगे** माना है । **स्थगे** पाठ षोपदेश-लक्षण के विरुद्ध होने से अपाणिनीय है ।

16 √**कग्** (एदित्) धातु का अर्थ कहा नहीं है । (i) आचार्य मैत्रेय तथा

त्वादित्यन्ये । 17 अक, 18 अग कुटिलायां गतौ ॥ 13 ॥

है, इस कारण, यह और लोग मानते हैं। 17 √अक्, 18 √अग् टेढे-मेढ़े चलने में है ॥ 13 ॥

क्षीरस्वामी का कथन है कि 'इस धातु का अमुक अर्थ है', यह कहा नही है। अतः क्रिया-सामान्य (किसी भी प्रकार की क्रिया) इसका अर्थ है। (ii) अन्यों का कहना है कि यह धातु अनेकार्थक हैं, अतः इसका 'अमुक अर्थ है', इस प्रकार कहा नहीं गया है। (iii) कुछ लोगों के मत में पाणिनीय धातु पाठ में **कगे** उक्त नहीं है। (iv) दूसरे लोग कहते हैं कि 'नहीं कहा जाना' ही इसका अर्थ है।

पर ये सब व्याख्यान आपात-रमणीय ही हैं : (i) **कगे करणे** या **कगे क्रिया-सामान्ये** कहना ही क्रिया-सामान्य को अधिक अच्छी तरह प्रकट कर सकता था ; या फिर सभी क्रिया-सामान्यार्थक धातुओं को इसी तरह 'नोच्यते' कह कर ही दिया होता। (ii) 'इसके अनेक अर्थ हैं, किसे कहें, किसे नहीं', यह कहना भी उचित नहीं है। अनेकार्थक तो सभी धातु हैं। अर्थ-निर्देश तो उपलक्षण मात्र है। अतः जैसे √अव्, √दिव् आदियों के अनेक अर्थ निगद-पठित हैं, वैसे ही इसके भी दिये जाने चाहिएँ। (iii) दूसरे आचार्यों के धातुपाठों में उपलब्ध होने से तथा पाणिनीय सम्प्रदाय में सर्वसम्मत होने से यह अपणिनीय है, इसका भी कोई साधक प्रमाण नहीं है।

वस्तुतः तो यह कुटिल गति, टेढ़े-मेढ़े चलना अर्थ में है : सम्भवतः धातु-सूत्र मूलतः **कगे अक अग कुटिलायां गतौ** रहा हो। इसके पूर्व सभी धातु एदित् हैं। अतः सम्भवतः लिपि-दोष से अनेदित् से एदित् को पृथक् कर दिया गया हो और फिर इसे पृथक् धातु-सूत्र समझ कर तथा अर्थनिर्देश न पा कर **नोच्यते** (अर्थः) यह टिप्पणी ही मूल धातुपाठ में अर्थ-निर्देश-परक समझ ली गई हो और इस प्रकार यह **'नोच्यते'** का प्रक्षिप्त पाठ ही वास्तविक समझा जाता रहा हो। इस कल्पना में साधक प्रमाण है काशकृत्स्न का अपने धातु-पाठ में **कगे गतौ** पाठ तथा यहाँ **अक अग कुटिलायां गतौ** (अगले) धातु-सूत्र में 'गतौ' पाठ की समीपता एवं काशकृत्स्नीय अर्थ की समानता।

17 √अक्, 18 √अग् टेढ़े-मेढ़े चलना अर्थ में अकर्मक है। अकति; आक; **नेटि :** मा भवानकीत्। अकयति। मा भवानाकि, मा भवानकि। आकमाकम्, अकमकम्।

यद्यपि 'आगस्' शब्द को **इण आगोऽपराधे च** (उ०सू० 651) से √इण् (√इ) धातु से व्युत्पन्न किया है, पर √अग् से इसकी व्युत्पत्ति उचित लगती है : कुटिल गति का पाप तथा अपराध में उपचार अधिक संगत है। √इण् को √गा आदेश तथा आ+√गा से मन, वचन और कर्म पर छा जाने के कारण 'आगस्' (अपराध) अर्थ में व्युत्पत्ति मानने में प्रक्रिया और कल्पना का गौरव अधिक है।

19 कण, 20 रण गतौ ॥ 14 ॥ चकाण; रराण । 21 चण, 22 शण, 23 श्रण दाने च ॥ 15 ॥ 22 'शण गतौ' इत्यन्ये ।

24 श्रथ, 25 श्लथ,[1] 26 क्रथ, 27 क्लथ हिंसाऽर्थाः ॥ 16 ॥ 'जासि-

19 √कण्, 20 √रण् गति में हैं ॥ 14 ॥ 21 √चण्, 22 √शण्, 23√श्रण् देने में भी हैं ॥ 15 ॥ 22 '√शण् गति में है', यह दूसरे लोग मानते हैं ।

24 √श्रथ्, 25 √श्लथ्, 26 √क्रथ्, 27 √क्लथ् हिंसा करने में हैं ॥ 16 ॥

इन बारह धातुओं में 8 √चक्, 9 √कख् अन्यत्र आई हैं तथा यहाँ मित्त्वार्थ अनूदित हैं । शेष 10 नूतन हैं ।

19 √कण्, 20 √रण् गति अर्थ में हैं । अर्थ अस्पष्ट है । ये दोनों पहले शब्दार्थों में आ चुकी हैं । गति में मित्त्वार्थ अनुवाद किया है । रराण; रेणतुः; अराणीत्, अरणीत् इत्यादि ।

21 √चण्, 22 √शण्, 23 √श्रण् देना तथा 'च' से गति अर्थ में सकर्मक हैं । इनमें से तीसरी धातु √श्रण् चुरादि में भी है, पर **नान्ये मितोऽहेतौ** से निषिद्ध होने से उसका मित्त्वार्थ अनुवाद नहीं है । भट्टमल्ल ने (आ० चं० 2.2.11, श्लोक 59-60 में) शुद्ध √श्रण् के अतिरिक्त स्वार्थे णिजन्त विश्राणयति को पृथक् प्रदर्शित किया है । **विश्राणनाच्चान्य-पयस्विनीनाम्** (रघु० 2.54) में कालिदास ने चौरादिक √श्रण् का प्रयोग किया है । अर्थतः भी यहाँ स्वार्थे णिच् है । कुछ लोग √शण् को गति में ही मानते हैं । आचार्य क्षीरस्वामी ने केवल √चण्, √श्रण् ही दी हैं । चणक =चना तथा चणप् प्रत्यय फूलने-फैलने की विशेषता से √चण् से निष्पन्न है ।

24 √श्रथ्, 25 √श्लथ्, 26 √क्रथ्, 27 √क्लथ् हिंसा अर्थ में सकर्मक हैं । √श्रथ् ढीला करना, शिथिल करना अर्थ में है । अन्यों का हिंसा-विशेष अर्थ स्पष्ट नहीं है । √श्लथ् एवं √क्लथ् रेफवान् √श्रथ्, √क्रथ् के ही रूपान्तर हैं ।

मित् होने पर भी **जासि-निप्रहण-नाट-क्राथ-पिषां हिंसायाम्** (2.3.56) में 'क्राथ' में वृद्धि-निपातन से इस में वृद्धि होती है : क्राथयति । मित्संज्ञा तो निपातन से

---

1. का० 2.3.56 में यह धातु 'क्नथ' उद्धृत है । ग० बा०पल्सुले ने ए कंकार्डेंस् आफ संस्कृत धातुपाठज, पृष्ठ 23, टि० 125, में √क्नथ् को पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्याताओं द्वारा अपठित बताया है । जैनेंद्र, काशकृत्स्न, कातन्त्र, शाकटायन आदि पाणिनीतर धातुपाठकारों द्वारा √क्नथ धातुपाठ में परिगणित बताई है । √क्रथ् और √क्लथ् के साहचर्य को देखते हुए तो यहाँ √श्रथ् के बाद √श्लथ् ही उचित प्रतीत होती है ।

निप्रहण०' (2.3.56) इति सूत्रे 'क्राथ' इति मित्त्वेऽपि वृद्धिर्निपात्यते—क्राथयति। मित्त्वं तु निपातनात् परत्वाच् 'चिण्-णमुलोर्०' (6.4.93) इति दीर्घे

'जासि-निप्रहण०' (2.3.56) सूत्र में 'क्राथ' इस प्रकार वृद्धि मित् संज्ञा होने पर भी निपातित है—क्राथयति। मित् संज्ञा तो निपातन की अपेक्षा पर होने के कारण 'चिण्-णमुलोः०' (6.4.93) सूत्र से विहित दीर्घ में चरितार्थ हो जाती है—अक्रथि,

---

पर होने से **चिण्-णमुलोदीर्घोऽन्यतरस्याम्** से दीर्घ में चरितार्थ हो जाती है। अक्रथि, अक्राथि। क्राथं-क्राथम्, क्रथं-क्रथम्।

जासि-निप्रहण० सूत्रोक्त 'क्राथ' ऐसी कोई धातु धातुपाठ में नहीं है। अतः यह √क्रथ् का ण्यन्तनिर्देश है, इस पर सब आचार्य एकमत हैं। पर धातुपाठ में √क्रथ् के पाठ के विषय में दो मत हैं : (1) √क्रथ् केवल एक है, एवम् घटादि में है। (2) घटादि के अतिरिक्त चुरादिगण में युजादियों में भी √क्रथ् है। अर्थ दोनों ही गणों में समान है।

(1) प्रथम मत के उपस्थापक हैं काशिकाकार आचार्य जयादित्य। उन्होंने लिखा है : **वृषलस्य क्राथयति। अयं हि घटादौ पठ्यते 'श्रथ्, क्लथ, क्रथ, क्लथ हिंसार्थाः' इति। तत्र 'घटादयो मितः' इति मित्संज्ञायां 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वं स्यात्** (का० 2.3.56)। अब प्रश्न आता है कि यदि निपातन से वृद्धि करनी है, तब यहाँ मित् करने का क्या प्रयोजन हुआ ? इसका उत्तर दिया है काशिका को प्रमाण मान कर चलने वाले अन्य आचार्यों ने। आचार्य माधव तथा उनके ही अनुकरण में श्रीदीक्षित जी **चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्** से दीर्घ-विकल्प को मित् का प्रयोजन मानते हैं। उनका आशय यह है कि निपातन से **मितां ह्रस्वः** का बाध हो जाता है। तब, एक तो **चिण्-णमुलोर्दीर्घः०** सूत्र निपातन-सूत्र से पर है, दूसरे, ह्रस्व के भी बाधित होने पर मित् व्यर्थ हो जाता है, जबकि निपातन सावकाश हो जाता है। अतः मित्त्व **पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान्** (प० 60) न्याय से दीर्घ-विकल्प में चरितार्थ होता है।

आचार्य चंद्रगोमी तथा दुर्ग ने इसका समाधान एक और तरीके से किया है। इनके अनुसार √क्रथ्, घटादि ही है। पर **क्रथनं क्राथः। क्राथं करोति=क्राथयति**[1] इस प्रकार घञन्त **'क्राथ'** नाम से **तत्करोति तदाचष्टे** से स्वार्थे णिच् में √क्राथि धातु बनती है।

(2) दूसरा मत है आचार्य क्षीरस्वामी, देव, मैत्रेयरक्षित तथा शाकटायन का।

---

1. चान्द्र व्याकरण 2.1.95 : **षष्ठी सम्बन्धे।**

इस मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में 'क्राथ' रूप चौरादिक √क्रथ् का है। अतः घटादि √क्रथ् में **मितां ह्रस्वः** तथा दीर्घ-विकल्प-सूत्र अव्याहत हो कर प्रवृत्त होंगे। इनमें मत-भेद केवल इतना ही है कि (i) चौरादिक को क्षीरस्वामी उदात्तेत्, अतः परस्मैपदी, मानते हैं, (ii) देव और मैत्रेय स्वरितेत्, अतः उभय-पदी एवं (iii) शाकटायन आत्मनेपदी मानते हैं।

इस सूत्र पर आचार्य नागेश भट्ट ने **'परे तु'** कह कर कहा है कि प्रस्तुत सूत्र से षष्ठी कर्मकारक जब शेषत्वेन विवक्षित हो, तभी होती है। फलतः निपातनाद् वृद्धि भी ऐसे ही क्षेत्र में न्यायोचित होगी। **जासि-निप्रहण०** सूत्र से सूचित होता है कि षष्ठी विभक्ति वहीं होंगी, जहाँ धातु का स्वरूप 'क्राथ' होगा। पर जब कर्म में कर्मत्वेन ही षष्ठी होगी, शेषत्वेन नहीं, तब वहाँ निपातन के बल से प्राप्त वृद्धि उसका विषय न होने से प्राप्त नहीं होगी। फलतः, **'शेषे'** की अनुवृत्ति से रहित **कर्तृ-कर्मणोः कृति** (2.3.65) से षष्ठी जहाँ होती है, वहाँ ह्रस्व ही उचित है : **चोरस्योत्क्रथनम्।**

शंका : जासि-निप्रहण० सूत्र में 'क्राथ' सामान्य निर्देश है, शेष-षष्ठी-सन्नियोग-शिष्ट नहीं; अतः णिच् जब भी होगा, तब 'क्राथ' ही रूप होगा।

उत्तर : ऐसी स्थिति में यह निर्देश **चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्** से प्राप्त दीर्घ-विकल्प को बाध लेगा, तब इस धातु को मित् करने का क्या प्रयोजन रहेगा ? 'क्राथ' को इस प्रकार निपातित मानने के पक्ष में दो बातों की कल्पना करनी पड़ेगी—(1) वृद्धि की, (2) निपातन से प्राप्त वृद्धि का चिण्-णमुल्-परक णिच् में निषेध करके दीर्घ-विकल्प करने की। अतः इस पक्ष में प्रक्रिया-गौरव होगा। परों के पक्ष में √क्रथ् को चौरादिक मानने से ही काम चल जायेगा। साहचर्य-प्रमाण से भी चौरादिक 'नाट्' के साथ चौरादिक √क्राथ् का ग्रहण ही उचित है।

धातु-सूत्र के पाठ पर विचार : क्षी० त० और मा० धा० वृ० में यहाँ तीन धातु पठित हैं : **श्रथ, क्रथ, क्लथ हिंसार्थाः।** सि० कौ० के कुछ संस्करणों में **श्रथ** के बाद **श्लथ** अतिरिक्त मिलती है; बा० म० में यह **क्नथ्** बताई है : **द्वितीयो नकारमध्यः। आद्यस्तु शकारादिः। इतरे ककारादयः।** काशिका (2.3.56) में भी **श्रथ, क्नथ, क्रथ, क्लथ हिंसार्थाः** ही उद्धृत है। पल्सुले के अनुसार पाणिनीयेतर सम्प्रदायों में काशकृत्स्न, जैनेन्द्र, शाकटायन, हेमचन्द्र और बोपदेव ने यह दी है। बोतलिंक ने पाणिनीय धातु-पाठ में भी इसे माना है। पल्सुले के अनुसार √श्लथ् क्षीरस्वामी और मैत्रेय ने दी है। पर यु० मी० के संस्करण में तो यह नहीं है। लगता है कि √क्रथ के √क्लथ् रूपान्तर की स्वीकृति के अनुकरण पर √श्रथ् का √श्लथ् रूपान्तर भी धातु-पाठ में संमिलित कर लिया गया है।

काशकृत्स्न धातुपाठ में यहाँ √श्रथ् के स्थान पर √श्लथ् मिलती है। किन्तु

चरितार्थम्—अक्रथि, अक्राथि; क्रथं-क्रथम्, क्राथङ्क्राथम् । 28 वन च ॥ 17 ॥ 'हिंसायाम्' इति शेषः । 29 वनु च नोच्यते ॥ 18 ॥ 'वनु' इत्यपूर्व एवायं धातुः, न तु तानादिकस्यानुवादः, उदित्करण-सामर्थ्यात् । तेन क्रिया-सामान्ये 'वनति' इत्यादि । प्रवनयति । अनुपसृष्टस्य तु मित्त्व-विकल्पो वक्ष्यते ।

अक्राथि ; क्रथं-क्रथम्, क्राथङ्क्राथम् । 28 √वन् (अदित्) भी है । 18 ॥ 'हिंसा अर्थ में', यह कहना अपेक्षित है । 29 √ वन् (उदित्) भी नहीं कही जाती है ॥ 18 ॥ √वन् (उदित्) नई ही धातु है, न कि तनादि गण में पठित को पुनः कहा गया है, क्योंकि इसे उदित् किया गया है । इस लिये (अर्थविशेष उक्त न होने से) 'सामान्य क्रिया करना' अर्थ में 'वनति' इत्यादि रूप चलते है । प्रवनयति । उपसर्ग-रहित √वन् की मित्संज्ञा विकल्प से होती है, यह आगे बताया जायेगा ।

पल्सुले ने इसे अपने कंकार्डेंस् में नहीं दिया है । प्रयोगों में यह (1) भौवादिक तथा (2) मित् के रूप में मिलता है : (1) **दिवा-नक्तं इनथिता वैतसेन** (ऋ० 10.95.4), **शिश्नं इनथतेः** (निरुक्त 4.19); निघण्टु (2.19) में वधार्थ में 'इनथति' समाम्नात है; (2) **त्रिः स्म माऽह्नः इनथयो वैतसेन** (ऋ० 10.95.5) । अतः यह धातु संस्कृत धातु-पाठ में होनी अवश्य चाहिये ।

28 √**वन्** भी हिंसा अर्थ में ही है । यह अन्यत्र शब्द (13.19) और सम्भक्ति (13.20) अर्थों में परस्मैपदी ही आ चुकी है । **सम्भक्तौ वनति ध्वनौ** (आ० चं० 3.3 60) । यहाँ हिंसा अर्थ में मित् संज्ञा करने के लिये अनुवाद किया है । आचार्य क्षीर-स्वामी तथा माधव क्रमशः **चनु च** तथा **चन च** पाठ मानते हैं । वनति; वनयति । चनति; चनयति इत्यादि ।

29 √**वन्** भी नहीं कहा गया है । आचार्य क्षीरस्वामी ने इसे **कगे** की तरह क्रिया-सामान्य-वाची माना है । आचार्य काशकृत्स्न का पाठ **चनु वनु स्मरणे** है । बहुत संभव है कि श्रीदीक्षितजी की पूर्व धातु (**वन च**) का वकारादि पाठ लेखक-प्रमाद से सम्पन्न हुआ हो । दोनों धातुवृत्तियों तथा काशकृत्स्न के पाठ से **'चनु'** (चकारादि तथा उदित्) पाठ ही प्रामाणिक लगता है । माधव का भी अदित् पाठ भ्रष्ट लगता है ।

तनादियों में **वनु याचने** है । प्रस्तुत धातु यदि उसका मित्त्वार्थ अनुवाद हुई होती, तो इसे उदित् न दिया होता । क्योंकि उदित् होने से **उदितो वा** से क्त्वा में इड्विकल्प तथा निष्ठा में **यस्य विभाषा** से इण्-निषेध तानादिक को ही हो जाते । अतः उदित्सामर्थ्य सेयहाँ परस्मैपद में रूप चलेंगे । आगे कुछेक धातुओं की अनुपसृष्ट अवस्था में मित्संज्ञा का विकल्प किया गया है । उन्हीं में **ग्ला-स्ना-वनु-वमां च** (21.34) गणसूत्र से √वन् की भी अनुपसृष्ट अवस्था में मित्संज्ञा विकल्प से की है । आचार्य माधव ने यहाँ पाठ से

30 ज्वल दीप्तौ ॥ 19 ॥ 'ण'-प्रत्ययार्थं पठिष्यमाण एवायं मित्त्वार्थमनूद्यते । प्रज्वलयति । 31 ह्वल, 32 ह्मल चलने ॥ 20 ॥ प्रह्वलयति, प्रह्मलयति ॥ 72 ॥

33 स्मृ आध्याने ॥ 21 ॥ चिन्तायां पठिष्यमाणस्याध्याने मित्त्वार्थोऽ-

30 √ज्वल् जलने में है ॥ 19 ॥ 'ण' प्रत्यय के लिये आगे दी जाने वाली का ही यह मित् संज्ञा के लिये पुनः कथन है । प्रज्वलयति । 31 √ह्वल्, 32 √ह्मल् चलन (हिलना) अर्थ में (मित्) हैं ॥ 20 ॥ प्रह्वलयति, प्रह्मलयति ॥ 72 ॥

वर्ग 21 : ख. अर्थ-विशेष में मित्त्वार्थ अनूदित पाँच अजंत धातु

33 √स्मृ आध्यान अर्थ में है ॥ 21 ॥ चिन्तन करने में आगे दी जाने वाली को आध्यान अर्थ में मित्संज्ञा के लिये पुनः दिया गया है । आध्यान माने उत्कण्ठा के

उपलब्ध नित्य मित्संज्ञा सोपसर्ग की ही मानी है । वनति; ववान, ववनतुः—**न-शस-दद-वादि-गुणानाम्** । अवानीत्, अवनीत् । वनयति, वानयति । संवनयति । वनित्वा । वनम् । तानादिक शब्द-सम्भक्त्यर्थक √वन् का वानयति ।

30 √**ज्वल्** जलना अर्थ में अकर्मक है । घटादिगण से बाहर ज्वलादिगण में भी **ज्वल दीप्तौ** (24.6) धातु **ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः** (3.1.140) से ण-प्रत्ययार्थ ही दी है । यहाँ मित्त्वार्थ उसीका अनुवाद किया गया है । **ज्वल-ह्वल-ह्मल-नमामनुपसर्गाद् वा** (धातुसूत्र 21.33) से यह अनुपसृष्ट अवस्था में वा मित् है । सोपसर्ग धातु नित्य मित् है । अनुपसृष्ट ज्वलादियों से **ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः** (3.1.140) से वा ण होता है । णित् होने से प्राप्त नित्य वृद्धि को बाध कर ह्रस्व होता है : ज्वालः, ज्वलः । ज्वलति; जज्वाल; अज्वालीत्—**अतो ह्लान्तस्य** से वृद्धि । ज्वलयति, ज्वालयति; किंतु प्रज्वलयति ।

31 **ह्वल्**, 32 √**ह्मल्** चलना, हिलना-डुलना अर्थ में अकर्मक हैं । ह्वलति; ह्मलति; अह्वालीत्, अह्वलीत्; विह्वलयति; ह्वलयति, ह्वालयति; विह्वलः । यहाँ मानस डोलाव अर्थ अभिप्रेत है ।

इन 14 धातुओं में से 4 (19-20, 28 तथा 30वीं) धातु अन्यत्र पठितों का मित्त्वार्थ अनुवाद हैं ॥ 72 ॥

संदर्भ : तिहत्तरवें अनुच्छेद में अर्थ-विशेष में मित्त्वार्थ अनूदित पाँच स्वरांत धातु दी गई हैं ।

33 √**स्मृ** धातु उत्कंठापूर्वक याद करना अर्थ में सकर्मक तथा अनिट् है । इसके कर्म में **अधीगर्थ-दयेशां कर्मणि** (2.3.52) से षष्ठी होती है : **मातुः स्मरयति** । यह आगे दी जाने वाली **स्मृ चिन्तायाम्** (29.32) का ही मित्त्वार्थ अनुवाद है ।

नुवादः । आध्यानम्=उत्कण्ठा-पूर्वकं स्मरणम् । 34 दृ भये ॥ 22 ॥ (1) 'दृ विदारण' इति क्र्यादेरयं मित्त्वार्थोऽनुवादः—दृणन्तं प्रेरयति=दरयति; भयादन्यत्र दारयति । (2) 'धात्वन्तरमेवेदम्' इति मते तु 'दरति' इत्यादि । केचिद् (1) घटादौ, (2) 'अत् स्मृ-दृ-त्वर-०' (7.4.95) इति सूत्रे च 'दृ' इति

साथ याद करना है । 34 √दृ डरने में है ॥ 22 ॥ (1) '√दृ चीरने में है', इस प्रकार क्र्यादि गण वाली का यह मित्संज्ञा के लिये पुनः कथन है—डराता है=दरयति; डर से अन्य अर्थ में दारयति । (2) 'यह उससे भिन्न धातु ही है', इस मत में तो 'दरति' इत्यादि होता है । कुछ लोग (1) घटादि गण में, तथा (2) अत् स्मृ-दृ-त्वर०' (7.4.95) सूत्र में 'दृ' इस दीर्घ के स्थान में ह्रस्व मानते हैं । माधव का कहना है कि

---

34 √दृ डरना अर्थ में अकर्मक तथा अनिट् है । यह धातु **दृ विदारणे** (क्र्या०) का मित्त्वार्थ अनुवाद है । अतः शप् में इसके रूप नहीं चलेंगे; भय अर्थ में भी 'श्ना' ही होगा । यहाँ पाठ के कारण शप् नहीं । 'दरयति' डराता है । भय से अन्य अर्थ में दारयति चीरता, फाड़ता है । दरः भय, डर । क्र्यादिक से दरः दरवाजा, छिद्र, दर्रा ।

34 √दृ की स्थिति के बारे में आचार्यों में चार मत हैं : (क) आचार्य मैत्रेय, माधव तथा दीक्षितजी इसे क्र्यादिक का मित्त्वार्थ अनुवाद ही मानते हैं । (ख) आचार्य देव, धनपाल, पूर्णचन्द्र तथा क्षीरस्वामी इसे स्वतंत्र धातु मानते हैं, अनुवाद नहीं । (ग) आभरणकार घटादिगत को ह्रस्वांत मानते हैं । वे **अत् स्मृ-दृ-त्वर-प्रथ-म्रद-स्तृ-स्पृशाम्** (7.4.95) में भी ह्रस्वांत 'दृ' पाठ ही मानते हैं । इनके मत में क्र्यादिक दीर्घांत ही है । (घ) पञ्चिकाकार दिवादि में भी दीर्घांत को मानते हैं ।

आचार्य माधव ने प्रथम तीन मतों का अनुवाद करके तीसरे का खंडन किया है । उनका कहना है कि उपर्युक्त सूत्र का घटादियों में दीर्घांत पाठ ही न्याय्य तथा संप्रदाय-प्राप्त है । ह्रस्वांत पाठ मानने पर **शृ-दृ-प्रां ह्रस्वो वा** (7.4.12) से क्र्यादिक √दृ को ह्रस्व करना ही व्यर्थ हो जायेगा । क्योंकि धातुओं के अनेकार्थक होने से इसी (विदारण) अर्थ में घाटादिक ह्रस्वांत का यण् में 'दद्रतुः, तथा विदारणार्थक का **ऋच्छत्यृताम्** से गुण होने पर 'ददरतुः' रूप बन जायेंगे । इसी प्रकार क्र्यादिक **शॄ हिंसायाम्** का 'शशरतुः' तथा **श्रा पाके** का 'शश्रतुः', ये दो रूप बनेंगे ही । तब √शॄ को ह्रस्व-विधान भी व्यर्थ ही है । ह्रस्व-विधान-सामर्थ्य से प्रतीत होता है कि सूत्रकार को ह्रस्वांत √दृ धातु मान्य नहीं है ।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से प्रस्तुत भौवादिक धातु स्वतंत्र ही है । प्रांतीय भाषाओं में प्राप्त डर, डरना, डराना, डरता है, डराता है आदि में प्राप्त √डर् धातु संस्कृत दरः, दरणम्, दरति, दरयति आदि में प्राप्त 'दर' अंग के निकटतर है, न

दीर्घ-स्थाने ह्रस्वं पठन्ति। तन्न, इति माधवः। 35 नॄ नये ॥ 23 ॥ क्र्यादिषु पठिष्यमाणस्यानुवादः। नयादन्यत्र नारयति।

36 √श्रा पाके ॥ 24 ॥ (1) 'श्रै' इति कृतात्त्वस्य, (2) 'श्रा' इत्यादादिकस्य च सामान्येनानुकरणम् (1)'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य' (प० 91), (2) 'लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' (प० 114) इति परिभाषाभ्याम्। श्रपयति, 'विक्लेदयति' इत्यर्थः। पाकादन्यत्र श्रापयति, ऐसा नहीं है। 35 √नॄ ले जाने में है ॥ 23 ॥ आगे √क्री आदियों में दी जाने वाली को पुनः कहा गया है। ले जाने से भिन्न अर्थ में 'नारयति' होता है।

36 √श्रा पकना अर्थ में है ॥ 24 ॥ (1) 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य ग्रहणम्' (प० 91) से 'आ' आदेश की हुई √श्रै का और (2) 'लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' (प० 144) से अदादि गण की √श्रा का समान रूप से ग्रहण होता है। श्रपयति, अर्थात् पकाता है। 'पकना' अर्थ से भिन्न अर्थ में 'श्राप-

---

कि 'दृणाति' के। दरति; ददार, दद्रतुः, ददरतुः; दरिता, दरीता; अदारीत्। दरयति; अदीदरत्। अदरि, अदारि। दरं-दरम्, दारं-दारम्। क्र्यादिक का दारयति। दारं-दारम्। अदारि। दरद् (दर्दिस्तान, **रोमक-देशः**—क्षीरस्वामी)।

35 √नॄ ले जाना, ढोना अर्थ में संकर्मक, सेट् है। क्र्यादिगण में **नॄ नये** दिया है। इससे दो परिणाम निकल सकते हैं : (क) 'नय' अर्थ में मित् करने से क्र्यादिक का 'नय' अर्थ विवक्षित नहीं है। उसका प्रयोग 'नय' से भिन्न अर्थ में मानना चाहिए। और यह धातु क्र्यादिक का मित्त्वार्थ अनुवाद है। नय अर्थ में नृणन्तं प्रयुङ्क्ते = नरयति। नय-भिन्न अर्थ में नारयति। (ख) एक ही अर्थ में घटादियों में मित् तथा क्र्यादियों में अमित्, इस प्रकार मित्त्व तथा अमित्त्व के प्रयोजन से अन्यनिरपेक्ष स्वतंत्र धातु अभिप्रेत हैं। फलतः भौवादिकका नरति; ननार, ननरतुः—**ऋच्छत्यृताम्** अनारीत्। नरयति; अनीनरत्। अनारि, अनरि। नरन्नरम्, नारंनारम् इत्यादि। क्र्यादिक का नृणाति; नारयति; अनारि; नारन्नारम्। पर 'नरति' इत्यादि के प्रयोग में प्राप्त न होने से आचार्यों को यह धातु अनुवादरूप में ही अभिप्रेत है। प्रादेशिक भाषाओं हरियाणवी तथा गुजराती में 'बैल' अर्थ में प्रयुक्त 'नारा' (बैल, बोझ ढोने में समर्थ) शब्द इसी धातु से निष्पन्न हो सकता है।

36 √**श्रा** पकना, आग पर गलना, सीजना[1] अर्थ में (अकर्मक) अनिट्

---

1. का० 6.1.27 : **श्रातिरयमकर्मकः कर्म-कर्तृ-विषयस्य पचेरर्थे वर्तते। स ण्यन्तोऽपि प्राकृतं पच्यर्थमाह।** प्रदीप भी देखें।

'स्वेदयति' इत्यर्थः। 37 मारण-तोषणनिशामनेषु ज्ञा ॥ 25 ॥ निशामनं= (1) 'चाक्षुष-ज्ञानम्' 'इति माधवः; (2) 'ज्ञापन-मात्रम्' इत्यन्ये। 'निशानेषु'

यति', अर्थात् भँफाता है। 37 मारना, तुष्ट करना और निशामन अर्थों में √ज्ञा (मित्) है ॥ 25 ॥ 'निशामन' माने (1) 'आँख से होने वाला ज्ञान है', यह माधव कहते हैं; (2) 'जतलाना (प्रतीति कराना मात्र) है', यह अन्य लोग कहते हैं। (3) '...

मित् है। आगे भ्वादि गण में **श्रै पाके** (29.18), तथा अदादिगण में **श्रा पाके** ये दो धातु दी हैं। कुछ आचार्य चुरादि गण में भी **'श्रा पाके'** मानते हैं।[1]

धातुओं के अनेकार्थक होने से 'पाक' अर्थ उपदिष्ट होने पर भी मुहावरेदार भाषा में 'घर्मः श्रापयति' (धूप पका डाल रही है) आदि पाक-भिन्न अर्थों में उनका प्रयोग हो सकता है। यहाँ पाठ से केवल पाक (गलना, पकना) अर्थ में यह मित् संज्ञा के लिए दी है। रूप-सामान्य से आदादिक का तो यह अनुवाद है ही। इसके अतिरिक्त णिच् आदि अशित् प्रत्ययों में **आदेच उपदेशेऽशिति** से भौवादिक भी 'श्रा' ही बन जाता है। यदि उसे मित् न माना जाये, तो अनुवाद ही व्यर्थ होगा। क्योंकि आदादिक का 'श्रपयति' तथा भौवादिक का 'श्रापयति' इन दो रूपों का विकल्प पाक अर्थ में ही हो जायेगा। इसके अतिक्ति, **लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य** (प० 91) से भौवादिक का ग्रहण तथा **लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव** (प० 114) से आदादिक का ग्रहण मानना उचित है। अतः प्रस्तुत 'श्रा' पाठ आकार आदेश किये हुए भौवादिक 'श्रै' का तथा 'श्रा' इस आदादिक का सामान्य के कारण अनुकरण है। चुरादि में √श्रा मानने पर उसका ग्रहण भी इससे होता है। श्रायन्तं, श्रान्तं वा प्रेरयति=श्रपयति (√श्रा से हेतुमण्णिच्) पकाता है, गलाता है, सिझाता है। √श्रा से स्वार्थे णिच में भी श्रपयति पकता है, गलता है। पाक से भिन्न अर्थ में √श्रा से णिच् में श्रापयति, क्षीरस्वामी के अनुसार स्विन्न पसीने-पसीने करता है।[2]

37 √**ज्ञा** धातु मारना, राजी करना तथा देखना अर्थों में कैयादिक (सकर्मक, अनिट्) मित् है।

---

1. न्या० 6.1.27, पृष्ठ 482 : **'श्रा पाके' इति···केश्चिच्चुरादावपि**। पृष्ठ 483 : **येषां श्रातिश्चुरादावपि पठ्यत इत्यभ्युपगमः**। तथा प० म०। म० भा० (6.1.27) में हेतुमण्णिज्भिन्न √श्रपि से 'श्रृत' सिद्ध किया है : **श्रपेः श्रृतमन्यत्र हेतोः** (वा० 2)। हेतु से अन्यत्र √श्रपि चुरादि में पाठ से ही संभव है। अतः वार्तिककार तथा पतंजलि को यह धातु चुरादि गण में इष्ट है, यह सिद्ध होता है।
2. क्षी० त० के यु० मी० सं० में 'स्वेदयति' के स्थान में 'खेदयति' प्रूफ की भूल है। मा० धा० वृ० में सही पाठ है।

इति पाठान्तरम् । निशानं=तीक्ष्णी-करणम् । एष्वेवार्थेषु जानातिर्मित् । 'ज्ञप मिच्च' इति चुरादौ । ज्ञापनं, मारणादिकं च तस्यार्थः । कथं 'विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति' इति, 'तज्ज्ञापयत्याचार्यः' (म० भा०) इति च ? शृणु—(1) माधव-मते अचाक्षुष-ज्ञाने मित्त्वाभावात्; (2) 'ज्ञापन-मात्रे मित्त्वम्' इति मते तु 'ज्ञा नियोगे' इति चौरादिकस्य, धातूनामनेकार्थत्वात्; (3) 'निशानेषु' इति पठतां हरदत्तादीनां मते तु न काऽप्यनुपपत्तिः ॥ 73 ॥

निशान अर्थों में', यह पाठभेद है। 'निशान' माने तीखा करना है। √ज्ञा इन्हीं अर्थों में मित् होती है। '√ज्ञप् मित् भी है', यह चुरादिगण में कहा है; प्रतीति कराना और मारना आदि उसके अर्थ हैं। 'विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति' और 'तज्ज्ञापयति आचार्यः' (म०भा० 2.2.19) प्रयोग कैसे ? सुनो—(1) क्योंकि माधव के मत में 'नेत्रेन्द्रिय से इतर करण के द्वारा होने वाला ज्ञान' अर्थ में मित्संज्ञा नहीं होती; (2) 'प्रतीत करना मात्र अर्थ होने पर मित् संज्ञा होती है', इस मत में तो ये रूप चुरादि गण में पठित नियोगार्थक √ज्ञा के हैं, क्योंकि धातु अनेकार्थक होती हैं; (3) '...निशानेषु' पाठ मानने वाले हरदत्त आदियों के मत में तो कोई अनौचित्य नहीं है ॥ 73 ॥

नि'-पूर्वक **शम आलोचने** (चु०) से निष्पन्न 'निशामन' का अर्थ (1) माधव **श्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च** (3.2.60) में 'आलोचन' से अभिप्रेत 'आँख से होने वाला ज्ञान', अर्थात् 'देखना', लेते हैं। 'अदर्शन' अर्थ में √शम् मित् है।[1] धातु-पाठ में 'निशामन' ऐसा वृद्धिमान् पाठ 'दर्शन' अर्थ में ही उपपन्न हो सकता है। (2) अन्य आचार्य ज्ञान कराना, जतलाना अर्थ मानते हैं। (3) क्षीरस्वामी तथा हरदत्त आदि आचार्य 'निशामनेषु' के स्थान पर 'निशानेषु' पाठ मानने हैं। निशान यानी पनाना, पैना करना, तेज करना, धार धरना, तीखा करना है।

काशिका (1.4 34) में 'ज्ञीप्स्यमान' शब्द का अर्थ **'ज्ञपयितुमिष्यमाणो, बोधयितुमभिप्रेतः।'** कहा है। 'ज्ञापन' अर्थ मानने वालों के पक्ष में तो यह ठीक है। पर माधव के मत में कैसे ? इस पर उत्तर यह है कि काशिका में 'ज्ञीप्स्यमान' तथा 'ज्ञपयितुम्' शब्द प्रस्तुत √ज्ञा के नहीं, अपितु चौरादिक **ज्ञप मिच्च** के हैं। अवबोधन तथा मारण इत्यादि उसके अर्थ हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि √ज्ञप् धातु पर दीक्षित जी ने **अयं ज्ञाने ज्ञापने च** लिखा है। क्षीरस्वामी ने[2] तो वहाँ (10.75) **ज्ञप**

---

1. आगे धातु-सूत्र 21.66 : **शमो दर्शने ।**
2. क्षी० त०, यु० मी० के संस्करण, में 10.75 पर **'निशामनेषु'** भ्रांत पाठ है, क्योंकि वहाँ उपलब्ध **'प्रज्ञपयति शस्त्रम्'** (हथियार को पैना करता है) उदाहरण से 'निशामन' अर्थ की संगति नहीं होती।

21.38 कम्पने चलिः ॥ 26 ॥ 'चल कम्पने' (24.7) इति ज्वलादिः । चलयति शाखाम् । कम्पनादन्यत्र तु शीलं चालयति (i)'अन्यथा करोति' इत्यर्थः ;

वर्ग 21 : ग : अर्थ-विशेष में मित्त्वार्थ अनूदित हलन्त धातु

21.38 काँपना (हिलना) अर्थ में √चल् (मित्) है ॥ 26 ॥ '√चल् काँपना अर्थ में' (24.7) √ज्वल् आदियों में है। चलयति शाखाम् (डाल हिलाता है) । हिलने से भिन्न अर्थ में तो 'शीलं चालयति' (चरित्र को डिगाता है) अर्थात् (i) और तरह करता

मारण-तोषण-निशानेषु मिच्च दिया है और धातुवृत्तिकार ने ज्ञापन तथा मारणादि अर्थ मैत्रेय के नाम से उद्धृत किये हैं।

इसपर प्रश्न होता है कि बोधनार्थ में यदि √ज्ञप् मित् है, तथा चाक्षुष दर्शन में √ज्ञा, तब **विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति** तथा **तज्ज्ञापयत्याचार्यः** (म० भा० 2.2.19, पृष्ठ 693) इत्यादि प्रयोगों में अवबोध अर्थ में वृद्धि कैसे ? इसका उत्तर यह है कि (1) माधव के मत में तो यहाँ चाक्षुष ज्ञान से भिन्न अर्थ में मित्संज्ञा न होने से **ज्ञा अवबोधने** से ही ये रूप बन सकेंगे। (2) 'ज्ञापन' में मित्संज्ञा होती है, इस मत में **ज्ञा नियोगे** इस चौरादिक के ही धातुओं के अनेकार्थक होने से ये प्रयोग हैं। (3) जो लोग 'निशानेषु' पाठ मानते हैं, उनके मत में तो कुछ भी अनुपपन्न नहीं है।

ये पाँचों धातु अन्यत्र पठितों का मित्त्वार्थ अनुवाद मानी गई हैं ॥ 73 ॥

संदर्भ : पीछे अन्यत्र पठित अर्थ में मित् संज्ञा करके विशिष्ट रूप-रचना करने के लिये स्वरांत धातु दी जा चुकी हैं। प्रकृत प्रघट्ट में अब उसी उद्देश्य से पाणिनि के अनुसार छह तथा भोज के अनुसार पाँच, कुल ग्यारह, हलन्त धातु मित् के रूप में संकलित की गई हैं। पहले स्वरांत धातु दी हैं, अतः उनके बाद अर्धस्वरांत एक (√चल्) दे कर उसके बाद दंत्यस्पर्शांत धातु दी हैं। भोज के धातु-सूत्र में भी पहले अर्ध-स्वरांत, फिर स्पर्शांत धातु मूर्धन्य, दंत्य और ओष्ठ्य स्पर्श वर्णों के क्रम से दी गई हैं।

21.38 √**चल्** हिलना अर्थ में (अकर्मक) मित् है। यहाँ इकार 'यह धातु है', यह बताने को इक् प्रत्यय है, नुम्प्रयोजनक (इत्संज्ञक) इत् नहीं है। आगे इसी गण में ज्वलादियों में **चल कम्पने** (24.7) है। यहाँ उसी को मित्त्वार्थ पुनः दिया गया है। जहाँ केवल काँपना, हिलना अर्थ है, वहाँ तो यह मित् है, पर जहाँ लक्षणा से अर्थांतर (हटना, उलटा करना, चलना आदि) हो, तब यह मित् नहीं होगा। जैसे—चलयति शाखाम् (डाल हिलाता है)। शीलं चालयति (शील को बिगाड़ता है। क्षी० स्वा० : शील को नष्ट करता है। सूत्रं चालयति (कारीगर डोरा डालता है, सूत झाड़ता है) ।

(ii) 'हरति' इत्यर्थः, इति स्वामी। सूत्रं चालयति, 'क्षिपति' इत्यर्थः। 39 छदिरूर्जने ॥ 27 ॥ 'छद अपवारणे' इति चौरादिकस्य स्वार्थे णिजभावे मित्त्वार्थोऽयमनुवादः। अनेकार्थत्वादूर्जेरर्थे वृत्तिः—छदन्तं प्रयुङ्क्ते छदयति='बलवन्तं, प्राणवन्तं वा करोति' इत्यर्थः। अन्यत्र छादयति='अपवारयन्तं प्रयुङ्क्ते', इत्यर्थः; स्वार्थे णिचि तु छादयति=(i) 'बलीभवति, प्राणीभवति, (ii) अपवारयति वा', इत्यर्थः। 40 जिह्वोन्मथने लडिः ॥ 28 ॥ 'लड विलासे' (9.70) इति पठितस्य मित्त्वार्थोऽयमनुवादः। उन्मथनं=क्षोभणम्। 'जिह्वा'-शब्देन (i) षष्ठी-तत्पुरुषः—लडयति जिह्वाम्, (ii) तृतीया-तत्पुरुषो वा—लडयति जिह्वया। (iii) अन्ये तु 'जिह्वा'-शब्देन तद्-व्यापारो लक्ष्यते, समाहार-द्वन्द्वोऽयम्—(क) लडयति शत्रुम्; (ख) लडयति दधि। अन्यत्र लाडयति पुत्रम्।

है; (ii) क्षीरस्वामी ने 'हरण करता है', अर्थ किया है। 'सूत्रं चालयति', अर्थात् (मापने का सूत) झाड़ता है, डालता है। 39 √छद् बलवान् करना अर्थ में (मित्) है ॥ 27 ॥ चुरादि-गण की '√छद् ढँकना' धातु का अपने अर्थ में णिच् न होने पर मित् संज्ञा के लिये यह पुनः कथन किया गया है। धातु अनेकार्थक होती हैं, अतः यह √ऊर्ज् के अर्थ (बल से, प्राण से युक्त होना) में प्रयुक्त होती है—छदन करते हुए को प्रेरित करता है= छदयति, अर्थात् बलवान् या प्राणवान् बनाता है। अन्य अर्थ में छादयति, अर्थात् ढँकवाता है। स्वार्थिक णिच् में तो छादयति, अर्थात् (i) बलवान् होता है, या (ii) ढँकता है। 40 जीभ उलटना (उन्मथन) अर्थ में √लड् मित् है ॥ 28 ॥ यह √लड् विलास अर्थ में (9.70) आ चुकी धातु का मित् संज्ञा के लिये पुनः कथन किया गया है। उन्मथन माने क्षुब्ध करना है। 'जिह्वा' शब्द के साथ (i) षष्ठी-तत्पुरुष समास है—जीभ लड़ाता है (जीभ का उन्मथन करता है); या (ii) तृतीया-तत्पुरुष है—जीभ से लड़ाता है (उन्मथन करता है)। (iii) और लोग तो मानते हैं कि 'जिह्वा' शब्द से उसकी क्रिया लक्षित होती है तथा यह समाहारद्वन्द्व समास है—(क) शत्रु को ललका-

---

39 √छद् √ऊर्ज् के अर्थ बलवान् होना, तथा प्राणवान् होना, ऊर्जस्वी बनना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) मित् है। चुरादिगण में युजादियों में **छद अपवारणे** है। उसमें **आ घृषाद्वा** गण-सूत्र से णिच् विकल्प से होता है। णिजभाव-पक्ष में हेतु-भिन्न णिच् न होने से **नान्ये मितोऽहेतौ** नियम लागू नहीं होता। अतः इस पक्ष में यह मित् हो सकेगी। धातुओं के अनेकार्थक होने से यह अपवारण अर्थ को छोड़ कर √ऊर्ज् के अर्थ में प्रयुक्त होगी। छदन्तं प्रयुङ्क्ते छदयति (ऊर्जित या बलवान् करता है)। ऊर्जन से भिन्न अर्थ में छादयन्तं प्रयुङ्क्ते छादयति (अपवारण करते को प्रेरणा देता है)। चौरादिक णिच् में तो छादयति (अपवारण करता है)।

40 √लड् जीभ चलाना (अकर्मक) या जीभ से हिलाना (आचार्य माधव के

41 मदी हर्ष-ग्लेपनयोः ॥ 29 ॥ ग्लेपनं=दैन्यम् । दैवादिकस्य मित्त्वार्थोऽयमनुवादः । मदयति=(i) 'हर्षयति, (ii)ग्लेपयति' वेत्यर्थः । अन्यत्र मादयति='चित्त-विकारमुत्पादयति', इत्यर्थः । 42 ध्वन शब्दे ॥ 30 ॥

रता है (शत्रु के प्रति जिह्वाव्यापार करता है); (ख) दही विलोता (उन्मथन करता है)। अन्य (विलास) अर्थ में बेटे को लडाता है (लाड करता है)।

41 √मद् (ईदित्) धातु खुश होने और ग्लेपन अर्थों में (मित्) है ॥ 29 ॥ ग्लेपन माने दीनता (दीन होना) है। यह दिवादिगण की धातु को मित् करने के लिये अनुवाद किया गया है। मदयति—अर्थात् (i) खुश करता है, या (ii) ग्लानियुक्त करता है। अन्य अर्थ में मादयति—अर्थात् मन में विकार (नशा, पागलपन) उत्पन्न करता है। 42 √ध्वन् आवाज़ करना (बजना अर्थ में मित्) है ॥ 30 ॥ आगें

अनुसार जतलाना, ज्ञापन) अर्थ में (सकर्मक, सेट्) मित् है। आचार्य मैत्रेय तथा गुप्त आदि आचार्य **'जिह्वया उन्मथनम्'** विग्रह मान कर **'लडयति जिह्वया'** उदाहरण देते हैं। ये दोनों ही उदाहरण जिह्वा के धातु के अर्थ के अंतर्गत होने से जिह्वा को धातु का कर्म या करण बनना उचित न होने से अनुपयुक्त हैं। आचार्य क्षीरस्वामी, **जिह्वोन्मथनयोर्लडिः** पाठ तथा **जिह्वा च उन्मथनं च** विग्रह करके द्वंद्व मानते हैं। इस पक्ष में **गडि वदनैकदेशे** के समान जिह्वाक्रिया तथा उन्मथन (हिलना, डुलना) अर्थ हैं। इस पक्ष में भी **'गण्डति वदनैकदेशम्'** प्रयोग जैसे नहीं बनता, वैसे ही **'लडयति जिह्वाम्'** उदाहरण अनुचित है। अतः जिह्वा या जिह्वा-व्यापार का अर्थ ललकारना, जबान लड़ाना, मुँह लगाना होना चाहिए : लडयति शत्रुम्। 'उन्मथन' अर्थ का उदाहरण दीक्षितजी ने **लडयति दधि** (दही मथता है) दिया है। लाड प्यार करना, लाड लडाना अर्थ में मित्संज्ञा नहीं होती : लाडयति पुत्रम् (पुत्र को लडाता) है। लडयति पुत्रेण, पुत्रं वा (पुत्र से जबान लड़ाता है, पुत्र को मुँह लगाता है)। यह धातु पहले (9.70) विलास अर्थ में आ चुकी है। उसी का अर्थविशेष में मित्त्वार्थ अनुवाद है : पुत्रो लडति, पिता तं प्रेरयति=लडयति पुत्रम्। विलास में : लाडयति पुत्रम्।

41 √मद् खुश होना, तथा उदास, दीन होना अर्थ में (अकर्मक) सेट् मित् है। यह **मदी हर्षे** (दैवादिक) का ही मित्त्वार्थ अनुवाद है। माद्यन्तं प्रेरयति इति मदयति (खुश अथवा ना-खुश करता है)। दैवादिक हर्ष का अर्थ मस्त करना, नशा लाना है। उस अर्थ में 'मादयति इति मदिरा' यानी चित्तविकार पैदा करती है, अतः मदिरा=शराब। मदयति मधु (शहद प्रसन्न कर देता है, तबियत तर कर देता है), मादयति मधु (मद्य नशा करता है)। मदयति सुरा मात्रया, मादयति चामात्रया (मात्रा में ली हुइ मदिरा हर्ष करती है, मात्रा से बाहर ली हुई नशा करती है)।

42 √**ध्वन्** बजना, आवाज़ होना अर्थ में (अकर्मक) मित् है। फणादियों के

भाव्ययं मित्त्वार्थमनूद्यते । ध्वनयति घण्टाम् । अन्यत्र ध्वानयति='अस्पष्टाक्षर-मुच्चारयति', इत्यर्थः ।

अत्र भोजः '1 दलि-2 वलि-3 स्खलि-4 रणि-5 ध्वनि-6 त्रपि-7 क्षप-यश्च' (स० कण्ठा० 1.1.192) इति पपाठ । तत्र 5 ध्वनि-4 रणी उदाहृतौ;

(24.3) दी जाने वाली यह यहाँ मित्संज्ञा के लिये पुनः दी गई है । ध्वनयति घण्टाम् (घंटी बजाता है) । अन्य अर्थ में ध्वानयति—अर्थात् (बुदबुदाता) है ।

यहाँ महाराज भोज ने '1 √दल्, 2 √वल्, 3 √स्खल्, 4 √रण्, 5 √ध्वन्, 6 √त्रप् तथा 7 √क्षप् भी (मित्) हैं,' यह कहा है । इन में से 4 √रण् और 5

वाद **ध्वन शब्दे** (24.3) धातु-सूत्र है । सायण के अनुसार वहाँ इसका अर्थ 'बुदबुदाना' प्रतीत होता है : उन्होंने उससे णिच् में निष्पन्न 'ध्यानयति' अर्थ **'अस्पष्टाक्षरमुच्चार-यति'** देकर पुष्टि में तैत्तिरीय प्रातिशख्य का यह सूत्र उद्धृत किया है : **अक्षर-व्यंञ्जना-नामनुपलब्धिर्ध्वनिः**[1] (तै० प्रा० 23.7, अथवा 2.11.7) । वही √ध्वन् यहाँ मित्त्वार्थ बजना, आवाज होना अर्थ में अनूदित है । ध्वनति घण्टा । ध्वनयति घण्टाम् घंटी बजाता है । ध्वानयति बुदबुदाता है ।

सायण की सूचना के अनुसार √ध्वन् वर्धमान के मत में है । क्षी० त० में यह धातु पाणिनीयत्वेन तो उपलब्ध नहीं है, पर श्रीभोज को संमत धातुसूत्र देकर 'दध्वान', 'ध्वनयन्नाशाः' उदाहरण दिए मिलते हैं । श्री यु० मी० ने (क्षी० त०, पृष्ठ 112 में) इस अंश को भोजसूत्रोक्त 'दलि' के उदाहरण 'दलयति' का वाक्य-शेष समझ कर 'मूलं मृग्यम्' टिप्पणी की है । हमारे विचार में क्षीरस्वामी को यहाँ 'दलि' और 'ध्वनि' के उदाहरण अभिप्रेत हैं[2], क्योंकि उन्होंने आगे √ध्वन् के मूल स्थान (1.565) में भी 'ध्वनयति' उदाहरण दिया है, जो उसे मित् माने बिना सम्भव नहीं है ।

घटादियों के इस प्रसंग में सरस्वती-कंठाभरण (1.1.192) में एक सूत्र है : **दलि-वलि-स्खलि-रणि-ध्वनि**[3]**-क्षपि-त्रपयश्च** । इसकी एक धातु 4 √रण् पीछे (21.20 में) आ चुकी हैं, तथा 5 √ध्वन् प्रकृत है ही । शेष धातु पाणिनीय धातु-पाठ में तत्तत्

---

1. मा०धा०वृ०, चौ० सं०, 1034 ई०, पृष्ठ 139, में सूत्र का स्वरूप **'अक्षर-व्यंजना-नामुपलब्धिर्ध्वनिः'** दिया है, जो भ्रष्ट तथा लक्षण-विरुद्ध है ।
2. यहाँ का शेष धातुओं के उदाहरणों का पाठ या तो भ्रष्ट हो गया है, या क्षीर-स्वामी ने अन्य धातुओं के आ चुकने के कारण उदाहरण नहीं दिए हैं ।
3. मा० धा० वृ० के उद्धरण में इसके बाद 'स्वनि' भी है, जो न क्षीरस्वामी और श्रीकृष्णलीला शुक मुनि द्वारा उद्धृत सूत्र में है, और न मुद्रित स० कण्ठा० (अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावलि, 1935 ई० संस्करण) में ही है ।

1 'दल विशरणे, 2 वल संवरणे, 3 स्खल सञ्चरणे, 6 त्रपूष् लज्जायाम्' इति गताः। तेषां णौ 1 दलयति, 2 वलयति, 3 स्खलयति, 6 त्रपयति; 'क्षै क्षये' (29.12) इति वक्ष्यमाणस्य कृतात्त्वस्य पुका निर्देशः—7 क्षपयति।[1]

√घ्वन् बताई जा चुकीं हैं; 1 √दल् स्फुटित होने में, 2 √वल् ढँकने में, 3 √स्खल् फिसलने में, 6 √त्रप् शर्माने में (पीछे तत्तद् वर्गों में) जा चुकी हैं। उनका रूप णिच् में 1 दलयति, 2 वलयति, 3 स्खलयति, 6 त्रपयति बनता है। आगे (29.12 में) कही जाने वाली ('ऐ' को) 'आ' आदेश की हुई '√क्षै (=√क्षा) नाश होना' अर्थ वाली का पुक् आगम से निर्देश किया गया है—7 क्षपयति।

प्रकरणों में आ चुकी हैं। 'क्षपि' से ण्यन्त √क्षै अभिप्रेत है[2], जो आगे आएगी। भोज के मत में इनको मित्त्व अर्थविशेष में नहीं, अपितु साधारणतया अभिप्रेत है। अतः ये चाहे जिस अर्थ में प्रयुक्त हों, इनके रूप सर्वत्र ह्रस्ववान् रहेंगे, तथा चिण् और णमुल् में वा दीर्घ भी सर्वत्र होगा। पर पाणिनीय मत में वृद्धि वाले 'दालयति' आदि रूप ही इष्ट हैं। अतः विकल्प है।

---

1. भोज-सूत्र पर यह टिप्पणी मा० धा० वृ० 1.805, पृष्ठ 140, की टिप्पणी पर आधारित है। मा० धा० वृ० में √दल् का 'विदारण' अर्थ प्रमाद-पाठ है : (क) यह इस अर्थ में गत नहीं है। चुरादि में वक्ष्यमाण है। (ख) चुरादि में कहा भी है : **दलतीति विशरणे घटादौ**। अतः दीक्षितजी ने ठीक अर्थ उद्धृत किया है।
2. क्योंकि पाणिनीय धातु-पाठ में 'क्षपि' धातु उपलब्ध नहीं है। क्षी०त० में **'बहुलमेतन्निदर्शनम्'** (चु०) पर किन्हीं के मत में **'क्षप प्रेरणे। क्षपयति। क्षपा।'** कह कर अदंत 'क्षप' धातु बताई है। वह धातु यहाँ अनूदित नहीं हो सकती : (1) **'नान्ये मितोऽहेतौ'** से निषेध के कारण उसका अनुवाद शास्त्र-सम्मत नहीं है; (2) णिच् होने के बाद अंतिम 'अ' का 'अतो लोपः' से लोप होने पर यहाँ उसका स्थानिवद्भाव हो जाता है, जिसके कारण उपधा में व्यंजन आ जाता है और अदंतोपदेश वाली धातुओं में वृद्धि प्राप्त ही नहीं होती, तब उपधा-दीर्घ के लिए इसे मित् करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यों, अदंतोपदेश तथा मित्त्व परस्पर-विरोधी हैं। अतः पाणिनीय तंत्र में √क्षप् **'क्षै क्षये'** (29.12) को णिच् में आकार अंतादेश करने के बाद **'अर्ति-ह्री-ब्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुङ् णौ'** (7.3.36) से पुक् करने पर 'क्षाप्+इ' स्थिति में **'मितां ह्रस्वः'** से ह्रस्व करके ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार 'क्षपि' की सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष है : मित् संज्ञा के लिए 'क्षपि' रूप का और 'क्षपि' रूप की प्राप्ति के लिए मित्संज्ञा का आश्रय लेना पड़ता है।

43 स्वन अवतंसने ॥ 31 ॥ 'शब्दे' (24.2) इति पठिष्यमाणस्यानुवादः । स्वनयति । अन्यत्र स्वानयति ॥ 74 ॥

घटादयो मितः ॥ 32 ॥ 'मितसंज्ञका' इत्यर्थः । 44 जनी- 45 जृष्-

43 √स्वन् कानों को भूषित करना अर्थ में (मित्) है ॥ 31 ॥ 'शब्द' अर्थ में आगे (24.2 में) दी जाने वाली धातु का (मित्त्वार्थ) पुनः कथन है । स्वनयति । अन्य अर्थ में स्वानयति ॥ 74 ॥

वर्ग 21 : घ. : मिद्विधान का शेष

20.1 √घट् आदि धातु मित् हैं ॥ 32 ॥ अर्थात् 'मित्' संज्ञा वाली हैं ।

---

43 √**स्वन्** कान को भूषित होना (अकर्मक), त० वो० के अनुसार भूषित करना, सजाना (सकर्मक) अर्थ में मित् है । यहाँ **स्वन शब्दे** (24.2) को मित्त्वार्थ अनूदित किया गया है । स्वन (शब्द) श्रोत्रग्राह्य है । अतः लक्षणया √स्वन् का प्रयोग श्रोत्र की भूषा अर्थ में होने लगा; कान में लगाता है : स्वनयति । स्वनयति शिरीषकुसुमं प्रमदा प्रणयिना (सुन्दरी अपने प्रिय के द्वारा सिरस के फूल को कान में खोंसवाती है) । किंतु शब्दमात्र अर्थ में यह धातु मित् नहीं होती : 'विष्वाणयति पायसं ब्राह्मणं यजमानः' (जिजमान पण्डितजी को खीर के सपड़के लगवा रहा है) । **वेश्च स्वनो भोजने** (2274) से स् को मूर्धन्यादेश होता है ।

इस धातु का मितों में पाठ पाणिनीय तन्त्र में सर्व-संमत नहीं है : (i) क्षीरस्वामी ने इसे नहीं दिया है । उन्होंने इसे दुर्ग के मत में मित् बताया है : **अत्रैव 'स्वनोऽवतंसन' इति दुर्गः** (क्षी०त० 1.559) । उन्होंने √स्वन् के मूल स्थल (1.565) में 'स्वनयति' उदाहरण दिया है । इससे सूचित होता है कि वे दुर्ग के मत को मानते हैं । (ii) सायण के अनुसार मैत्रेय ने भी इसे एकीय मत में बताया है । (iii) स्वयं सायण ने भी इसकी व्याख्या भोज-सूत्रागत धातु के रूप में ही की है । उनके व्याख्यात धातुपाठ में नहीं है ॥ 74 ॥

संदर्भ : 20 वें वर्ग से लेकर 21वें वर्ग के 31वें धातु-सूत्र तक प्रत्यय-विशेष में कुछ विशिष्ट प्रकार की रूप-रचना वाली धातुएँ दी गई हैं, यह पीछे कई बार कहा जा चुका है । प्रकृत अनुच्छेद के प्रथम धातु-सूत्र में इस विशिष्टता का जो आधार है, वह मित् संज्ञा बताई है, जिसके आधार पर अष्टाध्यायी के दो सूत्र **मितां ह्रस्वः** (6.4.92) तथा **चिण्-णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्** (93) क्रमशः उपधा-ह्रस्व तथा विकल्प से उपधा-दीर्घ करते हैं । प्रकृत अनुच्छेद में पूर्वोक्त 56 धातुओं की मित्संज्ञा बताने के अलावा चार और धातु स्वरूपतः देकर तथा अंत में 'अम्' वाली धातु भी 'च' से मित् बताई हैं । अमन्त धातु धातु-पाठ में 23 हैं ।

46 क्नसु- 47 रञ्जो- 48-70 ऽमन्ताश्च ॥ 33 ॥ 'मित' इत्यनुवर्तते ।

44 √जन्, 45 √जृष्, 46 √क्नस्, 47 √रञ्ज्, 48-70 अन्त में 'अम्' वाली भी ॥ 33 ॥ 'मित् हैं' की अनुवृत्ति होती है । √जृष् इस प्रकार इत्संज्ञक ष् का निर्देश

---

44 **जनी-45 जृष्-46 क्नसु-47 रञ्जः, 48-70 अमन्ताश्च** ॥ 33 ॥ यहाँ पिछले धातु-सूत्र से 'मितः' आता है, जनी आदि चार तथा तेईस अमन्त धातु भी मित् हैं ।

44 **जनी** में 'ई' अनुबंध छांदस **जन जनने** (जु०) का ग्रहण रोकने को दिया है । क्षीरस्वामी हालाँकि जौहोत्यादिक को भी मित् मानते हैं, पर यह **तदनुबन्धक-ग्रहणे नातदनुबन्धकस्य** (प० 83) के विरुद्ध होने से उपेक्ष्य है । जनयति; अजीजनत् ।

45 √**जृष्**—दैवादिकों के मध्य पठित होने से **सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्** (प० 112) से ही यद्यपि 'जॄ' कहने से ही दैवादिक 'जॄ' का ग्रहण हो जाता, पर **निरनुबन्धक-ग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प० 82) से दैवादिक का ग्रहण बाधित हो जाता, अतः संदेह-निवारर्थ यहाँ √जॄ को सानुबंध (√जृष्) दिया है, जिस से **तदनुबन्धक-ग्रहणे०** (प० 83) से दैवादिक √जॄ (षित्) का ही ग्रहण होता है । जरयति जरा शरीरम् । **सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः** (कठो० 1.26) । क्र्यादि-पठित का जारयत्यभ्रकम् ।

46 **क्नसु ह्वरण-दीप्त्योः** दैवादिक ही है । क्नसयति ।

47 √**रञ्ज्** दो हैं, एक भौवादिक और दूसरी दैवादिक । दोनों का स्वरूप एक ही है : **रञ्ज रागे** । दैवादिकों के अंत में होने से तथा भेदक-रहित निर्देश होने के कारण दोनों का ही ग्रहण होता है । रजयति मृगान् (हिरणों का शिकार करता है)—**रञ्जेर्णौ मृग-रमणे न-लोपः** (वा०) से न् का लोप होता है । रञ्जयति पक्षिणः (पक्षियों को प्रसन्न करता है) । अरञ्जि, अराञ्जि—उपधा-भिन्न अकार को भी मित्त्व-सामर्थ्यात् वा दीर्घ होता है ।

48-70 **अमन्त**—जिन धातुओं के अंत में 'अम्' वर्ण-समुदाय है, वे भी मित् होती हैं । ये तेईस हैं : जैसे—48 √अम्†, 49 √कम्†, 50 √क्रम्, 51 √क्लम्, 52 √क्षम्, 53 √गम्, 54 √चम्†, 55 √छम् । 56 √जम्, 57 √झम्, 58 √णम्‡, 56 √तम्, 60 √दम्, 61 √द्रम्, 62 √भ्रम्, 63 √यम्†, 64 √रम्, 65 √वम्‡, 66 √शम्†, 67 √श्रम्, 68 √षम्, 69 √ष्टम्, 70 √स्यम् । क्रमयति, गमयति इत्यादि । इनसे से ‡ चिह्न से अङ्कित दो धातु धातुसूत्र 34-35 से वा मित् की गई हैं और † चिह्न से अङ्कित पाँच की मित्संज्ञा का निषेध 36-38 धातु-सूत्रों में किया गया है । अतः इनमें से 16 धातु नित्य मित् हैं, तथा दो वा मित् हैं ।

'जृष्' इति षित्त्व-निर्देशाज्जीर्यतेर्ग्रहणम्; जृणातेस्तु जारयति। केचित्तु 'जनी-जॄ-ष्णसु०' इति पठित्वा 'ष्णसु निरसने' इति दैवादिकमुदाहरन्ति ॥ 75 ॥

21.30 ज्वल- 31 ह्वल- 32 ह्मल-58 नमामनुपसर्गाद्वा ॥ 34 ॥ एषां

होने के कारण दैवादिक √जॄ ली जाती है। क्र्यादि-गण की √जॄ से तो 'जारयति' बनता है। कुछ लोग तो सूत्र का स्वरूप 'जनी-जॄ-ष्णसु०' मान कर ('क्नसु' के स्थान पर) दिवादिगण की √स्नस् फेंकना, छोड़ना अर्थ वाली का उदाहरण देते हैं ॥ 75 ॥

वर्ग 21 : ङ. : विकल्प से मित्संज्ञा वाली आठ धातु

21.30 √ज्वल्, 31 √ह्वल्, 32 √ह्मल् और 58 √नम् की उपसर्ग के

'जनी-जृष्०' धातु-सूत्र के पाठ में भेद : सायण का कथन है कि कुछ लोग 'जृष्-क्नसु' के स्थान पर 'जॄ-ष्णसु' मानते हैं। इनके मत में **निरनुबन्धक-ग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प० 82) से क्र्यादिक √जॄ ही मित् है, दैवादिक नहीं। तथा **क्नसु-ह्वरण-दीप्त्योः** के स्थान पर **ष्णसु निरसने** मित् है। आत्रेय और मैत्रेय ने भी इस मत को एकीय मत के रूप में उद्धृत किया है : **'ष्णसु निरसन' इत्येके मित्।** मैत्रेय ने एकीय मत में यह भी बताया है कि कुछ लोग चवर्ग-तृतीयादि √जॄ की जगह चवर्ग-चतुर्थादि √झॄ को मित् मानते हैं : **मैत्रेयो जृणातेः स्थाने 'झॄ इत्येके' इति चतुर्थादि च वक्ष्यति।** √झॄ दिवादि में **जृष्** के साथ **झृष्** के रूप में पठित है।

ये सब धातु अन्यत्र पठित हैं। यहाँ तो उनकी मित् संज्ञा करने के लिए उनका अनुवाद किया गया है ॥ 75 ॥

संदर्भ : अब तक 33 धातु-सूत्रों के द्वारा साधारणतया अथवा अर्थ-विशेष में धातुओं की नित्य मित्संज्ञा का विधान किया गया है। अगले दो धातु-सूत्रों से आठ धातुओं की विकल्प से मित्संज्ञा का विधान किया गया है। यह विकल्प दो प्रकार का है : (1) प्राप्त-विभाषा, अर्थात् पीछे दिये धातु-सूत्रों में से किसी के अनुसार नित्य मित्संज्ञा प्राप्त है, प्रकृत में परिस्थिति-विशेष (उपसर्ग से अयोग) में उसका विकल्प किया गया है; प्रथम (34 वें) धा०सू० की सब चार तथा दूसरे (35 वें) की आखिरी दो धातु इसका उदाहरण हैं; (2) अप्राप्त-विभाषा, अर्थात् इन धातुओं की मित्संज्ञा अन्य किसी नियम से प्राप्त नहीं है; उनकी नवीन मित्संज्ञा विकल्प से की गई है; दूसरे धातु-सूत्र की पहली दो धातु (√ग्ला तथा √स्ना) इस का उदाहरण हैं।

√ज्वल् पीछे 'दीप्ति' अर्थ में 21.30 वीं धातु के रूप में धा० सू० 21.19 में बताई मित् है; √ह्वल् और √ह्मल् की उससे अगले धातुसूत्र में 'चलन' अर्थ में मित् संज्ञा की जा चुकी है। **वनु** (√वन्) 18 वें धा० सू० में स्वतंत्र धातु के रूप में मित् बिताई जा चुकी है। √नम् तथा √वम् की मित्संज्ञा अमंत होने के कारण

मित्वं वा। प्राप्त-विभाषेयम्। ज्वलयति, ज्वालयति। उपसृष्टे तु नित्यं मित्त्वम्—प्रज्वलयति। कथं तर्हि 'प्रज्वालयति', 'उन्नामयति' इति? घञन्तात् 'तत्करोति०' (चु०, धा०सू०) इति णौ।

अयोग में विकल्प से ॥ 34 ॥ इनकी विकल्प से मित्संज्ञा होती है। यह अन्य सूत्र से प्राप्त मित्त्व को विकल्प (का विधान) किया गया है। ज्वलयति, ज्वालयति। उपसर्ग-युक्त धातु में तो नित्य मित्संज्ञा होती है— प्रज्वलयति। तब 'प्रज्वालयति', 'उन्नाम-यति' कैसे बनते हैं? घञ् प्रत्यय से निष्पन्न प्रातिपदिक से 'तत् करोति, तदाचष्टे' (चु० धातु-सूत्र) से णि होने पर बन जाते हैं।

जनी-जृष्-क्नसु-रञ्जोऽमन्ताश्च (21.33 धा०सू०) से प्राप्त है। ये सब धातु उपसर्ग के योग में तो तत्तद् नियमों से नित्य मित् हैं, उपसर्ग से अयोग में विकल्प से मित् हैं। √ग्ला और √स्ना उपसर्ग के योग में अमित् हैं: प्रग्लापयति, प्रस्नापयति; **नानुध्या-याद् बहूञ्छब्दान्, वाचो विग्लापनं हि तत्** (वृ० उ० 4.4.21)। उपसर्ग के अयोग में ये दोनों विकल्प से मित् हैं: **ग्लपयति यथा शशाङ्कं** (अभिज्ञानशकुन्तलम् 3.14)। ग्लपयति, ग्लापयति; स्नपयति, स्नापयति। √वम् के वैकल्पिक मित्त्व के दोनों प्रयोग निम्न श्लोक में द्रष्टव्य हैं:

अवम्या **अपि ये प्रोक्तास्तेऽप्यजीर्ण-व्यथाऽऽतुराः।**
विषार्ताश्चोल्वण-कफा, वामनीयाः **प्रयत्नतः ॥**[1]

क्षी० त० में √ह्मल् के पश्चात् √चल् भी दी है।[2] यह पीछे **कम्पने चलिः** (21.38) में नित्य मित् कही जा चुकी है। चलयति, चालयति; किंतु प्रचलयति।

इन सूत्रों की षष्ठी पर विचार: इस प्रकरण के सात धातुसूत्रों में से तीन (34-36) में धातुओं को षष्ठी में दिया गया है तथा शेष में से दो (33 तथा 39) में प्रथमा में और दो (37-38) में यह षष्ठी या प्रथमा कोई भी हो सकती है। षष्ठ्यंत से 'मित्' पद के अन्वय में कठिनाई आती है। अतः सायण की सूचना के अनुसार 34-35 वें सूत्रों का पाठ प्रथमांत में भी उपलब्ध होता है: **क्वचित्तु पठ्यते 'ज्वल-ह्वल-ह्मल[3]-नमोऽनुपसर्गाद् वा' इति। तत्र न क्लेशः—'मित' इति सम्बन्धः। ···अत्रापि**

---

1. व्या० च० में उद्धृत सुश्रुत। चरक (सिद्धिस्थान, अध्याय 2 तथा 6) में भी वमितः, वाम्यः, वामयेत् आदि प्रयोग असकृत् सुलभ हैं।
2. क्षी० त० का यह पाठ प्र० कौ०, भाग 2, पृष्ठ 324, में भी उद्धृत है।
3. चौखम्बा, 1991 वि०, संस्करण में 'ह्मल' धातु सम्भवतः प्रूफशोधन की गलती से छूट गई है।

कथं 'संक्रामयति' इति ? मितां ह्रस्वः (6.4.92) इति सूत्रे 'वा चित्त-विरागे' (6.4.91) इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्य व्यवस्थित-विभाषाऽऽश्रयणादिति वृत्तिकृत् । एतेन 'रजो विश्रामयन् राज्ञां' (रघु० 4.85), 'धुर्यान्विश्रामयेति सः' (रघु० 1.54) इत्यादि व्याख्यातम् ।

71 ग्ला- 72 स्ना- 29 वनु-65 वमां च ॥ 35 ॥ अनुपसर्गादेषां मित्वं वा स्यात् । आद्ययोरप्राप्ते, इतरयोः प्राप्ते विभाषा ॥ 76 ॥

'संक्रामयति' कैसे बनता है ? काशिका-कार का कहना है कि 'मितां ह्रस्वः' (6.4.92) सूत्र में 'वा चित्त-विरागे' (91) से 'वा' की अनुवृत्ति करके व्यवस्थित-विभाषा का आश्रय लेकर (यह रूप बन जाता है) । इससे 'रजो विश्रामयन् राज्ञाम्' (रघुवंश 4.85) तथा 'धुर्यान्विश्रामयेति सः' (रघुवंश 1.54) इत्यादि (प्रयोगों का) समाधान हो जाता है ।

71 √ग्ला, 72 √स्ना, 29 √वनु, 65 √वम् की भी ॥ 35 ॥ उपसर्ग के अभाव के पश्चात् इन धातुओं की मित्संज्ञा विकल्प से होवे । पहली दो धातुओं की (मित्संज्ञा की अन्य नियमों से) प्राप्ति के अभाव में और अगली दो की (अन्य नियमों से) प्राप्ति में विकल्प किया गया है ॥ 76 ॥

पूर्ववत् क्वचिद् 'ग्ला-स्ना-वनु-वमश्च' इति प्रथमान्तं पठ्यते । इस कारण से इन दो धातु सूत्रों के प्रथमांत पाठ से सूचित होता है कि 36वें धातु सूत्र में भी धातु प्रथमांत (**न कम्यमिचमः**) ही रही होगी । उपक्रम और उपसंहार को देखते हुए प्रथमा वाला पाठ ही उचित प्रतीत होता है ।

उपसर्ग के योग में नित्य मित्त्व के कुछ अपवाद भाषा में रहे हैं; जैसे प्रज्वालयति, **प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः**, उन्नामयति । इसका समाधान यों किया गया है : प्रज्वलनं प्रज्वालः (प्र+√ज्वल्+घञ्) से **तत् करोति तदाचष्टे** से णिच् करके √प्रज्वालि से प्रज्वालयति; इसी तरह उन्नामयति । किन्तु √क्रम्+घञ् से 'क्रम' प्रातिपदिक ही होता है । 'क्राम' नहीं, क्योंकि घञ् के ञित्त्व के निमित्त से प्राप्त कार्य (उपधा-वृद्धि) का निषेध **नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः** (7.3.34) से हो जाता है । उससे णिच् करने पर 'संक्रमयति' रूप बनता है (—बा० म०) । अतः 'संक्रामयति' का समाधान दो तरह से किया है : (1) घञन्त 'क्रम' आदि को प्रज्ञादि आकृति-गण में मानकर स्वार्थे अण् (तद्धित) करके णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** से वृद्धि से 'क्राम' रूप प्राप्त करके सम् से उसका योग करने के बाद उपलब्ध 'संक्राम' से **तत् करोति तदाचष्टे** से णिच् से 'संक्रामयति' रूप बन जाता है । इस समाधान में प्रक्रिया-गौरव बहुत है । संभवतः इसीलिये काशिका-कार ने किन्हीं लोगो को अभिप्रेत एक

21.48-9, 54 न कम्यमि-चमाम् ॥ 36॥ अमन्तत्वात्प्राप्तं मित्त्वमेषां न स्यात् । कामयते; आमयति; चामयति । 66 शमो दर्शने ॥ 37 ॥ शाम्यति-

वर्ग 21 : च : निषिद्ध मित्त्व वाली छह धातु

21.49 √कम्, 48 √अम् और 54 √चम् की नहीं ॥ 36 ॥ अन्त में 'अम्' वर्णों वाली होने के कारण प्राप्त मित् संज्ञा इनकी नहीं होती । कामयते; आमयति; चामयति । 66 √शम् दर्शन अर्थ में ॥ 37 ॥ √शम् 'दर्शन' अर्थ में मित् नहीं होती ।

समाधान दिया है : (2) **मितां ह्रस्वः** (6.4.92) सूत्र में पिछले **वा-चित्त-विरागे** (91) सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति करते हैं तथा इस विकल्प को व्यवस्था से—लक्ष्य की आवश्यकता के अनुसार—काम करने वाला मानते हैं। फलतः उत्क्रामयति, संक्रामयति आदि में तो ह्रस्व के विकल्प का अभाव-पक्ष लागू होगा, अन्यत्र भाव-पक्ष ।[1] यह समाधान पूर्वोक्त 'प्रज्वालयति', 'उन्नामयति' आदि पर भी लागू होगा, तो प्रयोग में उपलब्ध ऐसे **रजो विश्रामयन् राज्ञाम्** (रघुवंश 4.85) तथा **धुर्यान्विश्रामयेति सः** (रघुवंश 1.54) आदि अन्य प्रयोगों पर भी लागू होगा ॥ 76 ॥

संदर्भ : छह धातुओं की पिछले धातु-सूत्रों से विहित होने के कारण प्राप्त मित् संज्ञा का निषेध इस अनुच्छेद के चार धातु-सूत्रों से किया गया है । प्रथम तीन धातु-सूत्रों में पाँच धातुओं की अमंत होने के कारण **जनी-जॄष्-क्नसु-रञ्जोऽमन्ताश्च** (33) से प्राप्त मित्संज्ञा का निषेध किया गया है, तथा चौथे धातु-सूत्र में **स्खद स्खदने** (20.6) से प्राप्त मित्त्व का अव एवं परि उपसर्गों के योग में निषेध किया गया है ।

का० कृ० धातु-पाठ में पाणिनीय तन्त्र के विकल्प-प्रकरण के अंत के, और निषेध-प्रकरण के आदि के दो धातु-सूत्रों को एक कर दिया गया है तथा पाणिनीय 'च', 'न' को एक पृथक् धातु √**श्वन** से बदल दिया है : **ग्ला-स्ना-वनु-वम-श्वन-कम्यमि-चमः** (1.624) । इससे पाणिनीय तंत्र में निषिद्ध-मित्त्व √कम्, √अम् और √चम् का० कृ० के मत में वा मित् हैं । कमयति, कामयति[2], अमयति, आमयति ।

शमो दर्शने (37)—पूर्व सूत्रों से **'मित् न'** आता है तथा प्रथमान्त **'शमः'** से अन्वित होता है । अमंत होने से प्राप्त मित्संज्ञा 'दर्शन' अर्थ में नहीं होती । आचार्य क्षीरस्वामी 37-39 धातु-सूत्रों में 'न' की अनुवृत्ति नहीं मानते । उन्होंने **'शमोऽदर्शने'** (अवग्रहवान्) पाठ मान कर 'दर्शन' से भिन्न अर्थ में √शम् की मित्सज्ञा का विधान

---

1. का० 6.4.92 : **केचिदत्र 'वा' इत्यनुवर्तयन्ति । सा च व्यवस्थित-विभाषा । तेन उत्क्रामयति, संक्रामयति इत्येवमादि सिद्धं भवति ।**
2. √कम्+णिच् से परगामी क्रियाफल में परस्मैपद है ।

दर्शने भिन्न स्यात्। निशामयति रूपम्। अन्यत्र तु 'प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः'। कथं तर्हि 'निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम' (दुर्गा-शप्त-शती 1.2) इति ? 'शम आलोचने' इति चौरादिकस्य धातूनामनेकार्थत्वाच्छ्रवणे

निशामयति रूपम् (रूप निहारता है)। (दर्शन से) भिन्न अर्थ में तो 'प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः' (प्रेमी लोग अपनी प्रियतमाओं को बातें[1] सुनाकर···)। तब 'निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम' (विस्तार से बतलाते हुए मुझ से उसकी उत्पत्ति सुनो) कैसे बना ? धातुएँ अनेकार्थक होती हैं, अतः जिस तरह उपशमार्थक √शम् का प्रयोग 'सुनना' अर्थ में होता है, वैसे ही चुरादि गण की आलोचनार्थक

किया है। 'दर्शन' अर्थ में **शम, लक्ष आलोचने** (चु०) आती हैं। **नान्ये मितोऽहेतौ** (चु०) से उसकी मित्संज्ञा निषिद्ध होती है। तब 'दर्शन' अर्थ में मित्त्व-निषेध करने का अभिप्राय यह होगा कि चौरादिक से अन्य अर्थांतर में पठित धातु ही विशिष्ट 'दर्शन' अर्थ में मित् नहीं होती, अन्य अर्थ में तो मित् होती है। फलतः यहाँ **शमु उपशमे** (दि०) का ग्रहण है। मित्त्व का फल चूंकि णिच् तथा णि-परक चिण्णमुल् में ही होता है। अतः 'दर्शन' अर्थ स्वार्थे णिजंत प्रकृति का ही अभीष्ट है। इससे 'निशामयति रूपम्' का अर्थ 'रूप को देखता है' होता है, न कि 'दिखाता है'। सायण ने उचित ही कहा है : **निशामनं चक्षुर्विज्ञानम्** (मा० धा० वृ० 1.861)। रामायण में भी **'निश्शर्करमिदन्तीर्थम्भरद्वाज, निशामय** (बा० का० 2.5) में 'देखना' ही अभिप्रेत है। महाकवि अश्वघोष ने 'निशाम्य' का प्रयोग 'समालोक्य' के पर्याय के रूप में ही किया है : **भूयः समालोक्य गृहेषु दोषान् निशाम्य तत्त्यागकृतं[2] च शर्म** (सौन्दरनन्दम् 5.39)। 'दर्शन' से भिन्न 'सुनना', 'शान्त होना' आदि अर्थों में यह मित् है : शमयति रोगम् (रोग शान्त करता है)। √नि+√शम्=सुनना, नि+√शमि=सुनाना : **प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः** (प्रेमियों ने वधुओं को कथाएँ सुनाकर···')। इसपर शंका हो सकती है कि **निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम** (दुर्गा-सप्त-शती 1.2) में 'सुनने'

---

1. 'कथा' शब्द यों तो 'कहानी' 'आख्यान' आदि अर्थ में है। पर यहाँ प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रसङ्ग में वह अर्थ उतना उचित नहीं है। उनकी बतकही—लुभावनी बातें—अभिप्रेत हैं।

2. डॉ जियालाल काम्बोज ने ईष्टर्न बुकलिंकर्स, दिल्ली, से प्रकाशित पंचम सर्ग की व्याख्या (**तत् पूर्वोक्तमित्यर्थः। त्यागकृतम्**) में 'तत्' को पृथक् पद माना है। पर 'तत्' से अनुपद आगत **गृहेषु दोषान्** का परामर्श उचित है। अतः समस्त पाठ **तेषां त्यागस्तत्त्यागः** उचित है।

वृत्तिः, शाम्यतिवत्। 63 यमोऽपरिवेषणे ॥ 38 ॥ यच्छतिर्भोजनतोऽन्यत्र मिन्न स्यात्। आयामयति—(i) द्राघयति, (ii) व्यापारयति वेत्यर्थः। परिवेषणे तु यमयति ब्राह्मणान्, भोजयतीत्यर्थः, 'पर्यवसितं नियमयन्' इत्यादि तु 'नियमवत्'-शब्दात् 'तत्करोति०' (चु०) इति णौ बोध्यम्। स्खदिरव-परिभ्यां च ॥ 39 ॥ 'मिन्न' इत्येव। अवस्खादयति; परिस्खादयति। 'अपाव-परिभ्यः' इति न्यासकारः।

√शम् का 'सुनना' अर्थ में प्रयोग है। 63 √यम् परोसना से भिन्न अर्थ में ॥ 38 ॥ √यम् भोजन से अन्य अर्थ में मित् नहीं होवे। आयामयति—अर्थात् (i) लम्बा करता है, या (ii) काम में लगाता है। 'परोसना' अर्थ में तो 'यमयति ब्राह्मणान्', अर्थात् जिमाता है। 'पर्यवसितं नियमयन्' (पर्यवसित को नियमित करता हुआ) इत्यादि तो 'नियमवत्' शब्द से 'तत्करोति, तदाचष्टे' से णि होने पर समझना चाहिये। √स्खद् अव और परि के पश्चात् ॥ 39 ॥ 'मित् नहीं होती' यही (संबद्ध होता है)। अवस्खादयति; परिस्खादयति। न्यासकार (जिनेन्द्रबुद्धि) ने 'अप, अव, परि के पश्चात्' कहा है।

में 'निशमय' क्यों नहीं, तथा 'सुनाओ' न होकर 'सुनो' यह अर्थ कैसे? इसका उत्तर यह है कि यह रूप हेतुमण्णिच् का नहीं है, अपितु **शम आलोचने** (चु०) का है तथा आलोचन की श्रवणरूप आलोचन में लक्षणा है।

यहाँ मूलकार ने √शम् का श्रवण अर्थ है, इसमें उपमा दी है—जिस प्रकार उपशमार्थक दैवादिक का 'सुनना' अर्थ होता है, वैसे ही चौरादिक का भी 'सुनना' अर्थ है।

यमोऽपरिवेषणे (38)—'मित् न' की अनुवृत्ति है। परिवेषण (परोसना) से भिन्न अर्थ में **यम उपरमे** मित्संज्ञा नहीं होती। आचार्य क्षीरस्वामी **'यम-उपरमे' इत्यस्य परिवेषणादन्यत्रैवार्थे मित्संज्ञा** मानते हैं। आख्यातचन्द्रिका (2.2.19, श्लोक 66) में भट्टमल्ल ने भी **अथो परिवेषणे। परिवेवेष्टि, परिवेविष्टे, यामयति त्रयम्** भोजन-प्रकरण में लिखा है। पर काशिका में **आयामयते—'यमोऽपरिवेषणे' इति मित्संज्ञा प्रतिषिद्ध्यते** लिखा है। आचार्य माधव तथा मैत्रेय आदि काशिका को ही प्रमाण मानते हैं। दीक्षितजी ने भी उनका अनुसरण करके इन सूत्रों को मित्त्व-निषेधक ही माना है।

चुरादिगण में ज्ञपादि-पंचक में **'यम च परिवेषणे'** है। वहाँ परिवेषण में मित्संज्ञा की है, तथा यहाँ परिवेषण से भिन्न अर्थ में अमन्त होने से प्राप्त मित्संज्ञा का निषेध किया है। दोनों ही स्थानों में परिवेषण में मित्संज्ञा सिद्ध होती है। एक ही धातु को

स्वामी तु 'न कमि०' इति नञमुत्तर-त्रि-सूत्र्यामननुवर्त्य (i) 'शमः अदर्शने' इति चिच्छेद; (ii) यमस्तु अपरिवेषणे मित्त्वमाह; तन्मते 'पर्यवसितं नियमयन्' इत्यादि सम्यगेव; (iii) 'उपसृष्टस्य स्खदेश्चेद्, [1]अवादि-

क्षीरस्वामी ने तो 'न कमि०' (36) से 'न' की अनुवृत्ति अगले तीन सूत्रों में न करके (i) 'शमः अदर्शने' (√शम् दर्शन-भिन्न अर्थ में मित् होती है) इस प्रकार संधि-च्छेद किया है; किन्तु (ii) √यम की 'परोसना' से भिन्न अर्थ में मित्संज्ञा कही है; उनके मत में 'पर्यवसितं नियमयन्' इत्यादि ठीक ही है : (iii) 'उपसर्ग से युक्त √स्खद् की (मित् संज्ञा) अगर होती है, तो 'अव' आदि से युक्त की (ही) होती है ?' इस

दो गणों में पृथक्-पृथक् मित्संज्ञा करना केवल तभी सार्थक हो सकता है, जब उनमें अर्थभेद हो। अतः यहाँ 'परिवेषण' शब्द का अर्थ कुछ और है। 'परोसना' तथा 'घेरा डालना' ये दो परिपूर्वक **विष्लृ व्याप्तौ** (जु०) के अर्थ होते हैं : (1) न विद्यते परिवेषणा यस्मिन् सोऽर्थः अपरिवेषणः, तस्मिन्। अर्थात् परोसना जिसके अन्तर्गत नहीं है, ऐसे अर्थ में भौवादिक मित् है। तथा (2) 'परितः वेषणं=व्यापनं, परिवेषणम्' (अर्थात् चारों ओर से घेरा डालना) अर्थ में चौरादिक धातु मित् है। प्रथम अर्थ में परिपूर्वक √विष् से क्रमशः **ण्यास-श्रन्थो युच्** (3.3.107) से युच् तथा भाव में ल्युट् सिद्ध है। फलतः अर्थ-विशेष के निर्देश के विना ही अमन्त होने से प्राप्त मित्संज्ञा का (परिवेषण अर्थ में) नियमन प्रस्तुत गण-सूत्र का विषय है, तथा 'परोसना' से भिन्न 'घेरा डालना' अर्थ में प्रस्तुत गण-सूत्र से निषेध होने पर चौरादिक से मित्संज्ञा होती है। निष्कर्ष यह है कि 'परिवेषण' के दोनों अर्थों—भोजन परोसना तथा घेरना, लपेटना—में √यम् धातु मित् है। एवम् केवल भ्वादि में देने से ही जब दोनों अर्थों में मित्त्व हो सकता था, तब चुरादियों में पाठ सिद्ध करता है कि चौरादिक धातु उपरमार्थक भौवादिक का अनुवाद नहीं, अपितु स्वतंत्र है।

यहाँ मूल में '**भोजनतोऽन्यत्र**' में '**भोजनतो०**' गलत पाठ है; '**भोजनातः**' उचित है। **भोजन**=खाना, **भोजना**=खिलाना, परसना। यमयति ब्राह्मणान्= ब्राह्मणों को भोजन खिलाता है, परोसता है। परिवेषण से भिन्न अर्थ में आयामयति —**आयामो दैर्घ्यम्** कहा है, अतः लंबाता है अथवा फैलाता है। आयामयत्यासनम्= तप्पड़ फैलाता है, बिछाता है। '**पर्यवसितं नियमयन्**' इत्यादि तो '**यमः समुप-नि-विषु च** (3.3.63) से भाव में अवंत 'नियम' शब्द से मतुप् करके 'नियमवन्तं करोति' अर्थ में 'नियमवत्' शब्द से **तत् करोति, तदाचष्टे** से णिच् करके **विन्मतोर्लुक्**

---

1. क्षी०त० 1.560 में 'अप' दिया है। 'अव' को उन्होंने भोज-संमत बताया है।

पूर्वस्य', इति नियमात् 'प्रस्खादयति' इत्याह । (1) तस्मात् सूत्र-द्वये उदाहरण-प्रत्युदाहरणयोर्व्यत्यासः फलितः । (2) इदं च मतं वृत्ति-न्यासादि-विरोधादुपेक्ष्यम् ॥ 77 ॥

नियम के कारण 'प्रस्खादयति' बताया है । (1) इस व्याख्या के कारण दोनों सूत्रों में उदाहरण और प्रत्युदाहरण में उलट-फेर हो गई है । इसके अतिरिक्त (2) यह मत काशिका और न्यास आदि के विरोध के कारण उपेक्षणीय है ॥ 77 ॥

(5.3.65) से मतुप् का लुक् करके शतृ प्रत्यय में समझना चाहिये ।[1] वस्तुतः तो नियमित करना वेष्टन का ही एक रूप है, अतः चौरादिक नि+√यमि से शतृ में 'नियमयन्' रूप हो सकता है ।

स्खदिरव-परिभ्याञ्च (39)—'अव' तथा 'परि' उपसर्गों से परे √स्खद् की घटादिगत (द्र० 20.6) होने से प्राप्त मित् संज्ञा नहीं होती । अवस्खादयति । परिस्खादयति । दीक्षितजी की सूचना के अनुसार न्यासकार **अपावपरिभ्यः** पाठ मानते हैं ।[2] आचार्य क्षीरस्वामी 'अव' के स्थान पर 'अप' पाठ मानते हैं । तथा उन्होंने 'इन उपसर्गों के बाद ही √स्खद् मित् होती है', अर्थ किया है : अपस्खदयति, परिस्खदयति । भोज ने 'अव' दिया है ।

आचार्य क्षीरस्वामी ने इन तीनों सूत्रों में 'न' की अनुवृति नहीं की है । उन्होंने **शमोदर्शने** संहिता-पाठ का पदच्छेद **'शमः अदर्शने'** किया है तथा √यम् की परिवेषण से इतर अर्थ में मित्संज्ञा कही है । इनके मत में 'नियमयन्' आदि ठीक हैं । प्रस्तुत गणसूत्र का भी अर्थ 'उपसर्गयुक्त √स्खद् की यदि मित्संज्ञा हो, तो अप आदि उपसर्गों के सहित की ही होगी', यह नियम मान कर 'प्रस्खादयति' प्रत्युदाहरण दिया है ॥ 77 ॥

---

1. इस पर डा० राम प्रसाद त्रिपाठी जी ने यह टिप्पणी की है : पर श्री भट्टोजि-दीक्षित की यह प्रक्रिया ठीक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि मतुप् का लुक् होने पर पुनः 'नियम' शब्द के अंत्य अकार रूप 'टि' का **'यस्येति च'** से लोप नहीं हो सकेगा, कारण कि टि-लोप-मात्र का अपवाद **'विन्मतोर्लुक्'** प्रवृत्त हो चुका है । यह बात स्वयं नाम-धातु के अंत में **'इह टिलोपो न; तदपवादस्य लुकः प्रवृत्तत्वात्'**, इस रूप से लिखे भी हैं । अतः **'नियमवच्छब्दात्'**, इस शब्द का अर्थ **'नियमवदर्थ-वाचकात् 'नियम' शब्दात्, अर्श आद्यजन्तात्'**, ऐसा करना चाहिये । अब अकार की टि-लोप रूप से निवृत्ति होकर 'नियमयन्' रूप सिद्ध हो जायेगा ।

2. यह पाठ न्यास में हम नहीं खोज पाए हैं ।

21.73 फण गतौ ।। 40 ।। 'न' इति निवृत्तमसम्भवात् । निषेधात् पूर्वमसौ न पठितः, फणादि-कार्यानुरोधात् । 2354 फणां च सप्तानाम्

वर्ग 21 : छ. अन्य कार्य के लिए व्युत्क्रम से पठित एक मित् धातु

21.73 √फण् गति अर्थ में है ।। 40 ।। 'न' की अनुवृत्ति संभव न होने से निवृत्त हो गई है । √फण् आदि धातुओं को विहित कार्य (एत्त्व और अभ्यास-लोप) चूंकि करना है, अतः इसे (मित् संज्ञा के) निषेध (के प्रकरण) से पहले नहीं दिया है । 2354 √फण् (आदि) सात धातुओं को एत्त्व तथा अभ्यास का लोप विकल्प से होते

संदर्भ : मित् संज्ञा का विधान नित्य और विकल्प से करने के बाद पिछले प्रघट्ट में उसका निषेध किया जा चुका है। उसके पश्चात् एक धातु √फण् के मित्त्व का विधान किया गया है। निषेध प्राप्त का ही होता है। 73 √फण् की मित्संज्ञा किसी भी नियम से प्राप्त नहीं है। अतः निषेध असंभव है। अतः यहाँ मित्त्व का विधान ही किया गया है। और **न कम्यमि-चमाम्** (36) से चला 'न' का प्रकरण निवृत्त हो गया है। मित्त्व-विधान से बहुत दूर, तथा निषेध के अनन्तर मित्त्व-विधान का प्रयोजन यह है कि **फणां च सप्तानाम्** (6.4.125) सूत्र में √फण् से शुरू करके सात धातुओं के अभ्यास के लोप तथा धातु के स्वर को एत्त्व का विधान किया गया है। यदि √फण् को मित्त्व-विधान के प्रकरण में रखते हैं, तो शेष छह धातुओं की भी बलात् मित्संज्ञा हो जाती है, जो अनिष्ट है। यहाँ रखने से दोनों काम आसानी से हो जाते हैं।[1]

यह धातु मित्त्वार्थ अनुवाद नहीं है। यह उदात्त होने से परस्मैपदी तथा उदात्तेत् होने से सेट् है। फणति; फणतु; अफणत्; फणेत्।

2354 **फणां च सप्तानाम्** (6.4.125)—गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्य-नङि (98), घ्वसोरेद् हावभ्यास-लोपश्च (119), अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (120), थलि च सेटि (121), वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम् (124)। √फण् आदि सात धातुओं के पश्चात् विहित लिट् **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित् ही है, ङित् नहीं, अतः यहाँ **क्ङिति** (98) से 'किति' की ही अनुवृत्ति होगी। **अत एक०** (120) से अनुवर्तमान 'अतः' में त-पर-करण अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इन सात धातुओं में अत् (ह्रस्व अकार) तो केवल तीन (√फण्, √स्यम्, √स्वन्) में है; शेष चार में तो 'आ' है। इसलिए अङ्घिन्न को भी विधान किया होने से 'अतः' से अवर्णमात्र लिया जाएगा, ह्रस्वमात्र

---

1. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 141 : **" 'न' इति निवृत्तम्, असम्भवात्" इति मैत्रेयः। निषेधात् पूर्वमपाठः फणादि-कार्यानुरोधादिति च।**

(6.4.125)—एषां वा एत्वाभ्यास-लोपौ स्तः, किति लिटि, सेटि थलि च। फेणतुः, फेणुः, पफणतुः, पफणुः; फेणिथ, पफणिथ। फणयति।

वृत् ॥ 41 ॥ घटादिः समाप्तः। फणेः प्रागेव 'वृत्' इत्येके। तन्मते 'फाणयति' इत्येव ॥ 78 ॥

हैं, इत्संज्ञक ककार (कित्) वाला लिट् और इट्-सहित थल् बाद में होने पर। फेणतुः, फेणुः, पफणतुः, पफणतुः। फेणिथ, पफणिथ। फणयति।

समाप्त ॥ 41 ॥ घटादि गण समाप्त हुआ। कुछ लोग "'समाप्त' ('वृत्') शब्द √फण् से पहले ही है", यह कहते हैं। उनके मत में 'फाणयति' ही होता है ॥ 78 ॥

नहीं : सप्तानां फणां च अतः (अकारस्य स्थाने) वा एत्, अभ्यास-लोपश्च, किति लिटि सेटि थलि च—√फण् आदि सात धातुओं के अकार को विकल्प से एकार आदेश और अभ्यास का लोप होते हैं, बाद में कित् लिट् और इट्-सहित थल् होने पर। √फण् को बहु-वचन में देने से √फण् के बाद की धातुएँ ली जायेंगी, क्योंकि √फण् तो एक ही है, बहुत-सी नहीं। 'सात' कहने से 1 √फण्, 2 √राज्, 3 √भ्राज्, 4 √भ्राश्, 5 √भ्लाश्, 6 √स्यम्, 7 √स्वन् ली जायेंगी। इन सब में ये दोनों कार्य अन्य सूत्र से प्राप्त नहीं है।

पफाण; फेणतुः, पफणतुः, फेणुः, पफणुः; फेणिथ, पफणिथ; फणिता; अफाणीत्, अफणीत्। फणयति। अफाणि, अफणि। फाणंफाणम्, फणं-फणम्। शुद्ध √फण् का भाव, कर्म में लुङ्, एकव० में अफाणि; णमुल् में फाणम्फाणम्। गति से भिन्न अर्थ में **फाणयति सक्तून्** सत्तू सानता है, सत्तुओं में चीनी या पानी मिलाता है। फाणितं= राब, चासनी। फाण्ट=कुटी हुई औषधि को गर्म पानी में फेंटकर तथा छानकर बनाया हुआ पेय।

घटादि गण की सीमा पर मत-भेद : घटादि गण की इयत्ता के बारे में निम्न मतों का उल्लेख मिलता है : (1) क्षीरस्वामी का कहना है कि कुछ लोगों के मत में घटादि गण √फण् से पूर्व समाप्त हो जाता है। उनके इस कथन की पुष्टि मैत्रेय ने भी की है।[1] (2) सायण ने गण-समाप्ति सूचक 'वृत्' शब्द √फण् के पश्चात् दे कर 'घटादि गण समाप्त हुआ' कहा है। का० कृ० धातुपाठ में भी √फण् के बाद 'वृत्'

---

1. क्षी० त० 1.561 : **'फणेः पूर्वं घटादय' इत्येके।** मा० धा० वृ०, पृष्ठ 141 : **"अस्मात्पूर्वं 'वृत्' इत्येके" इति मैत्रेयः।** पृष्ठ 143 : **षम ष्टम वैक्लव्ये—स्वाम्यादयः 'केचिदेतदन्ता घटादय' इति।**

देकर घटादि गण की वहाँ समाप्ति बताई है।[1] (3) सायण ने बताया है कि बोधि-न्यास में घटादि गण को √ध्वन् (24.3) पर समाप्त माना गया है।[2] (4) क्षीर-स्वामी ने **षम ष्टम अवैक्लव्ये** (क्षी० त० 1.566) के पश्चात् 'वृत्' देकर किन्हीं सभ्यों के हवाले से बताया है कि वे √स्तम् तक घटादिगण का पसारा मानते हैं।[2] उन्होंने √फण् से √स्तम् तक की ऋदितों को छोड़कर शेष धातुओं में मित्कार्य दिखलाया भी है।[3]

सायण ने अन्तिम दो मतों पर टिप्पणी करते हुए कहा है :[4] (i) इन दोनों मतों में √फण् के मित्त्व पर कोई विवाद नहीं है। परन्तु (ii) 1 √राज्, 2 √भ्राज्,

---

1. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 141 : **वृत्, 'समाप्तो घटादिर्वर्तत' इत्यर्थः।** का० कृ० धा० पा० 1.629 : **वृत् घटादयो मानुबन्धा एकत्वे।**
2. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 143 : **बोधि-न्यासे तु 'ध्वन्यन्ता' इति।** यहाँ √ध्वन् से **'स्यमु स्वन ध्वन शब्दे'** गणसूत्र में पठित √ध्वन् का ही ग्रहण अभीष्ट है, क्योंकि सायण ने इसी के ग्रहण का खण्डन किया है।
3. क्षी० त० 1.567 : **वृत्—'घटादय एतदन्ता' इति सभ्याः।** और **'स्तनयति'** उदाहरण।
4. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 143 : **तत्र (i) फणतौ मित्त्वे न विवादः; (ii) राजादीनां त्वनन्तराणां चतुर्णां णौ चङ्युपधा-ह्रस्व-निषेधार्थादृदित्करणाल्लिङ्गान्न भविष्यति।† (iii) स्यमेरमन्तत्वात्, (iv) स्वनि-ध्वन्योश्च पूर्वत्र पाठान्मित्त्वं सिद्धम्। सर्वैरपि शब्दार्थत्व एव मित्त्वं यथा स्यादिति पूर्वत्र पाठोऽङ्गीकृतः, (iii) षमिष्टम्योरप्यमन्तत्वादेव मित्त्वं सिद्धमित्याहो-पुरुषिका-मात्रमेवैतद् (i) 'ध्वन्यन्ता घटादयः', [(ii) 'स्तम्यन्ता घटादय']‡ इति मतद्वयम्।**

†**'नाग्लोपि०'** से **'णौ चङ्युप०'** से प्राप्त उपधा-ह्रस्व का ही निषेध होता है। वह **'मितां ह्रस्वः'** का निषेध नहीं करता। अतः णिज्लुङ् में **'नाग्लोपि०'** से ह्रस्व करने पर भी **'मितां ह्रस्वः'** से ह्रस्व होने से धातु को ह्रस्व-निषेधार्थ ऋदित् करना व्यर्थ हो जाता है। इन धातुओं को ऋदित् करना तभी सार्थक होगा, जब ये धातु मित् नहीं हों। अतः ऋदित् पाठ इन धातुओं के अमित्त्व का लिंग है।

‡चौ० सं० में कोष्ठस्थ पाठ प्रूफ की भूल से छूट गया लगता है। **'मत्-द्वयम्'** कहने से यह अपेक्षित है।

क्षी० त० में √ध्वन् भोजीय सूत्र की व्याख्या में दी जा चुकी है। क्षी० त० में √ध्वन् का स्यमादि धातु-सूत्र (24.1) में पाठ सन्दिग्ध है, यह पीछे √ध्वन् की व्याख्या में कहा जा चुका है।

3 √भ्राश् और 4 √भ्लाश् को ऋदित् करने से सूचित होता है कि इन धातुओं से णिच्, लुङ् में उपधा-ह्रस्व **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** से बाधित है, यह इन धातुओं के मित् नहीं होने का सूचक है। (iii) √स्यम्, √सम् और √स्तम् अमन्त होने के कारण मित् हैं ही। (iv) √ध्वन् और √स्वन् को मिद्विधानार्थ पहले दिया ही जा चुका है।

सायण ने √फण् से पूर्व घटादि गण की समाप्ति मानने वाले प्रथम मत पर कोई टिप्पणी नहीं की है। पर वे उससे सहमत भी नहीं हैं। हमारे विचार में प्रथम मत ही उचित है। हेतु ये हैं :

(i) धातु-पाठ में √घट् (20.1) से √स्वन् (24.2) तक 56 धातुएं देकर **घटादयो मितः** (21.32) कहा गया है तथा इसके बाद मिद्विधान का (क) शेष, (ख) विकल्प और (ग) निषेध देकर √स्खद् (21.39 धा० सू०) पर प्रकरण समाप्त कर दिया है। यदि √फण् (21.40) मित् मानी जाए, तो समाप्त-पुनरावृत्तता शैली-दोष आता है। फणादिकार्य के लिये इस स्थल में रख कर भी मित्त्वार्थ इसे ज्वरादि-गत णकारांत धातुओं में उसी तरह रखा जा सकता था, जैसे अन्य बहुत-सी अन्यत्र पठित धातु वहाँ रखी गई है। इससे मित्संज्ञा भी हो जाती, और फणादि कार्य भी।

(ii) इसके अमित्त्व-सूचक प्रयोग 'फाण्ट' के रूप में अष्टाध्यायी में **क्षुब्ध-ध्वान्त०** (7.1.18) में तथा **फाण्टाहृति-मिमताम्यां ण-फिजौ** (4.1.150) में, एवं 'फाणित'[1] के रूप में प्रथम सूत्र पर म० भा० और का० में उपलब्ध हैं। जबकि मित्त्व-सूचक प्रयोग कोई नहीं मिलता। इसलिये प्रयोगों की दृष्टि से √फण् की घटादि में पाठ की आवश्यकता संदेह से परे नहीं है।

अतः घटादि गण को √फण् से पूर्व ही समाप्त समझना उचित है।

दीक्षितजी ने सायण का अनुकरण किया है।

धातु-योग : गत 762, वर्तमान वर्ग में 25[2], योग 787 ।। 78 ।।

संदर्भ : √फण् आदि सात धातुओं का प्रकरण पिछले वर्ग की अंतिम धातु से प्रारब्ध हुआ है। यह कित् लिट् और सेट् थल् में विशेष रूप बनने की दृष्टि से (morphologically) बनाया गया है। इसकी एक धातु णिच्, चिण् और णमुल् में

---

1. म० भा० के झज्झर-सं० में 'फणितम्' (ह्रस्ववान्) पाठ प्रूफ की भूल है। इट्-पक्ष में ह्रस्व-विधान प्राप्त नहीं है। काशिका में ठीक छपा है।
2. ज्वरादि फणांत धातु कुल 73 हैं, किंतु इनमें से 48 तो अन्यत्र पठित हैं तथा तत्तत् स्थानों में परिगणित होती हैं; यहाँ तो ये मित्त्वार्थ अनूदित हैं। अतः, उन्हें नई धातु के रूप में नहीं जोड़ा गया है। द्र० 21वें वर्ग का 'संदर्भ', पृष्ठ 549.

22.1 राजृ दीप्तौ ॥ 1 ॥ स्वरितेत्—राजति, राजते; रेजतुः, रराजतुः, रेजे, रराजे—'अत' इत्यनुवृत्तावपि विधान-सामर्थ्यादात एत्त्वम् ।

धातुवर्ग 22 : फणादि-गण-गत प्रकीर्ण धातु

22.1 √राज् दीपना अर्थ में है ॥ 1 ॥ (यह) इत्संज्ञक स्वरित वर्णवाली है—राजति, राजते । रेजे, रराजे—('फणां च सप्तानाम्' में) 'अतः' की अनुवृत्ति होने पर भी (चूंकि इस सूत्र से) विधान किया गया है, अतः दीर्घ आ को ए होता है ।

विशिष्ट रूप-रचना अभिप्रेत होने से पिछले वर्ग के अंत में आ चुकी है । चार धातुएँ —एक उभय-पक्षी, तीन आत्मनेपदी—प्रकीर्ण होने के कारण किसी बड़े वर्ग में न रख कर कुल दो धातु-सूत्रों में दी हैं । फणादि गण की शेष दो धातु परस्मैपदी होने के कारण परस्मैपदी धातुओं वाले 24वें वर्ग के आदि में दी हैं । सब धातु सेट् हैं । इस प्रकार यह पूरी व्यवस्था रूप-रचना के वैशिष्ट्य (morphology) पर आधारित है ।

√राज् आदि के अर्थ पर विचार : √राज् आदि चारों धातुएँ धातु-पाठों में 'दीप्ति' अर्थ में बताई हैं । किन्तु इनकी दीप्ति समान नहीं हैं—

22.1 **√राज्** ऋग्वेद में ऐश्वर्य (ईश्वर=स्वामी होना, शासन करना) अर्थ में सकर्मक[1] है तथा तिङंत और कृदंत दोनों रूपों में प्रयुक्त मिलती है ।[2] यही कारण है कि निघंटु में इसका समाम्नान 'ऐश्वर्य' अर्थ में ही किया है ।[3] अतः √राज् का मूलार्थ स्वामी होना है । स्वामित्व के साथ जो व्यक्तित्व की शोभा, तेज, प्रभाव, प्रताप, रौब, शान-औ-शौकत की चमक-दमक होती है, उस अर्थ में भी यह अकर्मक के रूप में प्रयुक्त मिलती है ।[4] लौकिक संस्कृत में तो इसका यही अर्थ प्रचलित मिलता है ।[5] धातु-पाठों में इस धातु के इसी काल में प्रचलित अर्थ को 'दीप्ति' से बतलाया गया

---

1. इसके कर्म में प्रायेण षष्ठी मिलती है : ऋ० 1.143.4; 4.53.4; 10.13.5. **अग्निर्देवेषु राजति** (ऋ० 5.25.4) में सप्तमी भी प्रयुक्त है ।
2. ऋ० 4.42.1-2 : **राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः** । 5.71.2 : **विश्वस्य हि प्रचेतसा वरुण मित्र, राजथः** । 1.32.15 : **इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा** । 7.34.11 : **राजा राष्ट्रानाम्** । इत्यादि ।
3. निघण्टु 2.11 : **इरज्यति, पत्यते, क्षयति, राजतीति चत्वार ऐश्वर्य-कर्माणः** ।
4. ऋ० 6.47.19 : **युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति** ।
5. यही कारण है कि यास्क के **'राजा राजतेः'** (निरुक्त 2.2) कथन की व्याख्या में दुर्ग और स्कन्द ने √राज् को दीप्त्यर्थक बताया है । यास्क को अभिप्रेत निघण्टु-प्रोक्त 'ऐश्वर्य' अर्थ की ओर उनका ध्यान नहीं जा पाया । नि० पाँ० अ०, पृष्ठ 175.

23.1 टुभ्राजृ, 2 टुभ्राशृ, 3 टुभ्लाजृ दीप्तौ ॥ 1 ॥ अनुदात्तेतः । भ्राजतेरिह पाठः फणादि-कार्यार्थः; पूर्वं (6.20) पाठस्तु 'व्रश्च०' (8.2.36).

23 (इत्संज्ञक टु और ऋ वाली) 1 √भ्राज्, 2 √भ्राश्, 3 √भ्लाश् दीपना, तीखा होना अर्थ में हैं ॥ 1 ॥ इत्संज्ञक अनुदात्त (ऋ वर्ण) वाली हैं। इस प्रकरण में √भ्राज्, को √फण् आदि से विहित कार्य के लिये दिया गया है; और पहले

है। पछाँही प्राकृतों (अवेस्ता, लैटिन तथा तन्निःसृत बोलियों) में यह अपने मूलार्थ में ही मिलती है।[1]

23.1 √भ्राज् आग की लपटों की चमक के प्रसंग में ऋग्वेद में सुप्रयुक्त मिलती है।[2] यह इसका मूलार्थ प्रतीत होता है। इस अर्थ से चल कर यह अन्य प्रकार की चमक—शस्त्रों की चमक, सोने की चमक जैसी दीप्ति—अर्थ में प्रयुक्त होने लगी।[3] तथा तदनन्तर यह व्यक्तित्व की चमक, शोभा जैसे अर्थ में प्रयुक्त होने लग गई।[4]

2 √भ्राश् का प्रयोग ऋग्वेद में शस्त्रों के तीखे होने के प्रसंग में मिलता है।[5] अतः घिसने से होने वाली चमक इस दीप्ति का अर्थ है।

3 √भ्लाश् हमारे विचार में कोई स्वतंत्र धातु नहीं है, अपितु √भ्राश् का ही क्षेत्रीय प्राकृत उच्चारण है, जो उस काल में संस्कृत-भाषियों में भी प्रचलित था। अतः इसका अर्थ भी √भ्राश् जैसा ही समझना चाहिये।

√भ्राज्, √भ्राश् और √भ्लाश् का अर्थ कौंधने, चमकने जैसी दीप्ति है, जबकि √राज् का अर्थ शोभा की चमक-दमक है। √भ्लाश् का पछाँही रूप अंग्रेजी की √flash में उपलब्ध है।

ये सब ऋदित् हैं, अतः णिच्, लुङ् में **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** (2314) से प्राप्त

---

1. यह लैटिन में rex, regimen, regere, regalis आदि में तथा अंग्रेजी में regis, royal, regnal आदि शब्दों में शासन अर्थ में ही उपलब्ध है। अवेस्ता में यह 'राज़' के रूप में है : दातो-राज़ो।
2. ऋ० 1.44.12 : **अग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः।** 10.140.1 : **अग्ने, तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।**
3. ऋ० 7.55.2 : **वीव भ्राजन्त ऋष्टयः।**
4. **नैतावदन्ये मरुतो यथेमे भ्राजन्ते रुक्मैरायुधैस्तनूभिः।** ऋ० 7.57.3.
   य ऋष्वा वात-रंहसोऽरुषासो रघु-ष्यदः। भ्राजन्ते सूर्या इव ॥ 8 34.17.
5. **नि तिग्मानि भ्राशयन् भ्राश्यान्यव स्थिरा तनुहि यातु-जूनाम्।** ऋ० 10.116.5.

आदि-षत्वाभावार्थः; तत्र हि राजि-साहचर्यात् फणादेरेव ग्रहणम्। भ्रेजे, (6.20 में) 'व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राज-च्छशां षः' (8.2.36) से होने वाले षकारादेश को न होने देने के लिये दिया है; क्योंकि वहाँ √राज् के साथ के

ह्रस्व का निषेध **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** (7.4.2) से होता है : अरराजत्, अवभ्राशत्, अवम्लाशत्। √भ्राज् से ह्रस्व का विकल्प **भ्राज-भास-भाष-दीप-जीव-मील-पीडा-मन्यतरस्याम्** (7.4.3) से होता है : अबिभ्रजत्, अबभ्राजत्। क्षीरस्वामी का कहना है कि कुछ लोग √भ्राज् और √भ्राश् को ऋदित् नहीं मानते। पक्ष में ह्रस्व इष्ट है।[1]

√**भ्राज्** धातु-पाठ में पहले (6.20 में) भी आ चुकी है तथा दोनों जगह यह इत्संज्ञक अनुदात्त ह्रस्व ऋकार वाली पठित है। दोनों जगह यह ऋदितों के मध्य पठित होने से ही ऋदित् बनाई प्रतीत होती है; अन्यथा ऋदित् करने का कोई प्रयोजन तो नहीं है, क्योंकि ऋदित्त्व का प्रयोजन णिच्, लुङ् में **णौ चङ्युप०** से प्राप्त उपधा-ह्रस्व को **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** से निषिद्ध करना है, जो यहाँ **भ्राज-भास०** सूत्र से विशेष रूप से विकल्प-विधान से बाधित हो जाता है; यदि यह धातु ऋदित् है, तो विकल्प-विधान

---

1. क्षी०त० 1.564 : **भ्राजि-भ्राश्योर्ऋदित्वं नेच्छन्ति। पक्षे ह्रस्वस्येष्टत्वम्—अबिभ्रजत्, अबभ्राजत्।**

√राज् आदि धातुओं की मितों में गणना करने के बावजूद उनके मित्त्व की चरितार्थता (**'मितां ह्रस्वः'** से ह्रस्व) वाले उदाहरण न देने से क्षी०त० का यह स्थल इस विषय में बहुत अस्पष्ट हो गया है। कोढ़ में खाज उनकी उपर्युद्धृत पंक्ति ने कर दी है। हमारे विचार में इसका तात्पर्य यह है : **'भ्राजि-···नेच्छन्ति'** वाक्य उनके अनुबंध-विचार का शेष है, अतः इसके बाद पूर्ण-विराम होना चाहिए। **'पक्षे ··अबिभ्रजत्'**। से उन्हें √भ्राज् को **'भ्राज-भास-भाष०'** (7.4.3) से विहित वा ह्रस्व देना अभिप्रेत है। इसे न समझ कर यु०मी० जी ने इस ह्रस्व-कथन को √भ्राश् से भी संबद्ध मान कर प्रकृत **'इष्टत्वम्'** से कोई इष्टि समझी है : **ह्रस्व-विकल्प-विधायके सूत्रे भ्राशेः पाठादर्शनादिष्टिरेवैषा विज्ञेया** (क्षी०त०, पृष्ठ 115, टि० 4)। √राज् और √म्लाश् से णिच्, लुङ् में **'नाग्लोपि-शास्वृदिताम्'** से ह्रस्वनिषेध होने के कारण अरराजत्, अबम्लाशत् रूप क्षीरस्वामी के मत में बनने चाहियें। √भ्राश् के ऋदित्पाठ-पक्ष में निषिद्ध-ह्रस्व अबभ्राशत् तथा अदित्पाठ-पक्ष में कृत-ह्रस्व अबिभ्रशत् रूप होने चाहियें। किन्तु णिजंत में **'मितां ह्रस्वः'** से ह्रस्व का स्वामी जी क्या करेंगे? क्या ऋदित्त्व के कारण वे इन धातुओं को मित् नहीं मानते?

प्राप्त-विभाषा है; यदि अदित् है, तो अप्राप्त-विभाषा है; इससे रूप-रचना तथा प्रक्रिया में कोई अंतर नहीं पड़ता। ऋकार को अनुबंध के रूप में देने का कोई फल न होने के कारण काशिका-कार ने इसे ऋदित् करना अपाणिनीय बतलाया है।[1] पद-मंजरी (श्रीद्वारिकादासशास्त्री के सं०) में पहली धातु अकारवान् छपी है, पर यह प्रूफ की अशुद्धि ही प्रतीत होती है : (1) वहाँ यह ऋदितों वाले धातु-सूत्र **एजृ, भ्रेजृ, भ्राजृ दीप्तौ** (6.18-20) में पठित होने से ऋदित् ही उचित है; (2) न्यासकार ने भी धातु-सूत्र का यही स्वरूप उद्धृत किया है।

न्यास-कार का कहना है कि फणादि गण को विहित कार्य के लिए √भ्राज् यहाँ तो आवश्यक है। भ्वादि-गणांतर्गत होने से आवश्यक शप् आदि कार्य भी यहीं पाठ से सिद्ध हो जाते हैं, तब पीछे दी √भ्राज् से कोई प्रयोजन-विशेष सिद्ध न होने से वहाँ **भ्राजृ** का समाम्नान अनार्ष-सा प्रतीत होता है।[2] सूत्र-कार ने तीन सूत्रों में √भ्राज् से कार्य बताए हैं : (1) **भ्राज-भास-धुर्वि०** (3.2.177) से क्विप्, (2) **भ्राज-भास०** (7.4.3) से उपधा-ह्रस्व-विकल्प तथा (3) **व्रश्च-भ्रस्ज०** (8.2.36) से ज् को षकारादेश। इसके अतिरिक्त फणादि गण में भी व्याख्याता लोग इसका पाठ आवश्यक मानते है, क्योंकि √भ्राज् को एत्वाभ्यासलोप तो प्रयोग-वशात् इष्ट है, पर √भ्राज् को फणादिगण में न मानने पर सात संख्या की पूर्ति के लिए √ध्वन् का ग्रहण फणादित्वेन होगा, जो उस से एत्वाभ्यास-लोप के शिष्टों में अप्रयुक्त होने के कारण ग्राह्य नहीं है।(1-2) पूर्वोक्त क्विप् तथा उपधा-ह्रस्व होने में √भ्राज् जहाँ-कहीं पठित हो, कोई अतर नहीं आता; (3) √ राज् के साहचर्य से **व्रश्च-भ्रस्ज०** सूत्र में फणादि-गत √भ्राज् का ही ग्रहण होगा, अन्यत्र-पठित का नहीं।[3] अतः फणादियों में तो √भ्राज् आवश्यक है, पर पीछे छठे वर्ग में इसका पाठ निरर्थक ही है।

---

1. का० 7.4.3 : **भ्राज-भासोर्ऋदित्करणमपाणिनीयम्**। यहाँ न्या० तथा प० म० भी देखें।

2. न्यास 7.4.3 : **तत्रान्तर्गण-कार्यार्थः फणादिष्ववश्यमेवास्य पाठोऽङ्गी-कर्तव्य इति तेनैव शबादेरपि गण-कार्यस्य सिद्धत्वादन्यत्रास्य पाठोऽनार्ष इव लक्ष्यते**। यहाँ 'अनार्ष-सा' बताते हुए भी न्यास-कार ने **नभ्राण्-नपान्०** (6.3.75) के 'नभ्राट्' को इसी 'अनार्ष-से' पाठ वाली √भ्राज् से ही सिद्ध किया है : **भ्राजृ दीप्तौ, अस्माद् 'भ्राज-भास०' इत्यादिना क्विप्, जकारस्य 'व्रश्च०' इत्यादिना षकारः, तस्य जश्त्वं, डकारः**।

3. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 63, के अनुसार यह मैत्रेय, क्षीरस्वामी तथा संमता-कार मानते हैं।

बभ्राजे; । 'वा भ्राश०' (2321) इति श्यन् वा—भ्राश्यते, भ्राशते; भ्रेशे, बभ्राशे; भ्लाश्यते, भ्लाशते; भ्लेशे, बभ्लाशे । द्वावपीमौ तालव्यान्तौ ।। 79 ।।

कारण फणादि गण में पठित √भ्राज् ही ली जाती है । भ्रेजे, बभ्राजे । **वा भ्राश-भ्लाश०** (2321) से विकल्प से श्यन् होता है—भ्राश्यते, भ्राशते; भ्लाश्यते, भ्लाशते । ये दोनों धातु अंत में तालव्य ऊष्म (श्) वर्ण वाली हैं ।। 79 ।।

सायण ने पूर्वागत √भ्राज् की व्याख्या में (मा० धा० वृ०, पृष्ठ 63 पर) न्यास-कार के इस कथन को 'दुरुक्त' कहा है, पर स्वयं कोई तर्क नहीं दिया है । उन्होंने प्रथम √भ्राज् के पदांतीय ज् को षत्व न करके 'विभ्राक्' रूप बनाया है । क्षीरस्वामी ने भी प्रथम √भ्राज् से यङ्-लुक् में षत्वाभाववान् 'बाभ्राक्ति' रूप बनता बताया है, जबकि प्रकृत √भ्राज् से 'बाभ्राष्टि' । क्षीरस्वामी और सायण के इसी मंतव्य को स्पष्ट करते हुए दीक्षितजी ने प्रथम (6.20) धातु को मानने का प्रयोजन षत्वाभाव बताया है ।

किंतु क्षीरस्वामी और सायण की यह कल्पना पंडिताऊ खींचतान ही अधिक प्रतीत होती है : √भ्राज् के षत्वाभाव वाला एक भी रूप वाङ्मय में दुर्लभ है, जबकि षत्व वाले रूप ऋग्वेद से लेकर आज तक प्राचुर्येण प्रयुक्त मिलते तथा होते हैं ।

यहाँ 23.1 √भ्राज् का पाठ परंपरा में दो तरह से मिलता है : (1) न्यास और पद-मंजरी (6.4.125 पर दोनों में तथा 7.4.3 पर न्यास) में इसे 'टु' अनुबंध-सहित उद्धृत किया गया है । मैत्रेय ने भी 'तीनों ट्वित् हैं', कहा है । सायण ने स्वयं भी 'टु'-सहित पाठ ही सिद्ध किया है । (2) क्षीरस्वामी ने दोनों जगह √भ्राज् को 'टु'-रहित 'भ्राजृ' ही दिया है, पर एकीय मत उद्धृत किया है कि 'भ्राजृ टुभ्राशृ' पाठ में 'टु' अगली-पिछली दोनों धातुओं के साथ संगत होता है ।[1] पाणिनि-भिन्न तंत्रों में काशकृत्स्न और चंद्र-गोमी ने टु-रहित पाठ ही दिया है ।

22.1 √राज् स्वरितेत् बताई है, अतः यह उभय-पदी है । 23.1 √भ्राज् आदि तीनों धातु अनुदात्तेत् बताई हैं, अतः ये आत्मनेपदी हैं । 2 √भ्राश् और 3 भ्लाश् से कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्ययों में शप् के स्थान पर श्यन् **वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु०** (2321) सूत्र से विकल्प से होता है : भ्राश्यते, भ्राशते; भ्लाश्यते, भ्लाशते । लिट् के पिद्-भिन्न प्रत्यय **असंयोगाल्लिट् कित्** से कित्-संज्ञक हैं । उनमें तथा थल् में **फणां च सप्तानाम्** से अभ्यास का लोप तथा अभ्यासोत्तर-वर्ती अंश के अकार

---

1. क्षी० त० 1.554 : **'टुरुभयस्येत्येके—'ट्वितोऽथुच्' (3.3.89) भ्राजथुः ।**

को एकार विकल्प से होते हैं : रेजतुः, रराजतुः, रेजे, रराजे; भ्रेजे, बभ्राजे; भ्लेशे, बभ्लाशे। √भ्राज् और √भ्राश् इसी क्रम में निघंटु (1.16.1-3) में भी समाम्नात हैं : भ्राजते, भ्राशते, भ्राश्यति। √भ्राश् से निष्पन्न नामपद भ्राश्य ऋ० 10.116.5 में भी प्रयुक्त है।

3 √भ्लाश् ऐतिहासिक दृष्टि से 2 √भ्राश् से ही विकसित प्रतीत होती है। तु० अंग्रेजी √Flash।

क्षीरस्वामी चूँकि इन धातुओं को मित् मानते हैं, अतः णिच् में इनमें **मितां ह्रस्वः** से ह्रस्व होना चाहिए : रजयति, भ्रजयति, भ्रशयति, भ्लशयति। पर राजयते (मै० सं० 4.12.3) राजयति (तै० सं० 2.4.14.2) तथा राजयातै (अ० स० 6.98.1), भ्राजयति (श० ब्रा० 3.6.1.12), भ्राशयन् (ऋ० 10.116.5)[1] में उपलब्ध ह्रस्वाभाव का क्या प्रतिविधान स्वामीजी करेंगे ?

धातु-योग : पूर्वयोग 787, वर्तमान 4, योग 791 ॥ 79 ॥

संदर्भ : फणादि गण की सात धातुएँ मिश्रित—परस्मैपदी, आत्मनेपदी तथा उभय-पदी—हैं। अतः आचार्य ने उन्हें प्रकीर्ण रूप में दिया है। इन्हीं में दो धातु परस्मैपदी हैं, जिन्हें आचार्य ने उभयपदी तथा आत्मनेपदी धातुओं के बाद दिया है। परस्मैपद का प्रकरण प्रारंभ होने के कारण उनके बाद आचार्य ने और भी 24 धातु परस्मैपदी ही दे दी हैं। इसमें एक हेतु और है : √ध्वन् पीछे (21.42) मित्त्वार्थ अनूदित है; उसे यहाँ मित्प्रकरण के नकारांत √स्वन् के नैकट्य के कारण दिया गया प्रतीत होता है; इसी प्रकार 4 √सम् एवं 5 √स्तम् अमंत होने के कारण मित् हैं तथा नैकट्य के कारण ही यहाँ संकलित प्रतीत होती हैं। उनके अनंतर **ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः** (3.1.140) में अभिप्रेत ज्वलादि गण की 30 धातुओं में से 21 धातु दी गई हैं। मितों से नैकट्य को देखते हुए तो इन 21 धातुओं के अंत में पठित 24 √वम् और 25 √भ्रम् को भी 5 √स्तम् के पश्चात् दिया जाना उचित था। इसी प्रकार √क्षर् को लकारांतों से पूर्व देना उचित था और तवर्गीयांतों को नकारांतों के बाद।[2]

इस वर्ग में कुल धातु 26 हैं; क्षी०त० में 28 संख्या बताई है तथा 2 धातु—2 √स्वन् के पश्चात् √स्तन् (सोपदेश) तथा अन्तिम √क्षर् के पश्चात् **क्षल संचये च**—अतिरिक्त दी हैं; किंतु (1) √स्तन् क्षी०त० में पहले 310 वें धातु-सूत्र में 452वीं धातु के रूप में आ चुकी है; (2) यह षोपदेश-नियम के विरुद्ध है; (3) इसके यहाँ

---

1. यह शब्द वै० प० को० 1.4 पृष्ठ 2383 में संकलित नहीं है।
2. इस सारे प्रकरण के गठन पर विचार करके बेहतर गठन ज्वलादि गण के अंत में सुझाया गया है।

24.1 स्यमु, 2 स्वन, 3 ध्वन शब्दे ॥ 1 ॥ 1 स्यमादयः 26 क्षरत्यन्ताः परस्मैपदिनः ।[1] स्येमतुः, सस्यमतुः, अस्यमीत् । स्वेनतुः, सस्वनतुः; अस्वानीत्, अस्वनीत्; विष्वणति, अवष्वणति='स-शब्दं भुङ्क्ते' इत्यर्थः । 'वेश्च स्वनो०' (2274) इति षत्वम् ।

वर्ग 24 : प्रकीर्ण तथा प्रत्यय-विशेष में अभीष्ट धातु

24.1 √स्यम् (उदित्), 2 √स्वन्, 3 √ध्वन् आवाज़ करना अर्थ में हैं ॥ 1 ॥ 1 √स्यम् से लेकर 26 √क्षर् तक परस्मैपदी हैं । स्येमतुः, सस्यमतुः; अस्यमीत्; स्वेनतुः, सस्वनतुः; अस्वानीत्, अस्वनीत्; विष्वणति, अवष्वणति, अर्थात् आवाज़ करते हुए खाता है, 'वेश्च स्वनो भोजने (2274) से षकारादेश होता है ।

पाठ से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; (4) फणादि गण की समाप्ति के बाद काशिका में √ध्वन् ही दी हैं, √स्तन् नहीं[2]; (5) इस प्रसंग में न्यास और पद-मंजरी में उद्धृत धातु-सूत्र में भी √स्तन् नहीं है ।[3] अतः √स्तन् यहाँ अनार्ष ही प्रतीत होती है । √क्षल् शौच (धोने) में प्रसिद्ध है, जो चुरादि गण में है; इस (संचय और संचलन) अर्थ में इसके प्रयोग मृग्य हैं; यहाँ यह अन्याचार्य-सम्मत नहीं है, अतः यह भी अनार्ष ही प्रतीत होती है ।

ये सब धातु परस्मैपदी तथा सेट् हैं ।

24.1 √**स्यम्**, 2 √**स्वन्** तथा 3 √**ध्वन्** आवाज़ करना अर्थ में हैं । स्यमति; सस्याम, स्येमतुः, सस्यमतुः—**फणां च सप्तानाम्** से वा एत्त्व तथा अभ्यास-लोप; स्यमिता; स्यमिष्यति; स्यमतु; अस्यमत्; स्यमेत्; स्यम्यात्; लुङ् में अस्यम्+ईत्, **अतो हलादेर्लघोः** से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि का धातु के मकारांत होने के कारण **ह्म्यन्तक्षण०** से निषेध : अस्यमीत्, अस्यमिष्टाम्; अस्यमिष्यत् ।

स्वनति; सस्वान, स्वेनतुः, सस्वनतुः, अस्वानीत्, अस्वनीत्—वा वृद्धि होती है । विष्वणति, अवष्णति—मुंह से चप्-चप् की तरह की कोई आवाज़ करते हुए खाता

---

1. धातु वर्ग के सूचक वाक्य दीक्षितजी ने धातुवर्ग के आदि में दिये हैं । पर यह वाक्य धातुवर्ग के प्रथम धातुसूत्र के बाद दिया है । इस का कारण संभवतः फणादिगण के कारण प्राप्त निरंतरता है । धातुपाठ में वर्गपरिचयवाक्य वर्ग के अंत में दिया गया है । अतः वहाँ कोई विसंगति नहीं है ।
2. का० 6.4.125 : **'सप्तानाम् इति किम् ? दध्वनतुः, दध्वनुः, दध्वनिथ ।**
3. 6.4.125 पर न्यास :—**'स्यमु स्वन ध्वन शब्दे' इत्येते ध्वन-वर्जिताः फणादयः सप्त ।** प०म० : ···**स्यमु स्वन ध्वन शब्दे, अन्त्य-वर्जं फणादयः सप्त ।**

फणादयो गताः ।

दध्वनतुः । 4 षम, 5 ष्टम अवैकल्ये ।। 2 ।। ससाम; तस्ताम ।

√फण् आदि (सात धातुएँ) समाप्त हुईं ।

दध्वनतुः । 4 √सम्, 5 √स्तम् (दोनों षोपदेश), विकलता न होने में हैं ।। 2 ।। ससाम; तस्ताम ।

है, सपड़का लगता है, **वेश्च स्वनो भोजने** (2274) से षत्व, **अट्-कु-प्वाङ्०** (8.4.2), से णत्व । यह (21.43) अवतसंन अर्थ में मित् है । स्वनयति; शब्द अर्थ में स्वानयति । √स्वन् उच्चारणभेद से पछाँही प्राकृतों में supersonic आदि में, son (साँ), phone में है । sound शब्द 'स्वनित' का विकार है ।

√फण् से लेकर √स्वन् तक सात संख्या पूरी हो जाने के कारण फणादि गण समाप्त हुआ । 3 √**ध्वन्** 'शब्द' अर्थ में परस्मैपदी के रूप में ही मित् प्रकरण (21.42) में आ चुकी है; यहाँ इससे और कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; अतः इसकी फणादि गण में आवश्यकता नहीं है ।

4 √**सम्**, 5 √**स्तम्** (दोनों षोपदेश) विकल न होना, सम रहना, जारी रहना अर्थ में (अकर्मक) हैं ।[1] समति; ससाम, सेमतुः—**अत एक-हल्मध्ये०** से एत्व तथा अभ्यास-लोप । असमीत्—**इम्यन्त-क्षण०** से वृद्धि-निषेध । सम=सब, समान, आधा, अंग्रेजी : सम्, सेम्, सामि=आधा (semi, some, same, sum) । स्तमति; तस्ताम—**शर्पूर्वाः खयः** । अस्तमीत् । स्तामुः । ये दोनों धातु अमन्त होने से मित् हैं : समयति; स्तमयति । अंग्रेजी to stem, stem ।[2]

क्षी० त० में तथा धातुपाठ के संस्करणों में इस धातु-सूत्र के बाद 'वृत्' (समाप्त) उपलब्ध होता है । क्षीरस्वामी ने बताया है कि 'सभ्य' आचार्य √घट् आदि धातु यहाँ तक हैं, यह मानते हैं । सायण ने बोधि-न्यास का हवाला देते हुए एक मत और दिया है कि √घट् आदि धातु √ध्वन् तक हैं । सायण ने इन दोनों मतों का खण्डन करते हुए कहा है : फण् के मित्व पर कोई विवाद नहीं है; उसके बाद की √राज्, √भ्राज्, √भ्राश् और भ्लाश् को ऋदित् किया गया है, जिसके फल-स्वरूप इन्हें प्राप्त मित्कार्य का निषेध **नाग्लोपि-शास्वृदिताम्** से हो जाता है । अतः इन्हें मित्

---

1. क्षी० त० में 'अवैक्लव्य' (न घबड़ाना, विचलित न होना) तथा का० कु० धा० पा०, मा० धा० वृ० में 'वैक्लव्य' अर्थ दिया है । चन्नवीरकवि ने 'वैक्लव्य' का अर्थ 'श्रम' किया है । उन्होंने √स्तम् का अर्थ लौटाना, चुकाना बताया है ।
2. यह √स्तम्भ् से भी विकसित हो सकता है ।

6 ज्वल दीप्तौ ॥ 3 ॥ अज्वालीत् । 7 चल कम्पने ॥ 4 ॥ 8 जल

6 √ज्वल् जलने में है ॥ 3 ॥ 7 √चल् काँपने (हिलने) में है ॥ 4 ॥

करना व्यर्थ है। 1 √स्यम्, 4 √सम् और 5 √स्तम् अमंत होने के कारण मित् हैं ही। 2√स्वन् अर्थविशेष (अवतंसन) में और 3 √ध्वन् शब्दार्थ में मित्प्रकरण में दी ही जा चुकी हैं। ऐसी स्थिति में ये दोनों मत इन आचार्यों का अहंकार (आहो-पुरुषिका, 'वाह रे हम, क्या नई बात कही है', कहने-मानने की प्रवृत्ति) मात्र है। इन आचार्यों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि अमन्त होने के कारण मित्त्व सिद्ध होने पर भी 4 √सम् और 5 स्तम् को 'वृत्' करके पुनः मित् धातुओं में देने से सूचित होता है कि अमंतत्वेन प्राप्त मित्त्व अनित्य है, परिणामतः 'उत्क्रामयति' आदि प्रयोगों में अमंतत्वेन प्राप्त मित्त्व नहीं होता। सायण का इस पर कहना है कि 'उत्क्रामयति' आदि का समाधान तो काशिकाकार ने **मितां ह्रस्वः** (6.4.92) की **केचित्** के नाम से की व्याख्या में—सूत्र में **वा चित्तविरागे** (6.4.91) से 'वा' की अनुवृत्ति करके—दे ही दिया है।[1]

6 √**ज्वल्** जलना, दीपना अर्थ में (अकर्मक) है। यह घटादि गण में मित्त्वार्थ दी है तथा यहाँ ज्वलादि गण का कार्य करने के लिये दी है। ज्वलति; जज्वाल, जज्वलतुः; ज्वलिता; अज्वालीत्—**अतो हलादेर्लघोः** से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि को बाध कर **अतो ल्रान्तस्य** से नित्य वृद्धि होती है। सूत्र-कार ने √**ज्वल्** से लेकर √**कस्** तक पठित 30 उपसर्ग-रहित धातुओं को अच् का अपवाद ण प्रत्यय विकल्प से किया है : **ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः** (3.1.140)—ज्वालः, ज्वलः, ज्वाला, किन्तु प्रज्वलः।

---

1. मा० धा० वृ०, 1.814 धातु-सूत्र, पृष्ठ 143 : **अत्र स्वाम्यादयः केचिद् 'एतदन्ता घटादय' इति। बोधिन्यासे तु 'ध्वन्यन्ता' इति। तत्र फणतेर्मित्त्वे न विवादः। राजादीनां त्वनन्तराणां चतुर्णां णौ चङ्युपधा-ह्रस्व-निषेधार्थाद् ऋदित्करणा-ल्लिङ्गान्न मित्त्वं फलिष्यति। स्यमेरमन्तत्वात्, स्वनि-ध्वन्योश्च पूर्वत्र पाठान् मित्त्वं सिद्धम्। सर्वैरपि शब्दार्थत्व एव मित्त्वं यथा स्यादिति पूर्वत्र पाठोऽङ्गीकृतः। षमि-ष्टम्योरपि अमन्तत्वादेव मित्त्वं सिद्धम्। इति आहो-पुरुषिकामात्रमेवैतद् (1) 'स्तम्यन्ता घटादयः'†, (2) ध्वन्यन्ता घटादयः', इति मतद्वयम्। यत् तु तैरुक्तं 'षमि-ष्टम्योरमन्तयोः पुनः पाठेनामन्तलक्षणस्य मित्त्वस्यानित्यत्वज्ञापकाद् ‡ उत्क्रामयतीत्यादिसिद्धिः' इति, तदस्माभिः 'अमन्ताश्च'** (मा० धा० वृ० 1.806, पृष्ठ 140) **इति मित्त्वविधौ प्रकारान्तरेणोपपादितम्।**

†'स्तम्यन्ता घटादयः' अंश चौ० सं० में नहीं है। पूर्वापरसंगति के लिये इसे यहाँ होना चाहिये। इसलिये हमने जोड़ा है। ‡ 'ज्ञापनाद्' पाठ उचित है।

घातने ॥ 5 ॥ घातनं=तैक्ष्ण्यम् । 9 टल, 10 ट्वल वैक्लव्ये ॥ 6 ॥ 11 ष्ठल स्थाने ॥ 7 ॥ 12 हल विलेखने ॥ 8 ॥ 13 णल गन्धे ॥ 9 ॥ 'बन्धन'
8 √जल् घातन अर्थ में है ॥ 5 ॥ घातन माने तीक्ष्ण होना है। 9 √टल्, 20 √ट्वल् घबड़ाना अर्थ में हैं ॥ 6 ॥ 11 √स्थल् (षोपदेश) टिकाव होना अर्थ में है ॥ 7 ॥ 12 √हल् कुरेदना अर्थ में है ॥ 8 ॥ 13 √नल् (णोपदेश) गंध होना

---

7 √**चल्** कांपना, हिलना, चलना, डोलना अर्थ में है। चलति; चचाल, चेलतुः; अचालीत्। चालः, चल; प्रचलः। चञ्चलः, चलाचलः (तु० घनाघनः)। चुरादि में चलयति। हेतुमण्णिच् में चालयति।

8 √**जल्** घातन अर्थ में है। घातन का तैक्ष्ण्य अर्थ करना उचित नहीं है। घातन में स्पष्ट ही प्रेरणार्थकता झलक रही है, जिसके फलस्वरूप इसे सकर्मक होना चाहिए तथा तैक्ष्ण्य यानी तीखापन (तीखा होना) में अकर्मकत्व स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अतः काटना, तीक्ष्ण करना अर्थ होना चाहिए। जैसे :—जलं शिला अपि जलति —जल शिलाओं को भी काट-काटकर गंगा-पुत्र बना देता है। आचार्य क्षीरस्वामी ने **'घात्ये'** पाठ मानकर **'घात्यं=जडत्वम्, अतैक्ष्ण्यम्'** अर्थ किया है। काशकृत्स्न एवं चंद्र **'घान्ये'** पाठ मानते हैं। काशकृत्स्नधातु-पाठ की कन्नड टीका में **'घान्यं'** का अर्थ गीला करना (**आर्द्रीकरणम्**) किया है।

9 √**टल्** तथा 10 √**ट्वल्** घबड़ाना, व्यग्र होना अर्थ में (अकर्मक) हैं। सम्भवतः हिंदी का टलना एवम् टालना इसी से बना है। आचार्य क्षीरस्वामी ने 'वैप्लव्ये' पाठ देकर 'विप्लव एव वैप्लव्यम्' कहा है।

11 √**स्थल्** (षोपदेश) धातु स्थान, प्रतिष्ठा, आधार होना अर्थ में (अक०) है। आचार्य भट्टमल्ल 'स्थित होना' (**क्षियति, स्थलति, स्थित्याम्**) मानते हैं। इसका तिङन्त प्रयोग प्रायः नहीं होता। स्थली, स्थला, स्थाली, स्थलः आदि कृत्प्रकृतियों में ही प्रयोग उपलब्ध होता है।

सिद्धांतकौमुदी के प्रसिद्ध अंग्रेजी टीकाकार श्री श्रीशचंद्र वसु ने (**स्थल स्थाने**) **ष्ठल स्थाने** पाठ दिया है। चंद्र तथा काशकृत्स्न मूर्धन्यादि पाठ मानते हैं। क्षीरस्वामी तथा माधवीय धातुवृत्ति के मुद्रित संस्करण (चौखम्बा 1934 ई०) में दंत्यादि पाठ है। माधव ने ऐसे अन्य प्रसंगों में 'षोपदेशनियमविरुद्ध' कहकर दन्त्यादि पाठ का खण्डन किया है। अतः प्रतीत होता है कि उपर्युक्त पाठ संपादक की असावधानी का फल है।

12 √**हल्** हल वाहना, कुरेदना (सकर्मक), लकीर डालना (अकर्मक) अर्थ में है। हलति; जहाल, जहलतुः; अहालीत्—**अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि। हालः, हलः (वा ण, अच्)। हलाहल, हालाहल। हाला।

13 √**नल्** (णोपेदश) गन्ध अर्थ में, सेट् है। क्षीरस्वामी ने **'गन्धोऽर्दनम्'** कहा

इत्येके। 14 पल गतौ ॥ 10 ॥ पलति। 15 बल प्राणने, धान्यावरोधने च ॥ 11 ॥ बलति; बेलतुः, बेलुः। 16 पुल महत्त्वे ॥ 12 ॥ पोलति। 17 कुल संस्त्याने, बन्धुषु च ॥ 13 ॥ संस्त्यानं=सङ्घातः। 'बन्धु'-शब्देन अर्थ में है ॥ 9 ॥ कुछ लोग 'बाँधना' अर्थ में मानते हैं। 14 √पल् गति में है ॥ 10 ॥ 15 √वल् ताकत पाने और दाना पड़ने में है ॥ 11 ॥ 16 √पुल् बड़ा होने में है ॥ 12 ॥ 17 √कुल् संस्त्यान और बंधुओं में है ॥ 13 ॥ संस्त्यान माने ढेर होना

है, √अर्द् का अर्थ गति तथा याचना है। उन्हें गुजरना, चलना, बहना (अकर्मक) अर्थ अभिप्रेत प्रतीत होता है। उन्होंने उदाहरण प्रणलति, नालम्, नाला पद्मादीनां वृन्तम् (हिन्दी : नाल), नाली, नाडी, प्रणालः (पर-नाला) आदि दिये हैं। बाल-मनोरमा में **'गन्धो=गन्ध-क्रिया'** (महकना, महकाना) अर्थ में माना है। नलं=गन्धं ददातीति नलदः=खस। नलति, ननाल, नेलतुः; अनालीत्। आचार्य काश्यप 'बधन' अर्थ में मानते हैं।

14 √**पल्** गति में (अकर्मक) है। पलति; पेलतुः; अपालीत्। पलति गच्छति इति पलम्=बीतते देर नहीं लगती, अतः थोड़ा सा समय। पालयति=चारयति इति पालः=चराने के लिए पशुओं को घुमाने वाला पाळी (हरियाणवी), गवाम्पालः गोपालः=ग्वाला इस से भी निष्पन्न हो सकता है, तो 'रक्षण' अर्थ में जो √पाल् चुरादि में है, उस से भी। किन्तु 'गोपाल' के पर्याय 'गोप' में 'गति' की बजाय 'रक्षा' अर्थ अभीष्ट है : गाः पाति=रक्षति, पालयति इति गोपः।

15 √**बल्** जीना, प्राणित होना, बलयुक्त होना तथा धान्य आदि रोकना, कोठा-कुठार भरना, दाना पड़ना अर्थों में है। बलति; बबाल, बेलतुः; अबालीत्। बालयति। बलयति। बालः, बलम्। गेहूँ आदि की बाल। चुरादियों में **बलं प्राणने मित्** दिया है :

16 **पुल्** महान्, बड़ा होना, फूलना अर्थ में (अकर्मक) है। पोलति; पुपोल। अपोलीत्। पोलिका=फुल्का। **'र-लो व्युपधाद्धलादेः संश्च'** (1.2.26) से सेट् सन् तथा क्त्वा विकल्प से किंत् एवम् **उदुपधाद् भावादि-कर्मणोरन्यतरस्याम्** (1.2.21) से सेट् निष्ठा को कित्त्व का निषेध होता है। अतः पुपुलिषति, पुपोलिषति, पुलित्वा, पोलित्वा, पुलितम्, पोलितम्। पोल, पोला (अंदर से खाली) आदि शब्द भी इसी से निष्पन्न लगते हैं।

17 √**कुल्** समूह जुड़ना, एकत्रित होना, भीड़ होना (अक०) तथा बंधु बनना, संबद्ध होना, किसी प्रकार के सामाजिक बंधन में, भाईचारे में, बँधना (अक०) अर्थ में है। बालमनोरमाकार ने 'बंधुत्व बनाने वाला विवाह आदि व्यापार' अर्थ किया है। 'सन्ताने' पाठ भी मिलता है। 'सन्तान=लगातार चलते जाना, अभिन्न जाति वालों

तद्-व्यापारो गृह्यते। कोलति; चुकोल। 18 शल, 19 हुल, 20 पत्लृ गतौ ॥ 14 ॥ शशाल; जुहोल; पपात, पेततुः, पतिता। 2355 पतः पुम् (7.4.19)—अङि परे। अपप्तत्। 'नेर्गद०' (2285) इति णत्वम्—प्रण्यपप्तत्।

हैं। 'वंधु' शब्द से उनका व्यापार (वंधु होना) लिया जाता है। 18 √शल्, 19 √हुल्, 20 √पत् (लृदित्) गति अर्थ में हैं ॥ 14 ॥ 2355 अङ् बाद में होने पर √पत् को पुम् आगम हो। अपप्तत्। 'नेगर्द०' (2285) से णकार होता है—प्रण्यपप्तत्।

का प्रवाह होना (अक०) है। कित्व √पुल् की तरह। कुलम्, वंश, समूह। सङ्कुल।

18 √शल्, 19 √हुल् तथा 20 √पत् (लृदित्) गति अर्थ में हैं। √शल् मँडराना, √पत् पड़ना, गिरना, खिसकना, चलना अर्थ में है।[1] √हुल् का अर्थ स्पष्ट नहीं है। पुरुषकार में क्षीरस्वामी के मत से √शल् तथा √श्वल् को 'आशु गमन अर्थ में उद्धृत किया है। पर उपलब्ध क्षीरतरंगिणी में यह पाठांतर उपलब्ध नहीं होता। यहाँ आचार्य क्षीरस्वामी, मैत्रेय तथा माधव ने इस धातु-सूत्र के अनंतर **हुल हिंसा-संवरणयोश्च** धातुसूत्र और दिया है। आचार्य मैत्रेय ने 'चकार अन्वाचय (प्रधान को कह चुकने पर गौण को कहना) में है; गति में तो इसका प्रयोग होता ही है; कहीं-कहीं हिंसा तथा संवरण (ढाँपना) अर्थ में भी होता है;' लिखा है।

'शल ह्वल ह्मल पत्लृ गतौ, हुल हिंसासंवरणयोश्च' पाठांतर भी मिलता है। 'च' से √हुल् गति में भी है। √ह्वल् तथा √ह्मल् यद्यपि 'चलन' अर्थ में घटादिगण में आ चुकी हैं। पर वहाँ अर्थ-विशेष में मित्संज्ञा के लिए दी होने से यहाँ अमित्त्वार्थ दी हैं।

चलन, संवरण अर्थ में आ चुकी √शल् को ही यहाँ ज्वलादिगण के निमित्त से दुहराया है। शलति; शेलतुः; अशालीत्। शालः, शाला। होलति; पतति; पत्त्रम्।

2355 पतः पुम् (7.4.19)—ऋ-दृशोऽङि गुणः (16) अङ्गस्य (6.4.1) : पतः अङ्गस्य पुम् अङि—√पत् के अंग को पुम् आगम होता है, अङ् परे रहते। यह मित् होने से अंत्य अच् से परे होता है : 'पप्त्'।

अपत्+त्, लृदित् होने से **पुषादि-द्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु** (3.1.55) से च्लि

---

1. √पत् मूलतः उड़ना अर्थ में है। पर उड़ कर पदार्थ अंततः कहीं-न-कहीं स्थित होता है। अतः गिरना तथा खिसकना अर्थ शायद इससे विकसित हो गये हैं। या √पत् का मूल अर्थ गिरना रहा हो। उसके लिए किसी ऊँचे स्थान से चलने, उड़ने की अपेक्षा होने से उड़ना अर्थ भी साथ में आ गया हो। अतः उड़ना तथा गिरना दोनों अर्थों में इसका प्रयोग उपलब्ध होता है।

21 क्वथे निष्पाके ॥ 15 ॥ क्वथति; चक्वाथ; अक्वथीत् । 22 पथे गतौ ॥ 16 ॥ अपथीत् । 23 मथ विलोडने ॥ 17 ॥ मेथतुः; अमथीत् ।

24 टुवम उद्गिरणे ॥ 18 ॥ इहैव निपातनादुत इत्त्वमिति सुधाकरः ।

21 √क्वथ् (एदित्) उबलने, उबलकर गाढा होने में है ॥ 15 ॥ 22 √पथ् एदित्) गति अर्थ में है ॥ 16 ॥ 23 √मथ् मथने (बिलोने) में है ॥ 17 ॥

24 √वम् (ट्वित् तथा अदित्) उगलने में हैं ॥ 18 ॥ 'यहीं ('उद्गिरण' शब्द

को अङ् : अपत्+अ+त् : । **पतः पुम्** से पत् के पकारांतरवर्ती 'अ' के बाद पुम् (प्) : अ+पप्त्+अ+त्=अपप्तत् । अपप्तताम्, अपप्तन्; अपप्तः, अपप्ततम्, अपप्तत; अपप्तम्, अपप्ताव, अपप्ताम । प्र+नि+अपप्तत्, **नेर्गद-नद०** से 'नि' के नकार को णकार : प्रण्यपप्तत् ।

तनि-पति-दरिद्रातिभ्यः सनि वा इड् वाच्यः (वा०) से सन् में वेट् होने से निष्ठा में यद्यपि **यस्य विभाषा** (7.2.15) से इट् को निषेध प्राप्त होता है, पर **द्वितीया श्रितातीत-पतित०** (2.1.24) सूत्र में 'पतित' दिया होने से निष्ठा में √पत् सेट् ही है : पतितम्, पतितवान् ।

21 √**क्वथ्** (एदित्) धातु क्वाथ बनाना, काढ़ा बनाना, उबालना (सकर्मक), उबलना, कढ़ना (अकर्मक) अर्थ में है । काशकृत्स्न ने (पृष्ठ 107 में) 'पाक पकाना, पकना' अर्थ बतलाए हैं । क्वथति; चक्वाथ; अक्वथीत्—एदित् होने से **ह्मयन्त-क्षण०** से वृद्धि-निषेध । क्वथः, क्वाथः । क्वाथोऽस्यास्तीति क्वाथिका=खूब कढ़ी (उबली) होने से कढ़ी । सायण ने घटादि में पाठ के कारण 'क्वथयति' रूप बनता बताया है । पर यह उचित नहीं है, क्योंकि √क्वथ् इस स्थल के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी पठित उपलब्ध नहीं है ।

22 √**पथ्** (एदित्) गति अर्थ में है । एदित् होने से वृद्धि नहीं होती : अपथीत् । काशकृत्स्न ने (पृष्ठ 107 में) **पल हुल पतृ**[1] **पथां गतौ च** कहा है, जिससे लुङ् में वा वृद्धि होगी : अपाथीत्, अपथीत् । पथः, पाथः=मार्ग, तुलनीय path । पाथस्=सलिल ।

23 √**मथ्** (एदित्) मथना, रोड़ना, बिलोना अर्थ में सकर्मक है । अमथीत् । माथ.=मथने की रस्सी । काशकृत्स्न धातु-पाठ में इसके स्थान पर **'गथे'** है । गथति; अगथीत् ।

24 √**वम्** (ट्वित्) उगलना, उल्टी, वमन करना अर्थ में अकर्मक तथा सकर्मक

---

1. यु० मी० जी की टि० 2 (**'पल्लृ' इति शुद्धः स्यात् ।**) उचित है ।

है। यह परंपरा से ही अदित् मानी जाती रही है, जिसके कारण क्षीरस्वामी ने निष्ठा में इसका रूप 'वमितः' दिया है। पर यह प्रयोग में दुर्लभ है।[1] 'वान्त' का प्रयोग ब्राह्मणों के समय से ही प्रचलित है। इसके दो समाधान किये गये गये हैं : (1) काश्यप इसे उदित् मानते हैं। क्षीरस्वामी का कथन है कि कुछ लोग[2] इसे उदित् मानते हैं। **उदितो वा** से क्त्वा में वेट् होने के कारण निष्ठा में **यस्य विभाषा** से इण्निषेध हो जायेगा।[3] (2) काशिका-कार ने **आदितश्च** (7.2.16) के 'च' को अनुक्त-समुच्चायक मानकर उससे इट् के निषेध के उदाहरण के रूप में 'वान्तः' भी दिया है।[4] श्रीशचंद्र-वसु के और म० म० पं० गिरिधर शर्मा तथा परमेश्वरानन्द जी के संस्करणों में 'टुवम्' (हलन्त) पाठ छपा है। धातु-पाठ में यह उदात्तेत् धातुओं में दिया है, अतः हलन्त पाठ अशुद्ध है।

अर्थ-निर्देश में प्रयुक्त 'उद्-गिरण' शब्द व्याकरण से असिद्ध है : √गृ से ल्युट् में **सार्वधातुकार्ध०** सूत्र **ऋत इद् धातोः** को **इत्वोत्वाभ्यां गुण-वृद्धी विप्रतिषेधेन** (वा०) से बाध लेता है और 'गरण' शब्द बनता है।[5] यही कारण है कि पाणिनि ने भी **निगरण-चलनार्थेभ्यश्च** (1.3.87) में 'निगिरण' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। धातु-पाठ के अर्थ-निर्देश में भी 'गरण' का प्रयोग किया गया है, यथा **गॄ निगरणे** (तु०)। 'गिरण' का प्रयोग केवल प्रकृत 'उद्गिरण' में ही मिलता है। सायण के अनुसार

---

1. पृष्ठ 574 टि० 1 में उद्धृत 'वमित' (चरक) हेतुमण्णिच् के क्त का रूप है, यह वहाँ के प्रकरण से स्पष्ट है।
2. श्री यु० मी० ने इस पर काशकृत्स्न को उद्धृत किया है (द्र० क्षी० त०, पृष्ठ 119, टि० 3)। परन्तु उन्हीं के द्वारा सम्पादित काशकृत्स्न धातु-व्याख्यान (2022 वि० सं०, पृष्ठ 108) में 'डुवम' (उकारान्त) छपा है।
3. द्र० क्षी० त० 1.585, पृष्ठ 119 : **वमितः। उदिदित्येके—वान्त्वा, वमित्वा। 'अघृणः खलु वान्ताशी'**। तुलना करें : **कृत-प्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते** (साहित्य-दर्पण, वाक्यगत दुःश्रवत्व का उदाहरण)।
4. का० 7.2.16 : **चकारोऽनुक्त-समुच्चयार्थः—आश्वस्तः, वान्तः**। प० म० : **भाष्य-वार्तिकयोरनुक्तमपि प्रयोग-बाहुल्यादुक्तम्**। सायण इस समाधान से सहमत हैं : **तदेवं काश्यपादीनामुदित्पाठः प्रत्युक्तः** (मा० धा० वृ० 1.834)।
5. श्रीशचन्द्रवसु ने 'गरण' को √गृ (ह्रस्वान्त) से बताया है। पर ह्रस्वान्त √गृ का अर्थ सेचन तथा विज्ञान है। 'उद्गिरण' में 'गिरण' का अर्थ इन दोनों के निकट का भी नहीं है। अतः इसे क्र्यादिक √गॄ (दीर्घान्त) से निष्पन्न मानना ही उचित है। ह्रस्वान्त से इत् तो प्राप्त ही नहीं है।

ववाम, ववमतुः—वादित्वादेत्त्वाभ्यास-लोपौ न । भागवृत्तौ तु 'वेमतुः' इत्याद्य- में) निपातन के कारण (√गृ के) ऋ को ह्रस्व इकार होता है ।' यह सुधाकर ने कहा है। ववमतुः—(धातु) आदि में वकार वाली है, अतः एत्त्व और अभ्यास का लोप नहीं होते; भाग-वृत्ति में तो 'वेमतुः' इत्यादि भी उदाहरण के रूप में दिए गए हैं,

---

सुधाकर का कथन है कि यह प्रयोग 'उद्गरण' के स्थान पर 'उद्गिरण' शब्द की साधुता में प्रमाण है। अर्थात् इत्कार्य यद्यपि गुण-कार्य से दुर्बल है, तथापि इस अर्थ-निर्देश में निपातन के बल से वह गुण को बाध लेता है। सुधाकर का यह निष्कर्ष उचित नहीं प्रतीत होता : अर्थ-निर्देश पाणिनि के द्वारा प्रोक्त या कृत नहीं है,[1] अपितु भीमसेन नामक किसी अन्य आचार्य के द्वारा प्रणीत है, यह प्रसिद्धि है। अतः अर्थ-निर्देश को वही प्रामाण्य देना उचित नहीं है, जो त्रिमुनि के कथनों को दिया जाता है। यह अर्थ-निर्देश बहुत-सी जगह त्रुटि-पूर्ण, बुद्ध्यग्राह्य एवम् अर्थावगमन में प्रायः असमर्थ है। ऐसी स्थिति में अर्थ-निर्देश में 'उद्गिरण' प्रयोग को अर्थनिर्देशक आचार्य की त्रुटि मानना ही उपयुक्त है, न कि उसे प्रमाण मान कर उसके आधार पर विज्ञापन सिद्ध करना।

भागवृत्तिकार आचार्य कित् लिट् में विकल्प से एत्त्व तथा अभ्यास-लोप मानते हैं। साहित्य में भी **वेमुश्च केचिद्रुधिरम्** (दुर्गा-सप्तशती 2.59) इत्यादि प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यद्यपि भाष्यादि में ऐसे प्रयोग दृष्ट नहीं हैं। ये **दन्त्योष्ठ्य** व के ओष्ठ्य उच्चारण के कारण हो सकते हैं। त० बो० में इनके पक्ष में निम्न तर्क दिए गए हैं :

(क) **न शस-दद-वादि०** आदि सूत्र में 'वादि' न देकर यदि 'व' ही दिया जाये, तो 'व' कोई धातु तो है नहीं, अतः वकारादि धातु ही प्रकरणवशात् ली जायेंगीं। तब, 'आदि'-ग्रहण बतलाता है कि यहाँ वादित्वेन वे ही धातु अभिप्रेत हैं, जो वादि होकर वादि हों, अर्थात् जो उपदेश में भी वकारादि हों। जैसे वद, वन आदि। पर यह धातु उपदेश में ट्वादि (टुवम) है, वादि नहीं। अतः **न शस-दद-वादि-गुणानाम्** यहां प्राप्त ही नहीं है।

(ख) अथवा यदि अनुबन्ध को धातु का अवयव न भी मानें, तो यह धातु यकारादि (टुय्वम्) है, ऐसा कहा जा सकता है। यकार का लोप **लोपो व्योर्वलि** से हो जाता है। फलतः यह उपदेश में वादि नहीं रहती।

---

1. म० भा० 1.3.7 में उद्धृत **उबुन्दिर् निशामने** (भ्वादि 27.16), **स्कन्दिर् गति-शोषणयोः** (भ्वादि 33.2) पर नागेशभट्ट की टिप्पणी है कि इस भाष्य से यह ज्ञात होता है कि धातु-पाठ में कुछ धातु अर्थसहित भी दी गई हैं : **एतद्भाष्यात् 'केषांचिद् धातूनामर्थनिर्देशसहितोऽपि पाठ' इति ज्ञायते** (उद्योत, पृष्ठ 211)।

प्युदाहृतम्। तद् भाष्यादौ न दृष्टम्। 25 भ्रमु चलने ॥ 19 ॥ 'वा भ्राश०' (2321) इति श्यन्वा—भ्रम्यति, भ्रमति। 'भ्राम्यते' इति तु दिवादौ वक्ष्यते। 2356 वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम् (6.4.124)—एषामेत्त्वाभ्यास-लोपौ वा स्तः किति लिटि, सेटि थलि च। भ्रेमतुः, बभ्रमतुः; अभ्रमीत्।

26 क्षर सञ्चलने ॥ 20 ॥ अक्षारीत् ॥ 80 ॥

वे भाष्य आदि में नहीं देखे गए हैं। 25 √भ्रम् (उदित्) चलने (घूमने) में है ॥ 19 ॥ 'वा भ्राश०' (23.21) से विकल्प से श्यन् होता है—भ्रम्यति, भ्रमति। 'भ्राम्यति' तो दिवादि गण में बताया जायेगा। 2356 √जॄ, √भ्रम्, √त्रस्—इन (धातुओं) को एत्त्व और अभ्यास का लोप विकल्प से होते हैं, बाद में कित् लिट् और सेट् थल् होने पर। भ्रेमतुः, बभ्रमतुः। अभ्रमीत्।

26 √क्षर् हिलना-डुलना अर्थ में है ॥ 20 ॥ अक्षारीत् ॥ 80 ॥

वमति; ववाम, ववमतुः; वमिता; वमतु; अवमत्, वमेत्; वम्यात्; अवमीत्—**ह्यन्त-क्षण०** से वृद्धि-निषेध, **चतुः-शृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्** (ऋ० 4.58.2)।

25 √**भ्रम्** घूमना, भरमना, भटकना, अर्थ में (अक०) है। भ्रम, वहम, भरम, शक होना लाक्षणिक अर्थ हैं। शारीर भटकाव से बौद्धिक भटकाव लिया जाता है।

भ्रम्यति, भ्रमति—**वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु०** से वा श्यन्। 'भ्राम्यति' रूप दिवादिगण में शमादियों में पठित √भ्रम् से **शमामष्टानां दीर्घः श्यनि** (7.3.74) से दीर्घ होने पर बनेगा। बभ्राम; भ्रेमतुः, बभ्रमतुः—नीचे दिये सूत्र से वा एत्त्व तथा अभ्यासलोप होता है।

2356 **वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम्** (6.4.214)—गम-हन···क्ङित्यनङि (98), घ्वसो-रेद्धावभ्यासलोपश्च (119), अत एक···लिटि (120) थलि च सेटि (121) : जॄ-भ्रमु-त्रसाम् अतः एत् अभ्यास-लोपश्च वा किति लिटि सेटि थलि च—√जॄ[1], √भ्रम् तथा √त्रस् धातुओं के अत् को एत् होता है तथा इनके अभ्यास का लोप होता है, कित् लिट् तथा सेट् थल् परे रहते।

'ण' में भ्रमः—**नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः** (7.3.34) से णित्त्व-निमित्तक उपधावृद्धिका निषेध होता है। ज्वलादियों में पाठ का प्रयोजन नञ् तत्पुरुष में **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (6.2.2) से नञ् (निपात होने से आद्युदात्त) का पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से 'अभ्रमः' होता है। अच् में तो **अच्कावशक्तौ** से अन्तोदात्त हो जाता है : अभ्रमः।

26 √क्षर् झरना, टपकना, चूना, नश्वर होना अर्थ में (अक०) है। 'संचलन'

---

1. **निरनुबन्धक-ग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प० 82) से सानुबन्ध जॄष् का ग्रहण नहीं होता।

अथ द्वावनुदात्तेतौ—25.1 षह मर्षणे ॥ 1 ॥ 'परि-नि-विभ्यः०' (2275) इति षत्वम्—परिषहते । सेहे । सहिता—'तीषसह०' (2340) इति

धातु-वर्ग 25 : ज्वलादि गणान्तर्गत दो आत्मनेपदी धातुएँ

अब दो धातु इत्संज्ञक अनुदात्त वाली हैं—25.1 √सह् सहना अर्थ में है ॥ 1 ॥ 'परि-नि-विभ्यः०' (2275) से षकार होता है—परिषहते । सहिता—'तीष-सह०' (2340) से विकल्प से इट् होता है; इट् न होने पर ढकारादेश, घकारा-

---

का अभिधेय है—हिलना-डुलना, चलना । √क्षर् का इस अर्थ में प्रयोग दृष्ट नहीं है । अतः संचलन के लक्ष्यार्थ से √क्षर् का इस अर्थ में प्रयोग दृष्ट नहीं है । अतः संचलन के लक्ष्यार्थ से √क्षर् का अर्थ-निर्देश उचित नहीं है । क्षरति; चक्षार; अक्षारीत्—**अतो ल्रान्तस्य ।**

धातु-योग : गत 791, वर्तमान 26, योग 817 ॥ 80 ॥

पच्चीसवें वर्ग के गठन पर विचार : ज्वलादि गण में दो धातु आत्मनेपदी भी हैं । उन्हें आचार्य ने कण्ठ-गड्डु की तरह परस्मैपदियों के दो वर्गों के मध्य में रख दिया है । वस्तुतः तो पिछले वर्ग की √ध्वन् की तो यहाँ आवश्यकता ही नहीं है । इसे √षम् √ष्टम् को अनुनासिकान्त परस्मैपदियों में रख कर 30 धातुओं के '√ज्वल्—√कस्' गण को '√रम-√कस्' (रमादि गण) के रूप में बनाना उचित होता । 25वें परस्मैपदी वर्ग का प्रारम्भ भी √ज्वल् से न करके 25 वें वर्ग के रूप में वर्णानुक्रम के अनुसार किसी अन्य धातु से करना चाहिये था और 26 वे वर्ग को 25वें में ही शामिल करके इस गण की धातुओं को आत्मनेपदी और परस्मैपदी—दो ही—वर्गों में संकलित करना उचित होता ।

25.1 √सह् सहन करना, क्षमा करना अर्थ में सकर्मक है । सहते; परिषहते—**परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्** (2275) से मूर्धन्यादेश । सेहे—**अत एक-हल्मध्ये०** से एत्त्व तथा अभ्यास लोप । सेहाते, सेहिरे; सेहिषे; सेहाथे, सेहिध्वे, सेहिढ्वे; सेहे, सेहिवहे, सेहिमहे । सहिता—वलादि-लक्षण इट् को **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** से बाध कर विकल्प से इट् । इट् न होने के पक्ष में सह्+तास्+त, **हो ढः** से हकार को ढकारादेश : सढ्+तास्+त, **झषस्त-थोर्धोऽधः** से तास् के तकार को धकार : सढ्+धास्+त, **ष्टुना ष्टुः** से ध् को ढकार : सढ्+ढास्+त, **ढो ढे लोपः** से 'सढ्' के ढकार का लोप : स+ढास्+त, **सहि-वहोरोदवर्णस्य** से 'स' के अ को ओ : सो+ढास्+त, **लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः** आदि शेष कार्य भविता की तरह : सो+ढा=सोढा । सोढारौ, सोढारः; सोढासे, सोढासाथे, सोढाध्वे; सोढाहे, सोढास्वहे, सोढास्महे ।

वा इट्; इडभावे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपाः। 2357 सहि-वहोरोदवर्णस्य (6.3.112)=अनयोरवर्णस्य आत् स्याद् ढलोपे सति। 2358 सोढः (8.3.115)—'सोढ्'-रूपस्य सहेः सस्य षत्वं न स्यात्। परिसोढा। 2359 सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि (8.3.71)—परि-नि-विभ्यः परेषां सिवादीनां सस्य षो वा स्यादड्व्यवायेऽपि। पर्यषहत्, पर्यसहत।

देश, मूर्धन्यादेश और ढकार का लोप होते हैं। 2357 √सह् और √वह् के अकार को ओकारादेश होवे, ढकार का लोप हो जाने पर। 2358 'सोढ्' रूप वाली √सह् के सकार को षकारादेश नहीं होवे। परिसोढा। 2359 परि, नि और वि के बाद स्थित √सिव् आदियों के सकार को षकार विकल्प से होवे, भले (उपसर्ग और धातु में) अट् का व्यवधान होवे। पर्यषहत, पर्यसहत।

2357 सहि-वहोरोदवर्णस्य (6.3.112)—ढ्र-लोपे' पूर्वस्य दीर्घोऽणः (111)। √सह् तथा √वह् में रेफ का लोप असम्भव होने से ढ्र-लोपे की अनुवृत्ति से पारिशेष्यात् 'ढ-लोपे' समझा जाएगा : ढ-लोपे सहि-वहोः अवर्णस्य ओत्—ढलोप होने पर √सह् तथा √वह् के अकार को ओकार आदेश होता है।

2358 सोढः (8.3.115)—अपदान्तस्य मूर्धन्यः (55), न र-पर० (110) : सोढः अपदान्तस्य मूर्धन्यः न—सोढ् के अपदांत (पदांत-भिन्न वर्ण) को मूर्धन्य (आदेश) नहीं होता। 'सोढ्' यह किसी शब्द का स्वरूप अभिप्रेत है। अन्य किसी प्रकृति से ऐसा कोई रूप उपलब्ध नहीं हैं। अतः √सह् का 'सोढ्' यह परिणत रूप अभीष्ट है। बालमनोरमाकार ने यहाँ **सहेः साडः सः** (56) से 'सः' की अनुवृत्ति भी बतलाई है। पर 'सोढ्' की अपदांत तथा मूर्धन्यादेश की योग्यता वाली ध्वनि (वर्ण) स् को छोड़ कर और कोई तो है नहीं अतः यहाँ 'सः' बिना कहे ही आ जाता है। **सोढः** सूत्र **परि-नि-विभ्यः सेव०** का अपवाद है।

2359 सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि (8.3.71)—अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः (55), सहेः साडः सः (56), परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम् (70) : परि-नि-विभ्यः सिवादीनाम् अपदान्तस्य (सः) मूर्द्धन्यः वाऽड्व्यवायेऽपि भवति—परि, नि तथा वि से परे स्थित √सिव् आदि धातुओं के अपदांतीय सकार को अट् के व्यवधान में भी विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है। यहाँ √सिव् आदि से अभिप्राय पूर्वसूत्र में √सेव् आदि धातुओं में पठित 'सिवु' के बाद दी धातु तथा सुट् आगम लिये जाएँगे। परि+अ+सहत, पर्यं+असहत=पर्यसहत। षत्व पक्ष में पर्यषहत।

यह धातु फारसी 'शाह' में विकृत रूप में विद्यमान है।

2 रमु क्रीडायाम् ॥ 2 ॥ रेमे; रेमिषे; रन्ता; रंस्यते; रंसीष्ट; अरंस्त ॥ 81 ॥

2 √रम् खेलना अर्थ में है ॥ २ ॥ रेमे; रेमिषे; रन्ता; रंस्यते; रंसीष्ट; अरंस्त ॥ 81 ॥

---

2 √**रम्** क्रीड़ा, खेलना, आनन्द करना, मौज करना, रमना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है। रमते; रेमे,—**अत एक-हल्मध्ये०** से एत्त्वाभ्यासलोप; रेमिषे—क्रादिनियम से इट्; रेमिवहे, रेमिमहे; रन्ता; रंस्यते; रमताम्; अरमत; रमेत; रंसीष्ट; अरंस्त—'**नश्चापदान्तस्य झलि** से म् को अनुस्वार, अरंसाताम्, अरंसत; अरंस्थाः, अरंसाथाम्, अरन्ध्वम्—**धि च** से स् का लोप; अरंसि अरस्वहि, अरंस्महि; अरंस्यत, अरंस्येताम्। रम्यतेऽनया रामा=रमणी। राम=कृष्ण (काला)। रामा=काली जाति की स्त्री[1] : **रामा रमणायोपेयते कृष्ण-जातीया** (निरुक्त 12.13)।

धातु-योग : गत धातु 817, वर्तमान 2, योग 819 ॥ 81 ॥

संदर्भ : पिछले वर्ग में ज्वलादि गण की दो धातु देने के बाद इस वर्ग में उस गण की शेष 7 परस्मैपदी धातुएँ दी गई हैं। इस वर्ग की वस्तुतः 24 वें वर्ग में ही शामिल करना उचित है, यह पिछले वर्ग के संदर्भ-विश्लेषण में कहा जा चुका है। वस्तुतः 24-26 वें वर्गों में धातुओं का क्रम यों होना चाहिये : **स्यमु, स्वन शब्दे** को √फण् धातु के बाद देकर √राज्, √भ्राज्, √भ्राश् और √भ्लाश् देकर फणादि गण समाप्त करके 24 वाँ वर्ग √रम् और √सह् का होना चाहिये तथा ज्वलादि गण के स्थान पर रमादि गण की व्यवस्था **ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः** (3.1.140) के स्थान पर **रमिति-रुहन्तेभ्यो णः** सूत्र बना कर की जानी चाहिये थी। 25 वाँ वर्ग यों होना चाहिये : 1 √कुच्, 2 √पत्, 3 √क्वथ्, 4 √पथ्, 5 √मथ्, 6 √शद्, 7 √षद्, 8 √बुध्, 9 √भ्रम्, 10 √वम्, 11 √क्षर्, 12 √कुल्, 13 √चल् 14 √जल्, 15 √ज्वल्, 16 √टल्, 17 √ट्वल्, 18 √णल्, 19 √पल्, 20 √पुल्, 21 √बल्, 22 √शल्, 23 √ष्ठल्, 24 √हल्, 25 √कुल्, 26 √क्रुश, 27 √कस्, 28 √रुह्।

गण-निर्देश की पाणिनि की पद्धतियाँ 'आदि', 'प्रभृति' शब्द देकर या गण के मुख्य शब्द को बहु-वचन में देकर करने की है। एक[2] **ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः**

---

1. 'रामा' के सामाजिक रूप के लिये निरुक्तमीमांसा, पृष्ठ 369, देखें।
2. 'इति' से निर्दिष्ट एक अन्य सूत्र है **शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्** (3.2.141)। किन्तु इस गण में ग्राह्य धातुओं का कथन सङ्ख्या (**अष्टाभ्यः**) से किया है। जबकि ज्वलादि गण का निर्देश गण की आदिम और अंतिम धातु बता कर किया है। इस प्रकार यह गण अपनी तरह का अकेला ही है।

अथ कसन्ताः परस्मैपदिनः—26.1 षदलृ विशरण-गत्यवसादनेषु ॥ 1 ॥

2360 पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-

धातु-वर्ग 26 : ज्वलादि गण का शेष

अब √कस् तक परस्मैपदी धातु हैं—26.1 √सद् (षोपदेश, लृदित्) बिखरना गति तथा दुःखी होना अर्थों में है ॥ 1 ॥ 2360 1 √पा, 2 √घ्रा, 3 √ध्मा, 4

(3.1.140) ही है, जहाँ गण की आदिम धातु को 'इति' से निर्दिष्ट करके तथा अंतिम धातु को 'अन्त' से युक्त कर इस प्रकार गण के आदि और अंत को बता कर गण को दिया गया है। यह पाणिनि की पद्धति नहीं प्रतीत होती तथा यह सूत्र किसी प्राचीन व्याकरण से ज्यों-का-त्यों ले लिया गया लगता है। परिणामतः, इस गण से अभिप्रेत धातुएँ भी उसी प्राचीन व्याकरण के धातु-पाठ से उसी क्रम में ले ली गईं होंगी, जिस में वे उसमें रही होंगी। अतः इस गण का यह क्रम तथा **ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः** (3.1.140) सूत्र पाणिनि-प्रोक्त नहीं प्रतीत होते।

26.1 √**सद्** (षोपदेश तथा लृदित्) फूटना, बिखरना, टुकड़े-टुकड़े होना, फैलना, झड़ना, गति करना, दुःखी होना, खिन्न, विषण्ण होना अर्थों में (अकर्मक) है। अनुदात्त धातुओं में पठित होने से यह अनिट् है तथा उदात्तेत् होने से परस्मैपदी है।

2360 **पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना···सीदाः** (7.3.78)—ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति (75), अङ्गस्य (6.4.1)। √पा आदि अंग बहुत हैं, अतः 'अङ्गस्य' पद 'अङ्गानाम्' में परिणत हो जाता है। अंग संज्ञा प्रत्यय बाद में होने पर पूर्ववर्ती की होती है, अतः 'प्रत्यये' पद उपस्थित होकर समानाधिकरण 'शिति' से अन्वित होता है। 'शित्' शब्द 'श् चासाविच्च' विग्रह में कर्मधारय से निष्पन्न है : 'श्' से अल् (वर्ण) गृहीत होता है, अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से तदादि-विधि होती है। आदेश (पिब आदि) सम-संज्ञक हैं, अतः **यथा-संख्यमनुदेशः समानाम्** (1.3.10) से 'यथा-संख्यम्' आता है। 1√पा-2 √घ्रा-3 √ध्मा-4 √स्था-5 √म्ना-6 √दाण्-7 √दृशि-8 √अर्ति-9 √सर्ति-10 √शद्-11 √सदाम् अङ्गानाम् 1 पिब-2 जिघ्र-3 धम्-4 तिष्ठ-5 मन-6 यच्छ-7 पश्य- 8 ऋच्छ- 9 धौ-10 शीय-11 सीदाः (आदेशाः) यथा-संख्यम् (भवन्ति) शिदादौ प्रत्यये—1 पा पाने (भ्वा० 29.24) को पिब, 2 घ्रा गन्धोपादाने (भ्वा० 29.25) को जिघ्र 3 ध्मा शब्दाग्नि-संयोगयोः (भ्वा० 29.26) को धम, 4 ष्ठा गति-निवृत्तौ (भ्वा० 29.27) को तिष्ठ, 5 म्ना अभ्यासे (भ्वा० 29.28) को मन, 6 दाण् दाने (भ्वा० 29.29) को यच्छ, 7 दृशिर् प्रेक्षणे (भ्वा० 33.11) को पश्य, 8 ऋ गति-प्रापणयोः (भ्वा० 29.35) को ऋच्छ, 9 सृ गतौ (भ्वा० 29.34) को धौ, 10 शदलृ शातने (भ्वा० 26.20 तथा तुदादि) को शीय, 11 षदलृ विशरण० (भ्वा० 26.1

तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः[1] **(7.3.78)—पाऽऽदीनां पिबादयः** √स्था, 5 √म्ना, 6 √दाण्, 7 √दृश्, 8 √ऋ, 9 √सृ, 10 √शद्, तथा 11 √सद् (धातुओं) के स्थान में (क्रमशः) 1 पिब, 2 जिघ्र, 3 धम, 4 तिष्ठ, 5 मन, 6 यच्छ, 7 पश्य, 8 ऋच्छ, 9 धौ, 10 शीय और 11 सीद आदेश होवें, इत् संज्ञा वाले शकार

तथा तुदादि) को सीद आदेश होते हैं, बाद में आदि में इत्संज्ञक शकार (वाला) प्रत्यय होने पर।

लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम् (प० 91) से (1) आदादिक √पा का ग्रहण नहीं होगा; केवल **पा पाने** (भ्वा० 29.24) का ही ग्रहण होगा; (2) **पै ओवै शोषणे** का भी नहीं, क्योंकि (i) एजंत पाठ की सार्थकता केवल शिदादि प्रत्यय परे रहते ही है, अशिदादियों में तो √पै होवे, या √पा, कोई अंतर नहीं पड़ता, अतः यदि शप् में भी 'पै' को 'पिब' आदेश कर दें, तो एजंत पाठ ही व्यर्थ है;

---

1. इस सूत्र में धातुओं का क्रम धातु-पाठ के क्रम के (i) कुछ अनुकूल है, तथा (ii) कुछ प्रतिकूल : (i) धातु-पाठ में सूत्रोक्त प्रथम छह (√पा—√दाण्) धातुओं का पौर्वापर्य तो इसी प्रकार है, परन्तु (ii) उसके बाद की धातुओं का क्रम व्यत्यस्त है : (क) सूत्र में √दृश्, √ऋ, √सृ क्रम दिया है, तो धातु-पाठ में √सृ, √ऋ और √दृश् क्रम है; (ख) सूत्र में √शद् और √सद् क्रम है, तो धातु-पाठ में (भ्वा० और तु० दोनों में) √सद् और √शद् क्रम है; (ग) धातु-पाठ में √सद् तथा √शद् √पा आदि से तीन वर्ग पूर्व हैं। √ऋ, √सृ तथा √शद्, √सद् क्रम तो आदिवर्णानुक्रम की दृष्टि से ठीक हो सकता है, पाणिनि ने इसका ध्यान भी यत्र-तत्र रखा है, तद्यथा— **सेऽसिचि कृत-चृत-छृद-तृद-नृतः** (7.2.57)। √पा आदि से पूर्व पठित √शद्, √सद् को सूत्र में उनके बाद रखने में हेतु यह हो सकता है कि ये धातु भौवादिक और तौदादिक का परिग्रहण करती हैं, अतः √पा आदि से विशिष्ट प्रकार की हैं; √पा आदि से पूर्व रखने पर साहचर्य-परिभाषा से भौवादिकों का ही ग्रहण होता। परन्तु √दृश् को √ऋ से पूर्व देने का कोई हेतु नहीं दिखाई देता; अलबत्ता, अनौचित्य अवश्य है : (i) हलंत धातु को अजंत धातुओं में, (ii) क्रम-भंग करके दिया है।

धातु-पाठ तथा सूत्र-पाठ के इस क्रम-भेद से यह सूचित होता है कि धातु-पाठ प्रकृत सूत्र दोनों के रचयिता एक नहीं हैं, अन्यथा इन दोनों में धातुओं में क्रम-भेद नहीं होता। सम्भवतः यह सूत्र पाणिनि ने किसी पूर्व व्याकरण से ज्यों का त्यों ले लिया हैं।

स्युरित्संज्ञक-शकारादौ प्रत्यये परे । सीदति । ससाद, सेदतुः; सेदिथ, ससत्थ; सत्ता, सत्स्यति; लृदित्वादङ्—असदत् । सदिरप्रतेः (2271)—निषीदति, से प्रारम्भ होने वाला प्रत्यय बाद में होने पर । सीदति । इत्सञ्ज्ञक लृ वाली धातु होने के कारण (च्लि को) अङ् होता है—असदत् । 'सदिरप्रतेः' (2271 से षत्व होता

(ii) **लक्षणप्रति-पदोक्त** (प० 114) से भी लाक्षणिक √पा का निषेध हो जाएगा । न केवल यहीं, अपितु **घु-मा-स्था-गा-पा०** (6.4.66) से ईत्त्व, **एर्लिङि** (67) से एत्त्व, तथा **गाति-स्था-घु-पा०** (2.4.77) से सिज्लुक् भी **पा पाने** को ही होंगे, **पै** को नहीं ।

जुहोत्यादिगत **ऋ सृ गतौ** में भी तद्गण-पाठ-सामर्थ्यात् श्लुकार्य ही होगा । फलतः शिदादि प्रत्यय परे न होने से इस सूत्र की इन धातुओं में प्राप्ति ही नहीं है ।

√शद् तथा √सद् से भौवादिक और तौदादिक दोनों का ही ग्रहण होगा । आचार्य माधव तथा दीक्षित जी **आङः षद पद्यर्थे** (चु०) का भी ग्रहण मानते हैं । क्षीरस्वामी इसे एकीय मत के रूप में उद्धृत करते हैं, स्वयं नहीं मानते । काश्यपसंहिता (पृष्ठ 41) में 'अभिपदेत्' भी है । यह स्वामीजी के मत में ही ठीक हो सकता है ।

'पिब' आदि इन आदेशों में भगवान् सूत्रकार को अंन्त्य अकार उच्चारणार्थक अभीष्ट है, या ये आदेश अदंत ही अभिप्रेत हैं, यह स्पष्ट नहीं है । भगवान् भाष्यकार ने दोनों ही व्याख्यान दिए हैं । पर उनका झुकाव हलंत आदेश की ओर अधिक है । इस व्याख्यान में लाघव भी है : यदि अदंत आदेश मानें जाएँ, तो उन्हें निपातन से आद्युदात्त मानना पड़ेगा; नहीं तो, **धातोः** (6.1.162) से अदन्त 'पिब' आदेश के अन्तिम अकार के उदात्त होने से 'पिबति' आदि मध्योदात्त रूप निष्पन्न होंगे, जो प्रयोगों में अनुपलब्धि के कारण इष्ट नहीं हैं ।

सीदति—√सद्+अ+ति, **पा-घ्रा-ध्मा०** से सीद् : सीद्+अ+ति=सीदति । अदंत 'सीद' आदेश मानने के पक्ष में सीद+अ+ति, **अतो गुणे** : सीदति । लिट् में शिदादि प्रत्यय परे न होने से सीद् आदेश नहीं होता : ससाद, सेदतुः—**अत एकहल्मध्ये०**; सेदिथ, ससत्थ—क्रादिनियम से प्राप्त इट् का **उपदेशेऽत्वतः** से निषेध होने पर भी **ऋतो भारद्वाजस्य** से विकल्प से इट्; सेदिव, सेदिम—क्रादिनियम से इट् । सत्ता, सत्स्यति; सीदतु; असीदत्; सीदेत्; सद्यात्; असदत्—**पुषादि-द्युताद्यलृदितः०** से च्लि को अङ्; असत्स्यत् । नि+सीदति—**सदिरप्रतेः** (8.3.66) से मूर्धन्यादेश : निषीदति । अट् के व्यवधान में भी **प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि** (8.3.63) से षत्व : न्यषीदत्; न्यषदत् । मंत्रब्राह्मणात्मक छंदस् (वेद) में **नि-व्यभिभ्योऽड्व्यवाये वाच्छन्दसि** (8.3.119) से षत्व-विकल्प होता है : **येन कामेन न्यषदामेति** (तै० सं० 7.5.2.1) **यस्मै कामाय न्यसदामेति** (काठक सं० 33.1) ।

न्यषीदत् । 2361 सदेः परस्य लिटि (8.3.118)—सदेरभ्यासात् परस्य षत्वं न स्याल्लिटि । निषसाद । निषेदतुः । 2 शद्लृ शातने ।। 2 ।। विशीर्णता- है)—निषीदति, न्यषीदत् । 2361 √सद् के अभ्यास के बाद स्थित (वर्ण) को षकारादेश न हो, लिट् में । निषसाद । 2 √शद् शातन अर्थ में है ।। 2 ।। यह धातु 'झड़ना'

2361 **सदेः**[1] **परस्य लिटि** (8.3.118)—अपदान्तस्य मूर्धन्यः (55), सहेः साडः सः (56), न रपर-सृपि-सृजि-स्पृहि-सवनादीनाम् (110) : सदेः अपदान्तस्य परस्य सः मूर्धन्यो न भवति लिटि—√सद् के अभ्यास से पर, पदांत-भिन्न सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता लिट् में ।

यह सूत्र **स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य** (64) का अपवाद है । नि+ससाद, **सदिरप्रतेः**—नि+षसाद, **स्थादिष्वभ्यासेन०** से अभ्यास के बाद वाले सकार को मूर्धन्यादेश प्राप्त, **सदेः परस्य लिटि** से उसका निषेध : **निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा** (ऋ० 1.25.10) ।

2 √**शद्** धातु शातन अर्थ में है । आचार्य क्षीरस्वामी 'शातन' का अर्थ तनूकरण, झाड़ना (सकर्मक) कम करना, छोटा करना, हल्का करना मानते हैं । आचार्य मैत्रेय यहाँ **शद्लृ विशातने** पाठ मानते हैं तथा 'शातन' का अर्थ झड़ना आदि (अक०) अर्थ मानते हैं । 'शातन'[2] अर्थ-निर्देश सकर्मक होने से इस मत में संगत नहीं होता ।

---

1. का०, क्षी० त० और मा० धा० वृ० में **'सदि-स्वञ्ज्योः परस्य लिटि'** पाठ दिया है । यहाँ √स्वञ्ज् सूत्र-कारोक्त नहीं है, अपितु प्रक्षिप्त हो गई है : भाष्यकार ने **'सदः परस्य लिटि'** पाठ देकर इस पर एक वार्तिक स्वीकृत किया है : **सदो लिटि प्रतिषेधे स्वञ्जेरुपसंख्यानम्** । हरदत्त ने इस आधार पर इसे प्रक्षेप स्पष्टतः कहा है : **स्वञ्जि-ग्रहणं च वार्तिके दर्शनात् सूत्रे प्रक्षिप्तम् । यथाह—सदो लिटि प्रतिषेधे स्वञ्जेरुपसङ्ख्यानम्** (म० भा०, वार्तिक) । भट्टोजिदीक्षितजी ने हरदत्त का अनुसरण किया है ।
2. डॉ० पण्डित राम प्रसाद त्रिपाठी : अथवा विशरण (विशीर्णता) अर्थ में यह धातु है । मूल में 'शातन' अर्थ क्यों कहा गया ? इस पर उत्तर देते हैं कि **'शातनं तु विषयतया निर्दिश्यते'** । अर्थात् 'जनकता' रूप विषयता सम्बंध से 'शातन' रूप अर्थ का निर्देश समझना चाहिए । 'विशरण' जन्य है, उसका जनक 'शातन' है । अर्थात् 'फटना' क्रिया 'फाड़ना' रूप क्रिया से उत्पन्न होती है । अतः जनक (कारण) जन्य (कार्य) से नियमेन पूर्ववर्ती होने से शातन निर्दिष्ट हुआ ; अर्थ तो उससे जन्य विशरण ही है ।

यामयम्; शातनं तु विषयतया निर्दिश्यते । 2362 शदेः शितः (1.3.60)—शिद्भाविनोऽस्मादात्मनेपदं स्यात् । शीयते । शशाद, शेदतुः; शेदिथ, शशत्थ । शत्ता । अशदत् ।

3 क्रुश आह्वाने रोदने च ।। 3 ।। क्रोशति; क्रोष्टा; च्लेः क्सः—अक्रुक्षत् ।

अर्थ में है; 'शातन' (झाड़ना) तो इस क्रिया के विषय के रूप में निर्दिष्ट है। 2362 शित् प्रत्यय जिस से होने वाला है, ऐसी √शद् से आत्मनेपद होवे । शीयते ।

3 √क्रुश् बुलाना, रोना अर्थों में है ।। 3 ।। च्लि को क्स (आदेश होता है)—

अतः 'शातन' का अर्थ खेंचतान करके 'विशीर्णता' आचार्य मैत्रेय ने बतलाया है। 'शातन' शब्द से जो विशरण करने वाली क्रिया अभिहित है, उस क्रिया का विषय—विशरण—ही शातन का अर्थ है। सायण और दीक्षितजी ने मैत्रेय का अनुसरण किया है। वस्तुतः तो इस प्रकार धातु के अपने ही कृदंत रूप से, और वह भी णिजंत प्रकृति से, अर्थ-निर्देश करना ही सदोष है। भट्टमल्ल ने (आ० चं० 1.12, श्लोक 15) इसे विशरण अर्थ में उचित ही बताया है ।

2362 शदेः शितः (1.3.60) अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम् (12) : शदेः शितः आत्मनेपदम् भवति । धातु से होने वाले शित् प्रत्यय हैं शप्, श्यन् तथा श । इनमें से √शद् को शप् तथा श होते हैं कर्त्रर्थक सार्वधातुक तिङ् परे रहते । अतः यदि 'शिद्-विशिष्ट √शद् से परे आत्मनेपद होता है', यह अर्थ करें, तो √शद् के उदात्तेत् होने से प्राप्त परस्मैपद प्रत्ययों के होने पर उनके निमित्त से हुए शित् प्रत्ययों से विशिष्ट √शद् को आत्मनेपद-विधान करना ही निरर्थक होगा । अतः यहाँ 'शितः' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग सूत्रकार को अभीष्ट है, यानी शित् प्रत्यय जिस √शद् से होना है, विवक्षित है, ऐसी √शद् से परे लकार को आत्मनेपद ही होगा ।

शीयते—√शद् को लट् में शित् प्रत्यय की विवक्षा में **शदेः शितः** से आत्मनेपद : शद्+त, शप्, शद्+अ+त, **पा-घ्रा-ध्मा०** से √शद् को शीय् : शीय्+अ+त, **टित आत्मनेपदानां टेरे** : शीयते । शेष शशाद आदि रूप √सद् की तरह ।

आचार्य पाणिनि के मत में यह गति में भी है । शादयति गाः, गाय हाँकता है । गति-भिन्न अर्थ में **शदेरगतौ तः**—शातयति पत्राणि लतायाः बेल के पत्ते झाड़ता है। क्षीरस्वामी के अर्थ में झड़वाता है ।

3 √**क्रुश्** आवाज़ देकर बुलाना (सक०), रोना-पीटना (अकर्मक), स्यापा करना कोसना (सक०) है ।

क्रोशति—लघूपधगुण । चुक्रोश, चुक्रुशतुः, चुक्रुशुः; चुक्रोशिथ—अजंत या अकारवान् न होने से क्रादिनियम का निषेध नहीं होता; चुक्रुशथुः, चुक्रुश; चुक्रोश,

4 कुच संपर्चन[1]-कौटिल्य-प्रतिष्टम्भ-विलेखनेषु ॥ 4 ॥ कोचति; चुकोच । अक्रुक्षत् । 4 √कुच् सटना/सटाना, टेढ़ा होना/करना, थाँभना, रोकना और कुरेदना

चुक्रुशिव, चुक्रुशिम । क्रोष्टा—**एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से इट् का निषेध, **व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज०** से श् को ष् : क्रुष्+स्य+ति, **ष-ढोः कः सि** से ष् को क् : क्रुक्+स्य+ति, **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष् : क्रुक्+ष्य+ति=क्रुक्ष्यति, लघूपध-गुण : क्रोक्ष्यति । क्रोशतु; अक्रोशत्; क्रोशेत्; क्रुश्यात्; अक्रुक्षत्—अ+क्रुश्+च्लि+त्, **शल इगुपधादनिटः क्सः**, षत्व, कत्व, षत्व क्रोक्ष्यति की तरह, गुण क्स के कित् होने से नहीं होता । अक्रोक्ष्यत् । क्रोशः=कोस । हिंदी की √कोस् इसी से विकसित है ।

4 √**कुच्** सम्पृक्त होना, भिँचना, मुँदना, मिलना, टेढ़ा होना (अक०) रोकना, भींचना, दबाना तथा कुरेदना अर्थ में (सक०) है ।

यह धातु (7.2) **कुच शब्दे तारे** के रूप में आ चुकी है । **इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः** (3.1.135) से 'क' से इससे 'कुच' बनता है । यहाँ ज्वलादियों में देने से इसे इन अर्थों में **ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः** (140) से 'क' का अपवाद 'ण' विकल्प से होता है । ज्वलादियों में देने से ही 'कोचः' और 'कुचः' दोनों निष्पन्न होने पर भी इसे 7.2 में देने से यह सिद्ध होता है कि 'ण' ज्वलादिगणान्तर्गत धातु के सम्पर्चनादि अर्थों में ही होगा । तथा 'तार शब्द' अर्थ में केवल 'कुच' ('क' प्रत्यय से) ही बनेगा ।[2] **संकोचः** सटाव, सकुचाहट, कमी । **उत्कोचः** घूस, जो काम बनने का रास्ता खोल देती है ।

---

1. दैव 54 तथा पुरुषकार (पृष्ठ 47) में 'संवर्चन' पाठ प्रूफ की गलती प्रतीत होती है : (i) पु० में इसी पृष्ठ पर पङ्क्ति 18 में एवम् पृष्ठ 127 पर मूल पाठ में 'सम्पर्चन' छपा है; द्र० नीचे टि० 2; (ii) आ० चं० (3.3.29, श्लोक 58, तथा 3.3.107, श्लोक 89), क्षी० त० तथा मा० धा० वृ० में 'सम्पर्चन' पाठ ही मिलता है; (iii) 'संवर्चन' अर्थ किसी भी धातु-पाठ में किसी भी धातु का नहीं है ।

2. पुरुषकार 54 : **कुच संवर्चन-कौटिल्य-प्रतिष्टम्भ-विलेखनेषु ज्वलादिः । तत्फलं पुनः 'इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः' इति प्राप्ते 'ज्वलिति-कसन्तेभ्यो ण' इति पक्षे णः 'कोचः, कुच' इति । यस्तु 'कुच शब्दे तारे' इति ज्वलादिभ्योऽन्यत्र पठ्यते, तस्य 'कोचेत्'** (दैवम् 54), **'कुच' इति द्रष्टव्यम् । तत्र ज्वलादिषु पाठादेवानयोरपि रूपयोः सिद्धत्वेऽपि 'कुच' एवात्रार्थे यथा स्यात् न तु 'कोचः' अपि, इत्येवमर्थं पृथक् पठ्यते । न पुनः 'कुच सम्पर्चन···विलेखन-तारशब्देषु' इत्येकीकृत्यैव । मा० धा० वृ : 'कुच शब्दे तारे' इति पठितस्यापीह पाठः सम्पर्चनादावेव 'कोच' इति ज्वलादि-सम्बन्धेन णो यथा स्यादिति ।**

5 बुध अवगमने ॥ 5 ॥ बोधति; बोधिता; बोधिष्यति । 6 रुह बीज-जन्मनि
अर्थों में है ॥ 4 ॥ 5 √बुध् समझने में है ॥ 5 ॥ 6 √रुह् बीज के उगने में और

कुचः भींचा जाता है, कसकर बाँधा जाता है, या एक-दूसरे से सँटा होता है, अतः रमणा का स्तन ।

यहाँ ज्ञानेंद्र सरस्वती ने नव्यों का यह मत उद्धृत किया है कि इस पाठ से 'पाणिनि ने कहीं-कही पर धातुओं का अर्थ-निर्देश किया है,' यह अनुमान होता है । नहीं तो यह पाठ संगत नहीं होता । 'नव्यों' से शायद नागेश अभिप्रेत हैं ।[1]

आचार्य क्षीरस्वामी ने इस धातु को √रुह् के बाद √कस् से पहले माना है । उन्होंने 'संकोच' और उत्कोच' को घञ् से निष्पादित बताया है । 'ण' को वे न जाने क्यों भूल गये ?

5 √**बुध्** समझना, (पदार्थ को) हृदयंगम करना अर्थ में (सकर्मक, सेट्) है । आचार्य क्षीरस्वामी 'अवगमनं=ज्ञापनं' (पाठांतर : 'संज्ञापनम्') यानी समझाना (सक०) कहते हैं । पर उनका उदाहरण 'बोधयति शिष्यान्धर्मम्' (यदि इसका अर्थ 'शिष्य को धर्म समझाता है' है, तो) इस अर्थ में संगत नहीं होता । क्योंकि तब तो इसका अर्थ होना चाहिए : शिष्य को धर्म (किसी अन्य से) समझवाता है । इसी प्रकार इस अर्थ में 'बुध' का अर्थ होगा 'समझाने वाला' । भट्टमल्ल ने इसे 'ज्ञान' अर्थ में बताया है : **वेत्ति, जानाति, जानीते, वेद, बोधति, बुध्यते ।···ज्ञानार्थाः षट् च विंशतिः** (आ० चं० 1.2.2, श्लोक 24, 27) ।

अनिट्-कारिकाओं में सभी आचार्यों के मत में श्यन्विकरण वाला 'बुध्य' पाठ होने से दैवादिक √बुध् ही अनिट् है । फलतः यह धातु सेट् ही है । पर स्वामी जी ने इसे अनिट् ही माना है ।[2]

बोधति; बुबोध; बोधिता; बोधिष्यति; बोधतु; अबोधत्; बोधेत्; बुध्यात्;

---

1. त० बो०, पृष्ठ 173 : **अत्र नव्याः—"अनेनैव ग्रन्थेन 'पाणिनिनाऽपि क्वचित् क्वचिदर्थ-निर्देशः कृत' इत्यनुमीयते, अन्यथाऽत्रत्य-ग्रन्थ-स्वारस्य-भङ्गापत्तेः ।" इत्याहुः ।** तुलनीय उद्योत 1.3.7 : **एतद्भाष्यात् 'केषांचिद् धातूनामर्थनिर्देश-सहितोऽपि पाठ' इति ज्ञायते ।**

2. उन्होंने (i) षद्लृ, शद्लृ, क्रुश, बुध, रुह धातु देकर **'अनुदात्ता उदात्तेतः'** धातु-सूत्र (1.599) दिया है; (ii) इस धातु का लुट् का रूप 'बोद्धा' दिया है; हिक्कादि वर्ग में आगत √बुध् को सेट् बताकर (iii) पूर्ववर्ती का 'बोद्धा' रूप दिया है : **बुध बोधने । बोधिता । पूर्वस्य** (1.597) **बोद्धा** (क्षी०त० 1.614) ।

प्रादुर्भावे च ॥ 6 ॥ रोहति; रुरोह, रुरोहिथ; रोढा; रोक्ष्यति; अरुक्षत् । 7 कस गतौ ॥ 7 ॥ अकासीत्, अकसीत् ।

वृत् ॥ 8 ॥ ज्वलादिगणः समाप्तः ॥ 82 ॥

प्रकट होने में है ॥ 6 ॥ 7 √कस् गति अर्थ में है ॥ 7 ॥ अकासीत्, अकसीत् ।

समाप्त ॥ 8 ॥ ज्वलादि गण समाप्त हुआ ॥ 82 ॥

अबोधीत्; अबोधिष्यत् । बोधः, बुधः । बुधितम्, बुधितिः । स्वामीजी के अनुसार—बोद्धा; भोत्स्यति; अभौत्सीत्—**एकाचो बशो भष् झशन्तस्य स्ध्वोः** से 'ब्' को 'भ्' **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से वृद्धि; अबौद्धाम्—**झलो-झलि** से सिज्लोप; अभौत्सीः, अबौद्धम्, अबौद्ध; अभौत्सम्, अभौत्स्व, अभौत्स्म । अभोत्स्यत् । बुद्ध, बुद्धि ।

6 √रुह् बीज का जमना, उगना, अँकुए आना तथा प्रकट होना अर्थ में (अक०) अनिट् है। रोहति; रुरोह, रुरोहिथ, रुरुहिव, रुरुहिम—क्रादि-नियम से इट् । रोढा—**हो ढः, झषस्त-थोर्धोऽधः, ष्टुना ष्टुः, ढो ढे लोपः**; रोक्ष्यति—**हो ढः, ष-ढोः कः सि, आदेश-प्रत्यययोः**; अरुक्षत्—**शल इगुपधादनिटः क्सः**; अरोक्ष्यत् ।

7 √कस् गति (ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति) अर्थ में सेट् है । कसति । विकसति=खिलना है। उत्कसति=उकसता है। निष्कसति निकसता है । लुङ् में **अतो हलादेर्लघोः** से वा वृद्धि : अकासीत्, अकसीत् । विकास, निकास क्रमशः तत्सम और तद्भव हैं ।

इसके बाद धातुपाठ में 'वृत्' शब्द दिया है । यानी जो ज्वलादिगण प्रारब्ध था, वह समाप्त हुआ । त० बो० के अनुसार इस पर नवीन वैयाकरणों का कहना है कि **ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः** (3.1.140) में गण की सीमा बताने से सिद्ध होता है कि यहाँ 'वृत्' अनार्ष है, नहीं तो सूत्रकार लाघव होने से **ज्वलादिभ्यो णः** ही सूत्र बनाते ।[1] जिनेंद्रबुद्धि के अनुसार 'वृत्' धातुपाठ का अङ्ग है ।[2]

धातु-योग : गत 819, वर्तमान 6[3], योग 825 ॥ 82 ॥

---

1. त० बो० : **'वृत्' इति—अत्र नव्याः " 'ज्वलिति-कसन्तेभ्य' इति निर्देशाद् वृत्करणमिहानार्षमित्यनुमीयते । अन्यथा 'ज्वलादिभ्यो ण' इत्येव सूत्रयेत्" इत्याहुः ।** तुलनीय प० म० 3.1.140 : **कसिरन्ते येषां, ते कसन्ताः । तत्र ये कसमधीत्य 'वृत्' इति पठन्ति, तेषां मते कसन्त-ग्रहणं चिन्त्य-प्रयोजनम् ।**
2. न्यास 3.1.140 : **कसेः परत्वाद् ये पठन्ते, तन्निवृत्त्यर्थं कस-ग्रहणं न भवति, कसमधीत्य 'वृद्' इति पाठात् ।**
3. पूर्वोक्त √कुच् ही 'ण' प्रत्ययार्थ पुनः दी गई है, अतः यह पृथक् नहीं मानी है ।

27 अथ गूहत्यन्ताः स्वरितेतः—

27 वां धातुवर्ग : हलन्त उभय-पदी सेट् धातु

27 अब 37 √गुह् तक इत्संज्ञक स्वरित वर्ण वाली (उभय-पदी) धातुएँ हैं—

संदर्भ : अब तक आत्मनेपदी अथवा परस्मैपदी धातुओं के 26 वर्ग धातु-पाठ में संकलित किये गये हैं। अब सेट् उभयपदी धातुएँ प्रकृत वर्ग में दी जा रही हैं। हलन्त अनिट् उभयपदी धातुएँ 34वें वर्ग में बीच में एक परस्मैपदी धातु √वस् देकर दी गई हैं। इन्हें एक साथ अगर रक्खा होता, तो हानि तो कोई नहीं थी, क्रम सुश्लिष्ट अवश्य हो गया होता।

प्रकृत वर्ग में धातुएँ प्रायेण अंत्य-वर्णानुक्रम से दी गई हैं। 14 √बुन्द्, 19 √चीव्, 23 √भेष्, 24 √भ्रेष्, 26 √अस् अपने क्रम से बहिर्भूत हैं।

इस वर्ग की धातुओं की संख्या यु० मी० के संस्करण में क्षीरस्वामी ने 36 बताई है, पर गिनने पर 35 ही मिली हैं। मा० धा० वृ० में संख्या बताई तो नहीं है, पर धातु 35 ही हैं। दीक्षित जी ने भी संख्या नहीं बताई है, पर सायण का ही अनुकरण किया है; केवल दो अंतर हैं : सायण ने (1) 27 √अष् को मतांतरीय ही माना है, जब कि दीक्षितजी ने इसे पृथक् धातु स्वीकृत किया है, (2) 33 √म्लक्ष् सायण ने क्षीरस्वामि-संमत बताई है तथा 34 √भ्रक्ष् को स्वाभिमत धातु के रूप में दिया है, जबकि दीक्षितजी ने √म्लक्ष् और √भ्रक्ष् दोनों दी हैं। अतः दीक्षित जी के मत में 37 धातुएँ हैं। पर इनमें से 27 √अष् मतान्तरीय और 32 √झष् अर्थांतर (हिंसा) में पहले (18.37 में) आ चुकी है। अतः उन्हें यहाँ गिनने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये वास्तविक संख्या हमारी दृष्टि से 35 ही है। क्षी० त० में √अय् (धा० सू० 622) अतिरिक्त है, तो 25 √म्लेष् नहीं है।

ये सब धातु धातुपाठ में उदात्त बताई हैं, अतः सब सेट् हैं; स्वरितेत् होने से उभय-पदी हैं। इन दीक्षितीय 37 में से (i) 11 धातु अदित्, (ii) 2 इरित्, (iii) 4 उदित्, (iv) 1 उदित्, (v) 17 ऋदित् और (vi) 2 एदित् हैं। (i) अदित्त्व का प्रयोजन केवल स्वरित अनुबंध देना है। शेष का प्रयोजन उसके अलावा तत्तत् अन्य कार्य हैं। तद्यथा—(ii) इरित्त्व का प्रयोजन लुङ् में अङ्, (iii) उदित्त्व का क्त्वा में इड्-विकल्प और निष्ठा में इट् का निषेध, (iv) ऊदित्त्व का वलादि आर्धधातुक में इड्-विकल्प, (v) ऋदित्त्व का णिच् लुङ् में उपधाह्रस्व का निषेध, (vi) एदित्त्व का कर्तरि लुङ् में वृद्धि का निषेध है।

19 √चीव् आदि धातुओं का यह क्रम बेहतर है : 19 √चाय्, 20 √व्यय्, 21 √चीव्, 22 √स्पश्, 23 √दाश्, 24 √चष्, 25 √छष्, 26 √झष्, 27 √जष्, 28 √भ्रक्ष्, 29 √म्लक्ष्, 30 √भेष्, 31 √भ्रेष्, 32 √म्लेष्, 33 √अस्, 34 अष्,

1 हिक्क अव्यक्ते शब्दे ॥ 1 ॥ हिक्कति, हिक्कते ।

2 अञ्चु गतौ, याचने च ॥ 2 ॥ अञ्चति, अञ्चते । (i) **'अचु' इत्येके;** (ii) **'अचि' इत्यपरे । 3 टुयाचृ याच्ञायाम् ॥ 3 ॥ याचति, याचते ।**

4 रेटृ परिभाषणे ॥ 4 ॥ रेटति, रेटते ।

1 √हिक्क् स्वर-व्यंजनात्मक से भिन्न ध्वनि करने में है ॥ 1 ॥ हिक्कति, हिक्कते ।

2 √अञ्च् (नोपध उदित्) गति और माँगना अर्थों में है ॥ 2 ॥ अञ्चति, अञ्चते । (i) √अच् (उदित्) कुछ लोग मानते हैं; (ii) अन्य लोग √अच् (इदित्) मानते हैं । 3 √याच् (ट्वित् तथा ऋदित्) याचना करने में है ॥ 3 ॥

4 √रेट् (ऋदित्) निंदा-सहित उलाहना देने में है ॥ 4 ॥

---

35 √दास्, 36 √माह्, 37 √गुह् ।[1]

27.1 √**हिक्क्** हिचकी लेना अर्थ में (अकर्मक) है । हिक्कति, हिक्कते; जिहिक्क, जिहिक्के; हिक्कितासि, हिक्कितासे; हिक्किष्यति, हिक्किष्यते; अहिक्कीत्, अहिक्किष्ट । हिक्का = हिचकी : **ऊर्ध्वे वात-प्रवृत्तौ शब्द-विशेषः** (सुधा 3.5.8) ।

2 √**अञ्च्** (उदित्) गति और याचना अर्थों में है । यह धातु गति और पूजन अर्थों में (7.6 में) परस्मैपद में इसी रूप में आ चुकी है । क्षीरस्वामी यहाँ अचि (√अञ्च्) मानते हैं, तो अन्य आचार्य **अचु** (√अच्) मानते हैं । √अञ्च् (उदित्)—अञ्चति, अञ्चते; आनञ्च, आनञ्चे; अञ्चितासि, अञ्चितासे; अञ्च्यात्; अञ्चिषीष्ट; मा भवान् अञ्चीत्, अञ्चिष्ट; अञ्चित्वा, अक्त्वा; अक्तम् । √अञ्च् (इदित्)—अञ्च्यात्; अञ्चित्वा; अञ्चितः । √अच् (उदित्)—अचति, अचते; आच, आचतुः, आचुः, आचे, आचाते, आचिरे; अचिता; अच्यात्; अचिषीष्ट; आचीत्; आचिष्ट; अचित्वा, अक्त्वा; अक्तः ।

3 √**याच्** (ट्वित् तथा ऋदित्) माँगने-जाचने में है । याचति, याचते; ययाच, ययाचे; अयाचत्, अयाचत; अयाचिष्ट, अययाचत्, अययाचत । याच्ञा । क्षी० त० में छपा तो **टुयाचृ** है, पर **ड्वितः क्त्रिः—याचित्रिमम्** पाठ से प्रतीत होता है कि उनके मत में यह वस्तुतः ड्वित् है । उन्होंने इसे दुर्ग के मत में ट्वित् बताया है । का० कृ०, चंद्र, मैत्रेय और सायण इसे ट्वित् ही मानते हैं । याचथुः—**ट्वितोऽथुच्** (3.3.89) ।

4 √**रेट्** (ऋदित्) परिहास और निंदा-सी करते हुए उलाहना देना अर्थ में

---

1. 26 √झष् वस्तुतः मतांतरीय है तथा 34 √अष् अनूदित है । अतः हमारे मत में ये नवीन धातु नहीं हैं । इसलिये 35 ही धातु हैं ।

5 चते, 6 चदे याचने[1] ॥ 5 ॥ चचात, चेते; अचतीत्; चचाद, चेदे; अचदीत्। 7 प्रोथृ पर्याप्तौ ॥ 6 ॥ पुप्रोथ, पुप्रोथे। 8 मिदृ, 9 मेदृ मेधा-

5 √चत्, 6 √चद् (दोनों एदित्) याचना करने में हैं ॥ 5 ॥ 7 √प्रोथ् (ऋदित्) काफी होने में है ॥ 6 ॥ 8 √मिद्, 9 √मेद् (दोनों ऋदित्) समझ होना

है। रेटति, रेटते; रिरेट; रिरेटे; अरिरेटत्।

5 √**चत्** और 6 √**चद्** (दोनों एदित्) माँगने में हैं। चतति, चतते; चचात, चेततुः; अचतीत्, अचतिष्ट। चातकः; चतुरः; चत्वरम्=चौंतरा, चबूतरा; चत्वारः =चार। चदति, चदते; चचाद, चेदतुः, चेदे; अचदीत्, **ह्म्यन्त-क्षण०** से वृद्धि-निषेध होता है। अचदिष्ट। √चद्, √चत् से ही विकसित है।

आचार्य क्षीरस्वामी ने **चते चदे च याचने** पाठ मान कर **चकारो भाषार्थं रेट्वर्थः** लिखा है। उनका आशय है कि 'चदे' धातु के बाद दिया चकार √रेट् धातु का अनुकर्षण करता है। फलतः यह √रेट् के परिभाषण और याचन अर्थों में है। चंद्र ने भी यही पाठ माना है। आचार्य हेमचंद्र ने धातु-पारायण में **रेटृ परिभाषण-याचनयोः** लिखा है।

श्री यु० मी० का (क्षी० त०, पृष्ठ 124, टि० 4 में) इस प्रसंग पर कहना है कि यह **चते चदे च याचने** पाठ किसी श्लोक-बद्ध प्राचीन धातुपाठ का अंश है और छंद के अनुरोध से चकार को बीच में पिछली धातु के अर्थ का अनुकर्षण करने के लिए दिया है। अष्टाध्यायी में भी ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं। जैसे—**पक्षि-मत्स्य-मृगान् हन्ति** (4.4.35), **परिपन्थं च तिष्ठति** (36) में दूसरे सूत्र में 'तिष्ठति' के साथ 'हन्ति' का अनुकर्षण करने वाला चकार बीच में दिया है। इस प्रकार मीमांसकजी के मत में √चत् और √चद् याचन के अतिरिक्त परिभाषण अर्थ में हैं। काशकृत्स्न, तथा सायण ने **याचने च** पाठ माना भी है।

7 √**प्रोथ्** काफी, समर्थ, मुकाबले का होना अर्थ में (अकर्मक) है। प्रोथति, प्रोथते; पुप्रोथ—**तस्माद्** (अकम्पनाद्) **बलैरपत्रेपे, पुप्रोथास्मै न कश्चन** (भट्टि 14.84); पुप्रोथे; अप्रोथीत्, अप्रोथिष्ट; अपुप्रोथत्। प्रोथः=घोड़े की नाक (क्षीरस्वामी : अश्व-घोणा)—**रिरसयिषति भूयः शष्पमग्रे विकीर्णं पटुतर-चपलौष्ठः प्रस्फुरत्प्रोथमश्वः** (माघ 11.11)। लगता है लक्षणया यह शब्द पशु-नासिका के लिये ही

---

1. क्षी० त० में **'चते चदे च याचने'** पाठ है; चंद्र ने भी यही पाठ दिया है। किंतु का० कृ०, शाकटायन और सायण ने—**'याचने च'** पाठ दिया है। इसपर श्री यु० मी० का अभिमत ऊपर टीका में देखिये।

हिंसनयोः ॥ 7 ॥ मिमेद, मिमिदे । मिमेदे । (i) थान्ताविमाविति स्वामी; (ii) धान्ताविति न्यासः । 10 मेधृ सङ्गमे च ॥ 8 ॥ मेधति; मिमेधे । 11 णिदृ, 12 णेदृ कुत्सा-सन्निकर्षयोः ॥ 9 ॥ निनेद, निनिदतुः; निनिदे; निनेदे ।
और हिंसा करने में है ॥ 7 ॥ (i) क्षीरस्वामी के मत में दोनों थकारान्त हैं; (ii) न्यासकार का कहना है कि ये धकारान्त हैं । 10 √मेध् (ऋदित्) संगम होने में भी है ॥ 8 ॥ 11 √निद्, 12 √नेद् (दोनों णोपदेश तथा ऋदित्) निंदा और संबंध/निकट होने में

प्रयुक्त होने लगा[1] : **वाराही शूकराकारा, गूढ-प्रोथा, सटा-भृता ।**[2]

8 √**मिद्** तथा 9 √**मेद्** (दोनों ऋदित्) मेधा होना, बुद्धि होना, चतुराई आना (अक०) तथा हिंसा अर्थ में (सक०) सेट् हैं ।

मिमेद; मिमिदतुः, मिमेदतुः, मिमिदे; मिमेदे; मिद्यात्; मेद्यात्; अमिमेदत् । मिद्+णिच्, गुण होने पर **णौ चङ्युप०** से प्राप्त उपधा-ह्रस्व का निषेध **नाग्लोपिशास्वृताम्** से करने को मिद् को तथा स्वाभाविक एकार को प्राप्त ह्रस्वादेश का निषेध करने को √मेद् को ऋदित् किया गया है ।

क्षीरस्वामी इन्हें थकारान्त—'मिथृ मेथृ' मानते हैं । न्यासकार ने **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (3.3.104) पर दोनों को धान्त कहा है । भोज के मत में यहाँ केवल एक √मिथ् है । अर्थ को देखते हुए धकारान्त पाठ उचित है । मेधा बुद्धि । यास्क ने 'मेधा' को 'मति-धा' से बताया है । अर्थात् मतिधा=मइधा=मेधा । यह धातु 'मेध', 'मेधा' से कल्पित लगती है ।

10 √**मेध्** संगम होना, मिलना (अक०) और मेधा तथा हिंसा अर्थ में (सक०) सेट् है । गृहैः=स्त्रीभिः मेधन्ति=सगच्छन्ते इति गृहमेधिनः=पत्नियों से मिलते हैं, अतः गृहस्थ; **सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये** (3.2.78) । अश्वं मेधन्ति=हिंसन्ति अस्मिन्नित्यश्वमेधः यज्ञविशेषः; **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (3.3.104) । मेधति, मेधते; मिमेध, मिमिधे; अमेधीत्, अमेधिष्ट । अमिमेधत् ।

11 √**निद्** तथा 12 √**नेद्** निंदा करने, दोष लगाने, तथा समीप होने, पास

---

1. अमरकोष 2.8.49 : **घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्** । मेदिनी : **प्रोथोऽस्त्री हयघोणायाम्** ।
2. शब्द-कल्प-द्रुम कोष में 'प्रोथ' पर धृत देवीभागवतपुराण 5.28.25. मोर-सं०, सन् 1960 में **वाराही सूकराकारा प्रौढ-प्रेतासनामता** (5.28.24) पाठ है । यहाँ द्वितीय पाद **'प्रौढ-प्रेतासना मता'** अभिप्रेत है । **'प्रौढ-प्रेतासना'** को ही अन्यत्र (शब्द-कल्प० में **'वाराही'** पर उद्धृत देवीनिरुक्ताध्याय 45 में) **'वर-वाहना'** कहा गया प्रतीत होता है ।

13 श्रृधु, 14 मृधु उन्दने ॥ 10 ॥ उन्दनं क्लेदनम् । शर्धति, शर्धते, शर्धिता; मर्धति, मर्धते । 15 बुधिर् बोधने ॥ 11 ॥ बोधति, बोधते । इरित्वादङ् वा—अबुधत्, अबोधीत्; अबोधिष्ट—'दीप-जन०' (2328) इति चिण् तु न भवति, पूर्वोत्तर-साहचर्येण दैवादिकस्यैव तत्र ग्रहणात् । 16 उबुन्दिर् निशामने ॥ 11 ॥ निशामनं=ज्ञानम् । बुबुन्दे; अबुदत्, अबुन्दीत् ।

हैं ॥ 9 ॥ 13 √श्रृध्, 14 √मृध् (दोनों उदित्) उन्दन में हैं ॥ 10 ॥ उन्दन माने गीला करना है । 15 √बुध् (इरित्) समझने में है ॥ 1 ॥ इत्संज्ञक इर् वाली होने के कारण विकल्प से अङ् होता है—अबुधत्, अबोधीत्; अबोधिष्ट—'दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्' (3.1.61) से चिण् तो नहीं होता, क्योंकि अगली-पिछली धातुओं के साथ के कारण वहाँ दिवादि गण की (√बुध्) का ही ग्रहण होता है । 16 √बुन्द् (उदित् और इरित्) निशामन अर्थ में है ॥ 11 ॥ 'निशामन' माने 'ज्ञान' होता है ।

जाने में (सक० सेट्) है । प्रणेदति—**उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (8.4.14) । कुछ लोग **'णिवृ णेवृ'** पाठ मानते हैं (—क्षी० त०) ।

13 √**श्रृध्** तथा 14 √**मृध्** (दोनों उदित्) गीला करना अर्थ में सकर्मक सेट् हैं । उदित् होने से क्त्वा में शर्धित्वा, शृद्ध्वा, क्त में शृद्धम् । **श्रृधु शब्द-कुत्सायाम्** (19.20) वृतादियों में आत्मनेपद में आ चुका है । स्वामीजी ने **'उन्दे'** पाठ माना है ।

15 √**बुध्** (इरित्) समझना, जानना अर्थ में (सकर्मक सेट्) है । अनिट्-कारिकाओं में इयन्निर्देश (बुध्य) से यह सेट् है । बोधति, बोधते । लुङ् में च्लि को **इरितो वा** (3.1.57) से विकल्प से अङ्, जिसके ङित् होने से गुण नहीं होगा : अबुधत्, अबुधताम्, अबुधन् । पक्ष में अबोधीत् । अबोधिष्ट—**दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्** (3.1.61) सूत्र में 'बुध' से पहले तथा बाद में दिवादि गण की धातु होने से **सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्** (प० 112) से दैवादिक √बुध् का ही ग्रहण होने से यहाँ 'त' को चिण् नहीं होता । इसी प्रकार **बुध-युध-नश-जनेङ्-प्रु-द्रु-स्रुभ्यो णेः** (1.3.86) में भी दैवादिक √बुध् ही ली जाती है । सायण ने इस पर 'युध, नश, तथा जन इन अकर्मकों के साहचर्य से दैवादिक अकर्मक का ही ग्रहण होता है, भौवादिक का नहीं', यह हेतु दिया है । फलतः, णिच् में **णिचश्च** (1.3.74) से कर्त्रभिप्रायक क्रियाफल में आत्मनेपद होगा, इसके विपरीत परस्मैपद : बोधयति, बोधयते ।

आचार्य क्षीरस्वामी और चन्द्र के मत में **'बुध बोधने'** पाठ है । नंदी, सायण तथा काशकृत्स्न इरित् पाठ मानते हैं । 26.5 **बुध अवगमने** ज्वलादि गण में आ चुकी है ।

16 √**बुन्द्** (इत्संज्ञक उ तथा इर् वाली) निशामन अर्थ में है । निशामन

17 वेणृ गति-ज्ञान-चिन्ता-निशामन-वादित्र-ग्रहणेषु ॥ 12 ॥ वेणति, वेणते। नान्तोऽप्ययम्। 18 खनु अवदारणे ॥ 13 ॥ खनति; खनते।

17 √वेण् (ऋदित्) गति, जानना, चिंता करना, देखना-सुनना, बाजा बजाना या बाजा पकड़ना अर्थों में है ॥ 12 ॥ यह अंत में नकार वाली (√वेन्) भी है। 18 √खन् खोदने (खनने) में है ॥ 13 ॥

क्षीरस्वामी के मत में आलोचन (देखना), सायण के मत में चक्षुर्विज्ञान (आँख से देखना) तथा दीक्षितजी के मत में ज्ञान (जानना) है। अगली धातु के अर्थ-कथन में 'ज्ञान' और 'निशामन' दोनों अर्थ दिये गये हैं। इससे विदित होता है कि 'ज्ञान' और 'निशामन' अलग-अलग क्रियाएँ है। अतः दीक्षितजी का ज्ञानार्थकथन प्रौढिमात्र है।

बुन्दति, बुन्दते; आशीर्लिङ् में बुद्यात् तथा लुङ् में अबुदत्—**अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से न् का लोप। अबुन्दीत्; अबुन्दिष्ट। उदित् होने से क्त्वा में वेट् : बुन्दित्वा, बुत्वा। क्त में अनिट् : बुन्नः, 'बुन्द्+त', **अनिदितां हल०** से न् का लोप होने पर **र-दाभ्यां निष्ठा तो नः, पूर्वस्य च दः** (8.2.42) से प्रत्यय के 'त्' को तथा धातु के 'द्' को नकार। बुन्+न=बुन्न।

आचार्य नंदी इस धातु को धकारांत मानते हैं। क्षीरस्वामी—कुछ लोग **उबेदिर्** मानते हैं। चंद्र **उचुन्दिर्** एवं काशकृत्स्न **'चुन्दिर्'** मानते हैं।

यह धातुसूत्र म० भा० 1.3.7 में उद्धृत है। इस उद्धरण के आधार पर नागेश भट्ट ने यह निष्कर्ष निकाला है कि धातुपाठ में अर्थनिर्देश कहीं-कहीं पाणिनिकृत भी है।[1]

17 √**वेण्** (ऋदित्) गति, ज्ञान, चिन्ता, आलोचन तथा बजाने के लिए बाजा पकड़ना[2] (सक०) अर्थों में (सेट्) है। **उत माता महिषमन्ववेनत्** (ऋ० 4.18.11) में भाष्यकारों ने इसे ही नकारान्त माना है (मा० धा० वृ०)। वस्तुतः निघण्टु 2.6 में कान्ति (√वाञ्छ्) अर्थ में धृत √वेन् स्वतन्त्र धातु है। √वेन् गति आदि √वेण् के अर्थों में उपलब्ध नहीं है। अतः सायण और तदनुसारी दीक्षित जी का **अयम्** कथन चिन्त्य है। वेणति, वेणते; अवेणीत्; अववेणत्।

18 √**खन्** (उदित्) खोदना, खनना अर्थ में (सक०) सेट् है। उदित् होने से क्त्वा में वेट्, निष्ठा में अनिट् है : खनित्वा, खात्वा; खातः। खनिः खान, फा० कान।

---

1. उद्योत 1.3.7 : **एतद्भाष्यात् 'केषांचिद्धातूनामर्थानिर्देशसहितोऽपि पाठ' इति ज्ञायते।**
2. यह अर्थ क्षीरस्वामी के अनुसार है। अथवा 'वादित्र' और 'ग्रहण' दो पृथक् अर्थ हैं। 'वादित्र' अर्थात् बाजा बजाना। वेण्यते=वाद्यते इति वेणुः=बाँसुरी आवाज निकालने के कारण 'वेणु' कहलाती है। बाँस की बनी होने से यह बाँसुरी है। संस्कृत में इस अर्थ में 'वंशी' (वंश=बाँस) शब्द है।

2363 गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (6.4.98)—एषामुपधाया लोपः स्याद् अजादौ क्ङिति, न त्वङि। चख्नतुः। 'ये विभाषा' (2319)—खायात्, खन्यात्।

19 चीवृ आदान-संवरणयोः ॥ 14 ॥ चिचीव, चिचीवे।

2363 1 √गम्, 2 √हन्, 3 √जन्, 4 √खन् और 5 घस् की उपधा का लोप हो, बाद में आदि में स्वर वाला कित्, ङित् होने पर, बाद में अङ् होते तो नहीं हो। चख्नतुः। 'ये विभाषा' (2319 से न् को विकल्प से आ)—खायात्, खन्यात्।

19 √चीव् (ऋदित्) लेना, ढँकना अर्थों में है ॥ 14 ॥

2363 गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (6.4.98)—अङ्गस्य (1), अचि श्नु-धातु० (77), ऊदुपधाया गोहः (89) : 'गम-हन-जन-खन-घसाम् अङ्गस्य उपधाया लोपः अचि क्ङित्यनङि।

यहाँ √गम् आदि अंगों के बहुत होने से, 'अङ्गस्य' का 'अङ्गानाम्' तथा अङ्गाधिकार से 'प्रत्यय' के आक्षिप्त होने से 'अचि' में तदादिविधि से 'अजादौ' विपरिणाम होंगे : गम-हन-जन-खन-घसामङ्गानामुपधाया लोपः भवति क्ङिति अजादौ (प्रत्यये परतः) अनङि—√गम, √हन्, √जन्, √खन्, √घस् अंगों की उपधा का लोप होता है अजादि कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते, अङ् परे रहते नहीं।

चखान; चख्नतुः—च+खन्+अतुस्, अतुस् **असंयोगाल्लिट् कित्** (1.2.5) से कित् है; अंग के बाद अजादि कित् होने से उपधा (अ) का लोप : चख्नतुः। इसी प्रकार चख्नुः, चख्निथ, चख्नथुः आदि तथा चख्ने, चख्नाते आदि। आशीर्लिङ् में **ये विभाषा** (6.4.43) से नकार को विकल्प से आ : खायात्; पक्ष में खन्यात्। अखानीत्, अखनीत्। अखनिष्ट। अखनिष्यत्। खनित्रम् गैंती। खनित्वा, खात्वा—कित् 'त्वा' अव्यवहित परे होने के कारण **जन-सन-खनां सञ्झलोः** (6.4.42) से 'न्' को आ। खातः, खातवान्।

19 √**चीव्** लेना तथा ढँकना अर्थ में (सक० सेट्) है। आचार्य क्षीरस्वामी **चीव** (अदित्) पाठ मानते हैं। अचीचिवत्। दुर्ग तथा मांधव ऋदित् ही मानते हैं। अचिचीवत्। यह धातु 'चीवर' में उपलब्ध है।[1]

---

1. उणादिकार ने 'चीवर' को निपातित किया है। उ० सू० 3.1, सूत्र-संख्या 288. सायण ने प्रकृत √चीव् अथवा √चि से व्युत्पादित किया है। क्षीरस्वामी और दीक्षितजी ने √चि से व्युत्पत्ति का पक्ष ही माना है। प्रतीत होता है कि √चीव् की कल्पना 'चीवर' को देख कर ही हुई है।

20 चायृ पूजा-निशामनयोः ॥ 15 ॥ 21 व्यय गतौ ॥ 16 ॥ अव्ययीत् ।
22 दाशृ दाने ॥ 17 ॥ ददाश, ददाशे । 23 भेषृ भये ॥ 18 ॥ 'गतौ'

20 √चाय् सत्कार, सुनने में है ॥ 15 ॥ 21 √व्यय् गति में है ॥ 16 ॥ 22 √दाश् देने में है ॥ 17 ॥ 23 √भेष् डरने में है ॥ 18 ॥ कुछ लोग

---

20 √**चाय्** आदर-सत्कार तथा देखना अर्थ में (सक० सेट्) है। चायति, चायते। चचाय, चचायतुः, चचायुः। चचाये, चचायाते, चचायिरे। छंदस् में लिट् में **चायः की** (6.1.35) से वहुल रूप में √चाय् के स्थान में √की आदेश होता है : चिकाय, चिक्यतुः, चिक्युः। यङ् तथा यङ्लुक् में लोक में भी **चायः की** (6.1.21) से √की आदेश होता है : चेकीयते, चेकीति। ऋदित् होने से ण्यंत, लुङ् में अचचायत्।

21 √**व्यय्** गति अर्थ में (सेट्) है। प्रयोग की दृष्टि से खरचना, खर्च करना (सक०) अर्थ में है। सायण ने इसे वित्तत्याग[1] (खरचना) अर्थ में नित्य आत्मनेपदी बताया है। श्रीज्ञानेन्द्रसरस्वती का कहना है कि 'वित्तत्याग' अर्थ में √व्यय् नित्य आत्मनेपदी पीछे आ चुकी है, यह (प्रौढ) मनोरमा में कहा है। पर यह इस अर्थ में धातुपाठ में अब तक आई नहीं है। अतः दीक्षितजी का मनोरमोक्त कथन चिन्त्य है।[2] भट्टमल्ल ने इसे वित्तोत्सर्ग अर्थ में बताया है।[3] यह चुरादिगण में अदन्त तथा 'वित्त-समुत्सर्ग' अर्थ में है।[4] मनोरमा के कथन का आशय यह लगता है कि नित्य आत्मनेपदी **अय गतौ** (14.1) 'वि' के साथ वित्तसमुत्सर्ग अर्थ में प्रयुक्त होती है।[5] वस्तुतः यह कोई पृथक् धातु नहीं है। 'वि' के साथ √अय् ही उभयपदार्थ यहाँ अनूदित है। अतः यहाँ इसका अर्थ 'वित्तत्याग' ही समझना चाहिए। लुङ् में **ह्मयन्त-क्षण०** से वृद्धि-निषेध : अव्ययीत्। व्ययः। 'नाश' लाक्षणिक अर्थ है।

22 **दाश्** देना अर्थ में (सक०, सेट्) है। दाशति, दाशते। पुरो-डाशः।

---

1. मा० धा० वृ०, चौ० सं० में 'चित्त-त्यागे' प्रूफ की अशुद्धि है।
2. त० बो० : **'वित्त-त्यागे तु नित्यमात्मनेपदी गत' इति मनोरमा। न कुत्रापि गत इति चिन्त्यैव सा।**
3. आ० चं० 2.4.32, श्लोक 203 : **वित्तोत्सर्गे व्ययति च**। यहाँ 'च' स्यात् 'व्ययते' के समुच्चय के लिए है।
4. क्षी० त० (10.317) में इसे 'गति' में बता कर **'वित्त-समुत्सर्गे'** को अर्थ-निर्देश न समझ कर 'वित्त' को स्वतंत्र धातु माना है तथा 'सभ्यों को √व्यय् ही वित्त-समुत्सर्ग अर्थ में अभीष्ट है', यह बताया है।
5. मा० धा० वृ० 1.866 : **'व्ययत' इति वित्त-त्यागे नित्यमात्मनेपदी।**

इत्येके। भेषति। भेषते। 24 भ्रेषृ, 25 भ्लेषृ गतौ ॥ 19 ॥ 26 अस गति-दीप्त्यादानेषु ॥ 20 ॥ असति, असते; आस, आसे। अयं 27 षान्तोऽपि। 28 स्पश बाधन-स्पर्शनयोः ॥ 21 ॥ स्पर्शनं=ग्रन्थनम्। स्पशति, स्पशते।

'गति' अर्थ में मानते हैं। 24 √भ्रेष्, 25 √भ्लेष् गति अर्थ में हैं ॥ 19 ॥ 26 √अस् गति, चमकना, लेना अर्थों में हैं ॥ 20 ॥ यह (27) षकारान्त (√अष्) भी है। 28 √स्पश् दबा देना, स्पर्शन अर्थों में है ॥ 21 ॥ स्पर्शन माने गूँथना है।

दाश्वान्। क्षीरस्वामी के अनुसार आचार्य कौशिक **दायृ दाने** पाठ मानते हैं।

क्षीरस्वामी तथा काश्यप के मत में इस (√दाश्) के बाद **'अय गतौ'** धातु है। इससे **'उदयति दिननाथः', 'उदयति विततोर्ध्व-रश्मि-रज्जौ'** इत्यादि प्रयोग बिना किसी अन्य कल्पना के ही शुद्ध हैं। पर √अय् को स्वरितेत् मानना परंपरा के विरुद्ध है : **अयतिरनुदात्तेत्** (प० मं० 8.2.19)।

23 √**भेष्** डरना (अक०, सेट्) अर्थ में है। कुछ लोग गति अर्थ मानते हैं।

24 √**भ्रेष्** तथा 25 √**भ्लेष्**[1] गति अर्थ में है। क्षीरस्वामी के मत में **'भेषृ भ्रेषृ भये। भ्रेषृ चेलने[2] च'** पाठ है। उनके मत में √भ्लेष् नहीं है।

26 √**अस्** गति, चमकना, दीप्त होना(अक०) तथा लेना अर्थों में (सक० सेट्) है। असति, असते; आस, आसे; असिता; आसीत्, आसिष्ट, मा भवानसीत्, असिष्ट। आसिसत्। मल्लिनाथ ने इसे दीप्ति अर्थ में अनुदात्तेत् बताया है। पर यह उनके उदाहरण 'आस' के परस्मैद से सङ्गत नहीं होता।[3]

क्षीरस्वामी तथा मैत्रेय ने एकीय मत में इसे **अष** बताया है; शाकटायन ने सांत तथा षांत दोनों ही (—सायण)। दीक्षितजी ने उसे भी स्वीकार किया है।

28 √**स्पश्** अड़ाना, रोकना, बाधा देना, गूँथना, गाँठ लगाना, बँटना अर्थों में (सक०, सेट्) है। स्पशति; स्पशते; स्पशिता; अस्पाशीत्, अस्पशीत्, अस्पशिष्ट। स्पशः गुप्तचर। पस्पशा भूमिका। हिन्दी √फँस्, √फाँस् कदाचित् इसी से व्युत्पन्न हैं।

दुर्ग तथा शाकटायन के मत में, सायण के साक्ष्य पर, यहाँ स्पश के स्थान पर **पष** पाठ है। इससे 'पाषण्ड' तथा 'पाषाण' आदि शब्द सिद्ध होते हैं। आचार्य सायण इसका खंडन करते हुए कहते हैं : √स्पश् को भ्वादिगण में न देने पर पस्पशे,

---

1. मा० धा० वृ०, चौ० सं०, पृष्ठ 158, में 'श्लेष्ट' (शकारादि, टकारवान्) पाठ सम्पादक या लेखक का प्रमाद प्रतीत होता है।
2. सम्भवतः मूलपाठ 'चलने' हो, मुद्रणदोषात् 'चेलने' हो गया हो। अथवा 'चेलने' रूप **चेलृ चलने** (15.29) का ल्युडन्त रूप हो सकता है।
3. कुमारसंभव सञ्जीवनी 1.35 : **'अस' इत्यनुदात्तेद्दीप्त्यर्थे। आस दिदीपे।**

प्रतिस्पशः, स्पशः तथा पस्पशा आदि बहुशः प्रयुक्त शब्द सिद्ध नहीं हो सकेगें; क्योंकि चौरादिक के नित्य णिजंत होने से पस्पशे आदि रूप तो बनेंगे ही नहीं, कृदन्त भी स्पाश आदि वृद्धिमान् रूप ही बनेंगे। पाषण्ड, पाषाण आदि प्रयोग तो चुरादिगण में **पष अनुपसर्गात्** (कथादि) से या मैत्रेय के साक्ष्य के अनुसार किन्हीं के मत में युजादियों में पठित **पष बन्धने** से सिद्ध हो सकते हैं।

इसके आगे सायणाचार्य ने कुछ विचारणीय बातें कही हैं : क्षीरस्वामी तथा काश्यप आदि आचार्य पाश आदि शब्दों को देख कर यहाँ √पश् पाठ मानते हैं। ये शब्द चौरादिक खंडनार्थक √पश् से ही सिद्ध हो जाते हैं। पशु शब्द तो √पश् से ही व्युत्पन्न हो जायेगा। √**पस्** यह दंत्यांत सौत्र धातु है। उसका पसति होगा। √**पश्** यङ्लुक् में **जप-जभ-दह०** (7.4.86) इत्यादि सूत्र से अभ्यास को नुक् होने से पम्पश्यते, पम्पशीति आदि रूप होंगे। पम्पश्यति कण्ड्वादि का है। दुःखी होता है, यह अर्थ है।[1]

स्वामीजी की उपलब्ध क्षीरतरङ्गिणी (युधिष्ठिरमीमांसकसंपादित) में भ्वादि में √पश् नहीं है। चुरादि **पश बन्धने** (10.165) पर "**भ्वादौ पशति, पशते। 'उभयत्रापि मूर्धन्यान्त' इति दुर्गः।**" पाठ से सिद्ध होता है कि भ्वादि के क्षीरतरङ्गिणी के पाठ में कुछ गड़बड़ है। एवं वहाँ √पश् रही होगी। चौरादिक **स्पश** (10.130) पर **भ्वादौ स्पश बाधने** पाठ से सिद्ध होता है कि यह √पश् √स्पश् (भौवादिक) के अतिरिक्त रही होगी। पर पाश, पशु आदि शब्दों के आधार पर स्वामीजी ने √पश् को यहाँ नहीं माना है। अतः सायणाचार्य का कथन अंशतः सत्य है।

माधवीयधातु-वृत्ति का पाठ भी इस प्रसंग में व्यस्त-सा लगता है : उनके मत में चुरादिगण में **पश बन्धने** (10.184) पाठ है। 'खण्डन' अर्थ में कोई √पश् मुद्रित धातुवृत्ति में नहीं मिलती। दन्त्यान्त √पस् को किस सूत्र में दिया है, यह ग्रंथकार ने स्पष्ट नहीं किया है। **जप-जभ-दह०** सूत्र में तो तालव्यांत √पश् ही काशिकाकार, न्यासकार तथा अन्य आचार्यों को मान्य है। पम्पश्यति कण्ड्वादि में नहीं है। वहाँ माधवीय धातुवृत्ति में भी दंत्यांत (√पम्पस्) ही है।

क्षी० त० में **'स्पश बाधन-स्पाशनयोः। स्पाशनम्=ग्रन्थनम्'** पाठ सायण के **स्पर्शनं=ग्रन्थनम्** उद्धरण के साक्ष्य पर अपपाठ ही लगता है। भट्ट मल्ल ने भी

---

1. मा० धा० वृ० 1.872 : **अत्र स्वामि-काश्यपादयः पाशादि-दर्शनात् 'पश' इति पठन्ति। पाशादयोऽपि चौरादिकेन खण्डनार्थेनापि सिद्धाः। 'पशु'-शब्दस्तु पशेर्व्युत्पादयिष्यते। 'पस' इति दन्त्यान्तः सौत्रो धातुः। तस्य 'पसति' इत्यादि। पशेर्यङ्लुकि 'जप-जभ०' (7.4.86) इत्यादिनाऽभ्यासस्य नुकि 'पम्पश्यते', 'पम्पशीति' इत्यादि। 'पम्पश्यति' इति कण्ड्वादेः। 'दुःखायते' इत्यर्थः।**

29 लष कान्तौ ॥ 22 ॥ 'वा भ्राश०' (2321) इति श्यन्वा—लष्यति, लषति; लेषे। 30 चष भक्षणे ॥ 23 ॥ 31 छष हिंसायाम् ॥ 24 ॥ चच्छषतुः, चच्छषे। 32 झष आदान-संवरणयोः ॥ 25 ॥ 33 म्लक्ष, 34 भ्रक्ष

29 √लष् चाहने में है ॥ 22 ॥ 'वा भ्राश०' (2321) से श्यन् विकल्प से होता है—लष्यति, लषति। 30 √चष् चखने में है ॥ 23 ॥ 31 √छष् हिंसा अर्थ में है ॥ 24 ॥ 32 √झष् लेने, ढँकने में है ॥ 25 ॥ 33 √म्लक्ष्, 34 √भ्रक्ष् खाने में

बाधन तथा स्पर्शन अर्थ ही दिये हैं : **अथ स्पशति बाधने स्पर्शने** (आ०चं० 3.1.118, श्लोक 94)।[1]

स्पशति, स्पशते; पस्पाश, पस्पशे; स्पशिता; अस्पाशीत्, अस्पशीत्, अस्पशिष्ट; स्पाशयति; अपस्पशत्—**अत् स्मृ-दृ-त्वर-प्रथ-म्रद-स्तृ-स्पशाम्** (7.4.95)।

29 √**लष्** चाहना, अभिलाषा करना, इच्छा करना अर्थ में (सक०, सेट्) है। लषति, लष्यति; लषते, लष्यते; **वा भ्राश-म्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि०** (3.1.70) से वा श्यन्। ललाष, लेषे, लषिता। लशुनम्—**लषेः श च** (दशपादी उ० सू० 5.54); पंचपादी उणादि-पाठ में **अशेर्लं, शश्च** (344) से √अश् से 'लशुन' शब्द सिद्ध किया है।

30 √**चष्** चखना अर्थ में (सक०, सेट्) है। चषकः प्याला—**क्वुन् शिल्पि-संज्ञयोरपूर्वस्यापि** (उ०सू० 200)। यह हिन्दी में √चख् और हिन्दी के प्रादेशिक रूपों में √चाख् के रूप में विकसित है। तुलनीय वर्षा=बरखा। यजुर्वेदीय परंपरा में 'ष्' का उच्चारण 'ख्' किया जाता है : **इषे त्वा** (माध्यन्दिन संहिता 1.1)=**इखे त्वा**।[2]

31 √**छष्** हिंसा अर्थ में (सक० सेट्) है। चच्छाष, चच्छषतुः; चच्छषे। **छे च** से तुक्। वैरूप्य-संपादक आदेश आदि में होने से एत्व तथा अभ्यास-लोप नहीं होता।

32 √**झष्** लेना तथा ढँकना अर्थ में (सक० सेट्) है। **कष०** आदि दंडक में हिंसा में 18.37 **झष** परस्मैपद में आ चुकी है। अतः यह उसका अर्थांतर में अनुवाद ही है और धातु-संख्या में जोड़ने योग्य नहीं है।

33 √**भ्रक्ष्**, तथा 33 √**म्लक्ष्** खाना अर्थ में (सक० सेट्) है।

आचार्य क्षीरस्वामी यहाँ केवल **म्लक्ष भक्षणे** मानते हैं। सायणाचार्य केवल

---

1. चौ० सं० में 'ग्रथनम्' (नकाररहित) पाठ मुद्रित है। स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा संपादित मा० धा० वृ० में **'स्पाशनं ग्रन्थनमिति स्वामी'** उद्धरण दिया है। शास्त्रीजी का संस्करण यु०मी० के संस्करण से प्रभावित लगता है।
2. प्रतिज्ञासूत्र 2 : **अथो मूर्धन्योष्मणोऽसंयुक्तस्य, दुमुते संयुक्तस्य च खकारोच्चारण-मध्ययनादिकर्मसु। अर्थवेलायां प्रकृत्या।**

अदने ॥ 26 ॥ 'भक्ष' इति मैत्रेयः । 35 दासृ दाने ॥ 27 ॥

36 माहृ माने ॥ 28 ॥ 37 गुहू संवरणे ॥ 29 ॥ 2364 ऊदुपधाया

है ॥ 26 ॥ '√भक्ष् है', यह मैत्रेय कहते हैं । 35 √दास् (ऋदित्) देने में है ॥ 27 ॥

36 √माह् मापना अर्थ में है ॥ 28 ॥ 37 √गुह् (ऊदित्) ढँकने में है ॥ 29 ॥ 2364 √गुह् की उपधा को दीर्घ ऊ हो, गुण का निमित्त आदि में स्वर

भ्रक्ष अदने पाठ मानते हैं । मैत्रेय के मत में इन दोनों के स्थान पर √भक्ष् है, तो दुर्ग के मत में √प्लक्ष् है । पतंजलि के अनुसार √भक्ष् का भ्वादिगण में पाठ नहीं है, यह **गति-बुद्धि०** (1.4.52) सूत्रस्थ **भक्षेरहिंसार्थस्य** (वा०) पर अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता में **भक्षयति पिण्डीं देवदत्तः** उदाहरण से सिद्ध होता है । क्योंकि यदि उनके मत में भ्वादि में √भक्ष् होती है, तो वे चुरादि ण्यन्त का (भक्षयति) उदाहरण क्यों देते ? आचार्य दुर्ग की √प्लक्ष् भी अपाणिनीय ही है । भाष्यकार ने प्लक्ष शब्द की सिद्धि प्र √क्षर् से की है । यदि यह धातु उन्हें मान्य होती, तो 'प्लक्षति इति' व्युत्पत्ति से √प्लक्ष् से ही व्युत्पादित करते । इसके अतिरिक्त **तस्य मेधं प्राक्षारयन् । स प्लक्षोऽभवत् । तत् प्लक्षस्य प्लक्षत्वम्** (मै० सं० 3.10.2) में भी प्र+√क्षर् से ही व्युत्पत्ति की है । इन दोनों को हटा कर दीक्षितजी ने सायण के **भ्रक्ष** तथा स्वामीजी के **म्लक्ष** को माना है ।

35 √**दास्** (ऋदित्) देने में (सक० सेट्) है । कौशिक इसे तालव्योष्मांत (√दाश्) मानते हैं, जो 27.22वीं धातु है । अददासत् । दास भृत्य ।

36 √**माह्** (ऋदित्) मापना अर्थ में (सक० सेट्) है । श्रीस्वामीजी ने **मानं = वर्तनम्** कहा है । 'वर्तन' का अर्थ स्पष्ट नहीं है । आख्यातचन्द्रिका (2.4.15) में यह मिमीते तथा शुल्बयति का पर्याय बताई है, जिनका अर्थ नापना है ।

37 √**गुह्** (ऊदित्) ढँकना, छुपाना अर्थ में (सक० सेट्) है । ऊदित् होने से **स्वरति-सूति०** से वेट् है । गूढम् गुप्त ।

2364 ऊदुपधाया गोहः (6.4.89)—अङ्गस्य (1), अचि श्नु० (77) : गोहः अङ्गस्य उपधायाः ऊद् अचि (=अजादौ प्रत्यये)—'गोह्' अंग की उपधा को ऊत् आदेश होता है, अजादि प्रत्यये परे रहते ।

भाष्यकार ने **गुहः** न कह कर **गोहः** कहने के दो प्रयोजन बतलाये हैं :

(क) **'गोहि'-ग्रहणं विषयार्थम्**—जो 'गोह्' रूप का विषय हो, यानी जिस अजादि प्रत्यय के परे रहते √गुह् को उपधागुण हो, वहीं ऊत् होगा । 'अचि' का अन्वय 'गोहः' से होता है : 'जो अजादि प्रत्यय परे रहते 'गोह्' अंग संपन्न हो, वह परे रहने पर उस अंग की उपधा को ऊत् होता है ।' इस प्रकार अर्थ में अच् को गुण का हेतु होना सिद्ध होता है । इससे 'जुगूह' में ऊत् हुआ, पर 'जुगुहतुः' आदि में नहीं ।

गोहः (6.4.89)—गुह उपधाया ऊत् स्याद् गुण-हेतावजादौ प्रत्यये। गूहति, वाला प्रत्यय बाद में होने पर। गूहति, गूहते। यह धातु इत्संज्ञक ऊकार वाली है,

---

(ख) **अयादेश-प्रतिषेधार्थं च**—अन्य आभीय कार्य की कर्तव्यता में यह ऊत्व **असिद्धवदत्राभात्** (6.4.22) से असिद्धवत् है। ण्यंत से ल्यप् करने पर **ल्यपि लघु-पूर्वात्** (6.4.54) की कर्तव्यता में यह ऊत्व असिद्ध हो जाता है। तब यदि वहाँ √गुह् की उपधा को ऊत्व किया जाये, तो यह धातु लघु-पूर्वक हो जाती है। 'गोह् की उपधा को' कहने पर ऊत्व के असिद्ध होने पर उपधा दीर्घ-पूर्वक ही रहेगी। फलतः **ल्यपि लघु-पूर्वात्** से णि को अयादेश नहीं होगा।

यहाँ (ख) भाग से सिद्ध होता है कि √गुह् को गुण करके फिर ऊत्व-विधान सूत्रकार की दृष्टि में है। पर, न्यासकार के अनुसार बात ऐसी नहीं है : उनका कथन है कि (अ) जहाँ √गुह् का 'गोह्' रूप संभव हो, गुण किया हो, या नहीं, वहीं √गुह् इस अकृत-गुण अंग की उपधा को ऊ होता है। क्योंकि यदि ओ को ऊ किया जाये, तो लघु-पूर्वकता का प्रश्न ही नहीं आता। (आ) ऊत् से पहले गुण हो भी नहीं सकता, क्योंकि गुण केवल पर है, जब कि ऊत्व कृताकृत-प्रसंगी होने से अंतरंग है। ऊत्व तो गुण हो, या न हो, प्रवृत्त होगा ही। (इ) यदि गुण करके फिर ऊत्व करते हैं, तो 'ऊत्' यह दीर्घ पाठ व्यर्थ होगा। क्योंकि '**भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान्गृह्णाति** (प० 21) से **स्थानेऽन्तरतमः** (1.1.50) न्याय से (दीर्घ) 'ओ' को 'ऊ' (दीर्घ) ही होगा। अतः बिना गुण किये ही ऊत्व करना चाहिए।

परन्तु न्यासकार का यह मत भाष्यकार के '**इहोभयं प्राप्नोति—निगूहयति, निगूहकः। परत्वाद् गुणे कृत आन्तर्यतो दीर्घस्य दीर्घो भवति।**' वचन के विरुद्ध है। आचार्य कैयट ने भी '**कृत-गुणस्योत्वं यथा स्यादकृत-गुणस्य मा भूदित्येवमर्थमित्यर्थः।**' लिखा है। इसके अलावा, यदि 'उ' को ही 'ऊत्' करना है, तो गुण-सम्भावक प्रत्यय के उपस्थित रहने मात्र से लघु-पूर्वकता बाधित नहीं हो सकती। गुण चूंकि ऊत्व से बाधित हो जाता है, तब तो सुतराम् लघु-पूर्वकता सिद्ध है। **सोढः** सूत्र से जिस प्रकार न्यासकार ने '**हकारे ढकारे कृते यद् रूपं भवति, तत्प्राप्त' इत्यर्थः** कहकर 'सोढ'-भूतता को माना है, वैसे ही यहाँ भी गुण करने पर 'गोह'-भूतता माननी उचित है। सूत्रकार के निर्देश से **परनित्यान्तरङ्गापवादानाम् उत्तरोत्तरं बलीयः** (प० 39) यहाँ लागू नहीं होगी। **भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति** (प० 21) नियम से दीर्घ ओ को दीर्घ ऊ प्राप्त होने पर स्पष्टार्थ 'ऊत्' कहा हो सकता है।

वस्तुतः तो भाष्यकार ने यहाँ **गोहः** पाठ को अनावश्यक ही बताया है : ऊपर कहे दो प्रयोजन बताने पर उनका कहना है कि 'उ+ऊत्=ऊत्' इस प्रकार प्रश्लिष्ट

गहते । ऊदित्वादिड् वा—गूहिता, गोढा; गूहिष्यति, घोक्ष्यति; गूहेत्; इसलिए इट् विकल्प से होता है—गूहिता, गोढा । अगूहीत्, इट् न होने पर क्स—

मान कर आंतरतम्य से ह्रस्व को ह्रस्व (उ) तथा दीर्घ (ओ) को दीर्घ (ऊ) कर दिया जाएगा । अयादेश के निषेध के लिए भी 'गोह' का निर्देश आवश्यक नहीं है, क्योंकि समानाश्रय कार्य की कर्तव्यता में ही **असिद्धवदत्राभात्** लगा करता है । यहाँ 'प्रगूह्य' आदि में ऊत्त्व का आश्रय तो है णिच्, तथा अयादेश का आश्रय है ण्यंत से होने वाला ल्यप् । अतः भाष्यकार के मत के अनुसार " 'गुह्' अंग की उपधा को उत् ऊत् हो, अजादि प्रत्यय परे रहते" अर्थ होता है ।

दोनों ही पक्षों में गुण करने पर (या उसका **क्ङिति च** से बाध करने पर) ही यह सूत्र लगेगा । इसीलिए दीक्षितजी ने **गुण-हेतौ अजादौ प्रत्यये** कहा है । अर्थात् उन्होंने भाष्य के प्रथम पक्ष का आश्रय लिया है ।

गूहति, गूहते—√गुह्+अ+ते, **पुगन्त-लघूपधस्य च** से गुण : गोह्+अ+ते । **ऊदुपधाया गोहः**—गूहते, जुगूह, जुगुहतुः । जुगूहिथ, जुगोढ, जुगुह; जुगुहिव । जुगुहे, जुगुहाते—भाष्यकार की प्रथम व्याख्या से गुण न होने से यहाँ ऊत्त्व प्राप्त ही नहीं है । दूसरी में ह्रस्व उपधा को ह्रस्व उ, दीर्घ को दीर्घ । **गूहिता, गोढा**—ऊदित् होने से **स्वरति-सूति०** से वा इट्; गुणहेतु अजादि प्रत्यय इट् होने से ऊत् । गोढा में अजादि प्रत्यय न होने से ऊत् नहीं हुआ । गूहिष्यति, घोक्ष्यति । गूहिष्यते, घोक्ष्यते । गूहतु, गूहताम् । **गूहिषीष्ट**—आशीर्लिङ्, आत्मनेपद में इट्-पक्ष में गुण होने पर ऊ । अगूहत्, अगूहत; गूहेत्, गूहेत ।

आशीर्लिङ् में परस्मैपद में गुह्यात्—अजादि प्रत्यय बाद में न होने के कारण[1] ऊत्त्व नहीं होता; आत्मनेपद में सीयुट् को **स्वरति-सूति०** से वा इट्, गुण, उत्त्व—गूहिषीष्ट; इडभावपक्ष में **लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु** से 'सीष्ट' के कित्त्व के कारण गुण-निषेध, अजादि-प्रत्यय-परत्वाभावेन ऊत्त्व नहीं, **एकाचो बशो भष्०** से ग् को घ्, शेष ढत्व, कत्व, षत्व होने पर घुक्षीष्ट ।

लुङ् में (1) इट्पक्ष में गुण, ऊत्त्व—अगूहीत्, अगूहिष्टाम्, अगूहिषुः, अगूहीः,

---

1. सायण ने अगुण-विषयता को भी कारण बताया है : **गुह्यात्—अगुण-विषयत्वाद-नजादित्वाच्चोत्त्वं न भवति । ···आशिषि···इडभावे 'लिङ्सिचौ०' इति कित्वान्न गुणः; तत एव 'गोहि'-रूपाप्रसङ्गादजादित्वाच्चोत्त्वं न भवति—'घुक्षीष्ट'** इति । किंतु विशेष्य (अजादि-प्रत्यय) के ही अभाव से ऊत्त्व की प्राप्ति न होने के कारण विशेषण (**गुण-हेतौ**) की अचरितार्थता की चर्चा शिष्य-बुद्धि-वैशद्यार्थ ही की प्रतीत होती है ।

गुह्यात्; अगूहीत्, इडभावे क्सः—अघुक्षत् । 2365 लुग् वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये (7.3.73)—एषां क्सस्य लुग्वा स्याद् दन्त्ये तङि । ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः—अगूढ; अघुक्षत; 'क्सस्याचि' (2337) इत्यन्त-लोपः—अघुक्षाताम्, अघुक्षन्त; अगुह्वहि, अघुक्षावहि; अघुक्षामहि ।। 83 ।।

अघुक्षत् । 2365 1 √दुह्, 2 √दिह्, 3 √लिह् और 4 √गुह् के क्स का लुक् विकल्प से हो, दाँतों से उच्चारित वर्ण (जिसके आदि में हैं, वह) आत्मनेपद प्रत्यय बाद में होने पर । ढकार, धकार, टवर्गादेश, ढकार का लोप और दीर्घ होते हैं—अगूढ । 'क्सस्याचि' (2337) से (क्स के) अंतिम वर्ण का लोप होता है—अघुक्षाताम्, अघुक्षन्त । अगुह्वहि, अघुक्षावहि; अघुक्षामहि ।। 83 ।।

अगूहिष्टम् इत्यादि तथा अगूहिष्ट, अगूहिषाताम्, अगूहिषत इत्यादि । (2) इडभाव-पक्ष में परस्मैपद में सिच् को **शल इगुपधादनिटः क्सः** से क्स—अघुक्षत्, अघुक्षताम्, अघुक्षन्; अघुक्षः, अघुक्षतम्, अगुक्षत; अघुक्षम्, अघुक्षाव, अघुक्षाम । (3) इडभाव में आत्मनेपद में क्स, अगुह्+स+त, निम्नोक्त **लुग् वा दुह-दिह०** से 'स' का वा लुक्, अगुह्+त, **हो ढः**, अगुढ्+त, **झषस्त-थोर्धोऽधः**, अगुढ्+ध, ष्टुत्व, अगुढ्+ढ, ढ-लोप, अगु+ढ, **ढ्र-लोपे पूर्वस्य०** से 'उ' को दीर्घ, अगूढ । इसी प्रकार अगूढाः, अगूड्-ढ्वम् । अगुह्वहि—ह् को ढ् न होने से अन्य कार्य नहीं होते । 'स' का लुक् न होने के पक्ष में अघुक्षत, अघुक्षथाः, अघुक्षध्वम्, अघुक्षावहि—**अतो दीर्घो यञि** से दीर्घ । अजादि आताम्, अन्त, आथाम् तथा इट् प्रत्ययों में **क्सस्याचि** से 'स' के अंत्य वर्ण 'अ' का लोप : अघुक्षाताम्, अघुक्षन्त, अघुक्षाथाम्, अघुक्षि ।

अगूढ, अघुक्षत; अघुक्षाताम् अघुक्षन्त; अगूढाः, अघुक्षथाः; अघुक्षाथाम्, अगूड्ढ्वम्, अघुक्षध्वम्; अघुक्षि, अगुह्वहि, अघुक्षावहि; अघुक्षामहि ।

लृङ् में अगूहिष्यत्, अघोक्ष्यत्, अगूहिष्यत, अघोक्ष्यत ।

2365 लुग्वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये (7.3.73)—क्सस्याचि (72) : दुह-दिह-लिह-गुहाम् क्सस्य लुग् वा दन्त्ये आत्मनेपदे - 'दुह प्रपूरणे', 'दिह उपचये', 'लिह आस्वादने' तथा 'गूह संवरणे' के क्स का विकल्प से लुक् होता है दंत्य आत्मने-पद परे रहते ।

घोर्लोपो लेटि वा (70) से 'लोपः' की अनुवृत्ति होने पर भी 'लुक्' के ग्रहण से **प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः** (1.1.61) से समूचे प्रत्यय का अदर्शन उत्तम पुरुष 'वहि' के लिये अभिप्रेत है । क्योंकि, अन्य प्रत्ययों में तो यदि क्स के अंत्य 'अ' का भी लोप किया जाये, तब भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ अंत्य-लोप होने पर **झलो-झलि** से सकार का लोप होने से अभीष्ट रूप सिद्ध हो सकता है । **पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्** (वा०) से अकार-लोप को स्थानिवद्भाव नही होता । पर 'वहि' चूंकि झलादि नहीं है,

28 अथाजन्ता उभयपदिनः—

28वाँ वर्ग : स्वरांत उभयपदी धातु

28 अब अजंत उभयपदी धातु हैं—

अतः सलोप प्राप्त न होने से 'अघुक्ष्वहि' जैसे अनिष्ट रूप प्राप्त होते। सर्व-लुक् करने पर कोई आपत्ति नहीं आती। **'दन्त्ये'** पद से भी आचार्य का यही अभिप्राय है। क्योंकि यदि अंत्यलोप-मात्र में उनका तात्पर्य होता, तो 'लुक्' पद के अग्रहण के साथ-साथ 'तौ' (तु=तवर्ग परे रहते) ही लाघवार्थ कहते। अतः 'दन्त्य' शब्द से दंत्योष्ठ्य वकार का भी ग्रहण होता है।

णिच् में गूहयति। लुङ् में न्यासकार के मत में **णौ चङ्युपधायाः०** से ह्रस्व होगा : अजूगुहत्। क्षीरस्वामी को चङ् में ह्रस्व इष्ट नहीं है—अजुगूहत्। न्यासकार ने 'अजुगूहत्' का एक पक्ष प्रस्तुत करके उसका खंडन करते हुए कहा है कि **ऊदुपधाया०** में दीर्घ उच्चारण का प्रयोजन **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** की प्रवृत्ति रोकना है। पर इस रूप की सिद्धि न वार्तिककार के वचन से सिद्ध है, और न भाष्यकार के, तथा न ही शिष्ट जन इसका प्रयोग करते हैं। अतः शास्त्र के अनुसार 'अजूगुहत्' ही होना चाहिये।[1] सायण ने इस मत का उल्लेख **केचिदाहुः** कहकर 'अजुगूहत्' रूप की व्याख्या में किया है।[2] इससे सिद्ध होता है कि उनके अपने मत में उपधा-ह्रस्व ऊत्व से बाधित नहीं है। अतः इसका उदाहरण सायण के मत में 'अजूगुहत्' होना चाहिये।

धातु-योग : गत 825, वर्तमान (हमारे मत में) 35, योग 860 ॥ 83 ॥

संदर्भ : उभय-पदियों को 27वें वर्ग में देना शुरू करने के बाद न्यायतः तो 34.1 √दान् आदि 37.2 √श्वि-पर्यंत धातु देनी उचित थी। उसमें आगत यजादि गण में तीन धातु परस्मैपदी हैं : √वस्, √वद् तथा टुओश्वि (√श्वि)। दानादि धातुओं के वर्ग के बाद अजंत उभय-पदी 36.1 √वेञादि ह्वेञ्-पर्यंत तीन धातुओं का एक पृथक् वर्ग बना कर प्रकृत वर्ग से पूर्व रखना उचित होता। 36.3 ह्वेञ् के पश्चात् यजादि गण के अनुरोध से तीनों परस्मैपदियों को उदात्त/अनुदात्त का निर्देश करते हुए रख दिया जाता। उसके पश्चात् प्रकृत वर्ग रहता। 30वें वर्ग की डीङ् आदि धातुओं

---

1. न्यास 6.4.89 : यदन्यत्प्राप्नोति, तन्निवृत्त्यर्थं दीर्घोच्चारणमिति चेत् ? स्यादेतत्—अजुगूहदित्यत्र 'णौ चङ्युपधाया०' इति ह्रस्वो मा भूदित्येवमर्थं दीर्घोच्चारणमिति। कुतः पुनरेष नियमः 'अत्र ह्रस्वत्वेन न भवितव्यम्' इति ? न हीह कात्यायनस्य भाष्यकारस्य वा वचनमस्ति, नापि शिष्ट-प्रयोगो, यत एष निश्चयः स्यात्। 'यथा-लक्षणमप्रयुक्तेषु,' इति चोच्यते। तस्मादजूगुहदित्येवं भवितव्यम्।
2. मा० धा० वृ० : अजुगूहत्—'ऊद्' इति तपर-करणाण्णौ चङ्युपधा-ह्रस्वत्वं बाध्यत इति केचिदाहुः। एतद् भाष्य-वार्तिकादौ न दृश्यते।

1 श्रिञ् सेवायाम् ॥ 1 ॥ श्रयति, श्रयते; शिश्रियतुः; श्रयिता । 'णि-श्रि०' (2312) इति चङ्—अशिश्रियत् । 2 भृञ् भरणे ॥ 2 ॥ भरति; बभार, बभ्रतुः, बभर्थ, बभृव; बभृषे; भर्ता । 2366 ऋद्धनोः स्ये (7.2.70)—ऋतो, हन्तेश्च स्यस्येट् स्यात् । भरिष्यति ।

1 √श्रि (ञित्)[1] सेवा करना अर्थ में है ॥ 1 ॥ श्रयति, श्रयते । 'णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (2312) से चङ् : अशिश्रियत् । 2 √भृ ढोना, धारना, पालना, पोसना अर्थ में है ॥ 2 ॥ 2366 (अंत में) ह्रस्व ऋ (वाली धातुओं), और √हन्

का उचित स्थान प्रकृत वर्ग के पश्चात् है ।

प्रकृत वर्ग में 5 धातु हैं । क्षीरस्वामी ने चौथी धातु कृञ् दी है, तो सायण ने इसके स्थान पर धृञ् दी है । दीक्षितजी ने सायण का अनुकरण किया है । मैत्रेय, चंद्र, जैनेंद्र, काशकृत्स्न, कातन्त्र, शाकटायन, हेमचंद्र और वोपदेव आदि सब लोग धृञ् को यहाँ मानते हैं (द्र० पल्सुले) । प्रयोगों को देखते हुए धृञ्, कृञ् दोनों उचित हैं ।

28.1 √श्रि सेवा करना, साथ होना, सहारा, आसरा लेना (सकर्मक), रहना (अक०) अर्थ में (सेट्) है । ञित् होने से कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद तथा परगामी क्रियाफल में परस्मैपद होता है । अतः सब ञित् धातु उभयपदी हैं ।[2] श्रयति, श्रयते—श्रि+अ+त, **सार्वधातुकार्ध०** से गुण । शिश्राय; शिश्रिये—**'अचि श्नु०'** से इयङ् । शिश्रियिषे—वलादि-लक्षणक इट् का **'श्र्युकः किति** से निषेध, क्रादि-नियम से इट् । इसी प्रकार शिश्रियिध्वे, शिश्रियिवहे, शिश्रियिमहे, शिश्रियिव, शिश्रियिम; श्रयिता; श्रयिष्यति, श्रयिष्यते । **अकृत्सार्व०** से दीर्घ—श्रीयात्; श्रयिषीष्ट । लुङ् में अशिश्रियत्—अ+श्रि+च्लि+त्, **णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ्** से चङ्, **चङि** से द्वित्व, **हलादिः शेषः** अशि+श्रि+अत्, इयङ् : अशिश्रियत् । अशिश्रियत । अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत ।

2 √भृ भरण-पोषण करना, पालन करना, ढोना, धारना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है । अन्य शब्दों से अर्थ-निर्देश संभव होते हुए √भृ का √भृ से ही अर्थ-निर्देश स्पष्टता का घातक है । भरति, भरते । बभार, बभ्रतुः । भर्ता, भ्राता, भरत, भरणी, भार्या, भृत्य, भार । to bear । हिन्दी √भर इसी से विकसित हैं ।

बभर्थ—ब+भृ+थ, वलादि-लक्षणक इट् का **एकाच उपदेशे०** से निषेध, **ऋतो भारद्वाजस्य** से, **अचस्तास्वत्थल्य०** से तथा **कृ-सृ-भृ-वृ०** से भी निषेध, गुण । बभृव, बभृम । बभ्रे, बभ्राते, बभृषे, बभृढ्वे, बभृड्ढ्वे, बभृवहे, बभृमहे । भर्तासि, भर्तासि ।

2366 **ऋद्धनोः स्ये** (7.2.70)—'ऋत्' में तदंत-विधि होती है । 'ऋद्धनोः' में

---

1. इस वर्ग की सब धातु ञित् हैं । पाणिनि ने हलंत उभय-पदियों को तो स्वरितेत् किया है, अजंत उभय-पदियों को ञित् ।
2. **स्वरित-ञितः कर्त्रभिप्राये क्रिया-फले** (1.3.72) ।

2367 रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु (7.4.28)—शे, यकि, यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङादेशः स्यात्। रीङि प्रकृते रिङ्-विधि-सामर्थ्याद्दीर्घो न— धातु के स्य को इट् हो। भरिष्यति। 2367 (1) श, (2) यक्, (3) प्रारंभ में य् वाला और आर्धधातुक लिङ् बाद में होने पर ह्रस्व ऋ को रिङ् आदेश हो। रीङ् का प्रकरण जब चल रहा है, तब रिङ् का विधान करने से दीर्घ नहीं होता—भ्रियात्।

पंचमी के अर्थ में षष्ठी तथा 'स्ये' में षष्ठी के अर्थ में सप्तमी है। **आर्धधातुकस्येड्०** से इट् पद आता है : ऋदन्ताद् हनश्च धातोः परस्य स्यस्य इट् (भवति)—ऋदंत तथा हन् धातु से परे स्थित 'स्य' को इट् होता है।

भृ+स्य+ति, वलादि-लक्षणक इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से निषेध, **ऋद्धनोः स्ये** से इट् : भृ+इ+स्य+ति, गुण, षत्व : भरिष्यति; भरिष्यते; भरतु, भरताम्; अभरत्, अभरत; भरेत्, भरेत।

2367 रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु (7.4.28)—अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (25), अयङ् यि क्ङिति (23), रीङ् ऋतः (27), अङ्गस्य (6.4.1)—ऋतः अंगस्य अकृत्सार्वधातुकयोः यि, श-यग्-लिङ्क्षु रिङ् (भवति)। 'ऋतः' में तदंत-विधि। 'श' प्रत्यय अकृत् (=कृद्भिन्न) एवं सार्वधातुक है, यक् अकृत् एवम् आर्धधातुक है। लिङ् भी अकृत् है, पर यह सार्वधातुक तथा आर्धधातुक दोनों प्रकार का है। अतः सार्वधातुक के पर्युदास के लिए 'असार्वधातुके' पद **अकृत्सार्वधातुकयोः** से अनुवृत्त होकर केवल 'लिङि' से अन्वित होता है। इसी प्रकार 'यि' पद (तदादि-विधि से 'यादौ') भी 'लिङि' से ही अन्वित होता है : ऋदन्तस्य अङ्गस्य (1) शे, (2) यकि, (3) यादौ असार्वधातुके लिङि रिङ् (भवति)—ऋदंत अंग को (1) श, (2) यक् तथा (3) यकारादि एवं सार्वधातुक-भिन्न (आर्धधातुक) लिङ् परे रहते रिङ् आदेश होता है।

ङित् होने से यह अंतादेश है। यहाँ श्रीवासुदेव दीक्षित का यह भी कहना है कि (1) ङित् न करने पर भी **निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति** (प० 13) से यद्यपि 'ऋत्' को ही यह आदेश सिद्ध था, अतः ङ् का उच्चारण तथा 'रिङ्' आदेश न करके 'इङ्' आदेश करने से रपरत्वेन अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाता है, अतः र् का उच्चारण स्पष्टता के लिए किया है।

सूत्रपाठ में इससे पिछले सूत्र **रीङ् ऋतः** में विहित 'रीङ्' के चलते 'रिङ्' यह ह्रस्ववान् आदेश करने से **अकृत्सार्वधा०** से दीर्घ नहीं होगा, यह विज्ञापित होता है[1] : भृ+यात्, भ्रि+यात्=भ्रियात्।

---

1. काशिका : **रिङ्-वचनं दीर्घ-निवृत्त्यर्थम्**।

भ्रियात् । 2368 उश्च (1.2.12)—ऋवर्णात् परौ झलादी लिङ्, तङ्-परः सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः । भृषीष्ट, भृषीयास्ताम् । अभार्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः । 2369 ह्रस्वादङ्गात् (8.2.28)—सिचो लोपः स्याज्झलि । अभृत ।

2368 ऋकार के बाद स्थित, आदि में झल् वर्ण वाले (1) लिङ् और (2) बाद में आत्मनेपद वाला सिच्, ये दोनों कित् होते हैं । भृषीष्ट । 2369 (अंत में) ह्रस्व

2368 **उश्च** (1.2.12)—इको झल् (9), लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु (11), असंयोगाल्लिट् कित् (5) ।

'झल्' शब्द सामानाधिकरण्य से 'लिङ्-सिचौ' का विशेषण है । तदंत-विधि असंभव है । अतः आदि-विधि होगी । झलादि लिङ् चूँकि आत्मनेपद-परक नहीं है, अतः 'आत्मनेपदेषु' का अन्वय 'सिचि' से होगा । लिङ्, तथा सिच् धातु से होते हैं, अतः 'धातु' शब्द अर्थतः आक्षिप्त हो कर 'उः' का विशेष्य होगा । इस लिए 'उः' (5.1) में तदंतविधि होती है : ऋदन्ताद् धातोः परौ झलादी लिङ्ङात्मनेपद-परसिचौ कितौ स्तः—ऋवर्णांत धातु से परे स्थित झलादि (1) लिङ् तथा (2) आत्मनेपद-परक सिच् कित् होते हैं ।

भृषीष्ट—भृ+सीष्ट, गुण प्राप्त होने पर **उश्च** से 'सीष्ट' के कित् होने से गुण का निषेध, **आदेश-प्रत्यययोः । अभार्षीत्**—अभृ+स्+त, **अस्ति-सिचोऽपृक्ते**, अभृ+स्+ईत् । गुण को बाध कर **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** से वृद्धि, षत्व : अभार्+षीत्= अभार्षीत् ।

2369 **ह्रस्वादङ्गात्** (8.2.27)—रात्सस्य (24), संयोगान्तस्य लोपः (23), झलो झलि (26) ।

'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'ह्रस्वात्' में तदन्तविधि । बालमनोरमा के अनुसार यहाँ भाष्य में[1] 'सिचः' (सिच्-संबंधी) यह 'सस्य' का विशेषण बताया है, अतः दीक्षितजी ने वृत्ति में 'सिचः' पद दिया है । पर भाष्य में केवल **धि च** के लिए ही वैसा कहा है । श्रीज्ञानेंद्रसरस्वती के अनुसार अंगग्रहण से प्रत्यय के आक्षेप के कारण प्रत्यय का झल्परक सकार केवल सिच् का ही उपलब्ध होता है, अतः सिच् का ही लोप होता है ।[2]

---

1. वस्तुतः यह श्लोक-वार्तिककार का मत है । का० 8.2.25 पर न्यास तथा प०म० । भट्टोजि दीक्षितजी ने प०म० का अनुकरण किया है ।

2. वा० म० : **'सिच' इति भाष्यम् । त० बो० : 'अङ्ग'-ग्रहणादिह 'रात्सस्य' इत्यतः सस्येत्यनुवृत्तावपि प्रत्ययस्यैव तत्राभीष्टत्वात्सिच एव लोपो भवति ।**

अभृषाताम् । अभरिष्यत । 3 हृञ् हरणे ॥ 3 ॥ हरणं=प्रापणं, स्वीकारः, स्तेयं, नाशनं च । जहर्थ, जह्रिव, जह्रिषे; हर्ता, हरिष्यति । 4 धृञ् धारणे ॥ 4 ॥ धरति; अधार्षीत्, अधृत ।

(वाले) अंग के पश्चात् सिच् का लोप हो, बाद में झल् होने पर । अभृत । 3 √हृ हरण अर्थ में है ॥ 3 ॥ हरण माने (1) ले जाना (पहुँचाना), (2) स्वीकार करना, (3) चुराना और (4) नष्ट करना है । 4 √धृ धारण करने में है ॥ 4 ॥

ह्रस्वान्ताद् अङ्गात् (सिचः) सस्य लोपः झलि । ह्रस्वांत अंग से परे (सिच् के) सकार का लोप होता है, झल् परे रहते ।

यहाँ अंगाक्षिप्त 'प्रत्यये' का 'झलि' से अन्वय 'स्' के व्यवधान से नहीं होता, अतः तदादि-विधि से 'झलादौ' नहीं प्राप्त होता ।

अभृत—अभृ+स्+त, **उश्च** से सिच् के कित् होने से गुण नहीं होता । **ह्रस्वादङ्गात्**, अभृ+त । पुनः गुण (1) **सकृद्गतौ यद् बाधितं, तद् बाधितमेव** (प० 41) न्याय से प्राप्त नहीं होता, या (2) आत्मनेपद प्रत्ययों के **सार्वधातुकमपित्** से ङित् होने से निषेध हो जाता है । अभृषाताम् । **अभृषत** —**आत्मनेपदेष्वनतः** से झ् को अत् । अभृथाः, अभृषाथाम्, अभृढ्वम्, अभृड्ढ्वम्, **इणः षीध्वम्०, अनचि च** । अभृषि, अभृष्वहि, अभृष्महि ।

3 √हृ हरना (पहुँचाना, ढोना, लेना, स्वीकारना, चुराना, नष्ट करना) अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है ।

जहर्थ—जहृ+थ, वलादिलक्षणक इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से निषेध, क्रादि-नियम से प्राप्त इट् का **अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्** से तथा **ऋतो भारद्वाजस्य** से भी निषेध, गुण । **जह्रिव**—जहृ+व । क्रादि-नियम से इट्, जहृ+इव, 'व' के **सार्वधातुकमपित्** से ङिद्वत् होने से गुण का निषेध, यण् । जह्रिषे, जह्रिढ्वे, जह्रिढ्वे —**विभाषेटः** । जह्रिवहे, जह्रिमहे । जहार, जह्रतुः, जह्रुः; जह्रथुः; जह्र । जहार, जहर । जह्रे, जह्राते, जह्रिरे; जह्राथे; जह्रे; हर्ता; हरिष्यति, हरिष्यते; ह्रियात्, हृषीष्ट; अहार्षीत्; अहृत, अहृषाताम्, अहृषत ।

आचार्य क्षीरस्वामी द्वारा व्याख्यात धातु-पाठ में यह धातु भृञ् से पूर्व है ।

4 √धृ धारण करना, धरना, रखना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है । धरति, धरते । दधार, दध्रतुः, दध्रुः; दधर्थ, दध्रथुः, दध्र; दधार, दधर, दध्रिव, दध्रिम; दध्रे; धर्ता; धरिष्यति; ध्रियात्, धृषीष्ट, अधार्षीत्, अधृत । क्षीरस्वामी के मत में यह धातु यहाँ नहीं है ।

क्षीरस्वामी, देव, पाल्यकीर्ति, हेमचंद्र तथा दशपाद्युणादिकार एवं स्वामी

दयानंद के मत में यहाँ **कृञ् करणे**, या **डुकृञ् करणे** धातु भी है। आचार्य पतंजलि, जिनेंद्रबुद्धि, हरदत्त तथा सायण के मत में भ्वादि में यह नहीं है।

भ्वादिगण में क्षीरस्वामी ने **कृञ् करणे** तथा तनादिगण में **डुकृञ् करणे** पाठ माना है। स्वामी दयानन्द के मत में भ्वादि में भी **डुकृञ् करणे** ही पाठ है।[1] श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने क्षीरतरङ्गिणी की अपनी टिप्पणी में √कृ को पाणिनीयत्वेन केवल भूवादिगण में ही माना है। तनादिगण में उनके अनुसार पंतजलि से भी पहले इसका प्रक्षेप हो गया था। इस विषय में उन्होंने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं : (क) प्रायः सभी प्राचीन आचार्य 'कृञ्' को भ्वादिगण में मानते हैं। (ख) पाली तथा प्राकृत भाषाओं में भ्वादिस्थ कृञ् के ही प्रयोग मिलते हैं। हिंदी में भी √कर भौवादिक 'करति' का ही अपभ्रंश है, तानादिक 'करोति' का नहीं। (ग) **तनादि-कृञ्भ्य उः** में तनादियों से अलग पाठ से सिद्ध होता है कि भ्वादि में ही 'कृञ्' का पाठ होना चाहिए तनादिगण में कृञ् का पाठ होने पर सूत्र में अलग पाठ उचित नहीं है।[2]

भगवान् पंतजलि ने निश्चित रूप से कृञ् को तनाद्यन्तर्गत ही माना है। उन्होंने तो, बल्कि, तनादिगण के पाठ को प्रामाणिक मान कर **तनादि-कृञ्भ्य उः** में 'कृञ्भ्यः' पद का प्रत्याख्यान किया है। काशिकाकार के मत में भी तनादियों में कृञ् का असन्दिग्ध पाठ है। भ्वादि में पाठ के विषय में उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला। न्यासकार ने **यदि तर्हि करोतेरन्यत्तनादि-कार्यं नेष्यते, कस्मात् तर्हि भ्वादावेव न पठितः ? कः पुनरेवं लाघव-कृतो विशेषः ? भ्वादावपि पाठे नियोगतोऽस्य विवरण-विधौ ग्रहणं कर्त्तव्यम्, इत्यदेश्यमेतत्** (3.1.79) लिखा है। उनका भाव यह है कि यदि केवल 'उ' विकरण करने के लिए ही सूत्र में कृञ् दी है, अन्य तनादिकार्यों के लिए नहीं, तो क्यों नहीं भ्वादिगण में ही इसे देते ? यहाँ देने से कौन-सा बड़ा लाघव कर लिया ? (उत्तर) भ्वादि में देने पर भी 'उ' विकरण के लिए इसका अवश्य ही (सूत्र में) ग्रहण करना होगा। तब भ्वादि में देने का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? क्योंकि शप् का तो 'उ' अपवाद हो जाएगा। शेष रूप दोनों गणों में समान ही होंगे। आगे **कः करत्-करति-कृधि-कृतेष्वनिदितेः** (8.3.50) पर न्यास तथा पदमंजरी में 'करत्' और 'करति' में व्यत्यय से शप् माना है। इससे सिद्ध होता है कि भ्वादि में पाठ उन्हें अभीष्ट नहीं है। सायण का कहना है कि यदि भ्वादि में कृञ् का पाठ पाणिनीय होता, तो सूत्रकार 'करत्', 'अकरत्' शब्द सिद्ध करने के लिए **कृ-मृ-दृ-रुहिभ्यश्छन्दसि**

---

1. यजुर्भाष्य 3.58 : **'डुकृञ् करणे' इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गत-पाठाच्छब्विकरणोऽत्र गृह्यते। तनादिभिस्सह पाठादुविकरणोऽपि।**
2. क्षी० त० 1.639, पृष्ठ 130, टि० 3 तथा दैव, श्लोक 31, पृष्ठ 34, टि० 2.

(3.1.59) से 'अङ्' क्यों करते ? क्योंकि भ्वादि में शप् से लङ् में स्वभावतः ही यह रूप बन जाता है। **छन्दसि लुङ्-लङ्-लिटः** (3.4.6) से सभी कालों में लुङ्, लङ् तथा लिट् होने से अर्थ में भी कोई भेद नहीं होता। अतः अङ्विधान-सामर्थ्य से सिद्ध है कि **तनादि-कृञ्भ्य उः** सूत्र में 'आदि' शब्द 'प्रकार' यानी 'सादृश्य' अर्थ में है। स्वरूप से 'डुकृञ्' को छोड़ कर तनु, षणु, क्षणु, क्षिणु, ऋणु, तृणु, घृणु, वनु तथा मनु ये सभी धातु अनुनसिकांत तथा उदित् होने में एक दूसरे के समान हैं, पर कृञ् असमान है। अतः समानरूपक धातुओं का प्रकारार्थक 'आदि' शब्द से संग्रह करके फिर सूत्रकार ने कृञ् को अलग से सूत्र में दिया है। काशिका आदि ने इसे नियमार्थक बताया है कि अन्य तानादिक कार्य √कृ को नहीं होंगे।

अपना मत—वेद में शब्विकरण कृञ् का असकृत् प्रयोग उपलब्ध होता है। पाणिनि ने अपने धातुपाठ में छांदस धातु भी संगृहीत की हैं। अतः √कृ के छांदस प्रयोग भी पाणिनि का विषय होने ही चाहिएँ। यदि कृञ् केवल तनादिगण में ही दी जाए, तब सूत्र में उसका ग्रहण व्यर्थ है, यह भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट कर ही दिया है। यदि भ्वादि में ही दी जाए, तो शप् को बाध कर 'उ' होने से शब्विकरणक रूप पाणिनि सिद्ध न कर सकते थे। **कः-करत्करति०** में शब्विकरणक रूप पाणिनीय हैं, यह स्पष्ट ही है। अतः यदि भ्वादि में देकर तनादि में भी देते हैं, तो शप् और उ दोनों ही विकरण सम्भव होंगे। पृथक् पाठ से उ शप् को बाध नहीं सकेगा। इसके अतिरिक्त यदि किन्हीं को 'उ विकरण से अतिरिक्त तनादिकार्य कृञ् को नहीं होंगे', यह नियम निकालना है, तो वह भी उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। यदि कहें कि केवल तनादिगण में पाठ से ही दोनों विकरण करने का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तब सूत्र में अलग से क्यों दिया ? तो इसका उत्तर एक तो ऊपर बताया 'आदि शब्द प्रकारार्थक है', यह हो सकता है। दूसरे, काशिकाकार आदि के सम्प्रदाय में स्वीकृत नियम निकालना प्रयोजन इसे सूत्र में पृथक् पढ़े बिना सिद्ध नहीं होता। रही बात **कृ-मृ-दृ-रुहिभ्यश्छन्दसि** की, शब्विकरणक का आद्युदात्त रूप होता है, जबकि अङ् वाला रूप 'अङ्' प्रत्यय के स्वर से अन्तोदात्त होगा।

आचार्य सायण के मत में भी अङ् से सिद्ध होने वाला रूप अन्तोदात्त ही होना चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त, ऋग्वेदभाष्य में ही आचार्य सायण ने कृञ् को भौवादिक बताया है।[2] केवल भौवादिक, केवल तानादिक पाठ से यह स्वर-भेद कथमपि सम्भव

---

1. सायणीय ऋग्भाष्य 1.82.1 : **ननु अङः सति-शिष्टत्वाच्चित्स्वरेणान्तोदात्तेन भवितव्यम्।**
2. वही 1.23 6 : **करताम्—'कृञ् करणे' भौवादिकः।**

5 णीञ् प्रापणे ॥ 5 ॥ निनयिथ, निनेथ, निन्यिषे ॥ 84 ॥

5 √नी (णोपदेश) ले जाने में है ॥ 5 ॥ निनयिथ, निनेथ; निन्यिषे ॥ 84 ॥

नहीं है। अतः भ्वादि तथा तनादि दोनों ही गणों में कृञ् का पाठ मानना उचित है। इस प्रकार मानने पर पदेपदे शप् करने के लिए व्यत्यय का सहारा लेने का झंझट भी छूट जाता है। रही बात 'डुकृञ्' या 'कृञ्', कौन-सा पाठ भ्वादि में होना चाहिए? यह। इस में क्षीरस्वामी के प्रमाण पर 'कृञ् करणे' पाठ मानने पर कोई आपत्ति नहीं है। बल्कि भृञ्, हृञ्, धृञ् की तरह केवल कृञ् ऐसा अतिरिक्त अनुबन्ध (डु) से रहित पाठ अधिक मुख-सुख-कर एवं स्वारसिक है। भगवान् पतंजलि के अनुसार केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कृञ् तनादि-पठित है। भ्वादि-पठित है, या नहीं, इस पर न तो भाष्य से और न ही काशिका से कुछ प्रकाश पड़ता है। पाणिनि के 'करति' प्रयोग से भी स्पष्ट है कि पाणिनि को √कृ से शप् स्पष्ट है।

करति, करतः, करन्ति; करते, करेते, करन्ते; चकार, चक्रे; चकर्थ—क्रादि-नियम से इट् नहीं होता। चकृव, चकृम; चकृषे; कर्त्ता; करिष्यति, करिष्यते; करतु, करताम्; अकरत्, अकरत; करेत्, करेत; क्रियात्—रिङ्, कृषीष्ट; छंदस् में **'कृ-मृ-दृ-रुहिभ्यश्छन्दसि'** से अङ् : अकरत् अकरत। लोक में अकार्षीत्, अकृत—**ह्रस्वादङ्गात्** से सिज्लोप। अकृषाताम्, अकृषत; अकृथाः, अकृषाथाम्, अकृड्ढ्वम्; अकृषि, अकृष्वहि, अकृष्महि।

5 √**नी** पहुँचाना, ले जाना, ढोना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है। नयति, नयते; निनाय, निन्यतुः—नी+अतुस्, **द्विर्वचनेऽचि** से इयङ् का निषेध, द्वित्वादि कार्यः नि+नी+अतुस्, अनेकाच् होने से **अचि श्नु०** को बाध कर **एरनेकाचोऽसंयोग०** से यण्, नि+न्य्+अतुस्=निन्यतुः। जो लोग **द्विर्वचनेऽचि** से द्वित्व से पहले हुए अच्-कार्य को स्थानिवद्भाव मानते हैं, उनके मत में इयङ् होने पर स्थानिवद्भाव से 'नी'-भाव होने के कारण नी को द्वित्व, फिर अनेकाच् होने के कारण **एरनेऽकाचो०** से यण् होता है। निन्युः। निनयिथ, निनेथ—**अचस्तास्वत्०** से निषेध होने पर भारद्वाज के मत में वेट्। निनाय, निनय, निन्यिव, निन्यिम—क्रादिनियम से इट्, यण्। निन्ये, निन्यिषे, निन्यिड्ढ्वे, निन्यिद्ध्वे—**विभाषेटः**। नेता नेष्यति, नेष्यते; नेषीष्ट; अनैषीत्, अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेषत; अनेष्ठाः, अनेषाथाम्, अनेड्ढ्वम्; अनेषि, अनेष्वहि, अनेष्महि।

धातु-योग : गत धातुएँ 860, वर्तमान 6[1], योग 866 ॥ 84 ॥

---

1. दीक्षितजी के अनुसार यद्यपि 5 धातु ही हैं, तथापि क्षीरस्वामि-सम्मत √कृ भी यहाँ होनी चाहिये। अतः संख्या 6 दी है।

29 अथाजन्ताः परस्मैपदिनः—1 धेट् पाने ॥ 1 ॥ धयति । 2370 आदेच उपदेशेऽशिति (6.1.45)—उपदेश एजन्तस्य धातोरात्त्वं स्यात्, न तु

धातुवर्ग 29 : अजंत परस्मैपदी धातुएँ : क. एकारांत एक धातु

29 अब अंत में स्वर वाली परस्मैपदी धातुएँ हैं—1 √धे(टित्) पीने (चूंघने) में है ॥ 1 ॥ 2370 उपदेशावस्था में ए-ओ-ऐ-औकारांत धातु को आकार हो, किंतु

संदर्भ : स्वरांत उभय-पदी धातुएँ देने के बाद धातु-पाठ की पद्धति के अनुकूल क्रम तो था स्वरांत आत्मनेपदी धातुओं का । पर प्रकृत वर्ग में स्वरांत परस्मैपदी धातुएँ दी गई हैं । ये 46 हैं । क्षी० त० में 21 √**ष्टै** नहीं है, तो 41 √**श्रु** से पूर्व √**शु** अतिरिक्त है । क्षीरस्वामी ने संख्या नहीं बताई है । इनका क्रम आचार्य ने न जाने क्यों अंत में ए (1 धातु), ऐ (22), आ (6), ऋ (9), उ (6) तथा इ (2) वाली धातुएँ दे कर विचित्र प्रकार से दिया है । अंत में आ, इ, उ, ऋ, ऐ और ए वाली धातुओं का क्रम उचित होता ।

ये सब धातु आत्मनेपद के निमित्त (ङित्व और अनुदात्तेत्त्व) से रहित होने से परस्मैपदी हैं, तथा धातु-पाठ में अनुदात्त बताई होने से अनिट् हैं ।

29.1 **धेट्** पीना, चूसना, चूंघना अर्थ में सकर्मक अनिट् है । स्तन आदि कर्म का बोध धातु के अर्थ के अंतर्गत नहीं होता । 'धेट्' का ट् **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञक है । अष्टाध्यायी में धातुओं से विहित तिङ् और कृत् प्रत्ययों में धातु के टित्त्व से कोई प्रयोजन सूत्रकार ने नहीं बताया है । प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में टित्त्व के कारण ङीप् **टिड्-ढाणञ्०** (4.1.15) से किया है । अतः टित्त्व का कार्य ङीप् अवयव (धातु) में चरितार्थ न होकर समुदाय (प्रकृति तथा कृत् प्रत्यय से निष्पन्न प्रातिपदिक) में चरितार्थ होगा : इस प्रकार के प्रातिपदिक √धेट् से खश् प्रत्यय में निष्पादित हैं । अतः खश्प्रत्ययान्त सूत्रोक्त 'स्तनन्धय' तथा वार्तिकोक्त 'शुनिन्धय' आदि के स्त्रीलिंग में टित्त्व के निमित्त से **टिड्-ढाणञ्०** से ङीप होगा—स्तनन्धयी, शुनिन्धयी[1] ।

2370 आदेच उपदेशेऽशिति (6.1.45)—लिटि धातोरनभ्यासस्य (8) : उपदेशे

---

1. का० 3.2.29 : **धेटष्टित्त्वात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ।** क्षी० त० 1.641 : **टकार 'स्तनन्धयी'त्यादौ ङीबर्थः ।** मा० धा० वृ० 1.886, पृष्ठ 166 : **धेटष्टित्त्वमवयवेऽचरितार्थत्वात् 'स्तनन्धयी' इति समुदाये ङीबर्थम् ।** पदमंजरी 3.2.29 : **अत्रैव ङीबिष्यते, नान्यत्रेत्याहुः ।** मा० धा० वृ० : **'इदं खश्प्रत्ययान्तोपलक्षणम्' इत्येके । ···वर्धमानोऽपि 'शुनिन्धयी', 'स्तनन्धयी'—खश्प्रत्ययान्त एव ङीबिति ।**

शिति । 2371 आत औ णलः (7.1.34)—आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेशः स्यात् । दधौ । 2372 आतो लोप इटि च (6.4.64)—अजाद्योरार्धधातुकयोः

इत्संज्ञक शकार वाला (प्रत्यय) बाद में होने पर नहीं । 2371 अंत में दीर्घ अकार (आ) वाली धातु से विहित णल् को औकार आदेश हो । दधौ । 2372 आदि में स्वर

एचः धातोः आत् अशिति । 'धातोः' का विशेषण होने से 'एचः' में तदंत-विधि होती है । 'अशिति' पर-सप्तम्यंत है तथा विशेषण है । धातु के प्रसंग में पर-वर्ती अशित् 'प्रत्यय' ही हो सकता है, अतः 'प्रत्यये' विशेष्य है । 'श्' वर्ण है, अतः 'अशित्' से शिद्-भिन्न वर्ण का ही बोध होता है, इसलिये **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प० 34) से 'अशिति' में तदादि-विधि होती है : उपदेशे एजन्तस्य धातोः (अन्त्यस्य अलः—एचः—स्थाने) आद् (आदेशः) भवति, अशिदादौ प्रत्यये—उपदेश में एजंत धातु के अंतिम वर्ण (एच्) को 'आ' आदेश होता है, शिद्-भिन्न प्रत्यय बाद में होने पर, (अर्थात् शित् प्रत्यय बाद में होने पर नहीं होता) ।

इस सूत्र से लिट्, लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ्, लृङ्, णिच्, सन्, यङ् तथा शिद्-भिन्न प्रत्ययों में धातु का स्वरूप **√धा** हो जाता है । लट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ्, शतृ और शानच् में यह √धे ही रहती है ।

2371 आत औ णलः (7.1.34)—णल् चूँकि धातु से लगता है, अतः 'आतः' का विशेष्य 'धातोः' पद आता है । 'आतः' में तदंत-विधि । 'औ' अविभक्तिक निर्देश है । आदन्ताद् धातोः परस्य णलः 'औ' आदेशः भवति—आदंत धातु से परे स्थित णल् को 'औ' आदेश होता है ।

यहाँ अधिकृत **अङ्गस्य** (6.4.1) का 'धातोः' के अनुकूल पंचम्यंत रूप बनकर 'आदन्ताद् अङ्गात्' अर्थ भी हो सकता है : आदंत अंग के बाद स्थित णल् को 'औ' आदेश होता है ।

दधौ—√धे+णल्, **आदेच उप०** से ए को आ : √धा+णल्, **आत औ णलः**, धा+औ, **वृद्धिरेचि** को **द्विर्वचनेऽचि** से बाध कर द्वित्वादि दधा+औ, **वृद्धिरेचि** : दधौ ।

2372 आतो लोप इटि च (6.4.64)—अङ्गस्य (1), आर्धधातुके (46), दीङो युडचि क्ङिति (63) ; आतः (=आदन्तस्य) अङ्गस्य (अलोऽन्त्यस्य) लोपः (i) अचि (=अजादौ), क्ङिति आर्धधातुके (ii) इटि च—आदंत अंग के अंत्य अल् का लोप होता है (i) अजादि तथा कित् ङित् आर्धधातुक एवम् (ii) इट् आगम परे रहते ।

दधतुः—धा+अतुस्, **असंयोगाल्लिट् कित्** से अतुस् की कित्संज्ञा, द्वित्व (6.1.8) से आ का लोप (6.4.64) पर होने से लोप प्राप्त होने पर **द्विर्वचनेऽचि** से

क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः स्यात् । द्वित्वात् परत्वाल्लोपे प्राप्ते 'द्विर्वचनेऽचि' (2243) इति निषेधः । द्वित्वे कृत आ-लोपः—(i) दधतुः, दधुः, (ii) दधिथ, दधाथ; दधिव, दधिम; धाता । 2373 दा धा घ्वदाप् (1.1.20) (i) 'दा'-वाले, आर्धधातुक-संज्ञक (i) कित्, ङित् प्रत्यय और (ii)[1] इट् बाद में होने पर (पूर्व-वर्ती) आ का लोप हो जाए । द्वित्व से पर (बाद में प्रतिपादित) होने के कारण लोप प्राप्त होने पर **द्विर्वचनेऽचि** (2243) से (लोप का) निषेध होता है । द्वित्व किये जाने पर आकार का लोप होता है—(i) दधतुः, दधुः, (ii) दधिथ, दधाथ; दधिव, दधिम । 2373 (i) 'दा' स्वरूप वाली और (ii) 'धा' स्वरूप वाली धातु 'घु' कहलातीं

लोप का निषेध । फिर द्वित्व कार्य करने पर आत् का लोप : दध्+अतुस्=दधतुः । **दधिथ**—धा+थ, भारद्वाज-नियम से वेट् । धा+इथ । पूर्ववत् प्रक्रिया । इट् न होने पर दधाथ । दधिव, दधिम—क्रादिनियम से इट् । धाता; धास्यति; धयतु; अधयत्; धयेत् ।

कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् ।
मां धाता; वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात् ।। श्रीमद्भागवत 9.6.31

'रोरूयते' (√रु+यङ्) के साथ 'भृशम्' अनावश्यक है ।

2373 दा धा घ्वदाप् (1.1.20)—दा, धा 'घु' (कहाते हैं) दाप् को छोड़ कर । 'दा' 'धा' एवं 'घु' लुप्त-प्रथमाक, अदाप् (1.1) 'घु' के प्रदेशों—**घु-मा-स्था-गा०** (6.4.66), **नेर्गद ··घु-मा०** (2285) आदि—से सिद्ध होता है कि 'घु' धातुओं की संज्ञा है । वे धातु हैं दा और धा । डुदाञ् दाने (जु०), दाण् दाने (भ्वादि 29.25) तथा दाप् लवने (अदादि), ये तीन प्रतिपदोक्त 'दा' धातु हैं । दो अवखण्डने (दि०), देङ् रक्षणे (भ्वा०) ये लक्षणतः—एच् को आकार आदेश से निष्पन्न—'दा' स्वरूप वाली हैं । इसी प्रकार डुधाञ् प्रतिपदोक्त एवं धेट् लक्षणोक्त 'धा' धातु हैं । **लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः०** (प० 114) से केवल प्रतिपदोक्तों का ही इस सूत्र में ग्रहण होना चाहिए;

---

1. दीक्षितजी ने 'अचि' और 'आर्धधातुके' का संबंध 'क्ङिति' और 'इटि' दोनों से किया है । इट् स्वभावतः अजादि है और वह आर्धधातुक का आगम होने से आर्धधातुक भी स्वभावतः ही है । कित्, ङित् इनसे भिन्न भी हो सकते हैं । अतः इन विशेषणों की उपयोगिता सिर्फ 'क्ङिति' के साथ अन्वित होने में है । अतः 'इटि' के साथ संबंध निरुद्देश्यक है । संभवतः यही कारण है कि काशिका और (प्रकृत धातु पर) मा० धा० वृ० में इन दोनों का संबंध केवल 'क्ङिति' के साथ किया गया है, 'इटि' से नहीं । अनुवाद मूल के अनुसार किया गया है । व्याख्या देखें ।

परन्तु 'दैप् शोधने' धातु में पकार-पाठ से सिद्ध होता है कि लाक्षणिक 'दा' की भी घु संज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि पकार करने का प्रयोजन इस सूत्र के 'अदाप्' इस पर्युदास (पृष्ठ 523) का विषय होना ही है। भाव यह है कि यदि वस्तुतः इसकी घु संज्ञा लक्षणोक्त होने से प्राप्त ही नहीं होती, तो यहाँ केवल 'दै' इतना कहना भी पर्याप्त रहता। क्योंकि पकार से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तब, प्रस्तुत सूत्र में 'अदाप्' पद के अन्तर्गत 'दाप्' से इसका भी ग्रहण होता है, यही प्रयोजन निकलता है। तो घु संज्ञा के निषेध के वाक्य में यदि लक्षणोक्त का ग्रहण हो सकता है, तो घुविधान में 'दा' से सभी लक्षणोक्त क्यों नहीं लिए जायेंगे ? फलतः, लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त सभी 'दा' यहाँ अभिप्रेत हैं।

जब 'दा' पर **लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्** परिभाषा लागू नहीं होती, तो 'दा' के साथ दी 'धा' पर भी लागू नहीं होगी। फलतः 'धा' से भी डुधाञ् एवं धेट् दोनों का ही ग्रहण होगा। इसमें साधक प्रमाण यह है कि तादि कित् प्रत्यय परे रहते डुधाञ् को अष्टाध्यायी में **दधातेर्हि** (7.4.42) से 'हि' आदेश करके **दो दद् घोः** (46) से तादि कित् प्रत्यय परे रहते ही 'घु'-संज्ञक 'दा' को दथ् (तवर्ग-द्वितीयांत) आदेश किया है। लक्षणोक्त 'धा' (धेट्) की यदि 'घु' संज्ञा सूत्रकार को अभीष्ट न होती, तो '**दद् घोः**' इतना ही सूत्र पर्याप्त था। क्योंकि 'दा' के अतिरिक्त घुत्व इस पक्ष में केवल डुधाञ् को ही है। और उसे दथ् आदेश इस सूत्र से प्राप्त नहीं है, क्योंकि हिविधायक सूत्र अपवाद होने के कारण **दद् घोः** सूत्र से बलवान् है। तब 'दः' का ग्रहण पुकार-पुकार कर बतला रहा है कि धेट् भी सूत्रकार के मत में 'घु' ही है। घु धेट् को कहीं दथ् न हो जाए, इसलिए 'दः' पद अत्यावश्यक है।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है कि **दा धा** कहने से सूत्र-पठित आकार (आकारांतत्व) अपेक्षित नहीं है। 'दा धा' के आकार का प्रयोजन प्रतिपदोक्त के साथ-साथ लक्षणोक्त का ग्रहण कराना ही है। अतः लक्षणोक्त 'दा' स्वरूप वाली धातुओं में आकारांतत्व विशेषतः प्रतिपाद्य नहीं है। सायणाचार्य ने **प्रकृतिवदनुकरणं भवति** परिभाषा से 'दा धा' अनुकरण से 'दा' स्वरूप की प्रकृति (एजंत धे) का भी ग्रहण किया है। भगवान् भाष्यकार ने **नेर्गद०** (8.4.17) आदि सूत्र में 'मा' के लिए **घु-मा०** के बीच में 'प्रकृति' शब्द का ग्रहण करके 'घु'-प्रकृति धातु परे रहते भी णत्व का विधान किया है।[1] 'घु' प्रदेशों में केवल यही (**नेर्गद०**) प्रदेश है, जहाँ शित् प्रत्ययों में, 'घु' कार्य (णत्व) प्राप्त है। **नेर्गद०** सूत्र पर भाष्य में तो 'प्रकृति'-ग्रहण दृष्टिगोचर

---

1. म० भा० 1.1.20, वार्तिक 1, पृष्ठ 241 : **अवश्यं तत्र** (8.4.17 सूत्रे) **माङर्थं 'प्रकृति'-ग्रहणं कर्तव्यम्,'''तत्पुरस्तादपकक्ष्यते—'घु-प्रकृतौ', 'मा-प्रकृतौ चे'ति।**

रूपा, (ii) 'धा'-रूपाश्च धातवो 'घु'-संज्ञाः स्युर्दाप्-दैपौ विना । 2374 एर्लिङि (6.4.67)—(i) 'घु'-संज्ञानां, (ii) मा-स्थाऽऽदीनां चैत्त्वं स्यादार्धधातुके किति लिङि । धेयात्, धेयास्ताम्, धेयासुः । 2375 विभाषा घेट्-श्व्योः (3.1.49)—आभ्यां च्लेश्चङ् वा स्यात्, कर्तृ-वाचिनि लुङि परे । 'चङि' (2315) इति हैं, √दाप्, और √दैप् को छोड़कर । 2374 (i) 'घु' संज्ञा वाली, और (ii) √मा, √स्था आदि धातुओं को एकार हो, आर्धधातुक संज्ञा वाला कित् लिङ् वाद में होने पर । धेयात् । 2375 √घे और √श्वि के वाद स्थित च्लि को चङ् विकल्प से हो, कर्त्रर्थक

नहीं होता ।

'अदाप्' शब्द से प्रतिपदोक्त 'दाप् लवने' तथा लक्षणोक्त 'दैप् शोधने' ली जाती हैं । फलतः अर्थ होता है : 'दा' रूप वाली तथा 'धा' रूप वाली धातु 'घु' संज्ञक होती हैं, √दाप् और √दैप् को छोड़ कर ।

2374 **एर्लिङि** (6.4.67)—अङ्गस्य (1), आर्धधातुके (46), दीङो युडचि क्ङिति (63), घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि (66) । 'घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साम्' (6.3) के अनुरोध पर 'अङ्गस्य' का बहुवचन में विपरिणाम होता है : 'घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साम् अङ्गानाम् (अन्त्यस्य अलः) एः (आदेशो भवति) आर्धधातुके किति लिङि—'घु' संज्ञक तथा मा माने (अ०), ष्ठा गति-निवृत्तौ (भ्वा०), गै शब्दे (भ्वा०), गा स्तुतौ (जु०), पा पाने (भ्वा०), ओहाक् त्यागे (जु०), पोऽन्तकर्मणि (दि०) अंगों के अंत्य वर्ण को एकार आदेश होता है, (i) आर्धधातुक और (ii) कित् संज्ञाओं वाला लिङ् परे रहते । 'आर्धधातुक लिङ्' से **लिङाशिषि** (2215) से 'आर्धधातुक'-संज्ञापन्न आशीर्लिङ्, तथा 'कित् लिङ्' से **किदाशिषि** (2216) से कित्संज्ञापन्न आशीर्लिङ् का आगम यासुट् लिया जाता है ।

धेयात्—धा+यात्, **एर्लिङि** से एत्त्व : धे+यात्=धेयात् । धेयास्ताम्, धेयासुः, धेयाः इत्यादि भी इसी प्रकार होते हैं ।

2375 **विभाषा घेट्-श्व्योः** (3.1.49)—धातोः (22), च्लेः सिच् (44), च्लि लुङि (43), णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ् (48) । घेट्-श्व्योः (6.1) धातोः (5.1) च्लेः (6.1) विभाषा चङ् (1.1 भवति) कर्तरि (7.1) । 'घेट्-श्व्योः' में षष्ठी के स्थान पर पिछले या अगले सूत्रों के तथा 'धातोः' के अनुरोध से 'घेट्-श्विभ्याम्' (पंचमी) अधिक उचित है । घेट् तथा टुओश्वि गतिवृद्धयोः (भ्वा०) धातुओं से परे स्थित च्लि के स्थान में वा चङ् होता है, कर्त्रर्थक लुङ् में ।

(1) **अदधत्** । चङ् होने पर **चङि** से द्वित्त्व तथा शेष प्रक्रिया स्पष्ट है । चङ्-भाव-पक्ष में—

द्वित्वम्—अदधत्, अदधताम् । 2376 विभाषा घ्रा-धेट्-शा-च्छा-सः (2.4.78)—एभ्यः सिचो लुग् वा स्यात्, परस्मैपदे परे । अधात्, अधाताम्, अधुः । 2377 यम-नम-रमातां सक् च (7.2.73)—एषां सक् स्याद्, एभ्यः सिच इट् च, परस्मैपदेषु । अधासीत्, अधासिष्टाम्, अधासिषुः ।। 85 ।।

लुङ् बाद में होने पर । 'चङि' (2315) से द्वित्व होता है—अदधत् । 2376 √घ्रा, √धेट्, √शा, √छा और √सा से विहित सिच् का लुक् विकल्प से हो, बाद में परस्मैपद होने पर । अधात् । 2377 √यम्, √नम्, √रम् तथा (अंत में) आ (वाली धातुओं) को सक् (स्) आगम हो, और इन धातुओं से विहित सिच् को इट् हो, बाद में परस्मैपद होने पर । अधासीत् ।। 85 ।।

2376 **विभाषा घ्रा-धेट्-शा-च्छा-सः** (2.4.78)—ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुग-णिञोः (58), गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु (77) । 'घ्रा-धेट्-शा-च्छासः सिचः लुग् विभाषा परस्मैपदेषु—घ्रा गन्धोपादाने (भ्वा०), धेट् पाने (भ्वा०), शो तनूकरणे (दि०), छो छेदने (दि०), षोऽन्तकर्मणि (दि०) से परे स्थित सिच् का वा लुक् होता है, 'परस्मैपद'-संज्ञक प्रत्यय परे रहते । **सहचरितासहचरितयोः सहचरित-स्यैव ग्रहणम्** (प०) से लाक्षणिक दैवादिक √शा, √छा तथा √सा ही ली गई हैं ।

(2) **अधात्**—अ+धा+स्+त्, चङभाव-पक्ष में **विभाषा घ्रा-धेट्०** से सिच् का लुक् । **अधाताम्, अधुः**—**आतः** से झि को जुस्, आ को **उस्यपदान्तात्** से 'उ' से पर-रूप एकादेश । सिज्जलुगभाव-पक्ष में—

2377 **यम-रम-नमातां सक्च** (7.2.73)—आर्धधातुकस्येड् वलादेः (35), स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु (72), अङ्गस्य (6.4.1) । यम-नम-रमाताम् अङ्गानां सक्, इट् च परस्मैपदेषु सिचि । 'आत्' में तदंतविधि होती है । सक् कित् होने से अंग के अंत में जुड़ेगा, इट् टित् होने से सिच् के आदि में । यम-रम-नमाम्, आदन्तानां (च) अङ्गानां सक् आगमो भवति, सिचि इट्, परस्मैपदेषु—√यम्, √नम् और रम् एवम् आदन्त इन अंगों को सक् (स्), और सिच् को इट् आगम होते हैं, परस्मैपद प्रत्यय परे रहते ।

(3) **अधासीत्**—अ+धा+सिच्+त्, सिच् का लोप न होने के पक्ष में सक्, इट् : अ+धा+स् (सक्)+इ+स् (सिच्)+त्, **अस्ति-सिचोऽपृक्ते**—अधा+स्+इ+स्+ई+त्, **इट ईटि**—अधा+स्+इ+ई+त्, दीर्घ : अधासीत् । ऐसे ही अधासि-ष्टाम् इत्यादि । यहाँ ईट् नहीं होता । **अधासिषुः**—**सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च** से झि को जुस् ।

(1) अदधत्, अदधताम्, अदधन्; अदधः, अदधतम्, अदधत; अदधम्, अदधाव,

29.2 ग्लै, 3 म्लै हर्ष-क्षये ॥ 2 ॥ हर्ष-क्षयो=धातु-क्षयः। ग्लायति; जग्लौ, जग्लिथ, जग्लाथ। 2378 वाऽन्यस्य संयोगादेः (6.4.68)—घु-मा-स्थाऽऽदेरन्यस्य, संयोगादेर्धातोरात एत्त्वं वा स्याद्, आर्धधातुके किति लिङि।

धातु-वर्ग 29 : ख. परस्मैदी 22 ऐकारांत धातु

29.2 √ग्लै, 3 √म्लै हर्ष का छीजना अर्थ में है ॥ 2 ॥ हर्ष का छीजना धातु (बल) का छीजना है। 2378 'घु' (-संज्ञक) तथा √मा, √स्था आदि से भिन्न, आदि में संयोग वाली धातु के आकार को एकार आदेश विकल्प से होवे, आर्धधातुक (-संज्ञक)

अदधाम। (2) अधात्, अधाताम्, अधुः; अधाः, अधातम्, अधात; अधाम्, अधाव, अधाम। (3) अधासीत्, अधासिष्टाम्, अधासिषुः; अधासीः, अधासिष्टम्, अधासिष्ट; अधासिषम्, अधासिष्व, अधासिष्म ॥ 85 ॥

29.2 √ग्लै, 3 √म्लै खुशी नष्ट होना, धातु क्षीण होना, उदास होना, कुम्हलाना, मुरझाना[1] अर्थ में (अकर्मक, अनिट्) हैं। आचार्य क्षीरस्वामी **ग्लै हर्ष-क्षये। म्लै गात्र-विनामे** पाठ मानते हैं। 'विनाम' का अर्थ उन्होंने 'कान्ति क्षीण होना' माना है। प्रथम धातु का अर्थ क्षय मानसिक है और द्वितीय का शारीर। ग्लायति; म्लायति; जग्लौ; मम्लौ। प्रक्रिया दधौ की तरह। थल् में भारद्वाज-नियम से वेट्, **आतो लोप इटि च** : जग्लिथ, जग्लाथ; ग्लाता; ग्लास्यति।

2378 वाऽन्यस्य संयोगादेः (6.4.68)—अनुवृत्ति एर्लिङि (2374) की तरह। 'अन्यस्य' शब्द के योग से 'घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साम्' (षष्ठ्यंत) का पंचमी में विपरिणाम[2] होता है : घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साभ्यः अन्यस्य, संयोगादेः अंगस्य वा एः आर्धधातुके किति लिङि—'घु' (-संज्ञक धातु) और √मा, √स्था, √गा, √पा, √हा, तथा √सा से भिन्न संयोगादि अंग के अन्त्य अल् को एकार विकल्प से होवे, आर्धधातुक लिङ् बाद में रहते। ग्ला+यात्, वा एकार, ग्लेयात्, ग्लायात्; ग्लेयास्ताम्, ग्लायास्ताम्; ग्लेयासुः, ग्लायासुः इत्यादि।

अग्लासीत्—लुङ् में सक्, इट् आदि कार्य। ग्लानः, ग्लानिः। इसी प्रकार √म्ला के रूप भी होंगे।

---

1. मूल 'हर्ष-क्षय' का अर्थ क्षी० स्वा० ने 'धात्वपचय' (धातु का ह्रास) किया है तथा सायण ने 'धातु-क्षय'।

2. **अन्यारादितरर्ते-दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** (2.3.29) से 'अन्य' के योग में पंचमी होती है।

ग्लायात्, ग्लेयात् । अग्लासीत् । म्लायति । 4 द्यै न्यक्करणे ॥ 3 ॥ न्यक्करणं =तिरस्कारः । 5 द्रै स्वप्ने ॥ 4 ॥ 6 ध्रै तृप्तौ ॥ 5 ॥ 7 ध्यै चिन्ता-

कित् लिङ् बाद में होने पर । ग्लायात्, ग्लेयात् । 4 √द्यै न्यक्करण में है ॥ 3 ॥ न्यक्करण माने तिरस्कार (अपमान) होना/करना है । 5 √द्रै सोने में है ॥ 4 ॥ 6 √ध्रै

4√द्यै तिरस्कार करना, नीचा दिखाना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । क्षीरस्वामी के अनुसार 'न्यङ्ग-विमाने' (सायण द्वारा उद्धृत) या 'न्यङ्ग-विघाने' मुद्रित पाठ है । निन्दित अंग=न्यङ्ग (अंगको कुत्सित-सा बनाना?) अर्थ है । द्यायति; दद्यौ, दद्यतुः, दद्युः; दद्यिथ, दद्याथ, द्याता; **वाऽन्यस्य संयोगादेः** से वा एत्त्व : द्येयात्, द्यायात्; अद्यासीत् । द्यानः, **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (8.2.43) से निष्ठा त को न । दीनः **दीङ् क्षये** (दि०) से **ओदितश्च** (8.2.45) से 'त' को 'न' होने पर बनता है । यह धातु **स्वादय ओदितः** (धातु-पाठ, दि०) कथन से ओदित् है ।

5 √द्रै सोना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है । **स्पृहि-गृहि०** (3.2.158) इत्यादि सूत्र में वृत्तिकार ने 'निद्रा', 'तन्द्रा' शब्दों में 'नि' 'तद्' के योग आदादिक में **द्रा कुत्सायां गतौ**[1] को माना है, क्षीरस्वामी ने भौवादिक तथा आदादिक, दोनों को । अर्थ की दृष्टि से भ्वादिगत का ग्रहण अधिक उचित है । नि+√द्रा से निष्ठा में निद्राणः, निद्राणवान् । 'निद्रित' शब्द 'निद्रा' से **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्** (5.2.36) से बनता है । निद्रायति=सोता है ।

6√ध्रै तृप्ति होना, धापना अर्थ में (अकर्मक, अनिट्) है । क्षीरस्वामी के अनुसार भाष्य में √ध्रा से परे 'त' को **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (8.2.43) से नकारादेश नहीं होता बतलाया है । पर भाष्य में ऐसा कोई लेख अथवा संकेत नहीं मिलता ।

7 √ध्यै चिन्ता करना, ध्यान, करना, सोचना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । ध्यातम्—**न ध्या-ख्या-पू-मूर्च्छिमदाम्** (8.2.57) से निष्ठा त को न आदेश का निषेध । ध्यानम्, भाव में ल्युट । ध्यायतीति धीः—**ध्यायतेः सम्प्रसारणं च** (वा० 3.2.178) से कर्तरि क्विप् ।[2] दार्शनिक लोग धी को करण मानते हैं । पर पाणिनीय तंत्र में उसमें

---

1. यास्क ने **'द्रातीति गति-कुत्सना'** (निरुक्त 2.3) में इसी का परामर्श किया है ।
2. यह शब्द परंपरा में उणादि-निष्पन्न भी माना जाता है । क्षी० त० 1.647 : **उणादौ धीः** । तथा—

   अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।
   सप्त-स्त्री-लिङ्ग-शब्दानां न सु-लोपः कदाचन ॥

याम् ॥ 6 ॥ 8 रै शब्दे ॥ 7 ॥ 9 स्त्यै, 10 ष्ट्यै शब्द-संघातयोः ॥ 8 ॥ स्त्यायति—षोपदेशस्यापि सत्वे कृते रूपं तुल्यम्; षोपदेश-फलं तु 'तिष्ट्या-

तृप्ति होने में है ॥ 5 ॥ 7 √ध्यै चिंतन करने में है ॥ 6 ॥ 8 √रै आवाज़ करने में है ॥ 7 ॥ 9 √स्त्यै (अषोपदेश), 10 √स्त्यै (षोपदेश) आवाज़ करने और समूह होने में है ॥ 8 ॥ स्त्यायति—षोपदेश धातु का भी सकारादेश करने पर रूप बराबर ही होता है; उपदेश में मूर्धन्य पाठ का फल तो 'तिष्ट्यासति', 'अतिष्ट्ययत्' में मूर्धन्यादेश

कर्तृत्व का उपचार माना जाता है।[1]

8 √रै शब्द करना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है। रायति; ररौ; रायात्; अरासीत्। राः (रै+प्रथमा, ए० व०)=घनम्—**रातेर्डः** (उ० सू० 234) से आदादिक **रा दाने** से है।

9 √**स्त्यै** (सोपदेश) तथा 10 √**ष्ट्यै** (षोपदेश) शब्द करना और समूह अर्थ में (सकर्मक अनिट्) हैं। पहली धातु उपदेश में दंत्यादि तथा अगली मूर्धन्यादि है। **धात्वादेः षः सः** से सत्व : √स्त्यै। **सेक्-सृप्-सृ-स्वृ-स्सृज्-तृ-स्त्याऽन्ये०** (षोपदेश-पर्युदास-वाक्य, पृष्ठ 235) में एक 'स्त्या' अषोपदेश बताई है। क्षीरस्वामी, मैत्रेय, संमताकार, काश्यप, शाकटायन, काशकृत्स्न की मान्यता है कि प्रयोग में भी 'ष्ट्यै' मूर्धन्यादित्वेन ही रहती है। आचार्य क्षीरस्वामी ने **ष्ट्यै स्त्यै शब्द-संघातयोः** पाठ दिया है और कहा है कि धातु-पाठ में मूर्धन्यादि तथा दन्त्यादि दोनों तरह का पाठ मिलने से मूर्धन्यादि धातु के 'ष्' को 'स्' नहीं होता। यदि सकारादेश कर दिया जाए, तो दो √स्त्यै एक ही अर्थ में व्यर्थ ही होंगी।[2] भट्टमल्ल तथा देव ने षोपदेश को सत्व किया है : **शब्द-सङ्घातयोर्धात्वोः स्त्यायति** (आ० चं० 3.39,125, श्लोक 17), **शब्द-सङ्घातयोर्धात्वोः स्त्यायत्येकस्य सो न षः** (दैवम् 7)। पुरुषकारकार तथा सायण का कहना है कि **धात्वादेः षः सः** न करने पर प्रयोग में 'दंत्यपरक सकारादि धातु उपदेश में मूर्धन्यादि होती हैं', यह षोपदेशलक्षण लागू न होने से उपर्युक्त मत अपाणिनीय है। यद्यपि 'ष्ट्यै' का भी सत्व करने पर 'स्त्यै' रूप होता है, पर 'तिष्ट्यासति' आदि सन्नंत तथा 'अतिष्ट्यपत्' आदि णिजंत रूपों में मूर्धन्य आदेश होने से षोपदेशत्व

---

1. प० म० 3.2.178 : **धीरित्यत्रापि करणस्यैव कर्तृत्व-विवक्षा—पुरुषो हि ध्यायति, न धीः।** पाणिनीय तंत्र में 'धी' (बुद्धि) के करणत्व के लिए देखिए डॉ० रामशरण शास्त्री, पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे वैशेषिकतत्त्वमीमांसा, पृष्ठ 125.

2. **क्षी० त० 1.649 : ष्टयायति, स्त्यायति। उभयोरुपदेश उपादानाद् 'धात्वादेः षः सः' (6.1.64) नास्ति।**

सति', 'अतिष्ट्यपद्' इत्यत्र षत्वम् । 11 खै खदने ॥ 9 ॥ 12 क्षै, 13 जै, 14 षै क्षये[1] ॥ 10 ॥ क्षायति । जजौ । ससौ; साता । (i) 'घु-मा-स्था०' (6.4.66) इत्यत्र, (ii) 'विभाषा घ्रा-धेट्' (2376) इत्यत्र च स्यतेरेव ग्रह-

है । 11 √खै स्थिर होने और हिंसा करने में है ॥ 9 ॥ 12 √क्षै, 13 √जै, 14 √षै छीजना, नाश होना अर्थ में हैं ॥ 10 ॥ (i) 'घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि' (6.4.66) में तथा (ii) 'विभाषा घ्रा-धेट्-शा-च्छा-सः' (2376) में दैवादिक √सो का ही ग्रहण होता है, न कि इसका; इसलिये एकारादेश तथा सिच् का लुक् नहीं होते—

चरितार्थ होता है, व्यर्थ नहीं है ।[2]

11 √खै स्थिर होना (अकर्मक) तथा हिंसा में (सकर्मक) अनिट् है । काशकृत्स्न के धातु-पाठ में 'खादने' पाठ है । का० कृ० की कन्नड़टीका में इसका अर्थ अदन यानी खाना दिया है ।[3] हिंदी और पंजाबी आदि की √खा तथा पुरानी हिन्दी की √खाय् एवम् कृदन्त का 'खाना' (संस्कृत 'खानम्'[4]) शब्द इसके अधिक निकट हैं । अतः भाषा-शास्त्र की दृष्टि से **खै खादने** पाठ उचित है । खायति; चखौ; खाता; खास्यति; खायतु; अखायत्; खायेत्; खायात्; अखासीत् । खातः; खातवान् ।

12 √क्षै, 13 √जै तथा 14 √सै (षोपदेश) धातुएँ क्षय होना, नाश होना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) हैं । भोज के अनुसार √क्षै मित् है । सुधाकर, मा०धा०वृ० क्षी०त० को यह मत इष्ट है, यह **'ध्वन शब्दे'** पर मितों में कहा जा चुका है ।

धातु-पाठ में 'षै' तथा दैवादिक 'षो' इन दोनों का अशिदादि प्रत्ययों में **आदेच उपदेशे०** से ऐ, ओ को आ करने से 'सा' रूप होता है । अष्टाध्यायी में (i) **विभाषा**

---

1. पुरुषकार 7, पृष्ठ 15, में धा० सू० का पाठ **क्षै षै जै क्षये** धृत है ।
2. दैवम 7 पर पु०, पृष्ठ 14 : **तयोरेकस्य 'स्त्यै' इत्यस्य 'तिस्त्यासति', 'अतिस्त्यपत्' इत्यादिषु संश्चङन्तेषु 'आदेश-प्रत्यययोः' (8.3.59) इति सस्य षत्वं न भवति अषोपदेशत्वेनानादेश-सकारत्वात् । अन्यस्य तु 'तिष्ट्यासति,' 'अतिष्टचपत्, इत्यादि भवत्येवेत्यर्थः । मा० धा० वृ० 1.895, पृष्ठ 168 : षोपदेशस्यापि 'धात्वादेः षः सः' इदमेव रूपम्' । प्रयोजनं तु 'तिष्टचासति', 'अतिष्ट्यपत्' इत्यादावादेशसकारत्वात् षत्वम् ।**
3. का० कृ० धा० पा० 1.333, पृष्ठ 52 : **खै खादने** । इस पर कन्नड़ टीका—**अदने खायति=अत्ति । खायकः, खायिता, द्वौ अत्तरि । खा; खानम्, खातम्, खानिः, खातिः, खीतम्, इमे षट् अदने ।**
4. क्षी०त० 1.650 : **ल्युटि खानमाहुः ।**

णम्, न त्वस्य; तेन एत्त्व-सिज्लुकौ न—सायात्; असासीत्। 15 कै, 16 गै शब्दे ॥ 11 ॥ गेयात्; अगासीत्। 17 शै, 18 श्रै पाके ॥ 12 ॥ 19 पै,
सायात्; असासीत्। 15 √कै, 16 √गै आवाज करने में है ॥ 11 ॥ 17 √शै, 18 √श्रै

ग्रा-घेट्-शा-च्छा-सः (ii) **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (6.4.66) तथा (iii) **शा-च्छा-सा-ह्वा-व्या-वेपां युक्** (7.3.37)—इन तीन सूत्रों से 'सा' को क्रमशः (i) परस्मैपद परे रहते सिज्लुक्, (ii) हलादि क्ङित् प्रत्यय परे रहते आ को ईत् और (iii) णिच् में युगागम किया गया है। इन तीनों में से दो सूत्रों में √सा, √शा और √छा के साथ दी है। 'शा' यह भौवादिक **शै पाके** तथा दैवादिक **शो तनूकरणे** का, एवं 'छा' **छो छेदने** (दैवादिक) का कृतात्त्व रूप होता है। इन सूत्रों में 'शा' तथा 'सा' से केवल दैवादिक का ही ग्रहण काशिका, न्यास, क्षीरस्वामी तथा सायण को संमत है। तथा **शा-च्छा-सा०** (7.3.37) में केवल दैवादिक को ग्रहण करने का कोई स्पष्ट हेतु नहीं है। तब भी व्याख्याताओं ने लिया है 'षो' (दैवा०) को ही। इसमें यह तर्क हो सकता है कि अष्टाध्यायी के प्रारंभ (**विभाषा ग्रा०** 2.4.78) तथा अंत (**शा-च्छा-सा०** 7.3.37) में 'सा' से **सहचरिता०** परिभाषा से दैवादिक का ही ग्रहण होने से सूत्रकार को यहाँ (6.4.66 में) भी दैवादिक का ही ग्रहण इष्ट है। फलतः, इस √सै या √सा को (i) **एलिङि** से एत्त्व, (ii) **विभाषा ग्रा-घेट्-शा-च्छा-सः** से सिज्लुक् एवं (iii) **शा-च्छा-सा-ह्वा-व्या-वेपां युक्** से णिच् में युक् नहीं होंगे।

चक्षौ; जजौ; ससौ; क्षायात्; जायात्, सायात्; अजासीत्; असासीत्; अक्षासीत्; क्षपयति; जापयति; सापयति; क्षामः—**क्षायो मः** (8.2.53)।

15 √**कै** तथा 16 √**गै** शब्द करना अर्थ में (अकर्मक) अनिट् हैं। यहाँ 'शब्दे' अर्थ-निर्देश सामान्य-परक है। क्षीरस्वामी ने शब्द-विशेष (खास तरह का शब्द करना) अर्थ में रूढ माना है। यह खास तरह का शब्द √कै का काँव-काँव करना तथा √गै का गाना हो सकता है।[1] **घु-मा-स्था०** (6.4.66) सूत्र में **गा-मा-दा-ग्रहणेष्वविशेषः** (प० 115) से लाक्षणिक √गा का भी ग्रहण मानने से आशीर्लिङ् में **एलिङि** से एत्त्वः गेयात्। **गाति-स्था-घु०**-(2.4.77) सूत्र पर **गा-पोग्रहण इण्-पिबत्योर्ग्रहणम्** (वा०) से √गै का ग्रहण न होने से लुङ् में सिज्लुक् नहीं होता। **यम-रम-नमातां सक् च** से सक्, इट् : अगासीत्, अगासिष्टाम्। अगास्यत्।

17 √**शै**, 18 √**श्रै** पकना (अकर्मक) अर्थ में अनिट् हैं। √**श्रै** मित् है। क्षीरस्वामी के मत में '**स्रै श्रै**' पाठ है। शायति; श्रायति; स्रायति। शापयति, श्रपयति।

---

1. नि० 3.18 : **काक इति शब्दानुकृतिः**। उ०सू० 3.43 : **इण्-भी-का-पा-शल्यति-र्मचिभ्यः कन्**। तथा आ० चं० 1.5.22, श्लोक 137 : **गीते तु गायति**।

20 ओवै शोषणे ॥ 13 ॥ पायात्; अपासीत्—(i) **'घु-मा-स्था०' (6.4.66) इति ईत्त्वम्, (ii) तदपवाद 'एर्लिङि' (2374) इति एत्त्वम्, (iii) 'गाति-स्था०' (2223) इति सिज्लुक् च न, 'पा'-रूपस्य लाक्षणिकत्वात् । 21 ष्टै** पकना अर्थ में हैं ॥ 12 ॥ 19 √पै, 20 ओदित् √वै सुखाना अर्थ में हैं ॥ 13 ॥ पायात् अपासीत्—(1) 'घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि' (6.4.66) से इकारादेश, (ii) उसका बाधक 'एर्लिङि०' (2374) से एकारादेश, (iii) 'गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' (2.2.2.3) से सिच् का लुक् भी नहीं होते; क्योंकि (प्रकृत धातु का) 'पा' स्वरूप लाक्षणिक है (प्रतिपदोक्त नहीं) । 21 √स्तै (षोपदेश) लपेटने में है

व्या० च० (पृष्ठ 26, पङ्क्ति 4-5) में √श्रै का अर्थ 'पकाना' बताया है । पर यह उचित नहीं प्रतीत होता : (1) **यदि श्रातो, जुहोतन; यद्यश्रातो, ममत्तन** (ऋ० 10.179.1) इत्यादि में **श्रातः** 'पक गया' अर्थ में है, 'पकाया हुआ' अर्थ में नहीं; (2) यदि √श्रै का 'पकाना' अर्थ हो, तो 'श्रपयति' (ण्यंत) का अर्थ 'पकवाना' होना चाहिये, जो कि होता नहीं है; तद् यथा—**देवस्त्वा सविता श्रपयतु** (वा० सं० 1.22) में 'श्रपयतु' का अर्थ **'पक्वं करोतु'** (—महीधर) है, **'पक्वं कारयतु'** नहीं; यदि 'पकाना' धात्वर्थ होता, तो ऋषि ने 'श्रायतु' प्रयोग किया होता, 'श्रपयतु' नहीं । महीधर ने स्पष्टतः कहा भी है : **'मनुष्यस्य श्रपणे कर्तृत्वं मा भूत्' इत्यभिप्रेत्य 'देवस्त्वा' इत्युच्यते ।**

19 √पै तथा 20 √वै (ओदित्) धातु सूखना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) हैं ।

पाघ्रा-ध्मा० सूत्र में केवल **पा पाने** (भ्वा०) का ग्रहण है, इसका नहीं । अतः (i) **पा-घ्रा०** से पिब् आदेश, (ii) **घु-मा-स्था०** से ईत्त्व, (iii) **एर्लिङि** से एत्त्व और (iv) **गाति-स्था०** से सिज्लुक् यहाँ नहीं होते । पायति; पपौ; पाता; पायात्; अपासीत्; पायते (कर्मणि) ।

शा-च्छा-सा-ह्वा० (7.3.37) सूत्र में **लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः०** (प० 114) के लागू न होने से **लुग्विकरणालुग्विकरणयोः०** (प० 91) से अलुग्विकरणक 'पा' रूप वाली **पा पाने** तथा **पै शोषणे** का ग्रहण होता है । अतः णिच् में पाययति । √वै से णिच् में **वापयति सरो निदाघः**—गर्मी तालाब को सुखा डालती है ।

ओदित् करने का प्रयोजन है **ओदितश्च** से निष्ठा के तकार को नत्व : 'वानम्' सूखा फल—**शुष्के वानम्** (अमरकोष 2.4.15), **'फले' इत्येव । वायति स्म । पै ओवै शोषणे** (सुधा) । क्षी०त० में **'वानं शुष्कम्'** इसी आशय से है ।

21 √स्तै (षोपदेश) लपेटना अर्थ में सकर्मक, अनिट् है । यह धातु वैदिक 'स्तायु' (चोर) और 'स्तायत्' में 'गुप्त रूप से क्रिया करना' अर्थ में उपलब्ध

वेष्टने ॥ 14 ॥ स्तायति । 22 ष्णै वेष्टने ॥ 15 ॥ 'शोभायां च' इत्येके ।
है ॥ 14 ॥ 22 √स्नै (षोपदेश) लपेटने में है ॥ 15 ॥ कुछ लोग मानते हैं कि यह

है ।[1] अतः मैत्रेय द्वारा प्रदर्शित[2] 'वेष्टन' अर्थ उचित नहीं लगता । 'आच्छादन' (ढंकना, छुपाना) कदाचित् उचित है । क्षीरस्वामी द्वारा व्याख्यात धातु-पाठ में यह नहीं है । स्तायति; तस्तौ । तायु (चोर) कदाचित् स्ताथु से ही विकसित है ।

22 √स्नै (षोपदेश) भी लपेटना अर्थ में ही बताई है । यह इस अर्थ में 'स्नायु' में स्पष्टतः और कदाचित् 'उष्णीष'[3] में भी उपलब्ध है । क्रिया-निघण्टु और रूप-माला में इसे 'स्नान' अर्थ में बताया है ।[4] देव ने इसे इस अर्थ में कुछ लोगों के मत में बताया है ।[5] दुर्गाचार्य ने भी 'शौच' अर्थ बताया है ।[6] यह अर्थ सम्भवतः आदादिक √स्ना (अकर्मक) से सरूपता से इसके साथ जुड़ गया । भट्टमल्ल और स्कंद ने इसे स्नान (शौच) और वेष्टन अर्थों में दिया है—पुराना 'वेष्टन' अर्थ तब भी छूट नहीं पाया । किन्तु, सायण ने, अपनी ढपली अलग बजाते हुए कहा है कि भूवादि गुण में **ष्णै**

---

1. वा० सं 16.21 : **स्तायूनां पतये नमः** । महीधर भाष्य : **गुप्तचोरा द्वि-विधा—(1) रात्रौ गृहे खातादिना द्रव्य-हर्तारः, (2) स्वीया एवाहर्निशमज्ञाता हर्तारश्च । (1) पूर्वे स्तेना, (2) उत्तरे स्त्यायवः** । अ०सं० 4.16.1 : **य स्तायन्मन्यते चरन्;** 7.108 (113). 1 : **यो न स्तायद् दिप्सति, यो न आविः, स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।**
2. मा० धा० वृ० : **अयं पाठो मैत्रेयस्य ।** पु० 12, पृष्ठ 20 : **'ष्टै वेष्टने…'इति मैत्रेय-रक्षितोक्त० ।**
3. निरुक्त 7.12 : **उष्णीषं स्नायतेः ।**
4. क्रिया-निघंटु : **स्नाति, स्नायत्याप्लवते ।** रूपमाला 50 : **स्नाने तु स्नायति स्नाति ।**
5. दैवम्, श्लोक 12 : **स्नातीति शौचे स्नः, स्नायेदिति चेच्छन्ति केचन ।** यु०मी०सं०, पृष्ठ 20, पंक्ति 1 तथा पृष्ठ 124 में धृत मूल पाठ में **'स्नापये'** प्रमाद-पाठ है : (क) इससे छन्दोभङ्ग होता है; (2) नीचे टीका (पुरुषकार) में स्पष्टतः **'स्नायेत्'** दिया है । (3) सायण ने **'स्नायेत्'** ही उद्धृत किया है । (4) ण्यंत रूप देने में कोई औचित्य भी नहीं है ।
6. नि० वृत्ति 7.12 : **उष्णीषं स्नायतेः शौचार्थस्य । शुद्धं हि तद् भवति शुक्लम् ।** राजवादे-सं० में धातु-पाठ का संदर्भ 'धा० 2.42' प्रमादयुक्त है, क्योंकि आदादिक का निर्देश 'स्नातेः' से होता, 'स्नायतेः' से नहीं ।

स्नायति । 23 दैप् शोधने ॥ 16 ॥ दायति । अघुत्वाद् एत्व- (ii) सिज्लुकौ न—(i) दायात्, (ii) अदासीत् ॥ 86 ॥

29.24 पा पाने ॥ 17 ॥ 'पा-घ्रा-ध्मा०' (2360) इति पिबादेशः ।

'शोभा देना' अर्थ में है । 23 पित् √दै शुद्ध करने में है ॥ 19 ॥ 'घु' संज्ञा न होने से (i) एकारादेश तथा (ii) सिच् का लुक् नहीं होते—(i) दायात्, (ii) अदासीत् ॥ 86 ॥

धातु-वर्ग 29 : ग. आकारांत परस्मैपदी छह धातु

29.24 √पा पीने में है ॥ 17 ॥ 'पा-घ्रा-ध्मा०' (2360) से √पा को 'पिब'

शोभने पाठ होना चाहिए ।[1] दीक्षितजी ने उनका अनुसरण नही किया है । आधुनिक भाषाओं की √न्हा, √नहा आदादिक √स्ना से विकसित हैं ।

निष्कर्ष : प्राचीन काल में भौवादिक का प्रयोग 'वेष्टन' अर्थ में और आदादिक √स्ना का 'शौच' (नहाना) अर्थ में होता था; परवर्ती काल में भौवादिक का भी शौचार्थ में प्रयोग होने लगा, तथा आज तो प्रायः सब 'शौच' अर्थ में ही प्रयोग करते हैं । 'वेष्टन' अर्थ तो कुछ प्राचीन संज्ञाओं (उष्णीष, स्नायु) में ही सीमित रह गया है ।

23 √दै (पित्) शोधना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । इसमें पकार अनुबध **दा धा घ्वदाप्** में 'अदाप्' पर्युदास पद में लाक्षणिक 'दा' के ग्रहण के लिये है, यह कहा जा चुका है । अतः इसकी 'घु' संज्ञा नहीं है । फलतः **एर्लिङि** तथा **गाति-स्था०** सूत्रों से एत्व और सिज्लुक् नहीं होते : दायात्; अदासीत् । णिच् में दापयति ॥ 86 ॥

29.24 √**पा** पीना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है । पा+शप् (अ)+ति, **पा-घ्रा-ध्मा०** से √पा को √पिब(अदन्त) दीक्षित जी के मत में होने से उपधा ब् है, अतः

---

1. स्कन्दस्वामी, नि० भा० 7.12 : **उष्णीषं शिरो-वेष्टनं स्नायतेः शौचार्थस्य, वेष्टनार्थस्य वा, उभयस्यापि तत्र सम्भवात्** । व्याख्येय पद में 'शिरोवेष्टनम्' कहकर 'वेष्टन' अर्थ की प्रधानता बताते हुए 'शौच' अर्थ की प्राथमिकता चिन्त्य है । **मज्जत्याप्लवते स्नाति स्नायत्येतेऽवगाहते**† (आ० चं० 3.2 2) तथा **हेडति स्नायति वटति···वेष्टे** (23. 64) भी देखें । †चौ० 1936 ई० सं० में **'अवगाहते'** क्रियापद दिया है । पूर्वापर को देखते हुए इसे **'अवगाहने'** अर्थ-निर्देश होना चाहिए ।

मा० धा० वृ० : **अत एव व्याख्यानात् 'ष्णै शोभन' इत्यपि भूवादौ द्रष्टव्यः । प्रयुज्यते च भारते—**

'पाञ्चाल्याः पद्म-पत्राक्ष्याः स्नायन्त्या जघनं घनम् ।
या स्त्रियो दृष्टवत्यस्ताः पुम्भावं मनसा ययुः ॥' इति ।

तस्यादन्तत्वान्नोपधा-गुणः—पिबति। पेयात्। 25 घ्रा गन्धोपादाने ॥ 18 ॥ जिघ्रति; घ्रायात्, घ्रेयात्; अघ्रात्, अघ्रासीत्। 26 ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः ॥ 19 ॥ धमति। 27 ष्ठा गति-निवृत्तौ ॥ 20 ॥ तिष्ठति। 'स्थाऽऽ-

आदेश होता है। वह ह्रस्व अकारांत है, अतः (उसकी) उपधा को गुण नहीं होता—पिवति। 25 √घ्रा सूँघना अर्थ में है ॥ 18 ॥ 26 √ध्मा फूँक मार कर बजाना और आग को धँधकाना अर्थों में है ॥ 19 ॥ 27 √स्था (षोपदेश) चलने से रुकना

पुगन्त-लघूपधस्य च से गुण प्राप्त नहीं होता[1] : पिवति। पेयात्—**एर्लिङि**। अपात्—**गाति-स्था०**—से सिच् का लोप। णिच् में पा+इ स्थिति में **शा-च्छा-सा-ह्वा-व्या-वेपां युक्** से युक् : √पायि, पाययति। पेरुः=सूर्यः—**मा-पोरुरिच्च** (उ० सू० 551)।

25 √**घ्रा** सूँघने में (सकर्मक, अनिट्) है। जिघ्रति—**पा-घ्रा०** से जिघ्र आदेश। घ्रायात्, घ्रेयात्—**वाऽन्यस्य संयोगादेः**। अघ्रात्—**विभाषा घ्रा-धेट्०** से वा सिज्लुक्। लुक् न होने पर सक्, इट्, अघ्रासीत्।

श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक जी ने गोभिलगृह्यसूत्र (2.8.22 तथा 24) और हिरण्यकेशीयगृह्यसूत्र (2.4.17) में 'अभिजिघ्रच' और 'जिघ्रणम्' जैसे प्रयोगों को देख कर पिब, जिघ्र, धम आदियों को पाणिनि से प्राचीन काल में प्रचलित स्वतंत्र धातु कहा है। 'समानार्थक दो धातुओं में से एक का सार्वधातुक में प्रयोग नष्ट हो गया, दूसरी का आर्धधातुक में। वैयाकरणों ने नष्टाश्वदग्धरथन्याय से दोनों को एक साथ जोड़ दिया।' आचार्य क्षीरस्वामी ने भी √ध्मा पर **धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके** लिखा है।[2] कौ०ब्रा० रामा० तथा महाभारत में घ्राति क्रियापद, साहित्य में 'घ्रात्वा' के साथ-साथ 'जिघ्रित्वा', कल्पसूत्रों में 'जिघ्रय', 'जिघ्रण' आदि दोनों प्रकार की प्रकृतियों के उपलब्ध होने से मीमांसकजी का कहना ठीक ही है।

26 √**ध्मा** शब्द करना, बजाना, फूँक देकर बजाना (सकर्मक) तथा मुँह से फूँक (मार) कर (आग) जलाना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है। **शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्** (गीता 1.12)। ध्मेयात्, ध्मायात्। अध्मासीत्। धमनिः। त०बो० में **अग्नि-**

यहाँ '**स्नायन्त्याः**' का अर्थ '**स्नानं कुर्वत्याः**' मानना प्रसङ्ग के अनुकूल होगा। पुरुषकार ने भी यही अर्थ किया है।

1. यह तो इकारोच्चारण-सामर्थ्यात् भी हो सकता है। पर दीक्षित जी स्वर का क्या करेगें ?

2. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 38, प्रथम आवृत्ति। तथा क्षी०त०, पृष्ठ 135, 136.

दिष्वभ्यासेन०' (2277) इति षत्वम्—अधितष्ठौ। 'उपसर्गात्०' (2270) इति षत्वम्—अधिष्ठाता। स्थेयात्। 28 म्ना अभ्यासे ॥ 21 ॥ मनति। 29 दाण् दाने ॥ 22 ॥ प्रणियच्छति; देयात्; अदात् ॥ 87 ॥

अर्थ में है ॥ 20 ॥ 'स्थाऽऽदिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' (2277) से मूर्धन्य षकार आदेश होता है—अधितष्ठौ। 'उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति-स्तोभति-स्था-सेनय-सेध-सिच-सञ्ज-स्वञ्जाम्' (2270) से षकारादेश—अधिष्ठाता। 28 √म्ना आवृत्ति करने में है ॥ 21 ॥ 29 √दा (णित्) देना अर्थ में है ॥ 22 ॥ प्रणियच्छति; देयात्; अदात् ॥ 87 ॥

संयोगे—सुवर्णं धमति=अग्निना संयुनक्तीत्यर्थः लिखा है। फलतः उनके मत में आग में गलाना, पिघलाना अर्थ है।

27 √**स्था** (षोपदेश) चलने से रुकना, ठहरना, ठाढ़ना, खड़ा होना, टिकना अर्थ में (अकर्मक/अनिट्) है। प्रादेशिक भाषाओं में यह तत्सम शब्दों में ही है। तद्भव के रूप में ठाण, गोठ (गोष्ठ, पशुओं के रहने की जगह), गोष्ठी, थाना, थान, थानक (जैन साधुओं का निवास, जिनालय) आदि। to stand, to step भी इसी से सम्बद्ध लगते हैं। √बैठ् √वेठ् (ह०) वि-√स्था से हैं।

पा-घ्रा-ध्मा० से 'तिष्ठ' (दीक्षित जी के मत में अदंत आदेश), **अतो गुणे**, तिष्ठति। अधितष्ठौ—**स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य** से षत्व। अधिष्ठाता—**उपसर्गात् सुनोति०**। स्थेयात्—**एर्लिङि**। **घु-मा-स्था-गा०** से अन्य न होने से **वाऽन्यस्य संयोगादेः** (6.4.68) नहीं लगता। अस्थात्, अस्थाताम्, अस्थुः। to stop √स्थापि से विकसित है।

28 √**म्ना** बार-बार करना, पारंपर्य से करना, संग्रह करना, ढेर लगाना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है। मनति, मम्नौ, म्नाता; म्नेयात्, म्नायात्। अम्नासीत्। इसका प्रयोग प्रायः 'आ' तथा 'समा' के साथ होता है: आमनन्ति, आम्नानम्, आम्नायः। **समाम्नायः समाम्नातः** (निरुक्त 1.1)।

29 √**दा** (णित्) देना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है। यहाँ अन्य √दा धातुओं से पृथक् करके 'यच्छ' आदेश करने को तथा **दाणश्च सा चेत्०** (1.3.55) से तृतीया करने के लिए णकार अनुबंध दिया है। प्रणियच्छति—**नेर्गद०** से णत्व। देयात्—**एर्लिङि**। अदात्—**गाति-स्था०** से सिज्लुक्; अदाताम्, अदुः। **पा-घ्रा०** सूत्र में सानुबन्ध निर्देश के कारण इससे यङ्लुक् में 'यच्छ' आदेश नहीं होता ॥ 87 ॥

29.30 ह्वृ कौटिल्ये ॥ 23 ॥ ह्वरति । 2379 ऋतश्च संयोगादेर्गुणः (7.4.10)—ऋदन्तस्य, संयोगादेरङ्गस्य गुणः स्याल्लिटि । किदर्थमपीदं परत्वाण्णल्यपि भवति; र-परत्वम्, उपधा-वृद्धिः—जह्वार, जह्वरतुः, जह्वरुः,

धातु-वर्ग 29 : घ. ऋकारांत परस्मैपदी 9 धातु

29.30 √ह्वृ कुटिलता करने में है ॥ 23 ॥ 2379 अंत में ह्रस्व ऋ और आदि में संयोग वाले अंग को गुण होवे लिट् में । यह (विधान) यद्यपि कित् (लिट्) के लिये है, किन्तु पर होने के कारण णल् में भी होता है; (गुण के स्वर के) बाद र्

29.30 √ह्वृ कुटिल/टेढ़ा होना अर्थ में (अकर्मक, अनिट्) है । ह्वरति—**सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण ।

2379 **ऋतश्च संयोगादेर्गुणः** (7.4.10)—दयतेर्दिगि लिटि 7.1 (9), अङ्गस्य 6.1 (6.4.1) : संयोगादेः ऋतः (ऋदन्तस्य) अङ्गस्य (इकः स्थाने) गुणः (अद् भवति) लिटि—आदि में संयोग तथा अंत में ह्रस्व ऋवर्ण वाले अंग के इक् के स्थान में गुण वर्ण (ह्रस्व अ) आदेश होता है, बाद में लिट् होने पर ।

ऋदंत अंग को **सार्वधातुकार्धधातु०** से प्राप्त गुण णल् में तो **अचो ञ्णिति** (7.2.115) से तथा अतुस् आदि में उनके कित् होने के कारण **क्ङिति च** से बाधित है । थल् में उससे गुण सिद्ध है । अतः प्रकृत सूत्र अप्राप्त में गुण का विधान करता है; विशेष कथन से गुण का विधान होने के कारण **क्ङिति च** से इसका निषेध होता है : **प्रतिषेध-विषयेऽपि गुणो यथा स्याद्, इत्ययमारम्भः** (का०) । णल् में गुण की प्रवृति के बारे में भाष्य में दो बातें कहीं हैं : √ह्वृ+णल् में **द्विर्वचनेऽचि** के कारण द्वित्व तथा अभ्यासकार्य पहले होकर जह्वृ+अ स्थिति में (i) **अचो ञ्णिति** (7.2.115) सूत्र अपने से पर **ऋतश्च संयोगादेर्गुणः** (7.4.10) को पूर्व-विप्रतिषेध से बाध लेगा : जह्वा+अ, **उरण् र-परः** से र-परत्व : जह्वार्+अ=जह्वार; (ii) **ऋतश्च संयोगादेर्गुणः** (7.4.10) पर होने से **अचो ञ्णिति** (7.2.115) सूत्र को **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से बाध लेगा : जह्व+अ, र-परत्व : जह्वर्+अ, **अतः उपधायाः** से उपधा अ को वृद्धि : जह्वार । भाष्यकार ने इन में से पहले समाधान को ही महत्व दिया है ।[1] काशिकाकार

---

1. म० भा० 7.4.10, वा० 2 : **ऋतो लिटि गुणाञ्ञ्णिति वृद्धिर्विप्रतिषेधेन—ञ्णिति वृद्धिर्भवति पूर्व-विप्रतिषेधेन ।··· वा० 3 : पुनः प्रसङ्ग-विज्ञानाद्वा सिद्धम् ।—गुणे कृते र-परत्वे च 'अत उपधायाः'** (7.2.116) **इति वृद्धिर्भविष्यति । नैष युक्तः परिहारः—···तस्मात् सुष्ठूच्यते 'ऋतो लिटि गुणाञ्ञ्णितिः वृद्धिः पूर्व-निप्रतिषेधेन' इति ।**

जह्वर्थ; ह्वर्ता; 'ऋद्धनोः स्ये' (2366)—ह्वरिष्यति। 2380 गुणोर्ति-संयोगाद्योः (7.3.29)—(i) यकि, (ii) यादावार्धधातुके लिङि च। ह्वर्यात्। अह्वार्षीत्, अह्वार्ष्टाम्।

जुड़ता है, उपधा को वृद्धि होती है—जह्वार, जह्वरतुः; 'ऋद्-धनोः स्ये' (2366 से इट्)—ह्वरिष्यति। 2380 (i) √ऋ को और (ii) आदि में तथा अंत में ह्रस्व ऋ वाली धातु के अंत्य वर्ण को गुण हो, बाद में (i) यक् और (ii) आदि में यकार वाला 'आर्धधातुक' (-संज्ञक) लिङ् होने पर। ह्वर्यात्।

ने दिया ही पहले विकल्प को है।[1] किंतु कैयट ने दूसरे विकल्प के भाष्यकार-कृत खंडन को 'चिंत्य' कहा है।[2] दीक्षितजी ने कैयट का पक्ष लिया है। नागोजिभट्ट ने भाष्यकार के प्रथम विकल्प को ही उचित ठहराया है : गुण करके वृद्धि करने में प्रक्रिया लंबी हो जाती है; पूर्व प्रतिषेध सूत्रान्तर से नहीं निकलता, अपितु **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से ही निकलता है—'पर' शब्द यहाँ दैशिक परत्व का अभिधान नहीं करता, अपितु पर=उत्कृष्ट=इष्ट अर्थ में है। और प्रकृत में गौरव-युक्त प्रक्रिया (गुण, फिर वृद्धि) से लघु प्रक्रिया (सीधे वृद्धि) उत्कृष्ट, अतएव इष्ट है। भाष्यकार ने उसे ही दिया है।[3]

जह्वरतुः—जह्वृ+अतुस्, **सार्वधातुकार्ध०** से प्राप्त गुण का **क्ङिति च** से निषेध होने पर **ऋतश्च संयोगादेर्गुणः** से गुण : जह्व+अतुस्, रपरत्व : जह्वरतुः। इसी प्रकार **जह्वरुः**। जह्वृ+थ, **सार्वधातुका०** (7.3.84) से प्राप्त गुण को परत्वाद् बाध कर **ऋतश्च संयोगादेर्गुणः** (7.4.10) से गुण : **जह्वर्थ, ऋतो भारद्वाजस्य** से इट् का निषेध होता है। ह्वृ+स्यति, **ऋद्-धनोः स्ये** से ऋदन्तत्वात् स्य को इट् का आगम होता है, **सार्वधातुकार्ध०** से गुण : **ह्वरिष्यति**। ह्वरतु; अह्वरत्; ह्वरेत्।

2380 **गुणोर्ति-संयोगाद्योः** (7.4.29)—अयङ् यि क्ङिति (22), अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (25), रीङ् ऋतः (27), रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु (28), अङ्गस्य (6.4.1) :

---

1. का० 7.4.10 : **वृद्धि-विषये तु पूर्व-विप्रतिषेधेन वृद्धिरेवेष्यते—सस्वार, सस्मार।**
2. प्रदीप : **ननु यदि नाम पुनः-प्रसंग-वाचो-युक्तिर्न घटते, किमेतावता गुण-रपरत्वयोः कृतयोरुपधा-वृद्धिर्नहि न प्राप्नोति ? सत्यां च प्राप्तौ किं पूर्वविप्रतिषेधाश्रयेण ? इत्यत्र चिन्त्यमेतत्।**
3. प्र० 7.4.10 के **'चिन्त्यमेतत्'** पर उद्योत : **···वस्तुतस्तु "गुणं कृत्वा वृद्धौ प्रक्रिया-गौरवात्, 'पर'-शब्दस्येष्ट-वाचितयाऽस्यापि सूत्रेणैव संग्रहात् 'सुष्ठूच्यते' इत्युक्त-भाष्ये", इति बोध्यम्।**

31 स्वृ शब्दोपतापयोः ।। 24 ।। 'स्वरति-सूति०' (2279) इति वेट्—सस्वरिथ, सस्वर्थ । व-मयोस्तु—2381 श्रयुकः किति (7.2.11)—(i) श्रिञः,

31 √स्वृ आवाज़ करने और शरीर में पीड़ा होने में है ।। 24 ।। 'स्वरति-सूति०' (2279) से विकल्प से इट्—सस्वरिथ, सस्वर्थ । व और म में तो—2381 (i) √श्रि

अर्ति-संयोगाद्योः ऋतः अङ्गस्य गुणः यि, अकृत्सार्वधातुकयोः श-यग्-लिङ्क्षु । इन पदों में 'श' और 'कृत्' की अनुवृत्ति असंभव होने से नहीं आती । 'अर्ति' √ऋ का श्तिवंत रूप है; √ऋ स्वतः ऋदंत है; अतः उससे 'ऋतः' का अन्वय अनावश्यक होने से केवल 'संयोगादि' से होगा तथा 'अर्ति-संयोगाद्योः' को तोड़ कर कहना होगा, 'यि' का संबंध 'लिङ्' से होगा तथा 'यि' में तदादि-विधि भी होगी; अन्वय में सुविधा के लिए 'यग्-लिङ्क्षु' को भी तोड़ना होगा : अर्तेः, संयोगादेः ऋतः (ऋदन्तस्य) अङ्गस्य गुणो (भवति) यकि, यि (यादौ) असार्वधातुके लिङि । 'अ-सार्वधातुक' (=सार्वधातुक से भिन्न) कहने से 'आर्धधातुक' का ही ग्रहण होता है । अतः दीक्षितजी ने 'आर्धधातुके' कहा है । √ऋ और आदि में संयोग वाले ह्रस्व ऋकारांत अंग के इक् (ऋ) को गुण (अत्) आदेश होता है, बाद में यक् तथा आदि में यकार वाला आर्धधातुक लिङ् होने पर ।

'अर्ति' प्रयोग में आचार्य पाणिनि ने बड़ी चतुराई की है—यह ऋ+श्तिप् के निर्देश से बना है; पर √ऋ धातु-पाठ में दो हैं : (i) भौवादिक, जिसका श्तिबन्त रूप 'अरति' होता है; (ii) जौहोत्यादिक, जिसका श्तिबन्त रूप 'इर्यति' होता है; पाणिनि ने अन्यतर का प्रयोग न करके दोनों की कुछ-कुछ विशिष्टताओं वाला 'अर्ति' रूप दिया है : इसमें (i) भौवादिक का धर्म तो गुण है, (ii) जौहोत्यादि का धर्म शप् का अदर्शन है । अतः इससे दोनों गणों की धातुओं का ग्रहण होगा । यङ्-लुक् में गुणाभाव सूचित करने को श्तिप् से निर्देश किया है ।[1]

ह्वर्यात्—ह्वृ+यात्, **सार्वधातुकार्धधातु०** से प्राप्त गुण का **क्ङिति च** से निषेध होने पर **रिङ् श-यग्लिङ्क्षु** को बाध कर **गुणोऽर्ति०** से गुण । **अह्वार्षीत्**—**सिचि वृद्धिः०** । अह्वार्ष्टाम्, अह्वार्षुः । **मा ह्वार्मा ते यज्ञ-पतिर्ह्वार्षीत्** (वा० सं० 1.2) ।

31 √स्वृ शब्द करना तथा रोग होना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है । **स्वरति-सूति०** से यह वेट् होती है ।

2381 **श्रयुकः किति** (7.2.11)—नेड् वशि कृति (8), एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (10), अङ्गस्य (6.4.1) ।

---

1. न्यास 7.4.29 । प० मं० में न्यास के आशय का संक्षेप किया गया है ।

(ii) एकाच उगन्ताच्च परयोर्गित्कितोरिण्न स्यात् । परमपि स्वरत्यादि-विकल्पं बाधित्वा पुरस्तात्प्रतिषेध-काण्डारम्भ-सामर्थ्यादनेन निषेधे प्राप्ते क्रादि-नियमान्नित्यमिट्—सस्वरिव, सस्वरिम । परत्वाद् 'ऋद्-धनोः स्ये' (7.2.70) इति के और (ii) अत में उ, ऋ लृ वर्णों वाली एक स्वर वाली धातु के पश्चात् स्थित गित् और कित् प्रत्ययों को इट् का आगम नहीं हो। 'स्वरति-सूति०', (2279) आदि से विहित विकल्प यद्यपि पर है, तब भी (इट् के विधान से) पहले ही (उसके) निषेध का प्रकरण प्रारंभ करने के कारण इस सूत्र से निषेध प्राप्त होने पर 'कृ सृ-भृ०' (2293) आदि के नियम से इट् नित्य होता है सस्वरिव, सस्वरिम। 'श्र्युकः

पिछले **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** के अनुरोध से 'श्र्युकः' पंचम्यंत है। काशिका में षष्ठ्यंत माना है। श्रिश्च उक्च इति श्र्युक् (समाहार द्वन्द्व)। 'श्र्युकः' 5.1 के अनुकूल 'अङ्गस्य' 6.1 से अङ्गात् 5.1 समझना है। ग्च, क्चेति क्कौ, तौ इतौ यस्य, तस्मिन् क्किति। इट् चूंकि धातु से परे प्रत्यय को होता है, अतः यह सप्तमी षष्ठ्यर्थक है। 'अङ्गात्', 'एकाचः', 'उपदेशे' पद 'श्रि' के साथ अनावश्यक होने से केवल 'उकः' से अन्वित होंगे : (i) श्रियः, (ii) उपदेशे एकाचः उगन्ताद् अङ्गात् क्किति (=क्कितः प्रत्ययस्य) इट् न (भवति)—(i) श्रि (श्रिञ्) तथा (ii) उपदेश में एकाच् और उगन्त अंग से परे गित् तथा कित् प्रत्यय को इट् आगम नहीं होता।

'भूष्णु' में **ग्ला-जि-स्थश्च ग्स्नुः** (3.2.139) से गित् स्नु प्रत्यय होता है। प्रत्यय को 'गित्' करने का प्रयोजन भगवान् भाष्यकार ने 'स्थास्नु' में कित्त्व के निमित्त से प्राप्त **घु-मा-स्था०** से ईत्त्व की अप्राप्ति बताया है। 'भूष्णु' में गुण के निषेध के लिए **क्ङिति च** में तथा इट् के निषेध के लिये **श्र्युकः किति** में गकार का यहीं निपातन से[1] चर्त्व करके प्रश्लेष माना है। न्यास की सूचना के अनुसार आचार्य श्वभूति और व्याडि का भी यही मत है। काशिका में आचार्य जयादित्य ने भी वही माना है।[2] पर वामन का मत इसके विपरीत है। उन्होंने इस व्याख्या का खंडन करते

---

1. म०भा० 1.0.139 के **'सौत्रो निर्देशः'** पर पं० श्रीशिवदत्त दाधिमथ की टिप्पणी।
2. डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी : यहाँ पर गकार के प्रश्लेष के पक्ष में **'हशि च'** सूत्र के प्रति त्रिपादीस्थ चर्त्व के असिद्ध होने से उत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, उसका निराकरण सौत्रत्वात् किया जाता है। यह बात **'ग्ला-जि-स्थश्च क्स्नुः'** (3.2.139) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है : **ककारे गकारश्चर्त्वभूतो निर्दिश्यते—'श्र्युकः क्किति' इति।** (प्रश्नः) **यद्येवम्, चर्त्वस्यसिद्धत्वाद्, 'हशि च' इत्युत्वं प्राप्नोति ?** (उत्तरम्) **सौत्रो निर्देशः।** प्रदीप : **'सौत्र' इति—'तेनासिद्धत्वाभावाद् उत्वाभावे विसर्जनीयो भवति' इत्यर्थः।**

नित्यमिट्—स्वरिष्यति। स्वर्यात्; अस्वारीत्, अस्वारिष्टाम्, अस्वार्षीत्, अस्वार्ष्टाम्।

32 स्मृ चिन्तायाम् ॥ 25 ॥ 33 द्वृ संवरणे ॥ 26 ॥

किति' (11) से पर होने के कारण 'ऋद्-धनोः स्ये' (7.2.70) से नित्य इट् होता है—स्वरिष्यति।

32 √स्मृ चिंतन करने में है ॥ 25 ॥ 22 √द्वृ ढँकने में है ॥ 25 ॥

हुए लिखा है कि **ग्ला-जि-स्थश्च क्स्नुः** में 'स्थः' यह 'स्था' का पंचमी, एकवचन का रूप है। यहाँ 'स्था+आ'='स्था' इस प्रकार आकार के प्रश्लेष से 'क्स्नुप्रत्ययान्त √स्था धातु का आकार ही रहे, अन्य ईत्त्व आदि जो प्राप्त हों, वे नहीं हों,' यह अर्थ निकलने से 'क्स्नु' में ग् देना (गित् करना) आवश्यक नहीं है। इससे **किङति च** तथा **श्युकः किति** में गकार का प्रश्लेष भी निरर्थक है।

स्वरति-सूति० (7.2.44) सूत्र इस सूत्र (7.2.11) का पर होने से बाधक है। परन्तु निषेध विहित का ही होता है। अष्टाध्यायी में सूत्रकार ने इड्विधान किया है **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (35) में, और उसके बाद आता है **स्वरति-सूति०** (44) सूत्र। विधान करने से पहले ही निषेध करने—पुरस्तात्प्रतिषेध कांडको प्रारंभ करने—से यह सूत्र **स्वरति०** आदि विकल्पसूत्र को बाधता है। इसमें विनिगमक भी है : **सनीवन्तर्ध-भ्रस्ज-दम्भु-श्रि-स्वृ-यूर्णु०** (7.2.49) से सन् में वा इट् होता है। वा इट् इसे **स्वरति०** से सिद्ध है ही। तब इसकी चरितार्थता केवल तभी हो सकती है, जब **स्वरति०** का बाध **सनि ग्रह-गुहोश्च** (12, निषेधकांडगत) सूत्र से हो जाता है, यह माना जाए। इसके बाद क्रादिनियम इसे भी बाधता है : सस्वरिव, सस्वरिम।

'थल्' के पित् होने से **श्चुकः०** प्राप्त ही नहीं होता है। अतः विकल्प से ही इट् होता है। यहाँ आचार्य सायण का भी कहना है कि जो लोग निषेध या विकल्प से प्राप्त होने वाला इडभाव मात्र ही **कृ-सृ-भृ-वृ०** से नियमित होता मानते हैं, उनके मत में भी **स्वरति०** को बाध कर क्रादिनियम से इट् नित्य होगा : सस्वरिथ।

स्वरिता, स्वर्ता। स्वरिष्यति—विकल्प को (पर होने के कारण) बाध कर **ऋद्धनोः स्ये** से नित्य इट्। स्वर्यात्—**गुणोऽर्ति-संयोगाद्योः**। अस्वारीत्, इट्-पक्ष में। अस्वार्षीत्, इडभाव पक्ष में।

32 √**स्मृ** स्मरण करना, याद करना अर्थ में (सकर्मक अनिट्)। सायणाचार्य का कहना है कि यह धातुओं के अनेकार्थक होने से विस्मरण यानी चित्त से उतर जाना, भूल जाना अर्थ में है। परंतु 'वि' आदि उपसर्ग के बिना एकल √स्मृ का भूलने में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। 'विस्मरति' का भूलना अर्थ धातुओं के अनेकार्थक होने से नहीं, अपितु उपसर्गबलाद् है।

33 √**द्वृ** ढँकना, छुपाना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है। सायणाचार्यने √**स्मृ**

34 सृ गतौ ॥ 27 ॥ क्रादित्वान्नेट्—ससर्थ; ससृव । रिङ्—स्रियात् । असार्षीत्, असार्ष्टाम् । 2382 सर्ति-शास्त्यर्तिभ्यश्च (3.1.56)—एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् कर्तरि लुङि । इह लुप्त-शपा शासिना साहचर्यात् सर्त्यर्ती जौहोत्यादिकावेव गृह्येते; तेन भ्वाद्योर्नाङ् । शीघ्र-गतौ तु 'पा-घ्रा-ध्मा०' (2360) इति शिति धौरादेशः—धावति ।

34 √सृ गति अर्थ में है ॥ 27 ॥ 'कृ-सृ-भृ०' (2293) आदि सूत्र में पठित धातुओं में अन्यतम होने से इट् नहीं होता—ससर्थ; ससृव । (ऋ को) रिङ् (आदेश होता है)—स्रियात् । 2382 (i) √सृ, (ii) √शास् और (iii) ऋ से विहित च्लि को अङ् हो कर्त्रर्थक लुङ् में । यहाँ शप् के अदर्शन वाली √शास् के साथ के कारण √सृ और √ऋ जुहोत्यादि वाली ही ली जाती हैं; इस लिए भ्वादि गण वाली धातुओं के (च्लि को) अङ् नहीं होता । 'दौड़ना' अर्थ में तो शित् प्रत्यय बाद में होने पर 'पा-घ्रा-ध्मा०'

पर **अनन्तरं 'द्वृ वरे' इति क्वचित्पठ्यते** लिखा है । **द्वर्यते संह्रियते इति द्वारम्** (मा० धा० वृ०) में 'वर' का अर्थ 'संहरण' (=बंद करना, मूँदना) प्रतीत होता है। क्षीरस्वामी, मैत्रेय, काशकृत्स्न, चंद्र तथा जैन शाकटायन—सब—के मत में इसका यहाँ पाठ है ।[1] श्री युधिष्ठिर मीमांसकका कहना है : हस्तलेखों में प्रायः **'वृ संवरणे'** पाठ मिलता है । वास्तव में ये दोनों ही स्वतंत्र दो धातु है। √द्वृ से द्वाः आदि तथा √'वृ' से वाः, वारी आदि 'द्वार' अर्थ में ही सिद्ध होते हैं । तंत्रवार्तिक (1.3.22) में 'वार' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त भी मिलता है । गुजराती, हिंदी, पंजाबी तथा राजस्थानी में 'वारी' या 'वारी शब्द खिड़की अर्थ में है । √वृ, √ऋ से और √द्वृ, √वृ से विकसित हैं ।[2]

34 √सृ सरकना, निकलना, जाना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है । सरति । शीघ्र (दौड़ना) गति अर्थ में √सृ को **पा-घ्रा-ध्मा०** से 'धौ' आदेश होता है । धावति ।

2382 **सर्ति-शास्त्यर्तिभ्यश्च** (3.1.56)—च्लि लुङि (43), √च्लेः सिच् (44) अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ् (52), णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ् (48) : सर्ति-शास्त्यर्तिभ्यश्च च्लेरङ् स्यात् कर्तरि लुङि—√सृ, √शास् तथा √ऋ से परे च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है, कर्तृ-वाची लुङ् में । यहाँ √शास् के साहचर्य से **सहचरिता०** परिभाषा से लुप्त-शब्विकरणक (जौहोत्यादिक) √सृ और √ऋ ही ली जाएँगी । अतः भौवादिक √सृ का 'असार्षीत्' होगा ।

---

1. डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी जी : पाणिन्यवतारभूत श्री हरिनारायण त्रिपाठी (तिवारी जी) भी '**द्वृ संवरणे** के स्थान पर द्वृ धातु 'संवरण' अर्थ में मानकर पढ़ाते थे ।
2. नि० पाँ० अ०, 2.2, पृष्ठ 165 देखें ।

35 ऋ गति-प्रापणयोः ॥ 28 ॥ ऋच्छति। 2383 ऋच्छत्यृताम् (7.4.11)—(i) तौदादिकस्य ऋच्छतेः, (ii) ऋ-धातोः, (iii) ऋतां च गुणः स्याल्लिटि। णलि प्राग्वदुपधा-वृद्धिः—आर। आरतुः, आरुः। 2384 इडत्त्यर्ति-व्ययतीनाम् (7.2.66)—(i) √अद्, (ii) √ऋ, (iii) √व्येञ्—एभ्यस्थलो नित्यम् इट् स्यात्। आरिथ। अर्ता; अरिष्यति; अर्यात्; आर्षीत्,

(2360) से (√सृ को) '√धौ' आदेश होता है—धावति। 35 √ऋ गति और ले जाने (पहुँचाने) में है ॥ 28 ॥ 2383 (i) तुदादिगण की √ऋच्छ् को, (ii) √ऋ को और (iii) ऋ॒ (अंत में दीर्घ ऋकार वाली धातुओं) को गुण हो लिट् में। णल् में पहले की तरह (गुण करने पर) उपधा को वृद्धि हो जाती है—आर। 2384 (i) √अद्, (ii) √ऋ, (iii) √व्ये (ञित्)—इन धातुओं के पश्चात् स्थित थल् को इट् नित्य

यहाँ काशिका का कहना है कि प्रस्तुत सूत्र को पूर्व-सूत्र (**पुषादि-द्युताद्यॡदितः परस्मैपदेषु**) में 'ॡदित्' के बाद 'सर्ति० आदि जोड़कर भी दिया जा सकता था। पर (अ) वैसे न देकर योग-विभाग करने से आत्मनेपद में, (आ) 'च' पद से परस्मैपद में अङ् होगा। 'परस्मैपदेषु' पद आगे जायेगा।

35√ऋ गति, पहुँचना, प्राप्त करना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है। शप् में **पा-घ्रा०** से 'ऋच्छ्' आदेश। ऋच्छति।

2383 **ऋच्छत्यृताम्** (7.4.11)—दयतेर्दिगि लिटि (9), ऋतश्च संयोगादेर्गुणः (10)। 'ऋच्छतिश्च, आ च, ऋ॒च्चेति' विग्रह बहुवचन से सूचित होता है। तदंतविधि केवल 'ऋ' में होती है। ऋच्छतेः, √ऋधातोः, ऋ॒दन्तस्य चाङ्गस्य गुणः लिटि—ऋच्छ गतीन्द्रिय-प्रलय-मूर्तिभावेषु (तु०), ऋ गति-प्रापणयोः (भ्वा०), ऋ गतौ (जु०) तथा ऋ॒दंत अंगों को गुण होता है लिट् में।

आर—ऋ+णल्, द्वित्व : ऋ+ऋ+अ, **उरत्** से अभ्यास के 'ऋ' को 'अत्', र-परत्व : अर्+ऋ+अ, **हलादिः शेषः**—अ+ऋ+अ, **अत आदेः**, आ+ऋ+अ। **अचो ञ्णिति** को पर होने से बाध कर **ऋच्छत्यृताम्** से गुण : आ+अर्+अ, **अत उपधायाः**, आ+आर्+अ। **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ एकादेश : आर्+अ=आर।

2384 **इडत्त्यर्त्ति-व्ययतीनाम्** (7.2.66)—अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् (61), अङ्गस्य (6.4.1) : इट् चूँकि धातु से परे प्रत्यय को विहित है, अतः 'थलि' षष्ठ्यंत में और 'अत्त्यर्ति-व्यतीनाम्' तथा 'अङ्गस्य' पंचम्यंत में परिणत होते हैं : अत्त्यर्ति-व्ययतिभ्यः अङ्गेभ्यः थल इट् भवति—'अद भक्षणे (अ०), 'ऋ गतिप्रापणयोः' (भ्वा०), ऋ गतौ (जु०) तथा 'व्येञ् संवरणे' (भ्वा०) इन अंगों से परे थल् को

आर्ष्टाम्। 36 गृ, 37 घृ सेचने ॥ 29 ॥ गरति; जगार, जग्रिव; रिङ्—होवे। आरिथ। 36 √गृ, 37 √घृ सींचना अर्थ में हैं ॥ 29 ॥ (ऋ को) रिङ् आदेश

इट् होता है।[1] **आरिथ—ऋतो भारद्वाजस्य** से प्राप्त इट्-निषेध को बाध कर **इडत्यर्ति०** से नित्य इट्।

इससे पूर्व **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** (7.2.59) से **बभूथा-ततन्थ०** (7.2.64) तक इट् के निषेध का प्रकरण चला। फिर एक सूत्र है **विभाषा सृजि-दृशोः** (65)। 'विभाषा' शब्द स्वरित न होने से 'न' की निवृत्ति तो अभी होती नहीं है। अतः यह सूत्र भी कहीं इट् का निषेध न कर दे, इसलिये सूत्रकार ने 'न' की अनुवृत्ति को रोकने के लिये 'इट्' की अनुवृत्ति (35 से) होते हुए भी पुनः 'इट्' शब्द दिया है। इससे 'यह इट् नित्य होता है', यह सिद्ध होता है।

आचार्य वामन का कहना है कि यहाँ 'इट्' पद स्पष्टता के लिये दिया है। क्योंकि यहाँ यदि 'विभाषा' पद को स्वरित भी माना जाये और 'विभाषा' की अनुवृत्ति हो, तब भी 'अत्ति, व्ययति' का पाठ व्यर्थ होगा। क्योंकि थल् में तो ये **अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्** नियम से वेट् ही हैं। तब इनके लिये सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं थी। और यदि 'न' की अनुवृत्ति करनी थी, तो **ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट्** से इट् का नित्य निषेध हो ही जाता। तब, ऐसी अवस्था में न तो इस सूत्र से विकल्प, और न ही निषेध उचित सिद्ध है। केवल नित्य 'इट्' करना ही प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन हो सकता है। अतः 'इट्' पद केवल स्पष्टता के लिए है।

अर्ता; अरिष्यति—**'ऋद्धनोः स्ये**; आर्च्छत्; अर्यात्—**गुणोर्ति-संयोगाद्योः**; आर्षीत्—**सर्ति-शास्त्य०** में लुप्तविकरणक धातुओं का ही ग्रहण होने से उससे अङ् नहीं प्राप्त होता; **सिचि वृद्धिः**—से वृद्धि। आरिष्यत्।

36 √गृ, 37 √घृ सींचना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) हैं। √घृ का यहाँ पाठ प्राचीन नहीं है : वैदिक साहित्य में √घृ के आख्यात रूप 'जिघर्ति', 'अघ्रियत' और 'अघ्रियथाः' ही मिलते हैं। कृदन्त रूप 'घर्म', 'घारा'[2], 'घृणा', 'घृणि', 'घृत' और

---

1. विकरणरहित √अद् तथा शव्विकरणक 'व्ययति' के साथ आने से 'अर्ति' से विकरणरहित तथा शव्विकरणक दोनों ही 'ऋ' धातु ली जायेंगी। पीछे पृष्ठ 653 भी देखें।

2. वै० प०, 1.2, पृष्ठ 1273 में 'घार' दिया है। पर यह उचित नहीं है। **द्वयोर्घारयोः प्रातः सवने गृह्णाति; तिसृणां मध्यन्दिने; चतसृणां तृतीयसवने। नव वै पुरुषे प्राणाः।** (काठक सं० 27.9) में यह स्पष्टतः स्त्रीलिङ्ग ('घारा') है।

'अभि-धारित' मिलते हैं। ऋग्वेद में यह घृत के साथ जौहोत्यादिक रूप में इन्धन, दीपन अर्थ में मिलती है, अथर्वसंहिता में घृत को सम्-√इन्ध् के करण के रूप में दिया है।[1] काण्व संहिता में प्रयुक्त 'घर्मम्' का पाठभेद शाङ्खायन श्रौतसूत्र में 'भानुम्' मिलता है।[2] अर्थात् उस परम्परा में भी यह दीप्त्यर्थक ही है। मैत्रायणी और काठक संहिताओं में दिये 'घृत' के निर्वचन में √घृ क्षरण अर्थ में ही है।[3] वहाँ ऋग्वेदीय 'जिघर्मि' भी कतिपय बार ऋग्वेदीय अर्थ में ही उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में √घृ दीप्ति के साथ क्षरण, सिञ्चन अर्थ में भी है; किन्तु इस अर्थ में यह चौरादिक (स्वार्थे णिजन्त) है। आथर्वण 'अभि-धारण' क्रिया को याज्ञिकों में 'आघार' कहा जाता है, जो आ+√घृ+घञ् से है।[4] भौवादिक √घृ वैदिक साहित्य में नहीं मिलती। यास्क ने √घृ को आख्यात के रूप में प्राचीन काल में प्रयुक्त (नैगम) और लौकिक संस्कृत में कृदन्तों में उपलब्ध बताया है। 'घृत' (जल) को उन्होंने सिञ्चनार्थक जौहोत्यादिक √घृ से तो बताया ही है, उनके मत में यह सम्भवतः दीप्त्यर्थक भी है : उन्होंने माध्यमिक अग्नि को 'उदकेन्धन' (जल से दीप्त होने वाला) बताया हैं।[5] आचार्य पतंजलि √घृ को भौवादिक तथा 'घर्म', 'घृणा', 'घृत' शब्दों में नियत-विषय मानते हैं। यह उनके 'घरति' (शब्विकरणक √घृ) से सूचित होता है। कैयट ने यही आशय लिया है।[6] सायण ने उन्हीं का अनुकरण किया है।[7] श्री ज्ञानेन्द्र

---

1. **जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन** (ऋ० 2.10.4)। तै० सं० 4.1.2.4, 5.1.3.2, काठक सं० 16 2, 19.3 से तुलना करें। **इध्मेनाग्न, इच्छमानो घृतेन** (ऋ० 3.18.3)। **घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे** (अ० सं० 7.28.6)।
2. काण्व सं० 28.4-5 : **अजस्रं घर्ममीमहे**। शां० श्रौतसूत्र 3.3.5.
3. मै० सं० 2.3.4 : **यदघ्रियत, तद् घृतम्**। काठक सं० 11.7 : **यदघ्रियथास्तद् घृतमभवः**।
4. अ० सं० 10.9.85 : **पुरोडाशावाज्येनाभि-घारितौ**। जैमिनीय न्यायमाला : **क्षरद् घृतमाघारः**।
5. निरुक्त 2.2 : **अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः 'उष्णम्', 'घृतम्' इति**। 7.23 : **यत्र वैद्युतः (अग्निः) शरणमभिहन्ति। यावदनुपात्तो भवति, मध्यमघर्मेव भवति— उदकेन्धनः शरीरोपशमनः**। 7.24 : **घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चति-कर्मणः**।
6. महाभाष्य 7.1.95, वा० 8, पृष्ठ 90 : **घरतिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः। स घृतम् घृणा, घर्म इत्येवंविषयः**। प्र० : **घरतिरिति—'गृ घृ सेचने' इति भौवादिकः**।
7. मा० धा० वृ० 1.920 : **"घरतिः···'घृतं, घृणा, घर्म' इत्येवविषयः"** इति **'तृज्वत् क्रोष्टुः'** (7.1.95) **इत्यत्रोक्तं भाष्ये**।

ग्रियात्; अगार्षीत् । 38 ध्वृ हूर्च्छने ॥ 30 ॥ 88 ॥

29.39 स्रु गतौ ॥ 31 ॥ सुस्रोथ, सुस्रुव; स्रूयात् । 'णि-श्रि०' (2312).

होता है—ग्रियात् । 38 √ध्वृ कुटिलता, हिंसा करने में है ॥ 30 ॥ ॥ 88 ॥

धातु-वर्ग 29 : ङ. उकारांत 6 तथा इकारांत 2 परस्मैपदी धातु

29.39 √स्रु गति में है ॥ 31 ॥ 'णि-श्रि०' (2312) से चङ् होता है; लघू-

---

सरस्वती और वासुदेव दीक्षित ने 'घृत' को जौहोत्यादिक √घृ से उचित ही निष्पादित किया है ।[1]

गरति, घरति; जगार, जघार; जग्रतुः, जघ्रतुः, जगर्थ, जघर्थ,—**ऋतो भारद्वाजस्य**; जग्रिव, जघ्रिव, **कृ-सृ-भृ०** । ग्रियात्, घ्रियात्,—**रिङ् श-यग्लिङ्क्षु** । अगार्षीत्, अघार्षीत् ।

38 √**ध्वृ** कुटिल होने (अकर्मक) कुटिलता करने, हिंसा करने में (सकर्मक अनिट्) है । ध्वरणं ध्वरः कौटिल्यम् । अविद्यमानो ध्वरो यत्र सोऽध्वरो यज्ञः[2] ॥ 88 ॥

29.39 √**स्रु** झरना, बहना, स्राव होना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है । स्रवति; सुस्राव, सुस्रुवतुः—उवङ्; सुस्रोथ; सुस्रुव, सुस्रुम—**कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु०**में पठित होने से इट् का निषेध । आशीर्लिङ् में **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ : स्रूयात् । लुङ् में **णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ्** से चङ्, द्वित्वादि कार्य : अ+सु+स्रु+अ+त् । **सार्वधातुकार्धधातुकयोः०** से चङ् के निमित्त से प्राप्त गुण का **क्ङिति च** से निषेध, तिप् परे रहते चङ्ङंत भाग को अंग मानकर तिप् के निमित्त से लघूपधगुण प्राप्त होता है, पर 'अ+सु+स्रु+अ+त्' अवस्था में चङ् की अपेक्षा तिप् के वहिरंग होने से अंतरंग चङ् को निमित्त मानकर उवङ् ही होता है : अ+सु+स्रुव्+अत्=असुस्रुवत् ।

क्षीरस्वामी ने √**स्रु गतौ** को **षु प्रसवैश्वर्ययोः** के वाद दिया है, तथा √ध्वृ के वाद **शु श्रु गतौ** पाठ दिया है । **श्रु श्रवणे** को ही **श्रु गतौ** के रूप में माना है ।[3] **स्रवति-**

---

1. **अञ्जि-घृ-सिभ्यः क्तः** (उ० सू० 369) पर त० बो० तथा बा० म० । इस विषय में विस्तरार्थ वै० भा० चि०, पृष्ठ 58-59 देखें ।

2. निरुक्त 1.8 : **'अध्वर' इति यज्ञ-नाम—ध्वरतिर्हिंसा-कर्मा, तत्प्रतिषेधः** । विशेष विवेचन के लिये देखें नि० पाँ० अ०, पृष्ठ 113.

3. इस प्रसंग में मा० धा० वृ० के चौखम्वासंस्करण में निम्न पंक्तियाँ मिलती हैं : **अत्र स्वामी तालव्यादिममुम्पपाठ 'श्रु श्रवण' इति । एतत्तु दन्त्यादिरिति न्यासकारादयः । सर्वे विरुद्धमेव पठन्ति । श्रोत्रं, श्रुतिः, श्रवणमित्यादौ च लोक-प्रसि-**

शृणोति० (7.4.81) पर न्यास में **सु स्रु गतौ, श्रु श्रवणे** पाठ है। मा० धा० वृ० की सूचना के अनुसार मैत्रेय तथा वोपदेव भी **सु स्रु गतौ** पाठ ही मानते हैं। पर सायण ने षोपदेश-नियम के विरुद्ध होने से √सु का खण्डन किया है। उन्होंने अपरों (सम्भवतः क्षीरस्वामी) के मत में **शु स्रु** (परंतु स्वामीजी ने √स्रु इस धातुसूत्र में नहीं दी है) पाठ

द्धोऽर्थो न संगच्छत इति यत्किञ्चिदेतत्।

यह पाठ निम्न हेतुओं से कुछ भ्रष्ट प्रतीत होता है—(क) क्षी० त० (यु०मी० सम्पादित) में **'शु श्रु गतौ'** पाठ मिलता है, तथा इसी के शृणोति, श्रोत्रम्, श्रवणम् इत्यादि उदाहरण भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त **'स्रु गतौ'** धातु दी है, **'श्रु श्रवणे'** नहीं है। (ख) **'एतत्तु'** (नपुंसक) तथा **'दन्त्यादिरिति'** (पुं०) की सार्थकता क्या है ? (ग) **'सर्वे विरुद्धमेव०'** वाक्य में 'विरुद्धम्' से 'किस के विरुद्ध तथा क्या विरुद्ध है ?' यह बिल्कुल अस्पष्ट है। (घ) यदि स्वामी जी का पाठ **'श्रु श्रवणे'** है, तो श्रोत्रम्, श्रुतिः, श्रवणम् इत्यादि में लोकप्रसिद्ध (सुनना) अर्थ संगत क्यों नहीं होगा ?

मा० धा० वृ० के ही स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा संपादित, प्राच्यभारती-प्रकाशनम्, वाराणसी, द्वारा 1964 में प्रकाशित संस्करण (पृष्ठ 261) में निम्न पाठ है : **'अत्र स्वामी 'श्रु गतौ' इति तालव्यादिमसुम्पपाठ। 'श्रु श्रवणे' इत्येतन्तु दन्त्यादि न्यासकारादयः। सर्वे विरुद्धमेव पठन्ति। स्रवणं, स्रुतिः, श्रोत्रम्, श्रुतिः, श्रवणमित्यादौ च लोकप्रसिद्धोऽर्थो न संगच्छत इति यत्किञ्चिदेतत्।**

ऊपर **'श्रु गतौ'** पर पा० टि० देते हुए शास्त्रीजी ने कहा है—**क्षीरतरङ्गिण्यां नैतादृशः पाठ उपलभ्यते।** जैसा कि ऊपर बताया है, क्षी०त० में यही पाठ मिलता है। अतः शास्त्रीजी की यह पा०टि० निर्मूल है। इसके अतिरिक्त ऊपर, **'श्रु गतौ'** शब्द शास्त्रीजी ने अपनी ओर से जोड़े लगते हैं।

मा० धा० वृ० के मूल पाठ में भी निम्नलिखित असंगतियाँ हैं : (क) न्यास में **'सु स्रु गतौ', 'श्रु श्रवणे'** पाठ है, यह अभी ऊपर बताया है, अतः दूसरा वाक्य विचार-सह नहीं है। (ख) **'सर्वे विरुद्ध०'** वाक्य में पूर्वपाठोक्त विसंगति यहाँ भी लागू होती है। (ग) **'स्रवणम्, स्रुतिः'** वाला वाक्य इन दोनों भ्रमों का परिणाम है। शास्त्रीजी ने इस वाक्य में **'स्रवणम्'** तथा **'स्रुतिः'** ये दो शब्द अपनी ओर से जोड़े लगते हैं। चौ० सं० में ये नहीं हैं।

इससे सायण का आशय (सम्भवतः) यह है कि क्षीरस्वामी के अनुसार यदि √श्रु गत्यर्थक है, तो **'श्रवणम्, श्रुतिः, श्रोत्रम्'** इत्यादि में सुनना और यदि न्यासकार के अनुसार **'स्रु श्रवणे'** है, तो **'स्रवणम्', 'स्रुतिः'** इत्यादि में लोकप्रसिद्ध

उद्धृत करके **शुवादीनां दीर्घश्च** (उ०सू०) से 'शूर' शब्द सिद्ध होने से तथा शाकटायन के

'गति, झरना' अर्थ संगत नहीं होते। अतः ये दोनों (मत) यों ही हैं (अर्थात् उपेक्ष्य हैं)।

इसमें क्षीरस्वामी के पाठ पर तो यह आपत्ति ठीक है, पर न्यास के काल्पनिक पाठ पर आपत्ति भी काल्पनिक ही है, यह स्वतः विशद है। वस्तुतः पाठ यों होना चाहिए : **अत्र स्वामी तालव्यादिममुम्पपाठ 'श्रु श्रवण' इत्येतम्। दन्त्यादिरिति न्यासकारादयः सर्वे विरुद्धं पठन्ति। श्रोत्रम्, श्रुतिः, श्रवणमित्यादौ च लोकप्रसिद्धोऽर्थो न संगच्छत इति यत्किञ्चिदेतत्।** इसका तात्पर्य यह है :

स्वामीजी ने उस **'श्रु श्रवणे'** को ही यहाँ (**'श्रु गतौ'** के रूप में) दिया है। न्यासकार आदि सभी ने यहाँ दन्त्यादि (**'स्रु गतौ'**) है, यह (क्षीरस्वामी के) विरुद्ध पाठ दिया है। श्रोत्रम्, श्रुतिः, श्रवणम् इत्यादि में लोकप्रसिद्ध (सुनना) अर्थ भी (क्षीरस्वामी का अर्थ मानने पर) संगत नहीं होता। अतः यह (स्वामीजी का मत) ऐसा ही (अर्थात् उपेक्ष्य) है।

यहाँ तीन बातें स्पष्ट हैं : (क) क्षीरस्वामी अन्यों द्वारा **'श्रु श्रवणे'** के रूप में पठित को ही **'श्रु गतौ'** के रूप में मानते हैं। **'श्रु श्रवणे'** क्षीरस्वामी के धातुपाठ में उपलब्ध ही नहीं है। **'श्रु गतौ'** भी **'शु श्रु गतौ'** के रूप में 'शु' धातु के साथ दी है। अतः उनके यहाँ **'श्रु श्रवणे'** पाठ हो भी नहीं सकता। सम्भवतः क्षीरस्वामी ने 'श्रृणोति=(शब्दं) गच्छति=प्राप्नोति' अर्थ मान कर 'शब्द की प्राप्ति' 'सुनना' रूप में ही होती है, अतः गति का ही लाक्षणिक अर्थ 'सुनना' समझ कर गत्यर्थक √शु के साहचर्य से इसे भी गति अर्थ में ही दे दिया हो। पर 'शब्द' का धात्वर्थ में कथन न होने के कारण केवल 'गति' से उसकी कल्पना करके 'गति=सुनना' अर्थ की प्रतीति क्लिष्ट कल्पना ही है। (ख) क्षीरस्वामी का उपर्युक्त मत न्यासकार, मैत्रेय, बोपदेव आदि सभी मान्य आचार्यों के विरुद्ध होने से उपेक्ष्य है। इसके अतिरिक्त (ग) अर्थ-दृष्ट्या भी 'श्रवणम्' आदि की लोक में 'गति' से भिन्न 'सुनना' अर्थ में प्रसिद्धि होने के कारण यह मत लोकविरुद्ध होने से भी सुतराम् उपेक्षणीय है।

मा० धा० वृ० के दोनों संस्करणों में से चौ० सं० में जहाँ केवल विराम-चिह्नों के गलत ढंग से लगने से ही पाठ भ्रष्ट हुआ है, वहाँ प्राच्यभारती सं० में श्रीशास्त्रीजी द्वारा स्वच्छंदता से अनेक शब्दों का समावेश तथा **'दन्त्यादिरिति'** की **'दन्त्यादिः'** के रूप में फेर-बदल करने पर भी विक्रम का वेताल तो वहीं टँगा रहा।

इति चङ्; लघूपध-गुणादन्तरङ्गत्वादुवङ्—असुस्रुवत् । 40 षु प्रसवैश्वर्ययोः ॥ 32 ॥ प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम् । सुषोथ, सुषविथ; सुषुविव; सोता ।
पध-गुण से अंतरंग होने के कारण उवङ् होता है—असुस्रुवत् । 40 √सु (षोपदेश)

धातुपाठ के आधार पर √शु को युक्त बताया है ।[1] परंतु भट्टोजि दीक्षितजी के मत में √शु धातु-पाठ में नहीं है, अपितु केवल उपर्युक्त उणादिसूत्र-पठित होने से सौत्र है । यास्क तथा पतंजलि के अनुसार √शु गत्यर्थक धातु वेद में तो है ही, लोक में भी कंबोजों (आधुनिक पश्तोभाषी प्रदेशों) में तिङंतत्वेन तथा आर्यों में 'शव' (या 'शवस्'), 'शूर' इत्यादि शब्दों में विद्यमान है ।[2] अतः क्षीरस्वामी, सायण, शाकटायन यास्क एवं पतंजलि के विरोध के कारण श्री दीक्षितजी का मत उपेक्षणीय है । √शु धातुपाठ में तथा भ्वादि में है ही ।[3]

40 √**सु** (षोपदेश) अनुमति देना तथा ईश्वर (स्वामी) होना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । सवति; सुषाव; सुषविथ, सुषोथ—भारद्वाज-नियम से वेट् ।

---

1. उ०सू० का पिछले पृष्ठ पर धृत पाठ मा० धा० वृ०, चौखम्बा संस्करण, में उद्धृत पाठ है । प्रा० भा० संस्करण में **सु-सि-चि-मीनां दीर्घश्च** है । उणादि-सूत्रों में वास्तविक पाठ **शु-सि-चि-मीनां दीर्घश्च** (उ० सू० 183) है ।
2. निघण्टु (2.14) में गत्यर्थक धातुओं में 'शवति' भी समाम्नात है । निरुक्त (2.2) में **'अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते ।···विकारमस्यार्येषु भाषन्ते 'शव' इति ।** तथा निरुक्त (4.13) में **'शूरः शवतेर्गतिकर्मणः'** ।

   यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'शवति' तथा 'शवः' 18.72 **'शव गतौ'** से भी निष्पन्न हो सकते हैं । अतः यास्क के मत में √शु है, यह कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि (1) 'शूर' शब्द यास्क ने गत्यर्थक 'शवति' से सिद्ध किया है, और वैयाकरण लोग √शु से मानते हैं, तो यास्क भी √शु से ही मानते होंगे, न कि √शव् से । (2) निघण्टु में समाम्नात आद्युदात्त 'शवति' भ्वादि में पठित √शु का ही ग्राहक है, तौदादिक शुवति (मध्योदात्त) का नहीं । (3) यह वर्ण-साम्य की दृष्टि से भी उचित ही है । अतः √शु धातु पृथक् है ही । (4) 'शु', 'आशु' शीघ्रार्थक निपात तथा ऋग्वेदीय शूशुवस् और शूशुवान शब्द भी √शु से ही सम्भव हैं, √शव् से नहीं । वस्तुतः 18.72 √शव् √शु से विकसित है । पृष्ठ 504 का कथन इसी दृष्टि से समझें ।
3. भ्वादि में पाठ में प्रमाण निघंटु 2.4 का आद्युदात्त तथा कृतगुण 'शवति' पाठ है । तुदादि में यदि हो, तो मध्योदात्त (शुवति) रूप होगा ।

2385 स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु (7.2.72)—एभ्यः सिच इट् स्यात्, परस्मैपदेषु। असावीत्। पूर्वोत्तराभ्यां ञिद्भ्यां साहचर्यात्सुनोतेरेव ग्रहणमिति पक्षे असौषीत्।

प्रसव और ऐश्वर्य होने में है ॥ 32 ॥ प्रसव माने अनुमति देना है। 2385 √स्तु, √सु, √धूञ् के पश्चात् स्थित सिच् को इट् हो, परस्मैपद प्रत्ययों में। असावीत्। पिछली और अगली ञित् धातुओं के साथ के कारण स्वादि-गणीय √सु का ही ग्रहण होता है। इस पक्ष में असौषीत्।

सुषुविव—क्रादि-नियम से नित्य इट्। सोता; सोष्यति; सूयात्—**अकृत्सार्वधातु०** से दीर्घ।

2385 **स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु** (7.2.72)—आर्धधातुकस्येड् वलादेः (35) अञ्जेः सिचि (72), अङ्गस्य (6.4.1)।

√सु से अभीष्ट धातु पर मत-भेद : (1) न्यासकार ने यहाँ 'स्तु' तथा 'धूञ्' (ञितों) के साहचर्य से '√सु' से **षुञ् अभिषवे** (स्वा०) ही ली है। श्रीसायणाचार्य का कहना है कि यहाँ **निरनुबन्धक०** तथा **सहचरिता०** परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। लुग्विकरणक 'षु' तथा अलुग्विकरणक 'धूञ्' के साहचर्य से कौन-सी ली जाए, यह **सहचरिता०** परिभाषा से स्पष्ट निर्णीत नहीं होता। अतः ञित्त्व-साहचर्य से ञित् ही ली जाएगी।

यदि कहें कि निरनुबंधक निर्देश से सानुबंधक का ग्रहण नहीं हो सकता, तो उत्तर यह है कि **निरनुबन्धक०** परिभाषा से **सहचरिता०** परिभाषा को आचार्यों ने अधिक बलवान् माना है। जैसे कि वृत्तिकार ने **सत्-त्सू-द्विष०** (3.2.61) सूत्र में 'द्विष' के साहचर्य से √सू से तौदादिक **षू प्रेरणे** को न लेकर आदादिक **षूङ् प्राणिगर्भविमोचने** को ही लिया है। आचार्य आत्रेय तथा मैत्रेय ने भी प्रस्तुत प्रकरण में 'षुञ्' ही ली है।

(2) इसके विपरीत आचार्य वर्द्धमान ने **सहचरिता०** तथा **निरनुबन्धक०** परिभाषाओं की अनित्यता का आश्रय लेकर **लुग्विकरण०** परिभाषा से भौवादिक तथा सौवादिक का ही ग्रहण माना है। दीक्षितजी का भी यही मत है।

स्तु-सु-धूञ्भ्यः अङ्गेभ्यः सिचः इट् परस्मैपदेषु—ष्टुञ् स्तुतौ (अकर्मक), षुञ् अभिषवे (स्वा०, वर्धमान के मत में षु भ्वा० भी), धूञ् (स्वा० पाठांतरीय, क्र्या०, चु० णिजभावपक्ष में) अंगों से परे सिच् को इट् होता है, परस्मैपद में।

(1) न्यासकार आदि के मत में इट् न होने से असौषीत्। (2) वर्द्धमान तथा तदनुसारी दीक्षितजी के मत में असावीत्।

41 श्रु श्रवणे ॥ 33 ॥ 2386 श्रुवः शृ च (3.1.74)—श्रुवः 'शृ' इत्यादेशः स्यात्, श्नु-प्रत्ययश्च । शपोऽपवादः । श्नोर्ङित्त्वाद् धातोर्गुणो न—

41 √श्रु सुनने में है ॥ 33 ॥ 2386 √श्रु को 'शृ' आदेश और श्नु प्रत्यय हों । (यह) शप् का बाधक है । श्नु चूंकि ङित् है, अतः धातु को गुण नहीं होता—

---

41 √श्रु सुनना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है । यह प्राकृत और प्रादेशिक बोलियों में √सुण्, हिंदी में √सुन और बंगला में √शुन् के रूप में विकसित मिलती है । प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत के सविकरण धात्वंगों का स्वतंत्र धातुओं के रूप में विकास बहुतायत से हुआ है । √ग्रह् के 'गृह्ण' अंग से विकसित √घिण्ण् भी देखें ।

2386 **श्रुवः शृ च** (3.1.74)—सार्वधातुके यक् (67), कर्तरि शप् (68), स्वादिभ्यः श्नुः (73) । यहाँ 'श्रुवः' का अन्वय 'श्नु' तथा 'शृ' दोनों से होगा । अतः 'श्रुवः' की आवृत्ति होगी । प्रत्यय **परश्च** (3.1.2) से धातु से परे होते हैं, अतः तथा **स्वादिभ्यः श्नुः** (73) के अनुकरण पर 'श्नुः' से अन्वय में 'श्रुवः' पंचम्यंत होता है । 'श्नुः' की अनुवृत्ति के कारण 'शृ' आगम तो हो नहीं सकता, आदेश हो सकता है । आदेश किसी के स्थान में होते हैं । अतः 'शृ' के साथ अन्वय में 'श्रुवः' षष्ठ्यंत माना जाएगा : कर्तरि सार्वधातुके श्रुवः परः श्नुः प्रत्ययः, श्रुवः स्थाने शृ च (भवतः)—कर्त्रर्थक सार्वधातुक बाद में होने पर √श्रु के पश्चात् श्नु प्रत्यय होता है तथा √श्रु के स्थान में 'शृ' आदेश होता है ।

शृणोति—√श्रु+ति, शप् को बाध कर **श्रुवः शृ च** से √श्रु को 'शृ' आदेश तथा √श्रु के पश्चात् श्नु प्रत्यय : शृ+नु+ति, 'शृ' के ऋकार को **सार्वधातुकार्ध०** से तिप् के निमित्त से प्राप्त गुण का निषेध नु के शित्त्व के निमित्त से ङित् होने से होता है, 'नु' को गुण : शृणोति ।

इस सूत्र की व्याख्या में अर्वाचीन व्याख्याताओं में √श्रु के भौवादिकत्व पर मतभेद है । जिनेन्द्रबुद्धि लिखते हैं—यदि इस √श्रु को स्वादिगण में रख दिया जाए, तो इस सूत्र में 'च' नहीं देना पड़ेगा । श्रीनागेशभट्ट ने लघुशब्देंदुशेखर में लिखा है कि √श्रु को स्वादिगण में क्यों नहीं रखा ? यह विचारने की बात है । उपर्युक्त ग्रंथ की टीका चंद्रकला में श्रीभैरवमिश्र ने लिखा है कि किन्हीं का मत है कि गणकार्य अनित्य होता है, इसके ज्ञापन के लिए इस धातु को स्वादिगण में नहीं रखा है । श्रीयुधिष्ठिरमीमांसक ने क्षीरतरङ्गिणी में इस धातु पर टिप्पणी की है कि यदि भ्वादि में √श्रु के पाठ के होते हुए भी **श्रुवः शृ च** से 'श्नु' नित्य ही होगा, तब तो भ्वादि में पाठ व्यर्थ ही होगा । अतः भ्वादि में √श्रु के पाठ से सिद्ध होता है कि √श्रु से 'श्नु' नित्य नहीं होता । फलतः 'श्नु' के अभाव-पक्ष में शप् होने से 'श्रवति' आदि प्रयोग भी समझने चाहिएँ ।

शृणोति, शृणुतः। 2387 हु-श्नुवोः सार्वधातुके (6.4.87)—(i) जुहोतेः, (ii) श्नु-प्रत्ययान्तस्य (iii) अनेकाचोऽङ्गस्य चासंयोग-पूर्वोवर्णस्य यण् स्याद-जादौ सार्वधातुके। उवङोऽपवादः। शृण्वन्ति। शृणोमि, शृण्वः, शृणुवः, शृणुमः। शुश्रोथ, शुश्रुव। शृणु, शृणवानि। शृणुयात्; श्रूयात्; अश्रौषीत्।

शृणोति, शृणुतः। 2387 (i) √हु के (ii) अंत में श्नु प्रत्यय से युक्त के तथा (iii) अनेक स्वरों वाले अंग के, पूर्व में संयोग से रहित उकार को यण् वर्ण हो, बाद में आदि में स्वर वाला सार्वधातुक प्रत्यय होने पर। (यह) उवङ् का बाधक है। शृण्वन्ति।

ऋग्वेद में शब्विकरण √श्रु कई बार प्रयुक्त हुई है। का०कृ०धा०पा० की कन्नड़ टीका में केवल 'श्रवति' ही उदाहरण दिया है। अतः 'श्रवति' (√श्रु), शृणोति (√शृ आदेश) दो स्वतंत्र √श्रु धातुएँ हैं।

पतजलि, जयादित्य, वामन, जिनेंद्रबुद्धि, क्षीरस्वामी तथा सायण ने यह प्रश्न उठाया ही नहीं है। हाँ, (i) पाणिनीय व्याकरण की लोकवेदोभयशब्दानुशासनता, (ii) वेद में शब्विकरणक की उपलब्धता तथा (iii) तंत्राविरुद्धता को देखकर 'श्नु' का विकल्प करके पक्ष में शप् करना पाणिनि को इष्ट लगता है। किंतु मीमांसकजी की भूवादिपठित तथा स्वादिपठित दो पृथक् (स्वतंत्र) धातु वाली बात कुछ जँचती नहीं। इसमें हेतु यह है कि यदि पाणिनि को दो स्वतंत्र धातु अभीष्ट होतीं, तो श्नु के प्रकरण में सूत्र न बना कर स्वादि में √श्रु को डाल देते और आदेश के प्रकरण में **श्रुवः श्रु** इतना ही सूत्र बनाते। अतः (i) विशेष-सूत्र-विधान-सामर्थ्यात् स्वादि में पाठ नहीं ही है, यह तथा (ii) भ्वादि-पाठ-सामर्थ्यात् शप् भी एक ही √श्रु से 'श्नु' के अभाव-पक्ष में होगा, यह सिद्ध होता है। श्रवति; श्रवतु; अश्रवत्; श्रवेत्; श्रवणम्। श्रूयन्ते लोकेनेति श्रवांसि यशांसि। इसके कारण प्रसिद्धि होती है, इस लिए वैदिक काल में 'श्रवस्' से 'अन्न' भी लिया जाता था।

2387 हु-श्नुवोः सार्वधातुके (6.4.87)—अङ्गस्य (1), अचि श्नु-धातु० (77), इणो यण् (81), एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (82), ओस्सुपि (83) : हु-श्नुवोः अनेकाचः अङ्गस्य असंयोगपूर्वस्य ओः यण् अचि सार्वधातुके।

'हु-श्नुवोः' (द्वन्द्व) में 'श्नु' प्रत्यय होने से 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः 'श्नुवः' में तदन्तविधि। 'अचि' में तदादि-विधि। (i) हुवः, (ii) श्न्वन्तस्य, (iii) अनेकाचः अङ्गस्य (अवयवस्य) असंयोग-पूर्वस्य ओः यण् आदेशः भवति अजादौ सार्वधातुके—(i) √हु के तथा (ii) श्नु-प्रत्ययांत, (iii) अनेक अच् वाले अंग के, असंयोगपूर्वक उकार को यण् होता है, अजादि सार्वधातुक प्रत्यय बाद में होने पर। शृ+नु+अन्ति, उ को प्राप्त उवङ् को बाध कर इस सूत्र से यण् : शृ+न्व्+अन्ति। **र-षाभ्यां नो णः०** में 'र' से श्रुति-सामान्य से ऋकारैकदेश रेफांश का भी ग्रहण होने से णत्व : शृण्वन्ति।

यङ्लुक् से भिन्न अनेकाच् अंग का असंयोगपूर्वक उकारांत कोई उदाहरण √हु श्नु को छोड़ कर अजादि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते प्राप्त नहीं है। अष्टाध्यायी में **बहुलं छन्दसि** (2.4.73) से **यङोऽचि च** (74) में 'च' से केवल 'बहुलं' पद लिया जाए, 'छन्दसि' नहीं, इसका प्रमाण न होने से यङ्लुक् छंदस् में होता है, लौकिक प्रयोग में नहीं, यह सूत्रपाठ से सिद्ध होता है।

इसके फलस्वरूप प्रस्तुत सूत्र से यदि 'हु-श्नुवोः' पद हटा दिया जाए, तो भी √हु तथा श्नु-प्रत्ययांत को ही यण् प्राप्त होगा। यङ्लुक् में तिवादियों की **छन्दस्युभयथा** (3.4.117) से आर्धधातुक संज्ञा होने से यह सूत्र प्राप्त नहीं होता। तब 'हु-श्नुवोः' को सूत्र में रखने का प्रयोजन भाष्य के अनुसार 'लौकिक संस्कृत में भी यङ्लुक् होता है', यह सूचित करना है। क्योंकि लोक में तिबादियों की सार्वधातुक संज्ञा होने से 'योयुवति' आदि में यण् प्राप्त होगा। इसके निवारण के लिए 'हु-श्नुवोः' का ग्रहण आवश्यक है।

इस ज्ञापन के फल के विषय में श्रीनागेशभट्ट का कहना है कि भाष्य में **'बेभिदीति, चेच्छिदीति, इत्येतत्सिद्धं भवति भाषायामपीति'** वाक्य में दो उदाहरण दे कर 'इत्येतत्' शब्द से सिद्ध होता है कि इन दो उदाहरणों के अतिरिक्त यङ्लुगंत प्रयोग लोक में असाधु ही हैं। **क्ङिति च** पर भाष्य में भी 'रोरवीति' को छांदस ही माना है।

वास्तव में तो √भिद्, √छिद् के उदाहरण देने से भाष्यकार का यह अभिप्राय नहीं लगता : **भू-सुवोस्तिङि** से गुण-निषेध होने पर भी **बोभूतु-तेतिक्ते०** सूत्र में 'बोभूतु' में गुणाभाव के निपातन से **'भू-सुवोः०** से गुण-निषेध छंदस् में ही जब यङ्लुक् हो, तभी होता है', यह सिद्ध होता है। इससे सिद्ध है कि यङ्लुक् लोक में भी होता है। तब दुबारा यही ज्ञापन करके (√हु, श्नु) को यण् करने से सूत्रकार को '√भिद्, √छिद् से अन्य धातुओं से भी यङ्लुक् होता है', यही सिद्ध करना इष्ट हो सकता है। भाष्य में 'रोरवीति' को **'अथवा छान्दसमेतत्'** कहने से ही सिद्ध है कि अगतिक-गति-न्याय से भाष्यकार ने इसे वहाँ छांदस बताया है।

डॉ० पं० श्री रामप्रसादजी त्रिपाठी ने इस पर यह विचार प्रकट किया है : वस्तुतः सूक्ष्म विचार करने पर यङ्लुगंत भाषा में बाधित ही है, क्योंकि **बोभूतु-तेतिक्ते०** सूत्र में 'बोभूतु' यह लोट् का प्रयोग बता रहा है कि **लोटयेव गुणाभावो निपात्यते, तेन लडादौ गुणो भवत्येव** (लोट् ही में गुणाभाव का निपातन होता है, इस लिये लडादि में गुण होता ही है)। अतः 'बोभवीति', 'बोभोति' रूप बनेंगे—इस दृष्टि से यङ्लुक् का लोक में प्रयोग सिद्ध नहीं हो पाता। बेभिदीति, चेच्छिदीति, रोरवीति का छान्दसत्व उचित ही है। ऐसी स्थिति में **'हु-श्नुवोः'** का ग्रहण स्पष्टार्थ (अदृष्टार्थ) ही है।

42 ध्रु स्थैर्ये ॥ 34 ॥ ध्रवति । अयं कटादौ गत्यर्थोऽपि । 43 दु, 44 द्रु गतौ ॥ 35 ॥ दुदोथ, दुदविथ; दुदुविव; दुद्रोथ; दुद्रुव, 'णि-श्रि०' (2312) इति चङ्—अदुद्रुवत् ।

45 जि, 46 ज्रि अभिभवे ॥ 36 ॥ अभिभवो (i) न्यूनीकरणम्, (ii) न्यूनीभवनं च । (i) आद्ये सकर्मकः—शत्रून् जयति; (ii) द्वितीये त्वकर्मकः—अध्ययनात् पराजयते, 'अध्येतुं ग्लायति' इत्यर्थः; 'वि-पराभ्यां जेः' (1.3.19) इति तङ्, 'परा-जेरसोढः' (1.4.26) इत्यपादानत्वम् ॥ 89 ॥

42 √ध्रु स्थिर होने में है ॥ 34 ॥ यह कुटादिगण में गति अर्थ वाली भी है । 43 √दु, 44 √द्रु गति अर्थ में हैं ॥ 35 ॥ 'णि-श्रि०' (2312) से (च्लि को) चङ् होता है : अदुद्रुवत् ।

45 √जि, 46 √ज्रि दबाना, परास्त करना होना (अभिभव) अर्थ में हैं ॥ 36 ॥ अभिभव माने (i) कम करना और (ii) कम होना है । (i) पहले अर्थ में सकर्मक है—शत्रून् जयति (दुश्मनों को हराता है, परास्त करता है); (ii) किंतु दूसरे में अकर्मक है—अध्ययनात् पराजयते, अर्थात् पढ़ने में क्षीणोत्साह होता है; 'वि-पराभ्यां जेः' (1.3.19) से आत्मनेपद, 'परा-जेरसोढः' (1.4.26) से अपादान संज्ञा होते हैं ॥ 89 ॥

शृण्वः, शृणुवः, शृण्मः, शृणुमः—लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः । शुश्रोथ, शुश्रुव, शुश्रुम—**कृ-सृ०** आदि में पठित होने से इट् नहीं होता । **शृणु—उतश्च प्रत्यया०** से लोट् में 'हि' का लोप । श्रूयात्—**अकृत्सार्व०** से दीर्घ । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत् ।

42 √**ध्रु** स्थिर होना अर्थ में (अकर्मक, अनिट्) है । यह धातु तुदादि में **कुट कौटिल्ये** आदि धातुओं में **ध्रु गति-स्थैर्ययोः** के रूप में भी दी है । ध्रवति; दुध्रविथ, दुध्रोथ; दुध्रुविव, दुध्रुविम; ध्रोता; अध्रौषीत्; अध्रोष्यत् । ध्रुवः स्थिर ।

43 √**दु** तथा 44 √**द्रु** गति अर्थ में (अकर्मक अनिट्) हैं । √द्रु पिघलना, द्रवित होना, बह कर चल पड़ना, दौड़ना अर्थ में है । √दु का अर्थ स्पष्ट नहीं है । लुङ् में √द्रु से **णि-श्रि-द्रु०** से चङ् से अदुद्रुवत्, लघूपध गुण से अंतरंग होने के कारण उवङ् । √दु का अदौष्टाम्, अदौषीत्, अदौषुः इत्यादि । √दौड़ √द्रु से विकसित है ।

45 √**जि** तथा 46 √**ज्रि** अभिभव करना, न्यून करना, हीणा करना, हराना अर्थ में (सकर्मक) तथा नीचा होना अर्थ में (अकर्मक) अनिट् हैं ।

धातुपाठ में √जि को यहीं देना उचित है, यह पीछे (15.54, पृष्ठ 447 पर) कहा जा चुका है । इसके रूप तथा प्रक्रिया वहीं पृष्ठ 448-449 पर देखें ।

दूसरी धातु के पाठ पर मतभेद है । क्षीरस्वामी ने इसका स्वरूप √जृ माना है । तदनुसार रूप 'जरति' दिया है । दुर्ग, सायण तथा अन्य आचार्य √ज्रि पाठ ही

30 अथ डीङन्ता ङितः—

1 ष्मिङ् ईषद्धसने ॥ 1 ॥ स्मयते; सिष्मिये; सिष्मियिढ्वे, सिष्मियिध्वे ।

धातु-वर्ग 30 : स्वरान्त आत्मनेपदी 21 धातु

30 अव √डीङ् तक इत्संज्ञक ङ् वाली (आत्मनेपदी) हैं—

1 √स्मि (षोपदेश) मुस्कुराने में है ॥ 1 ॥

मानते हैं। इकारांन्त √जि के साहचर्य से इसकी इकारांतता ही पुष्ट होती है। ऋकारांत यदि होती, तो इसी वर्ग की √हृ आदि ऋकारांतों में इसे भी दे सकते थे।

ज्रयति; जिज्राय, जिज्रियतुः, जिज्रयिथ, जिज्रेथ, जिज्रियिव; ज्रेता; ज्रीयात्; अज्रैषीत्, अज्रैष्टाम्, अज्रेष्यत्।

धातु-योग : गत धातुएँ 866, वर्तमान 46, योग 912 ॥ 89 ॥

संदर्भ : तीसवें वर्ग में दीक्षितजी ने स्वरांत आत्मनेपदी 21 धातु दी हैं। धातुपाठ के अनुसार इनमें से प्रथम 18 धातु अनुदात्त अर्थात अनिट् हैं। किन्तु दीक्षितजी ने 12 √रु को सेट् (रवितासे) दिया है।[1] 19 √पू, 20 √मू तथा 21 √डी सेट् हैं। आत्मनेपदियों को पहले देने की नीति के कारण इन 21 धातुओं को स्वरांत परस्मैपदी (29वें वर्ग की) धातुओं से पूर्व रखना उचित है। इनका क्रम भी अंत-वर्णानुक्रम के अनुसार गठित किया जाना चाहिए। 19-21 सेट् धातुओं का अलग वर्ग बनाना उचित है।[2] उसमें डीङ् को पहले रखा जाना चाहिए। 3 गुङ् को चौथे धातुसूत्र में ही दिया जा सकता है। वस्तुतः 4-7 धातुएँ भी अव्यक्त शब्द में ही हैं।

30.1 √**स्मि** थोड़ा हँसना, मुस्कुराना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है।[3] स्मयते, स्मयेते, स्मयन्ते; स्मयसे इत्यादि। सिष्मिये—एश् के कित् होने से गुण न होकर इयङ्, **आदेश-प्रत्यययोः** से स् को ष्। सिष्मियिषे—क्रादिनियम से इट्। सिष्मियिढ्वे, सिष्मियिध्वे—**विभाषेटः** से वा मूर्धन्यादेश। स्मेता; स्मेष्यते; स्मयताम्; अस्मयत; स्मयेत; स्मेषीष्ट; अस्मेष्ट; अस्मेष्यत। यह 'वि' के साथ अधिक आती है।

---

1. अनिट् कारिका (1) में √रु के ग्रहण पर विचारार्थ पृष्ठ 203, टि० 2 देखें।
2. धातु-पाठ में तो इन्हें अलग से **'पूङादयस्त्रय उदाताः'** कहकर दिया भी है।
3. यह धातु परस्मैपद में भी पर्याप्त मिलती है। जैसे महाभारत, शान्ति पर्व 29.28 में अस्मयत्, 54.26 में विस्मयिष्यति। ईषद्धसन के अतिरिक्त गर्व करना (अकर्मक) अर्थ में भी इसका लक्षणया प्रयोग उपलब्ध होता है: म० स्मृ० 4.236 : **न विस्मयेत तपसा**। तथा रघुवंश 5.19 : **तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय**। इस अर्थ का विकास 'हँसी में उड़ाना' अर्थ के माध्यम से हुआ प्रतीत होता है।

2 गुङ् अव्यक्ते शब्दे ॥ 2 ॥ गवते; जुगुवे ।

3 गाङ् गतौ ॥ 3 ॥ गाते, गाते, गाते; इट एत्त्वे कृते वृद्धिः—गै । लङ इटि—अगे । गे, गेयाताम्, गेरन् । गासीष्ट । 'गाङ्-कुटादि०' (1.2.1) सूत्रे इङादेशस्यैव गाङो ग्रहणम्, न त्वस्य; तेन अङित्त्वाद् 'घु-मा-स्था०' (6.4.66) इति ईत्त्वं न—अगास्त । आदादिकोऽयमिति हरदत्तादयः । फले तु न भेदः ।

2 √गु अस्पष्ट आवाज में है ॥ 2 ॥

3 √गा गति अर्थ में है ॥ 3 ॥ इट् को एकार आदेश करने पर वृद्धि होती है—गै । लङ् के इट् में—अगे । 'गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्' (1.2.1) सूत्र में इङ् के आदेश गाङ् को ही लिया जाता है, इसे नहीं; इसलिये ङित्संज्ञा न होने के कारण 'घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि' (6.4.66) से दीर्घ ई आदेश नहीं होता—अगास्त । हरदत्त आदि मानते हैं कि यह धातु अदादि गण में है । किंतु (यहाँ रखने से या अदादि में रखने से) फल में कोई अंतर नहीं आता ।

---

2 √गु अव्यक्त शब्द करना गुनगुनाना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है । गवते; जुगुवे; जुगुविषे; जुगुविवहे; गोता; गोषीष्ट; अगोष्ट । गवाकः सुपारी । गवलम् भैंसे का अथवा भैंस का सींग । निघंटु 2.14 (लघुपाठ 27, वृहत्पाठ 28) में यह 'गति' अर्थ में दिया है । शब्द अर्थ में यह अनुरणनात्मक धातु है ।

3 √गा गति अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । गा+अ+ते, सवर्ण दीर्घ : गाते । गा+अ+आते, धातु तथा विकरण के कार्य के अंतरंग होने से **आतो ङितः** लगने से पहले 'गा+अ' में सवर्ण दीर्घ : गा+आते, फिर अत् से परे न होने से **आतो ङितः** नहीं लगता, पुनः सवर्ण-दीर्घ : गाते । यहाँ **अन्तादिवच्च** (6.1.85) से सवर्ण दीर्घ को आदिवद्भाव **वर्णाश्रय-विधौ च नान्तादिवद् भवतीति वक्तव्यम्** (6.1.85 पर भा० वा० 24 देखें) से नहीं होता । **वार्णादाङ्गं बलीयः** (प० 56) भी यहाँ लागू नहीं होगी । क्योंकि **आतो ङितः** से विहित कार्य आङ्ग[1] नहीं है, अपितु अंग से परे (अङ्गात्) विहित है । गा+अझ, पूर्ववत् सवर्ण-दीर्घ होने पर 'गा+झ' स्थिति में झ अत् से परे नहीं है, अतः **आत्मनेपदेष्वनतः** से 'झ्' को 'अत्' आदेश : गा+अत्अ, पुनः सवर्ण दीर्घ : गात, टि को एत्त्व : गाते । गासे, गाथे, गाध्वे । इट् में गा+अ+ए, **वृद्धिरेचि** से अ+ए तथा, आ+ऐ को वृद्धि : गै । गावहे, गामहे । **जगे**—ज+गा+ए, **आतो लोप इटि च। जगिषे, जगिध्वे; जगिवहे**—क्रादिनियम से इट् । लङ् में अगात, अगाताम्, अगात;

---

1. अङ्गस्येदम् आङ्गम्; **तस्येदम्** (4.4.120) से अण् । अङ्ग का कार्य आङ्ग होता है, अङ्ग से परे विहित नहीं ।

4 कुङ्, 5 घुङ्, 6 उङ्, 7 ङुङ् शब्दे ॥ 4 ॥ अन्ये तु '4 उङ्, 5 कुङ्, 6. खुङ्, 7 गुङ्, 8 घुङ्, 9 ङुङ्' इत्याहुः । कवते; चुकुवे; घवते । अवते; ऊवे —'वार्णादाङ्गं बलीयः' (प० 56) इत्युवङ्, ततः सवर्ण-दीर्घः; ओता; ओष्यते;

4 √कु, 5 घु, 6 √उ, 7 √ङु आवाज करने में हैं ॥ 4 ॥ अन्य लोग तो 4 √उ, 5 √कु, 6 √खु, 7 √गु, 8 √घु, 9 √ङु बताते हैं। ऊवे—'वार्णादाङ्गं बलीयः' (प० 56) से उवङ्, उसके बाद 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होता है।

अगाथाः, अगाथाम्, अगाध्वम्; इट् में अ+गा+अ+इ, पहले गा+अ में सवर्ण दीर्घ : अ+गा+इ, फिर **आद् गुणः**, अगे । गासीष्ट—**गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्** (1.2.1) में इङ् के आदेश रूप 'गाङ् 'का ही ग्रहण होता है । इसका नहीं',[1] इसलिए ङित् न होने से **घु-मा-स्था-गा-पा०** से ईत्व नहीं होता । लुङ् में अ+गा+सिच्+त : अगास्त, अगासाताम्, अगासत इत्यादि ।

सायणाचार्य ने यहाँ लिखा है कि **गा-पोष्टक्** (3.2.8) पर न्यास तथा पदमंजरी में इस धातु को आदादिक बताया है । (सवर्ण दीर्घ से शप् के छुप जाने से) भ्वादिगण में रखने में कोई प्रयोजन भी नहीं है । इसे कहीं तो रखना ही है; यह सोच कर मैत्रेय आदि के अनुसार यहीं (भ्वादि में) मान लिया है ।

4 √कु, 5 √घु, 6 √उ तथा 7 √ङु शब्द करना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) हैं । न्यास और दैव में 'अव्यक्त शब्द' में दी हैं । 'कवते' और 'अवते' निघण्टु (लघुपाठ 2.14.26, 28) में 'गति' अर्थ में सङ्कलित हैं । 'अवते' (आत्मनेपदी) संहिताओं में अनुपलब्ध है ।

क्षीरस्वामी ने यहां 'ङुङ्' नहीं दी है । उन्होंने खुङ् को एकीय बताया है । दुर्ग तथा सायण ने 'ङुङ्' दी है । कुछ लोग इस धातुसूत्र को **'उङ्, कुङ्, खुङ्, गुङ्, घुङ्, ङुङ् शब्दे'** मानते हैं । वर्णानुपूर्वी के आदर के कारण यह उचित प्रतीत होता है । इसमें √खु अतिरिक्त है, √गु पहले आ चुकी है । वस्तुतः √गु का स्थान यही उचित है ।

---

1. 'गाङ्' रूप में धातुपाठ में केवल यही एक धातु उपदिष्ट है । दूसरी सूत्र-पाठ में इङ् को आदेश के रूप में उपदिष्ट है । इन दोनों में रूप की समानता होते हुए भी प्रयोजन में भेद है : भौवादिक का ङित्त्व आत्मनेपद के लिए उपदिष्ट है । इङादेश में आत्मनेपद तो इङ् के ङित्त्व के स्थानिवद्भाव से हो जाता है । तब इसको रखने का उद्देश्य 'अन्यप्रयोजनक ङकारवान सूत्रपाठोक्त 'गाङ्' का ही ग्रहण हो, धातुपाठोक्त का नहीं', यह सिद्ध करना है । अतः यह इङादेश ही लिया जाता है, प्रस्तुत **गाङ् गतौ** नहीं ।

औषीष्ट, औष्ट। ङवते; ञुङुवे; ङोता। 8 च्युङ्, 9 ज्युङ्, 10 प्रुङ्, 11 प्लुङ् गतौ ॥ 5 ॥ 'क्लुङ्' इत्येके। 12 रुङ् गति-रेषणयोः ॥ 6 ॥ रेषणं=हिंसा। रुरुवे; रवितासे।

8 √च्यु, 9 √ज्यु, 10 √प्रु, 11 प्लु गति अर्थ में हैं ॥ 5 ॥ कुछ लोग √क्लु मानते हैं। 12 √रु गति और रेषण में है ॥ 6 ॥ रेषण माने हिंसा है। रुरुवे; रवितासे।

निघंटु (2.14, दोनों पाठों) में यह 'कवते' के पश्चात् समाम्नात है। दीक्षितजी ने इन मतों को मिला दिया है।

ऊवे—उ+उ+ए, अंतरंग सवर्णदीर्घ को **वार्णादाङ्गं बलीयः** (प० 56) से बाध कर पहले **अचि श्नु०** से उवङ् : उ+उव्+ए, सर्वणदीर्घ, ऊवे। ञुङुवे—**कुहोश्चुः** से ङ् को ञ। ये सब अनुरणनात्मक धातु हैं।

8 √**च्यु**, 9 √**ज्यु**, 10 √**प्रु** तथा 11 √**प्लु** गति अर्थ में हैं। √**च्यु** गिरना, छूटना अर्थ में (अकर्मक), तथा गिराना अर्थ में (सकर्मक) है। **यो अच्युत-च्युत्** (ऋ० 2.12.9) और **हन्नच्युतच्युद् दस्मेषयन्तम्** (ऋ० 6.18.5) में यह एक-साथ दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। √**प्लु** उछल-उछल कर चलना (अकर्मक), तैरना (अकर्मक तथा सकर्मक) अर्थों में है। **पुप्लुवे गगनार्णवम्**। √च्यु, √प्रु और √प्लु निघंटु (बृहत्पाठ 2.14.26, 24-25) में गत्यर्थकों में समाम्नात हैं। कई आचार्य यहाँ **क्लुङ्** भी मानते हैं, तथा अन्य लोग **क्रुङ्**। क्षीरस्वामी ने **च्युङ्** के बाद **छ्युङ्** भी दी है। नंदी ने **ज्युङ्** की जगह **जुङ्** दी है। इस पर सायण का कहना है कि काशिका, न्यास तथा पद-मंजरी आदि प्रामाणिक ग्रंथों में √जु को **जु-चङ्क्रम्य-दन्द्रम्य-सृ-गृधि-ज्वल-शुच-लष-पत-पदः** (3.2.150) में पठित (सौत्र) माना है[1], अतः धातु-पाठ में यह अनार्ष-सी प्रतीत होती है।

12 √रु गति तथा रेषण अर्थ में है। 'रेषण' शब्द √रिष् (हिंसा) से है। अतः यहाँ 'रेषण' हिंसा का पर्याय है। किंतु क्षी० त० में इसका अर्थ 'हिंसा-शब्द' (मार-काट की आवाज़) किया है। देव ने इसका अर्थ 'शब्दन' किया है। भट्टमल्ल और पुरुषकार ने 'रेषण' का अर्थ भेड़िये की बोली किया है।[2] √दीक्षितजी ने इसे सेट् माना

---

1 का० 3.2.150 : **'जु' इति सौत्रो धातुः—जवनः**। न्यास : **'जवन' इति—'जु' सौत्रो धातुः। 'गतौ वर्तत' इत्येके। 'विशेषहेतौ वेग' इत्यपरे**। प० म० में न्यास का ही अनुवाद किया गया है।

2. आ० चं० 1.5.3, श्लोक 132 : **रिणाति, रेषते वार्के**। दैवम्, पृष्ठ 28 (क्षी० त०, पृष्ठ 146, टि० 5, में '32' गलती से छपा लगता है) **'रवते रौति शब्दने'** (श्लोक 23) पर पुरुषकार : **'रुङ् गति-रेषणयोः'—अत्र च रेषणस्य वृक-शब्दत्वाच्**

13 धृङ् अवध्वंसने ॥ 7 ॥ धरते; दध्रे।

14 मेङ् प्रणिदाने ॥ 8 ॥ प्रणिदानं=(i) विनिमयः, (ii) प्रत्यर्पणं च। प्रणिमयते—'नेर्गद०' (2285) इति णत्वम्, तत्र 'घु-प्रकृति-माङ्' इति पठित्वा

13 √धृ नष्ट होना/करना अर्थ में है ॥ 7 ॥ धरते; दध्रे।

14 √मे प्रणिदान अर्थ में है ॥ 8 ॥ प्रणिदान माने (i) अदला-बदली करना और (ii) लौटाना है। प्रणिमयते—'नेर्गद०' (2285) से णकारादेश होता है; क्योंकि उस सूत्र में ('घु-मा' से) 'घु-प्रकृति माङ्' कह कर ङित् 'मा' (माङ्) स्वरूप

है, किंतु वस्तुतः यह अनिट् ही है।[1] प्रयोग की दृष्टि से यह धातु गौण ही है। आदादिक √**रु शब्दे** ऋग्वेद-काल से ही प्रयोग में मिलती है। रवते, रवेते, रवन्ते। रुरुवे, रुरुवाते, रुरुविरे। दीक्षित जी के मत में रविता, रविष्यते, अन्यथा रोता, रोष्यते; रवताम्, अरवत, रवेत; रोषीष्ट; अरोष्ट, अरोषाताम्, अरोषत; अरोष्ठाः, अरोषाथाम्, अरोष्वम्; अरोषि, अरोष्वहि, अरोष्महि; अरोष्यत। रव, आरव, आराव आदि **रु शब्दे** (अदा०) के हैं। हमारे विचार में भौवादिक अनिट् है : रोतासे। तथा आदादिक सेट् है : रवितासि।

13 √**धृ** देव, सायण, क्षी० त० के (मुद्रित पाठ के) अनुसार 'अवध्वंसन' अर्थ में है। पुरुषकार द्वारा (पृष्ठ 33 पर) उद्धृत क्षीर-स्वामी का पाठ 'अविध्वंसन' है। अवध्वंसन=छोड़ना, नष्ट करना/होना, गिरना है तथा अविध्वंसन का अर्थ टिकना, स्थिर होना है। यह अवस्थान (टिकना) अर्थ में तुदादि में है। अतः यहाँ 'अविध्वंसन' अर्थ ही संगत प्रतीत होता है। धरते, धरेते, धरन्ते।

14 √**मे** (i) विनिमय (अदलाबदली) करना तथा (ii) लौटाना (क्षी०स्वा०) अर्थ में है। मयते, मयेते। प्र+नि+मयते, **नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा०** (2285) से न् को ण् : प्रणिमयते। **नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा०** (8.4.17) में 'मा' से केवल प्रतिपदोक्त 'मा' स्वरूप वाली धातुएँ ही नहीं, अपितु लाक्षणिक रूप से 'मा' बन जाने वाली धातुएँ भी अभिप्रेत हैं। इसी आशय से **दा-धा-घ्वदाप्** (1.1.20) सूत्र पर भाष्य में पतंजलि ने **घु-प्रकृति-माङ्** संशोधन दे कर 'प्रकृति' शब्द का संबंध 'घु' और 'माङ्' से कर के मेङ् को भी णत्व-विधि में गृहीत किया है। 'माङ्-प्रकृति' कहने से **डुमिञ् प्रक्षेपणे** (स्वा०), **मीञ् हिंसायाम्** (क्र्या०) का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि ये मा-प्रकृति ('मा'

शब्दने 'इत्येकं† नेतव्यम्। †यु० मी० ने 'एकं का अर्थ **रुङ्धातुम्** किया है। पर द्वितीयान्त यह पद **'नेतव्यम्** का कर्म कैसे हो सकता है? अतः **'इत्येवं'** पाठ शायद हो।

1. विवरणार्थ अनिट्कारिका 1 का विवरण, पृष्ठ 203, टि० 2 में देखिये।

ङितो मा-प्रकृतेरपि ग्रहणस्येष्टत्वात्। 15 देङ् रक्षणे ॥ 9 ॥ दयते। 2388 दयतेर्दिगि लिटि (7.4.9)। 'दिग्यादेशेन द्वित्व-बाधनमिष्यते।' इति वाली धातु को भी लिया जाना (भाष्य-कार को) अभीष्ट है। 15 √दे रक्षा करना अर्थ में है ॥ 9 ॥ 2388 √दय् को 'दिगि' (आदेश हो) लिट् में। 'दिगि' आदेश करने

स्वरूप वाली) हैं, माङ्-प्रकृति ('माङ्' स्वरूप वाली) नहीं हैं।[1] अतः **नेर्गद०** (2285) सूत्र में प्रकृत **मेङ्** का, **माङ् शब्दे च** (जु०) का तथा **माङ् माने** (दि०) का ग्रहण होता है।

15 √**दे** रक्षा करना अर्थ में सकर्मक है। दयते, दयेते, दयन्ते।

2388 **दयतेर्दिगि लिटि** (7.4.9)—नित्यं छन्दसि (8), अङ्गस्य (6.4.1)। 'दयति' से √देङ् का ही ग्रहण होता है। √दय् का नहीं, क्योंकि उससे परे लिट् को **दयायासश्च** (2324) से आम् विहित है। 'दिगि' अविभक्तिक निर्देश है। **अनेकाल् शित् सर्वस्य** से समूचे अंग को 'दिगि' आदेश होगा। दयतेः अङ्गस्य (सर्वस्य) दिगि (आदेशः) नित्यम् (भवति) लिटि—'देङ्' के समूचे अंग को नित्य 'दिगि' आदेश होता है लिट् में।

भाष्यकार तथा काशिकाकार ने 'दिगि' आदेश करके द्विर्वचन नहीं किया जाता, ऐसा माना है। इस पर हेतु देते हुए आचार्य जिनेंद्रबुद्धि ने कहा है कि **दिग्यादेशेन द्विर्वचनस्य बाधनम्** यह इष्टि **नित्यं छन्दसि** (7.4.8) से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति से सिद्ध होती है। क्योंकि यह प्रकरण विभाषा का तो है नहीं, जो उसकी निवृत्ति के लिए 'नित्यम्' शब्द दिया हो। अतः लिट् परे रहते जो अन्य कार्य प्राप्त होते हैं, उनको निवृत्त करना ही 'नित्यम्' का प्रयोजन है।

सूत्र की योजना इस प्रकार होगी : लिट् को पर निमित्त मान कर प्राप्त होने वाले कार्यों में 'दिगि' आदेश ही (नित्य) होता है, अन्य कार्य नहीं। यण् आदेश लिट् को पर निमित्त मानकर नहीं होता। अतः वह प्रस्तुत निषेध का विषय नहीं है।

ज्ञानेंद्रसरस्वती ने अन्य प्रकार दिया है : देङ् धातु से लिट् परे रहते द्वित्व तथा दिगि आदेश प्राप्त हुए। 'दिगि' आदेश के विशेष रूप से विहित होने से द्वित्व-शास्त्र बाधित होता है। **चक्षिङः ख्याञ्** (2.4.54) तथा **ख्यायः पी** (6.1.28) सूत्रों में

---

1. भाष्य 1.1.20, पृष्ठ 241 : अवश्यं तत्र माङयं 'प्रकृति'-ग्रहणं कर्तव्यम्—प्रणिमयते, प्रण्यमयतेत्येवमर्थम्। ···यथैव तर्हि अकिरमाणे 'प्रकृति'-ग्रहण आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञायते, एवं किरमाणेऽपि 'प्रकृति'-ग्रहण आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञास्यते।

वृत्तिः । दिग्ये । 2389 स्था-घ्वोरिच्च (1.2.17)—अनयोः (i) इदादेशः स्यात्; (ii) सिच्च कित् स्यात्[1] । अदित, अदिथाः, अदिषि ।

से द्वित्व को बाधना अभीष्ट है, यह काशिका में कहा है। दिग्ये । 2389 √स्था और घु (-संज्ञक धातुओं) को (i) ह्रस्व इ आदेश हो, तथा (ii) (उनके बाद स्थित) सिच् कित् हो । अदित, अदिथाः, अदिषि ।

ऐसा नहीं होता; क्योंकि यहाँ 'लिटि' में विषय-सप्तमी मान कर लिट् की उत्पत्ति से पहले ही 'ख्यान्' तथा 'पी' आदेश हो जाते हैं; जबकि प्रस्तुत सूत्र में उदाहरण के अनुरोध से पर-सप्तमी ही है, विषय-सप्तमी नहीं। 'दयति' को लिट् में द्वित्व प्राप्त होने पर उसे परत्वाद् बाध कर 'दिगि' आदेश होता है, यह नहीं कहा है। क्योंकि जब दोनों सूत्र अन्य उदाहरणों में सावकाश हों, तभी पर-सूत्र बलवान् होता है। यहां तो 'दिगि' आदेश के बिना द्वित्व तो सावकाश है, परंतु द्वित्व के बिना 'दिगि' आदेश सावकाश नहीं है।

दिग्ये—दे+ए, **आदेच उपदेशेऽशिति** को बाध कर **दयतेर्दिगि लिटि** से 'दिगि' आदेश : दिगि+ए। 'नित्यम्' के ग्रहण से द्विर्वचन नहीं होता। **एरनेकाचोऽसंयोग-पूर्वस्य** से यण् : दिग्ये। दिग्याते, दिग्यिरे, दिग्यिषे—अनेकाच् होने से **एकाच उपदेशे०** की प्राप्ति नहीं है।

2389 **स्था-घ्वोरिच्च** (1.2.17)—असंयोगाल्लिट् कित् (5), हनः सिच् (14)। **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा उपस्थित होती है : स्था-घ्वोः (i) अन्त्यस्य अलः इत् आदेशः, (ii) सिच् कित् च भवति—**ष्ठा गतिनिवृत्तौ** (भ्वा०) धातु के तथा 'घु'-संज्ञक धातुओं के (i) अंत्य अल् को इत् आदेश होता है, (ii) और इनका सिच् कित् होता है।

यहाँ काशिका में **लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु** (11) से 'आत्मनेपदेषु' की भी अनुवृत्ति की है, पर परस्मैपद में **गाति-स्था-घु-पा०** से सिच् का लोप होने के कारण 'आत्मनेपदेषु' न देने पर भी इस सूत्र की प्राप्ति नहीं होती। अतः 'आत्मनेपदेषु' की अनुवृत्ति करना निष्प्रयोजन है।[2] और निर्णयसागर सं० का **तङि** पाठ अनुचित है।

घु-मा-स्था-गा-पा० से ईत् की प्राप्ति में विशेष सूत्र बनाने से सिद्ध होता है कि सूत्रकार को यहाँ दीर्घ ई करना अभीष्ट नहीं है। और **प्लुतश्च विषये स्मृतः**

---

1. निर्णयसागर सं० में यहाँ **तङि** भी है। पर यह त० बो० और वा० म० के **'लिङ्-सिचौ०' इति सूत्राद् 'आत्मनेपदेषु' इति नानुवर्तितम्** कथन के विपरीत है।
2. त० बो० : **इह लिङ्-सिचौ०'** (1.2.11) **इति सूत्रादात्मनेपदेष्विति नानुवर्तितम्। परस्मैपदेषु 'गाति-स्था०' इति लुकः प्रवृतेर्व्यावर्त्यालाभात्।** वा० म० भी देखें।

16 श्यैङ् गतौ ॥ 10 ॥ श्यायते; शश्ये । 17 प्यैङ् वृद्धौ ॥ 11 ॥ प्यायते; पप्ये; प्याता । 18 त्रैङ् पालने ॥ 12 ॥ त्रायते; तत्रे ।

19 पूङ् पवने ॥ 13 ॥ पवते; पुपुवे; पविता । 20 मूङ् बन्धने ॥ 14 ॥ मवते ।

16 √श्यै गति अर्थ में है ॥ 10 ॥ 17 √प्यै बढ़ना अर्थ में है ॥ 11 ॥ 18 √त्रै रक्षा करने में है ॥ 12 ॥

19 √पू बहने, पवित्र करने में है ॥ 14 ॥ 20 √मू बाँधने में है ॥ 14 ॥

(यानी प्लुत अपने विषय में ही—जहाँ प्लुत का विधान किया हो, वहीं—होता है) यह व्याकरण तंत्र में प्रसिद्ध होने से यहाँ प्लुत भी प्राप्त नहीं है । अतः **स्था-घ्वोरिच्च** सूत्र के 'इत्' में तपरकरण व्यर्थ है । (—त० बो०) ।

यहाँ सिच् की कित्संज्ञा करने का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है । क्योंकि ह्रस्व इकार करने से ही ह्रस्व-विधान-सामर्थ्यात् गुण की निवृत्ति हो सकती है । न्यासकार का इस प्रश्न पर कहना है कि 'इत्' का प्रयोजन गुण-निवृत्ति नहीं है, अपितु उच्चारण में लाघव है । अतः कित् करना गुण का निषेधक होने से सार्थक है । पर यह युक्ति दुर्बल है ।

अदित—अ+दे+स्+त । **आदेच उपदेशेऽशिति** से आकार, 'घु' संज्ञा, **स्था-घ्वोरिच्च** से √दा के अन्त्य अल् आ को इ : अ+दि+स्+त, **ह्रस्वादङ्गात्** से सिच् का लुक्, 'त' **सार्वधातुकमपित्** से ङित् है, अतः पूर्ववर्ती 'इ' को गुण नहीं होता । **अदिषाताम्**—झल्परक न होने से सिज्लुक् नहीं होता; सिच् कित् है, अतः गुण का निषेध । अदिषत; **अदिथाः**—**ह्रस्वादङ्गात्** से स् का लोप; अदिषाथाम्; अदिढ्वम्—**धि चि** से स् का लोप होने पर **इणः षीध्वं-लुङ्-लिटां धोऽङ्गात्** से ध् को ढ् । अदिषि, अदिष्वहि, अदिष्महि ।

16 √**श्यै** गति में (सकर्मक अनिट्) है । श्यायते; शश्ये, शश्यिषे—क्रादि-नियम से इट् । श्याता, अश्यास्त । 17 √**प्यै** बढ़ना, मोटा होना अर्थ में (अकर्मक अनिट्) है । प्यायते; पप्ये । शेष √श्यै की तरह । 18 √**त्रै** रक्षा करना, बचाना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । लोक में 'त्राहि माम्', 'त्राहि माम्' आदि (परस्मैपद वाले) प्रयोग अशुद्ध हैं । त्रायते; तत्रे; त्राता; त्रास्यते; त्रायताम्; अत्रायत; त्रायेत; त्रासीष्ट; अत्रास्त; त्राणम् । 19 √**पू** पवित्र करना, नीरज (शुद्ध) करना, छानना, बहाना अर्थ में (सकर्मक) और छनना, बहना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) है । पुपुवे; पविता; पविषीष्ट; अपविष्ट । यह निघंटु (2.14.108) में 'गति' अर्थ में पठित है । **भीषाऽस्माद् वातः पवते** (तैत्तिरीयोपनिषद् 2.8.1) । पवमान छन कर बहता (सोम) । **इन्द्राय पवते सुतः** (ऋ० 9.106.2) । यह श्ना विकरण के साथ केवल पवित्र करना,

21 डीङ् विहायसा गतौ ॥ 15 ॥ डयते; डिड्ये; डयिता ॥ 89 ॥

31.1 तॄ प्लवन-तरणयोः ॥ 1 ॥ 2390 ऋत इद् धातोः (7.1.100)—ऋदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात्। इत्वोत्वाभ्यां गुण-वृद्धी विप्रतिषेधेन (वा०)। तरति—'ऋच्छत्यृताम्' (2383) इति गुणः। 'तॄ-फल०' (2301) इत्ये-

21 √डी उड़ने में है ॥ 15 ॥ डयते; डिड्ये; डयिता ॥ 89 ॥

धातु-वर्ग 31 : स्वरांत परस्मैपदी सेट् एक धातु

31.1 √तॄ तैरना, पार करना अर्थों में है ॥ 1 ॥ 2390 अंत में दीर्घ ऋकार वाली धातु के अंग को ह्रस्व इकार हो। गुण और वृद्धि ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से तुल्य-बल-विरोध में भी हो जाते हैं (वा०)—तरति—ऋच्छत्यृताम्' (2383) से गुण होता है। 'तॄ-फल०' (2301) से एत्व (तथा अभ्यास-लोप) होता

पवित्र होना, छनना, छानना अर्थ में प्रयुक्त होता है। **प्र पुनानाय वेधसे सोमाय** (ऋ० 9.103.1)।

20 √मू बाँधना अर्थ में (सकर्मक सेट्) है। पिघली हुई वस्तु को आकार-विशेष में बाँधने से 'मूषा' साँचा है।

21 √डी उड़ना, आकाश में जाना अर्थ में (अकर्मक सेट्) है। डयते; डिड्ये, डयिता; डयिष्यते; डयताम्; अडयत; डयेत; डयिषीष्ट; अडयिष्ट; अडयिष्यत। डयनम्=डैना, पाँख। उड़ना अर्थ में प्रायः यह 'उद्' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होता है: उड्डयते; उड्डीनम्=खास तरह की उड़ान। यास्क ने निरुक्त (4.17) में 'दयमान' की व्याख्या 'डयमान' से की है। उद्+√डी=उड्डी हिन्दी में √उड़ के रूप में है।

धातु-योग : गत धातुएँ 912, वर्तमान 21, योग 933 ॥ 89 ॥

31.1 √तॄ तैरना, पार करना अर्थों में (सकर्मक सेट्) है। तुलनीय **प्लवे तरत्युत्तरणे** (आ० चं० 3.3.130)। क्षीरस्वामी ने 'प्लवन' का अर्थ 'मज्जन' (डुबकी लगाना) माना है।

2390 **ऋत इद्धातोः** (7.1.100)—अङ्गस्य (6.4.1)। 'ऋतः' में तदंतविधि : ऋदन्तस्य धातोः अङ्गस्य (अलोऽन्त्यस्य) इत्—दीर्घ-ऋकारान्त धातु के अंतिम अल् को इत् आदेश होता है। 'पितॄणाम्' आदि में इत्त्व रोकने के लिए 'धातोः' दिया है।

तरति—√तॄ+अ+ति। **सार्वधातुकार्ध०** से गुण तथा **'ऋत इद् धातोः** से इत्त्व प्राप्त हुए, **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से गुण प्राप्त हुआ, पर अल्पापेक्षित्वाद् **ऋत इद्धातोः** के अंतरंग होने से इत् ही प्राप्त हुआ। तब **इत्वोत्वाभ्यां०** वार्तिक से इत्त्व को बाध कर गुण ही होता है।

ततार—**ऋच्छत्यृताम्** से गुण, **अत उपधायाः** से अभ्यासोत्तर उपधा के गुण-

त्वम्—तेरतुः, तेरुः । 2391 वृतो वा (7.2.38)—वृङ्-वृञ्भ्याम्, ऋदन्ताच्च इटो दीर्घो वा स्यात्, न तु लिटि । तरिता, तरीता । 'अलिटि' इति किम् ? तेरिथ । 'हलि च' (8.2.77) इति दीर्घः—तीर्यात् । 2392 सिचि च परस्मैपदेषु (7.2.40)—अत्र वृत इटो दीर्घो न । अतारिष्टाम् ॥ 90 ॥

है—तेरतुः, तेरुः । 2391 (i) वृङ्, (ii) वृञ् और (iii) अंत में दीर्घ ऋकार वाली धातु के बाद स्थित इट् को दीर्घ विकल्प से हो, किन्तु लिट् में नहीं । तरिता, तरीता । 'लिट् में नहीं' क्यों कहा ? तेरिथ । 'हलि च' (8.2.77) से दीर्घ होता है—तीर्यात् । 2392 बाद में परस्मैपद से युक्त सिच् होने पर (i) वृङ् (ii) वृञ् और (iii) अंत में दीर्घ ऋकार वाली धातु के पश्चात् दीर्घ नहीं होता । अतारिष्टाम् ॥ 90 ॥

भावित 'अ' को वृद्धि । **तेरतुः**—√तॄ+अतुस्, सार्वधातुक गुण का कित्त्वाद् निषेध । **ऋच्छत्यृताम्** से गुण : तर्+अतुस् । द्वित्वादि, **अत एक-हल्मध्ये०** से प्राप्त एत्त्वाभ्यास-लोप का **न शस-ददः०** से निषेध, **तॄ-फल-भज-त्रपश्च** से एत्त्वाभ्यासलोप : तेरतुः । इसी प्रकार तेरुः; तेरिथ, तेरथुः, तेर; ततार, ततर, तेरिव, तेरिम ।

2391 वृतो वा (7.2.38)—आर्धधातुकस्येड् वलादेः (35), ग्रहो लिटि दीर्घः (37), वा[1] च ऋच्चेति वृत् (वृ+ऋत्, सवर्णदीर्घ), समाहार द्वंद्व । वृतः (5.1) । 'दीर्घः' शब्द से **अचश्च** (1.2.28) से 'अचः' (6.1) पद आता है । यहाँ दीर्घ अच्रूप इट् को ही होना है, अतः 'इट्' षष्ठ्यंत ('इटः') में विपरिणत हो जाता है : 'वृतोऽङ्गात् परस्य इटः दीर्घः वा (भवति), न तु लिटि—**वृङ् सम्भक्तौ** (क्र्या०), **वृञ् वरणे** (स्वा०), **वृञ् आवरणे** (चु०) तथा दीर्घ ऋकारांत अंग से परे इट् को वा दीर्घ होता है, लिट् में नहीं ।

तरिता, तरीता—√तॄ+इ+ता । **इत्वोत्वाभ्यां गुण-वृद्धी** से **ऋत इद्धातोः** को बाध कर गुण : तर्+इ+ता, **वृतो वा** से इ को वा दीर्घ । तरिष्यति, तरीष्यति; आशीर्लिङ् में तीर्यात्—यासुट् के ङित् होने से गुण का निषेध होने पर **ऋत इद् धातोः** से ऋ को इत्, **उरण् र-परः** से उसके बाद 'र्' जुड़ता है : तिर्+यात्, **हलि च** से दीर्घ : तीर्यात् । लुङ् में अतारीत् । अतारिष्+ताम्, **वृतो वा** से विकल्प से दीर्घ प्राप्त होने पर **सिचि च परस्मैपदेषु** (2392) से उसका निषेध होता है : अतारिष्टाम् । अतारिषुः । अतरिष्यत्, अतरीष्यत् ।

2392 सिचि च परस्मैपदेषु (7.2.40)—न लिङि (39); शेष अनुवृत्ति (2391) **वृतो वा** में जैसे होती है, वैसे ही यहाँ भी होती है : परस्मैपदेषु सिचि वृत

---

1. डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी जी : अथवा शब्द-स्वरूप-परक मानकर 'वृ च' भी होगा ।

32 अथाष्टावनुदात्तेतः—

धातुवर्ग 32 : आठ आत्मनेपदी : क. स्वार्थे सन्नंत 4 धातुएं

32 अब आठ आत्मनेपदी हैं—

इटो दीर्घो न—परस्मैपद-परक सिच् बाद में रहते वृङ्, द्विविध वृञ् तथा दीर्घ ऋकारांत अंग से परे स्थित इट् को दीर्घ नहीं होता।

धातु-योग : गत धातु 933, वर्तमान 1, योग 934 ॥ 90 ॥

सन्दर्भ : धातु-पाठ के (1) श्रीधर शास्त्री और सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव के भाण्डारकर, (2) लक्ष्मण शर्मा पणशीकर के निर्णयसागर और (3) शंकरराम शास्त्री के मैलापुर, संस्करणों के पाठ में **गुप गोपने** आदि चार धातुओं का एक पृथक् (37वां) वर्ग दिया है।[1] क्षीरतरङ्गिणी में इन्हें अगली चार धातुओं से मिलाकर आठ धातुओं के एक वर्ग के रूप में दिया है।[2] सायणं ने इन चार को पहले देकर अगली √रभ् आदि चार धातुओं का एक वर्ग दिया है।[3]

(1) तीनों संस्करणों में इन्हें उदात्त (सेट्) कहा है। (2) क्षीरस्वामी ने अनिट् बताया है। (3) सायण इस बारे में मौन हैं। ये धातु भाष्य में गद्य में तथा काशिकोदाहृत व्याघ्रभूति की कारिकाओं में अनुदात्त के रूप में पठित नहीं हैं। सम्भवतः इसी लिए श्रीधर शास्त्री आदि ने इन्हें **उदात्त** बताया है। क्षीरस्वामी का इन्हें अनिट् कहना तो उचित नहीं है। दीक्षितजी ने इनकी सेट्ता या अनिट्ता की चर्चा नहीं की है। किंतु उन्होंने इन्हें नित्यसन्नन्त माना है। ऐसी स्थिति में सन् के अभाव में शुद्ध धातु का प्रयोग न होने से इट् की प्राप्ति का अवसर ही नहीं है। सन् 'धातु से' (**धातोः**) कहकर विहित नहीं है। अतः उसके निमित्त से भी इट् प्राप्त नहीं है। इस लिए दीक्षितजी के पक्ष में इनकी उदात्तता निष्प्रयोजन है। प्राप्ति का ही निषेध होने से प्राप्ति के ही अभाव में अनुदात्तता भी निष्प्रयोजन है। अतः वस्तुतः तो इनका तथा स्वार्थे सन्नन्त शेष धातुओं का निर्देश √कित् के समान[4] केवल पद-प्रयोजनक अनुबन्ध से ही होना चाहिए। हरदत्त आदि आचार्यों ने इनके अनुदात्तेत्त्व की ही चर्चा की है। हाँ, अनिट् इस दृष्टि से हो सकते हैं कि इनसे इट् प्राप्त ही नहीं है।[5]

---

1. **गुपादयश्चत्वार उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषाः।**
2. **क्षी० त० : गुप गोपने। इतो हदान्ता अष्टावनिट आत्मनेपदिनश्च।**
3. **मा० धा० वृ० : गुपादयश्चत्वार एतेऽनुदात्तेतः। रभ राभस्ये। ···एतदादयो हदेत्यन्ता अनुदात्तेतः।**
4. धातु-पाठ : **कित निवासे···उदात्तेत् परस्मैभाषः।**
5. पर इस दृष्टि से निर्देश नहीं किए जाते।

1 गुप गोपने ॥ 1 ॥ 2 तिज निशाने ॥ 2 ॥ 3 मान पूजायाम् ॥ 3 ॥ 4 बध बन्धने ॥ 4 ॥ 2393 गुप्-तिज्-किद्भ्यः सन् (3.1.5); 2394 मान्-

1 √गुप् छुपाने में है ॥ 1 ॥ 2 √तिज् तीखा करने में है ॥ 2 ॥ 3 √मान् सत्कार करने में है ॥ 3 ॥ 4 √बध् बाँधने में है ॥ 4 ॥ 2393 गुप्,

---

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् से निषेध की दृष्टि से नहीं। इस लिए दीक्षितजी ने इनके पद की समानता की दृष्टि से इन्हें अगले वर्ग की धातुओं से मिलाकर दिया है।

1 √**गुप्** गोपन (छुपाना) अर्थ में सेट् है। मैत्रेय-रक्षित ने 'कुत्सन' अर्थ में भी माना है। काशिका (3.1.5) में 'गोपन' अर्थ ही उद्धृत है। क्षी०त० और मा०धा०वृ० में भी यही है। 'गोपन' शब्द **गुपू रक्षणे** से आयाभाव में निष्पन्न है, इससे तो सन् नित्य होने से 'जुगुप्सन' रूप बनता है। छुपाना कुत्सित का होता है। अतः √जुगुप्स का अर्थ 'गोपन' कुत्सा, निन्दा में पर्यवसित हो गया है। 2 √**तिज्** तेज करना, तीखा करना अर्थ में सेट् है। 3 √**मान्** मान करना, संमान करना, मानना, अर्थ में (सक०, सेट्) है। 4 √**बध्** बाँधना अर्थ में (सकर्मक, सेट्) है। आचार्य क्षीरस्वामी इन धातुओं को अनिट् मानते हैं। पर अनुदात्तपरिगणक कारिकाओं में पठित न होने से यह उचित नहीं है।[1]

2393 गुप्तिज्किद्भ्यः सन् (3.1.5), 2394 मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य (6)—प्रत्ययः (1), परश्च (2), आद्युदात्तश्च (3)।

गुप्तिज्० आदि दोनों सूत्रों में कही 7 धातुओं में से चार √गुप्, √तिज्, √मान्, √बध् धातु भ्वादि तथा अन्य गणों में भी आई हैं और √कित्, √दान् √शान् भ्वादि में ही हैं। अतः √कित् और √दान्, √शान् के साहचर्य से दोनों सूत्रों में भौवादिक धातु ही अभिप्रेत हैं, अन्य-गणस्थ नहीं। √गुप् से 'गुपू' का ग्रहण उसे **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** से आय प्रत्यय विहित होने से नहीं होगा। अथवा अनुदात्तेत् √तिज् के साहचर्य के कारण अनुदात्तेत् **गुप गोपने** ही ली जाएगी।[2]

'अभ्यासस्य' संधिच्छेद करने पर √मान् आदि के अवर्ण को **सन्यतः** से इत्त्व होने से पहले ही दीर्घ हो जाएगा। दीर्घ-विधानसामर्थ्यात् इत्त्व आदि कुछ भी नहीं लग सकेंगे। अतः यहाँ भाष्यकार ने 'आभ्यासस्य' पदच्छेद किया है: **अभ्यासस्य**

---

1. सन् **'धातोः'** कहकर विहित नहीं है, अतः उसके निमित्त से इट् के प्राप्त न होने से इन धातुओं को क्षी० स्वा० ने अनिट् कहा हो, तो बात दूसरी है।
2. प० म० : **'गुप व्याकुलत्वे'** (दि०,) **'गुपू रक्षणे'** (भ्वा०) **इत्येतयोस्तु ग्रहणं न भवति, तिजिना सह गणे पठितस्यानुदात्तेत एव गुपेरिहापि ग्रहणात्।**

बध-दान्-शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य (6)—सूत्र-द्वयोक्तेभ्यः सन् स्यात्, माना-दीनामभ्यासस्येकारस्य दीर्घश्च । गुपेर्निन्दायाम् । तिजेः क्षमायाम् ।

तिज् और कित् से सन् (होता) है; 2394 मान्, बध्, दान्, और शान् के अभ्यास को दीर्घ भी (होता है)। दोनों सूत्रों में बतलाई धातुओं से सन् होवे, मान् आदियों के अभ्यास के इकार को दीर्घ भी हो। (सन्) √गुप् से निन्दा अर्थ में (होता है)। √तिज् से क्षमा करने में। √कित् से रोग का इलाज करने, दण्ड देने,

---

विकार आभ्यासः, तस्य (म० भा० 3.1.6)। 'अभ्यास का विकार' कहने से यद्यपि **ह्रस्वः** से किया 'ह्रस्व' तथा **सन्यतः** से किया इत्त्व—दोनों ही—समझे जा सकते हैं, पर 'ह्रस्व' को तो दीर्घ विना तद्धित-निर्देश के—'अभ्यासस्य' कहने से—भी प्राप्त था ही। अतः तद्धित-निर्देश-सामर्थ्यात् अभ्यास के विकार के रूप में इत्त्व का ही ग्रहण होगा। **गुणो यङ लुकोः** (7.4.82) में भाष्यकर ने ही **मान्प्रभृतीनां दीर्घत्वमित्त्वस्य** में स्पष्ट ही इत्त्व को दीर्घ कहा भी है। सन् = स' में अकारका प्रयोजन न्यास और प० म० के अनुसार प्रति+इ+सन् = 'प्रतीषिषति' में द्वितीय एकाच् 'स' को द्वित्व करना है।

गुप्तिज्किद्भ्यः परः आद्युदात्तः सन्प्रत्ययः (भवति), मान्बधदानशान्भ्यः दीर्घश्च आभ्यासस्य भवति। **गुप गोपने** (भ्वा०), **तिज् निशाने** (भ्वा०), **कित निवासे रोगापनयने**[1] **च** (भ्वा०) से परे आद्युदात्त सन् प्रत्यय होता है। **दान खण्डने, शान तेजने, मान पूजा-याम्, बध बन्धने** (सब भ्वा०) से अभ्यास के विकारस्वरूप इकार को दीर्घ भी होता है। 'भी' कहने से 'सन् होता है', यह निगद-व्याख्यात है।

यद्यपि √गुप् आदि के 'गोपन' आदि अर्थ धातु-पाठ में निर्दिष्ट हैं तथा इन धातुओं से इनके अपने अर्थ में ही सन् विहित है। तथापि प्रयोग में इन सन्नंतों के निन्दा आदि अर्थ ही उपलब्ध होते हैं, गोपन आदि नहीं। इसे दृष्टि में रखकर आचार्य भागुरि ने इन लोक में उपलब्ध अथवा इष्ट अर्थों का कथन एक कारिका[2] में किया

---

1. का० (3.1.5) में धातु-सूत्र **'कित निवासे'** ही उद्धृत है। क्षी० त० और मा० धा० वृ० में **रोगापनयने** भी है।

2. मं० व्या० इ०, भाग 2, पृष्ठ 27, में उद्धृत शब्दशक्तिप्रकाशिका में धृत भागुरि की कारिका :

'गुपो बधेश्च निन्दायां, क्षमायां च† तथा तिजः।
प्रतीकाराद्यर्थकाच्च कितः स्वार्थे सनो विधिः॥' इति भागुरिस्मृतेः।

†सं० व्या० इ० के उपर्युक्त स्थल और भाग 1, पृष्ठ 98 में इस पाद में एक अक्षर कम है। **च** मैंने जोड़ा है।

कितेर्व्याधि-प्रतीकारे, निग्रहे, अपनयने, नाशने, संशये च । मानेर्जिज्ञासायाम् । बधेश्चित्त-विकारे । दानेरार्जवे । शानेर्निशाने ।

हटाने, नष्ट करने और सन्देह करने में । √मान् से जानने की इच्छा करने में । √बध् से मन में विकृति आने में । √दान् से सरल होने में । √शान् से तीखा करने में ।

था । काशिकाकार ने उसे संक्षिप्त करके इष्टि के रूप में दिया है ।[1] सिद्धान्त-कौमुदीकार ने काशिकोक्त अर्थ को पदमंजरी आदि के आधार पर पृथक् वाक्यों में प्रस्तुत करके दिया है । अतः ये वाक्य इष्टियां हैं, वार्तिक नहीं ।

√गुप् से निंदा अर्थ में, √तिज् से क्षमा अर्थ में √कित् से व्याधि का प्रतीकार करना (इलाज करना), पकड़ना, हटाना, नष्ट करना तथा संशय करना अर्थ में, √मान् से जिज्ञासा में, √बध् से चित्त के विकृत होने में, √दान् से सरलता करना अर्थ में, √शान् से तीखा करना, पैनाना, शान पर चढ़ाना अर्थ में सन् इष्ट है । 'चिकित्सा' से मुहावरे का 'इलाज करना' भी इष्ट है ।

यहाँ कुछ वक्तव्य है : सूत्रकार ने तीसरे अध्याय के आदि में **प्रत्ययः** आदि के अधिकार में प्रस्तुत सूत्र दिए हैं । इससे पूर्व 'विभाषा' का प्रकरण भी नहीं है । **मान्बध०** से अगले **धातोः कर्मणः समान-कर्तृकादिच्छायां वा** से विभाषाधिकार चालू होता है । इससे सिद्ध है कि सूत्रकार इस 'सन्' को नित्य मानते हैं । भाष्यकार ने भी **पूर्ववत्सनः** (1.3.62) पर **पूर्वस्यात्मनेपददर्शनात्सन्नन्तादात्मनेपदभाव इति चेद् ? गुपादिष्वप्रसिद्धिः** (आक्षेपवार्तिक) पर **न ह्येतेभ्यः प्राक् सन आत्मनेपदं, नापि परस्मैपदं पश्यामः** लिख कर गुपादियों की नित्यसन्नन्तता ही सूचित की है ।

काशिका तथा क्षीरतरंगिणी में 'निन्दा आदि अर्थों में सन् करने से इनसे भिन्न अर्थों में यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं', कह कर गोपयति, गोपते भी उदाहरण दिए हैं । न्यासकार का कहना[2] है कि **धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा** (3.1.7) से विहित 'वा' विधान इस सारे प्रकरण से सम्बद्ध है और वह व्यवस्थित-विभाषा है ।

---

1. काशिका 3.1.5, स्वामी द्वारिकादास स०, पृष्ठ 343 : **निन्दा-क्षमा-व्याधिप्रतीकारेषु सनिष्यते । अन्यत्र यथाप्राप्तं प्रत्यया भवन्ति । गोपयति, तेजयति, संकेतयति । 3.1.6, पृष्ठ 346 : अत्रापि सन्नर्थ-विशेष इष्यते—मानेर्जिज्ञासायाम्, बधेर्वैरूप्ये, दानेरार्जवे, शानेर्निशाने ।**
2. क्षी० त० 696 : **निन्दायामुत्पत्ति-चिकीर्षितम् । अन्यत्र गोपते ।** न्यास 3.1.5, पृष्ठ 343-344 : **कथं पुनर्निन्दाऽऽदिष्विष्यमाणो लभ्यते ? वक्ष्यमाणं 'वा'-ग्रहणं सर्वस्य शेषो विज्ञायते । सा च व्यवस्थित-विभाषा । तेन निन्दाऽऽदिषु नित्यं सन् भवति । अन्यत्र न भवति ।**

निन्दा आदि व्यवस्थित अर्थोपाधियों में ही √गुप् आदि से सन् नित्य होगा। अन्य अर्थों में नहीं।

सूत्र-भाष्यकारों के अनुसार नित्यसन्नन्तता द्योतित होने से यह उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त निंदा आदि में सन् होता है, गोपन आदि प्रतिपदोक्त अर्थ में नहीं, यह भी हेत्वाभास ही है। इन धातुओं का मूलार्थ गोपन आदि है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है (और न निंदा आदि में ही सन् विहित है, इसमें भी कोई प्रमाण है।) पाणिनि ने धातु-समाम्नाय में धातुओं का अर्थ-निर्देश नहीं किया था[1], पर सन् नित्य किया है। और इन सन्नंत प्रकृतियों के निंदा आदि अर्थ भाषा में पाणिनि से भी प्राचीन काल से चले आ रहे थे, इसमें उपलब्ध वाङ्मय प्रमाण है। भगवान् भाष्यकार ने भी इन सूत्रों पर भाष्य में अर्थ-निर्देश-परक कोई बात नहीं कही है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्र-कार तथा भाष्यकार को लोक-प्रसिद्ध निंदा आदि अर्थों में ही इन धातुओं से सन् इष्ट है, और सन् नित्य होने से धातुओं का भी गोपन आदि अर्थ-निर्देश अप्रामाणिक एवं भ्रम-हेतुक है। अतः **गुपेर्निन्दायाम्** आदि वचन **गुप्तिज्किद्भ्यः** आदि के पूरक नहीं हैं। इसलिए 'गोपयति', 'गोपते' आदि कहना पाणिनि तथा पतञ्जलि के विरुद्ध है।

इसके अलावा, काशिका, चौ० सं०, का 'गोपायति' उदाहरण न्यासादिव्याख्यात 'गोपयति' से विरोध के अतिरिक्त एक अन्य कारण से भी दोषयुक्त है : √गुप् से यदि आय की प्रकृति 'गुपू' को लेना है, तो सन्नभावपक्ष में ही इट् के प्रदेशों में ऊदित् होने से वा इट् होगा, या 'गुप' पाठ से प्राप्त नित्य इट् ? अनुबंध की सार्थकता तो काशिकाकार के मत में भी है ही। तब, ऊदनुबन्धक से अदनुबंधक का ग्रहण कैसे होगा ?

वास्तव में तो ये 'गोपयति', 'तेजयति', 'संकेतयति' के रूप में उद्धृत प्रकृतियाँ प्रस्तुत √गुप् आदियों से भिन्न, अनुबंधरहित, स्वतन्त्र प्रकृतियाँ हैं। √गुप् आदि तो नित्य-सन्नंत एवं निन्दा, क्षमा आदि अर्थ में स्वतंत्र ही हैं। किसी भी गण में इन्हें नहीं दिया जा सकता। **सिद्धं तु पूर्वस्य लिङ्गातिदेशात्** (भाष्योक्त समाधानवार्तिक) के अनुसार सन्नंतावस्था में आत्मनेपद करने के लिए अनुदात्तानुबंध पाठ आवश्यक था। अतः इनको भ्वादिरूप उत्सर्ग-गण में अनुदात्तेत् धातुओं में दिया है। नित्यसन्नंत होने से शुद्ध √गुप् से अनुबंध-करण-सामर्थ्यात् औपदेशिक अनुदात्तेत्त्व सन् में फलित होगा। अर्थात् सन्नंत से **पूर्ववत् सनः** से आत्मनेपद होगा। अतः क्षीरस्वामी के 'गोपते', 'तेजते' आदि उदाहरण शास्त्रविरुद्ध हैं। इसी प्रकार—मैत्रेय तथा नन्दी का निन्दादि

---

1. धातु-पाठ के अर्थ निर्देश की पाणिनीयता पर दो मत रहे हैं। दीक्षितजी ने अर्थ-निर्देश की पाणिनीयता के विपरीत पक्ष का आश्रय लिया है। यह कथन उसी दृष्टि से है। श्री यु० मी०, सं० व्या० इ०, भाग 2, पृष्ठ 51-62 देखें।

'सनाद्यन्ता०' (2304) इति धातुत्वम्। 2395 सन्यङोः (6.1.9)—सन्नन्तस्य, यङन्तस्य च प्रथमैकाचो द्वे स्तः, अजादेस्तु द्वितीयस्य। अभ्यास-कार्यम्।

गुपि-प्रभृतयः किद्-भिन्ना निन्दाऽऽद्यर्थका एवानुदात्तेतः; दान-शानौ तु स्वरितेतौ। एते नित्यं सन्नन्ताः। अर्थान्तरेषु त्वननुबन्धकाश्चुरादयः। अनुबन्धस्य केवलेऽचरितार्थत्वात् सन्नन्तात्तङ्। 'धातोः' इत्यविहितत्वात् सनोऽत्र

'सनाद्यन्ता धातवः' (2304) से 'धातु' संज्ञा होती है। 2395 अंत में सन् वाली, और अंत में यङ् वाली (धातु के) एक स्वर वाले पहले समुदाय को द्वित्व होता है, आदि में स्वर वाली धातु के तो दूसरे को। अभ्यास को होने वाला काम होता है।

√गुप् आदि √कित् से इतर[1] धातुएँ निन्दा आदि अर्थों वाली होते हुए ही आत्मनेपदी होती हैं। √दान् और √शान् तो उभय-पदी हैं। ये सब नित्य ही सन्प्रत्ययांत हैं। अन्य अर्थों में तो (ये) अनुबन्ध-रहित √चुर् आदि (में सम्मिलित) हो जाती हैं। अनुबंध शुद्ध अवस्था में तो अपना काम कर नहीं पाता है, अतः सन्प्रत्ययांत धातु से आत्मनेपद होता है। 'धातु से' ('धातोः) इस प्रकार विहित न होने के कारण

से भिन्न अर्थ में √गुप् आदि से सन्विरहितावस्था में कृत् प्रत्यय करना भी उचित नहीं है।[1]

2395 **सन्यङोः** (6.1.9)—एकाचो द्वे प्रथमस्य (1), अजादेर्द्वितीयस्य (2), लिटि धातोरनभ्यासस्य (8)। 'सन्यङोः' (6.2) पद 'धातोः' (6.1) का विशेषण है, अतः तदंतविधि : सन्नन्तस्य यङ्ङन्तस्य अनभ्यासस्य धातोः प्रथमस्य एकाचो द्वे भवतः, अजादेः (सन्नन्तस्य यङ्ङन्तस्य धातोः) द्वितीयस्य (एकाचः द्वे)—सन्प्रत्ययांत तथा यङ्-प्रत्ययांत अभ्यासरहित धातु के एक अच् वाले प्रथम समुदाय को द्वित्व होता है, अजादि सन्नंत तथा यङ्ङन्त अभ्यासरहित धातु के एक अच् वाले द्वितीय समुदाय को द्वित्व होता है।

---

1. प०म० 1.3.62, पृष्ठ 459 : **'गुप गोपने' इत्यस्य सन्विधौ ग्रहणम्। तस्माच्च नित्यः सनेव भवति, नापरः प्रत्ययः। गोपायतीत्यादिकस्तु प्रयोगो 'गुपू रक्षण' इत्यस्य। स चान्य एव। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्—अन्य एव सन्प्रकृतिस्तस्माच्च सनेव भवतीति। अन्यथा निन्दाया अन्यत्र यथा णिज्भवति, तथा लडादिरपि स्यात्। एवन्तिजिप्रभृतयोऽपि क्षमाद्यर्थे यत्र सन्निष्यते, तत्रानुदात्तेतो नित्य-सनन्ताश्च। क्षमादिभ्योऽन्यत्र तु यत्र णिजिष्यते, तत्राननुबन्धका एव चुरादौ पठितव्याः।**

मा० धा० वृ० में इस विषय में अच्छा विवेचन किया गया है।

नार्धधातुकत्वम्; तेन इड्-गुणौ न—जुगुप्सते; जुगुप्सांचक्रे; तितिक्षते; मीमांसते; भष्भावः, चर्त्वम्—बीभत्सते ॥ 91 ॥

यहाँ सन् की आर्धधातुक संज्ञा नहीं होती, इस लिये इट् और गुण नहीं होते—जुगुप्सते; जुगुप्सांचक्रे; तितिक्षते; मीमांसते; (आदि बकार को) भष् आदेश तथा (अंतिम ध्) को चर् आदेश होते हैं—बीभत्सते ॥ 91 ॥

जुगुप्सते—√गुप् से **गुप्तिज्किद्भ्यः सन्** से सन् : गुप्+सन्। **सन्यङोः** से √गुप् को द्वित्व : गुप्+गुप्+स। अभ्यासकार्य : जुगुप्+स। **सनाद्यन्ता धातवः** से 'जुगुप्स' की धातु संज्ञा, लट्, उपदेश में अनुदात्तेत् होने से **पूर्ववत्सनः** से आत्मनेपद त, शप् : जुगुप्स+अ+त। **अतो गुणे** से 'स' के 'अ' और शप् के 'अ' को पूर्वरूप एकादेश : जुगुप्स+त, टि को ए : जुगुप्सते।

तितिक्षते—√तिज् से **गुप्तिज्किद्भ्यः सन्** से स्वार्थे सन्, तिज्+स, द्वित्व, अभ्यास-कार्य : तितिज्+स, **चोः कुः** से ज् को ग्, **खरि च** से ग् को क् : तितिक्+स, **आदेश-प्रत्यययोः** से स को ष् : तितिक्+ष, 'क-ष-संयोगे क्षः' व्यवस्था से तितिक्ष, धातु-संज्ञा तथा विभक्ति-कार्य : तितिक्षते।

मीमांसते—√मान् से **मान्-बध-दान्०** से स्वार्थे सन् : मान्+स, द्वित्व : मान्+मान्+स, **हलादिः शेषः** से प्रथम मान् के न् का लोप : मा+मान्+स, **ह्रस्वः** से अभ्यास को ह्रस्व : म+मान्+स, **सन्यतः** से अभ्यास के अ को इ : मिमान्+स, **मान्बध-दान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य** से अभ्यास के विकार इ को दीर्घ : मी+मान्+स, **नश्चापदान्तस्य झलि** से न् को अनुस्वार : मीमांस, **सनाद्यन्ता धातवः** से धातुसंज्ञा के बाद लट्, **पूर्ववत् सनः** से आत्मनेपद त, शप् : मीमांस+अ+त, **अतो गुणे** से स के अ और शप् के अ, दोनों, को पररूप एकादेश : मीमांसत, **टित आत्मनेपदानां टेरे** से त की टि को ए : मीमांसते।

बीभत्सते—√बध् से **मान्बध०** से स्वार्थे सन् : बध्+स, **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** से ब् को भ् : भध्+स, **खरि च** से ध् को त् : भत्स, **पूर्वत्रासिद्धम्** से भष्भाव और चर्भाव असिद्ध हैं, अतः बध् को द्वित्व, अभ्यास-कार्य : बभत्स, **सन्यतः** से इत्त्व : बिभत्स, **मान्बध-दान्०** से इ को दीर्घ : बीभत्स, लडादि विभक्ति-कार्य : बीभत्सते।

सन् 'धातु से' ('धातोः') कह कर विहित नहीं है, अतः इसकी 'आर्धधातुक' संज्ञा न होने से इट् सब में तथा गुण √जुगुप्स और √तितिक्ष में प्राप्त नहीं हैं। जुगुप्सांचक्रे, तितिक्षांचक्रे, मीमांसाम्बभूव, बीभत्सामास; **जुगुप्सिता**—अनेकाच् होने के

---

1. √कित् परस्मैपदी है, अतः **'किद्-भिन्नाः'** (कित् से इतर) कहा है।

32.5 रभ राभस्ये ॥ 5 ॥ आरभते; आरेभे; रब्धा; रप्स्यते । 6 डुलभष् प्राप्तौ ॥ 6 ॥ लभते ।

धातुवर्ग 32 : ख. आत्मनेपदी, अनिट् 4 धातुएँ

32.5 √रभ् जल्द-बाजी करने में है ॥ 5 ॥ 6 √लभ् (इत्संज्ञक डु और ष् वाली) पाना अर्थ में है ॥ 6 ॥

कारण **एकाच उपदेशे०** से इण्निषेध की प्राप्ति ही नहीं है । अतः तास् के निमित्त से इट् । **जुगुप्सिषीष्ट, अजुगुप्सिष्ट**—स के इट् से पूर्व-वर्ती अकार का **अतो लोपः** से लोप होता है ।

32.5 √**रभ्** उपक्रम करना, शुरू करना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है । श्रीवासुदेव दीक्षित ने 'शीघ्रीभाव' (शीघ्र होना) तथा आङ् उपसर्ग के साथ 'प्रारम्भ' अर्थ कहा है । क्षीरस्वामी ने 'रभस्' का अर्थ 'बिना सोचे-समझे काम में जुटना', तथा उसके भाव ('राभस्य') का 'कार्योपक्रम' (कार्य शुरू करना) अर्थ कहा है ।

रब्धा—रभ्+ता, **झषस्त-थोर्धोऽधः** से त् को ध्, **झलां जश् झशि** से भ् को ब् । **अरब्ध**—**झलो झलि** से सिज्लोप; **अरप्साताम्**—**खरि च** । अरब्धाः ।

6 √**लभ्** (ङ्वित् और षित्) पाना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । लभते; लेभे; लब्धा; लप्स्यते; लप्सीष्ट; अलब्ध, अलप्साताम् । ङ्वित् होने से लब्धिमम् । लभा, सुलभा पित् होने से अङ् । लब्धिः लाभ । हिंदी √लह्, पं० √लभ् हैं ।

लभेश्च (7.1.64), **आङो यि** (65), **उपात्प्रशंसायाम्** (66), **उपसर्गात् खल्घञोः** (67), **न सु-दुर्भ्याङ्केवलाभ्याम्** (68), **विभाषा चिण्णमुलोः** (69) सूत्रों से √लभ् को तथा **रभेरशब्लिटोः** (63) से √रभ् को नुम् किया जाता है । पर साहित्य में इन सूत्रों के विषय में ही विना नुम् के रूप भी मिलते हैं । जैसे **आदिकाले यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालम्भाय क्रियन्ते स्म** (चरक, चिकि० 19.4) वाक्य में **लभेश्च** से तथा काशिका (7.1.65) में उद्धृत **'अग्निष्टोम आलभ्यः'**, इस छांदस वाक्य में **आङो यि** से प्राप्त होने पर भी नुम् नहीं किया गया है । काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड़ टीका में भी 'रभकः, रभः, रभमाणः, रभणीयम्, लभिः, लभनम्, लभकः, लभमानः' इत्यादि प्रयोगों में भी नुम् नहीं किया गया है । इस पर श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक का मत है[1] कि पाणिनि से पूर्व √रभ् तथा √रम्भ्, √लभ् तथा √लम्भ् पृथगर्थक, अन्योन्य-निरपेक्ष स्वतंत्र धातु थीं । संक्षेप-रुचि आचार्य ने एक ही धातु का समाम्नान करके दो भिन्न प्रकृतियों के रूप भी इस एक ही धातु से सिद्ध कर दिये हैं ।

√लभ् के परस्मैपद में भी प्रचुर प्रयोग उपलब्ध होते हैं । जैसे महाभारत

---

1. क्षीरतरंगिणी, पृष्ठ 151, टि० 1.

7 ष्वञ्ज परिष्वङ्गे ॥ 7 ॥ 2396 दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि (6.4.25), 2397 रञ्जेश्च (6.4.26)—एषां शपि न-लोपः। स्वजते। परिष्वजते। 'श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा' इति व्याकरणान्तरं 'देभतुः', 'सस्वजे' इति भाष्योदाहरणादेकदेशानुमत्या इहाप्याश्रीयते।

7 √स्वञ्ज् (षोपदेश) लिपटने में है ॥ 7 ॥ 2396-7 √दंश्, √सञ्ज् और √स्वञ्ज् तथा √रञ्ज् के नकार का लोप होता है, बाद में शप् होने पर। स्वजते। परिष्वजते। '√श्रन्थ्, √ग्रन्थ्, √दम्भ् और √स्वञ्ज् के लिट् की कित् संज्ञा विकल्प से होती है', इस किसी अन्य व्याकरण (के कथन) का आश्रय भाष्य के 'देभतुः', 'सस्वजे' उदाहरणों के आधार पर (भाष्य में इस कथन के) एक भाग को स्वीकार किया होने से

शा० प० 30.30 में अलभत्, 49.27 में लभेयम्, 88.33 में लप्स्यसि, 114.21 में लभति आदि।

7 **√स्वञ्ज्** लिपटाना, लिपटना, आलिंगन करना, गले लगाना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है।

2396 **दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि (6.4.25), 2397 रञ्जेश्च (26)**—अङ्गस्य (1), श्नान्नलोपः (23) : दंश-सञ्ज-स्वञ्जाम् अङ्गानाम् नलोपः शपि रञ्जेश्च। **लक्षण-प्रतिपदोक्त०** परिभाषा से प्रतिपदोक्त नकारवान् धातु ही ली जाएंगी। इदित् होने से नकारवान् नहीं। **दन्श दशने** (भ्वा०), **षञ्ज सङ्गे** (भ्वा०), **ष्वञ्ज परिष्वङ्गे** (भ्वा०) तथा √रञ्ज् के न् का लोप होता है, शप् परे रहते।

स्वजते—स्वञ्ज्+अ+ते, **नश्चापदान्तस्य०** से किए अनुस्वार के **पूर्वत्रासिद्धम्** से असिद्ध होने से **दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि** से नलोप। **परिष्वजते**—परि+स्वजते, **'परिनि-विभ्यः सेव-सित०** से षत्व।

श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा।—पाणिनीय अष्टक और वार्तिकों में लिट् की कित् संज्ञा के प्रकरण में **श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे** (क्र्यादि), **दम्भु दम्भे** (स्वा०) तथा **स्वञ्ज परिष्वङ्गे** (भ्वा०) के लिट् की कित् संज्ञा विहित नहीं है। (1) **अत एक-हल्मध्ये०** (6.4.120) सूत्र पर भाष्य में '√दम्भ् से परे लिट् कित् है', यह परोक्ष रूप में माना है। अन्यथा (कित्त्वाभाव में) 'देभतुः' में यहाँ **अत एक-हल्मध्ये०** (6.4.120) की प्राप्ति का अवकाश ही नहीं था। (2) इसी प्रकार **सदेः परस्य लिटि** (8.3.118) पर भाष्य में[1] कित्त्व में प्राप्त नकारलोप वाला 'परिषष्वजे' रूप उदाहृत

---

1. म० भा० 6.4.120, वा० 5 : **दम्भ एत्त्वम्—दम्भ एत्त्वं वक्तव्यम्। देभतुः, देभुः।···नलोपस्यासिद्धत्वात्—असिद्धो नलोपः। तस्यासिद्धत्वादेत्त्वं न प्राप्नोति।** 8.3.118 : **सदो लिटि प्रतिषेधे स्वञ्जेरुपसङ्ख्यानं कर्तव्यम्। परिषस्वजे।**

'सदेः परस्य लिटि' (2361) इति सूत्रे स्वञ्जेरुपसङ्ख्यानम् (वा०)। अतोऽभ्यासात् परस्य षत्वं न—परिषस्वजे, परिषस्वञ्जे। सस्वजिषे, सस्वञ्जिषे; स्वङ्क्ता; स्वङ्क्ष्यते; स्वजेत; स्वङ्क्षीष्ट; अस्वङ्क्त; प्रत्यष्वङ्क्त—'प्राक्

यहाँ भी लिया जाता है। 'सदेः परस्य लिटि' (2361) सूत्र में '√स्वञ्ज् का कथन है' (वा०)। इसलिए अभ्यास के बाद स्थित (स्) को ष् नहीं होता—परिषस्वजे, परिषस्वञ्जे। प्रत्यष्वङ्क्त—'प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि' (2276) से षकारादेश होता है।

किया है। इस से सिद्ध होता है कि भाष्यकार को संयोगान्त धातुओं के पश्चात् सूत्रकार द्वारा अविहित कित्त्व इष्ट है। अष्टक में अकथित कित्त्व पाणिनि को अन्यत्र भी इष्ट है, यह **अवोदैधौद्म-प्रश्रथ-हिमश्रथाः** (6.4.29) में √श्रन्थ् के लुप्तनकारक प्रयोग से सूचित होता है।[1] संयोगान्त √दम्भ् और √स्वञ्ज् से परे लिट् का कित्त्व यदि भाष्यकार को इष्ट है, तथा √श्रन्थ्+घञ् में अप्राप्त में भी कित्त्व पाणिनि को इष्ट है, तो समान न्याय से √ग्रन्थ् से परे लिट् में कित्त्व स्वतः प्राप्त हो जाता है।

भाष्यकार के इसी अभिप्राय को काशिका के पूर्वभाग (1.2.6) में इस कित्त्व का विधान इष्टि के रूप में किया गया है : **अत्रेष्टिः—श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनामिति वक्तव्यम्। श्रेथतुः, श्रेथुः; ग्रेथतुः, ग्रेथुः; देभतुः, देभुः; परिषस्वजे, परिषस्वजाते।** न्यास के अनुसार यहाँ कित्त्व 'वा' नहीं है। पदमंजरी में किन्हीं के मत में यहाँ 'वा' है।[2] काशिका के कित्त्व के फल नकारलोप वाले उदाहरण देने से सूचित होता है कि इस भाग के लेखक के मत में यह कित्त्व नित्य है। किंतु काशिका के उत्तर भाग(8.3.118) में √स्वञ्ज् से लिट् विभाषा कित् इष्ट बताया है : **परिषस्वजे,···अभिषस्वजे। 'स्वञ्जेः संयोगान्तादपि विभाषा लिटः कित्त्वमिच्छन्ति।' इति पक्षेऽनुषङ्गलोपः।** इस से सिद्ध होता है कि इस इष्टि में 'वा' पद काशिका के उत्तर भाग के लेखक से चला है तथा हरदत्त ने उसे ही 'केचित्' के मत में बताया है। सायण ने भी 'वा' से युक्त इष्टि उद्धृत की है।[3] क्षीरस्वामी ने 'वा' के स्थान में 'च' दिया है तथा उदाहरण भी

---

1. का० 6.4.29 : **'प्रश्रथ' इति प्र-पूर्वस्य श्रन्थेर्घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते।** नलोप **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (6.4.24) से कित् या ङित् प्रत्यय परे रहते होता है।
2. प०म० 1.2.6 : **अत्र केचिद् 'वा' इति पठन्ति। 'शश्रन्थतुः' इत्याद्यपि भवति।**
3. मा०धा०वृ० 1.957 : **'इन्धि-भवतिभ्याम्'** (1.2.6) **इत्यत्र 'श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनां वा' इति लिटः कित्त्व-विकल्पनात् पक्षेऽनुनासिकलोपः। तथा 'सदि-स्वञ्ज्योः०'** (8.3.118) **इत्यत्र वृत्ति-व्याख्यानेषु 'स्वञ्जेः संयोगान्तादपि लिटो विभाषा कित्त्वमिच्छन्ति'** (का० 8.3.118) **इति।** 1.2.6 पर न्यास में 'विभाषा'

सिताद्०' (2276) इति षत्वम् । परि-नि-विभ्यस्तु 'सिवादीनां वा०'(2359) इति विकल्पः । एतदर्थमेव 'उपसर्गात् सुनोति०' (8.3.65) इत्येव सिद्धे स्तु-स्वञ्ज्योः 'परि-नि-वि०' (8.3.70) इत्यत्र पुनरुपादानम् । पर्यष्वङ्क्त, पर्यस्वङ्क्त ।

परि, नि और वि के पश्चात् तो 'सिवादीनां वाऽड्-व्यवायेऽपि' (2359) से (षकारादेश का) विकल्प होता है । इसी लिए 'उपसर्गात् सुनोति-सुवति०' (8.3.65) से ही षकारादेश जब सिद्ध है, तब √स्तु और √स्वञ्ज् को 'परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्' (8.3.70) में फिर से लिया गया है । पर्यष्वङ्क्त, पर्यस्वङ्क्त ।

एक ही दिया है ।[1] दीक्षित जी ने सायण का अनुकरण किया है । किंतु एक बात सारी परंपरा के विपरीत कही है कि यह व्याकरणान्तर का विधान है । 'देभतुः' (म०भा० 6.4.120) तथा 'सस्वजे'[2] (म०भा० 8.3.118) भाष्योदाहरणों में व्याकरणान्तर के विधान के एक भाग को कित्त्व जब स्वीकृत है, तो अन्य भाग श्रन्थि-ग्रन्थि का कित्त्व भी उन्हें स्वीकृत होगा । अतः समूचा व्याकरणान्तर विधान ही यहाँ स्वीकृत समझना चाहिए ।

श्रन्थि-ग्रन्थि को पाणिनि द्वारा अविहित विधान भाष्य में तीन प्रसङ्गों (1.3.67, 3.1.48 तथा 89) में **भारद्वाजीयाः पठन्ति** के नाम से दिया है । संभवतः प्रकृत कित्त्वविधान भी भारद्वाजीयों के किसी उल्लेख के रूप में दीक्षित जी को अभिमत हो । पर यदि ऐसा होता, तो भगवान् भाष्यकार ने उस स्पष्ट विधान की चर्चा की होती । प्रमाणाभाव में दीक्षित जी के व्याकरणांतर को नामांकित कर पाना संभव नहीं है ।

'सस्वजे' में **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से न का लोप होता है । पक्ष में सस्वञ्जे । 'परि+सस्वजे' में **स्वादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य** से अभ्यास के तथा अभ्यासोत्तर सकारों को प्राप्त षत्व में से अभ्यासोत्तर 'स' को षत्व का निषेध **सदेः परस्य लिटि** (8.3.118) पर **सदो लिटि प्रतिषेधे स्वञ्जेरुपसंख्यानम्** (भाष्यवार्तिक) से हो जाता है : परिषस्वजे । किदभावपक्ष में परिषस्वञ्जे । 'सस्वजिषे' में क्रादिनियम से इट् होता है ।

या 'वा' न धृत है, न व्याख्यात है । पर **'विभाषोर्णोः'**(1.2.3) **इत्यतो 'विभाषा'-ग्रहणानुवृत्तेर्वा** (8.3.118) में मूलोक्त 'विभाषा' की व्याख्या की है ।

1. क्षी०त० 1.955 : **'श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनां च' इति कित्त्वम् । परिषस्वजे ।**
2. भाष्य में 'परिषस्वजे' दिया है । दीक्षितजी ने षत्वनिषेध अप्रकृत होने के कारण टाल दिया लगता है ।

8 हद पुरीषोत्सर्गे ॥ 8 ॥ हदते; जहदे; हत्ता; हत्स्यते; हदेत; हत्सीष्ट; अहत्त ॥ 92 ॥

33 अथ परस्मैपदिनः—1 ञिष्विदा अव्यक्ते शब्दे ॥ 1 ॥ 2 स्कन्दिर्

8 √हद् हगना (टट्टी करना) अर्थ में है ॥ 8 ॥ हदते; जहदे; हत्ता; हत्स्यते; हदेत; हत्सीष्ट; अहत्त ॥ 92 ॥

धातु-वर्ग : 33 परस्मैपदी अनिट् धातुएँ : क. दकारान्त दो धातु

33 अब परस्मैपदी धातुएँ हैं—1 √स्विद् (इत्संज्ञक ञि और आ वाली)

स्वङ्क्ता—√स्वञ्ज्+ता । **चोः कुः** से ज् को ग्, **खरि च** से ग् को क्, **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** (प०) से जकार के निवृत्त होने से जकार के सवर्ण अकार की निवृत्ति होती है । तब ककारसवर्ण ङकार **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से होता है : स्वङ्क्ता ।

इण्णन्त उपसर्गों के बाद अङ्वान् रूप होने पर **प्राक् सितादड्-व्यवायेऽपि** से नित्य मूर्धन्यादेश होता है : प्रत्यष्वङ्क्त, अभ्यष्वङ्क्त, अत्यष्वङ्क्त । किंतु परि, नि तथा वि उपसर्गों से परे उसे बाध कर **सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि** से विकल्प होता है । **उपसर्गात् सुनोति०** (8.3.65) आदि में 'स्तौति' तथा 'स्वञ्ज्' को षत्व करने पर भी **परि-नि-विभ्यः सेव०** (70) में पुनः 'स्तु-स्वञ्ज्' का ग्रहण विकल्प करने के लिये ही किया है, ताकि 'सिवादियों में √स्तु, √स्वञ्ज् के आने से अड्व्यवाय में भी वा षत्व हो सके ।[1] पर्यष्वङ्क्त, पर्यस्वङ्क्त ।

श्रीक्षीरस्वामी ने लुङ्, थास् में **'अस्वङ्क्थाः । इडपीष्टः—अस्वञ्जिष्ठाः ।'** कहा है । पर अनिट्कारिकाओं में पठित होने से यहाँ इट् प्राप्त ही नहीं है । अतः प्रस्तुत पंक्ति चिंत्य है ।

8 √**हद्** हागना, हगना, टट्टी करना, गोबर करना अर्थ में (अकर्मक, अनिट्) है । सायण का कथन है कि नंदी के मत में √हद् विभाषा अनुदात्तेत् है । अतः हदति, हदते दोनों बनेंगे । अहत्त, अहत्साताम्, अहत्सत; अहत्थाः, अहात्सीत्, अहात्ताम्, अहात्सुः; अहात्सीः । हन्नम् गूथम्, टट्टी गूह्, गू ।

धातु-योग : 934 गत, 8 वर्तमान, योग 942 ॥ 92 ॥

33.1 √**स्विद्** अस्पष्ट शब्द करना अर्थ में (अकर्मक, सेट्) है ।

---

1. मा० धा० वृ० 1.957 : **'उपसर्गात् सुनोति०' इत्यादिनैव सिद्धे स्तु-स्वञ्ज्योरुपादानं 'सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि' (2359) इति परि-नि-विभ्यः परत्वेऽड्व्यवाये सिवादित्वादनयोः षत्व-विकल्पोऽयं यथा स्यादिति ।**

गति-शोषणयोः ।। 2 ।। चस्कन्दिथ, चस्कन्त्थ; स्कन्ता; स्कन्त्स्यति; न-लोप; अस्पष्ट आवाज करने में है ।। 1 ।। 2 √स्कन्द् (इत्संज्ञक इर् वाली) गति और

आचार्य क्षीरस्वामी, पुरुषकार तथा सायण ने **ञिक्ष्विदा** पाठ माना है। देव ने भी √क्ष्विद् मानी है। दीक्षितजी ने न जाने किन आचार्य का अनुकरण किया है? **ञिष्विदा** (19.4, पृष्ठ 513), एकीय मत में **ञिक्ष्विदा** भी, अर्थ और पद के भेद से लुङ् में वा परस्मैपदार्थ आई हैं। मनुस्मृति, महाभारत, वक्रोक्ति-पञ्चाशिका तथा कोशों में क्ष्वेडेत्, क्ष्वेडः, क्ष्वेडा, क्ष्वेडन और क्ष्वेडित पदों में 'अव्यक्त शब्द' अर्थ में उपलब्ध √क्ष्विड्[1] यहाँ पाठ के योग्य है। दुर्गादास ने इसे **ञिक्ष्विडा कूजने** के रूप में दिया है।[2] 'क्ष्वेडित' में गुण को देखने से विदित होता है कि यह धातु पाणिनि के समय नहीं थी।[3] **ञिक्ष्विदा** ही 'द्' के 'ड्' उच्चारण की प्रवृत्ति से डकारान्त के रूप में विकसित होने पर संस्कृत में स्वीकृत हो गई लगती है। 'क्ष्वेलित' का 'क्ष्वेडित' उच्चारणभेद मानने से अर्थ में भेद की व्याख्या नहीं हो पाती। अतः क्षीरस्वामी आदि का पाठ उचित है।

आदित् होने से **ञीतः क्तः** से वर्तमान अर्थ में क्त एवम् **आदितश्च** से इट् का निषेध हो जाता है। **र-दाभ्यां०** से निष्ठा त को न हो जाता है—स्विन्नः, क्ष्विण्णः। स्वेदति; सिष्वेद; स्वेदिता; क्ष्वेदति; चिक्ष्वेद; क्ष्वेदिता। क्ष्वेडति। आदित् होने से क्ष्विडितम्, क्ष्विट्टम्।

2 √**स्कन्द्** (इरित्) गति, (घेरा डालना, आक्रमण करना, चूना, छूटना) तथा सुखाना (सकर्मक) या सूखना (अकर्मक) अर्थ में (अनिट्) है। क्षीरस्वामी के अनुसार

---

1. **नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेत्** (म० स्मृ० 4.64)। मेधातिथि : **क्ष्वेडेति अव्यक्तं दन्तैः शब्दकरणं क्ष्वेडनिकेति प्रसिद्धा।** कुल्लूक : **अव्यक्त-दन्त-शब्दात्मकं क्ष्वेडनं न कुर्यात्।** अमरकोष : **क्ष्वेडा तु सिंहनादः स्यात्।** महाभारत तथा अन्य स्थलों के लिए शब्दकल्पद्रुमकोष में √क्ष्विड् से 'क्ष्वेडित' तक की प्रविष्टियां देखें।
2. शब्दकल्पद्रुम, भाग 2, पृष्ठ 277, कॉलम 2 : **क्ष्विद् आ ञि कूजने इति कविकल्पद्रुमः** (भ्वा०, पर० अक०, सेट्)। **'मूर्धन्यवर्गतृतीयान्तोऽयमित्येके' इति दुर्गादासः।**
3. √क्ष्विद् (तवर्गतृतीयान्त) से विहित निष्ठा ही **निष्ठा शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः** (1.2.19) से निषिद्धकित्त्व है। √क्ष्विड् (मूर्धन्यस्पर्शतृतीयांत) से **विभाषा भावादि-कर्मणोः** (7.2.17) से **क्ष्विडित, क्ष्विट्ट** भाव और आदिकर्म में क्त से निष्पन्न होते हैं।

—स्कद्यात्, इरित्त्वादङ् वा—अस्कदत्, अस्कान्त्सीत्, अस्कान्ताम् अस्कान्त्सुः ।
2398 वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् (8.3.73)—षत्वं वा स्यात् । कृत्येवेदम्, 'अनिष्ठायाम्' इति पर्युदासात्—विष्कन्ता, विस्कन्ता; निष्ठायां विस्कन्नः ।

सूखना/सुखाना अर्थों में है ।। 2 ।। नकार का लोप होता है—स्कद्यात् । इत्संज्ञक इर् वाली होने से अङ् विकल्प से होता है—अस्कदत्; अस्कान्त्सीत्, अस्कान्ताम्, अस्कान्त्सुः ।

2398 'वि' के योग में √स्कन्द् के (स् को) षकार विकल्प से हो, निष्ठा-भिन्न (प्रत्यय) बाद में होने पर । यह विधान कृत् प्रत्यय बाद में होने पर ही होता है, क्योंकि 'निष्ठा-भिन्न बाद में होने पर' (कह कर निष्ठा के सजातीय प्रत्ययों का) अल-

---

केवल 'शोषण' अर्थ में ही है । महाभारत (शा०प० 50.9) में 'अवस्कद्य' 'उतरकर' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । लिट्, थल् में भारद्वाजनियम से वा इट्—चस्कन्दिथ; इडभावपक्ष में **खरि च** से द् को त्—चस्कन्त्+थ; **झरो झरि सवर्णे** से त् का वा लोप—चस्कन्थ, चस्कन्त्थ । 'चस्कन्दतुः' आदि में अतुस् आदि की कित् संज्ञा संयोग से परे होने से नहीं होती । अतः न-लोप भी प्राप्त नहीं होता । स्कन्ता, स्कन्ता । स्कद्यात्—आशीर्लिङ् में **किदाशिषि** से यासुट् के कित् होने से **अनिदितां हल०** से न-लोप होता है । लुङ् में सिच् को **इरितो वा** से अङ्, न-लोप : अस्कदत् । अङभाव-पक्ष में अस्कान्त्सीत् । तस् आदि में वृद्धि होने पर **झलो झलि** से सिज्लोप, **खरि च** से द् को त्, त् का वा लोप : अस्कान्ताम्, अस्कान्त्ताम् । अस्कान्त्सुः । अस्कन्त्स्यत् । स्कन्नम् ।

2398 **वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्** (8.3.73)—अपदान्तस्य मूर्धन्यः (55), सः स्विदिस्वदि० (62), सिवादिनां वाऽङ्० (71) । वेः (5.1 उत्तरस्य) स्कन्देः (6.1) अपदान्तस्य सः मूर्धन्यः वा अनिष्ठायाम्—वि (उपसर्ग) के बाद स्थित √स्कन्द् धातु के पदान्त से भिन्न सकार को वा मूर्धन्य आदेश होता है, निष्ठेतर (प्रत्यय) परे रहते । यहाँ 'निष्ठेतर' कहने से निष्ठा के सजातीय कृत् प्रत्यय ही षत्व के पर-निमित्तत्वेन लिए जाएँगे । सायण का कहना है कि काशिका में 'अनिष्ठायाम्' की पर्युदास के रूप में व्याख्या की है । इसी दृष्टि से काशिकाकार ने इस सूत्र पर सभी उदाहरण कृदंत दिये हैं ।[1] पर्युदास होता है सजातीयापेक्षी, अतः 'कृत्येव' यह नियम बनता है । आचार्य क्षीरस्वामी तथा रामचंद्र ने 'अनिष्ठायाम्' का विग्रह 'न निष्ठायाम्' मान कर 'निष्ठा प्रत्यय परे रहते षत्व नहीं होता' अर्थ ले कर 'विष्कन्दति, विस्कन्दति' उदाहरण तथा

---

1. मा० धा० वृ० 1.960 : **'अनिष्ठायाम्' इति पर्युदासे नञिव-युक्त-न्यायेन कृत्येवायं विकल्पः । तथा च वृत्ति-कारेण पर्युदासो व्याख्यातः कृतश्चोदाहृताः ।**

2399 परेश्च (8.3.74)—अस्मात्परस्य स्कन्देः सस्य षो वा। योगविभागाद् 'अनिष्ठायाम्' इति न सम्बध्यते। परिष्कन्दति, परिस्कन्दति; परिष्कण्णः, परिस्कन्नः—षत्व-पक्षे णत्वम्। न च पद-द्वयाश्रयतया बहिरङ्गत्वात्षत्वस्यासिद्धत्वम्, 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' (प०) इत्यभ्युपगमात्। 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते, ततः साधनेन।' इति भाष्यम्[1]। 'पूर्वं साधनेन।' इति मतान्तरे तु न णत्वम्॥ 93॥

गाव कर दिया गया है। विष्कन्ता, विस्कन्ता; निष्ठा में तो विस्कन्नः। 2399 'परि' के वाद भी √स्कन्द् के स् को ष् विकल्प से हो। अलग सूत्र बनाने से (सिद्ध होता है कि इस सूत्र में) 'निष्ठा-भिन्न वाद में होने पर' का संबंध नहीं होता। परिष्कन्दति, परिस्कन्दति; परिष्कण्णः, परिस्कन्नः— षकारादेश के पक्ष में णकारादेश होता है। दो पदों का आश्रय लेने के कारण बहिरंग होने से षकारादेश असिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'धातु और उपसर्ग का कार्य अंतरंग होता है' (प०) यह माना गया है। 'धातु पहले उपसर्ग के साथ जुड़ती है, उसके बाद प्रत्यय से', यह भाष्य (का कथन) है। 'प्रत्यय के साथ पहले' इस (पूर्वोक्त से) भिन्न मत में तो णकारादेश नहीं होता॥ 93॥

कृदंत 'विस्कन्नः' को प्रत्युदाहरण दिया है। उनके पक्ष में यह सूत्र केवल कृत् प्रत्यय परे रहते ही षत्व नहीं करता।

वि+स्कन्ता—वा षत्व : विष्कन्ता, विस्कन्ता। पक्षे विष्कन्त्ता, विस्कन्त्ता। काशिकाकार, सायण तथा दीक्षितजी के मत में यह तृजंत या तृन्नंत रूप है। श्रीक्षीरस्वामी के मत में लुट् में भी षत्व हो सकता है। काशिकाकार आदि के मत में नहीं। निष्ठा में तो सभी के मत में षत्व नहीं होता : विस्कन्नः।

2399 परेश्च (8.3.74)—परेश्च स्कन्देः अपदान्तस्य सः मूर्धन्यः वा—और 'परि' उपसर्ग के पश्चात् स्थित √स्कन्द् के पदांतभिन्न स् को वा मूर्धन्य होता है।

वि-परिभ्यां स्कन्देरनिष्ठायाम् न कहकर इस प्रकार योग-विभाग करके (अलग-अलग सूत्र बनाने से) **परेश्च** से 'अनिष्ठायाम्' का संबंध नहीं होता (म०भा०)। अतः यह सूत्र कृदकृत्—सभी प्रकार के—प्रत्यय बाद में होने पर लगेगा। निष्ठा का निषेध न होने से निष्ठा में भी लगेगा। परि+स्कन्दति—वा षत्व, परिष्कन्दति, परिस्कन्दति। परि+स्कन्नः—वा षत्व, **अट्-कुप्वाङ्०** से णत्व : परिष्कण्णः; षत्वाभावपक्ष में परिस्कन्नः।

शंका : षकार के निमित्त से होने वाला णत्व निमित्त (ष्) और निमित्ती (न्)

---

1. तुलना करें म० भा० 2.2.19, पृष्ठ 694.

33.3 यभ मैथुने ॥ 3 ॥ येभिथ, ययब्ध; यब्धा; यप्स्यति; अया-

धातु-वर्ग 33 : परस्मैपदी अनिट् धातुएँ : ख. पवर्गीयान्त छह धातु

33.3 √यभ् मैथुन करने में है ॥ 3 ॥ 4 √नम् (णोपदेश) झुकने, नमने और

के एक ही पद (ष्कन्न) में स्थित होने से षत्व की अपेक्षा अंतरंग है। क्योंकि षत्व में निमित्त है परि, तथा निमित्ती है √स्कन्द् का स्। इस प्रकार षत्व का निमित्त अन्य पद में स्थित है, तो निमित्ती अन्यपदस्थ है। अतः वह णत्व की अपेक्षा अधिकापेक्षी होने से बहिरंग है। **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** (प०) से अंतरंग णत्व की कर्तव्यता में बहिरंग षत्व के असिद्ध होने से णत्व यहाँ प्राप्त नहीं होता।

उत्तर : अल्पापेक्षि अन्तरङ्गम् परिभाषा धातु तथा उपसर्ग के कार्य पर लागू नहीं होती। वहाँ तो **धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गमन्यद् बहिरङ्गम्** (प०) ही लागू होती है, यह बात व्याकरण-तंत्र में स्वीकृत है। अतः षत्व असिद्ध न होने से णत्व होना उचित ही है।

भगवान् भाष्यकार ने 'धातु का पहले उपसर्ग के साथ योग होता है, फिर प्रत्यय से', यह व्यवस्था देकर **धातूपसर्गयोः**० परिभाषा को ही प्रमाण माना है। यदि 'प्रत्ययों से धातु का योग पहले होता है, फिर उपसर्ग से', यह पक्ष माना जाए, तो उपर्युक्त आपत्ति ठीक है, एवं यहाँ णत्व नहीं प्राप्त होता। अतः 'परिष्कण्णः', 'परिष्कन्नः, ये दो रूप होते हैं। षत्वाभाव-पक्ष में 'परिस्कन्नः ॥ 93 ॥

33.3 √**यभ्** 'मैथुन' अर्थ में अकर्मक, अनिट् है। 'मिथुन (नर-मादा, स्त्री-पुरुष) की क्रिया' अर्थ में अभिप्रेत है। अर्थात् स्त्री और पुरुष स्त्रीत्व और पुरुषत्व के भेदक अंगों योनि और शिश्न के द्वारा जो क्रिया करते हैं, वह 'मैथुन' है। मिल कर आनंदप्राप्ति कराने के कारण यह क्रिया 'सम्भोग' कहलाती है। अतः √यभ् सम्भोग करना अर्थ में है।

इस धातु का अर्थ-निर्देश विभिन्न प्रकार से मिलता है :

(क) व्याघ्रभूति, जिनेंद्रबुद्धि, भट्टमल्ल ने इसका अर्थ 'मैथुन' बताया है।[1]

---

1. का० (7.2.10) में अनिट्-कारिका 3 : **'रभिस्तु भान्तेष्वथ मैथुने यभिः'**, तथा इस पर न्यास : **'रभिश्च' इत्यादि—'रभ राभस्ये', 'यभ मैथुने'**। आ० चं० 2.1.49, श्लोक 44 : **यभति च भजतीत्येते†, निधुवति, संविशति—मैथुनेऽमी स्युः**। †यहाँ **'भजतीत्येते'** के स्थान में **'जभतीत्येके'** पाठ उचित प्रतीत होता है : (क) √भज् इस अर्थ में न उपदिष्ट है और न प्रयुक्त ही उपलब्ध है; (ख) √जभ् इस अर्थ में मैत्रेयरक्षित, धनपाल, शाकटायन आदि कुछ आचार्यों को

व्यवहार में यह मैथुन अर्थ में ही मिलती है। 'याभ' और 'मैथुन' पर्याय हैं।[1]

(ख) किंतु, क्षीरस्वामी और सायण ने इसका अर्थ 'विपरीत मैथुन' बताया है। सायण ने **यभ मैथुने** को क्वाचित्क पाठ बताया है।[2]

यहाँ 'मैथुन' के साथ 'विपरीत' जुड़ने का कारण एक भ्रांति प्रतीत होती है : अश्लील होने के कारण इस धातु का निर्देश सीधे 'यभ' के रूप में न करके 'भय' के रूप में किया गया और स्पष्टीकरण के लिए 'विपरीत' शब्द जोड़ दिया गया : 'उल्टी की हुई भय=यभ धातु' अर्थ में बाद में[3] 'भय' को तो सीधा 'यभ' कर दिया गया, पर भ्रान्ति से, या प्रमाद से, 'विपरीत' विशेषण वहाँ से हटाया जाना भूल गया, जो फिर भ्रांति से 'मैथुन' का विशेषण समझ लिया गया : **यभ विपरीत-मैथुने।**

एक अन्य कारण भी इस भ्रांति को पुष्ट करने में सहायक हुआ प्रतीत होता है : इस धातु का प्रयोग दो पुरुषों के सम्भोग के लिए भी मिलता है।[4] यह मैथुन स्त्री-पुरुष के युग्म के विपरीत सम-लिंगी युग्म का मैथुन होने से 'विपरीत मैथुन' हो सकता है।

(ग) सायण के अनुसार मैत्रेय ने इसका अर्थ 'विपरीतानुष्ठान' बताया है।[5]

दीक्षितजी ने इस धातु का निर्देश **यभ मैथुने** उचित ही किया है।

अभीष्ट होने से 'एकीय' है। √यम् पर दैव 145 पर पुरुषकार और मा०धा० वृ० देखें तथा भवतोषिणी का अगला प्रकरण भी। यकार को जकार बोलने की देशीय प्रवृत्ति से √जभ् √यम् से ही विकसित है।

1. श्रीमद्भा० 9.19.6 : **पीवानं, श्मश्रुलं, प्रेष्ठं, मीढ्वांसं याभ-कोविदम्।** इसी अर्थ के कारण काव्यशास्त्र में √यभ् का प्रयोग या √यभ् से निष्पन्न किसी 'याभ' आदि पद की प्रतीति अश्लील मानी जाती है। काव्यादर्शप्रसादिनी 1.65 देखें।
2. मा०धा०वृ० 1.961 : **क्वचित्पठ्यते 'यभ मैथुन' इति।**
3. दैवम्, 145 : **'जृम्भणे जम्भते, याभे यम्भेत्'** पर पुरुषकार : **भय विपरीतो मैथुने। 'विपरीत' इति यभेत्यर्थः।** मा०धा०वृ० (चौ०सं०) में उद्धृत पुरुषकार का कथन मुद्रित पुरुषकार से मेल नहीं खाता। अतः वहाँ पाठ-शोध अपेक्षित है। यु०मी० संस्करण का पाठ ठीक प्रतीत होता है। किंतु उस में **'जृम्भणे जम्भते, याभे जभेन्नाशे तु जम्भयेत्'** पाठ ही पुरुषकार को देखते हुए उचित है। **याभे 'जम्भेत्'** नहीं।
4. श्रीमद्भा० 3.20.23 : **त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे।** 26 : **···ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः। ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो।**
5. मा०धा०वृ० 1.961 : **'विपरीतानुष्ठान' इत्यर्थं इति मत्रेयः।**

मैथुन अर्थ में √यभ् सर्वसम्मत है। पाणिनीय तथा तदितर परंपराओं में यकार को कुछ इलाकों में सामान्यतः तथा माध्यन्दिन परंपरा में जकार बोलने की प्रवृत्ति के कारण √यभ् को ही √जभ् के रूप में कुछ वैयाकरणों ने स्वीकृत कर लिया। इस √जभ् के अतिरिक्त एक और √जम्भ् भी गात्रविनाम (जृम्भण) अर्थ में है। अजादि प्रत्ययों में उसका रूप √जम्भ् हो जाता है। **लुप-सद-चर-जप-जभ-दह-दश-गृभ्यो भावगर्हायाम्** (3.1.24) **रधि-जभोरचि** (7.1.61) और **जप-जभ-दह-दश-भञ्ज-पशां च** (7.4.85) में पठित √जभ् से **जभ** (अथवा) **जभी-जृभि गात्रविनामे** (1.10.27) का ही ग्रहण न्यास और पदमंजरी में किया गया है। क्षी०त० में भी √जभ् की मैथुन अर्थ में कोई सूचना नहीं है। इस से यह सिद्ध होता है कि पाणिनीय तंत्र में मैथुनार्थक √जभ् की स्वीकृति उनके बाद की गई है। दैव 145 में **याभे जम्भेत्** प्रमाद-पाठ है। **'जभेत्'** होना चाहिए। यह अभी अनुपद (पृष्ठ 695, टिप्पणी 3 में) कहा है। पुरुषकार के अनुसार मैत्रेयरक्षित के मत में √जभ् एकीय है। धनपाल और शाकटायन भी इसे मानते हैं।[1] पाणिनीतर वैयाकरणों में जैनेंद्र, काशकृत्स्न, कातंत्र, शाकटायन और हेमचंद्र ने मैथुन में √जभ् मानी है।[2]

आधुनिक भाषाओं में √यभ् मैथुन अर्थ में मुल्तानी में उपलब्ध है।

यभति, यभतः, यभन्ति। ययाभ, येभतुः, येभुः—**अत एक-हल्मध्ये०** से एत्त्वा-भ्यास-लोप : येभिथ, इडभाव-पक्ष में द्वित्व, अभ्यास-कार्य, **झषस्तथोर्धोऽधः** से थ् को ध्, **झलां जश् झशि** से भ् को ब् : ययब्ध। यब्धा—यभ्+ता, **झषस्तथोः०, झलां जश् झशि। यप्स्यति** यभ्+स्यति, **खरि च** : यप्स्यति, **चयो द्वितीयाः शरि पौष्कर-सादेरिति वाच्यम्**[3] (वा०) से प् को फ् : यफ्स्यति भी; यभतु; अयभत्; यभेत्; यभ्यात्; **अयाप्सीत्**—अयभ्+स्+त्, **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** से ईट्, **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से वृद्धि, **खरि च**, अयाप्सीत्। अयभ्+स्+ताम्, **झलो झलि** से सकारलोप, **वद-व्रज०** से वृद्धि, अयाभ्+ताम्, त् को ध्, भ् को ब् : **अयाब्धाम्**; अयाप्सुः, अयाप्सीः, अयाब्धम्, अयाब्ध; अयाप्सम्, अयाप्स्व, अयाप्स्म। अयप्स्यत्। याभः=मैथुन, मैथुनकर्ता।

---

1. पुरुषकार 145, पृष्ठ 92 : **'जभ' इत्येक इति मैत्रेयरक्षितः। जभ चेति धनपालः। 'यभ जभ' इति शाकटायनः।**
2. पल्सुले, ए कंकॉर्डेंस आफ संस्कृत धातुपाठज़, अर्थसूची, पृष्ठ 189.
3. इस स्थिति में वर्गों के प्रथम वर्णका द्वितीयके रूप में उचारण वैदिक काल में ही हो गया था। ऋ० प्रा० 6.54 : **ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्त-भाजम्।** तुलनीय शुक्लयजुः प्रा० 4.120 : **असस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य।**

प्सीत्। 4 णम प्रह्वत्वे, शब्दे च ॥ 4 ॥ नेमिथ, ननन्थ; नन्ता; अनंसीत्, अनंसिष्टाम्। 5 गम्लृ, 6 सृप्लृ गतौ ॥ 4 ॥ 2400 इषु-गमि-यमां छः (7.3.77)—एषां छः स्याच्छिति परे। गच्छति। जगाम, जग्मतुः, जग्मुः, आवाज़ करने में है ॥ 4 ॥ 5 √गम्, 6 √सृप् गति (क्रमशः जाना, रेंगना) अर्थ में हैं ॥ 5 ॥ 2400 √इष् (उदित्), √गम् और √यम् को छकारादेश होवे, बाद में

---

4 √**णम्** झुकना, नमना तथा शब्द करना अर्थ में अकर्मक है। **णो नः** से णकार को नकार हो गया है; अतः धातु √नम् है। क्षीरस्वामी के अनुसार यह केवल झुकना, नमना अर्थ में है; न्यास और मा० धा० वृ० में 'शब्द' अर्थ भी दिया है। ज्ञानेंद्र सरस्वती और वासुदेव दीक्षित ने किन्ही आचार्य का मत उद्धृत किया है कि यह **णमु** (उदित्) है। फलतः उनके मत में क्त्वा में यह वेट् है : नत्वा, नमित्वा। किन्तु 'नमित्वा' का प्रयोग सुलभ नहीं है।

इतिहास-पुराण आदि लोक-साहित्य में यह आत्मनेपद में भी उपलब्ध होती है : **देववन्नर-देवानां नमते यं जगन्नृपम्** (महाभारत, शा० प० 59.128)।

नमति; ननाम, नेमतुः, नेमिथ, ननन्थ; नन्ता, नंस्यति; नमतु; अनमत्; नमेत्; नम्यात्; अनंसीत्, अनंसिष्टाम् अनंसिषुः, अनंसीः, अनंसिष्टम्, सनंसिष्ट, अनंसिषम्, अनंसिष्व, अनंसिष्म; अनंस्यत्। नतः; नतिः; नत्वा; प्रणमति—**उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** से णत्व।

5 √**गम्**, 6 √**सृप्** गति अर्थ में हैं। प्रसिद्धि की दृष्टि से √गम् बौद्धिक या शारीरिक तौर पर गति करना, जाना, चलना, पहुँचना, समझना अर्थ में है। √सृप् सरकना, रेंगना अर्थ में है। 'सर्प' तथा 'सरीसृप' इसी से हैं। हिंदी 'साँप' 'सर्प' से विकसित है। Eng. serpent 'सर्पत्' की नकारवती प्रकृति से विकसित है।

2400 इषु-गमि-यमां छः (7.3.77)—ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति (75), अङ्गस्य (6.4.1), अलोऽन्त्यस्य (1.1.52) : इषु-गमि-यमाम् अङ्गानाम् अलः (स्थाने) छः (भवति) शिति—उदित् इष्, √गम्, √यम् अंगों के आखिरी वर्ण की जगह छकार होता है, उसके बाद इत्संज्ञक शकार वाला प्रत्यय होने पर।

'इषु-गमि०' सूत्र के पाठ पर दो मत : (1) वार्तिककार[1] के अनुसार तथा

---

1. वार्तिककार ने छत्व-विधायक सूत्र में **'अहलि'** जोड़ने की आवश्यकता बताई है : **इषेश्छत्वमहलि।** यह 'इष' पाठ के होते व्यर्थ है (प्र० तथा उ०)। पतजलि ने **'अहलि'** के समानार्थक किंतु संक्षिप्त **'अचि'** को अनुवृत्ति से सिद्ध करके सूत्र का स्वरूप बदले बिना काम चला लिया है : **यद्येवम्, 'अचि' इत्यपि वर्त्तमाने न दोषः। ·· शिताऽज्विशेष्यते—अचि भवति; कतरस्मिन् ? 'शिति' इति।**

भाष्य में **इष-गमि०** पाठ है तथा (ii) काशिकाकार, वामन एवं क्षी० त० में **इषु-गमि०**।[1] मा० धा० वृ० (चौखंबा-सं०) में √गम्, √यम् और √इष् (दि०, तु०) पर छपा तो **इषु०** (उकारवान्) ही है, पर ग्रन्थ के आंतरिक साक्ष्य से **इष०** (अकारवान्) ही सिद्ध होता है।[2] कैयट और नागेश ने भाष्यकार-संमत पाठ ही लिया है। किंतु दीक्षितजी ने काशिका एवं क्षी० त० का अनुसरण किया है। यहाँ वे सायण का पल्ला छोड़ गये हैं।

धातुपाठ में √इष् तीन जगह है : **इष गतौ** (दि०), **इष आभीक्ष्ण्ये** (क्र्या०) तथा तीसरी तुदादि में काशिकाकार, न्यासकार, क्षीरस्वामी तथा दीक्षितजी के अनुसार **इषु इच्छायाम्** और कैयट, सायण एवं नागेश भट्ट के मत में **इष इच्छायाम्** है।[3] प्रस्तुत स्थल में विवाद का विषय दोनों पाठ हैं : यदि (i) 'इष' (अदित्) सूत्र-पाठ मानें, तो तौदादिक को भी 'इष' (अदित्) ही मानना पड़ेगा। अन्यथा **निरनुबन्धक-ग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प० 82) से उदनुबधक तौदादिक का ग्रहण संभव नहीं है। 'इष'(अदित्)के रूप में दि०, तु० तथा क्र्या० सभी में है। तब 'शिति' कहने से तो सभी का ग्रहण प्रस्तुत सूत्र से होगा। पर लक्षण-दृष्टि से यहाँ केवल तौदादिक का ही ग्रहण इष्ट है। अन्यों की व्यावृत्ति के लिये **क्सस्याचि** (7.3.72) से मंडूकप्लुति से 'अचि' की अनुवृति करके 'शिति' को 'अचि' का विशेषण बनाया जायेगा। तब अर्थ होगा : शित् जो अच् प्रत्यय है, वह परे रहते। इससे श्ना के आदेश **शानच्** की व्यावृत्ति होने से 'इषाण' में छत्व नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि शानच् (आन) शित् तो है, पर 'शित् अच्', यानी केवल 'अज्-रूप शित् प्रत्यय' नहीं है। यहाँ 'अच्' चूंकि विशेषण नहीं है, अतः 'अचि' में तदादिविधि नहीं होती, और 'अच्' से अज्-रूप प्रत्यय इष्ट है।[4]

इसके विपरीत, यदि सूत्र में 'इषु' पाठ है, तो केवल 'शिति' कहने से ही काम चल जायेगा : (1) **सानुबन्धक-ग्रहणे नातदनुबन्धकस्य** (प० 83) से केवल तौदादिक

---

1. का० 7.3.77 : **इषेरुदितो ग्रहणम्**। प्र० 7.2.48 : **'इषु इच्छायाम्' इति केचित् तौदादिकमधीयते। अन्ये तु उदित्त्वस्य प्रयोजनमपश्यन्त 'इष इच्छायाम्' इति पठन्ति**। उद्योत : **'केचिद्' इति—वामनादयः**।
2. मा० धा० वृ० 4.20, पृष्ठ 285 : **इष गतौ। ···ये तु तौदादिकमुदितं पठित्वा छत्व-विधावपि तथा पठन्ति···। 6.70 : इष इच्छायाम्। केचिदुदितं पठन्ति। तस्य च प्रयोजनम् (i) इडविकल्पे, (ii) छ-विधौ च उदितोऽनुवाद इति।**
3. उद्योत 7.2.48 : **तस्मात् तौदादिकस्योदित्पाठो न युक्तः।**
4. 7.3.77 पर म० भा० तथा का०।

√इष् का ही अनुबंध-बल से ग्रहण होगा; (2) 'शिति' की अनुवृत्ति से शिद्-भिन्न प्रत्ययों का व्यावर्तन होगा।[1]

दीक्षितजी ने यहाँ उदनुबंधक **इषु-गमि०** पाठ तो दिया ही है, अनुवृत्ति भी केवल 'शिति' की ही करके काशिकाकार का अनुसरण किया है।

अष्टाध्यायी में √इष् का ग्रहण एक और सूत्र इड्-विकल्प-विधायक **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** (7.2.48) में भी है। इस सूत्र में भी 'इष' से क्या अभिप्राय है, इस पर आचार्यों में मतभेद है : वार्तिककार ने एक संशोधन दिया है : **इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात्प्रतिषेधः** (तकारादि प्रत्यय परे रहते क्रियमाण विधि में श्यन् प्रत्यय से युक्त √इष् को इड्विकल्प का निषेध है)। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि वार्तिककार के मत में सूत्र में 'तीष' पद है, 'तीषु' अभीष्ट नहीं है, क्योंकि दैवादिक का तो मतभेद न होने के कारण निश्चित ही 'इष' पाठ है। अतः यदि सूत्र में 'इष' पाठ होता, तो अनुबन्ध के बल से दैवादिक को इड्विधान प्राप्त ही नहीं होता; तब निषेध तो दूर की बात है। भाष्यकार ने यह वार्तिक स्वीकृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि भाष्यकार के मत में भी सूत्र में में 'तीष' ही पाठ है।

काशिकाकार ने **'इषु इच्छायाम्'** (तु०) **'इत्यस्यायं विकल्प इष्यते'** कहकर कण्ठतः 'दैवादिक तथा क्रैयादिक का ग्रहण नहीं होता', कहा है। उन्होंने यह भी कहा है कि कुछ लोग श्यन्-श्ना-विकरणक √इष् धातुओं की निवृत्ति करते हुए तौदादिक का ही ग्रहण सिद्ध करने के लिये सूत्र में भी 'तीषु' पाठ मानते हैं। क्षीरतरंगिणी में भी 'तीषु' पाठ उपलब्ध है।

आचार्य कैयट ने वार्तिक तथा भाष्य को प्रमाण मान कर क्रैयादिक √इष् से भी इड्विकल्प किया[2] है तथा सूत्र में 'इष' पाठ ही माना है।

जहां तक प्राचीनता का संबंध है, वार्तिककार तथा भाष्यकार सूत्रकार के अधिक निकट हैं। अतः पाणिनीय पाठ तो **इष-गमि०** ही प्रतीत होता है। पर युक्ति तथा लाघव यदि देखा जाए, तो आचार्य वामन का मत उचित लगता है।

गच्छति—√गम्+अ+ति, **इषु-गमि-यमां छः** से म् को छ् : गछ्+अ+ति। **छे च** से तुक् : ग+त्+छ्+अति, **स्तोः श्चुना श्चु :** से त् को च् : गच्छति।

---

1. प्र० 7.3.77 : **'इषु-गमि०' इति पाठोऽनार्ष इत्याह 'इषेश्छत्वमहलि' इति।** इस-पर उ० : **'इषु-गमि०' इति पाठे तौदादिकस्यैवोदितः पाठादन्यस्य ग्रहण-शङ्कैव न, इत्यत आह 'अनार्ष' इति।**
2. इससे हरदत्त भी सहमत हैं : **यथा तु वार्तिकं, तथा क्रैयादिकस्याप्यत्र ग्रहण-मिष्यते : यदाह—'इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात् प्रतिषेध' इति।**

जगमिथ, जगन्थ; गन्ता । 2401 गमेरिट् परस्मैपदेषु (7.2.58)—गमेः परस्य सकारादेरिट् स्यात् । गमिष्यति । लृदित्त्वादङ्, 'अनङि' इति पर्युदासान्नोपधा- इत्संज्ञक शकार वाला (प्रत्यय) होने पर । गच्छति । 2401 √गम् के पश्चात् स्थित, आदि में सकार वाले (आर्धधातुक) प्रत्यय को इट् हो । गमिष्यति । इत्संज्ञक लृ वाली होने से (च्लि को) अङ् होता है; ('गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि' सूत्र में) 'अनङि' (अङ्-भिन्न कित्, ङित् बाद में होने पर) इस प्रकार (अङ् में) निषेध

'जगम्+अतुः', **गम-हन-जन-खन०** से उपधालोप : जग्मतु : । थल् में **ऋतो भारद्वाजस्य** से वेट् : जगमिथ, इडभावपक्ष में जगम्+थ, **नश्चापदान्तस्य झलि** से मकार को अनुस्वार, **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से अनुस्वार को नकार : जगन्थ ।

2401 गमेरिट् परस्मैपदेषु (7.2.58)—आर्धधातुकस्येड्वलादेः (35), सेऽसिचि कृत-चृत०(57), अङ्गस्य (6.4.1) । न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' की पञ्चमी के प्रमाण से 'गमेः' भी पञ्चम्यन्त है । 'अङ्गस्य' का अन्वय 'गमेः' से होने से 'से' (7.1) में तदादिविधि । यह विशेष्य ('आर्धधातुकस्य') पद के षष्ठ्यन्त होने से 'सादेः' (6.1) के रूप में उपलब्ध होता है । 'इट्' की अनुवृत्ति होते हुए भी पुनः 'इट्' के ग्रहण से **उदितो वा** (56) की निवृति होती है । फलतः यह इट् नित्य होता है ।

गमेः अङ्गात् (परस्य) सादेरार्धधातुकस्य नित्यम् इट् (भवति) परस्मैपदेषु—√गम् इस अग से परे स्थित सादि आर्धधातुक को नित्य इट् आगम होता है, परस्मैपद प्रत्यय वाद में होने पर ।

नित्य अनिट् √गम् को इट् की अप्राप्ति में परस्मैपद प्रत्यय परे रहते नित्य इट् का विधान इस सूत्र से होता है । उदात्तेत् होने से नित्य परस्मैपदी √गम् से 'सम्' उपसर्ग के योग में **समो गम्यृच्छिभ्याम्** से आत्मनेपद होता है । √गम् धातु से परे सादि आर्धधातुक प्रत्यय—स्य तथा सन्—परस्मैपदात्मनेपदोभय-साधारण हैं, तो सिच् केवल आत्मनेपद में ही रहता है । परस्मैपद में तो 'च्लि' को 'अङ् हो जाता है । अतः यदि सूत्र में 'परस्मैपदेषु' नहीं कहते, तो परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों में ही इट् होता । 'परस्मैपदेषु' कहने से धातु से होने वाले परस्मैपदेतर 'कृत्' तथा 'आत्मनेपद' प्रत्ययों में इट् नहीं होगा । 'जिगमिषिता' आदि प्रयोगों को देखते हुए यह बात स्वीकार करने के योग्य नहीं है । इसके तीन समाधान हो सकते है : (क) सूत्र में 'परस्मैपदेषु' के साथ 'कृति' पद भी रखा जाए; या (ख) सूत्र में परस्मैपदेषु' के स्थान पर 'नात्मनेपदेषु' पद दिए जाएँ; या (ग) प्रस्तुत सूत्र का योग-विभाग (**गमेरिट् । परस्मैपदेषु ।**) किया जाए ।

इनमें से (क) और (ख) समाधान सूत्रकार के पद-प्रयोगों को बदलने वाले

होने से ग्राह्य नहीं हो सकते। तीसरे समाधान की परीक्षा की जाती है :

उपर्युक्त योगविभाग करने से पूर्वयोग **गमेरिट्०** का अर्थ होगा—√गम् अंग से परे स्थित सादि आर्धधातुक को इट् होता है। 'गमेरिट्' में बिना किसी पर निमित्त को बतलाये इट् का विधान करने के बाद 'परस्मैपदेषु' (परनिमित) का योग-विभाग से प्रतिपादन करने से 'परस्मैपद प्रत्यय परे रहते ही' यह नियम बनता है। नियम से सजातीय की व्यावृत्ति स्वतः सिद्ध है : परस्मैपद प्रत्यय परे रहते ही इट् होना है, तो परस्मैपदेतर प्रत्यय परे रहते नहीं ही होगा। परस्मैपद-भिन्नों में भी परस्मैपद-समान-जातीय परस्मैपद-भिन्नों का ही व्यावर्तन होगा : आत्मनेपद प्रत्यय धातु से विहित होने से परस्मैपदों के सजातीय हैं। इस नियम से 'कृत्' प्रत्ययों का व्यावर्तन न होकर केवल आत्मनेपद—'तङ्' और 'आन'—का ही व्यावर्तन होगा। फलत : 'कृत्' प्रत्यय परे रहते तथा 'परस्मैपद' प्रत्यय का लुक् होने पर भी इट् होगा और 'परस्मैपदेषु' का भाव 'तङ् और आन का अभाव' होता है। अतः न तो **'कृति'** के ग्रहण की आवश्यकता है, और न ही **'नात्मनेपदेषु'** कहने की आवश्यकता रहती है। 7.2.58 पर न्यास, पदमञ्जरी देखें।

भगवान् भाष्यकार ने इस सूत्र पर **गमेरिट् परस्मैपदेषु चेत् कृत्युपसंख्यानम्** वार्तिक पर **न कर्तव्यम्। अविशेषेण गमेरिडागममुक्त्वाऽऽत्मनेपदपरे नेति वक्ष्यामि** कहा है। उनका आशय योगविभाग कर के पूर्वयोग से परस्मैपद-परत्वादि विशेष को कहे बिना ही सादि आर्धधातुक को इड्विधान करके फिर उत्तरयोग से नियमबलात् 'आत्मनेपदपरे न' अर्थ करके 'तङान' की व्यावृत्ति करना लगता है।

कुछ लोगों का कहना है कि उपर्युक्त 'अविशेषेण०' आदि लेख में भाष्यकार को योग-विभाग बताना इष्ट नहीं है। अपितु 'परस्मैपदेषु' के स्थान पर 'आत्मनेपद-परे न' कहना ही अभीष्ट है। इस लिये कैयट ने **केचित्तु योगविभागेनेष्ट-सिद्धिमाहुः**[1] कहा है।

शंका : 'आत्मनेपदपरे न' अर्थ मानने पर भी (क) जहां आत्मनेपद तथा सादि

---

1. योग-विभाग की कल्पना सर्वप्रथम यद्यपि न्यास में उपलब्ध होती है, हरदत्त ने न्यास की व्याख्या को ही सङ्क्षेप करके **'इति केचिदाहुः'** से प्रस्तुत किया है, तथापि कैयट ने हरदत्त के कथन को ही **'केचित्तु···इष्ट-सिद्धिमाहुः'** कह कर उद्धृत किया है तथा हरदत्त के √इष् के विशेष प्रयोग (**'अन्यत्र सर्वत्रैवेष्यत' इति—कथं पुनरिष्यमाणोऽपि लभ्यते ? ···तस्मादिष्टिरेवेयम्। अत एव 'इष्यत' इत्युक्तम्।**) को लक्षित करके ही यहाँ 'इष्ट-सिद्धि' शब्द का प्रयोग किया है।

आर्ध० के बीच में कोई व्यवधान आ जाए, या (ख) सादि आर्धधातुक आत्मनेपद ही हो, उससे भिन्न न हो, तो आत्मनेपद-परत्व न होने से प्रस्तुत निषेधपक्ष वहाँ लागू नहीं हो सकेगा। जैसे—(क) 'संजिगंसिष्यते' में 'सम्+जिगम्+स+स्य+त' स्थिति में 'त' तथा सादि आर्धधातुक (सन्) के मध्य 'स्य' का व्यवधान होने से सादि आर्धधातुक 'आत्मनेपद-परक नहीं रहता। फलतः यहाँ इट् हो कर 'सञ्जिगमिषिष्यते' रूप होना चाहिये। (ख) इसी प्रकार 'सम्+गम्+सीष्ट' स्थिति में आर्धधातुक तथा आत्मनेपद 'त' को हुआ सीयुट् आगम **यदागमाः०** (प० 12) से 'त' का अंग होने से आत्मनेपद तथा सादि आर्धधातुक दोनों है। यह आत्मनेपदपरक नहीं रहता। तब यहाँ अनात्मनेपदपरता होने से इट् होकर 'संगमिषीष्ट' रूप बनना चाहिये।

उत्तर : उपर्युक्त नियम से जो '**आत्मनेपद-परे** फलितार्थ होता है, उस में सप्तमी का अर्थ 'समानपदस्थता'-रूपी परत्व होगा। क्योंकि **प्रत्ययः, परश्च** के अधिकार में आने से आत्मनेपद प्रत्ययों की प्रकृति (लकार) धातु से परे तो स्वतः ही होते हैं। इस सप्तमी से भी यदि यही अर्थ समझा जाए, तो पौनरुक्त्य ही होगा। इसके निवारण के लिये √गम् से 'अव्यवहितपरत्व' नहीं, अपितु 'समानपदस्थत्वे सति परत्व' मात्र सप्तमी का अर्थ होगा। इसके फलस्वरूप उपर्युक्त दोनों स्थलों में √गम् तथा आत्मनेपद के समानपदस्थ होने से सन् के निमित्त से इट् प्राप्त नहीं होता। अतः 'सञ्जिगंसिष्यते' और 'संगंसीष्ट' रूप निर्बाध साधु हैं।

'सम्+गम्+स+तृच्' स्थिति में √गम् का समानपदस्थ 'तृच्' है, आत्मनेपद नहीं। अतः 'कृत्' प्रत्यय के निमित्त से इट् होकर 'सञ्जिगमिषिता' रूप बनेगा। इसी प्रकार 'सम्+जिगम्+स+तृ+क्यङ्+त' स्थिति में भी √गम् से भिन्न तृजंत प्रकृति के समानपदस्थ आत्मनेपदस्थ होने से इट् होगा ही : सञ्जिगमिषित्रीयते।

यहाँ 'परस्मैपदेषु' की सप्तमी के अर्थ के विषय में मतभेद है : (i) भाष्यकार तथा अन्य आचार्य परार्था सप्तमी मानते हैं, (ii) पदशेषकार विषय सप्तमी। विवरण इस प्रकार है—

(i) परार्था सप्तमी मानने में √गम् के समानपदस्थ अव्यवहित पर आत्मनेपद प्रत्यय न होकर इट् होता है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। यदि √गम् से भिन्न पद में आत्मनेपद स्थित हो, या समानपद में भी आत्मनेपद हो ही नहीं, तब इट् होगा ही। जैसे—'सम्+जिगम्+स+स्य+त' में 'सन्' के निमित्त से तो 'इट्' नहीं होता, पर सन्नंत (भिन्न प्रकृति) के समानपदस्थ आत्मनेपद के होने पर 'स्य' के निमित्त से 'इट्' होगा ही : सञ्जिगंसिष्यते। 'सम्+जिगम्+स+तृच्' में तृच् प्रत्यय आत्मनेपद से भिन्न है, यहाँ आत्मनेपद है ही नहीं। अतः यहां सन्निमित्तक इट् भी होता ही है :

सञ्जिगमिषिता ।[1]

(ii) इसे विषय-सप्तमी मानने पर अन्वय होगा : परस्मैपदेषु गमेः अङ्गात् सादेरार्धधातुकस्य इड् भवति। 'परस्मैपद प्रत्ययों के विषय के रूप में जो 'गमि' अंग है, उससे परे' इत्यादि अर्थ होगा। उसके अनुसार √गम् जहाँ भी परस्मैपद प्रत्ययों का विषय हो सके, वहीं इट् होगा। जहाँ परस्मैपद न हो सके, वहाँ नहीं। इससे ऐसे प्रयोगों में अंतर आएगा, जहाँ आत्मनेपद चाहे प्रत्यक्ष तो न हो, पर √गम् आत्मनेपद की प्राप्ति का विषय हो; अर्थात् √गम् से आत्मनेद होने की योग्यता हो। जैसे—'सम्+गम्+स+तृच्' में आत्मनेपद प्रत्यक्ष तो नहीं है, पर **पूर्ववत्सनः** से आत्मनेपद होने की योग्यता तो है। अतः पदशेषकार के मत में यहाँ 'इट्' नहीं हो सकता। अतः 'सञ्जिगंसिता' रूप बनना चाहिये।

इस मत के अनुसार[2] पतंजलिसम्मत योग-विभाग के बिना ही परस्मैपदों में उपलक्षित √गम् से परस्मैपद न होने पर भी सब स्थलों में—कृत् प्रत्ययों के विषय में तथा परस्मैपदों के लुक् के विषय में भी इट् होता ही है। जहाँ √गम् से परस्मैपद की योग्यता ही नहीं है (जैसे सम्-पूर्वक √गम्), वहाँ कृत्प्रत्ययों के विषय में भी इट् नहीं होगा। जैसे—सञ्जिगंसिता। इसके अतिरिक्त, जहाँ इड्विधि के लिये √गम् का

---

1. पदमञ्जरी में इस अर्थ में सप्तमी के बारे में एक पक्ष और दिया है : (पूर्वपक्षः) अन्ये मन्यन्ते—'परस्मैपदेषु' इति सप्तमी-निर्देशादानन्तर्याश्रयणादयमर्थो भवति—'गमेरुत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य तिङ्क्वनन्तरेषु यदीड् भवति, परस्मैपदेष्वेव' इति। (उत्तरपक्षः) ततश्च (1) 'सङ्गंस्यते' इत्यत्रैव व्यावृत्तिः स्यात्, (2) न 'सङ्गंसीष्ट' इत्यत्र; (3) नापि 'सञ्जिगंसत' इत्यादौ, शपा व्यवधानात्; (शङ्का) एकादेशे नास्ति व्यवधानम्; (उत्तरः) 'एकादेशः पूर्व-विधौ स्थानिवद् भवति' (म०भा० 1.2.4, पृष्ठ 12) इति स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमेव; (4) 'संजिगंसिष्यत' इत्यादौ च नैवं स्यात्।

2. न्यास 7.2.58 : पदशेषकारः पुनरेवम्मन्यते—'परस्मैपदेषु' इति नेयम्परसप्तमी, किन्तर्हि विषयसप्तमी,—'परस्मैपदविषये यो गमिरुपलक्षित=उपलब्धस्तस्य सकारादावार्धधातुक इड् भवति' इति। एवञ्च सति योगविभागमन्तरेणापि तन्मतेन परस्मैपदेषु यो गमिरुपलक्षितस्तस्मादसत्यपि परस्मैपदे सर्वत्र—कृति, परस्मैपदलुकि च—इड् भवत्येव; सकारादेरार्धधातुकस्याविशेषितत्वात्। तन्मतेन सञ्जिगंसिताऽधिजिगंसिता व्याकरणस्येति भवितव्यम् इति—सम्पूर्वस्याधिपूर्वस्य च गमेः परस्मैपदेष्वनुपलक्षितत्वात्।

लोपः—अगमत् । सर्पति; ससर्प । 2402 अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् बताया होने से उपधा का लोप नहीं होता—अगमत् । 2402 उपदेश में अनुदात्त (अनिट्)

परस्मैपदोपलक्षित होना ही पर्याप्त होगा, वहाँ इण्निषेध के लिए भी √गम् का आत्मनेपदोपलक्षित होना ही पर्याप्त होगा। आत्मनेपद का समानपदस्थ होना भी अनपेक्षित ही है ।

आचार्य कैयट ने इस प्रसंग पर योगविभाग की व्याख्या करके फलितार्थ बतलाते हुए लिखा है—**तुल्यजातीयापेक्षत्वाच्च नियमस्यात्मनेपदविषय एवेण्निवर्त्यते इति कृतिः परस्मैपदलुकि चेड् भवत्येव । जिगमिषितुम् । जिगमिषितव्यम् । जिगमिष त्वमिति** (प्र०7.2.58) । यहाँ **'आत्मने-पद-विषय एव'** कहने से कैयट को पदशेषकार की विषय-सप्तमी अभिप्रेत नहीं है । क्योंकि पदशेषकार के अनुसार गम् के समानपद में आत्मने-पद का होना आवश्यक नहीं है । पर कैयट ने **'सिद्धं तु गमेरात्मनेपदेन समानपदस्थ-स्येट्प्रतिषेधात्'** इस भाष्यवार्तिक (3) को स्वीकार किया है, और **केचितु योगविभागे-नेष्ट सिद्धिमाहुः** कहकर योग-विभाग एवम् उसका फलितार्थ दिखाया है । पदशेषकार के मत में योग-विभाग की अपेक्षा ही नहीं है । इससे निष्कर्ष यही निकलता है, कि **'आत्मनेपद-विषय-एव'** लिखने से कैयट विषय-सप्तमी नहीं मानते ।[1]

गमिष्यति—गम्+स्य+ति, वलादिलक्षणक इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** से निषेध होने पर **गमेरिट्०** से इट्, षत्व : गमिष्यति । **अगमत्**—लुङ् में उपदेश में लृदित् होने से **पुषादि-द्युता०** से च्लि को अङ्, **गम-हन-जन०** सूत्र में 'अनङि' (अङ् पर रहते नहीं हो) कहा होने से उपधा का लोप नहीं होता ।

महाभारत (शा० प० 3.16) में 'गमिष्ये' प्रयोग उपलब्ध होता है । पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से तो इस प्रकार के प्रयोग असिद्ध हैं । अतः आर्ष वचन ही समा-धान हो सकता है ।

2402 अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (6.1.59)—आदेच उपदेशेऽशिति (45), सृजि-दृशोर्झल्यमकिति (58), लिटि धातोरनभ्यासस्य (8) : उपदेशे अनुदात्तस्य च ऋदुपधस्य धातोः (अन्त्यादचः परः) अम् (आगमः) अन्यतरस्यां भवति झलादौ अकिति प्रत्यये परतः—उपदेश में अनुदात्त, ऋदुपध धातु के भी अंत्य अच् से परे अम् आगम वा होता है, झलादि, कित् से भिन्न प्रत्यय परे रहते ।

---

1. इस विषय का अच्छा विवेचन न्यास और प०म० में किया गया है । ऊपर उद्धृत पंक्तियों में कैयट ने न्यास का सङ्क्षेप किया है । कैयट की पंक्तियाँ हरदत्त की पंक्तियों से मिलती हैं । कैयट और हरदत्त का परस्पर उपजीव्योपजीवक सम्बन्ध स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है । पृष्ठ 389, टि० 1 भी देखें ।

(6.1.59)—उपदेशेऽजनुदात्तो य ऋदुपधः, तस्याम् वा स्याज्झलादावकिति परे। स्रप्ता, सर्प्ता; स्रप्स्यति, सर्प्स्यति। असृपत्। 7 यम उपरमे ॥ 6 ॥ यच्छति; येमिथ, ययन्थ; यन्ता; अयंसिष्टाम्। 8 तप सन्तापे ॥ 7 ॥ तप्ता;

जो धातु उपधा में ह्रस्व ऋकार वाली है, उसे अम् (आगम) विकल्प से हो, जब आदि में झल् वर्ण वाला किद्-भिन्न (प्रत्यय) उसके बाद स्थित होवे। स्रप्ता, सर्प्ता; स्रप्स्यति, सर्प्स्यति। 7 √यम् रुकाव अर्थ में है ॥ 6 ॥ 8 √तप् गरम होना/करना

स्रप्ता—√सृप्+ता, ऋ के बाद अम् का आगम, सृअप्+ता, यण्, स्रप्ता। अमभावपक्ष में उपधा-गुण : सर्प्ता। **सृप्यात्**—यासुट् के झलादि होते भी कित् होने से अम् नहीं। **असृपत्**—लृदित् होने से च्लि को **पुषादि-द्युताद्यलृ०** से अङ्, झलादि न होने से अम् और ङित् होने से लघूपधगुण नहीं होते। प्र०कौ० में **स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः** (वा०) में 'सृप' को भी माना है।[1] उनके मत में इससे अङ् को बाध कर सिच् ही रहने के पक्ष में **अनुदात्तस्य चर्दुपध०** से अम् आदेश के बाद वृद्धि करने से 'अस्राप्सीत्' रूप होता है। इसी प्रकार अस्राप्ताम्, अस्राप्सुः, अस्राप्सीः, **झलो झलि** से स् का लोप इत्यादि समझें। अस्रप्स्यत्, असर्प्स्यत्।

7 √**यम्** रुकना (अकर्मक), रोकना, नियन्त्रण करना (सकर्मक) अर्थ में अनिट् है। **उपरमो=निवृत्तिः** (—क्षीरस्वामी)। यम्+अ+ति, **इषु-गमि-यमां छः** से म् को छ् : यछ्+अ+ति, **छे च** से तुक्, चर्त्व : यच्छ्+अति=यच्छति। लुङ् में **यम-रम-नमातां सक्च** : अ+यम्+इ+स्+ईत्। **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** का **नेटि** से निषेध, **नश्चापदान्तस्य झलि** : अयंसीत्। भोजदेव तथा कृष्णलीलाशुकमुनि के अनुसार **यमु** पाठ है। क्त्वा में **उदितो वा** से विकल्प से इट् : यमित्वा, यत्वा;[2] यतः, यतवान्, नियतम्।

8 √**तप्** तपना, तापना (अकर्मक), तपाना (सकर्मक), कष्ट देना (सकर्मक), कष्ट उठाना (अकर्मक) अर्थ में अनिट् है। चांद्रायण आदि कृच्छ्र व्रतों में, पञ्चाग्नि-सेवन आदि में और धार्मिक अनुष्ठान आदि में शरीर को कष्ट देने, तपाने आदि से 'तप करना' इसका लाक्षणिक अर्थ है।

तपति; तताप, तेपतुः, तेपुः; तेपिथ—भारद्वाज-मते इट्, पक्षे ततप्थ। लुङ् में

---

1. यह मत भाष्य, काशिका तथा इनकी टीकाओं आदि के विरुद्ध होने से उपेक्ष्य है।
2. इड्रहित 'यत्वा' मै०सं० (1.8.9) तथा का०सं० (23.5, 27.9) में मिलता है। सेट् 'यमित्वा' नहीं। अतः उदित् पाठ श्रद्धेय नहीं है। वेद में √यम् वेट् मिलती है : **रश्मीन् यमित्वा इव** (ऋ० 1.28.4), **श्रवस्या च यन्तवे** (ऋ० 8.15.3), **यन्त्र्यसि यमित्री** (तै०सं० 4.3.7.2)।

अताप्सीत् । 2403 निसस्तपतावनासेवने (8.3.102)—षः स्यात्, आसेवनं= पौनः-पुन्यम्; ततोऽन्यस्मिन्विषये । निष्टपति ॥ 95 ॥

33.9 त्यज हानौ ॥ 8 ॥ तत्यजिथ, तत्यक्थ; त्यक्ता; अत्याक्षीत् । 10 षञ्ज संगे ॥ 9 ॥ 'दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि' (2396) इति न-लोपः— सजति; सङ्क्ता ॥ 96 ॥

अर्थ में है ॥ 7 ॥ 2403 √निस् के पश्चात् √तप् होने पर (निस् के) स् को ष् हो, आसेवन-भिन्न (सन्ताप) अर्थ में । आसेवन माने बार-बार होना/करना है । उससे अन्य (सन्ताप के) विषय में निष्टपति ॥ 95 ॥

धातु-वर्ग 33 : परस्मैपदी अनिट् धातु : ग. जकारांत दो धातु

33.9 √त्यज् छोड़ने में है ॥ 8 ॥ 10 √सञ्ज् (पोपदेश) जुड़ना, जोड़ना अर्थ में है ॥ 9 ॥ 'दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि' (2396) से नकार का लोप होता है— सजति, सङ्क्ता ॥ 96 ॥

इट् का निषेध होने पर **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से वृद्धि : अताप्सीत् । अताप्+स्+ताम्, **झलो झलि**, अताप्ताम्; अताप्सुः ।

2403 **निसस्तपतावनासेवने** (8.3.102)—अपदान्तस्य मूर्धन्यः (55), सहेः साडः सः (56) : निसः अपदान्तस्य सस्य मूर्धन्यः भवति तपतौ (√तप् धातौ) परे, आसेवनभिन्नेऽर्थे । 'आसेवन' का अर्थ बार-बार है । यानी 'बार-बार तपाना, पिघलाना' अर्थ में ष् नहीं होता । निष्टपति भूषणं सुवर्णकारः (सुनार गहने को उजालता है) । भूषणान्तरं रचयितुन्तु निस्तपति (उस गहने से और कोई गहना बनाने के लिये तो गलाता है) । इसी प्रकार यङ् तथा यङ्लुक् में नित्य आसेवन अर्थ होने से षत्व नहीं होगा : निस्तातप्यते, निस्तातपीति ॥ 95 ॥

33.9 √**त्यज्** छोड़ना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । अत्याक्षीत्—अत्यज्+स्+ई+त्, हलन्तलक्षणा वृद्धि, **चोः कुः, खरि च** : अत्याक्+स्+ई+त्, **आदेश-प्रत्यययोः**, क-ष-संयोगे क्षः । अत्याज्+स्+ताम्, **झलो झलि** : अत्याज्+ताम्, **चोः कुः**, अत्याग्+ताम्, **खरि च**, अत्याक्ताम् । अत्याक्षुः; अत्याक्षीः, अत्याक्तम्, अत्याक्त, अत्याक्षम्, अत्याक्ष्व, अत्याक्ष्म ।

10 √**सञ्ज्** लगना, फँसना, जुड़ना अर्थ में (अकर्मक) और लगाना, फसाना, जोड़ना अर्थ में (सकर्मक) अनिट् है । **दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि** से नलोप : सजति । ससञ्ज, अभिषषञ्ज—**स्थादिष्वभ्यासेन०** से अभ्यास के तथा अभ्यासोत्तर-वर्ती सकारों को मूर्धन्य; ससञ्जतुः, सङ्क्ष्यति; सज्यात्—**अनिदितां हल०** से नलोप । असाङ्क्षीत् । प्रसङ्गः । प्रासङ्गः=प्रासंग (तुला के पल्लों का अन्तर मिटाने के लिए हल्के पल्ले पर लगाया जाने वाला भार) । **व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः** (उ० रा० च० 6.12) ॥ 96 ॥

33.11 दृशिर् प्रेक्षणे ॥ 9 ॥ पश्यति । 2404 विभाषा सृजि-दृशोः (7.2.65)—आभ्यां थल इड् वा । 2405 सृजि-दृशोर्झल्यमकिति (6.1.58) —अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति । दद्रष्ठ, ददर्शिथ; द्रष्टा; द्रक्ष्यति;

धातु-वर्ग 33 : परस्मैपदी अनिट् धातु : घ. ऊष्मांत 5 धातु

33.11 √दृश् (इरित्) देखने में है ॥ 9 ॥ 2404 √सृज् और √दृश् के पश्चात् स्थित थल् को इट् विकल्प से होता है । 2405 √सृज् और √दृश् को अम् आगम हो, आदि में झल् वर्ण वाला किद्भिन्न प्रत्यय वाद में होने पर । दद्रष्ठ, ददर्शिथ; द्रष्टा; द्रक्ष्यति । (धातु के) इत्संज्ञक इर् वाली होने से अङ् विकल्प से होता है ।

33.11 √**दृश्** देखना अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है । √दृश्+अति, **पा-ध्रा-म्ना०** से √दृश् को 'पश्य' आदेश । 'पश्य' आदेश अदंत होने के पक्ष में **अतो गुणे,** हलंत होने के पक्ष में पश्य्+अ+ति=पश्यति । महाभारत में यह असकृद् आत्मनेपद में भी उपलब्ध होती है । जैसे—पश्यध्वम् (स्त्रीपर्व 3.10), अपश्यन्त (16.11), पश्येत (शान्तिपर्व 94.4, पाठांतर) । इसके अलावा पश्यादेश का विकल्प भी उपलब्ध होता है : प्रदृश्यन्ति (शा० प० 57.32), दृश्यात् (श्रीमद्भा० 4.1.57) । वस्तुतः प्राचीन काल में √दृश्य् तथा √पश्य् ये दो स्वतंत्र प्रकृतियाँ प्रयुक्त होती थीं । कालांतर में कुछ प्रत्ययों में एक, तो कुछ में दूसरी प्रयुक्त होने लगी ।

2404 **विभाषा सृजि-दृशोः** (7.2.65)—आर्धधातुकस्येड् वलादेः (35), अचस्तास्वत्थल्यनिटो० (61), **अङ्गस्य** (6.4.1) : सृजि-दृशोः अङ्गयोः थलः विभाषा इड् (भवति)—√सृज् तथा √दृश् अंगों के थल् को वा इट् होता है ।

काशिका में **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः** (59) से 'न' की अनुवृत्ति करके 'वा इट् नहीं होता', अर्थ किया है । यहाँ 'सृजि-दृशोः' में बा० म० के मत में पंचमी के अर्थ में षष्ठी है । इसीलिये दीक्षितजी ने 'आभ्याम्' (इन दोनों से परे) अर्थ किया है । वस्तुतः सूत्रकार ने इस प्रकरण में षष्ठी तथा पंचमी दोनों का ही प्रचुर प्रयोग किया है ।[1] इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार की दृष्टि में दोनों विभक्तियों का निर्देश करके फल में कोई अंतर नहीं आता ।

2405 **सृजि-दृशोर्झल्यमकिति** (6.2.58)—सृजि-दृशोः (6.2) अम् (1.1) झलि अकिति (7.1) । **सृज विसर्गे** (दि०, तु०), तथा **दृशिर् प्रेक्षणे** (भ्वा०) के अंत्य

---

1. जैसे 7.2.36, 49, 52, 55, 65-68, 74, 78 सूत्रों में प्रकृति षष्ठ्यंत है । 45, 59, 72, 75, 76 में पंचम्यंत है । इन सूत्रों में द्वि-बहु-वचनांत प्रकृति ही दर्शाई है । एक-वचनान्त यहाँ नहीं दिखाई है ।

दृश्यात्। इरित्त्वादङ् वा—2406 ऋ-दृशोऽङि गुणः (7.4.16)—ऋवर्णान्तानां, दृशेश्च गुणः स्यादङि। अदर्शत्। अङभावे—2407 न दृशः (3.1.47)—दृशश्च्लेः क्सो न। अद्राक्षीत्। 12 दंश दशने ॥ 10 ॥ दशनं=दंष्ट्रा-

2406 अन्त में ऋकार वाली धातुओं को, और √दृश् को गुण हो, बाद में अङ् होने पर। अदर्शत्। अङ् न होने पर—2407 √दृश् से परे स्थित च्लि को क्स आदेश नहीं होता। अद्राक्षीत्। 12 √दंश् दशन अर्थ में है ॥ 10 ॥ दशन माने दाँत की क्रिया

अच् से परे अम् आगम होता है, झलादि अकित् प्रत्यय परे रहते। यद्यपि **अनुदात्तस्य चर्दुप०** सूत्र परत्वात् इससे प्रबल है, पर यह विशेष विधान से तथा निरवकाश होने से अपवाद होने के कारण प्रबल है।

ददृश्+थल्, क्रादिनियम से प्राप्त नित्य इट् को बाध कर **विभाषा सृजि-दृशोः** से वा इट्, गुण : ददर्शिथ। इडभावपक्ष में **सृजि-दृशोर्झल्यमकिति** से दृश् में ऋ के बाद अम् : ददृअश्+थ, यण् : ददृश्+थ, **व्रश्च-भ्रस्ज०** से श् को ष्, **ष्टुना ष्टुः** से थ् को ठ् : ददृष्ठ।

2406 **ऋ-दृशोऽङि गुणः** (7.4.16)—अङ्गस्य (6.4.1) : ऋ-दृशः अङ्गस्य गुणः भवति अङि परे—ऋवर्णान्त तथा √दृश् अंगों को गुण होता है, अङ् परे रहते।

लुङ् में **इरितो वा** से च्लि को वा अङ् : अदृश्+अत्, लघूपध गुण का **क्ङिति च** से निषेध, **ऋ-दृशोऽङि गुणः** से गुण : अदर्शत्। अदर्शताम्, अदर्शन्, अदर्शः।

2407 **न दृशः** (3.2.47)—धातोरेकाचो० (22), च्लेः सिच् (44), शल इगुपधादनिटः क्सः (45) : दृशः धातोः च्लेः क्सः न (भवति)—√दृश् धातु से विहित च्लि को क्स नहीं होता। अङभावपक्ष में **शल इगुपधा०** से प्राप्त क्स का **न दृशः** से निषेध, अदृश्+स्+ई+त्, **सृजि-दृशोर्झल्य०** से अम्, यण्, हलंतलक्षणा वृद्धि, अद्राश्+स्+ईत्, **व्रश्च-भ्रस्ज०** से श् को ष्, **ष-ढोः कः सि** : अद्राक्+स्+ईत्, **आदेशप्रत्यययोः**, अद्राक्षीत्। अद्राश्+स्+ताम्, **झलो झलि** से स् का लोप, श् को **व्रश्च-भ्रस्ज०** से षत्व, ष्टुत्व : अद्राष्टाम्, अद्राक्षुः, अद्राक्षीः, अद्राष्टम्, अद्राष्ट, अद्राक्षम्, अद्राक्ष्व, अद्राक्ष्म।

काशिकाकार ने यहाँ पहले क्स का निषेध, फिर **इरितो वा** से अङ् तथा पक्ष में सिच् कहा है।

12 √**दन्श्** (>√**दंश्**) डँसना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है। अर्थ-निर्देश में उपलब्ध 'दशन' शब्द √दंश् से भावे ल्युट् में निष्पन्न है तथा इस में **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (6.3.109) से न् का लोप हुआ है। 'इस धातु-सूत्र में ही निपातन से

व्यापारः[1]; पृषोदरादित्वादनुनासिक-लोपः; अत एव निपातनादित्येके; तेषाम-प्यत्रैव तात्पर्यम्, अर्थ-निर्देशस्याधुनिकत्वात्। 'दंश-सञ्ज०' (2396) इति न-लोपः—दशति। ददंशिथ, ददष्ठ; दङ्क्ष्यति; दश्यात्; अदाङ्क्षीत्।

(डँसना, दाँत से काटना) है। ('दशन' में) अनुनासिक का लोप पृषोदरादि-गण के अन्तर्गत होने से होता है। कोई कहते हैं कि यहीं (अर्थ-निर्देश में) निपातित होने से होता है। उनका आशय भी वही (पृषोदरादित्वात् सिद्धि) है; क्योंकि अर्थ का निर्देश अर्वाचीन है। 'दंश-सञ्ज०' (2396) से नकार का लोप होता है—दशति।

'दशन' शब्द सिद्ध होता है', यह क्षीरस्वामी ने कहा है।[2] उनका भी पृषोदरादिगण से ही 'दशन' शब्द सिद्ध करने का अभिप्राय है। क्योंकि दीक्षितजी के मत में अर्थनिर्देश के आधुनिक होने से उसके आधार पर शब्द-साधुत्व की कल्पना नहीं की जा सकती।[3] मा०धा०वृ० में 'दंशने' प्रमाद-पाठ लगता है, अन्यथा उनका **अत एव निर्देशादनुनासिक-लोप इति स्वामी** कथन में **'अत एव'** कहना सानुनासिक **दंशने** के रहते नहीं बनता। **'दशन इति स्वामी'** जैसी कोई बात कह कर फिर **'अत एव०'** कहना उचित होता।

दशति—दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि से न लोप। थल् में **'ऋतो भारद्वाजस्य** से वा इट्, ददंशिथ, इडभावपक्ष में **व्रश्च०** से श् को ष् : ददंष्ठ। दंष्टा। दङ्क्ष्यति—√दंश्+ स्य+ति, **व्रश्च-भ्रस्ज०** से श् को ष्, **ष-ढोः कः सि** से ष् को क्, **आदेश-प्रत्यययोः** से 'स्' को 'ष्' : दंक्ष्यति, परसवर्ण : दङ्क्ष्यति। दश्यात्—**अनिदितां हल०** से नलोप। अदाङ्क्षीत्, अदांष्टाम्,[4] **झलो झलि** से सिज्लोप, **व्रश्च०** से षत्व। अदाङ्क्षुः,

---

1. मा० धा० वृ०। तुलना करें क्षी० त० : **दशनं=दन्त कर्म।**
2. क्षी० त०, पृष्ठ 155 : **'दशने' इति निर्देशान्न-लोप।**
3. **'दाम्नी-शस०'** (3.2.182) पर काशिका का कहना है कि प्रस्तुत सूत्र में 'दश' (लुप्त-नकारक) प्रयोग यह बताने के लिये है कि कित् ङित् से भिन्न प्रत्यय परे रहते भी कहीं-कहीं न-लोप हो जाता है। फलतः ल्युट् में भी नलोप होने से 'दशन' शब्द सिद्ध हो जाता है। ल० श० शे० (पृ० 548) में नागेशभट्ट का कहना है कि लुप्तनकारक 'दशन' केवल 'दंष्ट्राव्यापार' (डँसना) अर्थ में ही होता है। उससे भिन्न अर्थ में 'दंशन' (सानुस्वार) शब्द रहता है। **'रदना, दशना, दन्ताः'** तथा **'तनुत्रं, वर्म, दंशनम्'** (अमरकोष) में भी दंष्ट्रा-व्यापार अर्थ में निष्पन्न **दशन** शब्द निरनुस्वार है, जबकि अन्य (कवच) अर्थ में सानुस्वार **दंशन** ही है।
4. त० बो० में 'अदाङ्ष्टाम्' रूप दिया है। श् को ष् होने पर न् को कुत्व किससे हुआ ? यह इस पक्ष में स्पष्ट नहीं है। अतः यह प्रमादपाठ ही है।

13 कृष विलेखने ॥ 11 ॥ विलेखनम्=आकर्षणम्। क्रष्टा, कर्ष्टा; क्रक्ष्यति, कर्क्ष्यति। स्पृश-मृष-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः (वा०)—अक्राक्षीत्, अक्राष्टाम्; अकार्क्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्क्षुः; पक्षे क्सः—अकृक्षत्, अकृक्षताम्, अकृक्षन्।

13 √कृष् विलेखन में है ॥ 11 ॥ विलेखन माने खेंचना है। √स्पृश्, √मृष्, √कृप्, √तृप् और √दृप् के च्लि को सिच् विकल्प से कहना चाहिये (वा०) —अक्राक्षीत्; अकार्क्षीत्; पक्ष में क्स होता है—अकृक्षत्।

अदाङ्क्षी, अदांष्टम्, अदांष्ट; अदाङ्क्षम्, अदाङ्क्ष्व, अदाङ्क्ष्म। दशतु, अदशत्, दशेत्।

13 √**कृष्** विलेखन अर्थ में (सकर्मक अनिट्) है। भट्टमल्ल और क्षीरस्वामी के मत में हल से कुरेदना, जोतना, बाहना और देव, पुरुषकार, सायण तथा दीक्षित जी के मत में आर्कषण, खेंचना अर्थ है।[1] कृष्+ता, **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्या०** से अम्: कृ अष्+ता, यण्, क्रष्टा। अमभाव-पक्ष में लघूपधगुण : कर्ष्टा।

स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज् वा वाच्यः (वा०)—स्पृश संस्पर्शने (तु०), मृश आमर्शने (तु०), कृष विलेखने (भ्वा०, तु०), तृप प्रीणने (दि०), दृप हर्ष-विमोचनयोः (दि०) के च्लि को वा सिच् कहना चाहिये। प्र०कौ० में यहाँ √सृप् भी मानी है। पर वह सम्प्रदाय-विरुद्ध है, यह पीछे (√सृप् पर पृष्ठ 705, पा० टि० 1 में) कहा है।

यहां वार्तिक में अविशेषेण (परिच्छेदकरहित) 'कृष' पाठ होने से[2] भ्वादि और तुदादि दोनों धातु ली जाती हैं। दिवादिगत √तृप्, √दृप् को वा सिच् करने से पुषादित्वात् प्राप्त 'अङ्' बाधित हो जाता है। अन्यगणस्थ धातुओं को वा सिज्विधान करने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः √तृप् तथा √दृप् दोनों दैवादिक (पुषादिक) ही ली गई हैं।

पहली तीन धातुओं से इनके शलंत इगुपध अनिट् होने से **शल इगुपधादनिटः क्सः** प्राप्त होता है। वा सिच् करके एक पक्ष में 'क्स' तथा दूसरे पक्ष में सिच् का

---

1. आ०चं० 2.4.1, श्लोक 172 : **कृषते, कृषतीत्येते कृषौ क्षुरति, कर्षति।** क्षी०त० : **विलेखनम्=हलोत्किरणम्।** दैवम् 178 : **कर्षत्याकर्षणे।** पुरुषकार : **कृष विलेखने। कर्षतिस्त्वाकर्षणे प्रसिद्धः।** मा० धा० वृ० : **विलेखनमिहाकर्षणम्। तथा च पुरुषकारे 'कर्षतिश्चाकर्षणे प्रसिद्ध' इति।**
2. गण-क्रम (√कृष्, √स्पृश्, मृश्,) को तोड़कर देने से भी आचार्य का यह आशय हो सकता है कि तौदादिक का ग्रहण ही साहचर्य-नियम से न समझा जाए।

14 दह भस्मीकरणे ॥ 12 ॥ देहिथ, ददग्ध; दग्धा; धक्ष्यति; अधाक्षीत्,

14 √दह् छार (राख) करने में है ॥ 12 ॥ 15 √मिह् सींचने में

विधान किया गया है। √तृप्, √दृप् को **'पुषादि-द्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु** से च्लि को अङ् **च्लेः सिच्** को बाध कर प्राप्त होता है। वहाँ भी वा सिच् करने से अङ् तथा सिच् दोनों सिद्ध होते हैं।

श्रीजिनेंद्रबुद्धि का न्यास (3.1.44) में इस वार्तिक पर कहना है कि व्याख्यान से सूत्रों में ही स्पृशादि से क्स, तथा तृपादि से अङ् वा प्राप्त हो सकते हैं : (1) **शल इगुपधाद०** सूत्र में **विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्** (3.1.41) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति मंडूक-प्लुति न्याय से, और (2) **पुषादि०** अङ्सूत्र में **आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्** से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति सीधे ही कर ली जाए। इस विकल्प को व्यवस्थितविभाषा मान कर स्पृश-तृपादि व्यवस्थित प्रयोगों में वा 'क्स' तथा 'अङ्' होगें, इनसे अन्य स्थलों में नित्य ही। तब, जिस पक्ष में 'क्स' और 'अङ्' का अभाव है, उस पक्ष में सामान्य रूप से किया हुआ सिच् ही रहेगा।[1]

इस वार्तिक के फलस्वरूप इन धातुओं में प्रत्येक के लुङ् में तीन-तीन रूप होंगे : (क) क्स (या अङ्) को बाध कर सिच् ही रखने के पक्ष में **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** से अम् होने पर अ+कृअष्+स्+ईत्, यण् : अक्रष्+सीत्, **ष-ढोः कः सि** : अक्रक्+सीत्, **आदेश-प्रत्यययोः** : अक्रक्+षीत्, **वद-व्रज-हलन्त०** से वृद्धि : अक्राक्षीत्=अक्राक्षीत्। (ख) अम् न होने के पक्ष में सिच् होने पर अकृष्+सीत्, **वद-व्रज-हलन्तस्याचः**, अकार्ष्+सीत्, कुत्वादि पूर्ववत् : अकार्क्षीत्। (ग) सिजभावपक्ष में क्स होने पर अकृष्+स+त्, कुत्वादि पूर्ववत् : अकृक्षत्।

(क) अक्राक्षीत्, अक्राष्टाम्, अक्राक्षुः, अक्राक्षीः, अक्राष्टम्, अक्राष्ट, अक्राक्षम्, अक्राक्ष्व, अक्राक्ष्म; (ख) अकार्क्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्क्षुः, अकार्क्षीः, अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट, अकार्क्षम्, अकार्क्ष्व, अकार्क्ष्म; (ग) अकृक्षत्, अकृक्षताम्, अकृक्षन्, अकृक्षः, अकृक्षतम, अकृक्षत, अकृक्षम्, अकृक्षाव, अकृक्षाम।

14 √दह् भस्मसात् करना, जलाना (गु० √दाझ्) अर्थ में (सकर्मक अनिट्)

---

1. उनका आशय कदाचित् यह है कि प्रस्तुत वार्तिक या तो व्यर्थ है, या शिष्यबुद्धि-वैशद्यार्थ है। अथवा वार्तिककारके संशोधनों को सूत्रकार की प्रक्रिया से ही निकाल कर वार्तिककार की उपेक्षा करने की वैयाकरण सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के कारण भी उन्होंने ऐसा कहा हो सकता है। पर भाष्य से लेकर दीक्षित जी आदि अर्वाचीन वैयाकरणों तक ने इस वार्तिक को स्वीकार ही किया है।

अदाग्धाम्; अधाक्षुः। 15 मिह सेचने ॥ 13 ॥ मिमेह; मिमेहिथ; मेढा, मेक्ष्यति; अमिक्षत् ॥ 97 ॥

है ॥ 13 ॥ मिमेह, मिमेहिथ; मेढा; मेक्ष्यति; अमिक्षत् ॥ 97 ॥

है। वस्तुतः हिंदी में 'जलाना' जिस भाव में प्रयुक्त होता है, ठीक उसी भाव में यह प्रयुक्त होती है। **दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति** (ऋ० 10.34.9) और **वज्रो हि वा आपः। तस्माद्येनैता यन्ति, निम्नं कुर्वन्ति। यत्रोपतिष्ठन्ति, निर्दहन्ति** (शतपथ ब्रा० 1.1.1.17, पानी जहाँ ठहर जाता है, उस स्थान के पेड़-पौधों को जला डालता है) में भस्मीकरण से भिन्न प्रकार के जलाने में प्रयुक्त हुई है। यह √दह् का मुहावरे मे बदला रूढा लक्षणा का प्रयोग भी हो सकता है।

दहति; ददाह, देहतुः, देहिथ, ददग्ध; दग्धा; धक्ष्यति; दहतु; अदहत्; दहेत्; दह्यात्; अधाक्षीत्, अदाग्धाम्, अधाक्षुः, अधाक्षीः, अदाग्धम्, अदाग्ध, अधाक्षम्, अधाक्ष्व, अधाक्ष्म; अधक्ष्यत्; दाह, दग्ध।

अधाक्षीत्—अदह्+सीत्, हलंतत्वाद् **वद-व्रज०** से वृद्धि : अदाह्+सीत्, **हो ढः** को वाध कर **दादेर्धातोर्घः** से ह् को घ्, **एकाचो बशो०** से द् को ध् : अ+धाघ्+सीत्.[1] **खरि च** से घ् को क्, स् को ष् : अधाक्+षीत्=अधाक्षीत्।

अदाग्धाम्—अदाह्+स्+ताम्, **झलो झलि** से सिज्लोप, ह् को घ्, **झषस्तथोर्धोऽधः** से त् को ध्, **झलां जश् झशि** से ध को ग् : अदाग्धाम्।

यह धातु गुजराती में √दाझ् के रूप में और 'डाह्या' (चतुर, तु० संस्कृत विदग्ध) में है। हिंदी 'डाह' (ईर्ष्या) इसी से है। 'दाग', 'दाग देना' भी इसी से हैं।

15 **मिह्** सींचना अर्थ में अनिट् है। 'सेचन' से 'लिङ्गेन्द्रिय से तरल पदार्थ छोड़ना' अर्थ लोक में इस धातु का लिया जाता है। फलतः मूतना और वीर्यनिषेक अर्थ में (अकर्मक) है। प्रयोगवशात् अकर्मक तथा सकर्मक दोनों हो जाती है।

यह न अजंत है, और न अत्वान्। अतः लिट् में क्रादिनियम से इट् होता है। लुङ् में 'क्स'। मेहति, मिमेह, मिमिहतुः, मिमेहिथ, मिमिहिव, मिमिहिम; मेढा; मेक्ष्यति; मिह्यात्; अमिक्षत्; अमिक्षताम्, अमिक्षन्। मेढ्र=लिंग, मेघ=बादल। मिहिरः=सूर्य। मधुमेहः, प्रमेहः। हिंदी मेंह, मींह इसी से है। मींढा। 'मीढ्वस्' में यह 'दाता' अर्थ में लाक्षणिक है। तु० वैदिक 'वृष' ॥ 97 ॥

---

1. वा० म० में इसके बाद **'घस्य गः, तस्य कः'** बताया है। पर सकार परे रहते यह किस सूत्र से प्राप्त है, यह वासुदेव दीक्षितजी ही जानते हैं।

33.16 कित निवासे, रोगापनयने च ॥ 14 ॥ चिकित्सति। संशये प्रायेण 'वि'-पूर्वः—'विचिकित्सा तु संशयः' इत्यमरः। अस्यानुदात्तेत्त्वमाश्रित्य 'चिकित्सते' इत्यादि कश्चिदुदाजहार। निवासे तु केतयति ॥ 98 ॥

धातु-वर्ग 33 : ङ. स्वार्थे सन् वाली तकारांत परस्मैपदी 1 धातु

33.16 √कित् रहना और रोग हटाना अर्थों में है ॥ 14 ॥ संदेह करना अर्थ में तो यह आमतौर पर वि' उपसर्ग के साथ आती है—'विचिकित्सा तो संदेह (होता है)', यह अमर-कोप (में कहा) है। 'रहना' अर्थ में तो 'केतयति' (बनता है) ॥ 98 ॥

33.16 √**कित्** रहना (अकर्मक) तथा रोग हटाना, चिकित्सा (इलाज) करना अर्थ में (सकर्मक) है।

गुप्तिज्किद्भ्यः सन्, √गुप्+स, सनादि कार्य : चिकित्सति। 'संशय' अर्थ में आम तौर पर 'वि' उपसर्ग लगता है। विचिकित्सा=संशय (अमरकोश)।

इस धातु के अर्थ तथा नित्यसन्नंतता आदि के विषय में **गुप्तिज्किदभ्यः सन्** (2393) पर कहा जा चुका है।

√कित् के आत्मनेपदित्व पर विचार : यहाँ सायण ने लिखा है कि आभरणकार का इस प्रसंग पर यह कहना है कि **गुप्तिज्०** सूत्रपर भाष्य तथा वार्तिक में **गुपादिष्वनुबंधकरणमात्मनेपदार्थम्** वाक्य में 'गुपादिषु' में बहुवचन से √कित् से भी आत्मनेपद ही कहा है। अतः परस्मैपदी उदात्तेतों के प्रकरण में होते हुए भी यह धातु आत्मनेपदी ही है। अतः 'चिकित्सते' रूप बनता है।

किन्तु कैयट ने प्रदीप में **गुप्तिज्कित-माना अनुदात्तेतः** (आक्षेपभाष्य) पर 'यहाँ √कित् को अनुक्रम (सूत्रपाठोक्त क्रम) दर्शाने के लिये दिया है, यह अनुदात्तेत् नहीं है' लिखा है। श्री हरदत्तमिश्र ने भी '**गुपादिषु०** वचन **मान-बध०** (3.1.6) सूत्र के अभिप्राय से है, √कित् तो परस्मैपदी ही है', यही कहा है। आचार्य इंदु ने भी '√गुप् और √तिज् अनुदात्तेत् हैं, कित् नहीं, उसका 'चिकित्सति' ही प्रयोग होता है,' यह कहा है। नागेश भी √ कित् को परस्मैपदी मानते हैं। क्षीरस्वामी, काश्यप तथा न्यासकार आदि ने भी 'चिकित्सति' ही उदाहरण दिए हैं। अतः इन आचार्यों के विरोध के कारण तथा धातु-पाठ में परस्मैपदी धातुओं में पठित होने से √कित् परस्मैपदी ही है। अतः आभरणकार (भोज ?) का वचन प्रमादपूर्ण है।

'निवास' अर्थ में 'चिकित्सति' का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता[1]। धातु के नित्य

---

1. क्षी० त० में भी '**निवासे नास्ति**' ('निवास' अर्थ में सन् नहीं होता) ही कहा है।

34.1 दान खण्डने ॥ 1 ॥ 2 शान तेजने ॥ 2 ॥ इतो वहत्यन्ताः

धातु-वर्ग 34 : हलंत उभय-पदी 11 धातुएँ

34.1 √दान् काटना, तोड़ना अर्थ में है ॥ 1 ॥ 2 √शान् पैना करने में

सन्नन्त होने से 'केतति' बन नहीं सकता। अतः यहाँ 'निवास' अर्थ-निर्देश व्यर्थ है। केत, केतन, निकेत, निकेतन आदि निवासार्थक शब्द चौरादिक √केत् से निष्पन्न हैं। नागेश भट्ट (उद्योत 3.1.5) के अनुसार सन् अर्थविशेष में ही होता है[1], अन्य अर्थों में नहीं, यह **गुप गोपने** और **कित निकेतने** धातुपाठ में **गोपन** और **निकेतन** प्रयोगों से सिद्ध होता है।

धातु-योग : गत धातुएँ 942, इस वर्ग की 16, योग 958 ॥ 98 ॥

संदर्भ : पिछले वर्ग में स्वार्थ-सन्नंत परस्मैपदी धातु √कित् दी है। अतः रूप-रचना के सादृश्य के कारण अब स्वार्थे सन् वाली दो उभयपदी धातुएँ दी हैं। इनसे उभय-पदी धातुओं का प्रकरण चल जाने के कारण इनके बाद 9 और उभय-पदी धातुएँ दी हैं। दीक्षितजी ने धातु-पाठ में पृथक् वर्गों में परिगणित इन 2+9 धातुओं को एक साथ दे दिया है। पहली दोनों धातु धातु-पाठ में उदात्त (सेट्) बताई हैं,[2] पर सन् की आर्धधातुक संज्ञा न होने के कारण उसका प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता। सन्नंत धातु अनेकाच् होने से **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** का विषय नहीं रहती; अतः धातु-पाठ में उदात्तता के उपदेश की सार्थकता स्पष्ट नहीं है। इसके बाद की 9 धातुओं में से आठ तो अनुदात्त (अनिट्) हैं, एक 4 √सच् कंठ-गत के समान उदात्त (सेट्) है। इसे 27 वें वर्ग में रखना उचित प्रतीत होता है।

इस वर्ग की 9वीं (√यज्) धातु से सूत्र-कार को एक यजादि अंतर्गण संप्रसारण कार्य करने के लिए अभीष्ट है, जो इस गण के अंत तक चलता है।

34.1 √**दान्**, 2 √**शान्** क्रमशः खंडन तथा तीक्ष्ण करने में हैं। वस्तुतः

---

1. क्षीरस्वामी ने यद्यपि 'केतति' उदाहरण दिया है, तथापि निम्न प्रमाणों को देखते हुए यह उचित नहीं है : **'पूर्वस्यात्मनेपद-दर्शनात् सन्नन्तादात्मनेपदभाव इति चेद्, गुपादिष्वप्रसिद्धिः'** (1.3.62 पर भाष्य-वार्तिक) और इस पर भाष्य : **गुपादीनां न प्राप्नोति—'जुगुप्सते, मीमांसत' इति। न ह्येतेभ्यः प्राक् सन आत्मनेपदं, नापि परस्मैपदं पश्यामः।** म०भा० 3.1.5 : **न चैतेभ्यः प्राक् सन आत्मनेपदं, नापि-परस्मैपदं पश्यामः।** एवम् इस पर प्रदीप : **नित्यसन्विषयत्वात् न चैतेभ्यः केवलेभ्यो लडाद्यनुत्पादात् प्रश्नः।**
2. अनिट् कारिकाओं पर निर्भर करने के कारण ही संभवतः दीक्षितजी ने धातुओं की सेट्ता या अनिट्ता का निर्देश नहीं किया है। धातु-पाठ में यह निर्देश सर्वत्र किया गया है।

स्वरितेतः । दीदांसति, दीदांसते; शीशांसति, शीशांसते—अर्थ-विशेषे सन् । अन्यत्र दानयति, शानयति ।

3 डुपचष् पाके ।। 3 ।। पचति, पचते; पेचिथ, पपक्थ; पेचे; पक्ता;

है ।। 2 ।। यहाँ से 11 √वह् तक उभय-पदी धातुएँ हैं । दीदांसति, दीदांसते; शीशांसति, शीशांसते—खास-खास अर्थ में सन् होता है । (उससे) भिन्न अर्थ में दानयति, शानयति ।

3 √पच् (इत्संज्ञक डु और ष् वाली) पकाना अर्थ में है ।। 3 ।। 4 √सच्

√दान् आर्जव (सरल होना, या सरल करना) अर्थ में तथा √शान् तीखा करना, पैनाना, पैना करना अर्थ में है ।

दीदांसति—√दान् से **मान्बध-दान्शान्भ्यो०** से सन्, द्वित्वादि तथा अभ्यास-कार्य : द+दान्+स्, **सन्यतः** से इत्त्व : दिदान्+स, **मान्बध-दान्शान्भ्योः दीर्घश्चाभ्यासस्य** से अभ्यास के इ को दीर्घ : दीदान्स, **नश्चापदान्तस्य झलि : दीदांस, सनाद्यन्ता धातवः**, लट्, तिप्, शप्, **अतो गुणे :** दीदांसते । इसी प्रकार शीशांसति, शीशांसते ।

दीक्षितजी के मत में प्रस्तुत भ्वादिगणोक्त धातु ही चुरादि में पुनरुक्त हैं । अतः उपर्युक्त अर्थों में ही सन् होता है । इससे भिन्न खंडन और तेजन अर्थों में इन्हीं से स्वार्थिक णिच् कहना उनके मत में उचित है । पर वस्तुतः ये धातु चौरादिकों से सर्वथा भिन्न हैं, एवम् उपर्युक्त अर्थ-निर्देश भी उचित नहीं है, यह 32.1 √गुप् पर कहा जा चुका है । यहाँ धातु-पाठ में निर्दिष्ट तेजन तथा सन्नर्थ-निर्देशक काशिका-वाक्य **शानेर्निशाने** में 'निशान' पाठ से भी यही सिद्ध होता है । **निशित-क्षुत-शातानि तेजिते** आदि अमर-कोष-वचन, व्यवहार एवं वैयाकरण-संप्रदाय के अनुसार 'तेजन' तथा 'निशान' एक दूसरे के पर्याय हैं । इससे 'निशान' कोई अर्थ-विशेष है, यह सिद्ध नहीं होता । फलतः या तो √शान् से णिच् होता ही नहीं, धातु-पाठ तथा इष्टि दोनों जगह एक ही अर्थ होने से केवल सन्नंत रूप ही बनना चाहिए या धातु-पाठ में **'तेजने'** से भिन्न अर्थ होना चाहिए । अथवा यदि 'शानयति' आदि णिजंत रूप बनाने आवश्यक ही हों, तो चुरादि प्रकरण में सर्वथा स्वतंत्र **शान तेजने** धातु देनी चाहिए । तब, **'अर्थ-विशेषे सन्'** कहने की आवश्यकता नहीं है ।

3 **√पच्** पकाना, पचाना अर्थ में (सकर्मक) है । 'पाक' का अर्थ 'विक्लित्ति' (पकाव) होता है । यदि पाक का व्युत्पत्ति-सिद्ध तथा प्रसिद्ध अर्थ लें, तो यह धातु 'पकना' अर्थ में अकर्मक होनी चाहिए । परंतु व्यवहार में 'पकाना' अर्थ में प्रसिद्ध है । अतः 'श्रपण' आदि कोई अर्थ कहना चाहिए, 'पाक' नहीं ।

पक्षीष्ट । 4 षच समवाये ॥ 4 ॥ सचति, सचते ।

(षोपदेश) युक्त होना अर्थ में है ॥ 4 ॥

लुङ् में अपाक्षीत्, अपाक्ताम्, अपाक्षुः; अपक्त, अपक्षाताम्, अपक्षत । 'डु' तथा 'ष्' की इत्संज्ञा होने से क्रमशः 'पक्त्रिमम्' (पकने के लगभग), पचा=पकाव, पकाना (पकना नहीं) ।

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते (बृ०उ० 35 9.1) तथा **अहं वैश्वानरो भूत्वा···पचाम्यन्नं चतुर्विधम्** (गीता 15.14) में 'पचाना' अर्थ में √पच् प्रयुक्त है । हिंदी में इसके पकना (अकर्मक), पकाना (सकर्मक) तथा पचना (अकर्मक) विकार हुए हैं । पर संस्कृत में अकर्मक के रूप में यह धातु कर्म-कर्तृ प्रक्रिया में प्रयुक्त होती है । पचाने में भी उदर में पकाना होता है, अतः एक √पच् से पकाना, पचाना दोनों क्रियाएँ (√पक्, √पच्) कही गई हैं । हिंदी में अकर्मक हैं ।

आचार्य क्षीरस्वामी को एक मात्र यह धातु परंपरा से सानुनासिक ('डुपचँष्' के रूप में) प्राप्त हुई है । इस पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है कि यह सानुनासिक अकार का पाठ सभी धातुओं का उपलक्षण करता है । क्योंकि ऐसा करने से **उपदेशेऽजनु०** (1.1.8) से 'अँ' की इत्संज्ञा होगी ।[1] इससे कम से कम इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि आचार्य पाणिनि ने धातुओं को सानुनासिक समाम्नात किया था । अन्यथा, सैंकड़ों धातु देने के बाद केवल एक धातु को सानुनासिक देना तथा उसे सबके सानुनासिक होने का उपलक्षक मानना उचित नहीं लगता । परन्तु कालांतर में आचार्यकृत (सस्वर तथा) सानुनासिक पाठ भ्रष्ट हो गया । आचार्य क्षीरस्वामी के समय तक केवल एक 'डुपचँष्' न जाने कैसे सानुनासिक रह पाई ! परवर्ती आचार्यों के समय तक तो यह भी सानुनासिक नहीं रही । इसी कारण पाणिनीय तंत्र में **'प्रतिज्ञाऽऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः ।'** उक्ति प्रसिद्ध हुई ।

4 √**सच्** समवाय (संबंध) होना (अकर्मक) अर्थ में सेट् है । सचति, सचते; सचिता; असाचीत्, असचीत्; असचिष्ट, असचिषाताम्, असचिषत । सचा, सचिवः ।

इस धातु के पाठ पर आचार्यों में मतभेद है: आचार्य क्षीरस्वामी ने इस प्रकरण में √षच् नहीं दी है । **षच सेचने** (क्षी० त० 1.99) पर **'षच समवाये । अस्मात् सचति, सचिवः ।'** तथा **षप समवाये** (क्षी० त० 1.285) पर **'सचेति चन्द्रः । सचति, सचिवः ।'** कहा है । **षच सेचने** पर की टिप्पणी से लगता है कि स्वामीजी के

---

1. क्षी० त०, पृष्ठ 157 : **सानुनासिकोऽकारः सर्वेषामुपलक्षणार्थः, 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्'** (1.1.8) **इतीत्संज्ञा यथा स्यात् ।**

5 भज सेवायाम् ॥ 5 ॥ भेजतुः, भेजुः, भेजिथ, बभक्थ; भक्ता; भक्ष्यति, भक्ष्यते; अभाक्षीत्, अभक्त । 6 रन्ज रागे ॥ 6 ॥ न-लोपः—रजति,

5 √भज् सेवन करने में है ॥ 5 ॥ 6 √रन्ज् रँगने में है ॥ 6 ॥ नकार का

धातु-पाठ में **षच समवाये** अवश्य रहा होगा, पर कालांतर में पाठभ्रंश हो गया है । यह स्वरितेत् (उभयपदी) है, कि उदात्तेत् (परस्मैपदी), इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता । दोनों जगह 'सचति' के साथ 'सचिवः' उदाहरण देने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । हो सकता है कि 'सचिवः' के स्थान पर 'सचते' ही पाठ रहा हो । **अकथितं च** (1·4·52) पर भाष्यकार ने **ब्रुवि-शासि-गुणेन च यत्सचते, तदकीर्तितमाचरितं कविना** श्लोक में 'सचते' का प्रयोग किया है । इस पर प्रदीप तथा काशिका में 'सचते' का पर्याय शब्द 'सम्बध्यते' दिया है । न्यासकार तथा पदमंजरीकार ने क्रमशः **'तथा हि 'षच समवाय' इति पठ्यते** और **'षच समवाये स्वरितेत् ।'** लिखा है । श्री हरदत मिश्र ने किन्हीं का मत उद्धृत किया है कि **षप समवाये** के स्थान पर कुछ लोग **षच समवाये** पाठ मानते हैं । अतः परस्मैपदी (समवायार्थक) का भाष्यकार ने प्रयोग नहीं किया है । अपि तु अनुदात्तेत् सेचनार्थक का ही धातुओं के अनेकार्थक होने से 'संबंध' में—'समवाय' में—प्रयोग किया है । उद्योत में नागोजिभट्ट ने भी **'षच सेचन' इत्यनुदात्तेतः सम्बन्धातेः कर्मव्यापारे वर्तमानादात्मनेपदम् । 'षच समवाये' इत्ययं तु परस्मैपदी** कहा है । पुरुषकार में लीलाशुकमुनि ने सेचनार्थक के 'समवाय' में प्रयोग को आदर न देते हुए परस्मैपद प्रकरण में √सच् को देने से भाष्यकार का 'सचते' प्रयोग साधु नहीं ठहरता, अतः उदात्तेत् √सच् को अयुक्त बतलाया है । वस्तुतः तो **षप समवाये** के स्थान में **षच** पाठ कर देने से ग्रंथ-स्वारस्य भी भंग होता है : उस प्रकरण में सभी धातु पकारान्त हैं; अतः पकारान्तों के मध्य पाणिनि ने चकारांत को विना ही किसी खास प्रयोजन के दिया होगा, यह जँचता नहीं । अतः जैसी कि सायणाचार्य ने व्यवस्था दी है, **षच** को यहाँ रखना उचित ही है ।

5 √**भज्** सेवा करना, सेवना, प्राप्त करना, प्राप्त होना अर्थ में (सकर्मक) है । भेजतुः—**तृ-फल-भज-त्रपश्च** । भक्ता, अभाक्षीत्, अभक्त, अभक्षाताम्, अभक्षत । वि+√भज् का प्रयोग बांटना, अलग-अलग करना अर्थ में होता है ।

6 √**रन्ज्** (नोपध,=√रञ्ज्) रँगना अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है । 'शप्' में **रञ्जेश्च** से नकार-लोप—रजति, रजते । ररञ्जे, ररञ्जिथ, ररङ्क्थ; रङ्क्ता; आशीर्लिङ् में **अनिदितां हल०** से न-लोप—रज्यात् । सीयुट् कित् नहीं है, अतः न-लोप प्राप्त ही नहीं है : रङ्क्षीष्ट; लुङ् में हलन्त-लक्षणा वृद्धि—अराङ्क्षीत्, अराङ्क्ताम्, अराङ्क्षुः । अरङ्क्त, अरङ्क्षाताम्, अरङ्क्षत; अरङ्क्थाः ।

रजते; अराङ्क्षीत्; अरङ्क्त । 7 शप आक्रोशे ॥ 7 ॥ आक्रोशो=विरुद्धानु-
लोप होता है—रजति, रजते । 7 √शप् आक्रोश अर्थ में है ॥ 7 ॥ आक्रोश माने

---

7 √शप् गाली देना, शाप देना, भला-बुरा कहना अर्थ में सकर्मक एवम् अनिट् है । **यदग्ने, अद्य मिथुना शपाते** (ऋ० 10.87.13), **मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम्** (ऋ० 1.41.8), **परस्परं घ्नन्ति, शपन्ति, वृञ्जते, पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः** (श्रीमद्भा० 1.18.44) ।

कात्यायन ने 'उपलम्भन' अर्थ में इसे नित्य आत्मनेपदी बताया है ।[1] 'उपलम्भन' का अर्थ कैयट, भागवृत्तिकार और शाकटायन ने प्रकाशन (कथन) बताया है, तो जयादित्य, जिनेंद्रबुद्धि, हरदत्त और सुधाकर ने 'शपथ' (छू कर शपथ लेना) अर्थ किया है । कौमार, चांद्र तथा भोज √शप् को 'शपथ' अर्थ में ही आत्मनेपदी मानते हैं ।[2] पर ऐसी विशेषता वाङ्मय में उपलब्ध नही मिलती : (1) **नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः, शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि**[3] में 'शपथ' अर्थ में ही आत्मनेपद प्रयुक्त नहीं है ।[4] (2) **तथा तं शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम्** (वा० रा० 2.75.60) में आत्मनेपदी √शप् आक्रोश अर्थ में ही है । 'सोँह खाना' अर्थ में नहीं ।

शपति, शपते; शशाप, शेपतुः; शेपिषे; शप्तासि, शप्तासे; शप्स्यति, शप्स्यते; शपतु, शपताम्; अशपत्, अशपत; शपेत्, शपेत; शप्यात्, शप्सीष्ट; अशाप्सीत्, अशाप्ताम्, अशाप्सुः; अशप्त, अशप्साताम्; अशप्स्यत; शापः आक्रोश, शपथः सोँह ।

---

1. म० भा० 1.3.21, वा 8 : **शप उपलम्भने** । मुद्रित म० भा०, का०, क्षी० त० तथा भागवृत्ति (पु० में उद्धृत) में **'उपालम्भने'** पाठ है । पुरुषकार (132) में **'उपालम्भे'** को प्रायिक पाठ बताया है । बहुत से ग्रंथो में यही उद्धृत भी मिलता है । पु० के यु० मी० सं० में पंक्ति 16, 21 में मुद्रित **'उपलाम्भनं'** अपपाठ है ।
2. दैवम् 132 पर पुरुषकार ।
3. काव्यप्रकाश 4.41. शार्ङ्गधर पद्धति 130.8 : **विज्जकायाः** ।
4. काव्यप्रकाश पर सुधासागर और उद्योत में यहाँ पूरा 'शपथ' अर्थ नहीं होने के कारण आत्मनेपद का अभाव माना है : **शपामि=शपथं करोमि··· । भवतीनां शपथः··· । यद्यपि 'शप उपलम्भन' इति वार्तिकेनात्मनेपदं प्राप्नोति, तथापि शपथ-करणक-प्रकाशन-विवक्षाऽभावान्न तत्प्रवृत्तिः ·· (उ०) । शपामि=भवदङ्गं स्पृशामि । अत्र शपथस्यामुख्यत्वादात्मनेपदाभावः ।**

ध्यानम् । शशाप, शेपे, अशाप्सीत्, अशप्त । 8 त्विष दीप्तौ ॥ 8 ॥ त्वेषति, त्वेषते; तित्विषे; त्वेक्ष्यति; त्विक्षीष्ट; अत्विक्षत, अत्विक्षाताम् ।

9 यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु ॥ 9 ॥ यजति, यजते । 2408 लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (6.1.17)—(i) वच्यादीनां, (ii) ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य विपरीत कुछ सोचना है ॥ 8 √त्विष् चमकने में है ॥ 8 ॥

9 √यज् देवताओं की पूजा करना, संगति करना और देना अर्थों में है ॥ 9 ॥ 2408 (i) √वच् आदि के और (ii) √ग्रह् आदि के अभ्यास को संप्रसारण हो,

---

8 **त्विष्** चमकना-दमकना अर्थ में अकर्मक अनिट् है। तित्वेषिथ—क्रादि-नियम से नित्य इट् । अत्विक्षत्—**शल इगुपधादनिटः क्सः** (2336) से क्स ।

क्षीरस्वामी के मत में **त्विषा** पाठ है। आदित् होने से **आदितश्च** (7.2.16) से निष्ठा को इट् का निषेध होता है। परन्तु अनिट्-कारिकाओं में पठित होने से निष्ठा में जब इट् प्राप्त ही नहीं है, तब आदित् करना निष्प्रयोजन ही है । अतः **'त्विषा'** पाठ प्रमादमूलक प्रतीत होता है। अवपूर्वक √त्विष् का अर्थ दान तथा छोड़ना, छुड़ाना होता है, यह दुर्ग तथा मैत्रेय आदि का कहना है। **अवत्वेषति गां द्विजाय** (ब्राह्मण को गाय देता है); **अवत्वेषते मलम्** (मैल छुड़ाता है) ।

9 √**यज्** देवों का सत्कार करना, इकट्ठे (संगम) होना, मेल-जोल करना और दान (अग्नि में आहुति डालना) अर्थ में है ।

2408 **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** (6.1.17)—ष्यङः सम्प्रसारणम् (13) : उभयेषाम् अभ्यासस्य सम्प्रसारणं (भवति) लिटि । इससे पूर्व दो सूत्र हैं—(क) **वचि-स्वपि-यजादीनां किति** (15), (ख) **ग्रहि-ज्या-वयि···भृज्जतीनां ङिति च** (16) । विभक्ति और वचन की समानता से 'उभयेषाम्' से इन दोनों सूत्रों में पठित षष्ठ्यंत शब्द लिए जाएँगे : 'उभयेषाम्—(1) वचि-स्वपि-यजादीनां, (2) ग्रहि-ज्या···भृज्जतीनाम्—अभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति लिटि परतः—वचिप्रभृति तथा ग्रहिप्रभृति इन दोनों (पूर्वसूत्रपठित) गणों की धातुओं के अभ्यास को लिट् में सम्प्रसारण होता है ।

यह सूत्र पित् लिट् के लिए है। क्योंकि कित् लिट् में तो **वचि-स्वपि-यजादीनां०** और **ग्रहि-ज्या०** आदि सूत्रों से ही संप्रसारण सिद्ध है। द्वित्वसूत्र **लिटि धातोरन०** (6.1.8) से पर होने के कारण ये सूत्र द्वित्व को बाधकर सप्रसारण पहले ही कर देंगे। तब **सकृद् गतौ यद्बाधितं तद् बाधितमेव** (प० 41) का **पुनः-प्रसङ्ग-विज्ञानात् सिद्धम्** (प० 40) से बाध होने से द्वित्व होगा। अतः यहाँ 'किति' पद की अनुवृत्ति नहीं होती (—काशिका, न्यास) ।

शंका : पूर्व सूत्रों में पठित षष्ठ्यन्त पदों को स्वरित करके उनकी अनुवृत्ति

ला कर भी काम चलाया जा सकता था। फिर 'उभयेषाम्' को सूत्र में साक्षात् दे कर पौनरुक्त्य के अतिरिक्त और क्या सिद्ध हो सकता है ? यदि कहें कि **वचि-स्वपि-यजादीनाम्** कहने से **ग्रहि-ज्या०** आदि सूत्र में भी इनकी अनुवृत्ति आने से ङित् में वचि-स्वपि-यजादियोंको भी संप्रसारण प्राप्त होता, अतः उसके निवारण के लिए यहीं 'उभयेषाम्' पद सूत्रकार ने दिया है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि **वचि० ग्रहि०** आदि दोनों सूत्रों को अलग-अलग देने से ही ङित् प्रत्यय परे रहते वचि-प्रभृति को संप्रसारण नहीं होगा, नहीं तो दोनों सूत्रों को मिलाकर ही न देते ? अथवा एक क्षण के लिए यदि उपर्युक्त आपत्ति मान भी लें, तो **वचि०** आदि की अनुवृत्ति मंडूक-प्लुति-न्याय से केवल **लिट्यभ्यासस्य** में ही आ सकती है, **ग्रहि-ज्या०** में नहीं। अतः 'उभयेषाम्' पद देने में दोष तदवस्थ ही है। इसका उत्तर यह है कि 'उभयेषाम्' पद केवल **वचि०, ग्रहि-ज्या०** के संग्रह के लिए ही नहीं दिया है, अपितु प्रयोजन-विशेष से है : जहाँ इन धातुओं के अभ्यास को संप्रसारण तथा अन्य कुछ कार्य युगपत् प्राप्त होते हैं, वहाँ अभ्यास को संप्रसारण ही पहले हो, जैसे विव्याय, विव्याध, विव्यधिथ आदि में संप्रसारण और **हलादिः शेषः** युगपत् प्राप्त होते हैं। **हलादिः शेषः** पर होने से संप्रसारण की अपेक्षा प्रबल है। तो पहले आदि-हल्शेष करने पर संप्रसारण व् को होगा। फलतः 'उव्याध', 'उव्यधिथ' आदि अनिष्ट रूप बनेगें। अतः 'उभयेषाम्' का ग्रहण उचित है।[1]

प्रस्तुत सूत्र से √ग्रह्, √प्रच्छ् तथा √भ्रस्ज् को सम्प्रसारण करने, न करने से कोई अंतर नहीं पड़ता; क्योंकि यदि संप्रसारण करते हैं, तो **उरत्** लगने के बाद **हलादिः शेषः** से रेफ की निवृत्ति करने पर समान ही रूप बनेगें। इसी लिए सूत्रकार ने इनके निरसन का प्रयत्न न करके इन्हें पड़ा ही रहने दिया है। यदि निरसन करते, तो फल तो कुछ निकलता नहीं, ग्रंथ-गौरव अलबत्ता बढ़ जाता।

√व्रश्च् को संप्रसारण करने के फल के विषय में किन्ही[2] वार्तिककार (अथवा

---

1. 6.1.17 पर म०भा०, का० एवं न्यास।
2. भाष्योक्त **'ग्रहि†-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनामविशेषः'** पाठ को प्रदीप तथा उद्योत में वार्तिककार का कथन बताया है (म०भा० 6.1.17 पर प्र०, उ०)। हरदत्त के मत में भी यह वार्तिककार का ही मत है। न्यासकार ने **एतच्च वृत्तिकार-मतेनोक्तम्'** कहा है। भार्गवशास्त्रिकृत प्रभा टिप्पण में **'वार्तिकमेतदिति प्रदीपोद्योताभ्यामुक्तावपि कुण्डलनादिरूपः पाठो नोपलभ्यते** कहा गया है। †हरदत्त ने वार्तिक में 'ग्रहि को उद्धृत नहीं किया है। किन्तु भाष्य के **'तस्माद् वक्तव्यं ग्रहेरविशेषः पृच्छतेरविशेषः।'** कथन में 'ग्रहि' देने से इसका वार्तिक में पाठ सूचित होता है।

सम्प्रसारणं स्याल् लिटि। इयाज। 2409 वचि-स्वपि-यजादीनां किति (6.1.15)—वचि-स्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति। पुनः-प्रसङ्ग-

लिट् बाद में रहते। इयाज। 2409 √वच् और √स्वप् को तथा √यज् आदियों को संप्रसारण हो, बाद में कित् (प्रत्यय) होने पर। 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' (प०)

वृत्तिकार) तथा भाष्यकार में मतभेद है :

(i) वार्त्तिककार के मत में √व्रश्च् को सम्प्रसारण करना, न करना बराबर है। यदि प्रस्तुत सूत्र में √व्रश्च् से संप्रसारण न किया जाए, तो भी 'वव्रश्च' ही बनेगा। और यदि कहें, कि **ग्रहिज्या०** में √व्रश्च् का ग्रहण आवश्यक है, और यहाँ लाघव के लिए सूत्रकार ने 'उभयेषाम्' पद से **ग्रहि-ज्या०** आदि समग्र समस्त पद लिए जाने से व्रश्चादि को निकालना ठीक नहीं है। इस पर वार्तिककार का आशय यह है कि यदि प्रस्तुत सूत्र से √ग्रह्, √व्रश्च्, √प्रच्छ् और √भ्रस्ज् के अतिरिक्त ग्रह्यादि-दण्डक-पठित धातुओं के लिए ही संप्रसारण का विधान आवश्यक है, √व्रश्च् तो लाघवार्थ अनन्य-गतितया लेनी पड़ी है, तो जब √व्रश्च् को संप्रसारण के लिए दिया ही नहीं है, तो इसे संप्रसारण करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। अतः √व्रश्च् को संप्रसारण करने न करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

(ii) इस पर भाष्यकार का कहना है कि ग्रह्यादि-दण्डकोक्त होने से √व्रश्च् का ग्रहण तो होगा ही। जैसे अन्य धातुओं को संप्रसारण होगा, वैसे ही √व्रश्च् को भी होगा ही। तब, यदि 'अभ्यास' संज्ञा के बाद संप्रसारण न किया जाए, तो अभ्यास-कार्य होने पर 'व+व्रश्च' स्थिति में ग्रहादि में अंतर्भाव होने से प्राप्त हुआ संप्रसारण अभ्यास के 'व' को होगा ही। तब 'उव्रश्च' ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। इसके विपरीत यदि संप्रसारण करते हैं, तो **उरत्** आदि कार्य होने पर 'वव्रश्च' स्थिति में लक्ष्य-भेदात् पुनः वकार को प्राप्त संप्रसारण का निषेध **उरत्** से किए हुए अत्व का **अचः परस्मिन् पूर्व-विधौ** से स्थानिवद्भाव करके **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** से हो जाएगा। अतः √व्रश्च् को संप्रसारण सप्रयोजन है।

इयाज—यज्+णल्, द्वित्व : यज्+यज्+अ, अभ्यास संज्ञा, सप्रसारण : इज्+यज्+अ, **हलादिः शेषः**, इ+यज्+अ, **अत उपधायाः**, इयाज।

2409 वचि-स्वपि-यजादीनां किति (6.1.15)—ष्यङः सम्प्रसारणम् : (13)। वचि-स्वपि-यजादीनां सम्प्रसारणं (भवति) किति।

यहाँ 'यज् आदिर्येषाम्, ते यजादयः; वचिश्च, स्वपिश्च, यजादयश्चेति वचि-स्वपि-यजादयः' इस प्रकार विग्रह करना चाहिए। 'वचिश्च, स्वपिश्च, यजिश्च इति वचि-स्वपि-यजः, आदिश्च, आदिश्च, आदिश्चेति आदयः; वचि-स्वपि-यजश्च

विज्ञानाद् द्वित्वम्—ईजतुः, ईजुः, इयजिथ, इयष्ठ; ईजे; यष्टा; यक्ष्यति; इज्यात्; यक्षीष्ट; अयाक्षीत्; अयष्ट।

से द्वित्व हो जाता है—ईजतुः, ईजुः।

आदयश्च इति वचि-स्वपि-यजादयः' विग्रह सूत्रकारको अभिप्रेत नही है। इसमें निम्नलिखित हेतु हैं :—

(क) **वच परिभाषणे** अदादि और चुरादि गणों में आई है। यदि उपर्युक्त विग्रह करके **द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते वा श्रूयमाणम्पदम्प्रत्येकमभि-सम्बध्यते** (प०) से 'वच्यादि' अर्थ लें, और √वच् से आदादिकका ग्रहण करें, तो प्रस्तुत सूत्र में 'वचि' से पृथक् 'स्वपि' का ग्रहण व्यर्थ पड़ता है। क्योंकि 'स्वपि' तो √पच् (अ०) के बाद पाँचवीं ही है, अतः आदादिक वच्यादि यदि अभिप्रेत हैं, तो स्वप् तो उनमें आ ही जाती है। इससे सिद्ध है कि आदादिक √वच् प्रभृति धातु सूत्रकार को यहाँ अभीष्ट नहीं हैं।

(ख) यदि कहें कि यहाँ चौरादिक 'वचि' ले कर चौरादिक वच्यादिकों को संप्रसारण करना सूत्रकार को अभीष्ट है, और 'स्वपि' से स्वप्यादि (अ०) को, तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि चौरादिक वच्यादियों में वच् के अतिरिक्त संप्रसारण-योग्य (यण्-संपन्न) धातु कोई नहीं है। अतः उन्हें यहाँ मानने का तो कोई प्रसंग ही नहीं है। जब वच्यादि से न आदादिक, और न चौरादिक धातु ही ली जाती हैं, तो 'स्वपि' से स्वप्यादिक ली जाएँगी, यह बात भी बनती नही है। क्योंकि 'आदि' शब्द का समास के एक अंश ('स्वपि') से संबंध हो, दूसरे अश 'वचि' से नहीं, यह उचित नहीं है। अतः 'वचि' तथा 'स्वपि' पृथक् ली जाएँगी। यजादि से धातु-पाठोक्त क्रम से √यज् से लेकर **टुओश्वि गति-वृद्धयोः** (भ्वा०) तक नौ धातु ली जाती हैं। वच् से आदादिक **वच परिभाषणे, ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि** को आदेश से प्राप्त √वच् और चौरादिक **वच परिभाषणे** का णिजभाव पक्ष में ग्रहण होगा। यहाँ 'वचि' इक्प्रत्ययांत प्रयोग है। इक् के कित्त्व के निमित्त से प्राप्त संप्रसारण ('वचि' का 'उचि' रूप में ग्रहण) सूत्रकार ने अपनी इच्छा से नहीं किया है।

ईजतुः—यज्+अतुस्, द्वित्व (6.1.8) से संप्रसारण (15) पर होने के कारण पहले होता है : इज्+अतुस्, **सकृद्गतौ यद् बाधितं, तद् बाधितमेव** (प० 41) को बाध कर **पुनः-प्रसंग-विज्ञानात् सिद्धम्** (प० 40) से द्वित्व : इज्+अतुस्। अभ्यास-कार्य : इ+इज्+अतुस्। सवर्णदीर्घ : ईजतुः।

इयजिथ—**लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** से संप्रसारण, भारद्वाज के मत में इट्।

इयष्ठ—इडभावपक्ष में **व्रश्च-भ्रस्ज-सृज०** से ज् को ष्, ष्टुत्व।

10 डुवप बीज-सन्ताने ॥ 10 ॥ बीजसन्तानं=(i) क्षेत्रे विकिरणं, (ii) गर्भाधानं च । अयं छेदनेऽपि—केशान्वपति । उवाप, ऊपे; वप्ता; उप्यात्; वप्सीष्ट; प्रण्यवाप्सीत्, अवप्त ।

10 √वप् (इत्संज्ञक डु वाली) बीज-सन्तान अर्थ में है ॥ 10 ॥ बीज-संतान माने (i) खेत में बीज डालना और (ii) गर्भ-स्थापना करना है। यह काटने में भी है—केशवपन करता है।

इज्यात्—आशीर्लिङ् में यासुट् के कित् होने से **वचि-स्वपि०** से संप्रसारण। **अयाष्टाम्**—अयज्+सिच्+ताम्, **झलो-झलि** से स् का लोप, **व्रश्च-भ्रस्ज०** से ष्टत्व, ष्टुत्व। इसी प्रकार **अयष्ट**। अयज्+स्+ध्वम्, **धि च** से स् का लोप, **व्रश्च-भ्रस्ज०** से ज् को ष्, **झलां जश् झशि** से ष् को ड्, **ष्टुना ष्टुः** से ध् को ढ् : अयड्ढ्वम्। अयाक्षीत्, अयाष्टाम्, अयाक्षुः; अयाक्षीः; अयाष्टम्, अयाष्ट; अयाक्षम्, अयाक्ष्व, अयाक्ष्म, अयष्ट, अयक्षाताम्, अयक्षत; अयष्ठाः, अयक्षाथाम्, अयड्ढ्वम्; अयक्षि, अयक्ष्वहि, अयक्ष्महि। यागः, यज्ञः, इष्टिः। प्रयागः नदी-सङ्गम (कर्णप्रयाग, देवप्रयाग, नन्द-प्रयाग आदि)।

10 √**वप्** धातु-पाठ में 'बीज फैलाना, (बीज-संतान, बोना)' अर्थ में बताई है। कर्म 'बीज' धात्वर्थ में उक्त नहीं है, अतः यह अकर्मक[1] नहीं है। प्रयोग में यह सकर्मक उपलब्ध होती है : **अध्वर्यवो, यः शतमा सहस्रं भूम्या उपस्थेऽवपज् जघन्वान्** (ऋ० 2.14.7), **यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति** (ऋ० 10.85 37), **वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः** (ऋ० 10.97.13), **युनक्त सीरा, वि युगा तनुध्वम् कृते योनौ वपतेह बीजम्** (ऋ० 10.101.3)। अतः इसका अर्थ केवल 'विकिरण' होना चाहिये। 'बीज' तो स्पष्टता के लिये दिया है। लाक्षणिक रूप से यह 'डालना', 'वृद्धि के निमित्त डालना' अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है : **अनु स्वधा यमुप्यते, यवं न चर्कृषद् वृषा** (ऋ० 1.176.2)। इसका प्रयोग 'काटना' अर्थ में भी मिलता है : **वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम** (ऋ० 10.142.4)। 'डालना', 'देना' अर्थ के कारण ही सम्भवतः यह 'नि' के साथ पितरों को जल आदि देने के संदर्भ में भी प्रयुक्त होती है : **पितृ-दानं निवापः स्यात्** (अमरकोष)।

वपति, वपते; उवाप, ऊपतुः, ऊपुः, **अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्**—उवपिथ, उवप्थ, ऊपथुः, ऊप; उवाप, ऊवप, **आद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्**—ऊपिव, ऊपिम; ऊपे, ऊपाते, ऊपिरे, ऊपिषे, ऊपाथे, ऊपिध्वे, ऊपे, ऊपिवहे, ऊपिमहे;

---

1. **धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्।**
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥

11 वह प्रापणे ॥ 11 ॥ उवाह, उवहिथ, 'सहि-वहोरोदवर्णस्य' (2357)—उवोढ; ऊहे; वोढा; वक्ष्यति; अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः; अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत, अवोढाः, अवोढ्वम् ॥ 99 ॥

11 √वह् ढोने में है ॥ 11 ॥ 'सहि-वहोरोदवर्णस्य' (2357)—उवोढ ॥ 99 ॥

वप्ता; वप्स्यति, वप्स्यते; वपतु, वपताम्; अवपत्, अवपत; वपेत्, वपेत; उप्यात्, वप्सीष्ट; अवाप्सीत्, अवाप्ताम्—**झलो झलि** से स् का लोप, अवाप्सुः, अवाप्सीः, अवाप्तम्, अवाप्त, अवाप्सम्, अवाप्स्व, अवाप्स्म; अवप्त, अवप्साताम्, अवप्सत; अवप्थाः, अवप्साथाम्, अवब्ध्वम्; अवप्सि, अवप्स्वहि, अवप्स्महि। प्रण्यवाप्सीत्, प्रण्यवप्त—**नेर्गद-नद०** (**अड्-व्यवायेऽपीष्यते**) से णत्व। अवप्स्यत्, अवप्स्यत।

यह धातु आधुनिक भाषाओं में √वो है : बोता है, बोया।

11 √**वह्** ढोना, पहुँचाना (सकर्मक), बहना (अकर्मक) अर्थ में अनिट् है। वहति, वहते; उवाह, ऊहतुः, ऊहुः; उवहिथ, **उवोढ**—उवह्+थ, **हो ढः** से ह् को ढ् : उवढ्+थ, **झषस्त-थोर्धोऽधः** से थ् को ध् : उवढ्+ध, **ष्टुना ष्टुः**, उवढ्+ढ, **ढो ढे लोपः**, उव+ढ, **ढ्-लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से प्राप्त दीर्घ को बाध कर **सहि-वहोरोदवर्णस्य** से व के अ को ओकारादेश : उवोढ। ऊहुथुः, ऊहः; उवाह, उवह, ऊहिव, ऊहिम; ऊहे, ऊहाते, ऊहिरे ऊहिषे; वोढा; वक्ष्यति, वक्ष्यते; उह्यात्, वक्षीष्ट; अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः, अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ; अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म; अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत, अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्, अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि।

अवाक्षीत्—'अवह्+स्+ईत्' स्थिति में **हो ढः** (8.2.31) से ढत्व तथा **वद-व्रज०** (7.2.3) से वृद्धिकार्य एक साथ प्राप्त हुए, **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से ढत्व की प्राप्ति है, किंतु ढत्वकार्य **पूर्वत्रासिद्धम्** से वृद्धि-सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है। अतः ढत्व किया हो, या न किया हो, तदाश्रित कार्य भी असिद्ध हैं, इस लिए वृद्धि-सूत्र कृताकृत-प्रसंगित्वेन नित्य है और **पूर्व-पर-नित्यान्तरङ्गापवादाना०** (प० 39) से ढत्व से पहले[1]

---

1. यद्यपि 'अवाक्षीत्' में पहले वृद्धि करने या न करने से रूप-रचना में कोई अंतर नहीं पड़ता। तथापि अवोढाम् और अवोढ में वृद्धि पहले करना अपेक्षित है। अन्यथा ओकारादेश के पश्चात् वृद्धि होने से ओकारवान् रूप बनेंगे। सूत्रकार ने इसी बात को दृष्टि में रख कर **'सहि-वहोरोदवर्णस्य'** में 'अवर्णस्य' कहा है, 'अस्य' नहीं। द्र० म० भा० 6.3.112 : **'वर्ण'-ग्रहणं किमर्थम् ? न 'सहि-वहोरोदस्य' इत्येवोच्येत ? वृद्धावपि कृतायामोत्त्वं यथा स्यात्—'अवोढाम्, अवोढ' इति।** इस पर प्रदीप देखें : **'उदवोढाम्' इति—वहेर्लुङि तामादिषु:**

35.1 वस निवासे ॥ 1 ॥ परस्मैपदी । वसति, उवास ।

धातु-वर्ग 35 : संप्रसारण वाली अनिट् परस्मैपदी 1 धातु

35.1 √वस् रहने, बसने में है ॥ 1 ॥ परस्मैपद प्रत्ययों वाली है ।

वृद्धि होगी : अवाह्+सीत्, ढत्व अवाढ्+सीत्, **ष-ढोः कः सि** से ढ् को क्, **आदेश-प्रत्यययोः** से वृद्धि से स् को ष् : अवाक्षीत्=अवाक्षीत् ।

अवोढाम्—अवह्+स+ताम्, पूर्ववत् पर ढत्व को बाध कर नित्य वृद्धि : अवाह्+स्+ताम्, **झलो झलि** से स् का लोप : अवाह्+ताम्, ढत्व : अवाढ्+ताम्, धत्व : अवाढ्+धाम्, ष्टुत्व : अवाढ्+ढाम्, ढ्-लोप : अवा+ढाम्, **सहि-वहोरोदवर्णस्य** से आ को ओ : अवोढाम् । वृद्धि एक बार हो चुकी है, अतः पुनः नहीं होती ।[1]

धातु-योग : गत धातु 958, प्रकृत वर्गगत 11, योग 969 ॥ 99 ॥

संदर्भ : संप्रसारण तथा अनुदात्तता (अनिट्ता) की समानता के कारण √वस् को यजादि धातुओं के प्रकरण में रखा गया है । इसे यजादि उभयपदी धातुओं के प्रकरण के बाद परस्मैपदी सेट् धातुओं (√वद् और √श्वि) के वर्ग (37) में देना उचित होता । दीक्षितजी ने स्वरितेत् धातुओं के वर्ग की समाप्ति के बाद इसे दिया है । धातु-पाठ में भी पृथक् वर्ग के रूप में ही दिया है ।

35.1 √**वस्** रहना, बसना अर्थ में अकर्मक, अनिट् और परस्मैपदी है ।

सिचि, वृद्धौ, स-लोपे, ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपेषु ओत्वे च रूपम् । यही कारण है कि 'अवाक्षीत्' में भी यही प्रक्रिया अपनाई है । यहाँ मा० धा० वृ० देखें : **अवाक्षीत्, अवोढाम्—अत्र ढत्वादीनामसिद्धत्वात्, पूर्वमेव हलन्त-लक्षणायां वृद्धौ पश्चाद्ढत्वादीनि** ।

1. मा० धा० वृ०, पृष्ठ 207 : **'अवोढाम्' इत्यत्र आकारस्य 'सहि-वहोः०' इत्योत्वे पुनर्वृद्धिः प्रागेव कृतत्वान्न भवति** ।

डॉ०पं० रामप्रसाद त्रिपाठी ने इस कथन को यों स्पष्ट करने की कृपा की है : अर्थात् **'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते'** न्याय से ओकार को वृद्धि नहीं होती । यहाँ यह शङ्का होती है कि पहले लक्ष्य था अवह्+स्+ताम् । ढत्वादि कार्यों के असिद्ध होने से अब लक्ष्य हो गया अवोह्+स्+ताम् । इस प्रकार लक्ष्य बदल गया । तो इस पर यह उत्तर है कि **विकार-कृतो लक्ष्य-भेदो नाङ्गी-क्रियते** । अर्थात् 'अ' का विकार (आदेश) 'आ', पुनः उसका विकार ओकार हुआ, तो यह भिन्न लक्ष्य नहीं, अपितु वही है, ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि भाष्यकार ने **'लक्ष्ये लक्षणं०'** न्याय से ही 'उदवोढाम्' प्रयोग में वृद्धि हटाई है ।

2410 शासि-वसि-घसीनां च (8.3.60)—इण्कुभ्यां परस्यैषां सस्य षः स्यात्। ऊषतुः, ऊषुः; उवसिथ, उवस्थ; वस्ता; 'सः स्यार्धधातुके' (2342)—वत्स्यति; उष्यात्; अवात्सीत्, अवात्ताम् ॥ 100 ॥

2410 √शास्, √वस् और √घस् के अवयव उस स् को ष् होता है, जो इण् और कवर्ग के पश्चात् स्थित है। ऊषतुः। 'सः स्यार्धधातुके' (2342)—वत्स्यति ॥ 100 ॥

वसति, वसतः, वसन्ति; उवास, ऊषतुः, ऊषुः, उवसिथ, उवस्थ, ऊषथुः, उष, उवास, उवस, ऊषिव, ऊषिम; वस्ता; वत्स्यति, वत्स्यतः, वत्स्यन्ति; वसतु; अवसत्; वसेत्; उष्यात्, उष्यास्ताम्; अवात्सीत्, अवात्ताम्, अवात्सुः, अवात्सीः, अवात्तम्, अवात्त, अवात्सम्, अवात्स्व, अवात्स्म; अवत्स्यत्। वासः, वसतिः बस्ती। वसन तथा वस्त्र आदादिक √वस् से निष्पन्न हैं।

उवास—√वस्+लिट्, णल्, वस्+अ, द्वित्व : वस्+वस्+अ, **हलादिः शेषः**, व+वस्+अ, **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** से अभ्यास के व् को संप्रसारण उ : उवस्+अ, **अत उपधायाः** से वृद्धि : उवास।

2410 शासि-वसि-घसीनां च (8.3.60)—अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः (55), सहेः साडः सः (56), इण्कोः (57) : शासि-वसि-घसीनाम् (6.3) च इण्कोः (5.1) अपदान्तस्य (6.1) मूर्द्धन्यः (1.1)—शासु अनुशिष्टौ (अ०), वस निवासे (भ्वा०) धातु तथा **लिट्यन्यतरस्याम्** (2.4.40) से √अद् (अ० 1) के आदेश के रूप में निष्पन्न √घस् धातु—इन—के अवयव, तथा इण् और कवर्ग से परे स्थित पदांतभिन्न सकार को मूर्द्धन्य (षकार) आदेश होता है।

यहाँ **वस आच्छादने** (अ०) में मूर्धन्य के पूर्वनिमित्त 'इण्कु' के अभाव से षत्व को अवकाश ही नहीं है। अतः केवल भौवादिक √वस् का ही ग्रहण होगा; दैवादिक तथा चौरादिक का भी इसी प्रकार ग्रहण नहीं होगा। √घस् दो हैं—(i) धातु-पाठ में प्रतिपदोक्त भौवादिक **घस्लृ अदने** (भ्वा० 18.63), (ii) **लिट्यन्यतरस्याम्** (2.4.40) आदि द्वारा आदादिक **अद भक्षणे** (अ० 1) को आदेश से संपन्न लाक्षणिक। **लक्षण-प्रतिपदोक्त०** परिभाषा से यहाँ लाक्षणिक (आदेशज) का ग्रहण नहीं होना चाहिए। परंतु[1]

---

1. म०भा० 8.3.59, वा० 7 : **यदि ह्यादेशस्य यः सकार इत्येव स्याद्, 'घसि'-ग्रहणमनर्थकं स्यात्। पश्यति त्वाचार्य आदेशो यः सकारस्तस्य षत्वमिति, ततो 'घसि'-ग्रहणं करोति।** काशिकाकार ने (8.3.60 में) आदेशज के ही उदाहरण दिए हैं : **घसि—जक्षतुः, जक्षुः।···अक्षन्†···अमीमदन्त पितरः** (वा०सं० 19.36)। हरदत्त ने प्रतिपदोक्त √घस् के ग्रहण का निषेध स्पष्टतः किया है : **यस्त्वनादेशो घसि-**

भगवान् पतंजलि से लेकर काशिकाकार, कैयट, हरदत्त आदि आचार्यों ने इसे ही लिया है। न्यासकार ने प्रतिपदोक्त के ग्रहण को स्वतः प्राप्त मानकर लाक्षणिक के ग्रहण पर निम्न युक्तियाँ दी हैं[1] :—

(क) **यावत्पुरा-निपातयोर्लट्** (3.3.4) में 'निपात' शब्द के ग्रहण से और **भुवश्च महाव्याहृतेः** (8.2.71) में 'महाव्याहृतेः' शब्द को लेकर सूत्रकार ने 'लक्षण-प्रतिपदोक्त परिभाषा अनित्य है', यह सूचित किया है। अतः यह यहाँ लागू नहीं होगी।

न्यासकार का आशय यह है कि 'यावत्' तथा 'पुरा' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक के रूप में तो प्रतिपदोक्त निपात हैं और 'यत्परिमाणमस्य' अर्थ में **यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्** (5.2.39) तथा **आ सर्वनाम्नः** (6.3.91) से निष्पन्न 'यावत्' शब्द और **पॄ पालन-पूरणयोः** (जु०) से **भ्राज-भास०** (3.2.177) से क्विप् और **उदोष्ठ्य-पूर्वस्य** (7.1.102) से उत्त्व होने पर निष्पन्न 'पुर्' प्रातिपदिक के तृतीया के ए० व० में निष्पन्न 'पुरा' शब्द लक्षणोक्त हैं। यदि यह परिभाषा नित्य होती, तब यहाँ भी प्रतिपदोक्त निपात से भिन्न व्युत्पन्न (लाक्षणिक) प्राति-पदिक नहीं लिए जाते। पर, सूत्र में कंठतः 'निपातयोः' पद देने से सिद्ध होता है कि सूत्रकार इस परिभाषा को अनित्य मानते हैं।

इसी प्रकार **भुवश्च महाव्याहृतेः** (8.2.71) में भी महाव्याहृत्यर्थक 'भुवः' शब्द

स्तस्येह ग्रहणं न भवति, विरलप्रयोगत्वात्।

†चौखंबा और स्वामी द्वारिकादासजी के संस्करणों में **'अक्षन्नमीमदन्त पितरः'** छपा है। इस प्रकार की अक्षरानुपूर्वी वेद में प्राप्त नहीं है। **'अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरः'** पाठ वा० सं० 19.36, तै० सं० 1.8.5.2, काठक सं० 38.2 में एवं शतपथ, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में उपलब्ध है। अतः काशिकाकार ने दो यजुर्मन्त्रों को मध्यवर्ती **'पितरः'** पद को हटा कर उद्धृत किया प्रतीत होता है।

1. न्यास 8.3.60 : **'घस्लृ अदने'** (18.63) **'यश्चादेशो घसिस्तयोर्द्वयोरपि ग्रहणम्। ननु चादेशस्य लाक्षणिकत्वाद् ग्रहणमयुक्तम्? नैष दोषः। अनित्या हि लक्षण-प्रतिपदोक्त-परिभाषा। अनित्यत्वं चास्याः (क) 'यावत्पुरा-निपातयोर्लट्'** (3.3.4) **इत्यत्र 'निपात'-ग्रहणेन ज्ञापितम्। 'भुवश्च महाव्याहृतेः'** (8.2.71) **इत्यत्र 'महाव्याहृति'-ग्रहणेन च ज्ञापितम्। (ख) अपि चात्र घसि-वसोरेकतरस्य लघ्वक्षरत्वात् पूर्वनिपाते कर्तव्ये शासेः पूर्वनिपातं कुर्वता शास्त्रनिरपेक्षता सूच्यते— 'किंचिच्छास्त्रमत्र नापेक्षितव्यम्' इत्यमुमर्थं दर्शयितुम्। तेन 'लक्षण-प्रतिपदोक्त०' परिभाषा नाश्रीयत इति युक्तमादेशस्यापि ग्रहणम्।**

अव्युत्पन्न होने से प्रतिपदोक्त है; अन्यार्थक शब्द लक्षणोक्त (सूत्रों से सिद्ध होने से लाक्षणिक) है। वहाँ भी इस परिभाषा से केवल महाव्याहृति का ग्रहण स्वतः ही हो जाना चाहिए। पर कण्ठतः 'महाव्याहृतेः' शब्द देने से यह सिद्ध होता है कि पाणिनि इस परिभाषा को यहाँ लागू नहीं मानते।

(ख) **'शासि-वसि-घसीनाम्'** द्वन्द्वपद में **लघ्वक्षरं पूर्वम्** (वा०)—नियम से 'वसि' और 'घसि' में से किसी एक का पूर्वनिपात न करके सूत्रकार ने 'इस सूत्र पर और कोई नियम लागू नहीं होता', यह दर्शाने को 'शासि' का पूर्वनिपात किया है। अतः **लक्षण-प्रतिपदोक्त०** नियम भी यहाँ लागू नहीं होता। इस लिए इस सूत्र में आदेशज-√घस् का ग्रहण भी उचित ही है।

आदेश-प्रत्यययोः (59) का भगवान् भाष्यकार ने **'आदेशो यः सकारः, प्रत्ययस्य यः सकारः,'** यह भिन्न-विभक्तिक विग्रह किया है। इसका औचित्य सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है कि यहाँ 'आदेशश्च प्रत्ययश्चेति आदेश-प्रत्ययौ, तयोः सकारः', ऐसा समास सूत्रकार को इष्ट नहीं प्रतीत होता। यदि यही इष्ट है, तो **शासि-वसि-घसीनां च** में 'घसि'-ग्रहण व्यर्थ पड़ता है।[1] अतः 'घसि' पदोपादान सिद्ध करता है कि आदेश जो सकार है, उसको ही **शासि-वसि०** से षत्व करना सूत्रकार को इष्ट है। लिट् में √अद् के √घस् आदेश का सकार आदेश का अवयव तो है, स्वयम् आदेश नहीं है। अतः 'घस् में **आदेश-प्रत्यययोः** से षत्व अप्राप्त था। इसलिए √शास्, √वस् और √घस् के अनादेशरूप 'स्' को 'ष्' करने के लिए प्रस्तुत सूत्र आवश्यक है।

ऊपर न्यासकार का इस सूत्र में भौवादिक √घस् का ग्रहण उचित नहीं लगता। उसके रूप केवल 'शप्', वलादि आर्धधातुक ('ताम्' और 'स्य') में ही चलेंगे, यह **लुङ्-सनोर्घस्लृ** (2.4.37), **घञपोश्च** (38), **बहुलं छन्दसि,** (39), **लिट्यन्यतरस्याम्** (40) से √अद् को √घस् आदेश करने से सिद्ध होता है। षत्व प्राप्त होता है 'इण्कु' से अव्यवहित पर सकार को। यह स्थिति केवल कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर **गम-हन०** से उपधा-लोप होने से बनती है। अतः शप् मे, अर्थात् भ्वादि-पठित √घस् को, यह स्थिति प्राप्त नहीं होने के कारण प्रकृत सूत्र में उसका ग्रहण निष्फल होने से आदरणीय नहीं है। तब यहाँ **लक्षण-प्रतिपदोक्त०** परिभाषा की प्राप्ति का भी अवसर ही नहीं आता, जो कि उसकी अनित्यता की बात की जाए। अतः न्यासकार की उपरि चर्चित युक्तियां प्रौढिवादमात्र हैं। हरदत्त ने अनादेश (प्रतिपदोक्त) 'घस्लृ' के ग्रहण का

---

1. क्योंकि भौवादिक √घस् को षत्व अट् का व्यवधान होने से प्राप्त ही नहीं है। लिट् में विशेष सूत्र से 'घस्लृ' आदेश करने से भौवादिक के तो लिट् में रूप चलेंगे नहीं।

36.1 वेञ् तन्तु-सन्ताने ।। 1 ।। वयति, वयते । 2411 वेञो वयिः

धातु-वर्ग 36 : स्वरांत उभयपदी 3 धातुएँ

36.1 √वे बुनना अर्थ में है ।। 1 ।। वयति, वयते । 2411 √वे को 'वयि' आदेश विकल्प से होता है, लिट् में । ('वयि' में) इ उच्चारण में सुविधा के लिए है ।

निषेध उचित ही किया है ।

ऊषतुः—√वस्+अतुस्, **वचि-स्वपि०** से द्वित्व को बाध कर संप्रसारण : उस्+अतुस् । **शासि-वसि०** से षत्व : उष्+अतुस् । **पुनः-प्रसङ्ग-विज्ञानात्सिद्धम्** (प०) से द्वित्व : उष्+उष्+अतुस्, अभ्यासकार्य : उ+उष्+अतुस्, सवर्णदीर्घ : ऊषतुः ।

√वस् धातुपाठ (उपदेश) में अत्वान् है, अतः थल् में **उपदेशेऽत्वतः** से वा इट्, उवसिथ, ऊषिथ; ऊषिव—**ऋदिनियम** से नित्य इट् ।

वत्स्यति—सः स्यार्धधातुके से स् को त् । आशीर्लिङ् में यासुट् के कित् होने से **वचि-स्वपि०** से सम्प्रसारण, षत्व : उष्यात् । अवात्सीत्—हलन्त-लक्षणा वृद्धि, स् को त् । अवात्ताम्—**झलो झलि** से सिज्लोप ।

धातु-योग : गत 969, प्रकृत 1, योग 970 ।। 100 ।।

संदर्भ : अब तीन स्वरांत, ञित् अनुदात्त धातु दी हैं । इन्हें यहाँ रखने का प्रयोजन यजादित्वात् संप्रसारण करना है ।

1 √**वे** बुनना, ताना-बाना पूर कर वस्त्र बनाना[1] अर्थ में (सकर्मक, अनिट्) है । वयति, वयतः, वयन्ति; वयते, वयेते, वयन्ते । तन्तु-वायः बुनकर । मुहावरे में इसका प्रयोग शब्दों की बुनती (काव्य-रचना) के लिये भी होता है : **अस्मा उदु ग्नाश्चिद् देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः** (ऋ० 1.61.8) ।

24.11 **वेञो वयिः** (2.4.41)—वेञः (6.1), वयिः (1.1), लिट्यन्यतरस्याम् (40) : वेञः वयिः अन्यतरस्यां लिटि । यहाँ 'वयि' में इकार उच्चारणार्थक है : (i) **लिटि वयो यः** (6.1.38) में 'वयः' पद इसमें प्रमाण है । (ii) अन्यथा तो नुम् होने से 'वन्य्' रूप बनेगा । पर यह इष्ट नहीं है ।

उवाय—वे+अ, 'वे' को 'वय्', वय्+अ, द्वित्वादि : व+वय्+अ, **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** से संप्रसारण : उवय्+अ, उपधा-वृद्धि : उवाय्+अ=उवाय ।

---

1. यहाँ अर्थ-निर्देश (**तन्तु-सन्तान**) में 'तन्तु' कारकत्वेन गृहीत (धात्वर्थ में अंतर्भुक्त) अभिप्रेत नहीं है; अपितु 'सन्तान' किस प्रकार का है, यह व्यवहार—प्रकरण—बताने को, distribution of meaning के लिए, है । अतः 'तन्तुवाय' में 'तन्तु' पुनरुक्त नहीं है । तुलनीय **डुवप बीजसन्ताने** (34.10, पृष्ठ 723) ।

(2.4.41)—वा स्याल्लिटि। इकार उच्चारणार्थः। उवाय। 2412 ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनां ङिति च (6.1.16)—एषां किति ङिति च संप्रसारणं स्यात्। इति यकारस्य प्राप्ते—2413 लिटि वयो यः (6.1.38)—वयो यस्य सम्प्रसारणं न स्याल्लिटि। ऊयतुः। ऊयुः।

उवाय। 2412 1 √ग्रह्, 2 √ज्या, 3 √वय्, 4 √व्यध्, 5 √वश्, 6 √व्यच्, 7 √व्रश्च, 8 √प्रच्छ् और 9 √भ्रस्ज् धातुओं को संप्रसारण हो, कित् और ङित् बाद में होने पर। इससे य् को (संप्रसारण) प्राप्त होने पर—2413 √वय् के य् को

2412 **ग्रहि ज्या-वयि०** (6.1.16)—ष्यङः संप्रसारणं पुत्र-पत्योस्तत्पुरुषे (13)। 'च' से पिछले (**वचि-स्वपि-यजादीनां किति**) सूत्र से किति का अनुकर्षण होता है: ग्रहि-ज्या-वयि···भृज्जतीनां ङिति, किति च सम्प्रसारणं (भवति)—1. ग्रह उपादाने (क्र्या०), 2. ज्या वयो-हानौ (क्र्या०), 3. प्रस्तुत √वे (भ्वा०) का आदेश वय्, 4. व्यध ताडने (दि०), 5. वश कान्तौ (अ०), 6. व्यच व्याजी-करणे (तु०), 7. ओव्रश्चू छेदने (तु०), 8. प्रच्छ ज्ञोप्सायाम् (तु०), 9. भ्रस्ज पाके (तु०) के यण् के स्थान में इक् होता है, ङित् और कित् (प्रत्यय) परे रहते।

'वयि' इगंतनिर्देश है। इस प्रकार की दो धातुएँ हैं: एक तो '**अय वय पय ···गतौ**' (भ्वा० 14.1) दंडक में, तथा दूसरी √वे का आदेश वय्। यहाँ परस्मैपदियों के मध्य स्थित होने से आत्मनेपदी (दंडकोक्त) का ग्रहण नहीं होता।

भगवान् भाष्यकार ने तो √वे के आदेश 'वय्' के ग्रहण का भी खंडन ही किया है। उनका आशय यह है कि वेञ् के आदेश 'वय्' का ङित् में तो कोई उदाहरण है ही नहीं, और कित् में **वचि-स्वपि०** से ही स्थानिवद्भाव से 'वय्' को भी यजादि मान कर सम्प्रसारण हो जाएगा।

शंङ्का—वेञः (6.1.40) से उस सम्प्रसारण का स्थानिवद्भाव होने से ही निषेध न हो, इस लिए 'वय्' को इस सूत्र में विशेष रूप से दे कर सम्प्रसारण किया है।

उत्तर : वेञः (6.1.40) से पहले **लिटि वयो यः** (6.1.38) से यकार को सम्प्रसारण का निषेध किया है। यदि **वेञः** से निषेध से हो सकता है, तो **लिटि वयो यः** सूत्र व्यर्थ होगा। इससे सिद्ध होता है कि **वेञः** के निषेध से 'वय' को निषेध सूत्रकार को संमत नहीं है। 'वेञ् को निषेध' कहने से √वे को निषेध इष्ट है। तब 'वय्' को **वचि-स्वपि०** से सम्प्रसारण सिद्ध होने से **ग्रहि-ज्या०** में √वय् को लेना निरर्थक है।

2413 **लिटि वयो यः** (6.1.38)—न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् (37) : लिटि (7.1) वयः (6.1) यः (6.1) सम्प्रसारणम् (1.1) न। √वे के आदेश 'वय्' के यकार को सप्रसारण लिट् में नहीं होता।

2414 वश्चास्यान्यतरस्यां किति (6.1.39)—वयो यस्य वो वा स्यात् किति लिटि। ऊवतुः, ऊवुः। वयेस्तासावभावात्थलि नित्यमिट्—उवयिथ। स्थानिवद्भावेन ञित्वात्तङ्—ऊये, ऊवे। वयादेशाभावे—2415 वेञः (6.1.40)—वेञो न संप्रसारण न हो लिट में। ऊयतुः, ऊयुः। 2414 √वय् के य् को व् विकल्प से हो, कित् लिट् में। ऊवतुः, ऊवुः। 'वय्' तास् में उपलब्ध नहीं है, अतःथल् में इट् नित्य होता है—उवयिथ। (वय्' आदेश) स्थानिवद्भाव के कारण ञित् है, अतः आत्मनेपद होता है—ऊये, ऊवे। जब वय् आदेश नहीं होता, तब—2415 √वे को सम्प्रसारण

2414 वश्चास्यान्यतरस्यां किति (6.1.39)—'अस्य' से पूर्वसूत्रपठित 'वयो यः' पदों का अध्याहार होता है। अस्य—वयः (6.1) यः (6.1)—वः चान्यतरस्याम् (भवति) किति लिटि। इस (वय् के यकार) के स्थान में विकल्प से वकार आदेश होता है, कित् लिट् में।

ऊवतुः, ऊयतुः—वे+अतुस्, **वेञो वयिः** से √वे को वय् : वय्+अतुस्, **ग्रहि-ज्या-वयि०** से य् को संप्रसारण प्राप्त हुआ, **लिटि वयो यः** से निषेध, तब **ग्रहि-ज्या-वयि०** से ही वकार को संप्रसारण होता है : उ+अय्+अतुस्, **सम्प्रसारणाच्च** से 'अ' को पूर्वरूप : उय्+अतुस्, **वश्चास्यान्यतरस्याम्०** से य् को वैकल्पिक व् : उव्+अतुस्, द्वित्व, अभ्यास के व् का लोप : उ+उव्+अतुस्, सवर्णदीर्घ : ऊवतुः। वकारादेशाभाव-पक्ष में ऊयतुः।

उवयिथ—वे+थ, वय्+थ, द्वित्व, अभ्यासकार्य, व+वय्+थ, **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** से अभ्यास के व् को उ : उ+वय्+थ, वय् आदेश चूँकि 'तास्' में नहीं होता, अतः **अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्** और **उपदेशेऽत्वतः** की प्राप्ति न होने से क्रादिनियम से नित्य इट् : उ+वय्+इथ=उवयिथ।

उवाय; ऊवतुः, ऊयतुः; उवुः, ऊयुः; उवयिथ; ऊवथुः, ऊयथुः; ऊव, ऊय; उवाय, उवय; ऊविव, ऊयिव; ऊविम, ऊयिम।

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ से वय् को स्थानिवद्भाव से ञित् मान कर कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद भी होता है : ऊवे, ऊये—वय्+ए, **ग्रहि-ज्या०** से य् को प्राप्त सम्प्रसारण का **लिटि वयो यः** से निषेध, य् को **वश्चास्यान्यतरस्यां किति** से वा व : वव्+ए, **ग्रहि-ज्या०** से प्रथम व् को संप्रसारण : उव्+ए, द्वित्वादिकार्य : उ+उव्+ए, सवर्णदीर्घ : ऊवे; वकारादेशाभावपक्ष में ऊये। ऊवे, ऊवाते, ऊविरे; ऊविषे, ऊवाथे, ऊविध्वे; ऊवे, उविवहे, ऊविमहे। ऊये, ऊयाते, ऊयिरे; ऊयिषे, ऊयाथे, ऊयिध्वे; ऊये, ऊयिवहे, ऊयिमहे।

2415 वेञः (6.1.40)—न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् (37), लिटि वयो यः

सम्प्रसारणं स्याल्लिटि । ववौ, ववतुः, ववुः, ववि‍थ, ववाथ; ववे; वाता; ऊयात्, वासीष्ट; अवासीत् ।

2 व्येञ् संव्वरणे ॥ 2 ॥ व्ययति, व्ययते ।

नहीं हो, लिट् में । ववौ; ववे ।

2 √व्ये (ञित्) आच्छादन में है ॥ 2 ॥

---

(38) : लिटि वेञः सम्प्रसारणं न—लिट् परे रहते वेञ् को संप्रसारण नहीं होता । यह सूत्र अकित् लिट् में **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** से, तथा कित् लिट् में **वचि-स्वपि०** से प्राप्त संप्रसारण का अपवाद है ।

ववौ—वेञ् को 'वय्' आदेश न होने के पक्ष में **आदेच उपदेशेऽशिति** से वे के ए को आ : वा+अ, **आत औ णलः** से 'अ' को औ : वा+औ द्वित्व, तथा अभ्यास-कार्य : व+वा+औ, **लिट्यभ्यासस्यो०** से अभ्यास के व् को प्राप्त संप्रसारण का **वेञः** से निषेध, **वृद्धिरेचि** से आ तथा औ को एक वृद्धयादेश : ववौ ।

ववतुः—वा+अतुस्, **वचि-स्वपि०** का **वेञः** से निषेध, द्वित्वादिकार्य : व+वा+अतुस् : **आतो लोप इटि च** : वव्+अतुस्=ववतुः । थल् में भारद्वाजनियम से वैकल्पिक इट् : व+वा+इथ, आलोप : **ववि‍थ**, इडभावपक्ष में **ववाथ** । ववौ, ववतुः, ववुः; ववि‍थ, ववाथ, ववथुः, वव; ववौ, वविव, वविम ।

आत्मनेपद में वा+ए : **वचि-स्वपि०** से प्राप्त संप्रसारण का **वेञः** से निषेध, द्वित्वादि पूर्ववत् : ववा+ए, आलोप : ववे, ववाते, वविरे; वविषे, ववाथे, वविध्वे; ववे, वविवहे, वविमहे ।

वातासि; वास्यति; वयतु; अवयत्, वयेत्; वातासे; वास्यते; वयताम्; अवयत; वयेत । आशीर्लिङ् में यासुट् के कित् होने से **वचि-स्वपि०** से संप्रसारण : उ+यात्, **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ : ऊयात् । वासीष्ट । लुङ् में आदंत होने से **यम-रम-नमातां सक्च** से सक् तथा इट् : अवासीत् । अवासिष्टाम्, अवासिषुः । अवास्त, अवासाताम्, अवासत ।

2 √**व्ये** संवरण अर्थ में सकर्मक, अनिट् है । क्षीरस्वामी के अनुसार संवरण का अर्थ आच्छादन और काशकृत्स्न की कन्नड टीका के अनुसार उपयोग अर्थात् बरतना, खरचना है ।[1] खर्च अर्थ में उपलब्ध 'व्यय' शब्द **व्यय गतौ** का है, या इस √व्ये का, इस पर वक्तव्य यह है कि **नौ व्यो य-लोपः पूर्व-पदस्य च दीर्घः** (उ० सू० 4.136) से नि+√व्ये से इण् प्रत्यय, यलोप और नि को दीर्घ करके 'नीवि' (नाड़ा, कटिवस्त्र-

---

1. क्षी० त०, पृष्ठ 161, पर यु० मी० की टि० 1.

2416 न व्यो लिटि (6.1.46) व्येञ आत्त्वं न स्याल्लिटि। वृद्धिः। परमपि हलादिः-शेषं (2179) बाधित्वा यस्य सम्प्रसारणम्, 'उभयेषां'-ग्रहण-सामर्थ्यात्। अन्यथा वच्यादीनां, ग्रह्यादीनां चानुवृत्त्यैव सिद्धे किन्तेन? विव्याय, विव्यतुः, विव्युः। 'इडत्त्यर्ति०' (2484) इति नित्यमिट्—व्यिवयिथ। विव्याय, विव्यय। विव्ये; व्याता; वीयात्, व्यासीष्ट; अव्यासीत्, अव्यास्त।

2416 √व्ये को आकार नहीं होता, लिट् में। वृद्धि होती है। 'हलादिः शेषः' (7.4.60) यद्यपि पर है, तथापि उसे बाध कर य् को संप्रसारण होता है, क्योंकि (संप्रसारण-सूत्र में) 'उभयेषां' (i. वच्यादि और ii. ग्रह्यादि दोनों को) कहा गया है; नहीं तो वच्यादि और ग्रह्यादि तो अनुवृत्ति से ही प्राप्त थीं, तब उस ('उभयेषां' कहने) का क्या लाभ? विव्याय। 'इडत्त्यर्ति-व्ययतीनाम्' (2384) से इट् नित्य होता है—विव्ययिथ।

बन्ध[1], पूँजी) शब्द सिद्ध किया जाता है। **कृदिकारादक्तिनः** (वा०) से ङीष् होने पर 'नीवी' भी बनता है। इसमें दोनों ही अर्थ स्पष्ट हैं—मूलधन अर्थ में खर्चना और नाड़ा अर्थ में लपेटना, ढँकना। अतः 'व्यय' शब्द भी इसी धातु से निष्पन्न होना चाहिए। गत्यर्थक का 'व्यय' में लाक्षणिक प्रयोग मानना उतना उचित नहीं है।

2416 न व्यो लिटि (6.1.46)—आदेच उपदेशेऽशिति (45) व्यः (6.1) आत् (1.1) न लिटि (7.1)—व्ये को आत् अंतादेश नहीं होता, लिट् में। यहाँ 'व्यः' कृतात्त्व व्ये (=व्या) के आ का ही **आतो धातोः** से लोप होने पर षष्ठी-एकवचनांत रूप है।

विव्याय—व्ये+अ, **आदेच उपदेशेऽशिति** से प्राप्त अंतादेश आ का **न व्यो लिटि** से निषेध, व्ये+अ, **अचो ञ्णिति** से वृद्धि : व्ये+अ, द्वित्व, व्ये+व्ये+अ, अभ्याससंज्ञा। **लिट्यभ्यासस्यो०** (6.1.17) में 'उभयेषाम्' के ग्रहण के कारण **हलादिः शेषः** (7.4.60, परसूत्र) को भी बाध कर य् को संप्रसारण, **सम्प्रसारणाच्च** से अ को इ का पूर्वरूप आदेश वि+व्यै+अ, आयादेश, वि+व्याय्+अ=विव्याय।

विव्यतुः—व्ये+अतुस्, पूर्ववत् आत्त्व का निषेध, **वचि-स्वपि०** से संप्रसारण : वि+अतुस्, द्वित्व : **हलादिः शेषः** यहाँ अभ्यास के एकहल् होने से प्राप्त ही नहीं है, वि+वि+अतुस्, यण् : विव्यतुः। विव्युः। **विव्ययिथ**—व्ये+थ, आत्त्वनिषेध, थल् के ञ्णित् न होने से यहाँ वृद्धि प्राप्त ही नहीं है। भारद्वाजनियम से प्राप्त वैकल्पिक इट् को बाध कर **इडत्त्यर्ति-व्ययतीनाम्** से नित्य इट्। शेष प्रक्रिया स्पष्ट है। विव्यथुः, विव्य। विव्याय, विव्यय—उत्तम के णल् के वा णित् होने से णित्पक्ष में वृद्धि, णिद-

---

1. व्यवहार में यह स्त्री के कटिवस्त्रबन्ध के प्रसङ्ग में ही प्रयुक्त होता है।

3 ह्वेञ् स्पर्धायां, शब्दे च ॥ 3 ॥ ह्वयति, ह्वयते । 2417 अभ्यस्तस्य च (6.1.33)—अभ्यस्ती-भविष्यतो ह्वेञः सम्प्रसारणं स्यात् । ततो द्वित्वम्—जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः, जुहविथ, जुहोथ; जुहुवे; ह्वाता; हूयात्, ह्वासीष्ट ।

3 √ह्वे स्पर्धा करने तथा बुलाने में है ॥ 3 ॥ 2417 अभ्यस्त (द्वित्ववान्) होने वाली √ह्वे को सम्प्रसारण हो । उसके बाद द्वित्व (होता है)—जुहाव ।

भावपक्ष में वृद्धि प्राप्त न होने से अयादेश । **विव्यिव, विव्यिम**—क्रादिनियम से नित्य इट् : वि+वि+इव । सवर्णदीर्घ को बाधकर **एरनेकाचो०** से यण् ।

आत्मनेपदपक्ष में भी इसी प्रकार पहले संप्रसारण, यण् : विव्ये, विव्याते, विव्यिरे । से, ध्वे, वहे, महे में क्रादिनियम से इट् : विव्यिषे, विव्याथे, विव्यिध्वे, विव्ये, विव्यिवहे, विव्यिमहे ।

आशीर्लिङ् में यासुट् के कित् होने से **वचि-स्वपि०** से संप्रसारण : **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ : वीयात् । व्यासीष्ट । अव्यासीत्; अव्यास्त ।

3 √**ह्वे** ललकारना, तथा बुलाना अर्थ में सकर्मक है । आचार्य काशकृत्स्न ने **स्पर्धायां वाचि** अर्थनिर्देश किया है । वस्तुतः दोनों ही धातु-पाठों में धातुपाठ दोष-निर्मुक्त नहीं है । स्पर्धा का अर्थ है किसी को मात करने की चाह । प्रस्तुत अर्थ-निर्देशों से ललकारना अर्थ सिद्ध नहीं होता । लोक में प्रयोग के अनुरोध से इसका ललकारना अर्थ निर्विवाद है । इसी दृष्टि से **स्पर्धायमाङः** सूत्र पर काशिका में **'स्पर्द्धा=संघर्षः, पराभिभवेच्छा, स विषयो धात्वर्थस्य, धातुस्तु शब्द-क्रिय एव ।'** लिखा है । इस अर्थ के लिए **स्पर्धया शब्दे,** या **स्पर्धाशब्दे** अर्थ करना उचित प्रतीत होता है । इसी प्रकार बुलाने के लिए केवल 'शब्दे' कहने की अपेक्षा 'शब्दापने' या 'आकारणे' कहना उचित है ।

2417 **अभ्यस्तस्य च** (6.1.33)—'च' **ह्वः सम्प्रसारणम्** (32) से ह्वः (6.1) की अनुवृत्ति करता है । अगले सूत्रों के लिए 'सम्प्रसारणम्' स्वरित ही है । अभ्यस्तस्य (6.1) च ह्वः (6.1) सम्प्रसारण् (1.1) भवति । 'ह्वः' 'व्यः' पद की तरह √ह्वे को आत् आदेश किये हुए 'ह्वा' का षष्ठ्येकवचन में रूप है । 'अभ्याससंज्ञा किए हुए 'ह्वे' को संप्रसारण होता है', यह अर्थ लक्ष्यदृष्ट्या अपेक्षित नहीं है । क्योंकि तब द्वित्व करने पर अभ्यास संज्ञा के बाद, अभ्यास के 'ह्वे' को संप्रसारण होगा और जुह्वौ (जुह्वा+अ, **आत औ णलः** से अ को औ, **वृद्धिरेचि** से आ+औ को औ वृद्धि आदेश करने पर) बनेगा । अतः भगवान भाष्यकार ने अनभ्यास को संप्रसारण करने के लिए 'अभ्यस्तम्=अभ्यासोऽस्त्यस्मिन्सोऽभ्यस्तः, तस्याभ्यस्तस्य' अर्थात् अभि+अस्+क्त (भावे) से निष्पन्न 'अभ्यस्त' शब्द 'अभ्यास' का पर्याय है, उससे **अर्श**

2418 लिपि-सिचि-ह्वश्च (3.1.53)—एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् । 2419 आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (3.1.54) 'आतो लोपः' (2372) । अह्वत्, अह्वताम्, अह्वन्; अह्वत; अह्वास्त ॥ 101 ॥

2418 √लिप्, √सिच् और √ह्वा से विहित च्लि को अङ् आदेश हो । 2419 आत्मनेपद प्रत्यय बाद में होने पर (च्लि को अङ्) विकल्प से हो । आकार का लोप होता है—अह्वत; अह्वत, अह्वास्त ॥ 101 ॥

आद्यच् से मत्वर्थीय अच् करने पर 'अभ्यास जिस धातु को होता है, उसका' इस प्रकार संबंधषष्ठी बतला कर 'अभ्यास जिसका होता है, उसके प्रकृति रूप √ह्वे को संप्रसारण होता है', अर्थ किया है । 'जिसकी अभ्याससंज्ञा अभी हुई नहीं है, अपितु होने वाली है, उस √ह्वे को संप्रसारण होता है', यह उनका आशय है । अत एव दीक्षितजी ने मूल में **'अभ्यस्ती-भविष्यतः'** कहा है—अभ्यास (द्वित्व) जिसे होना है, उस √ह्वे को संप्रसारण होता है । इस व्याख्या के फलस्वरूप **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** से पूर्व ही प्रस्तुत सूत्र की प्रवृत्ति होगी । अतः सभी उदाहरणों में संप्रसारण के बाद द्वित्व होगा ।

जुहाव—ह्वे+अ, आत्त्व : ह्वा+अ, **अभ्यस्तस्य च** से संप्रसारण : हु+अ, **अचो ञ्णिति** : हौ+अ, द्वित्व : हौ+हौ+अ, अभ्यासकार्य : जु+हौ+अ=जुहाव । ह्वा+अतुस्, संप्रसारण तथा द्वित्वादिकार्य : जुहु+अतुस्, **अचि श्नु-धातु०** से उवङ् : जुहुव्+अतुस्=जुहुवतुः । जुहुवुः । थल् में भारद्वाजनियम से वेट् : जुहविथ, जुहोथ । जुहुवथुः, जुहुव । जुहाव, जुहव । क्रादिनियम से नित्य इट्—जुहुविव, जुहुविम । आत्मनेपद में जुहुवे, जुहुवाते, जुहुविरे; जुहुविषे, जुहुवाथे, जुहुविध्वे; जुहुवे, जुहुविवहे, जुहुविमहे ।

ह्वातासि, ह्वातासे; ह्वास्यति, ह्वास्यते; ह्वयतु, ह्वयताम्; अह्वयत्, अह्वयत; ह्वयेत्, ह्वयेत; हूयात्—आशीर्लिङ् में यासुट् कित् है, अतः **वचि-स्वपि-यजादीनां०** से संप्रसारण, **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ । ह्वासीष्ट । अह्वासीत्, अह्वास्त ।

2418 **लिपि-सिचि-ह्वश्च**—च्लेः सिच्ः (44), अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ् (52) । लिपि-सिचि-ह्वः (5.1), च्लेः (6.1), अङ् (1.1)—लिप उपदेहे (तु०), षिच क्षरणे (तु०) तथा प्रकृत ह्वेञ् स्पर्धायाम् (भ्वा०), इन धातुओं से परे च्लि को अङ् आदेश होता है ।

प्रस्तुत सूत्र में चकार का कोई प्रयोजन दिखाई नहीं देता । यदि अङ् के अनुकर्षण के लिए मानें, तो **चानुकृष्टं नोत्तरत्र** (प० 79) के कारण 'अङ्' पद आगे के सूत्रों में अधिकृत नहीं होगा ।

37 अथ द्वौ परस्मैपदिनौ—1 वद व्यक्तायां वाचि ॥ 1 ॥ अच्छ वदति । उवाद, ऊदतुः, उवदिथ; वदिता; उद्यात् । 'वद-व्रज०' (2267) इति वृद्धिः—

धातु-वर्ग 37 : सम्प्रसारण वाली परस्मैपदी दो धातुएँ

37 अब दो परस्मैपदी धातु हैं—1 √वद् स्पष्ट (स्वर-व्यंजन वाली) वाणी बोलना अर्थ में है ॥ 1 ॥ भली-भाँति बोलता है । 'वद-व्रज०' (2267) से वृद्धि—

प्रस्तुत सूत्र को **अस्यति-वक्ति०** में मिलाकर देने में लाघव तो है, पर एक दोष भी है : **आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्** (54) में 'अस्यति' से लेकर **ह्वेञ्** तक सब धातुओं की अनुवृत्ति प्राप्त होगी । पर लक्ष्य-दृष्ट्या यह अभीष्ट नहीं है । अतः इस सूत्र को पृथक् से दिया है ।

'लिपि-सिचि-ह्वः' की अनुवृत्ति केवल **'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्'** तक ही जाती है, आगे नहीं, सम्भवतः यह दर्शाने को सूत्रकार ने सूत्र-संहिता में 'च' को दोनों सूत्रों के मध्य में दिया हो । **लिपि-सिचि०** में 'अङ्' पद का अनुकर्षण करने को नहीं, अपितु इन दोनों सूत्रों को जोड़ने के लिये ही मध्य में दिया हो ।

2419 **आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्** (3.1.54)—लिपिसिचिह्वश्च (53) : आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (भवति)—√लिप्, √सिच् तथा √ह्वे को आत्मनेपद परे रहते वा अङ् होता है ।

अह्वत्—अ+ह्वा+च्लि+ति, च्लि को **लिपि-सिचिह्वश्च** से अङ् : अ+ह्वा+अत्, **आतो लोप इटि च** से आकारलोप । इसी प्रकार आत्मनेपद में **आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्** से वा अङ् : अह्वत । अङभावपक्ष में सिच् : अह्वास्त, अह्वासाताम्, अह्वासत; अह्वाध्वम्—**धि च** से सकार का लोप; अह्वासि, अह्वास्वहि, अह्वास्महि ।

धातु-योग : पूर्वधातु 970, प्रकृत 3, योग 973 ॥ 101 ॥

संदर्भ : यजादि गण में अपेक्षित उभय-पदी धातुएँ देने के बाद अब दो परस्मैपदी धातुएँ देकर यजादि गण समाप्त किया जा रहा है । ये धातु सेट् हैं ।

37.1 **√वद्** मुखगत स्थानों तथा प्रयत्नों से प्रकट होनेवाली (स्पष्ट-स्वर-वर्णपदा) वाणी बोलना अर्थ में है । यह प्रयोगानुसार सकर्मक तथा अकर्मक हो जाती है तथा सेट् है ।

अच्छ वदति—अच्छ 'अभि' या 'आप्तुम्' के अर्थ में अव्यय है ।[1] **अच्छ-गत्यर्थ-**

---

1. निरुक्त 5.28 : **अच्छाभेः । आप्तुमिति शाकपूणिः ।** तुलनीय शाबर भाष्य 10.1.9 : **'अच्छ' शब्दो हि 'आप्तुम्' इत्यस्यार्थे वर्तते ।**

अवादीत् । 2 टुओश्वि गति-वृद्ध्योः ।। 2 ।। श्वयति । 2420 विभाषा श्वेः (6.1.30)—श्वयतेः सम्प्रसारणं वा स्याल्लिटि, यङि च । शुशाव, शुशुवतुः । श्वयतेर्लिट्यभ्यास-लक्षण-प्रतिषेधः । तेन 'लिट्यभ्यासस्य' (2408) इति सम्प्रसारणं न—शिश्वाय, शिश्वियतुः; श्वयिता; श्वयेत्; शूयात्; 'जॄ-स्तम्भु०'

अवादीत् । 2 √श्वि (इत्संज्ञक टु, ओ वाली) गति और बढ़ने (फूलने में) है ।। 2 ।। 2420 √श्वि को संप्रसारण विकल्प से हो, लिट् में और यङ् में । शुशाव । √श्वि से लिट् में अभ्यास को विहित (संप्रसारण) का निषेध हो । इससे (निषेध) के कारण 'लिट्यभ्यासस्यो०' (2408) से संप्रसारण नहीं होता—शिश्वाय । 'जॄ-स्तम्भु०'

वदेषु (1.4.69) से गति संज्ञा होने से यह धातु के पूर्व प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ 'अच्छा' (क्रियाविशेषण) होता है : **अच्छा वदा तना गिरा** (ऋ० 1.38.13) ।

उवाद—वद्+√णल् में **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** से संप्रसारण । **उवदतुः**—**वचि-स्वपि-यजादीनां किति** से संप्रसारण । ऊदुः; उवदिथ, ऊदथुः, ऊद; उवाद, उवद, ऊदिव, ऊदिम; वदिता; वदिष्यति; वदतु; अवदत्; वदेत् । आशीर्लिङ् में **वचि-स्वपि०** से ही सम्प्रसारण : उद्यात् । लुङ् में **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** से विशिष्य (धातु का नाम लेकर) विधान करने से **नेटि** को बाध कर वृद्धि : अवादीत्, अवादिष्टाम्, अवादिषुः ।

2 √**श्वि** गति तथा फूलना, सूजना, बढ़ना अर्थ में है । श्वयति, श्वयतः, श्वयन्ति । श्वययुः=सूजन । √सूज् √श्वि के श्वय् अंग से ही विकसित लगती है ।

2420 **विभाषा श्वेः** (6.1.30)—श्वयङः सम्प्रसारणं पुत्र-पत्योस्तत्पुरुषे (13), लिङ्-यङोश्च (29) । लिङ्-यङोः (7.2) श्वेः (6.1) विभाषा सम्प्रसारणम् (1.1)—लिट् और यङ् में √श्वि धातु को वा संप्रसारण होता है ।

यङ् में √श्वि को संप्रसारण सूत्रांतर से अप्राप्त है । अतः यङ् के विषय में अप्राप्त-विभाषा है । कित् लिट् में **वचि-स्वपि-यजादीनां किति** से नित्य प्राप्त संप्रसारण को विकल्प होता है । अकित् लिट् में भी जब √श्वि धातु को ही संप्रसारण का विकल्प है, तो धातु के अभ्यास को नित्य हो ही कैसे सकता है ? अतः **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** लगने से पूर्व ही इससे विकल्प हो जायेगा । इस प्रकार कित् लिट् में प्राप्त-विभाषा एवम् अकित् लिट् में अप्राप्त-विभाषा है । इससे एक निष्कर्ष यह निकलता है कि **वचि-स्वपि०** से धातु को ही संप्रसारण होता है, उसके केवल नित्यत्व को बाध कर विभाषा किया गया है । पर **लिट्यभ्यास०** से तो धातु के अभ्यास को प्राप्त का ही निषेध हो जाता है । इसी बात को **श्वयतेर्लिट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेधः** पङ्क्ति से मूलकार ने कहा है । श्री श्रीशचन्द्र वसु ने सि०कौ० की अंग्रेजी टीका में इसे

(2291) इति अङ् वा । 2421 श्वयतेरः (7.4.18)—श्वयतेरिकारस्याकारः स्यादङि । पररूपम्—अश्वत्, अश्वताम्, अश्वन् । 'विभाषा घेट्-श्व्योः' (2375) इति चङ्, इयङ्—अशिश्वियत् । 'ह्म्यन्त०' (2299) इति न वृद्धिः—अश्वयीत् ।

(2291) से अङ् विकल्प से होता है—2421 √श्वि के इकार को अकार आदेश हो अङ् में । पररूप—अश्वत् । 'विभाषा घेट्-श्व्योः' (2375) से चङ्, इयङ्—अशिश्वियत् । ह्म्यन्त-क्षण०' (2299) से वृद्धि नहीं होती—अश्वयीत् ।

वार्तिक माना है । मा०धा०वृ० तथा बा०म० में वार्तिक की तरह ही व्यवहृत किया है । का० और क्षी०त० में यह आया नहीं है । वैसे सूत्र से प्राप्त अर्थ को ही इस पंक्ति में शब्दांतर से कहा गया है । अतः इस अनुवादवाक्य की वार्तिकत्वेन प्रामाणिकता संदिग्ध है ।

शुशाव—√श्वि+अ, द्वित्वापेक्षया पर होने से **विभाषा श्वेः** से वा संप्रसारण पहले : शु+अ, फिर **अचो ञ्णिति** से वृद्धि, शौ+अ, **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** से स्थानिवद्भाव ('शु' को धातु मान कर) करके द्वित्व : शौ+शौ+अ, अभ्यासकार्य : शु+शौ+अ, आव्, शुशाव ।

शिश्वाय—सम्प्रसारणाभाव पक्ष में √श्वि को द्वित्व : श्वि+श्वि+अ, **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** से अभ्यास को प्राप्त संप्रसारण का **श्वयतेर्लिट्यभ्यास-लक्षणप्रतिषेधः** से निषेध । इस वाक्य की अप्रमाणता के पक्ष में **विभाषा श्वेः** से धातु को विकल्प करने पर भी यदि संप्रसारण हो जाता है, तो √श्वि धातु को तो नित्य ही सप्रसारण हो जाता है । अभ्यास धातु से भिन्न नहीं है । तब 'विभाषा' विधान व्यर्थ है । अतः अभ्यास को संप्रसारण नहीं होता । अभ्यासकार्य : शि+श्वि+अ, **अचो ञ्णिति** से वृद्धि, आय् : शिश्वाय ।

शुशुवतुः—श्वि+अतुस्, **वचि-स्वपि०** से प्राप्त नित्य संप्रसारण को बाध कर **विभाषा श्वेः** से वा सम्प्रसारण : शु+अतुस्, द्वित्व : शु+शु+अतुस्, **अचि श्नु-धातु०** से उवङ् । सम्प्रसारणाभावपक्षे शिश्वियतुः ।

श्वयिष्यति; श्वयतु; अश्वयत्; श्वयेत्; शूयात्—**वचि-स्वपि०** से नित्य संप्रसारण, **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ ।

2421 **श्वयतेरः** (7.4.18)—ऋदृशोऽङि गुणः (16), अङ्गस्य (6.4.1) । श्वयतेः (6.1) अङ्गस्य (6.1) अलोऽन्त्यस्य (6.1) अः (1.1) अङि (7.1)—श्वि अंग के अन्तिम अल् के स्थान में 'अ' आदेश होता है, अङ् परे रहते ।

अश्वत्—अ+श्वि+च्लि+त्, **जॄ-स्तम्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च** से च्लि को वा अङ् : अ+श्वि+अ+त्, **श्वयतेरः** से इ को अ : अश्व+अत्, **अतो**

वृत् ।। 3 ।। यजादयो वृत्ताः । भ्वादिस्त्वाकृति-गणः । तेन 'चुलुम्पती'-त्यादि-संग्रहः ।। 102 ।।

भ्वादिगण आकृति-गण है

वृत् ।। 3 ।। √यज् आदि धातुएँ समाप्त हुईं । भ्वादि तो आकृतिगण है । परिणामतः '√चुलुम्प' इत्यादि धातु इस गण में शामिल हो जाती हैं ।। 102 ।।

गुणे से पर-रूप : अश्वत्; अश्वताम्; अश्व+अ+अन्, **अतो गुणे** से दो बार पररूप : अश्वन्; अश्वः, अश्वतम्, अश्वत; अश्वम्, अश्वाव, अश्वाम ।

अशिश्वियत्—अङ्भावपक्ष में **विभाषा घेट्-ख्योः** से वा चङ्, **चङि** से द्वित्व, अभ्यासकार्य : अ+शि+श्वि+अत् । **अचि-श्नु०** से इयङ् । संयोगादि होने से यण् प्राप्त नहीं है । अशिश्वियताम्, अशिश्वियन्, अशिश्वियः, अशिश्वियतम; अशिश्वियत; अशिश्वियम्, अशिश्वियाव, अशिश्वियाम ।

अश्वयीत्—चङभावपक्ष में अ+श्वि+सिच्+त् । वलादिलक्षणक इट्, तथा **अस्ति-सिचोऽपृक्ते** से इट् : अश्वि+इ+स्+ईत्, **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** से प्राप्त वृद्धि का **ह्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम्** से निषेध, **सार्वधातुकार्ध०** से गुण : अश्वयीत्, अश्वयिष्टाम्, अश्वयिषुः; अश्वयीः, अश्वयिष्टम्, अश्वयिष्ट; अश्वयिषम् अश्वयिष्व, अश्वयिष्म ।

टु की इत् संज्ञा होने से **ट्वितोऽथुच्** से अथुच् : श्वयथुः शोथ । ओदित् होने से निष्ठा में **ओदितश्च** से तकार को नकार : शूनः, उच्छूनः, उच्छूनवान् सूजा हुआ, फूला हुआ । उदकेन श्वयति, उदश्वित् पानी से बढ़ने वाले पदार्थ ('छाछ' अर्थ में रूढ) । 'श्वा' गतिशील ('कुत्ता' अर्थ में रुढ) । अथवा शु+√अन् (हाँफने) से 'श्वन्' है । मातरि=अन्तरिक्षे श्वयति, मातरिश्वा वायु ।[1] श्वभ्यो हितं शून्यम् कुत्तों के लिए हितकर : एकान्त स्थान ।

वृत्—समाप्त । यजादिगण की धातु समाप्त हुई । चुरादिगण के अंत में **बहुलमेतन्निदर्शनम्** लिखा है । उसकी अनेक व्याख्याएँ की गई हैं । उनमें से एक यह भी है कि धातु-पाठ में धातुओं का समाम्नानरूपी यह निदर्शन बहुल है, प्रायिक है । अर्थात् प्रकार-विशेष की धातु गणविशेष में दे दी है । पर इनके अतिरिक्त धातु भी यदि कहीं वाङ्मय में दिखाई दें, तो उनकी आकृति से उनकी प्रकार-विशेषता का अनुमान करके उन्हें उनके प्रयोगानुमत गण में समझ कर तत्तत्स्थलोपयुक्त प्रक्रिया कर देनी चाहिए । अन्यत्र वाङ्मय में प्रयोगों की उपलब्धि की दृष्टि से बहुत सी धातु

---

1. दार्शनिक व्याख्या के लिए मेरी ईशोपनिषद्भाष्यकुसुमाञ्जलि, पृष्ठ 19, देखें ।

2422 ऋतेरीयङ् (3.1.29)—ऋतिः सौत्रः । तस्मादीयङ् स्यात्स्वार्थे ।

भ्वादिगण की आकृतिगणता का दूसरा उदाहरण

2422 √ऋत् से ईयङ् (होता है) । √ऋत् सूत्र-पठित धातु है । उससे स्वार्थ

ऐसी हैं, जिनका समाहार भ्वादिगण में करना उचित है । उनकी सिद्धि के लिए 'भ्वादिगण आकृतिगण है', यह भगवान् पाणिनि का आशय है । इसके परिणामस्वरूप वार्तिककार[1] और कविकल्पद्रुम आदि व्याकरण ग्रंथों में पठित तथा साहित्यिक ग्रंथों में प्रयुक्त लोपार्थक √चुलुम्प् आदि धातु भी भ्वादिगण में समझनी चाहिएँ ।

संस्कृत को सर्वकाल तथा सर्वदेश में सतत प्रवाहशील एवम् अमर बनाने के लिए भगवान् पाणिनि का यह एक बहुत युक्तियुक्त एवं स्तुत्य प्रयास है । उनके समय में, या उससे पूर्व, संस्कृत भाषा का जो रूप था, उसे ही शास्त्रानुशिष्ट करना भगवान् पाणिनि का आशय यदि होता, तो वे भाषा में अविरल गति से आने वाले परिवर्तनों एवं परिवर्धनों को 'आकृतिगण' कह कर अपने शब्दानुशासन की परिधि में न लाते । भौतिक विज्ञान के इस अत्युत्कृष्ट विकास के युग में हमें संस्कृतभाषा में विज्ञान के पारिभाषिक शब्द कदाचित् न मिलें, तो हमें अविलंब ही उन वैज्ञानिक शब्दों को ले कर, उन्हें संस्कृतव्याकरण के साँचे में ढाल-कर व्यवहारयोग्य बना लेना चाहिए । इस प्रकार निर्मित शब्द भारत की सभी भाषाओं में सरलता और सहजता से रच-पच सकेंगे ।

धातु-योग—पूर्व धातु 973, प्रकृत 2, योग 975 ।। 102 ।।

संदर्भ : इस प्रकार धातु-पाठोक्त √भू आदि धातुओं का गण संपूर्ण हुआ । अब भ्वादिगण के आकृतिगण होने के कारण शब्विकरणकत्वेन अभिमत एक सौत्र धातु भी दीक्षितजी ने यहीं दी है । यह अन्य इसी प्रकार की अष्टाध्यायी के सूत्रों में, या उणादिसूत्रों आदि में आगत, शप् विकरण से होने वाली रूप-रचना वाली अन्य धातुओं का उपलक्षण है । अन्य गणों के विकरण वाली सौत्र धातु भी इसी प्रकार समझी जाएँ, यह भी आचार्य का अभिप्राय है ।

2422 **ऋतेरीयङ् (3.1.29)**—√ऋत् से ईयङ् होता है । √ऋत् धातु दश-गणी में समाम्नात नहीं है । केवल इस सूत्र में उक्त होने से यह सौत्र धातु है । इस धातु का स्वरूप 'ऋत्' है, या 'ऋति', यह संदेह निर्मूल है । धातु √ऋत् (हलंत) ही

---

2. न्यास 3.1.35 : **चुलुम्पतेर्धातुष्वपठितस्यापि 'कास्यनेकाज्ग्रहणं चुलुम्पाद्यर्थम्' इति कात्यायन-वचन प्रामाण्याद् धातुत्व वेदितव्यम् ।** पदमञ्जरी : **चुलुम्पतिर्वार्तिक-कारवचनात् साधुः ।** यहाँ काशिका में भाष्य का ही संक्षेप किया है ।

है। सूत्र में इकारांत पाठ **इक्श्तपौ धातु-निर्देशे** से इक्प्रत्ययांत का है। यदि इकारांत धातु अभिप्रेत होती, तो ईयङ् के इकार को दीर्घ करने की आवश्यकता न थी। 'ऋति+इय' स्थिति में सवर्ण दीर्घ करके ही √ऋतीय यह दीर्घवान् धातु बन सकती थी।

यदि कहें कि 'ऋति+इय' स्थिति में सवर्णदीर्घ को बाध कर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् होगा। अतः अनिष्ट 'ऋत्यिय' रूप प्राप्त होने से उपर्युक्त तर्क पुष्ट नहीं है। इस पर उत्तर यह है कि यदि धातु को इकारांत मानना है, तो इयङ् करें या ईयङ्, दोनों ही पक्षों में यण् तो प्राप्त होगा ही, तब तो **ऋतेर्ङ्यः** सूत्र बनाना लघु तथा निर्दोष होता। क्योंकि 'ऋति+य' स्थिति में **अकृत्सार्वधातुकयोः०** से दीर्घ करके √ऋतीय धातु निष्पन्न हो जाती। ऐसा न करके सूत्रकार ने ईयङ् जो किया है, वह सिद्ध करता है कि 'ऋतेः' कहने से √ऋत् यह हलंत धातु ही उन्हें इष्ट है; √ऋति यह इकारांत नहीं।

अर्थविशेष का निर्देश न किया होने से ईयङ् स्वार्थ में होता है। √ऋत् का स्वार्थ **अर्तनं च ऋतीया च हृणीया च घृणार्थके** (अ०को० 3.2.32), **कृपायां करुणायते। कृपायते चानुकम्पतेऽनुक्रोशत्यृतीयते** (आ० च० 1.3.79-80), **जुगुप्सत ऋतीयते** (आ० च० 1.3.90), **ऋतीयते घिग्घृणयोः** (आ० च० 3.3.143) इस प्रकार कोशों में कहा होने से 'घृणा' एवं 'निंदा करना' है।[1] 'घृणा' का अर्थ संस्कृत में 'कृपा' एवं 'जुगुप्सा भी होता है, न कि केवल किसी के प्रति दुर्भावना (जुगुप्सा)।[2] वा० शि० आप्टे ने censure, reproach अर्थ बताया है।[3] यह अंशतः ठीक है। हिन्दी में 'घृणा' शब्द केवल 'जुगुप्सा' अर्थ में है।

ईयङ् के ङकार का प्रयोजन **सनाद्यन्ता धातवः** से ईयङ्ङंत 'ऋतीय' की धातु-

---

1. आचार्य जिनेंद्रबुद्धि तथा सायण के अनुसार इसका अर्थ 'जुगुप्सा' ही होता है। न्यास : **घृणा=जुगुप्सा।** तथा मा० धा० वृ० : **ऋतिर्घृणायाम्। सा चेह घृणा जुगुप्सा-कृपयोरित्युक्त्वाऽपि ऋतीया-शब्दस्य निघण्टुषु निरूढा जुगुप्सैवेति व्याख्यातारः।** टीकोदाहृत कोशवाक्यों तथा वृ० श० शे० में उद्धृत कोशवाक्य (**ऋतीया स्याद् घृणयोः**) से दोनों ही अर्थ होते हैं। नागेशभट्ट ने स्पष्ट ही कहा भी है—**घृणयोरित्यस्य जुगुप्सा-करुणयोरित्यर्थः।** अतः दोनों अर्थ मानना ही उचित है।
2. अ०को० 1.7.18 : **कारुण्यं करुणा घृणा। कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपि···।** 3.3.51 : **जुगुप्सा-करुणे घृणे।**
3. दी स्टूडेण्ट्स् संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी में 'घृणा' शब्द देखें।

(i) जुगुप्सायामयं धातुरिति बहवः। (ii) कृपायां चेत्येके। 'सनाद्यन्ता०' (2304) इति धातुत्वम्। ऋतीयते; ऋतीयाञ्चक्रे। आर्धधातुकविवक्षायां तु

में ईयङ् होता है। (i) यह धातु 'निंदा अर्थ में है', यह बहुत-से लोग (मानते हैं); (ii) 'कृपा अर्थ में भी है', यह कुछ लोग (मानते हैं)। 'सनाद्यन्ता धातवः' से (इसकी) 'धातु' संज्ञा होती है। ऋतीयते। ऋतीयांचक्रे। आर्धधातुक प्रत्ययों की विवक्षा में

संज्ञा करने पर ङित्व-लक्षणक आत्मनेपद करना है। यकारांतवर्ती अकार को अनुनासिक (ईयँङ्) मानने में प्रयोजनविशेष न होने से 'ईय' अदन्त प्रत्यय है। अतः शप् होने पर ऋतीय+अते, **अतो गुणे** से पररूप : ऋतीयते। अ को यदि उच्चारणार्थक मानें, तो √ऋतीय् यह हलंत धातु निष्पन्न होती है।

लिट् की विवक्षा में **आयादय आर्धधातुके वा** से वा ईयङ्, शेष प्रक्रिया 'कामयाञ्चक्रे' की तरह : ऋतीयाञ्चक्रे। ईयङ्ङभावपक्ष में √ऋत् में आत्मनेपद का कोई निमित्त न होने से पारिशेष्यात् परस्मैपद : ऋत्+अ, द्वित्व : अभ्यास के ऋ को **उरत्, उरण र-परः**, अर्त्+ऋत्+अ, **हलादिः शेषः**, अ+ऋत्+अ। **अत आदेः**, आ+ऋत्+अ, **तस्मान्नुड् द्वि-हलः** में ऋकारावयव रेफ-सदृश वर्णावयव सूत्रकार को हल् के रूप में अभिमत है,[1] अतः यहाँ नुट् : आ+न्ऋत्+अ, लघूपध गुण : आ+न् अर्त्+अ=आनर्त। आनृततुः, आनृतुः। अनिट्कारिकाओं में पठित न होने से यह सेट् है, अतः थल् में आनर्तिथ। आनृतथुः, आनृत। आनर्त, आनर्तिव, आनर्तिम। ऋतीयितासे, अर्तितासि; ऋतीयिष्यते, अर्तिष्यति। ऋतीयताम्। आर्तीयत—आ+ऋतीयत, **आटश्च** से वृद्धि एकादेश। ऋतीयेत। ऋतीयिषीष्ट, ऋत्यात्। लुङ् में आर्तीयिष्ट। ईयङ् के अभावपक्ष में परस्मैपद, आट् : आ+ऋत्+त्, **आटश्च** : आर्त्+त्, सिच्, इट्, ईट् : आर्त्+इ+स्+ईत्, **इट ईटि** से सिज्लोप : आर्तीत्। आर्तिष्टाम्, आर्तिषुः आर्तिष्ठाः। आर्त्तीयिष्यत, आर्त्तिष्यत्। 'निर्ऋतिः' (निरय, नरक, दुर्गति) निर्+√ऋत् से, या निर्+√ऋ से है।

मुद्रित काशिका में **"ऋतेश्छङिति सिद्धे ईयङ्वचनं ज्ञापनार्थम्—'धातु-विहितानां प्रत्ययानामायन्नादयो न भवन्ती ति।"** पाठ उपलब्ध होता है। इसका आशय यह है कि गौरवयुक्त ईयङ् की अपेक्षा छङ् प्रत्यय करना लघु होता। क्योंकि **आयनेयी०** से छ् को ईय् आदेश करके अभीष्ट रूप बन सकते हैं। लाघवैकप्रिय होते हुए भी भगवान सूत्रकार ने ऐसा नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें धातु से विहित प्रत्ययों को आयन् आदि आदेश करना इष्ट नहीं है।

---

1. **'कृपो रो लः'** (8.2.18) की व्याख्या, पृष्ठ 528.

'आयादय आर्ध-धातुके वा' (2305) इतीयङभावे 'शेषात्कर्तरि' (2159) इति तो 'आयादय आर्धधातुके वा' (2305) से ईयङ् न होने पर 'शेषात् कर्तरि०'

इस पाठ की प्रामाणिकता प्राचीन काल से ही संदिग्ध रही है। न्यास[1] तथा पदमंजरी के अनुसार यह पाठ काशिका का मूलपाठ नहीं है। माधवीय धातुवृत्ति का कहना है कि काशिका की कुछ प्रतियों में **'ऋतेश्छङि'त्येव सिद्धे 'ऋतेरीयङ्'-वचनं ज्ञापकं 'धातु-विहितानां प्रत्ययानामायन्नादयो न भवन्ती'ति** पाठ उपलब्ध होता है। अर्थात् जिनेंद्रबुद्धि, हरदत्त और सायण के मत में यह पाठ काशिका में प्रक्षिप्त है।

सि०कौ० के कुछ संस्करणों में तथा बृ०श०शे० में √ऋत् तथा इसकी प्रक्रिया अदादि गण के आरंभ में उपलब्ध होती है, तथा इससे पूर्व ही **इति भ्वादयः** पुष्पिका उपलब्ध होती है। यह उचित नहीं है। स्वादि आदि सात गणों से शेष जितनी भी धातु हैं, उनसे कर्तृवाच्य में औत्सर्गिक शप् विकरण होता है। शप् का अदादियों से परे लुक् तथा जुहोत्यादियों से परे श्लु हो जाता है। शेष धातु पारिशेष्यात् भ्वादिगण में रखी हैं। णिजादि-प्रत्ययांत धातुओं से भी शप् होता ही है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए भ्वादिगण को 'आकृतिगण' बतलाया है। णिजंत प्रकृतियाँ अपने शुद्ध रूप में गणांतर में उपदिष्ट होने के कारण इस आकृतिगण में नहीं आतीं। पर जो गणांतर में अपठित होकर नित्यणिजंतादि हैं, वे इस गण में ही परिगृहीत होती हैं। **कण्डूञ्** आदि धातु भी सूत्रकार ने कण्ड्वादिगण में रखी हैं। अतः वे भ्वादिगण में नहीं आतीं। हाँ, शप् उनसे अवश्य होता है। अथवा भ्वादिगण के अंतर्गत एक छोटा-सा कण्ड्वादिगण भी माना जा सकता है। पर सभी आचार्यों ने इन्हें नित्ययगंत धातु[2] मानते हुए भी दशगणी से बहिर्भूत ही माना है। इस पर एक प्रश्न है कि धातुसंज्ञा या तो **भूवादयो धातवः** से होती है, या **सनाद्यन्ता धातवः** से। सनाद्यंतता से धातुसंज्ञा तो

---

1. न्यास में काशिका से **'इति'**-शब्दांत प्रतीकों को उद्धृत करके व्याख्या करने की शैली है। पर इस प्रसंग में ऐसा नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि न्यासकार अपनी तरफ से ही यह शंका-समाधान कर रहे हैं, काशिका की व्याख्या नहीं। श्रीहरदत्तमिश्र ने **'क्वचिदेष पाठो वृत्तावेव पठ्यते'** कहकर **'तस्माद् 'ऋतेश्छङ्' इत्यादि वृत्तौ न पठनीयम्।'** निर्णय दिया है। ऐसा लगता है कि न्यास के आधार पर ही किन्हीं पण्डितजी ने अपनी पोथी (पांडुलिपि) में यह पंक्ति मूल (काशिका) में जोड़ दी है। इस पांडुलिपि से तैयार हस्तलेखों में यह मूल के अंग के रूप में उपलब्ध होती है। अन्य पांडुलिपियों में नहीं।
2. प०म० 3.1.27. उद्योत : **'स्वार्थे' इति—'नित्यम्' इति शेषः। 'वा'-ग्रहणाननुवृत्तेः। तेन पक्षे कण्डवतीत्यादि न।**

परस्मैपदम्– आनर्त; अर्तिष्यति; आर्तीत् ॥ 103 ॥

॥ इति भ्वादयः ॥

(2159) से परस्मैपद होता है : आनर्त; अर्तिष्यति; आर्तीत् ॥ 103 ॥

॥ भू आदि (धातुएँ) समाप्त ॥

यक् होने पर होगी, परंतु शुद्ध कण्डूञ् आदि को जब सभी आचार्य धातु मानते हैं,[1] तो किस गण के अंतर्गत होने से ये धातु कहलाती हैं ? अदादि आदि गणों में तो ये हो नहीं सकती, क्योंकि तत्तद् गण के विशेष कार्य इनसे नहीं होते। अतः यदि इन्हें धातु मान कर फिर यक् करना है, तो पारिशेष्यात् भूवादिगण में ही मानना होगा। यदि कहें कि गणपाठ में ही रहने दें, तो वहाँ ये प्रातिपदिक के रूप में रहेंगी, या धातु के रूप में ? धातु संज्ञा तो वहाँ इनकी हो नहीं सकती। तब इन्हें प्रातिपदिक ही मानना होगा। पर यह तंत्र-विरुद्ध[2] होने से उपेक्ष्य है। अतः कण्ड्वादिगण को भूवादिगण में मानना ही निरापद है। इसी प्रकार अन्य सौत्र धातुओं को भी तत्तत्प्रयोगानुमत गण में देकर शेष को भ्वादि में ही रखना चाहिए। अतः √ऋत् भ्वादि में उचित है।

धातु-योग : गत 975, वर्तमान 1, योग 976 ॥ 103 ॥

व्याख्याकार का निवेदन

भवानी-पदाब्जे हृदय-प्रकाशे ममास्तां सदा यद्वद्युदितार्क-भासे।
सदाशीश्चयाश्च गुरुदेवदत्ताः, फलं ह्यद्य तेषां भव-तोषिणीयम् ॥

श्रद्धा प्रीतिः श्रमपरमात्रा विद्वत्सेवा श्रुति-मति-पाठाः।
शास्त्राभ्यासो मति-विरहेऽपि भूयो भूयः परमवधानम् ॥
सौख्योपेक्षा तपसि च वृत्तिः पुण्यैर्वैप्री गृहजनयोगः।
ग्रन्थस्यास्य प्रणयनकाले देव्या आसन् मयि कृपयेत्थम् ॥

बुध-जन-कण्ठे मणिमय-माला श्रुति-मुख भूषा शिवहरि-टीका।
भवतु भवानी-भव-पद-तुष्ट्यै भव-भय-बाधां दिशतु विनष्ट्यै ॥

॥ श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचित वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
की पण्डित श्रीशिवनारायण शास्त्री द्वारा रचित
भव-तोषिणी टीका के अंतर्गत तिङंत में
भ्वादिगण सम्पूर्ण हुआ ॥

---

1. म० भा० : धातुप्रकरणाद् धातुः। उभयं कण्ड्वादीनि—धातवश्चैव प्रातिपदिकानि च। का०, न्या०, प०म०, मा०धा०वृ०, सि०कौ०, सभी में इन्हें धातु माना है।
2. न्या० 3.1.27, तथा मा० धा० वृ० एवं म० भा०।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

भवतोषिणी में लेखक के या ग्रन्थ के पूरे नाम या सङ्क्षिप्त नाम से सन्दर्भ दिये गये हैं। सूची में प्रदत्त सङ्ख्या वाले पृष्ठ पर इनमें से अन्यतम को देखें। प्रचलित संस्करणों का प्रयोग किया गया है। विशेष संस्करण अभीष्ट होने पर उसका उल्लेख भवतोषिणी में यथास्थान कर दिया है।

अथर्ववेद संहिता, शौनक शाखा (अ०सं०) 167, 180, 228, 287, 357, 419, 420, 458, 512, 590, 647, 659

अनुवादकला, चारुदेवशास्त्री 18

अभिज्ञान-शाकुन्तल, कालिदास (शाकु०) 468, 472, 517, 574

अभिनवभारती, अभिनवगुप्त 367

अमरकोष, (अ०को०) 11, 326, 339; 372, 436, 440, 443, 457, 470-477, 485-487, 496, 507, 514, 545, 614, 646, 691, 713, 715, 723, 741

अवेस्ता 586

अष्टाध्यायी, सूत्रपाठ (अष्टा०) 6, 10, 11, 25, 47, 48, 60, 69, 73, 85, 120, 124, 131, 132, 182, 183, 203, 233, 269, 351, 377, 411, 419, 438, 454, 605, 614, 638, 644, 645, 655, 687, 688, 698

आख्यात-चन्द्रिका, भट्टमल्ल (आ० चं०) 228, 298, 354, 486, 491, 495, 497, 516, 555, 557, 560, 578, 594, 608-610, 619, 622, 623, 643, 645, 648, 672, 694, 710, 741

आत्रेय 489, 490, 573, 664

आपस्तम्बश्रौतसूत्र (आ० श्रौ०) 248, 485

आपिशलि 40, 120

आभरणकार 264, 562, 713

आश्वलायन श्रौतसूत्र 282

आर्हत आचार्य 513

इन्दु आचार्य 713

इसेंशल्स् ऑफ इंगलिश ग्रामर, ऑटो यस्पर्सन 12

ईशोपनिषद् 49

ईशोपनिषद्भाष्यकुसुमाञ्जलि, शिवनारायण शास्त्री 739

उज्वलदत्त 426

उणादिवृत्ति 331

उणादि-सूत्र (उ०सू०) 294, 483, 511, 544-547, 556, 618, 622, 645, 663, 732

उत्तररामचरितम्, भवभूति (उ०रा०च०) 442, 706

उद्योत, नागेश/नागोजी भट्ट (उ०) 4, 19, 55-57, 64, 66, 68, 81-82,

85-86, 89, 91-94, 96, 101, 105, 115-117, 121, 143, 144, 232, 324, 358, 410, 413, 493, 599, 610, 617, 652, 667, 697-699, 714, 717, 718, 720, 743
ऋक्तन्त्र व्याकरण 68
ऋक्प्रातिशाख्य, शौनक (ऋ०प्रा०) 43, 68, 696
ऋग्भाष्य, सायण 419, 633
ऋग्वेद-संहिता (ऋ० सं०/ऋ०) 56, 57, 101, 228, 230, 237, 282, 287, 289, 303, 329, 349, 354, 405, 410, 419-421, 457-459, 468, 470, 493, 495, 507, 514, 545, 560, 585, 586, 590, 607, 617, 646, 659, 666, 672, 676, 677, 705, 712, 718, 723, 729, 737
ए कङ्कॉर्डेंस् आफ संस्कृत धातुपाठज्, गजानन बालकृष्ण पल्सुले (ए० कं० सं० धा०) 278, 461, 557-560, 696
ए कम्पैरैटिव ग्रामर आफ दी इंडोजर्मैनिक लैङ्ग्वेजेज़, ब्रुग्मान् 459
ए न्यू इंग्लिश् डिक्स्नरी, जेम्स् मरे 28
ए लैटिन ग्रामर, जार्ज लेन 28
ए वेदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट्स्, आ० अ० मैक्डॉनल 357
ऐतरेय ब्राह्मण (ऐ० ब्रा०) 167, 170
कण्ठाचार्य 365, 487
कपिलदेव शास्त्री 136
कल्पतरु 327
कविकल्पद्रुम 740
काठक संहिता (का० सं०/काठक सं०) 180, 514, 606, 658, 659 705, 727
काण्व संहिता 659
कातन्त्र व्याकरण 6, 8, 21, 27, 50, 275, 277, 557, 628, 696
कात्यायन 50 85, 489, 627
कात्यायन श्रौतसूत्र (का० श्रौ० सू०) 43, 60, 512
कामसूत्र, वात्स्यायन 330
काम्बोज जियालाल 577
काव्यप्रकाश, मम्मट (का० प्र०) 550, 553, 718
काव्यादर्श-प्रसादिनी, शिवनारायण शास्त्री 402, 437, 695
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, वामन 437, 514
काशकृत्स्न (का०कृ०) 39, 247, 275 277, 283, 320, 324, 330, 338-340, 352, 369, 438, 461, 464, 470, 485, 492, 493, 545, 554 556, 557, 559, 560, 576, 582, 583, 589, 592, 594, 597, 598, 613, 614, 616, 628, 643, 644, 656, 696, 734
काशिका (वृत्ति, का०) 7, 19 29 30, 40, 42, 52, 54, 55, 60, 62, 65, 67, 70, 81, 82, 87, 88, 93, 105, 114, 122, 123, 125, 127, 130, 131, 133, 137, 142, 144 145, 149, 153, 156, 158, 175, 181, 184, 187, 196, 202-204, 206, 212, 214, 232, 333, 237, 238, 243, 249, 263, 264 275-278, 282, 283, 295 297, 299 301,

320, 334, 350, 352, 359, 369-371, 376, 380, 384, 385, 389, 390, 395, 398, 407, 410, 417, 420, 424, 438, 445, 451, 454, 456, 457, 461-464, 476, 478, 479, 483, 489. 494-496, 533, 534. 537, 557, 558, 563, 575, 576, 578, 584, 588, 591, 593, 598, 607, 621, 629, 630. 632, 635, 637, 642, 645, 651, 654, 657, 664, 672, 674, 675 681-683, 686, 688, 692, 693, 694, 698, 699, 705, 707-709, 717, 718, 720, 726, 727, 734, 738, 740-744

काशिका, वैयाकरणभूषणसार की टीका 13

काश्यप आचार्य 249, 264, 268, 326, 328, 333, 338, 346, 353, 370, 468, 473, 476, 484, 489, 495, 595, 598, 620, 622, 643, 713

काश्यप संहिता 606

कुमारसम्भव, कालिदास (कु० सं०) 620

कृष्ण यजुर्वेद 349

केशव 467

कौमार 718

कौशिक 228, 242, 247, 278, 333, 340, 347, 402, 443, 447, 517, 620, 623

कौषीतकि ब्राह्मण (कौ० ब्रा०) 649

क्रियानिघण्टु 647

क्षीरतरङ्गिणी, क्षीरस्वामी (क्षी० त०) 21, 39, 69, 228, 242, 247-249, 264, 267, 268, 271, 275, 277-280, 282, 286 288, 290, 293, 295, 303, 305, 317, 319-328, 331-343, 350-355, 362, 363, 365-370, 401-410, 414, 417, 419-423, 426-432, 435-437, 439 444, 446, 447, 450-452, 457, 460-463, 465 469, 471-473, 476 479, 483 487, 490-492, 494-497, 499-500 503, 505-509, 513-517, 524, 542, 544-548, 550-560, 562-566, 568-572, 574, 578-580, 582, 583, 587-590, 592, 593, 596, 598, 606-623, 627, 628, 631, 632, 634, 635, 641-647, 649, 656, 660 663, 665, 666, 668, 671-673, 677, 679 683, 686, 689-693, 696 699, 705, 709, 710, 713, 714, 716, 717-719, 732, 738

गरुडपुराण 467

गीतगोविन्द, जयदेव 426

गीता 27, 298, 349, 470. 496, 716

गुप्त 367, 507, 568

गोपथ ब्राह्मण (गो० ब्रा०) 11, 485

गोपीनाथ 37

गोभिल गृह्यसूत्र 649

गोविन्दस्वामी 471

ग्रामर इन् ए न्यू सेटिङ्ग्, Guy Pocock 12

चतुरध्यायिका, अथर्वप्रातिशाख्य 50, 68

चन्द्र/चान्द्र 31, 216, 248, 283, 288,

293, 319, 325, 338, 339, 342, 351, 353, 363, 435, 452, 464, 467, 473, 477, 478, 483, 484, 485, 503, 508, 509, 548, 594, 613, 614, 617, 628, 656, 718
चन्द्रकला, भैरवमिश्र (च०क०) 5, 33, 53, 81, 82, 105, 121, 122, 126-128, 137, 665
चन्द्रगोमी 446, 450, 477, 558, 589
चन्नवीर कवि, कन्नडटीका 320, 324, 325, 369, 374, 477, 495, 592, 644, 666, 686, 732
चरक 486, 574, 598, 686
चित्राव शास्त्री सिद्धेश्वर 679
छन्दोग्य उपनिषद् (छा०उ०) 10
जगद्धर 367
जयमङ्गला/जयमङ्गल 170, 330, 369, 482
जयादित्य, काशिका 87, 88, 533, 534, 558, 654, 666, 718
जानी डॉ० अरुणोदय, जर्नल ऑफ म०स० युनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, 58
जाम्बवतीविजय, पाणिनि 292
जैन शाकटायन 656
जैनेन्द्र 557, 559, 628, 696
जैमिनिसूत्र 214
जैमिनीय न्यायमाला 659
जैमिनीय ब्राह्मण (जै०ब्रा०) 170
जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (जै० उ० ब्रा०) 357
टेक्नीकल टर्म्स एंड टेक्नीक ऑफ संस्कृत ग्रामर, क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय (टे०ट०टे०) 6, 7, 17, 34, 40, 110
तत्त्व-प्रकाशिका, लक्ष्मणशर्मा 126
तत्त्वबोधिनी, ज्ञानेन्द्र सरस्वती (त० बो०, ज्ञा०स०) 5, 15, 24, 29, 49, 54, 61, 70, 73, 81, 82, 93, 104, 105, 122, 126, 161, 189, 191, 203, 229, 231, 232, 238, 241, 244, 245, 285, 323, 324, 359, 386, 387, 398, 399, 410, 434, 464, 503, 599, 610, 611, 619, 649, 659, 660, 674-676, 697, 709
तन्त्रवार्तिक, कुमारिल भट्ट 436, 656
तरङ्गिणी 334, 335
तर्कसङ्ग्रह-तारोदय, शिवनारायणशास्त्री 3
तारापोरवाला जे०एस०, भा को-मेमोरेशन वाल्यूम 28
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (तै०प्रा०) 68, 569
तैत्तिरीय ब्राह्मण (तै० ब्रा०) 86, 485, 512, 584 (शुद्धिपत्र), 727
तैत्तिरीयसंहिता (तै०सं०)167, 180, 228, 287, 590, 606, 659, 705, 727
तैत्तिरीयोपनिषद् 676
त्रिपाठी डॉ० रामप्रसाद 40, 44, 53, 60, 67, 87, 89, 151, 152, 165, 191, 261, 307, 309, 330, 358, 361, 394, 396-397, 580, 607, 654, 656, 667, 678, 725
त्रिपाठी हरिनारायण (तिवारीजी) 656
त्रिपुरारि 367
दण्डी 437
दशपाद्युणादिकार 631
दाधिमथ शिवदत्त 47, 119, 122, 123, 654

दी स्टूडेंट्स गाइड टू संस्कृत कम्पोजिशन, वामन शिवराम आप्टे 16
दी स्टूडेंट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्स्नरी, वामन शिवराम आप्टे (वा० शि० आप्टे) 741
दुर्ग 248, 289, 333, 339, 340, 350, 367, 439, 464, 468, 469, 471, 473, 476-468, 484, 486, 503, 506-508, 543 558, 571, 618, 620, 622, 623, 647, 668, 671
दुर्गसिंह 13, 14, 16, 43, 61, 68, 278, 496
दुर्गादास 31, 691
दुर्गासप्तशती, 577, 599
देव (दैव) 319, 325, 367, 447, 468, 477, 479, 484, 485, 514, 558, 562, 609, 631, 632, 643, 644, 647, 672, 691, 695, 696, 710
देवताध्याय ब्राह्मण 354
देवनन्दी 34, 61
देवराज 275
देवलस्मृति 302
देवीभागवत पुराण 614
देवीनिरुक्ताध्याय 614
दौर्ग 216
द्रविड 333
धनपाल 275, 290, 334, 337, 339, 340, 367, 470, 478, 562, 694, 696
धर्मकीर्ति 39, 118
धातुपाठ 203, 206, 319, 320. 334, 458, 550, 605, 612, 633. 644, 669, 679, 714
धातु-पारायण, हेमचन्द्र 407, 508, 614
धातु-प्रदीप, मैत्रेयरक्षित (धा० प्र०) 291, 319, 340
धातुरूपचन्द्रिका, पी० वी० उपाध्ये (धा० रू० च०)
धूर्त-स्वामिभाष्य 485
नन्दी 325, 333, 338, 513, 548, 616, 672, 683, 690
नागेश/नागोजी भट्ट 19, 25, 51, 61, 76, 81, 88, 105, 111-113, 116, 123, 126, 131, 133, 358, 397, 493, 559, 599, 610, 617, 665, 667
नाट्यशास्त्र 68
निघण्टु, यास्क 265, 275-277, 287, 298, 354, 371, 405, 409, 483, 512, 515, 585, 590, 617, 660, 663, 670, 672, 676
निरुक्त, यास्क (नि०) 9-12, 16, 39, 43, 45, 60, 61, 68, 227, 228, 265, 268, 273, 278, 281, 287, 294, 405, 409, 420, 421, 427, 432, 436, 438, 440, 442, 450, 451, 464, 465, 470, 483, 484, 491, 496, 504, 505, 510, 511, 515, 544, 545, 560, 585, 603, 642, 645, 647, 649. 659. 650, 663, 676, 736
निरुक्त के पाँच अध्याय, शिवनारायण शास्त्री (नि० पाँ० अ०) 268, 273, 278, 289, 303, 354, 371, 405, 427, 585, 656

निरुक्त-मीमांसा, शिवनारायण शास्त्री (नि०मी०), 10-12, 34, 61, 163, 273, 403, 603
नैरुक्त 11
नैषधीयचरित 217, 230
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली 14
न्यास, जिनेन्द्रबुद्धि 33, 40, 52-54, 56, 59, 61, 70, 71, 73, 75-77, 81, 82, 85, 87, 88, 90, 92-94, 96, 100, 105, 106, 111-113, 122, 124, 127, 131, 132, 137, 142, 144, 203, 204, 212, 214, 228, 231, 233, 237, 238, 275, 289, 295, 300, 322, 332, 334, 352, 369, 380, 384, 395, 398, 406, 428, 451, 455, 479, 488, 491, 494, 497, 498, 503, 516, 535, 536, 564, 580, 588, 589, 591, 611, 615, 621, 624, 627, 630, 632, 645, 653, 654, 661, 662; 664-666, 671, 672, 674, 676, 682, 688, 694, 696-698, 701, 703, 704, 711, 713, 717, 718, 720, 727, 728, 740 742, 744
न्यू इंटर्नैशनल डिक्स्नरी, वेब्स्टर 12
पञ्चिकाकार 562
पदमञ्जरी, हरदत्त (प० म०) 40, 62, 64, 76, 81, 85, 88, 89, 104, 119, 142-144, 158, 170, 203, 228, 232, 233, 237, 238, 264, 275, 282, 295, 300, 332, 334, 335, 352, 358, 361, 369, 380, 383-385, 389, 395, 398, 429, 463, 488, 493, 494, 496, 498, 499, 503, 553, 564, 565, 588, 589, 591, 598, 607, 620, 630, 632, 635, 643, 653, 671, 672, 679-682, 684, 688, 696, 699, 701, 703, 704, 713, 717, 720, 726, 740, 742-744
पदशेषकार (प० शे०) 518, 519, 702, 704
परम-लघु-मञ्जूषा, नागेश भट्ट (प० ल० म०) 17
परमार्थसुधा 274
परिभाषेन्दुशेखर, नागेशभट्ट (प० शे०) 126, 132, 396
पाणिनि, सूत्रकार 5-7, 10-12, 26, 34, 38, 40, 48, 61, 73, 85, 86, 93, 106, 183-186, 216, 235, 769, 278, 295, 326, 334, 349, 388, 430, 433, 458, 459, 468, 519, 526, 527, 529, 532, 547, 566, 598, 599, 603-608, 628, 633, 634, 652, 683, 688, 717, 740
पाल्यकीर्ति 631
पाश्चात्त्य वैयाकरण 8, 12
पुरुषकार, कृष्णलीलाशुक मुनि (पु०) 248, 280, 290, 303, 319, 320, 323, 325, 332, 334, 335, 340-342, 353, 447, 448, 464, 468, 469, 477, 484, 544, 569, 596, 609, 644, 647, 972, 673, 691, 695, 696, 705, 710, 717, 718
पूर्णचन्द्र 431, 562
पैप्पलाद संहिता 459

प्रक्रियाकौमुदी, रामचन्द्र (प्र० कौ०) 7, 11, 17, 19, 33, 69, 87, 93, 98, 104, 123, 133, 137, 202, 524, 534, 692
प्रक्रियाप्रसाद, विट्ठल (प्र० प्र०) 21, 51, 52, 69, 82, 96, 98, 118, 119, 122, 125
प्रतिज्ञासूत्र, कात्यायन 622
प्रदीप, कैयट (प्र०) 4, 19, 38, 47, 49, 55, 57, 58, 60, 62-65, 67, 75, 76, 79, 81, 84, 85, 89-91, 93, 95, 96, 99, 114-116, 118, 120, 121, 144, 169, 232, 233, 236, 237, 305, 320, 380, 384, 385, 389, 395, 398, 410, 413, 416, 417, 479, 489, 492, 494, 505, 514, 532, 624, 652, 654, 659, 697-699, 701, 704, 713, 714, 717, 718, 720, 727, 728
प्रभा, भार्गवशास्त्री 116, 720
प्रौढमनोरमा/मनोरमा, भट्टोजिदीक्षित (प्रौ० म०) 69, 153, 213, 250, 619
बह्वृच ब्राह्मण 471
बालबोधिनी, वामन झळकीकर 550
बालमनोरमा, वासुदेव दीक्षित (बा० म०) 5, 25, 27, 29, 50, 54, 61, 73, 74, 93, 96, 192, 226, 228, 231-233, 238, 241, 263, 270, 277, 285, 290, 323, 324, 359, 366, 372, 381, 383, 386, 387, 399, 411, 413, 483, 495, 503, 531, 548, 559, 575, 595, 629, 630, 660, 675, 697, 712, 738
बृहच्छब्देन्दुशेखर, नागेश भट्ट (बृ० श० शे०) 15, 17, 88, 104, 105, 120, 122, 124, 453, 741, 743
बृहज्जाबालोपनिषद् 292
बृहदारण्यकोपनिषद् (बृ० उ०) 550, 574, 716
बृहद्देवता, शौनक 11, 43
बोतलिक् 465, 559
बोधिन्यास 516, 583, 592
ब्रह्मसूत्र 507
ब्राह्मण 461, 598
भट्ट भास्कर 247
भट्टिकाव्य (भट्टि०) 170, 369, 482, 614
भवभूति 367
भागवृत्ति, भागवृत्तिसंकलनम्, युधिष्ठिर मीमांसक 57, 478, 599, 718
भागुरि 681
भार्गवशास्त्री 116
भाषावैज्ञानिक 464
भाषाशास्त्र 562
भीमसेन 599
भैरवमिश्र 25, 33, 53, 81, 82, 88, 126, 131, 132, 665
भैरवी, भैरवमिश्र 126
मनुस्मृति (म० स्मृ०) 302, 446, 506, 513, 669, 691
मन्वर्थमुक्तावली, कुल्लूक भट्ट 302, 506, 513, 691
मयूर 541
महाभारत 28, 169, 221, 267, 275, 282, 288, 508, 649, 669, 692, 697, 704, 707

महाभारतपरिचय 214
महाभाष्य/भाष्य, पतञ्जलि (म० भा०) 3, 4, 9, 11, 12, 14, 15, 19, 21, 32, 42, 47, 49, 50, 52, 53, 55, 57-67, 71, 76, 77, 79, 82, 84-86, 89-96, 98-101, 104-106, 114-119, 121, 170, 172, 174, 184-186, 202-207, 216-217, 231, 233, 236-239, 243, 263, 264, 275-277, 291, 292, 295, 298, 300, 305, 309, 324, 363, 370, 380, 383, 385, 389, 390, 398, 410, 413, 416, 417, 424, 428, 430, 445-447, 453, 489, 491-493, 496, 505, 519, 529, 530, 553, 564, 566, 584, 599, 606, 607, 622-625, 627, 633, 634, 638, 642, 651, 654, 659, 663, 666, 667, 673, 674, 679-683, 687-689, 694, 697-699, 701, 702, 705, 713, 714, 717, 718, 721, 724, 726, 728, 730, 744
महावीरचरित 426
महीधर 646, 647
माघ/शिशुपालवधम् 334, 335, 418, 426, 614
माधवीयधातुवृत्ति, सायण/माधव (मा० धा० वृ०) 17, 38, 46, 64, 70, 84, 87, 105, 137, 175, 228, 238, 248, 249, 288, 293, 295, 300, 301, 319, 326, 331, 332, 334, 335, 337, 338, 340-343, 352, 366, 369, 370, 384, 385, 387, 392, 398-400, 404, 407, 408, 422, 428, 430, 431, 435, 437, 439-441, 446-447, 450, 456, 458, 461, 463, 467-469, 471-473, 478, 482-484, 486, 487, 491, 498, 499, 504, 508, 513-516, 546-548, 551, 559, 564-566, 569, 570, 577, 580-584, 588, 589, 592-594, 596, 598, 607-609, 612-614, 616-622, 625, 627-628, 635, 637, 638, 644, 647, 648, 656, 659, 664, 679-681, 684, 688, 690, 692, 695, 697, 698-710, 725, 726, 728, 738, 741, 743, 744
माध्यन्दिनसंहिता (मा० सं०) 228, 622
मानव श्रौतसूत्र (मा० श्रौ० सू०) 228
मीमांसक युधिष्ठिर (यु० मी०) 21, 22, 70, 282, 292, 319 322, 330, 331, 353, 389, 422, 436, 444, 446, 447, 469, 477, 484, 492, 498, 506, 545, 546, 550, 551, 559, 564, 565, 569, 587, 597, 598, 612-614, 621, 622, 632, 649, 656, 661, 665, 666, 686, 732
मुकुट 457
मुग्धबोध (मु० बो०) 70
मेदिनी कोष (मे० को०) 330, 614
मेधातिथि 506, 691
मैक्डॉनल, आ० अ० 103, 138

मैत्रायणी संहिता (मै० सं०) 180, 237, 238, 292, 420, 512, 590, 623, 659, 705
मैत्रेयरक्षित, धातु-प्रदीप (मै०/धा० प्र०) 248, 261, 264, 275, 283, 288, 291, 293, 300, 301, 322, 326, 334, 335, 338-340, 342, 346, 347, 349, 351, 352, 360, 362, 366, 367, 402, 406, 409, 419, 428, 429, 431, 432, 439, 441, 447, 450, 452, 464, 466, 471, 476, 477, 484-486, 503, 504, 514, 516, 548, 558, 559, 562, 568, 571, 573, 578, 582, 588, 589, 596, 607, 608, 613, 620, 622, 623, 628, 643, 647, 656, 661, 662, 664, 683, 694, 696
मोनियर विलियम्स् 441, 459, 486
यजुर्वेदभाष्य, स्वामी दयानन्द 632
याज्ञवल्क्यस्मृति (या० स्मृ०) 446
यादवप्रकाश कोष 302
रघुवंश, कालिदास (रघु०) 169, 170, 251, 265, 269, 302, 317, 507, 557, 576, 669
रामतर्कवागीश 22
रामायण, वाल्मीकि (वा० रा०) 214, 343, 577, 649, 718
रामाश्रमी सुधा, भानुजीदीक्षित (सुधा) 326, 330, 457, 487, 545, 646
रुद्रदत्त 485
रूट्स्, वर्बफॉर्म्स्, ह्विटने 465
रूपमाला 647
रूपावतार, धर्मकीर्ति 39, 118, 119
रोट् 465
लघु आर्यसिद्धान्त 214
लघुमञ्जूषा, नागेश भट्ट (ल० म०) 15, 136
लघुशब्देन्दुशेखर, नागेश भट्ट (ल० शे० श०) 4, 19, 25, 33, 38, 50, 51, 57, 59, 68, 76, 82, 105, 126, 131, 665, 709
लघुसिद्धान्तकौमुदी, वरदराज (ल० सि० कौ०) 55, 205
लितरातुर ब्लात्, कुन्ह 459
वर्धमान 289, 494, 544, 569, 664
वसु श्रीशचन्द्र 70, 72, 594, 598, 737
वाकर्नागल् 459
वाक्यपदीय, भर्तृहरि (वा० प०) 11-13, 22, 38, 39, 136, 137
वाजसनेयि प्रातिशाख्य/शुक्लयजुः प्रातिशाख्य (वा० प्रा०) 68, 696
वाजसनेयि संहिता (वा० सं०) 353, 421, 458, 460, 517, 646, 647, 726, 727
वामन, काशिका 61, 87, 88, 243, 437, 447, 533, 534, 654, 658, 666, 698
वार्तिककार 105, 106, 170, 237, 275, 276, 519, 524-529, 534, 697, 699, 713, 718, 720, 721, 740
वासुदेव 370
वीरचरित्र 169
वेङ्कट माधव ऋग्वेदभाष्य 420, 515
वैदिकपदानुक्रमकोश, विश्वबन्धु (वै० प०) 170, 180, 282, 408, 419, 458, 459, 486, 574, 658

वैदिक वाङ्मय में भाषाचिन्तन, शिवनारायण शास्त्री (वै० भा० चि०) 278, 298, 300, 303, 545, 660
वैयाकरण-भूषण (वै० भू०) 14, 15, 17
वैयाकरण-भूषण-सार (वै० भू० सा०) 13, 20, 136
वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी (सि० कौ०) 44, 93, 137, 178, 191, 199, 206, 440, 484, 502, 559
वैयाकरण-सिद्धान्त-परम-लघु-मञ्जूषा, नागेशभट्ट 136
वोपदेव/बोपदेव 228, 275, 350, 452, 460, 492, 559, 628, 661, 662
व्याकरण-चन्द्रोदय, पं० चारुदेव शास्त्री (व्या० चं०) 387, 398, 400, 405, 419-421, 426, 506, 646
व्याघ्रभूति, अनिट्कारिका 86, 87, 202-204, 206, 207, 212, 216, 293, 447, 679, 694
व्याडि 654
शतपथ ब्राह्मण (श० ब्रा०) 86, 167, 170, 180, 300, 357, 483, 512, 712, 727
शब्दकल्पद्रुम कोष, राधाकान्तदेव 441, 550, 614, 691
शब्दकौस्तुभ, भट्टोजिदीक्षित (श० कौ०) 4, 37, 93, 94, 96
शब्दरत्न 122, 123
शब्दार्थ-चिन्तामणि 513
शर्मा डॉ० रामेश्वरदत्त 25
शर्मा लक्ष्मण पणशीकर 679
शर्मा सत्यनारायण 274
शर्वबर्मा 276
शाकटायन 11, 120, 121, 275, 290, 295, 334, 337, 339, 342, 367, 471, 478, 557-559, 613, 620, 628, 643, 662, 663, 694, 696, 718
शाकटायनन्यास 264
शाकटायनीय धातु-पाठ 319
शाङ्खायन श्रौत-सूत्र (शा० श्रौ० सू०) 43, 169, 500, 659
शाबरभाष्य, शबरस्वामी 30, 47, 410, 506, 736
शार्ङ्गधरपद्धति 718
शास्त्री रामशरण 643
शास्त्री शंकरराम 679
शास्त्री श्रीधर 679
शिवताण्डव स्तोत्र 328
शिवस्वामी 298
शिवोपनिषद् 584 (शुद्धिपत्र)
शुक्लयजुःप्रातिशाख्य/वाजसनेयिप्रातिशाख्य 68, 696
शुद्धितत्त्व 228
श्रीकर 264
श्रीमद्भागवत 50, 170, 221, 372, 421, 695, 707, 718
श्रौतसूत्र 461
श्लोकवार्तिककार 630
श्वभूति 654
श्वेताश्वतरोपनिषद् 4
सञ्जीवनी, मल्लिनाथ 620
सदुक्तिकर्णामृत 292
सभ्य 592, 619
समरसार 214
सम्मता 268, 283, 289, 334, 335,

370, 402, 464, 473, 476, 494, 516, 647,
सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज (स०क०) 340, 351, 566, 569, 570, 580, 615, 644, 705, 718
संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु 107
संस्कृत ग्रामर, वि० ड्वा० व्हिटने 169, 170, 180, 465
संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प० युधिष्ठिर मीमांसक (सं०व्या०इ०) 292, 389, 649, 681, 683
सायण/माधव 87, 181, 206, 238, 242, 249, 264, 267, 275, 276, 278-280, 291, 293, 301, 319, 320, 323-325, 333-335, 340, 341, 350, 352, 360, 362, 363, 365-367, 380, 384, 385, 387, 393-396, 398-400, 404, 410, 420, 422, 423, 428, 440, 441, 447, 448, 450-452, 457, 458, 464, 466, 468, 476-479, 483-485, 495, 498, 499, 503, 506-508, 515, 516, 544, 545, 555, 558, 560, 562, 566, 569, 571, 573, 574, 577, 578, 582-584, 589, 592, 593, 597, 598, 606, 632, 633, 642, 645, 647, 648, 655, 659, 661, 663, 664, 666, 668, 671-673, 679, 689, 691, 693, 698, 710, 713, 717
सहित्यदर्पण, विश्वनाथ 598
सुधाकर 482, 486, 599, 644, 718
सुधासागर 718
सुश्रुत 441, 574
सुषेण 26
सौनाग 39
सौन्दरनन्द 487, 577
स्कन्दगुप्त प्रशस्ति 170
स्कन्दस्वामी 354, 647, 648
स्वामी 338, 469
स्वामी द्वारिकादास शास्त्री 71, 352, 621, 622, 661, 662
हरियोगी 514
हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र 649
हेमचन्द्र 17, 275, 477, 559, 628, 631, 696
हैम नाममाला, हेमचन्द्र 443
हैम महाव्याकरण, हेमचन्द्र 17
होमरिक ग्रीक्, Pharr 28

सूत्र-सूची

अकृत्सार्वधातु 318
अक्षोऽन्यतरस्याम् 479
अचस्तास्वत् 309
अजादेर्द्वितीयस्य 53
अजेर्व्यघञपोः 304
अत आदेः 189
अत उपधायाः 259
अत एकहल् 222
अतो दीर्घो 43
अतो येयः 142
अतो लोपः 358
अतो ल्रान्तस्य 432
अतो हलादेर् 260
अतो हेः 125
अनद्यतने लुङ् 129
अनद्यतने लुट् 83
अनुदात्त-ङित 29
अनुदात्तस्य च 704
अनु-वि-पर्यभि 522
अभ्यस्तस्य 734
अभ्यासस्या 283
अभ्यासे चर्च 71
अयामन्ताल्वा 374
अवाच्चालम्बना 252
असंयोगाल्लिट् 174
असिद्धवदत्रा 72
अस्तिसिचो 155
अस्मद्युत्तमः 37
अडजादीनाम् 194
आडुत्तमस्य 127
आत औ णलः 636
आतः 157
आतो ङितः 165
आतो लोप 636
आत्मनेपदेष्वन 198
आदिर्ञिटुडवः 268
आदेच उप 635
आनि लोट् 160
आमः 168
आमेतः 193
आम्प्रत्ययवत् 171
आयादय आर्ध 356
आर्धधातुकं शेषः 89
आर्धधातुकस्येड् 79
आर्धधातुके 358
आशिषि लिङ् 111
इजादेश्च गुरु 167
इट ईटि 243
इडत्त्यर्ति 657
इणः षीध्वं 188
इतश्च 133
इदितोनुम् 225
इरितो वा 246
इषु-गमि 697
उतश्च प्रत्य 455
उपदेशेऽत्वतः 311
उपधायां च 231
उपसर्गस्यायतौ 416
उपसर्गात् सुनोति 249
उपसर्गादस 264
उरत् 176
उश्च 630
उषविदजागृ 491
उस्यपदान्तात् 147
ऊदुपधाया 623
ऋच्छत्यृताम् 657
ऋतश्च संयो 651
ऋतेरीयङ् 740
ऋतो भारद्वा 312
ऋ-दृशोऽङि 708
ऋद्धनोः स्ये 628
ऋत इद्धातोः 677
एकाच उपदेशे 180
एकाचो द्वे 53
एरु ऐ 194
एरुः 113
एर्लिङि 639
कर्मेणिङ् 374
कर्तरि शप् 40
कास्प्रत्यया 357
किदाशिषि 149
कु-होश्च 177
कृञ् चानु 168
कृपो रो लः 524

कृ-सृ-भृ-वृ 306
क्विब्वृति च 150
क्रमः परस्मै 412
क्वसस्याचि 475
गम-हन-जन 618
गमेरिट् परस्मै 700
गति-स्था-घु 153
गुणोऽर्ति 652
गुपू-धूप 355
गुप्तिज्किद्भ्यः 680
ग्रहि-ज्या 730
चङि 379
चिणो लुक् 424
च्लि लुङि 153
च्लेः सिच् 153
जॄ-स्तम्भु 296
झलो झलि 258
झषस्त-थोर् 258
झस्य रन् 196
झेर्जुस् 147
झोऽन्तः 42
टित आत्मने 164
ढो ढे लोपः 473
णलुत्तमो वा 260
णि-श्रि-द्रु 375
णेरनिटि 375
णो नः 263
णौ चङ्युप 379
तङानावा 26
तनूकरणे 481
तस्थस्थ 123
तस्मान्नुड् 265
तान्येकवचन 34
तासस्त्योर्लोपः 102
तासि च क्लृपः 538
तिङस्त्रीणि 32
तिङ् शित् सार्व 39
तिप्तस्झि 24
तीष-सह-लुभ 488
तु-ह्योस्तातङ् 113
तॄ-फल-भज 347
ते प्राग्धातोः 160
थलि च सेटि 223
थासः से 165
दंश-सञ्ज 687
दयतेर्दिगि 674
दयायासश्च 414
दा धा घ्वदाप् 637
दीधीवेवीटाम् 100
दीप-जन-बुध 423
दीर्घो लघोः 390
द्युति-स्वाप्योः 510
द्युद्भ्यो लुङि 510
द्विर्वचनेऽचि 175
धात्वादेः षः 230
धि च 191
धिन्वि-कृण्व्यो 452
न दृशः 708
न माङ्योगे 158
न वृद्भ्यश् 518
न व्यो लिटि 733
न शस-दद 228
नित्यं ङितः 123
निसस्तपता 706
नेटि 244
नेर्गद-नद 262
पतः पुम् 596
परस्मैपदानां णल 50
परि-नि-विभ्यः 252
परेश्च 693
परोक्षे लिट् 46
पा-घ्रा-ध्मा 604
पुगन्त-लघूपधस्य 96
पुषादि-द्युताद्यॢ 501
पूर्वोऽभ्यासः 59
प्रहासे च मन्यो 36
प्राक् सितादड् 253
फणां च सप्ता 581
भवतेरः 48
भुवो वुग्लुङ् 52
भू-सुवोस्तिङि 154
माङि लुङ् 152
मान्बध-दान् 680
मिदेर्गुणः 512
मेर्निः 127
म्वोश्च 373
यम-रम-नमातां 640
यासुट् परस्मै 137
युष्मद्युपपदे 36
ये विभाषा 407
रञ्जेश्च 687
रधि-जभोरचि 352
रिङ् श-यग 629
रि च 102
लः कर्मणि च 18
लः परस्मैपदम् 25
लस्य 24
लिङः सलोपो 141
लिङः सीयुट् 195

लिङाशिषि 149
लिङ्-निमित्ते 159
लिङ्-सिचा 345
लिटस्त-झयो 173
लिटि धातोरन 53
लिटि वयो यः 730
लिट् च 50
लिट्यभ्यासस्यो 719
लिङ्-यङोश्च 423
लिपि-सिचि 735
लुग्वा दुह 626
लुङ् 152
लुङ्-लङ-लृङ् 130
लुटः प्रथमस्य 93
लुटि च क्लृपः 534
लृट् शेषे च 103
लोटो लङ्वत् 119
लोट् च 111
लोपश्चास्यान्य 453
वचि-स्वपि-यजा 721
वद-व्रज-हलन्त 243
वर्तमाने लट् 9
वश्चास्यान्य 731
वा जॄ-भ्रमु 600
वाऽन्यस्य संयोगादेः 641
वा भ्राश-भ्लाश 441
विधि-निमन्त्रणा 134
विभाषा घ्रा-धेट् 640
विभाषा धेट्-श्व्योः 639
विभाषा श्वेः 737
विभाषा सृजि 707
विभाषेटः 415
वृद्ध्यः स्य-सनोः 517
वृतो वा 678
वेः स्कन्दे 692
वेञः 731
वेञो वयिः 729
वेश्च स्वनो 252
व्यथो लिटि 543
शदेः शितः 608
शर्पूर्वाः खयः 218
शल इगुपधा 474
शासि-वसि 726
शेषात् कर्तरि 32
शेषे प्रथमः 37
शेषे विभाषा 162
श्रुवः शृ च 665
श्चुकः किति 653
श्वयतेरः 738
ष्ठिवु-क्लमु 409
सः स्यार्धधातुके 501
सदिरप्रतेः 250
सदेः परस्य 607
सनाद्यन्ता 355
सन्यङोः 683
सन्यतः 390
सन्लिटोर्जेः 448
सन्वल्लघुनि 380
सति-शास्त्य 656
स-वाभ्यां वामौ 193
सहि-वहोरोदवर्णस्य 602
सार्वधातुकमपित् 165
सार्वधातुकार्ध 41
सिचि च परस्मै 316
सिजभ्यस्त 157
सिवादीनां वा 602
सुट् ति-थोः 140
सृजि-दृशोर् 707
सेधतेर्गतौ 256
सेर्ह्यपिच्च 124
सोढः 602
स्तन्भेः 251
स्तु-सू-धूञ् 664
स्था-घ्वोरिच्च 675
स्थाऽऽदिष्वभ्या 254
स्नु-क्रमोरनात्मने 413
स्मोत्तरे लङ् 153
स्य-तासी लृ-लुटोः 87
स्वरति-सूति 257
स्वरति-ञितः 30
ह एति 192
हलादिः शेषः 61
हु-श्नुवोः सार्व 666
ह्म्यन्त-क्षण 324
ह्रस्वः 67
ह्रस्वादङ्गात् 630

वार्तिकेष्टि-सूची

'अन्तः' शब्दस्याङ् 161
'आङि-चम' इति 410
'आशिषि नाथ' 221
इत्वोत्वाभ्यां 677
इर इत्संज्ञा 246
ऋदुपधेभ्यो 274, 473
कमेश्चेश्चङ् 391
कास्यनेकाज्ग्रहणं 357
कितेर्व्याधि (इष्टि) 682
गुपेर्निन्दायाम् (इ०) 681
ण्यल्लोपावियङ् 376
तिजेः क्षमायाम् (इ०) 681
दानेरार्जवे (इ०) 682
दुरः षत्व-णत्वयोः 161
नुड्विधावृ 289
वधेश्चित्त (इ०) 682
मानेर्जिज्ञासायाम्(इ०) 682
वुग्युटावुवङ्-यणोः 78
शानेर्निशाने (इ०) 682
श्रन्थि-ग्रन्थि 687
सिज्लोप एकादेशे 243
सुब्धातु-ष्ठिवु 277
स्पृश-मृश-कृष 710
स्वञ्जेरुपसङ्ख्यानम् 688
स्वर-दीर्घ-यलोपेषु 305

श्लोक-सूची

अजन्तोऽकारवान् वा 313
अद्-क्षुद्-खिद् 208
अनुदात्ता हलन्तेषु 213
इति व्याख्या 399
उपसर्गेण धात्वर्थो 164
ऊदृदन्तैर् 203
चकास्तौ तूभय 399
चकास्त्यर्था 393
तृप्-दृप्तौ 215
त्विष्-तुप-द्विष् 211
पूर्वार्धे कथितास् 5
बन्धिर्युधि 208
रञ्जि-मस्जी 216
लिप्-लुप्-वप् 210
वसिः शपा लुका 215
वस्तुतोऽङ्गस्याभ्यासो 396
विन्दतिश्चान्द्र 216
शक्लृ-पच् 205
श्तिपा शपा 182
श्रोत्रार्हन्तीचणैर् 3
संज्ञायाः कार्यं 392
संहितैकपदे नित्या 163
सेक्सृप्-सृ 235

धातु-सूची

इस सूची में (1) चिह्न-रहित धातु सिद्धांत-कौमुदी में धातु-पाठीय धातु के रूप में संगृहीत धातु हैं। (2) दीक्षितजी द्वारा एकीयत्वेन प्रोक्त धातुओं पर '1' अङ्क दिया है। (3) भवतोषिणी में अन्याचार्यसम्मत के रूप में प्रदत्त धातु '2' अङ्क से सूचित की गई हैं। (4) '†' चिह्न से वे धातु अंकित की गई हैं, जो तिङ्-विषय नहीं हैं। अर्थात् इनका प्रयोग आख्यात (तिङन्त) के रूप में नहीं होता। कुछेक नाम-पदों में ही सीमित हो गया है। (5) '‡' चिह्न से वे धातु अंकित की गई हैं, जो मूलतः धातु नहीं रही होंगी, नाम-पदों से धातु के रूप में उनकी कल्पना की गई है। (6) '*' चिह्न से वे धातु अंकित की गई हैं, जो मूलतः संस्कृत की धातु नहीं हैं। अपितु संस्कृत मूल शब्द का प्राकृत उच्चारण विकसित तथा शिष्ट समाज में गृहीत हो जाने पर संस्कृत में स्वीकृत हो गई हैं। 4-6 का वर्गीकरण उपलक्षण-मात्र है।

आदि में इत्संज्ञक उ, ओ, ञि, टु, डु तथा टुओ वाली धातु उ, ओ आदि वर्ण-क्रम से नहीं दी गई हैं। अपितु धातु के आदिवर्णक्रम से यथास्थान दी गई हैं।

धातु के बाद में प्रदत्त सङ्ख्या से पृष्ठाङ्क दिये हैं।

अक 556, अकि 273, अक्षू 479, अग 556, अगि† 281, अघि 277, अचि[1], अचु[1] 613, अज 304, अञ्चु 295, 613, अट 329, अट्ट 321, अठि 324, अड 342, अड्ड 341, अण† 401, अत 342, अति† अदि† 267, अन्ब[2] 365, अबि 348, अभि[1] 349, अभ्र‡ 443, अम 408, 576, अय 414, 620[2], अर्घ[2] 508, अर्च 298, अर्ज 303, अर्द 265, अर्ब 365, अर्व 451, अर्ह 508, अल 432, अव 460, अष[1] 620, अस 620, अहि 470, आछि 300;

इ 334, इख, इखि, इगि 281, इट, इड*[2] 333, इदि† 267, इवि 451, 452[2], ई 334, ईक्ष 465, ईखि 281, ईज 291, ईर्क्ष्य 430, ईर्ष्य 430, ईष 466, 487, ईह 470;

उक्ष 482, उख, उखि 281, उङ्[1] 671, उछि, उछी 302, उठ 339, उर्द 231, उर्वी 450, उष 491, उहिर् 507, ऊठं[1] 339, ऊयी 421, उष 487, ऊह 472;

ऋ 657, ऋज 289, ऋजि 290, ऋत् (सौत्र) 740;

एजृ 291, 316, एठ 324, एध, 164, एवृ[2] 428, एषृ 466;

ओखृ 281, ओणृ 402;

कक‡ 273, ककि‡ 275, कख 281; कखे, कगे 555, कच, कचि 288, कटि‡ 334, कटी 334, कटे 328, कठ 339, कठि 324, कड* 333[2], 342, कडि 326, 342[1], कडु* 341, कण† 401, 557, कत्थ 240, कद[1] 548, कदि 269, 548, कनी 405, कन्व[2] 365, कपि, कवृ 348, कमु 373, 576, कर्ज 304, कर्द 266, कर्व 365, कर्व 451, कल, कल्ल 427, कव[2] 505, कश[2] 505, कष 487, कस 611, काक्षि 485, काचि 288, काङ्[2] 342, काशृ 477, कासि[2] 472, कासृ 467, 472[2], किट 331, 333, किड[2]* 333, कित 713, कील 437, कुक‡ 274, कुङ्[1] 671, कुच 294, 609, कुजु 297, कुञ्च 294, कुठि 340, कुडि 324, 337, कुथि 247, कुवि 366, कुर्द 234, कुल‡ 595, कूज 303, कूल 437, कृज्[2] 632, कृपू 524, कृवि 457, कृष 710, केपृ 346, केलृ 439, केवृ[1] 429, कै 645, क्नसु 572, क्नूयी 421, क्मर 443, क्रथ 557, क्रद[1] 548, क्रदि 269, 548, क्रप 548, क्रमु 411, क्रीड् 341, क्रुङ्[2] 672, क्रुञ्च 294, क्रुश 608, क्लथ, 557, क्लद[1] 548, क्लदि 269, 548, क्लिदि 227, 269, क्लीवृ 348, क्लुङ्[1] 672, क्लेवृ[2] 428, क्लेश 464, क्वण 401, क्वथे 597, क्षजि 547, क्षपि 569, 570[1], क्षमूष् 372, क्षर 600, क्षि 317, क्षज[2] 547, क्षीज, 319, क्षीवृ 349, क्षीवु 450, क्षुभ 515, क्षिवु[2], क्षेवु 450, क्षै 644, क्ष्मायी 421, क्ष्मील 435, क्ष्विडा*[2], क्ष्विदा 513,[1] 691[2], क्ष्वेलृ 439;

खज 316, खजि 316, खट 331, खडि 326, खद 259, खनु 617, खन्व[2] 365, खर्ज 304, खर्द 266, खर्व 365, खर्व 451, खल 441, खप 487, खादृ 259, खिट 331, खुङ्[1] 671, खुजु 297, खुर्द 234, खेलृ* 439, खेवृ 429, खै 644, खोडृ*[2], खोर्ऋ, खोलृ* 443;

गज[1], गजि 320, गड 550, गडि† 267, 342, गद 261, गन्व[2] 365, गम्लृ 697, गर्ज 303, गर्द‡ 266, गर्व* 365, गर्व‡ 451, गर्ह 470, गल 442, गल्भ 353, गल्ह 470, गाङ् 670, गाधृ 219, गाहू 472, गुङ् 670, 671[1], गुज[2] 298, गुजि 298, गुद 234, गुप 680, गुपू 355, गुर्द 234, गुर्वी 450, गुहू 623, गृ 658, गृज 320, गृजि 320, गृहू 473, गेपृ 346, गेवृ 427, गेषृ* 466, गै 645, गोष्ट 323, ग्रथि 240, ग्रसु 469, ग्रिहू[2] 473, ग्रुचु 297, ग्लसु 469, ग्लह 476, ग्ला 575, ग्लुचु 297, ग्लुञ्चु† 297, ग्लेपृ 346, ग्लेवृ 428, ग्लेपृ[1] 466, ग्लै 641;

घघ‡ 285, घट 541, घट्ट 223, घर्व[2]* 365, घष[1] 476, घस्लृ 496, घिणि* 368, घुङ्[1] 671, घुट 514, घुण‡, घुणि* 368, घुषि 476, घुषिर् 478, घूर्ण* 368, घृ† 658, घृणि* 368, घृषु 495, घ्रा 649;

डुङ्[1] 671;

चक 275, 554, चञ्चु 296, चटे[1] 328, चडि 325, चण 557, चते 614, चदि 268, चदे* 614, चन[2] 560, चन्व* 365, चमु 409, 576, चय 414, चर 444, चर्च 503, चर्व* 365, चर्व 450, चल* 566, 563, चष 622, चह 506, चायृ 619, चिट‡ चिड*[2] 333, चिती 345, चिल्ल‡ 439, चीभृ* 349, चीवृ‡ 618, चुच्य*[1] 431, चुट[2], चुटि[2], चुडि* 337, चुड्ड 341, उचुन्दिर्*[2], चुन्दिर्*[2] 617, चुप‡ 363, चुवि 366, चुल्ल* 438, चूष 486, चेलृ 439, चेष्ट 323, च्युङ् 672, च्युतिर् 245;

छद 567, छमु* 409, छप 622, छ्युङ्[2] 672;

जज, जजि‡ 319, जट 331, जनी 571, जप 362, जभ*[2] 694, 696, जभी 352, जमु 409, जर्छ, जर्ज 503, जल 593, जल्प 362, जर्भ[2] 503, जष 487, जि 446, 668, जिम*[2] 409, जिवि 451, जिषु 492, जीव 449, जुगि 285, जुङ्[2] 672, जुतृ 240, जुर्वी[2] 450, जूष्* 486, जॄ[2] 668, जृभि 352, जॄ 573, जॄष् 571, जेषृ 466, जेह् 471, जै 644, ज्ञा 564, ज्या[2] 465, ज्युङ् 672, ज्रि 668, ज्वर 548, ज्वल 561, 573, 593;

झट 331, झमु* 409, झर्च[2], झर्छ[2], झर्भ 503, झष 487, 622, झॄ[2]* 573;

टल 594, टिकृ, टीकृ 276, ट्वल 594;

डीङ्* 677;

ढौकृ 275;

णक्ष 483, णख, णखि 281, णट 332, 552, णद 263, णभ 515, णम् 573, 697, णम 414, णर्द[2] 264, णल 594, णस 467, णावृ[2] 264, णासृ 467, णिक्ष 482, णिदि 268, णिदृ 615, णिवि 450, णिवृ[2] 616, णिश 504, णिषु[2] 492, णीञ् 634, णील 436, णीव 450, णेदृ 615, णेवृ[2] 616, णेषृ 466;

तक, तकि 280, तक्ष 484, तक्षू 481, तगि 281, तञ्चु 296, तट‡ 331, तडि‡* 326, तप 705, तय 414, तर्ज 304, तर्द 266, तर्व[2]* 365, तायृ 425, तिकृ 276, तिज 680, तिपृ 344, तिल[1] तिल्ल[1] 439, तीकृ 276, तीव 449, तुज, तुजि 320, तुडि 325, तुड्ड 341, तुप, तुफ* 363, तुवि 366, तुभ 515, तुम्प, तुम्फ 363, तुर्वी 450, तुस, 496, तुहिर् 507, तूड्ड[1] 342, तूल 437, तूष 486, तृक्ष 483, तॄ 677, तेज 316, तेपृ 344, 345, तेवृ 427, त्यज 706, त्रकि 275, त्रक्ष 483, त्रख[1] 282, त्रदि 269, त्रपूष् 347, 569[1], त्रिखि[1] 282, त्रुप, त्रुफ*, त्रुम्प, त्रुम्फ* 363, त्रैङ् 676, त्रौकृ 275, त्वक्ष[2] 484, त्वक्षू 481, त्वगि 281, 284, त्वञ्चु 296, त्वित्वरा 548, त्विष 718, त्विषा[2] 719, त्सघ[2], त्सर 443;

थुर्वी 450;

दक्ष 464, 547, दद 228, दध 222, दन्श 708, दय 420, दल 442, 569[1], दवि[2] 457, दह 711, दाण् 650, दान 714, दायृ[2] 457, दाशृ 619, दासृ 623, दिपृ[2] 346, दिवि 451, दीक्ष 464, दु 668, दुर्वी 450, दुहिर् 507, दृशिर् 705, दृह, दृहि 507, दृ 562, देङ् 674, देपृ[2] 346, देवृ 427, दैग् 648, द्युत 510, द्यै 642, द्रम 408, दाक्षि 485, द्राखृ 281, द्राघृ 278, 279 द्राडृ 326, द्राहृ 471, द्रु 668, द्रेकृ 272, द्रै 642;

धण* 402[1], 404[2], धन[2] 402, धवि 457, धावु 460, धिक्ष 463, धिवि 451, धुक्ष 463, धुर्वी 450, धूञ् 361, धृङ् 673, धृज, धृजि 303, धृञ् 631, धेट् 635, धेपृ[2] 347, धोक्षृ 443, ध्मा 649, ध्यै 642, ध्रज, ध्रजि 303, ध्रन 404, ध्राक्षि 485, ध्राखृ 281, ध्राघृ[1] 279, ध्राडृ 326, ध्रु 668, ध्रेकृ 272, ध्रै 642, ध्वज, ध्वजि 303, ध्वणा†* 402, ध्वन 568, 569[1], 591, ध्वन्सु 516, ध्वाक्षि‡ 485, ध्वृ 660;

नट[2] 553, नदि 268, नर्द 266, नर्व 365 नाथृ, नाधृ 221, नृ 563;

पक्ष‡[1] 484, ड्डुपचष् 715, पचि 289, पट 329, पठ 339, पडि 326, पण 366, पत्लृ 596, पथे 597, पन 369, पन्व[2] 365, पय 414, पर्द 239, पर्प‡, पर्ब* 365, पर्व‡ 450, पर्प[2] 466, पल 595, पश[2]† 621, पष[2]† 620, पा 648, पिट 332, पिठ 340, पिड*[2] 333, पिडि 325, पिवि 451, पिशृ[2], पिसृ 504, पील 436, पीव 449, पुड*[2] 337, पुडि[1] 338, पुथि 247, पुर्व‡ 450, पुल*‡ 595, पुष 493, पूङ् 676, पूयी 421, पूल 437, पूष 486, पृषु 495, पेलृ 440, पेवृ 428, पेशृ[2] 504, पेषृ 466, पेसृ 504, पै 645, पैणृ, 403, ओप्यायी 422, प्यैङ् 676, प्रथ, प्रस 544, प्रुङ् 672, प्रुड 337, प्रुषु 493, प्रेषृ, प्रेसृ[2] 466, प्रैणृ[1] 403, प्रोथृ 614, प्लक्ष*[2] 623, प्लव[2] 429, प्लिह 471, प्लुङ् 672, प्लुषु 493, प्लेवृ 347[2], 428;

फक्क 279, फण 581, फर्व[2] 450, फल 438, फिफला 435, फुल्ल* 438 फेलृ 440;

बण 404, बद 260, बध 680, बन्द[2] 261, बन्ध*[2] 365, बर्ब* 365, बर्ह 470, बल 595, बल्हृ* 470, बहि 470, बाडृ 326, बाधृ 219, बाहृ 471, बिट, बिड*[2] 333, बिदि† 267, बुक्क 280, बुध 610, 616[2], बुधिर्, उबुन्दिर 616, उबुन्धिर्[2] 617, बृह, बृहि, बृहिर्[1] 507, उबेदिर्[2] 617, बेहृ 471;

भक्ष 623, भज 717, भट 331, 552, भडि* 325, भण 401, 404[2], भदि 227, भर्ब[2]* 365, भर्व 450, भल 426, भल्ल* 426, भष 490, भाम 372, भाष 466, भासृ 467, भिक्ष 464, भिदि[1] 267, भू 38, भूष 486, भृजी 290, भृञ् 628, भृशु 516, भृषु[2] 495, भेषृ 619, भ्यस 467, भ्रक्ष 622, भ्रण* 402, भ्रमु 600, भ्रन्शु[1],

भ्रन्सु 516, भ्राजृ 291, दुभ्राजृ, दुभ्राशृ 586, भ्रेजृ 291, भ्रेषृ 620, म्लक्ष* 622, दुम्लाशृ 586, म्लेषृ 620;

मकि 273, मक्ष[2] 484, मख, मखि, मगि 281, मघि 277, 278, 285, मच 288, मचि 289, मज[2] 320, मठ 339, मठि 324, मडि 325, 337, मण* 401, मथि 247, मथे 597, मदि 227, मदी 568, मन्थ 246, मन्ब[2] 365, मभ्र 444, मय 414, मर्ब 365, मर्व 450, मल, मल्ल 426, मव 459, मव्य 430, मश 504, मष 487, मस्क 276, मह 507, महि 470, माक्षि 485, मान 680, माह[2] 471, माहृ 623, मिथृ[1] 615, मिमिदा 532, मिदृ[1] 614, मिधृ[1] 615, मिवि 451, मिथ 504, मिषु 493, मिह 712, मीमृ 408, मील 435, मीव 449, मुचि 288, मुज, मुजि 320, मुट[2] 337, मुठि 324, मुड 337, मुडि 325, 337[2], 338, मुद 228, मुर्छा 302, मुर्वी 450, मुष[2] 487, मूङ् 676, मूल*‡ 437, मूष 486, मृक्ष 483, मृज[2], मृजि[2] 320, मृधु 616, मृषु 495, मेङ् 673, मेटृ[2] 327, मेथृ[1] 615, मेदृ 614, मेधृ‡[1] 615, मेपृ 347, मेवृ 428, म्ना 650, म्रक्ष[1] 489, म्रद 546, म्रुचु 296, म्रुजि[2] 320, म्रुञ्चु 296, म्रेडृ, म्रेद[2] 327, म्लुचु†, म्लुञ्चु† 296, म्लेछ 299, म्लेटृ 327, म्लेवृ 428, म्लै 641;

यज 719, यती 239, यभ 694, यम 578, 705, दुयाचृ, याच[2] 613, युगि 285, युछ 302, युतृ 240, यूष 486, येषृ[2] 466, योष्ट[2] 324, यौटृ 327, यौण्डृ[2]* 328; रक्ष 482, रख, रखि, रगि 281, रगे 555, रघि 276, रञ्ज 572, 717, रट 330, 339, रठ[1] 339, रण 401, 569[1], रद 263, रप 363, रफ, रफि 365, रवि 348, रभ 686, रभि[1] 349, रमु 603, रय 421, रवि 457, रस 496, रह, रहि 507, राखृ 281, राघृ 278, राजृ 585, रासृ 467, रिख[1], रिगि 282, रिभ[2] 349, रिवि 457, रिष 488, रुङ् 672, रुच 513, रुट 513, रुटि 338, रुठ 339, 514[2], रुठि 338[1], 341, रुडि[1] 338, रुष 487, रुह 610, रूप 486, रेकृ 272, रेजृ[2] 292, रेटृ 613, रेपृ 347, रेभृ 349, रेवृ 429, रेषृ 466, रैं 642, रोडृ, रौडृ 342, लख,† लखि, लगि 281, लगे 555, लघि 276, 277, लछ 299, लज, लजि 319, लट 330, लड 342, 567, लन्ब*[2] 365, लप 363, लवि 348, डुलभष् 686, लर्ब* 365, लल[1] 342, लष 622, लस 496, लाखृ 281, लाघृ* 278, लाछि 298, लाज, लाजि 319, लिगि 281, लुञ्च 295, लुट 332, 514, लुटि 338, लुठ 339, 515, लुठि 338[1], 341, लुड[1] 333, लुडि[1] 338, लुथि 247, लुवि 366, लूष* 486, लेणृ[2] 403, लेपृ 347, लोकृ 271, लोचृ 287, लोडृ 342, लोष्ट 323;

वकि 273, 276, वक्ष† 483, वख, वखि, वगि† 281, वघि 277, वज 321; वञ्चु 296, वट 330, 552, वटि[2] 325, 338, वठ 339, वठि 324 वडि* 324, वण 401, वद 736, वदि 226, वन 402[2], 406, 560, वनु 560, 575, डुवप 723, वभ्र 443,

टुवम 575, 597, वय† 414, वर्च† 286, वर्फ[2] 365, वर्ष 466, वर्ह 471, वल 425, 569[1], वल्ग 281, वल्भ 353, वल्ल 425, वल्ह* 471, वष 487, वस 725, वस्क 276, वह 724, वाक्षि 485, वाछि 300, वाह्ह 471, विट*, विड[2]* 333, विथ 240, विषु 492, विसृ[2] 504, वुगि 285, वृ[2] 656, वृक‡ 274, वृक्ष‡ 464, वृतु 517, वृधु 520, वृषु 495, वेञ् 729, वेणृ 617, वेथृ 240, वेनृ[1] 617, टुवेपृ 346, वेलृ, वेल्ल‡ 439, वेष्ट 323, वेसृ[2] 504, वेह्ह 471, ओवै 646, व्यथ 543, व्यय‡ 619, व्येञ् 732, व्रज 321, व्रण† 401;

शकि 273, शच 287, शट 330, शठ 340, शडि 325, शण[1] 557, शद्लृ 607, शन्व[2] 365, शप 718, शम 576, शर्व* 365, शर्वा† 451, शल 425, 443[2], 596, शल्भ 353, शवा† 504, शश 505, शष 487, शसि 468, शसु 505, शंसु 506, शाखृ 281, शाडृ 326, शान 714, शिक्ष 464, शिखि[1] 282, शिघि 285, शिट 331, शिष 487, शीकृ 270, शीभृ 349, शील 436, शु[2] 660, शुक[2]‡ 280, शुच 292, शुच्य 431, शुठ 340, शुठि[1] 340, शुन्ध 269, शुभ 366, 515, शुम्भ 366, शूल 437, शूष 486, शृधु 521, 616, शेलृ 440, शेवृ[1] 428, शै 645, शौटृ 327, शोणृ 402, शौण्डृ*[2] 328, श्चुतिर्, श्च्युतिर् 246, श्मील* 435, श्यैङ् 676, श्रकि 272, श्रगि 281, श्रण, श्रंथ 557, श्रथि 240, श्रन्भु 353, श्रा 563, श्रिञ् 628, श्रिषु 493, श्रु 665, श्रै 645, श्रोणृ‡ 403, श्लकि 272, श्लगि 281, श्लथ* 557, श्लाखृ 281, श्लाघृ 279, श्लिषु* 493, श्लोकृ 271, श्लोणृ 403, श्वकि 275, श्वच, श्वचि 287, श्वन्[2]† 576, श्वल, श्वल्ल 442, टुओश्वि 737, श्विता 511, श्विदि 226;

षगे 555, षच 287, 716, षञ्ज 687, 706, षट 332, षण 406, षद्लृ 604, षन्व*[2] 365, षप 363, षम 592, षर्ज 303, षर्व* 365, षर्व* 451, षल* 442, षस्ज 297, षह 601, षिट 331, षिध 238, षिधू 256, षिभु[1], षिम्भु[1] 366, षिवि 451, षु 663, षूद 234, षूर्क्ष 484, षूर्क्ष्य 430, षूष[2] 486, षृभु, षृम्भु 366, षेलृ[1] 440, षेवृ 427, षै 644, ष्टक 554, ष्टगे 555, ष्टन 406, ष्टभि 349, ष्टम 592, ष्टिपृ 344, ष्टुच 289, ष्टुभृ 354, ष्टेपृ 344, ष्टै 646, ष्टचै 642, ष्ट्रक्ष 483, ष्ठगे[2] 555, ष्ठल 594, ष्ठा 649, ष्ठिवु 445, ष्णमु 573, ष्णै 647, ष्मिङ् 669, ष्वञ्ज 687, ष्वद, ष्वर्द 230 ष्वष्क 275, ष्विष्विदा 513, 690;

सर्व[2]* 365, सश्च[2] 298, सृ 656, सृप्लृ 697, सृभ[2], सृमि[2] 366 सेकृ 272, स्कभि 350, स्कन्दिर् 690, स्कुदि 225, स्खद 546, 578, स्खल 441, 569[1], स्त्यै 643, स्थगे[2] 555, स्ना 575, स्पदि 227, स्पर्ध 217, स्पश 620, स्फट[2], स्फटि[2] 338, स्फायी 422, स्फुट 323, स्फुटि[1], स्फुटिर्, स्फुठि[2]* 338, स्फुर्छा 302, टुओस्फूर्जा 317, स्मील 435, स्मृ 561, 655, स्यमु 591, स्यन्दू 521, स्रकि 272, स्रन्भु, स्रन्सु 516,

स्रन्हू[2] 517, स्रु 660, स्रेक्ष 272, स्रैं[2] 645, स्वकि*[1] 276-277, स्वन 571, 691, स्वष्क[2] 277, स्वाद 239, स्वृ 653;

हगे 555, हट 332, हठ 339, हद 690, हम्म 408, हय, हर्य 431, हल 594, हसे 504, हिक्क 612, हिट[1], हिठ[2], हिड[2] 333, हिडि* 324, हिवि 451, हुडि 324, 325, हुडृ 342, हुर्छा 301, हुल 596, हूडृ 342, हृञ् 631, हेपु 495, हेठ 324, हेड 333[2], 550, हेडृ 326, हेपृ[2] 347, हेषृ 466, होडृ 326, 342, हौडृ[2] 342, ह्मल 561, 573, ह्रस 496, ह्राद 239, ह्रीछ 301, ह्रेपृ 467 ह्लगे* 555, ह्लस* 496, ह्लादी* 239, ह्वल 561, 573, ह्वृ 651, ह्वेञ् 734.

धातु-प्रशंसा

लोकयात्राप्रसिद्ध्यर्थं लोकेषु प्रथिता इति ।
प्रकृतीनां सहस्रं यत् सङ्ख्यातं विबुधैरिह ॥
विबुधास्तेन मोदन्तां विभावयन्तु नूतनाः ।
समृद्धिः सर्वतो भव्या भाषाणां विविधा भवेत् ॥
मूलं शब्दोऽस्ति भाषायास्तन्मूलं धातवः पुनः ।
चक्रवाले स्थितानां यद् भावानां धातवस्त्वमे ॥
नामास्तु वाऽथवाऽऽख्यातमव्ययाः सव्ययाः पुनः ।
शब्दाः सर्वे स्थिता धातौ धातुस्तान् यद् दधाति सः ॥
वेवेष्टि विश्वं विष्णुः स बृहन् ब्रह्माऽपि वा पुनः ।
शिवं यद् भावयञ्शम्भुस्त्रिमूर्तिर्धातुरीक्ष्यताम् ॥
प्रकृतिः सा महालक्ष्मीर्महत्त्वाल्लक्षणादथ ।
सावित्री सर्वभावानां प्रसूत्वाल्लोकपूजिता ॥
अबुधां दुर्गमा भाषातत्त्वं सम्यङ् न जानताम् ।
दुर्गाऽसौ सर्वदेवानां समष्टिस्तेजसां शुभा ॥
महिषाणां निशुम्भानां शुम्भानामर्थदोषिणाम् ।
हन्त्री सा चण्डमुण्डानां धात्वाख्या प्रकृतिः परा ॥
भास्करो भासयत्यल्पं जगदंशं हि मात्रया ।
धातुजन्मा पुनः शब्दो यावद् ब्रह्म प्रकाशयेत् ॥
माहात्म्यमिति को धातोर्नाविद्वान् ख्यातुमर्हति ।
धातुपाठकरा वन्द्यास्तेनाचार्याः सदा विदाम् ॥

धात्वर्थ-सूची

इस सूची में धातुओं के सिद्धान्त-कौमुदी में धृत तथा भव-तोषिणी में उद्धृत संस्कृत अर्थ पृष्ठाङ्कसहित दिये हैं।

अग्नि-संयोग 649, अतिक्रमण 321, अदन 409, 442, 450, 469, 497, 623, अधाष्टर्य 349, अनादर 324, 326, 331, 342, 484, अन्विच्छा 466, अपनयन 295, 402, 682, अपरिवेषण 578, अभिप्रीति 513, अभिभव 668, अभियोग 341, अभिवादन 226, अभिषव 431, अभ्यास 650, अर्जन 289, 303, अर्दन 366, 507, अलङ्कार 486, अलम् 281, अलीक 495, अल्पीभाव 294, 338, अवगम, अवगमन 610, अवतंसन 571, अवदारण 617, अवध्वंसन 673, अवयव 267, 332, अवसादन 330, 604, अवस्रंसन 348, 516, अवाप्ति 460, अविध्वंसन 673, अविशब्द 479, अविशब्दन 478, अवैकल्य, अवैक्लव्य 592, अव्यक्त शब्द 239, 263, 298, 299, 303, 319, 427, 467, 613, 670, 671, 690, अव्यक्ता वाक् 464;

आक्रोश 333, 718, आघ्राण 285, आच्छादन 366, 471, आदर 484, आदान 274, 421, 427, 460, 618, 620, 622, आध्यान 561, आप्रवण 225, आप्लाव्य 326, आयाम 279, 300, आर्जव 682, आलस्य 340, आलिङ्गन 400, आवरण 328, 437, आशिष् 221, आशु गमन 442, 596, आसेचन 245, आस्वादन 230, 239, आह्लाद 268, आह्वान 269, 608;

इच्छा 300, 460, 468, इज्या 464, ईर्ष्या 430, ईषद् हसन 669;

उच्छ्राय 289, 331, उञ्छ 302, 487, उत्साह 272, उद्गिरण 597, उद्यम 342, 450, उद्यमन 450, उन्द 421, उन्दन 616, उन्माद 327, 342, उपघात 339, उपताप 221, 653, उपनयन 464, उपरम 705, उपार्जन 289, ऊर्जन 567;

एकचर्या 324, ऐश्वर्य 221, 585, 663;

कत्थन 279, 349, 353, कम्पन 284, 316, 346, 566, 593, करणे 457, 632, कल्कन 288, 506, 542, कल्याण 227, काङ्क्षा 332, 485, कान्ति 227, 373, 405, 431, 460, 622, कान्तिकरण 476, कार्कश्य 341, किंचित् चलन 227, कुटिला गति 556, कुत्सन 291, कुत्सा 268, 470, 615, कुत्सित शब्द 239, 266, कूजन 691, कृच्छ्रजीवन 280, 339, कृपा 548, 741, कैतव 278, 340, कोप 325, कौटिल्य 240,

273, 294, 301, 467, 609, 651, कौक्ष शब्द 467, क्रिया 460, क्रीडन 496, क्रीडा 231, 603, क्रीडा एव 234, क्रोध, 372, क्लेशन 463, क्षमा 681, क्षय 317, 644, क्षरण 234, 246, 344, क्षेपण 304;

खण्डन 338, 714, खदन, खादन 644;

गति 227, 248, 265, 272, 275-278, 281, 288, 289, 291, 295, 296, 303, 304, 321, 324, 326, 329, 333, 341, 342, 346, 347, 365, 402, 403, 405, 408, 414, 421, 430, 431, 439, 440, 442, 444, 457, 460, 466, 470, 471, 483, 504, 507, 516, 547, 548, 556, 557, 581, 595-597, 604, 613, 617, 619, 620, 656, 657, 660, 668, 670-672, 676, 691, 697, 737, गति-चातुर्य 443, गति-निवृत्ति 649, गति-प्रतिघात 443, गति-वैकल्य 316, गत्याक्षेप 277, गत्यारम्भ 278, गन्ध 594, गन्धोपादान 649, गर्व 327, गात्र-विनाम 352, 641, गुद-रव 467, गोपन 680, ग्रन्थ 219, ग्रहण 368, 473, 476, 617, ग्लेपन 568;

घातन, घात्य 594, घृणा 741, घोर-वाशित 485;

चय 542, चलन 323, 348, 425, 439, 561, 600, चित्त-विकार 682, चिन्ता 617, 642 655, चुम्बन 483, चेलन 620, चेष्टा 269, 323, 470, 541;

छद्म-गति 443;

जय 446, जिज्ञासा 682, जिह्वोन्मथन 567, जीवन 463, ज्ञान 617;

तनू-करण 481, तन्तु-सन्तान 421, 729, तरण 677, तर्जन 503, ताडन 326, तार शब्द 294, तुष्टि 486, तृप्ति 275, 460, 554, 642, तेजन 714, तोडन 325, 341, तोषण 564, त्याग 507, त्रासु 331, त्वचन 484;

दन्दशूक 266, दर्प 451, दर्शन 271, 287, 465, 466, 576, दशन 708, दान 228, 547, 557, 620, 623, 650, 719, दाह 324, 491, 493, दीप्ति 286, 288, 291, 332, 405, 460, 467, 472, 510, 513-515, 561, 585, 586, 593, 620, 719, दुर्गति 506, दुर्गन्ध 421, देवन 427, देव-पूजा 719, दैन्य 346;

धान्य 594, धान्यावरोधन 595, धारण 222, 289, 426, 631, धाष्टर्य 353;

नति, नय 563, नाशन 682, निक्षेप 472 निग्रह 682, निद्रा-क्षय 471, निन्दा 681, निमेषण 435, नियम 465, निरसन 445, 450, निवास 339, 712, 725, निशान 564, 680, 682, निशामन 564, 616, 617, 619, निष्कर्ष 437, निष्पत्ति 438, निष्पाक 597, नीचैर्गति 279, नृत्ति 552, नोच्यते 555, 560, न्यक् करण, न्यङ्ग विधान/विमान 642;

पर-प्रेष्य 333, परमैश्वर्य 267, परि-कल्कन 506, परिग्रह 484, परिदेवन 227, 269, परिभाषण 325, 330, 339, 426, 471, 503, 552, 613, परिवर्तन 514, परिवेषण 578, परिष्वङ्ग 687, पर्याप्ति 432, 614, पवन 676, पाक 563, 645, 715, पाद-विक्षेप 411, पान 486, 635, 648, पालन 316, 320, 324, 425, 482, 676, पुरीषोत्सर्ग 690; पुष्टि 493, पूजन 289, 295, 304, पूजा 298, 507, 508, 619, 680, पूरण 450, प्रख्यान 544, प्रणिदान 673, प्रतिघात 275, 240, 514, प्रतिबन्ध 350, प्रतिष्टम्भ 436, 609, प्रतिष्ठा 219, 438, प्रतीघात 554, प्रमर्दन 337, प्रमाद 302, 354, प्रयत्न 239, 466, 471, प्रवेश 460, प्रसव 486. 545, 663, प्रसाद 289, प्रस्रवण 521, प्रह्वत्व 697, प्राणधारण 449, प्राणन 542, 595, प्रादुर्भाव 611, प्राधान्य 470, प्रापण 634, 657, 724, प्राप्ति 686, प्रीणन 452, प्रीति 460, प्रेक्षण 707, प्रेरण 403, प्लव-गति 429, प्लवन 677, प्लुत-गति 505, प्लुति 339;

बन्ध 327, बन्धन 267, 288, 430, 437, 450, 459, 595, 676, 680, बन्धु 395, बलात्कार 334, बाधन 464, 620, बाल्य 330, बीज-जन्म 610, बीज-सन्तान 723, बोधन 616;

भक्षण 259, 444, 622, भय 467, 543, 562, 619, भरण 628, भर्जन 291, 319, भर्त्सन 304, 319, 490, भषण 281, भस्मीकरण 711, भाग 460, भावकरण 341, 438, 439, भाषण 366, भासन 240, 366, भिक्षा 464, भूषण 432, भुषा 337, 486, भृति 331, भोजन 353, भोजन-निवृत्ति 277, भ्रमण 368;

मण्डन 273, 285, मद 227, 326, 339, 342, 349, मदन 321, मन्थ 316, 326, मन्दा गति 363, मर्दन 337, 546, मर्षण 601, महत्त्व 595, माङ्गल्य 256, मान 231, 623, मानस 362, मारण 564, मार्जन 325, मेधा 615, मैथुन 694, मोचन 513, मोद 227, मोह 302, मोहन 513, मौण्ड्य 464;

याचन 240, 265, 460, 613, 614, याच्ञा 221, 613, यातना 265, युद्ध 320;

रक्षण 355, 460, 474, राग 717, रामस्य 686, रुजा 325, 330, 437, 487, रेषण 672, रोग 549, रोगापनयन 713, रोदन 269, 608, रोष 483, रोपकृत (शब्द) 504;

लक्षण 273, 299, लज्जा 301, 347. लिप्सा, लोडन 219, लौल्य 273;

वक्त्र-संयोग 366, वज्र-निर्घोष 317, वदनैकदेश 267, 342, वर 656, वरण 325, 464, वर्जन 285 वर्ण 348, 402, 436, 511, वर्तन 517, वर्षा 328, वादित्र/वादित्र-ग्रहण 617, वारण 432, वार्क (शब्द) 467, विकसन 323, 438, विकास 338, वितर्क 472, वित-त्याग 619, विद्योतादान 464, विधूनन 421, विपरीत-मैथुन 695,

विबाधा 324, विभाजन 325, विलास 342, विलेखन 263, 594, 609, 716, विलोडन 246, 332, 472, 597, विवास 302, विशरण 326, 330, 338, 421, 435, 442, 604, विश्वास 516, विस्तार 546, विस्तृति 302, विस्मृति 302, विहायसा गति 677, विहार 341, वृद्धि 164, 422, 460, 470, 486, 507, 521, 676, 737, वेष्टन 323, 330, 547, 550, वैकल्य 337, 548, वैक्लव्य 548, 592, 594, वैप्लव्य 594, व्यक्ता वाक् 261, 287, 339, 362, 363, 466, 736, व्यक्तीकरण 289, व्यथन 304, व्यवहार 368, व्याधि-प्रतीकार 682, व्याप्ति 281, 451, 479, व्रतादेश 465, शङ्का 272, 555, शङ्कु-बन्धन 339, शठत्व 339, शब्द 266, 272, 273, 303, 321, 332, 333, 348, 349, 402, 404, 406, 408, 409, 421, 427, 467, 478, 496, 504, 505, 507, 568, 591, 643, 645, 649, 653, 671, 697, 734, शब्द-कुत्सा 467 521, शब्द-विशेष 644, शातन 607, शास्त्र 256, शीघ्रार्थ 464, शुद्धि 269, 460, शैथिल्य 240, 439, शोक 292, 324, शोधन 648, शोभा 647, शोषण 281, 546, 691, शोच 647, श्रवण 460, 665, श्लाघा 240, 326, श्लेषण 403, 496, श्व-रव 467, श्वैत्य 226;

संक्लेशन 247, 340, संख्यान 427, संग 555, 706, संगति-करण 719, संगम 615, संघर्ष 217, 435, संघात 271, 423-325, 331, 332, 403, 437, 483, 643, संचय 441, संचरण 426, संचलन 441, 515, 543, 600, संज्ञान 245, संतान 425, संताप 361, 705, संदीपन 463, संनिकर्ष 615, संपर्चन 609, संभक्ति 406, 408, संभ्रम 548, संवरण 425, 555, 596, 619, 622, 623, 655, 732, संशय 682, संस्त्यान 595, सत्ता 38, समवाय 363, 716, समाधि 436, 504, समुच्छ्राय 302, समृद्धि 268, सहन 372, 495, सातत्य-गमन 242, सान्त्वन 363, सामर्थ्य 278, 524, सुख 227, 239, सेचन 270, 287, 451, 482, 492, 495, 550, 658, 712, सेवन 285, 428, 451, सेवा 628, 717, स्खदन 546, स्तम्भ 354, स्तुति 226, 227, 368, 369, 506, स्तेय 338, 486, स्तेय-करण 297, स्थान 289, 594, स्थिति 594, स्थैर्य 259, 260, 668, स्थौल्य 339, 450, स्नान 647, स्नेह 513, स्नेहन 466, 512, 513, स्नेहस्य मोचन 513, स्पर्धा 734, स्पर्धायां वाक् 734, स्पर्शन 620, स्रवण 521, स्रंसन 451, स्वप्न 227, 642, स्वाम्यर्थ 460;

हयज (शब्द) 467, हरण 325, 531, हर्ष 228, 568, हर्ष-क्षय 641, हसन 280, 281, 285, 504, 555, हानि 706, हिंसन 547, 615, हिंसा 247, 259, 266, 320, 322, 340, 364, 366, 421, 426, 450, 451, 457, 460, 466, 471, 486, 488, 503, 505, 515, 557, 560, 596, 922, हूर्च्छन 443, 660.

तत्सम और तद्भव धातुओं की सूची

इस सूची में खड़ी बोली हिन्दी, हरियाणवी, गुजराती, पंजाबी आदि भारतीय तथा अंग्रेजी लातीनी आदि आधुनिक भाषाओं की कुछ संस्कृत धातुओं से मिलती-जुलती (तत्सम) या तद्भव धातु अथवा धातु-कारक[1] क्रिया शब्द उपलक्षणार्थ दिए गए हैं। इनमें से कुछ की चर्चा भव-तोषिणी में की गई है तथा कुछ का नूतन ऊह किया गया है। आधुनिक भाषाओं में ये धातु संस्कृत धातुओं से अर्थ की दृष्टि से सर्वत्र समान नहीं हैं। कुछ के अर्थभेद की चर्चा उपलक्षणार्थ पाद-टिप्पणियों में की गई है। मोटे टाइप में संस्कृत धातु हैं, सादे में तत्सम और तद्भव।

अड्, **अड्ड्**, अड़्, **उड्डी** उड्, उड़्, **उत्फण्** उफण्, उफन्, **उद्घट्**, उघड़् **एठ्** ऐंठ्, **कड्ड्** कड़ा*, **कम्प्** कांप्, **कष्** कस्, **कास्** खाँस्, काँख्, **कच्** कोंच्, **कूज्** कूक्, **कूर्द्** कूद, **कृ** (कर्) कर्, की, **क्रुश्** कोस्, **क्लेश्** किलस्, **क्वथ्** कढ़्, **क्षर्** झर्, **क्षीज्** खीज्, खीझ्, खिज्, **क्षुभ्** खुभ्, चुभ[2], **खट्** खट्, **खद्** खड़् (पं०), खड़ा*, **खुज्**, खोज्, **खेल्**[3] खेल्, खेड़ (पं०, मु०), **खै** (खा, खाय्) खा, **खोल्** खोल्, **गड्**, **गल्** गल्, गळ्, **गर्ज्** गरज्, **गाह्**[4], **गुञ्ज्** गूँज्, **ग्रन्थ्** गूँथ्, **घट्** घट्, **घिण्ण्**[5] घिण्ण् (लेहंदा), **घुट्** घोट्, घोंट्, **घूर्ण्** घूम्, **घृष्** घस्, घिस्, **चक्** छक्, छिक् (ह०), **चप्** चप्, (ह०), **चर्** चर्, **चर्व्** चाब् (ह०), चबा, **चल्** चल्, **चष** चख, चाख् (ह०), **चित्** चेत्, **चुण्ड्** चूंट्, चूंड् (ह०), **चुप्** चुप*, **चूष्** चूस्, चूख्, चूँघ् (ह०), **जट्** जड़, **जप्** जप्, **जम्** जम् (गु०), **जिम्** जीम्, जेंव्, **जीव्** जी, **ज्वल्** जल्, जर, बल्, बर्, **झट्** झड़्, **झर्** (<**क्षर्**) झर्, **झर्झ्** झिड़क, **टल्** टल्, **ढौक्** ढो, **तङ्क्**, **तङ्ग्** तंग होना/करना, **तुड्**

---

1. होना/करना आदि सहायक क्रिया जिनके साथ लगाई जाती हैं, वे शब्द। आगे इन्हें (*) चिह्न के साथ दिया है।
2. इन में मूल से अर्थभेद हो गया है।
3. √खेल् स्वयं √क्रीड् से विकसित लगती है।
4. √गाह् का आश्रय मुख्यतः द्रव द्रव्य है। आधुनिक भाषाओं में ठोस द्रव्य भी होता है। कटी फसल का अनाज निकालने के लिए दानों का विलोडन 'गाहना' है। इसे 'गाहटा' (ह०) कहते हैं।
5. वह संस्कृत के 'गृह्णा' अंग से प्राकृत पद्धति से 'घिण्ण' के रूप में विकसित होकर संस्कृत में स्वीकृत हो गई है।

(त्रुट्) तोड़्, तृ तिर्, तैर्, त्वर् टुर् (पं०), दंश् डंस्, डस्, दल् दल्, दळ्, दह् दाझ् (गु०), दृ डर्, द्रु दौड़्, धक्ष् धोंक्, धंधक्, धड़क्, धृ धर्, धौ धो, नट् नट्, नाट् (ह०), nod, नम् नम्, नाथ् नाथ् (ह०), नि-च्युत् निचुड़्, निष्कस् निकस, पट् पाट्, पठ पढ़्, पत् पड़्, पद् पाद्, पल् पल्, पळ्, पा (पिब) पी, पीव्, पेल् पेल्, फल् फल्, फुल्ल् फूल्, फेल् फैल्, बुक्क् भोंक्, भक्ष् भकस्, बक्श्, भण् भण् (गु०, पढना), भष् भोंस् (ह०), भाष् भास्, भास् भास्, भू हो, भृ भर्, to bear, भृज् भूंज्, भून्, भ्लाश् to flash, मङ्ग् मांग्, मण्ड् मांड्, मथ् मथ्, मुज् मौज (करना), मुड् मुड़्, मुण्ड् मूंड़्, मूंड् (ह०), यभ् यभ् (मु०), रक्ष् रख्, राख् (ह०), रोक्, रञ्ज् रँग, रट् रट्, रम् रम्, रम्भ् रँभा, रांभ्, राज् राज् (अवेस्ता) rex, regere, रिङ्ग् रेंग् रुच् रुच्, रुह् उग्, लग् लग्, लङ्ग् लंगड़् लड् लड़्, लड् (ह०), लभ् लभ् (पं०), लह्, लस् ल्हिस्, लुञ्च् नोंच्, लुट् लोट्, लुठ् लुढ़क्, लुण्ट् लूट्, वञ्च् वंज् (पं०), वट बँट्, वण्ट् वाँट्, वण्ड् (<वण्ट्) वंड् (पं०), बाँड् (ह०), वद् बद्, बोल्, वप् बो, वस् बस्, वाञ्छ् to want, वीक्ष्, अवेक्ष वेख (पं०), वि-स्था बैठ्, बेठ् (ह०), वृत् बरत्, बर्त्, वृध् बढ़्, बध् (ह०), वृष् बरस्, शट् सट्, सँट्, सड़् (पं०)[1], सट वंझणा (पं०), शाति छाँट्, शिक्ष् सीख्, शिङ्घ् सूँघ्, शुच् सोच करना[2], शुभ् सोह्, शृध् सड़्, श्वि (श्वय्) सूज्, सह् सह्, सृ (सर) सरक, स्खद् खँदाना (ह०), खदेड़्, स्तक् ठोंक्, स्तम् stem, स्तुभ् थोप्, स्तम्भ् थँम्, थम, स्था stand, stet, स्थापि to stop, स्ना न्हा, नहा, स्पश् फँस्, फाँस्, स्फट् फट्, पाट् (ह०), फाड़्, स्फुट्>स्फुड् फोड़्[3], स्मृ सिमर्, सुमर्, सुमिर्, स्वन् phone, sonus (Latin), हद् हग्, हाग् (ह०), हर्य् to hurry, हिण्ड् हाँड् (ह०), हूर्च्छ् हूँछ, हूँज्, हूँझ् (ह०), हृ हर् ।

---

1. हिंदी √सड़् √शृध् (शर्ध्) से है। पं० √सड़् (जलना) √शट् से ।
2. हिन्दी √सोच् इसी से अर्थान्तरण की प्रक्रिया से विकसित है ।
3. √फूट् √स्फूट् (तु०) से है ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ, पंक्ति	शुद्ध पाठ	पृष्ठ, पंक्ति	शुद्ध पाठ
5.2	तुर्य	85.25	श्चुकः
11.18	श्लेष्मा	84.30	पृष्ठ 6
21.27	धातुरकर्मकः	90.26	आदि भी
23.2	कर्तृ/कर्म—से	96.20	=डा
27.17	(गीता	109.23	औ को आव्
41.21	भ्+अव्	24	भाविष्+अति।
42.11	अन्ति	110.24	भविषाम
55.32	इति।	30	भवान्ति
56.28	उदाहरणों में	112.14	'लिङ्'
57.13	(3.1.35)	119.9	मेर्निः (89)
14	√नोनू के	121.6	भवाव, भवाम।
59.10	संहिता-पाठ में[2]	122.3, 22	शाकटायनस्यैव
32	2. अनुष्टुप् समपादबद्ध	127.29	नैवासौ
	'अनभ्यासस्य सन्यङोः' सूत्र	128.22	इतश्च
	मौलिक प्रतीत होता है।	129.4	अद्यतन
61.21	(1) भाष्यकार	133.4	अभवत,
31	तत 'आदिः शेषः'—	134.10	131-132
63.2	अतः उसमें	137.13	पुरुष में
64.6	कोई क्लिष्ट कल्पना भी	143.18	इयः
	नहीं है और लक्ष्य भी ठीक	30	'सुपां सु लुक्०'
	सिद्ध हो जाते हैं।[2] इस पक्ष	152.29	लुङ्
	में 'अहल्' भले बहुव्रीहि हो,	154.2	भू-सुवोस्तिङि
	किंतु 'अहल्' और 'आदिः'	166.11	(चुरादिगणीय कुछ
	आपस में असमस्त हैं।	172.8	प्रकरण में
73.3	के बाद पाद	176.31	अंग संज्ञा
82.15	एक-योग	180.2	(7.2.10)
85.10	भु+	183.2	वैका

पृष्ठ, पंक्ति	शुद्ध पाठ
190.2	**एधामास, एधामासतु**
191.16	आदेः से विहित दीर्घ गुण
192.16	**ह एति**
203.3	**वृञ्भ्यां**
28	'ञ्' (अनुबन्ध)
206.6	छह, छकारांत
213.18	॥ 11 ॥ ॥ 33 ॥
215.3	तृप्-दृपी
234.6	धातुओं के
235.3	**स्युः ष्वष्क**
237.10	6.1.64
12	षोपदेश
240.16	'ऋ'
27	वेथेत,
32	खिसकाना
249.9	काश्यप
257.4	दीर्घ उकार
9	**ऊदितश्च**
263.27	3 **नर्द**
31	**नाधृ-नृ-**
269.24	**ट्वितो**
271.8	कौटिल्य
272.21	अदिद्रेकत्, अदिध्रेकत्
30	√सङ्क्
274.8	(1.2.5) से
19	गुण से
275.16	**√ढौक्**
27	**षोडशोङ्कार-**
32	ही √
287.30	**यश्च वञ्चति, यो निलायं**
288.2	**5 ॥**
296.25	अम्रोचीत्

पृष्ठ, पंक्ति	शुद्ध पाठ
319.12	**अव्यक्ते शब्दे**
327.4	**म्रेडृ**
328.8-9	(ख) √क्षण्, (ग), (घ), (ङ), (च), (छ)
332.25	(षोपदेश)
333.21	निन्दा करना
335.20	+अ । इ को
27	**स्यासवर्णे**
337.17	और 37 वीं
18	तथा 35
341.32	दारण और
342.10	इस पंक्ति को लम्बी रेखा के नीचे पढ़ें ।
345.2	**लिङ्**
359 9	अनुवृत्ति
360.26	आदि के
28	जुगोपिथ
365.28	लिट्
368.20	लेहँदा में
374.21	'त' की टि को
384.4	पूर्ववत्
395.16	होगा ।
407.18	अभिप्रेत है । अतः वर्ण
417.10	उपसर्ग और
424.25	अप्यायि+तर
430.8	9.58
14	(6.4.49)
431.13	**'सूषूर्क्ष्य'**
14	सूर्क्ष्येत्
434.27	**प्रवर्तत'**
436.12	शब्द
14	√पील् या 34 √पेल्

पृष्ठ, पंक्ति	शुद्ध पाठ
429.2	27 √तिल
441.23	सेलुः*
444.30	है। यु०मी० ने इसे 'पट+ चरट्' से समझा लगता है।
445.22	'टेष्ठीव्यते' यह
30	तथा ठकार
448.17	जेः सन्लिटोः
18	√जि के सन्
454.29	) से गुण से पूर्व 'उ' का लोप
463.26	धातुओं में तालव्यांत केवल 2,
468.30	'शासु'
471.21	है। वाल्हीक, वर्णविपर्यय से बाह्लीक : बलख।
472.4	जघाढ्वे
474.2	शलन्तः
475.17	क्सस्याचि
476.26	) शूषः
490.3	॥ 26 ॥ यहाँ 'भर्त्सन' भोंकना है। 44 √उष् दाह में है ॥ 27 ॥
492.14	औषत्,
521.30	1. मो०'
531.12	(=रेफसदृशस्य
540.10	73 √फण्
541.12	10 √कन्द्
32	उचित नहीं है।
543.22	उत्तरसूत्र अन्तरङ्ग···पूर्व सूत्र से
549.18	पठित हैं
557.21	इलथ्[1]

पृष्ठ, पंक्ति	शुद्ध पाठ
582.22	पेय : तदेव (क्षुण्णमोषधम्) उदके प्रक्षिप्य सद्योऽभिषुत्य पूत्वा पीयते, स 'फाण्ट' इति तद्विदः (—मा० धा० वृ० 1.806, चौ०सं० पृ० 141)।
597.3	मथे
598.22	डुवम (अकारान्त)
612.25	(iv)। ऊदित्
625.2	गूहते
633.4	अङ्विधानसामर्थ्यं
635.2	ए और ऐ
640.4	यम-रम-नमातां (पंक्ति 8, 21, 24 में भी यही करें)
643.7	'अतिष्टचपत्'
648.2	(i) एत्त्व-
672.4	रुरुवे
677-9, 685-6, 690, 693-4	पृष्ठों पर खण्डाङ्क 89-93 को 90-94 करें।
678.15	ग्रहोऽलिटि
19	(भवति), अलिटि
684.18	नहीं है।[2]
25	वीं पंक्ति के बाद रेखा के नीचे अगले पृष्ठ से पा०टि० 1 रखें। पंक्ति 26 की पा० टि० 1 को पा०टि० 2 करें।
693.16	निष्ठांत 'विस्कन्नः'···निष्ठा प्रत्यय
695.24	याभे जम्भेत्'
703.31	पदेष्वनुप
725.6	प्रत्यययोः से स् को
734.15	अर्थ-पाठ दोष-
737.12	ऊदतुः
768.22	त्रास

पंडित श्री शिवनारायण शास्त्री द्वारा प्रणीत प्रकाशित ग्रंथ

1. **निरुक्तमीमांसा**—यास्काचार्यप्रणीत निरुक्त का साङ्गोपांग विवेचन। यह ग्रन्थ उत्तरप्रदेश प्रशासन एवं श्रीहरजीमल डालमिया ट्रस्ट द्वारा पुरस्कृत किया गया है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, डॉ० मेंहदले, डॉ० लद्दू, डॉ० जार्ज कार्डोना आदि विद्वानों द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसित है।

2. **निरुक्त के पाँच अध्याय**—निरुक्त के 1-4, 7 अध्यायों की शोधपूर्ण व्याख्या इस ग्रन्थ में की गई है। शेष भाग की व्याख्या शीघ्र प्रकाशित होगी।

3. **निरुक्त (1-2, 7 अध्याय)**—छात्रोपयोगी व्याख्या।

4. **वैदिक वाङ्मय में भाषाचिंतन**—समस्त वैदिक वाङ्मय में ऋषियों और आचार्यों के भाषासम्बन्धी चिंतन का ऊह प्रकृत ग्रंथ में सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। इसे उत्तरप्रदेश प्रशासन ने पुरस्कृत किया है।

5. **गीताभाष्यनवाम्बरा**—गीता 1-2 अध्यायों और उस पर शाङ्करभाष्य की मर्मस्पर्शिनी व्याख्या। इसे भी उत्तरप्रदेश प्रशासन ने पुरस्कृत किया है।

6. **सबालप्रबोधिन्युपन्यासस्तर्कसङ्ग्रहः**—दो प्राचीन संस्कृत व्याख्याओं सहित तर्कसङ्ग्रह के पाठ का प्रामाणिक तथा शोधपूर्ण सम्पादन प्रकृत ग्रंथ मे किया गया है।

7. **तर्कसङ्ग्रहतारोदय**—तर्कसङ्ग्रह की प्रामाणिक व्याख्या।

8. **ईशोपनिषद्भाष्यकुसुमाञ्जलि**—ईशावास्योपनिषद् और उस पर शाङ्कर भाष्य की विवेचनात्मक, मर्मोद्घाटिनी व्याख्या।

9. **काव्यादर्शप्रसादिनी**—आचार्य दण्डी के **काव्यादर्श** के हृदय का उद्घाटन करने वाली, काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा का तुलनात्मक विवेचन मौलिक पद्धति से अत्यन्त प्रामाणिक रूप में इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम परिच्छेदात्मक प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। शेष भाग मुद्रण की प्रक्रिया में चल रहा है।

10 **श्रीशङ्कराचार्यचरितकुसुमाञ्जलि**—डॉ० निगमबोधतीर्थ के नूतन संस्कृत काव्य 'श्रीशङ्कराचार्यचरितम्' का सान्वय हिंदी अनुवाद।

11. **नीतिशतककुसुमाञ्जलि**—भर्तृहरि के **नीतिशतक** की अत्यन्त गम्भीर संस्कृत टीका और हिंदी व्याख्या शीघ्र प्रकाशित होगी।

—:०:—

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय

दिल्ली विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ प्रकाशन

इतिहास

1. ब्रिटेन का इतिहास	सं० पार्थसारथि गुप्ता	26.00
2. यूरोप का इतिहास	सं० पार्थसारथि गुप्ता	30.50
3. मध्यकालीन भारत, 750-1540	सं० हरिश्चन्द्र वर्मा	30.00
4. प्राचीन भारत का इतिहास	सं० झा एवं श्रीमाली	25.00
5. आधुनिक भारत का इतिहास	सं० आर०एल० शुक्ल	45.00
6. आधुनिक विश्व का उदय	सं० पार्थसारथि गुप्ता	19.50
7. बंगाल का आर्थिक इतिहास	एन० के० सिन्हा	40.00

राजनीति विज्ञान

1. भारतीय शासन एवं राजनीति	सं० सुशीला कौशिक	----
2. राजनीति सिद्धांत	सं० ज्ञान सिंह संधु	28.00
3. भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद	सं० सत्या एम० राय	50.00
4. भारत में [illegible]-व्यवस्था	नरेन्द्र लाल मंदान	10.00
5. राजनीतिक चिंतन के आचार्य	माइकेल फ़ोस्टर	20.00
6. ब्रिटिश संविधान	सर आइवर जेनिंग्स	16.00
7. तुलनात्मक शासन और राजनीति	सं० आर.बी. जैन	45.00
8. संविधानवाद	ओमप्रकाश गाबा	6.00
9. केंद्र-राज्य संबंध	शर्मा एवं यादव	20.00

अर्थशास्त्र एवं वाणिज्य

1. कार्यालय प्रबंध	गुप्ता, बंसल, जैन, मलिक	14.50
2. सचिवीय पद्धति	गुप्ता, बंसल, जैन, मलिक	17.00
3. आर्थिक प्रणालियाँ एवं व्यष्टि अर्थशास्त्र	सं० विश्वनाथ पंडित	36.00
4. सांख्यिकी परिभाषा कोश	सं० लज्जा राम सिंहल	18.00

साहित्य

1. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन	सं० निर्मला जैन	20.00
2. पालि भाषा और साहित्य	इन्द्र चन्द्र शास्त्री	70.00

समाजशास्त्र एवं दर्शन

1. भारत में शहरी परिवार और परिवार नियोजन	ए० आर० देसाई	32.00
2. समकालीन विश्लेषणात्मक धर्मदर्शन	बी० पी० वर्मा	25.00

संगीत

1. ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ	शत्रुघ्न शुक्ल	----
2. तबले का उद्गम, [illegible] और वादन शैलियाँ	योगमाया शुक्ल	50.00

प्र[illegible] : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
बी० ओ० आर० [illegible] नं० 2, डॉ० नारंग मार्ग, पत्राचार विद्यालय के सामने
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110 007 फ़ोन : 7110166